

# श्रीभिक्षु आगम विषय कोश

CYCLOPAEDIA OF JAIN CANONICAL TEXTS

PART I



साचना प्रमुख  
गणाधिपति तुलसी

प्रधान सम्पादक  
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादिका  
साध्वी विमलप्रज्ञा  
साध्वी सिद्धप्रज्ञा

# श्रीभिक्षु आगम विषय कोश

(पांच आगमों—आवश्यक, दशवेकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी और  
अनुयोगद्वार तथा उनके व्याख्या-ग्रंथों के आधार पर)

वाचना प्रमुख  
गणाधिपति तुलसी

प्रधान सम्पादक  
आचार्य महाप्रज्ञ

निर्देशन

मुनि डुलहराज  
डॉ. सत्य रंजन बनर्जी

संग्रहण/अनुवाद/सम्पादन

साध्वी विमलप्रज्ञा

साध्वी सिद्धप्रज्ञा

प्रकाशन

जैन विश्व भारती संस्थान

[मान्य विश्वविद्यालय]

लाडनूं, राजस्थान-३४१३०६

प्रकाशक :

**जैन विश्व भारती संस्थान**

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ, राजस्थान

सर्वाधिकार सुरक्षित

जैन विश्व भारती, लाडनूँ

प्रथम संस्करण : सितम्बर, १९९६

मूल्य : ५००/- रुपये

मुद्रक :

मित्र परिषद् कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित

**जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूँ (राजस्थान)**

# SRI BHIKṢU ĀGAMA VIṢAYA KOṢA

CYCLOPAEDIA OF JAIN CANONICAL TEXTS—PART I

(Āvaśyaka, Daśavaikālika, Uttarādyayana, Nandi and Anuyogadvāra—Compiled on  
the basis of these five Agamas and their different Commentaries)

Synod Chief

GAṆĀDHIPATI TULSĪ

Chief Editor

ĀCĀRYA MAHĀPRAJÑA

Direction by

Muni Dulaharāj  
Dr. Satya Ranjan Banerjee

Compilation/Translation/Edition

Sādhvi Vimalprajña  
Sādhvi Siddhaprajña

Published by

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE  
LADNUN (Rajastban)

**Publishers :**

**Jain Vishva Bharati Institute  
(Deemed University)  
Ladnun**

**© Jain Vishva Bharati, Ladnun**

**First Edition : September, 1996**

**Price : Rs. 500/-**

**Printers :**

**Jain Vishva Bharati Press  
Ladnun (Raj.)**

## समर्पण

विलोडियं आगमदुद्धमेव,  
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं ।  
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,  
भिव्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुट्ठं ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,  
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।  
श्रुत-सद्धानलीन चिर चिन्तन,  
आर्य भिक्षु को विमल भाव से ॥



## अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगे। संकल्प फलवान् बना। मुझे केन्द्र मानकर मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया और कार्य को निष्ठा तक पहुंचाने में पूर्ण श्रम किया।

कुछ वर्ष पूर्व मेरे मन में कल्पना उठी कि 'जैन आगम विषय कोश' तैयार किया जाए। सभी आगमों का एक विषय कोश अभीष्ट था। परन्तु वह दीर्घ समय सापेक्ष था। अतः उस कार्य को अनेक खंडों में विभक्त कर दिया गया, जिसकी फलश्रुति प्रस्तुत खंड है।

अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं सबको समभागी बनाना चाहता हूं, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है—

- प्रधान संपादक : आचार्य महाप्रज्ञ  
संपादिका : साध्वी विमलप्रज्ञा  
: साध्वी सिद्धप्रज्ञा  
संकलन सहयोगी : साध्वी संचितयशा  
: समणी उज्ज्वलप्रज्ञा

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूं और कामन्ता करता हूं कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

गणाधिपति तुलसी





## अनुक्रम

- पुरोवाक्
- भूमिका (Foreword)
- सम्पादकीय
- ग्रन्थ-परिचय
- सन्दर्भ-ग्रन्थ : संकेत-विवरण
- मुख्य विषय : अनुक्रम
- विषय कोश
- परिशिष्ट १ : कथा-संकेत
- परिशिष्ट २ : दार्शनिक और तात्त्विक चर्चास्थल-संकेत



## पुरोवाक्

दो इन्द्रिय वाले प्राणी में भाषा की लब्धि का विकास नहीं है। तीन, चार, पांच इन्द्रिय वाले प्राणियों में भी भाषा का विकास नहीं होता। पशु और पक्षी समनस्क हैं, वे सोचते हैं, कल्पना भी करते हैं लेकिन उनमें भाषा का स्वल्प मात्रा में ही विकास हुआ है। उनका मस्तिष्क विकसित नहीं है इसलिए उनका शब्दकोश बहुत छोटा है। मनुष्य ने मस्तिष्क का विकास बहुत किया है। उसकी चिन्तनशक्ति, कल्पनाशक्ति, स्मृति और विवेक बहुत विकसित है। उसने बुद्धि और मन का संयोग कर भाषा का विकास किया है। उसका शब्दकोश बहुत बड़ा है।

भाषा का विकास विषय के विकास के साथ-साथ चलता है। जैसे-जैसे अर्थ या वस्तु का नया निर्माण होता है, शब्द गढ़े जाते हैं, वैसे-वैसे शब्दकोश की वृद्धि होती जाती है। ज्ञान और साधनों के विकास के साथ-साथ कोशों के प्रकारों की भी वृद्धि होती जाती है। हिन्दी, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत आदि सभी भाषाओं में कोशों का निर्माण हुआ है। वैदिक विद्वानों ने उपनिषद् वाङ्मय महाकोश, प्राचीन भारतीय संस्कृति कोश, ब्राह्मणोद्धार कोश, उपनिषद् उद्धारकोश आदि कोशों का तथा बौद्ध विद्वानों ने बुद्धिस्ट एनसाइक्लोपीडिया का निर्माण किया। जैन विद्वानों ने भी इस दिशा में अपनी लेखनी उठाई है। अब तक अनेक कोश हमारे सामने आ चुके हैं। कुछेक कोशों का विवरण इस प्रकार है—

### १. पाइयलच्छीनाममाला

यह कवि धनपाल की लघु कोशकृति है। इसकी २७९ गाथाओं में लगभग एक हजार प्राकृत शब्द हैं। उनमें तत्सम, तदभव और देशी शब्द भी हैं। इसका रचना काल वि० सं० १०२९ है। लेखक ने धारानगरी में रहकर अपनी बहिन सुन्दरी के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण किया। लेखक का अभिप्राय है कि यह ग्रन्थ प्राकृत कवियों के कविता-प्रणयन में सहयोगी बनेगा। यह प्राकृत भाषा का पहला कोश है।

### २. देशीनाममाला

इसका अपर नाम है—'रत्नावली'। यह कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की प्रसिद्ध कृति है। इसमें लगभग छह हजार शब्द ७८३ गाथाओं में संदृब्ध हैं। सभी गाथाएं शब्द-प्रयोग की माध्यम हैं। इसकी संयोजना अपने आप में अपूर्व है।

### ३. पाइयसङ्ग्रहण्यओ

इसके प्रणेता हैं—हरगोविन्ददास सेठ, जिन्होंने २५० से भी अधिक ग्रन्थों से लगभग ७५ हजार शब्द संगृहीत किए हैं। हजार पृष्ठों का यह कोश सप्तन्दर्भ शब्दों का अर्थ प्रस्तुत करता है। अर्थ की दृष्टि से यह कोश अत्यन्त उपयोगी है। प्राकृत जगत् में यह अत्यधिक प्रचलित है। इसका पहला संस्करण सन् १९२८ में तथा दूसरा संस्करण सन् १९६१ में प्रकाशित हुआ है।

### ४. सच्चित्र अर्धमागधी कोश

श्री रतनचन्दजी महाराज ने ४९ ग्रन्थों के आधार पर इसका प्रणयन किया। इसमें प्राकृत शब्दों के हिन्दी अर्थ के साथ गुजराती और अंग्रेजी के अर्थ भी उपलब्ध हैं। संगृहीत शब्दों की संख्या पचास हजार है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९२३ में हुआ था। अभी-अभी यह सुन्दर साजसज्जा के साथ पांच भागों में

जापान से तथा मोतीलाल बनारसीदास से छपा है। मूल प्राकृत शब्द, उसका संस्कृत रूपान्तरण तथा तीन भाषाओं में अर्थ होने के कारण इसका आकार कुछ बड़ा हो गया है।

#### ५. अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश

इसके प्रणेता हैं—सागरानन्दसूरि। यह पांच भागों में सन् १९५४ से १९७९ के मध्य प्रकाशित हुआ था। इसमें मूल १२५६ पृष्ठ हैं, जिनमें विशेष रूप से उन्हीं शब्दों को लिया है जो जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। उनका चूर्ण, टीका आदि में उपलब्ध अर्थ भी दिया गया है। इनमें ४५ भागों तथा अन्य कुछेक ग्रंथों के शब्द संगृहीत हैं। अन्त में ५६ पृष्ठों के परिशिष्ट में आचार्य हेमचन्द्र की देशीनाममाला के शब्द अकारादि अनुक्रम में अर्थ-सहित दिये गए हैं।

#### ६. अभिधान राजेन्द्रकोश

यह श्वेताम्बर आगम साहित्य का एक आकर कोश है। इसके निर्माता हैं—विजयरजेन्द्रसूरी और संपादक हैं—उन्हीं के दो शिष्य दीपविजय और यतीन्द्रविजय। इसका प्रकाशन सात भागों में सन् १९१०-१९२४ के मध्य नौ हजार पृष्ठों में हुआ। कोशकार ने लगभग सौ ग्रंथों का इसमें उपयोग किया है। इस कोश का निर्माण यदि आज होता तो यह कोश और अधिक वैज्ञानिकता लिए हमारे सामने आता। इसका निर्माण विषयों के आधार पर हुआ है, लेकिन वर्तमान में उनके प्रमाण यथार्थ रूप में उपलब्ध न होने के कारण कोश की उपयोगिता में कमी अनुभव होती है।

#### ७. जैनलक्षणावलि (जैन पारिभाषिक शब्दकोश)

यह एक महत्त्वपूर्ण कोश है, जिसमें जैनधर्म-सिद्धांत के पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएं दी गई हैं। इसमें दिगम्बर तथा श्वेताम्बरों के ४०० ग्रंथों से शब्द संगृहीत हैं। इसके संपादक हैं—बालचंद्र सिद्धांतशास्त्री और यह वीर सेवा मंदिर से सन् १९७२ में प्रकाशित हुआ है।

#### ८. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश

चार भागों में प्रकाशित इस कोश में शब्दों के अर्थ के साथ-साथ उनसे संबंधित विषयों का ससंदर्भ समावेश है। यह केवल दिगम्बर साहित्य के आधार पर निर्मित है। इसके कर्ता हैं—क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी और प्रणयन काल है—सन् १९७०।

#### ९. डिवशनरी ऑफ़ दी प्राकृत लॅंग्वेजेज

इस कोश का निर्माण पूना में डा० ए. एम. चाटगे के निर्देशन में भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट के अन्तर्गत हो रहा है। इसमें लगभग ५०० ग्रंथों के शब्द ससंदर्भ लिए गए हैं। शब्दों का अंग्रेजी भाषा में अर्थ किया गया है। यह विशाल कोशग्रन्थ अपने आप में एक शलाकाग्रन्थ होगा। इसके दो लघु भाग प्रकाशित हो चुके हैं, शेष प्रकाशाधीन हैं।

#### १०. आगम शब्दकोश

प्रस्तुत कोश में ग्यारह अंगों (आचारांग, सूत्रकृतांग आदि) के शब्द संगृहीत हैं। प्रत्येक शब्द का संस्कृत रूपान्तरण और उसके सभी प्रमाण-स्थल निर्दिष्ट हैं। इसमें तत्सम, तद्भव और देशी—तीनों प्रकार के शब्द हैं। ८५० पृष्ठों का यह कोश अंग आगमों में अनुसंधान करने वालों के लिए बहुत उपयोगी है क्योंकि ग्यारह अंगों में एक शब्द कहीं-कहीं आया है, उसके समस्त संदर्भ-स्थल एक ही स्थान पर प्राप्त हो जाते हैं। विभिन्न आगमों के शब्द-चयन पृथक्-पृथक् मुनियों ने किए और उनका समग्रता से आकलन मुनि श्रीचन्द्र 'कमल' ने किया। इसका प्रकाशन वर्ष है सन् १९८०।

### ११. एकार्थक कोश

इसमें लगभग १०० ग्रन्थों से एकार्थक शब्दों का संग्रहण किया है। उनमें आगम तथा उनके व्याख्याग्रन्थों के साथ-साथ अंगविज्जा का भी समावेश है। इस कोश में लगभग १७०० एकार्थकों का अर्थ-निर्देश और प्रमाण दिया गया है। सारे शब्द लगभग ८००० हैं। इसमें धातुओं के एकार्थक भी हैं। अनेक एकार्थकों के सभी शब्द देशी हैं। उनका भी संकलन किया गया है। इसका संपादन समणी कुसुमप्रज्ञा ने सन् १९८४ में किया था।

### १२. निरुक्त कोश

निरुक्त या निर्वचन विद्या बहुत प्राचीन है। प्रस्तुत कोश में अकारादि अनुक्रम से मूल प्राकृत शब्दों का प्राकृत या संस्कृत में निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें मूल में १७५४ शब्दों का निर्वचन है तथा प्रथम परिशिष्ट में कृदन्तव्युत्पन्न २०८ निरुक्त और दूसरे परिशिष्ट में तीर्थकर-अभिधान निरुक्त हैं। इसमें ७८ ग्रन्थों का समावेश है। साध्वी सिद्धप्रज्ञा और साध्वी निर्वचिणी ने सन् १९८४ में इसका संपादन किया था।

### १३. देशी शब्दकोश

प्रस्तुत कोश में आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण और टीका आदि में प्रयुक्त देशी शब्दों का सप्रमाण संकलन है। इसमें दस हजार से अधिक देशी शब्द संगृहीत हैं। आचार्य हेमचन्द्र की देशीनाममाला का इसमें अविकल समावेश किया गया है। इसमें कुछ शब्द कन्नड, तमिल, मराठी आदि भाषाओं के भी हैं। ४३९ पृष्ठों में अकारादि क्रम से देशी शब्द, उनका अर्थ, संदर्भ-स्थल और व्यवहृति का उल्लेख है। इसमें शताधिक ग्रन्थों का उपयोग हुआ है। इसके दो परिशिष्ट हैं—अवशिष्ट देशी शब्द तथा देशी धातु चयनिका। इसका संपादन मुनि दुलहराज ने सन् १९८८ में किया था।

### १४. आगम वनस्पति कोश

जैन आगमों में वनस्पतियों के नाम प्रचुरता से प्राप्त हैं। टीकाकाल में भी उनकी पहचान विस्मृत-सी हो गई थी। कुछेक वनस्पतियों की पहचान विपरीत अर्थ में की जा रही थी। प्रस्तुत कोश में लगभग ४५० वनस्पतियों का सचित्र प्रस्तुतीकरण और उनकी सप्रमाण विज्ञप्ति मुनि श्रीचन्द्र 'कमल' ने की है। यह जैन आगम वनस्पति का पहला कोश है, जिससे प्राचीन वनस्पतियों का आधुनिक परिचय प्राप्त होता है। इसका प्रकाशन वर्ष है सन् १९९६। (नं० १० से १४—ये पांचों कोश जैन विश्व भारती, लाडनू से प्रकाशित हैं।)

### १५. लेश्याकोश

### १६- क्रियाकोश

### १७- योगकोश

इन तीनों के संपादक हैं—स्व० मोहनलाल बांठिया तथा श्रीचन्द्र चोरड़िया। संपादकद्वय ने लेश्या, क्रिया और योग के विखरे संदर्भों को जैन आगम साहित्य से एकत्रित कर उनके सुसंयोजित रूप को लेश्याकोश, क्रियाकोश और योगकोश के रूप में प्रकाशित किया था। सारा विषय उपबिंदुओं में विभक्त है तथा हिन्दी भाषा के अनुवाद से अन्वित है। लेश्याकोश सन् १९६६ में, क्रियाकोश १९६९ में जैन दर्शन समिति, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है।

### श्रीभिक्षु आगम विषय कोश

प्रस्तुत कोश में पांच आगम—(१) आवश्यक (२) दशवैकालिक (३) उत्तराध्ययन (४) नन्दी (५) अनुयोगद्वार और इनके व्याख्याग्रन्थों का समवतार किया गया है।

इस लघुकाय समवतार में भी विषयों की विविधता बहुत परिमाण में है। आवश्यक छोटा आगम है

किन्तु उस पर सुविस्तृत व्याख्याएं लिखी गईं। आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, चूर्णि, हारिभद्रीया तथा मलयगिरीया वृत्ति—इन व्याख्या ग्रन्थों में विश्वकोश बन सके उतने विषय हैं। उन सब विषयों का समाहार करना संभव नहीं था। इसलिए उनमें से प्रमुख-प्रमुख विषयों का चयन किया गया, जो आधुनिक ज्ञान, विज्ञान और आचारशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण लगे। विज्ञान के क्षेत्र में परामनोविज्ञान की शाखा विकसित हुई, उसमें अतीन्द्रिय ज्ञान को मान्यता दी गई। अन्य लेखकों ने भी ज्ञान के विषय में लिखा किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय में जितना सांघोषांग निरूपण इसमें है,<sup>१</sup> उतना अन्य किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं है, अतः परामनोविज्ञान के अध्येता के लिए यह कोश अत्यन्त उपयोगी होगा।

इस कोश में १७५ विषयों का संग्रहण है। तत्त्व-दर्शन, आचार-शास्त्र, इतिहास आदि अनेक दृष्टियों का इसमें समावेश है। जैन आगमों की व्याख्या में नयों का मुक्त प्रयोग हुआ है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने नय की महत्ता का प्रतिपादन इस रूप में किया है—जो जाता नय-निक्षेप-विधि से अर्थ की समीक्षा नहीं करता, उसके लिए अयुक्त युक्त और युक्त अयुक्त हो जाता है।<sup>२</sup>

इसमें हाथी के दृष्टांत से नय को समझाया गया है। सात अंधे व्यक्ति थे। उनमें से प्रत्येक ने हाथी के एक-एक अवयव का स्पर्श किया। पैर का स्पर्श करने वाले ने कहा - हाथी खंभे जैसा है। दूसरों ने हाथी के अन्यान्य अवयवों के स्पर्श के आधार पर हाथी की भिन्न-भिन्न कल्पना की। इस प्रकार एक-एक अवयव के आधार पर पूरे हाथी की कल्पना जैसे ठीक नहीं है, वैसे ही वस्तु के एक अंश को सम्पूर्ण वस्तु मानना सम्यक् नहीं है।<sup>३</sup> यह हस्त-दर्शन का दृष्टांत बौद्ध साहित्य में भी उपलब्ध है।<sup>४</sup>

ऐतिहासिक दृष्टि से भी कुछ तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भद्रबाहु स्वामी ने महाप्राण ध्यान की साधना सम्पन्न की। स्थूलभद्र ने प्रतिपूर्णा नौ पूर्व पढ़ लिए। दो वस्तुओं (प्रकरणों) से न्यून दसवां पूर्व भी पढ़ लिया। भद्रबाहु और स्थूलभद्र नेपाल से प्रस्थान कर पाटलिपुत्र आ गए। एक घटना के बाद भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को अन्तिम चार पूर्व पढ़ाए। बहुत अनुरोध करने पर उनको पढ़ाना शुरू किया। साधारणतया यह माना जाता है कि भद्रबाहु स्वामी ने अन्तिम चार पूर्व पढ़ाए लेकिन उनका अर्थ नहीं बताया। किन्तु आवश्यकचूर्णि में ऐसा उल्लेख नहीं है। वहां उल्लेख है—भद्रबाहु स्वामी ने स्थूलभद्र से कहा—अवशिष्ट चार पूर्व तुम पढ़ो किन्तु दूसरों को उनकी वाचना नहीं दोगे। स्थूलभद्र के बाद अन्तिम चार पूर्व विच्छिन्न हो गए। दसवें पूर्व की अन्तिम दो वस्तुएं भी विच्छिन्न हो गईं। दस पूर्व की परम्परा उनके बाद भी चली।<sup>५</sup>

महाप्राण (महापान) ध्यान की साधना सम्पन्न होने पर चतुर्दशपूर्वी प्रयोजन उपस्थित होने पर अन्त-मूर्हत्त में चौदह पूर्वों की अनुप्रेक्षा -पर्यालोचन कर लेता है, अनुक्रम-व्युत्क्रम से उनका परावर्तन कर लेता है।

आगमों में उपयुक्त चतुर्दशपूर्वी मुनि अन्तमूर्हत्तमात्र के उपयोगकाल में जितने अर्थ-पर्यायों को जान लेता है, उनमें से एक-एक समय में एक-एक पर्याय को अवहृत किया जाए तो अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी में भी उनका अवहार नहीं हो सकता।<sup>६</sup>

इस अवसर्पिणी कालखंड में चतुर्दशपूर्वी हुए हैं। उनके पश्चात् दशपूर्वी ही हुए, किन्तु तेरहपूर्वी, बारहपूर्वी या न्यारहपूर्वी नहीं हुए।<sup>७</sup>

१. प्रस्तुत कोश, पृ. ४५-६४. २२५-२३१, ५१०-५१४

२. वही, पृ. ३७४

३. वही, पृ. ३७५

४. खुद्दक निकाय, उदान, पृ. १४३-१४५

५. प्रस्तुत कोश, पृ. ८३, ८४

६. अनुचू, पृ. ८८

७. प्रस्तुत कोश, पृ. ४२९

प्रस्तुत कोश में जीव विज्ञान की दृष्टि से भी बहुत मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध है। जीव का व्यक्त लक्षण है—इन्द्रिय चेतना। इन्द्रिय चेतना के विकास के आधार पर जीवों के पांच वर्ग किए गए हैं—(१) एकेन्द्रिय (२) द्वीन्द्रिय (३) त्रीन्द्रिय (४) चतुरिन्द्रिय और (५) पंचेन्द्रिय। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय का दो दृष्टियों से प्रतिपादन किया है—इन्द्रिय रचना और लब्धि की दृष्टि से जीवों के पांच वर्ग बनते हैं। उपयोग इन्द्रिय की अपेक्षा सब जीव एकेन्द्रिय हैं क्योंकि एक समय में एक ही इन्द्रिय का उपयोग होता है।

एकेन्द्रिय में पांचों इन्द्रियों का स्वीकार जीव विज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अनुसार—

बकुल, चम्पक, तिलक, विरहक आदि वृक्षों में स्पर्श के अतिरिक्त शेष इन्द्रियां भी प्रतीत होती हैं, क्योंकि उनमें इन्द्रिय ज्ञानावरण का क्षयोपशम संभव है।

सब विषयों को ग्रहण करने के कारण बकुल मनुष्य की तरह पंचेन्द्रिय है, फिर भी बाह्य इन्द्रियों का अभाव होने से उसे पंचेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता।

एकेन्द्रिय जीवों में श्रोत्र आदि द्रव्येन्द्रिय के अभाव में भी भावेन्द्रिय का ज्ञान कुछ अंशों में देखा जाता है। वनस्पति में इसके स्पष्ट चिह्न प्राप्त होते हैं, जैसे—

श्रोत्रेन्द्रिय—सुन्दर कंठ एवं पंचम स्वर में उद्गीत गीत-श्रवण से 'विरहक वृक्ष' पर पुष्प उग आते हैं। इससे उसमें श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट चिह्न परिलक्षित होता है।

चक्षुरिन्द्रिय—सुन्दर स्त्री की आंखों के कटाक्ष से 'तिलक वृक्ष' पर फूल खिल जाते हैं। इससे उसमें चक्षुरिन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट चिह्न परिभासित होता है।

घ्राणेन्द्रिय—विविध सुगन्धित पदार्थों में मिश्रित निर्मल शीतल जल के सिचन से 'चम्पक वृक्ष' पर फूल प्रगट हो जाते हैं। इससे उसमें घ्राणेन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट चिह्न दिखाई देता है।

रसनेन्द्रिय—अतिशय रूप वाली तरुण स्त्री के मुख से प्रदत्त स्वच्छ स्वादु शराब के कुल्ले का आस्वादन करने से बकुल वृक्ष पर फूल निकल आते हैं। इससे उसमें रसनेन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट चिह्न देखा जाता है।<sup>१</sup>

भाषा का विषय आगम साहित्य और व्याख्या साहित्य में बहुत विस्तार से चर्चित है। दशवैकालिक निर्युक्ति और अगस्त्य चूर्ण में भाषायोग्य द्रव्य, भाषा रूप में परिणामित और जल्प्यमान का अन्तर बहुत स्पष्ट किया गया है—

भाषा के योग्य द्रव्य द्रव्यवाक्य हैं। भाषा रूप में परिणत, बोले जाते हुए भाषा के द्रव्य, जो भावों को प्रकट करते हैं, वे भाववाक्य हैं। जैसे वेदना की अनुभूति स्वयं को और पर को होती है वैसे ही जिस वचन-प्रणिधान से व्यक्ति स्वयं अर्थ का अवधारण करता है, फिर दूसरे को अर्थबोध कराता है, वह भावभाषा है।

द्रव्यभाषा के तीन प्रकार हैं—

१. ग्रहण—वचनयोग में परिणत आत्मा के द्वारा ग्रहणकाल में भाषाद्रव्य का उपादान/ग्रहण।

२. निस्सरण—उर, कंठ, सिर, जिह्वामूल, तालु, नासिका, दांत और ओष्ठ पर—यथास्थान सम्मूर्च्छित भाषाद्रव्यों का विसर्जन।

३. पराघात—निःसृष्ट द्रव्यों के द्वारा विघटित भाषाद्रव्यों की भाषा-परिणति।<sup>२</sup>

प्रस्तुत कोश विषयकोश की परिकल्पना से निर्मित नहीं है। फिर भी विषय की विविधता और विस्तार की दृष्टि से यह विषयकोश जैसा बन गया है। यह सामग्रीमात्र का संग्रह है। इस पर अनेक कोशों से मीमांसा की जा सकती है। मीमांसा की दृष्टि से यह कोश विशाल आकार ले सकता है। आगम, कर्मग्रन्थ, निर्युक्ति और

१. प्रस्तुत कोश, पृ. १४७

२. वही, पृ. ४८९



व्याख्या साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने पर मीमांसा का क्षेत्र बहुत व्यापक बन सकता है। जयाचार्य ने आगम और निर्युक्ति का तुलनात्मक अध्ययन कर दोनों के अन्तर का निर्देश दिया था। वह मीमांसा की दृष्टि से एक उदाहरण के रूप में यहां प्रस्तुत है---

आगम और आवश्यक निर्युक्ति में तथ्यगत अंतर---

सिद्ध की उत्कृष्ट पूर्व अवगाहना	५०० धनुष	ओवाइयं १८७
	५२५ धनुष	आवनि १५३, १५७, १६३
सनत्कुमार चक्रवर्ती की गति	मोक्ष	ठाणं ४।१
	तृतीय कल्पविमान	आवनि ४२४
अर्हत्मल्लि की दीक्षा और	षोष शुक्ला ११	नायाधम्मकहाओ ८।२२२, २२५
कैवल्य-प्राप्ति	मृगशिर शुक्ला ११	आवनि २६२
अर्हत् अजित के गणघर	९०	समवाओ ९०।२
	९५	आवनि २८८
अर्हत् पार्श्व के गणघर	८	समवाओ ८।८
	१०	आवनि २६८

(प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, गिरावली अधिकार २०।३६-५१ के आधार पर)

प्रस्तुत कोश में द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग — इन चारों का समावेश है। तीन अनुयोग का संग्रह मूल में है। धर्मकथा का संकेत-संग्रह परिशिष्ट में है।

बि० सं० २०१२ औरंगाबाद में महावीर जयन्ती के अवसर पर 'आगम-सम्पादन' की घोषणा की गई। सम्पादन के विविध पक्षों पर विचार चल रहा था। उस समय आगम विषय कोश की भी कल्पना की गई। यात्रा और अन्य प्रवृत्तियों के कारण यह कार्य अवरुद्ध रहा। इस अवधि में आगम शब्द कोश, एकार्थक कोश, निरुक्त कोश और देशी शब्द कोश निर्मित हुए। जैन आगम साहित्य पर इस प्रकार के कोश प्रथम बार ही सामने आये। सन् १९९० से आगम विषय कोश का कार्य प्रारम्भ हुआ।

यह कोश जैन दर्शन के गंभीर चिंतन, अतीन्द्रिय दृष्टि और सूक्ष्म सत्यों की खोज का प्रतिनिधि ग्रन्थ बन गया है। इसका निर्माणकाल प्रारम्भ में जितनी कठिनाइयों में रहा, उतना ही निष्पत्तिकाल सुखद अनुभूतियों से भरा हुआ है। इस कार्य में साध्वी विमलप्रज्ञा व साध्वी सिद्धप्रज्ञा ने श्रमपूर्ण साधना की है। मुनि दुलहराजजी उस साधना की सफलता के आरोहण में स्वयंभू सफल बने हैं। डॉ० सत्यरंजन बनर्जी भी समय-समय पर इसका निरीक्षण और परीक्षण करते रहे हैं। समणी उज्ज्वलप्रज्ञा का प्रतिलिपि, परिशिष्ट आदि में पर्याप्त सहयोग रहा। साध्वी संचितयशा की प्रतिलिपि और यंत्रों के निर्माण में सहभागिता रही।

यह 'श्रीभिक्षु आगम विषय कोश' कोश का प्रथम चरण है, प्रतीक्षा है अग्रिम चरणों की। वह दिन बहुत उल्लासपूर्ण होगा जिस दिन कोश का समग्र रूप पाठक वर्ग के सामने प्रस्तुत होगा। तेरापंथ धर्मसंघ में यह एक नया उच्छ्वास है कि साध्वियों इस प्रकार के गंभीर ग्रन्थों का संग्रहण और सम्पादन कर रही हैं।

जैन विश्व भारती  
लाडनू  
१ सितम्बर १९९६

गणाधिपति तुलसी  
आचार्य महाप्रज्ञ

## FOREWORD

1. This is an authentic dictionary of technical terms of Jainism, based on a limited number of books. The entries are very judiciously selected to give a comprehensive idea of the contents of the literature utilized. The translations given are very faithful and lucid. The reader can easily understand the meanings of the technical terms, and get inspiration for further thought on the ideas in allied systems. While going through the dictionary, I was specially impressed by some entries, and inspired to write comparative notes on : *cakravartin*, *deva*, *tirthankara*, *saṃjñā*, *śrutajñāna*, *bhāṣā* and *karana*.

2. The concept of *cakravartin* in Jainism, as explained in the dictionary, has interesting features that are comparable to their counterparts in Buddhism and Hinduism.

The ideas of the Buddhists concerning the miraculous *cakra*, and the part it plays in the success of the *cakravartin*, are well illustrated in passages occurring in several Pali Sutras and in the *Lalitavistara*. The latter describes it as follows :

“For the anointed Kṣatriya King, the mighty and auspicious wheel appears in the east : a wheel comprising a thousand radii ornamented with gold works, of the height of seven palm trees... When the majestic wheel proceeds in its aerial course towards the east for the promotion of prosperity, the *cakravartin rājā* follows it with all his army, and wherever it halts, there he likewise halts with all his forces. Thereupon all the provincial *rājās* of the east receive him with offerings of silver dust in golden vessels..... saying “Hail, O Deva ! thou art welcome; all these are thine—this rich, extensive..... populous kingdom thou hast earned it; may it ever continue thine..... The anointed Kṣatriya King and lord should then address them : “Virtuously rule ye these provinces, destroy not life; act not fraudulently” It is sinful to conquer him who sues for mercy. Thus, when an anointed Kṣatriya King has conquered the east, bathing in the eastern sea, he crosses the same. When the wheel, having crossed the eastern sea proceeds southward, he follows it with the army, and like unto the east, conquers the south; and, as the south, so does he conquer the west and the north; then bathing in the northern sea, returns to his metropolis, and sits as an invincible monarch in the inner recesses of his palace. Thus does a *cakravartin rājā* acquire the *cakraratna*, or the jewel of a wheel”.

In the same way the *cakravartin* attains to the six remaining *ratnas*, viz. elephant, the horse, the jewel (which changes night into day), the wife, the steward, and the general.

The idea of a universal monarch is very ancient in India. Famous kings of old are said, after their anointing, to have conquered the earth and then to have offered the *aśvamedha*. A king who is acknowledged by the other kings as lord paramount is, in ancient literature, called a *saṃrāj*. The word *cakravartin* first occurs in the *Maītrāyaṇa Upaniṣad* (*Encyclopedia of Religion and Ethics*, S.V. *chakravarti*).

3. In Jainism the human beings by their hard austerity (*tapāścaryā*) attain to life in heaven. The hard austerity contains elements of meditation which, however, are difficult to

discern. Consequently the popular impression is that meditation did not play any vital role in attaining celestial life according to Jainism.

In the Buddhist and Pātañjala Yoga traditions we find a very clear statement of the vital role of meditation for birth in heaven. In Buddhism, there are four *bhūmis* (*Abhidhammatthasaṅgaho, Chapter V*), viz. *apāya bhūmi, kāmasugati bhūmi, rūpāvacarabhūmi and arūpāvacara bhūmi*. The infernals, animals, *pretas* and *asuras* constitute the *apāya bhūmi*. The *kāmasugati bhūmi* consists of the humans, *catummahārājikā, tāvatīmsa, yāmā, tusita, nimmānarati, paranimmitavasavatti*, all of whom owe their status of men and gods due to their good works in life, meditation not playing any important role in their career. The *rūpāvacara* and *arūpāvacara bhūmi* comprise gods in the heaven who attain these states on account of their practice of meditation as human beings. Their mental make-up is strictly in accordance with the states of meditation that they attained in human life. The *rūpāvacara* gods fall in sixteen categories, such as, *brahmapārisajja, brahmapurohita, mahābrahma, abhāssara, asaññasatta, suddhāvāsa* etc. In the *arūpāvacara bhūmi* there are four categories of gods who are the highest in the Buddhist pantheon.

In the Pātañjala Yoga Bhāṣya (3.26) there are six categories of Mahendra gods, viz. *tridaśa, agniśvāta, yāmya, tuṣita, aparinirmīta-vaśavartī and parinirmīta-vaśavartī*, who are of the *kāmasugati* level, to use a Buddhist term. These gods are *saṅkalpasiddha* and endowed with *animādi aiśvarya*. Higher than these are the *prajāpatya* gods, viz. *kumuda, ṛbhu, pratardana, añjanābha* and *pracitābha*, who attain their respective states because of their control of the *mahābhūtas* through meditation. Higher than these are the gods of the *janaloka* who are in control of their sense-organs, comprising *Brahmapurohita, Brahmapāyika*, etc. Higher than them are the gods of the *tapaloka* who include *abhāsvara, mahābhāsvara* and *satyamahābhāsvara*, attaining their status due to higher kind of meditation that endow them with the control over *tanmātras*. Still higher are the four categories of gods of the *satyaloka*, viz. *acyuta, suddhanivāsa, satyābha* and *sañjñāsañjñī*, who have control over *pradhāna*. Out of these four, the *acyutas* enjoy the pleasure of *śavitarka* meditation, the *suddhanivāsa* the pleasure of *ānandamātra* meditation, and the *sañjñāsañjñīgāṇa* the pleasure of *asmītamātra* meditation. The *videhagaṇa* and *prakṛtilaya-gaṇa* enjoy the state of liberation during their states of meditation.

The Jaina concept of *tapāścaryā* as the condition of heavenly status can be compared with the Mahābhārata view embodied in the following verse :

*yakṣa-rākṣasa-gandharvāḥ siddhāścānye divaukasah |*  
*saṁsiddhāstapāśā tāta ye cānye svargavāsinaḥ || (Śāntiparva 295/16)*

4. The concept of *tīrthānkara* has found a comprehensive representation in the dictionary. The *tīrthānkaras*, unlike Buddhas in Buddhism, were never deified, though identified with Buddha, Śaṅkara, Brahmā and Viṣṇu with respect to the latter's qualities, as in the following hymn to Ṛṣabha in the *Bhaktāmara-stotra* :

*buddhastvameva vibudhārcitabuddhibodhāt*  
*tvam śaṅkarosi bhuvanatrayaśaṅkaratvāt |*  
*dhātasi dhīra śivamārgavidher vidhānāt*  
*vyāktam tvameva bhagavan puruṣottamasi ||*

In the *Cauvisatthao* we find the following prayers for beneficence and spiritual elevation : *'titihayarā me pasiyantu; samāhivaramuttamān dintu, siddhā siddhīm mama disantu.* The commentator here explains that these are not prayers, but expression of devotion which leads to the decaying of karma stored up in the past. Jainism, however, did not remain static. In the words of R. Willams, "the changelessness of Jainism is no more than a myth. Admittedly there have been no spectacular changes in basic assumptions such as there were, for example, in Mahāyāna Buddhism. At most there have been variations in emphasis. Had Jainism, as at one time must have seemed possible, become a majority religion in Southern India some thing akin to a Digambara Mahāyāna might, with continuing favourable circumstances, have emerged. But all that can be detected today are the traces of aborted development : thus in *Ratna-karaṇḍa*, the *devādhīdeva* is apostrophized as the annihilator of Kāmadeva who seems from the context cast for the role of the Buddhist Māra. But whilst the dogma remains strikingly firm the ritual changes and assumes an astonishing complexity and richness of symbolism. From implying merely the feeding of religious mendicants the duty of *dāna* comes to mean the provision of rich ecclesiastical endowments and, amongst the *śvetāmbaras*, the monk is no longer, except in theory, a homeless wanderer. It is recognized that he needs comfort, shelter, warmth to enable him to concentrate on study. The *Yātrā* ceases to be a mere promenading of the idols through the city on a festival day and comes to denote an organized convoy going on pilgrimage to distant sacred places. And all the time more and more stress is being laid on the individual's duties to the community" (*Jaina Yoga*, pp. xix-xx).

5. *Samjñā* as intelligence is due to the elimination-cum-suppression of the knowledge-covering karma whereas *samjñā* as an impulse or instinct is due to the rising of the conduct-deluding karma.

*Samjñā* as intelligence is the common feature of all classes of living beings. The five classes of one-sensed beings possess *ūha-samjñā*. The beings possessing two or more sense-organs possess *hetusamjñā*. The denizens of heaven and hell as well as beings born of womb possess *kālikī-samjñā*. The *samjñā* of the *samyagdṛṣṭi chadmastha* is *dṛṣṭivāda-samjñā*. The *kevalins* (omniscient beings), however, are free from the function of *matijñāna* and as such are beyond *samjñā*.

*Samjñā* as impulse or instinct has fourteen varieties : *āhāra, bhaya, maithuna, parigraha, krodha, māna, māyā, lobha, loka, ogha, sukha-duḥkha, moha, vicikitsā* and *dharma*. The first eight are predominantly impulses. the next two are of the nature of intuition. The last four are concerned with feeling, delusion and instinct.

Here a reference to the concepts *samjñā* and *asamjñā* will not be irrelevant. *Asamjñā* does not mean total absence of *samjñā*, but only an indistinct presence of it. The capacity by which one remembers the bygone past and ponders over the coming future is *dirghakālikī* (or simply *kālikī*) *samjñā*. Only those who have mind can possess this capacity. A being possessing this *samjñā* enjoys the capacity for the utilization of all the sense-organs including mind. The human beings as well as the sub-human beings born of wombs (*garbhajā*) possess this *samjñā*. The five-sensed *sammurchanaajā* beings possess this capacity

in a very small measure and as such are regarded as *asamjñins* in comparison with those possessing a developed capacity. Those beings who can discriminate between the desirable and the undesirable and can act accordingly for maintenance of their bodies, but cannot think on the past or future are called *hetuvāda-samjñins*. The beings having two or more sense-organs are included in this category. The comparatively inactive one-sensed organisms such as the earth-bodied beings are called *asamjñins* in comparison with the organisms possessing two or more sense-organs. Now we come to the *drṣṭivādupadeśikī samjñā*. A being having right faith and possessed of knowledge due to elimination-cum-suppression of karmic veil is called *samjñin* from the viewpoint of *drṣṭi* (faith) and such being having wrong faith is called *asamjñin*. A being possessed of perfect knowledge born of complete elimination of knowledge-covering veil is not *samjñin* because he, being omniscient, cannot possess the function of recollection and pondering of future, which constitute *samjñā*. A being having wrong or perverted faith is *mithyādrṣṭi* and is also called *asamjñin*, because his *samjñā* is, from the viewpoint of *drṣṭi* (faith), perverted or misplaced.

*Sāmjñā* as intelligence and instinct is present in all living beings. The Jaina thinkers held that a soul could never (except when it has attained perfect knowledge) be bereft of *mati* (sensuous) and *śruta* (verbal) knowledge, which are intimately connected with *samjñā*. Even the one-sensed organisms, which are the least developed beings, are held to be possessed of these. To be bereft of these is to lose the nature of soul and become non-soul. Now, the one-sensed organism has the feeling of touch and so can have *matijñāna* (sensuous cognition), but how can it possess *śruta-jñāna* (verbal knowledge)? This is a difficult problem to answer. Jinabhadra says that although the one-sensed organisms do not possess *dravya-śruta* (symbols—written or spoken) they possess *bhāva-śruia* (potential verbal knowledge) which can be likened to the verbal knowledge of a sleeping ascetic (*yati*). But even *bhāva-śruta* is possible only with those who have the capacity to speak and to hear and with none else, and it is nothing but the mental disposition that precedes a speech or follows a hearing. And as such how can it be possible for the one-sensed organisms who have neither the capacity to speak nor the capacity to hear? Jinabhadra answers this objection as follows: Even as subtle internal sensuous cognitions are possible in spite of the absence of the external physical sense-organ, so 'potential verbal knowledge' is possible even for (the one-sensed) such as the earth-bodied (beings) in spite of the absence of *dravya-śruta*. It is admitted that the one-sensed organisms have neither the tongue to speak nor the ear to listen, nor have they any symbols of their own. But nevertheless, according to the Jaina thinkers, the one-sensed organisms are capable of potential verbal thinking. Though we are unable to know the exact nature of the process of their thinking, yet we can have some inkling of its nature by the consideration of the external activities of the one-sensed organisms. The *Bṛhadvṛtti on VIBh*, 103 gives a number of instances from the plant world to prove by inference that even the one-sensed plants can hear sound, see colour, smell odour and experience taste, and says that as in these cases the sensuous functions are carried out by the internal capacity of the organisms even in the absence of the external sense-organs so also there can be possible the existence of *bhāva-śruta* in the

absence of *dravya-śruta*. *Dravya-śruta* is the exponent of thinking while *bhāva-śruta* is such thinking itself. The question whether thinking without language is possible is the upshot of our enquiry. The Jaina scriptures recognize ten instincts (*saññā*) in the one-sensed organisms—such as the instincts of hunger, fear, sex attraction, possession etc. The famous commentator Malayagiri maintains that the instinct is a kind of desire and quotes a passage from the *Āvaśyakaṭīkā*, which says that the instinct for food means 'desire for food', which is born of the feeling of hunger, and is a particular disposition of the soul. He further maintains that a desire is a determinate willing for the acquisition of the object of desire. It is of the form 'such and such object is wholesome for me; it will be good if I can secure it'. Of course, in the case of one-sensed organisms the desires are not couched in articulate language. But nevertheless, they must have some sort of instrument for their formation. This leads us to the postulation of a peculiar capacity of the soul. This capacity is called *bhāva-śruta*.

It was stated that *saññā* as an impulse or instinct is due to the rise of conduct-deluding karma and that it had fourteen varieties : *āhāra*, *bhaya*, *maithuna*, *parigraha*, etc. There are definite conditions that generate these instincts. For instance, the *āhāra* instinct is produced by the *kṣudhāvedanīya karma*, *bhaya* by *bhaya-mohanīya karma*, *maithuna* by *veda-mohanīya karma*, *parigraha* by *lobha-mohanīya karma*. The instincts of *krodha*, *māna*, *māyā*, and *lobha* are respectively due to attachment to *kṣhetra* (land), *vāstu* (landed property), *śarīra* (body) and *upādhi* (belongings). The instinct of *ogha* is general sensation, common sentience irrespective of senses and the mind. The *loka-saññā* is an instinct concerned with popular notions like 'a man without progeny has no future prospects in life hereafter.'

6. *Śrutajñāna* which originally meant 'scripture' gradually came to mean any symbol, written or spoken, and finally was even identified with inarticulate verbal knowledge. This development of meaning is not, strictly speaking, chronological. It is the gradual subtlety of speculation that is responsible for this development. The selfsame thinker could have started from the conception of *śruta* as scripture and reached the conception of *śruta* as inarticulate verbal knowledge. The speculations recorded in Jaina scriptures on this subject are so rich, subtle and varied that it is difficult to ascertain the original contribution of the later Jaina authors. Almost every idea can be traced in the scriptures in some form or other

7. Sound in Jainism is not the quality of *akāśa* as conceived in the Nyāya-Vaiśeṣika philosophy. It is made of material clusters like our body. We take in the material cluster of sound and release it back to produce sound. *Bhāṣā* or speech accordingly is made of material clusters. The velocity of material clusters that are released by our speech is tremendous. Those clusters reach the border of the cosmos in one time unit. The velocity thus is limitless.

Sound is of two kinds, linguistic and non-linguistic. Linguistic sound can be further categorized into articulate and inarticulate. The articulate variety is the lore composed in the Aryan and non-Aryan languages. The inarticulate variety is apparent in the extra-ordinary faculties of animals with two or more senses, for instance, the abilities of

animals to know that there is going to be rain and to behave appropriately before its fall. Both linguistic varieties are made by effort. Non-linguistic sound is also of two varieties, that which is natural and that which is made by effort. The natural one is illustrated by thunder, the sound of clouds colliding. The variety that is made by effort is fourfold : (1) sound produced by instruments made of hide, eg. drum; (2) sound produced by stringed instruments, eg. sitar, (3) sound produced by metal instruments, eg. cymbals, (4) sound produced by wind instruments, eg. flutes, conches.

8. There are three *karāṇas* : *yathāpravṛtti*, *apūṛva* and *anivṛtti*. Every soul has the first which is eternally active. A *karāṇa* is an urge or an activity to eliminate karma (*kriyate karmakṣapanam aneneti karāṇam, sarvatra jīvapariṇāma ucyate*) The last two *karāṇas* are not possible in reprobate souls which will never attain liberation. By means of *apūrvakarāṇa*, the soul succeeds in considerably reducing the duration (*sthiti*) and potency (*rasa*) of the karma, which he could not in the past, and as such it attains an unprecedented (*apūṛva*) state of spiritual elevation. By means of the third *karāṇa*, viz. the *anivṛtti* (literally, not subject to retardation) the soul ensures its spiritual progress which is now unamenable to any set-back and dead sure in achieving liberation.

There is always a tendency in the soul to run away from the circle of worldly existence. But this centrifugal tendency is thwarted by a centripetal force that keeps the soul tracing the circumference of the world process. The centripetal force consists in the passions of attraction (*rāga*) and repulsion (*dveṣa*) or rather their root viz. perverted attitude (*mithyātva*) towards truth. The centrifugal tendency is that part of the characteristic potency of the soul which still remains unhindered or unobstructed. It is this centrifugal tendency that ultimately leads the soul to the right path. The problem 'why should this tendency develop into a patent force in one soul, and remain only a dormant virtue in another' is not regarded as needing solution. It is a fact of common experience that different individuals have different degrees of power manifest in them. And this is an ultimate fact of experience incapable of being accounted for by further ultimate facts. The soul, during the course of its eternal wanderings in various forms of existence, sometimes is possessed of an indistinct vision of its goal and feels an impulse from within to realize it. This impulse is the work of the eternal centrifugal tendency already mentioned. The impulse is a kind of manifestation of energy, technically known as *yathāpravṛttakarāṇa*. It is not always effective, and so does not always invariably lead to spiritual advancement. But sometimes it is so strong and irresistible that it goads the soul to come to grips with the centripetal force and to weaken it to an appreciable extent in the struggle that ensues. Here the soul is face to face with what is known as *granthi* or the Gordian knot of intense attachment and repulsion. If the impulse is strong enough to cut the knot, the soul is successful in the struggle and is now bound to be emancipated sooner or later within a limited time. The struggle consists in the two fold processes known as *apūrvakarāṇa* and *anivṛttikarāṇa* (also known as *anivartikarāṇa*).

9. The dictionary contains many entries which throw light on problems of epistemology, ontology and logic. The entries on *Gaṇadhara*s, *Nihnavas*, etc., are representatives of

many other aspects of Jainism that are important for the history of the Jain order. The two appendixes reveal the stupendous labour and ingenuity of the editors

10. The editors Sādhvi Vimatprajā and Sādhvi Siddhaprajā had before them the very difficult task of selecting appropriate technical terms, giving their precise definitions and providing systematic details spread over a vast mass of unorganized poorly edited literature. Most creditably they fulfilled that onerous task for which they deserve all praise and appreciation.

The guiding spirit behind the excellent dictionary is Muni Dulaharajji who is a silent worker commanding complete mastery over the technicalities of Jaina exegetical literature composed in difficult Prakrit and Sanskrit languages. He guided in the past the editing of many other dictionaries of equal importance and merit, and is at present engaged in editing the momentous work 'Shri Bhikshu Mahākāvya' written in elegant Sanskrit by the late Muni Nathmalji of Bagor.

I wish such dictionaries should be compiled also on other sections of Jain literature for offering to the world of researchers in Jainism comprehensive source books for comparative studies in Jainism and allied disciplines.

—Nathmal Tatia

Ladnun

1-9-96





## संपादकीय

योगक्षेम वर्ष सम्पन्न हुआ। सन् १९९० में आगम कार्य के अन्तर्गत सभी आगमों के विषयकोश की योजना बनाई गई। पूज्य गुरुदेव तथा आचार्यप्रवर ने डॉ० सत्यरंजन बनर्जी के समक्ष इस योजना की चर्चा की। उन्होंने इस उपक्रम की सराहना करते हुए कहा कि इसकी क्रियान्विति के लिए अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा है।

डॉ० बनर्जी तथा मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी ने कोश का प्राारूप बनाया—प्रत्येक मूल विषय का प्राकृत शब्द-रूप, संस्कृत रूपांतरण, रोमन स्क्रिप्ट में उसका अवतरण, हिन्दी और अंग्रेजी में अर्थ, विषय से संबद्ध ससंदर्भ मूलपाठ का उद्धरण और उसका हिन्दी अनुवाद।

पूज्य गुरुदेव एवं आचार्यप्रवर ने इस कार्य के लिए हमें नियोजित किया। कार्य प्रारम्भ हुआ। लगभग दो वर्ष तक यह कार्य चला। अनेक उतार-चढ़ाव आये। सम्यग् अवगति के अभाव में, भटकाव की-सी स्थिति में गति होती रही। डॉ० बनर्जी का परामर्श रहा कि सब ग्रन्थों को एक साथ न लेकर उन्हें खंडों में विभक्त कर दिया जाए तो कार्य भी होता रहे और उसकी फलश्रुति भी सामने आती रहे।

एक दिन संगोष्ठी हुई और पूज्य गुरुदेव तथा आचार्यप्रवर ने निर्णायक स्वर में यह निर्देश दिया कि समस्त आगमों के विषयकोश के अन्तर्गत प्रारम्भ में तुम पांच आगमों (आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी और अनुयोगद्वार) का विषयकोश तैयार करो। इससे दिशा स्पष्ट हो जाएगी और अन्यान्य आगमों के विषय-चयन में सुविधा होगी तथा यह कार्य समुचित काल में सम्पन्न भी हो जाएगा।

सन् १९९२ में हमने यथानिर्देश पुनः कार्य प्रारम्भ किया। एक दिन हम आचार्यप्रवर की सन्निधि में बैठी थीं। आचार्यप्रवर ने कार्य की अवगति ली। हमने निवेदन किया—सम्यक् दिशादर्शन के अभाव में हमें इस कार्य से संतोष नहीं है। तत्काल आचार्यप्रवर ने परम अनुग्रहपूर्वक सप्ताह में दो दिन इस कार्य के लिए निर्धारित किये। उस कालांश में मूल पाठ, अनुवाद, विषय और उपविषय से संबंधित समस्याएँ सुलझाई जातीं। आचार्यप्रवर की सन्निधि में हमारी दृष्टि भी स्पष्ट होती चली गई।

सन् १९९४, सुजानगढ़ महोत्सव के बाद पूज्य गुरुदेव और आचार्यप्रवर ने दिल्ली यात्रा के लिए प्रस्थान किया। मुनिश्री दुलहराजजी का लाडलू आना हुआ। वे आचारांग भाष्य के कार्य में संलग्न थे। पूज्य गुरुदेव और आचार्यप्रवर ने हमें उनके दिशा-निर्देशन में कार्य करने की अनुज्ञा प्रदान की। हम उनकी कार्य शैली से पूर्ण परिचित थीं। देशी शब्दकोश, निरुक्त कोश और एकार्यक कोश उनके निर्देशन में ही सम्पादित किए गए थे। हमने पूज्य गुरुदेव एवं आचार्यप्रवर द्वारा निर्दिष्ट कोश कार्य की बात उन्हें कही। उन्होंने कार्य प्रणाली की अवगति ली और सहयोग की स्वीकृति दी। कार्य तो चल ही रहा था, अब उसमें गति आ गई।

विषय का निर्धारण कर हम निर्धारित पांच आगमों तथा उनके व्याख्या ग्रन्थों का अनुशीलन करतीं और जहां जैसी सामग्री मिलती, उसकी उपयुक्तता के आधार पर उसका संग्रहण हो जाता। एक ही विषय पर अनेक ग्रन्थों में समान या असमान सामग्री मिलती, तो हम अपनी मति से ग्राह्य-अग्राह्य का निर्णय कर, ग्राह्य का मूल पाठ (प्राकृत या संस्कृत) संगृहीत कर, उसका उपबिंदुओं के आधार पर विभाजन और हिन्दी में अनुवाद कर यथास्थान योजित कर लेतीं। यह कार्य दुर्लभ था। एक ही विषय की जानकारी के लिए अनेक व्याख्याग्रंथ पढ़ने होते और वहां उस विषय के जो नए तथ्य प्राप्त होते, उन्हें संकलित कर लिया जाता।

## विषयकोश की पद्धति : एक परिचय

शब्दकोश शब्दों के अर्थ और प्रयोग देते हैं। कुछेक कोश शब्दों के मूल स्रोत की जानकारी भी देते हैं। प्रस्तुत कोश आगम विषय कोश है। इसमें शब्दकोश की भांति प्रत्येक शब्द का अर्थ नहीं है, किन्तु विषयों का संकलन और उनकी विस्तृत विवेचना है। यह संपूर्ण आगमों का संग्राहक नहीं है, मात्र पांच आगमों के मुख्य-मुख्य विषयों का संग्राहक है।

प्रस्तुत कोश में पांच आगम और उनके व्याख्या-ग्रंथों का समवतार किया गया है। वे आगम और व्याख्या-ग्रंथ ये हैं :

- (१) आवश्यक—आवश्यक की निर्युक्ति, चूर्णि (दो भाग), हारिभद्रीया वृत्ति (दो भाग), मलयगिरीया वृत्ति। विशेषावश्यक भाष्य (दो भाग) और उसकी मलयधारीया वृत्ति। कहीं-कहीं कीट्याचार्य की वृत्ति का भी उपयोग किया गया है।
- (२) दशवैकालिक—दशवैकालिक की निर्युक्ति, भाष्य, अगस्त्य चूर्णि, जिनदास चूर्णि और हारिभद्रीया वृत्ति।
- (३) उत्तराध्ययन—उत्तराध्ययन की निर्युक्ति, चूर्णि, शान्त्याचार्य की बृहद्वृत्ति और नेमिचन्द्र की सुखबोधो वृत्ति।
- (४) नन्दी—नन्दी की चूर्णि, हारिभद्रीया वृत्ति और मलयगिरीया वृत्ति। कहीं-कहीं श्रीचन्द्रसूरिकृत टिप्पणक का भी उपयोग किया गया है।
- (५) अनुयोगद्वार—अनुयोगद्वार की चूर्णि, हारिभद्रीया वृत्ति और मलयधारीया वृत्ति। इनके अतिरिक्त औघनिर्युक्ति और पिडनिर्युक्ति का भी उपयोग किया गया है।

लगभग ११००० पृष्ठों वाले इस विपुल साहित्य के सभी विषयों को हमने नहीं छूआ है। इस कोश में १७८ विषयों का अकारादि क्रम से अंकन किया गया है।

सर्वप्रथम गृहीत विषय का शब्दार्थ बताकर उसमें विवेचित बिंदुओं की सूची दी गई है। इससे पाठक को प्रथम दृष्टिपात में ही विषयगत महत्त्वपूर्ण बिंदुओं की सूचना मिल जाती है। जैसे आभिनवोधिक ज्ञान मूल विषय है। उसमें उसका निर्वचन, परिभाषा, पर्याय, भेद-प्रभेद आदि बिंदुओं का विवेचन है।

### शब्द की अन्य शब्दों से संबद्धता (cross reference)

जहाँ एक शब्द दूसरे शब्द से संबद्ध है, वहाँ उस शब्द का विवेचन एक उपयुक्त स्थान पर कर, दूसरे स्थान पर उसकी संबद्धता सूचित कर दी गई है। इससे पाठक को उस शब्द की पूर्ण विवेचना उस संबद्ध स्थान के समाकलन से मिल जाती है। हमने इसके माध्यम से शताधिक शब्दों की संबद्धता सूचित की है। इसका एक लाभ यह भी है कि एक शब्द दूसरे शब्द के साथ किस प्रकार, कैसे, क्यों संबद्ध है, इसका ज्ञान होता है तथा अत्यधिक पुनरावर्तन से विराम मिल जाता है। हमने इस पद्धति में 'द्र०' (द्रष्टव्य) का प्रयोग किया है। जैसे अश्रुतनिश्चित मति के प्रकार (द्र० बुद्धि)। इसका तात्पर्य है कि मूल विषय 'बुद्धि' के अन्तर्गत अश्रुत-निश्चित मति के प्रकारों की अवगति प्राप्त है।

० जो विषय अधिक विस्तृत हैं, उनके भेदों में कहीं सभी को, कहीं कुछ भेदों को स्वतंत्र विषय के रूप से ग्रहण किया है। जैसे अस्तिकाय में पुद्गल और जीव—ये दो भेद स्वतन्त्र रूप से गृहीत हैं। ज्ञान के सभी (पांच) भेद स्वतंत्र विषय के रूप में गृहीत हैं। क्रॉस रेफरेन्स के द्वारा मूल विषय के साथ उनकी संबद्धता सूचित कर दी गई है।

० जो महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द अपने मूल विषय में व्याख्यात हैं, उन शब्दों को स्वतन्त्र रूप से ग्रहण

कर केवल उनका शाब्दिक अर्थ दिया है और शेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य (३०) लिखकर उसकी सूचना दी गई है। जैसे—अवग्रह (द्र० आभिनवोधिक ज्ञान)।

### अन्य ज्ञातव्य तथ्य

जहां मूल पाठ की लम्बी संलग्नता थी, वहां उसे अनेक उपशीर्षकों में बांट दिया गया है। जैसे भिक्षु कौन? इसका पूरा विवरण दो अध्यायनों (उत्तराध्ययन १५ और दशवैकालिक १०) में है। उसे विभिन्न उपबिन्दुओं में विभक्त कर यथास्थान योजित किया गया है। इससे वह विषय विशद और सहज बुद्धिगम्य बन गया है।

० कहीं-कहीं निर्युक्ति अथवा भाष्य की गथाओं का संग्रहण कर विषय की विशदता के लिए चूर्ण अथवा वृत्ति के आधार पर उनका विस्तृत अनुवाद दिया गया है और अन्त में उसके संदर्भ-स्थल का निर्देश भी कर दिया गया है। जैसे—आत्मा (आत्मा की अस्तित्व सिद्धि), तीर्थकर (संगम के उपसर्ग), बाहुबली आदि।

० अपूर्ण पाठ को हमने.....इन बिन्दुओं से चोतित किया है।

० व्याख्या ग्रंथों में कुछेक विषय ऐसे हैं, जिनमें सभी मनीषी एक मत नहीं हैं। उन विषयों की खंडन-मंडनात्मक चर्चा यत्र-तत्र उपलब्ध है। हमने इस जटिलता को प्रस्तुत कोश में स्थान नहीं दिया है। परिशिष्ट २ में इन विषयों के संदर्भों का संकेत कर दिया गया है, जिससे जिज्ञासु पाठक वहां उनकी समग्रता से देख सके।

० कुछेक जैन पारिभाषिक शब्दों का इन निर्धारित ग्रन्थों में विवेचन नहीं है। हमने उन शब्दों का संग्रहण कर उनकी मात्र परिभाषा, अर्थबोध अथवा सामान्य विवरण दिया है। जैसे—अप्रशुद्धगति, ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी आदि। इसी प्रकार कुछेक शब्दों की अतिसंक्षिप्त जानकारी भी इसमें दी गई है, जैसे काकिणी, छद्मस्थ, छविपर्य, भूतिप्रज्ञ आदि। बाहुबली, भरत, मरुदेवा, राजीमती आदि के संक्षिप्त जीवनवृत्त भी उल्लिखित हैं।

० शब्द के निर्वचन आदि में हमने प्राचीनतम स्रोत को उद्धृत करने का प्रयत्न किया है। जहां व्याख्या-ग्रंथों के भिन्न-भिन्न मत हों तो वहां हमने सभी को क्रमशः उल्लिखित किया है। जहां सभी एकमत हों वहां प्राचीन स्रोत को ग्रहण किया है। विषय की विवेचना में जहां कुछ एक भिन्नता के साथ सभी एक मत हों तो वहां स्पष्ट विवेचना को स्थान दिया है। इसमें गद्य-पद्य की सुबोधता का भी ध्यान रखा है। कुछेक व्याख्याकार एक ही विषय को क्लिष्टतम शब्दों में विवेचित करते हैं तो कुछ उसी विवेचना को सहज-सरल शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। हमने सहज सुबोध उद्धरण को प्राथमिकता दी है।

० एक ही विषय की विवेचना में यदि व्याख्याकार कोई नई बात प्रस्तुत करते हैं तो हमने उस नए तथ्य को चाहे छोटा हो या बड़ा, समावृत्त किया है।

० अनुयोगद्वार तथा नन्दी—इन दो आगमों तथा उनके व्याख्या-ग्रन्थों में विवेचित अनेक विषयों का हमने प्रस्तुत कोश में इसलिए ग्रहण नहीं किया कि अभी-अभी ये दोनों ग्रन्थ आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा सुसंपादित, विवेचित और विश्लेषणात्मक टिप्पणों से युक्त तैयार हुए हैं। अनुयोगद्वार प्रकाशित हो चुका है और नन्दी प्रकाशनाधीन है। उनमें विवेचित अंशों को पुनः यहां उद्धृत करने के बदले उन्हीं ग्रन्थों से उन विषयों की अवगति प्राप्त करने की सूचना दे दी गई है।

० जिन विषयों की विस्तृत जानकारी सूयगडो, ठाणं, समवाओ आदि आगमग्रन्थों अथवा उनके टिप्पणों में है, उनका संबंध भी प्रस्तुत कोश के साथ यथास्थान जोड़ दिया गया है। जैसे—अवधिज्ञान के संस्थान (देखें—भगवती ८।१७-१०३ का भाष्य), लेश्या (देखें—पणवणा पद १७), वाद (देखें—सूयगडो १।१२।१ का टिप्पण)।

विषय की स्पष्टता के लिए कहीं-कहीं संसंदर्भ कथाएं भी उद्धृत हैं। जैसे—प्रतिक्रमण, बुद्धि, सामायिक आदि। परिशिष्ट १ में कथाओं का संसंदर्भ संकेत दिया गया है।

पाठक की सुगमता के लिए जीवनवृत्त आदि से संबंधित आंकड़ों के यंत्र (चार्ट) कोश में संलग्न हैं। जैसे—कुलकर, गणधर, चक्रवर्ती, तीर्थकर, लेश्या, वासुदेव।

कहीं-कहीं स्थापनाओं और चित्रों का भी उपयोग हुआ है, जैसे—आनुपूर्वी, चारित्र (अठारह हजार शीलांग), संस्थान, काकिणी, लोक, संख्या (पत्य) और संहनन।

प्रस्तुत कोश में १७८ विषय संगृहीत हैं। पहला विषय है—'अंगप्रखिष्ट' और अन्तिम विषय है—स्वाध्याय। कोश के अंत में दो परिशिष्ट हैं—

#### परिशिष्ट १ :

इसमें लगभग ५०० कथाओं के संकेत हैं। इसके तीन विभाग हैं—

**प्रथम विभाग** में कथाओं और दृष्टांतों का विषयगत विभाजन, कथा-संकेत और सन्दर्भ-स्थल निर्दिष्ट है। जो कथा जिस विषय के प्रसंग में आई है, उसे प्रायः उसी विषय के अन्तर्गत लिया गया है। जैसे—अनुयोग, एषणा, परीपह, बुद्धि, योगसंग्रह आदि। कहीं-कहीं विषयों का निर्धारण स्वतन्त्र रूप से भी किया गया है। जैसे—अंगुलि-निर्देश, अनुग्रह, अनुशासन, ईर्ष्या, जुगुप्सा, निर्जरा आदि। यदि एक ही कथा सब व्याख्या-ग्रंथों में है तो उन सबके सन्दर्भ ग्रंथ के कालानुक्रम से एक साथ दे दिये गये हैं।

**द्वितीय विभाग** में तीर्थकर, चक्रवर्ती, प्रत्येकबुद्ध, निह्लव, नगरों की उत्पत्ति—इनसे संबद्ध जीवनवृत्तों तथा घटनाओं के ससंदर्भ संकेत हैं।

**तृतीय विभाग** में आचार्य, मुनि, राजा तथा अन्य प्रसिद्ध कथानायकों का अकारादि क्रम से ससंदर्भ नामांकन है।

#### परिशिष्ट २ :

प्रस्तुत परिशिष्ट में पांच आगमों—आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी और अनुयोगद्वार तथा इनके व्याख्या-ग्रंथों—निर्युक्ति, चूणि, वृत्ति आदि में विखेपित दार्शनिक और तात्त्विक चर्चा-स्थलों का ससंदर्भ संकेत है। कहीं-कहीं आचार सम्बन्धी विमर्श भी संगृहीत है। विषयों का संकेत एक-एक ग्रन्थ के अनुसार पृथक्-पृथक् दिया गया है। इसलिए कुछेक विषयों की पुनरावृत्ति भी हुई है।

#### कृतज्ञता के स्वर

आगमपुरुष गणाधिपति पूज्य गुरुदेव एवं प्रजापुरुष आचार्यप्रवर की सतत प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं समाधान ने हमारा पथ प्रशस्त किया है। इन पूज्यवरों की तीव्र अन्तःअभीप्सा का ही एक पर्याय है—प्रस्तुत आगम विषय कोश।

अन्य कुछेक कार्यों को गौणकर केवल इसी कार्य में प्रमुख रूप से संलग्न रहकर हमने इस अल्पकालावधि में यह कार्य सम्पन्न किया—यह शत्रु महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा श्रीकनकप्रभाजी के अनुग्रह की ही फलश्रुति है।

इस कोश की समृद्ध और सुव्यवस्थित बनाने में अनन्य योग रहा है मुनिश्री दुलहराजजी का। व्यवहार-भाष्य के निरीक्षण और समायोजन में तथा अन्य कार्यों में संलग्न होते हुए भी उन्होंने इस कोश में निष्ठापूर्ण सहयोग किया, उसी का परिणाम है कि यह कोश इतना शीघ्र प्रकाश में आ सका।

कोश निर्माण की संपूर्ण पद्धति का अवबोध मिला डॉ० सत्य रंजन बनर्जी से। गणित से संबंधित विषयों में मुनिश्री श्रीचन्दजी एवं मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी का सहयोग रहा। साध्वी संचितयशाजी ने प्रतिलिपि, चित्र एवं चार्ट बनाने में अपना पूर्ण श्रम एवं समय लगाया। समष्ठी उज्ज्वलप्रजाजी ने प्रतिलिपि, प्रूफनिरीक्षण एवं परिशिष्ट निर्माण में अनन्य सहयोग किया। साध्वी अमृतयशाजी, साध्वी दर्शनविभाजी आदि साध्वियां, समर्णियां

एवं मुमुक्षु-बहिर्ने, जिनका इसमें यत्किञ्चित् भी उल्लेखनीय सहयोग रहा, उन सबके प्रति मंगलभावना ।

डॉ. नथमल टाटिया ने कोशग्रन्थ का पारायण कर उस पर विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी । उनके प्रति हमारी मंगलभावना ।

प्रस्तुत कोश में जिनकी कृतियों का हमने उपयोग किया है, उन सबके प्रति आभार ज्ञापन ।

इस कोश निर्माण में हम यत् किञ्चित् योगभूत बन सकीं—यह हमारा परम सीभाग्य है और उसकी पृष्ठभूमि में वरदहस्त रहा अनुपम त्रिमूर्ति का—गणाधिपति पूज्य गुरुदेव, आचार्यप्रवर एवं महाश्रमणीजी । उनके अनुग्रह से हमारी श्रुतमयी संयमयात्रा विविध आयासों को उद्घाटित करती हुई निर्बाध गति से चले—यही आशंसा है ।

ऋषभद्वार

लाडनूं

१-९-९६

साध्वी विमलप्रज्ञा

साध्वी सिद्धप्रज्ञा



## ग्रन्थ-परिचय'

### १. आवश्यक

साधु और श्रावक के लिए यह अवश्य करणीय है, इसलिए इसका नाम आवश्यक है। यह एक श्रुतस्कन्ध है। इसके छह अध्यायन और प्रत्येक अध्यायन का एक-एक अधिकार—विषय-वस्तु है—

१. सामायिक—सावद्ययोग विरति।
२. चतुर्विंशतिस्तव—उत्कीर्तना।
३. वंदना—गुणवान् की प्रतिपत्ति।
४. प्रतिक्रमण—स्खलना की निंदा।
५. कायोत्सर्ग—व्रण-चिकित्सा।
६. प्रत्याख्यान—गुणधारण।

संभव है भगवान् पार्श्व के समय तक एक सामायिक आवश्यक था और उसे षडावश्यक का रूप भगवान् महावीर के शासन में मिला। षडावश्यक के विषय का प्रतिपादन महावीर ने किया और उसका सूत्र रूप में मुम्फन गणधरो ने किया। इसके मुख्य रूप में नौ व्याख्या ग्रन्थ हैं—

- |                              |                            |
|------------------------------|----------------------------|
| १. आवश्यकनिर्युक्ति          | ६. आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका |
| २. आवश्यकभाष्य               | ७. आवश्यकवृत्ति            |
| ३. आवश्यकचूर्णि              | ८. आवश्यक विवरण            |
| ४. आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति | ९. आवश्यकटिप्पणकम्         |
| ५. आवश्यक मलयगिरीया वृत्ति   |                            |

### निर्युक्ति और निर्युक्तिकार

आगम की मूलस्पर्शी पचात्मक व्याख्या निर्युक्ति कहलाती है। व्याख्या साहित्य में निर्युक्ति सर्वाधिक प्राचीन और प्रथम व्याख्या है, सूत्रों की अनंतर व्याख्या है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु हैं—यह सर्वसम्मत है। वे प्रथम हैं अथवा द्वितीय—इसमें मतैक्य नहीं है।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और ओषनिर्युक्ति की वृत्तियों में चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु प्रथम को निर्युक्तिकार कहा गया है।

किंतु दशकालिक निर्युक्ति (५५) और अगस्त्यसिंह की चूर्णि के स्पष्ट उल्लेख के आधार पर चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं ठहरते (आगमकोश पृ ३८९)। यह बहुत संभव है कि प्राचीन काल में लघुकाय निर्युक्तियां रही हों और उनके कर्ता भद्रबाहु प्रथम रहे हों।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति (१२३) में आर्य आषाढ का प्रसंग यह प्रमाणित करता है कि निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु द्वितीय हैं। उनका अस्तित्व काल विक्रम की पांचवीं-छठी शताब्दी है। दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति और पंचकल्पनिर्युक्ति में चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा २३३ में कहा गया है कि पदार्थों का सम्पूर्ण और विशद वर्णन तो केवली और चतुर्दशपूर्वी ही कर सकते हैं ?

१. प्रस्तुत कोश में प्रयुक्त पांच आगम तथा उनके व्याख्या-ग्रन्थ।



### आवश्यकनिर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (वि. छठी शताब्दी) ने आवश्यकनिर्युक्ति का प्रणयन किया। सामायिक आदि छह विभाग वाले आवश्यक सूत्र की यह प्राकृत भाषा में प्रथम पद्यबद्ध व्याख्या है। इसकी १६२३ गाथाओं में विविध विषयों का समाकलन है।

इसके प्रारंभ में उपोद्घात है, जिसमें पांच ज्ञान, सामायिक, ऋषभ और महावीर का जीवन-चरित्र, गणधरवाद, आर्यरक्षित-चरित्र तथा निह्वनवमतों का विशद विवेचन है।

उपोद्घात के पश्चात् नमस्कार, चतुर्विंशति स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रायश्चित्त, ध्यान, प्रत्याख्यान आदि की निक्षेप-पद्धति से व्याख्या की गई है। प्रतिक्रमण के प्रसंग में नागदत्त, महागिरि, स्थूलभद्र, धन्वन्तरी आदि ऐतिहासिक पुरुषों के निदर्शन दिये गये हैं।

### चूर्ण

इसमें निर्युक्ति के सभी विषयों का विस्तृत विवेचन है। यत्र-तत्र विशेषावश्यकभाष्य-गाथाओं की भी व्याख्या की गई है। इसमें ओषधिनिर्युक्ति चूर्ण, गोविन्दनिर्युक्ति, वसुदेवहिंडि आदि ग्रंथों का उल्लेख है। यह प्राकृत में है, किन्तु इसमें संस्कृत के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। विषय-विस्तार और ऐतिहासिक आख्यानो का यह दुर्लभ दस्तावेज है। सभ्यता एवं संस्कृति की महत्त्वपूर्ण सामग्री इसमें उपलब्ध है। जिनदासगणिमहत्तर कृत यह चूर्ण अन्य सभी चूर्णियों से विशाल और दो भागों में प्रकाशित है। मुद्रित चूर्ण के अनुसार इसका ग्रंथाग्र १९ हजार श्लोक परिमाण है।

### हारिभद्रीया वृत्ति

इसके कर्ता आचार्य हरिभद्र (वि. ८-९ शताब्दी) हैं। इसमें निर्युक्तिगाथाओं का विस्तृत विवेचन है। यत्र-तत्र भाष्य गाथाओं का उपयोग भी किया गया है। इसमें प्राकृत भाषा में अनेक कथानक उद्धृत हैं। यह शिष्यहिता वृत्ति २२००० श्लोक प्रमाण है।

### मलयगिरीया वृत्ति

यह आवश्यकनिर्युक्ति की अपूर्ण वृत्ति ही उपलब्ध है। १०९९ निर्युक्ति गाथाओं की यह वृत्ति तीन भागों में प्रकाशित है। सरस एवं सुबोध भाषाशैली में गुफित इस वृत्ति में प्रज्ञाकरगुप्त, आवश्यक चूर्णकार, मूल टीकाकार, मूल भाष्यकार, अकलंक, न्यायावतारविवृतिकार आदि का उल्लेख है। वृत्ति के समर्थन के रूप में विशेषावश्यक भाष्य की गाथाएं उद्धृत हैं। प्राकृत में अनेक कथानक भी हैं।

आवश्यक चूर्ण और दोनों वृत्तियों में अनेक ऐतिहासिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक तथ्यों का समाकलन है। पूर्वों के बारे में भी अनेक नवीन तथ्य उजागर हुए हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है -

“आर्य वज्र ने कहा—आर्यरक्षित ! अब तुमने दसवां पूर्व पढ़ना प्रारंभ किया है, अतः सबसे पहले ‘यविक’ पढ़ो, जो इस पूर्व के परिकर्म के रूप में है। यविक सूक्ष्म है, गणितज्ञान के कारण अति गूढ़ है। चौबीस यविक पढ़ने के पश्चात् आर्यरक्षित ने पूछा—अब दसवें पूर्व का कितना भाग अवशिष्ट है ? आर्य वज्र ने कहा—अभी तो तुमने बिंदु अथवा सर्षप जितना भाग पढ़ा है, समुद्र अथवा मंदर जितना भाग अवशिष्ट है। आर्यरक्षित के साथ ही दसवां पूर्व और अर्धनारश्च संहनन—ये दोनों विच्छिन्न हो गए।”

एक बार शक्रेन्द्र स्थविर के रूप में उपस्थित हो आर्यरक्षित से बोले—मैं महान् व्याधिग्रस्त हूँ, अतः मुझे अनशन कराओ और यह भी बताओ कि मेरी आयु कितनी है ?

१. आवचू १ पृ ४०४. हावू १ पृ २०२, २०३. मवू प ३९५

आर्यरक्षित 'यविकों' के ज्ञाता थे। 'ज्विएहि किर भणिया आऊसेडी'—यविकों में आयुश्रेणि प्रज्ञप्त है। वे यविकों में उपयुक्त हुए तो ज्ञात हुआ कि इसकी आयु सौ, दो सौ, तीन सौ वर्ष से भी अधिक है, यह दो सागरोपम की स्थिति वाला देव है। देव ने अपनी वस्तुस्थिति बताकर निगोदजीवों के बारे में सुनना चाहा। आर्यरक्षित ने निगोद का स्वरूप प्रतिपादित किया।<sup>१</sup>

### विशेषावश्यक भाष्य

विक्रम की सातवीं शताब्दी। आचार्य जिनभद्र ने आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन 'सामायिक' पर विशेषावश्यक भाष्य लिखा। ३६०३ गाथा प्रमाण यह भाष्य आवश्यकनिर्युक्ति के गूढ अर्थों की विस्तृत एवं विशद विवेचना है। इसमें ज्ञानवाद, नयवाद, आचारशास्त्र, कर्मशास्त्र आदि अनेक आगमिक विषयों की महत्त्वपूर्ण चर्चा है। दार्शनिक विषयों की युक्तियुक्त प्रस्तुति के साथ अपर दर्शनों की मीमांसा भी की गई है। प्रायः सभी उत्तरवर्ती आगमिक व्याख्याओं में इसका उपयोग किया गया है। स्वयं भाष्यकार ने इसकी स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी, किंतु वह अपूर्ण रह गई, जिसकी संपूर्ति कोट्याचार्य ने की। विक्रम की बारहवीं शती में मलघारी हेमचन्द्र ने इस पर सुबोध एवं सरस शैली में शिष्यहिता वृत्ति लिखी।

### २. दशवैकालिक

इसके दस अध्ययन हैं। यह विकाल वेला में पूर्ण हुआ। इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया। इसके कर्ता श्रुतकेवली आचार्य शय्यभवं हैं। अपने पुत्र शिष्य मनक के लिए उन्होंने इसकी रचना वीर संवत् ७२ के आसपास चंपा नगरी में की। इसमें दो चूलिकाएँ हैं। इसका समावेश चरणकरणानुयोग में होता है। इसका प्रतिपाद्य है मुनि का आचार। यह एक निर्यूहण कृति है। इसके कुछ अध्ययनों का निर्यूहण पूर्वों से हुआ है। इसके मुख्य चार व्याख्या ग्रन्थ हैं—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण और वृत्ति।

### निर्युक्ति

दशवैकालिक निर्युक्ति की ३७१ गाथाओं में दण, मंगल, द्रुम, धर्म, श्रामण्य, पूर्वक, भिक्षु, विनय, रति इत्यादि विषयों को निक्षेप पद्धति से समझाया गया है। प्रसंगवश हेतु, उदाहरण, विहंगम, पद, धान्य, रत्न, स्वर्ण, काम आदि विषयों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

### चूर्णद्वय

दशवैकालिक निर्युक्ति का अनुसरण करने वाली दो चूर्णियाँ हैं—

१. अगस्त्यचूर्ण—वज्रस्वामी की परम्परा के स्वप्निर श्री अगस्त्यसिंह द्वारा कृत यह चूर्ण सरल प्राकृत भाषा में है। यह सबसे प्राचीन चूर्ण है। इस चूर्ण में तत्त्वार्थ सूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, ओषनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, कल्पभाष्य आदि ग्रन्थों का उल्लेख है।
२. जिनदासचूर्ण—इसमें अन्यान्य विषयों के साथ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, वीर्याचार, धर्मकथा, अर्थकथा आदि विषयों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। यह संस्कृत मिश्रित प्राकृत में है। इसका रचनाकाल विक्रम की ७वीं, ८वीं शताब्दी है।

### हारिभद्रोया वृत्ति

हरिभद्रसूरि संविगत-पाक्षिक थे। ये संस्कृत के प्रथम टीकाकार (वि. ८-९ शताब्दी) थे।

१. आवचू १ पृ ४११, ४१२. हावृ १ पृ २०६, २०७. मवृ प ३९९, ४००

आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिक निर्युक्ति पर 'शिष्यबोधिनी' वृत्ति लिखी। इसमें दशवैकालिक सूत्र की रचना के संदर्भ में आचार्य शय्यभवा का कथानक उद्धृत है। इसके अतिरिक्त अन्य कथानक और उद्धरण भी हैं।

तप के संदर्भ में उद्धृत पांच संस्कृत श्लोकों में ध्यान का पूरा स्वरूप उजागर है। (पत्र ३२)

श्रोता के प्रसंग में न्याय के अवयवों का सांगोपांग विवेचन है। (पत्र ३३-६८)

षड्जीवनिका अध्ययन में जीव के अस्तित्व की सिद्धि, लक्षण आदि से संबद्ध विस्तृत दार्शनिक चर्चा की गई है। (पत्र १२१-१३४) इस प्रकरण में कुछ भाष्य गाथाएं भी उद्धृत हैं।

### ३. उत्तराध्ययन

जैन आगम चार वर्गों में विभक्त हैं—अंग, उपांग, मूल और छेद। उत्तराध्ययन 'मूल' वर्ग के अन्तर्गत परिगणित होता है। इसमें दो शब्द हैं—उत्तर और अध्ययन। यह एककर्तृक ग्रन्थ नहीं, किन्तु संकलित सूत्र है। इसमें छत्तीस अध्ययन हैं। इनमें पांच अध्ययन—९, १६, २३, २५ और २९ प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गए हैं। प्रश्नोत्तर अन्य अध्ययनों में भी हैं। इसका प्रारंभिक संकलन वीर निर्वाण की पहली शताब्दी के पूर्वार्द्ध में और उत्तरार्ध का संकलन देवार्द्धिगणी के समय में संपन्न हुआ। इसकी निर्युक्ति में प्रत्येक अध्ययन का विषय निर्दिष्ट है। उनतीसवां अध्ययन पूर्णरूपेण गद्यमय है और दूसरे तथा सोलहवें अध्ययन में गद्य-पद्य दोनों हैं। शेष अध्ययन पद्यात्मक हैं। इसके चार व्याख्या-ग्रन्थ हैं—निर्युक्ति, चूर्णि, बृहद्वृत्ति और सुखबोधा वृत्ति।

#### निर्युक्ति

इसका प्रथम व्याख्या-ग्रन्थ है—निर्युक्ति। इसमें ६०७ गाथाएं हैं। सर्वप्रथम उत्तर शब्द के १५ निक्षेप बताये गये हैं। द्रव्य श्रुत के प्रसंग में निह्वनों की चर्चा की गई है। संयोग के संदर्भ में परमाणुओं के परस्पर संबंध की विशद जानकारी दी गई है। परमाणु-संयोग से जो संस्थान निर्मित होते हैं, उनकी स्थापनाएं भी दी गई हैं।

#### चूर्णि

यह प्राकृत-संस्कृत में लिखी गई उत्तराध्ययन की महत्वपूर्ण व्याख्या है। अंतिम अठारह अध्ययनों की व्याख्या बहुत ही संक्षिप्त है। ग्रन्थकार ने अपना नाम 'गोपालिक महत्तर शिष्य' के रूप में उल्लिखित किया है।

#### बृहद्वृत्ति (शिष्यहिता या पाइयटीका)

इसके कर्ता हैं—वादिवेताल शान्तिमूरि। इनका अस्तित्व-काल विक्रम की ११वीं शताब्दी है। बृहद्वृत्ति में स्थान-स्थान पर 'वृद्धसंप्रदाय' ऐसा उल्लेख मिलता है। 'वृद्ध' शब्द से उनको चूर्णिकार अभिप्रेत है। इस चूर्णि के अतिरिक्त भी कोई प्राचीन व्याख्या रही है, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें अवतरणात्मक कथाएं प्राकृत में गृहीत हैं। उत्तराध्ययन की संस्कृत व्याख्याओं में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

#### सुखबोधा वृत्ति

यह बृहद्वृत्ति से समुद्धृत लघु वृत्ति है। इसके कर्ता नेमिचन्द्रसूरी हैं। सूरिपद प्राप्ति से पूर्व इनका नाम देवेन्द्र था। इस वृत्ति का रचनाकाल वि. सं ११२९ है। यह वृत्ति प्राकृत कथाओं के कारण बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्राकृत भाषा की इन कथाओं का प्रणयन विशेष शैली में हुआ है। इनमें सांस्कृतिक तथ्यों की भी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

### ४. नन्दी

नन्दी का एक अर्थ है—आनन्द। ज्ञान सबसे बड़ा आनन्द है। इसमें ज्ञान का सांगोपांग वर्णन है इसलिए

इसका नाम नन्दी है। आगम संकलन की चौथी वाचना आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण के समय में हुई। वे ही नन्दी के कर्ता हैं। प्रस्तुत आगम का रचनाकाल वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी का दसवां दशक है। चूर्णिकार के अनुसार इसके कर्ता दूष्यगणि के शिष्य देववाचक हैं। कुछ विद्वान् मानते हैं कि देवद्विगणी का अपर नाम देववाचक था। इसमें प्रारंभ की तीन गाथाओं में महावीर की स्तुति, चौदह गाथाओं में संघ की स्तुति, दो गाथाओं में तीर्थंकरावलि, दो गाथाओं में गणधरावलि, बावीस गाथाओं में स्थविरावलि और शेष की एक गाथा में परिषद् के स्वरूप का प्रतिपादन है। यह प्रश्नोत्तर शैली की रचना है। इसमें पाँचों ज्ञान का सांगोपांग वर्णन है। बारह अंगों का स्वरूप निदर्शन इसमें स्पष्टरूप से हुआ है। इसमें १२७ सूत्र और मध्यगत अनेक संग्रहणां गाथाएं हैं।

इसके मुख्य व्याख्या ग्रन्थ तीन हैं— १. नन्दी चूर्ण, २. नन्दी हारिभद्राया वृत्ति, ३. नन्दी मलयगिरीया वृत्ति। जैन विश्व भारती से प्रकाशित 'नवसुत्ताणि' में नन्दी के साथ उसके दो परिशिष्ट भी मुद्रित हैं— १. अनुज्ञानन्दी २. योगनन्दी।

### चूर्ण

सूत्रानुसारी नन्दी चूर्ण प्राकृत प्रधान है। नन्दीगत विषयों का स्पर्श करते हुए कहीं-कहीं विशद व्याख्या भी की गई है। तीर्थसिद्ध आदि सिद्धों के पन्द्रह प्रकारों की विस्तृत जानकारी इसमें उपलब्ध है।

चूर्णिकार ने केवलज्ञान और केवलदर्शन के प्रसंग में तीन मत उद्धृत किए हैं— १. केवलज्ञान और केवलदर्शन का योगपद्य। २. केवलज्ञान और केवलदर्शन का क्रमभावित्व। ३. केवलज्ञान और केवलदर्शन का अभेद। उन्होंने दूसरे मत—केवलज्ञान और केवलदर्शन का क्रमभावित्व का समर्थन किया है। इस प्रसंग में 'विशेषणवती' की चौबीस गाथाएं भी उद्धृत हैं। (चू. पृ. २८-३०)

श्रुतज्ञान की विशद विवेचना में 'अक्षर पटल' एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। (चू. पृ. ५२-५६)

जिनदासगणी ने सर्वप्रथम नन्दी चूर्ण शक सं. ५९८ में लिखी। (शकराजो पंचसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतेषु नन्दध्वयनचूर्णी समाप्ता इति चू. पृ. ८३)। इसके अनुसार ई. सन् ६७६ और वि. सं. ७३३ में यह चूर्ण लिखी गई। अनुयोगद्वारचूर्ण (पृ. १) में नन्दी चूर्ण का उल्लेख है। इसका ग्रंथाग्र १५०० श्लोक है। इस चूर्ण में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का अंतर बहुत सुंदर ढंग से प्रतिपादित है (पृ. ५७)। कालिक श्रुत के प्रसंग में अरुणोपपात, उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत आदि ग्रंथों की संक्षिप्त जानकारी भी दी गई है। चूर्णिकार ने प्रकीर्णकश्रुत को भी परिभाषित किया है। इसमें चित्रांतरकण्डिका के संदर्भ में पूर्वाचार्यों की २२ गाथाएं उद्धृत हैं, जिनमें वर्णित भगवान् ऋषभ तथा अजित के अंतराल काल में उनके जितने वंशज राजा अनुत्तरविमानों में उत्पन्न हुए तथा मोक्ष में गए, उनकी संख्या का यंत्र भी दिया गया है। (चू. पृ. ७७-७९)

### वृत्ति

आचार्य हरिभद्रकृत नन्दी वृत्ति भी चूर्ण का अनुसरण करती है। इसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन के योगपद्य उपयोग के समर्थक सिद्धसेन आदि का, क्रमिक उपयोग के समर्थक सिद्धांतवादी जिनभद्रगणि आदि का तथा अभेद के समर्थक बृद्धाचार्यों (सिद्धसेन दिवाकर आदि) का उल्लेख है।

आचार्य मलयगिरि कृत नन्दी वृत्ति सुस्पष्ट, सुविशद, विस्तृत एवं सरस है। इसमें जीव के अस्तित्व की सिद्धि, शाब्दप्रामाण्य, अपौरुषेय वचन निरास, सर्वज्ञसिद्धि, नैरात्म्यनिराकरण, सांख्यमुक्तिनिरसन, स्त्रीमुक्तिसिद्धि आदि अनेक दार्शनिक चर्चाएं प्रतिपादित हैं।

## ५. अनुयोगद्वार

यह चूलिकासूत्र माना जाता है। चूलिका का अर्थ है—वर्णित विषय के व्याख्या सूत्रों का निरूपण। अनुयोगद्वार में पूर्वों की अध्ययन पद्धति का निरूपण है, इसलिए यह पूर्वज्ञान का परिशिष्ट माना जा सकता है। इस आगम का मूल ग्रन्थाग्र २१६२ श्लोक प्रमाण है। यह बहुलांशतः गद्यमय है। यत्र-तत्र पद्यों का भी समावेश है। इसकी रचना प्रश्नोत्तरी शैली प्रधान है। इसमें विविध विषय चर्चित हैं। इसके कर्ता पृथक्त्वानुयोग के प्रवर्तक आर्यरक्षित माने जाते हैं। इनका अस्तित्व काल है—वीर निर्वाण की पांचवीं-छठी शताब्दी। इस पर तीन मुख्य व्याख्या ग्रन्थ हैं—चूर्णि, हारिभद्राया वृत्ति और मलधारीया वृत्ति।

### चूर्णि

इसके कर्ता जिनदासगणी महत्तर हैं। इसका ग्रन्थाग्र २२६५ श्लोक प्रमाण है। इसकी भाषा प्राकृत है। इसमें अनुयोगविधि के विस्तृत विश्लेषण के साथ भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा सामाजिक विषयों का विवरण भी प्राप्त है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने 'शरीर पद' (पन्नवणा, पद १२) पर चूर्णि लिखी, जो इसमें अक्षरशः उद्धृत है।

### हारिभद्राया वृत्ति

आचार्य हरिभद्रकृत यह वृत्ति संक्षिप्त और चूर्णि की शैली में लिखी गई है। इस वृत्ति में यत्र-तत्र चूर्णि के पाठ प्राप्त होते हैं। परन्तु यह वृत्ति चूर्णि से विस्तृत विवरण देती है।

### मलधारीया वृत्ति

मलधारी हेमचन्द्र (वि. बारहवीं शताब्दी) ने इस वृत्ति के माध्यम से चूर्णि और हारिभद्राया वृत्ति की व्याख्या को सरस शैली में प्रस्तुत किया है। इसका ग्रन्थाग्र ५९०० श्लोक परिमाण है। इसमें कुछ नये तथ्य भी हैं। इस टीका का आधारग्रन्थ भी चूर्णि ही रहा है।

## ६. ओघनिर्युक्ति

यह निर्युक्ति आवश्यक निर्युक्ति का एक अंग है। इसमें ओघ सामाचारी का निरूपण है। इसमें ८११ गाथाएं हैं। प्रथम गाथा में तीर्थंकर, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी और एकादशांगधर को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् प्रतिलेखना, पिण्ड, उपधिप्रमाण, अनायतन वर्जन, प्रतिसेवन, आलोचना और विशोधि—इन सात विषयों का सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया गया है। उपसंहार में निर्युक्तिकार ने बताया है कि जो निःशल्य होकर मारणांतिक आराधना करता है, वह उत्कृष्टतः तीन भवों में अवश्य मुक्त हो जाता है।

ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य में करण, चरण, अनुयोग, सेवा, विहारविधि, भिक्षाग्रहणविधि, उपकरण, योग्य-अयोग्य दाता आदि विषय प्रतिपादित हैं। इसमें ३२२ गाथाएं हैं। इसका बृहद् भाष्य अप्रकाशित है।

ओघनिर्युक्तिचूर्णि का उल्लेख आवश्यक चूर्णि (पूर्वभाग, पृ ३४१) में मिलता है, अतः यह आवश्यक चूर्णि से प्राचीन है।

ओघनिर्युक्ति और उसके लघु भाष्य पर द्रोणसूरि ने वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति सरल एवं सुबोध है। इसमें कहीं-कहीं संस्कृत-प्राकृत के उद्धरण भी हैं। इसका रचनाकाल विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी है। वृत्ति का ग्रंथ-परिमाण लगभग ७००० श्लोक है। आचार्य मलयगिरिकृत वृत्ति अनुपलब्ध है।

### ७. पिण्डनिर्युक्ति

यह दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक अंग है। दशवैकालिक के पिण्डैषणा नामक पांचवें अध्यायन की निर्युक्ति ग्रंथपरिमाण में विस्तृत थी, अतः निर्युक्तिकार ने उसे पिण्डनिर्युक्ति के रूप में पृथक् किया। इसकी प्रथम गाथा में ही निर्युक्ति के सम्पूर्ण अधिकारों की सूचना दे दी गई है—पिण्ड, उद्गम, उत्पादना, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण—इन नौ अधिकारों का विवेचन अनेक ऐतिहासिक कथानकों आदि के माध्यम से किया गया है।

पिण्ड शब्द की व्याख्या में द्रव्य पिण्ड का विस्तृत विवेचन किया गया है। पृथ्वीकाय आदि जीवों के अनेक भेद-प्रभेद—सच्चित्त, अचित्त, मिश्र, व्यवहार सच्चित्त, निश्चत सच्चित्त आदि तथा उनकी उपयोगिता की चर्चा ४८ गाथाओं (९ से ५४) में की गई है।

आधाकर्म (भिक्षादोष) के प्रसंग में साधर्मिक के प्रकार और उनकी कल्प्याकल्प्य विधि का उल्लेख तेईस गाथाओं (१३७-१५९) में है। वृत्तिकार ने २२ पृष्ठों में इनकी सांगोपांग व्याख्या की है।

इसमें ६७१ गाथाएं हैं। इन्हीं के साथ ४६ भाष्य गाथाएं भी हैं, जिनमें आधाकर्म, औद्देशिक, विशोधि-अविशोधि आदि विषयों का निरूपण है। इसकी आचार्य मलयगिरिकृत वृत्ति में निर्युक्ति-भाष्यगत कथानक संस्कृत में व्याख्यायित हैं। इसका ग्रंथपरिमाण ७००० श्लोक है।



## संदर्भ-ग्रन्थ : संकेत-विवरण

संकेत	ग्रन्थ	प्रकाशन
अनु	अणुओगदाराहं	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, सन् १९९६
अनुचू	अनुयोगद्वारचूर्ण	श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम, वि. सं. १९८४
अनुमवृ	अनुयोगद्वार मलघारीया वृत्ति	श्री केसरबाई ज्ञानमंदिर, पाटन, सन् १९३९
अनुहवृ	अनुयोगद्वार हारिभद्रीया वृत्ति	श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वि. सं. १९८४
आव	आवश्यक (नवसुत्ताणि)	जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८७
आवचू १	आवश्यकचूर्ण (पूर्वभाग)	श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८
आवचू २	आवश्यकचूर्ण (उत्तरभाग)	वही, सन् १९२९
आवनि	आवश्यकनिर्युक्ति	श्री भेरुलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई, वि. सं. २०३८
आव परि	आवश्यक परिशिष्ट (नवसुत्ताणि)	जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८७
आवभा	आवश्यकभाष्य	श्री भेरुलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई, वि. सं. २०३८
आवमवृ	आवश्यक मलयगिरीया वृत्ति	आगमोदय समिति बम्बई, सन् १९२८
आवहावृ १	आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति (भाग १)	श्री भेरुलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई, वि. सं. २०३८
आवहावृ २	आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति (भाग २)	वही
उ	उत्तराध्ययनचूर्ण	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राजस्थान) द्वितीय संस्करण : सन् १९९२
उचू	उत्तराध्ययनचूर्ण	श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतनपुर, सन् १९३३
उशावृ	उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य बृहद्वृत्ति	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई, सं. १९७३
उसुवृ	उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति	सेठ पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र, बालापूर (वलाद), सन् १९३७
ओनि	ओषनिर्युक्ति	आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९
ओनिवृ	ओषनिर्युक्ति वृत्ति	वही
ओभा	ओषनिर्युक्ति भाष्य	वही



संकेत	ग्रंथ	प्रकाशन
द	दशवेआलियं	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान) द्वितीय संस्करण, सन् १९७४
दअच्	दशवैकालिक अमस्त्यासिह स्थविर चूर्ण	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी अहमदाबाद—९, सन् १९७३
दजिच्	दशवैकालिक जिनदास चूर्ण	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९३३
दनि	दशवैकालिक निर्युक्ति	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी अहमदाबाद—९, सन् १९७३
दभा	दशवैकालिक भाष्य	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाषागार संस्था, बम्बई, सन् १९१८
दहावृ	दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति	वही
नन्दी	नन्दी (नवसुत्ताणि)	जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८७
नन्दीच्	नन्दी चूर्ण	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी—५, सन् १९६६
नन्दीमवृ	नन्दी मलयगिरीया वृत्ति	श्री आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९१७
नन्दीहावृ	नन्दी हारिभद्रीया वृत्ति	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी—५, सन् १९६६
नन्दीहावृटि	नन्दी हारिभद्रीया वृत्ति टिप्पणकम्	वही
पिनि	पिण्डनिर्युक्ति	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१८
पिनिवृ	पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति	वही
विभा	विशेषावश्यकभाष्य	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, वीर संवत् २४८९
विभाकोवृ	विशेषावश्यकभाष्य कोट्याचार्यवृत्ति	प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली, सन् १९७२
विभामवृ	विशेषावश्यकभाष्य मलधारीया वृत्ति	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, वीर संवत् २४८९

### प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

आचारांगभाष्यम्	जैन विश्व भारती, लाडनूं सन् १९९५
उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन	जैन श्वेताम्बर तैरापंथी महासभा, कलकत्ता-१, सन् १९६८
ठाण	जैन विश्व भारती, लाडनूं, वि. सं. २०३३
प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध (जयाचार्यकृत)	जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८८
भगवई (खण्ड १)	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, सन् १९९४
समवाओ	जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८४
सूयमडो (१)	जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८५

## मुख्य विषय : अनुक्रम

१. अंगप्रविष्ट
२. अंगबाह्य
३. अंगुल
४. अजीव
५. अज्ञान
६. अनशन
७. अनाचार
८. अनुप्रेक्षा
९. अनुमान
१०. अनुयोग
११. अहंत्
१२. अवधिज्ञान
१३. अष्टांग निमित्त
१४. अस्तिकाय
१५. अस्पृशद्गति
१६. अस्वाध्याय
१७. अहिंसा
१८. आगम
१९. आचार
२०. आचार्य
२१. आजीवक
२२. आत्मा
२३. आनुपूर्वी
२४. आभिनिबोधक ज्ञान (मति ज्ञान)
२५. आयतन
२६. आराधना
२७. आलोचना
२८. आवश्यक
२९. आशातना
३०. आश्रव
३१. आहार
३२. इन्द्रिय
३३. ईषत्प्राग्भारा
३४. उपधि
३५. उपमान
३६. उपसर्ग
३७. ऊनोदरी
३८. एषणा समिति
३९. कथा
४०. करण
४१. करणसत्तरी
४२. कर्म
४३. कषाय
४४. कामभोग
४५. कायक्लेश
४६. कायोत्सर्ग
४७. काल
४८. काल-विज्ञान
४९. काव्य-रस
५०. कुत्रिकापण
५१. कुलकर
५२. केवलज्ञान
५३. केवली
५४. केवली-समुद्घात
५५. गणधर
५६. गुणस्थान

५७. मुक्ति  
 ५८. गीचरचर्या  
 ५९. गौरव  
 ६०. चक्रवर्ती  
 ६१. चारित्र्य  
 ६२. जातिस्मृति  
 ६३. जिन  
 ६४. जीव  
 ६५. जीवमिकाय  
 ६६. ज्ञान  
 ६७. तप  
 ६८. तिर्यंच  
 ६९. तीर्थ  
 ७०. तीर्थंकर  
 ७१. त्रस  
 ७२. दुःख  
 ७३. दृष्टिवाद  
 ७४. देव  
 ७५. द्रव्य  
 ७६. द्वीप  
 ७७. धर्म  
 ७८. ध्यान  
 ७९. नक्षत्र  
 ८०. नमस्कार महामंत्र  
 ८१. नय  
 ८२. नरक  
 ८३. नाथ  
 ८४. निक्षेप  
 ८५. निदान  
 ८६. निर्युक्ति  
 ८७. निषद्या  
 ८८. निरुद्ध  
 ८९. परिग्रह

९०. परिषद् (श्रोता)  
 ९१. परीत  
 ९२. परीषद्  
 ९३. पर्याप्ति  
 ९४. पल्योपम  
 ९५. पाषण्ड  
 ९६. पुद्गल  
 ९७. पुद्गलपरावर्त्तन  
 ९८. पूर्वं  
 ९९. पोट्टपरिहार  
 १००. प्रतिक्रमण  
 १०१. प्रतिमा  
 १०२. प्रतिलेखना  
 १०३. प्रतिसंलीनता  
 १०४. प्रतिसेवना  
 १०५. प्रत्याख्यान  
 १०६. प्रत्येकबुद्ध  
 १०७. प्रमाण  
 १०८. प्रमाद  
 १०९. प्रवचन  
 ११०. प्रायश्चित्त  
 १११. बहुश्रुत  
 ११२. बाहुबलि  
 ११३. बुद्धि  
 ११४. ब्रह्मचर्य  
 ११५. भव्य  
 ११६. भाव  
 ११७. भावना  
 ११८. भाषा  
 ११९. भाषा समिति  
 १२०. भिक्षाचर्या  
 १२१. भिक्षु

## मुख्य विषय : अनुक्रम

१२२. मंगल  
 १२३. मंत्र-विद्या  
 १२४. मन  
 १२५. मनःपर्यवज्ञान  
 १२६. मनुष्य  
 १२७. मरण  
 १२८. महाजत  
 १२९. माह्न  
 १३०. मोक्ष  
 १३१. योग  
 १३२. योगसंग्रह  
 १३३. योनि  
 १३४. रसपरित्याग  
 १३५. राजीमती  
 १३६. रात्रिभोजनविरमण  
 १३७. लब्धि  
 १३८. लिंग  
 १३९. लेश्या  
 १४०. लोक  
 १४१. वन्दना (कृतिकर्म)  
 १४२. वर्मणा  
 १४३. वाद  
 १४४. वासुदेव  
 १४५. विनय  
 १४६. वृद्धश्रावक  
 १४७. वैयावृत्त्य  
 १४८. व्याकरण  
 १४९. व्युत्सर्ग  
 १५०. शकुन  
 १५१. शरीर  
 १५२. शासन-भेद  
 १५३. शिक्षा  
 १५४. शिष्य  
 १५५. श्रमण  
 १५६. श्रावक  
 १५७. श्रुतज्ञान  
 १५८. संख्या  
 १५९. संघ  
 १६०. संज्ञा  
 १६१. संयम  
 १६२. संलेखना  
 १६३. संस्थान  
 १६४. संहनन  
 १६५. समवसरण  
 १६६. समाधि  
 १६७. समिति  
 १६८. सम्यक्त्व  
 १६९. साधमिक  
 १७०. सामाचारी  
 १७१. सामायिक  
 १७२. सिद्ध  
 १७३. सूत्र (सूत)  
 १७४. स्तव-स्तुति  
 १७५. स्थविरावलि  
 १७६. स्याद्वाद  
 १७७. स्वरमंडल  
 १७८. स्वाध्याय



# आगम विषय कोश

**अंगप्रविष्ट**—गणधरों द्वारा रचित बारह अंग, द्वादशांग, गणपिटक ।

१. अंगप्रविष्ट की परिभाषा

२. अंगप्रविष्ट के प्रकार

\* अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य : श्रुतज्ञान के भेद  
(द्र. श्रुतज्ञान)

\* अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य की भेदरेखा  
(द्र. अंगबाह्य)

३. बारह अंगों का निर्युहण

\* बारहवां अंग (द्र. दृष्टिवाद)

४. अंगप्रविष्ट ही द्वादशांग

५. द्वादशांग ही गणपिटक

६. द्वादशांग ही श्रुतज्ञान

७. द्वादशांग और श्रुतपुरुष

८. द्वादशांग की शाश्वतता

९. द्वादशांग की पौरुषेयता

\* द्वादशांग के रचनाकार } (द्र. गणधर)  
\* रचना का प्रयोजन }

१०. द्वादशांग के विषय

\* द्वादशांग : लोकोत्तर आगम (द्र. आगम)

\* आगम-रचना का आधार, निरूपण शैली और भाषा (द्र. आगम)

११. द्वादशांग और आज्ञा की एकार्थकता

१२. आज्ञा की विराधना—द्वादशांग की विराधना

१३. आराधना-विराधना के परिणाम

**१. अंगप्रविष्ट की परिभाषा**

जे अरहंतेहि भगवतेहि अईयाणागयवट्टमाणदब्बखेत्त-कालभावजथावत्थितदंसीहि अत्था परुविया ते गणहरेहि परमबुद्धिसन्निवायगुणसंपण्णेहि सयं चेव तित्थगरसगासाओ उवलभिऊणं सव्वसत्ताणं हित्तदुयाय सुतत्तेण उवणिबद्धा तं अंगपविट्ठं, आयाराइ दुवालसविहं । (आवचू १ पृ ८)

अतीत, अनागत और वर्तमान के द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव के यथार्थद्रष्टा अर्हंतों ने जिन अर्थों की प्ररूपणा की, उन्हीं अर्थों को अर्हंतों से साक्षात् प्राप्त कर परम-बुद्धिसम्पन्न तथा सर्वाक्षरसन्निपातलब्धि से युक्त गणधरों ने सब प्राणियों के हित के लिए सूत्र रूप में उपनिबद्ध किया । यही आचार आदि द्वादशांग अंगप्रविष्ट कहलाता है ।

**२. अंगप्रविष्ट के प्रकार**

अंगप्रविष्टं दुवालसविहं पण्णत्तं, तं जहा—आयारो, सुयगडो, ठाणं, समवाओ, वियाहपण्णत्ती, नायाधम्म-कहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइय-दसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुयं, दिट्ठिवाओ ।

(नन्दी ८०)

अंगप्रविष्ट बारह प्रकार का है—

- |                       |                      |
|-----------------------|----------------------|
| १. आचार               | ७. उपासकदशा          |
| २. सूत्रकृत           | ८. अंतकृतदशा         |
| ३. स्थान              | ९. अनुत्तरोपपातिकदशा |
| ४. समवाय              | १०. प्रश्नव्याकरण    |
| ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति | ११. विपाकश्रुत       |
| ६. ज्ञातधर्मकथा       | १२. दृष्टिवाद ।      |

**आचारांग**

आयारे णं समणार्णं निग्गंथाणं आयार-गोयर-विणय-वेणइय-सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-करण-जाया-माया-वित्तीओ आचविज्जंति । से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—नाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे ।

आयारे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगदुयाए पढमे अंगे, दो सुयक्खंधा, पणवीस अज्झयणा, पंचासीइं उट्टेसणकाला, पंचासीइं समुट्टेसण-काला, अट्टारसपयसहस्साणि पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइया जिणपण्णत्ता भावा

आघविज्जति पण्णविज्जति परुविज्जति दंसिज्जति  
निदंसिज्जति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-  
करण-परुवणा आघविज्जइ । (नन्दी ८१)

आचार में श्रमण-निर्यन्थों के आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, शिक्षा, भाषा-अभाषा, चरण-करण, यात्रा-मात्रा, वृत्तियों का निरूपण किया गया है। संक्षेप में आचार पांच प्रकार का है, जैसे—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार, वीर्याचार ।

आचार की वाचनाएं परिमित हैं, अनुयोगद्वारा (उपक्रम, अध्ययन) संख्येय हैं, वेदा (वेष्टक छंद) संख्येय हैं, श्लोक (अनुष्टुप् आदि वृत्त) संख्येय हैं, निर्युक्तियां संख्येय हैं और प्रतिपत्तियां (मतांतर) संख्येय हैं ।

यह अंग की दृष्टि से पहला अंग है। इसके दो श्रुतस्कन्ध, पच्चीस अध्ययन, पचासी उद्देशन-काल, पचासी समुद्देशन-काल, पद-परिमाण से अठारह हजार पद, संख्येय अक्षर, अनन्त गम (अर्थ-परिच्छेद) और अनन्त पर्यव हैं। इसमें परिमित त्रस जीवों, अनन्त स्थावर जीवों तथा शाश्वत, कृत, निबद्ध और निकृचित जिन-प्रज्ञप्त भावों का आख्यान, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन और निदर्शन किया गया है ।

इसका सम्यक् अध्ययन करने वाला 'एवमात्मा'—आचारमय, 'एवं ज्ञाता' और 'एवं विज्ञाता' हो जाता है। इस प्रकार आचार में चरण-करण-प्ररूपणा का आख्यान किया गया है ।

(नोट—वाचना, अनुयोगद्वारा, वेष्टक, श्लोक, निर्युक्ति, प्रतिपत्ति, अक्षर, गम, पर्यव, त्रस, स्थावर—इनकी संख्या सूत्रकृतांग आदि शेष ग्यारह अंगों में आचारांग के समान ही जान लेनी चाहिये ।)

### सूत्रकृतांग

...सूयगडे णं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोयालोए सूइज्जइ । जीवा सूइज्जति, अजीवा सूइज्जति, जीवाजीवा सूइज्जति । ससमए सूइज्जइ, परसमए सूइज्जइ, ससमय-परसमए सूइज्जइ ।

सूयगडे णं आसीयस्स किरियावाइसयस्स, चउरा-सीइए अकिरियावाईणं, सत्तट्टीए अण्णाणियवाईणं, बत्तीसाए वेणइयवाईणं—तिण्हं तेसट्टाणं पावाडुय-सयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ ।....

से णं अंगट्टयाए बिइए अंगे, दो सुयक्खंधा, तेवीसं अज्झयणा, तेत्तीसं उद्देशणकाला, तेत्तीसं समुद्देशणकाला, छत्तीसं पयसहस्साणि पयग्गेणं.... । (नन्दी ८२)

सूत्रकृत में लोक की, अलोक की तथा लोक-आलोक—दोनों की सूचना दी गई है। जीवों की, अजीवों की तथा जीव-अजीव—दोनों की सूचना दी गई है। स्वसमय की, परसमय की तथा स्वसमय-परसमय—दोनों की सूचना दी गई है ।

सूत्रकृत में एक सौ अस्सी क्रियावादियों, चौरासी अक्रियावादियों, सड़सठ अज्ञानवादियों तथा बत्तीस वैनयिकवादियों—इस प्रकार तीन सौ तिरसठ प्रावादुकों—अन्यतीथिकों का व्यूह (प्रतिक्षेप) कर स्वसमय की स्थापना की गई है ।

यह अंग की दृष्टि से दूसरा अंग है। इसके दो श्रुतस्कन्ध, तेईस अध्ययन, तेतीस उद्देशनकाल, तेतीस समुद्देशनकाल हैं। पदप्रमाण से इसके छत्तीस हजार पद हैं ।

### स्थानांग

...ठाणे णं जीवा ठाविज्जति, अजीवा ठाविज्जति, जीवाजीवा ठाविज्जति । ससमए ठाविज्जइ, परसमए ठाविज्जइ, ससमय-परसमए ठाविज्जइ । लोए ठाविज्जइ, अलोए ठाविज्जइ, लोयालोए ठाविज्जइ ।

ठाणे णं टंका, कूडा, सेला, सिहरिणो, पबभारा, कुंडाई, गुहाओ, आगरा, दहा, नईओ आघविज्जति ।

ठाणे णं एगाइयाए एगुत्तरियाए वुड्डीए दसट्टाणम-विदडिडयाणं भावाणं परुवणा आघविज्जइ ।....

से णं अंगट्टयाए तइए अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा, एगवीसं उद्देशणकाला, एगवीसं समुद्देशणकाला, बावत्तरि पयसहस्साइं पयग्गेणं.... । (नन्दी ८३)

स्थानाङ्ग में जीवों की, अजीवों की तथा जीव-अजीव—दोनों की स्थापना की गई है। स्वसमय की, परसमय की तथा स्वसमय-परसमय—दोनों की स्थापना की गई है। लोक की, अलोक की तथा लोक-अलोक—दोनों की स्थापना की गई है ।

इसमें टंक, कूट, शैल, शिखरी, प्राग्भार, कुंड, गुफा, आकर, द्रह और नदी—इन सबका प्रतिपादन किया गया है ।

स्थानांग में एक-एक की अधिकता से अर्थात् एक-

एक की वृद्धि से दस स्थानों तक विभक्त भावों का प्ररूपण किया गया है।

यह अंग की दृष्टि से तीसरा अंग है। इसके एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, इक्कीस उद्देशनकाल, इक्कीस समुद्देशनकाल हैं। पदप्रमाण से इसके बहत्तर हजार पद हैं।

#### समवायांग

...समवाए ण जीवा समासिज्जति, अजीवा समासिज्जति, जीवाजीवा समासिज्जति। ससमए समासिज्जइ, परसमए समासिज्जइ, ससमय-परसमए समासिज्जइ। लोए समासिज्जइ, अलोए समासिज्जइ, लोयालोए समासिज्जइ।

समवाए ण एगाइयाणं एगुत्तरियाणं ठाणसय-विहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जइ। ...

से ण अंगट्टयाए चउत्थे अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे अज्झयणे, एगे उद्देशणकाले, एगे समुद्देशणकाले, एगे चोयाले पयसहस्साइ पयग्गेणं ...। (नन्दी ८४)

समवाय में जीवों की, अजीवों की तथा जीव-अजीव—दोनों की सूचना दी गई है। स्वसमय की, परसमय की तथा स्वसमय-परसमय—दोनों की सूचना दी गई है। लोक की, अलोक की तथा लोक-अलोक—दोनों की सूचना दी गई है।

इसमें पदार्थों की एक, दो, तीन, चार आदि से लेकर सौ की संख्या तक एक-एक के परिमाण से वृद्धि—एकोत्तरिका परिवृद्धि का प्रतिपादन किया गया है। इसमें द्वादशांग गणिपिटक का पल्लव परिमाण बतलाया गया है।

यह अंग की दृष्टि से चौथा अंग है। इसमें एक अध्ययन, एक श्रुतस्कन्ध, एक उद्देशनकाल, एक समुद्देशन-काल तथा पदप्रमाण से एक लाख चौवालीस हजार पद हैं।

#### व्याख्याप्रज्ञप्ति

...वियाहे ण जीवा विआहिज्जति, अजीवा विआहिज्जति, जीवाजीवा विआहिज्जति। ससमए विआहिज्जति, परसमए विआहिज्जति, ससमय-परसमए विआहिज्जति। लोए विआहिज्जति, अलोए विआहिज्जति, नोयालोए विआहिज्जति ...।

से ण अंगट्टयाए पंचमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे साइरेगे अज्झयणसए, दस उद्देशणसहस्साइ, दस समुद्देशण-सहस्साइ, छत्तीस वागरणसहस्साइ, दो लक्खा अट्टासीइ पयसहस्साइ पयग्गेणं ...। (नन्दी ८५)

व्याख्याप्रज्ञप्ति में जीव, अजीव तथा जीव-अजीव—दोनों की व्याख्या की गई है। स्वसमय, परसमय तथा स्वसमय-परसमय—दोनों की व्याख्या की गई है। लोक, अलोक तथा लोक-अलोक—दोनों की व्याख्या की गई है।

यह अंग की दृष्टि से पांचवां अंग है। इसके एक श्रुतस्कन्ध, कुछ अधिक सौ अध्ययन, दस हजार उद्देशक, दस हजार समुद्देशक, छत्तीस हजार व्याकरण तथा पद-प्रमाण से दो लाख अठ्ठासी हजार पद हैं।

#### ज्ञातधर्मकथा

...नायाधम्मकहासु ण नायाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइयाइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइय-परलोइया इड्ढि-विसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परिआया, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्च-क्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चा-याइंओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरियाओ य आधविज्जति।

दस धम्मकहाणं वग्गा। तत्थ ण एगमेगाए धम्म-कहाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं। एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उक्खाइयासयाइं। एगमेगाए उक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइओक्खाइयासयाइं—एवमेव सपुब्बावरेणं अद्धुआओ कहाणगकोडीओ हवति त्ति मक्खायं। ...

से ण अंगट्टयाए छठ्ठे अंगे, दो सुयक्खंधा, एगूणतीस अज्झयणा, एगूणतीस उद्देशणकाला, एगूणतीस समुद्देशण-काला, संलेज्जाइं पयसहस्साइ पयग्गेणं ...। (नन्दी ८६)

ज्ञातधर्मकथा में ज्ञातों (दृष्टान्तभूत व्यक्तियों) के नगर, उद्यान, चैत्य, वनषंड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक-परलोक की ऋद्धि-विशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या, दीक्षापर्याय का काल, श्रुत-ग्रहण, तप-उपधान, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमन अन्तशन, देवलोकगमन, सुकुल में पुनरागमन, पुनः बोधिलाभ और अन्तक्रिया का आख्यान किया गया है।

धर्मकथा के दस वर्ग हैं। प्रत्येक धर्मकथा में पांच-पांच सौ आख्यायिकाएं हैं। प्रत्येक आख्यायिका में पांच-पांच सौ उप-आख्यायिकाएं हैं। प्रत्येक उप-आख्यायिका में पांच-पांच सौ आख्यायिक-उपाख्यायिकाएं हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर इसमें साढ़े तीन करोड़ आख्यायिकाएं हैं।

यह अंग की दृष्टि से छठा अंग है। इसके दो



श्रुतस्कन्ध, उनतीस अध्ययन, उनतीस उद्देशनकाल, उनतीस समुद्देशनकाल तथा पदप्रमाण से संख्येय हजार पद हैं।

उवसग्गपदं णिवातपदं णामियपदं अक्खातपदं मिस्स-पदं च, एते पदे अहिकिच्च पंचलक्खा छावत्तारिं च सहस्सा पदग्गेणं भवन्ति । अहवा सुत्तालावयपदग्गेणं संखेज्जाइं पदसहस्साइं भवन्ति । (नन्दीचू पृ ६६)

ज्ञातधर्मकथा का पदपरिमाण संख्येय हजार पद उल्लिखित है। यह परिमाण सूत्रालापकरूप पदों की अपेक्षा से है। उपसर्ग, निपात, नाम, आख्यात और मिश्र इन पदों की अपेक्षा से इसका परिमाण पांच लाख छिहत्तर हजार है।

### उपासकदशा

...उवासग्गदसासु णं समणोवासग्गणं नगराईं, उज्जाणाईं, चेइयाईं, वणसंडाईं, समोसरणाईं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइय-परलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, परिआया, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाईं, सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्च-स्खाण-पोसहोववास-पडिवज्जणया, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाईं, पाओवग्गमणाईं, देवलोग-ग्गमणाईं, सुकुलपच्चायाईओ, पुण बोहिलाभा, अंतकिरियाओ य आघविज्जंति ।...

से णं अंगट्टयाए सत्तमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा, दस उद्देशनकाला, दस समुद्देशनकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं ... । (नन्दी ८७)

उपासकदशा में उपासकों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनघंड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहलौकिक और पारलौकिक ऋद्धि-विशेष, भोग-परित्याग, दीक्षा-पर्याय का काल, श्रुत-ग्रहण, तप-उपधान, शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषधोषवास का स्वीकरण, प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादोपगमन, देवलोकगमन, सुकुल में पुनरागमन, पुनः बोधिलाभ और अन्तक्रिया का आख्यान किया गया है।

यह अंग की दृष्टि से सातवां अंग है। इसके एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, दस उद्देशनकाल, दस समुद्देशनकाल तथा पदप्रमाण से संख्येय हजार पद हैं।

सुत्तपदग्गं एककारस लक्खा बावण्णं च सहस्सा पदग्गेणं । सुत्तालावयपदेहिं संखेज्जाणि वा पदसहस्साइं पदग्गेणं । (नन्दीचू पृ ६७)

सूत्रपदों का परिमाण ग्यारह लाख बावन हजार है। सूत्रालापकपदों का परिमाण संख्येय हजार है।

### अंतकृतदशा

...अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराईं, उज्जाणाईं, चेइयाईं, वणसंडाईं, समोसरणाईं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइय-परलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पच्चज्जाओ, परिआया, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाईं, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाईं, पाओवग्गमणाईं, अंतकिरियाओ य आघविज्जंति ।...

से णं अंगट्टयाए अट्टमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, अट्टवग्गा, अट्ट उद्देशनकाला, अट्ट समुद्देशनकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं ... । (नन्दी ८८)

अन्तकृतदशा में अन्तकृत जीवों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनघंड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहलौकिक और पारलौकिक ऋद्धि-विशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या, दीक्षा-पर्याय का काल, श्रुत-ग्रहण, तप-उपधान, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादोपगमन, अंतक्रिया का आख्यान किया गया है।

यह अंग की दृष्टि से आठवां अंग है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध, आठ वर्ग, आठ उद्देशनकाल, आठ समुद्देशनकाल तथा पदप्रमाण से संख्येय हजार पद हैं।

सुत्तपदग्गं तेवीसं लक्खा चतुरो य सहस्सा पदग्गेणं । संखेज्जाणि वा पदसहस्साणि सुत्तालावयपदग्गेणं ।

(नन्दीचू पृ ६८)

सूत्रपदों का परिमाण तेवीस लाख चार हजार है। सूत्रालापकपदों का परिमाण संख्येय हजार है।

### अनुत्तरोपपातिकदशा

...अणुत्तरोववाइयदसासु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगराईं, उज्जाणाईं, चेइयाईं, वणसंडाईं, समोसरणाईं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइय-परलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पच्चज्जाओ, परिआया, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाईं, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाईं, पाओवग्गमणाईं, अणुत्तरोववाइयत्ते उववत्ती, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरियाओ य आघविज्जंति ।...

से णं अंगद्वयाए नवमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, तिण्णि वग्गा, तिण्णि उद्देशणकाला, तिण्णि समुद्देशणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं ... । (नन्दी ८९)

अनुत्तरोपपातिकदशा में अनुत्तरविमानों में उत्पन्न व्यक्तियों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखंड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहलौकिक और पारलौकिक ऋद्धि-विशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या, दीक्षा-पर्याय का काल, श्रुतग्रहण, तप-उपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादोपगमन, अनुत्तरविमान में उत्पत्ति, सुकुल में पुनरागमन, पुनः बोधिलाभ और अन्तक्रिया का आख्यान किया गया है ।

यह अंग की दृष्टि से नवमां अंग है । इसमें एक श्रुतस्कन्ध, तीन वर्ग, तीन उद्देशनकाल, तीन समुद्देशन-काल तथा पद-प्रमाण से संख्येय हजार पद हैं ।

पदगं छातालीसं लक्खा अट्ट य सहस्सा, संखेज्जाणि वा पदसहस्साणि । (नन्दीचू पृ ६९)

सूत्रपदों का परिमाण छियालीस लाख आठ हजार है । सूत्रालापकपदों का परिमाण संख्येय हजार है ।

#### प्रश्नव्याकरण

....पण्हावागरणेसु णं अट्ठत्तरं पसिणसयं, अट्ठत्तरं अपसिणसयं, अट्ठत्तरं पसिणापसिणसयं, अण्णे य विचित्ता दिव्वा विज्जाइसया, नागसुवण्णेहि सद्धि दिव्वा संवाया आघविज्जंति ।....

से णं अंगद्वयाए दसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, पणया-लीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देशणकाला, पणयालीसं समुद्देशणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं ... ।

(नन्दी ९०)

प्रश्नव्याकरण में एक सौ आठ प्रश्न, एक सौ आठ अप्रश्न, एक सौ आठ प्रश्न-अप्रश्न, अन्य विचित्र और दिव्य विद्यातिशय तथा नाग और सुवर्ण देवों के साथ हुए दिव्य संवादों का आख्यान किया गया है ।

यह अंग की दृष्टि से दसवां अंग है । इसमें एक श्रुतस्कन्ध, पैंतालीस अध्ययन, पैंतालीस उद्देशनकाल, पैंतालीस समुद्देशनकाल तथा पद-प्रमाण से संख्येय हजार पद हैं ।

पदगं बाणज्जंति लक्खा सोलस य सहस्सा पदग्गेणं, संखेज्जाणि वा पदसहस्साणि । (नन्दीचू पृ ७०)

सूत्रपदों का परिमाण बानवे लाख सोलह हजार है ।

सूत्रालापकपदों का परिमाण संख्येय हजार है ।

#### विपाकश्रुत

....विवागसुए णं सुकड-दुककडाणं कम्माणं फल-विवागे आघविज्जइ । तत्थ णं दस दुहविवागा, दस सुहविवागा ।....

से णं अंगद्वयाए इक्कारसमे अंगे, दो सुयक्खंधा, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देशणकाला, वीसं समुद्देशण-काला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं ... । (नन्दी ९१)

विपाकश्रुत में सुकृत और दुष्कृत कर्मों के फल-विपाक का आख्यान किया गया है । वहां दस दुःखविपाक और दस सुखविपाक हैं ।

यह अंग की दृष्टि से ग्यारहवां अंग है । इसके दो श्रुतस्कन्ध, वीस अध्ययन, वीस उद्देशनकाल, वीस समुद्देशन-काल तथा पद-प्रमाण से संख्येय हजार पद हैं ।

सुत्तपदगं एगा पदकोडी चुतसीति च लक्खा बत्तीसं च सहस्सा पदग्गेणं, संखेज्जाणि वा पदसहस्साइं पदग्गेणं । (नन्दीचू पृ ७१)

सूत्रपदों का परिमाण एक करोड़ चौरासी लाख बत्तीस हजार है । सूत्रालापकपदों का परिमाण संख्येय हजार है ।

#### ३. ग्यारह अंगों का निर्यूहण

जइवि य भूतावाए सव्वस्स वओमयस्स ओयारो ।  
निज्जूहणा तहावि हु दुम्मेहे पप्प इत्थी य ॥  
(विभा ५५१)

यद्यपि भूतवाद-दृष्टिवाद में समस्त वाङ्मय का अवतरण हो जाता है, फिर भी मन्दबुद्धि उपासक और स्त्रियों पर अनुग्रह कर शेष श्रुत-ग्यारह अंगों का निर्यूहण किया गया है ।

#### ४. अंगप्रविष्ट ही द्वादशांग

श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्याङ्गानीवाङ्गानि द्वादशाङ्गानि  
... आचाराङ्गादीनि यस्मिन् तत् द्वादशाङ्गम् ।  
(नन्दीमवू प १९३)

श्रुतपुरुष के अंगस्थानीय आचारांग आदि बारह अंग हैं । यही द्वादशांगी है ।

#### ५. द्वादशांग ही गणिपिटक

गणी—आचार्यस्तस्य पिटकमिव पिटकं, सर्वस्वमित्यर्थः  
गणिपिटकम् । अथवा गणिशब्दः परिच्छेदवचनोऽप्यस्ति—

आयारंमि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ ।  
तम्हा आयारधरो भन्नइ पढमं गणिट्ठाणं ॥

ततश्च गणीनां पिटकं गणिपिटकं परिच्छेदसमूहः  
इत्यर्थः । (नन्दीमवृ प १९३)

जो गण या गच्छ का अधिपति होता है, वह गणी—  
आचार्य कहलाता है । गणी का पिटक—सर्वस्व गणि-  
पिटक है । अथवा गणी का अर्थ है—परिच्छेद, अध्याय,  
शास्त्रविशेष ।

आचारांग के अध्ययन से श्रमणधर्म ज्ञात हो जाता  
है । आचारांग के धारक मुनि को आचारांगधर कहा  
जाता है । यह पहला गणिस्थान अर्थात् द्वादशांगी का  
पहला परिच्छेद है ।

इस आधार पर गणिपिटक का अर्थ है—परिच्छेदों  
का समूह ।

## ६. द्वादशांग ही श्रुतज्ञान

भावे खओवसमिए दुवालसंगं पि होइ सुयनाणं ।  
(आवनि १०४)

यदेव जिनप्रणीतप्रवचनार्थपरिज्ञानं तदेव परमार्थतः  
श्रुतज्ञानं, न शेषम् । (नन्दीमवृ प २५०)

श्रुतज्ञान द्वादशांगात्मक है । वह क्षायोपशमिक भाव  
है । अर्हत् द्वारा प्रणीत प्रवचन के अर्थ का जो परिज्ञान  
है, वही परमार्थतः श्रुतज्ञान है, शेष नहीं ।

## ७. द्वादशांग और श्रुतपुरुष

पुरुषस्य द्वादशाङ्गानि भवन्ति, तद्यथा—द्वौ पादौ  
द्वे जङ्घे द्वे ऊरुणी द्वे मात्राद्धे द्वौ बाहू ग्रीवा शिरश्च, एवं  
श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याऽऽचारादीनि द्वादशाङ्गानि  
क्रमेण वेदितव्यानि—

‘पाददुगं जंघोरू मायदुगद्धं तु दो य बाहू य ।  
ग्रीवा सिरं च पुरिसो वारस अंगो सुयविसिद्धो ॥

श्रुतपुरुषस्याङ्गेषु प्रविष्टमङ्गप्रविष्टम्—अङ्गभावेन  
व्यवस्थितमित्यर्थः । (नन्दीमवृ प २०३)

जैसे पुरुष के हाथ-पैर आदि बारह अंग होते हैं,  
वैसे ही श्रुतरूप परम पुरुष के आचार आदि बारह अंग  
हैं । जो श्रुतपुरुष के अंगरूप में व्यवस्थित है, वह अङ्ग-  
प्रविष्ट है ।

पुरुष के अंग

दो चरण

दो जंघा

दो ऊरु

उदर, पीठ

ग्रीवा

शिर

श्रुतपुरुष के अंग

आचार, सूत्रकृत

स्थान, समवाय

भगवती, ज्ञातधर्मकथा

उपासकदशा, अन्तकृतदशा

अनुत्तरोपपातिकदशा,

प्रश्नव्याकरण

विपाकश्रुत

दृष्टिवाद

## ८. द्वादशांग की शाश्वतता

इच्छेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न  
कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ । भुवि च, भवइ  
य, भविस्सइ य । धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए  
अवट्टिए निच्चे । (नन्दी १२६)

द्वादशांग गणिपिटक कभी नहीं था, कभी नहीं है  
और कभी नहीं रहेगा—ऐसा नहीं है । वह था, है और  
रहेगा । वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय,  
अवस्थित और नित्य है ।

## ९. द्वादशांग की पौरुषेयता

शास्त्रं वचनात्मकम् । वचनं तालवोष्ठपुटपरिस्पन्दा-  
दिरूपपुरुषव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायि । न खलु  
पुरुषव्यापारमन्तरेण वचनमाकाशे ध्वनदुपलभ्यते ।  
(नन्दीमवृ प १६)

शास्त्र वचनात्मक है । वचन तालु, ओष्ठ आदि के  
परिस्पन्दन से उत्पन्न होता है । पुरुष की वाग्प्रवृत्ति के  
साथ उसका अन्वय-व्यतिरेकी संबंध है—जब पुरुष में  
तालु, ओष्ठ आदि की प्रवृत्ति होती है, तब वचन उत्पन्न  
होता है, जब पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती, तब वह  
उत्पन्न नहीं होता ।

पुरुष की प्रवृत्ति के बिना वचन आकाश में ध्वनित  
नहीं होता ।

## १०. द्वादशांग के विषय

दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा, अणंता अभावा,  
अणंता हेऊ, अणंता अहेऊ, अणंता कारणा, अणंता  
अकारणा, अणंता जीवा, अणंता अजीवा, अणंता भव-  
सिद्धिया, अणंता अभवसिद्धिया, अणंता सिद्धा, अणंता  
असिद्धा पणत्ता । (नन्दी १२४)

द्वादशांग गणिपिटक में अनन्त भावों, अनन्त अभावों, अनन्त हेतुओं, अनन्त अहेतुओं, अनन्त कारणों, अनन्त अकारणों, अनन्त जीवों, अनन्त अजीवों, अनन्त भव-सिद्धिकों, अनन्त अभवसिद्धिकों, अनन्त सिद्धों, अनन्त असिद्धों का उल्लेख है।

### ११. द्वादशांग और आज्ञा की एकार्थकता

दुवालसंगं...आणा य एवं एगद्विज्ञा तद्वा वि अभिधाणतो विसेसो कज्जति—यदा आज्ञाप्यते एभिः तदा आज्ञा भवति। (नन्दीचू पृ ८१)

द्वादशांग और आज्ञा एकार्थक हैं। फिर भी उनमें कुछ भेद है। जब द्वादशांगी के आधार पर निर्देश दिया जाता है, तब उसे आज्ञा कहते हैं।

### १२. आज्ञा की विराधना—द्वादशांग की विराधना

पंचविहायारायरणसीलस्स गुरुणो हितोवदेसवयणं आणा, तमण्णधा आयरंतेण गणिपिडगं विराधितं भवति। (नन्दीचू पृ ८१)

पांच आचार की सम्पदा से सम्पन्न आचार्य का हितोपदेशवचन आज्ञा है। जो उससे विपरीत आचरण करता है, वह गणिपिटक की विराधना करता है।

### १३. आराधना-विराधना के परिणाम

इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहिता चाउरंतं संसारकंतारं अणु-परियट्टिसु।...

पडुप्पणकाले परिता जीवा...अणुपरियट्टंति।... अणागए काले अणंता जीवा...अणुपरियट्टिस्संति।

इच्चेइयं दुवालसंगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहिता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइंसु।...

पडुप्पणकाले परिता जीवा...वीईवयंति।... अणागए काले अणंता जीवा...वीईवइस्संति।

(नन्दी १२५)

अतीत काल में अनंत जीव, वर्तमान में परिमित जीव और भविष्य में अनंत जीव द्वादशांग गणिपिटक की आज्ञा की विराधना कर चार गति वाले संसारकांतार में परिभ्रमण कर चुके हैं, करते हैं, करेंगे।

अतीत काल में अनंत जीव, वर्तमान में परिमित जीव और भविष्य में अनंत जीव द्वादशांग की आराधना कर भवभ्रमण से मुक्त हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे।

जं सुत्ततो दुवालसंगं गणिपिडगं तं अत्थतो अभि-

निवेशेण अण्णहा पण्णवेंतो ताए अत्थाणाए सुत्तं विराहेत्ता तीते काले अणंता जीवा संसारं भमितपुब्बा, गोट्टा-माहिलवत्। (नन्दीचू पृ ८१)

द्वादशांग गणिपिटक को सूत्रतः स्वीकार करते हुए भी जो अपने अभिनिवेश के कारण उसके अर्थ की अन्यथा प्ररूपणा करते हैं, वे वास्तव में सूत्र की विराधना करते हैं। इससे अतीत काल में अनंत जीवों ने संसार में भ्रमण किया है, जैसे आचार्य आर्यरक्षित का शिष्य गोष्ठामाहिल।

जं अत्थतो दुवालसंगं गणिपिडगं तं सुत्ततो अभिनिवेशेण अण्णहा पडंतो ताए सुत्ताणाए अत्थं विराहेत्ता तीते काले अणंता जीवा संसारं भमितपुब्बा, जमालिवत्। (नन्दीचू पृ ८१)

द्वादशांग गणिपिटक को अर्थतः स्वीकार करते हुए भी जो अपने अभिनिवेश के कारण उसके सूत्र का अन्यथा पाठ करते हैं, वे वास्तव में अर्थ की विराधना करते हैं। इससे अतीतकाल में अनंत जीवों ने संसार में भ्रमण किया है, जैसे—भगवान् महावीर का शिष्य जमालि।

अंगबाह्य—अनंगप्रविष्ट, आचार्यों तथा स्थविरों द्वारा रचित आगमग्रंथ, उपांग।

#### १. अंगबाह्य की परिभाषा

#### २. अंगबाह्य की रचना का उद्देश्य

\* अंगबाह्य : आगम का एक भेद (द्र. आगम)

\* अंगबाह्य : श्रुतज्ञान का एक भेद (द्र. श्रुतज्ञान)

#### ३. अनंगप्रविष्ट और अंगबाह्य की भेदरेखा

#### ४. अंगबाह्य के प्रकार

\* आवश्यक (द्र. आवश्यक)

• आवश्यकव्यतिरिक्त

#### ५. आवश्यकव्यतिरिक्त के प्रकार

• कालिकभूत

• उरकालिकभूत

#### ६. कालिकभूत

• परिभाषा

• परिमाण

• प्रकार और परिचय

\* कालिकभूत : अदमिकभूत (द्र. भूतज्ञान)

\* कालिकभूत और नय (द्र. नय)

#### ७. उरकालिकभूत

## ० परिभाषा

## ० प्रकार और परिचय

## ८. प्रकीर्णक

## ९. चूसा

## १०. अंगबाह्य और पूर्वधर

## १. अंगबाह्य की परिभाषा

स्थविरैर्भद्रबाहुस्वामिप्रभृतिभिराचार्यैरुपनिबद्धं तदनङ्गप्रविष्टम् । तच्चावश्यकनिर्युक्त्यादि । अथवा... गणधर-प्रश्नव्यतिरेकेण शेषकृतप्रश्नपूर्वकं वा भगवतो मुक्तकं व्याकरणं, तदधिकृत्य यन्निष्पन्नं जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्त्यादि, तदनंगप्रविष्टं, यच्च वा गणधरवचास्येवोप-जीव्य दृढमावश्यकनिर्युक्त्यादि पूर्वस्थविरैस्तदनङ्ग-प्रविष्टम् । यदि वा यत् सर्वतीर्थकरतीर्थैर्वनियतं तदनङ्गप्रविष्टम् । (आवमवृ प ४८)

आचार्य भद्रबाहु स्वामी आदि स्थविरों द्वारा रचित आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रंथ अनंगप्रविष्ट हैं । अथवा

गणधरों के प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के प्रश्नों का जो समाधान तीर्थकर ने दिया, उस आधार पर जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि की रचना हुई । यह अनंग-प्रविष्ट है । अथवा

गणधरवाणी के उपजीवी पूर्व स्थविरों द्वारा संदृढ आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रंथ अनंगप्रविष्ट हैं । अथवा

सब तीर्थकरों के तीर्थों में जो अनियत श्रुत है, वह अनंगप्रविष्ट है ।

द्वादशाङ्गारमकस्य श्रुतपुरुषस्य व्यतिरेकेण स्थित-मङ्गबाह्यत्वेन व्यवस्थितं तदनङ्गप्रविष्टम् । अथवा (गणधरान् विहाय) शेषैः श्रुतस्थविरैस्तदेकदेशमुपजीव्य विराचितं तदनङ्गप्रविष्टम् । अथवा यद् श्रुतमनियतं तदनङ्गप्रविष्टम् । (नन्दीमवृ प २०३)

बारह अंगों वाले श्रुतपुरुष (द्वादशांगी) के अतिरिक्त जो बाह्य अंगों के रूप में व्यवस्थित है, वह अनंगप्रविष्ट है । अथवा गणधरों के अलावा शेष श्रुतस्थविरों द्वारा रचित शास्त्र अनंगप्रविष्ट है । अथवा अनियतश्रुत अनंगप्रविष्ट है ।

## २. अंगबाह्य की रचना का उद्देश्य

जं पुण अण्णेहि विसुद्धागमबुद्धिश्रुतेहि धेरेहि अप्पा-उयाणं मण्ण्णं अप्पबुद्धिसत्तीणं च दुग्गाहकं ति णाऊण तं चेव आयाराइसुयणाणं परंपरागतं अत्थतो गंथतो य

अतिबहुं ति काऊण अणुक्काणिमित्तं दसवेतालियमादि पल्लवियं । तं अण्णेगभेदं अण्णंगपविट्ठं । (आवचू १ पृ ८)

परम्परा से प्राप्त आचारांग आदि श्रुतज्ञानराशि अर्थतः और ग्रन्थतः बहुत विशाल है । वह अल्प आयुष्य, अल्पमति और अल्पशक्ति वाले मनुष्यों के लिए दुर्ग्राह्य है । यह जानकर उनकी अनुकम्पा के लिए गणधरों से अतिरिक्त विशुद्ध आगमज्ञान से सम्पन्न स्थविरों ने दशवैकालिक आदि अनेक आगमग्रन्थों की रचना की, वह अंगप्रविष्ट है ।

## ३. अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य की भेदरेखा

गणधर-धेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा ।

धुवचलविसेसओ वा अंगाण्णेसु नाणत्तं ॥

(विभा ५५०)

जो गणधरकृत है, आदेश-त्रिपदी से निष्पन्न है तथा नियत है, वह अंगप्रविष्टश्रुत है ।

जो स्थविरकृत है, मुक्त प्रतिपादन से गृहीत है तथा अनियत है, वह अंगबाह्य (अनंगप्रविष्ट) श्रुत है ।

## ४. अंगबाह्य के प्रकार

अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—आवस्सयं च आवस्सयवइरित्तं च । (नन्दी ७४)

अंगबाह्य के दो प्रकार हैं—१. आवश्यक

२. आवश्यक-व्यतिरिक्त ।

## ५. आवश्यकव्यतिरिक्त के प्रकार

आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालियं च उक्कालियं च । (नन्दी ७६)

आवश्यकव्यतिरिक्त के दो प्रकार हैं—१. कालिक  
२. उत्कालिक ।

## ६. कालिकश्रुत की परिभाषा

कालियं जं दिणरातीणं पढमचरिभपोरिसीसु पडिज्जति । (नन्दीचू पृ ५७)

जो श्रुत दिन और रात के प्रथम और अन्तिम प्रहर में पढ़ा जाता है, वह कालिकश्रुत है ।

## परिमाण

कालियसुयपरिमाणसंखा अण्णेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जवसंखा अक्खरसंखा संघायसंखा पयसंखा पायसंखा गाहासंखा सिल्लोगसंखा वेढसंखा निज्जुत्तिसंखा अणुयोगदारसंखा उद्देसगसंखा अञ्जयणसंखा सुयब्धसंखा अंगसंखा । (अनु ५७१)

कालिकश्रुत की परिमाण-संख्या के अनेक प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—पर्यवसंख्या, अक्षरसंख्या, संघातसंख्या, पद-संख्या, पादसंख्या, गाथासंख्या, श्लोकसंख्या, वेष्टक-संख्या, निर्युक्तिसंख्या, अनुयोगद्वारसंख्या, उद्देशकसंख्या, अध्ययनसंख्या, श्रुतस्कंधसंख्या और अंगसंख्या ।

प्रकार

कालियं अणैगविहं पण्णत्तं, तं जहा—

१. उत्तरज्ज्मयणाइं	१६. अरुणोववाए
२. दसाओ	१७. वरुणोववाए
३. कप्पो	१८. गरुलोववाए
४. ववहारो	१९. धरणोववाए
५. निसीहं	२०. वेसमणोववाए
६. महानिसीहं	२१. वेल्धरोववाए
७. इसिभासियाइं	२२. देविदोववाए
८. जंबुद्दीवपण्णत्ती	२३. उट्टाणसुयं
९. दीवसागरपण्णत्ती	२४. समुट्टाणसुयं
१०. चंदपण्णत्ती	२५. नागपरियावणियाओ
११. खुट्टियाविमाणपविभत्ती	२६. निरयावलियाओ
१२. महल्लियाविमाणपविभत्ती	२७. कप्पवडंसियाओ
१३. अंगचूलिया	२८. पुष्कियाओ
१४. वियाहचूलिया	२९. पुष्पचूलियाओ
१५. वर्गचूलिया	३०. वृष्णिदसाओ

(नन्दी ७८)

कालिकश्रुत अनेक प्रकार का है

(१) उत्तराध्ययन	(१६) अरुणोपपात
(२) दशाश्रुतस्कन्ध	(१७) वरुणोपपात
(३) बृहत्कल्प	(१८) गरुडोपपात
(४) व्यवहार	(१९) धरणोपपात
(५) निशीथ	(२०) वैश्रमणोपपात
(६) महानिशीथ	(२१) वेल्धरोपपात
(७) ऋषिभाषित	(२२) देवेन्द्रोपपात
(८) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	(२३) उत्थानश्रुत
(९) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति	(२४) समुपस्थानश्रुत
(१०) चन्द्रप्रज्ञप्ति	(२५) नागपरिज्ञापनिका
(११) क्षुल्लिकाविमान- प्रविभक्ति	(२६) निरयावलिका
(१२) महाविमानप्रविभक्ति	(२७) कल्पावतंसिका
(१३) अंगचूलिका	(२८) पुष्पिका
(१४) व्याख्याचूलिका	(२९) पुष्पचूलिका
(१५) वर्गचूलिका	(३०) वृष्णिदशा

उत्तराध्ययन

सर्वाण्यपि चाध्ययनानि प्रधानान्येव तथाऽप्यमून्येव रूढ्योत्तराध्ययनशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धानि ।

(नन्दीमवृ प २०६)

सारे अध्ययन उत्तर/प्रधान ही हैं । फिर भी रूढ़ि से उत्तराध्ययन सूत्र के लिए ही उत्तर शब्द का प्रयोग हुआ है ।

कमउत्तरेण पगयं आयारस्सेव उवरिभाइं तु ।

तम्हा उ उत्तरा खलु अज्जयणा हुंति णायव्वा ॥

शय्यम्भवं यावदेष क्रमः, तदाऽऽरतस्तु दशवैकालिको-  
त्तरकालं पठ्यन्ते । (उनि ३, शावृ प ५)

प्राचीनकाल में आचारांग के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था । आचारांग के उत्तर में होने के कारण यह उत्तराध्ययन है । आचार्य शय्यम्भव के बाद इस क्रम में परिवर्तन हुआ—उत्तराध्ययन के स्थान पर दशवैकालिक पढ़ा जाने लगा ।

अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया ।

बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्ज्मयणा ॥

(उनि ४)

अंगप्पभवा जहा परीसहा वारसमाओ अंगाओ कम्म-  
प्पवायपुज्जाओ णिज्जूढा । जिणभासिया जहा द्रुमपत्त-  
गादि । पत्तेयबुद्धभासियाणि जहा काविलिज्जादि ।  
संवाओ जहा णमिपव्वज्जा केसिभोयमेज्जं च । तं एते  
सन्नेव बंधप्पमोकखत्थं छत्तीसं उत्तरज्ज्मयणा कया ।

(उचि पृ ७)

उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन कर्तृत्व की दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त होते हैं—

१. अङ्गप्रभव—कर्मप्रवादपूर्व से उद्धृत परीषह अध्ययन
२. जिणभाषित—द्रुमपत्रक
३. प्रत्येकबुद्धभाषित—कापिलीय
४. संवाद समुत्थित—तमिप्रव्रज्या और केशिगौतमीय

अंगचूलिका

अंगस्स चूलिका जहा—आयारस्स पंच चूलातो,  
दिट्ठिवातस्स वा चूला । (नन्दीचू पृ ५९)

अंगों की चूलिका अंगचूलिका है । जैसे—आचारांग की पांच चूलाएँ, दृष्टिवाद की चूलाएँ ।

व्याख्याचूलिका

वियाहो भगवती । तीए चूला वियाहचूला ।

(नन्दीचू पृ ५९)

व्याख्या का अपर नाम है—भगवती। उसकी चूलिका व्याख्याचूलिका कहलाती है।

### वर्गचूलिका

विवेकखावसातो अज्झयणादिसमूहो वग्गो, जहा अंतकडदसाणं अट्ट वग्गा, अणुत्तरोववानियदसाणं तिण्णि वग्गा, तेसि चूला वग्गचूला। (नन्दीचू पृ ५९)

अध्ययन आदि का समूह वर्ग कहलाता है। जैसे—अन्तकृतदशा के आठ वर्ग हैं, अनुत्तरोपपातिकदशा के तीन वर्ग हैं, इन वर्गों की चूला वर्गचूला कहलाती है।

### अरुणोपपात

• अरुणे णामं देवे तस्स समयनिबद्धे अज्झयणं, जाहे तं अज्झयणं उवउत्ते समाणे अणगारे परियट्ठेति ताहे से अरुणे देवे समयनिबद्धत्तणतो चलितासणे जेणेव से समणे तेणेव आगच्छिता ओवयति, ताहे समणस्स पुरतो अंतद्धिते कतंजली उवउत्ते सुणेमाणे चिट्ठति, समत्ते य भणति—सुभासितं, वरेह वरं ति। इहलोगणिप्पिवासे से समणे पडिभणति—ण मे वरेण अट्ठो ति। ताहे से पदाहिणं करेत्ता णमंसित्ता य पडिगच्छति। (नन्दीचू पृ ५९)

अरुण नामक देव की वक्तव्यता का प्रतिपादक अरुणोपपात नामक कालिकश्रुत है। जब अनगर तन्मय होकर उस अध्ययन का परावर्तन करता है, तब उस अरुण देव का आसन कम्पित हो जाता है। उसी समय देव वहाँ उपस्थित हो जाता है, जहाँ वह अनगर श्रमण है। उस श्रमण के सामने प्रच्छन्न रूप में बद्धांजलि हो वह देव ध्यान से सूत्र सुनता है। उसकी समाप्ति पर कहता है—मुने! आपने अच्छा सुनाया, अब वरदान मांगो। इस लोक से निस्पृह/वितृष्ण श्रमण प्रत्युत्तर में कहता है—मुझे वरदान नहीं चाहिए। तब देव मुनि को प्रदक्षिणा दे, नमस्कार कर चला जाता है।

### उत्थानश्रुत

उट्ठाणसुतं ति अज्झयणं सिग्गणाइयकज्जे जस्स णं गामस्स वा जाव रायहाणीए वा एगकुलस्स वा समणे आसुरुत्ते रुट्ठे उवउत्ते तं उट्ठाणसुते ति अज्झयणं परियट्ठेति एवकं दो तिण्णि वा वारे ताहे से गामे वा जाव रायहाणी वा कुलं वा उट्ठेति। उवसइ ति वुत्तं भवति। (नन्दीचू पृ ६०)

संघ संबंधी कार्य (सुरक्षा, प्रभावना ...) उपस्थित होने पर मुनि जिस ग्राम, नगर, राजधानी अथवा कुल

से अत्यंत रुष्ट होकर जब पूरी एकाग्रता से 'उत्थानश्रुत' अध्ययन का एक, दो या तीन बार परावर्तन करता है, तब वह ग्राम, राजधानी अथवा कुल उजड़ जाता है।

### समुपस्थानश्रुत

से चेव (रुट्ठे) समणे तस्स गामस्स वा जाव रायहाणीए वा तुट्ठे समाणे पसण्णे पसण्णलेस्से सुहासणत्थे उवउत्ते समुट्ठाणसुतं परियट्ठेइ एवकं दो तिण्णि वा वारे ताहे से गामे वा जाव रायहाणी वा आवासेति। ...अप्पणा पुब्बुट्ठियं पि कतसंकप्पस्स आवासेति। (नन्दीचू पृ ६०)

किसी कारणवश ग्राम, राजधानी अथवा कुल से रुष्ट मुनि पुनः तुष्ट हो, प्रसन्न मुद्रा में, प्रशस्त भावधारा से सुखासन में स्थित हो एकाग्रता से जब एक, दो या तीन बार 'समुपस्थानश्रुत' का परावर्तन करता है, तब वह उजड़ा हुआ गांव, राजधानी अथवा कुल पुनः बस जाता है। अथवा मुनि ने पहले कभी रुष्ट होकर ग्राम, नगर आदि को वीरान कर दिया हो, वह उन्हें इस समुपस्थानश्रुत से आवाद कर सकता है।

### नागपरिज्ञापनिका

णाग ति नागकुमारे, तेसु समयनिबद्धं अज्झयणं, तं जदा समणे उवयुत्ते परियट्ठेति तथा अकतसंकप्पस्स वि ते णागकुमारा तत्थत्था चेव परियाणंति, वदंति णमंसंति भत्तिबहुमाणं च करेति। सिग्गणाइयकज्जेसु य वरया भवंति। (नन्दीचू पृ ६०)

नाग का अर्थ है—नागकुमार देव। उनकी वक्तव्यता का प्रतिपादक अध्ययन नागपरिज्ञापनिका है। जब श्रमण एकाग्र हो इस अध्ययन का परावर्तन करता है, तब चाहे वह देव को आह्वान करे या न करे, अपने स्थान पर स्थित नागकुमार देव इसे जान लेते हैं। वे वहीं से उस मुनि को वन्दना-नमस्कार करते हैं, भक्ति-बहुमान करते हैं। वे संघ आदि के कार्यों के लिए वरदान भी देते हैं।

### निरयावलिका

निरयावलियासु आवलियपविट्ठेतरे य निरया, तम्मामिणो य णर-तिरिया पसंगतो वण्णिज्जंति।

(नन्दीचू पृ ६०)

निरयावलिका में प्रविष्ट नारकों और नरकगामी नर-तिर्यञ्चों का जिसमें वर्णन है, वह निरयावलिका सूत्र है।

**कल्पावतंसिका**

सोहम्मीसाणकप्पेसु जे कप्पविमाणा ते कप्पवडेंसिया ते वर्णिता, तेसु य देवीओ जा जेण तत्रोविसेसेण उववग्णा ता वर्णिता, ताओ य कप्पवडेंसिया भणिया ।

(नन्दीचू पृ ६०)

सौधर्म और ईशान कल्प में जो कल्पविमान हैं, वे कल्पावतंसक कहलाते हैं । तप-विशेष के कारण वहाँ उत्पन्न होने वाली देवियों का वर्णन जिस अध्ययन में है, उस अध्ययन का नाम कल्पावतंसिका है ।

**पुष्पिका**

संजमभावविगसितो पुष्फितो, संजमभावविचु-  
त्तोऽवपुष्फितो, अगारभावं परिट्टुवेत्ता पव्वज्जाभावेण  
विगसितो पच्छा सीयइ जो, तस्स इहभवे परभवे य  
क्विलंबणा दंसिज्जइ जत्थ ता पुष्फिया ।

(नन्दीचू पृ ६०)

जो संयमभावना से विकसित है, वह पुष्पित है । संयम भाव से च्युत होने वाला अवपुष्पित है । जो गृहस्थ भाव को छोड़कर प्रव्रजित हो गया, पश्चात् प्रव्रज्या-भाव में उदासीन हो गया, उसकी इस भव और परभव संबंधी विडम्बना जिसमें वर्णित है, वह पुष्पिका सूत्र है ।

**वृष्णिदशा**

अंधगवण्हणो जे कुले ते अंधगसहलोवातो वण्हणो  
भणिया । तेसि चरियं गती सिज्जग्णा य जत्थ भणिता  
ता वण्हदसातो । दस ति —अवत्था अज्जभयणा वा ।

(नन्दीचू पृ ६०)

अंधक और वृष्णि—ये दो कुल हैं । अंधकवृष्णि—  
इस पद में अंधक का लोप कर वृष्णि कुल गृहीत है ।  
इस कुल में उत्पन्न होने वालों के चारित्र्य, गति, सिद्धत्व  
की प्राप्ति आदि अवस्थाओं का वर्णन होने से इस  
अध्ययन का नाम है वृष्णिदशा ।

**७. उत्कालिकश्रुत की परिभाषा**

जं कालवेलवज्जं पढिज्जति तं उक्कालियं ।

(नन्दीचू पृ ५७)

जिस सूत्र का पठन-पाठन/अध्ययन-अध्यापन **काल**  
की मर्यादा में बंधा हुआ नहीं है, वही उत्कालिक सूत्र  
है ।

**उक्कालियं अणेगविहं पण्णसं, तं जहा—**

- |                   |                       |
|-------------------|-----------------------|
| १. दसवेयालियं     | १६. सूरपण्णस्ती       |
| २. कप्पियाकप्पियं | १७. पोरिसिंमंडलं      |
| ३. चुल्लकप्पसुयं  | १८. मंडलपवेसो         |
| ४. महाकप्पसुयं    | १९. विज्जाचरणविणिच्छओ |
| ५. ओवाइयं         | २०. गणिविज्जा         |
| ६. रायपसेणियं     | २१. भाणविभत्ती        |
| ७. जीवाजीवाभिगमो  | २२. मरणविभत्ती        |
| ८. पण्णवणा        | २३. आयविसोही          |
| ९. महापण्णवणा     | २४. वीयरामसुयं        |
| १०. पमायप्पमायं   | २५. संलेहणासुयं       |
| ११. नंदी          | २६. विहारकप्पो        |
| १२. अणुओगदाराइं   | २७. चरणविही           |
| १३. देविदत्थओ     | २८. आउरपच्चवखाणं      |
| १४. तंदुलवेयालियं | २९. महापच्चवखाणं ।    |
| १५. चंदगविज्जभयं  | (नन्दी ७७)            |

उत्कालिक सूत्र अनेक प्रकार का है—

- |                      |                      |
|----------------------|----------------------|
| १. दशवैकालिक         | १६. सूर्यप्रज्ञप्ति  |
| २. कल्पिकाकल्पिक     | १७. पौरुषीमंडल       |
| ३. क्षुल्लककल्पश्रुत | १८. मंडल प्रवेश      |
| ४. महाकल्पश्रुत      | १९. विद्याचरणविनिषचय |
| ५. औपपातिक           | २०. गणिविद्या        |
| ६. राजप्रश्नीय       | २१. ध्यानविभक्ति     |
| ७. जीवाजीवाभिगम      | २२. मरणविभक्ति       |
| ८. प्रज्ञापना        | २३. आत्मविशोधि       |
| ९. महाप्रज्ञापना     | २४. वीतरामश्रुत      |
| १०. प्रमादाप्रमाद    | २५. सलेखनाश्रुत      |
| ११. नंदी             | २६. विहारकल्प        |
| १२. अनुयोगद्वार      | २७. चरणविधि          |
| १३. देवेन्द्रस्तव    | २८. आतुरप्रत्याख्यान |
| १४. तन्दुल वैचारिक   | २९. महाप्रत्याख्यान  |
| १५. चन्द्रवेध्यक     |                      |

**दशवैकालिक : रचना का उद्देश्य और नियूहण**

...सो पव्वइओ, पच्छा आयरिया उवउत्ता केवइ  
कालं एस जीवति ? जाव छम्मासा, ताहे आयरियाण  
बुद्धी समुप्पण्णा - इमस्स थोवयं आउं कि कायववंति ?  
तं चोइसपुव्वी कहिंपि कारणे समुप्पण्णे णिज्जूहइ,  
दसपुव्वी पुण अपच्छिमो अवस्समेवं णिज्जूहइ । ममंपि



डमं कारणं समुष्णं, अहमवि निज्जूहामि, ताहे आदत्तो णिज्जूहिउं । ते य निज्जूहिजंता वियाले निज्जूहा थोवावसेसे दिवसे, तेण तं दसवेयालियं भणिज्जति त्ति ।

(दजिचू पृ ७)

बालक मनक आचार्य शय्यंभव (संसारपक्षीय पिता) के पास प्रव्रजित हुआ । आचार्य शय्यंभव चतुर्दशपूर्वी थे । उन्होंने विशिष्ट ज्ञान से देखा—यह अल्पायु है, केवल छह मास और जीएगा । मुझे इसके लिए क्या करना चाहिये ? उन्होंने सोचा—अपश्चिम दशपूर्वी अवश्य निर्यूहण करते हैं । विशेष प्रयोजन होने पर चतुर्दशपूर्वी निर्यूहण कर सकते हैं ।

मेरे समक्ष यह विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ है । इसलिए मुझे भी निर्यूहण करना चाहिये—यह सोच उन्होंने निर्यूहण प्रारंभ किया । इस उपक्रम में विकाल बेला आ गई । दिन थोड़ा अवशिष्ट रहा । विकाल में निर्यूहण होने के कारण (तथा दस अध्ययनों के कारण) इस सूत्र की संज्ञा दशवैकालिक हुई ।

आयप्पवायपुव्वा णिज्जूहा होइ धम्मपण्णत्ती ।  
कम्मप्पवायपुव्वा पिडस्स तु एसणा तिविधा ॥  
सच्चप्पवातपुव्वा णिज्जूहा होति वक्कसुद्धी उ ।  
अवसेसा णिज्जूहा णवमस्स उ ततियवत्थतो ॥  
(दनि ५, ६)

दशवैकालिक का चौथा धर्मप्रज्ञप्ति (षड्जीवनिका) अध्ययन आत्मप्रवादपूर्व से, पाँचवाँ पिण्डैषणा अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से, सातवाँ वाक्यशुद्धि अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष सभी अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु से निर्यूह (उद्धृत) किए गए हैं ।

वित्तिओ वि य आदेसो गणिपिडगातो दुवालसंगातो ।  
एयं किर णिज्जूहं मणगस्स अणुग्गहट्टाए ॥  
(दनि ७)

दूसरी मान्यता के अनुसार दशवैकालिक के दस अध्ययनों का निर्यूहण गणिपिटक द्वादशांग से मनक के अनुग्रह के लिए किया गया है ।

(दशवैकालिक की दो चूलिकाएँ हैं रतिवाक्या और विवित्तचर्या) ।

मंगलत्थं पुव्वहे सत्थारंभो भवति, भगवया पुण अज्जसेज्जंभवेणं कहमवि अवरण्हकाले उपयोगो कतो,

कालातिवायविग्घपरिहारिणा य निज्जूहमेव, अतो विगते काले विकाले दसकमज्जभयणाण कतमिति दसवेकालियं । चउपोरिसितो सज्झायकालो तम्मि विगते वि पडिज्जतीति विगयकालियं दसवेकालियं । दसमं वा वेतलियोपजातिवृत्तेहि णियमितमज्जभयणमिति दसवेतालियं ।

(दवचू पृ ३)

पूर्वाह्न में शास्त्र का प्रारंभ मंगल माना जाता है । किन्तु आर्य शय्यंभव ने अपराह्न में उपयोग लगाया—दिन के तीसरे प्रहर में दस अध्ययनों का निर्यूहण किया । विकाल में रचना होने के कारण इसे दशवैकालिक कहा गया है ।

स्वाध्याय का काल चार प्रहर (दिन और रात के प्रथम और चतुर्थ प्रहर) हैं । इस काल के अतिरिक्त विकाल में भी दशवैकालिक पढा जाता है ।

इसका दसवाँ अध्ययन वैतलिक छंद (उपजाति का एक प्रकार) में रचित होने के कारण इसे दशवैतलिक भी कहा गया है ।

### नन्दी

णंदंति अणयेति णंदी, णंदंति वा णंदी । पमोदो हरिसो कंदप्पो इत्यर्थः । (नन्दीचू पृ १)

जो आनन्दित करता है, वह नन्दी है । प्रमोद, हर्ष और कन्दर्प—ये नन्दी के पर्याय हैं ।

नन्दन्ति समृद्धिमवाप्नुवन्ति भव्यप्राणिनोऽनयेति वा नन्दी । (विभामवृ पृ ४४)

जिसके अध्ययन से भव्य प्राणी ज्ञान आदि से समृद्ध बनते हैं, वह आगम ग्रंथ नन्दी सूत्र है ।

### रचनाकार

अभीष्टदेवतास्तवादिसम्पादितसकलसौहित्यो भगवान् दूष्यगणिपादोपसेवी पूर्वान्तर्गत सूत्रार्थधारको देववाचको योग्यविनेयपरीक्षां कृत्वा सम्प्रत्यधिकृताध्ययनविषयस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां विदधाति ।

(नन्दीमवृ पृ ६५)

नन्दी के रचनाकार हैं—आचार्य देववाचक । वे आचार्य दूष्यगणी के शिष्य और पूर्वान्तर्गत सूत्र और अर्थ के धारक थे ।

दव्वणंदी जाणगो अणुवउत्तो अहवा जाणम-भविय-सरीरवतिरित्तो वारसविधो तुरसंघातो इमो—

भंभा मुकुंदमहल कडंब भल्लरि हुडुक्क कंसाला ।  
काहल तलिमा वंसो पणवो संखो य वारसमो ॥

(नन्दीचू पृ १)

भावणंदी णदिसद्वीवयुत्तभावो । अहवा इमं पंचविह-  
णाणपरुवणं णदि त्ति अज्झयणं । तं च सुतंसेण सव्वसुत-  
मंतरभूतं ।

नन्दी के दो प्रकार हैं --द्रव्य और भाव । नन्दी में  
अनुपयुक्त ज्ञाता द्रव्यनन्दी है । अथवा भंभा, मुकुन्द,  
मर्दल, कडंबा (करटिका) भल्लरी, हुडुक्क, कंसाल,  
काहल, तलिमा, वंश, शंख और पणव --ये वारह प्रकार  
के वाद्य तद्द्रव्यतिरिक्त द्रव्यनन्दी हैं ।

नन्दी शब्द में उपयुक्त ज्ञाता भावनन्दी है । अथवा  
मति, श्रुत आदि पांच ज्ञानों का प्रतिपादक ग्रंथ भाव  
नन्दी है । यह नन्दी पांच ज्ञान का प्रतिपादक होने के  
कारण आगमश्रुत का अंश है, अतः सम्पूर्ण श्रुत में समा-  
हित है ।

### पौरुषीमण्डल

पोरिसिप्रमाणं उत्तरायणस्स अंते दक्खिणायणस्स य  
आदीए एवकं दिणं भवति । अतो परं अट्ट एकसट्ठि-  
भागा अंगुलस्स दक्खिणायणे वड्ढंति, उत्तरायणे य  
ह्रस्संति । एवं मंडले मंडले अण्णोण्णा पोरिसी जत्थ  
अज्झयणे दंसिज्जति तमज्झयणं पोरिसिमंडलं ।

(नन्दीचू पृ ५८)

उत्तरायण के अंत में, दक्षिणायन के प्रारंभ में  
पौरुषीप्रमाण एक दिन होता है । इसके बाद/इससे आगे  
दक्षिणायन में अंगुल का इकसठवां भाग बढ़ता है,  
उत्तरायण में घटता है । इस प्रकार हर मंडल में  
अन्योन्य/परस्पर पौरुषी का जिस अध्ययन में प्रतिपादन  
है, वह पौरुषीमण्डल है ।

### मण्डलप्रवेश

चंदस्स सूरस्स य दाहिणुत्तरेसु मंडलेसु जहा मंड-  
लातो मंडले पवेसो तथा वण्णज्जति जत्थज्झयणे  
तमज्झयणं मंडलपवेसो । (नन्दीचू पृ ५८)

जिस अध्ययन में चंद्र और सूर्य का दक्षिण और  
उत्तर मंडलों में --एक मण्डल से दूसरे मण्डल में प्रवेश  
का वर्णन है, वह मण्डलप्रवेश सूत्र है ।

### गणिविद्या

सबालवुड्ढाउलो गच्छो गणो, सो जस्स अत्थि सो

गणी । विज्जति णाणं । तं च जोइसनिमित्तगतं णातुं  
पसत्थेसु इमे कज्जे करेति, तं जहा --पव्वावणा, सामा-  
इयारोवणं, उवट्टावणा, सुत्तस्स उद्देस-समुद्देसाणुण्णातो,  
गणारोवणं, दिसाणुण्णा, खेत्तेसु य णिग्गम-पवेसा,  
एमाइया कज्जा जेसु तिहि-करण-णकखत्त-मुहुत्त-जोगेसु  
य जे जत्थ करणिज्जा ते जत्थज्झयणे वण्णज्जति,  
तमज्झयणं गणिविज्जा । (नन्दीचू पृ ५८)

आबाल-वृद्ध --सभी मुमुक्षु व्यक्तियों का गच्छ गण  
कहलाता है । गण का अधिपति गणी कहलाता है ।  
विद्या का अर्थ है ज्ञान । ज्योतिष-निमित्त-विद्या के  
ज्ञाता गणी प्रशस्त काल आदि में ये कार्य करते हैं --  
प्रवाजन (दीक्षा देना), सामायिक आरोपण, उपस्थापना,  
श्रुत का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञाकरण, गण-आरोपण  
(शिष्य की गणपद पर नियुक्ति), दिशानुज्ञा (यात्रा का  
निर्देश), नये क्षेत्र (ग्राम आदि) में प्रवेश-निर्गम आदि ।  
जिस प्रशस्त तिथि-करण-नक्षत्र-मुहूर्त-योग में जो कार्य  
जहां करणीय है इन सबका जिस अध्ययन में प्रतिपादन  
है, वह गणिविद्या अध्ययन है ।

### आतुर-प्रत्याख्यान

आउरो गिलाणो, तं किरियातीतं णातुं गीतत्था  
पच्चकखावेत्ति । दिणे दिणे दव्वहासं करेता अंते य सव्व-  
दव्वदातभताए भत्ते वेरग्गं जणेंता भत्ते नित्तण्हस्स भव-  
चरिमपच्चकखाणं कारेत्ति । एवं जत्थज्झयणे सवित्थरं  
वण्णज्जइ तमज्झयणं आउर-पच्चकखाणं ।

(नन्दीचू पृ ५८)

जब आतुर/ग्लान साधक कार्य करने में अक्षम या  
उदासीन हो जाता है तो गीतार्थ साधु उसको आहार  
का प्रत्याख्यान कराते हैं । प्रतिदिन खाद्यपदार्थों की  
संख्या सीमित कर अंत में आहार के प्रति विरक्ति के  
भाव जगाकर उसे अनशन करा देते हैं । इस विधि का  
जिस अध्ययन में विस्तृत वर्णन है, वह आतुर-प्रत्या-  
ख्यानसूत्र है ।

### ८. प्रकीर्णक

चउरासीइं पइण्णगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसह-  
सामिस्स आइत्तिथयरस्स । तथा संखिज्जाइं पइण्णगसह-  
स्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं । चोद्दस पइण्णगसह-  
स्साणि भगवओ वट्ठमाणसामिस्स । अहवा --जस्स  
जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए, वेणइयाए, कम्मयाए, पारि-

णामियाए ... चउव्विहाए बुद्धीए उव्वेया, तस्स तत्तियाइ पइण्णगसहस्साइ । पत्तेयबुद्धावि तत्तिया चैव ।

(नन्दी ७९)

प्रथम अर्हत् ऋषभ के चौरासी हजार प्रकीर्णक थे । मध्यम बाईस तीर्थंकरों के संख्यात हजार प्रकीर्णक थे । अर्हत् महावीर के चौदह हजार प्रकीर्णक थे ।

अथवा जिनके जितने शिष्य औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कामिकी और पारिणामिकी बुद्धि से सम्पन्न होते हैं, उनके उतने हजार प्रकीर्णक होते हैं और प्रत्येकबुद्ध भी उतने ही होते हैं ।

अपरिमाणा पइण्णगा पइण्णगसामिअपरिमाणत्तणतो, किच्च इह सुत्ते पत्तेयबुद्धप्पणीतं पइण्णगं भाणितव्वं । कम्हा ? जम्हा पइण्णगपरिमाणेण चैव पत्तेयबुद्धपरिमाणं कीरइ ।

(नन्दीचू पृ ६१)

प्रकीर्णककार अपरिमित है, इसलिए प्रकीर्णक अपरिमित हैं । किन्तु इस सूत्र में प्रकीर्णकों के परिमाण के आधार पर प्रत्येकबुद्धों की संख्या का नियमन किया गया है, अतः यहां प्रत्येकबुद्धों द्वारा प्रणीत अध्ययन ही प्रकीर्णक के रूप में ग्राह्य हैं ।

पइण्णगउभयणा वि सव्वे कालिय-उव्वकालिया ... अरहंतमग्गउवदिट्ठे जं सुतमणुसरित्ता किच्च जिज्जूहते ते सव्वे पइण्णगा । अहवा सुतमणुस्सरतो अप्पणो वयण-कोसल्लेण जं धम्मदेसणादिसु भासते तं सव्वं पइण्णगं ।

(नन्दीचू पृ ६०)

प्रकीर्णक कालिकश्रुत और उत्कालिक श्रुत—दोनों प्रकार के होते हैं ।

अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण कर भ्रमण जिनका निर्यूहण करते हैं, वे प्रकीर्णक कहलाते हैं । अथवा श्रुत का अनुसरण कर अपने वाणी-कौशल से धर्मोपदेश आदि में जिस विषय का प्रतिपादन करते हैं, वह प्रकीर्णक है ।

## ६. चूला

पुव्वअणितो अभिणओ य समासतो चूलाए अथो भण्यते ।

(नन्दीचू पृ ५९)

मूलग्रन्थ में प्रतिपादित-अप्रतिपादित अर्थ का संक्षेप में निरूपण करने वाली ग्रन्थपद्धति का नाम है चूला ।

## दशवैकालिक चूला

दो अज्झयणा चूलिय विसीययंते थिरीकरणमेणं ।

वित्तिए विवित्तचरिया असीयण्णुणातिरेगफला ॥

(दिनि १२)

सेसत्थसंगहत्थं मउडमणित्थाणीयाणि दो चूलज्झय-णाणि ।

(दअचू पृ ६)

दशवैकालिक सूत्र में दो चूलाएं हैं—

रतिवाक्या—विषादग्रस्त अस्थिर साधु को संयम में पुनःस्थिर करने का निर्देशक अध्ययन ।

विवित्तचर्या—संयम में स्थिर रहने से समुत्पन्न गुणों का प्रतिपादक अध्ययन ।

ग्रंथ के अवशिष्ट अर्थ का संग्रह करने के लिए चूला का वही स्थान है, जो स्थान मुकुट में मणि का है ।

एवं च वृद्धवादः—कयाचिदार्ययाऽसहिष्णुः क्रूर-गडुकप्रायः संयतश्चातुर्मासिकादावुपवासं कारितः, स तदारोधनया मृत एव । ऋषिघातिकाऽहमित्युद्विग्ना सा तीर्थंकरं पृच्छामीति गुणावजितदेवतया नीता श्रीसीमन्धर-स्वामिसमीपं, पृष्ठो भगवान् । अदुष्टचित्ताऽघातिकेत्य-भिधाय भगवतेमां चूडां ग्राहितेति । (वहवृ प २७९)

भूख को सहने में असमर्थ मुनि ने किसी साध्वी की प्रेरणा से उपवास किया । उसी दिन उसकी मृत्यु हो गई । 'मैं ऋषि-घातिका हूँ'—इस चिन्तन से वह साध्वी उद्विग्न हो गई । समाधान पाने के लिए देव-सहयोग से वह अर्हत् सीमंधर के समवसरण में पहुंची । अर्हत् ने कहा—तुम्हारा चित्त शुद्ध है, तुम मारने वाली नहीं हो—यह कहते हुए अर्हत् ने उसे यह चूला अध्ययन (दशवै-कालिक सूत्र की दूसरी चूलिका—विवित्तचरिया) प्रदान किया ।

## आचारचूला

सिरिओ पव्वइतो, अब्भत्तट्ठेणं कालगतो, महाविदेहे य पुच्छिका गता अज्जा, दोवि अज्झयणाणि भावणा विमोत्ती य आणितानि ।

(आवचू २ पृ १८८)

श्रीयक मुनि का अनशन में स्वर्गवास हो गया । उसकी बहिन साध्वी यक्षा ने उस मृत्यु में अपने को निमित्त माना और समाधान लेने हेतु वह महाविदेह में अर्हत् सीमंधर के समवसरण में पहुंची । वहां से वह भावना और विमुक्ति (आचारचूला १५, १६)—ये दो अध्ययन लेकर लौटी ।

## १०. अंगबाह्य और पूर्वधर

दशपूर्वधरा अपि शासनस्योपकारका उपाङ्गादीनां संग्रहण्युपरचनेन हेतुना । (ओनिवृ प ३)

दस पूर्वधर भी जिनशासन के उपकारक होते हैं । वे औपपातिक आदि उपांगों तथा संग्रहणी की रचना करते हैं ।

**अंगविद्या—(द्र. अष्टांग निमित्त)**

**अंगुल—अंगुली, माप का एक साधन ।**

### १. अंगुल के प्रकार

\* अंगुल : क्षेत्र प्रमाण का एक भेद (द्र. प्रमाण)

### २. आत्मांगुल का स्वरूप

- ० आत्मांगुल और पुरुष की ऊंचाई
- ० आत्मांगुल और पाद, वितस्ति आदि
- ० आत्मांगुल का प्रयोजन

\* आत्मांगुल : इन्द्रियों का विषय-परिमाण (द्र. इन्द्रिय)

- ० आत्मांगुल के प्रकार—सूची, प्रतर, घन

### ३. उत्सेधांगुल का स्वरूप

- ० उत्सेधांगुल और पाद, वितस्ति आदि
- ० उत्सेधांगुल से शरीर की अवगाहना का माप
- ० उत्सेधांगुल के प्रकार

### ४. प्रमाणांगुल का स्वरूप

- ० भगवान महावीर की अवगाहना और अंगुल
- ० उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल
- ० प्रमाणांगुल का प्रयोजन
- ० प्रमाणांगुल के प्रकार

## १. अंगुल के प्रकार

अंगुले तिबिहे पण्णत्ते, तं जहा—आयंगुले, उत्से-  
हंगुले, प्रमाणंगुले । (अनु ३८९)

अंगुल के तीन प्रकार हैं—

१. आत्मांगुल, २. उत्सेधांगुल, ३. प्रमाणांगुल ।

## २. आत्मांगुल का स्वरूप

जे णं जता मणूसा तेसिं जं होइ माणरूवं ति ।

तं भणियमिहायंगुलमणियतमाणं पुण इमं तु ॥

(विभाकोवृ पृ १०८)

जिस काल में पुरुष का जो प्रमाण होता है, उस आधार पर आत्मांगुल का प्रमाण माना गया है । पुरुष का प्रमाण अनबस्थित होने के कारण आत्मांगुल का प्रमाण अनियत होता है ।

आयंगुले—जे णं जया मणूस्सा भवति तेसिं णं तथा अप्पणो अंगुलेणं दुवालस अंगुलाइं मुहं, नवमुहाइं पुरिसे पमाणजुत्ते भवइ, दोणीए पुरिसे माणजुत्ते भवइ, अद्ध-भारं तुल्लमाणे पुरिसे उम्माणजुत्ते भवइ । (अनु ३९०)

आत्मांगुल—जिस समय जो मनुष्य होते हैं, उनके अपने अंगुल से बारह अंगुल का मुख होता है । नव मुख जितना पुरुष प्रमाण-युक्त होता है । द्रौणिक पुरुष मान-युक्त होता है । अर्धभार जितने तौल वाला पुरुष उन्मान-युक्त होता है ।

### द्रौणिक पुरुष

द्रौणिकः पुरुषो मानयुक्तो भवति । महत्यां जल-द्रोण्यां उदकपूर्णायां प्रवेशे जलद्रोणाद्गनात्तावन्मात्रोनायां वा पूरणादित्यर्थः । (अनुहावृ पृ ७७)

पानी से भरी हुई बड़ी कुण्डिका को द्रोणी कहते हैं । उस कुण्डिका में एक व्यक्ति के प्रवेश करने पर द्रोणी जितना पानी बाहर निकल जाए अथवा उतनी खाली द्रोणी में प्रवेश करने पर वह भर जाए उसे द्रौणिक पुरुष कहते हैं । वह पुरुष मानयुक्त होता है ।

वदरमिव सारपोग्मलोवचियदेहे तुलारोविते अद्ध-भाहम्मिस्ते ओमाणजुत्ते भवति । (अनुचू पृ ५२)

सारपुद्गलोपचितत्वात्तुलारोपितः सन्नद्धंभारं तुलयन् पुरुष उन्मानयुक्तो भवति । (अनुहावृ पृ ७८)

सारयुक्त पुद्गलों से निमित्त होने से अर्धभार (५२ सेर) वजन वाला पुरुष उन्मान युक्त कहलाता है ।

### आत्मांगुल और पुरुष की ऊंचाई

माणुम्माणप्पमाणजुत्ता, लक्खणवज्जणणुणेहि उववेया ।  
उत्तमकुलप्पसूया, उत्तमपुरिसा मुण्येयवा ॥  
होंति पुण अहियपुरिसा, अट्टसयं अंगुलाण उव्विद्धा ।  
छण्णउइ अहमपुरिसा, चउरुत्तरा मज्झमित्ता उ ॥  
(अनु ३९०/१,२)

मान, उन्मान और प्रमाण से युक्त, स्वस्तिक, शंख आदि लक्षण, तिल आदि व्यञ्जन और क्षान्ति आदि गुणों से उपेत तथा उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले उत्तम

पुरुष होते हैं। उत्तम पुरुष की ऊंचाई एक सौ आठ (१०८) अंगुल, अधम पुरुष की ऊंचाई छयानवे (९६) अंगुल और मध्यम पुरुष की ऊंचाई एक सौ चार (१०४) अंगुल की होती है।

### आत्मांगुल और पाद, वितस्ति आदि

एरणं अंगुलप्पमाणेणं छ अंगुलाइं पाओ, दो पाया विहत्थी, दो विहत्थीओ रयणी, दो रयणीओ कुच्छी, दो कुच्छीओ दंडं धणू जुगे नालिया अक्खे मुसले, दो धणुसह-स्साइं गाउयं, चत्तारिं गाउयाइं जोयणं। (अनु ३९१)

इस अंगुल प्रमाण से छह अंगुल का पाद, दो पाद की वितस्ति, दो वितस्ति की रत्ति, दो रत्ति की कुक्षि, दो कुक्षि का दंड अथवा धनुष, युग, नालिका, अक्ष और मुसल होता है। दो हजार धनुष का गव्यूत (एक कोस) और चार गव्यूत का एक योजन होता है।

### आत्मांगुल का प्रयोजन

एएणं आयंगुलप्पमाणेणं जे णं जया मणुस्सा भवति तेसि णं तथा अप्पणेणं अंगुलेणं अगड-तलाग-दह-नदी-वावी-पुक्खरिणी-दीहिया-गुंजालियाओ सरा सर-पंतियाओ सरसरपंतियाओ बिलपंतियाओ आरामुज्जाण-काणण-वण-वणसंड-वणराईओ देवकुल-सभा-पवा-थूभ-खाइय-परिहाओ, पागार-अट्टालय-चरिय-दार-गोपुर-पासाय-घर-सरण-लेण-आवण- सिघाडग - तिग-चउक्क, चच्चर - चउम्मूह - महापह -पह-सगड-रह-जाण-जुग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणियाओ लोही-लोहकडाह-कडुच्छुय-आसण-सयण-खंभ- भंड - मत्तोवगरणमाईणिं, अज्जकालियाइं च जोयणाइं मक्खिज्जति ॥ (अनु ३९२)

इस आत्मांगुल प्रमाण से जिस समय जो मनुष्य होते हैं, उस समय उनके अपने अंगुल से कूप, तालाब, दह, नदी, बावड़ी, पुष्करिणी, दीघिका, गुंजालिका, सर, सर-पंतिका, सर-सर-पंतिका, बिल-पंतिका, आराम, उद्यान, कानन, वन, वनषण्ड, वन-राजि, देवकुल, सभा, प्रपा, स्तूप, खाई, परिखा, प्राकार, अट्टालक, चरिका, द्वार, गोपुर, प्रासाद, घर, शरण, लयन, आपण, श्रृंगटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, महापथ, पथ, शकट, रथ, यान, युग, गिल्लि, थिल्लि, शिविका, स्यन्दमानिका, लोही, लोहकटाह, करछी, आसन, शयन, स्तम्भ, भाण्ड, अमत्र आदि उपकरण और आजकल के

(तत्कालीन) योजन मापे जाते हैं।

### आत्मांगुल के प्रकार

से समासओ तिविहे पण्णत्ते, तं जहा--सूईअंगुले पयरंगुले घणंगुले। अंगुलायया एगपएसिया सेढी सूई-अंगुले। सूई सूईए गुणिया पयरंगुले। पयरं सूईए गुणितं वणंगुले। (अनु ३९३)

वह (आत्मांगुल) संक्षेप में तीन प्रकार का है, जैसे— सूची अंगुल, प्रतर अंगुल और घन अंगुल। एक अंगुल लम्बी एक प्रदेश वाली श्रेणी सूची अंगुल है। सूची अंगुल से गुणित सूची अंगुल प्रतर अंगुल है। सूची अंगुल से गुणित प्रतर अंगुल घन अंगुल है।

### सूची अंगुल

एक अंगुल लम्बी आकाश प्रदेश की रेखा, जिसकी चौड़ाई और मोटाई -दोनों एक आकाश प्रदेश जितनी ही हो, उसे सूची अंगुल कहते हैं। सूची अंगुल सरल रेखात्मक होता है।

### प्रतर अंगुल

एक अंगुल लम्बी और एक अंगुल चौड़ी तथा एक आकाश प्रदेश जितनी मोटाई वाली समचतुरस्र आकृति प्रतर-अंगुल है। यह तलात्मक होता है। सूची-अंगुल एक ही आयाम में फैला हुआ होता है, जबकि प्रतर अंगुल दो आयामों में फैला हुआ होता है। सूची-अंगुल को सूची-अंगुल से गुणन करने पर प्रतर-अंगुल प्राप्त होता है। इस प्रकार—

$$\text{प्रतर अंगुल} = (\text{सूची अंगुल}) \times (\text{सूची अंगुल}) \\ = (\text{सूची अंगुल})^2$$

सूची अंगुल के वर्ग को प्रतर अंगुल कहते हैं।

### घन अंगुल

एक अंगुल लम्बी, एक अंगुल चौड़ी और एक अंगुल मोटाई वाली घन-आकृति घन-अंगुल कहलाता है। यह घनरत्मक होता है। यह तीनों आयामों में फैला हुआ होता है। प्रतर अंगुल को सूची अंगुल से गुणा करने पर घन अंगुल प्राप्त होता है। इस प्रकार—

$$\text{घन अंगुल} = (\text{प्रतर अंगुल}) \times (\text{सूची अंगुल}) \\ = (\text{सूची अंगुल})^3$$

सूची अंगुल के घन को घन अंगुल कहते हैं।

सर्वतथोवे सूईअंगुले, पयरंगुले असखेज्जगुणे, घणंगुले  
असखेज्जगुणे । (अनु ३९४)

सबसे अल्प सूची अंगुल है। प्रतर अंगुल उससे  
असंख्यात गुना तथा घनअंगुल उससे असंख्यात गुना है।

### ३. उत्सेधांगुल का स्वरूप

उत्सेहंगुले अणेगविहे पणत्ते, तं जहा —

परमाणू तसरेणू, रहरेणू अग्गयं च वालस्स ।

लिक्खा जूया य जवो, अट्टगुणविवड्डिया कमसो ॥

(अनु ३९५)

उत्सेध अंगुल के अनेक प्रकार हैं, जैसे—परमाणु,  
त्रसरेणु, रथरेणु, बालाग्र, लिखा, सूका और यव ।  
ये क्रमशः आठ-आठ गुना अधिक हैं ।

अणंताणं वाचहारियपरमाणुपोग्गलाणं समुदय-समिति-  
समागमेणं सा एगा उसण्हसण्हिया...अट्ट उसण्हसण्हियाओ  
सा एगा सण्हसण्हिया, अट्ट सण्हसण्हियाओ सा एगा  
उड्डरेणू, अट्ट उड्डरेणूओ सा एगा तसरेणू, अट्ट तस-  
रेणूओ सा एगा रहरेणू, अट्ट रहरेणूओ देवकुरुउत्तरकुरु-  
गाणं मणुस्साणं से एगे वालग्गे, अट्ट देवकुरु-उत्तरकुहाणं  
मणुस्साणं वालग्गा हरिवास-रम्मगवासाणं मणुस्साणं से  
एगे वालग्गे, अट्ट हरिवास-रम्मगवासाणं मणुस्साणं  
वालग्गा हेमवय-हेरणवयाणं मणुस्साणं से एगे वालग्गे,  
अट्ट हेमवय-हेरणवयाणं मणुस्साणं वालग्गा पुव्वविदेह-  
अवरविदेहाणं मणुस्साणं से एगे वालग्गे, अट्ट पुव्वविदेह-  
अवरविदेहाणं मणुस्साणं वालग्गा भरहेरवयाणं मणुस्साणं  
से एगे वालग्गे, अट्ट भरहेरवयाणं मणुस्साणं वालग्गा सा  
लिक्खा, अट्ट लिक्खाओ सा एगा जूया, अट्ट जूयाओ से  
एगे जवमज्जे, अट्ट जवमज्जा से एगे उत्सेहंगुले ।

(अनु ३९९)

अनन्त व्यावहारिक परमाणु पुद्गलों के समुदय,  
समिति और समागम से एक उत्पलक्षणश्लक्षिका,  
आठ उत्पलक्षण-श्लक्षिका की एक श्लक्षणश्ल-  
क्षिका, आठ श्लक्षणश्लक्षिका का एक ऊर्ध्वरेणु, आठ  
ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथ-  
रेणु, आठ रथरेणु का देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्यों  
का एक बालाग्र, देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्यों के  
आठ बालाग्र का हरिवर्ष और रम्यक् वर्ष के मनुष्यों का  
एक बालाग्र, हरिवर्ष और रम्यक् वर्ष के मनुष्यों के आठ  
बालाग्र का हैमवत और हैरण्यवत के मनुष्यों का एक  
बालाग्र, हैमवत और हैरण्यवत के मनुष्यों के आठ

बालाग्र का पूर्व विदेह और अपर विदेह के मनुष्यों का एक  
बालाग्र, पूर्व विदेह और अपर विदेह के मनुष्यों के आठ  
बालाग्र का भरत और ऐरवत के मनुष्यों का एक  
बालाग्र, भरत और ऐरवत के मनुष्यों के आठ बालाग्र  
की एक लिखा, आठ लिखा की एक सूका, आठ सूका  
का एक यवमध्य और आठ यवमध्यों का एक उत्सेध  
अंगुल होता है ।

### उत्सेधांगुल और पाद, वितस्ति आदि

एएणं अंगुलप्पमाणेणं छ अंगुलाइ पादो, बारस  
अंगुलाइ विहत्थी, चउवीसं अंगुलाइ रयणी, अडयालीसं  
अंगुलाइ कुच्छी, छन्नउइ अंगुलाइ से एगे दंडे इ वा धणू  
इ वा जुगे इ वा नालिया इ वा अक्खे इ वा मुसले इ वा,  
एएणं धणुप्पमाणेणं दो धणुसहस्साइ गाउयं, चत्तारि  
गाउयाइ जोयणं । (अनु ४००)

इस अंगुल-प्रमाण से छह अंगुल का पाद, बारह  
अंगुल की वितस्ति, चौबीस अंगुल की रत्ति, अडतालीस  
अंगुल की कुक्षि और छयानवे अंगुल का एक दण्ड अथवा  
धनुष, युग, नालिका, अक्ष अथवा मुसल होता है । इस  
धनुष-प्रमाण से दो हजार धनुष का एक गव्यूत (कोस)  
और चार गव्यूत का एक योजन होता है ।

### उत्सेधांगुल से शरीर की अवगाहना का माप

एएणं उत्सेहंगुलेणं नेरइय-तिरिक्खजोणिय-  
मणुस्स-देवाणं सरीरोगाहणाओ मविज्जंति ।

(अनु ४०१)

नणु भणियमुस्सयंगुलपमाणओ जीवदेहमाणाइ ।

(विभा ३४१)

इस उत्सेध अंगुल से ही नैरयिक, तिर्यक्योनिक,  
मनुष्य और देवों के शरीर की अवगाहना मापी जाती  
है ।

से समासओ तिविहे पणत्ते, तं जहा—सूईअंगुले  
पयरंगुले घणंगुले । अंगुलायया एगपएसिया सेदी सूई-  
अंगुले । सूई सूईए गुणिया पयरंगुले । पयरं सूईए गुणितं  
घणंगुले ।

उत्सेध अंगुल के संक्षेप में तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं  
—सूची अंगुल, प्रतर अंगुल और घन अंगुल ।

एक अंगुल लम्बी एक प्रदेशवाली श्रेणी सूची अंगुल  
है । सूची अंगुल से गुणित सूची अंगुल प्रतर अंगुल है ।  
सूची अंगुल से गुणित प्रतर अंगुल घन अंगुल है ।

#### ४. प्रमाणांगुल का स्वरूप

प्रमाणंगुले—एगमेगस्स णं रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्टुसोवण्णिणए कागणिरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्टुकणिए अहिगरणिसंठाणसंठिए पण्णत्ते । तस्स णं एगमेगा कोडी उस्सेहंगुलविकखंभा, तं समणस्स भगवओ महावीरस्स अट्टंगुलं, तं सहस्सगुणियं पमाणांगुलं भवइ ।

(अनु ४०८)

प्रत्येक चातुरंत चक्रवर्ती राजा का काकणीरत्न आठ सुवर्ण जितने वजन वाला, छह तल, बारह भुजा और आठ कोण वाला तथा अहरन के संस्थान से संस्थित होता है। उसकी प्रत्येक भुजा उत्सेध अंगुल के समान चौड़ाई वाली होती है। वह श्रमण महावीर का अर्ध अंगुल होता है। वह सहस्र गुना होने पर प्रमाण अंगुल होता है।

चत्तारि मधुरतिणफला एगो सेतसरिसवो । ते सोलससरिसवा धन्नमासफलं एगं । दो धन्नमासफला एगा गुंजा । पंच गुंजातो एगो कम्ममासगो । सोलसकम्ममासगो एगो सुवण्णो । अट्टुसोवण्णियं काकणीरयणं । एतं सुवण्णपमाणं जं भरहकाले मधुरतिणफलादिपमाणं ततो आणेत्तव्वं, जतो सव्वचक्कवट्टीणं काकणीरयणं एगप्पमाणंति ।

(अनुचू पृ ५५)

४ मधुरतृणफल	—	१ श्वेत सर्षप
१६ सर्षप	--	१ धान्यमाषफल
२ धान्यमाषफल	—	१ गुंजा
५ गुंजा	--	१ कर्ममाषक
१६ कर्ममाषक	—	१ सुवर्ण
८ सौवर्णिक	—	१ काकणीरत्न

सब चक्रवर्तियों का काकणी रत्न समान प्रमाण वाला होता है। अतः भरत चक्रवर्ती के समय जो सुवर्ण-प्रमाण था, उसी से मधुरतृणफल आदि का प्रमाण ज्ञातव्य है।

(काकणीरत्न द्र. चक्रवर्ती)

#### भगवान महावीर की अवगाहना और अंगुल

वीरो आदेसंतरतो आयंगुलेण चुलसीतिमंगुलुव्विद्धो, उस्सेहतो पुण सत्तसट्टसत्तं भवति । अतो दो उस्सेहंगुला वीरस्स आतंगुलं । एवं वीरस्स आयंगुलातो अट्टं उस्सेहंगुलं दिट्ठं । जेसि पुण वीरो आयंगुलेण अट्टुत्तर-

मंगुलसत्तं तेसि वीरस्स आयंगुलेण एगं उस्सेहंगुलं उस्सेहंगुलस्स य पंच णवभागा भवति । जेसि पुण वीरो आयंगुलेण वीसुत्तरमंगुलसयं तेसि वीरस्स आयंगुलेणोगमुस्सेहंगुलं उस्सेहंगुलस्स य दो पंचभागा भवति, एवमेतं सव्वं तेरासियकरणेण दट्टुव्वं ।

(अनुचू पृ ५५, ५६)

भगवान महावीर का शरीर उत्सेध अंगुल से सात हाथ प्रमाण था। एक हाथ के २४ उत्सेध अंगुल होते हैं। इसलिए ७ हाथ के उत्सेधांगुल  $२४ \times ७ = १६८$  हुए।

१ उत्सेध अंगुल = भगवान महावीर का  $\frac{१}{३}$  अंगुल ।  
 $१६८$  उत्सेध अंगुल =  $\frac{१६८}{३} \times १ = ८४$  अंगुल ।

भगवान महावीर का शरीर आत्मांगुल अर्थात् स्वयं के अंगुल से ८४ अंगुल ( $३\frac{१}{३}$  हाथ) का था।  
 $८४ \div २४ = ३\frac{१}{३}$  हाथ ।

एक मत यह है कि भगवान का शरीर आत्मांगुल से  $४\frac{१}{३}$  हाथ अर्थात्  $२४ \times ४\frac{१}{३} = १०८$  अंगुल का था।

इस मत के अनुसार भगवान महावीर का १ अंगुल उत्सेध अंगुल  $१\frac{१}{३}$  के बराबर था।

$१०८$  आत्मांगुल =  $१६८$  उत्सेध अंगुल

१ आत्मांगुल =  $\frac{१६८}{१०८} = \frac{१४}{९} = १\frac{५}{९}$

एक मान्यता यह भी रही है कि भगवान महावीर का शरीर अपने अंगुल से ५ हाथ अथवा  $२४ \times ५ = १२०$  अंगुल का था।

$१२०$  आत्मांगुल =  $१६८$  उत्सेधांगुल

१ आत्मांगुल =  $\frac{१६८}{१२०} = \frac{७}{५} = १\frac{२}{५}$

यह सब त्रैराशिक मत के आधार पर द्रष्टव्य है।

(नोट : १. सत्तसट्टसत्तं इस पाठ के आधार पर  $१६७$  अंगुल होने चाहिये, किन्तु गणित के अनुसार  $१६८$  अंगुल होते हैं।)

#### उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल

भरहो आयंगुलेण वीसुत्तरमंगुलसत्तं, तं च सपादं धणुयं उस्सेहंगुलमाणेण पंचधणुसते लभामि तो एणेण धणुणा कि लभिस्सामि ? आगतं चत्तारि धणुसताणि सेदीए, एवं सव्वे अंगुलजोयणादयो दट्टुव्वा । एगंमि सेट्ठिप्पमाणंगुले चउरो उस्सेहंगुलसता भवति । तं च पमाणंगुलं उस्सेहंगुलप्पमाणेणं अट्टातियंगुलवित्थडं जं तो सेदीए चउरो सता अट्टाडयंगुलगुणिता सहस्समुस्सेहं-

गुलाण, तं एवं सहस्रगुणं भवति । (अनुचू पृ ५६)

भरत चक्रवर्ती का एक आत्मांगुल एक प्रमाणांगुल के समान था। उनका शरीर अपने आत्मांगुल से १२० अंगुल का था। उत्सेध अंगुल से वे ५०० धनुष के थे। एक धनुष ९६ अंगुल के समान होता है। ५०० धनुष के ४८००० अंगुल होते हैं।

१ धनुष = ९६ अंगुल

५०० धनुष = ५०० × ९६ = ४८००० अंगुल

भरत चक्रवर्ती आत्मांगुल (प्रमाणांगुल) से १२० अंगुल के थे और उत्सेध अंगुल से ४८००० अंगुल के थे। इसलिए एक प्रमाणांगुल  $४८००० \div १२० = ४००$  उत्सेध अंगुल का होता है। उत्सेधांगुल का बाह्य (मोटाई)  $२\frac{१}{३}$  अंगुल होता है। इसलिए  $४०० \times २\frac{१}{३} = १०००$  अंगुल हो गए। १००० उत्सेध अंगुल का एक प्रमाणांगुल जो माना है, वह बाह्य (मोटाई) की अपेक्षा से है।

### प्रमाणांगुल का प्रयोजन

एरणं पमार्णगुलेणं पुढवीणं कंडाणं पातालाणं भव-  
णाणं भवणपत्थडाणं निरयाणं निरयाव्लियाणं निरय-  
पत्थडाणं कप्पाणं विमाणाणं विमाणाव्लियाणं  
विमाणपत्थडाणं टंकाणं कूडाणं सेलाणं सिहरीणं पञ्चाराणं  
विजयाणं वक्खाराणं वासाणं वासहराणं पव्वयाणं वेलाणं  
वेइयाणं दाराणं तोरणाणं दीवाणं समुद्दाणं आयाम-  
विकखंभ-उच्चत्त-उव्वेह-परिक्खेवा मविज्जति ।

(अनु ४१०)

इस प्रमाण अंगुल से रत्नप्रभा आदि पृथिव्यां, रत्नकाण्ड आदि काण्ड, पाताल, भवन, भवन-प्रस्तट, नरक, नरकावलि, नरक-प्रस्तट, कल्प, विमान, विमान श्रेणी, विमान-प्रस्तट, टंक, कूट, शैल, शिखरी, प्राग्भार, विजय, वक्षस्कार, वर्ष, वर्षधर पर्वत, वेला, वेदिका, द्वार, तोरण तथा द्वीप-समुद्रों की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, गहराई और परिधि मापी जाती है।

### प्रमाणांगुल के प्रकार

से समासओ तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—सेढीअंगुले पयरंगुले घणंगुले । असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ सेढी, सेढी सेढीए गुणिया पयरं, पयरं सेढीए गुणियं लोणे, संखेज्जाएणं लोणे गुणितो संखेज्जा लोणा, असंखे-  
ज्जाएणं लोणे गुणितो असंखेज्जा लोणा ।

एएसि णं सेढीअंगुल-पयरंगुल-घणंगुलाणं कयरे कयरेहितो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ? संवत्थोवे सेढीअंगुले, पयरंगुले असंखेज्जागुणे, घणंगुले असंखेज्जागुणे । (अनु ४११, ४१२)

प्रमाण अंगुल के तीन प्रकार हैं—

श्रेणी अंगुल, प्रतर अंगुल और घन अंगुल ।

असंख्य कोड़ाकोड़ योजन की एक श्रेणी होती है ।

श्रेणी को श्रेणी से गुणित करने पर प्रतर और प्रतर को श्रेणी से गुणित करने पर लोक होता है ।

लोक को संख्येय से गुणित करने पर संख्येय लोक और असंख्येय से गुणित करने पर असंख्येय लोक होते हैं ।

इन श्रेणी अंगुल, प्रतर अंगुल और घन अंगुल में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

श्रेणी अंगुल सबसे छोटा है, प्रतर अंगुल उससे असंख्येय गुना है, और घन अंगुल उससे असंख्येय गुना है ।

**अंतःशल्यमरण**—मरण का एक भेद । (द्र. मरण)

**अंतकृतदशा**—जैन आगम, आठवां अंग ।

(द्र. अंगप्रविष्ट)

**अंतरायकर्म**—आत्मशक्ति के विकास और प्रयोग में बाधा डालने वाला कर्म ।

(द्र. कर्म)

**अंतर्द्वीपज**—अंतर्द्वीपों में उत्पन्न होने वाले ।

(द्र. मनुष्य)

**अंतर्मुहूर्त**—दो समय से लेकर अड़तालीस मिनट में एक समय कम तक का कालमान ।

(द्र. काल)

**अकर्मभूमिज**—जहां प्राकृतिक साधनों से जीविका चलाई जाती है, वह अकर्मभूमि है । उसमें उत्पन्न होने वाले अकर्म-भूमिज कहलाते हैं । (द्र. मनुष्य)

**अक्रियावाद**—(द्र. वाद) ।

**अक्षरश्रुत**—प्रतिपाद्य भावों का अक्षरों के द्वारा कथन करना । श्रुतज्ञान का एक भेद ।

(द्र. श्रुतज्ञान)

**अगमिकश्रुत**—असदृश पाठ वाला श्रुत । श्रुतज्ञान का एक भेद ।

(द्र. श्रुतज्ञान)



**अचक्षुदर्शन—**(द्र. दर्शन)

**अचित्त महास्कन्ध—**केवली-समुद्घात के पांचवें समय में समूचे लोक में व्याप्त होने वाला कर्मपुद्गलस्कन्ध ।  
(द्र. केवलीसमुद्घात)  
स्वाभाविक रूप से समूचे लोक में व्याप्त होने वाला पुद्गल-स्कन्ध ।  
(द्र. वर्गणा)

**अचेल—**(द्र. शासनभेद)

**अजितनाथ—**वर्तमान चौबीसी के दूसरे तीर्थंकर ।  
(द्र. तीर्थंकर)

**अजीव—**अचेतन द्रव्य ।

अजीवदन्वा...दुविहा पणत्ता, तं जहा—अरुवि-  
अजीवदन्वा य रुविअजीवदन्वा य । (अनु ४४२)

अजीवद्रव्य के दो प्रकार हैं—अरूपी अजीवद्रव्य और रूपी अजीवद्रव्य ।

**अरूपी अजीवद्रव्य के प्रकार**

अरुविअजीवदन्वा...दसविहा पणत्ता, तं जहा—  
धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसा धम्मत्थिकायस्स  
पएसा, अधम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकायस्स देसा अधम्म-  
त्थिकायस्स पएसा, आगासत्थिकाए आगासत्थिकायस्स  
देसा आगासत्थिकायस्स पएसा, अद्दासमए । (अनु ४४३)

अरूपी अजीवद्रव्य के दस प्रकार हैं—धर्मास्ति-  
काय, धर्मास्तिकाय के देश, धर्मास्तिकाय के प्रदेश;  
अधर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के देश, अधर्मास्तिकाय  
के प्रदेश; आकाशास्तिकाय, आकाशास्तिकाय के देश,  
आकाशास्तिकाय के प्रदेश और अद्दासमय—काल ।

(द्र. अस्तिकाय)

**रूपी अजीवद्रव्य के प्रकार**

रुविअजीवदन्वा...चउच्चिहा पणत्ता, तं जहा—  
खंधा, खंधेसा, खंधप्पएसा, परमाणुपोगला ।

(अनु ४४४)

रूपी अजीवद्रव्य के चार प्रकार हैं—स्कन्ध,  
स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणुपुद्गल ।

(द्र. पुद्गल)

**अज्ञान—**१. ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होने वाला ज्ञान का अभाव । २. ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाला मिथ्यात्वी का ज्ञान ।

१. अज्ञान आवरण है

२. ज्ञान भी अज्ञान

\* मिथ्यादृष्टि : प्रथम गुणस्थान (द्र. गुणस्थान)

३. ज्ञान अज्ञान क्यों ?

४. अज्ञान भी क्षयोपशमभाव

५. मति-धृत : ज्ञान, अज्ञान दोनों

६. विभंगज्ञान

७. अज्ञान तीन ही क्यों ?

\* अनुत्तर देवों में अज्ञान नहीं (द्र. देव)

**१. अज्ञान आवरण है**

न हि स्वयं स्वच्छस्फटिकवदतिनिर्मलस्य प्रकाश-  
रूपस्यात्मनोऽप्रकाशकत्वं किन्तु ज्ञानावृतिवशत एव ।  
उक्तं हि—

तत्र ज्ञानावरणीयं नाम कर्म भवति येनास्य ।

तत्पञ्चविधं जगन्मावृतं रविरिव मेघैस्तथा ॥

(उशावृ प १२६)

आत्मा स्वच्छ स्फटिक मणि की तरह अत्यंत निर्मल और प्रकाश स्वभाव वाली है । ज्ञान के आवरण के कारण आत्मा अज्ञान का अनुभव करती है ।

ज्ञानावरणीय कर्म के द्वारा मति आदि पांच ज्ञान वैसे ही आवृत हैं, जैसे बादलों से सूर्य ।

**२. ज्ञान भी अज्ञान**

जह दुक्कयणमवयणं कुच्छियसीलं असीलमसईए ।

भण्णइ तह नाणं पि हु मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं ॥

(विभा ५२०)

जैसे दुर्वचन को अवचन और असती के कुत्सित शील को अशील कहा जाता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को भी अज्ञान कहा जाता है ।

**३. ज्ञान अज्ञान क्यों ?**

सदसदविसेसणाओ भवहेउजदिच्छिओवलंभाओ ।

नाणफलाभावाओ मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं ॥

(विभा ११५)

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान कहलाता है । उसके चार हेतु हैं—

१. मिथ्यादृष्टि में सत्-असत् का विवेक नहीं होता ।
२. उसका ज्ञान भवभ्रमण का हेतु होता है ।
३. वह अपनी इच्छा के अनुसार मोक्ष के हेतुभूत तत्त्वों को भवभ्रमण का हेतु मानता है ।
४. उसको ज्ञान का फल (विरति) प्राप्त नहीं होता ।

मिथ्यादृष्टिः सर्वमप्येकान्तपुरस्सरं प्रतिपद्यते, न भगवदुक्तस्माद्वादनीत्या । ततो घट एवायमिति यदा ब्रूते तदा तस्मिन् घटे घटपर्यायव्यतिरेकेण शेषान् सत्त्वज्ञेय-त्वप्रमेयत्वादीन्, सतोऽपि धर्मानपलपति, अन्यथा घट एवायमित्येकान्तेनावधारणानुपपत्तेः । घटः सन्नेवेति च ब्रुवाणः पररूपेण नास्तित्वस्यानभ्युपगमात् पररूपताम-सतीमपि तत्र प्रतिपद्यते । ततः सन्तमसन्तं प्रतिपद्यते असन्तं च सन्तमिति सदसद्विशेषपरिज्ञानाभावादज्ञाने मिथ्यादृष्टेरन्तिश्रुते । (नन्दीमवृ प १४३)

मिथ्यादृष्टि प्रत्येक वस्तु को एकान्तदृष्टि से स्वीकार करता है, भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादपद्धति से नहीं । घट-प्रतिपत्ति के समय जब वह कहता है—'यह घड़ा ही है' तब वह घड़े में विद्यमान सत्त्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व आदि अन्य पर्यायों का अपलाप करता है । अन्यथा 'यह घट ही है'—ऐसी एकान्तिक अवधारणा नहीं हो सकती । 'यह घट ही है'—इस कथन में घट में अविद्यमान पर-पर्यायों के नास्तित्व को स्वीकार नहीं करता । इस प्रकार वह घट में अविद्यमान पर्यायों को भी स्वीकार कर लेता है । वह सत् को असत् और असत् को सत् मानता है । सद्-असद् के विवेक से शून्य होने के कारण मिथ्यादृष्टि के मति और श्रुत ज्ञान अज्ञान कहलाते हैं । (एकान्तवादी दृष्टिकोण में वस्तु का समग्रता से स्वीकार नहीं होता, इसलिए ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है ।)

मिथ्यादृष्टीनां मतिश्रुते यथावस्थितं वस्त्वविचार्यैव प्रवर्तते । ततो यद्यपि च ते क्वचिद्रसोऽयं स्पर्शोऽयमित्या-द्यवधारणाध्यवसायभावे संवादिनी तथापि न ते स्याद्वादमुद्रापरिभावनातस्तथाप्रवृत्तेः, किन्तु यथा-कथञ्चिद्, अतस्ते अज्ञाने । (नन्दीमवृ प १४३)

मिथ्यादृष्टि का मतिश्रुतज्ञान वस्तु की यथार्थता का चिन्तन नहीं करता । यद्यपि उससे कहीं संवादी अव-धारण भी होता है, जैसे—यह रस है, यह स्पर्श है । तथापि यह स्याद्वाद की पर्याया से परिभावित नहीं है, इसलिए उसके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अज्ञान हैं ।

## ४. अज्ञान भी क्षयोपशमभाव

खओवसमिया मइअन्नाणलद्धी, खओवसमिया सुयअन्नाणलद्धी, खओवसमिया विभंगनाणलद्धी....।

(अनु २८५)

मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान—ये क्षायोप-शमिकभाव हैं ।

## ५. मति-श्रुत : ज्ञान, अज्ञान दोनों

अविसेसिया मई—मइनाणं च मइअण्णाणं च । विसेसिया—सम्मद्विट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छद्विट्ठिस्स मई मइअण्णाणं । (नन्दी ३६)

निर्विशेषणमति—मतिज्ञान और मतिअज्ञान दोनों हैं । सविशेषणमति—सम्यग्दृष्टि की मति मतिज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि की मति मतिअज्ञान कहलाती है ।

अविसेसियं सुयं—सुयनाणं च सुयअण्णाणं च । विसेसियं—सम्मद्विट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छद्विट्ठिस्स सुयं सुयअण्णाणं । (नन्दी ३६)

निर्विशेषणश्रुत—श्रुतज्ञान और श्रुतअज्ञान दोनों हैं । सविशेषणश्रुत—सम्यग्दृष्टि का श्रुत श्रुतज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि का श्रुत श्रुतअज्ञान कहलाता है ।

## ६. विभंगज्ञान

तं चेव ओहिणाणं मिच्छाद्विट्ठिस्स वित्तहभाव-गाहित्थेण विभंगणाणं भण्णति । (आवचू १ पृ ६४)

विपरीत तत्त्वप्राहिता के कारण मिथ्यादृष्टि का अवधिज्ञान विभंगज्ञान कहलाता है ।

## ७. अज्ञान तीन ही क्यों ?

...मइ-ओहिविक्कजासे वि होइ मिच्छं न उण सेसे ॥ (विभा ५३४)

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान का विपर्यास मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान होता है । शेष दो ज्ञानों—मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान का विपर्यास नहीं होता । अतः अज्ञान तीन ही हैं—मति-अज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान ।

## अज्ञानवाद—(द्र. वाद)

अतिचार—आचार का अतिक्रमण । (द्र. आचार)

अतीर्थकरसिद्ध—तीर्थकर के अतिरिक्त अन्य मुक्त होने वाले । (द्र. सिद्ध)

अतीर्थसिद्ध—तीर्थ-स्थापना से पहले मुक्त होने वाले । (द्र. सिद्ध)

अधर्मलेश्या कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म (अशुभ) लेश्यायें हैं।

(द्र. लेश्या)

अधर्मस्तिकाय—जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक द्रव्य। (द्र. अस्तिकाय)

अधिगम सम्यक्त्व—गुरु के उपदेश अथवा किसी अन्य बाह्य निमित्त से मिलने वाला सम्यक्त्व।

(द्र. सम्यक्त्व)

अनंत—संख्या प्रमाण का एक उपभेद।

(द्र. संख्या)

अनंतनाथ—चौदहवें तीर्थंकर। (द्र. तीर्थंकर)

अनंतानुबंधी—(द्र. कषाय)

अनक्षरश्रुत—श्रुतज्ञान का एक भेद। संकेतात्मक ज्ञानपद्धति। (द्र. श्रुतज्ञान)

अनगर—श्रमण।

अगरं गृहं, तं से णत्थि अणगारो।

(दञ्चू पृ २३४)

जिसके स्वयं का अगार—घर नहीं होता, वह अनगर है। (द्र. श्रमण)

अनवस्थाप्य—तपस्यापूर्वक पुनर्दीक्षा। प्रायश्चित्त का एक भेद। (द्र. प्रायश्चित्त)

अनशन—अल्पकालिक अथवा यावज्जीवन आहार का परिहार।

५. इंगिनी अनशन

६. भक्तप्रत्याख्यान

० परिभाषा

० विधि

७. अनशन के परिणाम

\* अनशन क्यों? (द्र. आहार)

\* अनशन : ब्राह्म तप का भेद (द्र. तप)

\* अनशन से पूर्व संलेखना (द्र. संलेखना)

\* अनशन और आलोचना (द्र. आलोचना)

\* अनशन और प्रतिक्रमण (द्र. प्रतिक्रमण)

\* प्रायोपगमन आवि अनशन : मरण के प्रकार (द्र. मरण)

\* तीर्थंकरों के प्रायोपगमन अनशन (द्र. तीर्थंकर)

१. अनशन की परिभाषा

असणं --- भोषणं । तस्स परिच्चातो अणसणं ।

(दञ्चू पृ १२)

जं न असिज्जइ अणसणं, णो आहारिज्जइत्ति वुत्तं भवति।

(दञ्चू पृ २१)

अशन का अर्थ है—भोजन। उसका परित्याग करना अनशन है।

किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण न करना अनशन है।

अनशन के प्रकार

इत्तिरिया मरणकाले, दुविहा अणसणा भवे।

इत्तिरिया सावकंखा, निरवकंखा विइज्जिया ॥

(उ ३०।९)

तं दुविहं इत्तिरियं, आवकहियं च।

(दञ्चू पृ १२)

अनशन के दो प्रकार हैं—

१. इत्वरिक, २. मरण काल अथवा यावत्कथिक।

इत्वरिक सावकांक्ष (अनशन के पश्चात् भोजन की इच्छा से मुक्त) और यावत्कथिक निरवकांक्ष (भोजन की इच्छा से मुक्त) होता है।

२. इत्वरिक अनशन की परिभाषा

इत्तरियं णाम परिमितकालियं, तं चउत्थाउ आरद्धं जाव छम्मासा।

(दञ्चू पृ २१)

१. अनशन

० परिभाषा

० प्रकार

२. इत्वरिक अनशन

० परिभाषा

० प्रकार

३. यावत्कथिक अनशन : सविचार-अविचार...

० प्रकार - प्रायोपगमन, इंगिनी, भक्तप्रत्याख्यान।

४. प्रायोपगमन अनशन

० परिभाषा

० प्रकार

० विधि

० प्रायोपगमन का वैशिष्ट्य

सीमित अवधि तक किया जाने वाला अल्पकालिक अनशन इत्वरिक कहलाता है। इसकी अवधि है—उपवास से छह मास पर्यन्त।

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छन्विहो ।  
सेद्धितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥  
तत्तो य वग्गवग्गो उ, पंचमो छट्ठो पडण्णतवो ।  
मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥

(उ ३०/१०, ११)

इत्वरिक तप संक्षेप में छह प्रकार का है—

- |             |               |
|-------------|---------------|
| १. श्रेणितप | ४. वर्गतप     |
| २. प्रतरतप  | ५. वर्गवर्गतप |
| ३. घनतप     | ६. प्रकीर्णतप |

इत्वरिक तप नाना प्रकार के मनोवांछित फल देने वाला होता है। (द्र तप)

### ३. यावत्कथिक अनशन : सविचार-अविचार....

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा विद्याहिया ।  
सवियारअवियारा, कायचिट्ठं पई भवे ।  
अह्वा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया ।  
नीहारिमणीहारी, आहारच्छेओ य दोसु वि ॥

(उ ३०/१२, १३)

कायचेष्टा के आधार पर यावत्कथिक (यावज्जीवन) अनशन के दो भेद होते हैं—

सविचार—हलन-चलन सहित ।

अविचार—निश्चल, स्थिर ।

अथवा इसके दो भेद होते हैं—

सपरिकर्म—शुश्रूषा या संलेखना सहित ।

अपरिकर्म—शुश्रूषा या संलेखना रहित ।

अविचार अनशन के दो भेद होते हैं—

निर्हीरि—उपाश्रय में किया जाने वाला ।

अनिर्हीरि—उपाश्रय के बाहर गिरिकन्दरा आदि एकान्त स्थानों में किया जाने वाला ।

आहार का त्याग दोनों (सविचार, अविचार अथवा सपरिकर्म, अपरिकर्म) में होता है ।

### सपरिकर्म-अपरिकर्म—

सह परिकर्मणा—स्थाननिषीदनत्वग्वर्त्तनादिना विश्रामणादिना च वर्त्तते यत्तत्सपरिकर्म अपरिकर्म च तद्विपरीतम् ।

(उशावृ प ६०२)

जिसमें उठना, बैठना, सोना आदि क्रियाएँ होती हैं,

शरीर की परिचर्या, शुश्रूषा की जाती है, वह सपरिकर्म अनशन है ।

जिसमें शारीरिक परिचर्या, शुश्रूषा नहीं की जाती, वह अपरिकर्म अनशन है ।

यद्वा परिकर्म—सलेखना सा यत्रास्ति सत्सपरिकर्म....। व्याघाते गिरिभित्तिपतनाभिघातादिरूपे संलेखनामविधायैव भक्तप्रत्याख्यानानादि क्रियते तदपरिकर्म ।

(उशावृ प ६०३)

संलेखनापूर्वक किया जाने वाला अनशन सपरिकर्म है ।

शिलाखंड, भित्तिपतन आदि का व्याघात होने पर संलेखना किये बिना जो तत्काल अनशन किया जाता है, वह अपरिकर्म है ।

### प्रकार

आवकहियं—जावज्जीविगं, तं तिविहं—

पादोवगमणं इंगिणिमरणं भक्तपच्चक्खारणं ।

(दञ्चू पृ १२)

यावत्कथिक—यावज्जीवन अनशन के तीन प्रकार हैं—

प्रायोपगमन, इगिनीमरण, भक्तप्रत्याख्यान ।

### ४. प्रायोपगमन अनशन की परिभाषा

पाओवगमणं णाम जो निप्पडिकम्मो पादउव्व जओ पडिओ तओ पडिओ चेव ।

(दञ्चू पृ २१)

प्रायोपगमन अनशन निष्प्रतिकर्म होता है। इसको स्वीकार करने वाला साधक जहाँ अनशन स्वीकार करता है, वहीं वृक्ष की भांति निश्चेष्ट होकर पड़ा रहता है।

तं चिय होइ तहच्चिय णवरं चलणं परप्पओगाओ ।

वायाईहि तस्स व पडिणीयाईहि तह तस्स ॥

(उशावृ प ६०३)

पर-प्रयोग के द्वारा ही उसमें हलन-चलन होती है। जैसे वायु के द्वारा वृक्ष प्रकंपित होता है, वैसे ही वह साधक प्रत्यनीक—देवकृत, मनुष्यकृत अथवा अन्यकृत परिस्थितियों से ही प्रकम्पित होता है ।

### प्रकार

तं दुविहं—वाघातिमं निव्वाघातिमं च ।

(दञ्चू पृ १२)

प्रायोपगमन अनशन के दो प्रकार हैं—

१. सब्याघात २. निर्व्याघात ।

**सव्याघात**

वाधातिमं जं आउर्यं पदुष्पंतं बला उवक्कामेति,  
वाधिगहितो वेयणाणहितासे वेहासादी वा करेति ।

(दअचू पृ १२)

किसी व्याघात—बाधा के उपस्थित होने पर आयु-कर्म की उदीरणा कर जो अनशन किया जाता है, वह सव्याघात प्रायोपगमन है। अथवा व्याधिग्रस्त साधु वेदना के असह्य हो जाने पर वैहायस आदि मरण-प्रकारों को अपनाता है, वह सव्याघात अनशन है।

**निर्व्याघात**

निव्वाघातं सुत्तऽत्थ-तदुभयाणि गेष्हिऊण अब्बो-  
च्छित्ति कातुं जरापरिणतो करेति । (दअचू पृ १२)

मुनि अपने गुरु के पास सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ की स्वयं वाचना लेता है तथा सूत्रार्थ परम्परा की अविच्छिन्नता के लिए शिष्यों को वाचना देता है, फिर वृद्धावस्था में प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करता है—यह निर्व्याघात अनशन है।

**निर्हारी-अनिर्हारी—**

तिण्णि वि णीहारिमा अनीहारिमा वा ।

(दअचू पृ १२)

भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन—ये तीनों प्रकार के अनशन निर्हारी और अनिर्हारी—दोनों प्रकार के होते हैं।

निर्हारी—गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादेर्विहिगमनं  
तद्विद्यते यत्र तन्निर्हारी । तदन्यदनिर्हारी यदुत्थातुकामे  
ब्रजिकादी विधीयते । एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपोपगमन-  
विषयम् । (उशावृ प ६०३)

प्रायोपगमन अनशन दो प्रकार का है—

निर्हारी—उपाश्रय में किया जाने वाला अनशन ।  
जिससे मृत्यु के पश्चात् उसका बाहर निर्हरण किया जा  
सके—बाहर ले जाया जा सके ।

अनिर्हारी—ग्राम से बाहर गिरि, कंदरा आदि  
एकान्त स्थानों में किया जाने वाला अनशन ।

**प्रायोपगमन की विधि**

अभिवदिऊण देवे जहाविहं सेसए य गुरुमाई ।

पच्चक्खाइत्तु ततो तयंतिए सव्वमाहारं ॥

समभावमि ठियप्पा सम्मं सिद्धंतभणितमग्गेण ।

गिरिकंदरं तु गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥

सव्वत्थापडिबद्धो दंडाययमादिठाणमिह ठाउं ।

यावज्जीवं चिट्ठइ णिच्चिट्ठो पायवसमाणो ॥

(उशावृ प ६०२)

प्रायोपगमन अनशन करने वाला मुनि अर्हत् और गुरु को यथाविधि वंदन कर उनके पास चारों आहार का प्रत्याख्यान करता है। वह समभाव में स्थित हो सर्वथा अप्रतिबद्ध हो जाता है। फिर आगमिक विधि से गिरिकन्दरा में जाकर, दण्डायत आदि में से किसी एक आसनमुद्रा में स्थित हो जाता है। जीवनपर्यन्त वह पादप के समान निश्चेष्ट होकर वहीं, उसी मुद्रा में स्थित रहता है।

**प्रायोपगमन का वैशिष्ट्य—**

भक्तपरिण्णा इंगिणी पाओवगमं च तिण्णि मरणाइं ।

कन्नसमज्झिमजेट्ठा धिइसंघयणेण उ विसिट्ठा ॥

(उनि २२५)

भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन—ये तीनों मरण क्रमशः विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्टतम हैं। धृति (चित्त-स्वास्थ्य) और संहनन (शरीर-सामर्थ्य) की अपेक्षा भक्तपरिज्ञा जघन्य, इंगिनी मध्यम तथा प्रायोपगमन उत्तम मरण है।

पढमंमि य संघयणे वट्ठंते सेलकुडुसमाणे ।

तेसिपि य वोच्छेओ चोइसपुव्वीण वोच्छेए ॥

(उशावृ प २३६)

शैलकुडुय के समान मज्जबूत वज्रऋषभनाराच संहनन वाला मुनि ही प्रायोपगमन अनशन कर सकता है। चौदह पूर्वों के विच्छेद के साथ ही इस प्रथम संहनन का भी विच्छेद हो गया।

पुव्वभविग्रवेरेणं देवो साहरइ कोऽवि पायाले ।

मा सो चरिमसरीरो न वेयणं क्किपि पावेज्जा ॥

देवो नेहेण नयइ देवारण्णं व इंदभवणं वा ।

जहियं इट्ठा कंता सव्वसुहा हुंति सुहभावा ॥

उप्पण्णे उवसग्गे दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य ।

सव्वे पराजिणित्ता पाओवगया परिहरंति ॥

पुव्वावरउत्तरोहं दाहिणवाएहि आवडंतेहि ।

जह नवि कंपइ मेरु तह भाणातो नवि चलंति ॥

(उशावृ प २३६)

० पूर्व जन्म के वैर की स्मृति होने पर कोई देव प्रायोपगमन अनशन में स्थित मुनि का संहरण कर उसे पाताल में ले जाता है, तब भी वह चरमशरीरी मुनि किसी वेदना का संवेदन नहीं करता ।

० कोई देव स्नेहवश उसे देवकानन अथवा इन्द्रभवन में ले जाता है, जहाँ सब प्रकार के सुख उपलब्ध हैं, वहाँ भी वह उन कामभोगों में लुब्ध नहीं होता ।

० वह दैविक, मानुषिक और तैरिषिक उपसर्गों से अभिभूत नहीं होता ।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—चारों दिशाओं से आने वाली वायु से जैसे मेह प्रकंपित नहीं होता, वैसे ही उपसर्ग आने पर वह मुनि ध्यान से विचलित नहीं होता ।

## ५. इङ्गिनीमरण

इंगियमरणविहाणं आपव्वज्जं तु वियडणं दाउं ।  
संलेहणं च काउं जहासमाही जहाकालं ॥  
पच्चक्खति आहारं चउव्विहं णियमओ गुरुसगासे ।  
इंगियदेसंमि तथा चेदंठिं हु इंगियं कुणइ ॥  
उव्वत्तइ परियत्तइ काइयामाईसु होइ उ विभासा ।  
किच्चपि अत्पणुच्चिय जुंजइ नियमेण धीबलिओ ॥

(उशावृ प ६०२)

इङ्गिनीमरण अनशन के लिए उद्यत मुनि गुरु के पास आलोचना कर संलेखना प्रारंभ करता है । फिर अवसर देखकर यथासमाधि गुरु के समक्ष नियमतः चारों आहारों (अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य) का प्रत्याख्यान करता है । वह इंगित/निदिष्ट सीमित स्थान में सीमित प्रवृत्ति करता है । वह धृतिस्मपन्न मुनि उद्वर्तन-परिवर्तन आदि क्रियाएं तथा अपनी सारी आवश्यक प्रवृत्तियां स्वयं करता है ।

## ६. भक्तप्रत्याख्यान की परिभाषा

सव्वं च असण्णणं चउव्विहं जा य बाहिरा उव्वही ।  
अन्धितरं च उवाहिं जाव्वजीवं च वोसिरे ।

(उशावृ प २३५)

भक्तपच्चक्खाणं नियमा सपडिकम्मं । पडिकम्मं उव्वत्तण-परियत्तणादि । (दअचू पृ १२)

भक्तपरिज्ञा अनशन में चारों आहार (अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य), बाह्य तथा आभ्यन्तर उपधि का याव-ज्जीवन के लिए त्याग किया जाता है ।

भक्तप्रत्याख्यान अनशन नियमतः सप्रतिकर्म होता है । प्रतिकर्म का अर्थ है—उद्वर्तन-परिवर्तन (करवट बदलना) आदि क्रियाएं करना ।

## विधि

भक्तप्रत्याख्याने गच्छमध्यवर्ती गुरुदत्तालोचनो मरणायोद्यतो विधिना संलेखना विधाय ततस्त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याचष्टे । स च समाश्रितमृदुसंस्तारकः समुत्सृष्टशरीराद्युपकरणममत्वः स्वयमेवोद्ग्राहितनमस्कारः समीपवर्त्तिसाधुदत्तनमस्कारो वा । सत्यां शक्तौ स्वयमुद्वर्त्तते । शक्तिविकलतायां चापरैरपि किञ्चित्कारयति ।

(उशावृ प ६०२)

भक्तप्रत्याख्यान अनशन के लिए उद्यत मुनि संघ में रहता हुआ गुरु के पास आलोचना कर विधिपूर्वक संलेखना करता है । फिर तीनों अथवा चारों आहारों का त्याग करता है । वह मृदु संस्तारक पर सोता है, शरीर और उपकरणों पर ममत्व नहीं करता, नमस्कार महामंत्र का स्वयं जप करता है तथा दूसरों से सुनता है । शक्ति होने पर स्वयं अपना कार्य करता है । शक्ति न होने पर दूसरों से भी अपना कार्य करवाता है ।

## ७. अनशन के परिणाम

भक्तपच्चक्खाणेण भते ! जीवे कि जणयइ ? भक्त-पच्चक्खाणेण अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ । (उ २९/४१)

भन्ते ! भक्तप्रत्याख्यान अनशन से जीव क्या प्राप्त करता है ? भक्तप्रत्याख्यान से जीव अनेक सैकड़ों जन्म-मरणों का निरोध करता है ।

तथाविधदुदाध्यवसायतया संसारात्पत्वापादनात् ।

(उशावृ प ५८९)

भक्तप्रत्याख्यान अनशन का परिणाम है—जन्म परम्परा का अल्पीकरण । इसका हेतु है—आहार-त्याग तथा ममत्वत्याग का दृढ़ अध्यवसाय ।

एयं पच्चक्खाणं अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं ।  
वेमाणितो व देवो हवेज्ज अहवाऽवि सिञ्चिऊज्जा ॥

(उशावृ प २३६)

अनशनपूर्वक जीवन यात्रा सम्पन्न करने वाला मुनि या तो वैमानिक देव होता है या वह सिद्ध होता है ।

## अनाचार—विहित आचार का अतिक्रमण ।

१. अनाचार के अर्थ

२. बावन अनाचार

३. अनाचार के हेतु

\* औद्देशिक आदि अनाचार : एषणा के दोष

(द्र. एषणा)

\* अनाचीर्ण का प्रतिक्रमण

(द्र. प्रतिक्रमण)

\* आचार के स्थान

(द्र. आचार)

## १. अनाचार के अर्थ

अणायारो अकरणीयं वत्थु । (दअचू पृ १९३)

अणायारो उम्मगोत्ति वत्तं भवइ ।

(दजिचू पृ २८५)

अनाचारं सावद्ययोगम् । (दहावृ प २३३)

अनाचार के तीन अर्थ हैं—अकरणीय कार्य, उन्मार्ग-गमन और सावद्य प्रवृत्ति ।

## २. बावन अनाचार

उद्देशियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य ।

राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे ॥

सन्निही गिहिमत्ते य, रायपिडे किमिच्छए ।

संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥

अट्टावए य नालीय, छत्तस्स य धारणट्टाए ।

तेगिच्छं पाणहा पाए, समारंभं च जोइणो ॥

सेज्जायरपिडं च, आसंदीपलियंकए ।

गिहंतरनिसेज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥

गिहिणो वेयावडियं जा य आजीववित्तिया ।

तत्तानिन्वुडभोइत्तं आउरस्सरणाणि य ॥

मूलए सिगवेरे य, उच्छुखंडे अनिन्वुडे ।

कंदे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥

सोवच्चले सिधवे लोणे, रोमालोणे य आमए ।

सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए ॥

धूवणेत्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।

अंजणे दंतवणे य, गायभंगविभूसणे ॥

(द ३।२-९)

बावन अनाचार जो निग्रन्थ के लिए अनाचीर्ण हैं वे इस प्रकार हैं—

१. औद्देशिक—निग्रन्थ के निमित्त बनाया गया आहार आदि लेना ।

२. क्रीतकृत—निग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया आहार आदि लेना ।

३. नित्याग्र—आदरपूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला आहार आदि लेना ।

४. अभिहृत—निग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया आहार आदि लेना ।

५. रात्रि-भक्त—रात्रि-भोजन करना ।

६. स्नान—नहाना ।

७. गंध—गंध सूघना या गंध-द्रव्य का विलेपन करना ।

८. माल्य—माला पहनना ।

९. वीजन—पंखा झलना ।

१०. सन्निधि—खाद्यवस्तु का संग्रह करना—रात-बासी रखना ।

११. गृहि-अमत्र—गृहस्थ के पात्र में भोजन करना ।

१२. राजपिण्ड—मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना ।

१३. किमिच्छक—'कौन क्या चाहता है?' यों पूछकर दिया जाने वाला भोजन आदि लेना ।

१४. संवाधन—अंग-मर्दन करना ।

१५. दंत-प्रधावन—दांत पखारना ।

१६. संप्रच्छन—गृहस्थ को कुशल पूछना ।

१७. देह-प्रलोकन—दर्पण आदि में शरीर देखना ।

१८. अष्टापद—शतरंज खेलना ।

१९. नालिका—नलिका से पासा डाल कर जुआ खेलना ।

२०. छत्र—विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना ।

२१. चैकित्स्य—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना ।

२२. उपानत्—जूते पहनना ।

२३. ज्योतिःसमारम्भ—अग्नि जलाना ।

२४. शय्यातरपिण्ड—स्थान-दाता के घर से भिक्षा लेना ।

२५. आसंदी—भञ्जिका पर बैठना ।  
 २६. पर्यंक—पलंग पर बैठना ।  
 २७. गृहांतरनिषद्या—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर में बैठना ।  
 २८. गात्र-उद्वर्तन—उबटन करना ।  
 २९. गृहि-वैयापृत्य—गृहस्थ को भोजन का संविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना ।  
 ३०. आजीववृत्तिता—जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन ले भिक्षा प्राप्त करना ।  
 ३१. तप्त-अनिर्वृतभोजित्व—अर्घं पक्व सजीव वस्तु का उपभोग करना ।  
 ३२. आतुरस्मरण—आतुर-दशा में भुक्त भोगों का स्मरण करना ।  
 ३३-३९. सजीव मूली, अदरक, इक्षुखंड, कंद और मूल; अपक्व फल और बीज—इन्हें लेना व खाना ।  
 ४०-४५. अपक्व सौचर्चल नमक, सैन्धव नमक, तमा नमक, समुद्र का नमक, ऊपर भूमि का नमक तथा काला नमक—इन्हें लेना व खाना ।  
 ४६. धूम-नेत्र—धूम्रपान की नलिका रखना ।  
 ४७. वमन—रोग की संभावना से बचने के लिए तथा रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना ।  
 ४८. वस्तिकर्म-विरेचन—अपान-मार्ग से तैल आदि चढ़ाना और विरेचन करना ।  
 ४९. अंजन—आंखों में अंजन आंजना ।  
 ५०. दंतवण—दांतों को दतीन से धिसना ।  
 ५१. गात्र-अभ्यंग—शरीर पर तैल-मर्दन करना ।  
 ५२. विभूषण—शरीर को अलंकृत करना ।

### ३. अनाचार के हेतु

उद्देसियादि विभूषणतं अणायरणकारणाणि—उद्देसिते सत्त्वहो । कीतकडे गवादिअहिकरणं । णीताए तददृमुपक्वडणं । आहडे छक्कायवहो । रातिभत्ते सत्त-विराहणा । सिणाणे विभूसाउप्पीलावणादि । गंध-मल्ले सुहृमघाय-उड्डाहा । वीयणे संपादिमवायुवहो । सण्णिहीए पिपीलियादिवहो । गिहिमत्ते आउक्कायवहो, हिय-णट्ठे य दवावणं । रायपिडे संबाहेण विराहणा उक्कोसलंभे य एसणाघातो । संबाहणे सुत्तत्थपलिमंथो

(अ)तन्भावणं च, दंतपधोवणे दंत-विभूसा । संपुच्छणे पावाणुमोदणं । संलोयणेण बंभपीडा । अट्टावय-णालीयाए गेण्णादतो उड्डाहो य । छत्ते उड्डाहो गव्वो य । तेगिच्छे सुत्त-ज्ज्यपलिमंथो । उवाहणाहिं गव्वादि । जोतिसमारभे कायवहो । सेज्जातरपिडे एसणादोसा । आसंदी-पलियंकेसु सुसिरदोसा । गिहंतरणसेज्जाए अगुत्ती बंभचेरस्स संका-दतो य । गाउव्वट्टणाए गायविभूसा । गिहिणो वेतावडिए अहिकरणं । आजीववित्ती अणिस्संगता । तत्तानिव्वुड-भोइयत्ते सत्त्वहो । आउरसरणे उप्पव्वावणादि । मूलादिग्गहणे वणस्सतिघातो । सोवच्चलादीणं पुढवि-कायवहो । धूवणादि विभूसा । एते दोसा इति ।

(दअचू पृ ६२, ६३)

अनाचार के हेतु—

१. औद्देशिक—जीववध ।
२. क्रीतकृत—अधिकरण ।
३. नित्याग्र—मुनि के लिए भोजन का समारंभ ।
४. आहृत—षट्जीवनिकाय का वध ।
५. रात्रिभक्त—जीववध ।
६. स्नान—विभूषा और उत्प्लावन ।
७. गंधमाल्य—सूक्ष्म जीवों की घात और लोकापवाद ।
८. वीजन—संपातिम वायु का वध ।
९. सन्निधि—पिपीलिका आदि जीवों का वध ।
१०. गृहस्थ का भाजन—अपकायिक जीवों का वध ।  
कोई उस पात्र का हरण कर ले या नष्ट हो जाए तो दूसरा दिलाना होता है ।
११. राजपिंड—भीड़ के कारण विराधना । उत्कृष्ट भोजन के प्राप्त होने से एषणा का घात ।
१२. संबाधन—सूत्र और अर्थ की हानि तथा शरीरसक्ति का विकास ।
१३. दंतधावन—दंत-विभूषा ।
१४. संप्रश्न—पाप का अनुमोदन ।
१५. संलोकन—ब्रह्मचर्य का घात ।
१६. द्यूत—निग्रह आदि तथा लोकापवाद ।
१७. नालिकाचूत—निग्रह आदि तथा लोकापवाद ।



१८. छत्र—लोकपवाद, अहंकार ।
१९. चिकित्सा—सूत्र और अर्थ की हानि ।
२०. उपानत्—गर्व आदि ।
२१. अग्निसमारंभ—जीववध ।
२२. शय्यातरपिड—एषणा दोष ।
२३. आसन्दी और पर्यङ्क—शुषिर में रहे जीवों की विराधना की संभावना ।
२४. गृहान्तरनिषघा—ब्रह्मचर्य की अगुप्ति, शंका आदि दोष ।
२५. गात्र-उद्वर्तन - विभूषा ।
२६. गृहिवैयापृत्य—अधिकरण ।
२७. अजीववृत्तित्ता—आसक्ति ।
२८. तप्तानिर्वृतभोजित्व— जीववध ।
२९. आतुरस्मरण—दीक्षात्याग आदि ।
३०. मूल आदि का ग्रहण—वनस्पति का घात ।
३१. सौवर्चल आदि नमक का ग्रहण—पृथ्वीकाय का विषात ।
३२. धूपन आदि— विभूषा ।

अनाथ—(द्र. नाथ)

अनादिश्रुत—वह श्रुत जो आदि रहित है।  
श्रुतज्ञान का एक भेद । (द्र. श्रुतज्ञान)

अनानुगामिक—अवधिज्ञान का एक प्रकार, जो  
ज्ञाता का अनुगमन नहीं करता ।  
(द्र. अवधिज्ञान)

अनानुपूर्वी—(द्र. आनुपूर्वी)

अनित्य अनुप्रेक्षा—पदार्थों की नश्वरता का  
अनुचिन्तन । (द्र. अनुप्रेक्षा)

अनिवृत्तिकरण—ग्रंथि-भेद होने पर जिस परिणाम  
से अन्तर्मुहूर्त्त स्थिति वाले  
मिथ्यात्व दलिकों का पूर्ण उप-  
समन किया जाता है । करण का  
तीसरा प्रकार । (द्र. करण)

अनिवृत्तिबाधर—जिस जीव के स्थूल कषाय का थोड़ा  
अंश बाकी रहता है, उसकी  
आत्म-विशुद्धि । नौवां गुणस्थान ।  
(द्र. गुणस्थान)

अनुगम—व्याख्या का तीसरा द्वार । अस्तित्व,  
नास्तित्व, द्रव्यमान, क्षेत्र, स्पर्शना, काल  
आदि अनेक पहलुओं से व्याख्या करना ।

(द्र. अनुयोग)

अनुत्तरोपपातिक—अनुत्तर विमान में उत्पन्न होने  
वाले देव । (द्र. देव)

अनुत्तरोपपातिकदशा—जैन आगम, नौवां अंग ।  
(द्र. अंगप्रविष्ट)

अनुप्रेक्षा—मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों  
का अनुचिन्तन ।

१. बारह अनुप्रेक्षाएं

२. अनित्य अनुप्रेक्षा

३. अशरण अनुप्रेक्षा

४. संसार अनुप्रेक्षा

५. एकत्व अनुप्रेक्षा

६. अन्यत्व अनुप्रेक्षा

७. अशौच अनुप्रेक्षा

८. आश्रव अनुप्रेक्षा

९. संवर अनुप्रेक्षा

१०. निर्जरा अनुप्रेक्षा

११. धर्म अनुप्रेक्षा

१२. लोक अनुप्रेक्षा

१३. बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

१४. अनुप्रेक्षा के परिणाम

\* अनुप्रेक्षा : स्वाध्याय का एक प्रकार (द्र. स्वाध्याय)

\* धर्मशुक्ल ध्यान की अनुप्रेक्षा (द्र. ध्यान)

\* अनुप्रेक्षा और भावना (द्र. भावना)

१. बारह अनुप्रेक्षाएं

.....अणिच्चाद्भावणा.....आदिशब्दादशरणकत्व-

संसारपरिग्रहः, एताश्च द्वादशानुप्रेक्षा भावयितव्याः ।

(जावहाव् २ पृ ७९)

अनुप्रेक्षा के बारह प्रकार हैं—

१. अनित्य

७. आश्रव

२. अशरण

८. संवर

३. संसार

९. निर्जरा

४. एकत्व

१०. धर्म

५. अन्यत्व

११. लोक

६. अशौच

१२. बोधिदुर्लभ

## २. अनित्य अनुप्रेक्षा

संगविजयणिमित्तमणिच्यताणुप्पेहं आरभते—

सव्वट्ठाणाइं असासताइं इह चेव देवलोणे य ।

सुर-असुर-नरादीणं रिद्धिविसेसा मुहाइं वा ॥

(दअचू पृ १८)

आसक्ति-विलय के लिए अनित्य अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है—

सब स्थान अशाश्वत हैं—चाहे इहलोक हो या देवलोक । सुर, असुर, मनुष्य आदि की ऋद्धि, सुख—सब अनित्य हैं ।

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।

एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

कुसग्गे जह ओसंबिदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।

एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

(उ १०।१,२)

रात्रियां बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पत्ता जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

कुश की नोक पर लटकते हुए ओस-बिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी अल्पकालिक है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

जीवियं चेव रुवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।

जत्थ तं मुज्झसी रायं, पेच्चत्थं नावबुज्झसे ॥

(उ १८।१३)

राजन् ! तू जहां मोह कर रहा है, वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है । तू परलोक के हित को क्यों नहीं समझ रहा है ?

परिजूरियपेरंतं, चलंतबेटं पडंतनिच्छीरं ।

पत्तं वसणप्पत्तं कालप्पत्तं भणइ गाहं ॥

जह तुम्हे तह अम्हे तुम्हे वि अ होहिहा जहा अम्हे ।

अप्पाहेइ पडंतं पंडुयपत्तं किसलयणं ॥

(अनु ५६९।२,३)

वृत्त से टूटते हुए पीले पत्तों को देख कोंपलों ने उपहास किया, तब पत्तों ने कहा—जरा ठहरो, एक दिन तुम पर भी वही बीतेगी जो आज हम पर बीत रही है ।

परिभवसि किमिति लोकं, जरसा परिजर्जरीकृतशरीरम् ।  
अचिरात् त्वमपि भविष्यसि, यौवनगर्वं किमुद्वहसि ॥

(उसुवृ प १६०)

दूसरों के जरा से जीर्ण शरीर को देख उपहास क्यों करते हो ? एक दिन तुम भी ऐसे ही हो जाओगे, इसलिए यौवन का गर्व मत करो ।

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।

से सोयबले य हायई.....चक्खुबले य हायई.....

.....घाणबले य हायई.....जिम्भबले य हायई.....

.....फासबले य हायई.....सव्वबले य हायई,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥

(उ १०।२१-२६)

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं । श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श—इन पांचों इन्द्रियों की शक्ति तथा पूर्ववर्ती सब प्रकार का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

असासयं दट्ठु इमं विहारं बहुअन्तरायं न य दीहमाउं ।.....

(उ १४।७)

यह मनुष्य-जीवन अनित्य है । इसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है ।

### शरीर की अनित्यता

असासए सरीरम्मि रइं नोवलभामहं ।

पच्छा पुरा व चइयव्वे फेणबुब्बुयसन्निभे ॥

माणुसत्ते असारम्मि वाहीरोणाण आलए ।

जरामरणघत्थम्मि खणं पि न रमामहं ॥

(उ १९।१३,१४)

इस अशाश्वत शरीर में मुझे आनन्द नहीं मिल रहा है । इसे पहले था पीछे जब कभी छोड़ना है । यह पानी के बुलबुले के समान नश्वर है ।

मनुष्य-जीवन असार है, व्याधि और रोगों का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है । इसमें मुझे एक क्षण भी आनन्द नहीं मिल रहा है ।

### काम-भोगों की अनित्यता

अच्चेइ कालो तूरंति राइओ

न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।

उक्किच्च भोगा पुरिसं चयंति

दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

(उ १३।३१)

जीवन बीत रहा है। रात्रियां दीड़ी जा रही हैं। मनुष्यों के भोग भी नित्य नहीं हैं। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे छोड़ देते हैं, जैसे क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी।

कुसग्गमेत्ता इमे कामा सन्निरुद्धमि आउए।  
कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेमं न संविदे ? ॥

(उ ७।२४)

इस अति-संक्षिप्त आयु में ये काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु जितने हैं। फिर भी किस हेतु को सामने रखकर मनुष्य योगक्षेम को नहीं समझता ?

जया सव्वं परिच्चज्ज गंतव्वमवसस्स ते।  
अणिच्चे जीवलोगम्मि कि रज्जम्मि पसज्जसि ? ॥

(उ १८।१२)

राजन् ! तू पराधीन है और इसलिए सब कुछ छोड़कर तुझे चले जाना है, तब इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों राज्य में आसक्त हो रहा है ?

### ३. अशरण अनुप्रेक्षा

धम्मं पिरताणिमित्तं असरणतं चित्तयति —

जम्म-जरा-मरण-भएहउभिद्दुते विविहवाहिसंतत्ते।  
लोगम्मि णत्थि सरणं जिण्णिदवरसासणं मोत्तुं ॥

(दअचू पृ १८)

धर्मनिष्ठा के विकास के लिए अशरण अनुप्रेक्षा की जाती है —

जन्म, जरा और मृत्यु के भय से पीड़ित तथा विविध व्याधियों से संतप्त लोक में अन्य कोई शरण नहीं है। अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म ही सच्ची शरण है।

माया पिया षडुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।  
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥  
(उ ६।३)

जब मैं अपने द्वारा किए गए कर्मों से छिन्न-भिन्न होता हूँ, तब माता-पिता, पुत्रवधू, भाई, पत्नी और पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते।

जहेह सीहो व मियं गहाय,

मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले।

न तस्स माया व पिया व भाया

कालम्मि तम्मिसहरा भवंति ॥

(उ १३।२२)

जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड़ कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को पकड़कर ले जाती है। उस समय उसके माता-पिता या भाई अंशधर नहीं होते—अपने जीवन का भाग देकर उसे बचा नहीं पाते।

सव्वं जगं जइ तुहं सव्वं वावि धणं भवे।

सव्वं पि ते अपज्जत्तं नेव ताणाय तं तव ॥

(उ १४।३९)

यदि समूचा जगत् तुम्हें मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो भी वह तुम्हारी इच्छापूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा और वह तुम्हें त्राण भी नहीं दे सकेगा।

### ४. संसार अनुप्रेक्षा

संसारुब्बेगकरणं संसाराणुप्पेहा—

धी ! संसारो जहियं जुवाणओ परमरूवगव्वियओ।

मरिऊण जायइ किमी तत्थेव कलेवरे नियए ॥

(दअचू पृ १८)

ध्वकार है इस संसार को, जहाँ अपने सौन्दर्य पर अभिमान करने वाला भुवक मृत्यु के पश्चात् अपने ही शरीर में कृमि के रूप में उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार संसार से विरक्त होने के लिए संसार अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है।

अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए।  
कि नाम हंज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा ॥  
(उ ८।१)

अधुव, अशाश्वत और दुःख-बहुल संसार में ऐसा कौन-सा अनुष्ठान है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ ?

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।

अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतवो ॥

(उ १९।१५)

जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। अहो ! यह संसार दुःखमय है। इसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।

समावलाण संसारे, नाणागोत्तासु जाइनु।

कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया ॥

(उ ३।२)

संसारी जीव विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन कर

विविध गोत्र वाली जातियों में उत्पन्न हो, पृथक्-पृथक् रूप से समूचे विश्व का स्पर्श कर लेते हैं—सभी स्थानों में उत्पन्न हो जाते हैं।

जारिसा माणुसे लोए, ताया ! दीसंति वेयणा ।

एत्तो अणंतगुणिया, नरएसु दुक्खवेयणा ॥  
(उ १९/७३)

मनुष्य लोक में जैसी वेदना है, उससे अनन्तगुनी दुःखदायी वेदना नरक में है।

सव्वभवेसु अस्साया, वेयणा वेइया मए ।

निमेसंतरमित्तं पि, जं साया नत्थि वेयणा ॥  
(उ १९।७४)

मैंने सभी जन्मों में दुःखमय वेदना का अनुभव किया है। वहां एक निमेष का अन्तर पड़े उतनी भी सुखमय वेदना नहीं है।

सारीरमाणसा च्चव, वेयणाओ अणंतसो ।

मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥  
(उ १९।४५)

मैंने संसार में भयंकर शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त बार सहा है और अनेक बार दुःख एवं भय का अनुभव किया है।

## ५. एकत्व अनुप्रेक्षा

संबंधिसंगविजताय एगतमणुपेहेति—

एक्को करेति कम्मं, फलमवि तस्सेक्कओ समणुहोइ ।

एक्को जायइ मरइ य, परलोयं एक्कओ जाइ ॥  
(दअचू पृ १८)

जीव अकेला कर्म करता है, अकेला उसका फल भोगता है, अकेला जन्मता है, अकेला मरता है और अकेला ही परलोक में जाता है। इस प्रकार पारिवारिक ममत्व-विसर्जन के लिए एकत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है।

सुहं वसामो जीवामो, जेसि मो नत्थि किच्चण ।

मिहिलाए डज्जमाणीए, न मे डज्जइ किच्चण ॥

बहं खु मुण्णिणो भइं, अणगारस्स भिक्खुणो ।

सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगंतमणुपस्सओ ॥  
(उ ९/१४,१६)

वैराग्य से ओतप्रोत महाराज नमि अभिनिष्क्रमण के समय ब्राह्मण के रूप में उपस्थित देवेन्द्र को एक प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, वे सुखपूर्वक रहते हैं और सुख से जीते हैं। मिथिला जल

रही है, उसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।

सब बन्धनों से मुक्त, 'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं' इस प्रकार एकत्वदर्शी, गृहत्यागी एवं तपस्वी भिक्षु को विपुल सुख होता है।

एकोऽहं न च मे कश्चिन्, नाहमन्यस्य कस्यचित् ।

न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ दृश्योऽस्ति यो मम ॥  
(उशावू प ३०७)

मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है। मैं किसी का नहीं हूँ। मैं उसको नहीं देखता, जिसका मैं हूँ। जो मेरा है, वह दृश्य नहीं है।

एगभूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगो ।

एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥  
(उ १९/७७)

जैसे जंगल में हरिण एकाकी विचरता है, वैसे मैं भी संयम और तप के साथ एकाकी भाव को प्राप्त कर धर्म का आचरण करूंगा।

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,

न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।

एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,

कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥  
(उ १३/२३)

ज्ञाति, मित्रवर्ग, पुत्र और बान्धव—कोई दुःख नहीं बटा सकता। व्यक्ति स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है। क्योंकि कर्म केवल कर्ता का ही अनुगमन करता है। चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेतं गिहं धणधन्नं च सव्वं । कम्मप्पवीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा ॥  
(उ १३/२४)

यह पराधीन आत्मा द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर धान्य, वस्त्र आदि सब कुछ छोड़कर केवल अपने किये कर्मों को साथ लेकर अकेला ही सुखद या दुःखद परभव में जाता है।

संसारभावन्न परस्स अट्टा, साहारणं जं च करेइ कम्मं ।

कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बंधवयं उर्वेति ॥  
(उ ४/४)

संसारी प्राणी अपने बन्धुजनों के लिए जो साधारण कर्म (इसका फल मुझे भी मिले और उनको भी—ऐसा कर्म) करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता नहीं दिखाते—उसका भाग नहीं बंटाते। कर्म करने वाले को ही फल भूगतना पड़ता है।

### ६. अन्यत्व अनुप्रेक्षा

दारानि य सुया चैव, मित्ता य तह बंधवा ।  
जीवंतमणुजीवंति मयं, नाणुव्वयंति य ॥

(उ १८।१४)

स्त्री, पुत्र, मित्र और बांधव जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं। किन्तु वे मृतक का अनुगमन नहीं करते।

तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से,

चिईगयं डहिय उ पावगेणं ।

भज्जा य पुत्ता वि य नायओ थ,

दायारमन्नं अणुसंक्रमंति ॥

(उ १३।२५)

(अपने प्रिय के) उस अकेले और असार शरीर को अग्नि से चिता में जलाकर स्त्री, पुत्र और ज्ञाति किसी दूसरे दाता (जीविका देने वाले) के पीछे चले जाते हैं।

नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया ।

पियरो वि तहा पुत्ते, बंधू रायं ! तवं चरे ॥

(उ १८।१५)

पुत्र अपने मृत पिता को परम दुःख के साथ श्मशान ले जाते हैं और इसी प्रकार पिता भी अपने मृत पुत्रों और बंधुओं को श्मशान ले जाता है। (कोई किसी का नहीं है।) इसलिए हे राजन् ! तू तपश्चरण कर।

### ७. अशौच अनुप्रेक्षा

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।

असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥

(उ १९।१२)

यह शरीर अनित्य है, अशुचि है और अशुचि से उत्पन्न है। यह आत्मा का अशाश्वत आवास तथा दुःख और क्लेशों का भाजन है।

अरई मंडं विसूइया, आर्यका विविहा फुसंति ते ।

विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

(उ १०।२७)

पित्त-रोग, फोड़ा-फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्रघाती रोग शरीर का स्पर्श करते हैं, जिनसे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट होता है। यह शरीर नष्टकरणीय है।

### ८. आश्रव अनुप्रेक्षा

....अज्जत्थहेउं निययस्स बंधो ।

संसारहेउं च वयंति बंधं ॥

(उ १४।१९)

आत्मा के आन्तरिक दोष (आश्रव) ही उसके बन्धन के हेतु हैं और बन्धन ही संसार का हेतु है।

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।

माया गईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥

(उ १।५४)

मनुष्य क्रोध से अधोगति में जाता है। मान से अधम गति होती है। माया से सुगति का विनाश होता है। लोभ से दोनों प्रकार का— ऐहिक और पारलौकिक भय होता है।

एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहि कम्मोहि ।

जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

(उ १०।१५)

प्रमाद-बहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा जन्म-मृत्युमय संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए भगवान् ने कहा— गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

जावंतऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।

लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारंमि अणंतए ॥

(उ ६।१)

जितने अविद्यावान् (मिथ्यात्व से अभिभूत) पुरुष हैं, वे सब दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं। वे दिङ्मूढ की भांति मूढ़ बने हुए इस अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते हैं।

न हु पाणवहं अणुजाणे,

मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं ।

(उ ८।८)

प्राण-बंध का अनुमोदन करने वाला पुरुष कभी भी दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।

### ९. संवर अनुप्रेक्षा

पाणे य नाइवाएज्जा, से समिए त्ति बुच्चई ताई ।

तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥

(उ ८।९)

जो जीवों की हिंसा नहीं करता, उसे 'समित' (संवरयुक्त) कहा जाता है। उससे पाप-कर्म जैसे ही दूर

हो जाते हैं, जैसे उन्नत प्रदेश से पानी ।

पाणवहमुसावाया, अदत्तमेहुणपरिग्गहा धिरओ ।

राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥

(उ ३०१२)

प्राणवध, मृषावाद, अदत्त-ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से विरत जीव अनाश्रव होता है ।

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।

अगारवो य निस्सत्त्वो, जीवो होइ अणासवो ॥

(उ ३०१३)

पांच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, अकषाय, जितेन्द्रिय, ऐश्वर्य आदि का गर्व नहीं करने वाला और निःशक्य जीव अनाश्रव होता है ।

### १०. निर्जरा अनुप्रेक्षा

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।

उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।

भवकीडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

(उ ३०१५, ६)

जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से तथा सूर्य के ताप से सूख जाता है, उसी प्रकार संयमी पुरुष के पाप-कर्मों के आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं ।

तवनारायजुत्तेण, भेतूणं कम्मकंचुयं ।

मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥

(उ ११२२)

तप-रूपी लोह-बाण से युक्त धनुष के द्वारा कर्म-रूपी कवच को भेद कर संग्राम का अन्त करने वाला मुनि संसार से मुक्त हो जाता है ।

### ११. धर्म अनुप्रेक्षा

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिणियत्तई ।

धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥

(उ १४१२४)

जो-जो रात बीत रही है, वह लौटकर नहीं आती । धर्म की आराधना करने वाले की रात्रियां सफल बीतती हैं ।

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई ।

जाविदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

(द ८१३५)

जब तक बुढ़ापा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियां क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करने में व्यक्ति तत्पर रहे ।

अद्धानं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जई ।

गच्छंतो सो सुही होइ, छुहातण्हाविज्जिओ ॥

एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।

गच्छंतो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥

(उ १९१२०, २१)

जो मनुष्य पाथेय के साथ यात्रा का लम्बा मार्ग लेता है, वह भूख-प्यास से पीड़ित नहीं होता और सुख-पूर्वक यात्रा करता है ।

इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म की आराधना कर परभव में जाता है, वह अल्पकर्म वाला और वेदना रहित होकर जीवन-यापन करता हुआ सुखी होता है ।

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।

विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिविज्जया ।

वाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

(उ १११४, १५)

जैसे कोई गाड़ीवान् समतल राजमार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड़कर विषम मार्ग से चल पड़ता है, वह गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है ।

इसी प्रकार धर्म का उल्लंघन कर, अधर्म को स्वीकार कर, मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञानी धुरी टूटे हुए गाड़ीवान् की तरह शोक करता है ।

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।

निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तं व्व पावए ॥

(उ ३११२)

शुद्धि उसे प्राप्त होती है, जो ऋजुभूत होता है । धर्म उसमें ठहरता है, जो शुद्ध होता है । जिसमें धर्म ठहरता है, वह घृत से अभिषिक्त अग्नि की भांति परम निर्वाण-समाधि की तेजस्विता को प्राप्त होता है ।

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो,

जहि पवन्ना न पुणढभवामो ।

अणागयं नेव य अत्थि किंचि,

सट्ठाखमं णे विणइत्तु रागं ॥

(उ १४१२८)

भृगुपुत्रों ने अपने पिता से कहा—हम आज ही उस मुनि-धर्म को स्वीकार कर रहे हैं, जहां पहुंच कर फिर

जन्म लेना न पड़े। भोग हमारे लिए अप्राप्त नहीं हैं—  
हम उन्हें अनेक बार प्राप्त कर चुके हैं। राग-भाव को दूर  
कर श्रद्धापूर्वक श्रेय की प्राप्ति के लिए हमारा प्रयत्न युक्त  
है।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं ।

जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥

(उ १४।२७)

कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के  
साथ मैत्री हो, जो मौत के मुंह से बच कर पलायन  
कर सके और जो जानता हो—मैं नहीं मरूंगा।

## १२. लोक अनुप्रेक्षा

पंचत्थिकायमइयं, लोगमणाइण्हणं जिणक्खायं ।

णामाइभेयविहियं, तिविहमहोलोयभेयाइं ॥

(आवहावृ २ पृ ६३)

जहां धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय,  
पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये पांच  
आस्तिकाय हैं, वह लोक है। उसकी न आदि है और न  
अंत। उसके तीन विभाग हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक  
और अधोलोक।

## १३. बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं ।

बहवे दसुया मिलेक्खुया..... ॥

लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिदियया हु दुल्लहा ।

विगल्लिदियया हु दीसई..... ॥

अहीणपंचिदियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा ।

कुत्तित्थिनिसेवए जणे..... ॥

लद्धूण वि उत्तमं सुइ, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।

मिच्छत्तनिसेवए जणे..... ॥

धम्मं पि हु सद्दहंतया, दुल्लहया काएण फासया ।

इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम ! भा पमायए ॥

(उ १०।१६-२०)

मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। उसके मिलने पर भी आर्यत्व  
पाना और भी दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मनुष्य होकर  
भी दस्यु और म्लेच्छ होते हैं।

आर्य देश में जन्म मिलने पर भी पांचों इन्द्रियों से  
पूर्ण स्वस्थ होना दुर्लभ है। बहुत सारे लोग इन्द्रियहीन  
दीख रहे हैं।

पांचों इन्द्रियां पूर्ण होने पर भी उत्तम धर्म की

श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग कुतूहियों की सेवा  
करने वाले होते हैं।

उत्तम धर्म की श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा होना  
और अधिक दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यात्व का  
सेवन करने वाले होते हैं।

उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण  
करने वाले दुर्लभ हैं। इस लोक में बहुत सारे लोग  
कामगुणों में मूर्च्छित होते हैं, इसलिए भगवान् ने कहा—  
हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

इह जीवियं अणियमेत्ता, एब्भट्ठा समाहिजोएहि ।

ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जंति आसुरे काए ॥

(उ ८।१४)

जो इस जन्म में जीवन को अनियंत्रित रखकर  
समाधि-योग से परिभ्रष्ट होते हैं, वे कामभोग और  
रसों में आसक्त बने हुए पुरुष असुर-काय में उत्पन्न होते  
हैं।

तत्तो वि य उवट्ठिता, संसारं बहुं अणुपरियडंति ।

बहुकम्मलेवल्लिप्तानं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसि ॥

(उ ८।१५)

वहां से निकल कर भी वे संसार में बहुत पर्यटन  
करते हैं। वे प्रचुर कर्मों के लेप से लिप्त होते हैं।  
इसलिए उन्हें बोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

## १४. अनुप्रेक्षा के परिणाम

अणुप्येहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्यगडीओ  
धणियबंधणबद्धाओ सिद्धिलबंधणबद्धाओ पकरेइ,  
दीहकालट्टिइयाओ हस्सकालट्टिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणु-  
भावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुपएसग्गाओ अप्पपए-  
सग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय वंधइ सिय नो  
बंधइ । असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो  
उवत्तिणाइ । अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं  
संसारकंतारं खिप्पामेव वीइवयइ । (उ २१।सू० २३)

अनुप्रेक्षा के छह परिणाम हैं—

१. कर्म के गाढ बंधन का शिथिलीकरण।
२. दीर्घकालीन कर्म-स्थिति का अल्पीकरण।
३. तीव्र कर्म-विपाक का मंदीकरण।
४. प्रदेश-परिमाण का अल्पीकरण।
५. असाता वेदनीय कर्म के उपचय का अभाव।
६. संसार का अल्पीकरण।

**अनुमान—हेतु से होने वाला साध्य का ज्ञान ।**

१. अनुमान की परिभाषा

२. अनुमान के प्रकार

० पूर्ववत्

० शेषवत्

० दृष्टसाधर्म्यवत्

३. पूर्ववत् अनुमान

० शेषवत् के प्रकार और दृष्टांत

५. दृष्टसाधर्म्यवत्

६. अनुमान के प्रकार—सादृश्य आदि

\*अनुमान : ज्ञानगुणप्रमाण का भेद (३. ज्ञान)

१. अनुमान की परिभाषा

....लिंगमणुमाणं....॥ (विभा ४६९)

लिंगग्रहणसंबंधस्मरणाभ्यामनु पश्चाद् मानमनुमानं लिंगज्ञं ज्ञानमुच्यते । (विभामवृ पृ २१९)

लिंग से होने वाला ज्ञान अनुमान है ।

लिंग के ग्रहण और संबंध के स्मरण से होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है ।

२. अनुमान के प्रकार

अणुमाणे तिविहे पणत्ते, तं जहा—पुव्ववं सेसवं दिट्ठसाहम्मवं । (अनु ५१९)

अनुमान के तीन प्रकार हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् ।

३. पूर्ववत् अनुमान

माता पुत्तं जहा नट्ठं, जुवाणं पुणरामत्तं ।  
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वल्लिगेण केणई ॥  
तं जहा—खतेण वा वणेण वा लच्छणेण वा मसेण वा तिलेण वा । से तं पुव्ववं । (अनु ५२०)

कोई माता अपने खोए हुए पुत्र को युवावस्था में लौटा हुआ देखकर किसी पूर्व लिंग से पहचान लेती है—'मेरा पुत्र है' यह अनुमान कर लेती है, जैसे—क्षत से, व्रण से, चिह्न से, मष से अथवा तिल से ।

कारण को देखकर कार्य का अनुमान करना पूर्ववत् अनुमान है ।

४. शेषवत् अनुमान के प्रकार

सेसवं पंचविहं पणत्तं, तं जहा—कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं आसएणं । (अनु ५२१)

कार्य, कारण, गुण, अवयव और आश्रय—इन पांच से होने वाला अनुमान शेषवत् अनुमान है ।

(न्यायभाष्यकार ने कार्य से कारण के अनुमान को शेषवत् कहा है। अवयव के ज्ञान से संपूर्ण अवयवी का ज्ञान शेषवत् है—यह उपायहृदय, माठर और गौडपाद का मत है। अनुयोगद्वार में निर्दिष्ट शेषवत् के पांच भेदों का मूल क्या है—यह कहा नहीं जा सकता !)

कार्य से कारण का अनुमान

कज्जेणं—संखं सद्देणं, भेरि तालिणं, वःभं द्विकिणं, मोरं केकाइणं, हयं हेसिएणं, हत्थि गु-गुलाइणं, रहं घणघणाइणं । (अनु ५२२)

शब्द से संख का, ताड़ना से भेरी का, रंधाने से वृषभ का, केका से मोर का, हिनहिनाहट से घोड़े का, चिघाड़ने से हाथी का और भंकार से रथ का अनुमान किया जाता है ।

कारण से कार्य का अनुमान

कारणेणं—तंतवो पडस्स कारणं न पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं न कडो वीरणकारणं, मप्पिडो घडस्स कारणं न घडो मप्पिडकारणं । (अनु ५२३)

तंतु वस्त्र के कारण हैं, वस्त्र तंतुओं का कारण नहीं होता। वीरण (कुश आदि के तृण) चटाई के कारण हैं, चटाई वीरण का कारण नहीं होती। मृत्पिण्ड घट का कारण है, घट मृत्पिण्ड का कारण नहीं होता ।

गुण से गुणी का अनुमान

गुणेणं—सुवर्णं निकसेणं, पुष्पं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसाएणं, वत्थं फासेणं । (अनु ५२४)

निकष से सुवर्ण, गन्ध से पुष्प, रस से लवण, आस्वाद से मदिरा और स्पर्श से वस्त्र का अनुमान किया जाता है ।

अवयव से अवयवी का अनुमान

अवयवेणं—महिसं सिणेणं, कुक्कुडं सिहाए, हत्थि विसाणेणं, वराहं दाडाए, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चमरिं बालगुच्छेणं, दुपयं मणुस्सयादि, चउप्पयं गवमादि, बहुपयं गोम्हियादि, वानरं तंमुलेणं, सीहं केसरेणं, वसहं ककुहेणं, महिलं वलयबाहाए । गाहा—परियरबन्धेण भडं, जाणेज्जा महिलियं निवसणेणं । सित्थेण दोणपामं, कविं च एगाए गाहाए ॥ (अनु ५२५)



सींग से भैंस, शिखा से कुक्कुट, विषाण से हाथी, दंष्ट्रा से बराह, पिच्छ से मोर, खुर से घोड़ा, नख से व्याघ्र, बाल-गुच्छ से चमरी गाय, द्विपद से मनुष्य आदि, चतुष्पद से गाय आदि, बहुपद से कनखजूरा आदि, पूंछ से बंदर, अयाल से सिंह, ककुद् से बैल और बलय वाली भुजा से महिला का अनुमान किया जाता है।

“कवच आदि हथियारों के बंधन से योद्धा, घघरी से विवाहित स्त्री, एक चावल सिक्क से द्रोण-पाक और एक गाथा से कवि जाना जाता है।”

### आश्रय से आश्रयी का अनुमान

आसएणं--अग्निं धूमेषां, सलिलं बलागाहि, वृष्टिं  
अभ्रविकारेणं, कुलपुत्रं सीलसमायारेणं ।

इङ्गिताकारितैर्ज्ञेयैः, क्रियाभिर्भाषितेन च ।

नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥

(अनु ५२६)

धूम से अग्नि, बलाका से पानी, अभ्रविकार से वर्षा और शीलसमाचरण से कुलपुत्र का अनुमान किया जाता है।

इंगित और आकाररूप ज्ञेय क्रिया, वचन, नेत्र और मुख के विकार से अन्तर्गत मन का ग्रहण किया जाता है।

### ५. दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान के प्रकार

द्विदृसाहम्मवं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा -- सामन्नदिट्ठं च  
विसेसदिट्ठं च । (अनु ५२७)

दृष्टसाधर्म्यवत् के दो प्रकार हैं—सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट।

#### सामान्यदृष्ट अनुमान

सामन्नदिट्ठं—जहा एगो पुरिसो तथा बहवे पुरिसा,  
जहा बहवे पुरिसा तथा एगो पुरिसो । (अनु ५२८)

जैसे एक पुरुष है, वैसे अनेक पुरुष हैं। जैसे अनेक पुरुष हैं, वैसे एक पुरुष है—यह सामान्यदृष्ट अनुमान है।

#### विशेषदृष्ट अनुमान

विसेसदिट्ठं—से जहानामए केइ पुरिसे बहूणं  
पुरिसाणं मज्जे पुव्वदिट्ठं पुरिसं पच्चभिजाणेज्जा—अयं  
से पुरिसे । (अनु ५२९)

जैसे कोई पुरुष अनेक पुरुषों के बीच उपस्थित पूर्व-  
दृष्ट पुरुष को पहचान लेता है 'यह वह पुरुष है'—यह  
विशेषदृष्ट अनुमान है।

### ६. अनुमान के प्रकार—सादृश्य आदि

सारिक्ख-विक्खोभय-मुवमा-गममेव सव्वमणुमाणं ।  
(विभा ४७०)

एक मान्यता के अनुसार अनुमान के ये पांच प्रकार हैं—

१. सादृश्य—सदृश आकृति को देखकर परिचित व्यक्ति की स्मृति होना।
२. विपक्ष—सर्प को देखकर उसके प्रतिपक्षी नकुल की स्मृति होना।
३. उभय—वेग के आधार पर अश्व और खर की स्मृति होना।
४. उपमान—गौ को देखकर गवय की स्मृति होना।
५. आगम—आगम के आधार पर स्वर्ग-नरक आदि गतियों का ज्ञान होना।

### अनुयोग—सूत्र के अनुरूप अर्थ की योजना।

#### १. अनुयोग

- निर्वचन और परिभाषा
- पर्याय : भाषा-विभाषा-वार्तिक
- चार दृष्टियाँ
- निक्षेप

#### २. अनुयोग के प्रवेशद्वार

- उपक्रम
- \*निक्षेप (द्र. निक्षेप)
- अनुगम
- \*नय (द्र. नय)
- उपक्रम—नय के क्रम का प्रयोजन

#### ३. उपक्रम/उपोद्घात

- परिभाषा
- प्रकार
- \*आनुपूर्वी (द्र. आनुपूर्वी)
- नाम
- \*प्रमाण (द्र. प्रमाण)
- बक्तव्यता
- अर्थाधिकार
- समवतार

#### ४. अनुगम

- परिभाषा
- प्रकार

- ० सूत्र-अनुगम : सूत्र के गुण
- ० निर्युक्ति-अनुगम
- ० उपोद्घात निर्युक्ति
- ० सूत्रस्पर्शक निर्युक्ति
- ० व्याख्या के लक्षण

## ५. अनुयोग के चार विभाग

## ६. अपृथक्त्व अनुयोग-पृथक्त्व अनुयोग

## ७. अनुयोगविधि

## १ अनुयोग

### निर्वाचन और परिभाषा—

अणुओयणमणुओगो, सुयस्स नियएण जमभिधेएणं ।  
वावारो वा जोगो, जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ॥  
अहवा जमत्थओ थोव-पच्छभावोहं सुयमणुं तस्स ।  
अभिधेये वावारो, जोगो तेण व संबंधो ॥

(विभा १३८६, १३८७)

० सूत्र की अर्थ के साथ योजना करना अनुयोग है ।  
० सूत्र के अभिधेय का कथन योग है । वह सूत्र के  
अनुरूप होने पर अनुयोग कहलाता है ।

० सूत्र का अर्थ के बाद कथन होता है । सूत्र संक्षिप्त  
होता है, इसलिए उसका नाम अनु है । उस अनु का  
अपने अभिधेय/प्रतिपाद्य के साथ संयोजन अनुयोग है ।

० अध्ययनार्थकथनविधिरनुयोगः । (अनुहावृ पृ २६)  
अनुयोग का अर्थ है—अध्ययन के अर्थ की प्रति-  
पादन-पद्धति ।

### पर्याय

अणुओगो य नियोगो, भास विभासा य वत्तियं चेव ।  
अणुओगस्स उ एए, नामा एगट्ठिआ पंच ॥  
(आवनि १३१)

अनुयोग के पांच पर्याय हैं—

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक ।

### वार्तिक (भाष्य) के अर्थ

वित्तीए वक्खाणं वत्तियमिह सक्कपज्जवेहि वा ।

वित्तीओ वा जायं जम्मि व जह वत्तए सुत्ते ॥

(विभा १४२२)

वृत्ते: सूत्रविवरणस्य व्याख्यानं भाष्यं वार्तिकमुच्यते ।  
यथा इदमेव विशेषावश्यकम् । अथवा उत्कृष्टश्रुतवतो  
गणधरस्देभंगवतः सर्वपर्यायैर्यद् व्याख्यानं तद् वार्तिकम् ।

वृत्तेर्वा सूत्रविवरणाद् यदायातं सूत्रार्थानुकथनरूपं तद्  
वार्तिकम् । यदि वा यस्मिन् सूत्रे यथा वर्तते सूत्रस्यैवोपरि  
गुरुपारम्पर्येणायातं व्याख्यानं तद् वार्तिकमिति ॥

(विभामवृ पृ ५२८)

१. सूत्र की वृत्ति की व्याख्या वार्तिक या भाष्य  
कहलाता है । जैसे—विशेषावश्यक भाष्य ।
२. उत्कृष्ट श्रुतपारगामी गणधर आदि वस्तु का  
समग्र पर्यायों से जो व्याख्यान करते हैं, वह वार्तिक  
कहलाता है ।
३. सूत्र की वृत्ति (विवरण) से जो ज्ञात होता है, उसके  
आधार पर सूत्र और अर्थ के अनुरूप कथन करना  
वार्तिक कहलाता है ।
४. जिस सूत्र का जो अर्थ है, उसकी गुरु-परम्परा से  
प्राप्त जो व्याख्या है, वह वार्तिक कहलाता है ।

### वार्तिक के अधिकारी

उक्कोसयसुयनाणी, निच्छयओ वत्तियं वियाणाइ ।

जो वा जुगप्पहाणो, तओ व जो गिण्हए सक्वं ॥

(विभा १४२३)

वार्तिक के अधिकारी तीन हैं—

१. उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी, जैसे—गणधर ।
२. युगप्रधान आचार्य, जैसे—भद्रबाहुस्वामी ।
३. युगप्रधान से जो समग्रता से श्रुतग्रहण करते हैं,  
जैसे—स्थूलभद्रस्वामी ।

### भाषक, विभाषक और भाष्यकार

ऊणं सममहियं वा, भणियं भासति भासगाइया ।

अहवा तिण्णवि साहेज्ज कट्टकम्माइनाएहि ॥

कट्ठे पोत्थे चित्ते, सिरिघरिए षोड-देसिए चेव ।

भासग-विभासए वा, वत्तीकरणे य आहरणा ॥

(विभा १४२४, १४२५)

अनुयोगाचार्य शिष्य को जितना पढ़ाते हैं, उससे  
कम मात्रा में वह दूसरों को बता पाता है, वह भाषक  
कहलाता है । आचार्य जितना पढ़ाते हैं, उतना ही दूसरों  
को बता देता है, वह विभाषक है । अनुयोगाचार्य से प्राप्त  
श्रुत को जो अपनी प्रज्ञा के अतिशय से अधिक विस्तार  
के साथ दूसरों को बता सकता है, वह वार्तिककार/  
भाष्यकार कहलाता है ।

निर्युक्तिकार ने भाषक, विभाषक और वार्तिककार  
के भेद को छह दृष्टांतों से समझाया है—

काष्ठ, पुस्त (लेप्य), चित्र, श्रीगृहिक, पीण्ड  
(कमल) और पथदर्शक ।

पढमो ह्वागारं थूलावयवोवदंसणं वीओ ।  
तइओ सव्वावयवे निहोसे सव्वहा कुणइ ॥  
कट्टसमाणं सुत्तं तदत्थरुवेगभासणं भासा ।  
थूलत्थाण विभासा सव्वेसिं वत्तियं नेयं ॥

(विभा १४२६, १४२७)

एक व्यक्ति काष्ठपट्टिका को सामान्य आकार देता है । दूसरा उसे स्थूल अवयवों के रूप में निष्पादित करता है । तीसरा सुव्यवस्थित रूप में संपूर्ण अंगोपांगों का निर्माण कर सुन्दर कृति के रूप में प्रस्तुत करता है । प्रस्तुत संदर्भ में काष्ठ के समान है — सूत्र । प्रथम व्यक्ति के समान है भाषक, दूसरे के समान है विभाषक और तीसरे के समान है वातिककार ।

#### चार दृष्टियां

दव्वेणं दव्वं संखाईयप्पएसओगाढं ।  
कालेऽणाइ अनिहणो भावे नाणाइयाणंता ॥

(विभा १३९४)

जीव द्रव्य का अनुयोग चार दृष्टियों से किया गया है—

द्रव्य से—एक द्रव्य  
क्षेत्र से—असंख्य प्रदेशावगाढ  
काल से—अनादि-अनन्त  
भाव से—ज्ञान आदि अनन्त अगुरुलघु पर्याय ।

#### द्रव्य, क्षेत्र आदि में नियमा-भजना

दव्वे नियमा भावो न विणा ते यावि खेत्त-कालेहि ।  
खेत्ते तिण्ह वि भयणा कालो भयणाए तीसुं पि ॥  
(विभा १४०८)

द्रव्य में भाव/पर्याय निश्चित रूप से होता है । क्षेत्र और काल के बिना द्रव्य-भाव नहीं होते । क्षेत्र में द्रव्य-काल-भाव की भजना है—लोकक्षेत्र में तीनों होते हैं, अलोकक्षेत्र में नहीं होते । द्रव्य-क्षेत्र-भाव में काल की भजना है—काल समयक्षेत्रवर्ती द्रव्य-क्षेत्र-भाव में होता है, उसके बाहर नहीं ।

#### अनुयोग के निक्षेप

नामं ठवणा दविए खेत्ते काले वयण-भावे य ।  
एसो अणुओगस्स उ निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥  
(विभा १३८८)

अनुयोग के सात निक्षेप हैं—

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, वचन और भाव ।

#### नाम अनुयोग

नामस्स जोऽणुओगो अहवा जस्साभिहाणमणुओगो ।  
नामेण व जो जोगो जोगो नामाणुओगो सो ॥  
(विभा १३८९)

नाम अनुयोग के तीन रूप हैं—

- वीर आदि नामों का अनुयोग/व्याख्या करना नामानुयोग है ।
- किसी वस्तु का 'अनुयोग' नाम रखना नामानुयोग है ।
- नाम के साथ जो कोई योग्य योग—अनुरूप संबंध है, वह नामानुयोग है । जैसे—दीप नाम का अनुकूल दीप के साथ संबंध ।

#### स्थापना अनुयोग

ठवणाए जोऽणुओगो अणुओग इति वा ठविज्जए जं च ।  
जा वेह जस्स ठवणा जोग्गा ठवणाणुओगो सो ॥  
(विभा १३९०)

स्थापना अनुयोग के तीन रूप हैं—

- स्थापना का अनुयोग/व्याख्यान करना स्थापनानुयोग है ।
- अनुयोग करते हुए आचार्य आदि की काष्ठ आदि में स्थापना करना स्थापनानुयोग है ।
- अनुयोगकर्ता आचार्य की लेप्यकर्म आदि में तदाकार स्थापना स्थापनानुयोग है ।

#### द्रव्य अनुयोग

दव्वस्स जोऽणुओगो दव्वे दव्वेण दव्वहेऊ वा ।  
दव्वस्स पज्जवेण व जोगो दव्वेण वा जोग्गो ॥  
बहुवयणओ वि एवं नेओ जो वा कहे अणुवउत्तो ।  
दव्वाणुओग एसो एवं खेत्ताइयाणं पि ॥  
(विभा १३९१, १३९२)

- द्रव्य का अनुयोग—व्याख्या करना ।
- निषेधा आदि द्रव्य पर स्थित (व्यक्ति) का अनुयोग करना । क्षीर, प्रस्तरखण्ड आदि करणभूत द्रव्यों के द्वारा अनुयोग करना ।
- शिष्य-द्रव्य को प्रतिबोध देने के लिए अनुयोग करना ।
- द्रव्य का पर्याय के साथ योग्य संबंध करना ।
- अनुपयुक्त/उपयोगशून्य अवस्था में अनुयोग करना ।

### क्षेत्र अनुयोग

पन्नत्तिजंबुद्वीवे खेत्तस्सेमाइ होइ अणुओगो ।  
खेत्ताणं अणुओगो दीव-समुदाण पन्नत्ती ॥  
(विभा १३९९)

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में जम्बूद्वीप क्षेत्र का अनुयोग है ।  
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में अनेक द्वीपों और सागरों का अनुयोग  
है ।

खेत्तं मयमागासं सव्वदब्बावगाहणा लिंगं ।  
तं दव्वं चैव निवासमेत्तपज्जायओ खेत्तं ॥  
(विभा २०८८)

आकाश को क्षेत्र कहते हैं । उसका लक्षण है सब  
द्रव्यों को स्थान देना । वह द्रव्य ही है किन्तु द्रव्यों की  
अवगाहना की अपेक्षा वह क्षेत्र है ।

### काल अनुयोग

कालस्स समयरूवण कालाण तदाइ जाव सव्वद्धा ।...  
(विभा १४०२)

उत्पलक्षतपत्रभेद आदि दृष्टान्तों से समय का प्ररूपण  
करना तथा काल के समस्त भेद-प्रभेदों की व्याख्या करना  
कालानुयोग है ।

### वचन अनुयोग

...वयणस्सेगवयाई वयणाणं सोलसहं तु ।  
(विभा १४०३)

लिंगितियं वयणतियं कालतियं तह परोख्व-पञ्चख्वं ।  
उवणयऽवणयचउद्धा अज्झत्तं होइ सोलसमं ॥  
(विभामवृ पृ ५१५)

एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन की व्याख्या करना  
वचन अनुयोग है । इसके सोलह अंग हैं—

लिंग — १ स्त्री, २ पुरुष, ३ नपुंसक—लिंगप्रधान वचन

वचन—४ एक वचन, ५ द्वि वचन, ६ बहुवचन

काल—७ अतीत, ८ वर्तमान, ९ अनागत

परोक्ष—१० वह

प्रत्यक्ष—११ यह

उपनय—१२ स्तुत्यात्मक वचन

अपनय—१३ निन्दात्मक वचन

उपनय-अपनय—१४ स्तुति-निन्दात्मक वचन

अपनय-उपनय—१५ निन्दा-स्तुत्यात्मक वचन

अध्यात्म—१६ आंतरिक वचन ।

### भाव अनुयोग

भावस्सेगयरस्स उ अणुओगो जो जहिद्विआं भावो ।  
दोमाइसंनिगासे अणुओगो होइ भावाणं ॥  
(विभा १४०५)

जो भाव जिस रूप में अवस्थित है, उसका उसी रूप  
में प्ररूपण करना भाव अनुयोग है । दो, तीन आदि  
संयुक्त भावों का प्ररूपण करना भाव अनुयोग है ।

### २. अनुयोग के प्रवेशद्वार

...चत्तारि अणुओगदारा भवन्ति, तं जहा—उवक्कवे,  
णिक्खेवे, अणुगमे, नए । (अनु ७५)

अणुओगदाराइं महापुरस्सेव तस्स चत्तारि ।

अणुओगो त्ति तदत्थो दाराइं तस्स उ मुहाइं ॥  
(विभा ९०७)

अनुयोग इत्यध्ययनार्थः । द्वाराणि तत्प्रवेशमुखानि ।  
यथेह पुरमद्वारमधिगन्तुमशक्यम् । एकद्वारमपि च कृच्छे-  
णाधिगम्यते कार्यातिपत्तये च भवति । चतुर्भिः पुनर्मूल-  
द्वारैश्च सुखेनाधिगम्यते न च कार्यातिपत्तये भवति ।  
(उचू पृ ८)

अनुयोग का अर्थ है—ग्रंथ का अर्थ । उसमें प्रविष्ट  
होने के मार्ग द्वार कहलाते हैं । अनुयोग के चार द्वार  
हैं—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय । इस द्वारचतुष्टयी  
से शास्त्र को सुगमता से समझा जा सकता है, कार्याति-  
पत्ति भी नहीं होती । द्वाररहित नगर में प्रवेश नहीं  
किया जा सकता । एक द्वार वाले नगर में कठिनाई से  
प्रवेश होता है और कार्य में विलम्ब हो जाता है । चार  
द्वार वाले नगर में सुख से प्रवेश किया जा सकता है  
और कार्य में बाधा नहीं आती । इसी प्रकार श्रुतरूप  
महानगर में भी अर्थाधिगम के उपायरूपी द्वार के बिना  
प्रवेश नहीं किया जा सकता । केवल एक अनुगमद्वार  
से भी प्रवेश बड़ी कठिनाई और लम्बे समय से हो  
सकता है । उपक्रम आदि चारों द्वारों से सहज ही अल्प-  
काल में प्रवेश किया जा सकता है ।

### उपक्रम...नय के क्रम का प्रयोजन

दारककमोऽयमेव उ निक्खिप्पइ जेण नासमीवत्थं ।  
अणुगम्मइ नाणत्थं नाणुगमो नयमयविहूणो ॥  
संबंधोवक्कमओ समीवमाणीय नत्थनिकखेवं ।  
सत्थं तओऽणुगम्मइ नएहि नाणाविहाणेहि ।  
(विभा ९१५, ९१६)

अनुयोगद्वारों—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय का क्रम यही है क्योंकि असमीपस्थ का निक्षेप नहीं किया जाता। निक्षेप किए बिना व्याख्या नहीं की जाती और नयमत से रहित का अनुगम नहीं होता। उपक्रम संबंध रूप होता है। उससे प्रारम्भ की भूमिका बनाकर उस पद को निश्चित अर्थ में स्थापित किया जाता है, फिर नाम, स्थापना आदि निक्षेपों से युक्त शास्त्र के अर्थ को नाना प्रकार के नयों से व्याख्यायित किया जाता है।

### ३. उपक्रम/उपोद्घात

#### परिभाषा

सत्यस्तोवक्त्रमणं उवक्त्रमो तेण तम्मि व तओ वा ।

सत्यसमीचीकरणं आणयणं नासदेसम्मि ॥

(विभा ९११)

उवक्त्रमो णासस्स अपत्तावत्थापावणं ।

(आवचू १ पृ ८०)

शास्त्र का प्रारम्भ करना उपक्रम कहलाता है। वह तीन प्रकार से होता है—१. प्रतिपादन का प्रकार २. शिष्य की जिज्ञासा ३. शिष्य की विनम्रता। प्रारम्भिक भूमिका बताकर ग्रन्थ को निक्षेप के योग्य बना देना उपक्रम है।

निक्षेप की अप्राप्त अवस्था का प्रापक है उपक्रम ।

नासस्स व संबंधणमुवक्त्रमोऽयं तु सुत्तवक्खाए ।

संबंधोवग्घाओ भण्णइ जं सा तदंतम्मि ॥

(विभा ९९४)

अध्ययन से संबंधित नाम आदि निक्षेपों का सम्बन्ध जोड़ना उपक्रम कहलाता है और जब सूत्र की व्याख्या के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है तब उसे उपोद्घात कहते हैं।

उवोग्घातो णाम उद्देसनिग्गमादी निरुवणं ।

मेघच्छन्नो यथा चंद्रो, न राजति नभस्तले ।

उपोद्घातं विना शास्त्रं, न तथा भ्राजते विधौ ॥

(आवचू १ पृ ८४)

उद्देश, निर्गम आदि का निरूपण उपोद्घात कहलाता है।

जैसे आकाश में बादलों से आच्छादित चन्द्रमा शोभित नहीं होता, वैसे ही उपोद्घात के बिना अपने विधि-विधान में शास्त्र शोभित नहीं होता।

उवक्त्रमे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—आणुपुव्वी नामं पमाणं वत्तव्वया अत्थाहिगारे समोयारे ।

(अनु १००)

उपक्रम के छह प्रकार हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार ।

#### वक्तव्यता

अज्झयाइसु सुत्तपगारेण सुत्तविभागेण वा इच्छा परुविज्जंति सा वत्तव्वया भवति । (अनुचू पृ ८५)

एक विषय की प्ररूपणा, प्रतिनियत अर्थ का प्रतिपादन वक्तव्यता कहलाता है।

वत्तव्वया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—ससमयवत्तव्वया परसमयवत्तव्वया ससमय-परसमयवत्तव्वया ।

(अनु ६०५)

वक्तव्यता के तीन प्रकार हैं—स्वसमय वक्तव्यता, परसमय वक्तव्यता और स्वसमय-परसमय वक्तव्यता।

“ससमयवत्तव्वया—जत्थ णं ससमए आघ-विज्जइ” । (अनु ६०६)

“यत्राध्ययने सूत्रे धर्मास्तिकायद्रव्यादीनां आत्मसमयस्वरूपेण प्ररूपणा क्रियते । (अनुचू पृ ८५)

अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करना स्वसमय वक्तव्यता है। जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के स्वरूप का प्रतिपादन अपने सिद्धान्त के अनुसार करना ।

“परसमयवत्तव्वया—जत्थ णं परसमए आघविज्जइ” । (अनु ६०७)

यत्र पुनरध्ययनादिषु जीवद्रव्यादीनां एकान्तग्राहेण नित्यत्वमनित्यत्वं वा परसमयरूपेण प्ररूपणा क्रियते ।

(अनुचू पृ ८५)

अन्यतीथिकों के सिद्धान्त का प्रतिपादन परसमय वक्तव्यता है। जैसे—जीव आदि द्रव्य एकान्त नित्य हैं अथवा एकान्त अनित्य हैं।

“ससमय-परसमयवत्तव्वया—जत्थ ससमए परसमए आघविज्जइ” । (अनु ६०८)

अपने तथा अन्यतीथिकों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना उभयरूप वक्तव्यता है।

#### अर्थाधिकार

अत्थाहिगारे—जो जस्स अज्झयणस्स अत्थाहिगारो ।

(अनु ६१०)

अर्थाधिकारो ह्यध्ययने आदिपदादारभ्य सर्व-  
पदेष्वनुवर्त्तते, पुद्गलास्तिकाये मूर्त्तत्ववद् ।

(अनुहावृ पृ ११८)

जिस अध्ययन या ग्रन्थ का जो प्रतिपाद्य अर्थ है, वह उसका अर्थाधिकार है ।

जो शास्त्र के आदि पद से लेकर अंतिम पद तक अनुवृत्त होता है, वह अर्थाधिकार है । जैसे—पुद्गला-  
स्तिकाय में मूर्त्तता ।

#### समवतार

सर्वद्रव्याण्यात्मसमवतारेणात्मभावे समवतरन्ति ।

(अनुहावृ पृ ११८)

सब द्रव्य अपने-अपने भाव में समवतरित होते हैं—  
यही समवतार (अन्तर्भाव) है ।

....द्ववसमोयारे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—आयसमो-  
यारे परसमोयारे तदुभयसमोयारे । सव्वदव्वा वि णं  
आयसमोयारेण आयभावे समोयरंति, परसमोयारेणं जहा  
कुंडे बदराणि, तदुभयसमोयारेणं जहां घरे थंभो आयभावे  
य, जहा घडे गोवा आयभावे य । (अनु ६१३)

द्रव्य समवतार के तीन प्रकार हैं—

१. आत्म-समवतार—सब द्रव्य आत्मसमवतार के द्वारा आत्मभाव में समवतरित होते हैं ।
२. पर-समवतार—सब द्रव्य परसमवतार के द्वारा परभाव में समवतरित होते हैं, जैसे—कुण्ड में बैर ।
३. तदुभयसमवतार—सब द्रव्य तदुभय समवतार के द्वारा दोनों में समवतरित होते हैं, जैसे—खंभा घर में और आत्मभाव में समवतरित है । जैसे—ग्रीवा घट में और आत्मभाव में समवतरित है ।

#### ४. अनुगम को परिभाषा

....अणुणोऽणुरूवओ वा जं सुत्तत्थाणमणुसरणं ॥

(विभा ९१३)

सूत्र का अनुसरण करना—व्याख्या करना अनुगम है ।

#### अनुगम के प्रकार

अणुगमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुत्ताणुगमे य  
निज्जुत्तिअणुगमे य । (अनु ७१०)

अनुगम के दो प्रकार हैं—

१. सूत्र-अनुगम—सूत्र का कथन करना ।

२. निर्युक्ति-अनुगम—सूत्र से संपृक्त अर्थ का प्रतिपादन करना ।

#### सूत्र-अनुगम : सूत्र के गुण

अष्टाभिश्च गुणैरुपपेतं यत्तत्लक्षणयुक्तमिति वर्तते,  
ते चेमे गुणाः—

निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं ।

उक्कीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥

(अनुमवृ प २४३)

सूत्र के आठ गुण—

- |                 |           |
|-----------------|-----------|
| १. निर्दोष      | ५. उपनीत  |
| २. सारवान्      | ६. सोपचार |
| ३. हेतुयुक्त    | ७. मित और |
| ४. अलंकार युक्त | ८. मधुर । |

अप्पक्खरमसंदिद्धं सारवं विस्सओमुहं ।

अत्थोभमणवज्जं च, सुत्तं सव्वण्णुभासियं ॥

(अनुमवृ प २४३)

प्रकारान्तर से सूत्र के छह गुण—

१. अल्पाक्षर
२. असंदिग्ध
३. सारवान्
४. विश्वतोमुख (जिसका प्रत्येक सूत्र अनुयोग-  
चतुष्टय से व्याख्यात हो ।)
५. अस्तोभक (च, वा आदि निपात से वियुक्त ।)
६. अनवद्य

#### निर्युक्ति-अनुगम

निज्जुत्तिअणुगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—निक्खेव-  
निज्जुत्तिअणुगमे उवग्वायनिज्जुत्तिअणुगमे सुत्तफासिय-  
निज्जुत्तिअणुगमे । (अनु ७११)

निर्युक्ति अनुगम के तीन प्रकार हैं—निक्षेप  
निर्युक्ति-अनुगम, उपोद्घात निर्युक्ति-अनुगम और  
सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति-अनुगम ।

#### उपोद्घात निर्युक्ति-अनुगम

उवग्वायनिज्जुत्तिअणुगमे....अणुगंतव्वे, तं जहा—  
उद्देसे निद्देसे य, निग्गमे, खेत्त काल पुरिसे य ।

कारण पच्चय लक्खणं, नए समोयारण णुमए ॥

कि कइविहं कस्स कांहि, केसु कहं केच्चिरं हवइ.कालं ।

कइ संतर मविरहियं, भवा गरिस फासण निरुत्ती ॥

(अनु ७१३)

उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार और अनुमत तथा क्या, कितने प्रकार का, किसका, कहां, किनमें, कैसे, कितने काल तक, कितने, अन्तर काल, अविरह काल, भव, आकर्ष, स्पर्शन, निरुक्ति - इन २६ हेतुओं से उपोद्घात निर्युक्ति-अनुगम जाना जाता है।

### सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति-अनुगम

...सुत्तफासियनिज्जुत्तिअणुगमे सुत्तं उच्चारेयव्वं अक्खलियं अमिलियं अवच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्टविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं । तओ नज्जिहिति ससमयपयं वा परसमयपयं वा बंधपयं वा मोक्खपयं वा सामाइयपयं वा नोसामाइयपयं वा... (अनु ७१४)

सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति-अनुगम में अस्खलित, अन्य वर्णों से अमिश्रित, अन्य ग्रंथों के अंशों से अमिश्रित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण घोषयुक्त, कण्ठ और होठ से निकला हुआ, गुरु की वाचना से प्राप्त सूत्र का उच्चारण करना चाहिए। इससे स्वसमय पद, परसमय पद, बन्ध पद, मोक्षपद, सामायिक पद और नो-सामायिक पद—ये सब जाने जाते हैं।

...संहिता य पदं चेव, पदत्थो पदविग्गहो ।  
चालणा य पसिद्धी य, छव्विहं विद्धि लक्खणं ॥... (अनु ७१४)

व्याख्या के छह लक्षण हैं—

१. संहिता—अस्खलित पदोच्चारण ।
२. पद—एक-एक पद का निरूपण ।
३. पदार्थ—प्रत्येक पद का अर्थ ।
४. पदविग्रह—समस्त पदों में समास विग्रह ।
५. चालना सूत्र के अर्थ में प्रश्न उपस्थित करना ।
६. प्रसिद्धि—युक्ति पुरस्सर अर्थ की स्थापना ।

### ५. अनुयोग के चार विभाग

चत्तारि उ अणुओगा चरणे धम्मगणियाणुओगे य ।  
दवियणुओगे य तहा अहक्कमं ते महिड्ढीया ॥  
(ओभा ५)

अनुयोग के चार विभाग हैं—

१. चरणानुयोग
२. धर्मकथानुयोग
३. गणितानुयोग
४. द्रव्यानुयोग ।

ये चारों क्रमशः महद्दिक (प्रतिपादन की अपेक्षा प्रधान) हैं ।

### चरणानुयोग का प्राधान्य

सविसयवलवत्तं पुण जुज्जइ तह्वि अ महिड्ढिअं चरणं ।  
चारित्तरक्खणट्ठा जेणिअरे तिसि अणुओगा ॥  
(ओभा ६)

ये चारों अनुयोग अपने-अपने विषय में सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं। फिर भी चरणानुयोग इन सबमें महद्दिक है। चारित्र की सुरक्षा के लिए ही ये शेष तीन अनुयोग हैं।

चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहा कालदिक्खमाईआं ।

दविए दंसणसुद्धी दंसणसुद्धस्स चरणं तु ॥

(ओभा ७)

तीनों अनुयोग चारित्र की प्राप्ति के कारण हैं—

१. धर्मकथानुयोग—आक्षेपणी आदि धर्मकथा को सुनकर जीव चारित्र प्राप्त करता है।
२. कालानुयोग (गणितानुयोग)—शुभतिथि, मुहूर्त, नक्षत्र आदि में दीक्षा दी जाती है।
३. द्रव्यानुयोग से दर्शन की विशुद्धि होती है। दर्शन विशुद्धि से ही चारित्र की प्राप्ति होती है।

### अनुयोग और भूतबंध

जं च महाकल्पसुयं जाणि अ सेसाणि छेअसुताणि ।  
चरणकरणाणुओगो ति कालियत्थे उवगयाणि ॥  
(आवनि ७७७)

कालियसुयं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपन्नती ।  
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥  
(आवभा १२४)

१. चरणकरणानुयोग—कालिकश्रुत, महाकल्पसूत्र, छेदसूत्र ।
२. धर्मकथानुयोग—ऋषिभाषित ।
३. गणितानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति ।
४. द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद ।

### ६. अपृथक्त्व अनुयोग

अपुहुत्तमेगभावो सुत्ते सुत्ते सवित्थरं जत्थ ।  
अण्णंतअणुओगा चरण-धम्म-संखाण-दव्वाणं ॥  
(विभा २२८१)

अपृथक्त्व का अर्थ है—एकीभाव—अविभाग ।

अपृथक्त्व अनुयोग में एक सूत्र की व्याख्या चरणकरणानु-  
योग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग—इन  
चारों अनुयोगों से की जाती है।

### पृथक्त्व अनुयोग

जावं ति अज्जवइर। अपुहत्तं कालियाणुओगस्स।

तेणारेण पुहत्तं कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥

(आवनि ७६३)

आसी पुरा सो नियओ अणुओगणमपुहत्तभावस्मि।

संपइ नत्थि पुहुत्ते होज्ज व पुरिसं समासज्ज ॥

(विभा ९५०)

आर्यरक्षित से पहले अपृथक्त्व अनुयोग था—

कालिकश्रुत आदि प्रत्येक सूत्र में चारों (चरणकरण,  
धर्मकथा, गणित और द्रव्य) अनुयोगों का युगपत् प्रयोग  
होता था। आर्यरक्षित ने कालिकश्रुत और दृष्टिवाद में  
पृथक्त्व अनुयोग की व्यवस्था की। पृथक्त्व अनुयोग में  
प्रत्येक सूत्र की एक-एक अनुयोग से व्याख्या की जाती  
है। यदि अध्येता प्राज्ञ हो तो चारों अनुयोगों और सब  
नयों से व्याख्या की जा सकती है।

देविदवंदिएहि महाणुभावेहि रक्खियज्जेहि।

जुगमासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा ॥

नाऊण रक्खियज्जो मइ-मेहा-धारणासमग्गं पि।

किच्छेण धरेमाणं सुयण्णवं पूसमित्तं पि ॥

अइसयकओवओगो मइ-मेहा-धारणाइपरिहीणे।

नाऊणमेस्सपुरिसे खेत्तं-कालाणुरूवं च ॥

(विभा २२८८, २२९०)

देवेन्द्र द्वारा वन्दित आर्यरक्षित ने देखा कि पुष्यमित्र  
जैसा बुद्धि, मेधा और धारणा से सम्पन्न प्राज्ञ शिष्य भी  
श्रुतरूप समुद्र का अक्वाहन कठिनाई से कर रहा है,  
तब भविष्य में अल्प बुद्धि, मेधा और शिथिल धारणा  
वाले व्यक्ति पूरे श्रुत का समग्रता से अक्वाहन कैसे कर  
पायेंगे? तब युग, क्षेत्र और काल के अनुरूप उन्होंने  
शिष्यों पर अनुग्रह कर पृथक्त्व अनुयोग की व्यवस्था  
की।

### ७. अनुयोग-विधि

सुत्तथो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसओ भणिओ।

तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगो ॥

(नन्दी १२७।५)

अनुयोग-विधि के तीन स्थान हैं—

१. सूत्र और अर्थ के प्रतिपादन का क्रम।

२. निर्युक्ति सहित सूत्र और अर्थ का प्रतिपादन।

३. निरवशेष—प्रसंग-अनुप्रसंग सहित प्रतिपादन।

सव्वे काउस्सगं करेति सव्वे पुणोऽवि वंदंति।

णासण्णे नाइदूरे गुरुवधणपडिच्छगा होति ॥

णिहाविगहापरिवज्जिएहि गुत्तेहि पंजलिउडेहि।

भत्तिवहुमाणपुव्वं उवउत्तेहि सुणेयव्वं ॥

अभिकखत्तेहि सुहासियाइं वयणाइं अत्थसाराइं।

विमिह्यमुहेहि हरिसागएहि हरिसं जणत्तेहि ॥

गुरुपरिओसगएणं गुरुभत्तीए तहेव विणएणं।

इच्छिय सुत्तत्थाणं खिप्पं पारं समुवयति ॥

(आवनि ७०६-७०९)

अनुयोग को प्राप्त करने के इच्छुक सभी शिष्य  
कायोत्सर्ग करते हैं, गुरु को वंदना करते हैं। वे गुरु  
से न अधिक निकट और न अति दूर, मर्यादित दूरी तक  
बैठते हैं।

शिष्य निद्रा, विकथा को छोड़कर, त्रिगुप्त, करबद्ध  
तथा सावधान होकर भक्तिबहुमानपूर्वक गुरुवाणी को  
सुनते हैं।

उस समय वे जिज्ञासा से अर्थसार वाले सुभाषित  
वचनों को सुनते हैं और उनका वदन विस्मय और हर्ष  
से प्रफुल्लित हो जाता है।

वे विनीत शिष्य गुरु के सन्तुष्ट होने पर, गुरुभक्ति  
और विनय से सूत्र और अर्थ के अवबोध का शीघ्र ही  
पार पा लेते हैं।

**अनेक सिद्ध**—एक समय में अनेक जीवों का सिद्ध  
होना। (द्र. सिद्ध)

**अन्यत्व अनुप्रेक्षा**—मैं शरीर से भिन्न हूँ और शरीर  
मुझ से भिन्न है—इस सचाई  
को अनुभूति करना।

(द्र. अनुप्रेक्षा)

**अन्यलिगसिद्ध**—अन्य साधुओं के वेश में मुक्त होने  
वाले। (द्र. सिद्ध)

**अपरिग्रह**—ममत्व-विसर्जन। (द्र. महाव्रत)

**अपर्यवसितश्रुत**—वह श्रुत जो अंतरहित है।

(द्र. श्रुतज्ञान)



**अपूर्वकरण**—आत्मा के विशिष्ट परिणाम से राग-द्वेषात्मक ग्रन्थि को तोड़ने की चेष्टा करना । करण का दूसरा प्रकार ।

(द्र. करण)

**अष्काय**—जीवनिकाय का दूसरा भेद ।

(द्र. जीवनिकाय)

**अप्रतिपाति**—अवधिज्ञान का एक प्रकार, जो उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता ।

(द्र. अवधिज्ञान)

**अप्रत्यख्यानचतुष्क**—(द्र. कषाय)

**अप्रमत्तसंयत**—जो पूर्ण व्रती और अप्रमादी होता है, उसकी आत्म-विशुद्धि । सातवां गुणस्थान ।

(द्र. गुणस्थान)

**अप्रमाद**—जागरूकता (द्र. प्रमाद)

**अभ्रव्य**—जिसमें मुक्त होने की योग्यता नहीं है, वह प्राणी ।

(द्र. भ्रव्य)

**अभिनन्दन**—चीथे तीर्थकर ।

(द्र. तीर्थकर)

**अभ्युत्थान**—गुरुपूजा, आचार्य आदि गुरुजनों के आने पर खड़े होना, सम्मान करना । सामाचारी का एक भेद ।

(द्र. सामाचारी)

**अयोगिकेवली**—जिसके सम्पूर्ण योग का निरोध हो जाता है, जो शैलेशी अवस्था को प्राप्त है, उसकी आत्म-विशुद्धि । चौदहवां गुणस्थान ।

(द्र. गुणस्थान)

**अरनाथ**—अठारहवें तीर्थकर । (द्र. तीर्थकर)

**अरिष्टनेमि**—बाईसवें तीर्थकर । (द्र. तीर्थकर)

**अर्थावग्रह**—पदार्थ का जाति, द्रव्य, गुण आदि की कल्पना से रहित अवबोध ।

(द्र. आभिनवोद्धिकज्ञान)

**अर्हत्**—तीर्थकर

...अरिणो हंता रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चति ॥

(आवनि १०७६)

जो कर्मशत्रु का नाश करते हैं, कर्मों के उपादान का नाश करते हैं, वे अरिहंत—अर्हत् कहलाते हैं ।

इन्द्रिय-विसय-कसाए परीसहे वेतणा उवस्सग्गे ।

एते अरिणो हंता, अरिहंता तेण उच्चति ॥

(विभा ३५६२ कोवृ पृ ७०६)

इन्द्रिय-विषय, कषाय, वेदना, परीषह और उपसर्ग—इन शत्रुओं का नाश करने वाले अरिहंत कहलाते हैं ।

अरिहन्ति वन्दण-गमंसणाणि अरहन्ति पूय-सक्कारं ।

सिद्धिगमणं च अरहा अरहन्ता तेण वुच्चति ॥

देवासुरमणुआणं अरहा पूया सुरत्तमा जम्हा ।

...अरिहंता तेण वुच्चति ॥

(विभा ३५६४, ३५६५ कोवृ पृ ७०६)

जिनमें सिद्धिगमन की अर्हता है, वे अर्हत् हैं ।

सुर, असुर, मनुष्य—ये सब जिनकी बंदना, पूजा-अर्चा करते हैं, वे अर्हत् हैं ।

जस्स न रहो संभवति अरहा ।

(अनुचू पृ ४३)

जिसके लिए कोई रहस्य नहीं होता, वे अरह/अर्हत् हैं ।

अणोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्ती-त्यर्हन्तः—तीर्थकराः ।

(आवमवृ प ७९)

जो अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, देवदुम्भि, स्फटिक सिंहासन, भामंडल, छत्र, चामर—इन आठ महाप्रातिहार्यों के अतिशय से सम्पन्न हैं, वे अर्हत्—तीर्थकर हैं ।

(द्र. तीर्थकर)

जह नरवइणो आणं अइक्कमंता पमायदोसेणं ।

पावंति बंधवहरोहच्छिज्जमरणावसाणाइं ॥

तह जिणवराण आणं अइक्कमंता पमायदोसेणं ।

पावंति दुग्गइपहे विणिवायसहस्सकोडीओ ॥

(ओभा ५४, ५६)

जैसे प्रमादवश राजाज्ञा का अतिक्रमण करने वाला बंध, वध, रोध (निग्रह), छेदन और अन्त में मृत्यु को प्राप्त करता है, वैसे ही अर्हत्-आज्ञा का अतिक्रमण करने वाला प्रमत्त व्यक्ति अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है ।

**अलोक**—आकाश का वह भाग, जिसमें केवल एक आकाश द्रव्य हो । (द्र. लोक)

**अवगाहना**—जीव और पुद्गल के द्वारा व्याप्त क्षेत्र । (देखें—पञ्चवणा पद २१)

उत्सेधांगुल से शरीर की अवगाहना का माप ।

(द्र. अंगुल)

सिद्धों की अवगाहना ।

(द्र. सिद्ध)

अवगाहना वर्गणा—(द्र. भाषा)

अवग्रह—इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से होने वाला सामान्य अवबोध ।

(द्र. आभिनवोधिक ज्ञान)

अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा से होने वाला मूर्त पदार्थों का ज्ञान ।

ज्ञेय वस्तु में अवधान—एकाग्रता से होने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान ।

१. अवधिज्ञान : निर्वचन और परिभाषा
२. अवधिज्ञान का विषय
३. अवधिज्ञान के दो प्रकार
  - भवप्रत्ययिक
  - क्षायोपशमिक
४. अवधिज्ञान के निक्षेप
५. अवधिज्ञान के छह प्रकार
६. आनुगामिक अवधि की परिभाषा
  - प्रकार—अंतगत, मध्यगत ।
  - अंतगत की परिभाषा
  - प्रकार—पुरतः, पृष्ठतः, पार्श्वतः
  - मध्यगत की परिभाषा
  - अंतगत और मध्यगत में अंतर
७. अनानुगामिक अवधि की परिभाषा
  - आनुगामिक और अनानुगामिक के अधिकारी
८. वर्धमान अवधि की परिभाषा
  - वर्धमान अवधि : द्रव्यचतुष्टयी की वृद्धि-हानि
  - वृद्धि-हानि का नियम
  - वृद्धि-हानि के प्रकार
  - वर्धमान अवधि का जघन्य क्षेत्र : पनक का दृष्टांत
९. वर्धमान अवधि (परमावधि) का उत्कृष्ट क्षेत्र :
  - अग्नि जीवों का दृष्टांत
  - परमावधि का विषय
  - परमावधि नौ पूर्वजन्मों को जानता है
  - परमावधि की परिणति—कैवल्य प्राप्ति
१०. हीयमान अवधि

११. प्रतिपाति अवधि
१२. अप्रतिपाति अवधि
१३. स्पर्धक अवधि की परिभाषा
  - स्पर्धक अवधि : आनुगामिक आवि
  - स्पर्धक : तीव्र, मंद, मिथ
  - स्पर्धकों के स्थान
१४. बाह्य लब्धि-आभ्यंतर लब्धि अवधि
१५. संबद्ध-असंबद्ध अवधि
१६. अवधिज्ञान की असंख्येयता-अनंतता
१७. अवस्थित-अनवस्थित अवधि
१८. अवधिज्ञान के संस्थान
१९. अवधिज्ञान और क्षेत्रमर्यादा
  - वैमानिक देवों का अवधिक्षेत्र
  - देवों का आयुष्य और अवधिक्षेत्र
  - नारकों का अवधिक्षेत्र
२०. तिर्यंच : उत्कृष्ट-जघन्य अवधि
२१. अवधिज्ञान और देशविरति सामायिक
२२. अवधिज्ञान की पूर्वप्रतिपन्नता
२३. अवधिज्ञान के प्राप्ति-स्थान
२४. अवधिज्ञान के पश्चात् अवधिदर्शन
२५. मति-भ्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में साधर्म्य
  - \* मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में साधर्म्य तथा अंतर (द्र. मनःपर्यवज्ञान)
  - \* अवधिज्ञान और केवलज्ञान में साधर्म्य (द्र. केवलज्ञान)
  - \* अवधिज्ञान : ज्ञान का एक भेद (द्र. ज्ञान)
  - \* अवधिज्ञान स्वार्थ (द्र. ज्ञान)
  - \* विभंगज्ञान (द्र. अज्ञान)
  - \* अवधिदर्शन (द्र. दर्शन)

१. अवधिज्ञान : निर्वचन और परिभाषा

तेणावहीयए तम्मि वाऽत्रहाणं तओऽवही सो य मज्जाया ।  
जं तीए दक्काइ परोप्परं भुणइ तओऽवहिति ॥  
(विभा ८२)

जो अवधान से जानता है, वह अवधिज्ञान है । अंगुल के असंख्येय भाग क्षेत्र को जानने वाला अवधि-ज्ञानी आवलिका के असंख्येय भाग तक जानता है— इस प्रकार जो परस्पर नियमित द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि को जानता है, वह अवधिज्ञान है ।

अवशब्दोऽधःशब्दार्थः । अव —अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते — परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः ।

अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः ।

अवधानम् — आत्मनोर्यसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः ।  
(नन्दीमवृ प ६५)

अव शब्द का अर्थ है—अधः । अधो-अधोवर्ती रूपी द्रव्यों को विशेष रूप से जानता है, वह अवधिज्ञान है ।

अवधि का अर्थ है—मर्यादा । जिस ज्ञान की मर्यादा है केवल रूपी द्रव्यों को जानना, वह अवधिज्ञान है ।

अर्थ को साक्षात् करने का जो आत्मप्रयत्न है, अवधान है, वह अवधिज्ञान है ।

## २. अवधिज्ञान का विषय

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । तत्थ दव्वओ णं ओहिनाणी जहण्णेणं अणंताइं रुविदव्वाइं जाणइ पासइ । उक्कोसेणं सव्वाइं रुविदव्वाइं जाणइ पासइ ।

खेत्तओ णं ओहिनाणी जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइ-भागं जाणइ पासइ । उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोगे लोयमेत्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ ।

कालओ णं ओहिनाणी जहण्णेणं आवलियाए असंखे-ज्जइभागं जाणइ पासइ । उक्कोसेणं असंखेज्जाओ ओसप्पिणीओ उस्सप्पिणीओ अईयमणागयं च कालं जाणइ पासइ ।

भावओ णं ओहिनाणी जहण्णेणं अणंते भावे जाणइ पासइ । उक्कोसेणं वि अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्व-भावाणमणंताभागं जाणइ पासइ । (नन्दी २२)

अवधिज्ञान का विषय चार प्रकार का है—

द्रव्य से—अवधिज्ञानी जघन्यतः अनन्त रूपी द्रव्यों को तथा उत्कृष्टतः सब रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है ।

क्षेत्र से—अवधिज्ञानी जघन्यतः अंगुल का असंख्या-तवां भाग तथा उत्कृष्टतः अलोक में लोकप्रमाण असंख्य खण्डों को जानता-देखता है ।

काल से—अवधिज्ञानी जघन्यतः आवलिका के असंख्यातवै भाग को जानता-देखता है तथा उत्कृष्टतः अतीत और अनागत काल के असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी को जानता देखता है ।

भाव से—अवधिज्ञानी जघन्यतः तथा उत्कृष्टतः

अनन्त भावों (पर्यायों) को जानता-देखता है । वे अनन्त भाव भी सब भावों का अनन्तवां भाग ही हैं ।

तेआभासादव्वाण, अन्तरा इत्थ लहुइ पट्टवओ ।

गुरुलहुअगुरुलहुअं, तं पि अ तेणेव निट्ठाइ ॥

(आवनि ३८)

पट्टवओ नामावहिनाणस्सारंभओ तथाईए ।

उभयाजोगं वेच्छइ तेयाभासंतरे दव्वं ॥

गुरुलहु तेयासन्नं भासासन्नमगुरुं च पासे ॥

आरंभे जं दिट्ठं दट्ठणं पडइ तं चेव ॥

(विभा ६२८, ६२९)

अवधिज्ञानी प्रारम्भ में तैजसवर्गणा और भाषावर्गणा के अन्तरालवर्ती गुरुलघु और अगुरुलघुपर्याय वाले द्रव्य-पुद्गलों को जानता है । वे पुद्गल तैजस और भाषा के अयोग्य होते हैं । उनमें तैजसद्रव्यासन्न पुद्गल गुरुलघु और भाषाद्रव्यासन्न पुद्गल अगुरुलघु होते हैं ।

अवधिज्ञानावरण का उदय हो जाने पर प्रतिपाति अवधिज्ञान उतने द्रव्य को जानकर समाप्त हो जाता है ।

तेयकसरीरस्स अतिथूरत्तणेण अगगहणपाउग्गाणि दव्वाणि । भासाए य अतिसुहुमत्तणेण अगगहणपाउग्गाणि दव्वाणि । ताणि अंतराले वट्टमाणानि दव्वाणि गुरुलहु-याणि अगुरुलहुयाणि य भण्णति । (आवचू १ पृ ५०)

अतिस्थूल होने से तैजस शरीर के द्रव्य ग्रहण-प्रायोग्य नहीं हैं और अतिसूक्ष्म होने से भाषा के द्रव्य भी ग्रहणप्रायोग्य नहीं हैं । तैजस और भाषा के अन्तरालवर्ती द्रव्य गुरुलघु और अगुरुलघु—दोनों हैं और वे ही अवधिज्ञान के ग्रहणप्रायोग्य हैं ।

जति पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं वट्टति ततो विसुद्ध-परिणामगे ओहिणा परिवड्डमाणेण उवरिं जाव अचित्त-महाखंधो ताव पासति । हेट्ठावि जाव परमाणू पोगगला ताव पासति । (आवचू १ पृ ५८)

यदि प्रशस्त अथवसाय होते हैं तो विशुद्धपरिणामी अवधिज्ञानी वर्धमान अवधिज्ञान से अधिक से अधिक अचित्तमहास्कन्ध तक और कम से कम परमाणु-पुद्गल तक देखता है ।

संखिज्ज मणोदव्वे, भागो लोगपलियस्स बोद्धवो ।

संखिज्ज कम्मदव्वे, लोए थोवूणं पलियं ॥

(आवनि ४२)

मनोद्रव्य को देखने वाला अवधिज्ञानी क्षेत्रतः लोक

के संख्येय भाग को तथा कालतः पत्योपम के संख्येय भाग को जानता है। कर्मद्रव्य की वर्गणाओं को देखने वाला अवधिज्ञानी क्षेत्रतः लोक के संख्येय भागों को और कालतः पत्योपम के संख्येय भागों को जानता है। पूरे लोक को देखता हुआ अवधिज्ञानी कालतः कुछ कम पत्योपम को जान लेता है।

तेयाकम्मसरीरे, तेआदब्बे अ भासदब्बे अ।

बोद्धव्वमसंखिज्जा, दीवसमुद्दा य कालो अ ॥

(आवनि ४३)

तैजस शरीर, कार्मण शरीर, तैजस द्रव्य और भाषा द्रव्य को जानने वाला अवधिज्ञानी असंख्येय द्वीप-समुद्रां और असंख्येय काल को जानता है।

दब्बाओ असंखिज्जे, संखेज्जे आवि पज्जवे लहइ।

दो पज्जवे दुगुणिए, लहइ य एगाउ दब्बाउ ॥

(आवनि ६४)

एमं दब्बं पेच्छं खंधमणुं वा स पज्जवे तस्स।

उक्कोसमसंखिज्जे संखिज्जे पेच्छइ कोइ ॥

दो पज्जवे दुगुणिए सम्बजहूष्णेण पेच्छए ते य।

वण्णाईय चउरो नाणते पेच्छइ कयाइ ॥

(विभा ७६१, ७६२)

अवधिज्ञानी जघन्यतः प्रत्येक द्रव्य के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श लक्षणात्मक चार पर्यायों को जानता है। मध्यम अवधि में वह अनेक भेद वाले संख्येय पर्यायों को जानता है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञानी प्रत्येक द्रव्य के असंख्येय पर्यायों को जानता है, अनन्त पर्यायों को कभी नहीं जानता।

....खेत्त-कालदुगं।

रूवाणुगयं पेच्छइ न य तं चियं तं जओऽमुत्तं ॥

(विभा ६८८)

अवधिज्ञान का विषय रूपी -मूर्त द्रव्य है, अतः वह अमूर्त क्षेत्रकाल को नहीं देखता। मूर्त द्रव्य से सम्बद्ध क्षेत्र-काल को देखता है।

### ३. अवधिज्ञान के दो प्रकार

आहिनाणपच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—  
भवपच्चइयं च खओवसमियं च। (नन्दी ७)

अवधिज्ञान प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—

१. भवप्रत्ययिक—भवहेतुक अवधिज्ञान।

२. क्षायोपशमिक—अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न अवधिज्ञान।

### भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान

दुण्हं भवपच्चइयं, तं जहा देवाण य, नेरइयाण य।  
(नन्दी ७)

देवता और नारक—इन दोनों का अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक होता है।

जहा पक्खीणं विज्जादिसयादिकारणविरहियाणवि  
भवपच्चएण चैव आगासगमणलद्धी भवति। एवं  
देवणेरइयाणं भवपच्चइया ओहिणाणलद्धी भवति।

(आवचू १ पृ ३७)

जैसे पक्षियों को बिना किसी विद्यातिशय के आकाश-गमन की लब्धि जन्म से ही प्राप्त होती है, वैसे ही देव और नारकों के अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक होता है।

ओही खओवसमिए भावे भणिओ भवो तहोदइए।  
तो किहू भवपच्चइओ वोत्तुं जुत्तोऽवही दोण्हं ॥  
सो वि हु खओवसमओ किंतु स एव उ खओवसमलाभो।  
तम्मि सह होअवस्सं भण्णइ भवपच्चओ तो सो ॥

(विभा ५७३, ५७४)

अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव है और देवगति-नरकगति औदयिक भाव है, तब देव और नारक का अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक कैसे हो सकता है? देव-नारक को अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से ही प्राप्त होता है, किन्तु उस भव में उनके अवश्य होता है, इसलिए वह भवप्रत्ययिक अवधि कहलाता है।

### क्षायोपशमिक अवधिज्ञान

को हेऊ खओवसमियं? खओवसमियं—तयावरणि-  
ज्जाणं कम्माणं उदिष्णाणं खएणं, अणुदिष्णाणं उवसमेणं  
ओहिनाणं समुप्पज्जइ। (नन्दी ८)

येन कारणेन अवधिज्ञानावरणीयानां कर्मणामुदीर्णानां  
क्षयेण अनुदीर्णानाम्—उदयावलिकामप्राप्तानामुपशमेन-  
विपाकोदयविष्कम्भणलक्षणनावधिज्ञानमुत्पद्यते, तेन  
कारणेन क्षायोपशमिकमित्युच्यते। (नन्दीमवृ प ७७)

उदयावलिका में प्रविष्ट अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षय से, अनुदीर्ण अवधिज्ञानावरण कर्म के उपशम से—  
विपाकोदय को रोक देने से जो अवधिज्ञान प्राप्त होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान है।

....अहवा—गुणपडिवण्णस्स अणगारस्स ओहिनाणं  
समुप्पज्जइ। (नन्दी ८)

गुणप्रतिपन्न अनगार को अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है।

गुणाः—मूलगुणादयस्तैः प्रतिपन्नः—गृहीतो गुण-  
प्रतिपन्न इति। अनेन अतिशयपात्रतामाह...तस्य  
प्रशस्ताध्यवसायस्य तदावरणकर्मक्षयोपशमे सत्यवधिज्ञानं  
समुत्पद्यते। (नन्दीहावृ पृ २२)

गुणप्रतिपन्न का अर्थ है मूलगुण और उत्तरगुणों से  
प्रतिपन्न। यह अवधिज्ञान की अतिशयपात्रता है। जो  
इससे संयुक्त और प्रशस्त अध्यवसाय (भावधारा) वाला  
होता है, उसको अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम  
होने पर अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है।

खयोवसमो गुणमंतरेण गुणपडिवत्तितो वा भवति।  
गुणमंतरेण जहा गणनभ्रच्छादिते अहापवत्तितो छिद्देणं  
विणकरकिरण व्व विणिसिस्ता दन्वमुज्जोवन्ति तहाऽवधि-  
आवरणखयोवसमे अवधिलंभो अधापवत्तितो विण्णेतो।  
गुणपडिवत्तितो—उत्तरुत्तरचरणगुणविसुज्जभाणमवेक्खातो  
अवधिणाणदंसणावरणाण खयोवसमो भवति। तक्खयो-  
वसमे य अवधी उप्पज्जति। (नन्दीचू पृ १५)

क्षयोपशम दो तरह से होता है—

१. गुण की प्रतिपत्ति के बिना होने वाला क्षयोपशम—  
जैसे बादलों से आच्छन्न आकाश में कोई छिद्र रह  
जाये, उस छिद्र में से स्वाभाविक रूप से निःसृत  
सूर्य की किरण द्रव्य को प्रकाशित करती है, वैसे ही  
अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर यथाप्रवृत्त  
अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है।

२. गुण की प्रतिपत्ति से होने वाला क्षयोपशम—  
उत्तरोत्तर चरणगुण की विशुद्धि से अवधिज्ञानदर्शना-  
वरण का क्षयोपशम होने पर अवधिज्ञान की प्राप्ति  
होती है।

#### ४. अवधिज्ञान के निक्षेप

ओही खेतपरिमाणे संठाणे आणुगामिए।

अवट्टिए चले तिब्ब-मंदपडिवाउप्पाई य।।

नाण-दंसणविन्भंमे देसे खित्ते गई इय।

इड्डीपत्ताणुओगे य एमेथा पडिवत्तीओ।।

(आवनि २७, २८)

पन्द्रह निक्षेपों (दृष्टियों) के आधार पर अवधिज्ञान  
की मीमांसा की गई है

१. अवधि—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव,  
भाव।

२. क्षेत्र-परिमाण—अवधि का जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट  
क्षेत्र-परिमाण।

३. संस्थान—क्षेत्र के आधार पर अवधिज्ञान के  
संस्थान।

४. आनुगामिक—आनुगामिक - अनानुगामिक - मिश्र  
अवधि।

५. अवस्थित—लब्धि और उपयोग की अपेक्षा से अवधि  
का अवस्थान।

६. चल—वर्धमान-हीयमान अवधि।

७. तीव्र-मंद—विशुद्ध-अविशुद्ध अवधि।

८. प्रतिपात-उत्पाद—एक समय में अवधि की उत्पत्ति  
और विनाश।

९. ज्ञान—अवधिज्ञान।

१०. दर्शन—अवधिदर्शन।

११. विभंग—मिथ्यात्वी का अवधिज्ञान।

१२. देश—देश-सर्व (आंशिक-सम्पूर्ण) अवधिज्ञान

१३. क्षेत्र—संबद्ध-असंबद्ध आदि क्षेत्रसंबंधी अवधि।

१४. गति—गति, इन्द्रिय, काय, लेश्या आदि के आधार  
पर अवधि का प्रतिपादन।

१५. ऋद्धि—अवधिज्ञान-ऋद्धि के प्रसंग में अन्य ऋद्धियों  
का वर्णन।

#### ५. अवधिज्ञान के छह प्रकार

तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—आणुगामियं  
अणाणुगामियं वड्ढमाणयं हायमाणयं पडिवाइ अप्पडिवाइ।

(नन्दी ९)

अवधिज्ञान के छह प्रकार हैं—आनुगामिक, अनानु-  
गामिक, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति, अप्रतिपाति।

#### ६. आनुगामिक अवधि की परिभाषा

अणुगामिओऽणुगच्छइ मच्छत्तं लोयणं जहा पुरिसं।  
(विभा ७१५)

अणुगमणसीलो अणुगामितो तदावरणखयो-  
वसमाऽऽत्तप्पदेसविसुद्धगमणत्तातो लोयणं व।

(नन्दीचू पृ १५)

अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से आत्मप्रदेशों की  
विशुद्धि हो जाने पर जो ज्ञान एक स्थान से दूसरे स्थान  
पर जाते हुए अपने स्वामी का आंख की तरह अनुभव  
करता है, वह आनुगामिक अवधिज्ञान है।

#### आनुगामिक अवधि के प्रकार

आणुगामियं ओहिनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—  
अंतरयं च मज्झमयं च। (नन्दी १०)

आनुगामिक अवधि के दो प्रकार हैं—

१. अंतगत—शरीर के पर्यंतभागवर्ती चैतन्यकेन्द्रों से होने वाला अवधिज्ञान ।

२. मध्यगत—शरीर के मध्यभागवर्ती चैतन्यकेन्द्रों से होने वाला अवधिज्ञान ।

### अंतगत अवधिज्ञान

आत्मनोऽन्ते—पर्यन्ते स्थितमितिकृत्वा अन्तगतमित्युच्यते । तैरेव पर्यन्तवर्तिभिरात्मप्रदेशैः साक्षादवधिरूपेण ज्ञानेन ज्ञानात् न भेषैरिति ।

औदारिकशरीरस्यान्ते गतं स्थितं अन्तगतं, कयाचिदेकदिशोपलम्भात् । इदमपि स्पष्टंकरूपमवधिज्ञानम् ।

सर्वेषामध्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिक-शरीरान्तेनैकया दिशा यद्वशादुपलभ्यते तदप्यन्तगतम् ।

(नन्दीमवृ प ८३)

अंतगत अवधिज्ञान की व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है—

जो पर्यन्तवर्ती आत्मप्रदेशों से साक्षात् जानता है, वह अन्तगत अवधिज्ञान है ।

जो औदारिक शरीर के अन्त—किसी एक भाग से जानता है, वह स्पर्धक रूप अवधिज्ञान है ।

सब आत्मप्रदेशों का क्षयोपशम होने पर भी जो ज्ञान औदारिक शरीर के एक भाग से एक दिशा में जानता है, वह अन्तगत अवधिज्ञान है ।

### अंतगत के भेद

अंतगत्यं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—पुरओ अंतगत्यं, मग्गओ अंतगत्यं, पासओ अंतगत्यं । (नन्दी ११)

अंतगत अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—

१. पुरतः अंतगत, २. पृष्ठतः अंतगत, ३. पार्श्वतः अंतगत ।

### पुरतः अंतगत

पुरओ अंतगत्यं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा पुरओ काउं पणोत्तेमाणे-पणोत्तेमाणे गच्छेज्जा । (नन्दी १२)

जैसे कोई एक पुरुष उत्का (दीपिका), मशाल (पर्यन्त भाग में ज्वलित तृणपूलिका), अलात (अग्रभाग में ज्वलित काष्ठ), मणि, ज्योति (शराव आदि में स्थित अग्नि) अथवा प्रदीप को आगे करके उसे प्रदीप्त रखता हुआ

चलता है, उसे आगे के पदार्थ दिखाई देते हैं । इसी प्रकार पुरतः अंतगत अवधिज्ञानी अपने सामने के रूपी पदार्थों को जानता-देखता है ।

पुरतो अंतगत्यं णाम तमोहिण्णाणि पडुच्च च्चिख-दियमिव अग्गतो दरिसणसामत्थजुत्तं । जत्थ जत्थ ओहिणाणी गच्छइ तत्थ तत्थ पुरतो अवट्टिया रूवावबद्धा अत्था जाणति पासति य । (आवचू १ पृ ५६)

पुरतः अंतगत अवधिज्ञानी चक्षुइन्द्रिय की तरह सामने के पदार्थों को देखने में समर्थ होता है । वह अवधिज्ञानी जहां-जहां जाता है, वहां-वहां सामने अवस्थित मूर्त पदार्थों को जानता-देखता है ।

### पृष्ठतः अंतगत

मग्गओ अंतगत्यं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे-अणुकड्ढेमाणे गच्छेज्जा ।

(नन्दी १३)

जत्थ जत्थ सो ओहिण्णाणी गच्छति तत्थ तत्थ संफरिसिया फांसिदियमिव पिट्ठतो अवट्टिता रूवावबद्धा अत्था ओहिणा जाणति पासति । (आवचू १ पृ ५६)

जैसे कोई एक पुरुष दीपिका, मशाल, अलात, मणि, ज्योति अथवा प्रदीप को पीठ पीछे करके चलता है, उसे पीठ पीछे के पदार्थ दिखाई देते हैं । इसी प्रकार पृष्ठतः अंतगत अवधिज्ञानी जहां-जहां जाता है, वहां-वहां पीठ पीछे के रूपी पदार्थों को स्पर्शनइन्द्रिय से स्पृष्ट की तरह जानता-देखता है ।

### पार्श्वतः अंतगत

पासओ अंतगत्यं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे-परिकड्ढेमाणे गच्छेज्जा । (नन्दी १४)

जैसे कोई एक पुरुष दीपिका, मशाल, अलात, मणि, ज्योति अथवा प्रदीप को दक्षिण पार्श्व और वाम पार्श्व में करके चलता है तो उसे पार्श्व भाग के पदार्थ दिखाई देते हैं । इसी प्रकार पार्श्वतः अंतगत अवधिज्ञानी पार्श्ववर्ती भाग के रूपी पदार्थों को जानता-देखता है ।

पासतो अंतगत्यं णाम वामतो दाहिणतो वत्ति । जत्थ जत्थ सो ओहिणाणी गच्छति तत्थ तत्थ सोइदिणमिव पासतो अवत्थिता रूवावबद्धा अत्था ओहिणा जाणति पासति य । (आवचू १ पृ ५६)

पार्श्वतः अंतगत से तात्पर्य है—बायें-दायें भाग में

अवस्थित पदार्थ का ज्ञान। जहाँ-जहाँ पार्श्वतः अंतगत अवधिज्ञानी जाता है, वहाँ-वहाँ श्रोत्रेन्द्रिय की तरह उभय पार्श्व में अवस्थित रूपी पदार्थों को अवधि से जानता-देखता है।

### मध्यगत

मज्झगयं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चुडलियं वा अलायं वा मणिं वा जोई वा पईवं वा मत्थए काउं गच्छेज्जा। (नन्दी १५)

जैसे कोई एक पुरुष दीपिका, मशाल, अलात, मणि, ज्योति अथवा प्रदीप को मस्तक पर रखकर चलता है, उसे चारों ओर के पदार्थ दिखाई देते हैं। इसी प्रकार मध्यगत अवधिज्ञानी सब ओर के रूपी पदार्थ जानता-देखता है।

मज्झगतं पुण ओरालियसरीरमज्झे फड्ढगविसुद्धीतो सव्वातप्पदेसविसुद्धीतो वा सव्वदिसोवळंभत्तणतो मज्झगतो त्ति भणन्ति। (नन्दीचू पृ १६)

औदारिक शरीर के मध्यवर्ती स्पर्धकों की विशुद्धि से अथवा सब आत्म-प्रदेशों की विशुद्धि से सब दिशाओं का ज्ञान मध्यगत अवधिज्ञान कहलाता है।

मज्झगतं णाम जं समंततो अत्थग्गाहि। जहा फरिसिदिएणं समंतओ फरिसिए जीवो अत्थे उवलभति, एवं सोवि ओहिणाणी जत्थ-जत्थ गच्छति तत्थ-तत्थ समंतओ रुवाववद्धे अत्थे ओहिणा जाणति पासति य।

(आवचू १ पृ ५६,५७)

मध्यगत अवधिज्ञानी चारों ओर के पदार्थों को ग्रहण करता है। जैसे जीव स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा चारों ओर से स्पर्श करके विषय को जान लेता है, उसी प्रकार वह अवधिज्ञानी जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ चारों ओर के रूपी पदार्थों को अवधि से जानता-देखता है।

मध्यवर्तिष्वात्मप्रदेशेषु गतं—स्थितं मध्यगतम्। इदं च स्पर्द्धकरूपमवधिज्ञानं सर्वदिगुपलम्भकारणं मध्यवर्तिनामात्मप्रदेशानामवसेयम्।

सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽप्यौदारिक-शरीरमध्यभागोपलब्धिस्तन्मध्ये गतं मध्यगतम्।

तेनावधिज्ञानेन यदुद्योतितं क्षेत्रं सर्वासु दिक्षु, तस्य मध्यभागे गतं—स्थितं मध्यगतम्, अवधिज्ञानिनः तदुद्योतितक्षेत्रमध्यवर्तित्वात्। (नन्दीमवू प ८३,८४)

मध्यगत अवधि की व्याख्या के तीन कोण हैं—

यह स्पर्धकरूप अवधिज्ञान मध्यवर्ती आत्मप्रदेशों से

सब दिशाओं में जानता है, इसलिए मध्यगत अवधिज्ञान है।

सब आत्मप्रदेशों का क्षयोपशम होने पर भी जो ज्ञान औदारिक शरीर के मध्य भाग से जानता है, वह मध्यगत अवधिज्ञान है।

सब दिशाओं में अवधिज्ञान से जितना क्षेत्र प्रकाशित हुआ है, अवधिज्ञानी उस क्षेत्र के मध्य में स्थित है, इसलिए वह मध्यगत अवधिज्ञान है।

### अंतगत और मध्यगत में अन्तर

अंतगतस्स मज्झगयस्स य को पइविसेसो ? पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पुरओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ। मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेणं मग्गओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ। पासओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पासओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ। मज्झमएणं ओहिनाणेणं सव्वओ समंता संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ। (नन्दी १६)

शिष्य ने पूछा—अंतगत अवधिज्ञान और मध्यगत अवधिज्ञान में क्या अन्तर है? आचार्य ने कहा—

पुरतः अंतगत अवधिज्ञानी सामने स्थित संख्यात अथवा असंख्यात योजनों को ही जानता-देखता है। पृष्ठतः अंतगत अवधिज्ञानी पीछे-पीछे के संख्यात अथवा असंख्यात योजनों को ही जानता-देखता है। पार्श्वतः अंतगत अवधिज्ञानी पार्श्व भागों में स्थित संख्यात अथवा असंख्यात योजनों को ही जानता-देखता है। मध्यगत अवधिज्ञानी चारों ओर के संख्यात अथवा असंख्यात योजनों को जानता-देखता है।

### ७. अनानुगामिक अवधि की परिभाषा

से जहानामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरंतेहि-परिपेरंतेहि परिचोलेमाणे-परिचोलेमाणे तमेव जोइट्ठाणं पासइ, अण्णत्थ गए न पासइ। एवमेव अणाणुगामियं ओहिनाणं जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, अण्णत्थ गए ण पासइ। (नन्दी १७)

जैसे कोई एक पुरुष एक बहुत बड़ा ज्योति कुण्ड बनाकर उसके आस-पास चारों ओर चक्कर लगाता हुआ

उस ज्योतिस्थान को देखता है। अन्यत्र चले जाने पर उसे नहीं देखता।

इसी प्रकार अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसी क्षेत्र से सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध संख्येय अथवा असंख्येय योजन तक जानता देखता है, क्षेत्र का परिवर्तन होने पर नहीं देखता।

इयरो य नाणुगच्छइ ठियपईवो व्व गच्छंतं ।

(विभा ७१५)

अनानुगामिकं नावधिज्ञानिनं गच्छन्तमनुगच्छति,

सङ्कलाप्रतिबद्धप्रदीपवत् । (नन्दीहावृ पृ २३)

एक स्थान पर स्थित अथवा सांकल से प्रतिबद्ध दीपक की भांति जो ज्ञान गमनप्रवृत्त अवधिज्ञानी का अनुगमन नहीं करता, वह अनानुगामिक अवधिज्ञान है।

### आनुगामिक-अनानुगामिक के अधिकारी

अणुगामिओ उ ओही, नेरइयाणं तहेव देवाणं ।

अणुगामी अणुगामी, भीसो य मणुस्सतेरिच्छे ॥

(आवनि ५६)

नारक और देवों का अवधिज्ञान आनुगामिक होता है। मनुष्य और तिर्यचों का अवधिज्ञान आनुगामिक, अनानुगामिक और मिश्र—तीनों प्रकार का होता है।

### ८. वर्धमान अवधि की परिभाषा

वड्ढमाणं ओहिनाणं—पसत्थेसु अज्झवसाणट्टाणेसु वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स विसुज्झमाणस्स विसुज्झमाणचरित्तस्स सब्बओ समता ओही वड्ढइ । (नन्दी १८)

जो प्रशस्त अध्यवसायों में वर्तमान और चरित्र में वर्तमान है, जो विशुद्ध्यमान और विशुद्ध्यमान चरित्र वाला है, उसका अवधिज्ञान सब ओर से बढ़ता है। यह वर्धमान अवधिज्ञान है।

पुव्वावत्थातो उव्वरुवरि वड्ढमाणं ति । तं च उस्सणं चरणगुणविसुद्धिमपेक्खं, ततो पसत्थज्झवसाणट्टाणा तेआदिपसत्थलेसाणुगता भवन्ति । पसत्थद्वलेसाहि अणुरंजितं चित्तं पसत्थज्झवसाणो भण्णति । पसत्थज्झवसाणातो य चरणाऽऽतविसुद्धी । चरणाऽऽतविसुद्धीतो य चरणपच्चतलद्धीणं वड्ढी भवति । (नन्दीचू पृ १८)

पूर्व अवस्था की अपेक्षा से जो उत्तरोत्तर बढ़ता है, वह वर्धमान कहलाता है। वर्धमान अवधि प्रायः चारित्र-पर्यवों की विशुद्धि से होता है। चारित्रविशुद्धि से प्रशस्त तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या वाले प्रशस्त

अध्यवसाय होते हैं। प्रशस्त अध्यवसायों से चरणगुण-सम्पन्न आत्मा की विशुद्धि होती है। इससे चरणशुद्धि-जन्य लब्धि (अवधिज्ञान) की वृद्धि होती है।

उत्पत्तिकालादारभ्य प्रवर्द्धमानम् ।

(नन्दीहावृ पृ २३)

जो उत्पत्तिकाल से निरन्तर बढ़ता जाता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान है।

बहुबहुतरेन्धनप्रक्षेपादिभिर्वर्द्धमानदहन म्वालाकलाप इव पूर्वावस्थातो यथायोगं प्रशस्तप्रशस्ततराध्यवसायभावतोऽभिवर्द्धमानमवधिज्ञानं वर्द्धमानकं, तच्चासकृद्विशिष्टगुणविशुद्धिसापेक्षत्वात् । (नन्दीमवृ प ८२)

जैसे प्रचुर इन्धन डालने से अग्नि बढ़ती है, वैसे ही प्रशस्त-प्रशस्ततर अध्यवसायों के कारण उत्तरोत्तर बढ़ने वाला अवधिज्ञान वर्धमान अवधिज्ञान है। उसकी बार-बार वृद्धि गुण-विशुद्धि सापेक्ष होती है।

### वर्धमान अवधि: द्रव्यचतुष्टयी की वृद्धि-हानि

अंगुलमावलियाणं, भागमसंखेज्ज दोसु संखेज्जा ।

अंगुलमावलियाणं, आवलिया अंगुलपुहत्तं ॥

हत्थमिमुहत्तं, दिवसंतो गाउयमि बोद्धव्वो ।

जोयणदिवसपुहत्तं, पक्खंतो पण्णवीसाओ ॥

भरहम्मि अद्धमासो, जंबुद्धीवमि साहिओ मासो ।

वासं च मणुयलोए, वासपुहत्तं च ख्यममि ॥

संखेज्जमि उ काले, दीवसमुद्दा वि हुंति संखेज्जा ।

कालमि असंखेज्जे, दीवसमुद्दा उ भइयव्वा ॥

(नन्दी १८/३-६)

अंगुल के असंख्येय भाग क्षेत्र को देखने वाला काल की दृष्टि से आवलिका के असंख्येयभाग तक देखता है। अंगुल के संख्येय भाग क्षेत्र को देखने वाला आवलिका के संख्येयभाग तक देखता है। अंगुल जितने क्षेत्र को देखने वाला भिन्न (अपूर्ण) आवलिका तक देखता है। काल की दृष्टि से एक आवलिका तक देखने वाला क्षेत्र की दृष्टि से अंगुलपृथक्त्व (दो से नौ अंगुल) क्षेत्र को देखता है।

एक हाथ जितने क्षेत्र को देखने वाला अन्तर्मुहूर्त जितने काल तक देखता है, एक गव्यूत (गाऊ) क्षेत्र को देखने वाला अन्तर्दिवस काल (एक दिन से कुछ कम) तक देखता है। एक योजन क्षेत्र को देखने वाला दिवस पृथक्त्व (दो से नौ दिवस) काल तक देखता है। पञ्चस योजन क्षेत्र को देखने वाला अन्तःपक्ष काल



(कुछ कम एक पक्ष) तक देखता है।

भरत जितने क्षेत्र को देखने वाला अर्द्धमास काल तक देखता है, जम्बूद्वीप जितने क्षेत्र को देखने वाला साधिक मास (एक महीने से कुछ अधिक) काल तक देखता है, मनुष्यलोक जितने क्षेत्र को देखने वाला एक वर्ष तक देखता है, रुचक द्वीप जितने क्षेत्र को देखने वाला वर्ष-पृथक्त्व (दो से नौ वर्ष) तक देखता है।

संख्येय काल तक देखने वाला संख्येय द्वीप-समुद्र जितने क्षेत्र को देखता है। असंख्येय काल तक देखने वाला असंख्येय द्वीप-समुद्र जितने क्षेत्र को देख सकता है, पर नियामकता नहीं है।

### वृद्धि-हानि का नियम

काले चउणह वुड्ढी, कालो भइयव्वु खेत्तवुड्ढीए।

वुड्ढीए दव्वपज्जव, भइयव्वा खेत्तकाला उ ॥

(नन्दी १८।७)

कालवृद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव की वृद्धि में कालवृद्धि की भजना है। द्रव्य और पर्याय की वृद्धि में क्षेत्र और काल की वृद्धि की भजना है।

सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयस्यं हवइ खेत्तं।

अंगुलसेटीमित्ते, ओसप्पिणिओ असंखेज्जा ॥

(नन्दी १८/८)

काल सूक्ष्म होता है, क्षेत्र उससे सूक्ष्मतर होता है। अंगुलश्रेणि मात्र आकाशप्रदेश का परिमाण असंख्येय अवसर्पिणी की समय राशि जितना होता है।

क्षेत्रं ह्यत्यन्तसूक्ष्मम्। कालस्तु तदपेक्षया परि-  
स्यूरः, ततो यदि प्रभूता क्षेत्रवृद्धिस्ततो वर्द्धते शेषकालं  
नेति। द्रव्यपर्यायी तु नियमतो वर्द्धते।

द्रव्यं क्षेत्रादपि सूक्ष्मं, एकस्मिन्नपि नभःप्रदेशे-  
ऽनन्तस्कन्धावगाहनात्। द्रव्यादपि सूक्ष्मः पर्यायः, एक-  
स्मिन्नपि द्रव्येऽनन्तपर्यायसम्भवात्। ततो द्रव्यपर्याय-  
वृद्धौ क्षेत्रकालौ भजनीयावेव भवतः। द्रव्ये च वर्धमाने  
पर्याया नियमतो वर्धन्ते, प्रतिद्रव्यं संख्येयानामसंख्येयानां  
चावधिना परिच्छेदसंभवात्। पर्यायतो वर्द्धमाने द्रव्यं  
भाज्यं, एकस्मिन्नपि द्रव्ये पर्यायविषयावधिवृद्धिसम्भ-  
वात्।

(नन्दीमवृ प १५)

क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म है। उसकी अपेक्षा काल स्थूल है। इसलिए यदि अवधिज्ञान की क्षेत्र-वृद्धि प्रचुर मात्रा में होती है तो कालवृद्धि होती है, अन्यथा नहीं। द्रव्य और पर्याय की वृद्धि निश्चित रूप से होती है।

द्रव्य क्षेत्र से भी सूक्ष्म होता है। क्योंकि एक आकाश प्रदेश में भी अनन्त स्कन्धों का अवगाहन हो सकता है। पर्याय द्रव्य से भी सूक्ष्म हैं। एक ही द्रव्य में अनन्त पर्याय होते हैं। द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल की वृद्धि भजनीय है—होती भी है और नहीं भी होती। द्रव्य की वृद्धि होने पर पर्याय की वृद्धि निश्चित है। अवधिज्ञानी प्रत्येक द्रव्य के संख्येय और असंख्येय पर्यायों को जानता है। पर्याय की वृद्धि होने पर द्रव्य की वृद्धि की भजना है—वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती। एक द्रव्य में भी पर्यायविषयक अवधिज्ञान की वृद्धि होना संभव है।

### वृद्धि-हानि के प्रकार—

वुड्ढी वा हाणी वा, चउव्विहा होइ खित्तकालाणं।

दव्वेसु होइ दुविहा, छव्विह पुण पज्जवे होइ ॥

(आवनि ५९)

अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र और काल में वृद्धि-हानि चार प्रकार की होती है। द्रव्यों में वृद्धि-हानि दो प्रकार की और पर्यायों में वृद्धि-हानि छह प्रकार की होती है।

पइसमयससंखिज्जइभागहियं कोइ संखभागहियं।

अन्नो सखेज्जगुणं खित्तमसंखेज्जगुणमण्णो ॥

पेच्छइ विवड्ढमाणं हायंतं वा तहेव कालं पि।

नाणंतवुड्ढिह-हाणी पेच्छइ जं दो वि नाणंते ॥

(विभा ७३०, ७३१)

क्षेत्र और काल की वृद्धि-हानि के चार प्रकार—

- |                        |                      |
|------------------------|----------------------|
| १. असंख्यात भाग वृद्धि | १. असंख्यात भाग हानि |
| २. संख्यात भाग वृद्धि  | २. संख्यात भाग हानि  |
| ३. संख्यात गुण वृद्धि  | ३. संख्यात गुण हानि  |
| ४. असंख्यात गुण वृद्धि | ४. असंख्यात गुण हानि |

दव्वमणंतसहियं अनंतगुणवड्ढियं च पेच्छेज्जा।

हायंतं वा भावम्मि छव्विहा वुड्ढिह-हाणीओ ॥

(विभा ७३२)

द्रव्य की वृद्धि-हानि के दो प्रकार—

- |                     |                    |
|---------------------|--------------------|
| १. अनन्त भाग वृद्धि | १. अनन्त भाग हानि  |
| २. अनन्त गुण वृद्धि | २. अनन्त गुण हानि। |

पर्याय की वृद्धि-हानि के छह प्रकार—

- |                        |                      |
|------------------------|----------------------|
| १. अनन्त भाग वृद्धि    | १. अनन्त भाग हानि    |
| २. असंख्यात भाग वृद्धि | २. असंख्यात भाग हानि |
| ३. संख्यात भाग वृद्धि  | ३. संख्यात भाग हानि  |

४. संख्यात गुण वृद्धि ४. संख्यात गुण हानि  
 ५. असंख्यात गुण वृद्धि ५. असंख्यात गुण हानि  
 ६. अनन्त गुण वृद्धि ६. अनन्त गुण हानि

वृद्धीए चिय वृद्धी हाणी हाणीए न उ विवज्जासो ।  
 भागे भागो गुणणे गुणो य दव्वाइसंजोए ॥

(विभा ७३३)

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में परस्पर द्रव्य की वृद्धि होने पर क्षेत्र आदि की भी वृद्धि होती है और एक की हानि होने पर दूसरे की भी हानि होती है। इनमें से परस्पर एक की वृद्धि और दूसरे की हानि—यह विपर्यास नहीं होता। द्रव्य आदि में से एक की भाग रूप में वृद्धि-हानि होने पर दूसरे की वृद्धि-हानि भाग रूप में ही होती है। एक की वृद्धि-हानि गुणन रूप में होने पर दूसरे की वृद्धि-हानि गुणन रूप में ही होती है।

**अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र : पनक का वृष्टांत**

जावइआ तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स ।

ओगाहणा जहण्णा, ओहीखेत्तं जहण्णं तु ॥

(नन्दी १८१)

तीन समय के आहारक सूक्ष्म पनक (वनस्पति विशेष) जीव के शरीर की जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतना अवधि का जघन्य क्षेत्र है।

पढम-विईएत्तिसण्हो जमइत्थूलो चउत्थयाईसु ।

तइयसमयम्मिं जोगो गहिओ तो तिसमयाहारो ॥

(विभा ५९५)

प्रथम और द्वितीय समय में 'पनक' की अवगाहना अत्यन्त सूक्ष्म होती है। चतुर्थ, पंचम आदि समयों में वह अतिस्थूल हो जाती है। तृतीय समय में उसकी जितनी अवगाहना होती है, उतना क्षेत्र अवधिज्ञान का विषय बनता है। इसलिए 'त्रिसमयाहारक पनक' का ग्रहण उचित है।

जो जोयणसाहस्सो मच्छो नियए सरीरदेसम्मि ।

उववज्जंती पढमे समए संखिवइ आयामं ॥

पथरमसंखिज्जंगुलभागतणुं मच्छदेहविच्छिण्णं ।

वीए तइए सूइ संखिविउं होइ तो पणओ ॥

उववायाओ तइए जं देहमाणमेयस्स ।

तण्णेप्रदव्वभायणमोहिक्खित्तं जहन्नं तं ॥

(विभा ५८९-५९१)

अत्र चायं सम्प्रदायः—यः किल योजनसहस्रपरिमाणायामो मत्स्यः स्वशरीरबाह्यकदेश एवोत्पद्यमानः प्रथम-

समये सकलनिजशरीरसम्बद्धमात्मप्रदेशानामायामं संहत्याङ्गुलासंख्येयभागबाह्यं स्वदेहविष्कम्भायाम-विस्तारं प्रतरं करोति। तमपि द्वितीयसमये संहत्याङ्गुलासंख्येयभागबाह्यविष्कम्भा मत्स्यदेहविष्कम्भायामात्मप्रदेशानां सूचि विरचयति। ततस्तृतीयसमये तामपि संहत्याङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्र एव स्वशरीरबाह्यःप्रदेशे सूक्ष्मपरिणामपनकरूपतयोत्पद्यते। तस्योपपातसमयादारभ्य तृतीये समये वर्तमानस्य यावत्प्रमाणं शरीरं भवति तावत्परिमाणं जघन्यमवधेः क्षेत्रमात्मबन्वस्तुभाजनमवसेयम् । (नन्दीमवृ प ९१)

इस विषय की गुरुपरम्परा यह है—एक मत्स्य, जो हजार योजन लम्बा है, जो अपने ही शरीर के बाह्य भाग के एक देश में उत्पन्न होने वाला है, वह पहले समय में अपने शरीर में व्याप्त सब आत्मप्रदेशों की लम्बाई को संकुचित कर प्रतर बनाता है। उस प्रतर की मोटाई अंगुल के असंख्येयभागप्रमाण तथा लम्बाई-चौड़ाई अपने देहप्रमाण होती है।

दूसरे समय में वह उस प्रतर को संकुचित कर स्वदेहप्रमाण लम्बाई-चौड़ाई वाले आत्मप्रदेशों की सूची बनाता है। उस सूची की मोटाई और चौड़ाई अंगुल के असंख्येयभागप्रमाण होती है।

तीसरे समय में उस सूची को संकुचित कर अंगुल के असंख्येयभागप्रमाण, अपने शरीर के बाहरी प्रदेश में सूक्ष्म परिणति वाले पनक के रूप में उत्पन्न होता है। उत्पत्ति के तीसरे समय में पनक के शरीर का जितना प्रमाण होता है, उतने ही प्रमाण वाला जघन्य क्षेत्र है अवधिज्ञान का। इतने क्षेत्र में अवस्थित रूपी वस्तु अवधिज्ञानी का विषय बनती है।

**९. वर्धमान अवधि (परमावधि) का उत्कृष्ट क्षेत्र**

सव्वबहु अगणिजीवा, निरन्तरं जत्तियं भरिज्जंसु ।

खेत्तं सव्वदिसागं, परमोही खेत्तनिद्दिट्ठो ॥

(नन्दी १८१)

जिस समय अग्नि के सर्वाधिक जीवों ने निरन्तर जितने क्षेत्र को व्याप्त किया था, उतना सब दिशाओं में परमावधि का क्षेत्र होता है।

उक्कोसया य सुहुमा जया तथा सव्वबहुगममणीणं ।

परिमाणं संभवओ तं छद्दा पूरणं कुणइ ॥

(विभा ६००)

जब सूक्ष्म अग्निजीव उत्कृष्ट रूप में उत्पन्न होते हैं, तब बादर अग्निजीवों के साथ मिलकर सर्वबहु अग्नि जीवों का परिमाण संभव होता है। यह अवसर्पिणी में द्वितीय तीर्थकर के काल में हुआ था। इस संभावना को छह प्रकार से व्यवस्थापित किया जा सकता है।

एकैककागासपएसजीवरयणाए सावगाहे य ।

चउरसघणं पयरं सेदी छद्दी सुयाएसो ॥

(विभा ६०१)

एक-एक आकाश-प्रदेश में जीव रचना के द्वारा और स्व-अवगाह (स्थापना) द्वारा चतुरस्र संस्थान में घन, प्रतर और श्रेणि के भेद से छह प्रकार के आदेश संभव हैं। उनमें केवल छठा आदेश ही श्रुतादेश है। प्रथम पांच आदेश सदोष हैं, अतः अग्राह्य हैं।

तैः सर्वैरप्यग्निजीवैः समचतुरस्रो घनो यतो द्विभेदः स्थाप्यते ।... एकैकाकाशप्रदेशे एकैकाग्निजीवरचनया स्वावगाहे चासंख्येयाकाशप्रदेशलक्षण एकैकाग्निजीव-रचनयेति ।...

एवमेकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनयाऽसंख्येयप्रदेशा-त्मकस्वावगाहस्थापनया च प्रतरोऽपि द्विभेदः। सूचिरपि द्विभेदाः। तत्र घनप्रतरपक्षश्चतुर्भेदः, पञ्चमश्चैकैकाकाश-प्रदेशव्यवस्थापितैकैकजीवलक्षणसूचिपक्षोऽपि न ग्राह्यः, दोषद्वयानुषङ्गात्। तथाहि— पञ्चविधयाऽप्यनया स्थापनया स्थापिता अग्निजीवाः षट्स्वपि दिक्ष्ववधि-ज्ञानिनोऽसत्कल्पनया भ्रम्यमाणाः स्तोकमेव क्षेत्रं स्पृशन्ती-त्येको दोषः। एकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनाया-मागमविरोधश्च द्वितीयदोषः, असंख्येयाकाशप्रदेशानन्त-रेणाऽगमे जीवावगाहनिषेधात्।

(विभामवृ पृ २६९, २७०)

घन, प्रतर, सूची—ये दो-दो प्रकार के होते हैं—

१. एक-एक आकाश प्रदेश में एक-एक जीव।

२. असंख्यात-असंख्यात आकाशप्रदेशों में एक-एक जीव।

इस प्रकार तीनों के छह प्रकारों में पांच सदोष हैं। दोष के दो कारण हैं—

१. असत्कल्पना से अवधिज्ञानी के छहों दिशाओं में भ्रम्यमाण ये जीव थोड़े ही क्षेत्र का स्पर्श करते हैं।

२. एक-एक आकाशप्रदेश में एक-एक जीव की स्थापना आगमविरुद्ध है। क्योंकि आगम में असंख्येय आकाशप्रदेशों के बिना जीव के अवगाह का निषेध है।

### सूचीग्रहण के दो गुण

सूचिरैकैकजीवस्यासंख्येयाकाशप्रदेशावगाहे व्यवस्था-पितत्वाद् बहुतरं क्षेत्रं स्पृशति, इत्येको गुणः। अवगाह-विरोधाभावस्तु द्वितीयः। (विभामवृ पृ २७०)

१. सूची में एक-एक जीव असंख्येय आकाश प्रदेशों में पंक्ति रूप में अवगाह होता है, तब बहुतर क्षेत्र की स्पर्शना करता है।

२ इस अवगाह का आगम में विरोध नहीं है।

इसलिए सूचीलक्षणात्मक छठे विकल्प का ही आगम में आदेश—ग्रहण है।

घण-पयरसेदिसणियं नणु तुल्लं चिय विगप्पणा कीस ।

छद्दा कीरइ भण्णइ पुरिसपरिक्खेवओ भेओ ॥

(विभा ६०२)

एकैकप्रदेशावगाहजीवघनो भ्रम्यमाणो यावत् क्षेत्रं स्पृशति, तस्मादसंख्येयप्रदेशावगाहजीवघनोऽसंख्येयगुणं स्पृशति, ततोऽप्येकैकप्रदेशावगाहजीवप्रतरोऽसंख्येयगुणं, तस्मादप्यसंख्येयप्रदेशावगाहजन्तुप्रतरोऽसंख्येयगुणं, ततो-ऽप्येकैकप्रदेशावगाहजीवसूचिरसंख्येयगुणं, तस्मादप्य-संख्येयाकाशप्रदेशावगाहैकैकाग्निजीवसूचिरवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु भ्रम्यमाणाऽसंख्येयगुणं क्षेत्रं स्पृशति, तच्छाऽलोके लोकप्रमाणाऽन्यसंख्येयाकाशखण्डानि। अत एतावदेवावधेरुत्कृष्टं क्षेत्रं विषयः।

(विभामवृ पृ २७१)

एक-एक प्रदेशावगाह जीवघन भ्रमण करता हुआ जितना क्षेत्र स्पर्श करता है, उससे असंख्यप्रदेशावगाह जीवघन असंख्यात गुना स्पर्श करता है। उससे एक-एक प्रदेशावगाह जीवप्रतर असंख्यात गुना स्पर्श करता है। उससे असंख्येय प्रदेशावगाह जीवप्रतर असंख्यात गुना स्पर्श करता है। उससे एक-एक प्रदेशावगाह जीवसूची असंख्यात गुना स्पर्श करता है। उससे असंख्येय प्रदेशावगाह जीवसूची असंख्यात गुना स्पर्श करता है। यह अग्निकाय के जीवों की सूची है।

ये सर्व दिशाओं में भ्रमण करते हुए असंख्यात गुना क्षेत्र-स्पर्शन करते हैं। यह अलोक में लोक प्रमाण

असंख्येय आकाशखण्ड जितना है। यह अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र है।

निययावगाहणागणिजीवसरीरावली समतेण ।  
भामिज्जइ ओहिन्नाणिदेहपज्जंतओ सा य ॥  
अइगंतूण अलोमं लोगागासप्पमाणमेत्ताइ ।  
ठाइ असंखेज्जाइ इदमोहिखेतमुक्कोसं ॥  
(विभा ६०३, ६०४)

लोक के असंख्येय प्रदेशों में अवगाहित पंक्तिरूप में व्यवस्थित उन अग्निजीवों की सूची काल्पनिक रूप से अवधिज्ञानी के शरीर के चारों ओर घुमाइ जाए तो वह लोक जितने व्यापक असंख्येय आकाश खंडों का अतिक्रमण कर आलोक में जा उठर जाती है। यह अवधिज्ञानी का उत्कृष्ट क्षेत्र है।

सामत्थमेत्तमेयं जइ दट्टुवं हवेज्ज पेच्छेज्जा ।  
न य तं तत्थत्थि जओ से रुविनिबंधणो भणिओ ॥  
(विभा ६०५)

यदि इतने क्षेत्र में कुछ भी द्रष्टव्य रूपी पदार्थ हो तो अवधिज्ञानी उसे देख सकता है। यह अवधिज्ञान का मात्र सामर्थ्य बताया गया है। अवधिज्ञान का विषय है रूपी पदार्थ, जो आलोक में नहीं है।

### परमावधि का विषय

परमोहि असंखिज्जा, लोगमित्ता समा असंखिज्जा ।  
रूवगयं लहइ सच्चं, खित्तोवमिअं अगणिजीवा ॥  
(आवनि ४५)

परमावधि क्षेत्रतः असंख्येय लोक परिमित खंडों को जानता है। कालतः वह असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी को जानता है। द्रव्यतः सब मूर्त द्रव्यों को जानता है। उसका क्षेत्रोपमान अग्नि जीवों के समान है।

वड्ढंतो पुण बाहि लोगत्थं चैव पासई दव्वं ।  
सुहुमयरं सुहुमयमं परमोही जाव परमाणुं ॥  
(विभा ६०६)

सामर्थ्य से लोक के बाहर बढ़ता हुआ वह अवधिज्ञान लोक में स्थित द्रव्यों को ही देख सकता है। वह परमावधि सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम परमाणु को भी देख सकता है।

### परमावधि नौ पूर्वजन्मों को जानता है

एगपएसोगाढं परमोही लहइ कम्मगसरीरं ।  
लहइ य अगुरुयलघुअं, तेयसरीरे भवपुहत्तं ॥  
(आवनि ४४)  
तेयसरीरं पासं पासइ सो भवपुहत्तमेगभवे ।  
णेगेसुं बहुतरए सरिज्ज न उ पासए सच्चे ॥  
(विभा ६७७)

परम अवधिज्ञानी एक प्रदेश में अवगाढ परमाणु यावत् अनंतप्रदेशी स्कन्ध, कामण शरीर और गुरुलघु-अगुरुलघु द्रव्यों को देखता है। जो अवधि तैजस शरीर को देखता है, वह कालतः भवपृथक्त्व (दो से नौ) भवों को देखता है उस भवपृथक्त्व के मध्य किसी भव में यदि उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो तो उस अवधिज्ञान से दृष्ट पूर्व भवों की उसे स्मृति होती है, उनका साक्षात् नहीं होता।

एगपएसोगाढे भणिए कि कम्मयं पुणो भणियं ।  
(विभा ६७८)

यः सूक्ष्मं परमाण्वादि पश्यति तेन बादरं कामण-शरीराद्यवश्यमेव द्रष्टव्यम्, यो वा बादरं पश्यति तेन सूक्ष्ममवश्यं ज्ञातव्यमित्ययं न कोऽपि नियमः ।

(विभामवृ पृ २९२)

शिष्य ने पूछा—एक प्रदेशावगाढ परमाणु आदि सूक्ष्म वस्तुओं को जानने वाला परमावधि कर्मशरीर आदि स्थूल वस्तुओं को तो जानता ही है, फिर कर्म-शरीर को स्वतंत्र रूप से क्यों ग्रहण किया गया है ?

गुरु ने कहा—यह कोई नियम नहीं है कि जो सूक्ष्म परमाणु को देखता है, वह बादर कामणशरीर आदि को अवश्य देखता है अथवा जो बादर को देखता है, वह सूक्ष्म को अवश्य देखता है।

...सपहयरं पेच्छंतो थूलयरं न मुणइ घडाइं ॥

जह वा मणोविओ नत्थि दंसणं सेसएत्थिथूले वि ।

(विभा ६८०, ६८१)

सूक्ष्मतर पदार्थों को जानने वाला अवधिज्ञानी घट आदि स्थूल पदार्थों को नहीं जानता। जैसे मनःपयंवज्ञानी सूक्ष्म मनोद्रव्य को तो जानता है, पर वह शेष अतिस्थूल पदार्थों को नहीं जानता।

### परम अवधिज्ञानी को कैवल्य

परमोहिन्नाणविओ केवलमंतोमुहुत्तमित्तेण ।.....  
(विभा ६८९)

परमोही अंतोमुहुत्तं भवति । ततो परं केवलनाणं समुपपज्जति ।  
(आवचू १ पृ ४०)

परम अवधिज्ञान का कालमान है --अन्तर्मुहुत्तं ।  
उसके पश्चात् केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

## १०. हीयमान अवधिज्ञान

हायमाणयं ओहिनाणं अप्पसत्थेहि अज्झवसाणट्ठाणेहि वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स, संकिलिस्समाणस्स संकिलिस्समाणचरित्तस्स सब्बओ समंता ओही परिहायइ ।  
(नन्दी १८)

अप्रशस्त अध्यवसायों में वर्तमान, अप्रशस्त आचरणवाले तथा उत्तरोत्तर संक्लेश को प्राप्त और संक्लिश्यमान आचरणवाले व्यक्ति का अवधिज्ञान चारों ओर से क्षीण होता है ।

उदयसमयसमनन्तरमेव हीयमानं दग्धेन्धनप्रायःधूम-  
ध्वजाचिर्वातवदित्यर्थः । (नन्दीहावृ पृ २३)

उत्पत्तिकाल के साथ ही जो बुझती हुई अग्नि-  
ज्वाला की तरह क्षीण होने लगता है, वह हीयमान  
अवधिज्ञान है ।

## ११. प्रतिपाति अवधिज्ञान

पडिवाइ ओहिनाणं—जण्णं जहण्णेणं अंगुलस्स असल्लेज्जयभागं वा सल्लेज्जयभागं वा, वालग्गं वा वालग्ग-  
पुहत्तं वा, लिक्खं वा लिक्खपुहत्तं वा, जूयं वा जूयपुहत्तं  
वा, जवं वा जवपुहत्तं वा, अंगुलं वा अंगुलपुहत्तं वा,  
पायं वा पायपुहत्तं वा, विहत्थि वा विहत्थिपुहत्तं वा,  
रयणि वा रयणिपुहत्तं वा, कुच्छि वा कुच्छिपुहत्तं वा,  
धणुं वा धणुपुहत्तं वा, माउयं वा माउयपुहत्तं वा, जोयणं  
वा जोयणपुहत्तं वा, जोयणसयं वा जोयणसयपुहत्तं वा,  
जोयणसहस्सं वा जोयणसहस्सपुहत्तं वा, जोयणलक्खं वा  
जोयणलक्खपुहत्तं वा, जोयणकोडिं वा जोयणकोडिपुहत्तं  
वा, जोयणकोडाकोडिं वा जोयणकोडाकोडिपुहत्तं वा,  
उक्कोसेणं लोणं वा—पासित्ताणं पडिवाएज्जा ।  
(नन्दी २०)

जो अवधिज्ञान अधन्यतः अंगुल का असंख्यातवां  
भाग, संख्यातवां भाग, बालाग्र, बालाग्रपृथक्त्व, लिक्षा,  
लिक्षापृथक्त्व, यूका, यूकापृथक्त्व, यव, यवपृथक्त्व,  
अंगुल, अंगुलपृथक्त्व, पाद, पादपृथक्त्व, वितस्ति, वित-  
स्तिपृथक्त्व, रत्ति, रत्तिपृथक्त्व, कुक्षि, कुक्षिपृथक्त्व,  
धनुष्य, धनुष्यपृथक्त्व, गव्यूत, गव्यूतपृथक्त्व, योजन,

योजनपृथक्त्व, योजनशत, योजनशतपृथक्त्व, योजन-  
सहस्र, योजनसहस्रपृथक्त्व, योजनलक्ष, योजनलक्षपृथक्त्व,  
योजनकोटि, योजनकोटिपृथक्त्व, योजनकोटाकोटि,  
योजनकोटाकोटिपृथक्त्व, अथवा उत्कृष्टतः संपूर्ण लोक को  
देखकर गिर जाये—नष्ट हो जाए, वह प्रतिपाति  
अवधिज्ञान है ।

यदुत्पन्नं सत् क्षयोपशमानुरूपं कियत्कालं स्थित्वा  
प्रदीप इव सामस्त्येन विश्वंसमुपयाति तत्प्रतिपातीत्यर्थः ।  
(नन्दीमवृ प ८२)

जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने पर क्षयोपशम के अनुरूप  
कुछ काल तक अवस्थित रहकर बाद में प्रदीप की तरह  
पूर्ण रूप से बुझ जाता है, वह प्रतिपाति अवधिज्ञान है ।

## १२. अप्रतिपाति अवधिज्ञान

अपडिवाइ ओहिनाणं—जेणं अलोगस्स एगमवि  
आगासपएसं पासेज्जा, तेण परं अपडिवाइ ओहिनाणं ।  
(नन्दी २१)

जो अवधिज्ञान अलोकाकाश के एक प्रदेश अथवा  
उससे आगे देखने की क्षमता रखता हो, वह अप्रतिपाति  
अवधिज्ञान है ।

न प्रतिपाति—यत् न केवलज्ञानादवाक् भ्रंशमुपयाति  
तदप्रतिपातीत्यर्थः । (नन्दीमवृ प ८२)

जो ज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व नष्ट नहीं  
होता, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान है ।

## १३. स्पर्धक अवधि : परिभाषा और स्वरूप

जालकडगस्स अंतो दीवको पलीविओ । तओ तस्स  
पईवस्स लेसातो तहिं जालंतरेहिं निग्गच्छंति । निग्गताओ  
य समाणीओ वाहिं अवट्ठियाणि रूविद्व्वाइ उज्जोवेति ।  
एवं जीवस्सवि जेसु आगासपदेसेसु ओहिण्णाणावरणिज्जाणं  
कम्माणं खओवसप्पो भवति, तेसु ओहिण्णाणं समुपपज्जति ।  
जेसु पुण आगासपदेसेसु ओहिण्णाणावरणक्खओवसप्पो  
णत्थि, तेसु ओहिण्णाणं ण उपपज्जति । जेसि जीवाणं  
केसुवि आगासपदेसेसु ओही उप्पण्णो, केसुवि न उप्पन्नो,  
तत्थ जेसु उप्पण्णो ते फड्डुमा भण्णांति । (आवचू १ पृ ६१)

एक दीपक जल रहा है । उस पर जालीदार ढक्कन  
लगा हुआ है । उससे प्रकाश की रश्मियां छिद्रों से बाहर  
आती हैं । वे रश्मियां बाहर आकर बाह्य रूपी पदार्थों  
को प्रकाशित करती हैं । इसी प्रकार जीव के भी जिन  
आकाशप्रदेशों (आत्मप्रदेशों) में अवधिज्ञानावरणीय कर्म

का क्षयोपशम होता है, उनमें अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। जिन आकाशप्रदेशों में अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं होता, उनमें अवधिज्ञान उत्पन्न नहीं होता। जीवों के कुछ आकाशप्रदेशों में अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, कुछ में नहीं होता। जिन आकाशप्रदेशों में अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उन्हें स्पर्धक कहा जाता है।

अवधिरूपद्यमानः कोऽपि स्पर्धकरूपतयोत्पद्यते । स्पर्धकं च नामावधिज्ञानप्रभाया गवाक्षजालादिद्वारबिनिर्गतप्रदीपप्रभाया इव प्रतिनियतो विच्छेदविशेषः । तथा चाह जिनभद्रक्षमाश्रमणः स्वोपज्ञभाष्यटीकायां—‘स्पर्धकमवधि-विच्छेदविशेषः’ इति । तानि चैकजीवस्य सङ्ख्येयान्य-सङ्ख्येयानि वा भवन्ति; यत उक्तं मूलावश्यकप्रथमपीठिकायां—‘फट्टा य असङ्खेज्जा सङ्खेज्जा आवि एग-जीवस्स ।’ स्पर्धकानि विचित्ररूपाणि । (नन्दीमवृ प ८३)

अवधिज्ञान के अनेक प्रकार हैं। उत्पन्न होता हुआ कोई अवधिज्ञान स्पर्धक रूप में उत्पन्न होता है। जैसे झरोखे की जाली में से निकलने वाली दीपक की प्रभा का प्रतिनियत आकार होता है, वैसे ही स्पर्धक अवधिज्ञान की प्रभा का प्रतिनियत विच्छेद करते हैं। वे स्पर्धक एक जीव के संख्येय अथवा असंख्येय होते हैं। वे विचित्र (विभिन्न) आकार वाले होते हैं।

#### असंख्येय स्पर्धक

फट्टा य असंखेज्जा, संखेज्जा यावि एगजीवस्स ।  
एगप्फड्डुत्तओगे, नियमा सञ्चत्थ उवउत्तो ॥  
(आवनि ६०)

...उवउज्जइ जुगवं चिय जह समयं दोहि नयणेहि ॥  
(विभा ७४१)

एक जीव के असंख्येय अथवा संख्येय स्पर्धक होते हैं। एक स्पर्धक का उपयोग करने वाला जीव निश्चित रूप से एक साथ सब स्पर्धकों का उपयोग करता है। जैसे कि एक आंख का उपयोग करने वाला व्यक्ति दोनों आंखों से उपयुक्त होता है—एक साथ देखता है।

#### स्पर्धक : आनुगामिक आदि

फट्टा य आणुगामी अणाणुगामी य मीसया चेव ।  
पडिवाई अपडिवाई मीसा य मणुस्स-तेरिच्छे ॥  
(आवनि ६१)

स्पर्धक तीन प्रकार के होते हैं—१. आनुगामिक

२. अनानुगामिक ३. मिश्र। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार होते हैं—१. प्रतिपाति २. अप्रतिपाति ३. मिश्र। ये स्पर्धक मनुष्यों और तिर्यञ्चों के अवधिज्ञान में घटित होते हैं।

#### स्पर्धक : तीव्र, मंद, मिश्र

जालंतरत्थदीवप्पहोवमो फट्टुगावही होइ ।  
तिव्वो विमलो मंदो मलीमसो मीसरूवो य ॥  
(विभा ७४०)

झरोखे की जाली में रखे दीपक की प्रभा के समान स्पर्धक अवधि होता है। विशुद्ध क्षयोपशमजन्य स्पर्धकों से उत्पन्न निर्मल अवधिज्ञान तीव्र कहलाता है। अविशुद्ध क्षयोपशमजन्य स्पर्धकों से होने वाला मलिन अवधिज्ञान मंद कहलाता है। मध्यम क्षयोपशमजन्य अवधिज्ञान मिश्र (तीव्र-मंद) कहलाता है।

#### स्पर्धकों के स्थान

कानिचित् पर्यन्तवर्तिष्वात्मप्रदेशेषूत्पद्यन्ते, तत्रापि कानिचित्पुरतः कानिचित्पृष्ठतः कानिचिदधोभागे कानि-चिदुपरितनभागे तथा कानिचिन्मध्यवर्तिष्वात्मप्रदेशेषु ।  
(नन्दीमवृ प ८३)

अवधिज्ञान के कुछ स्पर्धक पर्यन्तवर्ती आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होते हैं। कुछ आगे के आत्मप्रदेशों में, कुछ पृष्ठवर्ती आत्मप्रदेशों में, कुछ अधोभाग में, कुछ उपरितन भाग में तथा कुछ मध्यवर्ती आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होते हैं।

#### १४. बाह्यलब्धि-आभ्यन्तर लब्धि अवधि

बाहिरलंभे भज्जो, दब्बे खित्ते य कालभावे य ।  
उप्पा पडिवाओऽवि य तं उभयं एगसमएणं ॥

बाहिरलंभो नाम जत्थ से ठियस्स ओहिण्णाणं समु-  
प्पण्णं तम्मि ठाणे सो ओहिण्णाणी न किंचि पासति । तं पुण ठाणं जाहे अंतरियं होति, तं जहा—अंगुलेण वा अंगुलपुहत्तेण वा एवं जाव संखेज्जेहि वा असंखेज्जेहि वा जोधणेहि, ताहे पासइ । जेसि दब्बखेत्तकालभावानं काणिवि एगसमएण चेव पुव्वदिट्ठाणि ण पासति । काणिइ पुण अदिट्ठपुव्वाणि पासति ।

(आवनि ६२ चू १ पृ ६२, ६३)

जिस स्थान पर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी स्थान पर स्थित अवधिज्ञानी कुछ नहीं देख पाता। उस स्थान से हटकर अंगुल, अंगुलपृथक्त्व यावत् संख्येय योजन

अथवा असंख्येय योजन दूर जाने पर देख पाता है, यह बाह्यलब्धि अवधिज्ञान है।

इसमें पूर्वदृष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कुछ हिस्से को जिस एक समय में नहीं देखता, उसी एक समय में कुछ अदृष्टपूर्व को देख लेता है। इस प्रकार एक ही समय में ज्ञान का उत्पाद और प्रतिपात होता है।

बाहिरओ एगदिसो फडोही वाऽहवा असंबद्धो ।....  
बाह्यावधिर्देशावधिरयम् । (विभा ७४९ मवृ पृ ३१२)

अवधिज्ञानी अपने जिस ज्ञान से एक दिशा में स्थित पदार्थों को जानता है अथवा कुछ स्पर्धक विशुद्ध, कुछ स्पर्धक अविशुद्ध होने से अनेक दिशाओं में अंतर सहित जानता है अथवा क्षेत्रीय व्यवधान के कारण असंबद्ध जानता है, वह बाह्यावधि कहलाता है। बाह्यावधि को देशावधि कहा जाता है।

अभिन्तरलद्धीए उ तदुभयं नत्थि एगसमएणं ।

नप्पा पडिवाओऽविम, एगयरो एगसमएणं ॥

अभिन्तरलद्धी नाम जत्थ से ठियस्स ओहिनाणं समुप्पणं तत्थ ठाणातो आरम्भ ओहिनाणी निरंतरं संबद्धं संखेज्जमसंखेज्जं वा खेतं ओहिणा जाणइ पासइ ।

(आवनि ६३ चू १ पृ ६४)

आभ्यन्तरलब्धि में उत्पाद और प्रतिपात—दोनों एक समय में नहीं होते। एक समय में उत्पाद अथवा प्रतिपात होता है।

जिस स्थान में अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उस स्थान से अवधिज्ञानी निरन्तर सम्बद्ध संख्येय अथवा असंख्येय योजन क्षेत्र को अवधि से जानता-देखता है।

अयं ह्यभ्यन्तरावधिः प्रदीपप्रभापटलवदवधिमता जीवेन सह सर्वतो नैरन्तर्येण संबद्धोऽखण्डो देशरहित एक-स्वरूपः, अत एवायं सम्बद्धावधिरदेशावधिश्चोच्यते ।

(विभामवृ पृ ३१३)

प्रदीपप्रभा की तरह आभ्यन्तर अवधि अवधिज्ञानी से निरन्तर संबद्ध, अखंड, विभागरहित और एक स्वरूप होने से अदेशावधि (सर्वावधि) कहलाता है।

नेरइयदेवतित्थंकरा य, ओहिस्सवाहिरा हुंति ।

पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ॥

(नन्दी २२/२)

नैरयिक, देव और तीर्थकर अवाह्य अवधिज्ञान वाले होते हैं—वे सर्वतः देखते हैं। शेष (अंतगत अवधिज्ञान वाले) मनुष्य और तिर्यच एक देश से देखते हैं।

## १५. संबद्ध-असंबद्ध अवधि

संखिज्जमसंखिज्जो, पुरिसमबाहाइ खित्तओ ओही ।  
संबद्धमसंबद्धो, लोगमलोमे य संबद्धो ॥

(आवनि ६७)

संबद्ध और असंबद्ध—दोनों प्रकार का अवधि क्षेत्र की दृष्टि से संख्येय अथवा असंख्येय योजन तक जानता है।

पुरुष आदि के अबाधा (देह और अवधिज्ञान से प्रकाशित क्षेत्र का अन्तर) का प्रमाण भी संख्येय या असंख्येय योजन है। यह अन्तर असम्बद्ध अवधि में ही होता है, सम्बद्ध अवधि में नहीं। यह अवधि लोक और अलोक में भी सम्बद्ध-असम्बद्ध होता है।

ओही पुरिसे कोई संबद्धो जह पभा पदीवम्मि ।

दूरंधयारदीवयदरिसणमिव कोई विच्छिण्णो ॥

(विभा ७७३)

किसी अवधिज्ञानी में अवधिज्ञान प्रदीप में प्रभा की तरह सम्बद्ध होता है—वह ज्ञानी अपने अवस्थिति क्षेत्र से निरन्तर द्रष्टव्य वस्तु को जान लेता है। कोई अवधिज्ञान अवधिज्ञानी में असम्बद्ध होता है। जैसे दूरी और अन्धकार के कारण प्रदीप की प्रभा विच्छिन्न हो जाती है।

संखेज्जमसंखेज्जं देहाओ खित्तमंतरं काउं ।

संखेज्जाऽसंखेज्जं पेच्छेज्जं तदंतरमबाहा ॥

(विभा ७७४)

अवधिज्ञानी की देह से क्षेत्र का अन्तर संख्येय अथवा असंख्येय योजन है। पुरुष और अबाधा की दृष्टि से इन दोनों के चार-चार विकल्प बनते हैं—

- |                        |               |
|------------------------|---------------|
| १. संख्येय योजन अन्तर  | संख्येय अवधि  |
| २. संख्येय योजन अन्तर  | असंख्येय अवधि |
| ३. असंख्येय योजन अन्तर | संख्येय अवधि  |
| ४. असंख्येय योजन अन्तर | असंख्येय अवधि |

संबद्धाऽसंबद्धो नर-लौयतेसु होइ चउभंगो ।

संबद्धो उ अलोए नियमा पुरिसे वि संबद्धो ॥

(विभा ७७५)

जो अवधि अलोक में सम्बद्ध है, वह पुरुष में भी सम्बद्ध ही होता है। लोकान्त और पुरुष की अपेक्षा से चार विकल्प बनते हैं—

१. पुरुष में संबद्ध, लोकान्त में संबद्ध—लोक प्रमाण अवधि ।
२. पुरुष में संबद्ध, लोकान्त में असंबद्ध—लोकदेशवर्ती आभ्यन्तर अवधि ।
३. पुरुष में असंबद्ध, लोकान्त में संबद्ध—यह भंग शून्य है ।
४. पुरुष में असंबद्ध, लोकान्त में असंबद्ध—बाह्य अवधि ।

### १६. अवधिज्ञान की असंख्यता-अनंतता

संखाईआओं खलु, ओहिनाणस्स सब्बपयडीओ ।

(आवनि २५)

क्षेत्रकालाख्यप्रमेयापेक्षयैव संख्यातीताः, द्रव्यभावाख्य-  
ज्ञेयापेक्षया चानन्ताः । (आवहावृ १ पृ १८)

क्षेत्र और काल रूप ज्ञेय की अपेक्षा से अवधिज्ञान की प्रकृतियां असंख्य हैं । ज्ञेय के भेद के आधार पर ज्ञान के भेद होते हैं । अतः द्रव्य और भाव रूप ज्ञेय की अपेक्षा से अवधिज्ञान की प्रकृतियां अनंत हैं ।

वित्थरेण खयोवसमविसेसतो असंखेज्जविध्वमोधिष्णाणं ।  
(नन्दीचू पृ २०)

क्षयोपशम के तारतम्य के आधार पर अवधिज्ञान असंख्य प्रकार का है ।

### १७. अवस्थित-अनवस्थित अवधि

द्रव्यादिषु कियन्तं कालमप्रतिपत्तितः सन्नुपयोगतो लब्धितश्चाऽऽस्ते ? इत्येवमवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः । तथा वर्धमानतया हीयमानतया च चलोऽनवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः ।  
(विभामवृ पृ. २६२)

एक द्रव्य अथवा एक पर्याय में लब्धि और उपयोग की अपेक्षा से अवधिज्ञान जितने समय तक स्थिर रहता है, वह अवस्थित अवधिज्ञान है ।

कोई अवधिज्ञान प्राप्ति के पश्चात् क्षेत्र आदि की अपेक्षा से बढ़ता है और कोई अवधिज्ञान क्षीण होता चला जाता है—यही चल अथवा अनवस्थित अवधिज्ञान है ।

अवधिज्ञान का अवस्थान : आधार क्षेत्र की अपेक्षा

खित्तस्स अवट्टाणं, तित्तीसं सागरा उ कालेणं ।...

(आवनि ५७)

आधार क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान उत्कृष्टतः तृतीस सागरोपम तक अवस्थित रहता है ।

खेत्तगहणेणं भवखेत्तस्स गहणं कत्तं । तं च पडुच्च ओहिन्नाणं जहन्नेणं एवकं समयं होज्जा, उक्कोसेणं तृतीसं सागरोवमाणि होज्जा । एत्थ एगो समयो तिरियस्स वा मणुयस्स वा भवति । जस्स कस्सइ एवकंमि समए ओहिष्णाणं उप्पणं वितिए समए से आउयं पहीणं चेव । देवस्स वा मिच्छद्दिट्ठिस्स एगं समयं सम्मत्तं पड्विन्नस्स नवरं वितियसमए आउयं पहीणं चेव । उक्कोसयं पुण तृतीससागरोवमियं भवखेत्तावट्टाणं देवे णेरइए पडुच्च भविज्जा ।  
(आवचू १ पृ ५८)

भवक्षेत्र (आधार क्षेत्र) की अपेक्षा अवधिज्ञान की अवस्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट तृतीस सागरोपम है । किसी मनुष्य या तिर्यच को यदि प्रथम समय में अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और दूसरे समय में उसकी आयु क्षीण हो जाती है तो उसके अवधिज्ञान की स्थिति एक समय की होती है ।

कोई मिथ्यादृष्टि देव जब प्रथम समय में सम्यक्त्व प्राप्त करता है और दूसरे समय में उसकी आयु क्षीण हो जाती है, तब एक समय का अवधिज्ञान होता है । अवधि का उत्कृष्ट क्षेत्र-अवस्थान देव और नारक की अपेक्षा तृतीस सागरोपम का है ।

### उपयोग की अपेक्षा अवस्थान

दब्बे भिष्णमुहुत्तो, पज्जवलभे य सत्तट्ठ ॥

(आवनि ५७)

अवधिज्ञानी उपयोग की अपेक्षा एक द्रव्य में अन्त-मूर्हत और एक पर्याय में सात-आठ समय तक अवस्थित रह सकता है ।

भित्तमुहुत्तं ओहिष्णाणी एकदब्बे णिरंतरोवउत्तो अच्छेज्जा । ततो परेणं निरोहमसहमाणो ण सक्केति तंमि दब्बमि उवउत्तो अच्छिउं । जह कोइ पुरिसो अईव सण्हसुईए पासच्छिदे णिरंतरोवउत्तो न सक्केति दीहं कालं अच्छिउं ।  
(आवचू १ पृ ५८)

अवधिज्ञानी का एक द्रव्य में अन्तमूर्हत तक निरन्तर उपयोग रह सकता है । उससे आगे निरोध को सहन नहीं कर सकता, इसलिए उस द्रव्य में अन्तमूर्हत से अधिक अवस्थित नहीं रह सकता । जैसे—कोई व्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म सूई के पार्श्वच्छिद्र में लम्बे समय तक निरन्तर नहीं देख सकता ।



भावओऽपि अवट्टाणं जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं सत्तट्टु समयया । तिक्कयरेण उक्वओगेण दक्कस्स पज्जवोवल्लंभो भवति, अओ तिक्कवओगेण य सुट्ठुतरं निरोहमसहणो न सक्केति तंमि पज्जए सत्तहं अट्टण्हं वा समयाणं उवारी अच्छिउं ।  
(आवचू १ पृ ५८)

भाव—पर्याय की अपेक्षा अवधिज्ञानी का उपयोग जघन्यतः एक समय, उत्कृष्टतः सात-आठ समय तक अवस्थित रह सकता है । द्रव्य के पर्यायों का ज्ञान तीव्रतर उपयोग (महरी एकाग्रता) से होता है । वह अवधिज्ञान तीव्रतर उपयोग से होने वाले सघन निरोध को सहन नहीं कर सकता । अतः वह उस पर्याय पर सात-आठ समयों से अधिक अवस्थित नहीं रह सकता ।

जह-जह सुहुमं वत्थुं तह-तह थोवओवओगया होइ ।  
दक्क-गुण-पज्जवेसुं तह पत्तेयं पि नायव्वं ॥  
(विभा ७२३)

वस्तु जितनी-जितनी सूक्ष्म होती है, उपयोग का काल उतना-उतना कम होता जाता है । द्रव्य, गुण और पर्याय के लिए यह एक सामान्य नियम है ।

### लब्धि की अपेक्षा अवस्थान

अद्धाइ अवट्टाणं, छावट्टी सागरा उ कालेणं ।  
उक्कोसणं तु एयं, इक्को समयओ जहण्णेणं ॥  
(आवनि ५८)

सा सागरोवमाइं छावट्टिं होज्ज साइरेगाइं ।  
विजयाइसु दो वारे गयस्स नरजम्मणा समयं ॥  
(विभा ७२५)

अवधिज्ञान का लब्धितः उत्कृष्ट अवस्थान कुछ अधिक छिद्यासठ सागरोपम है । जो जीव उत्कृष्ट स्थिति वाले विजय आदि अनुत्तर विमानों में दो बार उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा से अवधि की अवस्थिति छिद्यासठ सागरोपम है । मनुष्य जन्म की स्थिति साथ मिलाने से यह सातिरेक है । इसका जघन्य अवस्थान एक समय है ।

चरिमसमयम्मि सम्मं पड्विज्जंतस्स जं चिय विभंगं ।  
तं होइ ओहिनाणं मयस्स बीयम्मि तं पडइ ॥  
(विभा ७२७)

जीवन के अन्तिम समय में सम्यक्त्व प्राप्त होने पर विभंगज्ञान अवधिज्ञान बन जाता है । तत्काल मृत्यु होने पर दूसरे समय में वह क्षीण हो जाता है ।

### १८. अवधिज्ञान के संस्थान

थिबुयायार जहण्णो, वट्टो उक्कोसमायओ किची ।....  
(आवनि ५४)

सव्वुक्कोसओ ओही सो वट्टो....वट्टभावो सो पुण लोणं पडुच्च किचि आयतो भवति । (आवचू १ पृ ५५)

जघन्य अवधि का संस्थान जलबिन्दु के समान होता है । सर्वोत्कृष्ट अवधि का संस्थान लोक की अपेक्षा से कुछ दीर्घता लिए/आयत वृत्ताकार होता है ।

### मध्यम अवधि का संस्थान—

....अजहण्णमणुक्कोसो य खित्तओ गेगसंठाणो ॥  
तप्पागारे पल्लग पडहग भल्लरि मुइंग पुप्फ जवे ।....  
नेरइय-भवण-वणयर-जोइस-कप्पालयाणमोहिस्स ।  
गेविज्जणुत्तराण य होतागिइओ जहासंखं ॥  
(आवनि ५४, ५५; विभा ७०७)

मध्यम अवधि का संस्थान अनेक प्रकार का होता है । नारक जीवों का अवधिज्ञान तप्राकार होता है । भवनपति देवों का अवधि पल्लक (धान्यकोष्ठक) के आकार वाला, व्यन्तर देवों का पटह के आकार वाला, ज्योतिष्क देवों का भल्लरी (आतोद्यविशेष) के आकार वाला, सौधर्म आदि कल्पवासी देवों का मृदंग के आकार वाला, प्रैवेयक देवों का पुष्पचगरी के आकार वाला तथा अनुत्तरविमानवासी देवों का अवधिज्ञान यवनालक (कन्याचोलक/सरकंचुक) के आकार वाला होता है ।

नाणागारो तिरियमणुएसु मच्छा सयंभूरमणेव्व ।  
तत्थ वलयं निसिद्धं तस्सिह पुण तं पि होज्जाहि ॥  
(विभा ७१२)

स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्यों की भांति तिर्यंच और मनुष्यों का अवधिज्ञान नाना संस्थान वाला होता है । उन मत्स्यों में वलयाकार मत्स्य नहीं होते, किंतु तिर्यंच और मनुष्य के अवधिज्ञान का संस्थान वलयाकार भी होता है ।

मज्झिमओही सो खेतं पडुच्च अणेगविहसंठाणो भवति । तं जहा— तप्पागारसंठाणसंठियं खेतं पडुच्च तप्पागारसंठितो भवति....हयसंठाण-संठियं खेतं पडुच्च हयसंठिओ.....पव्वयसंठाणसंठिअं खेतं पडुच्च पव्वय-संठिओ भवति ।  
(आवचू १ पृ ५५)

क्षेत्र के आधार पर मध्यम अवधिज्ञान अनेक प्रकार के संस्थान वाला होता है। जैसे—तप्राकार संस्थान-संस्थित क्षेत्र की अपेक्षा से वह तप्राकार संस्थान वाला होता है। अथ संस्थान-संस्थित क्षेत्र की अपेक्षा अश्व के संस्थान वाला होता है। पर्वत संस्थान-संस्थित क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान का संस्थान पर्वत जैसा होता है।

**विशेष**—नदी में अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र तीन समय का आहारक सूक्ष्म पनक जीव बतलाया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में जघन्य अवधिज्ञान का संस्थान जल-विन्दु बतलाया गया है। अवधिज्ञान का क्षेत्रपरिमाण और संस्थान का अंतर विमर्शनीय है। इस अन्तर का हेतु है—क्षेत्र परिमाण ज्ञेय की दृष्टि से बतलाया गया है। संस्थान ज्ञान के आकार की दृष्टि से बतलाया गया है।

आवश्यकनिर्युक्ति के व्याख्याकारों ने अवधिज्ञान के संस्थानों को शरीरगत संस्थान नहीं माना। गोम्मटसार और धवला में उन्हें शरीरगत संस्थान माना गया है। शरीरगत संस्थान वाला मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अवधिज्ञान की रश्मियों का निर्गमन शरीर के माध्यम से होता है, ऐसा आवश्यकवृत्ति और नदीचूर्ण में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर आचार्यों ने अवधिज्ञान की प्रकाशरश्मियों के संस्थान का प्रतिपादन किया है, किंतु उनके संस्थान का आधार शरीरगत संस्थान बनते हैं, इसका उल्लेख नहीं किया है। भगवती (८।१०३) में विभंगज्ञान के संस्थानों का उल्लेख है। जैसे—वृषभ का संस्थान, हय का संस्थान, गज का संस्थान आदि। (देखें—भगवती ८।१७-१०३ का भाष्य।)

## १६. अवधिज्ञान और क्षेत्र-मर्यादा

भवणवइ-वंतराण उड्डं बहुगो अहो य सेसाणं ।  
नारग-जोइसियाणं तिरियं ओरालिओ चित्तो ॥  
(विभा ७।३)

भवनपति और व्यंतर देवों का अवधिज्ञान ऊर्ध्व लोक को अधिक जानता है। वैमानिक देवों का अवधिज्ञान अधोलोक को अधिक जानता है। ज्योतिष्क और नारकी जीवों का अवधिज्ञान तिर्यग्लोक को अधिक जानता है। औदारिक अवधिज्ञान विविध प्रकार का होता है।

तिर्यग्-मनुष्याणां तु सम्बन्धी अवधिरीदारिकावधि-

रुच्यते । अयं पुनश्चित्रो नानाप्रकारः—केषांचिदूर्ध्वं बहुः, अन्येषां त्वधः, अपरेषां तु तिर्यक्; केषांचित् स्वल्प इति भावः ।  
(विभामवृ पृ ३०१)

तिर्यक् और मनुष्यों का अवधिज्ञान औदारिक अवधि कहलाता है। यह नाना प्रकार का होता है। किसी का यह अवधिज्ञान ऊर्ध्व लोक को अधिक जानता है, किसी का अधोलोक को और किसी का तिरछे लोक को। किसी का अवधिज्ञान स्वल्प होता है।

वेमाणियाणमंगुलभागमसखं जहण्णओ होइ ।

उववाए परधविओ तवभवजो होइ तो पच्छा ॥

उवकोसो मणुएसुं मणुस्स-तेरिच्छएसु य जहण्णो ।....

(विभा ७०२, ७०३)

सौधर्म आदि वैमानिक देवों में जघन्य अवधिज्ञान अंगुल के असंख्येय भाग जितना होता है—यह कथन पिछले भव की अपेक्षा से है। उपपातकाल में पारभविक अवधिज्ञान इतना हो सकता है। उपपात के अन्तर तद्भविक—देवभवसंबन्धी अवधिज्ञान होता है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञान मनुष्यों में ही होता है, अन्य योनियों में नहीं होता। मनुष्यों और तिर्यञ्चों में ही जघन्य अवधिज्ञान होता है।

जहण्णवकोसवज्जो मज्झिमओधी भण्णति । सो य चउसु वि गतीसु भवति ।  
(आवचू १ पृ ५५)

जघन्य और उत्कृष्ट को छोड़कर शेष मध्यम अवधि कहलाता है। यह चारों गतियों में होता है।

## वैमानिक देवों का अवधिज्ञान

सक्कीसाणा पढमं, तुच्चं च सणकुमारमाहिदा ।  
तच्चं च बभलंतग, सुक्कसहस्सारय चउत्थि ॥  
आणयपाणयकप्पे, देवा पासंति पंचमि पुढवि ।  
तं चेव आरणच्चुय, ओहीनाणेण पासंति ॥  
छट्ठि हेट्ठिममज्झिमवेदिज्जा सत्तमि च उवरिस्सा ।  
संभिण्णलोगनात्ति, पासंति अणुत्तरा देवा ॥  
(आवनि ४८-५०)

सौधर्म और ईशान कल्पवासी देव अवधिज्ञान से प्रथम (रत्नप्रभा) पृथ्वी को देखते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पवासी देव दूसरी (शर्कराप्रभा) पृथ्वी को देखते हैं। ब्रह्म और लान्तक कल्पवासी तीसरी (बालुका-प्रभा) पृथ्वी को देखते हैं। शुक्र और सहस्रार कल्पवासी देव चतुर्थ (पंकप्रभा) पृथ्वी को देखते हैं। आनत और

प्राणत कल्पवासी देव पांचवीं (धूमप्रभा) पृथ्वी को देखते हैं। अधस्तन व मध्यम ग्रैवेयक विमानवासी देव छठी (तमः-प्रभा) पृथ्वी को तथा उपरितन ग्रैवेयक विमानवासी देव सातवीं (तमस्तमःप्रभा) पृथ्वी को देखते हैं। अनुत्तर-विमानवासी देव अवधिज्ञान से सम्पूर्ण लोकनाड़ी को देखते हैं।

जो जं पुढवि देवो ओहिणा जाणति पासति, सो तीए पुढवीए सकातो सरीराओ आरम्भ जाव हिट्टिल्लो चरि-मंतो ताव गिरंतरं सभिण्णं पव्वयकुड्ढादीहि गिरावरणं ओहिणा जाणति पासति। (आवचू १ पृ ५४)

जो देवता जिस पृथ्वी को अवधिज्ञान से जानता-देखता है, वह अपने शरीर से प्रारम्भ कर उस पृथ्वी के अधस्तलवर्ती चरमान्त तक जानता-देखता है। उसका ज्ञान निरन्तर परिपूर्ण होता है तथा उसमें पर्वत, भीत आदि का व्यवधान नहीं होता।

एएसिमसंखिज्जा, तिरियं दीवा य सागरा चैव ।  
बहुअरं उवरिमगा, उड्ढं सगकप्पयभाई ॥  
(आवनि ५१)

वैमानिक देव अवधिज्ञान से तिर्यंग्लोक के असंख्येय द्वीपों और समुद्रों को देख लेते हैं। ये देव ऊर्ध्वलोक में अपने कल्प के ही स्तूपध्वजापर्यंत देखते हैं।

### देवों का आयुष्य और अवधिक्षेत्र

संखेज्जजोयणा खलु, देवाणं अद्धसागरे ऊणे ।  
तेण परमसंखेज्जा, जहण्णयं पंचवीसं तु ॥  
(आवनि ५२)

पणुवीसजोयणाइं दसवाससहस्सिया ठिई जेसिं ।  
दुविहो वि जोइसाणं संखिज्ज ठिईविसेसेणं ॥  
(विभा ७०१)

जिन देवों का आयुष्य अर्ध सागरोपम से कुछ कम होता है, उनके अवधिज्ञान का क्षेत्र संख्येय योजन परिमाण है। जिन देवों का आयुष्य पूर्ण अर्ध सागरोपम और उससे अधिक होता है, उनके अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्येय योजन परिमाण है। दस हजार वर्षों की जघन्य स्थिति वाले भवनपति और व्यंतर देवों के अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र पंचवीस योजन परिमाण है।

ज्योतिष्क देवों का जघन्य और उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र संख्येय योजन ही होता है। (क्योंकि उनका जघन्य आयुष्य पत्योपम का आठवां भाग तथा उत्कृष्ट आयुष्य एक लाख वर्ष अधिक एक पत्योपम का होता है।)

सागारमणागारा ओहि-विभंगा जहण्णया तुल्ला ।  
उवरिमगेवेज्जेसु परेण ओही असंखेज्जो ॥  
(विभा ७६३)

ग्रैवेयकविमानेभ्यः तु परतोऽनुत्तरविमानेष्वधिज्ञाना-वधिदर्शनरूपोऽवधिरेव भवति, न तु विभंगज्ञानम्, मिथ्या-दृष्टेरेव तत्सद्भावात्, अनुत्तरसुरेषु च मिथ्यादृष्टेरभा-वात् । स चाऽनुत्तरसुरावधिः क्षेत्रतः कालतश्चाऽसंख्ये-योऽसंख्यातविषयो भवति, द्रव्यभावंस्त्वनन्तविषय इति । इह च तिर्यग्-मनुष्याणां तुल्यस्थितीनामपि क्षयोपशम-तीत्रमन्दतादिकारणवैचित्र्यात् क्षेत्रकालविषयेऽप्यवधि-विभङ्गज्ञानदर्शनयोर्विचित्रता, न पुनस्तुल्यतैव ।

(विभामवृ पृ ३१६, ३१७)

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक (ग्रैवेयक पर्यंत) देव—इनमें जिनकी स्थिति (आयु) तुल्य होती है, उनका अवधिज्ञान-अवधिदर्शन अथवा विभंगज्ञान-विभंग-दर्शन विषय, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से तुल्य होता है—जघन्य स्थिति वाले देवों का अवधिज्ञान जघन्य, मध्यम स्थिति वाले देवों का मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों का उत्कृष्ट होता है।

ग्रैवेयक विमानों से आगे पांच अनुत्तरविमानों में अवधिज्ञान ही होता है, विभंगज्ञान नहीं होता। विभंग-ज्ञान मिथ्यादृष्टि के ही होता है। अनुत्तर विमानों के देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। अनुत्तरविमानवासी देव अवधि-ज्ञान से असंख्येय क्षेत्र और काल को जानते हैं, अनन्त द्रव्यों और पर्यायों को जानते हैं।

तुल्य स्थिति वाले पंचेन्द्रिय और मनुष्यों का अवधि-ज्ञान या विभंगज्ञान तुल्य नहीं होता। क्षयोपशम की तीव्रता, मन्दता आदि कारणों की विचित्रता से उनका अवधिज्ञान या विभंगज्ञान भी विविध प्रकार का होता है।

### नारक जीवों का अवधिज्ञान

भवपच्चइओ स चरिमपुढवीए ।

गाउयमुक्कोसेणं पढमाए जोयणं होइ ॥

चत्तारि गाउयाइं, अद्धुटाइं तिगाउयं चैव ।

अड्ढाइज्जा, दोण्णि य दिवड्ढमेगं च नरएसु ॥

अद्धुट्टगाउयाइं जहण्णयं अद्धगाउयंताइं ।

जं गाउयं ति भणियं तं पइ उक्कोसयजहण्णं ॥

(विभा ६९२-६९४)

सात पृथिव्यों के नारक जीव अपने भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान से जघन्य आधा गव्यूत (कोस) तथा उत्कृष्ट

चार गव्यूत (एक योजन) क्षेत्रवर्ती पदार्थों को जानते हैं—

सात पृथ्वियां	जघन्य अवधि-क्षेत्र	उत्कृष्ट अवधि-क्षेत्र
रत्नप्रभा	साढे तीन गव्यूत	चार गव्यूत
शर्कराप्रभा	तीन गव्यूत	साढे तीन गव्यूत
वालुकाप्रभा	ढाई गव्यूत	तीन गव्यूत
पंकप्रभा	दो गव्यूत	ढाई गव्यूत
धूमप्रभा	डेढ गव्यूत	दो गव्यूत
तमःप्रभा	एक गव्यूत	डेढ गव्यूत
महातमःप्रभा	अर्ध गव्यूत	एक गव्यूत

## २०. तिर्यंच का उत्कृष्ट-जघन्य अवधि

ओरालिय-वेउन्विय-आहारम-तेयगाई तिरिएमु ।

उवकोसेणं पेच्छइ जाइं च तदंतरालेसु ॥

(विभा ६९१)

तिरिक्खजोणिया जहण्णेण ओहिणा ओरालियं सरीरं जाणिज्जा । .....कम्मसरीरं पुण ण चेव जाणंति ण वा पासंति ।

(आवचू १ पृ ५२)

तिर्यंचयोनिक जीव अवधिज्ञान से उत्कृष्टतः औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस द्रव्यों तथा उनके अन्तरालवर्ती द्रव्यों को जानते हैं तथा जघन्यतः औदारिक शरीर को जानते हैं । किन्तु कर्म शरीर को न जानते हैं, न देखते हैं ।

## २१. अवधिज्ञान और देशविरति सामायिक

श्रावकोऽप्यवधिज्ञानं प्राप्य देशविरतिं प्रतिपद्यते इत्येवं न । किन्तु पूर्वमभ्यस्तदेशविरतिगुणः पश्चादवधि प्रतिपद्यते, देशविरत्यादिगुणप्राप्तिपूर्वकत्वादवधिज्ञान-प्रतिपत्तेरित्येतावद् गुरुभ्योऽस्माभिरवगतम् । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति ।

(विभा २ मवृ पृ १५८)

श्रावक अवधिज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् देशविरति को प्राप्त नहीं करता । देशविरति आदि गुणों के अभ्यास के पश्चात् ही अवधिज्ञान प्राप्त होता है—यह तथ्य हमें गुरु-परम्परा से ज्ञात हुआ है । इसका रहस्य तो केवली जानते हैं ।

## २२. अवधिज्ञान की पूर्वप्रतिपन्नता

सम्मा सुर-नेरइयाऽणाहारा जे य होंतपज्जत्ता ।

ते च्चिय पुव्वपवण्णा विवलाऽसण्णी य मोत्तूणं ॥

(विभा ७७८)

सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य जब देव और नरक-गति में उत्पन्न होते हैं, तब उनका अवधिज्ञान प्रतिपद्यमान (नये सिरे से प्राप्त) होता है । अनाहारक और अपर्याप्त अवस्था में अवधिज्ञान मतिज्ञान की भांति पूर्व-प्रतिपन्न हो सकता है । विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इस नियम के अपवाद हैं क्योंकि इनका मतिज्ञान पूर्व-प्रतिपन्न है किन्तु अवधिज्ञान न पूर्वप्रतिपन्न है और न प्रतिपद्यमान है ।

## २३. अवधिज्ञान के प्राप्ति-स्थान

जे पडिवज्जंति मइं तेऽवहिनाणं पि समहिआ अण्णे ।

वेय-कसायाईया मणपज्जवनाणिणो चेव ॥

(विभा ७७७)

जो मतिज्ञान का प्रतिपत्ता (प्राप्त करने वाला) है, वही अवधिज्ञान का प्रतिपत्ता है । अवधिज्ञान के लिए कुछ अतिरिक्त स्थान हैं—औपशमिक और क्षायिकश्रेणी की अवस्था में अवेदक और अकषायी को अवधिज्ञान प्राप्त होता है—ये मतिज्ञान से अतिरिक्त स्थान हैं । जिन्हें मनःपर्यवज्ञान पहले प्राप्त हो जाता है, उन्हें अवधिज्ञान बाद में प्राप्त होता है । इस प्रकार मतिज्ञान से अवधिज्ञान के तीन स्थान अधिक हैं—

१. अवेदक, २. अकषायी, ३. मनःपर्यव के पश्चात् ।

## २४. अवधिज्ञान के पश्चात् अवधिदर्शन

सर्वा लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्योत्पद्यन्ते । अवधिरपि लब्धिरुपवर्ण्यते । ततः स प्रथममुत्पद्यमानो ज्ञानरूप एवोत्पद्यते न दर्शनरूपः । ततः क्रमेणोपयोग-प्रवृत्तेर्ज्ञानोपयोगानन्तरं दर्शनरूपोऽपीति प्रथमतो ज्ञान-मुक्तं पश्चाद्दर्शनम् ।

(नन्दीमवृ प ९७, ९८)

सारी लब्धियां साकार उपयोग की अवस्था में ही उत्पन्न होती हैं । अवधि भी एक लब्धि है, इसलिए पहले ज्ञानरूप में ही उत्पन्न होती है । उपयोग की प्रवृत्ति का क्रम होता है—पहले ज्ञान-उपयोग और पश्चात् दर्शन-उपयोग होता है, इसलिए पहले ज्ञान और पश्चात् दर्शन प्रतिपादित है ।

## २५. मतिश्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में साधर्म्य

काल-विवज्जय-सामित्त-लाभसाहम्मओऽवही ततो ।

(विभा ८७)

मति-श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में चार बातों में साधर्म्य है—

काल—एक जीव की अपेक्षा से जितना काल मति और श्रुत ज्ञान का है उतना ही काल अवधिज्ञान का है ।

विपर्यय—मिथ्यात्व का उदय होने पर मति और श्रुतज्ञान अज्ञान में बदल जाते हैं, वैसे ही अवधिज्ञान विभंगज्ञान में बदल जाता है ।

स्वामित्व—मति और श्रुत ज्ञान का स्वामी ही अवधि का स्वामी होता है ।

लाभ—किसी को कभी तीनों ज्ञान एक साथ प्राप्त हो जाते हैं ।

अवधिमरण—(द्र. मरण)

अवमान प्रमाण—जिससे लम्बाई, चौड़ाई और गहराई का नाप किया जाए ।  
(द्र. मानोन्मान)

अवसर्पिणी—१. काल चक्र का एक विभाग, जिसमें पदार्थों की गुणवत्ता का क्रमशः ह्रास होता है । २. ह्रासकाल—सुख से दुःख की ओर अग्रसर होने वाला काल ।  
(द्र. काल)

अवाय—किसी निश्चित प्रमाण के आधार पर वस्तु का निश्चयात्मक अवबोध ।  
(द्र. आभिनिवोधिक ज्ञान)

अविरत सम्यग्दृष्टि—जो सम्यग्दृष्टि ब्रती नहीं होता, उसकी आत्म-विशुद्धि । चतुर्थ गुणस्थान ।  
(द्र. गुणस्थान)

अशरण अनुप्रेक्षा—दूसरों में अपनी अत्राणता और अशरणता का अनुचिन्तन ।  
(द्र. अनुप्रेक्षा)

अशौच अनुप्रेक्षा—शरीर की अशुचिता का अनु-चिन्तन । (द्र. अनुप्रेक्षा)

अश्रुतनिश्चित मति—(द्र. आभिनिवोधिक ज्ञान)

अष्टांगनिमित्त—आठ अंग वाला निमित्तशास्त्र ।

१. निमित्त का निर्वचन
२. निमित्त के आठ अंग
३. सूत्र आदि उन्तीस भेद
४. अंगनिमित्त—अंगविद्या
  - ० अंगस्फुरण के परिणाम
५. स्वर निमित्त
६. लक्षण निमित्त
  - ० लक्षणों के फल
७. स्वप्न निमित्त
  - ० स्वप्नों के फल
  - ० स्वप्न आने के कारण
८. छिन्न निमित्त
९. भौम निमित्त
१०. अंतरिक्ष निमित्त

१. निमित्त का निर्वचन

इदिहृदियत्थेहि, समाहाणं च अप्पणो ।

नाणं पवत्तए जम्हा, निमित्तं तेण आहियं ॥

(पिनिवृ प १२१)

निमित्तशास्त्र का अर्थ है—इन्द्रियों और इन्द्रिय-विषयों के माध्यम से अतीत, वर्तमान और अनागत संबंधी शुभ-अशुभ का प्रतिपादक ग्रन्थ ।

२. निमित्त के आठ अंग

अंगं सरो लक्खणं च, वंजणं सुविणो तथा ।

छिन्नं भोमंतलिक्खा य, एए अट्ट वियाहिया ॥

(पिनिवृ प १२१)

आठ अंग ये हैं—

१. अंग—शारीरिक अवयवों के स्फुरण अथवा स्पन्दन के आधार पर शुभ-अशुभ फल की उद्भावना करने वाला निमित्त शास्त्र ।

२. स्वर—जीव और अजीव से संबद्ध स्वरों के फल का प्रतिपादक शास्त्र ।

३. लक्षण—लांछन आदि लक्षणों का व्युत्पादक शास्त्र ।

४. व्यञ्जन—मष, तिल आदि व्यञ्जनों के आधार पर शुभ-अशुभ फल का उपदर्शक शास्त्र ।

५. स्वप्न—स्वप्न के फल का प्ररूपक शास्त्र ।

६. छिन्न—वस्त्र आदि के छिद्रों के आधार पर शुभ-अशुभ का निरूपण करने वाला शास्त्र ।

(कहीं-कहीं छिन्न के स्थान पर उत्पात निमित्त—रुधिरवृष्टि आदि के आधार पर शुभ-अशुभ फल के प्रतिपादक शास्त्र का उल्लेख है ।)

७. भौम—भूकम्प आदि के परिणाम का प्रतिपादक शास्त्र ।

८. अंतरिक्ष—आकाशीय ग्रहयुद्ध आदि के परिणाम का निरूपण करने वाला शास्त्र ।

### ३. सूत्र आदि उनतीस भेद—

मुत्तं वित्ती तह वित्तियं च पावसुय अउणतीसविहं ।  
गंधव्वनदृवत्थुं आउं धणुवेयसंजुत्तं ॥  
(उशावृ प ६१७)

इन आठ निमित्तों के तीन-तीन भेद होते हैं—सूत्र, वृत्ति और वार्तिक । इस प्रकार कुल चौबीस भेद हुए । शेष पांच भेद ये हैं—गांधर्व, नाट्य, वास्तु, आयुर्वेद और धनुर्वेद ।

अष्टांग निमित्त के इन उनतीस भेदों को पाषश्रुत भी कहा गया है ।

### ४. अंगनिमित्त—अंगविद्या

अंगविद्या नाम आरोग्यशास्त्रम् । (उचू पृ १७५)

अंगविद्या का अर्थ है—आरोग्यशास्त्र ।

अंगविद्यां च शिरःप्रभृत्यंगस्फुरणतः शुभाशुभ-सूचिकां 'सिरस्फुरणे किर रज्ज' इत्यादिकां विद्यां प्रणव-मायाबीजादिवर्णविन्यासात्मिका वा । यद् वा अंगानि—अंगविद्याव्यावर्णितानि भौमान्तरिक्षादीनि विद्या 'हलि ! हलि ! मातंगिनी स्वाहा' इत्यादयो विद्यानुवादप्रसिद्धाः ।  
(उशावृ प २९५)

अंगविद्या का अर्थ है—

० शरीर के अवयवों के स्फुरण के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र ।

० प्रणव, माया बीज आदि वर्ण विन्यास युक्त विद्या ।

० अंगविद्या में वर्णित भौम, अन्तरिक्ष आदि अंग, उनके शुभ-अशुभ को बताने वाली विद्या, विद्यानुवाद में प्रसिद्ध विद्याएं, जैसे—हलि ! हलि ! मातंगिनी स्वाहा ।

### अंगस्फुरण के परिणाम

सिरस्फुरणे किर रज्जं, पियमेलो होइ बहुस्फुरणम्मि ।  
अच्छिस्फुरणम्मि च पियं, अहरे पियसंगमो होइ ॥  
गंडेसुं थीलाभो, कन्नेसु य सोहणं सुणइ सद् ।  
नेत्तंते धणलाभो, उट्ठे विजयं वियाणाहि ॥  
पिट्ठे पराजओ वि हु, भोगो अंसे तहेव कंठे य ।  
हत्थे लाभो विजओ, वच्छे नासाए पीई य ॥  
लाभो थणेसु हिप्रए, हाणी अंतासु कोसपरिवुड्ढी ।  
नाभीए थाणभंसो, लिंगे पुण इत्थिलाभो य ॥  
कुल्लेसु सुउप्पत्ती, ऊर्हाहि बंधुणो अणिट्ठं तु ।  
पासेसु वल्लहतं, वाहणलाभो फिजे भणिओ ॥  
पायतले फुरणेणं, हवइ सलाभं नरस्स अद्दाणं ।  
उर्वरि च थाणलाभो, जंघाहि थोवमद्दाणं ॥  
पुरिसंसयमहिलाए, पुरिसस्स य दाहिणा जहुत्तफला ।  
महिलंसपुरिसमहिलाण होंति वामा जहुत्तफला ॥

(उसुवृ प १३०, १३१)

सिर का स्फुरण राज्य प्राप्ति और भूजा का स्फुरण प्रियमिलन का सूचक है । अक्षिस्फुरण और अधरस्फुरण प्रियसंगम का सूचक है ।

कपोल के स्फुरण से स्त्री की प्राप्ति होती है । कान का स्फुरण होने पर मनोज्ञ शब्द सुनने को मिलते हैं । नेत्रान्त के स्फुरण से धन प्राप्ति और होठ के स्फुरण से विजय प्राप्त होती है ।

पीठस्फुरण से पराजय, कंधे और कंठ के स्फुरण से भोगों की प्राप्ति होती है । हाथ का स्फुरण लाभ और विजय का सूचक है । वक्ष और नासिका का स्फुरण प्रीति का सूचक है ।

स्तनस्फुरण लाभ का, हृदयस्फुरण हानि का और आंतों का स्फुरण कोशपरिवृद्धि का सूचक है । नाभि-स्फुरण स्थानभ्रंश का और लिंगस्फुरण स्त्री-लाभ का सूचक है ।

नितंब के स्फुरण से पुत्रोत्पत्ति तथा ऊरु के स्फुरण से बन्धुजन का अनिष्ट होता है । दोनों पाश्वर्यों के स्फुरण से प्रियता तथा टखनों के स्फुरण से वाहन का लाभ होता है ।

पैरों के स्फुरण से पंथ-गमन लाभदायक होता है । पैरों के उपरि भाग के स्फुरण से स्थानलाभ और जंघा के स्फुरण से लघू विहरण का योग होता है ।

पुरुष और पुरुषत्वप्रधान स्त्री के दावें अंगस्फुरण

तथा स्त्री और स्त्रीत्वप्रधान पुरुष के बायें अंगस्फुरण यथोक्त फल के सूचक हैं।

## ५. स्वरनिमित्त

पुरुषः दुंदुभिस्वरो काकस्वरो वा एवमादिस्वरव्याकरणं ।  
(उचू पृ २३६)

अमुक पुरुष का स्वर दुंदुभि के समान मृदु है। अमुक पुरुष का स्वर कौए के समान कर्कश है—इस प्रकार स्वरों को सुनकर शुभ-अशुभ का ज्ञान कर लेना स्वरनिमित्त है।

## ६. लक्षणनिमित्त

लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं, सामुद्रवत् ।

(उचू पृ १७५)

लक्षणं च शुभाशुभसूचकं पुरुषलक्षणादि, रूढितः तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लक्षणम् । (उशावृ पृ २९५)

शरीर के लक्षणों—चिह्नों के आधार पर शुभ-अशुभ फल का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को लक्षणशास्त्र (सामुद्रिकशास्त्र) कहा जाता है।

### लक्षणों के फल

अस्थिध्वर्थाः सुखं मांसं, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु ।  
गतौ यानं स्वरे चाऽऽज्ञा, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ॥  
पद्म-वज्रांकुशच्छत्र-शंख-मत्स्यादयस्तले ।  
पाणिपादेषु दृश्यन्ते, यस्याऽसौ श्रीपतिः पुमान् ॥  
उत्तुङ्गाः पृथुलास्ताम्राः, स्निग्धा दर्पणसन्निभाः ।  
नखा भवन्ति धन्यानां, धनभोगसुखप्रदाः ॥  
सितैः श्रमणता ज्ञेया, रूक्षपुष्पितकैः पुनः ।  
जायते किल दुःशीलो, नखैर्लोकैऽत्र मानवः ॥  
शुद्धाः समाः शिखरिणो, दन्ताः स्निग्धघनाः शुभाः ।  
विपरीताः पुनर्ज्ञेया, नराणां दुःखहेतवः ॥  
द्वात्रिंशद्दशनो राजा, भोगी स्यादेकहीनकः ।  
त्रिंशता मध्यमो ज्ञेयस्ततोऽधस्तात् सुन्दरः ॥  
स्तोकदन्ताऽतिदन्ता ये, श्यामदन्ताश्च ये नराः ।  
मूषकैः समदन्ताश्च ते पाषाः परिकीर्तिताः ॥  
अंगुष्ठयवैराद्व्याः, सुतवन्तोऽङ्गुष्ठमूलजैश्च यवैः ।  
ऊर्ध्वाकारा रेखा, पाणितले भवति धनहेतुः ॥

(उमुवृ प १२९)

अस्थि में धन, मांस में सुख, त्वचा में भोग, आंखों में स्त्रियां, गति में वाहन और स्वर में आज्ञा—इस प्रकार सत्त्वशील पुरुष में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

जिस व्यक्ति के हाथ और पैर के तलवे में पद्म, वज्र, अंकुश, छत्र, शंख, मत्स्य आदि चिह्न होते हैं, वह श्रीसम्पन्न होता है।

उभरे हुए स्थूल, स्निग्ध, दर्पण के समान पारदर्शी, रक्त आभा वाले नख सौभाग्यशाली व्यक्तियों के होते हैं और वे धन, भोग और सुख प्राप्त कराते हैं।

श्वेत नख श्रामण्य/साधुता के सूचक हैं। रूक्ष तथा फूले हुए नखों वाला व्यक्ति दुःशील होता है।

शुद्ध, समश्रेणि में स्थित, शिखरी (तीक्ष्ण, उभरे हुए), स्निग्ध और सघन दांत शुभ होते हैं। अशुद्ध, विषमस्थित, छोटे, रूक्ष और विरल दांत दुःख के हेतु हैं।

बत्तीस दांत वाला राजा होता है। इकतीस दांत वाला भोगी तथा तीस दांत वाला मध्यम होता है। तीस से कम दांतों वाला सुंदर नहीं होता। बत्तीस से कम अथवा अतिरिक्त दांत वाले, श्याम वर्ण के दांत वाले तथा चूहे के समान दांत वाले व्यक्ति पापी होते हैं।

अंगूठे में जी के चिह्न ऋद्धिसम्पन्नता के सूचक हैं। अंगुष्ठमूल में जी के चिह्न पुत्र-प्राप्ति के सूचक हैं। हथेली में ऊर्ध्वरेखा धन का हेतु है।

वामावर्त्तो भवेद्यस्य, वामायां दिशि मस्तके ।  
निर्लक्षणः क्षुधाक्षामो, भिक्षामद्यात् स रूक्षिकाम् ॥  
दक्षिणो दक्षिणे भागे, यस्याऽऽवर्त्तोऽस्ति मस्तके ।  
तस्य नित्यं प्रजायेत, कमला करवर्त्तिनी ॥  
यदि स्याद्दक्षिणे वामो, दक्षिणो वामपाण्वके ।  
पञ्चात्काले ततस्तस्य, भोगा नास्त्यत्र संशयः ॥  
उरोमुखललाटानि, पृथूनि सुखभागिनाम् ।  
गम्भीराणि पुनस्त्रीणि, नाभिः सत्त्वं स्वरस्तथा ।  
केश-दन्त-नखाः सूक्ष्मा, भवन्ति सुखहेतवः ।  
कण्ठः पृष्ठं तथा जङ्घे, ह्रस्वं लिङ्गश्च पूजितम् ॥  
रक्ता जिह्वा भवेद् धन्या, पाणिपादतलानि च ।  
पृथुलाः पाणिपादाश्च, धन्यानां दीर्घजीविनाम् ॥  
स्निग्धदन्तः शुभाहारः, सुभगः स्निग्धलोचनः ।  
नरोऽतिह्रस्वदीर्घाश्च, स्थूलाः कृष्णाश्च निन्दिताः ॥  
पञ्चभिः शतमुद्दिष्टं, चतुर्भिर्नवतिस्तथा ।  
त्रिभिः षष्टिः समुद्दिष्टा, लेखाङ्कभलवतिभिः ॥  
चत्वारिंशत् पुनः प्रोक्तं, वर्षाणि नरजीवितम् ।  
ताभ्यां द्वाभ्यां तथैकेन, त्रिंशद्बर्षाणि जायते ॥

कुशीला श्यामलोलाक्षी, रोमजङ्घा च भर्तृहा ।  
महिलोन्नतोत्तरोष्ठी, नित्यञ्च कलहप्रिया ॥  
(उसुवृ प १२९)

जिसके मस्तक के बायें भाग में वामावर्त्त होता है, वह लक्षणहीन पुरुष भूख से क्लान्त बना रूक्ष भोजन प्राप्त करता है ।

जिस व्यक्ति के मस्तक के दायें भाग में दक्षिणावर्त्त होता है, उसके हाथ में सदा लक्ष्मी निवास करती है ।

यदि सिर के दायें भाग में वामावर्त्त और बायें भाग में दक्षिणावर्त्त हो तो उस व्यक्ति को जीवन के सन्ध्याकाल में भोग प्राप्त होते हैं ।

भाग्यशाली व्यक्ति का हृदय, मुंह और ललाट विशाल होता है । उसकी नाभि, सत्त्व और स्वर—ये तीनों गम्भीर होते हैं ।

महीन केश, सूक्ष्म दांत और सूक्ष्म नख सुख के हेतु हैं । लघु कण्ठ, पीठ, जंघा और लिंग शुभ होते हैं । जो धन्य और दीर्घजीवी हैं, उनकी जीभ, हथेली और पैर के तलवे लाल होते हैं तथा हाथ-पैर मोटे होते हैं ।

दांतों और आंखों की स्निग्धता, अच्छे भोजन की प्राप्ति और सुभगता—ये मनुष्य के शुभ लक्षण हैं । जो अत्यन्त नाटा, अत्यन्त लंबा, स्थूलकाय और काला होता है, वह निन्दनीय है ।

जिसके ललाट पर पांच रेखाएं होती हैं, वह शतायु होता है । चार रेखाओं वाला नब्बे वर्ष, तीन रेखाओं वाला साठ वर्ष, दो रेखाओं वाला चालीस वर्ष तथा एक रेखा वाला तीस वर्ष तक जीवित रहता है ।

श्यामवर्ण और चंचल आंखों वाली स्त्री कुशील होती है । जिसकी जंघा पर रोम होते हैं, वह स्त्री अपने पति का हनन करने वाली होती है । वह स्त्री कलहप्रिय होती है, जिसके उपरितन होठ मोटे होते हैं ।

## ७. स्वप्ननिमित्त

स्वप्नं चेत्यत्रापि रुद्धितः स्वप्नस्य शुभाशुभफलसूचकं शास्त्रमेव, तद्यथा —

अलंकृतानां द्रव्याणां, वाजिवारणयोस्तथा ।  
वृषभस्थ च शुक्लस्य, दर्शने प्राप्नुयाद्यशः ॥  
मूत्रं वा कुरुते स्वप्ने, पुरीषं चापि लाहितम् ।  
प्रबुध्येत तदा कश्चित्लभते सोऽर्थनाशनम् ॥  
(उशावृ प २९५)

स्वप्न के शुभ-अशुभ फल का सूचक शास्त्र स्वप्न-शास्त्र कहलाता है ।

अलंकृत द्रव्य, घोड़ा, हाथी, श्वेत वृषभ—इनके दर्शन से यश प्राप्त होता है । जो स्वप्न में मूत्र अथवा रक्तवर्ण का मल विसर्जित करता है और फिर जाग जाता है, उसका धन नष्ट हो जाता है ।

## स्वप्नों के फल

अणुहृय-दिदु-चितियविवज्जियं सवमेव जं सुमिणं ।  
जायइ अवितहफल्यं, सत्यसरीरेहि जं दिठ्ठं ॥  
पढमम्मि वत्सफलया, वीए जामम्मि होति छम्मासा ।  
तइयम्मि तिमासफला, चरिमे सज्जफला होति ॥  
आरोहणं गो-विस-कुंजरेसुं, पासाय-सेलग्ग-महादुमेसु ।  
विट्ठाणुलेवो हइयं मयं च, अगम्मगम्मं सुविणेसु धन्नं ॥  
तुरगारुहणे पंथो, करह खरे सेरिभे हवइ मच्चू ।  
सिरछेयम्मि य रज्जं, सिरप्पहारे धणं लहइ ॥  
दहि-छत्त-सुमण-चामर-वत्थ-उल्ल-फलं च दीव-तंबोलं ।  
संख सुवन्नं मंतज्जओ य लद्धो धणं देइ ॥  
गय-वसह-अल्लमंसाण वंसणे होइ सोक्खधणलाभो ।  
रत्तवड्ढमणयाणं, मरणं पुण वंसणे होइ ॥  
(उसुवृ प १३०)

स्वप्न शुभ-अशुभ फल के सूचक होते हैं । एक स्वस्थ व्यक्ति स्वप्न में जो कुछ देखता है यदि वह दृश्य पूर्व अनुभूत, दृष्ट और चिंतित न हो तो उस व्यक्ति का स्वप्न अवश्य फलित होता है ।

रात्रि के पहले प्रहर में देखा गया स्वप्न वर्ष भर में फलित होता है । दूसरे प्रहर में दृष्ट स्वप्न छह महीनों में, तीसरे प्रहर का तीन महीनों में और चौथे प्रहर का स्वप्न तत्काल फल देता है ।

गाय, बैल, हाथी, प्रासाद, पर्वतशिखर और विशाल वृक्ष पर आरोहण, विष्ठा-लेप, रुदन करना, मर जाना, अप्राप्त को प्राप्त कर लेना—ऐसा स्वप्न देखने वाला धन्य होता है ।

स्वप्न में अश्व पर आरोहण का फल है—यात्रा । करभ, गर्दभ और सेरिभ पर चढ़ने वाला मृत्यु प्राप्त करता है । स्वप्न में शिरच्छेद होने पर राज्य मिलता है सिर पर प्रहार होने पर धन प्राप्त होता है ।

दही, छत्र, फूल, चामर, वस्त्र, अन्न, फल, दीप, तंबोल, शंख, स्वर्ण और मन्त्रध्वज की प्राप्ति का स्वप्न-दर्शन धन देता है ।

हाथी, वृषभ और आर्द्र मांस का स्वप्न-दर्शन सुख



और धन का लाभ कराता है। स्वप्न में रक्तपट भिक्षु के दर्शन से मृत्यु होती है।

करह तुरंगे रिच्छम्मि वायसे देवहसियकषे य ।  
मरणं महाभयं वा, सुविणे दिट्ठे विथाणाहि ॥  
गायंतं नच्चंतं, हसमाणं चोष्पडं च अप्पाणं ।  
कुंकुमलित्तं दट्ठं, चित्तेसु उवट्ठियं असुहं ॥  
दाहिणकरम्मि सेयाऽहिभक्खणे होइ रज्जधणलाभो ।  
नइ-सरतरणं सुरखीरपाणयं हवइ सुहहेऊ ॥  
सिरे सयसहस्सं तु, सहस्सं बाहुभक्खणे ।  
पाए पंचसओ लाभो, माणुस्सामिसभक्खणे ॥  
दारग्गल-सेज्जा-सालभंजणे भारिया विणस्सेज्जा ।  
पिइ-माइ-पुत्तमरणं, अंगच्छेए वियाणेज्जा ॥  
सिगीणं दाडीणं, उवट्ठो कुणइ नूणं राजभयं ।  
पुत्तो व पइट्ठा वा नियलभुयापासबंधेसु ॥  
आसणे सयणे जाणे, सरीरे वाहणे गिहे ।  
जलमाणे वि बुज्जेज्जा, सिरी तस्स समंतओ ॥  
आरोग्गं धणलाभो वा, चंदसूराण दंसणे ।  
रज्जं समुहपियणे, सूरस्स गहणे तहा ॥

(उसुवृ प १३०)

करभ (अल्पवय हाथी या ऊंट), घोड़ा, भालू, कौआ, देवताओं का अट्टहास और भूकंप—स्वप्न में यदि ये दिखाई दें तो उस स्वप्न का फल होता है—महान् भय अथवा मृत्यु।

स्वप्न में यदि अपने आपको गाते हुए, नाचते हुए, हंसते हुए, तैलमर्दन करते हुए या कुंकुम का लेप किए हुए देखे तो समझना चाहिए कि कोई अशुभ होने वाला है।

स्वप्न में यदि सफेद सर्प अपने दायें हाथ को डसे तो राज्य और वैभव प्राप्त होता है। स्वप्न में नदी और सरोवर में संतरण तथा देव-दर्शन तथा क्षीर-पान सुख का हेतु होता है।

स्वप्न में मनुष्य के सिर का मांसभक्षण करते हुए देखे तो लाख गुना लाभ होता है। इसी प्रकार मनुष्य के बाहु का मांसभक्षण हजार गुना और पैरों का मांसभक्षण पांच सौ गुना लाभदायक होता है।

स्वप्न में द्वार को, अर्गला को, मकान को तथा प्राकार को भग्न देखे तो भार्या का विनाश होता है। स्वप्न में अपना अंगच्छेद दिखे तो माता-पिता और पुत्र की मृत्यु होती है।

स्वप्न में सींग वाले पशुओं और सुअर, वराह आदि दाढ़ा वाले हिस पशुओंके उपद्रव को देखने का फल है—राजभय। सांकल से अपनी भुजाओं को बंधा हुआ देखे तो पुत्र की या प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है।

स्वप्न में आसन, शयन, यान, शरीर, वाहन और घर—इन्हें प्रज्वलित होते देख जाग जाए तो उसको सब ओर से लक्ष्मी प्राप्त होती है।

स्वप्न में सूर्य और चन्द्र के दर्शन से आरोग्य तथा धन की प्राप्ति होती है। स्वप्न में समुद्र का पान और सूर्य का ग्रहण देखने पर राज्य की प्राप्ति होती है।

**स्वप्न आने के कारण**

अणुहय-दिट्ठ-चित्तिय-सुय-पयइविद्यार-देवयाऽणुया ।  
सिमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं च नाभावो ॥  
विण्णाणमयत्तणओ षडविण्णाणं व सुमिणओ भावो ।  
अहवा विहिपनिमित्तो षडो व्व नेमित्तियत्ताओ ॥  
(विभा १७०३, १७०४)

**स्वप्न आने के कारण**

१. अनुभूत—पूर्व अनुभूत स्नान, भोजन, विलेपन आदि
२. दृष्ट—पूर्व दृष्ट हाथी, अश्व आदि
३. चिन्तित—पूर्व चिन्तित वैभव आदि
४. श्रुत—पूर्व श्रुत स्वर्ग आदि
५. प्रकृतिविकार—वात-पित्तजनित विकार आदि
६. देवता—अनुकूल या प्रतिकूल देव
७. अनूप—सजल प्रदेश

ये सब स्वप्न में निमित्त बनते हैं। पुण्यकर्म और पापकर्म इष्ट-अनिष्ट स्वप्न में निमित्त बनते हैं।

स्वप्न भाव/पदार्थ है। उसके दो हेतु हैं—

१. विज्ञानमय होने से घट-ज्ञान की तरह।
२. अनुभूति आदि निमित्तजन्य होने से।

**८. छिन्ननिमित्त**

छिन्नमिति वस्त्रच्छेदः काष्ठादीनां वा छेदान् शुभाशुभं... ।  
(उचू पृ २३६)

वस्त्र, काष्ठ, आसन, शयन आदि में चूहे, शस्त्र, कांटे आदि से हुए छेद के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना छिन्ननिमित्त है।

**९. भौमनिमित्त**

भौमादित्वात् भौमः। अकाले जं पुष्पफलं, स्थिराणां चलनं, प्रतिमानां जल्पनादि ।  
(उचू पृ २३६)

भूकम्प, अकाल में होने वाले पुष्प-फल, स्थिर

वस्तुओं के चलन एवं प्रतिमाओं के बोलने से, भूमि की स्निग्ध-रूक्ष आदि अवस्थाओं के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना भौमनिमित्त है।

### १०. अंतरिक्षनिमित्त

अन्तरिक्षाद्दिग्दाहपांशुवृष्ट्यादयः, दिव्या ग्रहयुद्धादि।  
(उचू पृ २३६)

आकाश में होने वाले गन्धर्व नगर, दिग्दाह, धूलि की वृष्टि आदि के द्वारा अथवा ग्रहों के युद्ध तथा छदय-अस्त के द्वारा शुभ-अशुभ का ज्ञान करना अंतरिक्ष निमित्त है।

असंख्येय—संख्या प्रमाण का एक उपभेद।

(द्र. संख्या)

असंज्ञिश्रुत—बिना मन वाले प्राणी का अवबोध।

(द्र. श्रुतज्ञान)

अस्तिकाय—त्रैकालिक सत्ता वाला सावयवी, सप्रदेशी पदार्थ।

#### १. अस्तिकाय के अर्थ

#### २. पंचास्तिकाय—

- ० धर्मास्तिकाय
- ० अधर्मास्तिकाय
- ० आकाशास्तिकाय
- \* जीवास्तिकाय
- \* पुद्गलास्तिकाय
- \* पंचास्तिकाय द्रव्य है

(द्र. जीव)

(द्र. पुद्गल)

(द्र. द्रव्य)

#### ३. काल अस्तिकाय नहीं

- \* काल का स्वरूप

(द्र. काल)

#### ४. धर्मास्तिकाय

- ० लक्षण
- ० भेद
- ० धर्मास्तिकाय का अस्तित्व
- ० अलोक में धर्मास्तिकाय नहीं
- ० परिणामन की सद्गता

#### ५. अधर्मास्तिकाय

- ० लक्षण
- ० भेद
- ० पर्याय
- ० धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का भेद

#### ६. आकाशास्तिकाय

- ० निर्बंधन
- ० लक्षण
- ० भेद

७. धर्म-अधर्म-आकाश : क्षेत्र काल की अपेक्षा से

८. धर्मास्तिकाय आदि का सप्रदेशत्व-अप्रदेशत्व

९. अरूपी अस्तिकाय में उत्पाद-व्यय

१०. आकाश : पर्याय-परिमाण

\* लोकविभाग का हेतु : धर्म-अधर्म (द्र. लोक)

\* आकाश के भेद : लोक-अलोक (द्र. लोक)

### १. अस्तिकाय के अर्थ

काया समुदाया अत्थी य काया य अत्थिकाया।

(दलचू पृ १०)

अत्थि वेज्जति काया य अत्थिकाया।

(दजिचू पृ १६)

अवयव एव समुदायशब्दोपचारादस्तिकायधर्मः।

(दहावृ प २२)

अस्ति का अर्थ है विद्यमानता और काय का अर्थ है—समुदाय। अवयवों का समुदाय अस्तिकाय कहलाता है।

अस्तीति ध्रौव्यं, आयत्ति कायः उत्पादविनाशो, अस्तिस्रचासी कायश्च अस्तिकायः। (अनुचू पृ २९)

अस्ति का अर्थ है—ध्रौव्य और काय का अर्थ है—उत्पाद और विनाश। जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हो, वह अस्तिकाय है।

अस्तिशब्दः प्रदेशवाचकोऽस्तित्वे वा। कायशब्दोऽप्यत्र समूहवचनः। समूहः प्रदेशानां सावयवद्रव्यसमूहवचनो वा।

(अनुचू पृ २९, ३०)

अस्ति शब्द के दो अर्थ हैं—प्रदेश और अस्तित्व। काय का अर्थ है समूह। प्रदेशों के समूह अथवा सावयव द्रव्यों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं।

### २. पंचास्तिकाय

...अत्थिकाया, ते य इमे पंच—धम्माऽधम्मा-गासजीवपोग्गला। (दलचू पृ १०)

अस्तिकाय पांच हैं—

१. धर्मास्तिकाय

४. जीवास्तिकाय

२. अधर्मास्तिकाय

५. पुद्गलास्तिकाय

३. आकाशास्तिकाय

....अस्थिति बहुपक्षा तेषं पंचस्थिकाया उ ॥  
(आवनि १४३६)

अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना । (आवहावृ २ पृ १८५)

अस्ति शब्द त्रिकालवाची है— था, है और रहेगा । जिसकी त्रिकालिक सत्ता हो, जिसके प्रचुर प्रदेश हों, वह अस्तिकाय कहलाता है, अतः अस्तिकाय पांच ही हैं ।

### ३. काल अस्तिकाय नहीं

णिच्छयणताभिष्पायतो एक एव वर्तमानसमयः तस्य एगत्तणतो खंधदेसादिकायकप्पणा णत्थि, तीताणा-गताण य विणट्ठाणुप्पन्नत्तणतो अभावो । आवलिकादि-ग्रहणं संववहारस्स हेउं । (अनुचू पृ ३०)

निश्चय नय के अनुसार वर्तमान क्षण एक ही है, अतः उसमें स्कंध, देश आदि विभागों की कल्पना नहीं की जा सकती ।

अतीत के क्षण नष्ट हो जाते हैं, अनागत का क्षण उत्पन्न नहीं है । अतः काल अस्तिकाय नहीं है । काल के आवलिका, मुहूर्त आदि विभाग सांख्यव्यवहारिक काल है ।

### ४. धर्मास्तिकाय का लक्षण

गडलक्खणो उ धम्मो । (उ २८।९)

धर्म (धर्मास्तिकाय) का लक्षण है— गति ।

जीवपोग्गलदव्वाण गतिकिरियापरिणयाण उवग्गह-करणत्तणओ धम्मो । (अनुचू पृ २९)

जो गतिक्रिया में परिणत जीव और पुद्गल की गति में उपकारक है, वह धर्मास्तिकाय है ।

### धर्मास्तिकाय के भेद

धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।  
(उ ३६।५)

धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं—

धर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश ।

दिश्यते—प्रदेशापेक्षया समानपरिणतरूपत्वेऽपि देशापेक्षया असमानपरिणतिमाश्रित्य विशिष्टरूपतया विचक्ष्यते—उपदिश्यत इति देशः—त्रिभागचतुर्भागादि-स्तद्देशः । (उशावृ प ६७२)

प्रदेश की अपेक्षा समान परिणति होने पर भी देश की अपेक्षा असमान परिणति के आधार पर जिसकी

तीन भाग, चार भाग आदि के रूप में विशेष विवक्षा होती है, वह देश है ।

प्रदेशाः—धर्मास्तिकायादिसम्बन्धिनो निविभागा भागाः । (उशावृ प २५)

धर्मास्तिकाय आदि स्कंधों के निरंश भाग प्रदेश कहलाते हैं ।

### धर्मास्तिकाय का अस्तित्व

अत्थि परिमाणकारी लोगस्स पमेयभावओऽवस्सं ।  
नाणं पिव नेयस्सालोगत्थित्ते य सोऽवस्सं ॥  
(विभा १८५५)

जैसे ज्ञेय पदार्थों का प्रमाता है ज्ञान, वैसे ही लोक-प्रमेय का प्रमाता/लोक का परिमाणकारी द्रव्य अवश्य है और वह है धर्मास्तिकाय । अलोक के अस्तित्व से उसकी उपयोगिता सिद्ध होती है ।

### अलोक में धर्मास्तिकाय नहीं

निरणुग्गहत्तणाओ न गई परओ जलादिव भसस्स ।  
जो गमणाणुग्गहिया सो धम्मो लोगपरिमाणो ॥  
(विभा १८५४)

धर्मास्तिकाय के अनुग्रह के अभाव में जीव की लोक से परे गति नहीं है । जैसे जल के अभाव में मछली की गति नहीं होती है । गति में अनुग्रह करने वाला धर्मास्तिकाय लोकपरिमाण है ।

### धर्मास्तिकाय : परिणमन की सदृशता

धर्मश्चासावस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः—सकलदेश-प्रदेशानुगतसमानपरिणतिमद्विशिष्टं द्रव्यम् ।  
(उशावृ प ६७२)

धर्मप्रदेशों का समूह धर्मास्तिकाय है । यह एक विशिष्ट द्रव्य है—सम्पूर्ण देश और प्रदेशों से अनुगत अखण्ड द्रव्य है । इसमें परिणमन की सदृशता है ।

### ५. अधर्मास्तिकाय का लक्षण

अहम्मो ठाणलक्खणो । (उ २८।९)

अधर्म (अधर्मास्तिकाय) का लक्षण है स्थिति ।

ठितिहेतुत्तणतो अधम्मो जीवपोग्गलाण ठितिपरिण-ताण उवग्गहकरणा वा अधम्मोति । (अनुचू पृ २९)

जो स्थितिक्रिया में परिणत जीव और पुद्गल की स्थिति में उपकारक है, वह अधर्मास्तिकाय है ।

### अधर्मास्तिकाय के भेद

अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।  
(उ ३६।५)

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं —  
अधर्मास्तिकाय, उसका देश तथा प्रदेश ।

### अधर्मास्तिकाय के पर्याय

अधर्मः अधर्मास्तिकायः स्थितिः स्थानं गतिनिवृत्ति-  
रित्यर्थः । (उशावृ प ५५९)

अधर्म, अधर्मास्तिकाय, स्थिति, स्थान और गति-  
निवृत्ति — ये अधर्मास्तिकाय के पर्याय हैं ।

### धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय में भेद

धर्माधर्मास्तिकायौ परस्परं लोलीभावेनैकस्मिन्ना-  
काशदेशे व्यवस्थितौ, तथापि यो गतिपरिणामपरिणतयो-  
र्जीवपुद्गलयोर्गत्युपष्टम्भहेतुर्जलमिव मत्स्यस्य स खलु  
धर्मास्तिकायः । यः पुनः स्थितिपरिणामपरिणतयोर्जीव-  
पुद्गलयोरेव स्थित्युपष्टम्भहेतुः क्षितिरेव ऋषस्य स खलु  
अधर्मास्तिकाय इति लक्षणभेदाद्भेदो भवति ।

(नन्दीमवृ प १४०)

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय परस्पर एकीभूत  
हैं, एक आकाशदेश में अवस्थित हैं फिर भी दोनों के  
लक्षण भिन्न हैं । जो गमन में प्रवृत्त जीव और पुद्गल की  
गति का उपष्टम्भ-हेतु बनता है, वह धर्मास्तिकाय है ।  
जैसे—मत्स्य के लिए जल । जो स्थिति परिणाम में  
परिणत जीव और पुद्गल की स्थिति का उपष्टम्भ-हेतु  
बनता है, वह अधर्मास्तिकाय है । जैसे मछली के लिए  
पृथ्वी । यही इनमें भेद है ।

### ६. आकाशास्तिकाय का निर्वचन

आङ्गिति मर्यादया — स्वस्वभावापरित्यागरूपया  
काशन्ते — स्वरूपेणैव प्रतिभासन्ते तस्मिन् पदार्था  
इत्याकाशं यदा त्वभिधिधावाङ् तदा अङ्गिति — सर्वभावा-  
भिध्याप्त्या काशत इत्याकाशं तदेवास्तिकाय आकाशा-  
स्तिकायः । (उशावृ प ६७२)

जिसमें रूपी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव का त्याग  
किए बिना ही अपने स्वरूप में प्रतिभासित होते हैं, वह  
द्रव्य है — आकाश ।

अथवा जो समस्त पदार्थों की व्याप्ति से शोभित  
होता है, वह आकाश है । वही आकाशास्तिकाय है ।

### आकाशास्तिकाय का लक्षण

भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ।  
(उ २५।९)

आकाश सर्व द्रव्यों का भ्रजन है । उसका लक्षण  
है — अवकाश देना ।

तद्धवगाहं प्रवृत्तानामालम्बनीभवति, अनेनावगाह-  
कारणत्वमाकाशस्योक्तम् । (उशावृ प ५६०)

अवगाह लेने में प्रवृत्त द्रव्यों को यह आलम्बन देता  
है ।

### आकाश के भेद

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।  
(उ ३६।६)

आकाशास्तिकाय के तीन भेद हैं — आकाशास्तिकाय,  
उसका देश तथा प्रदेश ।

### ७. धर्म-अधर्म-आकाश : क्षेत्र-काल की अपेक्षा

धम्माधम्मे य दोवेए, लोममित्ता वियाहिया ।  
लोगालोमे य आगासे ..... ॥ (उ ३६।७)

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय — ये दोनों लोक-  
प्रमाण हैं । आकाश लोक और अलोक — दोनों में व्याप्त  
है ।

धम्माधम्मागासा, तिन्नि वि एए अणाइया ।  
अपज्जवसिया चैव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥  
(उ ३६।८)

धर्म, अधर्म और आकाश — ये तीन द्रव्य अनादि,  
अनन्त और सार्वकालिक होते हैं ।

### ८. धर्मास्तिकाय आदि का सप्रदेशत्व-अप्रदेशत्व

अरूवीअजीवाणं तिण्हं अत्थिकायाणं परनिमित्तं  
सपदेसत्तं वा अपदेसत्तं वा । (आवचू २ पृ ५)

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय  
अरूपी अजीव हैं । ये पर-निमित्त से सप्रदेशी या अप्रदेशी  
होते हैं ।

### ९. अरूपी अस्तिकाय में उत्पाद-व्यय

अरूविदव्वाणं परपच्चया उप्पायठित्तिभंगा भण्णति ।  
जहा घडागासेणं संजुत्तस्स आगासस्स घडागाससंयोगेण  
उप्पायो पडागासत्तेण विगमो आगासत्तेण अवट्ठिइ ।

(दज्जिचू पृ १६)

अरूपी द्रव्यों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की त्रिपदी पर-

पदार्थों के निमित्त से घटित होती है। जैसे—आकाश एक द्रव्य है। उसमें घट के संयोग से घटाकाश के रूप में उत्पाद, पटाकाश के रूप में विनाश और आकाश के रूप में ध्रौव्य घटित होता है।

### १०. आकाश : पर्याय-परिमाण

किमणंतगुणा भणिया जमगुरुलहुपज्जया एएसम्मि ।  
एक्केक्कम्मि अणंता एण्णत्ता वीयरणेहि ॥  
(विभा ४९१)

सब आकाशप्रदेशों का परिमाण सब आकाशप्रदेशों से अनन्तगुण है। आकाशप्रदेश अगुरुलघु हैं। उनके पर्याय भी अगुरुलघु हैं। अर्हंतों द्वारा प्रज्ञप्त है कि प्रत्येक आकाशप्रदेश में अनन्त अगुरुलघु पर्याय हैं।

### अस्पृशद्गति—स्पर्श न करते हुए गति करना।

अस्पृशद्गतिरिति नायमर्थो यथा नायमाकाश-  
प्रदेशान् स्पृशति अपि तु यावत्सु जीवोऽवगाढस्तावत् एव  
स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशम् ।

(उशावृ प ५९७)

अस्पृशद् गति का अर्थ यह नहीं है कि इसमें जीव आकाशप्रदेशों का स्पर्श नहीं करता। अस्पृशद्गति में जीव उतने ही आकाशप्रदेशों का स्पर्श करता है, जितने आकाशप्रदेशों में वह अवगाढ/व्याप्त है। उससे अतिरिक्त एक आकाशप्रदेश का भी स्पर्श नहीं करता।

मुक्त जीव अस्पृशद्गति से ही ऊपर जाते हैं।

(द्र. सिद्ध)

### अस्वाध्याय—स्वाध्याय का प्रतिषेध।

#### १. अस्वाध्याय के प्रकार

\* आत्मसमुत्थ

• परसमुत्थ

#### २. परसमुत्थ के प्रकार

- संयमघाती
- औत्पातिक
- देवप्रयुक्त
- व्युद्ग्रह-संबंधी
- शरीर-संबंधी

#### ३. अस्थि संबंधी अस्वाध्याय

#### ४. राजा आदि की मृत्यु और अस्वाध्याय

५. अस्वाध्याय : महामारी, दुर्भिक्ष, युद्ध

६. अस्वाध्याय : चन्द्रग्रहण-सूर्यग्रहण

७. अस्वाध्याय की तिथियां

८. अस्वाध्याय काल का निर्धारण

\* स्वाध्याय का काल (द्र. स्वाध्याय)

\* अस्वाध्याय : ज्ञान का अतिचार (द्र. आधार)

९. अस्वाध्याय के हेतु

१०. अस्वाध्याय से उत्पन्न दोष

### १. अस्वाध्याय के प्रकार

असज्जायं तु दुविहं आयसमुत्थं च परसमुत्थं च ।....  
(आवनि १३२२)

अस्वाध्याय के दो प्रकार हैं—

१. आत्मसमुत्थ—अपने शरीर में ब्रण आदि से रक्त  
झरना। २. परसमुत्थ—दूसरे से संबंधित।

### २. परसमुत्थ अस्वाध्याय के प्रकार

संयमघात उष्ण ए सादिन्वे वृग्हे य सारीरे ।....

(आवनि १३२३)

परसमुत्थ अस्वाध्यायिक के पांच प्रकार हैं—

१. संयमघाती, २. औत्पातिक, ३. देवप्रयुक्त,
४. व्युद्ग्रह, और ५. शरीर संबंधी।

### संयमघाती

महिया य भिन्नवासे सच्चित्तर ए य संजमे तिविहं ।  
दन्वे खित्ते काले जहियं वा जच्चिरं सब्बं ॥  
(आवनि १३२७)

.....ठाणाइभास भावे मुत्तं उस्सासउम्मेसे ॥

(आवभा २१७)

संयमघाती अस्वाध्याय के तीन भेद हैं—

१. महिका—कुहरा, २. भिन्नवर्षा—बुद्बुद व  
फुंआर वाली वर्षा, ३. सचित्त रज।

जिस क्षेत्र में जितने काल तक कुहरा आदि गिरता  
हो, उस क्षेत्र में उतने काल तक स्वाध्याय नहीं करना  
चाहिए। उस समय कायोत्सर्ग, संभाषण, प्रतिलेखन,  
गमनागमन आदि क्रियाएं भी प्रतिषिद्ध हैं। क्योंकि उस  
समय सब कुछ अष्काय से भावित हो जाता है।  
उच्छ्वास और उन्मेष-निमेष की क्रिया निषिद्ध नहीं है।

**औत्पातिक**

पंसू अ मंसरुहिरे केससिलावुट्टि तह रजग्घाए ।

मंसरुहिरे अहोरत्तं अवसेसे जच्चिरं सुत्तं ॥

(आवनि १३३१)

औत्पातिक अस्वाध्याय के छह प्रकार हैं—

१. पांशुवृष्टि, २. मांसवृष्टि, ३. रुधिरवृष्टि,
४. केशवृष्टि, ५. ओलावृष्टि, ६. रजोद्घात ।

मांस और रुधिरवृष्टि के समय एक अहोरात्र और शेष चारों में जब तक उनकी वृष्टि होती हो, तब तक सूत्र का स्वाध्याय वर्जित है ।

**देवप्रयुक्त**

गंधव्वदिसाविज्जुक्कगज्जिए जूअजक्खआलित्तं ।

इक्कक्क पोरिसी गज्जियं तु दो पोरसी हणइ ॥

दिसिदाह छिन्नमूलो उक्क सरेहा पमासजुत्ता वा ।

संभाछेयावरणो उ जूवओ सुक्कि दिण तिन्नि ॥

केसिचि ह्ठित्तोहा उ जूवओ ता य ह्ठित्त आइन्ना ।

जेसि तु अणाइन्ना तेसि किर पोरिसी तिन्नि ॥

(आवनि १३३४-१३३६)

देवप्रयुक्त अस्वाध्याय के सात प्रकार हैं—

१. गन्धर्व — गन्धर्व द्वारा नगर का निर्माण ।
२. दिग्दाह—कभी-कभी दिशाएं प्रज्वलित जैसी हो उठती हैं । उस समय का प्रकाश छिन्नमूल होता है—आकाश में स्थित दीखता है, भूमि पर स्थित नहीं दीखता ।
३. विद्युत् — बिजली का चमकना ।
४. उल्कापात—पुच्छल तारे आदि का टूटना । कुछ उल्काएं रेखा खींचती हुई गिरती हैं और कुछ केवल उद्योत करती हुई गिरती हैं ।
५. गर्जित—बादलों का गर्जना ।
६. यूपक—सन्ध्या के विभाग का आवरण अथवा सन्ध्याप्रभा और चन्द्रप्रभा का मिश्रण । शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया का चन्द्रमा सन्ध्यागत होने से सन्ध्या का यथार्थ ज्ञान नहीं होता अतः यह अस्वाध्यायिक काल है ।

कई आचार्यों का अभिमत है कि शुक्लपक्ष की इन प्रथम तीन तिथियों में सूर्य के उदय और अस्त के समय ताम्रवर्ण जैसे लाल और कृष्ण-श्याम अमोघ मोघा (आकाश में प्रलम्ब ष्वेत श्रेणियां) होते हैं,

उन्हें यूपक कहा जाता है । कुछ आचार्य इसमें अस्वाध्यायिक नहीं मानते । जो मानते हैं, उनके अनुसार यूपक में तीन प्रहर तक अस्वाध्यायिक रहता है ।

७. यक्षादीप्त—आकाश में कभी-कभी दिखाई देने वाला विद्युत् जैसा प्रकाश ।

इनमें गन्धर्वनगर और यक्षादीप्त निश्चित ही देवकृत होते हैं, शेष दिग्दाह आदि देवकृत भी होते हैं और स्वभाविक भी ।

गर्जित में दो प्रहर तथा शेष सबमें एक-एक प्रहर तक अस्वाध्यायिक रहता है ।

**ध्रुवग्रह संबंधी**

सेणाहिवई भोइय मयहरपुंसिस्थिमल्लजुद्धे य ।

लोट्टाइभंडणे वा गुज्झण उट्टाहमच्चियत्तं ॥

(आवनि १३४५)

राजा, सेनापति, ग्रामभोजिक, ग्राममहत्तर, मल्ल, विशिष्ट स्त्री-पुरुष, व्यंतर देव—इनमें परस्पर कलह-युद्ध हो जाने पर, पथराव या हाथापाई होने पर जब तक विग्रह शांत न हो, तब तक अस्वाध्यायिक रहता है । विग्रहकाल में स्वाध्याय करने पर उट्टाह—अवहेलना और अप्रीति होती है ।

**शरीर संबंधी अस्वाध्याय**

सारीरपिय दुविहं माणुस तेरिच्छियं समासेणं ।

तेरिच्छं तत्थ तिहा जलथलखहजं चउद्धा उ ॥

काले तिपोरसिष्ठु व भावे सुत्तं तु नदिमाईयं ।

सोणिय मंसं चम्मं अट्टी विय ह्ठित्त चत्तारि ॥

माणुस्सयं चउद्धा अट्टि मुत्तूण सयमहोरत्तं ।

परिआवन्नविवन्ने सेसे तियसत्त अट्टेव ॥

(आवनि १३४९, १३५१, १३५५;

हावू २ पृ १६६-१६९)

शरीर संबंधी अस्वाध्याय के दो प्रकार हैं—

मनुष्य संबंधी—मनुष्य का कलेवर, रुधिर आदि ।

तिर्यंच संबंधी—मत्स्य, गौ, मयूर आदि के रुधिर आदि ।

द्रव्य आदि दृष्टियों से इन पर विचार किया गया है—

द्रव्य से—अस्थि, मांस, रक्त, चर्म ।

क्षेत्र से—मनुष्य संबंधी हो तो सौ हाथ और तिर्यंच संबंधी हो तो साठ हाथ ।

काल से—मनुष्य संबंधी मृत्यु का एक अहोरात्र ।

हृडियां यदि सौ हाथ के भीतर स्थित हों तो मनुष्य की मृत्यु के दिन से लेकर बारह वर्षों तक । यदि हृडियां चित्ता में दग्ध या वर्णा से प्रवाहित हों तो अस्वाध्यायिक नहीं होता । लड़की उत्पन्न हो तो आठ दिन । लड़का उत्पन्न हो तो सात दिन । तिर्यंच संबंधी हो तो जन्म-काल से तीसरे प्रहर तक । यदि बिल्ली चूहे आदि का घात करती हो तो एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय रहता है ।

भाव से—नन्दी, अनुयोगद्वार, तन्दुलवैचारिक आदि सूत्रों के अध्ययन का वर्जन ।

अंडगमुञ्जिभयकल्पे न य भूमि खणति इहरहा तिन्नि ।  
असज्भाइयपमाणं भच्छियपाओ जहि न बुड्डे ॥  
(आवभा २१९)

साधु के उपाश्रय से साठ हाथ की दूरी तक कोई अंडा फूट जाये तो तीन प्रहर तक अस्वाध्यायिक रहता है । मक्खी का पंख डूबे, उतना अंडे का रस हो तो अस्वाध्याय होता है ।

### ३. अस्थि संबंधी अस्वाध्याय

दंते दिट्ठि विगिचण सेसट्ठी बारसेव वासाइं ।  
भामिय वूडे सीआण पाणरुडे य मायहरे ॥  
(आवनि १३५७)

सीयाणे जं दिट्ठं तं तं मुत्तूणजाहनिहयाणि ।  
आडंबरे य रुडे माइसु हिट्ठुट्टिया वारे ॥  
(आवभा २२२)

दांत-अस्थि कहीं गिर जाये तो उसे प्रयत्नपूर्वक खोजकर सौ हाथ की दूरी पर परिष्ठापित करे । यदि वह न मिले तो उद्घाटन कार्यात्सर्ग कर स्वाध्याय करे । शेष अस्थियों का बारह वर्ष तक अस्वाध्याय रहता है ।

श्मशान में अस्थियों के दग्ध हो जाने पर अथवा जल-प्रवाह में बह जाने पर अस्वाध्याय नहीं होता । श्मशान में षव पड़ा हो, पाण-रुद्र-मातृ-गृह (यक्षाद्यतन) के नीचे मृत व्यक्ति की अस्थियां स्थापित की गई हों और वह स्थान सौ हाथ की सीमा में हो तो बारह वर्ष तक अस्वाध्यायिक रहता है ।

### ४. राजा आदि की मृत्यु और अस्वाध्याय

वाग्गह दंडियमावी संखोभे दंडिए य कालगए ।  
अणरायए य सभए जच्चिर निट्ठोच्चऽहोरत्तं ॥  
(आवनि १३४४)

राजा, अमात्य, सेनापति आदि विशिष्ट व्यक्तियों के मर जाने पर अथवा राज्य में किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न हो जाने पर, जब तक दूसरे राजा की नियुक्ति न हो अथवा क्षोभ समाप्त न हो तब तक अस्वाध्यायिक रहता है । दूसरे राजा की नियुक्ति होने पर भी एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय-काल रहता है ।

### ५. अस्वाध्याय : महामारी, दुर्भिक्ष, युद्ध

असिबोमाघयणंसुं बारस अविसोहियंमि न करंति ।  
भामिय वूडे कीरइ आवासिय सोहिए चैव ॥  
(आवनि १३५९)

महामारी, दुर्भिक्ष अथवा युद्ध में अनेक व्यक्तियों की मृत्यु हो गई हो और वह स्थान अग्नि, जल आदि द्वारा शुद्ध न किया गया हो तो बारह वर्ष तक अस्वाध्यायिक रहता है ।

### ६. अस्वाध्याय : चन्द्रग्रहण-सूर्यग्रहण

उवकोसेण दुवालस चंदु जहन्नेण पोरिसी अट्ट ।  
सूरो जहन्न बारस पोरिसि उवकोस दो अट्ट ॥  
(आवनि १३४२)

चंद्रो उदयकाले गहिओ संदूसियराईए चउरो अण्णं च अहोरत्तं एवं दुवालस । अहवा उपायगहणे सव्वराइयं गहणं, सग्गहो चैव निबुड्डो संदूसियराईए चउरो अण्णं च अहोरत्तं एवं बारस । अहवा अजाणओ, अब्भच्छण्णे संकाए न नज्जइ, केवलं ग्रहणं, परिहरिया राई, पहाए दिट्ठं सग्गहो निबुड्डो, अण्णं च अहोरत्तं एवं दुवालस ।

सूरस अथमणगहणे सग्गहनिबुड्डो, उवहयरादीए चउरो अण्णं च अहोरत्तं एवं बारस । अह उदयतो गहिओ तो संदूसिए अहोरत्ते अट्ट अण्णं च अहोरत्तं परिहरइ एवं सोलस ।

(आवहावृ २ पृ १६५)

चन्द्रग्रहण में जघन्यतः आठ प्रहर (रात्रि के चार प्रहर तथा दूसरे दिन के चार प्रहर) और उत्कृष्टतः बारह प्रहर तक अस्वाध्यायिक रहता है । सूर्यग्रहण में जघन्यतः बारह प्रहर और उत्कृष्टतः सोलह प्रहर तक अस्वाध्यायिक रहता है ।

चंद्र के उदयकाल में ही यदि ग्रहण हो जाता है तो उस संदूषित रात्री के चार प्रहर तथा अहोरात्र के आठ प्रहर—इस प्रकार बारह प्रहर का अस्वाध्याय-काल होता है । अथवा जब उत्पादग्रहण—चंद्र का सार्वरात्रिक

ग्रहण होता है तब वह पूरा छुप जाता है। उस संदूषित रात्री के चार प्रहर तथा अहोरात्र के आठ प्रहर—इस प्रकार बारह प्रहर का अस्वाध्याय-काल रहता है। अथवा—चन्द्रग्रहण की जानकारी नहीं थी। चांद बादलों से आच्छन्न था। कुछ आशंका हुई। उस रात्रि में चार प्रहर तक अस्वाध्यायिक माना। प्रभात में देखा कि पूरा चांद ग्रहण के कारण डूब गया है। उस स्थिति में अहोरात्र के आठ प्रहर की अस्वाध्यायी रहेगी। इस प्रकार बारह प्रहर का अस्वाध्याय-काल रहा।

यदि सूर्य ग्रहण-काल में ही अस्त होता है तो उस रात्रि के चार प्रहर तथा दूसरे दिन-रात के चार-चार प्रहर—इस प्रकार अधन्यतः बारह प्रहर अस्वाध्याय के होते हैं।

यदि सूर्यग्रहण प्रातःकाल ही प्रारम्भ हो जाता है तो उस दिन-रात के चार-चार प्रहर तथा दूसरे दिन-रात के चार-चार प्रहर—इस प्रकार उत्कृष्टतः सोलह प्रहर अस्वाध्याय के होते हैं।

### ७. अस्वाध्याय की तिथियां

आसाढी इंदमहो कत्तिय सुगिम्हए य बोद्धवे ।

एए महामहा खलु एएसि चैव पाडिवया ॥

(आवनि १३३८)

चैत्र की पूर्णिमा, आषाढ की पूर्णिमा, आसोज की पूर्णिमा, कार्तिक की पूर्णिमा तथा उनके साथ आने वाली प्रतिपदा को भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

### ८. अस्वाध्याय-काल का निर्धारण

चंदिमसूरुवरारो निग्घाए गुंजिए अहोरत्तं ।

संभा चउ पाडिएया जं जहि सुगिम्हए नियमा ॥

(आवनि १३३७)

चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण तथा निर्घात (साभ्र या निरभ्र आकाश में व्यन्तरकृत महान् गर्जन की ध्वनि) में एक दिन-रात तक अस्वाध्यायिक रहता है।

चार सन्ध्याओं—सूर्यास्त होने पर एक मुहूर्त तक, आधी रात में, सूर्योदय से एक मुहूर्त पूर्व और मध्याह्न में स्वाध्याय वर्जित है।

### ९. अस्वाध्याय के हेतु

रागेण व दोसेण वऽसज्जाए जो करेइ सज्जायं ।  
आसायणा व का से ? को वा भणियो अणायारो? ॥  
(आवनि १४१२)

जो राग और द्वेष से अस्वाध्याय में स्वाध्याय करता है, वह सोचता है—अमूर्त ज्ञान की क्या आशातना? ज्ञान से कौनसा अनाचार होता है ?

### १०. अस्वाध्याय से उत्पन्न दोष

एए सामन्नयरेऽसज्जाए जो करेइ सज्जायं ।  
सो आणाअणवत्थं मिच्छत्त विराहणं पावे ॥  
सुअनाणंमि अभत्ती लोअविरुद्धं पमत्तछलणा य ।  
विज्जासाहणवइगुण्णधम्मया एव मा कुणसु ॥  
(आवनि १४०२, १४०८)

अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने से होने वाले दोष—

- ० आज्ञा का अतिक्रमण।
- ० अनवस्था (दोष-शृंखला का प्रारम्भ)।
- ० मिथ्यात्व की प्राप्ति।
- ० ज्ञान की विराधना।
- ० श्रुतज्ञान की अभक्ति।
- ० लोकविरुद्ध व्यवहार।
- ० प्रमत्त छलना।
- ० विद्या साधन का वैगुण्य।
- ० श्रुतज्ञान के आचार की विराधना।

उम्मायं च लभेज्जा रोगायकं व पाउणे दीहं ।  
तित्थयरभासियाओ भस्सइ सो संजमाओ वा ॥  
इहलोए फलमेयं परलोए फलं न दिंति विज्जाओ ।  
आसायणा सुयस्स उ कुव्वइ दीहं च संसारं ॥  
(आवनि १४१४, १४१५)

उन्माद, दीर्घकालिक रोग और सद्योघाति आतंक, तीर्थंकर प्रज्ञप्त धर्म से च्युति और चारित्र्य धर्म से च्युति—ये इहलोक सम्बन्धी दोष हैं। परलोक (भविष्य) में ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण वह व्यक्ति किसी विद्या को नहीं साध सकता। श्रुत की आशातना से वह दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करता है।



अहिंसा—संयम । सब जीवों के प्रति समता ।  
अवध ।

अणुमित्तोऽवि न कस्सई बंधो परवत्थुपच्चओ भणियो ।  
तहवि अ जयंति जइणो परिणामविसोहिमिच्छंता ॥  
(ओनि ५७)

१. अहिंसा की परिभाषा
२. हिंसा-अहिंसा का स्वरूप
३. हिंसा के प्रकार
४. हिंसा से दुःख
५. हिंसा में योगों की तरतमता और कर्मबंध
६. हिंसक कौन ? अहिंसक कौन ?
७. अन्नतो हिंसक
८. अप्रमत्त नियमतः अहिंसक
९. अहिंसा का व्यावहारिक हेतु
१०. हिंसा-अहिंसा और नय
११. अहिंसा : भ्रमण का आधार
१२. अहिंसक यज्ञ
  - \* अहिंसा महाव्रत (द्र. महाव्रत)
  - \* अहिंसा व्रत (द्र. ध्यावक)
  - \* रात्रिभोजनविरमण और अहिंसा (द्र. रात्रिभोजनविरमण)
  - \* हिंसा के द्रव्य, क्षेत्र... (द्र. महाव्रत)

## १. अहिंसा की परिभाषा

...अहिंसा निउणं दिट्ठा, सब्भूएसु संजमो ॥  
(द ६/८)  
सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है ।

## २. हिंसा-अहिंसा का स्वरूप

पमत्तजोगस्स पाणववरोवणं हिंसा ।  
(दअचू पृ १२)  
प्रमादयुक्त प्रवृत्ति से प्राणवियोजन करना हिंसा है ।  
मणवयणकाएहि जोएहि दुप्पउत्तेहि जं पाणववरोवणं  
कज्जइ सा हिंसा । (दजिचू पृ २०)  
हिंसा का अर्थ है—दुष्प्रयुक्त मन, वचन और काया  
के योगों से प्राणव्यपरोपण करना ।  
पाणातिवातवज्जणं । (दअचू पृ ९)  
अहिंसा नाम पाणातिवायविरती । (दजिचू पृ १५)  
प्राणातिपात—प्राण-वियोजन न करना अहिंसा है ।

बाह्य वस्तु के निमित्त से किसी के भी स्वल्प मात्र भी बन्ध नहीं होता फिर भी परिणामों की विशुद्धि चाहने वाले को पृथ्वी आदि जीवों तथा समस्त बाह्य वस्तुओं के प्रति संयम रखना चाहिए ।

## ३. हिंसा के प्रकार

पाणातिवाते दुविहे—संकप्पओ य आरंभओ य ।  
(आवचू २ पृ २८१)

प्राणातिपात दो प्रकार से होता है—

१. संकल्प से २. आरंभ (प्रवृत्ति) से ।

जाणमाणो नाम जेसि चित्तेऊण रागहोसाभिभूओ  
घाएइ । अजाणमाणो नाम अपदुस्समाणो अणुवओगेणं  
इंदियाइणावी पमातेण घातयति । (दजिचू पृ २१७)

हिंसा दो प्रकार से होती है—जान में और अनजान में ।  
जान-बूझकर हिंसा करने वालों में राग-द्वेष की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है और अनजान में हिंसा करने वालों में अनुपयोग या प्रमाद होता है ।

## ४. हिंसा से दुःख

न हु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सब्बदुक्खाणं ।  
(उ ८/८)  
प्राणवध का अनुमोदन करने वाला पुरुष कभी दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता ।

## ५. हिंसा में योगों की तरतमता और कर्मबंध

जो य पओणं जुंजइ हिंसत्थं जो य अन्नभावेणं ।  
अमणो उ जो पउंजइ इत्थ विसेसो महं वुत्तो ॥  
हिंसत्थं जुंजंतो सुमहं दोसो अणंतरं इयरो ।  
अमणो य अप्पदोसो जोगनिमित्तं च विन्नेओ ॥  
(ओनि ७५५, ७५६)

जो हिंसा के लिए मन, वाणी और काययोग का प्रयोग करता है, उसके महान् कर्मबंध होता है । जो अन्यभाव (अन्यमनस्कता) से योग का प्रयोग करता है, उसके अल्पतर कर्मबंध होता है । अमन (वीतराग) के अल्पतम कर्मबंध होता है । कर्मबंध योगनिमित्तज है ।

एकमिव पाणिवहंमि देसिअं सुमहदंतरं समए ।

एमेव निज्जरफला परिणामवसा बहुविहीआ ॥

(ओनि ५२)

एक ही समय में समान प्राणवध होने पर भी उसके बंध में महान् अन्तर रह सकता है। एक जीव अति संकिलष्ट परिणाम से प्राणवध करता हुआ सातवीं नरक में उत्पन्न हो सकता है। दूसरा जीव प्राणवध करते समय अति संकिलष्ट परिणाम नहीं होने के कारण दूसरी नरक में उत्पन्न हो सकता है। निर्जरा में भी परिणामधारा के अनुसार विसदृशता रहती है।

### ६. हिंसक कौन ? अहिंसक कौन ?

पंचसमिओ तिगुत्तो नाणी अविहिंसओ न विवरीओ ।

होउ व संपत्ती से मा वा जीवोवरोहेणं ॥

(विभा १७६५)

पांच समिति से समित और तीन गुप्त से गुप्त, जीव और अजीव के ज्ञाता मुनि द्वारा यदि कोई जीव-वध हो भी जाए तो भी वह अहिंसक है, क्योंकि वह अप्रमत्त होकर चलता है।

अहणंतो वि हु हिंसो दुदुत्तणओ मओ अहिमरो व्व ।

बाहितो न वि हिंसो सुदुत्तणओ जहा विज्जो ॥

(विभा १७६४)

जिसके परिणाम अशुद्ध हैं, वह न मारता हुआ भी हिंसक है, जैसे—गजघातक। जिसके परिणाम शुद्ध हैं, वह प्राणिवध करता हुआ भी अहिंसक है, जैसे—बैद्य।

असुभो जो परिणामो सा हिंसा सो उ बाहिरनिमित्तं ।

को वि अवेक्खेज्ज न वा जम्हाऽणेमंतियं बज्झं ॥

(विभा १७६६)

जो अशुभ परिणाम है, वह हिंसा है। हिंसा में बाहरी निमित्त अनैकान्तिक है—वहां प्राणवध होता भी है और नहीं भी होता।

असुभपरिणामहेऊ जीवाबाहो त्ति तो मयं हिंसा ।

जस्स उ न सो निमित्तं संतो वि न तस्स सा हिंसा ॥

(विभा १७६७)

जिस जीववध का हेतु अशुभ परिणाम है, वह हिंसा है। जहां प्राणवध का निमित्त अशुभ परिणाम नहीं है, वहां प्राणवध होने पर भी हिंसा नहीं है।

जो य पमत्तो पुरिसो तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता ।

वावज्जते नियमा तेसि सो हिंसओ होइ ॥

जेवि न वावज्जती नियमा तेसि पहिसओ सो उ ।

सावज्जो उ पओणेण सब्बभावेण सो जम्हा ॥

(ओनि ७५२, ७५३)

जो प्रमत्त पुरुष अपने प्रमत्त योगों के प्रयोग से प्राणिवध करता है, वह अवश्य हिंसक है। यदि उसकी प्रवृत्ति से प्राणिवध न भी हो, तब भी वह निश्चयतः हिंसक है, क्योंकि उसके मन, वचन और काया का प्रयोग सावध/सपाप है।

### ७. अव्रती हिंसक है

यो यस्मादविरतः स तदकुर्वन्नपि परमार्थतः कुर्वन्नेव अवसेयो यथा रात्रिभोजनादनिवृत्तो रात्रिभोजनम् ।

(पिनिवृ प ३७)

जो अविरत—असंयमी है, वह हिंसा न करता हुआ भी वस्तुतः हिंसा करता ही है। जैसे रात्रिभोजन से जो निवृत्त नहीं है, वह रात्रिभोजन न करता हुआ भी रात्रिभोजी होता है।

### ८. अप्रमत्त नियमतः अहिंसक

नाणी कम्मस्स खयद्वमुद्विओऽणुद्वितो य हिंसाए ।

जयइ असढं अहिंसत्थमुद्विओ अवहओ सो उ ॥

तस्स असंचेअयओ संचेययतो य जाइं सत्ताइं ।

जोगं पप्प विणस्संति नत्थि हिंसाफलं तस्स ॥

(ओनि ७५०, ७५१)

जो ज्ञानी पुरुष कर्मक्षय के लिए उत्थित और हिंसा में अनुत्थित है, वह कर्मबन्ध नहीं करता। अहिंसा में उत्थित पुरुष यदि शुद्धभाव से प्रवृत्ति करता है, उससे जान या अनजान में सहसा प्राणिवध होने पर भी वह अवधक है, उसे हिंसा का दोष नहीं लगता।

रत्तो वा दुदो वा मूढो वा जं पउंजइ पओमं ।

हिंसावि तत्थ जायइ तम्हा सो हिंसओ होइ ॥

न य हिंसामित्तेणं सावज्जेणावि हिंसओ होइ ।

सुदुस्स उ संपत्ती अफला भणिया जिणवरेहि ॥

(ओनि ७५७, ७५८)

राग-द्वेष और मूढ़ता के बशीभूत हो जो मन, वचन, काया का प्रयोग करता है, उसे हिंसा का दोष लगता है, वह हिंसक है। हिंसामात्र से हिंसक नहीं होता। जो रागद्वेष मुक्त शुद्ध है, वह हिंसा से होने वाले कर्मफल का भागी नहीं होता—ऐसा अहंता ने कहा है।

जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स ।  
सा होइ निज्जरफला अज्भत्थविसोहिजुत्तस्स ॥  
परमरहस्समिसीणं समग्गणिपिडगभरितसाराणं ।  
परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणं ॥  
(ओनि ७५९,७६०)

जो सूत्र और अर्थ का ज्ञाता है, जिसकी भावधारा विशुद्ध है, उस जागरूक गीतार्थ मुनि द्वारा होने वाली विराधना भी निर्जरा फल वाली होती है (एक समय में बद्धकर्म दूसरे समय में क्षीण हो जाते हैं)—यह द्वादशांगवेत्ता ऋषियों से प्राप्त रहस्य है। निश्चयनयाव-लम्बी के लिए परिणामधारा ही प्रमाण है।

नास्ति तस्य साधोहिंसाफलं—साम्परायिकम् ।  
यदि परमीर्याप्रत्ययं कर्म भवति, तच्चैकस्मिन् समये  
बद्धमन्यस्मिन् समये क्षपयति ।

(ओनिवृ प २२०,२२१)

हिंसा के फलस्वरूप सांपरायिक कर्मबंध होता है। उस अप्रमत्त मुनि के साम्परायिक कर्मबंध नहीं होता, ईर्यापथिक कर्मबंध होता है। प्रथम समय में बद्ध वह कर्म दूसरे समय में क्षीण हो जाता है।

अविसिट्ठमिवि जांसमि बाहिरे होइ विहुरया इहरा ।

सुद्धस्स उ संपत्ती अफला जं देसिआ समए ॥

(ओनि ५१)

गृहस्थ और साधु के प्राणातिपात आदि बाह्य क्रियार्थ समान होने पर भी उनका परिणाम असमान होता है। वीतराग साधु के प्राणातिपात आदि की क्रिया अफल हो जाती है। उससे बन्ध नहीं होता, ऐसा सिद्धांत में कहा गया है।

## ६. अहिंसा का व्यावहारिक हेतु

सब्बे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।

तम्हा पाणवहं चोरं, तिग्गंथा वज्जयंति पां ॥

(द ६।१०)

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसीलिए प्राणवध भयानक है। निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

अज्भत्थं सब्बओ सब्बं, दिस्स पाणे पियायए ।

न हणे पाणिणो पाणे, भववेराओ उवरए ॥

(उ ६।६)

सब दिशाओं से होने वाला सब प्रकार का अध्यात्म (सुख) जैसे मुझे इष्ट है, वैसे ही दूसरों को इष्ट है और

सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है—यह देखकर भय और वैर से उपरत पुरुष प्राणियों के प्राणों की धात न करे।

## १०. हिंसा-अहिंसा और नय

आया चैव अहिंसा आया हिंसति निच्छओ एसो ।

जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ, हिंसओ इयरो ॥

(ओनि ७५४)

निश्चय नय से आत्मा ही अहिंसा है और वही हिंसा है। जो अप्रमत्त है, वह अहिंसक है। जो प्रमत्त है, वह हिंसक है।

नैगमस्य जीवेष्वजीवेषु च हिंसा...संग्रहव्यवहारयोः षट्सु जीवनिकायेषु हिंसा, संग्रहश्चात्र देशग्राही द्रष्टव्यः सामान्यरूपश्च नैगमान्तर्भावी। व्यवहारश्च स्थूलविशेष-ग्राही लोकव्यवहरणशीलश्चायं...। ऋजुसूत्रश्च प्रत्येकं प्रत्येकं जीवे जीवे हिंसां व्यतिरिक्तामिच्छतीति। शब्द-समभिरूढैवंभूताश्च नया आत्मैर्वाहिंसा आत्मैव हिंसेति ।

(ओनिवृ प २२१)

नैगम नय के अनुसार हिंसा और अहिंसा का प्रयोग जीव और अजीव—दोनों से संबंधित है। संग्रह और व्यवहार नय के अनुसार हिंसा छह जीवनिकाय से संबंधित है—यह कथन देशग्राही संग्रह की अपेक्षा से है। सामान्य संग्रहनय नैगम के अन्तर्भूत है। व्यवहार स्थूल विशेषग्राही है।

ऋजुसूत्र नय के अनुसार हिंसा प्रत्येक जीव के साथ पृथक्-पृथक् रूप से संबंधित है। शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूत नय के अनुसार आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है।

## ११. अहिंसा : श्रमण का आचार

पुढविकायं न हिंसति, मणसा वयसा कायसा ।

तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥

पुढविकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।

तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

(द ६।२६,२७)

सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण और कृत, कारित एवं अनुमति—इस त्रिविध योग से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करता। जो पृथ्वीकाय की हिंसा करता है, वह उसके आश्रित अनेक प्रकार के

चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

आउकायं न हिंसति, मणसा वयसा कायसा ।  
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥  
आउकायं विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए ।  
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

(द ६।२९,३०)

सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण और कृत, कारित एवं अनुमति—इस त्रिविध योग से अप्काय की हिंसा नहीं करता। जो अप्काय की हिंसा करता है, वह उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष, अचाक्षुष त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

जायतेयं न इच्छंति पावगं जलइत्तए ।  
तिक्खमन्नयरं सत्थं सब्बओ वि दुरासयं ॥

(द ६।३२)

मुनि जाततेज अग्नि जलाने की इच्छा नहीं करते। क्योंकि अग्नि दूसरों शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र और सब ओर से दुराश्रय है।

अनिलस्स समारंभं बुद्धा मन्तंति तारिसं ।  
सावज्जबहुलं चेयं नेयं ताईहिं सेवियं ॥  
तालियंटेण पत्तेण साहाविहुयणेण वा ।  
न ते वीइउमिच्छन्ति वीयावेऊण वा परं ॥

(द ६।३६,३७)

तीर्थंकर वायु के समारम्भ को अग्निसमारम्भ के तुल्य ही मानते हैं। यह प्रचुर पापयुक्त है। यह छहकाय के त्राता मुनियों के द्वारा आसेवित नहीं है।

इसलिए मुनि वीजन, पत्र, शाखा और पंखे से हवा करना तथा दूसरों से हवा कराना नहीं चाहते।

वणस्सइं न हिंसति, मणसा वयसा कायसा ।  
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥  
वणस्सइं विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए ।  
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

(द ६।४०,४१)

सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से वनस्पति की हिंसा नहीं करते। जो वनस्पति की हिंसा करता है, वह उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष,

अचाक्षुष त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

तसकायं न हिंसति, मणसा वयसा कायसा ।  
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥  
तसकायं विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए ।  
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

(द ६।४३,४४)

सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते। जो त्रसकाय की हिंसा करता है, वह उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष, अचाक्षुष त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

तसे पाणे न हिंसेज्जा, वाया अदुव कम्मणा ।  
उवरओ सब्बभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥

(द ८।१२)

मुनि वचन अथवा काया से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे। वह सब जीवों के वध से उपरत होकर विभिन्न प्रकार वाले जगत् को देखे—आत्मोपम्यदृष्टि से देखे।

अट्ट सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए ।  
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठु सएहि वा ॥  
सिणेहं पुफसुहुमं च, पाणुत्तिगं तहेव व ।  
पणमं वीय हरियं च, अंडसुहुमं च अट्टमं ॥

(द ८।१३,१५)

संयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म शरीर वाले जीवों को देखकर बैठे, खड़ा हो और सोए। इन सूक्ष्म शरीर वाले जीवों को जानने पर ही कोई सब जीवों की दया का अधिकारी होता है।

वे आठ सूक्ष्म जीव इस प्रकार हैं—

- |           |               |
|-----------|---------------|
| १. स्नेह  | ५. काई        |
| २. पुष्प  | ६. बीज        |
| ३. प्राण  | ७. हरित       |
| ४. उत्तिग | ८. अंडसूक्ष्म |

## १२. अहिंसक यज्ञ

तवो जोइ जीवो जोइठाणं,

जोगा सुया सरीरं कारिसंयं ।

कम्म एहा संजमजोगसंती,

होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥

(उ १२।४४)

तप ज्योति है, जीव ज्योति-स्थान है। योग (मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति) धी डालने की करछियां हैं। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे हैं। कर्म ईंधन है। संयम की प्रवृत्ति शांति-पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि-प्रथास्त (अहिंसक) होम करता हूँ।

### यज्ञ का अधिकारी

छज्जीवकाए असमारभता, मोसं भदत्तं च असेवमाणा ।  
परिगहं इतिथओ माणमायं, एयं परिभ्राय चरन्ति दंता ॥  
(उ १२।४१)

मन और इन्द्रियों का दमन करने वाले छह जीव-निकाय की हिंसा नहीं करते, असत्य और चौर्य का सेवन नहीं करते, परिग्रह, स्त्री, मान और माया का परित्याग करके विचरण करते हैं, वे ही यज्ञ के अधिकारी होते हैं।

सुसंबुडो पंचहिं संवरेहि, इह जीवियं अणवकंखमाणो ।  
वोसट्टुकाओ सुइचसदेहो, महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥  
(उ १२।४२)

जो पांच संवरों से सुसंबृत होता है, जो असंयम जीवन की इच्छा नहीं करता, जो काय का व्युत्सर्ग करता है, जो शुचि है और जो देह का त्याग करता है, वही यज्ञ का अधिकारी है और वही यज्ञों में श्रेष्ठ महायज्ञ करता है।

**आगम**—यथार्थ ज्ञाता और यथार्थ वक्ता आगम कहलाते हैं। उपचार से उनके वचन को भी आगम कहा जाता है।

### १. आगम का निर्वचन और परिभाषा

### २. आगम-रचना और त्रिपदी

\* आगम-रचना और गणधर (द्र. गणधर)

### ३. आगम रचनाकार

### ४. आगम की भाषा और निरूपण शैली

### ५. आगम के प्रकार

- लौकिक आगम
- लोकोत्तर आगम
- \* लोकोत्तर आगम के प्रकार (द्र. अंगप्रबिष्ट, अंगबाह्य)
- शास्त्र के प्रकार

### ६. आगमवाचना

- आचार्य भद्रबाहु : पाटलिपुत्रीय वाचना ।
- आचार्य स्कन्दिल : मायुरी वाचना
  - \* आगम वाचना की अहंता (द्र. शिव्य)
  - \* आगमग्रहण-विधि (द्र. शिक्षा)
  - \* आगम व्याख्या के चार विभाग (द्र. अनुयोग)
  - \* आगमः ज्ञानगुणप्रमाण का भेद (द्र. ज्ञान)
  - \* प्रवचन का अर्थ—आगम (द्र. प्रवचन)
  - \* आगम का मूल : विनय (द्र. विनय)

### १. आगम का निर्वचन और परिभाषा

आगमो षाम अत्तवयणं । (आवचू १ पृ २८)

आ—अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणया गम्यन्ते—परिच्छिद्यन्तेऽर्था येन स आगमः । (नन्दीमवृ प २४९)

आप्तवचन आगम कहलाता है।

समस्त श्रुतगत विषयों से जो व्याप्त है, मर्यादित है, यथार्थ प्ररूपणा के कारण जिससे अर्थ जाने जाते हैं, वह आगम है। (केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और भिन्नदशपूर्वी—इनके द्वारा रचित शास्त्र ही सूत्र-आगम हैं।)

### २. आगम-रचना और त्रिपदी

आगमरचना के संदर्भ में तीन अभिमत प्राप्त हैं—  
तीहिं निसेज्जाहिं चोद्दसपुव्वाणि उप्पादिताणि ।

किं च वागरेति भगवं ! उप्पन्ने विगते ध्रुवे—  
एताओ तिमि निसेज्जाओ । उप्पन्नेति जे उप्पन्निमा भावा ते उवागच्छंति । विगतेति जे विगतित्सभावा ते विगच्छंति । ध्रुवा जे अविणासधम्मिणो । सेसाणं अणियता णिमेज्जा । ते य ताणि पुच्छिऊण एगतमं ते सुत्तं करेति, जारिसं जहा भणितं । (आवचू १ पृ ३७०)

गणधर गौतम ने तीन निषद्याओं (प्रणिपत्य पृच्छा निषद्या) से महावीरवाणी को ग्रहण कर चौदह पूर्वों का निर्माण किया। प्रश्न है—भगवान् महावीर ने क्या व्याकरण किया? भगवान् ने तीन निषद्याओं में त्रिपदी (तीन पदों) का व्याकरण किया—

१. उत्पन्न—उत्पन्न होने वाले पर्याय ।
२. विगत—विनष्ट होने वाले पर्याय ।
३. ध्रुव—ध्रुव रहने वाला द्रव्य ।

शेष आगमनिर्माण की निषद्याएं अनियत हैं। गणधर उन निषद्याओं से प्रश्न पूछकर किसी एक सूत्र का निर्माण करते हैं, जैसा भगवान् बतलाते हैं।

जदा य गणहरा सव्वे पव्वजिता ताहे किर एगनि-सेज्जाए एमारस अंभाणि, चोद्दसहिं चोद्दस पुव्वाणि । एवं ता भगवता अत्थो कहितो, ताहे भगवंतो एगपासे सुत्तं करेति, तं अक्खरेहिं पदेहिं वंजणेहिं समं ।

(आवचू १ पृ ३३७)

गणधर प्रव्रजित हुए। उन्होंने एक निषद्या में आचारोंग आदि ग्यारह अंगों को तथा चौदह निषद्याओं में चौदह पूर्वों को ग्रहण किया। अर्हत् महावीर ने अर्थ-वाचना दी और गणधरों ने एक साथ उसे वर्ण, पद और व्यंजन से परिपूर्ण सूत्र रूप में गुम्फित किया।

गौतमस्वामिना निषद्यात्रयेण चतुर्दशपूर्वाणि गृही-तानि ।... भगवांश्चाचष्टे—उप्पण्णे इ वा विगमे इ वा धुवे इ वा—एता एव तिस्सो निषद्याः । आसामेव सकाशाद् गणभृतां 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति' प्रतीतिरूपजायते, अन्यथा सत्ताज्योगात् । ततश्च ते पूर्वभवभावितमतयो द्वादशाङ्गमुपरचयन्ति । (आवहावू १ पृ १८५)

गणधर गौतम ने तीन निषद्याओं से चौदह पूर्वों को ग्रहण किया।

भगवान् ने कहा—'उप्पण्णे इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा'—ये ही तीन निषद्याएं हैं। इन्हीं के आधार पर गणधरों को 'सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है'—इसकी प्रतीति होती है। तत्पश्चात् वे द्वादशांगकी रचना करते हैं। उनकी बुद्धि पूर्वजन्म में प्राप्त ज्ञान से भावित होती है।

गणभृतः सर्वेऽपि तथाकल्पत्वाद् भगवदुपदिष्टं उप्पण्णे इ वेत्यादि मातृकापदत्रयमधिगम्य सूत्रतः सकल-मपि प्रवचनं दृग्भवन्तः । (नन्दीमवू प ४८)

अर्हंतो द्वारा उपदिष्ट तीन मातृकापदों—'उप्पण्णे इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा' की अवधारणा कर गणधर समग्र प्रवचन का सूत्र रूप में गुम्फन करते हैं। ऐसा करना गणधरों का आचार है।

### ३. आगम रचनाकार

अत्थं भासति अरहा, सुत्तं गंथंति गणधरा णिउणं । सासणस्स हितट्ठाए, ततो सुत्तं पवत्ततो ॥

(आवनि ९२)

अर्हत् अर्थ का प्ररूपण करते हैं। गणधर शासन हित के लिए निपुणता के साथ उसका सूत्ररूप में गुम्फन

करते हैं। उससे सूत्र का प्रवर्तन होता है।

गणधरदेवा हि मूलभूतमाचारादिकं श्रुतमुपरचयन्ति, तेषामेव सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नतया तद्वचयितुमीश-त्वात् । (नन्दीमवू प २०३)

गणधरों में सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धि होती है, उसी से वे मूलभूत आचार आदि आगमों की रचना करने में समर्थ होते हैं।

अर्हत्प्रोक्तं गणधरदृग्धं प्रत्येकबुद्धदृग्धं च ।

स्थविरप्रथितं च तथा प्रमाणभूतं त्रिधा सूत्रम् ॥

(ओनिवू प ३)

अर्हंतों द्वारा प्रतिपादित, गणधरों द्वारा सूत्रित, प्रत्येकबुद्ध और (पूर्वधर) स्थविरों द्वारा रचित आगमों—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम को प्रमाण माना गया है।

### ४. आगम की भाषा और निरूपण शैली

सर्वमपि हि प्रवचनमर्द्धमागधिकभाषात्मकम्, अर्द्धमागधिकभाषया तीर्थकृतां देशनाप्रवृत्तेः ।

(नन्दीमवू प ८३)

(भगवं च णं अर्द्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ ।)

(समवाओ ३४।२२)

सारा प्रवचन (आगम) अर्द्धमागधी भाषा में निबद्ध है, क्योंकि तीर्थकर अर्द्धमागधी भाषा में धर्मदेशना देते हैं। एएहिं दिट्ठिवाए परूवणा सुत्त-अत्थकहणाए ।

इह पुण अणभुवगमो अहिगारो तीहि ओसन्नं ॥

(विभा २२७५)

दृष्टिवाद में सूत्र और अर्थ का निरूपण नैगम आदि सात नयों से होता है। कालिक श्रुत में सब नयों के द्वारा व्याख्या आवश्यक नहीं है। श्रोता के आधार पर वहाँ अर्थ-निरूपण प्रायः नैगम, संग्रह, व्यवहार इन तीन नयों से होता है।

### ५. आगम के प्रकार

आगमे तिविहे पणत्ते, तं जहा - सुत्तागमे अत्थागमे तदुभयागमे । (अनु ५५०)

आगम के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम।

आगमे तिविहे पणत्ते, तं जहा—अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमे । तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे । गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, अत्थस्स अणंतरागमे । गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे । तेण परं सुत्तस्स

वि अत्यस्स वि नो अत्तागमे, नो अणंतरागमे, परंपरागमे ।  
(अनु ५५१)

आगम के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम ।

तीर्थकरों के लिए अर्थ आत्मागम है । गणधरों के लिए सूत्र आत्मागम और अर्थ अनन्तरागम है । गणधर के शिष्यों के लिए सूत्र अनन्तरागम और अर्थ परम्परागम है ।

उसके पश्चात् सूत्र और अर्थ दोनों ही न आत्मागम हैं, न अनन्तरागम हैं, किन्तु परम्परागम हैं ।

अविवृतमत्यतो मुकुलकल्पं सुत्तं । तदेव हि विवेचितं समुत्फुल्लकमलकल्पं अत्य इति ।

(आवचू १ पृ १०७, १०८)

अर्थ से अविवेचित सूत्र मुकुल—अर्धविकसित कलिका के समान होता है । वही सूत्र अर्थ से विवेचित होकर विकसित कमल के समान हो जाता है ।

आगमे दुविहे पणत्ते, तं जहा - लोइए लोमुत्तरिए य ।  
(अनु ५४७)

आगम के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—लौकिक और लोकोत्तर ।

### लौकिक आगम

लोइए आगमे - जणं इमं अण्णाणिएहि मिच्छदि-  
ट्ठीहि सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं, तं जहा—भारहं. रामायणं,  
हंभीमासुरत्तं, कोडिल्लयं, घोडमुहं, सगभदियाओ,  
कप्पासियं, नागसुहुमं, कणगसत्तरी, वेसियं, वइसेसियं,  
बुद्धवयणं, काविलं, लोगायतं, सट्ठितंतं, माडरं, पुराणं,  
वायरणं, नाडगादि । अहवा—वावत्तरिकलाओ चत्तारि  
वेया संगोवंगा ।  
(अनु ५४८)

अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और स्वच्छंद बुद्धि-मति द्वारा विरचित आगम लौकिक हैं । जैसे—महाभारत, रामायण, भंभी, आसुरोक्त, कौटिल्य अर्थशास्त्र, घोटकमुख, शक-भद्रिका, कार्पासिक, नागसूक्ष्म, कनकसप्तति (सांख्य-कारिका), वैशिक (कामशास्त्र), वैशेषिक, बुद्धवचन, कापिल, लोकायत, षष्ठितन्त्र, माठर, पुराण, व्याकरण, नाटक आदि । अथवा बहूत्तर कलाएं और अंग-उपांग सहित चार वेद—ये लौकिक आगम हैं ।

### लोकोत्तर आगम

लोमुत्तरिए आगमे - जणं इमं अरहंतेहि भगवंतेहि  
...पणीयं दुवालसंगं गणिपिडयं... ।  
(अनु ५४९)

अर्हंतों द्वारा प्रणीत द्वादशांग गणिपिटक लोकोत्तर आगम हैं ।

### शास्त्र के प्रकार

अप्पक्खरं महत्थं महक्खरऽप्पत्य दोसुऽवि महत्थं ।

दोसुऽवि अप्पं च तहा भणिअं सत्थं चउविगप्पं ॥

सामायारी ओहे नायज्झयणा य दिट्ठिवाओ य ।

लोइअकप्पासाई अणुक्कमा कारगा चउरो ॥

(ओभा ११, १२)

शास्त्र के चार प्रकार हैं—

१. अल्प अक्षर महान् अर्थ—जैसे ओघनिर्युक्ति ।

२. महान् अक्षर अल्प अर्थ—जैसे ज्ञातधर्मकथा ।

३. महान् अक्षर महान् अर्थ—जैसे दृष्टिवाद ।

४. अल्प अक्षर अल्प अर्थ—जैसे कार्पासिक आदि लौकिक शास्त्र ।

### ६. आगम वाचना

#### आचार्य भद्रबाहु : पाटलिपुत्रीय वाचना

तम्मि य काले वारस वरिसो दुक्कालो उवट्ठितो,  
संजता इतो इतो य समुदतीरे अच्छिता पुणरवि पाडलिपुत्ते  
मिलिता । तेसि अण्णस्स उहेसओ अण्णस्स खंडं । एवं  
संघाडितेहि एक्कारस अंगाणि संघातितानि, दिट्ठिवादो  
नत्थि ।

नेपालव्रतणीए य भद्वाहुस्सामी अच्छंति चोदसपुव्वी ।  
तेसि संघेणं पत्थवितो संघाडओ दिट्ठिवादं वाएहत्ति ।  
गतो । निवेदितं संघकज्जं तं । ते भणंति—दुक्काल-  
निमित्तं महापाणं ण पविट्ठो मि, इयाणि पविट्ठो मि, तो  
न जाति वायणं दातुं । पडिनियत्तेहि संघस्स अक्खातं ।  
तेहि अण्णोवि संघाडओ विसज्जितो—जो संघस्स आणं  
अतिक्कमति तस्स को डंडो ? ते गता । कहितं । तो  
अक्खाइ—उग्घाडेज्जइ । ते भणंति—मा उग्घाडेह, पेसेह  
मेहावी । सत्त पाडिपुच्छगाणि देमि—१. भिक्खायरियाए  
आगतो, २. कालवेलाए, ३. सण्णाए आगतो, ४. वेया-  
लियाए, ५-७ आवस्सए पडिपुच्छा तिण्णि ।...

ताहे थूलभद्दसामिप्पमुक्खाणि वंच मेहावीणं सताणि  
गयाणि । ते य पपडिता, मासेण एक्केण दोहि तिहिति  
सव्वे ओसरिता, न तरंति पाडिपुच्छेणं पडित्तुं ।  
थूलभद्दसामी ठितो । थोवावसेसे महापाणे पुच्छितो—न  
हु किलंमसि ? न किलंमामि । खमाहि कंचि कालं, तो  
दिवसं सव्वं वायणा होहिति । पुच्छति—कि पडितं ?  
केत्तियं वा अच्छंति ? आयरिया भणंति—अट्टासीति  
सुत्ताणि सिद्धत्थकेण, मंदरेण य उपमाणं । भणिओ य

एतो ऊणतरेणं कालेणं पडिहिसि, मा विसादं वच्चेज्जासि ।

समत्ते महापाणे किर पडियाणि णव पडिपुष्पाणि, दसमकं च दोहि वत्थूहि ऊणकं । एतंमि अंतरे विहरंता आगता पाडलिपुत्तं । धूलभद्दस्स य ताओ भगिणीओ सत्तवि पव्वइतिकाओ भणति—आयरिका ! भाउकं वंदका वच्चामो, उज्जाणे किर ठितेल्लका । आयरिए वंदित्ता पुच्छंति—कहि जेट्ठभाते ? भणति—एताए देवकुलिकाए गुणति । तेण य चित्तिं—भगिणीणं इडिड दरिसेमिन्ति सीहरूवं विउव्वितं, ताओ सीहं पेच्छंति । ताउ चेव भीता नट्टाओ, भणति—सीहेण खइयो । आय-रिएणं भणितं—ण सो सीहो, धूलभद्दो ।

बितियदिवसे उद्देशणकालो उवट्ठितो । न उदिसंति । कि कारणं ? अजोगो । हेण जाणितं कल्लत्तणकं । भणति—ण काहामि । भणति—ण तुमं काहिसि, अण्णे काहिति । पच्छा महता किलेसेण पडिवण्णा । उवरिल्लाणि चत्तारि पुव्वाणि पढाहि, मा अण्णस्स देज्जासि । ते चत्तारि ततो वोच्छिण्णा, दसमस्स य दो पच्छिमाणि वत्थूणि वोच्छिण्णाणि । दस पुव्वाणि अणुसज्जंति ।

(आवचू २ पृ १८७, १८८)

वीरनिर्वाण की दूसरी शताब्दी में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ । साधु-संघ समुद्र के किनारे चला गया । सुभिक्ष होने पर पाटलिपुत्र में पुनः मिला । दुर्भिक्ष के समय अनेक श्रुतधर मुनि स्वर्गवासी हो गए । जो शेष बचे, उनमें से किसी को श्रुत का उद्देशक याद रहा, किसी को उसका एक अंश । संघ के अग्रणी मुनियों ने उन सबको व्यवस्थित रूप में संकलित किया । इस प्रकार ग्यारह अंग संकलित हो गए । दृष्टिवाद को जानने वाला कोई मुनि नहीं बचा ।

उस समय आचार्य भद्रबाहु नेपाल देश में थे । वे चतुर्दशपूर्वी थे । संघ ने परामर्श कर एक संघाटक (दो मुनि) वहां भेजा और कहलवाया—आप यहाँ आकर दृष्टिवाद की वाचना दें । उन मुनियों ने वहाँ जाकर उनके सामने संघ का आवेदन प्रस्तुत किया ।

भद्रबाहु ने कहा—‘पहले दुष्काल था, इसलिए मैं महाप्राण की साधना में प्रविष्ट नहीं हुआ । अब मैंने उसकी साधना प्रारंभ की है, अतः मैं वाचना देने के लिए आने में असमर्थ हूँ ।’

मुनियों ने लौटकर सारा वृत्त संघ को बतलाया ।

संघ ने दूसरा संघाटक भेजकर कहलवाया—महाभुने ! जो संघ की आज्ञा का अतिक्रमण करता है, उसके लिए कौन-सा दंड है ? आचार्य भद्रबाहु ने कहा—‘संघ की आज्ञा के अतिक्रमण का अर्थ होता है—संघ से बहिष्कार । संघ मुझे बहिष्कृत न करे, इसलिए कुछ मेधावी साधुओं को भेजो । मैं प्रतिदिन सात वाचनाएं दूंगा—

१. भिक्षाचरी से आने के बाद

२. स्वाध्याय के समय

३. शौच से आने के बाद

४. विकाल बेला में

५-७. आवश्यक के बाद प्रतिपृच्छा के लिए तीन ।’

संघ ने संघाटक से यह संवाद पाकर स्थूलभद्र आदि पांच सौ मेधावी मुनियों को वहाँ भेजा । उन्होंने वाचना प्रारंभ की । प्रायः सभी मुनि न पढ़ सकने के कारण एक, दो, तीन महीनों में पाटलिपुत्र लौट गए । उन्होंने कहा—‘हम प्रतिपृच्छक से पढ़ नहीं सकते ।’ केवल स्थूलभद्रस्वामी दृढ़ता से अध्ययन में संलग्न रहे ।

महाप्राण ध्यान की साधना थोड़ी शेष रही, तब भद्रबाहु ने स्थूलभद्र से पूछा—‘तुम खिन्न तो नहीं हो रहे हो ?’

स्थूलभद्र बोले—‘मैं खिन्न नहीं हो रहा हूँ ।’ तब भद्रबाहु ने कहा—‘कुछ दिन प्रतीक्षा करो, फिर मैं तुम्हें पूरे दिन वाचना दूंगा ।’ स्थूलभद्र ने पूछा—‘मैंने कितना पढ़ा है, कितना शेष रहा है ?’ भद्रबाहु बोले—‘तुमने अभी ८८ सूत्र ही पढ़े हैं । सरसों जितना पढ़े हो, मंदर पर्वत जितना पढ़ना शेष है । किंतु विषाद मत करो । जितना समय लगा है, उससे कम समय में तुम पढ़ लोगे ।’

महाप्राण ध्यान संपन्न हो गया । स्थूलभद्र ने प्रतिपूर्ण नौ पूर्व पढ़ लिए । दो वस्तुओं (विभागों) से न्यून दसवां पूर्व भी पढ़ लिया । भद्रबाहु और स्थूलभद्र नेपाल से प्रस्थान कर पाटलिपुत्र आ गए । स्थूलभद्र की सात बहिनें प्रव्रजित हुई थीं । वे आचार्य भद्रबाहु और अपने भाई स्थूलभद्र को वंदन करने गईं । आचार्य भद्रबाहु उद्यान में ठहरे हुए थे । उन्होंने वंदन कर पूछा—‘भते ! हमारा ज्येष्ठ भ्राता कहां है ?’ भद्रबाहु ने कहा—‘इसी देवकुल में परावर्तन-स्वाध्याय कर रहा है ।’ बहिनें स्थूलभद्र को वंदना करने गईं । स्थूलभद्र ने आती हुई



बहिनों को देखा। उन्होंने अपनी ज्ञानलब्धि का प्रदर्शन करने के लिए सिंह का रूप बना लिया। साधवियों ने सिंह को देखा। वे डरकर लौट आईं और आचार्य से बोलीं—'स्थूलभद्र को सिंह खा गया।' भद्रबाहु बोले—'वह सिंह नहीं है, स्थूलभद्र है।'

दूसरे दिन वाचना के समय स्थूलभद्र भद्रबाहु के सामने उपस्थित हुए। भद्रबाहु ने वाचना नहीं दी। स्थूलभद्र ने सोचा, क्या कारण है जिससे मुझे वाचना के योग्य नहीं माना। उन्होंने इस पर ध्यान केन्द्रित किया और जाना—इसका कारण कल की घटना है। वे बोले—'मैं भविष्य में ऐसा नहीं करूंगा।' भद्रबाहु बोले—'तुम नहीं करोगे, पर दूसरे कर लेंगे।' बहुत प्रार्थना करने पर बड़ी कठिनाई से वाचना देना स्वीकार किया। उन्होंने स्थूलभद्र से कहा—'अवशिष्ट चार पूर्व तुम पढ़ो, पर दूसरों को उनकी वाचना नहीं दोगे।'

स्थूलभद्र के बाद अंतिम चार पूर्व विच्छिन्न हो गए। दसवें पूर्व की अंतिम दो वस्तुएं भी विच्छिन्न हो गईं। दस पूर्व की परम्परा उनके बाद भी चली।

**आचार्य स्कन्दिल : माथुरी वाचना**

वारससंवच्छरिण महंते दुर्भिक्षकाले भक्त्या अण्णतो फिडितानं गृहण-गुणणा-ऽगुप्पेहाभावातो सुते विप्पणट्ठे। पुणो सुभिक्षकाले जाते मधुराए महंते साहु-समुदए खंदिलायरियप्पमुहसंधेण 'जो जं संभरति' त्ति एवं संघडितं कालियसुतं। जम्हा य एतं मधुराए कतं तम्हा माधुरा वायणा भण्णति। सा य खंदिलायरिय-सम्मय त्ति कातुं तस्संतियो अणुओगो भण्णति। अण्णे भण्णति जहा—सुतं ण णट्ठं, तम्मि दुर्भिक्षकाले जे अण्णे पहाणा अणुओगधरा ते विणट्ठा, एगे खंदिलायरिए संघरे, तेण मधुराए अणुओगो पुणो साधूणं पवत्तितो त्ति माधुरा वायणा भण्णति, तस्संतियो य अणियोओ भण्णति। (नन्दीचू पृ ९)

बारह वर्ष तक दुष्काल रहा। साधु आहार के लिए दूर-दूर क्षेत्रों में जाते। समयाभाव के कारण वे सूत्र और अर्थ का ग्रहण, परिवर्तन एवं अनुप्रेक्षण नहीं कर पाते थे, इसलिए सूत्र विनष्ट/विस्मृत हो गये। दुष्काल-सम्पन्नता के बाद विशाल साधुसमुदाय मथुरा में एकत्रित हुआ। आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में आगमवाचना हुई। जिसको जो याद था, वह संकलित किया गया। यह मथुरा में होने कारण माथुरी वाचना कहलाई।

स्कन्दिलाचार्य से सम्मत होने के कारण इसे स्कन्दिल का अनुयोग कहा गया। एक मान्यता है कि दुष्काल में श्रुत नष्ट नहीं हुआ था। जो विशिष्ट अनुयोगधर साधु थे, वे कालकवलित हो गये। एकमात्र स्कन्दिलाचार्य ही अनुयोगधर बचे। उन्होंने मथुरा में साधुओं के लिए पुनः अनुयोग का प्रवर्तन किया और इसलिए इसे माथुरी वाचना कहा गया तथा यह स्कन्दिलाचार्य का अनुयोग कहाया।

(जैन परंपरा में चार आगम-वाचनाएं विश्रुत हैं—

१. आचार्य भद्रबाहु की घाटलीपुत्रीय वाचना वीर निर्वाण दूसरी शताब्दी (आवश्यक चूर्णि)
२. आचार्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना वीर निर्वाण नौवीं शताब्दी (नंदी चूर्णि)
३. आचार्य नागार्जुन की बल्लभी वाचना— वीर निर्वाण नौवीं शताब्दी (भद्रेश्वरसूरी कृत कहावली)
४. आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण की बल्लभी वाचना— वीर निर्वाण दसवीं शताब्दी (समय-सुंदरगणीकृत सामाचारी शतक)। वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं, वे प्रायः देवद्विगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं।)

**आचार—शास्त्रविहित आचरण, मोक्ष के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान।**

१. आचार की परिभाषा

२. आचार के प्रकार

\* दर्शन के आचार

(द्र. सम्यक्त्व)

३. ज्ञान के आचार

४. चारित्र के आचार

५. तप के आचार

६. वीर्य के आचार

७. श्रमण-आचार के स्थान

\* छह व्रत

(द्र. महाव्रत)

\* छह काय-संयम

(द्र. अहिंसा)

○ अकल्प-वर्जन

○ गृहस्थ-पात्र-वर्जन

○ पर्यंक-वर्जन

○ गृहनिषद्या-वर्जन

- ० स्नान-वर्जन
- ० विभूषा-वर्जन
- ८. अकल्प आदि के वर्जन का प्रयोजन

### ९. आचार-समाधि के प्रकार

#### १०. आचार-सम्पन्नता के परिणाम

#### ११. आचार-अतिक्रमण के चार स्थान

- ० अतिक्रम
- ० व्यतिक्रम
- ० अतिचार
- \* अनाचार

(डॉ. अनाचार)

#### १२. अतिचार क्या ?

#### १३. अतिचार का हेतु

#### १४. ज्ञान के अतिचार

- \* दर्शन के अतिचार (डॉ. सम्यक्त्व)
- \* धावक का आचार (डॉ. धावक)
- \* भ्रमण का आचार (डॉ. भ्रमण)
- \* आचारपालन में प्रसक्त : पापभ्रमण (डॉ. भ्रमण)

## १. आचार की परिभाषा

शिष्टाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिः ।

(नन्दीहावृ पृ ७५)

आचारो—वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलापः ।

(उशावृ प ४९९)

आचार का अर्थ है—

शिष्ट व्यक्तियों द्वारा आचीर्ण ज्ञान-दर्शन आदि के आचरण—अभ्यास की विधि ।

आचार का अर्थ है—वेश-धारण आदि बाह्य क्रिया-कलाप ।

## २. आचार के प्रकार

दंसण नाण चरित्ते तवआयारे य वीरियायारे ।

एसो भावायारे पंचविहो होइ नायव्वो ॥

(दनि ८६)

आचार के पांच प्रकार हैं—

१. दर्शन आचार
२. ज्ञान आचार
३. चारित्र आचार
४. तप आचार
५. वीर्य आचार ।

## ३. ज्ञान के आचार

काले विणये बहुमाणे उवहाणे तहा अनिण्हवणे ।

वंजण अत्थ तदुभए अट्टविहो नाणमायारो ॥

(दनि ८८)

### ज्ञानाचार के आठ प्रकार

काल—श्रुत का अध्ययन करने के लिए निर्विष्ट-काल में श्रुत का अभ्यास करना ।

विनय—ज्ञानप्राप्ति के प्रयत्न में विनम्र रहना ।

बहुमान—ज्ञान के प्रति आन्तरिक अनुराग रखना ।

उपधान—श्रुतवाचन के समय आयम्बिल आदि विशेष तप का अनुष्ठान करना ।

अनिह्वन—ज्ञान और ज्ञानदाता आचार्य का गोपन न करना ।

सूत्र—सूत्र का वाचन करना ।

अर्थ—अर्थ का वाचन करना ।

सूत्रार्थ—सूत्र और अर्थ—दोनों का वाचन करना ।

## ४. चारित्र के आचार

पणिहाणजोगजुत्तो पंचहि समितीहि तिहि य गुत्तीहि ।

एस चरित्तायारो अट्टविहो होइ णायव्वो ॥

(दनि ८९)

चारित्राचार के आठ प्रकार—

पांच समिति और तीन गुप्ति ।

(डॉ. समिति, गुप्ति)

## ५. तप आचार

वारसविहम्मि वि तवे सच्चित्तर वाहिरे कुसलदिट्ठे ।

अगिलाए अणाजीवी णायव्वो सो तवायारो ॥

(दनि ९०)

पूजा-प्रतिष्ठा की आकांक्षा से विहीन, अदीनभाव से बारह प्रकार के बाह्य और आभ्यंतर तप का आचरण करना तप आचार है ।

(डॉ. तप)

## ६. वीर्य आचार

अणिमूहितबल-विरिओ परक्कमति जो जहुत्तमाउत्तो ।

जुंजइ य जहाथामं णायव्वो वीरियायारो ॥

(दनि ९१)

अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की आराधना में पराक्रम करना वीर्याचार है । उसके छत्तीस प्रकार हैं

ज्ञान के आठ आचार

दर्शन के आठ आचार  
चारित्र के आठ आचार  
तप के बारह आचार

### ७. श्रमण-आचार के स्थान

वयच्छक्कं कायच्छक्कं, अकप्पो गिहिभायणं ।  
पलियं न सेज्जा य, सिण्णं सोहवज्जणं ॥

(द ६।७)

श्रमण-आचार के अठारह स्थान —

१. अहिंसा	१०. वायुकाय-संयम
२. सत्य	११. वनस्पतिकाय-संयम
३. अचीर्य	१२. त्रसकाय-संयम
४. ब्रह्मचर्य	१३. अकल्प वर्जन
५. अपरिग्रह	१४. गृहि-भाजन-वर्जन
६. रात्रि-भोजन त्याग	१५. पर्यंक-वर्जन
७. पृथ्वीकाय-संयम	१६. गृहान्तर निषेधा-वर्जन
८. अप्काय-संयम	१७. स्नान-वर्जन
९. तेजस्काय-संयम	१८. विभूषा-वर्जन

### अकल्प-वर्जन

पढमं उत्तरगुणो अकप्पो । सो दुविधो, तं जहा—  
सेहट्टवणाकप्पो अकप्पट्टवणाकप्पो य ।

(दजिचू पृ० २२६)

अकल्प-वर्जन प्रथम उत्तरगुण है। अकल्प के दो  
भेद हैं : शौक्षस्थापना अकल्प, अकल्पस्थापना अकल्प ।

पिंडं सेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य ।

अकप्पियं न इच्छेज्जा, पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥

(द ६।४७)

मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या-वसति, वस्त्र और  
पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे किन्तु कल्पनीय  
ग्रहण करे। (यह अकल्पस्थापना अकल्प है।)

सेहट्टवणाकप्पो नाम जेण पिण्डणिज्जुत्ती ण सुता  
सेसु आणियं न कप्पइ भोत्तुं । जेण सेज्जाओ ण सुयाओ  
तेण वसही उग्गमिता ण कप्पइ । जेण वत्थेसणा ण सुया  
तेण वत्थं । उडुबद्धे अणला ण पव्वाविज्जंति, वासासु  
सव्वेऽपि ।

(दजिचू पृ २२६)

जिसने पिण्डनिर्युक्ति का अध्ययन न किया हो,  
उसके द्वारा लाया हुआ भक्तपान, जिसने शय्या (आयार-

चूला २) का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा याचित  
वसति और जिसने 'वस्त्रैषणा' (आयारचूला ५) का  
अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा आनीत वस्त्र, ऋतु-  
बद्ध काल में अयोग्य व्यक्ति को प्रव्रजित करना तथा  
वर्षाकाल में किसी की भी प्रव्रजित करना—यह 'शौक्ष-  
स्थापना अकल्प' कहलाता है ।

### गृहस्थपात्र-वर्जन

कांसेमु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो ।

भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥

(द ६।५०)

जो गृहस्थ के कांसे के प्याले, कांसे के पात्र और  
कुण्डमोद (कुंडे के आकार का कांस्य भाजन) में अशन,  
पान आदि खाता है, वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता  
है ।

सीओदगसमारभे, मत्तधोयणच्छुणे ।

जाइं छन्नंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥

....पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कप्पई ॥

(द ६।५१,५२)

वर्तनों को सचित्त जल से धोने में और वर्तनों के  
धोए हुए पानी को डालने में प्राणियों की हिंसा होती  
है । तीर्थंकरों ने वहाँ असंयम देखा है ।

गृहस्थ के वर्तन में भोजन करने में 'पश्चात् कर्म'  
और 'पुरःकर्म' की संभावना है। वह निर्ग्रन्थ के लिए  
कल्प्य नहीं है ।

### पर्यंक-वर्जन

आसंदीपलियंकेसु, मंचमासालएसु वा ।

अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥

गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा ।

आसंदीपलियंका य, एयमट्ठं विवज्जिया ॥

(द ६।५३,५५)

आर्यों के लिए आसंदी, पलंग, मंच और आसालक  
(अवष्टंभ सहित आसन) पर बैठना या सोना अनाचीर्ण  
है ।

आसंदी आदि गंभीर छिद्र वाले होते हैं। इनमें  
प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए  
आसंदी, पलंग आदि पर बैठना या सोना वर्जित किया  
है ।

### गृहनिषद्या-वर्जन

विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं अवहे व्हो ।  
वणीमगपडिग्थाओ, पडिकोहो अमारिणं ॥  
अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ यावि संकणं ।  
कुसीलवड्डणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥

(द ६।५७,५८)

गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य—आचार का विनाश, प्राणियों का अवधकाल में वध, भिक्षाचरों के अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है। ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है तथा स्त्री के प्रति भी शंका होती है। यह (गृहान्तर निषद्या) कुशीलवर्धक स्थान है इसलिए मुनि इसका दूर से वर्जन करे।

### गृहनिषद्या का अपवाद

तिण्हमन्नयरागस्स, निसेज्जा जस्स कप्पई ।  
जराए अभिभूयस्स, बाहियस्स तवस्सिणो ॥

(द ६।५९)

जराग्रस्त, रोगी, तपस्वी—इन तीनों में से कोई भी साधु गृहस्थ के घर में बैठ सकता है।

एमंतेण निसेहो जोगेसु न देसिओ विही वावि ।  
वल्लिअं पप्प निसेहो होज्ज विही वा जहा रोगे ॥

(ओनि ५५)

गमनागमन आदि योगरूप व्यापार का एकान्त रूप से विधि और निषेध नहीं है। रोग में पथ्य-अपथ्य की तरह प्रयोजन के अनुसार ही विधि और निषेध है।

### स्नान-वर्जन

वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए ।  
वोक्कंतो होइ आयारो, जढो ह्वइ संजमो ॥

(द ६।६०)

साधु रोगी हो या नीरोग, जो स्नान करने की अभिलाषा करता है, उसके आचार का उल्लंघन होता है। वह संयम से च्युत हो जाता है।

संतिमे सुहुमा पाणा, वसासु भिलुगासु य ।  
जे उ भिक्खु सिणायंतो, वियडेणुप्पिलावए ॥

(द ६।६१)

पोली भूमि और दरारयुक्त भूमि में सूक्ष्म प्राणी होते हैं। अप्रासुक जल से स्नान करने वाला भिक्षु उन्हें जल से प्लावित करता है।

### शोभा-वर्जन

सिणाणं अदुवा कक्कं, लोढं पन्नमगाणि य ।  
गायस्सुव्वट्टणट्टाए, नायरति कयाइ वि ॥

(द ६।६२)

मुनि शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए गन्धचूर्ण, कल्क, लोध्र, पद्मकेसर आदि का उबटन न करे।

नगिणस्स वा वि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो ।

मेहुणा उवसंतस्स, किं विभूसाए कारियं ॥

विभूसावत्तियं भिक्खु, कम्मं बंधइ चिक्कणं ।

संसारसायरे घोरे, जेषं पडइ दुरुत्तरे ॥

विभूसावत्तियं चेयं, बुद्धा मन्नंति तारिसं ।

सावज्जबहुलं चेयं, नेयं तार्हीहि सेवियं ॥

(द ६।६४-६६)

नग्न, मुण्ड, दीर्घ रोम और नख वाले तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है ?

विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने कर्म का बन्धन करता है। उससे वह दुस्तर संसार-सागर में गिरता है।

विभूषा में प्रवृत्त मन को तीर्थङ्कर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते हैं। यह प्रचुर पापयुक्त है। यह छहकाय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नहीं है।

### ८. अकल्प आदि के वर्जन का प्रयोजन

जहा पंचमहव्वयाणं रक्खणनिमित्तं पत्तेयं पंच पंच भावणाओ तह अकप्पादीणि छट्ठाणाणि वयकायाणं रक्खणत्थं भणियाणि । जहा वा गिहस्स कुडुक्कावड-जुत्तस्सवि पदीवजानरमाणादि रक्खणाविसेसा भवन्ति तह पंचमहव्वयजुत्तस्सवि साहुणो तेसिमणुपालणत्थं इमे उत्तरगुणा भवन्ति ।

(दजिच्चू पृ २२६)

जैसे पांच महाव्रतों की रक्षा के लिए पञ्चीस (प्रत्येक महाव्रत की पांच) भावनाएं होती हैं, वैसे ही व्रत और छह काय की रक्षा के लिए ये छह स्थान वर्जनीय हैं—अकल्पग्रहण, गृह-पात्र, पर्यक, निषद्या, स्नान और विभूषा। जिस प्रकार भीत और किवाड़ युक्त गृह के लिए भी दीपक और जागरण—ये दो रक्षा के हेतु होते हैं, वैसे ही पंचमहाव्रत युक्त साधु के लिए भी उत्तरगुण महाव्रतों के अनुपालन के हेतु होते हैं।

### ९. आचार समाधि के प्रकार

चउव्विहा खल्लु आयारसमाही भवइ, तं जहा-

नो इह्लोगद्वयाए आधारमहिट्ठेज्जा ।  
 नो परलोगद्वयाए आधारमहिट्ठेज्जा ।  
 नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगद्वयाए आचारमहिट्ठेज्जा ।  
 नन्नत्थ आरहत्तेहि हेऊहि आधारमहिट्ठेज्जा ।

(द १।४।७)

आचार-समाधि के चार प्रकार—

इहलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए ।

परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए ।

कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए ।

आर्हत-हेतु के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना चाहिए ।

### १०. आचार-सम्पन्नता के परिणाम

जिणवयणरए अतिरिणे, पडिपुण्णाययमाययट्टिए ।

आचारसमाहिसंवुडे, भवइ य दते भावसंघए ॥

(द १।४।५)

जो जिनवचन में रत होता है, जो प्रलाप नहीं करता, जो सूत्रार्थ से परिपूर्ण होता है, जो अत्यन्त मोक्षार्थी होता है, वह आचारसमाधि के द्वारा संवृत होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला तथा मोक्ष को निकट करने वाला होता है ।

### ११. आचार-अतिक्रमण के स्थान—

आहाकम्मनिमंतण पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ ।

पयभेयाइ वइक्कम रहिए तइएयरो गिलिए ॥

(पिनि १८२)

साधु के योग्य आचार का अतिक्रमण करना अतिक्रम है। जैसे—साधु के लिए आधाकर्म आहार का ग्रहण निषिद्ध है। उस आहार का निमन्त्रण स्वीकार करना अतिक्रम, उसको लाने के लिए प्रस्थान करना व्यतिक्रम, उसे ग्रहण करना अतिचार तथा उसका परिभोग करना अनाचार है ।

### १२. अतिचार क्या ?

सयणासण्णपाणे, चेइयजइसेज्जकाय उच्चारे ।

समितीभावणगुत्ती, वितहायरणम्मि अइयारो ॥

(आवनि १४९८)

शयन, आसन, अन्न, पानी, चैत्य, यति, शय्या, उच्चार-प्रसवण, समिति, भावना और भुक्ति—इन विषयों में विपरीत आचरण करना अतिचार है ।

### १३. अतिचार का हेतु

सव्वे चिय अइयारा संजलणाणं तु उदयओ हींति ।

मूलछेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ॥

(विभा १२४९)

सब अतिचार संज्वलन कषाय के उदय से होते हैं । मूल (संयमघाती) अतिचार अनन्तानुबन्धी चतुष्क, अप्रत्याख्यान चतुष्क और प्रत्याख्यान चतुष्क के उदय से होते हैं ।

### १४. ज्ञान के अतिचार

...वाइद्ध वच्चामेलियं, हीणकखरं, अच्चकखरं पयहीणं, विणयहीणं, घोसहीणं, जोगहीणं, सुट्ठुदिन्नं, दुट्ठुपडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाइए सज्झाइयं, सज्झाइए न सज्झाइयं ।

(आव ४।८)

ज्ञान के चौदह अतिचार हैं—

१. व्याविद्ध—आगम पाठ को आगे-पीछे करना ।
२. व्यत्यात्रेडित—मूल पाठ में अन्यपाठ का मिश्रण करना ।
३. हीनाक्षर—अक्षरों को न्यून कर उच्चारण करना ।
४. अत्यक्षर—अक्षरों को अधिक कर उच्चारण करना ।
५. पदहीन—पदों को कम कर उच्चारण करना ।
६. विनयहीन—विराम-रहित उच्चारण करना ।
७. घोषहीन—उदात्त आदि घोष-रहित उच्चारण करना ।
८. योगहीन—सम्बन्ध-रहित उच्चारण करना ।
९. भुष्ठुदत्त—योग्यता से अधिक ज्ञान देना ।
१०. दुष्ठु-प्रतीच्छित—ज्ञान को सम्यग् भाव से ग्रहण न करना ।
११. अकाल में स्वाध्याय करना ।
१२. स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करना ।
१३. अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना ।
१४. स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न करना ।

**आचारांग**—प्रथम अंग । (द्र. अंगप्रविष्ट)

**आचार्य**—जो स्वयं आचार का पालन करते हैं और दूसरों से आचार का पालन करवाते हैं ।

- जो शिष्यों को सूत्र और अर्थ की वाचना देते हैं ।
- जो तीर्थंकर के प्रतिनिधि होते हैं ।
- जो नमस्कार महामंत्र में तीसरे पद के वाचक हैं ।

### १. आचार्य

- परिभाषा
- प्रकार

### २. आचार्य के उपमान

### ३. आचार्य का वायित्व

### ४. आचार्य का वैधावृत्त्य

### ५. आचार्य के प्रायोग्य आहार...

### ६. आचार्य की आराधना

### ७. आचार्य की आशातना के परिणाम

### ८. आचार्य-उपाध्याय

### ९. वाचनाचार्य : वाचक वंश

- \* आचार्य के पास बैठने की विधि (द्र. शिष्य)
- \* आचार्य के साथ बातचीत की विधि (द्र. शिष्य)
- \* आचार्य के प्रति शिष्य के कर्तव्य (द्र. शिष्य)
- \* आचार्य का अनुशासन : शिष्य की दृष्टि (द्र. शिष्य)
- \* आचार्य और विनय (द्र. विनय)
- \* आचार्य की शुभ्रुषा से श्रुत-प्राप्ति (द्र. शिक्षा)
- \* आचार्य-उपाध्याय नमस्कार की निष्पत्ति (द्र. नमस्कार)
- \* आचार्य : अंगबाह्य के रचयिता (द्र. अंगबाह्य)
- \* आचार्य-धरंपरा (द्र. स्थविरावलि)

## १. आचार्य की परिभाषा

पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पभासंता ।

आयारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति ॥

(आवनि ९९४)

जो पांच आचार—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और वीर्य का अनुपालन करते हैं, अनुरूप अर्थ की व्याख्या

करते हैं और दूसरों को आचार की क्रियाओं का सक्रिय प्रशिक्षण देते हैं, वे आचार्य हैं ।

सुत्तत्थतदुभयादिगुणसम्पन्नो अप्पणो गुरुहि गुरुपदे त्थावितो आयरिओ । (दअचू पृ २१९)

जो वा अन्नोऽपि सुत्तत्थतदुभयगुणेहि अ उववेओ गुरुए ण ठाविओ सोऽपि आयरिओ चेव ।

(दजिचू पृ ३१८)

आचार्य सूत्रार्थप्रदं तत्स्थानीयं वान्यं ज्येष्ठार्यम् ।

(दहावृ प २५२)

◦ जो सूत्र, अर्थ और तदुभय का ज्ञाता है तथा अपने गुरु द्वारा गुरुपद पर स्थापित है, वह आचार्य कहलाता है ।

◦ जो सूत्र और अर्थ का ज्ञाता है किन्तु गुरुपद पर स्थापित नहीं है, वह भी आचार्य कहलाता है ।

◦ सूत्रार्थदाता अथवा गुरुस्थानीय ज्येष्ठ आर्य आचार्य कहलाता है ।

### आचार्य के प्रकार

आयरियो पंचविहो, तं जहा... पन्वावणायरियो, दिसायरियो, सुयस्स उद्दिसणायरियो, सुयस्स समुद्दिसणा-यरिओ, सुयस्स वायणायरिओ । (दअचू पृ १५)

आचार्य के पांच प्रकार हैं—

प्रज्ञाजनाचार्य—प्रव्रज्या देने वाले ।

दिशाचार्य—व्युत्पन्न शिष्य को यात्रा का निर्देश देने वाले ।

उद्देशनाचार्य—सूत्र-पठन का निर्देश देने वाले ।

समुद्देशनाचार्य—सूत्र-स्थिरीकरण का निर्देश देने वाले ।

वाचनाचार्य—वाचना देने वाले—पढ़ाने वाले ।

पंचविहे आयरिए पन्नत्ते, तं जहा—धम्मयारिए पन्वावणायरिए उवट्ठावणायरिए वायणायरिए वक्खाणा-यरिए । (विभाकोवृ पृ ५)

आचार्य के पांच प्रकार हैं—

धर्माचार्य—धर्म का उपदेश देने वाले ।

प्रज्ञाजनाचार्य—प्रव्रज्या देने वाले ।

उपस्थापनाचार्य—उपस्थापित करने वाले ।

वाचनाचार्य—वाचना देने वाले ।

व्याख्याचार्य—अनुयोग करने वाले ।

## २. आचार्य के उपमान

जहा निसंते तवणच्चिचमाली पभासई केवलभारहं तु ।  
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए विरायई सुरमज्जे व इंदो ॥  
(द ९।१।१४)

जैसे दिन में प्रदीप्त होता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारत (भरतक्षेत्र) को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करते हैं और जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार साधुओं के बीच आचार्य सुशोभित होते हैं।

जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो नवखत्ततारागणपरिवुडप्पा ।  
खे सोहई विमले अब्भमुक्के एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्जे ॥  
(द ९।१।१५)

जिस प्रकार बादलों से भुक्त विमल आकाश में नक्षत्र और तारागण से परिवृत कार्तिक पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच आचार्य शोभित होते हैं।

## आचार्य : दीप का वृष्टांत

जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो ।  
दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति ॥  
(अनु ६४३।१)

एक दीप सैंकड़ों दीपों को प्रदीप्त करता है और स्वयं भी प्रदीप्त रहता है। आचार्य भी अपने ज्ञान के आलोक से दूसरों को आलोकित करते हैं और स्वयं भी आलोकित रहते हैं।

## ३. आचार्य का दायित्व

जे माणिया सययं माणयंति जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।  
ते माणए माणरिहे तवस्सी जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥  
(द ९।३।१३)

अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मानित किए जाने पर जो शिष्यों को सतत सम्मानित करते हैं—श्रुतग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है।

## ४. आचार्य का वैयावृत्य

जहाहियग्गी जलणं नमसे नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।  
एवायरियं उवच्चिट्टुएज्जा अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥  
(द ९।१।११)

जैसे आहिताग्नि ब्राह्मण विविध आहुति और मन्त्र पदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान संपन्न होते हुए भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करें।

आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी, सुस्सुसमाणो पडिजामरेज्जा ।  
आलोइयं इगियमेव नच्चा, जो छंदमाराहयइ स पुज्जो ॥  
(द ९।३।१)

जैसे आहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित और इज्जित को जानकर उनके अभिप्राय की आराधना करता है, वह पूज्य है।

## ५. आचार्य के प्रायोग्य आहार

सुत्तथथिरीकरणं विणओ गुरुपूयसेहवहुमाणो ।  
दाणवतिसद्धबुद्धी बुद्धिबलवद्धणं चेव ॥  
एएहि कारणेहि उ केइ सहस्सवि वयंति अणुकंपा ।  
गुरुअणुकंपाए पुण गच्छे तित्थे य अणुकंपा ॥  
(ओनि ६०९, ६१०)

आचार्य के प्रायोग्य आहार की गवेषणा के लाभ—

१. मनोज्ञ आहार से सूत्र-अर्थ का स्थिरीकरण सुखपूर्वक होता है।
२. विनय सामाचारी का पालन होता है।
३. गुरुपूजा सहज संपादित होती है।
४. शैक्ष के मन में आचार्य के प्रति बहुमान के भाव उत्पन्न होते हैं।
५. दाता के मन में श्रद्धाभाव की वृद्धि होती है।
६. आचार्य का शारीरिक बल और बुद्धि-बल बढ़ता है।
७. शिष्यों के महान् निर्जरा होती है।

— इन कारणों से जो शिष्य गुरु के प्रायोग्य आहार की गवेषणा करता है, वह गच्छ और तीर्थ की अनुकंपा—सेवा करता है।

आयरिय गिलाणाण य मइला मइला पुणोऽवि धावन्ति ।  
मा हु गुरुण अवण्णो लोममि अजीरणं इयरे ॥  
(पिनि २७)

आचार्य और हण मुनि के वस्त्रों का बार-बार प्रक्षालन विहित है। क्योंकि आचार्य के मलिन वस्त्र लोगों में जुगुप्सा पैदा करते हैं, इससे संघ की अवहेलना होती है। हण साधु यदि मलिन वस्त्र पहनता है तो उसके अजीर्ण आदि रोगों की संभावना रहती है।

## ६. आचार्य की आराधना

जो जेण पगारेणं तुस्सइ करण-विणया-ऽणुवत्तीहि ।  
आराहणाए मग्गो सो च्चिय अवाहओ तस्स ॥  
(विभा ९३२)

आचार्य की आराधना के उपाय -

- ० गुरु द्वारा आदिष्ट कार्य का सम्पादन करना।
- ० विनय — आसन प्रदान करना, पर्युपासना करना।
- ० इंगित का अनुवर्तन करना।
- ० जिस उपाय से गुरु प्रसन्न हों, उसी का आचरण करना।

## ७. आचार्य की आशातना के परिणाम

जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा ।  
हीलन्ति मिच्छं पडिवज्जभाणा करंति आसायण ते गुरुणं ॥  
पगईए मंदा वि भवंति एगे डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया ।  
आयारमंता गुणसुट्टिअप्पा जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥  
जे यावि नामं डहरं ति नच्चा आसायए से अहिप्राय होइ ।  
एवायरियं पि हु हीलयंतो नियच्छई जाइपहं खु मंदा ॥  
आसीविसो यावि परं सुट्टो कि जीवनासाओ परं तु कुज्जा ।  
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना

अवोहि आसायण नत्थि मोक्खो ॥

(द ९।१।२-५)

जो मुनि गुरु का 'ये मंद (अल्पप्रज्ञ) है' 'ये अल्प-वयस्क और अल्पश्रुत हैं,'— ऐसा जानकर उनके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उनकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशातना करते हैं।

कई आचार्य वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मन्द (अल्पप्रज्ञ) होते हैं और कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न होते हैं। आचारवान् और गुणों में सुस्थितात्मा आचार्य, भले फिर वे मन्द हों या प्राज्ञ, अवज्ञा प्राप्त होने पर गुणराशि को उसी प्रकार

भस्म कर डालते हैं जिस प्रकार अग्नि ईंधनराशि को।

'यह सर्प छोटा है'—ऐसा जानकर जो उसकी आशातना (कदर्यना) करता है, वह प्रवृत्ति उसके अहित के लिए होती है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला ढीठ मुनि संसार में परिभ्रमण करता है।

आशीविष सर्प अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या कर सकता है? परन्तु आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता। उनकी आशातना से मोक्ष नहीं मिलता।

सिया हु से पावय नो डहेज्जा

आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।

सिया विसं हालहलं न मारे

न यावि मोक्खो गुरुहीलथाए ॥

(द ९।१।७)

संभव है कदाचित् अग्नि न जलाए, संभव है आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न काटे और यह भी संभव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष संभव नहीं है।

सिया हु सीसेण गिरिं पि भिदे

सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे ।

सिया न भिदेज्ज व सत्तिअग्गं

न यावि मोक्खो गुरुहीलथाए ।

(द ९।१।९)

संभव है शिर से पर्वत को भी भेद डाले, संभव है सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी संभव है कि भाले की नोक भेदन न करे, पर गुरु की अवहेलना से मोक्ष संभव नहीं है।

## ८. आचार्य-उपाध्याय

आयारदेसणाओ आयरिया विणयणादुवज्जभाया ।

अत्थपदायगा वा गुरवो सुत्तस्सुवज्जभाया ॥

(विभा ३२००)

आचार्य आचार की देशना देते हैं। उपाध्याय शिक्षा का कार्य करते हैं।

अथवा आचार्य अर्थपदों की वाचना देते हैं। उपाध्याय सूत्रपदों की वाचना देते हैं।

नावश्यमाचार्योपाध्यायैर्भिन्नैः भवितव्यम् । अपितु



क्वचिदसावेव सूत्रं शिष्येभ्यः प्रयच्छत्यसावेव चार्थम् ।

(ओतिवृ प ३)

यह आवश्यक नहीं है कि आचार्य और उपाध्याय भिन्न-भिन्न व्यक्ति हों। कदाचिद् जो सूत्र की वाचना देते हैं, वे ही अर्थ की वाचना दे देते हैं।

धम्मोवदेस दिक्खा वओअदेस दिस वायगा गुरवो ।

एत्थेव उवज्झाओ गहिओ सुयवायणायरिओ ॥

(विभा १८१८ कोवृ पृ ३९३)

जो धर्म का उपदेश देते हैं, शिष्यों को दीक्षित करते हैं, उन्हें उपस्थापित करते हैं, वाचना देते हैं, यात्रा का निर्देश देते हैं, वे आचार्य हैं। श्रुतवाचनाचार्य को उपाध्याय कहा गया है।

वारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहेहि ।

तं उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चंति ॥

(आवनि ९९७)

अर्हत्-प्रणीत द्वादशांगी का जो स्वयं स्वाध्याय करते हैं और शिष्यों को वाचना देते हैं, वे उपाध्याय हैं।

अविदिण्णदिसो गणहरपदजोग्गो उवज्झातो ।

(दञ्चू पृ १५)

जो आचार्यपद पर प्रतिष्ठित नहीं हैं और जो गण-धर पद के योग्य हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं।

उत्ति उवओगकरणे वत्ति अ पावपरिवज्जणे होइ ।

भक्ति अ भाणस्स कए उत्ति अ ओसक्कणा कम्मे ॥

(आवनि ९९९)

उवज्झाओ (उपाध्याय) में उ का अर्थ उपयोग, व का अर्थ पापवर्जन, भा का अर्थ ध्यान और ओ का अर्थ कर्म का अपनयन है।

जो सूत्रार्थ में उपयोगवान् हैं, पापभीरु हैं, ध्यान की गहराइयों में जाते हैं तथा कर्म का अपनयन करने में संलग्न हैं, वे उपाध्याय हैं। यह शब्द का निरुक्तार्थ है। जो सूत्रवाचना देने में अपने सूक्ष्म चिन्तन का उपयोग करते हैं, वे उपाध्याय हैं।

उवगम्म जओऽहीयइ जं चोवगयमज्झयारिवति ।

जं चोवायज्झाया हियस्स तो ते उवज्झाया ॥

(विभा ३१९९)

शिष्य जिनके पास आकर पढ़ते हैं अथवा जो सभागत शिष्यों को पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय हैं। जो स्व-

पर-हित के उपाय का चिन्तन करते हैं, वे उपाध्याय हैं।

### ६. वाचनाचार्य : वाचकवंश

वायणायरिओ नाम जो उवज्झायसंदिट्ठो उद्देसादि करेति ।

(आवचू २ पृ २१७)

जो उपाध्याय द्वारा संदिष्ट उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा-अनुयोग का संपादन करता है - सूत्र और अर्थ की वाचना देता है, वह वाचनाचार्य है।

वायगवंसो णाम जेहि परंपरणं सामाइयादि अत्थो गंथो य वादितो ।

(आवचू १ पृ ८६)

जो परम्परा से आचार्य आदि आगमों के सूत्र और अर्थ की वाचना देता है, वह वाचक वंश है।

वाचका उपाध्यायास्तेषां वंशः (वाचकवंशः) ।

(विभामवृ पृ ४१८)

वाचक का अर्थ है उपाध्याय। उपाध्याय की परंपरा को वाचक वंश कहा जाता है।

वार्येति सिस्साणं कालिय-पुव्वसुतं ति वातगा—  
आचार्या इत्यर्थः । गुरुसंनिहाणे वा सिस्सभावेण वाइतं  
सुतं जेहि ते वायगा । वंसो ति पुरिसपक्वपरंपरेण ठितो ।

(नन्दीचू पृ ९)

१. जो शिष्यों को कालिक श्रुत और पूर्वश्रुत की वाचना देते हैं, वे वाचक अथवा आचार्य कहलाते हैं।

२. जिन्होंने गुरु की सन्निधि में शिष्यभाव से श्रुत का वाचन किया है, वे वाचक हैं।

उनकी वंशपरम्परा वाचकवंश कहलाती है।

### आजीवक—महावीरकालीन एक श्रमण सम्प्रदाय ।

आजीविका पासंडत्था गोसालपवत्तिता । तेसि  
सिद्धंतमतेण चुताऽचुतसहिता सत्त परिकम्मा पण्ण-  
विज्जंति । .....ते तिविहं णयमिच्छंति, तं जहा—  
दव्वट्ठितो, पज्जवट्ठितो उभयट्ठितो ।

(नन्दीचू पृ ७२,७३)

आजीवक सम्प्रदाय गौशालक द्वारा प्रवर्तित है। उनके सिद्धांत के अनुसार सात परिकर्म प्रज्ञापनीय हैं। उन्हें तीन नय मान्य हैं—द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक और उभयास्तिक।

आजीविका तैरासिया भणित्ता । ते सर्वं जगं  
क्यात्मकं इच्छंति, जहा - जीवो अजीवो जीवाजीवश्च,  
संते असंते संतासंते एवमादि । (नन्दीचू पृ ७३)

आजीवक मत तैराशिक कहलाता है। वह संपूर्ण

जगत् को त्वात्मक मानता है। जैसे—जीव, अजीव, जीव-अजीव; सत्, असत्, सद्-असत्।

**आत्मा**—अविनाशी चेतन द्रव्य, चेतनामय असंख्य प्रदेशों का अविभाज्य पिण्ड।

### १. आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के हेतु

- ० पूर्वजन्म-पुनर्जन्म
- ० स्वसंवेदन
- ० संशय आदि विज्ञान

### २. आत्मा की अदृश्यता के हेतु

### ३. आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व

### ४. आत्मा की नित्यता-अमूर्तता-अन्यता

### ५. आत्मा शरीरध्यायी

- \* आत्मा और कर्म का संबंध (द्र. कर्म)

### ६. आत्मा के विविध स्तर

#### १. चित्त

#### २. मन

- \* लेश्या (द्र. लेश्या)

#### ३. परिणाम

#### ४. अध्यवसाय

### ७. आत्म-जय : परम जय

- \* मुक्त आत्मा की ऊर्ध्वगति (द्र. भोक्ष)
- \* मुक्त आत्मा (सिद्ध) के प्रकार (द्र. सिद्ध)
- \* संसारी आत्मा (जीव) के प्रकार (द्र. जीव)
- \* पृथ्वी, अप्, आदि में जीवत्व की सिद्धि (द्र. जीवनिर्काय)

## १. आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

### पूर्वजन्म-पुनर्जन्म

आन्तरशरीरयुक्तोऽप्यात्मा आगच्छन् गच्छन् वा नोप-  
लभ्यते, लिङ्गतस्तूपलभ्यते एव। तथाहि कुमेरपि जन्तो-  
स्तत्कालोत्पन्नस्याप्यस्ति निजशरीरविषयः प्रतिबन्धः,  
उपघातकमुपलभ्य पलायनदर्शनात्। यश्च यद्विषयः  
प्रतिबन्धः स तद्विषयपरिशीलनाभ्यासपूर्वकः, तथादर्शनात्।  
न खल्वन्यन्तापरिज्ञातमुणदोषवस्तुविषये कस्याप्याग्रह  
उपजायते। ततो जन्मादौ शरीराग्रहः शरीरपरिशीलना-  
भ्यासजनितसंस्कारनिबन्धन इति सिद्धमात्मनो जन्मान्तरा-  
दागमनम्। (नन्दीमवृ प ४,५)

आत्मा स्थूल शरीर को छोड़कर भवान्तर से आती है, भवान्तर में जाती है। उसके साथ दो सूक्ष्म शरीर (तैजस-कार्मण) सदा रहते हैं, फिर भी वह आते-जाते दृग्गोचर नहीं होती, किन्तु उसके लक्षण अवश्य प्राप्त होते हैं। तत्काल उत्पन्न कीट में भी अपने शरीर के प्रति प्रतिबन्ध—मोह होता है। वह उपघात करने वाले को देखकर पलायन कर जाता है। जिस जीव में जिस विषय का प्रतिबन्ध होता है, वह प्रतिबन्ध उसी विषय के परिशीलन के सतत अभ्यास से लब्ध होता है। सभी जीवों में यह स्पष्ट है। जो जीव जिस वस्तु के गुण-दोष से अपरिचित है, उसमें उस वस्तु के प्रति किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। इसलिए जन्म के प्रारंभ में ही जीव में अपने शरीर के प्रति जो प्रतिबन्ध होता है, वह जन्म-जन्मान्तर में शरीर के परिशीलन के सतत अभ्यास के कारण ही होता है। इससे आत्मा का जन्मान्तर से आगमन स्वतः सिद्ध होता है।

### स्वसंवेदन

कयवं करेमि काहं वाहमहं पच्चया इमाउ य।

अप्पा स प्पच्चक्खो तिकालकज्जोवएसाओ ॥

(विभा १५५५)

मैंने किया, मैं करता हूँ, मैं करूँगा—इस त्रिकालवर्ती व्यपदेश से होने वाले 'अहं प्रत्यय' से आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है।

### संशय आदि विज्ञान

गोयम ! पच्चक्खो च्चिय जीवो जं संसयाइविन्नाणं।

पच्चक्खं च न सज्झं जह सुह-दुक्खा सदेहम्मि ॥

(विभा १५५४)

संशय, जिज्ञासा आदि विज्ञान जीव में होते हैं इसलिए जीव प्रत्यक्ष सिद्ध है। जो प्रत्यक्ष सिद्ध है, उसे दूसरे प्रमाणों से सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे शरीर में होने वाले सुख-दुःख के संवेदन को दूसरे प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जाता।

फरिसेण जहा वाऊ, गिज्झई कायसंसिओ।

नाणाईहिं तहा जीवो, गिज्झई कायसंसिओ ॥

(दभा ३३)

जैसे शीत आदि के स्पर्श से देह-संगत वायु का अस्तित्व जाना जाता है, वैसे ही ज्ञान, दर्शन, इच्छा आदि के द्वारा देहस्थ आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है।

## २. आत्मा की अदृश्यता के हेतु—

सो जइ देहावनो तो पविसंतो व निस्सरंतो वा ।  
कीस न दीसइ, गोयम ! दुविहाऽणुवलद्धिओ सा य ॥  
असओ खरसंगस्स व सओ वि दूराइभावओऽभिहिया ।  
सुहुमामुत्तत्तणओ कम्माणुगयस्स जीवस्स ॥

(विभा १६८२, १६८३)

यदि जीव शरीर से भिन्न है तो उसका शरीर में प्रवेश और निर्गम दिखाई क्यों नहीं देता ?

अनुपलब्धि (दिखाई न देना) दो प्रकार की होती है—

१. असत् की अनुपलब्धि — जैसे गधे के सींग ।
२. सत् की अनुपलब्धि — जैसे स्वर्ग ।

पदार्थ की सत्ता होने पर भी उसके दिखाई न देने के अनेक कारण हैं । मलधारी हेमचन्द्र ने (विभामवृ पृ ६१७) इसके इक्कीस कारण बतलाये हैं—

१. दूरी के कारण — जैसे स्वर्ग ।
२. अतिनिकटता — जैसे नयनतारिका ।
३. अतिसूक्ष्मता — जैसे परमाणु ।
४. मन की चंचलता १३. विस्मृति
५. इन्द्रियों की अपटुता १४. दुरागम
६. मतिमान्द्य १५. मोह
७. अशक्यता १६. विदर्शन—जन्मान्धता
८. आवरण १७. विकार
९. अभिनव १८. अक्रिया
१०. सामान्य १९. अनधिगम
११. अनुपयोग २०. काल-विप्रकर्ष
१२. अनुपाय २१. स्वभाव-विप्रकर्ष

आत्मा अमूर्त है, अतः वह दृश्य नहीं है । यद्यपि संसारी आत्मा कर्मशरीर से अनुगत है, किंतु कर्मशरीर अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण आत्मा दिखाई नहीं देती ।

## ३. आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।  
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ ॥

(उ २०।३७)

आत्मा ही दुःख-सुख की करने वाली है और वही उनका क्षय करने वाली है । सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा

ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है ।

यो मिथ्यात्वादिकलुषिततया वेदनीयादिकर्मणा-  
मभिनिर्वर्तकस्तत्फलस्य च सुखदुःखादेरुपभोक्ता, नारकादि-  
भवेषु च यथाकर्मविपाकोदयं संसर्ता, सम्यग्दर्शनादिरत्न-  
त्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्चाशेषकर्मशापगमतः परिनिर्वाता,  
स प्राणान् धारयति स एव चात्मेत्यभिधीयते ।

(नन्दीमवृ प ३)

जो मिथ्यात्व आदि दोषों के कारण वेदनीय आदि कर्मों का कर्ता है, कर्मफल—सुख-दुःख का भोक्ता है, कर्मोदय के अनुसार नारक आदि भवों में संसरण करता है तथा सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की उत्कृष्ट आराधना से कर्मक्षय कर परिनिर्वाण को प्राप्त करता है, वही आत्मा है ।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।

अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥

(उ २०/३६)

आत्मा ही वंतरणी नदी है और आत्मा ही कूट-  
शाल्मली वृक्ष है, आत्मा ही कामदुहा धेनु है और आत्मा ही नन्दनवन है ।

## ४. आत्मा की नित्यता-अमूर्तता-अन्यता

कारणविभाग-कारणविनाश-बंधस्स पच्चयाभावा ।  
विरुद्धस्स य अत्थस्सापादुब्भावाविणासा य ॥  
निरामयामयभावा बालकयाणुसरणादुवट्टाणा ।  
सोताईहिं अगहणा जाइसरणा थणभिलासा ॥  
सव्वण्णुवदिट्ठत्ता सकम्मफलभोयणा अमुत्तत्ता ।  
जीवस्स सिद्धमेवं णिच्चत्तममुत्तमण्णत्तं ॥

(दनि १३२-१३४; अचू पृ ६९,७०)

आत्मा की नित्यता आदि के पोषक बिन्दु—

१. कारण-विभाग का अभाव—तन्तु पट का कारण है और उस तन्तु में विभाग होते हैं । परन्तु जीव के आत्मप्रदेशों के समवाय में विभाग नहीं होता । उसके घटक का कोई कारण नहीं है ।
२. कारण-विनाश का अभाव—जैसे घट के विनाश का कारण मुद्गर आदि है, वैसे आत्मा के विनाशक कारणों का अभाव है । इसलिए कारण के विनाश का प्रश्न ही नहीं होता ।
३. बंध-प्रत्यय का अभाव—आत्मा नित्य है । उसे

क्षणस्थायी मानने से बंध और मोक्ष घटित नहीं होते ।

४. विरुद्ध पदार्थ का अप्रादुर्भाव — जैसे पट का विनाश होने पर भस्म का प्रादुर्भाव होता है, वैसे आत्मद्रव्य का विनाश होने पर किसी विरुद्ध द्रव्य का प्रादुर्भाव नहीं होता, इसलिए आत्मा नित्य है ।

५. अविनाश — जैसे आकाश का विनाश नहीं होता, वैसे ही आत्मा का विनाश नहीं होता ।

६. निरामय-सामय — आत्मा को नित्य मानने पर ही रोग और निरोगता संभव है ।

७. अनुसंस्मरण — आत्मा नित्य है इसलिए वह पूर्व अनुभूत का स्मरण कर सकता है ।

८. उपस्थान — आत्मा नित्य है, इसलिए शुभ-अशुभ कर्म और विभूता-दीनता का भोक्ता है ।

९. इन्द्रियों से अग्राह्य — आत्मा अमूर्त है अतः वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है ।

१०. जातिस्मरण — आत्मा नित्य है, अतः वह पूर्वजन्मों का स्मरण कर सकता है ।

११. स्तनाभिलाषा — जन्मते ही बच्चे को स्तनपान करने की इच्छा होती है । यह इच्छा पूर्वप्रेरित है ।

१२. सर्वज्ञ-उपदिष्ट — जीव नित्य है — ऐसा सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट है । सर्वज्ञ मिथ्या उपदेश नहीं देते ।

१३. स्वकर्मफल का भोग — आत्मा नित्य है क्योंकि वह स्वकृत कर्मों का भोग करता है ।

(दअचू पृ ६९, ७०)

### नित्यता

संसाराओ आलोयणाउ तह पच्चभिन्नभावाओ ।

खणभंगविघायत्थं भणितं तेलोक्कदंसीहिं ॥

(दभा ४३)

आत्मा क्षणभंगुर नहीं है । वह परिणामीनित्य है, इसके तीन हेतु हैं—

१. संसरण — नारक, तिर्यच आदि के रूप में संसरण ।

२. आलोचन — त्रिकाल सम्बन्धी आलोचन — मैंने किया, मैं करता हूँ, मैं करूँगा ।

३. प्रत्यभिज्ञान — यह वही है अथवा मैं वही हूँ — इस रूप में अभेद का ग्रहण ।

### अमूर्तता

अण्णदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंसचक्खुणा ।

सिद्धा पासति सच्चन्नू, नाणसिद्धा य साहुणो ॥

(दभा ३४)

रूप, रस आदि इन्द्रिय-विषय आत्मा के गुण नहीं हैं क्योंकि आत्मा अमूर्त है । छद्मस्थ व्यक्ति चर्म चक्षुओं से अमूर्त आत्मा को नहीं जान सकता । सर्वदर्शी सिद्ध और केवली ही आत्मा को साक्षात् जानते-देखते हैं ।

नो इन्द्रियगेज्झ अमुत्तभावा

अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।..... (उ १४/१९)

जो अमूर्त हैं, वे इन्द्रियग्राह्य नहीं होते । आत्मा अमूर्त है । जो अमूर्त हैं, वे नित्य होते हैं । आत्मा नित्य है ।

संपथमभुत्तदारं अइ दियत्ता अछेयभेयत्ता ।

रूवाइविरहओ वा अणाइपरिणामभावाओ ॥

(दभा ४०)

आत्मा अमूर्त है, अतः वह द्रव्य-इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है और खड्ग, शूल आदि द्वारा उसका छेदन-भेदन संभव नहीं है । उसकी अमूर्तता अनादि-परिणाम-भाव है ।

### अन्यता

नाणादओ न देहस्स मुत्तिमत्ताइओ घडस्सेव ।

तम्हा नाणाइगुणा जस्स स देहाहिओ जीवो ॥

(विभा १५६२)

ज्ञान आदि देह के गुण नहीं हैं, क्योंकि देह घट की तरह मूर्तिमान है । इसलिए ज्ञान आदि जिसके गुण हैं, वह देह से अतिरिक्त आत्मा ही है ।

.....अन्नो देहा गिहाउ पुरिसो व्व ।

तज्जीवतस्सरीरियमयघायत्थं इमं भणियं ॥

(दभा ३७)

तज्जीवतच्छरीरवादियों का अभिमत है — जो आत्मा है, वही शरीर है । अर्हत्-दर्शन के अनुसार आत्मा देह से अन्य है । जैसे — घर में रहने वाला पुरुष घर से अन्य है ।

देहिदियाइरित्तो आया खलु तदुवल्लद्धअत्थाणं ।

तव्विगमेऽवि सरणओ गेहगक्खेहिं पुरिसोव्व ॥

(दभा ३८)

जैसे गवाक्ष से देखे गये पदार्थ का स्मरण करने वाला पुरुष होता है, वैसे ही इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध अर्थ का इन्द्रियों के न होने पर भी स्मरण होता है । (अंधा-बहरा व्यक्ति पूर्व अनुभूत रूप आदि का स्मरण करता है ।) जो स्मरण करता है, वह आत्मा है और वह शरीर तथा इन्द्रियों से अन्य है ।

## ५. आत्मा शरीरव्यापी

जीवो तणुमेत्तत्थो जह कुंभो तग्गुणोवलंभाओ ।

अहवाऽणुवलंभाओ भिन्नम्मि घडे पडस्सेव ॥

(विभा १५८६)

आत्मा शरीर-प्रमाण है, वह अपने गुणों से शरीर में उपलब्ध होता है। जैसे घट अपने गुणों से घट में उपलब्ध होता है।

जैसे भिन्न स्वरूप वाले घट में घट का अभाव है, वैसे ही शरीर के बाहर आत्मा की अनुपलब्धि है।

तम्हा कत्ता भोत्ता बंधो मोक्खो सुहं च दुक्खं च ।

संसरणं च बहुत्तासव्वगयत्ते सुजुत्ताइं ॥

(विभा १५८७)

जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख एवं संसरण—ये सब युक्तिसंगत तभी होते हैं, जब आत्मा को अनेक और असंबन्धित शरीरव्यापी माना जाए।

..... देहव्वावी मओऽग्गिउण्हं व ।

जीवो न उ सव्वगओ देहे लिंगोवलंभाओ ॥

(दभा ५१)

जैसे अग्नि का लिंग उष्णता अग्नि में ही होता है, वैसे ही आत्मा के लिंग सुख आदि शरीर में ही उपलब्ध होते हैं, अतः आत्मा शरीरव्यापी है, सर्वव्यापी नहीं है।

## ६. आत्मा के विविध स्तर

### १. चित्त

णिच्छयणयाभिप्पाएण चित्त इत्यात्मा । अहवा मत्तिसुत्थाणभावे चित्तं । अहवा आवस्सयकरणकाले चेव अण्णोण्णसुत्तत्थकिरियालोयणं चित्तं । तदेव मनोद्रव्योपरंजितं मनः । तदेव चित्तं द्रव्यलेश्योपरंजितं लेश्या ।

(अनुचू पृ १३, १४)

- निश्चय नय के अनुसार चित्त आत्मा है।
- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से संपन्न आत्मा चित्त है।
- जो आवश्यक करने के समय सूत्र, अर्थ और क्रिया के परस्पर संबंध का आलोचन करता है, वह चित्त है।
- मनोवर्गणा के पुद्गलों से उपरंजित चित्त ही मन है।
- द्रव्यलेश्या के पुद्गलों से उपरंजित चित्त का नाम है लेश्या।

जो पुण जोगपरिणामो अण्णोण्णेहि अज्झवसाणेहि अंतरितो सो चित्तं ।

(आवचू २ पृ ६९)

जो योग-परिणाम भिन्न-भिन्न अध्यवसायों से अंतरित (व्यवहित) होता है, वह है चित्त।

चित्तं तिकालविसयं..... ॥ (दभा १९)

जो अतीत, अनागत और वर्तमानिक विषयों का ग्राहक है, वह चित्त है।

.....जं चलं तयं चित्तं .. ॥ (आवहावू २ पृ ६२)

जो अस्थिर अध्यवसाय है, वह चित्त है।

जं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चित्ता ॥

(आवहावू २ पृ ६२)

चित्त के तीन रूप—

१. भावना ध्यान के योग्य चेतना का निर्माण, ध्यानाभ्यास की क्रिया।
२. अनुप्रेक्षा ध्यान के उत्तर काल में होने वाली चित्त की चेष्टा।
३. चिन्ता—चिन्तन, मानसिक चेष्टा।

### २. मन

मण्णं व मन्नेए वाऽण्णेण मणो तेण दव्वओ तं च ।

तज्जोगगपोग्गलमयं भावमणो भण्णए मंता ॥

(विभा ३५२५)

जिससे मनन किया जाता है वह मन है। मनोयोग्य मनोवर्गणा से गृहीत अनन्त पुद्गलों से निर्मित मन द्रव्य-मन है। द्रव्यमन के सहारे जो चिन्तन किया जाता है वह भावमन—आत्मा है।

मणदव्वाणि जाणि मणपाउग्गाणि दव्वाणि गहियाणि न ताव मणेति ताणि मणदव्वाणि भण्णंति । जाहे य मनिताणि भवंति ताहे मणो भण्णंति ।

(आवचू १ पृ ५०, ५१)

ग्रहण किए हुए मन के प्रायोग्य द्रव्य मनन से पूर्व मनोद्रव्य कहलाते हैं। मननकाल में उनकी संज्ञा है मन।

मनः द्विधा -- द्रव्यरूपं भावरूपं च ।

मनःपर्याप्तिनामकर्मोदयतो यत् मनःप्रायोग्यवर्गणा-दलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमितं तद्द्रव्यरूपं मनः । द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः ।

(नन्दीमवू प १७४)

मन के दो प्रकार हैं—द्रव्यमन, भावमन।

मनःपर्याप्तिनामकर्म के उदय से मन के प्रायोग्य वर्गणाओं को ग्रहण कर जो मनरूप में परिणत होने वाला द्रव्य है, वह द्रव्यमन है। द्रव्यमन के सहारे जीव का जो मनन-परिणाम है, वह भावमन है।

.....मणस्स न विसयपमाणं ।

पोगलमित्तनिबंधाभावाओ केवलस्सेव ॥

(विभा ३५०)

मन का विषय प्रतिनियत नहीं है—वह दूर-निकट, सर्वत्र प्रवृत्त होता रहता है। केवल पुद्गल ही मन का विषय नहीं है। केवलज्ञान की तरह मूर्त्त-अमूर्त्त सब पदार्थ मन के विषय बनते हैं।

### केवली के द्रव्यमन

द्रव्यमनोऽन्तरेण भावमनसोऽसम्भवात्, भावमनो विनापि च द्रव्यमनो भवति, यथा भवस्थकेवलिनः ।

(नन्दीमवृ प १७४)

द्रव्यमन के बिना भावमन नहीं होता। किन्तु भावमन के बिना भी द्रव्यमन हो सकता है। जैसे—भवस्थ केवली के द्रव्यमन होता है, भावमन नहीं।

### एकेन्द्रिय में अव्यक्त मन

असंज्ञी...स हि स्वल्पस्वल्पतरमनोलब्धिसम्पन्नत्वाद-स्फुटमस्फुटतरमर्थं जानाति । तथाहि—संज्ञिपञ्चेन्द्रिया-पेक्षया सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियोऽस्फुटमर्थं जानाति, ततोऽप्य-स्फुटं चतुरिन्द्रियः, ततोऽप्यस्फुटतरं त्रीन्द्रियः, ततोऽप्य-स्फुटतमं द्वीन्द्रियः, ततोऽप्यस्फुटतममेकेन्द्रियः, तस्य प्रायो मनोद्रव्यासम्भवात्, केवलमव्यक्तमेव किञ्चिदतीवाल्पतरं मनो द्रष्टव्यं, यद्वशादाहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपा प्रादुष्पन्ति ।

(नन्दीमवृ प १९०)

स्वल्प, स्वल्पतर मनोलब्धि—मानसिक विकास होने के कारण असंज्ञी (सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय आदि) जीव अर्थ को अस्फुट, अस्फुटतर जानता है।

समनस्क पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा अमनस्क पञ्चेन्द्रिय अर्थ को अस्फुट जानता है, उससे भी अस्फुट चतुरिन्द्रिय, उससे अस्फुटतर त्रीन्द्रिय, उससे अस्फुटतम द्वीन्द्रिय, उससे अस्फुटतम एकेन्द्रिय जानता है। एकेन्द्रिय जीव के मनो-द्रव्य प्रायः असंभव है। उसके केवल अव्यक्त अत्यन्त अल्पतर मन होता है। उससे एकेन्द्रिय में आहार आदि संज्ञाएं अव्यक्तरूप में उत्पन्न होती हैं।

### ३. परिणाम

परिणामो बज्जालंबणो सया चेव चित्तधम्मो त्ति ।

विण्णार्णं पिव, तम्हा सुहवज्जालंबणपयत्तो ॥

(विभा ३२८६)

परिणाम चित्त का धर्म है। वह सदा बाह्य आलंबन

से प्रवृत्त होता है, जैसे—विज्ञान विषयभूत पदार्थ के आलंबन से प्रवृत्त होता है। इसलिए मोक्षार्थी को शुभ बाह्य आलंबन से प्रवृत्त होना चाहिये।

### ४. अध्यवसाय

सामान्यतो द्रव्यलेश्योपरञ्जितं चित्तमध्यवसाय-स्थानमुच्यते, तच्चानवस्थितं, तत्तल्लेश्याद्रव्यसाचिव्ये विशेषसम्भवात् ।

(नन्दीमवृ प ९०)

सामान्यतः द्रव्यलेश्या से उपरंजित चित्त को अध्यवसायस्थान कहा जाता है। अध्यवसायस्थान अनवस्थित हैं, नाना प्रकार के लेश्या द्रव्यों के संयोग से वे बदलते रहते हैं।

### ७. आत्मजय : परमजय

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।  
एमां जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥  
अप्पाणमेव जुज्जाहि, किं ते जुज्जेण वज्जओ ।  
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥  
पांचिदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।  
दुज्जयं चेव अप्पाणं, संव्वं अप्पे जिए जियं ॥

(उ ९।३४-३६)

जो पुरुष दुर्जय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा वह एक अपने आपको जीतता है, यह उसकी परम विजय है।

आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी युद्ध से तुम्हें क्या लाभ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीतकर मनुष्य सुख पाता है।

पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते हैं।

**आत्मांगुल**—अपना अंगुल। अपने हाथ का चौबीसवां भाग। (द्र. अंगुल)

**आत्यंतिकमरण**—मरण का एक प्रकार। (द्र. मरण)

**आदाननिक्षेप**—सावधानीपूर्वक वस्त्र-पात्रों को लेना-रखना। समिति का चौथा प्रकार। (द्र. समिति)

**आनुगात्मिक**—अवधिज्ञान का एक प्रकार जो स्वामी का अनुगमन करता है।

(द्र. अवधिज्ञान)

**आनुपूर्वी**—द्रव्यों की क्रम-व्यवस्था । पदार्थ-संरचना और उसके क्रम का सिद्धान्त ।

आनुपूर्वी और १०. भाव आनुपूर्वी ।

### ३. द्रव्यानुपूर्वी के प्रकार

द्ववाणुपूर्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—ओवणिहिया अणोवणिहिया य । (अनु १११)

द्रव्यानुपूर्वी के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—

१. औपनिधिकी—द्रव्य की क्रमव्यवस्था का बोध ।
२. अनौपनिधिकी—द्रव्यों का नय के आधार पर विस्तार से बोध ।

### ४. औपनिधिकी : परिभाषा और प्रकार

अधिकृताध्ययनपूर्वानुपूर्व्यादिरचनाश्रयप्रस्तारोपयोगिनी औपनिधिकीत्युच्यते । (अनुहावृ पृ ३१)

औपनिधिकी का अर्थ है—विवक्षित अध्ययनों की पूर्वानुपूर्वी आदि के क्रम से स्थापना करना । इससे विषयवस्तु का बोध सुगम हो जाता है ।

ओवणिहिया द्ववाणुपूर्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वाणुपूर्वी पच्छाणुपूर्वी अणाणुपूर्वी ।

(अनु १४७)

औपनिधिकी द्रव्य आनुपूर्वी के तीन प्रकार हैं—पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी ।

प्रथमात्प्रभृति आनुपूर्वी अनुक्रमः परिपाटी पूर्वानुपूर्वी । पाश्चात्यात्—चरमादारभ्य व्यत्ययेनैवानुपूर्वी पश्चानुपूर्वी । न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी यथोक्तप्रकारद्वयातिरिक्तरूपेत्यर्थः । (अनुहावृ पृ ४१)

१. पूर्वानुपूर्वी—अनुलोमक्रम—प्रथम से गणना प्रारम्भ करना ।
२. पश्चानुपूर्वी—प्रतिलोमक्रम—अन्तिम से गणना प्रारम्भ करना ।
३. अनानुपूर्वी—अनुलोमक्रम और प्रतिलोमक्रम को छोड़कर कहीं से भी गणना प्रारम्भ करना ।

पुव्वाणुपूर्वी—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोम्मलत्थिकाए अद्दासमए । (अनु १४८)

पूर्वानुपूर्वी—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अध्वासमय ।

पच्छाणुपूर्वी—अद्दासमए पोम्मलत्थिकाए जीव-

१. आनुपूर्वी : परिभाषा और पर्याय
२. आनुपूर्वी के प्रकार
३. द्रव्यानुपूर्वी के प्रकार
  - ० औपनिधिकी
  - ० अनौपनिधिकी
४. औपनिधिकी : परिभाषा और प्रकार
५. आनुपूर्वी-अनानुपूर्वी बनाने की विधि
६. अनौपनिधिकी : परिभाषा और प्रकार
७. नैगम-व्यवहार-नय-सम्मत अनौपनिधिकी
८. अर्थपदप्ररूपणा
९. भंगसमुत्कीर्तन
१०. भंगोपदर्शन
११. समवतार
१२. अनुगम
१३. संग्रहनय सम्मत अनौपनिधिकी
१४. क्षेत्रानुपूर्वी
१५. कालानुपूर्वी

### १. आनुपूर्वी : परिभाषा और पर्याय

अनुपूर्वभावः आनुपूर्वी अनुक्रमोजुपरिपाटीति पर्यायाः व्यादिवस्तुसंहतिरिति भावः । (अनुहावृ पृ ३०)

अनुपूर्वभाव, आनुपूर्वी, अनुक्रम और अनुपरिपाटी—ये चारों शब्द एकार्थक हैं । आनुपूर्वी का अर्थ है—तीन, चार आदि प्रदेशों की संहति ।

### २. आनुपूर्वी के प्रकार

आणुपूर्वी दसविहा पण्णत्ता, तं जहा—नामाणुपूर्वी, ठवणाणुपूर्वी दव्वाणुपूर्वी खेताणुपूर्वी कालाणुपूर्वी उक्किक्कणाणुपूर्वी गणणाणुपूर्वी संठाणाणुपूर्वी सामायाारियाणुपूर्वी भावाणुपूर्वी । (अनु १०१)

आनुपूर्वी के दस प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. नाम आनुपूर्वी, २. स्थापना आनुपूर्वी, ३. द्रव्य आनुपूर्वी, ४. क्षेत्र आनुपूर्वी, ५. काल आनुपूर्वी, ६. उत्कीर्तन आनुपूर्वी, ७. गणना आनुपूर्वी, ८. संस्थान आनुपूर्वी, ९. सामाचारी

त्थिकाए आगासत्थिकाए अधम्मत्थिकाए धम्मत्थिकाए ।

(अनु १४९)

पश्चानुपूर्वी—अध्वासमय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकाय ।

एयाए चैव एगाइयाए एगुत्तरियाए छगच्छगयाए सेढीए अष्मण्णभासो दुरूव्णो । से तं अणाणुपुव्वी ।

(अनु १५०)

प्रारम्भ में एक और उत्तरोत्तर एक-एक वृद्धि वाली छह समुदाय वाली श्रेणी को परस्पर गुणन करने पर जो प्राप्त होता है, उससे दो (आदि और अन्त) कम, वह अनानुपूर्वी है ।

करणं अणाणुपुव्वीणं एगो बेहि गुणिज्जति जाता दोन्नि । दोन्नि तिहि गुणिज्जति जाता छ । चउहि गुणिज्जति जाता चउव्वीसं । चउव्वीसा पंचहि गुणिज्जति जातं सयं वीसं । तं छहि गुणेत्ता जावत्तिओ रासी सो दोहि ऊणो कीरति । पुव्वाणुपुव्वी य पच्छाणुपुव्वी य दोवि अवणिज्जति, तो अष्णाणुपुव्वीतो होंति ।

(आवचू १ पृ ८२)

यहाँ एक से छह तक के अंक स्थापित हैं—१, २, ३, ४, ५, ६। एक को दो से गुणन करने पर दो, दो को तीन से गुणन करने पर छह, छह को चार से गुणन करने पर चौबीस, चौबीस को पांच से गुणन करने पर एक सौ बीस होते हैं। एक सौ बीस को छह से गुणन करने पर सात सौ बीस होते हैं। इनमें से दो कम करने पर—पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी का अपनयन करने पर अनानुपूर्वी होती है ।

(देखें—अनुयोगद्वारा सूत्र १५० का टिप्पण)

## ५. आनुपूर्वी बनाने की विधि

पुव्वाणुपुव्वि हेट्ठा समयभेदेण कुण जहाजेट्ठं ।

उवरिमत्तुल्लं पुरओ नसेज्ज पुव्वक्कमो सेसे ॥

हेट्ठित्ति—पढमाए पुव्वाणुपुव्विलताए अहो भंगरयणं व्रित्तियादिलतासु । समयो इति इह अणाणुपुव्विभंगरयण-व्यवस्था समयो तं अभिदमाणोत्ति तं भंगरयणव्यवस्थं अविणासेमाणो । तस्स य विणासो जति सरिसकं एगलताए ठवेति, जति व ततिय लक्खणातो उवक्कमेणं पट्टवेति ता षिण्णो समयो । तं भेदं अकुव्वमाणो, कुणसु जधाजेट्ठ त्ति

जो जस्स आदीए स तस्स जेट्ठो भवति । जहा दुगस्स एगो जेट्ठो, अणुजेट्ठो तिगस्स एक्को, जेट्ठाणुजेट्ठो जहा चउक्कस्स एक्को, अतो परं सव्वे जेट्ठाणुजेट्ठा भाणितव्वा ।

(अनुचू पृ ३१)

विवक्षित पदों की क्रमशः स्थापना पूर्वानुपूर्वी है । उसके नीचे शेष भंगों की यथाज्येष्ठ स्थापना की जाती है । जो जिसके आदि में होता है, वह ज्येष्ठ है । जैसे—दो का ज्येष्ठ एक है । तीन के लिए एक अनुज्येष्ठ है । चार, पांच आदि के लिए एक ज्येष्ठानुज्येष्ठ है । उपरितन अंक के नीचे ज्येष्ठ अंक स्थापित किया जाता है । यदि ज्येष्ठ अंक न हो तो अनुज्येष्ठ और उसके अभाव में ज्येष्ठानुज्येष्ठ का न्यास किया जाता है । विशेष ज्ञातव्य है कि इस अंकन्यास में समयभेद का वर्जन अनिवार्य है । समयभेद का अर्थ है—एक ही भंग रचना में दो सदृश अंकों की स्थापना ।

द्वितीय भंगरचना की पंक्ति में अंतिम अंकन्यास प्रथम पंक्ति के अंतिम अंक के सदृश होता है । शेष अंक पूर्वक्रम से स्थापित किये जाते हैं । पूर्वक्रम का अर्थ है—पहले छोटी संख्या तत्पश्चात् बड़ी संख्या अर्थात् एक के बाद दो....।

पुव्वाणुपुव्वीइच्छित्त जति वण्णा ते परोप्परम्भत्था ।  
अंतहियभागलद्धा वोच्चत्थंकाण ठाणंते ॥  
आदित्येसुवि एवं जे जत्थ ठिता य ते तु वज्जेज्जा ।  
सेसेहि य वोच्चत्थं कमुक्कमा पूर सरिसेहि ॥  
भागहितलद्धवणा दुगादि एगुत्तरेहि अब्भत्था ।  
सरिसंकरयणठाणा तिगादियाणं मुण्येव्वा ॥  
पढमदुगट्ठाणेसु जेट्ठादितिगेण अत्तदिट्ठंतो ।  
अणुलोमं पडिलोमं पूरे सेसेहि उवउत्तो ॥

(अनुचू पृ ३१)

पूर्वानुपूर्वी में स्थापित अंकों का परस्पर गुणन करने पर जो संख्या आती हो, उतने ही विकल्प होते हैं । जैसे—तीन संख्या के विकल्प करने हों तो

$$१ \times २ \times ३ = ६$$

अंतस्थित का भाग देने पर— $\frac{६}{३} = २$

दो विकल्पों में अंतिम अंक सदा अपरिवर्तित रहेगा । दो विकल्पों के बाद तीसरे विकल्प में तीसरा अंक परिवर्तित होगा ।

प्रथम दो स्थान सदा अनुलोम-विलोमक्रम से बदलते रहेंगे । उनके नीचे सदृश अंक नहीं आयेगा ।



उदाहरण के लिए यहां तीन अंकों की स्थापना की जा रही है—१ २ ३। इनका परस्पर गुणन करने पर छह भंग (१×२×३=६) बनते हैं। प्रथम भंग पूर्वानुपूर्वी क्रम से, अंतिम भंग पश्चानुपूर्वी क्रम से और मध्यवर्ती चार भंग अनानुपूर्वी क्रम से स्थापित किए जाते हैं—

स्थापना—

१	२	३
२	१	३
१	३	२
३	१	२
२	३	१
३	२	१

यहां दूसरे भंग में एक का ज्येष्ठ नहीं है। दो का ज्येष्ठ है एक, जो दो के नीचे स्थापित है। एक के आगे तीन स्थापित है, क्योंकि यह उपर्युक्त अंक के सदृश है। एक के पीछे शेष बचा अंक दो स्थापित है।

इसी क्रमपद्धति से चार, पांच यावत् अनन्त पदों की आनुपूर्वी की रचना की जा सकती है।

## ६. अनौपनिधिकी : परिभाषा और प्रकार

याऽसावनौपनिधिकी सा नयवक्तव्यताश्रयणात्  
द्रव्यास्तिकनयमत्तेन द्विविधा प्रज्ञप्ता।

(अनुहावृ पृ ३१)

अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का विचार नयवक्तव्यता के आधार पर होता है। द्रव्यास्तिक नय के आधार पर इसके दो भेद विवक्षित हैं।

अधोवणिहिया सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—  
नेगमववहारणं संगहस्स य। (अनु ११३)

अनौपनिधिकी के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—नेगम-व्यवहार नय की अनौपनिधिकी और संग्रह नय की अनौपनिधिकी।

## ७. नेगम-व्यवहार नय सम्मत अनौपनिधिकी

नेगम-ववहारणं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी  
पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—अट्टपयपरूवणया भंगसमु-  
विकत्तणया भंगोवदंसणया समोयारे अणुगमे।

(अनु ११४)

नेगम-व्यवहार नय सम्मत अनौपनिधिकी द्रव्य-  
आनुपूर्वी के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं—

अर्थपदप्ररूपण—संज्ञा और संज्ञी के संबंध की  
प्ररूपणा।

भंगसमुत्कीर्त्तन—भंगों (विकल्पों) का निर्देश।

भंगोपदर्शन—द्रव्य के साथ भंगों की योजना।

समवतार—अपनी जाति में होने वाला अन्तर्भाव या  
अवतरण।

अनुगम—आनुपूर्वी आदि की सत्, द्रव्य, क्षेत्र आदि  
अनेक कोणों से व्याख्या।

## ८. अर्थपदप्ररूपणा

नेगम-ववहारणं अट्टपयपरूवणया—तिपएसिण  
आणुपुव्वी चउपएसिण आणुपुव्वी जाव दसपएसिण  
आणुपुव्वी संखेज्जपएसिण आणुपुव्वी असंखेज्जपएसिण  
आणुपुव्वी अणंतपएसिण आणुपुव्वी। परमाणुपोगले  
अणाणुपुव्वी। दुपएसिण अवत्तव्वए; तिपएसिया  
आणुपुव्वीओ जाव अणंतपएसिया आणुपुव्वीओ परमाणु-  
पोगला अणाणुपुव्वीओ। दुपएसिया अवत्तव्वयाइं।

(अनु ११५)

त्रिप्रदेशिक आनुपूर्वी, चतुष्कप्रदेशिक आनुपूर्वी  
यावत् दसप्रदेशिक आनुपूर्वी, संख्येयप्रदेशिक आनुपूर्वी,  
असंख्येयप्रदेशिक आनुपूर्वी, अनन्तप्रदेशिक आनुपूर्वी।  
परमाणुपुद्गल अनानुपूर्वी। द्विप्रदेशिक अवक्तव्य।  
त्रिप्रदेशिक आनुपूर्वियां यावत् अनंतप्रदेशिक आनुपूर्वियां,  
परमाणुपुद्गल अनानुपूर्वियां और द्विप्रदेशिक अवक्तव्य  
(अनेक) हैं—यह नेगम-व्यवहार-नय-सम्मत अर्थपद की  
प्ररूपणा है।

## आनुपूर्वी

यस्मात्परमस्ति न पूर्वं स आदिः, यस्मात्पूर्वमस्ति  
न परमन्तः सः, तयोरंतरं मध्यमुपचरति। तदेतत् त्रयमपि  
यत्र वस्तुरूपेण मुख्यमस्ति तत्र गणनाक्रमः सम्पूर्णं इति-  
कृत्वा पूर्वस्य पश्चादनुपूर्वं तस्य भाव आनुपूर्वी। एतदुक्तं  
भवति—संबन्धिशब्दा ह्येते परस्परसापेक्षाः प्रवर्त्तन्त  
इति यत्रैषां मुख्यो व्यपदेश्यव्यपदेशकभावोऽस्ति अयम-  
स्यादिरयमस्यान्त इति तत्रानुपूर्वीव्यपदेश इति, त्रिप्रदेशा-  
दिषु संभवति नान्यत्र। (अनुहावृ पृ ३२)

जिस वस्तु में आदि, मध्य और अंत—ये तीनों  
होते हैं, उसी में क्रम की व्यवस्था बनती है। जिससे  
पहले कोई नहीं है, वह आदि है। जिसके पहले कोई है,  
पर बाद में नहीं है, वह अन्तिम होता है। आदि और

अन्त के बीच मध्य उपचरित होता है। यह इसका आदि है, यह इसका मध्य है, यह इसका अन्त है— इस प्रकार जहाँ परस्पर सापेक्ष कथन होता है, वहाँ आनुपूर्वी घटित होती है। अतः आनुपूर्वी के लिए कम से कम तीन प्रदेश (तीन अवयव) अपेक्षित हैं। दो अवयवों में आनुपूर्वी अथवा क्रमयोजना संभव नहीं है।

### अनानुपूर्वी

यः पुनरसंसक्तं रूपं केनचिद्वस्वन्तरेण शुद्ध एव परमाणुस्तस्य द्रव्यतः अनवयवत्वात् आदिमध्यावसान-त्वाभावात् अनानुपूर्वीत्वम्। (अनुहावृ पृ ३२)

एक परमाणु-पुद्गल में आनुपूर्वी नहीं होती। आनुपूर्वी वहाँ होती है, जहाँ कम से कम तीन अवयव हों— आदि, मध्य और अन्त। परमाणु निरवयव है, एक है, किसी अन्य वस्तु से असंबद्ध है।

### अवक्तव्य

यस्तु द्विप्रदेशिकः स्कन्धस्तस्याप्याद्यन्तव्यपदेशः परस्परापेक्षयाऽस्तीतिकृत्वा अनानुपूर्वीत्वमशक्यं प्रतिपत्तुं, अथानुपूर्वीत्वं प्रसक्तं तदपि चावधिभूतवस्तुरूपस्यासंभवात् अपरिपूर्णत्वात् न शक्यते वक्तुमिति उभाभ्याम-वक्तव्यत्वात् अवक्तव्यकमुच्यते, यस्मान्मध्ये सति मुख्य आदिलिभ्यते मुख्यश्चान्तः परस्परसंकरेण, तदत्र मध्यमेव नास्तीति कृत्वा कस्यादिः कस्य वान्त इति कृत्वा व्यपदेशा-भावात् स्फुटमवक्तव्यकम्। (अनुहावृ पृ ३२)

द्विप्रदेशिक द्रव्य 'अवक्तव्य' कहलाता है। इस द्रव्य के दो प्रदेशों में आदि, अन्त का व्यवहार सापेक्ष है। मध्यवर्ती द्रव्य की अपेक्षा आदि, अन्त मुख्य होते हैं। मध्यभाग ही नहीं होगा तो आदि और अन्त का आधार क्या होगा? दो प्रदेशों में आनुपूर्वी और अनानुपूर्वी दोनों घटित नहीं होती। इसलिए इन दोनों की अपेक्षा वह अवक्तव्य है।

### आनुपूर्वी आदि का क्रमभेद

द्रव्यवृद्ध्या पूर्वानुपूर्वीक्रममाश्रित्य प्रथममनानुपूर्वी ततोऽवक्तव्यकं ततश्चाऽऽनुपूर्वित्येवं निर्देशो युज्यते, पश्चानुपूर्वीक्रमाश्रयेण तु व्यत्ययेन युक्तः, तत् कथं क्रम-द्वयमुल्लङ्घ्यान्यथा निर्देशः कृतः?

.....व्यणुकचतुरणुकादीन्यानुपूर्वीद्रव्याण्यनानुपूर्वी-वक्तव्यकद्रव्येभ्यो बहूनि तेभ्योऽनानुपूर्वीद्रव्याण्यल्पानि तेभ्योऽवक्तव्यकद्रव्याण्यल्पतराणि। (अनुमवृ प ४९)

आनुपूर्वीद्रव्यबहुत्वज्ञापनार्थं स्थानबहुज्ञापनार्थं चादावानुपूर्व्या उपन्यासः। ततोऽल्पतरद्रव्यत्वादवक्तव्य-कस्येति। (अनुहावृ पृ ३२, ३३)

अनानुपूर्वी द्रव्य एक परमाणु से, अवक्तव्य द्रव्य दो परमाणुओं से तथा आनुपूर्वी द्रव्य तीन, चार आदि परमाणुओं से निष्पन्न होते हैं। अतः क्रम की दृष्टि से पहले अनानुपूर्वी, फिर अवक्तव्य और फिर आनुपूर्वी होती है। किन्तु विषय की बहुलता और अल्पता के आधार पर यह क्रम-भेद हुआ है। आनुपूर्वी द्रव्य अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों से अधिक हैं। अनानुपूर्वी द्रव्य अल्प और अवक्तव्य द्रव्य अल्पतर हैं।

### ६. भंगसमुत्कीर्तन

नेगम-ववहाराणं भंगसमुत्कीर्तनया—१. अत्थि आणुपुव्वी २ अत्थि अणाणुपुव्वी ३. अत्थि अवत्तव्वए ४. अत्थि आणुपुव्वीओ ५. अत्थि अणाणुपुव्वीओ ६. अत्थि अवत्तव्वयाइं।

अहवा १. अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य ७ अहवा २. अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वीओ य ८ अहवा ३. अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वी य ९ अहवा ४. अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वीओ य १०.।

अहवा १. अत्थि आणुपुव्वी य अवत्तव्वए य ११ अहवा २ अत्थि आणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च १२ अहवा ३. अत्थि आणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य १३ अहवा ४. अत्थि आणुपुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च १४ अहवा १. अत्थि अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य १५ अहवा २. अत्थि अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च १६ अहवा ३. अत्थि अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य १७ अहवा ४. अत्थि अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च १८। अहवा १. अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य १९ अहवा २. अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च २० अहवा ३. अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य २१ अहवा ४. अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च २२ अहवा ५. अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य २३ अहवा ६. अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च २४ अहवा ७. अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य २५ अहवा ८. अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वीओ य

अवक्तव्ययाइं च २६ : (एए अट्ट भंगा) । एवं सव्वे वि छव्वीसं भंगा । से तं नेगम-ववहारारणं भंगसमुक्कित्तणया ।  
(अनु ११७)

प्रस्तुत सूत्र में नैगम-व्यवहार-नय-सम्मत आनुपूर्वी आदि द्रव्यों के एकवचन, बहुवचन तथा असंयोगी, द्विकसंयोगी तथा त्रिकसंयोगी भंग निर्दिष्ट हैं । वे कुल २६ होते हैं—

एकवचनान्त भंग—	बहुवचनान्त भंग—
१. आनुपूर्वी १	४. आनुपूर्वियां ३
२. अवक्तव्यक १	५. अवक्तव्यक ३
३. अनानुपूर्वी १	६. अनानुपूर्वियां ३

द्विकसंयोगी भंग—

७. आनुपूर्वी १ अनानुपूर्वी १
८. आनुपूर्वी १ अनानुपूर्वियां ३
९. आनुपूर्वियां ३ अनानुपूर्वी १
१०. आनुपूर्वियां ३ अनानुपूर्वियां ३
११. आनुपूर्वी १ अवक्तव्यक १
१२. आनुपूर्वी १ अवक्तव्यक ३
१३. आनुपूर्वियां ३ अवक्तव्यक १
१४. आनुपूर्वियां ३ अवक्तव्यक ३
१५. अनानुपूर्वी १ अवक्तव्यक १
१६. अनानुपूर्वी १ अवक्तव्यक ३
१७. अनानुपूर्वी ३ अवक्तव्यक १
१८. अनानुपूर्वी ३ अवक्तव्यक ३

त्रिकसंयोगी भंग—

१९. आनु. १ अना. १ अव. १
२०. आनु. १ अना. १ अव. ३
२१. आनु. १ अनां. ३ अव. १
२२. आनु. १ अना. ३ अव. ३
२३. आनु. ३ अना. १ अव. १
२४. आनु. ३ अना. १ अव. ३
२५. आनु. ३ अना. ३ अव. १
२६. आनु. ३ अना. ३ अव. ३

### १०. भंगोपदर्शन

नेगम-ववहारारणं भंगोवदंसणया — १. तिपएसिए आणुपुव्वी २. परमाणुपोग्गले अणुपुव्वी ३. दुपएसिए अवक्तव्वए ४. तिपएसिया आणुपुव्वीओ ५. परमाणु-पोग्गला अणुपुव्वीओ ६. दुपएसिया अवक्तव्वयाइं ।

(अनु ११९)

नैगम और व्यवहारनय-सम्मत भंगोपदर्शन—  
१. त्रिप्रदेशिक आनुपूर्वी, २. परमाणुपुद्गल अनानुपूर्वी, ३. द्विप्रदेशिक अवक्तव्य, ४. त्रिप्रदेशिक आनुपूर्वियां, ५. परमाणु पुद्गल अनानुपूर्वियां, ६. द्विप्रदेशिक अवक्तव्य हैं ।\*\*\*

### ११. समवतार

\*\*\*नेगम-ववहारारणं आणुपुव्विदव्वाइं आणुपुव्वि-दव्वेहि समयरंति, नो अणुपुव्विदव्वेहि समयरंति, नो अवक्तव्वयदव्वेहि समयरंति ।\*\*\* (अनु १२०)

नैगम और व्यवहारनय-सम्मत आनुपूर्वी द्रव्य आनुपूर्वी द्रव्यों में समवतरित होते हैं, वे अनानुपूर्वी द्रव्यों में समवतरित नहीं होते, अवक्तव्य द्रव्यों में समवतरित नहीं होते ।

### १२. अनुगम आनुपूर्वी के प्रकार

अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा—

संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खेत्त फुसणा य ।

कालो य अंतरं भाग भाव अप्पावहुं चव ॥

(अनु १२१)

अनुगम आनुपूर्वी के नौ प्रकार—

१. सत्पदप्ररूपणा—द्रव्य के अस्तित्व और नास्तित्व का विचार ।
२. द्रव्यप्रमाण—विवक्षित पदार्थ की संख्या का निरूपण ।
३. क्षेत्र—पदार्थ के आधारभूत क्षेत्र का निरूपण ।
४. स्पर्शना—पदार्थ द्वारा किये गये आकाश प्रदेशों के स्पर्शन का निरूपण ।
५. काल—पदार्थ की कालावधि का निरूपण ।
६. अन्तर—विरहकाल ।
७. भाग—विवक्षित पदार्थ शेष पदार्थों के कितने भाग में हैं, इसका निरूपण ।
८. भाव—विवक्षित पदार्थ में औदयिक आदि भावों का निरूपण ।
९. अल्पबहुत्व—द्रव्यों की परस्पर द्रव्यार्थ आदि की अपेक्षा से अल्पता और बहुलता का निरूपण ।

### १. सत्पदप्ररूपणा

नेगम-ववहारारणं आणुपुव्विदव्वाइं कि अत्थि ? नत्थि ? नियमा अत्थि ।\*\*\* (अनु १२२)

नैगम और व्यवहार नयसम्मत आनुपूर्वी द्रव्य हैं या नहीं ? वे नियमतः हैं ।

## २. द्रव्यप्रमाण

नैगम-व्यवहाराणं आणुपुण्ड्रिदव्वाइं किं संखेज्जाइं ? असंखेज्जाइं ? अणताइं ? नो संखेज्जाइं नो असंखेज्जाइं, अणताइं । एवं दोण्ण वि । (अनु १२३)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत आनुपूर्वी द्रव्य संख्येय हैं ? असंख्येय हैं ? या अनन्त हैं ? वे संख्येय नहीं हैं, असंख्येय नहीं हैं, अनन्त हैं ।

इसी प्रकार अनानुपूर्वी द्रव्य और अवक्तव्य द्रव्य भी अनन्त हैं ।

असंख्येयप्रदेशात्मके च लोकेऽनन्तानामानुपूर्व्यादि-द्रव्याणां सूक्ष्मपरिणामयुक्तत्वावस्थानं भावनीयमिति ।

(अनुहावृ पृ ३४)

सूक्ष्म परिणति के कारण अनन्त आनुपूर्वी द्रव्य भी असंख्य-प्रदेशात्मक लोक में समा जाते हैं ।

## ३. क्षेत्र

नैगम-व्यवहाराणं आणुपुण्ड्रिदव्वाइं लोगस्स कति भागे होज्जा ? ... एगदव्वं पडुच्चं लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जा, असंखेज्जइभागे वा होज्जा, संखेज्जेसु भागेषु वा होज्जा, असंखेज्जेसु भागेषु वा होज्जा, सब्बलोए वा होज्जा । नाणादव्वाइं पडुच्चं नियमा सब्बलोए होज्जा ।

नैगम-व्यवहाराणं अणाणुपुण्ड्रिदव्वाइं ... एगदव्वं पडुच्चं लोगस्स नो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, नो संखेज्जेसु भागेषु होज्जा, नो असंखेज्जेसु भागेषु होज्जा, नो सब्बलोए होज्जा । नाणादव्वाइं पडुच्चं नियमा सब्बलोए होज्जा । एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि ।

(अनु १२४)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत आनुपूर्वी द्रव्य लोक के कितने भाग में हैं ?

आनुपूर्वी द्रव्य एक द्रव्य की अपेक्षा लोक के संख्यातवर्त भाग में हैं, असंख्यातवर्त भाग में हैं, संख्येय भागों में हैं, असंख्येय भागों में हैं अथवा समूचे लोक में हैं । अनेक द्रव्यों की अपेक्षा वे नियमतः समूचे लोक में हैं ।

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत अनानुपूर्वी द्रव्य— एक द्रव्य की अपेक्षा लोक के संख्यातवर्त भाग में नहीं हैं, असंख्यातवर्त भाग में हैं, संख्येय भागों में नहीं हैं, असंख्येय

भागों में नहीं हैं और समूचे लोक में नहीं हैं । अनेक द्रव्यों की अपेक्षा वे नियमतः समूचे लोक में हैं । इसी प्रकार अवक्तव्य द्रव्यों का प्रतिपादन करना चाहिए ।

सब्बलोए वा होज्ज त्ति यदुक्कं तत्राचित्तमहा-स्कन्धः सर्वलोकव्यापकः समयावस्थायी सकललोक-प्रमाणोऽवसेयः । (अनुहावृ पृ ३४)

स्वाभाविक परिणमन से होने वाला अचित्त महास्कन्ध संपूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है । उसका अवस्थान एक समय तक रहता है । उसकी अपेक्षा एक द्रव्य को सर्वलोकव्यापी कहा गया है ।

यस्मादेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे सूक्ष्मपरिणामपरिणतान्धनन्तान्यानुपूर्वीद्रव्याणि विद्यन्त इति भावना । अनानु-पूर्वी-अवक्तव्यकद्रव्ये तु एकं द्रव्यं प्रतीत्यासंख्येयभाग एव वर्तन्ते, न शेषभागेषु । यस्मात्परमाणुरेकप्रदेशावगाढ एव भवति, अवक्तव्यकं त्वेकप्रदेशावगाढं द्विप्रदेशावगाढं च । (अनुहावृ पृ ३५)

एक-एक आकाशप्रदेश में अनन्त आनुपूर्वी द्रव्य विद्यमान हैं । इसका हेतु है—पुद्गल द्रव्य की सूक्ष्म परिणति ।

अनानुपूर्वी द्रव्य अथवा अवक्तव्य द्रव्य लोक के असंख्यातवर्त भाग में ही अवस्थित होते हैं, क्योंकि परमाणु एक प्रदेश का ही अवगाहन करता है । अवक्तव्य द्रव्य (द्विप्रदेशी स्कन्ध) एक प्रदेश का भी अवगाहन कर सकता है और दो प्रदेशों का भी अवगाहन कर सकता है ।

## ४. स्पर्शना

नैगम-व्यवहाराणं आणुपुण्ड्रिदव्वाइं लोगस्स कति भागं फुसंति ? ... एगदव्वं पडुच्चं लोगस्स संखेज्जइभागं वा फुसंति, असंखेज्जइभागं वा फुसंति, संखेज्जे भागे वा फुसंति, असंखेज्जे भागे वा फुसंति, सब्बलोगं वा फुसंति । नाणादव्वाइं पडुच्चं नियमा सब्बलोगं फुसंति ।

नैगम-व्यवहाराणं अणाणुपुण्ड्रिदव्वाणं पुच्छा । एगदव्वं पडुच्चं नो संखेज्जइभागं फुसंति, असंखेज्जइभागं फुसंति, नो संखेज्जे भागे फुसंति, नो असंखेज्जे भागे फुसंति, नो सब्बलोगं फुसंति । नाणादव्वाइं पडुच्चं नियमा सब्बलोगं फुसंति । एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि भाणियव्वाणि ।

(अनु १२५)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत आनुपूर्वी द्रव्य लोक के कितने भाग का स्पर्श करते हैं ?

एक द्रव्य की अपेक्षा आनुपूर्वी द्रव्य लोक के संख्यातवर्गे भाग का स्पर्श करते हैं, असंख्यातवर्गे भाग का स्पर्श करते हैं, संख्येय भागों का स्पर्श करते हैं, असंख्येय भागों का स्पर्श करते हैं अथवा समूचे लोक का स्पर्श करते हैं ।

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत अनानुपूर्वी द्रव्य एक द्रव्य की अपेक्षा लोक के संख्यातवर्गे भाग का स्पर्श नहीं करते, असंख्यातवर्गे भाग का स्पर्श करते हैं । संख्येय भागों का स्पर्श नहीं करते, असंख्येय भागों का स्पर्श नहीं करते, समूचे लोक का स्पर्श नहीं करते ।

क्षेत्र और स्पर्शना में अंतर—

अवगाहणाद्भिरितं पि फुसइ वाहि जहाणुणोभिहियं ।

एगधएसं खेत सत्तपएसा य से फुसणा ॥

(विभा ४३२)

क्षेत्रस्पर्शनयोरयं विशेषः - क्षेत्रमवगाहमात्रं स्पर्शना तु स्वचतसृष्वपि दिक्षु तद्वहिरपि वेदितव्येति । यथेह परमाणोरेकप्रदेशं क्षेत्रं सप्तप्रदेशा स्पर्शनेति । स्यादेतद्— एवं सत्यणोरेकत्वं हीयत इति । उक्तं च 'दिग्भागभेदो यस्यास्ति, तस्यैकत्वं न युज्यते'—इत्येतदयुक्तं, अभि-प्रायापरिज्ञानात् । नह्यंशतः स्पर्शना नाम काचिद्, अपि तु नैरन्तर्यमेव स्पर्शना ब्रूम इति । (अनुहावृ पृ ३५)

क्षेत्र पदार्थ द्वारा अवगाहित मात्र होता है और स्पर्शना में अनन्तरित आकाश-प्रदेशों का भी ग्रहण होता है । जैसे -परमाणु द्वारा अवगाहित क्षेत्र एक प्रदेश है पर वह स्पर्श सात आकाश प्रदेशों का करता है । चार दिशाओं में चार प्रदेश और ऊर्ध्व व अधः दो दिशाओं में दो प्रदेश तथा एक प्रदेश वह जिसमें वह अवगाह है— इस प्रकार स्पर्शना सात प्रदेश की हो जाती है ।

प्रश्न उपस्थित होता है यदि सात आकाश प्रदेशों की स्पर्शना हो तो अणु का एकत्व या अविभाजित्व खण्डित हो जाता है, वह निरंश नहीं रह पाता । जिसका दिग्भाग होता है उसका एकत्व युक्ति-संगत नहीं होता । इसका समाधान यह है कि स्पर्शना के द्वारा परमाणुओं के अंशों का निर्देश नहीं किया गया है अपितु उनका आकाश के साथ निरन्तर स्पर्श का निर्देश किया गया है ।

#### ५. काल

नैगम-व्यवहारणं आणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवच्चिरं होंति ? एगदव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वद्धा ।

एवं दोष्णि वि ।

(अनु १२६)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत आनुपूर्वी द्रव्य काल की दृष्टि से कितने समय तक होते हैं ?

एक द्रव्य की अपेक्षा वे जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल तक होते हैं । अनेक द्रव्यों की अपेक्षा वे नियमतः सर्वकाल में होते हैं । इसी प्रकार अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों के काल का भी प्रति-पादन करना चाहिए ।

#### ६. कालकृत अंतर

नैगम-व्यवहाराणं आणुपुव्विदव्वाणं अंतरं कालओ... एगदव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं । नाणादव्वाइं पडुच्च नत्थि अंतरं ।

नैगम-व्यवहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाणं... एगदव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । नाणादव्वाइं पडुच्च नत्थि अंतरं । (अनु १२७)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत आनुपूर्वी द्रव्यों में कालकृत अन्तर एक द्रव्य की अपेक्षा जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल का होता है । अनेक द्रव्यों की अपेक्षा उनमें कालकृत अन्तर नहीं होता ।

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत अनानुपूर्वी द्रव्यों में कालकृत अन्तर एक द्रव्य की अपेक्षा जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्येय काल का होता है । अनेक द्रव्यों की अपेक्षा उनमें कालकृत अन्तर नहीं होता ।

#### ७. भाग

नैगम-व्यवहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं... नियमा असंखेज्जेसु भागेषु होज्जा । नैगमव्यवहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं ... असंखेज्जइभागे होज्जा । ... एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि । (अनु १२८)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत आनुपूर्वी द्रव्य नियमतः शेष द्रव्यों के असंख्येय भागों में होते हैं । अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्य शेष द्रव्यों के असंख्यातवर्गे भाग में होते हैं ।

#### ८. भाव

नैगम-व्यवहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं... नियमा साइपारिणामि ए भावे होज्जा । एवं दोष्णि वि ।

(अनु १२९)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत आनुपूर्वी द्रव्य

नियमतः सादि पारिणामिक भाव में होते हैं। इसी प्रकार अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों के भाव को भी जानना चाहिए।

### ९. अल्पबहुत्व और उसका हेतु

.....सव्वत्थोवाइं नेगम-ववहाराणं अवत्तव्वग-दव्वाइं दव्वट्टयाए, अणाणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्टयाए विसेसाहियाइं, आणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणाइं । पएसड्डयाए—सव्वत्थोवाइं नेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं अपएसड्डयाए, अवत्तव्वगदव्वाइं पएसड्डयाए विसेसाहियाइं, आणुपुव्विदव्वाइं पएसड्डयाए अणंतगुणाइं । दव्वट्टपएसड्डयाए—सव्वत्थोवाइं नेगम-ववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्टयाए, अणाणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्टयाए अपएसड्डयाए विसेसाहियाइं, अवत्तव्वगदव्वाइं पएसड्डयाए विसेसाहियाइं, आणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणाइं, ताइं चेव पएसड्डयाए अणंतगुणाइं ।

(अनु १३०)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत अवक्तव्य द्रव्य द्रव्यार्थ की अपेक्षा सबसे कम हैं, अनानुपूर्वी द्रव्य द्रव्यार्थ की अपेक्षा अवक्तव्य द्रव्यों से विशेषाधिक हैं, आनुपूर्वी द्रव्य द्रव्यार्थ की अपेक्षा अनानुपूर्वी द्रव्यों से असंख्येय गुण हैं।

प्रदेशार्थ की अपेक्षा—नैगम और व्यवहार नय सम्मत अनानुपूर्वी द्रव्य अप्रदेशार्थ की अपेक्षा सबसे कम हैं। अवक्तव्य द्रव्य प्रदेशार्थ की अपेक्षा अनानुपूर्वी द्रव्यों से विशेषाधिक हैं। आनुपूर्वी द्रव्य प्रदेशार्थ की अपेक्षा अवक्तव्य द्रव्यों से अनन्त गुण हैं।

द्रव्यार्थ और प्रदेशार्थ की अपेक्षा—नैगम और व्यवहार नय सम्मत अवक्तव्य द्रव्य द्रव्यार्थ की अपेक्षा सबसे कम हैं, अनानुपूर्वी द्रव्य द्रव्यार्थ और अप्रदेशार्थ की अपेक्षा अवक्तव्य द्रव्यों से विशेषाधिक हैं। अवक्तव्य द्रव्य प्रदेशार्थ की अपेक्षा अनानुपूर्वी द्रव्यों से विशेषाधिक हैं। आनुपूर्वी द्रव्य द्रव्यार्थ की अपेक्षा अवक्तव्य द्रव्यों से असंख्येय गुण हैं, प्रदेशार्थ की अपेक्षा वे ही अनन्त गुण हैं।

दव्वट्टया एणाणेमपुग्गलदव्वेसु ज्जधसंभवतो पदेसगुण-पज्जायाधाराया जा सा दव्वट्टता भण्णति, पदेसट्टया पुण तेसु चेव दव्वेसु प्रतिपदेसं गुणपज्जायाधाराया जा सा पदेसट्टया, उभतरूवा उभतरूवा । (अनुचू पृ २६)

द्रव्यार्थता की विवक्षा में एक-एक आनुपूर्वी द्रव्य की गणना होती है। प्रदेशार्थता की विवक्षा में प्रदेशों की गणना होती है। द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता की विवक्षा में द्रव्य और प्रदेश—दोनों की गणना होती है।

अवक्तव्यगदव्वा दव्वतो सव्वत्थोवा, कंहं ? उच्चते, संघातभेदा उप्पत्तिहेतुअप्पत्तणतो । तेहितो अणाणुपुव्विदव्वा विसेसाहिया, कंहं ? उच्चते, बहुतरासयउप्पत्तिहेतु-त्तणतो । तेहितो आणुपुव्विदव्वा संखेज्जगुणा, कंहं ? उच्चते, तिगादि एगपदेसुत्तरवुद्धिदव्वव्वाणबहुत्तणतो संघातभेददव्वबहुत्तणतो, एत्थ भावणविही इमा—एगदुत्ति-चतुपदेसे य ठविता १-२-३-४, एत्थ संघातभेदयो पंच अवत्तव्वगा दव्वा भवंति । दस अणाणुपुव्विदव्वा भेदतो भवंति । संघाततो वा एगकाले तिन्नि आणुपुव्विदव्वा भवंति । क्रमेण वा एगदुगादिसंजोगभेदतो एत्थ चउदस आणुपुव्विदव्वा भवंति । (अनुचू २६)

अवक्तव्यक द्रव्य द्रव्यार्थ की अपेक्षा सबसे अल्प हैं। इसका हेतु यह है—द्विप्रदेशी स्कन्धों को संघात और भेद के निमित्त कम मिलते हैं। इसलिए ये सबसे कम होते हैं। अनानुपूर्वी द्रव्य इनकी अपेक्षा विशेषाधिक होते हैं। इसका हेतु यह है कि परमाणु बहुतर द्रव्यों की उत्पत्ति में निमित्त बनते हैं। आनुपूर्वी द्रव्य इनसे असंख्य गुणा अधिक होते हैं। इसका हेतु है—द्रव्य की प्रचुरता। तीन प्रदेश से आगे एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते अनन्त प्रदेश तक चले जाते हैं। इस प्रकार इनके स्थान बहुत बन जाते हैं। इन्हें संघात और भेद के निमित्त भी बहुत मिलते हैं, इसलिए ये सबसे अधिक हैं। चूर्णिकार ने इसे स्थापना के द्वारा समझाया है।

कल्पना करें, चार द्रव्य हैं—एकप्रदेशी यावत् चतुःप्रदेशी— १ २ ३ ४।

अनानुपूर्वी द्रव्य—उपर्युक्त द्रव्यों के भेद से अनानुपूर्वी द्रव्य दस बनेंगे।

अवक्तव्यक द्रव्य—इन्हीं द्रव्यों को यदि संघात और भेद से स्थापित किया जाए तो अवक्तव्यक द्रव्य पांच बनेंगे।

आनुपूर्वी द्रव्य—इन्हीं द्रव्यों के विविध प्रकार के संघात-भेदों से आठ विकल्प करने पर आनुपूर्वी द्रव्य चौदह बनेंगे।

### १३. संग्रह नय-सम्मत अनौपनिधिकी

संग्रहस्य अणोवणिहिया द्वाणुपुष्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—अट्टपयपरूवणया भंगसमुक्कित्तणया भंगोवदंसणया समोयारे अणुगमे । (अनु १३१)

संग्रह नय-सम्मत अनौपनिधिकी द्रव्य-आनुपूर्वी के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं—अर्थपद प्ररूपण, भंगसमुक्कीर्तन, भंगोपदर्शन, समवतार और अनुगम ।

.... संग्रहस्य अट्टपयपरूवणया—तिपएसिया आणु-पुष्वी चउपएसिया आणुपुष्वी जाव दसपएसिया आणु-पुष्वी संखेज्जपएसिया आणुपुष्वी असंखेज्जपएसिया आणु-पुष्वी अणंतपएसिया आणुपुष्वी । परमाणुपोगला अणाणुपुष्वी । दुपएसिया अवत्तव्वए । (अनु १३२)

संग्रह नय का अर्थपदप्ररूपण—त्रिप्रदेशिक आनुपूर्वी, चार प्रदेशिक आनुपूर्वी, यावत् दस प्रदेशिक आनुपूर्वी, संख्येय प्रदेशिक आनुपूर्वी, असंख्येय प्रदेशिक आनुपूर्वी, अनन्त प्रदेशिक आनुपूर्वी, परमाणुपुद्गल अनानुपूर्वी, द्विप्रदेशिक अवक्तव्य है ।

**विशेष**—नैगम और व्यवहार नय द्रव्य को अनेक भेदयुक्त मानता है । संग्रह नय सामान्य को स्वीकार करता है । इसीलिए संग्रह नय की अनौपनिधिकी द्रव्य में केवल एक वचन का प्रयोग होता है । जितने त्रिप्रदेशी स्कन्ध हैं वे त्रिप्रदेशिकत्व सामान्य का अतिक्रमण नहीं करते, इसलिए त्रिप्रदेशिक आनुपूर्वी एक ही होगी । विशुद्धतर संग्रहनय की अपेक्षा आनुपूर्वीत्व का सामान्य होने के कारण आनुपूर्वी एक ही होगी ।

अनानुपूर्वी और अवक्तव्य के लिए भी यही नियम है । बहुत्व का अभाव होने के कारण बहुवचन का प्रयोग नहीं हो सकता ।

### १४. क्षेत्रानुपूर्वी

द्वावगाधोवलक्खितं खेतं खेत्ताणुपुष्वी । अहवा अवगाह्वावगाहीण अणोण्णसिद्धिहेतुत्तणेवि आमासस्सावगाहलक्खणत्तणतो खेत्ताणुपुष्वी भण्णति । अहवा द्वाण चव खेत्तावगाहमगणा खेत्ताणुपुष्वी । (अनुचू पृ ३२)

द्रव्यों के अवगाह से उपलक्षित क्षेत्र क्षेत्रानुपूर्वी है । अथवा अवगाह और अवगाही परस्पर संबद्ध होने पर भी अवगाह लक्षण के कारण आकाश को क्षेत्रानुपूर्वी कहा गया है । अथवा द्रव्यों के क्षेत्रावगाह की मार्गणा ही क्षेत्रानुपूर्वी है ।

### क्षेत्रानुपूर्वी के प्रकार

खेत्ताणुपुष्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—ओवणिहिया य अणोवणिहिया य । (अनु १५५)

क्षेत्रानुपूर्वी के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—औपनिधिकी और अनौपनिधिकी ।

ओवणिहिया खेत्ताणुपुष्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वाणुपुष्वी पच्छाणुपुष्वी अणाणुपुष्वी । (अनु १७६)

औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी के तीन प्रकार हैं—

१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी, ३. अनानुपूर्वी ।

अणोवणिहिया सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—नेगम-ववहारणं संग्रहस्य य । (अनु १५७)

अनौपनिधिकी के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—नैगम-व्यवहार नय-सम्मत और संग्रह नय-सम्मत ।

नेगम-ववहारणं अणोवणिहिया खेत्ताणुपुष्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—१. अट्टपयपरूवणया २. भंगसमुक्कि-त्तणया ३. भंगोवदंसणया ४. समोयारे ५. अणुगमे । (अनु १५८)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं—

१. अर्थपदप्ररूपण, २. भंग-समुक्कीर्तन, ३. भंगोपदर्शन ४. समवतार ५. अनुगम ।

....नेगम-ववहारणं अट्टपयपरूवणया—तिपएसोगाडे आणुपुष्वी चउपएसोगाडे आणुपुष्वी जाव दसपएसोगाडे आणुपुष्वी संखेज्जपएसोगाडे आणुपुष्वी असंखेज्जपएसोगाडे आणुपुष्वी । एगपएसोगाडे अणाणुपुष्वी । दुपएसोगाडे अवत्तव्वए । ..... (अनु १५९)

नैगम और व्यवहार नय-सम्मत अर्थपदप्ररूपण—त्रिप्रदेशावगाढ आनुपूर्वी, चार प्रदेशावगाढ आनुपूर्वी, यावत् दस प्रदेशावगाढ आनुपूर्वी, संख्येय प्रदेशावगाढ आनुपूर्वी, असंख्येय प्रदेशावगाढ आनुपूर्वी, एक प्रदेशावगाढ अनानुपूर्वी, द्विप्रदेशावगाढ अवक्तव्य है ।

### आनुपूर्वी द्रव्यों का अवगाह-क्षेत्र

नेगम-ववहारणं आणुपुष्विदव्वाइं—एगदव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जा, असंखेज्जइभागे वा होज्जा, संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा, देसूणे लोए वा होज्जा । नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा । (अनु १६८)

नैगम और व्यवहार के आनुपूर्वी द्रव्य एक द्रव्य की

अपेक्षा लोक के संख्येय भाग में हैं, असंख्येय भाग में हैं, संख्येय भागों में हैं अथवा देशोलोक में हैं। अनेक द्रव्यों की अपेक्षा वे नियमतः समूचे लोक में हैं।

### क्षेत्रानुपूर्वी सादि-पारिणामिक

नेगम-व्यवहारणं आणुपुव्विद्ववाइं कयरम्मि भावे होज्जा ? नियमा साइपारिणामिए भावे होज्जा ।

(अनु १७३)

भावचिन्तायामानुपूर्वीद्रव्याणि नियमात् सादिपारिणामिके भावे, विशिष्टाद्येयाधारभावस्य सादिपारिणामिकात्मकत्वाद् ।

(अनुहावृ पृ ४९)

द्रव्यानुपूर्वी के द्रव्य सादि पारिणामिक हैं। वे किसी न किसी क्षेत्र में रहते हैं। अतः क्षेत्रानुपूर्वी के प्रकरण में आनुपूर्वी आदि द्रव्यों को आधार-आधेय संबंध के कारण सादि-पारिणामिक कहा गया है।

### १५. कालानुपूर्वी

द्रव्यपर्यायत्वात्कालस्य द्वादिसमयस्थित्याद्युपलक्षित-द्रव्याण्येव ।

(अनुहावृ पृ ५१)

द्रव्य का एक पर्याय है काल। तीन समय, चार समय, पांच समय यावत् अमंख्यात समय से उपलक्षित द्रव्य कालानुपूर्वी कहलाता है।

### कालानुपूर्वी के प्रकार

...कालाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—ओवणिहिया य अणोवणिहिया य ।

(अनु १९६)

कालानुपूर्वी के दो प्रकार हैं—ओपनिधिकी और अनौपनिधिकी।

### ओपनिधिकी के प्रकार

ओवणिहिया कालाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी अणाणुपुव्वी ।

(अनु २१८)

ओपनिधिकी कालानुपूर्वी के तीन प्रकार हैं—

१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी, ३. अनानुपूर्वी।

### अनौपनिधिकी के प्रकार

अणोवणिहिया सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—नेगम-व्यवहारणं संगहस्स य ।

(अनु १९८)

अनौपनिधिकी के दो प्रकार हैं—

१. नेगम और व्यवहार नय-सम्मत अनौपनिधिकी।

२. संग्रह नय-सम्मत अनौपनिधिकी।

### नेगम-व्यवहार सम्मत

नेगम-व्यवहारणं अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी पंच-विहा पण्णत्ता, तं जहा—अट्टपयपरुवणया, भंगसमुक्कि-त्तणया, भंगोवदंसणया, समयारे, अणुगमे ।

(अनु १९९)

नेगम और व्यवहार नय सम्मत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी के पांच प्रकार हैं—

१. अर्थपदप्ररूपण, २. भंग-समुत्कीर्तन, ३. भंगोप-दर्शन, ४. समवतार, ५. अनुगम।

### अर्थपदप्ररूपण

...नेगम-व्यवहारणं अट्टपयपरुवणया --तिसमयट्ठिईए आणुपुव्वी जाव दससमयट्ठिईए आणुपुव्वी संखेज्जसमय-ट्ठिईए आणुपुव्वी असंखेज्जसमयट्ठिईए आणुपुव्वी । एगसमयट्ठिईए अणाणुपुव्वी । दुसमयट्ठिईए अवत्तव्वए । ...

(अनु २००)

नेगम और व्यवहार नय-सम्मत अर्थपदप्ररूपण—तीन समय की स्थिति वाला पुद्गल आनुपूर्वी यावत् दस समय की स्थिति वाला पुद्गल आनुपूर्वी, संख्येय समय की स्थिति वाला पुद्गल आनुपूर्वी, असंख्येय समय की स्थिति वाला पुद्गल आनुपूर्वी। एक समय की स्थिति वाला पुद्गल अनानुपूर्वी। दो समय की स्थिति वाला पुद्गल अवक्तव्य है।

### आनुपूर्वीनाम—नाम-कर्म को एक प्रकृति।

आनुपूर्वी—वृषभनासिकान्यस्तरज्जूसंस्थानीया, यया कर्मपुद्गलसंहत्या विशिष्टं स्थानं प्राप्यतेऽसौ। यया बोधोत्तमांगाधश्चरणादिरूपो नियमतः शरीरविशेषो भवति साऽऽनुपूर्वी ।

(आवहावृ १ पृ ५६)

आनुपूर्वीनाम के दो अर्थ हैं—

१. बल की नासिका में डाली गई रस्सी के समान कर्मपुद्गलों की वह संहति, जो जीव को अपने उत्पत्ति स्थल पर ले जाती है, वह आनुपूर्वीनाम-कर्म है।

२. नामकर्म की जिस प्रकृति के उदय से मस्तक, चरण आदि अंगों की रचना होती है, वह आनुपूर्वीनाम-कर्म है।

आपृच्छना—कार्य करने के लिए गुरु की स्वीकृति लेना। सामाचारी का एक भेद।

(द्र. सामाचारी)



आभिनबोधिक ज्ञान—मतिज्ञान, इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान ।

१. आभिनबोधिक ज्ञान

- ० निर्वचन
- ० परिभाषा
- ० पर्याय
- ० कालमान
- ० दृष्टान्त

२. आभिनबोधिक ज्ञान के प्रकार

- ० श्रुतनिश्चित
- ० अश्रुतनिश्चित

३. श्रुतनिश्चित-अश्रुतनिश्चित की परिभाषा

- ० अश्रुतनिश्चित के प्रकार

४. श्रुतनिश्चित के प्रकार—अवग्रह, ईहा.....

५. अवग्रहचतुष्टयी

- ० परिभाषा
- ० उत्पत्ति का क्रम
- ० कालमान
- ० अठाईस प्रकार
- ० तीन सौ छत्तीस प्रकार

६. अवग्रह की परिभाषा

- ० पर्याय
- ० प्रकार—व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह

७. व्यंजनावग्रह

- ० परिभाषा
- ० प्रकार
- ० मल्लक का दृष्टान्त
- ० ज्ञान या अज्ञान
- ० चक्षु और मन के व्यंजनावग्रह नहीं

८. अर्थावग्रह

- ० परिभाषा
- ० प्रकार

९. ईहा

- ० परिभाषा
- ० पर्याय
- ० प्रकार
- ० ईहा अज्ञान नहीं
- ० ईहा और संशय में अन्तर

१०. अवाय

- ० परिभाषा
- ० पर्याय
- ० प्रकार
- ० अवाय औपचारिक अर्थावग्रह

११. धारणा

- ० परिभाषा
- ० पर्याय
- ० प्रकार

१२. आभिनबोधिकज्ञान ही मतिज्ञान

१३. श्रुतनिरपेक्ष मति ही शुद्ध मतिज्ञान

१४. मतिज्ञान का विषय

१५. मति और श्रुत में भेद

१६. मति और श्रुत में अभेद

१७. मतिपूर्वक श्रुत

१८. द्रव्यश्रुतपूर्वक मति

१९. मतिज्ञान का क्षेत्र

२०. साकारोपयोग और मतिज्ञान

२१. मतिज्ञान से शून्य जीव

२२. मतिज्ञान का विरहकाल

२३. ज्ञान-उत्पत्ति और नय

२४. मतिज्ञान की प्रतिपन्नता-प्रतिपद्यमानता

- \* मतिज्ञान परोक्ष है (द्र. ज्ञान)
- \* मतिज्ञान स्वार्थिक प्रत्यय (द्र. ज्ञान)
- \* मति-श्रुत और अवधि में साधर्म्य

(द्र. अवधिज्ञान)

- \* मति अज्ञान (द्र. अज्ञान)

- \* श्रुतज्ञान : मतिज्ञान का एक भेद (द्र. श्रुतज्ञान)

- \* चक्षु-अचक्षु दर्शन (द्र. दर्शन)

- \* सम्यक्त्व और ज्ञान की युगपत् उत्पत्ति (द्र. सम्यक्त्व)

१. आभिनबोधिक का निर्वचन

अभिनबुज्झइत्ति आभिणिबोहियनाणं ।

(नन्दी ३५)

अत्थाभिमुहो नियओ बोहो जो सो मओ अभिनिबोहो ।

सो चेवाऽऽभिणिबोहिअं... ॥ (विभा ८०)

प्रतिनियत अर्थ को ग्रहण करने वाला अर्थाभिमुखी ज्ञान अभिनबोध है, वही आभिनबोधिक है ।

**परिभाषा**

आभिनबोधः—तदावरणकर्मक्षयोपशमः । तेन निर्वृत्त-  
माभिनबोधिकम् । इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यदेशावस्थित-  
वस्तुविषयः स्फुटप्रतिभासो बोधविशेषः ।

(नन्दीमवृ प ६५)

आभिनबोधिक ज्ञान आभिनबोधावरण कर्म (मति-  
ज्ञानावरण कर्म) के क्षयोपशम से निष्पन्न है ।

यह इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला तथा  
उचित क्षेत्र में अवस्थित वस्तु को ग्रहण करने वाला  
स्पष्ट अवबोध है ।

**पर्याय**

ईहा अपोह वीमंसा मग्गणा य गवेसणा ।

सण्णा सई मई पण्णा सव्वं आभिणिबोहियं ॥

(नन्दी ५४।६)

ईहा, अपोह, विमर्शं मार्गणा, गवेसणा, संज्ञा, स्मृति,  
मति और प्रज्ञा - ये सब आभिनबोधिक ज्ञान के पर्याय  
हैं ।

मइपन्नाभिणिबोहियबुद्धीओ होति वयणपज्जाया ।  
जा उग्गहाइसण्णा ते सव्वे अत्थपज्जाया ॥

(विभा ३९८)

मति, प्रज्ञा, आभिनबोधिक और बुद्धि—ये  
आभिनबोधिक ज्ञान के वचन-पर्याय (सम्पूर्ण वस्तु के  
प्रतिपादक शब्द) हैं ।

अवग्रह, ईहा, अपोह आदि आभिनबोधिक के अर्थ-  
पर्याय (एकदेश प्रतिपादक शब्द) हैं ।

**कालमान**

....एगस्स अपेगाण व उवओभंतोमुहुत्ताओ ॥

लद्धी वि जहन्नेण एगस्सेवं परा इमा होइ ।

अह सागरोवमाइं छावट्ठिं सातिरेगाइं ॥

दो वारे विजयाईसु गयस्स तित्तच्चुए अहव ताइं ।

अइरेगं नरभवियं नाणाजीवाण सव्वद्धं ॥

(विभा ४३४-४३६)

आभिनबोधिकज्ञानी जघन्यतः और उत्कृष्टतः  
अन्तर्मुहूर्त्त तक उपयुक्त रह सकता है । आवरणक्षयोपशम  
की अपेक्षा से जघन्य लब्धिकाल भी अन्तर्मुहूर्त्त ही है ।  
उत्कृष्ट काल साधिक छिद्रासठ सागरोपम है ।

तैतीस सागरोपम आयुष्य वाले विजय आदि अनुत्तर  
विमानों में दो बार अथवा बावीस सागरोपम आयुष्य

वाले अच्युत आदि विमानों में तीन बार उत्पन्न होने वाले  
मतिज्ञानी देवों का लब्धिकाल छिद्रासठ सागरोपम है ।  
इसमें मनुष्य भव का कालमान मिलाने पर साधिक हो  
जाता है । यह कथन एक मतिज्ञानी की अपेक्षा से है ।  
अनेक मतिज्ञानी जीवों की अपेक्षा मतिज्ञान का कालमान  
सर्वकाल है ।

**बृहदान्त**

एत्थ निदरिसणं जहा—कस्सइ मंदपगासाए रयणीए  
पुरिसप्पमाणमेत्तं खाणुं दट्ठूण चिंता समुप्पज्जति किं पुण  
एस पुरिसो भविज्ज उदाहु खाणुत्ति ? ततो तं खाणुं  
वल्लिविणद्धं दट्ठूण पक्खि वा तहिं णिलीणं पासिऊणं  
आभिणिबोधो भवति जहा एवं खाणुत्ति । तं च जइ  
अभिमुहमत्थं जाणति णो विवरीयं ततो आभिणिबोहियं  
भवति । अभिमुहमत्थं णाम जो खाणुं खाणुं चेव अभिणि-  
बुज्जति ण पुण खाणुं पुरिसं मण्णति, एयं अभिमुह-  
मत्थं भण्णति । (आवचू १ पृ ७, ८)

रात्रि में मंद प्रकाश के कारण पुरुषप्रमाण स्थाणु  
को देखकर व्यक्ति सोचता है—यह पुरुष है अथवा  
स्थाणु ? वल्लियों से परिवेष्टित अथवा पक्षियों से युक्त  
उस स्थाणु को देखकर यह ज्ञात हो जाता है कि यह  
स्थाणु है । जो अभिमुख अर्थ को जानता है, विपरीत  
अर्थ को नहीं जानता, वह आभिनबोधिक है । अभिमुख  
अर्थ का आशय है—सामने दिखाई देने वाले पदार्थ का  
सही बोध होना । जैसे—सामने स्थित स्थाणु को स्थाणु  
जानना, उसे पुरुष नहीं जानना ।

**२. आभिनबोधिक ज्ञान के प्रकार**

आभिनबोधियनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—सुय-  
निस्सियं च असुयनिस्सियं च । (नन्दी ३७)

आभिनबोधिक ज्ञान के दो प्रकार हैं—

१. श्रुतनिश्चित । २. अश्रुतनिश्चित ।

**३. श्रुतनिश्चित-अश्रुतनिश्चित की परिभाषा**

पुव्वं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं ।

तं निस्सियमियरं पुण अणिसियं मइच्चउक्कंतं ॥

(विभा १६९)

जो मति श्रुत से परिकर्मित/संस्कारित है, किन्तु  
वर्तमान व्यवहारकाल में श्रुत से निरपेक्ष है, वह श्रुत-  
निश्चित मति है ।

श्रुत संस्कार से निरपेक्ष सहज मति अश्रुतनिश्चित मति है। वह औत्पत्तिकी आदि बुद्धि चतुष्करूप है।

### श्रुतनिश्चित मति

शास्त्रपरिकर्मितमतेरुत्पादकाले शास्त्रार्थपर्यालोचन-  
मनपेक्ष्यैव यदुपजायते मतिज्ञानं तत् श्रुतनिश्चितम्।

(नन्दीमवृ प १४४)

जिसकी मति शास्त्र के अध्ययन से परिष्कृत हो गई है, उस व्यक्ति को ज्ञान की उत्पत्ति के समय शास्त्र की पर्यालोचना के बिना जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतनिश्चित है।

### अश्रुतनिश्चित मति

सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहितस्य तथाविधक्षयोपशम-  
भावत एवमेव यथावस्थितवस्तुसंस्पर्शि मतिज्ञानमुपजायते  
तत् अश्रुतनिश्चितम्। (नन्दीमवृ प १४४)

शास्त्र-संस्पर्श से सर्वथा रहित, तथाविध क्षयोपशम से जो यथार्थ वस्तुसंस्पर्शी मतिज्ञान होता है, वह अश्रुत-निश्चित मति है।

### अश्रुतनिश्चित के प्रकार

असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—

उप्पत्तिया वेणइया, कम्मया पारिणामिया।

बुद्धी चउव्विहा वृत्ता, पंचमा नोवलब्भई ॥

(नन्दी ३८।१)

अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान के चार प्रकार हैं—

१. औत्पत्तिकी बुद्धि, २. वैनयिकी बुद्धि, ३. कर्मजा बुद्धि, ४. पारिणामिकी बुद्धि। बुद्धि के ये चार प्रकार हैं, पांचवां प्रकार उपलब्ध नहीं होता। (द्र. बुद्धि)

### ४. श्रुतनिश्चित के प्रकार

सुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—उग्गहे ईहा  
अवाओ धारणा। (नन्दी ३९)

श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के चार प्रकार हैं—

१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय, ४. धारणा।

### ५. अवग्रहचतुष्टयी : परिभाषा

अत्थाणं उग्गहणं, च उग्गह तह विद्यालणं ईहं।

ववसायं च अवायं, धरणं पुण धारणं विति ॥

(नन्दी ५४।२)

वस्तु का सामान्य अवग्रहण अवग्रह है। वस्तुधर्म का विचार करना ईहा है। ईहित वस्तु का नैश्चयिक ज्ञान अवाय है। वस्तु के निश्चित ज्ञान की अविच्युति, वासना और स्मृति धारणा है।

सामण्णत्थावग्गहणमुग्गहो भेयसग्गणमहेहा।

तस्सावग्गमोऽवाओ अविच्चुई धारणा तस्स ॥

(विभा १८०)

वस्तु का सामान्य अवग्रहण अवग्रह, वस्तु के भेद की मार्गणा ईहा, वस्तु का निश्चय अवाय और उस निश्चय की अविच्युति धारणा है।

### उत्पत्ति का क्रम

उक्कमओऽइक्कमओ एगाभावे वि वा न वत्थुस्स।

जं सब्भावाहिग्गमो, तो सब्बे नियमियक्कमा य ॥

(विभा २९५)

अवग्रह आदि चारों का क्रम नियमित है। इनका उत्क्रम या व्यतिक्रम होने पर अथवा एक का भी अभाव होने पर वस्तु के स्वभाव का अवबोध नहीं होता।

ईहिज्जइ नाऽण्हियं नज्जइ नाणीहियं न याऽनायं।

धारिज्जइ जं वत्थुं तेण कमोऽवग्गहाई उ ॥

(विभा २९६)

अवग्रह से अग्रहीत वस्तु में ईहा प्रवृत्त नहीं होती। अनीहित (अविचारित) का अवाय (निश्चय) नहीं होता। अनिश्चित अथवा अज्ञात अर्थ की धारणा नहीं होती। इसलिए अवग्रह आदि क्रमशः होते हैं।

एतो चिचय ते सब्बे भवंति भिन्ना य णेव समकालं।

न वइक्कमो य तेसिं न अन्नहा नेयसब्भावो ॥

(विभा २९७)

अवग्रहचतुष्टयी उत्तरोत्तर वस्तु के विशेष पर्याय को ग्रहण करती है, अतः यह भिन्न—परस्पर असंकीर्ण है। ये चारों समकालीन—युगपत् नहीं होते क्योंकि इनका उत्पत्ति-काल भिन्न है। इनका व्युत्क्रम (या उत्क्रम) भी नहीं होता। ज्ञेय का स्वभाव ऐसा ही है। वह केवल अवग्रह, केवल ईहा, केवल अवाय या केवल धारणा से नहीं जाना जा सकता।

### कालमान

उग्गहे इक्कसामइए, अंतोमुहुत्तिया ईहा, अंतोमुहु-

त्तिए अवाए, धारणा संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा

कालं। (नन्दी ५०)

अवग्रह का कालमान एक समय, ईहा और अवाय का एक-एक अन्तर्मुहूर्त तथा धारणा का संख्येय अथवा असंख्येय काल है।

अथोग्रहो जहन्तो समयं सेसोग्रहादओ वीसुं ।

अंतोमुहुत्तमेगं तु वासनाधारणं मोत्तुं ॥

अर्थावग्रहो निश्चय-व्यवहारभेदतो द्विधा । अति-स्तोककालत्वेन जघन्यो नैश्चयिकोऽर्थावग्रह एकसमयं भवति । शेषास्तु... व्यञ्जनावग्रहव्यावहारिकार्थावग्रह-हेहावायाविच्युतिस्मृतिरूपा मतिभेदास्ते सर्वेऽपि विष्वक् पृथगेकमेवाऽन्तर्मुहूर्तं भवन्ति ।... अविच्युति-स्मृति-वासनाभेदाद् धारणा त्रिविधा ।... स्मृतेर्बीजभूता वासनाख्य धारणा, सा संख्येयवर्षायुषां सत्वानां संख्येयं कालं, असंख्येयवर्षायुषां तु पल्योपमादिजीविनामसंख्येयं कालं भवति ।

(विभा ३३४ मवृ पृ १६८)

अर्थावग्रह दो प्रकार का है—निश्चय और व्यवहार । नैश्चयिक अर्थावग्रह अत्यन्त अल्पकालिक होता है । उसका कालमान एक समय है ।

शेष—व्यञ्जनावग्रह, व्यावहारिक अर्थावग्रह, ईहा, अवाय तथा अविच्युति और स्मृति (धारणा के प्रथम दो भेद)—इनमें से प्रत्येक का कालमान अन्तर्मुहूर्त है । स्मृति की जननी वासना (धारणा का तीसरा भेद) का कालमान है—संख्येय काल (संख्यातवर्षजीवी की अपेक्षा) और असंख्येय काल (पल्योपमा आदि असंख्यात वर्ष आयुष्य वाले जीवों की अपेक्षा) ।

### अठारह प्रकार

सोइंदियाइभेएण छ्विहावगगहादओऽभिहिआ ।

ते होंति चउब्बीसं चउब्बिहं वंजणोग्गहणं ॥

अट्ठावीसइभेयं एयं सुयनिस्सियं समासेणं... ।

(विभा ३००, ३०१)

अवग्रह (अर्थावग्रह), ईहा, अवाय और धारणा के छह-छह (पांच इन्द्रियां और मन) भेद हैं । व्यञ्जनावग्रह के (चक्षु और मन को छोड़कर) चार भेद हैं । इस प्रकार श्रुतनिश्चित मति के अठारह भेद होते हैं—

व्यञ्जनावग्रह—श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय ।

अर्थावग्रह—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मन ।

ईहा—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय,

स्पर्शनेन्द्रिय, मन ।

अवाय—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मन ।

धारणा—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मन ।

### तीन सौ छत्तीस प्रकार

जं बहुबहुविहखिप्पानिस्सियनिच्छिय धुवेयरविभिन्ना । पुणरुगहादओ तो तं छत्तीसत्तिसयभेयं ॥

(विभा ३०७)

श्रुतनिश्चित मति के अवग्रह आदि अठारह भेदों की बहु-अबहु, बहुविध-अबहुविध, क्षिप्र-अक्षिप्र, अनिश्चित-निश्चित, निश्चित-अनिश्चित, ध्रुव-अध्रुव—इन बारह भेदों से गुणन करने पर आभिनिबोधक ज्ञान के २८ × १२ = ३३६ भेद होते हैं ।

### बहु-बहुविध आदि अवग्रह की परिभाषा

नाणासदसमूहं बहुं पिहं मुणइ भिन्नजाईयं ।

बहुविहमणेगभेयं एक्केक्कं निद्धमहुराइं ॥

खिप्पमचिरेण तं चियं सरुवओ जं अणिस्सियमलिगं । निच्छियमसंसयं जं धुवमच्चंतं न उ कयाइ ॥

(विभा ३०८, ३०९)

बहु—यह पटह का शब्द है, यह भेरी का शब्द है, यह शंख का शब्द है—इत्यादि विभिन्न वाद्यों के नाना प्रकार के शब्दों को एक साथ ग्रहण करना ।

बहुविध—शंख, भेरी आदि के एक-एक शब्द के स्निग्धत्व, मधुरत्व आदि अनेक धर्मों को एक साथ ग्रहण करना ।

क्षिप्र—शीघ्र ग्रहण करना ।

अनिश्चित—हेतु का सहारा लिए बिना स्वरूप को जान लेना ।

निश्चित—असंदिग्ध रूप में जानना ।

ध्रुव—जैसे पहले बहु-बहुविध आदि का ज्ञान किया, वैसे सर्वदा जानना । यह कादाचित्क नहीं होता ।

### भेद क्यों ?

एवं बज्झन्तंरनिमित्तवइचित्तओ मइबहुत्तं ।

किंचिम्मत्तविसेसेण भिज्जमाणं पुणोऽणंतं ॥

तत्र बाह्यं निमित्तं मतिज्ञानस्य कारणमालोक-विषयादिकम् ।... आभ्यन्तरनिमित्तं पुनरावरणभयोपशमो-पयोगोपकरणेन्द्रियाणि । (विभा ३११ मवृ पृ १५६)

मतिज्ञान के विविध भेदों का हेतु है—निमित्तों की विचित्रता -

१. बाह्य निमित्त -- आलोक, विषय आदि ।
२. आभ्यन्तर निमित्त—आवरण का क्षयोपशम, उपयोग इन्द्रिय तथा उपकरण इन्द्रिय ।

इन निमित्तों के किञ्चिन्मात्र भेद से मतिज्ञान के अनन्त प्रकार होते हैं तथा मतिज्ञान से युक्त जीव अनन्त होने के कारण और उनके मतिज्ञान के क्षयोपशम की भिन्नता के कारण भी उसकी अनन्तता है ।

### ६. अवग्रह : परिभाषा

रूप-रसादिभेदैरनिर्देश्यस्याऽव्यक्तस्वरूपस्य सामान्यार्थस्याऽवग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः ।... अर्थानां रूपादीनां प्रथमं दर्शनानन्तरमेवावग्रहणमवग्रहं ब्रूवते ।

(विभामवृ पृ ९०)

जिसमें रूप, रस आदि का निर्देशन न किया जा सके, जिसका स्वरूप स्पष्ट न हो, उस सामान्य मात्र अर्थ का ग्रहण अवग्रह है ।

(इन्द्रिय और पदार्थ का संबंध रूप योग होने पर अस्तित्व मात्र का आभास होना दर्शन है ।) दर्शन के बाद सामान्य रूप से पदार्थ का ग्रहण अवग्रह है ।

### पर्याय

उगहस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाधोसा नाणावजणा पंच नामधिज्जा भवति, तं जहा—ओग्गहणया उवधारणया सवणया अवलंबणया मेहा । (नन्दी ४३)

अवग्रह के नाना धोष और नाना पर्याय वाले पांच एकार्थक हैं—

१. अवग्रहण, २. उपधारण, ३. श्रवण, ४. अवलम्बन, ५. मेधा ।

### प्रकार

उग्गहे कुव्विहे पणत्ते, तं जहा—अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य । (नन्दी ४०)

अवग्रह दो प्रकार का है—अर्थ अवग्रह और व्यञ्जन अवग्रह ।

तत्थुग्गहो दुरुवो गहणं जं होज्ज वंजणत्थाणं ।...

(विभा १९३)

व्यञ्जन और अर्थ का ग्राहक होने के कारण अवग्रह दो प्रकार का है ।

### ७. व्यञ्जनावग्रह : परिभाषा

वंजिज्जइ जेणत्थो घडोव्व दीवेण वंजणं तं च ।  
उवगरणिदियसद्दाइपरिणयद्द्वसंबंधो ॥

(विभा १९४)

दीपक से घट की भांति जिससे अर्थ अभिव्यंजित होता है, वह व्यञ्जन है । उपकरण इन्द्रिय और शब्द आदि रूप में परिणत द्रव्य का परस्पर संबंध होना व्यञ्जन है ।

उपकरणेन्द्रिय शब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धे प्रथम-समयादारभ्यार्थाविग्रहात् प्राक् या सुप्तमत्तमूर्च्छितादि-पुरुषाणामिव शब्दादिद्रव्यसम्बन्धमात्रविषया काचिद-व्यक्ता ज्ञानमात्रा सा व्यञ्जनावग्रहः ।

(नन्दीमवृ प १६९)

उपकरण इन्द्रिय और शब्द आदि रूप में परिणत द्रव्य का संबंध होने पर प्रथम समय से लेकर अर्थावग्रह से पूर्व का जो अव्यक्त ज्ञान है, वह व्यञ्जनावग्रह है । यह अव्यक्त ज्ञान सुप्त-मत्त-मूर्च्छित पुरुष के ज्ञान जैसा होता है ।

### प्रकार

वंजणुग्गहे चउव्विहे पणत्ते, तं जहा—सोइदिय-वंजणुग्गहे, धाणिदियवंजणुग्गहे, जिब्भदियवंजणुग्गहे; फासिदियवंजणुग्गहे । (नन्दी ४१)

व्यञ्जनावग्रह के चार प्रकार हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, २. घ्राणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, ३. जिह्वेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, ४. स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह ।

### मल्लक का दृष्टांत

मल्लगदिट्ठेण—से जहानामए केइ पुरिसे आवाग-सीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेण उदगबिन्दुं पक्खिज्जा से नट्ठे, अण्णे पक्खित्ते से वि नट्ठे । एवं पक्खिप्प-माणेसु-पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिन्दु जेणं तं मल्लगं रावेहिति, होही से उदगबिन्दु जेणं तं मल्लगं भरेहिति, होही से उदगबिन्दु जेणं तं मल्लगं पवाहेहिति । एवामेव पक्खिप्पमाणेहि-पक्खिप्पमाणेहि अण्णेहि पुग्ग-लेहि जाहे तं वंजणं प्रीरियं होइ, ताहे 'हुं' ति करेइ, तो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ । तओ अवायं पविसइ, तओ से

उवगयं हवइ । तओ णं धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ  
संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं । (नन्दी ५३)

एक व्यक्ति ने कुंभकार के जलते आवे के ऊपर से एक शराव लिया। उस पर पानी की एक बूंद डाली। वह सूख गई। दूसरी बूंद डाली और वह भी सूख गई। इस प्रकार बूंदें डालते-डालते एक अंतिम बूंद ऐसी भी गिरी जो शराव में ठहरी। एक-एक बूंद गिरते-गिरते वह शराव पानी से भर गया और फिर बूंद के गिरने से उससे पानी बाहर बहने लगा।

इसी प्रकार जब व्यञ्जन (कान) अनन्त पुद्गलों से भर जाता है तब व्यक्ति 'हूँ' ऐसा करता है। पर वह नहीं जानता कि ये शब्द आदि क्या हैं? तब वह ईहा में प्रवेश करता है उस समय वह जान जाता है कि यह अमुक शब्द है। फिर अवाय में उसे शब्द का निश्चय हो जाता है। उसके बाद धारणा में प्रवेश करता है। तब वह ज्ञान संख्यात काल अथवा असंख्यात काल तक बना रह सकता है।

### ज्ञान है या अज्ञान

अण्णाणं सो बहिराइणं व तवकालमणुवलंभाओ ।  
न तदंते तत्तो च्चिय उवलंभाओ तओ नाणं ॥

(विभा १९५)

'व्यञ्जनावग्रह अज्ञान है। इसमें इन्द्रिय और विषय के संबंध काल में ज्ञान की अनुभूति नहीं होती जैसे बधिर व्यक्ति को प्रारंभ में ज्ञान की अनुभूति नहीं होती'—यह कथन अयुक्त है। व्यञ्जनावग्रह के अनन्तर अर्थावग्रह ज्ञान होता है। यद्यपि व्यञ्जनावग्रह में ज्ञान की अनुभूति नहीं होती, किन्तु वह ज्ञान का कारण है, अतः वह भी ज्ञान है।

### चक्षु और मन का व्यञ्जनावग्रह नहीं

नयन-मणोवज्जिदिय भेयाओ वंजणोग्गहो चउहा ।.....  
(विभा २०४)

लोयणमपत्तविसयं मणो व्व जमणुग्गहाइसुण्णं ति ।.....  
(विभा २०९)

चक्षु और मन का व्यञ्जनावग्रह नहीं होता।

चक्षु और मन विषय से असंबद्ध रहकर उसका ज्ञान कर लेते हैं, अतः वे अप्राप्यकारी हैं। वे ग्राह्य-वस्तु-कृत अनुग्रह-उपघात से शून्य हैं।

समए समए गिण्हइ इव्वाइं जेण मुणइ य तमत्थं ।  
जं च्चिदिओवओमे वि वंजणावग्गहेस्तीते ॥  
होइ मणोवावारी पढमाओ वेव तेण समयाओ ।  
होइ तदत्थग्गहणं तदण्णहा न प्पवत्तेज्जा ॥  
(विभा २४२, २४३)

किसी पदार्थ के चिन्तन के समय समनस्क जीव प्रति समय मनोद्रव्य ग्रहण करता है। ग्रहण के प्रथम समय से ही मन की प्रवृत्ति प्रारंभ हो जाती है, उसे पदार्थ का अर्थबोध होने लग जाता है। अतः मन के व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। यदि प्रथम समय में मन को अर्थबोध नहीं होता है तो अग्रिम क्षणों में भी मन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

इन्द्रियों के उपयोगकाल में अर्थावग्रह से ही मन की प्रवृत्ति प्रारंभ होती है, व्यञ्जनावग्रहकाल में नहीं होती।

### द. अर्थावग्रह : परिभाषा

द्व्वं माणं पूरियमिदियमापूरियं तथा दोण्हं ।  
अवरोप्पसंसग्गो जया तथा गिण्हइ तमत्थं ॥  
सामन्नमणिहेसं सरूव-नामाइकप्पणारहियं ।.....  
(विभा २५१, २५२)

जब व्यञ्जनावग्रह में श्रोत्र आदि इन्द्रियां शब्द आदि द्रव्यों से आपूरित होती हैं, तब द्रव्य और इन्द्रिय का परस्पर संसर्ग होता है। उस संसर्ग के पश्चात् सामान्य, अनिर्देश्य (अनभिलाष्य) तथा स्वरूप, नाम, जाति आदि की कल्पना से रहित अर्थ का ग्रहण होना अर्थावग्रह है।

### प्रकार

अत्थुग्गहे छ्विन्हे पण्णत्ते, तं जहा—सोइदिय अत्थु-ग्गहे, च्चिखिदियअत्थुग्गहे, घाणिदियअत्थुग्गहे, जिन्धि-दियअत्थुग्गहे, फासिदियअत्थुग्गहे, नोइदियअत्थुग्गहे ।  
(नन्दी ४२)

अर्थावग्रह के छह प्रकार हैं—१. श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह, २. चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, ३. घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, ४. जिह्वेन्द्रिय अर्थावग्रह, ५. स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह, ६. नोइन्द्रिय अर्थावग्रह।

### ६. ईहा : परिभाषा

इय सामण्णग्गहणांतरमीहा सदत्थवीमंसा ।  
किमिदं सदोस्सहो को होज्ज व संखसंगाणं ॥  
(विभा २८९)

सामान्य ग्रहण के अनन्तर सत् अर्थ की मीमांसा करना ईहा है। नैश्चयिक अर्थविग्रह के अनन्तर यह मीमांसा होती है कि यह शब्द है अथवा अशब्द? व्यावहारिक अर्थविग्रह के अनन्तर यह मीमांसा होती है—यह शब्द शंख का है अथवा सींग का?

### पर्याय

तीक्ष्णे णं इमे एगद्विया नाणाघोसा नाणावज्जणा पंच नामधिज्जा भवन्ति, तं जहा—आभोगणया, मगणया, ग्वेषणया, चिन्ता, वीमंसा। (नन्दी ४५)

ईहा के नाना घोष और नाना पर्याय वाले पांच एकार्थक हैं—

१. आभोगनता, २. मार्गणा, ३. ग्वेषणा, ४. चिन्ता, ५. विमर्श।

### प्रकार

ईहा छव्विहा पणत्ता, तं जहा—सोइदियईहा, चिखदियईहा, घाणिदियईहा, जिब्भदियईहा, फासिदियईहा, नोइदियईहा। (नन्दी ४४)

ईहा के छह प्रकार हैं -

१. श्रोत्रेन्द्रिय ईहा, २. चक्षुरिन्द्रिय ईहा, ३. घ्राणेन्द्रिय ईहा, ४. जिह्वेन्द्रिय ईहा, ५. स्पर्शेन्द्रिय ईहा, ६. नोइन्द्रिय ईहा।

### ईहा अज्ञान नहीं

ईहा संसयमेत्तं केई, न तयं तओ जमन्नाणं। मइनाणं सा चेहा, कहमन्नाणं तई जुत्तं?

(विभा १८२)

कुछ दार्शनिक मानते हैं—ईहा संशयमात्र है। संशय अज्ञान है, इसलिए ईहा अज्ञान है—यह कथन मिथ्या है। ईहा मतिज्ञान का अंश है। वह ज्ञान है। उसे अज्ञान मानना युक्त नहीं है।

### ईहा और संशय में अंतर

जमणेगत्थालंबणमपज्जुदासपरिकुंठियं चित्तं। सेय इव सव्वप्पयओ तं संसयरुवमन्नाणं ॥ तं चियं सयत्थहेऊववत्तिवावारतप्परममोहं। भूयाभूयविसेसायाणच्चायाभिमुहमीहा ॥

(विभा १८३, १८४)

संशय है—

१. चित्त की अनेकार्थ अवलंबनता।  
२. अपर्युदास - निषेध का अभाव।

३. चित्त की जड़ीभूत अवस्था—अवस्तु की निश्चायकता।

४. सुप्त की भांति सर्वात्मना वस्तु का अनवबोध। ईहा है—

१. चित्त सदर्थ—विवक्षित अर्थ के हेतु और उपपत्ति (संभाव्य व्यवस्थापन) की प्रवृत्ति में संलग्न।

२. अमिथ्या, अमोघ चित्त।

३. यथार्थ के ग्रहण और अयथार्थ के परित्याग में तत्पर।

४. निश्चयाभिमुखता।

न हि 'किमयं स्थाणुः, पुरुषो वा' इत्यादिरूपः संशय ईहाऽभ्युपगम्यते। अन्वयधर्मघटन-व्यतिरेकधर्मनिराकरणाभ्यां निश्चयाभिमुखो बोध ईहा। न चायं संशयः, निश्चयाभिमुखत्वात्। नापि निश्चयः, तत्प्रत्यासत्तिमात्र-प्राप्तत्वात्। (विभामवृ पृ १५७)

'यह स्थाणु है या पुरुष' इस प्रकार का संशयात्मक ज्ञान ईहा नहीं है। अन्वयधर्मों के स्वीकरण तथा व्यतिरेक धर्मों के निराकरण द्वारा जो निश्चयाभिमुखी बोध है, वह ईहा है। निश्चय के अभिमुख होने के कारण यह संशय नहीं है। निश्चय के प्रत्यासन्न होने मात्र से यह निश्चय भी नहीं है।

### १०. अवाय : परिभाषा

महुराइगुणत्तणओ संखस्सेव त्ति जं न संगस्स। विण्णाणं सोऽवाओ अणुगम-वइरेगभावाओ ॥

(विभा २९०)

यह शब्द मधुर है, स्निग्ध है, इसलिए यह शंख का ही होना चाहिए, सींग का नहीं—इस प्रकार अन्वय धर्मों और व्यतिरेक धर्मों के आधार पर किया जाने वाला निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है।

### पर्याय

तस्स णं इमे एगद्विया नाणाघोसा नाणावज्जणा पंच नामधिज्जा भवन्ति, तं जहा—आवट्टणया, पच्चावट्टणया, अवार, बुद्धी, विण्णाणे। (नन्दी ४७)

अवाय के नाना घोष और नाना पर्याय वाले पांच एकार्थक हैं—

१. आवर्तनता, २. प्रत्यावर्तनता, ३. अवाय, ४. बुद्धि, ५. विज्ञान।

### प्रकार

अवाए छव्विहे पणत्ते, तं जहा—सोइदियअवाए,

चर्कित्तदियअवाए, चाग्गिदियअवाए, जिब्भित्तदियअवाए,  
फासिदियअवाए, नोइदियअवाए । (नन्दी ४६)

अवाय छह प्रकार का है—१. श्रोत्रेन्द्रिय अवाय,  
२. चक्षुरिन्द्रिय अवाय, ३. घ्राणेन्द्रिय अवाय,  
४. जिह्वेन्द्रिय अवाय, ५. स्पर्शनेन्द्रिय अवाय,  
६. नोइन्द्रिय अवाय ।

### अवाय औपचारिक अर्थावग्रह

सव्वत्थेहावाया निच्छयओ मोत्तुमाइसामण्णं ।

संववहारत्थं पुण सव्वत्थाऽवग्गमहोऽवाओ ॥

(विभा २=५)

सर्वत्र विषयपरिच्छेदे कर्तव्ये निश्चयतः परमार्थत  
ईहाऽपायौ भवतः । ईहा, पुनरपायः पुनरीहा, पुनर-  
प्यपायः इत्येवं क्रमेण यावदन्त्यो विशेषः, तावदीहा-  
ऽपायावेव भवतः, नाऽर्थावग्रहः । आद्यमव्यक्तं सामान्य-  
मात्रालम्बनमेकसामयिकं ज्ञानं मुक्त्वाऽप्यत्रेहाऽपायौ  
भवतः । इदं पुनर्नेहा, नाऽप्यपायः, किन्त्वर्थावग्रह एवेति  
भावः । संव्यवहारार्थं व्यावहारिकजनप्रतीत्यपेक्षं पुनः  
सर्वत्र यो योऽपायः स स उत्तरोत्तरेहाऽपायापेक्षया, एष्य-  
विशेषापेक्षया चोपचारतोऽर्थावग्रहः । (विभामवृ पृ १४२)

नैश्चयिक दृष्टि के अनुसार विषय का परिच्छेद हो  
जाने पर, सर्वत्र अन्तिम विशेष तक पुनः पुनः ईहा और  
अपाय होते रहते हैं, अर्थावग्रह नहीं होता । केवल आदि-  
सामान्य इसका अपवाद है—प्रथम एक सामयिक अव्यक्त  
सामान्य मात्र के ज्ञान में अर्थावग्रह होता है, ईहा और  
अपाय नहीं होते । सांख्यव्यवहारिक दृष्टि के अनुसार  
उत्तरोत्तर ईहा और अपाय की अपेक्षा तथा भावी विशेष  
बोध की अपेक्षा अपाय को भी औपचारिक अर्थावग्रह  
कहा जा सकता है ।

### ११. धारणा : परिभाषा

तयणंतरं तयत्थाविच्चवणं जो य वासणाजोयो ।

कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ ॥

(विभा २९१)

अपाय के अनन्तर उस निर्णीत अर्थ की अविच्युति,  
तदावरण कर्म के क्षयोपशम से वासना रूप में अर्थ का  
उपयोग और कालान्तर में पुनः उसका अनुस्मरण करना  
धारणा है ।

अपायेन निश्चितेऽर्थे तदनन्तरं यावदद्यापि तदर्थोपयोगे  
सातत्येन वर्तते, न तु तस्माद् निवर्तते, तावत् तदर्थोपयो-  
गादविच्युतिर्नाम सा धारणायाः प्रथमभेदो भवति । तत-

स्तस्याऽर्थोपयोगस्य यदावरणं कर्म तस्य क्षयोपशमेन जीवो  
युज्यते, येन कालान्तरे इन्द्रियव्यापारादिसामग्रीवशात्  
पुनरपि तदर्थोपयोगः स्मृतिरूपेण समुन्मीलति । सा चेयं  
तदावरणक्षयोपशमरूपा वासना नाम द्वितीयस्तद्भेदो  
भवति । कालान्तरे च वासनावशात् तदर्थस्येन्द्रियैरूप-  
लब्धस्य अथवा तैरनुपलब्धस्याऽपि मनसि या स्मृति-  
राविर्भवति, सा तृतीयस्तद्भेदः । (विभामवृ पृ १४५)

धारणा के तीन रूप हैं—

१. अविच्युति—जब तक अपाय द्वारा निर्णीत अर्थ में  
उपयोग की धारा का सातत्य रहता है, उससे निवृत्ति  
नहीं होती है, तब तक धारणा का प्रथम भेद—  
अविच्युति होता है ।
२. वासना—उस अर्थोपयोग के आवारक कर्म के  
क्षयोपशम से जीव उस उपयोग से युक्त होता है ।  
इससे कालान्तर में इन्द्रिय-प्रवृत्ति के अनुकूल  
सामग्री मिलने पर वह अर्थोपयोग पुनः स्मृति के  
रूप में व्यक्त होता है । यह तदावरण का क्षयोपशम  
रूप धारणा का दूसरा भेद है—वासना ।
३. स्मृति—कालान्तर में वासना के कारण इन्द्रियों के  
द्वारा उपलब्ध अथवा अनुपलब्ध उस अर्थ की मानस-  
पटल पर स्मृति उभरती है । यह धारणा का तीसरा  
भेद है ।

तस्यैवार्थस्य निर्णीतस्य धरणं धारणा । सा च  
विधा—अविच्युतिर्वासना स्मृतिश्च । तत्र तदुपयोगाद-  
विच्यवनमविच्युतिः । सा चान्तर्मुहूर्तप्रमाणा । ततस्तथा-  
ऽऽहितो यः संस्कारः स वासना । सा च संख्येयम-  
संख्येयं वा कालं यावद् भवति । ततः कालान्तरे कुतश्चित्ता-  
दृशार्थदर्शनादिकारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यज्ज्ञानमुदयते  
तदेवेदं यत् मया प्रागुपलब्धमित्यादिरूपं सा स्मृतिः ।

(नन्दीमवृ प १६८)

अवाय द्वारा निर्णीत अर्थ को धारण करना धारणा  
है । उसके तीन प्रकार हैं—१. अविच्युति २. वासना,  
३. स्मृति । उपयोग (ज्ञान की प्रवृत्ति) की धारा का  
अविच्छिन्न रहना अविच्युति है । इसका कालमान अन्त-  
र्मुहूर्त प्रमाण है । इसके द्वारा आहित/स्थापित संस्कार  
का नाम है वासना । यह संख्येय या असंख्येय काल तक  
होती है । कालान्तर में कहीं पहले जैसा पदार्थ देखने से  
संस्कार जागृत होने पर 'यह वही है, जिसे मैंने पहले  
उपलब्ध किया था'—ऐसा ज्ञान उदित होता है, यह  
स्मृति है ।



तीसे णं इमे एगद्विया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवन्ति, तं जहा १. धरणा २. धारणा ३. ठवणा ४. पइट्ठा ५. कोट्ठे । (नन्दी ४९)

धारणा के नाना घोष और नाना पर्याय वाले पांच एकार्थक हैं—धरणा, धारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा और कोष्ठ ।

धारणा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—सोईदियधारणा, चक्खिदियधारणा, जिब्भिदियधारणा, फासिदियधारणा, नोईदियधारणा । (नन्दी ४८)

धारणा के छह प्रकार हैं—१. श्रोत्रेन्द्रिय धारणा, २. चक्षुरिन्द्रिय धारणा, ३. घ्राणेन्द्रिय धारणा, ४. जिह्वेन्द्रिय धारणा, ५. स्पर्शनेन्द्रिय धारणा, ६. नो-इन्द्रिय धारणा ।

## १२. आभिनिबोधिक ज्ञान ही मतिज्ञान

आभिनिबोधिकम्—अवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमेव ।

(नन्दीहावृ पृ १८)

मतिज्ञानोऽत्राभिनिबोधिकसमानार्थो द्रष्टव्यः । आभिनिबोधिकं ह्यौत्पत्तिक्यादिमतिप्रधानत्वाद् मतिरित्यप्युच्यते । (विभामवृ पृ ४८)

अवग्रह आदि रूप वाला आभिनिबोधिक ज्ञान मतिज्ञान ही है ।

मति शब्द आभिनिबोधिक के समान अर्थ वाला है । औत्पत्तिकी आदि मति की प्रधानता के कारण आभिनिबोधिक ज्ञान मतिज्ञान भी कहलाता है ।

## १३. श्रुतनिरपेक्ष मति ही शुद्ध मतिज्ञान

जे अक्खराणुसारेण मइविसेसा तयं सुयं सव्वं ।

जे उण सुयनिरवेक्खा सुद्धंचिय तं मइन्नाणं ॥

(विभा १४४)

अक्षर (श्रुत-ग्रन्थ) का अनुसरण करने वाली मति-विशेष श्रुतज्ञान है । श्रुतनिरपेक्ष मति ही शुद्ध मतिज्ञान है ।

## १४. मतिज्ञान का विषय

दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएणेणं सव्वदव्वाइं जाणइ, न पासइ । खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ, न पासइ । कालओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं कालं जाणइ, न पासइ । भावओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ, न पासइ । (नन्दी ५४)

द्रव्य की अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्यतया सब द्रव्यों

को जानता है, देखता नहीं । क्षेत्र की अपेक्षा से वह सामान्यतया सब क्षेत्रों को जानता है, देखता नहीं । काल की अपेक्षा से वह सामान्यतया सर्व काल को जानता है, देखता नहीं । भाव की अपेक्षा से वह सामान्यतया सब भावों को जानता है, देखता नहीं ।

आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं ।

धम्मत्थिआइयाइं जाणइ, न उ सव्वभेएणं ॥

खेत्तं लोगालोणं, कालं सव्वदमहव तिविहं ति ।

पंचोदइयाईए भावे, जं नेयमेवइयं ॥

(विभा ४०३, ४०४)

आभिनिबोधिकज्ञानी सामान्य प्रकार से धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों का जानता है, उनके सब पर्यायों को नहीं जानता ।

वह लोकालोक क्षेत्र और अतीत-वर्तमान-अनागत काल तथा उदय आदि पांच भावों को जानता है । ज्ञेय इतना ही है ।

आदेशः—प्रकारः, स च द्विधा—सामान्यरूपो विशेषरूपश्च, तत्रेह सामान्यरूपो ग्राह्यः । तत आदेशेन—द्रव्यजातिरूपसामान्यादेशेन सर्वद्रव्याणि—धर्मास्तिकायादीनि जानाति, किञ्चिद्विशेषतोऽपि । यथा धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः तथा धर्मास्तिकायो गत्युपपत्तमहेतुरमूर्त्तो लोकाकाशप्रमाण इत्यादि । न पश्यति—सर्वात्मना धर्मास्तिकायादीन् पश्यति, घटादीन्तु योग्यदेशावस्थितान् पश्यत्यपि ।

(नन्दीमवृ पृ १८४)

आदेश का अर्थ है—प्रकार । उसके दो भेद हैं—सामान्य और विशेष । यहाँ उसका सामान्यरूप ग्राह्य है ।

मतिज्ञान सामान्यरूप से धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को जानता है, कुछ अंशों में विशेषरूप से भी जानता है । यथा—धर्मास्तिकाय गतिसहायक द्रव्य है । वह अमूर्त्त और लोकाकाशप्रमाण है । मतिज्ञान उचित देश में अवस्थित घट आदि को देखता भी है, किन्तु धर्मास्तिकाय आदि को सर्वात्मना नहीं देखता ।

आएसो त्ति व सुत्तं, सुउवलढेसु तस्स मइन्नाणं ।

पसरइ तव्भावणया विणा वि सुत्तानुसारेण ॥

(विभा ४०५)

आदेश का अर्थ है—श्रुत । श्रुत से उपलब्ध अर्थ में मतिज्ञान प्रवृत्त होता है । श्रुतोपयोग के बिना भी श्रुत की वासना मात्र से मतिज्ञान उस अर्थ का स्वतन्त्र

चिन्तन करता है।

सूत्रादेशात्सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, न तु साक्षात् सर्वाणि पश्यति ।...श्रुतभाषितमतेः श्रुतो-पलब्धेष्वपि अर्थेषु सूत्रानुसारमात्रेण येऽवग्रहेहापायादयो बुद्धिविशेषाः प्रादुष्यन्ति ते मतिज्ञानमेव, न श्रुतज्ञानं, सूत्रानुसारनिरपेक्षत्वात् । (नन्दीमवृ प १८४)

मतिज्ञान सूत्रादेश से (सूत्र के आधार पर) धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को जानता है, उन्हें साक्षात् नहीं देखता। श्रुत से भाषित मति वाला पुरुष श्रुत से कुछ अर्थों को जानता है, वह मात्र श्रुतानुसारी है, इसलिए उसमें होने वाले अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान के विशेष प्रकार मतिज्ञान के ही भेद हैं। श्रुत से निरपेक्ष होने के कारण वह श्रुतज्ञान नहीं है।

### १५. मति और श्रुत में भेद

जमत्थं ऊहिकृण णो निद्दिसति तं आभिणिबोहिय-णाणं भण्णति ।...जो पुण अत्थं ऊहिकृण निद्दिसइ तं सुयणाणं भण्णइ ।

(आवचू १ पृ ७, ८)

जो अर्थ का विमर्श कर उसका निर्देश नहीं करता, वह मतिज्ञान है। जो विमर्शपूर्वक अर्थ का निर्देश करता है, वह श्रुतज्ञान है।

लखणभेआ हेऊ फलभावओ भेयइन्द्रियविभागा ।

वाग-क्खर-मूए-यर भेआभेओ मइ-सुयाणं ॥

(विभा ९७)

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में निम्न दृष्टियों से भेद है -

१. लक्षण भेद — दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।
२. हेतु-फल — मतिज्ञान हेतु है, श्रुतज्ञान फल है।
३. भेद-विभाग — दोनों के विभाग भिन्न-भिन्न हैं।  
अवग्रह आदि मतिज्ञान के विभाग हैं, अक्षर श्रुत, अनक्षर श्रुत आदि श्रुतज्ञान के विभाग हैं।
४. इन्द्रिय-विभाग — श्रुतज्ञान केवल श्रोत्रेन्द्रिय से संबंधित है, मतिज्ञान शेष इन्द्रियों से संबंधित है।
५. कारण-कार्य — मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है।
६. अनक्षर-अक्षर — मतिज्ञान अनक्षर है, श्रुतज्ञान अक्षर है।
७. मूक-अमूक — मतिज्ञान मूक है, श्रुतज्ञान अमूक है।

### लक्षण की दृष्टि से

...अभिनिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियं, सुणेड त्ति सुयं ।  
(नन्दी ३५)

जो जाना जाता है, वह मतिज्ञान है। जो सुना जाता है, वह श्रुतज्ञान है।

दृष्टश्च परस्परमनुगतयोरपि लक्षणभेदाद्भेदः ।...अभिमुखं—योग्यदेशे व्यवस्थितं नियतमर्थमिन्द्रिय-मनोद्वारेण बुध्यते आत्मा येन परिणामविशेषेण स परिणामविशेषो ज्ञानापरपर्याय आभिनिबोधिकम् ।...शृणोति वाच्यवाचकभावपुरस्सरं श्रवणविषयेन शब्देन सह संस्पृष्टमर्थं परिच्छिनत्त्यात्मा येन परिणामविशेषेण स परिणामविशेषः श्रुतम् । (नन्दीमवृ प १४०)

परस्पर अनुगत होने पर भी मति और श्रुत अपने-अपने लक्षण से भिन्न हैं। जिस परिणामविशेष से आत्मा इन्द्रिय और मन के माध्यम से योग्य देश में अवस्थित नियत अर्थ को जानती है, वह परिणामविशेष आभिनिबोधिक ज्ञान है।

आत्मा जिस परिणामविशेष से वाच्यवाचकसंबंध-युक्त शब्द से संस्पृष्ट अर्थ को सुन्ती-जानती है, वह परिणामविशेष श्रुतज्ञान है।

### हेतु-फल की दृष्टि से

मइपुव्वं सुयमुत्तं न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं ।

पुव्वं पूरण-पालणभावाओ जं मई तस्स ॥

(विभा १०५)

श्रुत मतिपूर्वक होता है, मति श्रुतपूर्वक नहीं होती— यह दोनों में भेद है। श्रुत की प्राप्ति तथा वैशिष्ट्य सम्पादन के कारण मतिपूर्वक श्रुत कहा गया है।

मत्या पूर्वते प्राप्यते श्रुतम् । न खलु मतिपाटवविभवमन्तरेण श्रुतविभवमुत्तरोत्तरमासादयति जन्तुः । यच्च यदुत्कर्षाकर्षवशादुत्कर्षाकर्षभाक् तत्तस्य कारणं, यथा घटस्य मृत्पिण्डः ।... पाल्यते अवस्थिति प्राप्यते मत्या श्रुतं, श्रुतेष्वपि बहुषु ग्रंथेषु यद्विषयं स्मरणमीहापोहादि वा अधिकतरं प्रवर्तते स ग्रंथः स्फुटतरः प्रतिभाति, न शेषाः । (नन्दीमवृ प १४१)

मति से श्रुत की प्राप्ति होती है। मतिपाटव के वैभव के बिना श्रुत का वैभव उत्तरोत्तर प्राप्त नहीं होता। एक वस्तु का उत्कर्ष और अपकर्ष जिस दूसरे द्रव्य के अधीन होता है, वह उसका कारण बनता है।

जैसे घड़े का कारण है मृत्पिण्ड । मतिज्ञान से ही श्रुत को विशेष अवस्था प्राप्त होती है । बहुत सारे श्रुतग्रंथों में भी जिस श्रुतग्रंथ के विषय में स्मरण, ईहा, अगोह आदि मतिरूपों का अधिकतर प्रयोग होता है, वह ग्रन्थ अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है, शेष उलने स्पष्ट नहीं होते ।

### भेद-विभाग की दृष्टि से

भेदकयं व विसेसणमट्टावीसइविहंगभेयाइ ।  
(विभा ११६)

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा आदि अठाईस भेद हैं और श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट, अनंगप्रविष्ट आदि चौदह भेद हैं ।

### इन्द्रिय-विभाग की दृष्टि से

सोइंदियओवलद्धी होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं ।  
मोत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु ॥  
(विभा ११७)

श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है । चक्षु आदि शेष चार इन्द्रियों के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है । द्रव्यश्रुत (पुस्तक आदि) ही नहीं, शेष चारों इन्द्रियों से जो अक्षर-लाभ होता है, वह भी श्रुत है ।

### कारण-कार्य की दृष्टि से

.....मई वरगसमा सुम्बसरिसयं सुत्तं ॥....  
(विभा १५४)

मतिज्ञान कारण है । श्रुतज्ञान कार्य है । मति बल्क के समान है । श्रुत रज्जु के समान है । (बल्क कारण है, रज्जु कार्य है ।)

### अक्षर-अनक्षर की दृष्टि से

.....अणक्खरं होज्ज वंजणक्खरओ ।  
मइनाणं, सुत्तं पुण उभयं पि अणक्खरक्खरओ ॥  
(विभा १७०)

व्यञ्जनाक्षर की अपेक्षा से मतिज्ञान अनक्षर है । श्रुतज्ञान अक्षर और अनक्षर दोनों प्रकार का है ।

### मूक-अमूक की दृष्टि से

सपरप्पच्चायणओ भेओ मूअेयराण वाभिहिओ ।  
जं मूयं मइनाणं सपरप्पच्चायणं सुत्तं ॥  
(विभा १७१)

मतिज्ञान मूक के सदृश है । वह केवल अपने को ही

प्रकाशित करता है । श्रुतज्ञान अमूक के सदृश है । वह स्व-पर—दोनों को प्रकाशित करता है ।

### काल की दृष्टि से

वार्तमानिकं वस्त्वभिनिबोधिकज्ञानस्य ज्ञेयं, त्रिकाल-साधारणः समानपरिणामो ध्वनिर्गोचरः श्रुतज्ञानस्य ।  
(नन्दीमवृ प ६६)

मतिज्ञान का विषय है—वर्तमानवर्ती वस्तु । श्रुतज्ञान का विषय है—अतीत, वर्तमान और अनागत—तीनों कालों में समान परिणामन वाली ध्वनि ।

### १६. मति और श्रुत में अभेद

जत्थाभिणिबोहियनाणं, तत्थ सुयनाणं । जत्थ सुयनाणं, तत्थाभिणिबोहियनाणं । दोवि एयाइं अणमण्ण मणुगयाइं ।  
(नन्दी ३५)

जहां मतिज्ञान है, वहां श्रुतज्ञान है और जहां श्रुतज्ञान है, वहां मतिज्ञान है । ये दोनों परस्पर अनुगत हैं ।

जं सामिकाल-कारण-विसय-परोक्षत्वत्तपेहि तुल्लाइं । तन्भावे सेसाणि य तेणाईए मइ-सुयाइं ॥  
(विभा ८५)

स्वामि-काल-कारण-विषय-परोक्षत्वसाधर्म्यात् तद्-भावे च शेषज्ञानभावादादावेव मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोरुप-न्यासः । य एव मतिज्ञानस्य स्वामी स एव श्रुतज्ञानस्य । यावान् मतिज्ञानस्य स्थितिकालस्तावानेवेतरस्य । यथा च मतिज्ञानं क्षयोपशमहेतुकं तथा श्रुतज्ञान मपि । यथा । मतिज्ञानमादेशतः सर्वद्रव्यादिविषयमेवं श्रुतज्ञानमपि । यथा मतिज्ञानं परोक्षं एवं श्रुतज्ञानमपीति तथा मतिश्रुतज्ञानयोरेव अवध्यादिज्ञानभावादिति । (नन्दीहावृ पृ १९)

मति और श्रुत में निम्न दृष्टियों से साधर्म्य है—

१. अधिकारी—जो मतिज्ञान का अधिकारी है, वही श्रुतज्ञान का अधिकारी है ।
२. काल—जितनी स्थिति मतिज्ञान की है, उतनी ही स्थिति श्रुतज्ञान की है ।
३. कारण—दोनों ज्ञान क्षयोपशमहेतुक हैं ।
४. विषय—दोनों का विषय सर्वद्रव्य है ।
५. परोक्षत्व—इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने के कारण दोनों परोक्ष हैं ।
६. मति और श्रुत होने पर ही अवधि आदि शेष ज्ञान होते हैं ।

### १७. मतिपूर्वक श्रुत

मइपुव्वं सुयं, न मई सुयपुव्विया । (नन्दी ३५)

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है, मतिज्ञान श्रुतपूर्वक नहीं होता ।

इह लद्धिमइसुयाइं समकालाइं, न तूवओगो सिं ।

मइपुव्वं सुयमिह पुण सुओवओगो मइप्पभवो ॥

(विभा १०८)

श्रुत मतिपूर्वक होता है—यह कथन उपयोग की अपेक्षा से है, न कि लब्धि की अपेक्षा से । क्योंकि मति और श्रुत की प्राप्ति (लब्धि) समकालीन होती है, पहले पीछे नहीं । श्रुत का उपयोग मति से प्रसूत है ।

सर्वत्रापि पूर्वमवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमुदयते पश्चाद् श्रुतम् ।... मतिपूर्व च श्रुतमुच्यते उपयोगापेक्षया । न खलु मत्युपयोगेनासञ्चिन्त्य श्रुतग्रन्थानुसारि विज्ञानमासादयति जन्तुः । सम्यक्त्वोत्पत्तिकाले समकालं मतिश्रुते लब्धिमात्रमेवाङ्गीकृत्य प्रोच्यते, न तूपयोगम् ।

(नन्दीमवृ प ७०)

पहले मतिज्ञान होता है, फिर श्रुतज्ञान—यह कथन उपयोग की अपेक्षा से है । मति के उपयोग के बिना ग्रन्थानुसारी श्रुतज्ञान प्राप्त नहीं होता । लब्धि की अपेक्षा से सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय मति और श्रुत को समकालीन कहा गया है । उपयोग की अपेक्षा से मति और श्रुत समकालीन नहीं हैं ।

### १८. द्रव्यश्रुतपूर्वक मति

सौऊण जा मई..... ।

सा दव्वसुयप्पभवा भावसुयाओ मई नत्थि ॥

(विभा १०९)

किसी के शब्द को सुनकर जो मति उत्पन्न होती है, वह द्रव्यश्रुत से प्रसूत है । भावश्रुतपूर्वक मति नहीं होती ।

### १९. मतिज्ञान का क्षेत्र

खेतं हवेज्ज चोदसभागा सत्तोर्वीर अहे पंच ।

इलिआगईए विग्गहगयस्स गमणेऽहवाऽऽगमणे ॥

(विभा ४३०)

लोक चौदह रज्जु प्रमाण है । मतिज्ञानी का क्षेत्र है—ऊर्ध्वलोक में सात रज्जु तथा अधोलोक में पांच रज्जु । विग्रहगतिसमापन्न जीव इलिकागति से अनुत्तर विमान में जाता है अथवा वहां से आता है, तब सार

रज्जुप्रमाण क्षेत्र का स्पर्श करता है तथा जो जीव छठी नरक में जाता है अथवा वहां से आता है, तब पांच रज्जुप्रमाण क्षेत्र का स्पर्श करता है ।

### २०. साकारोपयोग और मतिज्ञान

सागारोवउत्तो पडिवज्जति, णो अणागारोवउत्तो । जम्मि समए पडिवण्णो आभिणिबोहियणाणं तंमि समए सो जीवो सागारोवउत्तो लब्भति ।

(आवचू १ पृ १९.२०)

साकार उपयोग में उपयुक्त जीव मतिज्ञान प्राप्त करता है, अनाकार उपयोग में नहीं । जिस समय जीव मतिज्ञान प्राप्त करता है, उस समय वह साकारोपयोग में उपयुक्त होता है ।

### २१. मतिज्ञान से शून्य जीव

एंगिदियजाईओ सम्माभिच्छो य जो य सव्वण्णु ।

अपरित्ताऽभव्वा अचरिमा य एए सया सुण्णा ॥

(विभा ४११)

एकेन्द्रिय जीव (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति), सम्यक्मिथ्यादृष्टि, सर्वज्ञ, अ-परीत, अभव्य, अ-चरम—ये सब मतिज्ञान से सदा शून्य होते हैं ।

### २२. मतिज्ञान : विरहकाल

एगस्स जहन्नेण अंतरमन्तोमुहुत्तमुक्कोसं ।

पोग्गलपरिअट्टुदं देसुणं दोसबहुनस्स ॥

(विभा ४३७)

एक व्यक्ति की अपेक्षा सम्यक्त्व से प्रतिपतित मतिज्ञान का अन्तरकाल—विरहकाल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः देशीन अर्धपुद्गलपरावर्त है ।

### २३. ज्ञान उत्पत्ति और नय

सम्मत्त-नाणरहियस्स नाणमुप्पज्जइ ति ववहारो ।

नेच्छइयनओ भासइ उप्पज्जइ तेहि सहिअस्स ॥

(विभा ४१४)

सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव में ज्ञान उत्पन्न होता है—यह व्यवहारनय का अभिमत है । निश्चयनय के अनुसार सम्यक्त्व और ज्ञान से सहित जीव में ही ज्ञान उत्पन्न होता है ।

### २४. मतिज्ञान की प्रतिपन्नता-प्रतिपद्यमानता

वियलाऽविसुद्धलेसा मणपज्जवणाणियो अणाहारा ।

असण्णी अणागारोवओगिणो पुव्वपडिवन्ना ॥

सेसा पुत्रपवण्णा नियमा पडिवज्जमाणया भइया ।  
भयणा पुत्रपवण्णा अकसयाज्जेयया होति ॥

(विष्णु ४१२, ४१३)

विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), अविशुद्धलेश्य (कृष्ण-नील-कापीत), अनाहारक, असंज्ञी, अनाकारोपयोगी - ये सब यदि मतिज्ञानी हों तो पूर्व-प्रतिपन्न ही होंगे। मनःपर्यवज्ञानी पूर्वप्रतिपन्न ही होते हैं।

नारक, देव, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य—ये सब जाति की अपेक्षा (समुच्चय दृष्टि से) मतिज्ञान से पूर्व-प्रतिपन्न होते हैं। इनमें प्रतिपद्यमानता वैकल्पिक है।

अकषाय और अवेदक में पूर्वप्रतिपन्नता वैकल्पिक है—छद्मस्थ की अपेक्षा पूर्वप्रतिपन्न होते हैं, केवली की अपेक्षा पूर्वप्रतिपन्न नहीं होते तथा ये दोनों प्रतिपद्यमान नहीं होते।

**आयतन—विशुद्धि के योग्य स्थान।**

#### १. आयतन-अनायतन

- ० परिभाषा
- ० पर्याय
- ० प्रकार

#### २. अनायतन-सेवन का निषेध

#### ३. आयतन-अनायतन-सेवन की फलश्रुति

#### १. आयतन-अनायतन : परिभाषा

जत्थ साहम्मिया बहवे, सीलमंता बहुस्सुया ।

चरित्तायारसंपन्ना, आययणं तं वियाणाहि ॥

(ओनि ७८३)

जहाँ बहुत से साधमिक साधु बहुश्रुत, शीलसंपन्न और चारित्राचारसंपन्न होते हैं, वह आयतन है।

जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।

लिंगवेसपडिच्छन्ना, अणायतणं तं वियाणाहि ॥

(ओनि ७८१)

जहाँ बहुत से साधु चंचल (व्याक्षिप्त, व्याकुल) चित्त वाले, अनार्थ, मात्र लिंग और वेपधारी होते हैं, वह अनायतन है।

एवमिणं उवगरणं धारेमाणो विहीमुपरिसुद्धं ।

हवति गुणाणायतणं अविहिअसुद्धे अणाययणं ॥

(ओनि ७६२)

आगमोक्त विधि से निर्दोष उपकरण आदि धारण करना गुणों का आयतन है। अविधि से अशुद्ध उपकरण आदि रखना अनायतन है।

अह लोउत्तरियं पुण अणायतणं भावतो मुणेयव्वं ।

जे संजमयोगाणं करेति हाणि समत्थावि ॥

(ओनि ७६९)

जहाँ मुनि समर्थ होने पर भी संयमयोगों की हानि करते हैं, वह लोकोत्तर भाव अनायतन है।

#### पर्याय

सावज्जमणायतणं असोहिठ्ठाणं कुसीलसंसग्गी ।

एगट्ठा होति पदा एते विवरीय आययणा ॥

(ओनि ७६३)

अनायतन के पर्याय—सावद्य (अविशुद्ध, सपाप), अनायतन, अशोधिस्थान, कुशीलसंसर्ग।

आयतन के पर्याय—असावद्य (निर्दोष, परिशुद्ध) आयतन, शोधिस्थान, सुशीलसंसर्ग।

#### प्रकार

आययणांघि य दुविहं दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।

दव्वमि जिणघराई भावमि य होइ तिविहं तु ॥

(ओनि ७८२)

आयतन के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य आयतन—जिनमन्दिर आदि।

२. भाव आयतन—ज्ञान, दर्शन, चारित्र।

#### २. अनायतन-सेवन का निषेध

खणमवि न खमं गंतुं अणायतणसेवणा सुविहियाणं ।

जंगंधं होइ वणं तंगंधं माहओ वाइ ॥

(ओनि ७६७)

सुविहित मुनि क्षणभर के लिए भी अनायतन का सेवन नहीं करते। उपवन जिस गंध वाला होता है, उसमें से प्रवाहित पवन भी उसी गंध वाला होता है।

न या लभेज्जा निउणं सहायं,

गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।

एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो,

विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ (दचूला २।१०)

यदि कदाचित् अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो मुनि पाप-कर्मों का वर्जन करता हुआ काम-भागों में अनासक्त रह अकेला ही (संघ-स्थित) विहार करे।

पाणस्स दंसणस्स य चरणस्स य जत्थ होइ उवघातो ।  
वज्जेज्जऽवज्जभीरु अणाययणवज्जओ खिप्पं ॥  
(ओनि ७७८)

जहां ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि हो, उस अनायतन का पापभीरु मुनि वर्जन करे ।

न चरेज्ज वेससामंते, बंधवेरवसाणुए ।  
बंधयारिस्स दंतस्स, होज्जा तत्थ विसोत्तिया ॥  
अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।  
होज्ज वयाणं पीला, सामण्णम्मि य संसओ ॥  
तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।  
वज्जए वेससामंतं, मुणी एयंतमस्सिए ॥  
(द ५।१।९-११)

ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि वेश्याबाड़े के समीप न जाये । वहां दमितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के भी विस्रोतसिका हो सकती है—साधना का स्रोत मुड़ सकता है ।

अस्थान में बार-बार जाने वाले के (वेश्याओं का) संसर्ग होने के कारण ब्रतों का विनाश और श्रामण्य में संदेह हो सकता है ।

इसलिए इसे दुर्गति बढ़ाने वाला दोष जानकर एकान्त (मोक्ष-मार्ग) का अनुगमन करने वाला मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाये ।

### ३. आयतन-अनायतन-सेवन की फलश्रुति

अंबस्स य निवस्स य दुष्हंपि समागयाइं मूलाइं ।  
संसग्गीए विणट्ठो अंबो निवत्तणं पत्तो ॥  
(ओनि ७७०)

आम्रवृक्ष और नीमवृक्ष की जड़ें जब आपस में मिल जाती हैं, तब उस संसर्ग से आम्रवृक्ष नष्ट हो जाता है, वह नीम की कटुता को प्राप्त हो जाता है ।

जह नाम महरसलिलं साभरसलिलं कमेण संपत्तं ।  
पावइ लोणियभावं मेलणदोसाणुभावेणं ॥  
एवं खु सीलमंतो असीलमंतेहि मेलिओ संतो ।  
पावइ गुणपरिहाणी मेलणदोसाणुभावेणं ॥  
(ओनि ७७६, ७७७)

जैसे मधुरजल सागर के जल में मिलकर खारा हो जाता है, अपनी मधुरता को खो देता है, वैसे ही शीलसंपन्न व्यक्ति शीलहीन व्यक्ति के साथ रहकर अपने अर्जित गुणों को खो देता है । यह कुसंगति का अनुभव है ।

सुंदरजणसंसग्गी सीलदरिहंपि कुणइ सीलड्ढं ।  
जह मेरुगिरीजायं तणंपि कणगतत्तणमुवेइ ॥  
(ओनि ७८४)

अच्छे व्यक्ति का संसर्ग शीलहीन को भी शीलसंपन्न बना देता है । जैसे मेरुपर्वत पर उत्पन्न तृष भी स्वर्ण बन जाता है ।

सुचिरंपि अच्छमाणो नलथंबो उच्छुवाडमज्जम्मि ।  
कीस न जायइ महरुो जइ संसग्गी पमाणं ते ॥  
सुचिरंपि अच्छमाणो वेरुलिओ कायमणियओमीसे ।  
न उवेइ कायभावं पाहन्नगुणेण नियएण ॥  
भावुगअभावुगाणि य लोए दुविहाइं हुंति दव्वाइं ।  
वेरुलिओ तत्थ मणी अभावुगो अन्नदव्वेणं ॥  
ऊणगसयभागेणं विवाइं परिणमंति तव्भावं ।  
लवणागराइसु जहा वज्जेह कुसीलसंसग्गी ॥  
(ओनि ७७१-७७४)

शिष्य ने पूछा—भते ! यदि संसर्ग ही प्रमाण है तो इक्षुवाटिका में दीर्घकाल तक रहने पर भी नलस्तम्ब मधुर क्यों नहीं होता ? गुरु ने कहा दो प्रकार के पदार्थ होते हैं—भावुक और अभावुक । वैदूर्य मणि अभावुक (अन्य से अप्रभावित) द्रव्य है । वह अपने विशिष्ट गुण के कारण काचमणियों के साथ रहने पर भी काच नहीं बनता । काष्ठ, चर्म आदि भावुक द्रव्य हैं । काष्ठ आदि का सौवां हिस्सा भी यदि नमक की खान का स्पर्श कर लेता है तो वह भी नमक बन जाता है । अतः कुशील का संसर्ग वर्जनीय है ।

**आयुष्यकर्म**—जीव की भवस्थिति में हेतुभूत कर्म ।  
(द्र. कर्म)

**आराधना**—स्वीकृत नियमों की सम्यक् अनुपालना करना । ज्ञान के अनुकूल क्रिया करना ।

**आराधक** : विराधक

पंचिदिएहि गुत्तो मणमाईतिविहकरणमाउत्तो ।  
तवनियमसंजमंमि अ जुत्तो आराधओ होइ ॥  
(ओनि २८०)

जो पांच इन्द्रियों से गुप्त, तीन गुप्तियों में जागरूक, तप, नियम, संयम से युक्त होता है, वह आराधक होता है ।

आराधयन्ति—अविकलतया निष्पादयन्ति सम्यग्-दर्शनादीनि इत्याराधका भवन्ति । (उशाव् प २३३)

जो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य की अविकल आराधना करते हैं, वे आराधक हैं ।

आराहणाइ जुत्तो सम्मं काऊण सुविहो कालं ।  
उक्कोसं तिननि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वणं ॥

जघन्यत एकेनैव भवेन सिद्ध्यतीति तद्वज्रभना-  
राचसंहननमङ्गीकृत्योक्तं, छेत्रट्टिकासंहननो हि यद्यतिशये-  
नाराधनं करोति ततस्तृतीये भवे मोक्षं प्राप्नोति । उत्कृष्ट-  
शब्दश्चात्रातिशयार्थे द्रष्टव्यो न तु भवमङ्गीकृत्य ।  
भवाङ्गीकरणे पुनरष्टभिरेवोत्कृष्टतो भवे छेत्रट्टिकासंहननो  
सिद्ध्यतीति । (आंनि ८०८; वृ प २२७)

जो उत्कृष्ट आराधना कर समाधिभरण करता है  
वह तीसरे भव में अवश्य मुक्त हो जाता है । वज्रश्रुषभ-  
नाराच संहनन वाला उत्तम आराधक एक भव  
(उसी जन्म) में मुक्त हो जाता है । सेवार्त्त संहनन वाला  
उत्तम आराधक जघन्य तीन तथा उत्कृष्ट आठ भवों में  
मुक्त हो जाता है ।

परिखभासी सुसमाहिइदिए,

चउक्कसायावगए अणिसिए ।

स निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं, आराहए लोगमिणं तथा परं ॥  
(द ७।१५७)

गुण-दोष को परख कर बोलने वाला, सुसमाहित-  
इन्द्रियवाला, चार कषायों से रहित, अनिश्रित (तटस्थ)  
भिक्षु पूर्वकृत पाप-मल को नष्ट कर वर्तमान तथा भावी  
लोक की आराधना करता है ।

एवं तु गुणपेही, अगुणाणं च विवज्जओ ।

तारिसो मरणंते वि, आराहेइ संवरं ॥

आयरिए आराहेइ, समणे यावि तारिसो ।.....

(द १।२।४४,४५)

गुण की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और अगुणों  
को वर्जने वाला, शुद्ध भोजी मुनि मरणान्तकाल में भी  
संवर की आराधना करता है । वह आचार्य और श्रमणों  
की आराधना करता है ।

.....तिहि विराहणाहि—नाणविराहणाए,

दंसणविराहणाए, चरित्तविराहणाए । (आव ४।८)

विराधना के तीन प्रकार हैं—ज्ञान विराधना, दर्शन  
विराधना, चारित्र्य विराधना ।

लज्जाइ मारवेण य बहुस्तुयमएण वासवि दुच्चरिं ।

जे न कहंति गुरूणं न इ त्ते आराहगा हुंति ॥

(उनि २१८)

जो मुनि लज्जा, गौरव और बहुश्रुतता के अभिमान  
के कारण गुरु के समक्ष अपने दोषों की आलोचना नहीं  
करते, वे आराधक नहीं होते ।

**आर्त्तध्यान**—प्रिय के संयोग और अप्रिय के वियोग  
के लिए एकाग्र होना । (द्र. ध्यान)

**आलोचना**—गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन ।

### १. आलोचना

#### ० परिभाषा

#### ० पथीय

#### ० प्रकार

#### ० विधि

### २. आलोचना कब ?

### ३. आलोचना किससे ?

### ४. आलोचना परसाक्षी से

### ५. आलोचना-काल में वर्जनीय दोष

### ६. आलोचना-निन्दा-गर्हा के परिणाम

\* आलोचना : प्रायश्चित्त का प्रकार (द्र. प्रायश्चित्त) ।

\* आहार से पूर्व आलोचना (द्र. आहार)

## १. आलोचना की परिभाषा

आलोयणमरिहंति आ मज्जा लोयणा गुरुसगासे ।

जं पाव विगडिणं सुज्झइ पच्छित्तपढमेयं ।

(उशावृ प ६०८)

आलोचना का अर्थ है—गुरु के समक्ष अपने दोषों  
को प्रकट करना । जिस पाप की शुद्धि आलोचना से ही  
हो जाती है, उसे आलोचनार्ह प्रायश्चित्त कहा गया है ।  
यह प्रायश्चित्त का पहला भेद है ।

परोप्परस्स वायण-परियट्टण-लोयकरण-वत्थदाणादि-  
अणालोइए गुरूणं अविणयोत्ति आलोयणारिहं ।

(दथचू पृ १४)

परस्पर अध्ययन-अध्यापन, परिवर्तना, केशलुंचन,  
वस्त्रों का आदान-प्रदान आदि कार्य गुरु-आज्ञा के  
बिना करने से गुरु का अविनय होता है । इस पाप की  
शुद्धि मात्र आलोचना से हो जाती है ।

**पर्याय**

आलोचना वियडणा सोही सन्भावदायणा चेव ।

निदण गरिह विउट्टण सल्लुद्धरणति एगट्टा ।

(ओनि ७९१)

आलोचनं विकटनं प्रकाशनमाख्यानं प्रादुष्करण-  
मित्यनर्थान्तरम् । (उशावृ प ६०८)

आलोचना, विकटना, शोधि, सद्भावदर्शन, निन्दा, गर्हा, विकुट्टन, शल्योद्धरण, प्रकाशन, आख्यान और प्रादुष्करण—ये आलोचना के पर्याय हैं ।

**प्रकार**

आलोचना उ दुविहा मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।....

(ओनि ७९०)

आलोचना के दो प्रकार हैं— मूलगुणों की आलोचना, उत्तरगुणों की आलोचना ।

**विधि**

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ ।

तं तह आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्को उ ॥

(ओनि ८०१)

जैसे एक बालक अपने कार्य-अकार्य को सरलता से बता देता है, वैसे ही साधक को माया और अहंकार से मुक्त होकर आलोचना करनी चाहिए ।

आहच्च चंडालियं कट्टु न निणहविज्ज कयाइ वि ।

कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ।

(उ ११११)

भिक्षु सहसा चण्डालोचित कर्म कर उसे कभी भी न छिपाए । अकरणीय किया हो तो किया और नहीं किया हो तो न किया कहे ।

**२. आलोचना कब करे ?**

अव्वक्खित्ताउत्तं उवसंतमुवट्ठिअं च नाऊणं ।

अभुन्नवेत्तु मेहावी आलोएज्जा सुसंजए ॥

(ओनि ५१५)

जब गुरु अव्याक्षिप्त/अवलांत, उपयुक्त, उपशांत—अनाकुल और आलोचना सुनने में तत्पर हों, तब गुरु से अनुज्ञा प्राप्त कर मुनि आलोचना करे ।

काले य पहुप्पंते उच्चाओ वावि ओहमालोए ।

वेला गिलाणगस्स व अइच्छइ गुरु व उच्चाओ ॥

पुरकम्मपच्छकम्मे, अप्पेअनुद्धे य ओहमालोए ।

तुरियकरणंमि जं से न सुज्झई तत्तिअं कहए ॥

(ओनि ५१८, ५१९)

आलोचनाकाल पर्याप्त न हो—आलोचना करते-करते यदि सूर्य अस्त हो रहा हो, रोगी की परिचर्या-वेला का अतिक्रमण हो रहा हो, आलोचक स्वयं श्रान्त हो या गुरु श्रान्त हों तो उस समय संक्षेप में ही आलोचना करे । यथा—पश्चात्कर्म, पुरःकर्म का आसेवन किया । आधाकर्म का दोष लगा इत्यादि ।

अन्य शीघ्र करणीय कार्य हो तो आसेवित दोष संबंधी बात उतनी ही बतानी चाहिये, जिसे बिना बताये बुद्धि न हो ।

**३. आलोचना किससे ?**

....एक्केक्का चउकन्ना दुवग्ग सिद्धावसाणा य ॥

द्वयोरपि साधुसाध्वीवर्गयोरेकैकस्य चतुष्कर्णा भवति, एक आचार्यो द्वितीयश्चालोचकः साधुः एवं साधुवर्गो चतुष्कर्णा भवति । साध्वीवर्गोऽपि चतुष्कर्णा भवति, एका प्रवर्तिनी द्वितीया तस्या एव या आलोचयति साध्वी.....द्वयोश्च साधुसाध्वीवर्गयोर्मिलितयोरष्ट-कर्णा भवति । कथम् ? आचार्य आत्मद्वितीयः प्रवर्तिनी चात्मद्वितीया आलोचयति यदा तदाऽष्टकर्णा भवति, सामान्यसाध्वी वा यद्यालोचयति तदाऽष्टकर्णवेति । अहवा छकन्ना होज्जा यदा बुड्ढो आयरिओ हवइ तदा एगस्सवि साहुणीदुगं आलोएइ एवं छकन्ना हवति । सब्बहा साहुणीए अप्पवित्थियाए आलोए-अव्वं न उ एगागिणीएत्ति । एवं तावदुत्तर्गत आचार्याय आलोचयति, तदभावे सर्वदेशेषु निरूपयित्वा गीतार्थाया-लोचयितव्यं, एवं तावद्यावत्सिद्धानामप्यालोच्यते साधूना-मभावे । (ओनि ७९०; वृ प २२५)

साधु-साध्वीवर्ग की आलोचना चतुष्कर्णा होती है—साधुवर्ग—आचार्य और आलोचना करने वाला साधु । साध्वीवर्ग—प्रवर्तिनी और आलोचना करने वाली साध्वी ।

जब प्रवर्तिनी अथवा अन्य साध्वी आलोचना करती है, आलोचना अष्टकर्णा होती है—एक आचार्य और एक साधु, एक प्रवर्तिनी और एक साध्वी ।

यदि वृद्ध आचार्य के पास आलोचना करे तो वह षट्कर्णा भी होती है—एक आचार्य, एक प्रवर्तिनी और एक साध्वी । आचार्य के पास अकेली साध्वी आलोचना न करे, कम से कम दो साध्वियां अवश्य हों ।

सामान्यतः आलोचना आचार्य के पास ही करे ।



आचार्य का योग न हो तो गीतार्थ मुनि की खोज कर उसके पास आलोचना करे। गीतार्थ साधु आदि के अभाव में सिद्धों की साक्षी से आलोचना करने का विधान है।

(व्यवहार सूत्र के अनुसार—आचार्य, उपाध्याय, बहुश्रुत सार्धमिक साधु, बहुश्रुत अन्य सांभोगिक साधु, बहुश्रुत सारूपिक, बहुश्रुत पश्चात्कृत श्रमणोपासक, सम्यक् भावित चैत्य, अर्हत्-सिद्ध—इस प्रकार क्रमशः एक के अभाव में दूसरे के पास आलोचना करना विहित है। देखें—व्यवहार १।३)

#### ४. आलोचना : परसाक्षी से

छत्तीसगुणसमन्नागण तेषवि अवस्स कायव्वा ।  
परसविबया विसोही सुट्ठुवि व्यवहारकुसलेण ॥  
(ओनि ७९४)

जाति, कुल, बल आदि छत्तीस गुणों से सम्पन्न व्यवहार-कुशल मुनि को भी दूसरों की साक्षी से ही आलोचना करनी चाहिये।

जह सुकुसलोऽवि विज्जो अन्नस्स कहेइ अप्पणो वाही ।  
सोऊण तस्स विज्जस्स सोवि परिकम्ममारभइ ॥  
एवं जाणंतेणवि पायच्छित्तविहिमप्पणो सम्मं ।  
तहवि य पागडतरयं आलोएतव्वयं होइ ॥  
(ओनि ७९५, ७९६)

जैसे वैद्य कुशल होने पर भी अपनी व्याधि दूसरे वैद्य को बताता है तथा उस वैद्य द्वारा निर्दिष्ट चिकित्सा करता है, वैसे ही स्वयं प्रायश्चित्त-विधिवेत्ता होने पर भी मुनि को अपने दोषों की प्रकट रूप में आलोचना अन्य बहुश्रुत के पास करनी चाहिए।

#### ५. आलोचना काल में वर्जनीय दोष

नटं वलं चलं भासं मूयं तह डड्ढरं च वज्जेज्जा ।  
आलोएज्ज सुविहिओ हत्थं मत्तं च वावारं ॥  
एयदोसविमुक्कं गुरुणा गुरुसम्मयस्स वाऽऽलोए ।  
जं जह गहियं तु भवे पढमाओ जा भवे चरिमा ॥  
(ओनि ५१६, ५१७)

नृत्य—अंगों को नचाते हुए आलोचना करना ।  
बल—शरीर को मोड़ते हुए आलोचना करना ।  
चल—अंगों को चालित करते हुए आलोचना करना ।  
भाषा—असंयत या गृहस्थ की भाषा में आलोचना करना ।  
मूक—मूक स्वर से 'गुणमुण' करते हुए आलोचना करना ।

डड्ढर—उच्च स्वर से आलोचना करना—

इन दोषों का वर्जन करते हुए गुरु के समक्ष संसृष्ट-असंसृष्ट हाथ, पात्र आदि संबंधी तथा दाता संबंधी आलोचना करनी चाहिए। आहार आदि जिस रूप में ग्रहण किया है, उसी रूप में क्रमशः गुरु को निवेदन करना चाहिये।

#### ६. आलोचना के परिणाम

....आलोयणाए णं मायानियाणमिच्छादंसणसल्लानं  
मोवखमगविग्घाणं अणंतसंसारवद्धाणां उद्धरणं करेइ ।  
उज्जुभावं च जणयइ । उज्जुभावपडिबन्ने य णं जीवे  
अमाइ इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बंधइ पुव्ववद्धं च णं  
णिज्जरेइ । (उ २९।६)

आलोचना से जीव अनन्त संसार को बढ़ाने वाले, मोक्षमार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले माया, निदान तथा मिथ्यादर्शन शल्य को निकाल फेंकता है और ऋजुभाव को प्राप्त होता है। वह अमायी होता है, इसलिए वह स्त्रीवेद और नपुंसकवेद कर्म का बन्ध नहीं करता और यदि वे पहले बंधे हुए हों तो उनका क्षय कर देता है।

उद्धरियसव्वसल्लो आलोइयनिदिओ गुरुसगासे ।  
होइ अतिरेगलहुओ ओहरियभरो व्व भारवहो ॥

(ओनि ८०६)

जैसे भारवाहक भार को नीचे उतारकर हल्केपन का अनुभव करता है, वैसे ही गुरु के समक्ष आलोचना तथा निन्दा कर निःशल्य बना साधक अतिरिक्त हल्केपन का अनुभव करता है।

नवि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो ।  
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमाइणो कुद्धो ॥  
जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तमट्टुकालंमि ।  
दुल्लभवोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥  
(ओनि ८०३, ८०४)

शस्त्र, विष, दुःसाधित वेतल, दुष्प्रयुक्त यन्त्र और ऋद्ध सर्प उतना कष्टदायक नहीं होता, जितना माया आदि भावशल्य।

अनशनकाल में सशल्य मरने वाला व्यक्ति दुर्लभबोधि और अनन्तसंसारी हो जाता है।

#### निन्दा और उसके परिणाम

सप्पच्चक्खदुगंछा तह निन्दा ... । (विभा ३५७५)

निन्दनम् — आत्मनेवात्मदोषपरिभावनम् ।

(उशावृ प ५७९)

स्वयं ही अपने दोषों का चिन्तन करना निन्दा है ।

...निदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ । पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेदिं पडिवज्जइ । करणगुणसेदिं पडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ।

(उ २९।७)

निन्दा से जीव पश्चात्ताप को प्राप्त होता है । उसके द्वारा विरक्त होता हुआ मोह को क्षीण करने में समर्थ परिणामधारा को प्राप्त हुआ अनगार मोहनीयकर्म का क्षीण कर देता है ।

**गर्ह्य और उसके परिणाम**

...गुरुपच्चक्खदुगंछ्या गम्मइ गरिहा ... ॥

(विभा ३५७५)

गर्हणेन ... परसमक्षात्मनो दोषोद्भावनेन ।

(उशावृ प ५८०)

गुरुसाक्षी से अथवा दूसरों के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना गर्ह्य है ।

...गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ । अपुरक्कारणए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ । पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ । (उ २९।८)

गर्ह्य से जीव अनादर को प्राप्त होता है । अनादर को प्राप्त हुआ वह अप्रशस्त प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियों को अंगीकार करता है । वैसा अनगार आत्मा के अनन्त विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियों को क्षीण करता है ।

**आवश्यक**—प्रातः और सायं—दोनों संघ्याओं में अवश्यकरणीय छह अध्ययन वाला विधिसूत्र । अंगवाह्य आगम का एक भेद ।

## १. आवश्यक के निर्वचन

० परिभाषा

० एकार्यक

\* प्रकार—(१) सामायिक

(२) चतुर्विंशतिस्तव

(३) बंदना

(४) प्रतिक्रमण

(५) कायोत्सर्ग

(६) प्रत्याख्यान

० अर्थाधिकार

(द्र. संबद्ध नाम)

२. द्रव्य आवश्यक

३. भाव आवश्यक

४. आवश्यक के निक्षेप

\* आवश्यक : अंगवाह्य का भेद

(द्र. अंगवाह्य)

## १. आवश्यक के निर्वचन

समणेण सावएण य अवस्सकायव्वं हवइ जम्हा ।

अंतो अहोनिस्स उ, तम्हा अवस्सयं नाम ॥

(अनु २८ गाथा २)

जदवस्सं कायव्वं तेषावस्सयमिदं गुणाणं वा ।

आवस्सयमाहारो आ मज्जायाभिविहिवाइ ॥

आवस्सं वा जीवं करेइ जं नाण-दंसण-गुणाणं ।

संतिज्ज-भावण-च्छायणेहि वावासयं गुणओ ॥

(विभा ८७४, ८७५)

'आवस्सय' शब्द के चार संस्कृत रूप प्राप्त हैं ।

उनका निर्वचन इस प्रकार है —

**आवश्यक**—जो श्रमणों और श्रावकों के लिए दोनों संघ्याओं में अवश्य करणीय है ।

**आपाश्रय**—जो गुणों का आधार है ।

**आवश्य**—जो व्यक्ति को ज्ञान, दर्शन आदि गुणों का वशवर्ती बनाता है ।

**आवासक**—जो गुणों का सांनिध्य प्रदान करता है, आत्मा को गुणों से वासित/आच्छादित करता है ।

## परिभाषा

अवश्यकर्तव्यसामायिकादिक्रियानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं श्रुतमपि आवश्यकम् । (नन्दीमवृ प २०४)

अवश्य करणीय सामायिक आदि क्रियाअनुष्ठान को आवश्यक कहते हैं । इन अनुष्ठानों का प्रतिपादक शास्त्र भी आवश्यक कहलाता है ।

आवश्यकं ज्ञानदर्शनचारित्रयप्रसाधकप्रतिनियत-कालानुष्ठेययोगपरम्पराप्रतिसेवनमित्यर्थः । ..... मुख-वस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणादारभ्य सकलाहोरात्रान्तर्व्याप्यसपत्न-कर्तव्यतोक्तचक्रवालसमाचार्याचरणमावश्यककमभिधीयते ।

(विभाकोवृ पृ २)

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य—इन तीनों का प्रसाधक है और प्रतिनियत काल में अनुष्ठेय योगपरम्परा का आसेवन है, वह आवश्यक है। मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना से प्रारंभ कर संपूर्ण दिन-रात में करणीय चक्रवाल सामाचारी का आचरण आदि समस्त क्रियाएं आवश्यक कहलाती हैं।

भवस्स मोक्खमग्गाहिलासिणो थियगुव्वएसस्स ।

आईए जोग्गमिणं बालगिलाणस्स वाऽऽहारं ॥

(विभाकोवृ पृ ५)

जैसे बाल और ग्लान के लिए आहार आवश्यक है, वैसे ही गुरु-आज्ञा के अनुपालक और मोक्षाभिलाषी भव्य के लिए 'आवश्यक' का अनुष्ठान आवश्यक है।

### एकार्थक

आवस्सयं अवस्सकरणिज्ज धुवनिग्गहो विसोही य ।  
अज्झयणच्छक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो ॥

(अनु २८।१)

आवस्सयं—अवस्सकरणिज्जं जं तमावासं अहवा गुणाणमावासत्तणतो । कम्ममदुविहं कसाया इंदिया वा धुवा इमेण जम्हा तेसि णिग्गहो कज्जइ तम्हा धुवणिग्गहो, अवस्सं वा णिग्गहो । कम्ममलिणो आत्ता विसोहिज्जतीति विसोही । सामायिकादि गण्यमानानि षडध्ययनानि समूहः वग्गो । णायो युक्तः अभिप्रेतार्थसिद्धिः । आराधना मोक्खस्स सब्बपसत्थभावाण वा । लद्धीण पंधो मार्गं इत्यर्थः ।

(अनुचू पृ १४)

आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम हैं—

१. आवश्यक } —यह अवश्यकरणीय है अथवा
२. अवश्यकरणीय } यह गुणों का आवासस्थल है ।
३. धुव-निग्रह —आवश्यक से कर्म, कषाय और इन्द्रियों का निश्चित रूप से निग्रह होता है ।
४. विशोधि —इससे कर्म से मलिन आत्मा की विशोधि होती है ।
५. अध्ययनषट्कवर्ग —यह सामायिक आदि छह अध्ययनों का समूह है ।
६. न्याय —इससे अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि होती है ।
७. आराधना —इससे मोक्ष अथवा सर्व प्रशस्त भावों की आराधना होती है ।
८. मार्ग —यह आत्मालोचन और आत्मनिरीक्षण की ओर ले जाने वाला तथा उपलब्धियों का मार्ग है ।

### प्रकार

आवस्सयं छुव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—सामाइयं, चउवीसत्थओ, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं । (नन्दी ७५)

आवश्यक छह प्रकार का है—

- |                    |                   |
|--------------------|-------------------|
| १. सामायिक         | ४. प्रतिक्रमण     |
| २. चतुर्विंशतिस्तव | ५. कायोत्सर्ग     |
| ३. वन्दना          | ६. प्रत्याख्यान । |

### अर्थाधिकार

सावज्जजोगविरई उक्कित्तण गुणवओ य पडिबत्ती ।  
खलियस्स निदणा वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ॥  
(अनु ७४)

पहले सामादियज्झयणे पाणादियायादिसव्वसावज्जजोगविरती कायव्वा । ब्रितिए दरिसणविसोहिणिमित्तं पुणवोधिलाभत्थं च कम्मखवणत्थं च तित्थगरणामुक्कित्तणा कता । ततिए चरणादिगुणसमूहवतो वंदणमंसणादिएहि पडिबत्ती कातव्वा । चउत्थे मूलुत्तरावराहक्खलणाए खलितो पच्चागतसंवेगे विमुज्जमाणभावो पमातकरणं संभरंतो अप्पणो णिदणगरहणं करेति । पंचमे पुष्साधु वणोवणएण दसविहपच्छित्तेण चरणादियाइयारवणस्स तिगिच्छं करेति । छट्ठे जहा मूलुत्तरगुणपडिबत्ती निरतियारधारणं च जधा तेसि भवति तथा अत्थपरुवणा । (अनुचू पृ १८)

आवश्यक के छह अर्थाधिकार हैं—सावद्योगविरति, उत्कीर्तन, गुणवान की प्रतिपत्ति, खलित की निन्दा, व्रणचिकित्सा और गुणधारणा ।

१. सामायिक अध्ययन का प्रतिपाद्य है—प्राणातिपात आदि सावद्य—सपापकारी प्रवृत्तियों से विरति ।
२. चतुर्विंशतिस्तव—दर्शनविशोधि, पुनर्बोधिलाभ और कर्मक्षय के लिए अर्हंतों की उत्कीर्तना ।
३. वन्दना—चारित्र्यसम्पन्न, गुणसम्पन्न व्यक्तियों का वन्दना-नमस्कार द्वारा सम्मान-बहुमान करना ।
४. प्रतिक्रमण—मूलगुणों-उत्तरगुणों में स्थलना होने पर संवेगसम्पन्न हो, विशुद्धभावों से प्रमाद की स्मृति कर अपनी निन्दा-गर्हा करना ।
५. कायोत्सर्ग—चारित्र्य आदि के अतिचाररूप व्रण की आलोचना आदि दस प्रकार के प्रायश्चित्त द्वारा चिकित्सा करना ।

६. प्रत्याख्यान—मूल और उत्तरगुणों की प्रतिपत्ति तथा उनको निरतिचार रूप में जैसे धारण किया जाए, उस रूप में अर्थ की प्ररूपणा करना ।

## २. द्रव्य आवश्यक

जह सव्वदोसरहियं पि निगदओ सुत्तमणुवउत्तस्स ।  
दव्वसुयं दव्वावासयं च तह सव्वकरियाओ ॥

(विभा ८५९)

जैसे उपयोगशून्य मुनि द्वारा उच्चारित सर्वदोषरहित सूत्र भी द्रव्यश्रुत, द्रव्यावश्यक होता है, वैसे ही उपयोग-शून्य सारी क्रिया द्रव्यक्रिया होती है ।

## ३. भाव आवश्यक

उवउत्तस्स उ खलियाइयं पि सुद्धस्स भावओ सुत्तं ।  
साहइ तह किरियाओ सव्वाओ निज्जरफलाओ ॥

(विभा ८६०)

उपयोगयुक्त मुनि का स्थूलित आदि दोषयुक्त सूत्र भी, भावना की शुद्धि के कारण भावसूत्र होता है । इसी प्रकार उसकी सारी क्रियाएं कर्मनिर्जरा के फलवाली होती हैं ।

## ४. आवश्यक के निक्षेप

आवस्सयं चउव्विहं पणत्तं, तं जहा—नामावस्सयं  
ठवणावस्सयं दव्वावस्सयं भ्वावस्सयं । (अनु ८)

आवश्यक के चार प्रकार हैं—नाम आवश्यक, स्थापना आवश्यक, द्रव्य आवश्यक, भाव आवश्यक ।

### नाम आवश्यक

जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा  
अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सए त्ति  
नामं कज्जइ । से तं नामावस्सयं । (अनु ९)

जिस जीव या अजीव का, जीवों या अजीवों का, जीव-अजीव दोनों का, जीवों और अजीवों दोनों का 'आवश्यक' यह नाम किया जाता है, वह नाम आवश्यक है ।

### स्थापना आवश्यक

जण्णं कट्टकम्मे वा चित्तकम्मे वा पोत्थकम्मे वा  
लेप्पकम्मे वा गंधिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा  
अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेया वा सम्भावठवणाए  
वा असम्भावठवणाए वा आवस्सए त्ति ठवणा ठविज्जइ ।  
से तं ठवणावस्सयं । (अनु १०)

काष्ठाकृति, चित्राकृति, पुस्तक में अंकित चित्र, लेप्याकृति में अथवा गूंधकर, वेष्टित कर, भरकर या जोड़कर बनाई हुई पुतली में अथवा अक्ष या कौड़ी में एक या अनेक सद्भाव स्थापना (वास्तविक आकृति) अथवा असद्भाव स्थापना (काल्पनिक आरोपण) के द्वारा आवश्यक (आवश्यक क्रिया करते हुए व्यक्ति) का जो रूपांकन या कल्पना की जाती है, वह स्थापना आवश्यक है ।

### द्रव्यावश्यक के निक्षेप

दव्वावस्सयं दुविहं पणत्तं, तं जहा—आगमओ य  
नोआगमओ य । (अनु १२)

द्रव्य आवश्यक के दो प्रकार हैं—आगमतः (ज्ञान की अपेक्षा से) और नोआगमतः (ज्ञानाभाव और क्रिया की अपेक्षा से) ।

### आगमतः द्रव्यावश्यक

आगमओ दव्वावस्सयं—जस्स णं आवस्सए त्ति पदं  
सिक्खियं ठियं जियं मियं परिजियं नामसमं घोससमं  
अहीणक्खरं अण्णक्खक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलियं अमि-  
लियं अवक्खामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोद्धविप्प-  
मुक्कं मुख्वायणोक्कयं, से णं तस्थ वायणाए पुच्छणाए  
परियट्टणाए धम्मकहाए, नो अणुप्पेहाए । (अनु १३)

जिसने 'आवश्यक' यह पद सीख लिया, स्थिर कर लिया, चित (स्मृति योग्य) कर लिया, मित (श्लोक आदि की संख्या से निर्धारित) कर लिया, परिचित कर लिया, नाम-सम (अपने नाम के समान) कर लिया, घोषसम—सही उच्चारणयुक्त कर लिया, जिसे उसने हीन, अधिक और विपर्यस्त—अक्षर रहित, अस्थूलित, अन्य वर्णों से अमिश्रित, अन्य ग्रन्थ के वाक्यों से अमिश्रित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण घोषयुक्त, कण्ठ और होठ से निकला हुआ तथा गुरु की वाचना से प्राप्त किया है, वह उस आवश्यक पद के अध्ययन, प्रश्न, परावर्तन और धर्मकथा में प्रवृत्त होता है, तब आगमतः द्रव्य आवश्यक है । वह अनुप्रेक्षा (अर्थ के अनुचिन्तन) में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि द्रव्य निक्षेप उपयोग रहित (चित्त की प्रवृत्ति से शून्य) होता है ।

### नोआगमतः द्रव्यावश्यक

नोआगमओ दव्वावस्सयं तिविहं पणत्तं, तं जहा—  
जाणणसरीरदव्वावस्सयं भवियसरीरदव्वावस्सयं जाणण-  
सरीर-भवियसरीर-वतिरित्तं दव्वावस्सयं । (अनु १५)

नोआगमतः द्रव्यावश्यक तीन प्रकार का है—ज्ञशरीर द्रव्यावश्यक, भव्यशरीर द्रव्यावश्यक और ज्ञशरीर-भव्य-शरीर-व्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक ।

### ज्ञशरीर द्रव्यावश्यक

“आवस्सए त्ति पयत्थाहिगारजाणगस्स जं सरीरयं ववगयत्तुय-चाविय-वत्तदेहं जीवविप्पज्जं” पासित्ताणं कोइ वएज्जा—अहो णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं आवस्सए त्ति पय आषवियं पणवियं” । जहा को दिट्ठंतो ? अयं महुकुंभे आसी, अयं घयकुंभे आसी । से तं जाणगसरीरदव्वावस्सयं । (अनु १६)

‘आवश्यक’ इस पद के अर्थाधिकार को जानने वाले व्यक्ति का जो शरीर अचेतन, प्राण से च्युत, किसी निमित्त से प्राणच्युत किया हुआ, अनशन द्वारा त्यक्त, जीव-विप्रमुक्त है, उसे देखकर कोई कहे— आश्चर्य है ! इस पौद्गलिक शरीर से अर्हत् द्वारा उपदिष्ट भाव के अनुसार ‘आवश्यक’ इस पद का आख्यान-प्रज्ञापन किया है । जैसे—कोई दृष्टान्त है ? (आचार्य ने दृष्टांत बताया) यह मधुघट था, यह घृतघट था । वह ज्ञ-शरीर द्रव्यावश्यक है ।

### भव्यशरीर द्रव्यावश्यक

जे जीवे जोगिजम्मणनिकखंते इमेणं चेव आदत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं आवस्सए त्ति पयं सेयकाले सिक्खस्सइ, न ताव सिक्खइ । जहा को दिट्ठंतो ? अयं महुकुंभे भविस्सइ, अयं घयकुंभे भविस्सइ । से तं भवियसरीरदव्वावस्सयं । (अनु १७)

गर्भ की पूर्णविधि से निकला हुआ जो जीव इस प्राप्त पौद्गलिक शरीर से ‘आवश्यक’ इस पद को अर्हत् द्वारा उपदिष्ट भाव के अनुसार भविष्य में सीखेगा, वर्तमान में नहीं सीखता है तब तक वह भव्य-शरीर-द्रव्य-आवश्यक है । जैसे—कोई दृष्टान्त है ? (आचार्य ने कहा—इसका दृष्टांत यह है) यह मधुघट होगा, यह घृतघट होगा । वह भव्यशरीर-द्रव्य-आवश्यक है ।

### तद्व्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक

जाणगसरीर-भवियसरीर-वतिरिक्तं दव्वावस्सयं त्तिविहं पणत्तं, तं जहा—लोइयं कुप्पावयणियं लोगुत्तरियं । (अनु १८)

ज्ञशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्त द्रव्य आवश्यक के

तीन प्रकार हैं—लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तरिक ।

### लौकिक द्रव्यावश्यक

जे इमे राईसर-तलवर “सत्थवाहप्पभिइओ कल्ल पाउप्पभायाए” मुह्धोयण-दंतपखालण “पुप्फ-मल्ल-गंध-तंबोल-वत्थाइयाइं दव्वावस्सयाइं काउं तओ पच्छा रायकुलं वा देवकुलं वा” गच्छंति । से तं लोइयदव्वावस्सयं । (अनु १९)

उष्णकाल में पी फटने पर राजा, युवराज, कोतवाल, सार्थवाह आदि मुख धोते हैं, दांत पखालते हैं, फूल, माला, गन्ध, ताम्बूल, वस्त्र आदि का प्रयोग करते हैं, वे इन सभी द्रव्य सम्बन्धी आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न कर राजकुल, देवकुल आदि में जाते हैं । वह लौकिक द्रव्य आवश्यक है ।

### कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक

“जे इमे चरग-चीरिय-चम्मखंडिय-भिकखोंड” इदस्स वा खंदस्स वा “उवलेवण-सम्मज्जण” मल्लाइ-याइं दव्वावस्सयाइं करंति । से तं कुप्पावयणियं दव्वावस्सयं । (अनु २०)

जो चरक, चीरिक, चर्मखण्डिक, भिक्षाजीवी आदि विभिन्न धर्म सम्प्रदायों के अनुयायी इन्द्र, कार्तिकेय आदि के (मंदिर में) उपलेपन, संमार्जन तथा घूप-गंध-माला आदि द्रव्य-सम्बन्धी आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं, वह कुप्रावचनिक द्रव्य आवश्यक है ।

### लोकोत्तर द्रव्यावश्यक

जे इमे समणगुणमुक्कजोगी छक्कायनिरणुक्कापा ह्या इव उद्दामा गया इव निरंकुसा घट्टा मट्टा तुप्पोट्टा पंडुर-पाउरणा जिणाणं अणाणाए सच्छंदं विहरिऊणं उभओ-कालं आवस्सयस्स उवट्ठंति । से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं । (अनु २१)

जो श्रमण श्रमणगुण से शून्य प्रवृत्ति वाले, छहकाय के जीवों के प्रति अनुकम्पा रहित, घोड़े की भांति उद्दाम, हाथी की भांति निरंकुश, शरीर का घर्षण और तैल आदि से मर्दन करने वाले, चुपड़े होठ वाले, श्वेत-पीत वस्त्र पहनने वाले हैं, वे तीर्थकारों की आज्ञा से बाहर स्वच्छन्द विहार कर जो दोनों समय आवश्यक के लिए उपस्थित होते हैं, वह लोकोत्तरिक द्रव्य आवश्यक है ।

**भाव आवश्यक के निक्षेप**

“भाववस्सयं दुविहं पणत्तं, तं जहा—आगमओ य नोआगमओ य ।  
(अनु २२)

भाव आवश्यक के दो प्रकार हैं—आगमतः और नोआगमतः ।

**आगमतः भावावश्यक**

“आगमओ भावावस्सयं—जाणए उवउत्ते ।”  
(अनु २३)

जो आवश्यक को जानता है और उसमें उपयुक्त (दत्तचित्त) है, वह आगमतः भाव आवश्यक है ।

**नोआगमतः भावावश्यक**

“नो आगमओ भावावस्सयं तिविहं पणत्तं, तं जहा—लोइयं कुप्पावयणियं लोमुत्तरियं । (अनु २४)

नोआगमतः भाव आवश्यक के तीन प्रकार हैं—लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तरिक ।

**लौकिक भावावश्यक**

लोइयं भावावस्सयं—पुब्बण्हे भारहं, अवरण्हे रामायणं ।  
(अनु २५)

(वक्ता और श्रोता) पूर्वाह्ण में भारत और अपराह्ण में रामायण के पाठ में उपयुक्त होते हैं, वह लौकिक भाव आवश्यक है ।

**कुप्रावचनिक भावावश्यक**

जे इमे चरग-चीरिय-चम्मखंडिय-भिकखींड—इज्ज-जलि-होम-जप-उंदुरुक्क-नमोक्कारमाइयाइं भावावस्सयाइं करेति । से तं कुप्पावयणियं भावावस्सयं । (अनु २६)

जो चरक, चीरिक, चर्मखण्डिक, भिक्षाजीवी आदि विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी देव-पूजा, अञ्जलि, होम, जप, देव आदि के सामने बैल की तरह रंभाना और नमस्कार आदि भावयुक्त आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं, वह कुप्रावचनिक भाव आवश्यक है ।

**लोकोत्तरिक भावावश्यक**

जणं इमं समणे वा समणी वा सावए वा साविया वा तच्चित्ते तम्मणे—अण्णत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभओ कालं आवस्सयं करेति । से तं लोमुत्तरियं भावावस्सयं ।  
(अनु २७)

जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका आवश्यक

में एक चित्त, एक मन—अन्वत्र कहीं भी मन की प्रवृत्ति नहीं करते हुए, दोनों समय (प्रातः और सायं) आवश्यक करते हैं, वह लोकोत्तरिक भाव आवश्यक है ।

**आवश्यकव्यतिरिक्त—अंगवाह्य का एक भेद ।**

(द्र. अंगवाह्य)

**आवश्यकी—सामाचारी का एक भेद । उपाश्रय से बाहर जाते समय 'आवस्सइ' शब्द का उच्चारण करना ।**

(द्र. सामाचारी)

**आशातना—अवमानना । ज्ञान आदि गुणों का नाश करने वाली क्रिया ।**

**१. आशातना की परिभाषा****२. आशातना के प्रकार****३. आशातना की फलश्रुति****४. एक की आशातना—सबकी आशातना**

\* आचार्य की आशातना के परिणाम (द्र. आचार्य)

\* अनाशातना विनय (द्र. विनय)

**१. आशातना की परिभाषा**

आसायणाणामं नाणादिआयस्स सातथा ।

(आवचू २ पृ २१२)

सम्यक्त्वादिलाभं शातयति—विनाशयतीत्याशातना ।

(उशावृ प ५७८)

सम्यक्त्व, ज्ञान आदि की उपलब्धि में बाधा अथवा न्यूनता उत्पन्न करने वाली अवज्ञापूर्ण प्रवृत्ति आशातना कहलाती है ।

**२. (क) आशातना के प्रकार**

१. अरहंताणं आसायणाए २. सिद्धाणं आसायणाए ३. आवरियाणं आसायणाए ४. उवञ्ज्जायाणं आसायणाए ५. साहूणं आसायणाए ६. साहूणीणं आसायणाए ७. सावयाणं आसायणाए ८. सावियाणं आसायणाए ९. देवाणं आसायणाए १०. देवीणं आसायणाए ११. इह-लोगस्स आसायणाए १२. परलोगस्स आसायणाए १३. केवलपणत्तस्स धम्मस्स आसायणाए १४. सदेव-मण्युआसुरस्स लोगस्स आसायणाए १५. सच्चपाणभूतजीव-सत्ताणं आसायणाए १६. कालस्स आसायणाए १७. सुयस्स आसायणाए १८. सुयदेवयाए आसायणाए १९. वायणा-

यरियस्स आसायणाए २०. जं वाइद्धं २१. वच्चाभेलियं  
 २२. हीणकखरं २३. अच्चकखरं २४. पयहीणं २५. विणय-  
 हीणं २६. घोसहीणं २७. जोगहीणं २८. सुट्ठुदिण्णं  
 २९. दुट्ठुपडिच्छियं ३०. अकाले कओ सज्झाओ  
 ३१. काले न कओ सज्झाओ ३२. असज्झाइए सज्झाइयं  
 ३३. सज्झाइए ण सज्झाइयं । (आव ४।८)

आशातना के तैतिस प्रकार हैं—

१. अर्हन्तों की आशातना ।
२. सिद्धों की आशातना ।
३. आचार्यों की आशातना ।
४. उपाध्यायों की आशातना ।
५. साधुओं की आशातना ।
६. साधिव्यों की आशातना ।
७. श्रावकों की आशातना ।
८. श्राविकाओं की आशातना ।
९. देवों की आशातना ।
१०. देवियों की आशातना ।
११. इहलोक की आशातना ।
१२. परलोक की आशातना ।
१३. केवली प्रजप्त धर्म की आशातना ।
१४. देव, मनुष्य और असुर सहित लोक की आशातना ।
१५. सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की आशातना ।
१६. काल की आशातना ।
१७. श्रुत की आशातना ।
१८. श्रुत देवता की आशातना ।
१९. वाचनाचार्य की आशातना ।
२०. व्यावृद्धि—व्यत्यासित वर्ण-विन्यास करना—कहीं के अक्षरों को कहीं बोलना ।
२१. व्यत्यास्रेडित—उच्चार्यमाण पाठ में दूसरे पाठों का मिश्रण करना ।
२२. हीनाक्षर—अक्षरों को न्यून कर उच्चारण करना ।
२३. अत्यक्षर—अक्षरों को अधिक कर उच्चारण करना ।
२४. पदहीन—पदों को कम कर उच्चारण करना ।
२५. विनयहीन—विराम-रहित उच्चारण करना ।
२६. घोषहीन—उदात्त आदि घोषरहित उच्चारण करना ।
२७. योगहीन—सम्बन्ध-रहित उच्चारण करना ।
२८. सुष्ठुदत्त—योग्यता से अधिक ज्ञान देना ।

२९. दुष्ठु-प्रतीच्छित—ज्ञान को सम्यग् भाव से ग्रहण न करना ।
३०. अकाल में स्वाध्याय करना ।
३१. काल में स्वाध्याय न करना ।
३२. अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करना ।
३३. स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करना ।

### (ख) आशातना के प्रकार—

१. सेहे रातिणियस्स पुरतो गंता भवति, आसातणा सेहस्स ।
२. सेहे रातिणियस्स सपक्खं गंता भवति, आसातणा सेहस्स ।
३. सेहे रातिणियस्स आसण्णं गंता भवति, आसातणा सेहस्स ।
४. सेहे रातिणियस्स पुरतो चिट्ठित्ता भवति, आसातणा ।
५. सेहे रातिणियस्स सपक्खं चिट्ठित्ता भवइ, आसातणा ।
६. सेहे रातिणियस्स आसण्णं चिट्ठित्ता भवइ, आसातणा ।
७. सेहे रातिणियस्स पुरतो निसीइत्ता भवति, आसातणा ।
८. सेहे रातिणियस्स सपक्खं निसीइत्ता भवति, आसातणा ।
९. सेहे रातिणियस्स आसण्णं निसीइत्ता भवति, आसातणा ।
१०. सेहे रातिणिण्णं सद्धिं बहिया वियारभूमिं निकखंते समाणे तत्थ पुब्बामेव सेहतराए आयमति पच्छा रातिणिण्णं, आसायणा मेहस्स ।
११. सेहे रातिणिण्णं सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निकखंते समाणे तत्थ पुब्बामेव सेहतराए आलोएति पच्छा रातिणिण्णं, आसायणा सेहस्स ।
१२. केथी रातिणियस्स पुब्बसंलत्तए सिया, तं पुब्बामेव सेहतराए आलवति पच्छा राइणिण्णं, आसातणा सेहस्स ।
१३. सेहे रातिणियस्स रातो वा दिया वा बाहरमाणस्स अज्जो ! के सुत्तो के जागरे ? तत्थ सेहे जागरमाणे रातिणियस्स अपडिसुणेत्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।

१४. सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेत्ता तं पुव्वामेव सेहतारागस्स आलोएति पच्छा रातिणियस्स, आसातणा सेहस्स ।
१५. सेहे असणं वा... पडिगाहेत्ता तं पुव्वामेव सेहत-  
रागस्स पडिदंसेति, आसातणा सेहस्स ।
१६. सेहे असणं वा... पडिगाहेत्ता पुव्वामेव सेहतारागं उवणिमंतेति पच्छा रातिणियं, आसातणा सेहस्स ।
१७. सेहे रातिणिण्ण सद्धि असणं... पडिगाहेत्ता तं रातिणियं अणापुच्छित्ता जस्स इच्छति तस्स तस्स खद्धं खद्धं दलयति, आसातणा सेहस्स ।
१८. सेहे रातिणिण्ण सद्धि असणं वा... आहारेमाणे तत्थ सेहे खद्धं खद्धं आहारेत्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।
१९. सेहे रातिणियस्स बाहरमाणस्स अपडिसुणेत्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।
२०. सेहे रातिणियस्स बाहरमाणस्स तत्थ गते चेव पडि-  
सुणेत्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।
२१. सेहे रातिणियं किति वत्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।
२२. सेहे रातिणियं तुमंति वत्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।
२३. सेहे रातिणियं खद्धं खद्धं वदति, आसातणा सेहस्स ।
२४. सेहे रातिणियं तज्जाएणं तज्जातं पडिहणेत्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।
२५. कीस अज्जो ! गिलाणस्स न करेसि ? भणइ—तुमं कीस न करेसि ?...
२६. सेहे रातिणियस्स कहं कहेमाणस्स इति एतंति वत्ता भवति, आसातणा ।
२७. सेहे रातिणियस्स कहं कहेमाणस्स णो सुमणसे भवति, आसातणा सेहस्स ।
२८. सेहे रातिणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसं भेत्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।
२९. सेहे रातिणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं अच्छित्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।
३०. सेहे रातिणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे परिसाए अणुट्ठिताए दोव्वंपि तच्चंपि तमेव कहं कहेत्ता भवति, आसातणा सेहस्स ।
३१. सेहे रातिणियस्स सेज्जासंधारणं पादेन संघट्टेत्ता हत्थेण अणणुण्वेत्ता गच्छति, आसातणा सेहस्स ।
३२. सेहे रातिणियस्स सेज्जासंधारणं चिट्ठित्ता वा णिसीत्तित्ता वा तुयट्ठित्ता वा भवति, आसातणा सेहस्स ।
३३. सेहे रातिणियस्स उच्चासणे वा समासणे वा चिट्ठित्ता वा निसीत्तित्ता वा तुयट्ठित्ता वा भवति, आसातणा सेहस्स । (आवचू २ पृ २१२-२१४)
- दैनिक व्यवहारों के आधार पर शैक्षकृत आशातना के तेतोस विभाग किए गए हैं—
१. छोटे साधु का बड़े साधु के आगे चलना ।
  २. छोटे साधु का बड़े साधु की समश्रेणि में चलना ।
  ३. छोटे साधु का बड़े साधु से सटकर चलना ।
  ४. छोटे साधु का बड़े साधु के आगे खड़ा रहना ।
  ५. छोटे साधु का बड़े साधु की समश्रेणि में खड़ा रहना ।
  ६. छोटे साधु का बड़े साधु से सटकर खड़ा रहना ।
  ७. छोटे साधु का बड़े साधु के आगे बैठना ।
  ८. छोटे साधु का बड़े साधु की समश्रेणि में बैठना ।
  ९. छोटे साधु का बड़े साधु से सटकर बैठना ।
  १०. छोटे साधु का बड़े साधु से पहले (एक जलपात्र हो, उस स्थिति में) आचमन करना—शुचि लेना ।
  ११. छोटे साधु द्वारा स्थान में आकर बड़े साधु से पहले गमनागमन की आलोचना करना ।
  १२. जिस व्यक्ति से बड़े साधु को वार्तालाप करना है, उसके साथ छोटे साधु का पहले ही वार्तालाप करना ।
  १३. बड़े साधु द्वारा यह पूछने पर कि कौन जागता है, कौन सो रहा है, छोटे साधु का जागते हुए भी उत्तर नहीं देना ।
  १४. गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु के पास आलोचना करना—कहाँ से, क्या, कैसे प्राप्त हुआ?—यह बतलाना । फिर बड़े साधु के पास आलोचना करना ।
  १५. गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु को दिखाना, फिर बड़े साधु को ।
  १६. गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु को निमंत्रित करना, फिर बड़े साधु को ।
  १७. गृहस्थ के घर से भिक्षा ला बड़े साधु को पूछे बिना अपने प्रिय-प्रिय साधुओं को प्रचुर-प्रचुर दे देना ।
  १८. गृहस्थ के घर से भिक्षा ला बड़े साधु के साथ



भोजन करते हुए सरस आहार खाने की उतावल करना ।

१९. बड़े साधु द्वारा आमंत्रित होने पर सुना-अनसुना करना ।
२०. बड़े साधु द्वारा आमंत्रित होने पर अपने स्थान पर बैठे हुए उत्तर देना ।
२१. बड़े साधु को अनादर-भाव से 'क्या कह रहे हो'— इस प्रकार कहना ।
२२. बड़े साधु को तू कहना ।
२३. बड़े साधु के समक्ष उद्धततापूर्वक बोलना ।
२४. बड़े साधु की, उसी का कोई शब्द पकड़ अवज्ञा करना ।
२५. आर्य ! ग्लान की सेवा क्यों नहीं करते हो ? रात्रिक मुनि द्वारा ऐसा कहे जाने पर प्रत्युत्तर में कहना—तुम क्यों नहीं करते ?
२६. बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय 'यह ऐसे नहीं किन्तु ऐसे है'—इस प्रकार कहना ।
२७. बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय अन्य-मनस्क होना ।
२८. बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय बीच में ही परिपद को भंग करना ।
२९. बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय बीच में ही कथा का विच्छेद करना—विघ्न उपस्थित करना ।
३०. बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय उसी विषय में अपनी व्याख्या देने का बार-बार प्रयत्न करना ।
३१. बड़े साधु के उपकरणों के पैर लग जाने पर विनम्रतापूर्वक क्षमायाचना न करना ।
३२. बड़े साधु के बिछौने पर खड़े रहना, बैठना या सोना ।
३३. बड़े साधु से ऊंचे या बराबर के आसन पर खड़े रहना, बैठना या सोना ।

### ३. आशातना की फलश्रुति

तित्थयर पवयण सुयं आयरियं गणहर महिड्डीयं ।  
आसायंतो बहुसो अणंतसंसारिओ होइ ॥

(विभामवृ २ पृ १७२)

तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, प्रवचन और जिनशासन की आशातना करने वाला जीव अनंत काल तक संसार

में परिभ्रमण करता है ।

### ४. एक की आशातना—सबकी आशातना

भरहेरवयविदेहे पन्नरसवि कम्मभूमिगा साहू ।  
एक्कंमि हीलियंमी सब्बे ते हीलिया हुंति ॥  
भरहेरवयविदेहे पन्नरसवि कम्मभूमिगा साहू ।  
एक्कंमि पूइयंमी सब्बे ते पूइया हुंति ॥  
नाणं व दंसणं वा तवो य तह संजमी य साहुगुणा ।  
एक्के सब्बेसुवि हीलिएसु ते हीलिया हुंति ॥  
एमेव पूइयंमिवि एक्कंमिवि पूइया जइगुणा उ ।\*\*\*

(ओनि ५२६, ५२७, ५२९, ५३०)

ज्ञान, दर्शन, तप और संयम—ये साधु के गुण हैं । ये गुण जैसे एक साधु में होते हैं, वैसे ही सब साधुओं में होते हैं ।

एक गुण की अवमानना सभी गुणों की अवमानना है । एक गुण की पूजा सभी गुणों की पूजा है । एक साधु की अवमानना भरत, ऐरवत और विदेह क्षेत्रवर्ती सभी साधुओं की अवमानना है । एक साधु की पूजा सभी साधुओं की पूजा है ।

### आश्रव—कर्म-ग्रहण में हेतुभूत आत्मपरिणाम ।

१. आश्रव की परिभाषा
२. आश्रव के प्रकार
  - \* आश्रव से कर्मबंध (द्र. कर्म)
  - \* प्रत्याख्यान से आश्रव-निरोध (द्र. प्रत्याख्यान)
३. आश्रव-निरोध : संवर
४. आश्रव-संवर-हेतु
५. संवर के प्रकार
६. संवर के परिणाम
७. अनाश्रव कौन ?
८. आश्रव : भवभ्रमण का हेतु
  - \* गुप्ति का परिणाम : संवर (द्र. गुप्ति)
  - \* इन्द्रियसंवर (इन्द्रियनिग्रह) के परिणाम (द्र. इन्द्रिय)
  - \* आश्रव-संवर-भादना (द्र. अनुप्रेक्षा)

### १. आश्रव की परिभाषा

आश्रवति—आगच्छत्यनेन  
पादात्तहेतुर्हिसादिः ।

कर्मत्याश्रवः—कर्मो-  
(उशावृ प ५६२)

जिससे कर्मों का आगमन होता है, वह आश्रव है। हिंसा आदि आश्रव कर्मों के उपादान हेतु हैं।

जीवस्स कम्मबंधत्ताए परिणममाणेण योगलाण आगमो आसवो तस्स दाराणि आसवदाराणिति। आसवदारेहि पिहितेहि जा अज्झवसायतथा सा वोच्छिण्णा भवति। तण्हाए वोच्छिण्णाए प्रथमो भवति। (आवजू २ पृ ३१४)

आत्मा में कर्मबंध के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों के आगमन के द्वारों को आश्रव कहा जाता है। आश्रवद्वारों का निरोध करने से तृष्णा का अध्यवसाय क्षीण होता है, जिससे प्रथम भाव विकसित होता है।

## २. आश्रव के प्रकार

पाणातिवातादीणि पंच आसवदाराणि।

(दअजू पृ ६३)

आश्रवद्वार पांच हैं—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह। अथवा

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।

(विभामवृ पृ ६८५)

आश्रव पांच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग। आश्रव बंध के हेतु हैं।

## ३. आश्रवनिरोध : संवर

संवरों नाम पाणवहादीण आसवाणं निरोहो भण्णइ। (दजिजू पृ १६२)

संवरः गुप्त्यादिभिराश्रवनिरोधः।

(उशावृ प ५६२)

प्राणातिपात आदि आश्रवों का निरोध संवर है।

गुप्ति आदि की साधना के द्वारा आश्रवों का निरोध करना 'संवर' है।

## ४. आश्रव-संवर-हेतु

जे जत्तिआ अ हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मुखे।....

इरिआवहमाईआ जे चेव हवति कम्मबंधाय।

अजयाणं ते चेव उ, जयाण निव्वाणगमणाय ॥

(ओनि ५३, ५४)

जितने संसार के हेतु हैं—आश्रव हैं, उतने ही मोक्ष के हेतु हैं—संवर हैं। अथतना से की गई गमन-आगमन की क्रिया बन्ध का कारण है। वही क्रिया यतना से करने पर मोक्ष का कारण बन जाती है।

## ५. संवर के प्रकार

पञ्चाश्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः।

दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥

(नन्दीमवृ प ४३)

संवर के सतरह प्रकार हैं—प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण, परिग्रहविरमण, स्पर्शनेन्द्रियनिग्रह, रसनेन्द्रियनिग्रह, घ्राणेन्द्रियनिग्रह, चक्षुरिन्द्रियनिग्रह, श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह, क्रोधविवेक, मानविवेक, मायाविवेक, लोभविवेक, मनोदण्डविरति, वचनदण्डविरति, कायदण्डविरति।

नियमो द्विधा—इन्द्रियनियमो नोइन्द्रियनियमश्च। नोइन्द्रियनियमः—क्रोधादिकः आदिग्रहणान्मानमाया-लोभां गृह्यन्ते, एतेषां नियमो निरोधः।

(ओनि प ११३, ११४)

संवर (नियम) के दो प्रकार हैं—

१. इन्द्रियनियमन—पांच इन्द्रियों का निरोध।

२. नोइन्द्रियनियमन—क्रोध, मान, माया और लोभ का निरोध।

## ६. संवर (विनिवर्तना) के परिणाम

विणियट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भूट्ठेइ। पुव्ववद्धान य निज्जरणाए तं नियत्तेइ तओ पच्छा चाउरंत संसारकतारं वीइवयइ। (उ २९:३३)

विनिवर्तना (संवर) से जीव नए सिरे से पापकर्मों को नहीं करने के लिए तत्पर रहता है और पूर्वअजित पापकर्मों का क्षय कर देता है—इस प्रकार वह पापकर्म का विनाश कर देता है। उसके पश्चात् चार गति रूप चार अंतों वाली संसार अटवी को पार कर जाता है।

## ७. अनाश्रव कौन ?

पाणवहमुसावाया, अदत्तमेहुणपरिगहा विरओ।

राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइदिओ।

अमारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥

(उ ३०:२, ३)

पाणवध, मृषावाद, अदत्त-ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से विरत जीव अनाश्रव होता है।

पांच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, अकषाय, जितेन्द्रिय, ऋद्धि-रस-सात—इस गौरव-त्रिक से रहित और निःश्लय जीव अनाश्रव होता है।

### ८. आश्रय : भवध्रमण का हेतु

...अज्मत्थहेउं निययस्स बन्धो ।

संसारहेउं च वयंति बन्धं ॥ (उ १४।१९)

आत्मानं प्रति यद् वर्तते तदध्यात्मं । तच्च राग-  
द्वेषमोहमिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः ।

(उचू पृ २२६)

राग-द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय  
और योग -- ये आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बंधन  
के हेतु हैं और बन्धन ही संसार का हेतु है ।

आश्रय भावना—कर्मों के आकर्षण के हेतुभत  
साधनों का अनुचिन्तन करना ।  
(द्र. अनुप्रेक्षा)

आहार—भोजन । भूख-प्यास को शांत करने  
वाले, शरीर को पोषण देने वाले पदार्थों  
का ग्रहण । यहां मुनि से संबद्ध आहार के  
विधि-निषेध का आकलन है ।

#### १. आहार के प्रकार

#### २. आहार : सात आलोक

#### ३. आहार से पूर्व आलोचना

- ० कायोत्सर्ग
- ० स्वाध्याय
- ० साधर्मिकों को निमन्त्रण
- ० आहार का स्थान

#### ४. आहार करने की विधि

#### ५. आहार और भावना

#### ६. आहार-विवेक

#### ७. आहार-परिमाण

#### ८. अपेय वर्जन

#### ९. परिष्ठापनीय आहार और परिष्ठापन विधि

#### १०. सात्त्विक आहार का फल

#### ११. आहार करने के हेतु

#### १२. आहार न करने के हेतु

#### १३. आहार : सांडलिक दोष

#### १४. संभोजी और असंभोजी मुनि

#### १५. मंडली आहार का प्रयोजन

#### १६. सम्भोज-प्रत्याख्यान के परिणाम

#### १७. मुनि का आहार

#### १८. आहारसुस्थ व्यक्तिकी वृत्ति

- \* अतिमात्र और प्रणीत आहार : ब्रह्मचर्य का विधन  
(द्र. ब्रह्मचर्य)
- \* आहारग्रहण-विधि (द्र. गोचरचर्य)
- \* आहार-प्राप्ति के दोष (द्र. एषणा)
- \* आचार्य के प्रायोग्य आहार (द्र. आचार्य)
- \* अल्प आहार (द्र. ऊनोदरी)

### १. आहार के प्रकार

असणं पाणमं चैव, खाइमं साइमं तथा ।

एसो आहारविही, चउव्विहो होइ नायव्वो ॥

आसुं खुहं समेई, असणं पाणाणुवग्गहे पाणं ।

खे माइ खाइमं ति य, साएइ गुणे तओ साई ॥

(आवनि १५८७, १५८८)

असिज्जइ खुहितेहिं जं तमसणं जहा कूरो एवमा-  
दीति । पिज्जंतीति पाणं, जहा मुट्ठियापाणमं एवमाइ ।  
खज्जतीति खादिमं, जहा मोदओ एवमादि । सादिज्जति  
सादिमं, जहा सुंठिगुलादी । (दजिचू पृ १५२)

आहार के चार प्रकार हैं—

१. अशन—जो क्षुधा का शीघ्र शमन करता है, भूखे  
व्यक्ति द्वारा जिसे खाया जाता है, उसे अशन कहते  
हैं । जैसे ओदन आदि ।
२. पान—जो प्राणों का उपग्रह करता है, जिसे पीया  
जाता है, उसे पान कहते हैं । जैसे—द्राक्षा का  
पानक आदि ।
३. खाद्य—जो मुखविवर में समा जाता है, जिसे  
खाया जाता है, उसे खादिम या खाद्य कहते हैं ।  
जैसे—मोदक, खजूर आदि ।
४. स्वाद्य—जिसका स्वाद लिया जाये, जो मुखवास  
के रूप में काम आए, उसे स्वादिम अथवा स्वाद्य  
कहते हैं । जैसे—ताम्बूल, सीठ आदि ।

### २. आहार : सात आलोक

ठाणदिसिपगासणया भायणपक्खेवणे य गुहभावे ।

सत्तविहो आलोको सयावि जयणा सुविहियाणं ॥

(ओनि ५५०)

आहार करते समय सात तथ्य विशेष ध्यान देने

योग्य हैं। वे सात 'आलोक' कहलाते हैं—

१. स्थान आलोक—जहाँ आवागमन न हो।
२. दिशा आलोक—आहार करते समय मुनि गुरु के आगे-पीछे न बैठे, किन्तु गुरु की ईशान अथवा आग्नेय दिशा में बैठे।
३. प्रकाश आलोक—आहार का स्थान प्रकाशयुक्त हो।
४. भाजन आलोक—पात्र संकीर्ण मुख वाला न हो।
५. प्रक्षेप आलोक—कवल प्रमाणोपेत हो।
६. गुरु आलोक—आहार आदि गुरु को दिखाकर उनके दृष्टिपथ में बैठकर खाये।
७. भाव आलोक—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की वृद्धि और उनकी अव्यवच्छिन्ति के लिए आहार करे।

### ३. आहार से पूर्व आलोचना

उज्जुप्पन्नो अणुग्विग्गो, अब्बक्खित्तेण चेषसा ।  
आलोए गुह्सागासे, जं जहा गहियं भवे ॥

(द ५।१।९०)

ऋजुप्रज्ञ, अनुद्विभन संयति व्याक्षेपरहित चित्त से गुरु के समीप आलोचना करे। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो, उसी प्रकार से गुरु को कहे।

#### कायोत्सर्ग

ताहे य दुरालोइय भत्तपाण एसणमणेषणाए उ ।  
अट्ठस्सासे अहवा अणुग्गहादीउ भाएज्जा ॥

(ओभा २७४)

भिक्षाचर्या से लौटकर गुरु के पास यदि भलीभांति आलोचना न की हो, भक्तपान पूरा न दिखाया हो, कदाचित् सूक्ष्म एषणा दोष लगा हो, अथवा अनजान में एषणा न की हो तो इनकी विशुद्धि के लिए श्वासोच्छ्वास के साथ आठ बार नमस्कार मंत्र का कायोत्सर्ग करे अथवा अनुग्रह का चिन्तन करे। जैसे—

अहो जिणेहि असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया ।  
मोक्खसाहूणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥

(द ५।१।९२)

अहो! अहँतों ने साधुओं के मोक्षसाधना के हेतु-भूत शरीर को धारण करने के लिए निरवद्य (निर्दोष) आहारवृत्ति का प्रतिपादन किया है।

#### स्वाध्याय

विणएण पटुवित्ता सज्झायं कुणइ तो मुहुत्तायं ।  
पुव्वभणिया य दोसा परिस्समाई जडा एवं ॥

(ओनि ५२१)

कायोत्सर्ग के पश्चात् स्वाध्याय को प्रस्थापित कर मुहूर्त्त भर के लिए स्वाध्याय करे (जघन्यतः तीन गाथाओं का और उत्कृष्टतः सूक्ष्म-आनप्राण-लब्धि सम्पन्न मुनि अन्तर्मुहूर्त्त में चौदह पूर्वों का परावर्तन कर लेता है)। इस कालक्षेप से श्रमजन्य विषमता, घातुक्षोभ रो उत्पन्न दोष स्वतः शान्त हो जाते हैं।

नमोक्कारेण पारेत्ता, करेत्ता जिणसंथवं ।  
सज्झायं पटुवेत्ताणं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥

(द ५।१।९३)

इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार मंत्र के द्वारा पूर्ण कर जिनसंस्तव (तीर्थस्मरण-स्तुति) करे, फिर स्वाध्याय की प्रस्थापना (प्रारम्भ) करे। क्षण-भर विश्राम ले।

वीसमंतो इमं चित्ते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।  
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हांज्जामि तारिओ ॥  
(द ५।१।९४)

विश्राम करता हुआ मोक्षार्थी मुनि इस हितकर अर्थ का चिन्तन करे—यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करें तो मैं निहाल हो जाऊँ—मानूँ कि उन्होंने मुझे भवसागर से तार दिया।

#### साधर्मिकों को निमन्त्रण

इयरोवि गुरुसगासं गंतूण भणइ संदिसह भंते ! ।  
पाहुणगखवणभत्तरंतवालवुब्बाण सेहाणं ॥  
दिण्णे गुरुहिं तेसिं सेसं भुजेज्ज गुरुअणुन्नायं ।  
गुरुणा संदिट्ठो वा दाउं सेसं तओ भुजे ॥

(ओनि ५२३, ५२४)

भिक्षा लाने के बाद आहार करने से पूर्व मुनि गुरु को निवेदन करे—'आर्यवर! मेरे द्वारा आनीन यह भोजन आप अतिथि, क्षपक (तपस्वी), रोगी, बाल, शैक्ष एवं वृद्ध मुनियों को प्रदान करें।' इस निवेदन पर जब गुरु दूसरों को भोजन दे दे, तब गुरु की आज्ञा से शेष बचे भोजन को स्वयं खाए। अथवा गुरु के कहने पर वह मुनि स्वयं अतिथि आदि साधुओं को भोजन दे तो शेष बचे भोजन से अपना निर्वाह करे।

सहवां तो चित्रतेणं, निमतेज्ज जहक्कमं ।  
जड तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहि सद्धि तु भुंजए ॥  
अह कोइ न इच्छेज्जा, तओ भुंजेज्ज एकको ।  
आलोए भायणे साहू, जयं अपरिसाडयं ॥  
(द ५।१।९५,९६)

आहार के लिए मुनि प्रेमपूर्वक साधुओं को यथाक्रम निमन्त्रण दे। उन निमन्त्रित साधुओं में से यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उनके साथ भोजन करे।

यदि कोई साधु न चाहे तो अकेला ही खूले पात्र में यतनापूर्वक नीचे नहीं डालता हुआ भोजन करे।

इच्छिज्ज न इच्छिज्ज व तहविय पयओ निमतए साहू ।  
परिणामविसुद्धीए अ निज्जरा होअगहिएवि ॥  
(ओनि ५२५)

मुनि साधुओं को सद्भाव से आहार के लिए निमन्त्रित करे। कोई साधु इच्छापूर्वक निमन्त्रण स्वीकार करे या न करे, परिणामविशुद्धि के कारण निमन्त्रणकर्ता के तो निर्जरा होती ही है।

#### आहार का स्थान

अणुध्वेत्तु मेहावी, पडिच्छन्नमि संबुडे ।  
हत्थयं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजेज्ज संजए ॥  
(द ५।१।८३)

गोचराय के लिए गया हुआ मेधावी मुनि स्वामी से अनुज्ञा लेकर, छाये हुए एवं संवृत स्थल में बैठे, हस्तक (वस्त्र-खंड) से शरीर का प्रमार्जन कर वहाँ आहार करे।

अप्पपाणेऽपवीर्यामि, पडिच्छन्नमि संबुडे ।  
समयं संजए भुंजे, जयं अपरिसाडयं ॥  
(उ १।३५)

संयमी मुनि प्राणी और बीज रहित, ऊपर से ढके हुए और पार्श्व में भित्ति आदि से संवृत आश्रय में अपने सहधर्मी मुनियों के साथ, भूमि पर न गिराता हुआ, यतनापूर्वक आहार करे।

#### ४. आहार करने की विधि

कागसियालक्खइयं दविअरसं सब्बओ परामट्ठं ।  
एसो उ भवे अविही, जहगहिअं भायणम्मि विही ॥  
(ओनि ५९३)

उच्चिणइ व विट्ठाओ कागो अहवावि विक्खिरइ स्वयं ।  
विप्पेक्खइ य दिसाओ सियालो अन्नोत्रहिं मिण्हे ॥

सुरहीदोच्चंगट्ठा छोद्धण ववं तु पियइ दवियरसं ।  
हेट्ठोकरि आमट्ठं इय एसो भुंजणं अविही ॥  
जह गहिअं तह नीयं महणविही भोयणं विही इणमो ।  
उक्कोसमणुक्कोसं समकयरसं तु भुंजेज्जा ॥  
(ओभा २९६-२९८)

काक और शृगाल की तरह खाना अविधिभुक्त है। जैसे -- काक गोबर आदि में छिपे अनाज के दानों को खाता है, शेष को इधर-उधर बिखेर देता है तथा खाते समय इधर-उधर देखता रहता है। शृगाल अपने भाज्य के भिन्न-भिन्न भागों को खाता है, क्रमशः नहीं खाता। वैसे ही मनोज्ञ-मनोज्ञ आहार करना, परिष्ठाटन करते हुए खाना, पात्र में रखे आहार को उथल-पुथल कर, इधर-उधर भाँकते हुए खाना अविधि-भुक्त है।

सुरभित तीमन, ओदन आदि से मिला हुआ हो तो ओदन को छोड़कर सुरभित तीमन को पीना द्रवित रस है। यह विधिसम्मत नहीं है।

जो आहार गृहस्थ से जिस रूप में ग्रहण किया, उसे उसी रूप में लाना तथा उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट द्रव्यों को समीकृत कर खाना विधिसम्मत है।

कडपयरच्छेएणं भोत्तव्वं अहव सीहखइएणं ।.....  
(ओभा २८८)

खण्ड-खण्ड करके खाना, प्रतररूप में खाना, सिंह की तरह अपने भोज्य के भिन्न-भिन्न भागों को क्रमशः खाना विधिसम्मत है।

#### सर्प का दृष्टांत

जहा सप्पो सरत्ति बिलं पविसति तहा साहुणा  
अरत्तदुट्ठेणं हणुयाओ हणुयं असं कामेतेण भोत्तव्वं ।  
(दअचू पृ ८)

जैसे सर्प बिल में सीधा प्रविष्ट होता है, वैसे ही रागद्वेषमुक्त मुनि आहार को सीधा निगल जाए, स्वाद के लिए एक जबड़े से दूसरे जबड़े में न ले जाए।

एसो आहारविही जह भणियो सब्बभावदंसीहि ।  
धम्मावस्सगजोगा जेण न हायति तं कुज्जा ॥  
(पिनि ६७०)

यह आहार-विधि अर्हंतों द्वारा प्रतिपादित है। इसके पालन से श्रुत-अध्ययन, चारित्र्य और आवश्यक योगों की हानि नहीं होती—प्रतिक्रमण आदि प्रवृत्तियाँ निर्बाध चलती हैं।

### बचे हुए आहार की व्यवस्था

होज्ज सिआ उद्धरियं तत्थ य आर्यत्रिलाइणो हुज्जा ।

पडिदसि अ सदिट्ठो वाहरइ तओ चउत्थाई ॥

मोहविमिच्छविगिट्ठं गिलाण अत्तट्ठियं च मोत्तूणं ।....

(ओनि ५८७, ५८८)

आहार शेष बच जाने पर मुनि आचार्य से अनुमति प्राप्त कर आर्यबिल, लंघन आदि करने वाले मुनियों में उस आहार का वितरण कर दे। मोह-विकृष्टता के लिए उपवास करने वालों, विकृष्ट तप (तेला आदि) करने वालों तथा ग्लान और आत्मलब्धिक मुनि को बचा हुआ आहार न दे।

### ५. आहार और भावना

अह होइ भावधासेसणा उ अप्पाणमप्पणा चेव ।

साहू भुंजिउकामो अणुसासइ निज्जरट्टाए ॥

बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव ! न हु छलियो ।

एण्ह जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहि ॥

(ओनि ५४४, ५४५)

मैं मनोज्ञ-अमनोज्ञ आहार में राग-द्वेष करता हुआ आधाकर्म आदि एषणा के बयालीस दोषों के गहन वन में भटक न जाऊँ—इस भावना से आहारार्थी मुनि अपने आपको भावित और अनुशासित करता है—यह भाव ग्रासेषणा है।

अंतंतं भोक्खामित्ति बेसए भुंजए य तह चेव ।

एस संसारनिविट्ठो ससारओ उट्ठिओ साहू ॥

एमेव य भंगतिअं जोएयव्वं तु सारनाणाई ।

तेण सहियो ससारो समुद्वणिणए दिट्ठंतो ॥

(ओनि ५७१, ५७२)

‘मैं अन्तप्रान्त/रूखा-सूखा आहार कर्हंगा’—इस परिणाम से आहार करने वाला मुनि ‘ससार उपविष्ट’ और ‘ससार उत्थित’ अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य से सम्पन्न होता है। इसके चार विकल्प हैं—

ससार उपविष्ट, ससार उत्थित

ससार उपविष्ट, असार उत्थित

असार उपविष्ट, ससार उत्थित

असार उपविष्ट, असार उत्थित

एक सामुद्रिक व्यापारी अपने जहाज को माल से भर कर ले गया और लौटते समय हिरण्य, सुवर्ण का अर्जन कर लौटा—ससारो गओ, ससारो आगओ ।

एक वणिक् जहाज को भाण्ड से भरकर ले गया, पर खाली हाथ लौटा—ससारो गओ, असारो आगओ ।

एक वणिक् खाली जहाज लेकर गया पर लौटते समय जहाज को भरकर लौटा—ससारो गओ, ससारो आगओ ।

चौथा वणिक् खाली गया और खाली लौटा—असारो गओ, असारो आगओ ।

### ६. आहार-विवेक

निद्धमहुराणि पुव्वं पित्ताइपसमणट्टया भुंजे ।

बुद्धिबलवड्ढणट्टा....॥ (ओभा २८४)

आहार करते समय सबसे पहले स्निग्ध और मधुर पदार्थ खाने चाहिए। इनसे पित्त आदि का शमन होता है, शक्ति और बुद्धि का संवर्धन होता है।

‘घृतेन वर्धते मेधा’—घृत से मेधा बढ़ती है।

तेल्लदहिसमाओगा अहियो खीरदहिकंजियाणं च ।

पत्थं पुण रोगहरं न य हेऊ होइ रोगस्स ॥

(पिनि ६४९)

विरोधी अथवा बेमेल द्रव्यों को मिलाने से आहार अहितकर बन जाता है। दही और तैल का तथा दूध, दही और कांजी का मिश्रण अहितकर है। इससे अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अविच्छेद द्रव्यों का मिश्रण पथ्य आहार की कोटि में आता है। पथ्य आहार के सेवन से पुराना रोग नष्ट हो जाता है, नया रोग उत्पन्न नहीं होता।

असुरसुरं अचवचवं अदुयमविलंबिअं अपरिसाडि ।

मणवयणकायमुत्तो, भुंजइ अह पक्खिवणसोहि ॥

(ओभा २८९)

मुनि आहार करते समय ‘सुर-सुर’ या ‘चवचव’ शब्द न करे। बहुत जल्दी-जल्दी या बहुत धीरे-धीरे न खावे। नीचे गिराता हुआ न खावे। ‘यह आहार मनोज्ञ है या अमनोज्ञ’—इस विषय में न सोचे, मन-वचन-काया का संयम करे।

पडिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाए संजए ।

दुग्गंधं वा सुग्गंधं वा, सब्बं भुंजे न छहुए ॥

(द ५।२।१)

संयमी मुनि लेप लगा रहे तब तक पात्र को पोंछ-

कर सब खा ले, शेष न छोड़े, भले फिर वह दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त ।

### ७. आहार-परिमाण

बत्तीस किर कवला आहारो कुच्छिद्वपूरओ भणियो ।  
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥  
(पिनि ६४२)

पुरुष का पूरा आहार बत्तीस कवलप्रमाण तथा स्त्री का अट्ठाईस कवलप्रमाण माना गया है ।

कवलाण थ परिमाणं, कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्तं तु ।  
जो वा अविगियवयणो, वयणंमि छुहिज्ज वीसत्थो ॥  
(उणावृ प ६०४)

एक कवल का परिमाण मुर्गी के अण्डे जितना बतलाया गया है अथवा एक बार में जितना आहार मुख में डालने से मुख विकृत न हो, वह प्रमाणोपेत कवल है ।

अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे ।  
वाऊपविधारणट्ठा छड्भायं ऊणयं कुज्जा ॥  
(पिनि ६५०)

कल्पना से उदर के छह भाग कर तीन भाग आहार से तथा दो भाग पानी से पूरित करे । छठा भाग वायु-संचरण के लिए खाली छोड़े ।

सीए दवस्स एगो भत्ते चत्तारि अह्व दो पाणे ।  
उसिणे दवस्स दोन्नि उ तिस्सि व एसा उ भत्तस्स ॥  
(पिनि ६५२)

अत्यन्त शीतकाल में पानी के लिए एक भाग तथा आहार के लिए चार भाग कल्पित हैं । मध्यम शीतकाल और उष्णकाल में दो भाग पानी और तीन भाग आहार के लिए तथा अत्यन्त उष्णकाल में तीन भाग पानी और दो भाग आहार के लिए कल्पित हैं । छठा भाग सर्वत्र वायु-संचरण के लिए है ।

### ८. अपेय-वर्जन

सुरं वा मेरुगं वा वि, अन्नं वा मज्जगं रसं ।  
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥

(द ५।२।३६)

अपने संयम का संरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्मसाक्षी से न पीए ।

वड्ढई सोडिया तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो ।  
अयसो य अनिब्बाणं, सययं च असाहुया ॥

(द ५।२।३८)

मादक रस पीने वाले भिक्षु के उन्मत्तता, माया-मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असाधुता—ये दोष बढ़ते हैं ।

### ९. परिष्ठापनीय आहार और परिष्ठापन विधि

सा पुण जायमजाया जाया मूलोत्तरेहि उ असुद्धा ।  
लोभातिरेगगहिया अभिओगकया विसकया वा ॥  
आयरिए य गिलाणे पाहुणए दुल्लभे सहसदाणे ।  
एवं होइ अजाया ॥  
(ओनि ५९४, ६०७)

परिष्ठापनीय आहार के दो प्रकार हैं —

१. जाता (अशुद्ध) भिक्षा — प्राणातिपात आदि मूल दोषों से, क्रीत आदि उत्तर दोषों से दूषित तथा लोभ से दूषित और वशीकरण चूर्ण मिश्रित, मंत्र से अभिमंत्रित तथा विषमिश्रित आहार परिष्ठापनीय है ।

२. अजाता (शुद्ध) भिक्षा — आचार्य, ग्लान तथा अतिथि — इनके लिए लाया गया आहार यदि अतिरिक्त हो, कोई खाने वाला न हो, तो वह परिष्ठापनीय होता है । द्रव्य की दुर्लभता से अत्यधिक लाया गया हो या दान की प्रचुरता से पदार्थ अधिक आ गया हो तो वह परिष्ठापनीय होता है ।

एगंतमणावाए अच्चित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे ।

आलोए एगपुंजं तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥

एवं विज्जाजोए विससंजुत्तस्स वावि गहियस्स ।

पाणच्चएवि नियमुज्झणा उ दोच्छं परिट्ठवणं ॥

एगंतमणावाए अच्चित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे ।

छारेण अक्कमित्ता तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥

(ओनि ५१५, ६०३, ६०४)

मुनि गुरु की अनुज्ञा प्राप्त कर एकांत अचित्त स्थान में जाता है । वहां समभूभाग में उस भिक्षा का परिष्ठापन कर 'बोसिरे' (व्युत्सृष्ट) शब्द का तीन बार उच्चारण करता है । इसी प्रकार मुनि विद्या से अभिमंत्रित, योगचूर्णकृत अथवा विषमिश्रित भिक्षा आ जाने पर उसमें राख मिलाकर उसके तीन पुंज कर एकान्त

अचित्त स्थान में 'बोसिरे' 'बोसिरे' कहता हुआ विसर्जित कर देता है ।

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्टियं कंटओ सिया ।  
तण-कट्ट-सक्करं वा वि, अन्नं वा वि तहाविहं ॥  
तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छट्टुए ।  
हत्थेण तं गहेऊणं, एगंतमवक्कमे ॥  
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया ।  
जयं परिट्टवेज्जा, परिट्टप्प पडिक्कमे ॥  
(द ५।१।५४-५६)

भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, कांटा, तिनका, काठ का टुकड़ा, कंकड़ या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकले तो उसे उठाकर न फेंके, मुंह से न थूके, किन्तु हाथ में लेकर एकान्त में चला जाए । एकान्त में जा अचित्त भूमि को देख, यतनापूर्वक उसे परिष्ठापित करे । तत्पश्चात् स्थान पर आकर प्रतिक्रमण करे ।

तं च अच्चविलं पूइं नालं तण्हं विणित्तए ।  
देतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥  
तं च होज्ज अकामेणं विमणेण पडिच्छियं ।  
तं अप्पणा न पिबे नो वि अन्नस्स दावए ॥  
एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिया ।  
जयं परिट्टवेज्जा परिट्टप्प पडिक्कमे ॥  
(द ५।१।७९-८१)

यदि जल बहुत खट्टा, दुर्गन्धयुक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ हो तो देती हुए स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे— इस प्रकार का जल मैं नहीं ले सकता ।

यदि अनिच्छा या असावधानी से पानी लिया गया हो तो उसे न स्वयं पीए और न दूसरे साधुओं को दे परन्तु एकान्त में जा अचित्त भूमि को देख, यतना-पूर्वक उसे परिष्ठापित करे । परिष्ठापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे ।

## १०. सात्विक आहार का फल

हियाहारा भियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।  
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥  
(ओनि ५७८)

हित-मित-सात्विक आहार करने वाले व्यक्ति स्वयं अपने चिकित्सक होते हैं । उनकी चिकित्सा के लिए अन्य वैद्य की आवश्यकता नहीं होती ।

## ११. आहार करने के हेतु

वेयणवेयावच्चे इरियट्टाए य संजमट्टाए ।  
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचित्ताए ॥  
(उ २६।३९)

आहार करने के छह कारण—

१. वेदना - भूख की पीड़ा मिटाने के लिए ।
२. वैयावृत्य करने के लिए ।
३. ईर्ष्यासमिति का पालन करने के लिए ।
४. संयम की रक्षा के लिए ।
५. प्राण-धारण के लिए ।
६. धर्म-चिन्ता के लिए ।

नत्थि छुहाए सरिसा वियणां भुंजेज्ज तप्पसमणट्टा ।  
छाओ वेयावच्चं ण तरइ काउं अओ भुजे ॥  
इरिअं नऽवि सोहेई पेहाईअं च संजमं काउं ।  
थामो वा परिहायइ गुणऽणुप्पेहासु अ असत्तो ॥  
(पिनि ६६३, ६६४)

भूख के समान कोई वेदना नहीं है । इसलिए भूख को शांत करने के लिए भोजन करना चाहिए । भूखा साधु वैयावृत्य नहीं कर सकता, इसलिए वैयावृत्य करने के लिए भोजन करना चाहिए ।

अशक्तता के कारण बुभुक्षित साधु न ईर्ष्यापथ का शोधन कर सकता है और न प्रेक्षा, उपेक्षा आदि संयम-स्थानों का अनुपालन कर सकता है । भूख के कारण प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है, इसलिए भोजन करना चाहिए । भूखा साधु ग्रंथपरावर्तन तथा अनुप्रेक्षा नहीं कर सकता, इसलिए भोजन करना चाहिए ।

जह् अम्मंगणलेवा सगडक्खवणाण जुत्तिओ होंति ।  
इय संजमभरवहणट्टयाए साहूण आहारो ॥  
(ओनि ५४६)

जैसे भारवहन के लिए गाड़ी के अक्ष (धुरा) को न अधिक, न कम, किन्तु युक्तिपूर्वक तैल आदि से चुपड़ा जाता है, व्रण पर उचित मात्रा में लेप किया जाता है, वैसे ही केवल संयमभार को वहन करने के लिए मुनि उचित मात्रा में आहार करे ।

## व्रण का दृष्टान्त

जहा 'व्रणो मा फुट्टिहिति' त्ति मक्खणादिदानं एवं जीवस्स सरीरट्टित्तिनिमित्तमाहारो, ण रुवादिहेतुं ।  
(दअचू पृ ८)



अन्न फूटे नहीं अथवा विकृत न हो—इस दृष्टि से उसे घी आदि से चुपड़ा जाता है। इसी प्रकार मुनि शरीर को टिकाये रखने के लिए आहार करे, सौन्दर्य-वृद्धि के लिए नहीं।

जत्तासाहणहेउं आहारंति जवणहुया जइणो ।

छयालीसं दोरेहि सुपरिसुद्धं विगयरागा ॥

(ओनि ५७७)

संयम-यात्रा के निमित्त, शरीर-संधारण के लिए मुनि अनासक्त भाव से आहार करता है। वह आहार उद्गम उत्पादन, एषणा आदि के छयालीस दोषों से परिशुद्ध होता है।

नाणाइसंधणट्टा न वन्नवलरूवविसयट्टा ॥

(ओभा २८०)

ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के सन्धान/अविच्छिन्नता के लिए आहार करना चाहिए। वर्ण, बल और रूप की दीप्ति के लिए तथा विषय-सेवन के लिए आहार नहीं करना चाहिए।

आहारंति तवस्सी विपइगालं च विगयधूमं च ।

भाणज्भयणनिमित्तं एमुवएसो पवयणस्स ॥

(पिनि ६६०)

ध्यान और स्वाध्याय करने के लिए मुनि राम-द्वेष से उपरत हो आहार करे—यह जिनशासन का उपदेश है।

## १२. आहार न करने के हेतु

आयंके उवसग्गे तित्तिक्खया बंभचेरगुत्तीसु ।

पाणिदया तवहेउं सरीरवोच्छेयणट्टाए ॥

(उ २६।३४)

मुनि छह कारणों से आहार न करे—

१. आतंक—आकस्मिक बीमारी हो जाने पर।
२. राजा आदि का उपसर्ग हो जाने पर।
३. ब्रह्मचर्य की तित्तिका (सुरक्षा) के लिए।
४. प्राणिदया के लिए।
५. तपस्या के लिए।
६. शरीर का व्युत्सर्ग करने के लिए।

छहिं कारणेहिं साधू आहारंतिओवि आयरइ धम्मं ।

छहिं चैव कारणेहिं णिज्जूहितोऽवि आयरइ ॥

(पिनि ६६१)

छह कारणों से आहार करता हुआ भी तथा छह

कारणों से आहार न करता हुआ भी साधु धर्म की आराधना करता है।

## १३. आहार : मांडलिक दोष

....संजोयणा पमाणं च ।

इंगाल धूम कारणं.... ॥ (पिनि १)

मांडलिक दोष पांच हैं —

संयोजना - स्वादवृत्ति से खाद्यपदार्थों को परस्पर मिलाकर खाना।

प्रमाणातिरेक—आहार की मात्रा का अतिक्रमण करना।

अंगार—द्रव्य की प्रशंसा करते हुए खाना।

धूम—द्रव्य की निन्दा करते हुए खाना।

कारण—बिना कारण आहार करना।

### संयोजना

संयोजनाए दोसो जो संजोएइ भत्तपाणं तु ।

दव्वाई रसहेउं वाघाओ तस्सिमो होई ॥

संजोयणा उ भावे संजोएऊण ताणि दव्वाणि ।

संजोयइ कम्मणं कम्मण भवं तथो दुक्खं ॥

(पिनि ६३८, ६३९)

स्वाद के लिए अनुकूल द्रव्यों की परस्पर संयोजना कर खाना संयोजना दोष है। द्रव्यों की संयोजना से आत्मा रसगृद्धि के अप्रशस्त भाव से संयोजित होती है। इस संयोजन से कर्मबंध और कर्मबंध से दुःखद भव-परम्परा बढ़ती है।

### प्रमाणातिरेक आहार

पगामं च निगमं च, पणीयं भत्तपाणमाहरे ।

अइबहुयं अइबहुसो, पमाणदोसो मुण्येव्वो ॥

बत्तीसाइ परेणं पगाम निच्चं तमेव उ निकामं ।

जं पुण गळंतनेहं पणीयमिति तं बुहा वेत्ति ॥

बहुयातीयमइबहुं अइबहुसो तिन्नि तिन्नि व परेणं ।

तं चिय अइप्पमाणं भुंजइ जं वा अतिप्पतो ॥

(पिनि ६४४, ६४५, ६४७)

प्रमाणातिरेक आहार के पांच रूप हैं—

प्रकाम—बत्तीस कवल से अधिक खाना।

निकाम—प्रतिदिन अधिक खाना।

प्रणीत गरिष्ठ या अतिस्निग्ध आहार करना।

अतिबहुक अपनी भूख से अधिक खाना।

अतिबहुशः—दिन में अनेक बार या तीन बार से अधिक खाना !

अइवहुयं अइवहुसो अइप्पमाणेण भोयणं भोत्तुं ।  
हाएज्ज व वामिज्ज व मारिज्ज व तं अजीरंतं ॥

(पिनि ६४६)

अत्यधिक खाने से, तीन बार से अधिक खाने से, बार-बार खाने से वह भोजन पचता नहीं है। न पचने के कारण अतीसार, वमन आदि रोग तथा मृत्यु तक हो सकती है।

### अंगार और धूम

तं होइ सइंगालं जं आहारेइ मुच्छिओ संतो ।  
तं पुण होइ सधूमं जं आहारेइ निदंतो ॥

(पिनि ६५५)

रागभाव या आसक्ति से आहार की प्रशंसा करते हुए आहार करने वाले का संयम अंगारे की तरह दग्ध हो जाता है—यह अंगार दोष है। नीरस-विरस आहार की निन्दा करता हुआ द्वेषभाव से खाने वाला अपने संयम को धूमिल करता है—यह धूम दोष है।

सोही चउक्कभावे विगइंगालं च विगयधूमं च ।....

(ओनि ५७६)

आहार करते समय चार प्रकार की शुद्धि रखनी होती है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। भोजन करते समय अंगार, धूम आदि दोषों से मुक्त रहना भावशुद्धि है।

### १४. संभोजी और असंभोजी

दुविहो य होइ साहू मंडलिउवजीवओ य इयरो य ।  
मंडलिमुवजीवंतो अच्छइ जा पिडिया सब्बे ॥  
आमाढजोगवाही निज्जूदत्तट्ठिआ व पाहुणगा ।  
सेहा सपायच्छिता वाला वुड्ढेवमाईया ॥  
(ओनि ५२२, ५४८)

साधु के दो प्रकार हैं—

१. मंडली उपजीवी—मंडलीभोजी मुनि भिक्षा लाने के बाद तब तक प्रतीक्षा करते हैं, जब तक सब साधु इकट्ठे नहीं हो जाते। इकट्ठे होने पर सब साथ मिलकर खाते हैं।
२. अमंडली उपजीवी—आमाढ योगवाही (गणि-योगस्थ), शैक्ष, बाल, वृद्ध और प्राधूर्णक

(अतिथि)—ये मंडली में भोजन नहीं करते। इन्हें सर्वप्रथम पर्याप्त आहार परोस दिया जाता है। प्रायश्चित्तवाही, निर्यूढ (असांभोजिक) और आत्म-लब्धिक भी मंडली में भोजन नहीं करते।

### १५. मंडली भोजन का प्रयोजन

अतरंतबालवुड्ढा सेहाएसा गुरु असहुवग्गो ।  
साहारणोगहाऽलद्धिकारणा मंडली होइ ॥

(ओनि ५५३)

श्लान, बाल, वृद्ध, शैक्ष, अतिथि, गुरु, राजपुत्र, अलब्धिक आदि—इनके लिए भोजन-मंडली की व्यवस्था की जाती है, क्योंकि अति श्लान, बाल और वृद्ध भिक्षा लाने में असमर्थ होते हैं। शैक्ष भिक्षाविधि नहीं जानता। अतिथि और गुरु सम्मान्य होते हैं, उन्हें भिक्षा के लिए नहीं भेजा जाता। राजपुत्र आदि मुनियों को सुकुमारता के कारण भिक्षा के लिए नहीं भेजा जाता। अलब्धिक—अंतराय कर्म के उदय के कारण जिन्हें सहजतया आहार प्राप्त नहीं होता, वे मंडली में आहार करते हैं।

### १६. सम्भोज-प्रत्याख्यान के परिणाम

संभोगपच्चक्खणेणं भंते ! जीवे कि जणयइ ?  
संभोगपच्चक्खणेणं आलंबणाइं खवेइ । निरालंबणस्स य  
आययट्ठियाजोगा भवंति । सएणं लाभेणं संतुस्सइ, पर-  
लाभं नो आसाएइ नो तक्केइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो  
अभिलसइ । परलाभं अणासायमाणे अतक्केमाणे अपीहे-  
माणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसं-  
पज्जिस्ताणं विहरइ । (उ २१।३४)

भंते ! सम्भोज प्रत्याख्यान से (मंडली-भोजन का त्याग करने वाला) जीव क्या प्राप्त करता है ?

सम्भोज-प्रत्याख्यान से वह परावलम्बन को छोड़ता है। उस परावलम्बन को छोड़ने वाले मुनि के सारे प्रयत्न मोक्ष की सिद्धि के लिए होते हैं। वह भिक्षा में स्वयं को जो कुछ मिलता है, उसी में संतुष्ट हो जाता है। दूसरे मुनियों को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद नहीं लेता, उसकी ताक नहीं करता, स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता। दूसरे को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद न लेता हुआ, उसकी ताक न रखता हुआ, स्पृहा न करता हुआ, प्रार्थना न करता हुआ और अभिलाषा न करता हुआ वह दूसरी सुख शय्या को प्राप्त कर विहार करता है।

## १७. मुनि का आहार

तित्तं व कडुयं व कसायं अंविळं व महुरं लवणं वा ।  
 एय लद्धमन्नद्रुपउत्तं, महुधयं व भुंजेज्ज संजए ॥  
 अरसं विरसं वा वि सूइयं वा असूइयं ।  
 उल्लं वा जइ वा मुक्कं मन्थु-कुम्मास-भोयणं ॥  
 उप्पणं नाइहीलेज्जा अप्पं पि बहु फासुयं ।  
 मुहालद्धं मुहाजीवी भुंजेज्जा दोसवज्जियं ॥  
 (द ५।१।९७-९९)

गृहस्थ के लिए बना हुआ तित्त या कडुवा, कसैला या खट्टा, मीठा या नमकीन -- जो भी आहार उपलब्ध हो, उसे संयमी मुनि मधुघृत की भांति खाए ।

मुधाजीवी (निष्काम भाव से भिक्षा लेने वाला) मुनि अरस या विरस, व्यंजन सहित या व्यंजन रहित, आर्द्र या शुष्क, मन्थु और कुल्माप का जो भोजन विधिपूर्वक प्राप्त हो उसकी निन्दा न करे । निर्दोष आहार अल्प या अरस होते हुए बहुत या सरस होता है, इसलिए उस मुधालब्ध और दोष-वर्जित आहार को समभाव से खाये ।

पंताणि चैव सेवेज्जा, सीर्यापडं पुराणकुम्मासं ।

अदु बुक्कसं पुलागं वा, जवणट्टाए निसेवए मंथुं ॥  
 (उ ८।१२)

भिक्षु प्रान्त (नीरस) अन्न-पान, शीत-पिण्ड, पुराने उड़द, बुक्कस (सारहीन), पुलाक (रूखा) या मंथु (बैर या सत्तू का चूर्ण) का संयम-जीवन-यापन के लिए सेवन करे ।

लूहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिया ।.....

(द ८।२५)

मुनि रूक्षवृत्ति, सुसंतुष्ट, अल्प इच्छा वाला और अल्पाहार से तृप्त होने वाला हो ।

अतित्तिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे ।

हवेज्ज उयरे दंते, धोवं लद्धं न खिसए ॥

(द ८।२९)

आहार न मिलने पर या अरस आहार मिलने पर प्रलाप न करे, चपल न बने । मुनि अल्पभाषी, मितभोजी और उदर का दमन करने वाला हो । थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे ।

## १८. आहार-लुब्ध व्यक्ति की वृत्ति

सिया एगइओ लद्धं, लोभेण विणिगूहई ।

मा मेयं दाइयं संतं, दट्ठणं सयमायए ॥

अत्तदुगुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वई ।

दुत्तोसओ य से होइ, निव्वाणं च न गच्छई ॥

(द ५।२।३१,३२)

कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पाकर उसे, आचार्य आदि को दिखाने पर वे स्वयं ग्रहण न कर लें इस लोभ से छिपा लेता है, वह अपने स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला और रसलोलुप मुनि बहुत पाप करता है । वह जिस किसी वस्तु से संतुष्ट नहीं होता और निर्वाण को नहीं पाता ।

सिया एगइओ लद्धं, विविहं पाणभोयणं ।

भद्गं भद्गं भोच्चा, विवणं विरसमाहरे ॥

जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी ।

संतुट्ठो सेवई पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥

(द ५।२।३३,३४)

कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के पान और भोजन पाकर कहीं एकान्त में बैठ मनोज्ञ-मनोज्ञ आहार खा लेता है, विवर्ण और विरस आहार को स्थान पर लाता है । वह सोचता है -- ये श्रमण मुझे यों जानें कि यह मुनि बड़ा मोक्षार्थी है, संतुष्ट है, प्रान्त (असार) आहार का सेवन करता है, रूक्षवृत्ति और जिस किसी भी वस्तु से संतुष्ट होने वाला है ।

आहारक शरीर—आहारक लब्धि से निष्पन्न शरीर । (द्र. शरीर)

आहारपर्याप्ति—आहार के योग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्ग करने वाली पीद्गलिक शक्ति ।

(द्र. पर्याप्ति)

इंगिनो अनशन—अनशन का एक भेद ।

(द्र. अनशन)

इच्छाकार—कार्य करने या कराने में इच्छाकार का प्रयोग । दसविध सामाचारी का एक भेद । (द्र. सामाचारी)

इन्द्रभूति—गीतम गणधर का मूल नाम ।

(द्र. गणधर)

इन्द्रिय—चेतना के विकास का प्राथमिक स्तर ।  
प्रतिनियत और वर्तमान अर्थ को ग्रहण करने वाली चेतना ।

## १. इन्द्रिय का निर्वचन

इंदो जीवो सन्वोवलद्विभोगपरमेसरत्तणओ ।

सोत्ताइभेयमिदियमिह तल्लिगाइभावाओ ॥

(विभा २९९३)

जीव सब वस्तुओं की उपलब्धि और परिभोग रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है, इसलिए वह इन्द्र है । श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन जीव के चिन्ह हैं और वे ही इन्द्रियां कहलाती हैं ।

इन्दनादिन्द्रः—आत्मा सर्वद्रव्योपलब्धिरूपपरमैश्वर्य-योगात् । तस्य लिंगं—चिह्नमविनाभावि इन्द्रियम् ।

(नन्दीमवृ प ७५)

आत्मा सभी द्रव्यों की उपलब्धि रूप परम ऐश्वर्य से सम्पन्न है, इसलिए वह इन्द्र है । उसका जो अविनाभावी चिह्न है, वह इन्द्रिय है ।

## २. इन्द्रियों की परिभाषा

सोयस्स सहं ग्रहणं वयंति । (उ ३२।३५)

जो शब्द का ग्रहण करती है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है ।

चक्खुस्स रुवं ग्रहणं वयंति । (उ ३२।२२)

जो रूप का ग्रहण करती है, वह चक्षुइन्द्रिय है ।

गंधस्स घ्राणं ग्रहणं वयंति । (उ ३२।४९)

जो गन्ध का ग्रहण करती है, वह घ्राणेन्द्रिय है ।

जिहाए रसं ग्रहणं वयंति । (उ ३२।६१)

जो रस का ग्रहण करती है, वह रसनेन्द्रिय है ।

कायस्स फासं ग्रहणं वयंति । (उ ३२।७४)

जो स्पर्श का ग्रहण करती है, वह स्पर्शनेन्द्रिय है ।

## ३. इन्द्रिय के प्रकार

द्विविदिय-भाविदियसामण्णाओ कओ भिण्णो ॥

(विभा ३००३)

पुग्गलेहि संठाणणिव्वत्तिरुवं द्विविदियं सोईदिय-मादिइंदियाणं सव्वातप्पदेसेहि स्वावरणकखतोवसमातो जा लद्धी तं भाविदियं । (नन्दीचू पृ १४)

इन्द्रिय के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य-इन्द्रिय—इन्द्रिय की पीद्गलिक आकार-रचना (संस्थान-रचना) ।

२. भाव-इन्द्रिय—इन्द्रिय-आवारक कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति और उसका उपयोग ।

## ४. द्रव्य-इन्द्रिय के प्रकार

द्वं विव्वत्ति उवगरणं च । (विभा २९९४)

द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं—निर्वृत्ति और उपकरण ।

### १. इन्द्रिय का निर्वचन

### २. इन्द्रिय की परिभाषा

### ३. इन्द्रिय के प्रकार

० द्रव्येन्द्रिय

० भावेन्द्रिय

### ४. द्रव्येन्द्रिय के प्रकार

० निर्वृत्ति

० उपकरण

० निर्वृत्ति और उपकरण में अन्तर

### ५. भावेन्द्रिय के प्रकार

० लब्धि

० उपयोग

० लब्धि आदि का प्राप्ति-क्रम

### ६. इन्द्रियविषय : ग्राह्य-ग्राहक भाव

### ७. विषय-ग्रहण की क्षेत्र-मर्यादा

### ८. विषय-ग्रहण की क्षमता

### ९. श्रोत्रेन्द्रिय की पट्टा

### १०. दूरस्थ गंध-रस-स्पर्श का ग्रहण

### ११. विषय-परिमाण आसमांगल से

### १२. चक्षु और मन अप्राप्यकारी

\* इन्द्रियों के आधार पर जीव के भेद (द्र. जीव)

### १३. सभी जीव एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय

### १४. एकेन्द्रिय में पांचों इन्द्रियों का अस्तित्व

\* पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव (द्र. जीविकाय)

\* शेष इन्द्रिय वाले जीव (द्र. त्रस)

### १५. इन्द्रिय-आसक्ति के परिणाम

### १६. इन्द्रिय-निग्रह के परिणाम

\* इन्द्रिय-संयम : ब्रह्मचर्य (द्र. ब्रह्मचर्य)

\* इन्द्रिय विकास का क्रम (द्र. ज्ञान)

\* इन्द्रियज्ञान परोक्ष (द्र. ज्ञान)

\* इन्द्रियज्ञान सांग्यावहारिक प्रत्यक्ष (द्र. ज्ञान)

\* इन्द्रियज्ञान : आभिनवोधिकज्ञान

(द्र. आभिनवोधिक ज्ञान)

## निर्वृत्ति इन्द्रिय

निर्वृत्तिर्नाम प्रतिविशिष्टः संस्थानविशेषः । सापि द्विधा—बाह्या अभ्यन्तरा च । तत्र बाह्या कर्णपर्वटकादिरूपा । सापि विचित्रा—न प्रतिनियतरूपतयोपदेष्टुं शक्यते । तथाहि—मनुष्यस्य श्रोत्रे भ्रूसमे नेत्रयोरुभय-पाश्वंतः संस्थिते । वाजिनोः मस्तके नेत्रयोरपरिष्ठाद्भाविनी तीक्ष्णे चाग्रभागे इत्यादिजातिभेदानामविधाः । आभ्यन्तरा तु निर्वृत्तिः सर्वेषामपि जन्तूनां समाना ।””” स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तेः प्रायो न बाह्याभ्यन्तरभेदः ।

(नन्दीमवृ प ७५)

पुष्पं कलंबुयाए धन्नमसूराइमुत्तचंदो य ।

होइ खुरप्पो नाणाभिई य सोइदियाईणं ॥

(विभा २९९५)

निर्वृत्ति का अर्थ है—इन्द्रिय का अपना संस्थान—आकार रचना । उसके दो प्रकार हैं बाह्य और आभ्यन्तर । कर्णविदर आदि का बाह्य आकार भिन्न-भिन्न होता है, वह प्रतिनियत नहीं है । जैसे मनुष्य के कान भौंहों की समरेखा में नेत्रयुगल के दोनों पाश्वों में संस्थित हैं । घोड़े के कान आँखों से ऊपर मस्तक पर होते हैं । उनका अग्रभाग तीक्ष्ण होता है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियों में इन्द्रियों की बाह्य आकृति भिन्न-भिन्न होती है । आभ्यन्तर निर्वृत्ति—भीतरी आकार रचना सब जीवों की समान होती है । स्पर्शन इन्द्रिय की निर्वृत्ति में बाह्य-आभ्यन्तर का भेद नहीं है । श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार कदम्ब पुष्प के समान, चक्षुरिन्द्रिय का मसूर धान्य के समान, घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्तक पुष्पचन्द्रिका के समान, रसनेन्द्रिय का क्षुरप्र के समान होता है । स्पर्शनेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार नाना प्रकार का होता है ।

## उपकरण इन्द्रिय

विसयगग्रहणसमत्थं उवगरणं इन्द्रियंतरं तंपि ।

जं नेह तदुवघाए गिण्हइ निव्वत्तिभावे वि ॥

(विभा २९९६)

जो विषय ग्रहण करने में समर्थ पौद्गलिक शक्ति है, वह उपकरण इन्द्रिय है । निर्वृत्ति इन्द्रिय के होने पर भी यदि उपकरण इन्द्रिय का उपघात हो जाता है तो विषय का ग्रहण नहीं हो सकता ।

## निर्वृत्ति और उपकरण में अन्तर

उपकरण—खड्गस्थानीयाया बाह्यनिर्वृत्तेर्या खड्ग-धारासमाना स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्तिः—तस्याः शक्तिविशेषः । इदं चोपकरणरूपं द्रव्येन्द्रियमान्तरनिर्वृत्तेः कथञ्चिदर्थान्तरं, शक्तिशक्ति-मतोः कथञ्चिद्भेदात् । कथञ्चिद्भेदश्च सत्यामपि तस्यामान्तरनिर्वृत्तौ द्रव्यादिनोपकरणस्य विघातसम्भवात् । तथाहि—सत्यामपि कदम्बपुष्पाद्याकृतिरूपायामान्तर-निर्वृत्तावतिकठोरतरघनगजितादिना शक्त्युपघाते सति न परिच्छेत्तुमीशते जन्तवः शब्दादिकमिति ।

(नन्दीमवृ प ७५)

तलवार के समान है बाह्य निर्वृत्ति । तलवार की धार के समान है आभ्यन्तर निर्वृत्ति । वह स्वच्छतर पुद्गलसमूह से निष्पन्न है । आभ्यन्तर निर्वृत्ति की शक्ति विशेष का नाम है उपकरण । शक्ति और शक्तिमान् किसी अपेक्षा से भिन्न हैं । अतः आभ्यन्तर निर्वृत्ति और उपकरण भी किसी दृष्टि से भिन्न हैं । इसलिए आभ्यन्तर निर्वृत्ति होने पर किसी द्रव्य आदि से उपकरण इन्द्रिय का विघात भी हो सकता है । जैसे—कदम्ब पुष्प के समान आकार वाली श्रोत्र की आभ्यन्तर निर्वृत्ति विद्यमान है, पर भयंकर गर्जारव आदि से उपकरण शक्ति का उपघात हो जाने पर प्राणी शब्द का परिच्छेद नहीं कर सकता ।

## ५. भावेन्द्रिय के प्रकार

लद्धुवओगा भाविदियं... । (विभा २९९७)

भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—लब्धि और उपयोग ।

## लब्धि इन्द्रिय

...लद्धित्ति जो खओवसमो ।

होइ तदावरणाणं तल्लाभे चैव सेसंपि ॥

(विभा २९९७)

लब्धिः श्रोत्रेन्द्रियादिविषयः सर्वात्मप्रदेशानां तदा-वरणक्षयोपशमः । (नन्दीमवृ प ७५)

सब आत्मप्रदेशों में इन्द्रियों के आवारक कर्म (इन्द्रिय-ज्ञानावरण) का जो क्षयोपशम है, वह लब्धि-इन्द्रिय है ।

## उपयोग इन्द्रिय

जो सविसयवावारो सो उवओगो... ॥

(विभा २९९८)

श्रोत्र आदि इन्द्रियों की अपने-अपने विषय में जो प्रवृत्ति होती है, वह उपयोग इन्द्रिय है।

पदीवदिट्ठंतसामत्यतो, जहा चतुसालभवणेगदेस-  
जालितो पदीवो सव्वं भवणमुज्जोवेति तथा दव्विदियमेत्त-  
पदेसविसयपडिबोधो सव्वात्तप्पदेसोवयोगत्थपरिच्छेययो  
खयोपसमसाफलया य भवति । (नन्दीचू पृ १५)

घर के एक कोने में अथवा चतुःशाल में रखा प्रदीप्त दीपक पूरे घर को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार द्रव्येन्द्रिय में अवस्थित आत्मप्रदेशों का क्षयोपशम होने पर भी उपयोग की दृष्टि से सभी आत्मप्रदेशों से विषय का बोध होता है।

**लब्धि आदि की प्राप्ति का क्रम**

लाभकमे उ लद्धी निव्वत्तुवगरण उवओगो य । ...

(विभा ३००३)

लब्धि इन्द्रिय होने पर ही निवृत्ति, उपकरण और उपयोग इन्द्रिय होती है।

**६. इन्द्रिय-विषय : ग्राह्य-ग्राहक भाव**

रूपस्य चक्षुः गृह्णातीति ग्रहणं ... । चक्षुषो रूपं गृह्यत इति ग्रहणं—ग्राह्यं ... । अनेन रूपचक्षुषो-  
ग्राह्यग्राहकभाव उक्तः । तथा च न ग्राहकं विना ग्राह्यत्वं नापि ग्राह्यं विना ग्राहकत्वमित्यनयोः परस्परमुप-  
कार्योपकारकभाव उक्तो भवति । एतेन त्वनयोः रागद्वेष-  
जनने सहकारिभावः ख्याप्यते । तथा च यथा रूपं राग-  
द्वेषकारणं तथा चक्षुरपि । (उशावृ प ६३०)

आंख रूप का ग्रहण करती है, इसलिए वह ग्रहण-  
ग्राहक है। आंख के द्वारा रूप का ग्रहण होता है, इसलिए वह ग्रहण-ग्राह्य है। रूप और आंख का ग्राह्य-  
ग्राहक संबंध है। ग्राहक के बिना ग्राह्य नहीं होता, ग्राह्य के बिना ग्राहक नहीं होता, अतः इनमें परस्पर उपकार्य-  
उपकारक भाव है। इससे इनका रागद्वेष की उत्पत्ति में सहकारी भाव प्रकट होता है। जैसे रूप राग-द्वेष का कारण है, वैसे ही आंख भी रागद्वेष का कारण है—यह इनका सहकारी भाव है।

**७. विषयग्रहण की क्षेत्रमर्यादा**

...नयणत्स विसयपरिमाणं ।

आयं गुत्तेण लक्खं अइरित्तं जोयणाणं तु ॥

लक्खेहि एककवीसाए साइरेगेहि पुक्खरद्धम्मि ।

उदये पेच्छंति नरा सूरं उक्कोसए दिवसे ॥

(विभा ३४०, ३४५)

एतदपि चाभासुरद्रव्यमधिकृत्योच्यते । भासुरं तु द्रव्यमेकविंशतियोजनलक्षेभ्योऽपि परतः पश्यन्ति । यथा पुष्करवर्द्धीपार्धे मानुषोत्तरनगप्रत्यासन्नवतिनः कर्क-  
संक्रान्ती सूर्यबिम्बम् । (नन्दीमवृ पृ १८६)

आंख आत्मांगुल की अपेक्षा से उत्कृष्टतः कुछ अधिक एक लाख योजन तक अभास्वर द्रव्य को तथा कुछ अधिक इक्कीस लाख योजन तक भास्वर द्रव्य को देख सकती है।

मानुषोत्तर पर्वत के समीप पुष्करार्धद्वीप है। वहाँ के मनुष्य कर्कसंक्रान्ति के समय कुछ अधिक इक्कीस लाख योजन की दूरी पर स्थित सूर्य को देख सकते हैं।

संखेज्जइभागाओ नयणत्स ... ॥ (विभा ३५०)

आंख जघन्यतः अंगुल के संख्येय भागवर्ती रूपीद्रव्य को देखती है।

बारसहितो सोत्तं सेसाइं नवाहिं जोयणेहितो ।

गिण्हंति पत्तमत्थं एत्तो परओ न गिण्हंति ॥

दव्वाण मंदपरिणामयाए परओ न इंदियवलं पि ।

अवरमसंखेज्जगुलभागाओ नयणवज्जाणं ॥

(विभा ३४८, ३४९)

श्रोत्रेन्द्रिय—कान उत्कृष्टतः बारह योजन की दूरी से आने वाले शब्द को सुन सकता है। जघन्यतः अंगुल के असंख्येय भाग से समागत शब्द सुनता है।

घ्राण, रसन, स्पर्शन इन्द्रिय—ये इन्द्रियां उत्कृष्टतः नौ योजन तक तथा जघन्यतः अंगुल के असंख्येयभागवर्ती अपने-अपने विषय (गन्ध, रस और स्पर्श द्रव्य) को ग्रहण कर सकती हैं।

इन्द्रियों की जो विषयग्रहण की उत्कृष्ट क्षमता या मर्यादा बताई गई है, उसका कारण यह है कि इससे अधिक दूरी से आने वाले शब्द आदि द्रव्यों की परिणति (frequency) मन्द हो जाती है, उस मन्द परिणमन (low frequency) को इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकती।

**इन्द्रिय जघन्य क्षेत्र उत्कृष्ट क्षेत्र**

श्रोत्र	अंगुल का असंख्येय भाग	बारह योजन
चक्षु	अंगुल का संख्येय भाग	कुछ अधिक एक लाख योजन
घ्राण	अंगुल का असंख्येय भाग	नौ योजन
रसन	” ” ” ”	”
स्पर्शन	” ” ” ”	”

## ८. विषयग्रहण की क्षमता

पुट्ठं सुणेइ सइं, ख्वं पुण पासइ अपुट्ठं तु ।

गंधं रसं च फासं च, बद्धपुट्ठं वियागरे ॥

(नन्दी ५४।४)

श्रोत्र स्पृष्ट शब्द को सुनता है। चक्षु अस्पृष्ट रूप को देखता है। घ्राण, रसन और स्पर्शन इन्द्रियां गंध, रस और स्पर्श को बद्धस्पृष्ट (निकटतम संबंध स्थापित) होने पर जानती हैं।

### स्पृष्ट और बद्ध

पुट्ठं रेणुं व तणुम्मि बद्धमप्पीकयं पएसेहि ।

(विभा ३३७)

शरीर पर रजकण के स्पर्श की भांति शब्द आदि का जो स्पर्शमात्र होता है, वह स्पृष्ट है। आत्मप्रदेशों के साथ ग्राह्यता आश्लेष होना बद्ध कहलाता है।

## ९. श्रोत्रेन्द्रिय की पटुता

....छिक्काइं चिय गिण्हइ सद्दव्वाइं जं ताइं ॥

बहु-सुहुम-भावुगाइं जं पडुयरं च सोत्तविण्णाणं । ...

(विभा ३३७, ३३८)

श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्द द्रव्यों को ग्रहण करती है। घ्राण आदि इन्द्रियों की अपेक्षा श्रोत्रेन्द्रिय पटुतर है। इसके विषयभूत शब्द द्रव्य अन्य विषयों की अपेक्षा मात्रा में प्रभूत, सूक्ष्म तथा भावुक—संवेदनशील हैं।

## १०. दूरस्थ गंध-रस-स्पर्श का ग्रहण

ननु मेधवर्जितादिविषयः शब्दः प्रथमप्रावृषि प्रथम-मेधवृष्टौ सत्यां मृत्तिकादिगन्धश्च दूरादप्यायातो गृह्यमाणः समनुभूयते; रसस्पर्शौ तु कथम्? इति चेत्, उच्यते—दूरादागतानां गन्धद्रव्याणां रसोऽपि तावत् कश्चिद् भवत्येव । स च तेषां जिह्वासंबन्धे सति यथा-संभवं कदाचित् केनचिद् गृह्यत एव । तथा च वस्तारो भवन्ति—'कटुकस्य, तीक्ष्णादेर्वा वस्तुनः संबन्धी अयं गन्धः' इति । यच्चेह कटुकत्वं, तीक्ष्णादित्वं चोच्यते, तद् रसस्यैव धर्मः । ततश्च ज्ञायते—जिह्वासंबन्धे तेषां कटुकादिको रसोऽपि गृहीत इति । स्पर्शोऽपि शीतादिदूरा-दपि शिशिरपद्मसरः-सरित्-समुद्रादेर्मध्येनाऽऽयातस्य वातादेरनुभूयत एवेति । (विभामवृ १ पृ १७४)

श्रोत्र उत्कृष्टतः बारह योजन की दूरी से समागत मेघमर्जन आदि शब्द प्रथम प्रावृट्काल में सुन सकता है।

प्रथम मेघवृष्टि होने पर बहुत दूरी से आने वाली मिट्टी आदि की गंध का भी अनुभव होता है। दूर से समागत गन्ध द्रव्यों का कोई न कोई रस भी होता ही है। उन द्रव्यों को चखने पर रस का ग्रहण होता है। उन्हें चखकर व्यक्ति कहता है—यह गंध किसी कड़वी अथवा तिक्त वस्तु की है। यह कड़वाहट या तिक्तता रस का ही धर्म/गुण है। इससे स्पष्ट है कि वस्तु का जिह्वा से सम्पर्क होने पर रस का भी ग्रहण होता है। शिशिर ऋतु तथा दूरस्थ पद्मसरोवर, सरिता, समुद्र आदि से आने वाले पवन के शीत स्पर्श का भी अनुभव होता है।

## ११. विषय-परिमाण आत्मांगुल से

नणु भणियमुत्सयंगुलपमाणो जीवदेहमाणाइ ।

देहपमाणं चिय तं न उ इंदियविषयपरिमाणं ॥

(विभा ३४१)

उत्सेधांगुल प्रमाण से देह का परिमाण मेय होता है—ऐसा प्रतिपादित हुआ है। यह केवल देह का परिमाण है, न कि इन्द्रियों का विषय-परिमाण। इन्द्रियों का विषय-परिमाण आत्मांगुल प्रमाण से मेय होता है।

## १२. चक्षु और मन अप्राप्यकारी

अप्पत्तकारि नयणं मणो य.... ॥ (विभा ३४०)

आंख और मन—ये दो इन्द्रियां अप्राप्यकारी हैं—

ये अपने विषयभूत अर्थ का स्पर्श किए बिना ही उसको जान लेती हैं।

## १३. सभी जीव एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—

....एणेण चैव तम्हा उवओगेगिदिओ सब्बो ॥

(विभा २९९८)

एक समय में एक इन्द्रिय का ही उपयोग होता है, इसलिए उपयोग की दृष्टि से सभी जीव एकेन्द्रिय हैं।

एगेदियाइभेया पडुच्च सेसेदियाइं जीवाणं ।

अहवा पडुच्च लद्धिदियं पि पंचेदिया संव्वे ॥

(विभा २९९९)

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि का भेद निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धि इन्द्रिय की अपेक्षा से है। अथवा लब्धि इन्द्रिय की अपेक्षा सभी जीव पंचेन्द्रिय हैं।

### १४. एकेन्द्रिय में पाँचों इन्द्रियों का अस्तित्व

जं किर बउलाईणं दीसइ सेसेदिओवलंभो वि ।  
तेणत्थि तदावरणकखओवसमसंभवो तेसिं ॥  
पंचेदिउ व्व बउलो नरो व्व सव्वविसओवलंभाओ ।  
तह्वि न भण्णइ पंचेदिउ त्ति बज्जेदियाभावा ॥  
(विभा ३०००, ३००१)

बकुल, चम्पक, तिलक, विरहक आदि वृक्षों में स्पर्श के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों भी प्रतीत होती हैं क्योंकि उनमें भी इन्द्रिय-ज्ञानावरण का क्षयोपशम संभव है।

सब विषयों को ग्रहण करने के कारण बकुल मनुष्य की तरह पंचेन्द्रिय है फिर भी बाह्य इन्द्रिय का अभाव होने से उसे पंचेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता।

एकेन्द्रियाणां श्रोत्रादिद्रव्येन्द्रियाभावेऽपि भावेन्द्रिय-ज्ञानं किञ्चिद् दृश्यत एव, वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गो-पलम्भात् । तथाहि—कलकण्ठोद्गीर्णमधुरपञ्चमोद्गार-श्रवणात् सद्यः कुसुम-पल्लवादिप्रसवो विरहकवृक्षादिषु श्रवणेन्द्रियज्ञानस्य व्यक्तं लिङ्गमवलोक्यते । तिलका-दितरुषु पुनः कमनीयकामिनी...लोचनकटाक्षविक्षेपात् कुसुमाद्याविर्भावश्चक्षुरिन्द्रियज्ञानस्य । चम्पकाद्यांह्रिषु तु विविधमुग्धगन्धवस्तुनिकुरम्बोन्मिश्रविमलशीतलसलिल-सेकात्, तत्प्रकटनं घ्राणेन्द्रियज्ञानस्य । बकुलादिभूरुहेषु तु रम्भातिशायिप्रवररूपवरतरुणभामिनीमुखप्रदत्तस्वच्छ-सुस्वादुसुरभिवारुणीगण्डूषास्वादानात् तदाविष्करणं रसने-न्द्रियज्ञानस्य । ...अशोकादिद्रुमेषु...आभरणभूषितभय-भामिनीभुजलताऽवगूहनसुखाद्...ऋगिति प्रसून-पल्ल-वादिप्रभवः स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमभिधीक्ष्यते ।  
(विभामवृ १ पृ ५९)

एकेन्द्रिय जीवों में श्रोत्र आदि द्रव्येन्द्रिय के अभाव में भी भावेन्द्रिय का ज्ञान कुछ अंशों में देखा जाता है। वनस्पति में इसके स्पष्ट चिन्ह प्राप्त होते हैं, जैसे—

**श्रोत्रेन्द्रिय**—सुन्दर कण्ठ एवं मधुर पञ्चम स्वर से उद्गीत गीत-श्रवण से विरहक वृक्ष पर पुष्प उग आते हैं। इससे श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट चिन्ह परिलक्षित होता है।

**चक्षुरिन्द्रिय**—सुन्दर स्त्री की आंखों के कटाक्ष से तिलक वृक्ष पर फूल खिल जाते हैं। इससे चक्षुरिन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट चिन्ह परिभासित होता है।

**घ्राणेन्द्रिय**—विविध मुग्धपदार्थों से मिश्रित निर्मल शीतल जल के सिंचन से चम्पक वृक्ष पर फूल

प्रकट हो जाते हैं। इससे उसमें घ्राणेन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट चिन्ह दिखाई देता है।

**रसनेन्द्रिय**—अतिशय रूप वाली तरुण स्त्री के मुख से प्रदत्त स्वच्छ सुस्वादु शराब के कुल्ले का आस्वादन करने से बकुल वृक्ष पर फूल निकल आते हैं। इससे उसमें रसनेन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट चिन्ह देखा जाता है।

### १५. इन्द्रिय आसक्ति के परिणाम

सद्देषु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,  
अकालियं पावइ से विणासं ।  
रागाउरे हरिणमिगेव मुद्धे,  
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥  
(उ ३२।३७)

जो मनोज्ञ शब्दों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे शब्द में अनुत्पन्न बना हुआ रागातुर मुग्ध हरिण नामक पशु मृत्यु को प्राप्त होता है।

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,  
अकालियं पावइ से विणासं ।  
रागाउरे से जह वा पयगे,  
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥  
(उ ३२।२४)

जो मनोज्ञ रूपों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे—प्रकाश-लोलुप पतंगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

गंधेषु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,  
अकालियं पावइ से विणासं ।  
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,  
सप्ये बिलाओ विव निक्खमंते ॥  
(उ ३२।५०)

जो मनोज्ञ गन्ध में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे—नाग-दमनी आदि औषधियों की गन्ध में गुद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,  
अकालियं पावइ से विणासं ।  
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए,  
मच्छे जहा अरमिसभोगगिद्धे ॥  
(उ ३२।६३)



जो मनोज्ञ रसों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे मांस खाने में गूढ़ बना हुआ रागातुर मत्स्य कांटे से बीटा जाता है।

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,  
अकालियं पावइ से विणासं ।  
रागाउरे सीयजलावसन्ने,  
गाहृगहीए महिसेव रण्णे ॥  
(उ ३२।७६)

जो मनोज्ञ स्पर्शों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे घड़ियाल के द्वारा पकड़ा हुआ अरप्य-जलाशय के शीतल जल के स्पर्श में मग्न बना रागातुर भैंसा।

जस्स पुण दुप्पणिहिताणि, इदियाइ तवं चरंतस्स ।  
सो हीरति असहीणेहि, सारही वा तुरगेहि ॥  
(दनि २००)

तप का आचरण करने पर भी जिसकी इन्द्रियां असमाहित हैं, वह साधक उन अस्वाधीन इन्द्रियों के द्वारा बंसे ही अपहृत होता है, जैसे उच्छृंखल घोड़ों के द्वारा सारथि।

### १६. इन्द्रिय-निग्रह के परिणाम

सोइंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेषु सहेसु रागदोस-  
निग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च  
निज्जरेइ ।

चक्खिदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेषु रुवेसु रागदोस-  
निग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च  
निज्जरेइ ।

घाण्हिदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेषु गंधेसु रागदोस-  
निग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च  
निज्जरेइ ।

जिन्धिदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेषु रसेसु रागदोस-  
निग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च  
निज्जरेइ ।

फासिदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेषु फासेसु राग-  
दोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं  
च निज्जरेइ । (उ २९।६३-६७)

श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह शब्द सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म

को क्षीण करता है।

चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रूप सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्मबन्धन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह गन्ध सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्मबन्धन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रस सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्मबन्धन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह स्पर्श सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्मबन्धन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

**इन्द्रिय पर्याप्ति**—इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्ग करने वाली पौद्गलिक शक्ति। पर्याप्ति का एक प्रकार।

(द्र. पर्याप्ति)

**इन्द्रिय प्रत्यक्ष**—ज्ञान का एक भेद। (द्र. ज्ञान)

**ईर्या समिति**—शरीर-प्रमाण भूमि को देखकर यतनापूर्वक चलना। समिति का एक प्रकार। (द्र. समिति)

**ईश्वरप्रभाषा**—आठवीं पृथ्वी। इसका अपर नाम सिद्धशिला है। इसके ऊर्ध्व भाग में सिद्ध जीव अवस्थित हैं।

बारसहि जोयणेहि, सव्वट्टस्सुर्वारि भवे ।

ईसीपठभारनामा उ, पुढवी छत्तसंठिया ॥

पणयालसयसहस्सा, जोयणाणं तु आयया ।

तावइयं चेव विट्ठिणा, तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥

अट्टजोयणबाहत्ला, सा मज्झम्मि वियाहिया ।

परिहायती चरिमते, मच्चियपत्ता तणुवरी ॥

अञ्जुणसुवण्णगमई, सा पुढवी निम्मला सहावेणं ।  
उत्ताणगच्छत्तगसंठिया य, भणिया जिणवरेहि ॥

(उ ३६।५७-६०)

सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। वह छत्राकार में अवस्थित है।

उसकी लम्बाई और चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन की है। उसकी परिधि उस (लम्बाई-चौड़ाई) से तिगुनी है।

मध्यभाग में उसकी मोटाई आठ योजन की है। वह क्रमशः पतली होती-होती अन्तिम भाग में मक्खी के पंख से भी अधिक पतली हो जाती है।

वह श्वेत-स्वर्णमयी, स्वभाव से निर्मल और उत्तान (सीधे) छत्राकार वाली है—ऐसा जिनवर ने कहा है।  
संखंककुंदसंकासा, पंडुरा निम्मला मुहा ।  
सीयाए जोयणे तत्तो, लोयंते उ वियाहिओ ॥  
जोयणस्स उ जो तस्स, कोसो उवरिमो भवे ।  
तस्स कोसस्स छम्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥  
तत्थ सिद्धा महाभागा, लोयगम्मि पइट्टिया ।  
भवप्पवंच उम्मुक्का, सिद्धि वरगइं गया ॥

(उ ३६।६१-६३)

वह शंख, अंक-रत्न और कुन्दपुष्प के समान श्वेत, निर्मल और शुद्ध है। उस सीता नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त है। उस योजन के उपरिवर्ती कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना होती है।

भवप्रपंच से उन्मुक्त और सर्वश्रेष्ठ गति (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले अनन्त शक्तिशाली सिद्ध वहाँ लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं।

### ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी का प्रमाण

अत्थीसीपम्भारोवलक्खियं मणुयलोगपरिमाणं ।  
लोगगनभोभागो सिद्धिक्खेतं जिणक्खायं ॥

(विभा ३१६२)

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी का परिमाण मनुष्यलोक जितना है। लोकाग्र का नभोभाग सिद्धि क्षेत्र है।

ईहा—यह अमुक व्यक्ति या अमुक पदार्थ होना चाहिए, ऐसी वितर्कमूलक वस्तु-धर्म की अवधारणा। (द्र. आभिनिबोधिक ज्ञान)

**उत्कालिक**—आगम का एक विभाग। अकाल और अस्वाध्यायी के अतिरिक्त दिन-रात के सभी भागों में पढ़े जाने वाले आगम। (द्र. अंगवाह्य)

**उत्पादन**—आहार-ग्रहण से संबंधित भिक्षादोष। (द्र. एषणा)

**उत्सर्ग समिति**—विधिपूर्वक परिष्ठापन करना। समिति का पांचवां प्रकार। (द्र. समिति)

**उत्सर्पिणी**—कालचक्र का वह विभाग जिसमें पदार्थों की शक्ति में क्रमशः वृद्धि होती है। विकास काल, दुःख से सुख की ओर अग्रसर होने वाला काल। (द्र. काल)

**उत्सेधांगुल**—शरीर की ऊंचाई का मापन करने का साधन। यह भगवान महावीर के अंगुल का अर्धभाग होता है। (द्र. अंगुल)

**उद्गम**—आहार की निष्पत्ति से संबंधित भिक्षा-दोष। (द्र. एषणा)

**उपक्रम**—उपोद्घात। इससे श्रोता और पाठक को ग्रंथ के अभिधान, प्रतिपाद्य, विभाग, प्रकरण आदि की प्रारम्भिक जानकारी मिल जाती है। व्याख्या का प्रथम द्वार। (द्र. अनुयोग)

**उपधान**—तपोमय अनुष्ठान।

उपधानम्—अंगानंगाध्ययनादी यथायोगमः चाम्लादि-तपोविशेषः। (उशावु प ३४७)

अंग, उपांग आदि के अध्ययन काल में करणीय आगम में निदिष्ट तपविशेष उपधान कहलाता है। उसमें आचाम्ल, उपवास आदि तप विहित हैं।

**उपधि**—मुनि के उपयोग में आने वाले वस्त्र, पात्र आदि आवश्यक उपकरण ।

**पर्याय**

उवही उवग्गहे संगहे य तह पग्गहुग्गहे चेव ।

भंडग उवगरणे या करणेवि य हुंति एगट्ठा ॥

(ओनि ६६६)

उपधि, उपग्रह, संग्रह, प्रग्रह, अवग्रह, भंडक, उपकरण, करण—ये एकार्थक शब्द हैं ।

**प्रयोजन**

संजमनिमित्तं वा वत्थस्स गहणं कीरइ मा तस्स अभावे अग्गिसेवणादिदोसा भविस्संति । वाताभावेऽपि संसत्तपरिसाडणादी दोसा भविस्संति । कम्बलं वासकप्पादी तं उदगादिरक्खणट्ठा घेप्पति । लज्जानिमित्तं चोलपट्टको घेप्पति । (दजिचू पृ २२१)

शीतकाल में शीत से पीड़ित होकर मुनि संयम के निमित्त अग्नि का सेवन न करे, इसलिए वस्त्र रखने का, पात्र के अभाव में संसक्त और परिश्रादन दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए पात्र रखने का, पानी आदि के जीवों की हिंसा से बचने के लिए कम्बल (वर्षाकल्प) रखने का तथा लज्जा के निमित्त 'चोलपट्टक' रखने का विधान किया गया है ।

**२. उपधि के प्रकार**

ओहे उवग्गहंमि य दुविहो उवही उ होइ नायक्को ।

एक्केक्कोवि य दुविहो गणणाए पमाणतो चेव ॥

(ओनि ६६७)

उपधि के दो प्रकार हैं—

१. ओष उपधि—सदा पास में रखी जाने वाली ।

२. उपग्रह उपधि—प्रयोजन विशेष से ग्रहण की जाने वाली ।

दोनों प्रकार की उपधि गणना और प्रमाण से दो-दो प्रकार की है ।

**३. औधिक उपधि की संख्या**

जिणा बारसरूवाइं, थेरा चउट्सरूविणो ।

अज्जाणं पन्नवीसं तु, अओ उड्ढं उवग्गहो ॥

(ओनि ६७१)

जिनकल्पक मुनि बारह, स्थविरकल्पक मुनि चौदह तथा साध्वी पचीस प्रकार की ओष उपधि रख सकती है ।

**१. उपधि का निर्वचन**

० पर्याय

० प्रयोजन

**२. उपधि के प्रकार**

० औधिक

० औषग्रहिक

**३. औधिक उपधि की संख्या**

० जिनकल्पी की उपधि

० स्थविरकल्पी की उपधि

० साध्वी की उपधि

**४. उपधि का प्रमाण और प्रयोजन**

० रजोहरण

० मुखवस्त्रिका

० कल्प (प्रच्छादक)

० चोलपट्ट

० संघाटी

० संस्तारक

० पात्र

० पात्र-बंध आदि

**५. सुलक्षण पात्र तथा अलक्षण पात्र**

**६. औषग्रहिक उपधि**

**७. उपधि परिग्रह नहीं**

**८. एषणीय उपधि ग्रहण**

\* अनेषणीय वस्तु ग्रहण का दुष्परिणाम (द्र. एषणा)

**९. उपधि-परित्याग के परिणाम**

\* उपधि-प्रतिलेखन विधि (द्र. प्रतिलेखना)

\* उपधि-संयम (द्र. संयम)

\* उपधि और बोटिकमत (द्र. निह्लव)

**१. उपधि का निर्वचन**

उपदधातीत्युपधिः । उप—सामीप्येन संयमं धारयति पोषयति चेत्यर्थः । (ओनिवृ प १२)

जो संयम के धारण-पोषण में सहयोगी है, वह उपधि है ।

### जिनकल्पों की उपधि

पत्तं पत्ताबंधो पायट्टवणं च पायकेसरिया ।  
पडलाई रयत्ताणं च गुच्छओ पायनिज्जोगो ॥  
तिन्नेव य पच्छागा रयहरणं चैव होइ मुहपत्ती ।  
एसो दुवालसविहो उवही जिणकल्पियाणं तु ॥  
(ओनि ६६८, ६६९)

जिनकल्पिक की ओष उपधि के बारह प्रकार हैं—  
पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका (पात्रमुख-  
वस्त्रिका), पटल, रजस्त्राण, गोच्छग, तीन प्रच्छादक  
(कल्प), रजोहरण और मुखवस्त्रिका ।

### स्थविरकल्पों की उपधि

एए चैव दुवालस मत्तग अइरेगचोलपट्टो य ।  
एसो चउद्दसविहो उवही पुण शेरकप्पम्मि ॥  
(ओनि ६७०)

स्थविरकल्पों की ओष उपधि के चौदह प्रकार हैं—  
पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका, पटल, रज-  
स्त्राण, गोच्छग, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, तीन प्रच्छादक,  
चोलपट्ट और मात्रक (पात्र विशेष) ।

### साध्वी की उपधि

पत्तं पत्ताबंधो पायट्टवणं च पायकेसरिया ।  
पडलाई रयत्ताणं च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥  
तिन्नेव य पच्छागा रयहरणं चैव होइ मुहपत्ती ।  
तत्तो य मत्तगो खलु चउदसमो कमढगो चैव ॥  
उग्गहणंतपट्टो अट्टोहग चलणिया य वोद्धवा ।  
अब्भितर बाहिरियं सणियं तह कंचुगे चैव ॥  
उक्कच्छिय वेकच्छी संघाडी चैव खंधकरणी य ।  
ओहोवाहिमि एए अज्जाणं पन्नवीसं तु ॥  
(ओनि ६७४-६७७)

साध्वी की ओष उपधि के पच्चीस प्रकार हैं—  
पात्र, पात्रबंध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका, पटल,  
रजस्त्राण, गोच्छग, रजोहरण, मुखपत्ती, मात्रक, कमठक  
(भोजनपात्र), चार संघाटी (प्रच्छादिका), उपग्रहणंतक,  
पट्ट, अर्धोस्क, चलनिका, औषकक्षिका (वस्त्रविशेष),  
वैकक्षिका (उत्तरासंग), कंचुक, स्कन्धकरणी, अंतोनि-  
यंसणी, बाह्यनियंसणी ।

### ४. उपधि का प्रमाण और प्रयोजन

#### रजोहरण

बत्तीसंगुलदीहं चउवीसं अंगुलाई दंडो से ।  
अट्ठंगुला दसाओ एगयरं हीणमहियं वा ॥  
(ओनि ७०८)

रजोहरण की दीर्घता बत्तीस अंगुल प्रमाण, दण्ड  
चौबीस अंगुल तथा दशिका आठ अंगुल प्रमाण होती है ।  
यह प्रमाण कदाचित् न्यूनाधिक भी हो सकता है ।

उण्णियं उट्टियं वावि, कंबलं पायपुंछणं ।  
तिपरीयल्लमणिससट्ठं, रयहरणं धारए एगं ॥  
(ओनि ७०९)

रजोहरण के तीन प्रकार हैं— औणिक, औष्टिक और  
कंबलमय । मुनि को तीन वेष्टन वाला मृदु रजोहरण  
धारण करना चाहिए ।

आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयण तुयट्टसंकोए ।  
पुव्वं पमज्जणट्टा लिंगट्टा चैव रयहरणं ॥  
(ओनि ७१०)

वस्तु को लेने-रखने से पूर्व, कायोत्सर्ग, निषीदन,  
शयन और हाथ-पैरों के संकोच-प्रसार से पूर्व रजोहरण  
से प्रमार्जन करना चाहिए । यह मुनि का लिंग-चिह्न है ।

#### मुखवस्त्रिका

चउरंगुलं विहत्थी एयं मुहणंतगस्स उ पमाणं ।  
वित्थियं मुहप्पमाणं गणणपमाणेण एक्केक्कं ॥  
(ओनि ७११)

चार कोण वाली मुखवस्त्रिका एक बालिशत चार  
अंगुल प्रमाण होती है । अथवा वह मुखप्रमाण होती  
है—स्थान प्रमार्जन करते समय जिससे मुख ढका जा  
सके तथा गर्दन के पीछे गांठ लगाई जा सके, उतने प्रमाण  
वाली होती है । गणना की दृष्टि से प्रत्येक मुनि एक-  
एक मुखवस्त्रिका रख सकता है ।

संपातिमरयरेणू पमज्जण वट्टायति मुहपत्ति ।  
नासं मुहं च बंधइ तीए वसहि पमज्जंतो ॥  
(ओनि ७१२)

बोलते समय संपातिम जीवों की रक्षा के लिए  
(हिंसा से बचने के लिए) मुख पर मुखवस्त्रिका लगाई  
जाती है । सचित्त रजों तथा रेणुओं के प्रमार्जन के लिए  
और स्थान प्रमार्जन के समय रजों से सुरक्षा के लिए  
नाक और मुंह को बांधने हेतु इसका उपयोग किया जाता  
है ।

#### कल्प

कप्पा आयपमाणा अड्ढाइज्जा उ वित्थडा हत्था ।  
दो चैव सोत्तिया उन्नियो य तइओ मुणेयव्वो ॥  
(ओनि ७०५)

जो कल्प (वस्त्र) शरीर-प्रमाण लंबा और ढाई हाथ चौड़ा होता है, मुनि ऐसे तीन कल्प रख सकता है—दो सूती और एक ऊनी ।

तण्णगह्णानलसेवानिवारणा धम्मसुक्कभाण्डा ।  
दिट्ठं कप्पग्गहणं गिलाणमरणट्टया चेव ॥  
(ओनि ७०६)

कल्प ग्रहण के प्रयोजन—

- ० तृण-ग्रहण के निवारण के लिए ।
- ० अग्नि-सेवन के वर्जन के लिए ।
- ० धर्मशुक्ल ध्यान के समय शीत आदि से बचने के लिए ।
- ० ग्लान के संरक्षण के लिए ।
- ० मृत को आच्छादित करने के लिए ।

### चोलपट्ट

दुगुणो चउग्गुणो वा हत्था चउरंस चोलपट्टो उ ।  
शेरजुवाणणट्टा सण्हे थुल्लमि य विभासा ॥  
(ओनि ७२१)

स्थविरों के लिए दो हाथ प्रमाण एवं श्लक्ष्ण तथा युवा मुनि के लिए चार हाथ प्रमाण एवं मोटा चोलपट्ट विहित है ।

### संधाटी

...संधाडीओ चउरो तत्थ दुहत्था उवसयंमि ॥  
दोण्णि तिहत्थायामा भिक्खट्टा एग एग उच्चारे ।  
ओसरणा चउहत्था णिसन्नपच्छायणी मसिणा ॥  
(ओभा ३१८, ३१९)

साध्वी चार संधाटी (पछेवड़ी) रख सकती है ।  
उनका प्रमाण और उपयोग इस प्रकार होता है—

१. दो हाथ लम्बी पछेवड़ी --उपाश्रय में ।
२. तीन हाथ लम्बी पछेवड़ी --भिक्षा के समय ।
३. तीन हाथ लम्बी पछेवड़ी --उत्सर्ग के समय ।
४. चार हाथ लम्बी पछेवड़ी--समवसरण (परिषद्) में ।

### संस्तारक-उत्तरपट्ट

संथास्तारपट्टो अड्ढाइज्जा य आयया हत्था ।  
दोण्हंपि य वित्थारो हत्थो चउरंगुलं चेव ॥  
(ओनि ७२३)

संस्तारक और उत्तरपट्ट की लम्बाई ढाई हाथ तथा चौड़ाई एक हाथ चार अंगुल होती है ।

### पात्र

तिण्णि विहत्थी चउरंगुलं च भाणस्स मज्झिमपमाणं ।  
इत्तो हीण जहन्नं अइरेगतरं तु उक्कोसं ॥  
(ओनि ६८०)

एक धागे से वृत्त और समचतुरस्र पात्र को अधः, ऊर्ध्वं, तिर्यक् मापने पर यदि धागा तीन बालिशत चार अंगुल होता है तो वह पात्र मध्यम प्रमाण है । इससे हीन होने पर जघन्य और अतिरिक्त होने पर उत्कृष्ट प्रमाण है ।

उक्कायरक्खण्डा पायग्गहणं जिणेहि पन्नत्तं ।  
जे य गुणा संभोए हवंति ते पायग्गहणेवि ॥  
अतरंतबालवुड्डं सेहाएसा गुरु असहुवग्गे ।  
साहारणीग्गहाऽलद्धिकारणा पादग्गहणं तु ॥  
(ओनि ६९१, ६९२)

छह जीविकाय की रक्षा के लिए पात्रग्रहण विहित है । मंडली-संभोज में जो लाभ हैं, वे पात्रग्रहण में भी हैं । ग्लान, बाल, शैक्ष, गुरु, वृद्ध, असहिष्णु और अलब्धि-मान् - इन सबके उपकार के लिए पात्र-ग्रहण अपेक्षित है ।  
मंडली-संभोज (द्र. आहार)

आयरिए य गिलाणे पाहुणए दुल्लभे सहसदाणे ।  
संसत्तभत्तपाणे मत्तगपरिभोग अणुताओ ॥  
(ओनि ७१६)

आचार्य, ग्लान और अतिथि के लिए तथा दुर्लभ द्रव्य ग्रहण, सहसा ग्रहण एवं संसक्त भक्तपान ग्रहण के लिए मात्रक (पात्रविशेष) का उपयोग अनुज्ञात है ।

### पात्रबन्ध आदि

पत्ताबंधपमाणं भाणपमाणेण होइ कायव्वं ।  
जह गंठिमि कयंमि कोणा चउरंगुला हुंति ॥  
पत्तट्टवणं तह गुच्छओ य पायपडित्तेहणीआ य ।  
तिण्हंपि यप्पमाणं विहत्थि चउरंगुलं चेव ॥  
(ओनि ६९३, ६९४)

पात्रबन्ध --यह भाजनप्रमाण होता है तथा गंठ लगाने पर दोनों कोण चार अंगुलप्रमाण होते हैं । पात्र-स्थापन, पात्रकेसरिका तथा गोच्छग - ये तीनों एक बालिशत चार अंगुलप्रमाण होते हैं ।

रयमादिरक्खण्डा पत्तट्टवणं जिणेहि पन्नत्तं ।  
होइ पमज्जणहेउं तु गोच्छओ भाणवत्थाणं ॥

पाथपमज्जणहेउं केसरिया पाए पाए एक्केक्का ।  
गोच्छमपत्तट्टवणं एक्केक्कं गणणमाणेणं ॥  
(ओनि ६९५, ६९६)

पात्रस्थापन आदि का प्रयोजन—

पात्रस्थापन—रज आदि की सुरक्षा के लिए ।

गोच्छम—पात्र पटलों के प्रमार्जन के लिए ।

पात्रकेसरिका—पात्र प्रमार्जन के लिए ।

प्रत्येक मुनि एक-एक गोच्छम और पात्रस्थापन रख सकता है । प्रत्येक पात्र की एक-एक पात्रकेसरिका होती है ।

### ५. सुलक्षण पात्र तथा अलक्षण पात्र

वट्टं समचउरंसं होइ थिरं थावरं च वणं च ।

हुंडं वायाइदं भिन्नं च अधारणिज्जाइं ॥

(ओनि ६८६)

वृत्त, समचतुरस्र, सुप्रतिष्ठित, दीर्घकालस्थायी और स्निग्ध वर्ण वाला पात्र सुलक्षण होता है, वह ग्राह्य है ।

विषम, शुष्क, संकुचित और सच्छिद्र पात्र अप-लक्षणयुक्त होता है, वह अग्राह्य है ।

संठियमि भवे लाभो, पतिट्ठा सुपतिट्ठिते ।

निव्वणे कित्तिमारोगं, वन्नड्ढे नाणसंपथा ॥

(ओनि ६८७)

सुलक्षण पात्र	उपलब्धि
वृत्त-समचतुरस्र	लाभ
स्थिर	प्रतिष्ठा
निश्छिद्र	कीर्ति, आरोग्य
स्निग्ध वर्ण	ज्ञानसम्पदा

### अलक्षण पात्र

हुंडे चरित्तभेदो सबलंमि य चित्तविभमं जाणे ।

दुप्पते खीलसंठाणे मणे च चरणे च नो ठाणं ॥

पउमुष्पले अकुसलं, सव्वणे वणमादि से ।

अंतो बहिं च दड्ढंमि, मरणे तत्थ निहिसे ॥

(ओनि ६८८, ६८९)

अलक्षण पात्र	उपलब्धि
विषम (निम्नोन्नत)	—चारित्र्यविनाश
चित्तकबरा	—चित्तविभ्रम/चित्त विलुप्ति
अस्थिर तथा कील संस्थान वाला (दीर्घ-उच्च)	} गण और चारित्र्य में असंस्थिति
पद्मोत्पल (नीचे से स्थासक-आकार वाला)	
	—अकुशल

सन्नण (नख आदि से क्षत)

—व्रण

भीतर या बाहर से दग्ध

—मरण

### ६. औपग्रहिक उपधि

दंडए लट्टिया चेव चम्मए चम्मकोसए ।

चम्मच्छेदनपट्टेवि चिलिमिली धारए गुरु ॥

(ओनि ७२८)

साधु की औपग्रहिक उपधि—दण्ड, यष्टि, त्रियष्टि ।

गुरु की औपग्रहिक उपधि—चर्मकृति, चर्मकोश, चर्मपट्टिका, चर्मच्छेदन (कैची आदि) योगपट्ट और चिलिमिली (पर्दा) ।

वेयावच्चगरो वा नंदीभाणं धरे उवग्गहियं ।

सो खलु तस्स विसेसो पमाणजुत्तं तु सेसाणं ॥

(ओभा ३२१)

एयं चेव पमाणं सविसेसयरं अणुग्गहपवत्तं ।

कंतारे दुब्भिक्खे रोहगमाईसु भइयव्वं ॥

(ओनि ६८३)

वेयावृत्य करने वाला साधु बृहत्तर प्रमाण वाला नन्दीभाजन (पात्रविशेष) रख सकता है । यह औपग्रहिक उपधि है । शत्रु द्वारा नगर पर आक्रमण किये जाने पर, दुर्भिक्ष, अटवीगमन आदि विशेष प्रसंगों पर ही इसका उपयोग किया जाता है । शेष साधुओं के लिए प्रमाणयुक्त पात्र ही विहित है ।

### ७. उपधि परिग्रह नहीं

अज्झत्थत्रिसोहीए उवगरणं बाहिरं परिहरंतो ।

अप्परिग्गहीत्ति भणिओ जिणेहि तेजुक्कदंसीहि ॥

(ओनि ७४५)

अध्यात्म विशुद्धि के हेतु से बाह्य—वस्त्र-पात्र आदि उपकरण धारण करने वाले मुनि को त्रिलोकदर्शी अर्हंतों ने अपरिग्रही कहा है । उसके धर्मोपकरण परिग्रह नहीं हैं ।

### ८. एषणीय उपधि-ग्रहण

उग्गमउप्पायणामुदं, एसणादोसवज्जियं ।

उवहिं धारए भिक्खू, जोगाणं साहणट्टया ॥

(ओनि ७४३)

मुनि संयमयोगों की साधना के लिए उद्गम, उत्पाद और एषणा के दोषों से रहित उपधि धारण करता है ।

### ९. उपधि-परित्याग के परिणाम

...उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ । निरुवहिए णं जीवे निक्कखे उवहिमंतरेण य न संकलित्थइ ।

(उ २१।३५)

उपधि के प्रत्याख्यान से जीव स्वाध्याय, ध्यान में होने वाली क्षति से बच जाता है। उपधि रहित मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में मानसिक संकलेश को प्राप्त नहीं होता।

**उपभोग-परिभोग-परिमाण**—भोजन, व्यवसाय आदि का परिसीमन।  
श्रावक का छठा व्रत।  
(द्र. श्रावक)

**उपमान**—सादृश्य और वैयादृश्य के आधार पर किया जाने वाला ज्ञान। प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के आधार पर अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान।

### १. उपमान के प्रकार

- ० साधर्म्योपनीत
- ० वैधर्म्योपनीत

### २. साधर्म्योपनीत

- ० किञ्चित् साधर्म्य
- ० प्रायःसाधर्म्य
- ० सर्वसाधर्म्य

### ३. वैधर्म्योपनीत

- ० किञ्चित् वैधर्म्य
- ० प्रायःवैधर्म्य
- ० सर्ववैधर्म्य

\* उपमान : ज्ञानगुणप्रमाण का भेद (द्र. ज्ञान)

### १. उपमान के प्रकार

ओवम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—साहम्मोवणीए य वेहम्मोवणीए य। (अनु ५३०)

उपमान के दो प्रकार हैं— साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत।

### २. साधर्म्योपनीत

साहम्मोवणीए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—किञ्चि-साहम्मे पायसाहम्मे सव्वसाहम्मे। (अनु ५३१)

साधर्म्योपनीत के तीन प्रकार हैं—किञ्चित् साधर्म्य, प्रायः साधर्म्य और सर्व साधर्म्य।

### किञ्चित् साधर्म्य

किञ्चिसाहम्मे—जहा मंदरो तथा सरिसवो, जहा

सरिसवो तथा मंदरो। जहा समुदो तथा गोप्पयं, जहा गोप्पयं तथा समुदो। (अनु ५४०)

किञ्चित् साधर्म्य—जैसा मेरु है वैसा सर्षप है, जैसा सर्षप है वैसा मेरु है। जैसा समुद्र है वैसा गोष्पद है, जैसा गोष्पद है वैसा समुद्र है।

### प्रायःसाधर्म्य

पायसाहम्मे—जहा गो तथा गवओ, जहा गवओ तथा गो। (अनु ५४१)

प्रायः साधर्म्य—जैसी गाय है वैसा गवय है, जैसा गवय है वैसी गाय है।

### सर्वसाधर्म्य

सव्वसाहम्मे ओवम्मं नत्थि, तथा वि तस्स तेणेव ओवम्मं कीरइ, जहा अरहंतेहि अरहंतसरिसं कयं। (अनु ५४२)

सर्वसाधर्म्य में उपमा नहीं होती फिर भी उसको उसी से उपमित किया गया है, जैसे अर्हत् ने अर्हत् जैसा कार्य किया।

### ३. वैधर्म्योपनीत

वेहम्मोवणीए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—किञ्चि-वेहम्मे पायवेहम्मे सव्ववेहम्मे। (अनु ५४३)

वैधर्म्योपनीत के तीन प्रकार हैं—किञ्चित् वैधर्म्य, प्रायः वैधर्म्य और सर्व वैधर्म्य।

### किञ्चित् वैधर्म्य

किञ्चिवेहम्मे—जहा सामलेरो न तथा बाहुलेरो, जहा बाहुलेरो न तथा सामलेरो। (अनु ५४४)

किञ्चित् वैधर्म्य—जैसा शाबलेय (चितकबरा) है वैसा बाहुलेय (काला) नहीं है, जैसा बाहुलेय है वैसा शाबलेय नहीं है।

### प्रायःवैधर्म्य

पायवेहम्मे—जहा वायसो न तथा पायसो, जहा पायसो न तथा वायसो। (अनु ५४५)

प्रायःवैधर्म्य—जैसा वायस (कौआ) है वैसा पायस (खीर) नहीं है, जैसा पायस है वैसा वायस नहीं है।

### सर्ववैधर्म्य

सव्ववेहम्मे ओवम्मं नत्थि, तथा वि तस्स तेणेव ओवम्मं कीरइ, जहा—नीचेण नीचसरिसं कयं, काकेण

काकसरिसं कयं ।

(अनु ५४६)

सर्वबर्धर्म्य में उपमा नहीं होती फिर भी उस उपमेव को उसी उपमान के द्वारा उपमित किया जाता है । जैसे - नीच ने नीच जैसा कार्य किया । कौए ने कौए जैसा कार्य किया ।

**उपशांतमोह**—ग्यारहवां गुणस्थान जहां मोह उपशांत हो जाता है ।

(द्र. गुणस्थान)

**उपसम्पदा**—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को विशेष प्राप्ति के लिए कुछ समय तक दूसरे आचार्य का शिक्ष्यत्व स्वीकार करना । समाचारी का एक भेद ।

(द्र. सामाचारी)

**उपसर्ग उपद्रव** ।

उवसज्जणमुवसर्गो तेण तओ व उवसज्जए जम्हा । ....

(विभा ३००५)

उप—सामीप्येन सृज्यन्ते—तिर्यग्मनुष्यामरैः कर्म-वशतेनात्मना क्रियन्त इत्युपसर्गाः । (उशावृ प १०९)

कर्म के बशीभूत हो तिर्यंच, मनुष्य और देव द्वारा साक्षात् कृत उपद्रव उपसर्ग कहलाते हैं ।

....सो दिव्व-मणुय-तेरिच्छियायसंवेयणाभेओ ॥

(विभा ३००५)

उपसर्ग के चार प्रकार हैं—

१. दिव्य—देवकृत ।
२. मानुष—मनुष्यकृत ।
३. तैर्यग्यं, निज—तिर्यंचकृत ।
४. आत्मसंवेदनीय—स्वयं के शरीर से होने वाले ।

**उपसर्ग चतुष्टयी के हेतु**

हास-प्पओस-वीमंसओ विमायाए वा भवो दिव्वो ।

एवं चिय माणुस्सो कुसीलपडिसेवणचउत्थो ॥

तिरिओ भयप्पओसाहारावच्चाइरक्खणत्थं वा ।

घट्ट-त्थंभण-पवडण-लेसणओ चायसंवेओ ॥

(विभा ३००६, ३००७)

देव चार कारणों से उपसर्ग कर सकते हैं—

१. हास्य-क्रीडा के लिए २. प्रद्वेष—पूर्वभव सम्बन्धी

द्वेष के कारण ३. विमर्श—प्रतिज्ञा से चलित करने के लिए । ४. विमिश्र—हास्य, प्रद्वेष, विमर्श आदि विविध प्रकारों से ।

मनुष्य संबंधी उपसर्ग के चार कारण हैं—

१. हास्य से २. प्रद्वेष से ३. विमर्श से और ४. कुशील प्रतिसेवन के लिए ।

तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग के चार कारण हैं—

१. भय से २. द्वेष से ३. आहार के लिए ४. संतान और अपने स्थान की सुरक्षा के लिए ।

आत्मसंवेदनीय उपसर्ग के चार कारण हैं—

१. आंखों में तिनका गिरना २. अंगों का जड़ीभूत होना ३. गड्ढे में गिरना ४. विगुणित बाहु आदि का परस्पर प्रलेष ।

दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे ।

जे भिवखू सहई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

(उ ३१/५)

जो भिक्षु देव, तिर्यंच और मनुष्य संबंधी उपसर्गों को सदा सहता है, वह भव-भ्रमण नहीं करता ।

**भगवान् महावीर के उपसर्ग** । (द्र. तीर्थंकर)

**उपाध्याय**—सूत्रदाता, अध्ययन-अध्यापन में कुशल । (द्र. आचार्य)

पंचपरमेष्ठी में चतुर्थ पद पर प्रतिष्ठित । (द्र. नमस्कार)

**उपासक प्रतिमा**—श्रमणोपासक की साधना का एक विशिष्ट प्रयोग ।

(द्र. प्रतिमा)

**ऊनोदरी**—आहार, उपधि, कषाय आदि की अल्पता । बाह्य तप का प्रकार ।

(द्र. तप)

**१. ऊनोदरी के पांच प्रकार**

○ द्रव्य

○ क्षेत्र

\* क्षेत्र ऊनोदरी के प्रकार

(द्र. भिक्षाचर्या)

○ काल

○ भाव

○ पर्यव



## २. ऊनोदरी के दो प्रकार

- उपकरण तथा भक्तपान ऊनोदरी
- भाव ऊनोदरी
- \* पूर्ण आहार का प्रमाण

(द्र. आहार)

## १. ऊनोदरी के पांच प्रकार

ओमोपरियं पंचहा, समासेण वियाहियं ।

दब्बओ खेतकालेणं, भावेणं पञ्जवेहि य ॥

(उ ३०।१४)

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यव की दृष्टि से ऊनोदरी तप पांच प्रकार का है ।

## द्रव्य ऊनोदरी

जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे ।

जहन्नेणेगसिस्थाई, एवं दब्बेण ऊ भवे ॥

(उ ३०।१५)

जिसका जितना आहार है, उससे जो जघन्यतः एक सिक्थ (धान्यकण) और उत्कृष्टतः एक कवल कम खाता है, उसके द्रव्य से अवमौदर्य तप होता है ।

## क्षेत्र ऊनोदरी

गामे नगरे तह रायहाणिनिगमे य आगरे पत्ती ।

खेडे कव्वडदोणमुहपट्टणमडंबसंभाहे ॥

आसमपए विहारे, सन्निवेशे समायघोसे य ।

धलिसेणाखंधारे, सत्थे संवट्टकोट्टे य ॥

वाडेसु व रच्छासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेतं ॥

कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥

(उ ३०।१६-१८)

मुनि ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पत्ती, खेड़ा, कबंठ, द्रोणमुख, पत्तन, मंडप, संवाध, आश्रमपद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, संवर्त, कोट, पाड़ा, गलियां, घर—इनमें अथवा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रों में से पूर्व निश्चय के अनुसार निर्धारित क्षेत्र में भिक्षा के लिए जा सकता है। इस प्रकार यह क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है ।

## काल ऊनोदरी

दिवसस्स पोरुसीणं, चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।

एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वो ॥

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाइ घासमेसंतो ।

चउभायूणाए वा, एवं कालेण ऊ भवे ॥

(उ ३०।२०, २१)

दिवस के चार प्रहरों में जितना अभिग्रहकाल हो उसमें भिक्षा के लिए जाऊंगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के काल से अवमौदर्य तप होता है। अथवा कुछ न्यून तीसरे प्रहर (चतुर्थ भाग आदि न्यून प्रहर) में जो भिक्षा की एषणा करता है, उसे काल से अवमौदर्य तप होता है ।

## भाव ऊनोदरी

इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वाणलंकिओ वा वि ।

अन्नधरवयत्थो वा, अन्नधरेणं व वत्थेणं ॥

अन्नेण विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयंते उ ।

एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वो ॥

(उ ३०।२२, २३)

स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलंकृत, अमुक वय वाले, अमुक वस्त्र वाले, अमुक विशेष प्रकार की दशा, वर्ण या भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के भाव से अवमौदर्य तप होता है ।

## पर्यव ऊनोदरी

दब्बे खेतं काले, भावम्मि य आहिया उ जे भावा ।

एएहि ओमचरओ, पञ्जवचरओ भवे भिवखू ॥

(उ ३०।२४)

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो पर्याय कहे गए हैं, उन सबके द्वारा अवमौदर्य करने वाला भिक्षु पर्यवचरक होता है ।

## २. ऊनोदरी के दो प्रकार

सा दुविहा—दब्बे भावे य । (दअचू पृ १३)

ऊनोदरी के दो प्रकार हैं—द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी ।

## उपकरण तथा भक्तपान ऊनोदरी

दब्बे उवकरणे भक्तपाणे य । उवकरणे एगवत्थधारित्तं एवमादि । भक्तपाणोमोदरिया अप्पप्पणो मुहप्पमाणेण कवल्लेणं पंचविग्गप्पा—अप्पाहारोमोदरिया, अवड्ढो-मोदरिया, दुभागोमोदरिया, पमाणोमोदरिया, किच्चूणो-मोदरिया । (दअचू पृ १३)

द्रव्य ऊनोदरी के दो प्रकार हैं—

१. उपकरण ऊनोदरी—एक वस्त्र धारण करना आदि ।

२. भक्तपान ऊनोदरी—अपने मुखप्रमाण ग्रास के

आधार पर इसके पांच प्रकार हैं—

१. अल्पाहार— आठ ग्रास प्रमाण ।
२. अपार्द्ध— बारह ग्रास प्रमाण ।
३. द्विभाग— सोलह ग्रास प्रमाण ।
४. प्रमाणोपेत— चौबीस ग्रास प्रमाण ।
५. किञ्चित् ऊनोदरी— इकतीस ग्रास प्रमाण ।

### भाव ऊनोदरी

भावोमोयरिया चउण्ह कसायाणं उदयनिरोहो उदय-  
प्पत्तविफलीकरणं च । (दअच् पृ १३)

क्रोध आदि चार कषायों के उदय का निरोध और उदयप्राप्त का विफलीकरण भाव ऊनोदरी है ।

ऋजुमति— मनःपर्यवज्ञान का एक भेद ।

(द्र. मनःपर्यवज्ञान)

ऋजुसूत्र— वर्तमान पर्याय को स्वीकार करने वाला अभिप्राय । वर्तमान क्षण को ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण । (द्र. नय)

ऋद्धि— ऐश्वर्य । (द्र. लब्धि)

ऋषभ— प्रथम तीर्थंकर (द्र. तीर्थंकर)

एकत्व भावना— अपने आपमें अकेलेपन का अनुभव करना । (द्र. अनुप्रेक्षा)

एकसिद्ध— एक समय में एक जीव का सिद्ध होना । (द्र. सिद्ध)

एकेन्द्रिय— वे जीव जिनके केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है । (द्र. जीव)

एवंभूत— क्रिया की परिणति के अनुरूप ही शब्द के प्रयोग को स्वीकार करने वाला अभिप्राय । (द्र. नय)

एषणासमिति— कल्पनीय आहार, पानो आदि को गवेषणा करना । समिति का तीसरा भेद ।

### १. एषणा की परिभाषा

#### २. एषणा के प्रकार—

- ० गवेषणा— उद्गम और उत्पादन के दोष
- ० ग्रहणेषणा— एषणा के दोष
- \* परिभोगेषणा— मांडलिक दोष (द्र. आहार)

### ३. उद्गम-उत्पादन की परिभाषा

#### ४. उद्गम दोषों के प्रकार और विवरण

#### ५. उद्गम : विशोधिऋकोटि-अविशोधिकोटि

#### ६. उत्पादन दोषों के प्रकार

#### ७. ग्रहणेषणा की परिभाषा

#### ८. ग्रहणेषणा के प्रकार और विवरण

#### ९. नवकोटि शुद्ध भिक्षा

#### १०. अनेषणीय आहार आदि के दुष्परिणाम

- \* एषणा : समिति का एक प्रकार (द्र. समिति)
- \* एषणा के सात प्रकार (द्र. भिक्षाचर्या)
- \* औद्देशिक आदि अनाचार (द्र. अनाचार)
- \* निर्दोष आहार ग्रहण-विधि (द्र. गोचरचर्या)
- \* सदोष भिक्षा और कायोत्सर्ग (द्र. कायोत्सर्ग)

### १. एषणा की परिभाषा

एषणासमितिनमि गोचरगतैन मुनिना सम्यगुप-  
युक्तेन नवकोटिपरिशुद्धं ग्राह्यम् । (आवहावृ २ पृ ८४)

गोचरचर्या के समय मुनि सावधानी से नवकोटि-परिशुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है, इसे एषणा समिति कहा जाता है ।

एत्थ य समणमुविहिया परकडपरनिट्टियं विगयधूमं ।  
आहारं एसति जोगाणं साहणट्ठाए ॥  
(दिनि ४३)

संयमयोगों की साधना के लिए श्रमण दूसरों के लिए कृत—निष्पन्न, धूम आदि दोषों से मुक्त आहार की एषणा करते हैं ।

### २. एषणा के प्रकार

गवेषणाए गहणे य, परिभोगेषणा य जा ।

आहारोवहिसेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए ॥

(उ २४।११)

एषणा के तीन प्रकार हैं— गवेषणा, ग्रहणेषणा और परिभोगेषणा । मुनि आहार, उपधि और शय्या के विषय में इन तीनों का विशोधन करे ।

उगमुप्पयणं पढमे, बीए सोहेज्ज एसणं ।

परिभोगमि चउवकं, विसोहेज्ज जयं जई ॥

(उ २४।१२)

यतनाशील यति प्रथम एषणा में उद्गम और उत्पादन के दोषों का शोधन करे । दूसरी एषणा में एषणा (ग्रहण) सम्बन्धी दोषों का शोधन करे और परिभोगेषणा

में दोषचतुष्क (संयोजना, अप्रमाण, अंगार-धूम और कारण) का शोधन करे।

### ३. उद्गम-उत्पादन की परिभाषा

सोलस उगमदोसे गिहिणो उ समुट्टिए वियाणाहि ।  
उप्यायणाए दोसे साहूउ समुट्टिए जाण ॥  
(पिनि ४०३)

उद्गम के सोलह दोष गृहस्थ द्वारा समुत्थित हैं।  
उत्पादना के सोलह दोष साधु के द्वारा समुत्थित हैं।

### ४. उद्गमदोष के प्रकार और विवरण

आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य ।  
ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे ॥  
परियट्टिए अभिहडे उभिन्ने मालोहडे इय ।  
अच्छिज्जे अणिसट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥  
(पिनि ९२, ९३)

उद्गम के सोलह दोष—

१. आधाकर्म	९. प्रामित्य
२. औद्देशिक	१०. परिवर्त
३. पूतिकर्म	११. अभिहृत
४. मिश्रजात	१२. उदभिन्न
५. स्थापना	१३. मालापहृत
६. प्राभृतिका	१४. आच्छेद्य
७. प्रादुष्करण	१५. अनिसृष्ट
८. श्रौत	१६. अध्यवतरक

### १. आधाकर्म

ओरालसरीराणं उद्वण तिवायणं च जस्सट्ठा ।  
मणमाहिस्ता कीरइ, आहाकम्मं तयं वेति ॥  
(पिनि ९७)

आधाकर्म का अर्थ है—मन से साधु के निमित्त पचन-पाचन आदि का संकल्प कर आहार आदि लिप्यन्न करना।

### आधाकर्म के दुष्परिणाम

बंधइ अहेभवाऊ पकरेइ अहोमुहाइं कम्माइं ।  
घणकरणं तिन्वेण उ भावेण चओ उवचओ य ॥  
(पिनि १०१)

आधाकर्म आहार ग्रहण करने वाला मुनि अधोगति का आयुष्य बांधता है। वह कटु फल वाली अन्य कर्म-प्रकृतियां तथा तीव्र अशुभ परिणामों से निकाचित

कर्म बांधता हुआ प्रचुर कर्मों का चय-उपचय करता है।  
भावावधारमाहेउमप्पगे किचिनुणचरणग्गो ।  
आहाकम्मग्गाही अहो अहो नेइ अप्पाणं ॥

(पिनि १००)

आधाकर्म आहार ग्रहण करने वाला उपशांत मोह गुणस्थानवर्ती मुनि भी अपने आपको हीन-हीनतर अध्व-वसायों में ले जाता हुआ नरक में जाता है। सामान्य मुनि की तो बात ही क्या ?

तत्थाणता उ चरित्तपज्जवा ह्योति संजमट्टाणं ।  
संखाईयाणि उ ताणि कंडगं होइ नायव्वं ॥  
संखाईयाणि उ कंडगाणि छट्टाणगं विणिट्ठिट्ठं ।  
छट्टाणा उ असंखा संजमसेट्ठी भुण्येव्वा ॥  
किण्हाइया उ लेसा उक्कोसविसुद्धिठिड्विसेसाओ ।  
एसि विसुद्धाणं अप्पं तग्गाहगो कुणइ ॥  
(पिभा २८-३०)

चारित्र के पर्यव अनन्त हैं। वे संयम-स्थान कहलाते हैं। समुदित असंख्येय संयम-स्थानों की आगमिक संज्ञा है 'कण्डक'। असंख्येय कंडक षट्स्थानक (छह प्रकार की वृद्धि-हानि वाले) होते हैं।

असंख्येय लोकाकाशप्रदेशपरिमाण षट्स्थानक की संज्ञा है—संयम-श्रेणि। कृष्ण, नील आदि छह लक्ष्याएं हैं। सर्वोत्कृष्ट सातवेदनीय आदि विशुद्ध कर्म प्रकृतियों की विशुद्ध स्थिति 'स्थिति विशेष' कहलाती है।

इन संयम-स्थानों आदि से संबंधित शुभ स्थानों में वर्तमान मुनि आधाकर्मदोषयुक्त आहार ग्रहण कर अपनी आत्मा को हीन-हीनतर स्थानों में ले जाता है। यह भाव-अधःकर्म है।

### २. औद्देशिक

उद्दिस्स कज्जइ तं उद्देसियं, साधुनिमित्तं आरंभोत्ति वुत्तं भवति ।  
(दजिचू पृ १११)

उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः ।

(दहावृ प ११६)

उद्देशः—यावदर्थिकादिप्रणिधानं तेन निवृत्तमीद्देशिकम् ।  
(पिनिवृ प ३५)

औद्देशिक के दो अर्थ हैं—

१. निर्ग्रन्थ को दान देने के उद्देश्य से आरंभ-समारंभ कर बनाया गया आहार आदि।

२. परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को दान

देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, वस्तु अथवा मकान आदि ।

वहणं तसथावराण होइ, पुढवितणकट्टुनिस्सियाणं ।  
तम्हा उद्देसियं न भुंजे... ॥  
(द १०।४)

मुनि औद्देशिक भोजन न करे, क्योंकि भोजन बनाने में पृथ्वी, वृण और काष्ठ के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है ।

### ३. पूतिकर्म

समणकडाहाकम्मं समणणं जं कडेण मीसं तु ।  
आहार उवहि वसही सव्वं तं पूइयं होइ ॥  
(पिनि २६९)

जो आहार आदि श्रमण के लिए बनाया जाए, वह आधाकर्म कहलाता है । उस आधाकर्म से मिश्रित जो आहार आदि होते हैं, वे पूतिकर्मयुक्त कहलाते हैं ।

पढमदिवसंमि कम्मं तिन्नि उ दिवसाणि पूइयं होइ ।  
पूर्इसु तिसु न कप्पइ कप्पइ तइओ जया कप्पो ॥  
(पिनि २६८)

जिस घर में जिस दिन आधाकर्म आहार बने उस दिन और उसके बाद तीन दिन तक उस घर का आहार पूति-दोष युक्त होता है । इसलिए तीन दिन तक मुनि उस घर से भिक्षा नहीं ले सकता ।

### ४. मिश्रजात

मीसज्जायं जावंतियं च पासंडिसाहुमीसं च ।  
सहसंतरं न कप्पइ कप्पइ कप्पे कए तिगुणे ॥  
अत्तट्ठा रंधंते पासंडीणंपि बिइयओ भणइ ।  
निग्गंधट्ठा तइओ अत्तट्ठाएऽवि रंधंते ॥  
(पिनि २७१)

गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए, उसके साथ-साथ साधु के लिए भी पका ले, वह 'मिश्रजात' दोष है । उसके तीन प्रकार हैं—

१. यावर्दाधिक मिश्र—भिक्षाचर और कुटुम्ब के लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'यावर्दाधिक' कहलाता है ।
२. पाखण्डिमिश्र—पाखण्डी और अपने लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'पाखण्ड-मिश्र' कहलाता है ।
३. साधु-मिश्र—जो भोजन केवल साधु और अपने लिए

एक साथ पकाया जाए, वह 'साधु-मिश्र' कहलाता है ।

मिश्रजात आहार हजार व्यक्तियों से अंतरित होने पर भी ग्राह्य नहीं है । जिस पात्र में मिश्रजात आहार ले लिया हो तो उसे विसर्जित कर पात्र का तीन बार प्रक्षालन करने से शुद्धि होती है ।

विसवाइय पिसियासी मरइ तमन्नोवि खाइउं मरइ ।  
इय वारंपरमरणे अणुमरइ सहस्ससो जाव ॥  
एवं मीसज्जायं चरणप्पं हणइ साहु सुविसुद्धं ।  
तम्हा तं नो कप्पइ पुरिससहस्संतरगयंपि ॥  
(पिनि २७४, २७५)

एक व्यक्ति वेधक विष खाकर मरता है, उस मृत व्यक्ति के मांस को खाने वाला दूसरा व्यक्ति भी मर जाता है । दूसरे मृत व्यक्ति के मांस को खाने वाला तीसरा व्यक्ति भी मर जाता है । यह क्रम हजार व्यक्तियों तक चलता है । जैसे वेधक विष का प्रभाव हजारवें व्यक्ति को भी मार देता है, वैसे ही मिश्रजात आहार सहस्र पुरुषान्तर होने पर भी शुद्ध नहीं होता और उसको भोगने वाले श्रमण के चारित्र्य का हनन कर देता है ।

### ५. स्थापना

ठवणा भिक्खायरियाण ठविया उ ।

(आवहावृ २ पृ ५७)

भिक्षाचरों के लिए स्थापित की हुई भिक्षा लेना स्थापना दोष है ।

साधुभ्यो देयमित्तबुद्ध्या देयवस्तुनः कियन्तं कालं व्यवस्थापनं स्थापना ।  
(पिनिवृ प ३५)

यह वस्तु अमुक साधु के लिए है—इस बुद्धि से देय वस्तु को कुछ समय के लिए स्थापित करना स्थापना दोष है ।

### ६. प्राभृतिका

कस्मैचिदिष्टाय पूज्याय वा बहुमानपुरस्सरीकारेण यदभीष्टं वस्तु दीयते तत्प्राभृतमुच्यते । ततः प्राभृतमिव प्राभृतं साधुभ्यो भिक्षादिकं देयं वस्तु । (पिनिवृ प ३५)

प्राभृत का अर्थ है—अपने इष्ट अथवा पूजनीय व्यक्ति को बहुमानपूर्वक अभीष्ट वस्तु देना । साधु को उपहारस्वरूप विशिष्ट वस्तु देना प्राभृतिका है ।

७. प्रावृष्करण

पाओकरणं दुविहं पागडकरणं पगासकरणं च ।  
पागड संकामण कुड्डदारपाए य छिन्ने वा ॥  
(पिनि २९८)

प्रावृष्करण के दो प्रकार हैं—

१. प्रकटकरण—देय वस्तु को अंधकार से हटाकर प्रकाशित स्थान में रखना ।
  २. प्रकाशकरण—अंधकार युक्त स्थान को प्रकाशित करने के लिए दीवार में छिद्र करना अथवा मणि, दीपक, अग्नि आदि से उसे प्रकाशित करना ।
- नीयदुवारं तमसं, कोट्टुगं परिवज्जए ।  
अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥  
(द ५।१।२०)

जहां चक्षु का विषय न होने के कारण प्राणी न देखे जा सकें, वैसे निम्न द्वार वाले अंधकारमय कोष्ठक का मुनि परिवर्जन करे ।

८. क्रीत

क्रीतं यत्साध्वर्यं मूल्येन परिगृहीतम् ।  
(पिनिवृ प ३५)

साधु के निमित्त खरीद कर भिक्षा देना क्रीत दोष है ।

९. प्रामित्य

प्रामित्यं—साध्वर्थमुच्छिद्य दानलक्षणम् ।  
(दहावृ प १७४)

प्रामित्य का अर्थ है—साधु को देने के लिए कोई वस्तु दूसरों से उधार लेना ।

१०. परिवर्त्तं

परिवर्त्तितं—यत्साधुनिमित्तं कृतपरावर्त्तम् ।  
(पिनिवृ प ३५)

साधु को देने के निमित्त वस्तु का विनिमय कर भिक्षा देना परिवर्त्तं दोष है ।

११. अभिहृत

अभिहृतं—यत्साधुदानाय स्वग्रामात्परग्रामाद्वा समा-  
नीतम् ।  
(पिनिवृ प ३५)

साधु को देने के लिए दूर से अर्थात् अपने ग्राम से अथवा दूसरे ग्राम से लाकर भिक्षा देना अभिहृत दोष है ।

१२. उद्भिन्न

पिहिउब्भिन्नकवाडे फासुय अप्फासुए य बोद्धव्वे ।  
अप्फासु पुढविमाई फासुय छगणाइदरए ॥  
(पिनि ३४७)

उद्भिन्न दोष के दो प्रकार हैं—

१. विहित उद्भिन्न—चपड़ी आदि से बंद पात्र का मुंह खोल कर भिक्षा देना ।
२. कपाट उद्भिन्न—बंद किवाड़ को खोलकर भिक्षा देना ।  
दगवारएण पिहियं, नीसाए पीढएण वा ।  
लोढेण वा वि लेवेण, सिलेसेण व केणइ ॥  
तं च उब्भिदिद्या देज्जा, समणट्टाए व दावए ।  
दैंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥  
(द ५।१।४५, ४६)

जल-कुंभ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यों से पिहित (ढके, लिपे और मूंदे हुए) पात्र का श्रमण के लिए मुंह खोलकर, आहार देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता । क्योंकि यह उद्भिन्न दोषयुक्त भिक्षा है ।

उब्भिन्ने छक्काया दाणे कयविक्रए य अहिगरणं ।  
ते चेव कवाडमि वि सविसेसा जंतमाईसु ॥  
(पिनि ३४८)

उद्भिन्न दोषयुक्त भिक्षा लेने से उत्पन्न दोष—

१. छहकायविराधना—कुप्पी आदि को खोलते समय और पुनः बन्द करते समय सचित्त पृथ्वी, पानी आदि की विराधना होती है । लाख आदि द्रव्यों से मुद्रित करते समय अग्नि और वायु की विराधना होती है तथा मिट्टी में होने वाले चींटी आदि प्राणियों की भी विराधना होती है ।
२. अधिकरण—घी, तैल आदि को देते हुए या क्रय-विक्रय करते हुए हिंसा आदि दोष लगते हैं ।

१३. मालापहृत दोष

निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ताणमारुहे ।  
मंचं कीलं च पासायं, समणट्टाए व दावए ॥  
दुरूहमाणी पवडेज्जा, हत्थं पायं व लूसए ।  
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा, जे य तन्निस्सिया जगा ॥  
(द ५।१।६७, ६८)

श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक और पीढे को

ऊँचा कर, मचान, स्तम्भ और प्रासाद पर चढ़ भक्तपान लाये तो साधु उसे ग्रहण न करे। निसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है। हाथ-पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दबकर पृथ्वी के जीवों की तथा पृथ्वी आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है।

#### १४. आच्छेद्य

अच्छिज्जं पि य तिविहं पभू य सामी य तेणए चेव ।  
अच्छिज्जं पडिकुट्ठं समणाण न कप्पए धेतुं ॥  
गोवालए य भयएखरए पुत्ते य धूय सुण्हाए ।  
अचियत्त संखडाई केइ पओसं जहा गोवो ॥  
(पिनि ३६६, ३६७)

आच्छेद्य के तीन प्रकार हैं—

१. प्रभु—गृहस्वामी अपने पुत्र, पुत्री, नौकर, ग्वालों आदि की वस्तु को बलात् छीनकर साधु को देता है—यह प्रभु आच्छेद्य दोष है।
२. स्वामी—ग्रामनायक किसी कुटुम्ब आदि की वस्तु बलात् छीनकर साधु को देता है—यह स्वामी आच्छेद्य दोष है।
३. स्तेन—चोर किसी से वस्तु को छीनकर साधु को देता है—यह स्तेन आच्छेद्य दोष है।

बलात् छीनकर दी हुई भिक्षा लेने से साधु के निम्न दोषों की संभावना रहती है—अप्रीति, कलह, मन्तराय, प्रद्वेष, आश्रय या ग्राम से निष्काशन, आहार आदि की अप्राप्ति आदि।

#### १५. अनिसृष्ट

अणिसिट्ठं पडिकुट्ठं अणुनायं कप्पए सुविहियाणं ।  
लड्हुग चोल्लग जंते संखडि खीरावणाईसु ॥  
(पिनि ३७७)

स्वामी की अनुमति के बिना आहार आदि ग्रहण करना अनिसृष्ट दोष है। इसके दो भेद हैं—

१. चोल्लक अनिसृष्ट—भोजन सम्बन्धी।
२. साधारण अनिसृष्ट—मोदक, क्षीर, कोल्हू, विवाह, दूकान आदि से संबंधित।

अननुज्ञात वस्तु ग्राह्य नहीं है। गृहस्थ द्वारा अनुज्ञात वस्तु सुविहित मुनि के लिए ग्राह्य है।

दोण्हं तु भुंजमाणं, एगो तत्थ निमंतए ।

दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥

(द ५।१।३७)

जिस आहार के दो स्वामी या भोक्ता हों और उनमें

से एक निमन्त्रित करे तो मुनि वह दिया जाने वाला आहार न ले। दूसरे के अभिप्राय को देखे—उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो ले ले।

दोण्हं तु भुंजमाणं, दोवि तत्थ निमंतए ।

दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥

(द ५।१।३८)

जिस आहार के दो स्वामी या भोक्ता हों और दोनों ही निमन्त्रित करें तो मुनि उस दीयमान आहार को, यदि वह एषणीय हो तो ले ले।

#### १६. अध्यवतर

अज्झोयरओ तिविहो जावतिय सघरमीसपासंडे ।

मूलमि य पुव्वकये ओयरई तिण्ह अट्टाए ॥

(पिनि ३८८)

अपने लिए पक रहे भोजन में साधु के निमित्त अधिक डालकर पकाना अध्यवतर दोष है। इसके तीन प्रकार हैं—

१. स्वगृहयावदधिक मिश्र।
२. स्वगृहसाधु मिश्र।
३. स्वगृह पाखंडी मिश्र।

#### मिश्र और अध्यवतर में अंतर

तंदुलजलआयाणं पुप्फफले सागवेसणे लोणे ।

परिमाणे नाणत्तं अज्झोयरमीसजाए य ॥

(पिनि ३८९)

मिश्रजात में चावल, जल, फल, शाक आदि का परिमाण साधु के निमित्त प्रारंभ में अधिक कर दिया जाता है और अध्यवतर में इनका परिमाण मध्य में बढ़ाया जाता है।

#### ५. उद्गम : विशोधिकाटि-अविशोधि कोटि

एसो सोलसभेओ, दुहा कीरइ उग्गमो ।

एगो विसोहिकोडी, अविशोही उ चावरा ॥

आहाकम्महुँसिय चरमतिगं पूइ मीसजाए य ।

वायरपाहुँडियावि य अज्झोयरए य चरिमदुगं ॥

कोडीकरणं दुविहं उग्गमकोडी विसोहिकोडी य ।

उग्गमकोडी छक्कं विसोहिकोडी अणेगविहा ॥

(पिनि ३९२, ३९३, ४०१)

सोलह उद्गम के दोष दो श्रेणियों में विभक्त हैं—  
अविशोधिकोटि और विशोधिकोटि।

१. अविशोधिकोटि—इसके छह प्रकार हैं—

आधाकर्म, औद्देशिक, पूतिकर्म, मिश्रजात, बादर-

प्राभृतिका तथा अध्यवतर ।

औद्देशिक, मिश्रजात तथा अध्यवतर के कुछ भेद अविशोधिकोटि में तथा कुछ भेद विशोधिकोटि में हैं ।

२. विशोधिकोटि—इसके अनेक प्रकार हैं—क्रीत, प्रामित्य आदि ।

### ६. उत्पादन दोषों के प्रकार

धाई दूह निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य ।  
कोहे माणे माया लोभे य ह्वंति दस एए ॥  
पुर्व्वि पच्छा सथव विज्जा मंते य चुन्न जोगे य ।  
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥  
(पिनि ४०८, ४०९)

उत्पादन के सोलह दोष हैं—

१. धात्री—धाय की तरह बालक को खिलाकर भिक्षा लेना ।
२. दूती—दूती की तरह संवाद बताकर भिक्षा लेना ।
३. निमित्त—भावी शुभ-अशुभ बताकर भिक्षा लेना ।
४. आजीव—अपनी जाति, कुल आदि का परिचय देकर भिक्षा लेना ।
५. वनीपक—भिखारी की तरह दीनता दिखाकर भिक्षा लेना ।
६. चिकित्सा—वैद्य की तरह चिकित्सा कर भिक्षा लेना ।
७. क्रोध—क्रोध का प्रदर्शन कर भिक्षा लेना ।
८. मान—मान ,, ,, ,, ,, ।
९. माया—माया ,, ,, ,, ,, ।
१०. लोभ—लोभ ,, ,, ,, ,, ।
११. संस्तव—परस्पर परिचय-प्रशंसा कर भिक्षा लेना ।
१२. विद्या—विद्या (देवी अधिष्ठित) का प्रयोग कर भिक्षा लेना ।
१३. मंत्र—मंत्र (देव अधिष्ठित) का प्रयोग कर भिक्षा लेना ।
१४. चूर्ण—अंजन, इष्ट का चूर्ण आदि का प्रयोग कर भिक्षा लेना ।
१५. योग—आकाशगमन आदि के निष्पादक द्रव्यसंघात का प्रयोग कर भिक्षा लेना ।
१६. मूलकर्म—गर्भपात, वशीकरण आदि के उपाय बताकर भिक्षा लेना ।

धम्मकह वाय खमणं निमित्त आयावणे सुयट्ठाणे ।

जाई कुल गण कम्मे सिप्पम्मि य भावकीयं तु ॥  
(पिनि ३१२)

मैं धर्मकथाकार हूँ, मैं वादी हूँ, मैं तपस्वी हूँ, मैं निमित्तज्ञ हूँ, मैं आतापना लेता हूँ, मैं आचार्य हूँ, मैं अमुक जाति, कुल और गण का हूँ, मेरा अमुक शिल्प-कर्म है—इस प्रकार जो आत्मभावों को खाद्य-पदार्थों के लोभ से बेच देता है—यह भावक्रीत दोष है ।

इत्थियं पुरिसं वा वि, डहरं वा महल्लगं ।

बंदमाणो न जाएज्जा, नो य णं फरुसं वए ॥

(द ५।२।२९)

मुनि स्त्री या पुरुष, बाल या वृद्ध की वन्दना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे, (न देने पर) कठोर वचन न बोले ।

### ७. ग्रहणैषणा की परिभाषा

एवं तु गविट्ठस्सा उग्गमउप्पायणाविसुद्धस्स ।

गहणविसोहिविसुद्धस्स होइ गहणं तु पिडस्स ॥

(पिनि ५१३)

उद्गम और उत्पादन के दोषों से रहित गवेषणा करने के पश्चात् शंका आदि एषणा के दोषों से विशुद्ध आहार का ग्रहण करना ग्रहणैषणा है ।

....ग्रहणेसणाइ दोसे आयपरसमुट्टिए वोच्छं ॥

दोन्न उ साहुसमुत्था संकिय तह भावओऽपरिणयं च ।

सेसा अट्टवि नियमा गिहिणो य समुट्टिए जाण ॥

(पिनि ५१४, ५१५)

ग्रहणैषणा के दोष साधु और गृहस्थ—दोनों से संबंधित हैं । शंकित और भावतः अपरिणत—ये दो दोष साधु से समुत्थित तथा शेष आठ दोष गृहस्थ से समुत्थित हैं ।

### ८. ग्रहणैषणा के प्रकार और विवरण

संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय वायगुम्मीसे ।  
अपरिणय लित्त छड्डिय एसणदोसा दस ह्वंति ॥  
(पिनि ५२०)

ग्रहणैषणा के दस प्रकार हैं—

१. शंकित—आधाकर्म आदि दोषों की संभावना ।
२. अक्षित—सचित्त रजों से युक्त हाथ आदि ।
३. निक्षिप्त—सचित्त वस्तु पर स्थापित देय वस्तु ।
४. पिहित—सचित्त वस्तु से ढकी हुई देय वस्तु ।

५. संहृत—देय पात्र से सचित्त निकालकर देना ।
६. दायक—अविधि से देने वाला अंधा, पंगु व्यक्ति ।
७. उन्मिथ्र—सचित्त और अचित्त का मिश्रण ।
८. अपरिणत—जो पूर्ण प्रासुक न हो ।
९. लिप्त—खरड़ा हुआ, वही आदि से लिप्त पात्र आदि से देना ।
१०. छदित—अशन आदि को भूमि पर गिराते हुए देना ।

## १. शंकित

जं भवे भक्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकियं ।  
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

(द ५।१।४४)

जो भक्तपान कल्प और अकल्प की दृष्टि से शंका-युक्त हो, उसे देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

## २. अक्षित

दुविहं न मक्खियं खलु सच्चित्तं चैव होइ अच्चित्तं ।  
सच्चित्तं पुणं तिविहं अच्चित्तं होइ दुविहं तु ॥  
(पिनि ५३१)

अक्षित के दो प्रकार हैं—

१. सचित्त अक्षित—सचित्त वस्तु से लिप्त हाथ आदि ।
२. अचित्त अक्षित—अचित्त वस्तु से लिप्त हाथ आदि ।

पुढवी आउ वणस्सइ तिविहं सच्चित्तमक्खियं होइ ।  
अच्चित्तं पुण दुविहं गरहियमियरे य भयणा उ ॥  
सुक्केण सरक्खेणं मक्खिय मोल्लेण पुढविकाएण ।  
सव्वपि मक्खियं तं एत्तो आउमि वोच्छामि ॥  
पुरपच्छकम्म ससिणिदुदउल्ले चउरो आउभेयाओ ।  
उक्किट्टरसालित्तं परित्तण्णतं महिक्खेसु ॥  
(पिनि ५३२-५३४)

सचित्त अक्षित के तीन प्रकार हैं—

१. पृथ्वीकाय—शुष्क या आर्द्र सचित्त रजों से लिप्त ।
२. अप्काय—इसके चार प्रकार हैं—
  - पुरःकर्म—आहार आदि देने से पूर्व साधु के निमित्त जल से हाथ आदि धोना ।
  - पश्चात् कर्म—साधु को देने के पश्चात् जल से हाथ धोना ।

• संस्निग्ध—ईषत् आर्द्र हाथ ।

• उदकार्द्र—गीले हाथ ।

३. वनस्पतिकाय—वनस्पति के प्रचुर रस तथा प्रत्येक और साधारण वनस्पति के श्लक्ष्णखंडों से लिप्त हाथ ।

एवं उदओल्ले ससिणिद्वे, ससरक्खे मट्टिया ऊसे ।

हरियाले हिगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥

गेह्य वण्णिय सेडिय, सोरट्टिय पिट्ट कुक्कुसकए य ।

उक्कट्टमसंसट्ठे, संसट्ठे चैव बोधव्वे ॥

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।

दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, पच्छाकम्मं जहि भवे ॥

(द ५।१।३३-३५)

जल से आर्द्र, संस्निग्ध, सचित्त रजकण, मृत्तिका, क्षार, हरिताल, हिगुल, मैनशिल, अञ्जन, तमक, गैरिक, वर्णिका, श्वेतिका, सौराष्ट्रिका, तत्काल पीसे हुए आटे या कच्चे चावलों के आटे, अनाज के भूसे या छिलके और फल के सूक्ष्म खण्ड से सने हुए (हाथ, कड़खी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री) को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता । जहां पश्चात् कर्म का प्रसंग हो, वहां असंसृष्ट (भक्तपान से अलिप्त) हाथ, कड़खी और वर्तन से दिया जाने वाला आहार मुनि न ले ।

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे ।

सक्कुलि फाणियं पूयं, अन्नं वा वि तहाविहं ॥

विक्कायमाणं पसढं, एण परिफासियं ।

देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

(द ५।१।७१,७२)

सत्तु, बेर का चूर्ण, तिल-पपड़ी, गीला गुड़, पूआ—इस तरह की दूसरी वस्तुएं भी जो बेचने के लिए रखी हों, परन्तु न विकी हों, रज से स्पृष्ट हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार की वस्तुएं मैं नहीं ले सकता ।

संसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।

दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥

(द ५।१।३६)

संसृष्ट (भक्त-पान से लिप्त) हाथ, कड़खी और वर्तन से दिया जाने वाला आहार, जो वहां एषणीय हो, मुनि ले ले ।



पुरेकस्मेण हृत्थेण, दन्वीए भायणेण वा ।  
देंतियं पडियाइक्खे, न भे कप्पइ तारिसं ॥

(द ५।१।३२)

पुराकर्म कृत हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

संसट्ठेयर हृत्थो मत्तो विय दक्क सावसेसियरं ।  
एएसु अट्ट भंगा नियमा गहणं तु ओएसु ॥

(पिनि ६२६)

द्वितीयादिषु भंगेषु द्रव्ये निरवशेषे पश्चात्कर्म-  
सम्भवात् कल्पते, प्रथमादिषु तु पश्चात्कर्मसम्भवात्कल्पते ।  
(पिनिवृ प १६९)

असंसृष्ट और संसृष्ट के आठ विकल्प होते हैं—

१. संसृष्ट हस्त संसृष्ट मात्र (पात्र) सावशेषद्रव्य ।
२. संसृष्ट हस्त संसृष्ट मात्र निरवशेषद्रव्य ।
३. संसृष्ट हस्त असंसृष्ट मात्र सावशेषद्रव्य ।
४. संसृष्ट हस्त असंसृष्ट मात्र निरवशेषद्रव्य ।
५. असंसृष्ट हस्त संसृष्ट मात्र सावशेषद्रव्य ।
६. असंसृष्ट हस्त संसृष्ट मात्र निरवशेषद्रव्य ।
७. असंसृष्ट हस्त असंसृष्ट मात्र सावशेषद्रव्य ।
८. असंसृष्ट हस्त असंसृष्ट मात्र निरवशेषद्रव्य ।

इनमें दूसरे, चौथे, छठे और आठवें विकल्प में पश्चात् कर्म की संभावना होने के कारण उन रूपों में भिक्षा लेने का निषेध और शेष रूपों में उसका विधान है ।

### ३. निक्षिप्त

असणं पाणमं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।  
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं, उत्तिगपणगेषु वा ॥  
...तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिया दए ॥  
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।....

(द ५।१।५९, ६१, ६२)

यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पानी, उत्तिग और पानक पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो, अग्नि पर निक्षिप्त हो और अग्नि का स्पर्श कर दे तो वह भक्तपान संघती के लिए अकल्पनीय होता है ।

### ४. पिहित

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग पिहियंमि होइ चउभंगो ।  
आइत्तिगे पडिसेहो चरिमे भंगंमि भयणा उ ॥

गुरु गुरुणा गुरु लहुणा लहुयं गुरुएण दोऽवि लहुयाइं ।  
अच्चित्तेणवि पिहिए चउभंगो दोसु अग्गेज्जं ॥  
(पिनि ५५८, ५६२)

सचित्त, अचित्त, मिश्र—इन तीन पदों के आधार पर पिहित वस्तु की तीन चतुर्भंगियां बनती हैं ।

प्रथम चतुर्भंगी—

१. सचित्त से पिहित सचित्त देय वस्तु
  २. मिश्र से पिहित सचित्त देय वस्तु
  ३. सचित्त से पिहित मिश्र देय वस्तु
  ४. मिश्र से पिहित मिश्र देय वस्तु
- ये चारों विकल्प अकल्पनीय (अग्राह्य) हैं ।

द्वितीय चतुर्भंगी—

१. सचित्त से पिहित सचित्त देय वस्तु
२. अचित्त से पिहित सचित्त देय वस्तु
३. सचित्त से पिहित अचित्त देय वस्तु
४. अचित्त से पिहित अचित्त देय वस्तु

इनमें प्रथम तीन विकल्प अकल्पनीय हैं । चतुर्थ विकल्प में भजना है ।

तृतीय चतुर्भंगी—

१. मिश्र से पिहित मिश्र देय वस्तु
२. मिश्र से पिहित अचित्त देय वस्तु
३. अचित्त से पिहित मिश्र देय वस्तु
४. अचित्त से पिहित अचित्त देय वस्तु

इनमें प्रथम तीन विकल्प अकल्पनीय हैं । चतुर्थ विकल्प में भजना है । इस चतुर्थ विकल्प की चतुर्भंगी बनती है—

१. भारी वस्तु से पिहित भारी देय वस्तु
२. हल्की वस्तु से पिहित भारी देय वस्तु
३. भारी वस्तु से पिहित हल्की देय वस्तु
४. हल्की वस्तु से पिहित हल्की देय वस्तु

इनमें प्रथम और तृतीय भंग अग्राह्य है, द्वितीय और चतुर्थ भंग ग्राह्य है ।

### ५. संहत

मत्तेण जेण दाहिइ तत्थ अदिज्जं तु होज्ज असणाई ।  
छोडु तयन्नहि तेण देई अह होइ साहरणं ॥  
(पिनि ५६५)

जिस पात्र से भिक्षा दी जा रही हो, उसमें यदि

कोई अदेय (सचित्त आदि) वस्तु हो तो उसे अलग निकालकर देय वस्तु देना संहत दोष है ।

साहट्टु निक्खिवित्ताणं, सच्चित्तं षट्ठियाण य ।  
तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणोल्लिया ॥  
आगाहइत्ता चलइत्ता, आहरे पाणभोयणं ।  
देतियं पडियाइवखे, न मे कप्पइ तारिसं ॥  
(द ५।१।३०, ३१)

एक बर्तन में से दूसरे बर्तन में निकालकर, सचित्त वस्तु पर रखकर, सचित्त को हिलाकर, इसी तरह पात्रस्थ सचित्त जल को हिलाकर, जल में अवगाहन कर, आंगन में ढुले हुए जल को चालित कर श्रमण के लिए आहार पानी लाए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे— इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

#### ६. दायक

सम्महमाणी पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।  
असंजमकरिं नच्चा, तारिसं परिवज्जए ॥  
(द ५।१।२९)

प्राणी, बीज और हरियाली को कुचलती हुई स्त्री असंयमकरी होती है—यह जान मुनि उसके पास से भक्तपान न ले ।

गुव्विणीए उवन्नत्थं, विविहं पाणभोयणं ।  
भुज्जमाणं विवज्जेज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥  
(द ५।१।३९)

गर्भवती स्त्री के लिए बना हुआ विविध प्रकार का भक्तपान वह खा रही हो तो मुनि उसका वर्जन करे, खाने के बाद बचा हो, वह ले ले ।

सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी ।  
उट्ठिया वा निसीणज्जा, निसन्ना वा पुण्ट्ठए ॥  
घणयं पिज्जेमाणी, दारयं वा कुमारियं ।  
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥  
(द ५।१।४०, ४२)

कालमासवती गर्भिणी खड़ी हो और श्रमण को भिक्षा देने के लिए कदाचित् बैठ जाए अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाए तो उसके द्वारा दिया जाने वाला भक्तपान श्रमण के लिए अकल्प्य होता है ।

बालक या बालिका को स्तनपान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड़ भक्तपान लाए तो वह भक्तपान संयति के लिए अकल्पनीय होता है ।

एवं उस्सविकिया ओसविकिया  
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।  
उत्तिसचिया निस्सिचिया  
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥  
(द ५।१।६३)

इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डालकर, (चूल्हे से) ईंधन निकालकर, (चूल्हे को) उज्ज्वलित कर (मुलगा कर), प्रज्वलित कर (प्रदीप्त कर), बुझाकर, अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकालकर, पानी का छौंटा देकर, पात्र को टेढ़ा कर, उतार कर दे तो वह भक्तपान संयति के लिए अकल्पनीय होता है ।

#### अषात्र दायक

बाले षुड्ढे मत्ते उम्मत्ते थेविये य जरिए य ।  
अंधिल्लए (य) पगरिए आरूढे पाउयाहिं च ॥  
हत्थिदुनियलवद्धे विवज्जिए चैव हत्थपाएहिं ।  
तेरासि मुव्विणी बालवच्छ भुंजंति घुसुलित्ती ॥  
भज्जंती य दलंती कंडंती चैव तह य पीसती ।  
पीजंती रुचंती कत्तंति पमहमाणी य ॥  
छक्कायवग्गहत्था समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चैव ।  
ते चैवोगाहंती संवटटंतारभंती य ॥  
संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य ।  
उव्वत्तंती साहरणं व विती य चोरिययं ॥  
पाहुडियं च ठवंती सपच्चवाया परं च उट्ठिस्स ।  
आभोगमणाभोणेण दलंती वज्जणिज्जा ए ॥

बालादीनां दायकानां मध्ये केषाञ्चिन्मूलत आरभ्य पंचविंशतिसंख्यानां ग्रहणं भजनीयं ... केषाञ्चित् षट्-कायव्यग्रहस्तादीनां पंचदशानां हस्तादग्रहणं भिक्षायाः ।

(पिनि ५७२-५७७ वृ प १५८)

निम्न चालीस व्यक्तियों के हाथ से भिक्षा लेने का निषेध—

१. बाल
२. अतिवृद्ध
३. उन्मत्त
४. यक्षाविष्ट
५. कम्पमानशरीर
६. ज्वरग्रस्त
७. अन्धा

८. कोढी

९. खड़ाऊ पहने हुए
१०. हथकड़ी पहने हुए
११. वेड़ियों से बद्ध
१२. हाथ-पैर कटे हुए
१३. नपुंसक
१४. गर्भवती स्त्री
१५. स्तनपान कराती हुई स्त्री
१६. भोजन करती हुई स्त्री
१७. दधिमन्थन करती हुई स्त्री
१८. चने भुनती हुई स्त्री
१९. गेहूं आदि पीसती हुई स्त्री
२०. ऊखल में चावल आदि कूटती हुई स्त्री
२१. शिला पर तिल आदि पीसती हुई स्त्री
२२. रूई धुनती हुई स्त्री
२३. कपास लोठती हुई (बीनती हुई)
२४. सब्जी काटती हुई
२५. चरखा चलाती हुई
२६. हाथ में संचित जल, वनस्पति आदि हों
२७. संचित लवण आदि को नीचे रखती हुई
२८. छह काय को पंरों से चालित करती हुई
२९. छहकाय का शरीर से स्पर्श करती हुई
३०. छहकाय की हिंसा करती हुई
३१. दही आदि से लिप्त हाथ
३२. दही आदि से लिप्त पात्र
३३. बड़े पात्र से निकाल कर देती हुई
३४. दूसरों की वस्तु दे
३५. चोरी की वस्तु दे
३६. अग्रकवल निकालती हुई
३७. गिरने आदि की सम्भावना हो
३८. अन्य साधु के लिए स्थापित कर देती हुई
३९. जान-बूझकर अशुद्ध देती हुई
४०. अनजान में अशुद्ध देती हुई ।

इनमें से बाल आदि पच्चीस तक की संख्या वाले व्यक्तियों के हाथ से भिक्षाग्रहण की भजना है—विशेष प्रयोजन होने पर इनसे भिक्षा ली जा सकती है । शेष

पन्द्रह प्रकार के व्यक्तियों के हाथ से भिक्षा लेने का निषेध है ।

### निषेध के हेतु

कब्बट्टिग अप्पाहण दिन्ने अन्नन्न गहण पज्जत्तं ।  
 खंतिय मग्गणदिन्ने उड्डाह पओस चारभडा ॥  
 थेरो गलंतलालो कंपणहत्थो पडिज्ज वा देंतो ।  
 अपहृत्ति य अचियत्तं एगयरे वा उभयओ वा ॥  
 अवयास भाणमेओ वमणं असुइत्ति लोग गरिहा य ।  
 एए चेव उ मत्ते वमणविवज्जा य उम्मत्ते ॥  
 वेविय परिसाडणया पासे व छुभेज्ज भाणभेओ वा ।  
 एमेव य जरियंमि वि जरसंकमणं च उड्डाहो ॥  
 उड्डाह कायपडणं अंधे भेओ य पास छुहणं च ।  
 तद्दोसी संकमणं गलंतभिसभिन्नदेहे य ।  
 पाउयदुरुढपडणं बद्धे परियाव असुइखिसा य ।  
 करच्छिन्नासुइ खिसा ते च्चिय पावेऽवि पडणं च ॥  
 आयपरोभयदोसा अभिक्खगहणमि खोभण नपुंसे ।  
 लोगदुगुच्छा संका एरिसया नूणमेएऽवि ॥  
 गुन्विणि गब्भे संघट्टणा उ उट्ठंतुवेसमाणीए ।  
 बालाई मंसुंडग मज्जाराई विराहेज्जा ॥  
 भुजंती आयमणे उदगं छोटी य लोगगरिहा य ।  
 धुसुलंती संतत्ते करंमि लिप्ते भवे रसमा ॥  
 दगवीए संघट्टण पीसणकंडदल भज्जणे उहणं ।  
 पिजंत हंचणाई दिन्ने लिप्ते करे उदगं ॥  
 लोणं दग अगणि वत्थी फलाइ, मच्छाइ सजिय हत्थंमि ।  
 पाएणोगाहणया संघट्टण सेसकाएणं ॥  
 खणमाणी आरभए मज्जइ धोयइ व सिचए किचि ।  
 छेयविसारणमाई छिदइ छट्ठे फुरुकुहंते ॥  
 संसज्जिमम्मि देसे संसज्जिमदव्वलित्तकरमत्ता ।  
 संचारो ओयत्तण उक्खिप्पतेऽवि ते चेव ॥  
 साधारणं बहूणं तत्थ उ दोसा जहेव अणिसिट्ठे ।  
 चोरियए गहणाई भयए सुण्हाइ वा दंते ॥  
 पाहुडि ठवियगदोसा तिरिउड्डमहे तिहा अवायाओ ।  
 धम्मियमाई ठवियं परस्स परसंतियं वावि ॥  
 अणुकंपा पडिणीयट्टया व ते कुणइ जाणमाणोऽवि ।  
 एसणदोसे बिइओ कुणइ उ असडो अवाणतो ॥

(विनि ५७९-५९०, ५९३-५९६)

यदि मुनि छोटे बच्चे से (जो घर में अकेला है) भिक्षा लेता है तो प्रद्वेष और जनापवाद हो सकता है कि

यह कैसा साधु, जो बच्चे से सब कुछ ले लेता है। वह वृद्ध, जिसके लार टपकती हो, उसके हाथ से भिक्षा लेने से लोक में जुगुप्सा पैदा हो सकती है। उसके हाथ कांपते हों, तो देय वस्तु अथवा वह स्वयं गिर सकता है। यदि घर में उसका प्रभुत्व न हो तो परिवार में अप्रीति भी उत्पन्न हो सकती है।

भदिरापायी, उन्मत्त आदि से भिक्षा लेने पर आलिंगन, पात्रभेदन, लोकगर्हा आदि दोष उत्पन्न हो सकते हैं। कांपते व्यक्ति से भिक्षा लेने पर परिशाटन आदि दोष संभव हैं।

ज्वरग्रस्त अथवा कोढ़ी से भिक्षा लेने पर रोगसंक्रमण हो सकता है। पादुकारूढ, बेडियों से बद्ध, हाथ-पैर कटे हुए— इन व्यक्तियों से भिक्षा लेने पर लोक में निन्दा हो सकती है। इनके गिरने आदि से परिताप हो सकता है।

नपुंसक से निरन्तर भिक्षा लेने से काम उद्दीप्त हो सकता है। उससे अतिपरिचय होने पर लोगों में मुनि के आचार के प्रति शंका हो सकती है।

स्तनपान कराती हुई अथवा गर्भवती स्त्री से भिक्षा लेने पर बच्चे को कष्ट हो सकता है।

भोजन करती हुई स्त्री भिक्षा दे तो बीज में आचमन आदि करने पर जलजीवों की विराधना संभव है। बिलौना करती हुई से भिक्षा लेने में लिप्त-दोष संभव है।

धान्य का पेषण, कंडन या दलन करती हुई स्त्री से भिक्षा लेने में सचित्त बीज आदि अथवा हाथ धोने से जल आदि की जीव-विराधना हो सकती है।

इसी प्रकार रूई आदि के पिजन, रंचन, कर्तन आदि के समय भिक्षा देकर खरंटित हाथ धोने से जल-जीवों की विराधना होती है। गेहूं आदि भुनने के समय भिक्षा देने से गेहूं आदि के जलने की संभावना रहती है।

लवण, उदक, अग्नि, हवा भरी हुई मशक, बीजयुक्त फल आदि को नीचे रखती हुई, सचित्त पृथ्वी आदि का स्पर्शन, खनन अथवा संघट्टन करती हुई, सचित्त जल से स्नान, प्रक्षालन, सिंचन आदि करती हुई स्त्री भिक्षा दे तो इससे छह जीवनिकाय के आरंभ से हिंसा का दोष लगता है।

दही आदि से संसक्त हाथ आदि से भिक्षा लेने से रसजीवों की हिंसा होती है।

बड़ा पात्र उठाकर उससे भिक्षा दे तो उसके नीचे रहे कीटिका आदि जन्तु मर सकते हैं।

कर्मकर, पुत्रवधू आदि चोरी से कोई वस्तु दे तो उसे लेने से ग्रहण-बन्धन-ताड़न आदि दोष संभव है।

बलि आदि के निमित्त स्थापित अग्रपिंड की भिक्षा लेने से प्रवर्तन आदि दोष लगते हैं।

अन्य साधु के निमित्त स्थापित अथवा ग्लान आदि के निमित्त से निमित्त भिक्षा लेने से अदत्तादान का दोष लगता है।

साधु की अनुकम्पा अथवा प्रत्यनीकता वश जानबूझ अशुद्ध भिक्षा दे तो उसे लेने से आधाकर्म आदि एषणा के दोष लगते हैं।

इन सब दोषों की संभावना अथवा अनिवार्यता के कारण बालक आदि के हाथ से भिक्षा लेने का निषेध किया गया है।

### निषिद्धदायक संबंधी अपवाद

भिक्षा मित्तं अविव्यालणा उ बालेण दिज्जमाणमि ।  
संदिट्ठे वा गहणं अइवहुय वियालणेऽणुन्ना ॥  
थेर पहु थरथरंते धरिए अन्नेण दढसरिरे वा ।  
अव्वत्तमत्तसड्ढे अविभले वा असागरिए ॥  
सुइभद्दं दित्ताई दढग्गहे वेविए जरंमि सिवे ।  
अन्नधरियं तु सड्ढो देयंघोऽन्नेण वा धरिए ॥  
मंडलपसूतिकुट्टीऽसागरिए पाउयागए अयले ॥  
कमवद्धे सविघारे इयरे विट्ठे असागरिए ॥  
पंडग अप्पडिसेवी वेला थणजीवि इयर सव्वंपि ।  
उक्खित्तमणावाए न किंवि लम्भं ठवंतीए ॥  
पीसंती निष्पिट्ठे फासुं वा घुसुलणे असंसत्तं ।  
कत्तणि असंखचुन्नं चुन्नं वा जा अचोषखलिणी ॥  
उव्वट्ठणिऽसंसत्तेण वावि अट्ठील्लए न घट्टेइ ।  
पिजणपभद्दणुसु य पच्छाकम्मं जहा नत्थि ॥  
सेसेसु य पडिक्खो न संभवइ कायगहणमाईसु ।  
पडिक्खस्स अभावे नियमा उ भवे तयग्गहणं ॥  
(पिनि ५९७-६०४)

बालक, वृद्ध आदि के हाथ से भिक्षा लेने का निषेध वैकल्पिक है— निम्न स्थितियों में उनके हाथ से भिक्षा ली जा सकती है—

बालक को मां आदि से अनुज्ञा प्राप्त होने पर उससे भिक्षा ली जा सकती है।

वृद्ध व्यक्ति यदि अन्य व्यक्ति का सहारा लिये हुए हो, सुदृढ़ शरीर वाला हो अथवा घर का स्वामी ही तो उससे भिक्षा ली जा सकती है।

मत्त व्यक्ति श्रावक ही, परवश न हो, वहां अन्य गृहस्थ न हो तो उससे भिक्षा ली जा सकती है।

उन्मत्त, यक्षाविष्ट व्यक्ति पवित्र और भद्र हो, कम्पमान व्यक्ति के हाथ से वस्तु न गिर रही हो, ज्वरित व्यक्ति का ज्वर उतर गया हो, अन्धा व्यक्ति देय वस्तु को पुत्र आदि के हाथ के सहारे दे रहा हो—इन सबके हाथ से भिक्षा ली जा सकती है।

भरता हुआ कोठ न हो, सामने अन्य गृहस्थ न हो तो कोठी व्यक्ति से भिक्षा ग्राह्य है।

पादुकारूढ व्यक्ति स्थिर हो, सांकल से बंधा व्यक्ति चलने में कष्ट का अनुभव न करता हो, हाथ-पैर कटा व्यक्ति बैठा हो, पास में अन्य गृहस्थ न हो तो इन सबके हाथ की भिक्षा ग्राह्य है।

अप्रतिसेवी नपुंसक से भिक्षा ली जा सकती है। कालमास प्राप्त गर्भवती स्त्री से तथा स्तनोपजीवी बाल-युक्त स्त्री से स्थविरकल्पी मुनि भिक्षा नहीं लेते। जिन-कल्पी मुनि गर्भवती स्त्री मात्र से तथा जिसका शिशु अभी बाल अवस्था में है, उस स्त्री से भिक्षा नहीं लेते। मूंग आदि का कंडन करती हुई स्त्री मुशल को निरवद्य स्थान में रख भिक्षा दे सकती है। मुशल पर सचित्त बीज न लगा हो तो वह भिक्षा कल्पनीय है।

इसी प्रकार अचित्त धान्य पीसती हुई, शंखचूर्ण आदि से असंसक्त दधि को मथती हुई, सचित्त चूर्ण से अलिप्त हाथों से सूत कातती हुई स्त्री से तथा जहां भी पश्चात्कर्म आदि दोषों की संभावना न हो तो उसके हाथ से भिक्षा ली जा सकती है।

जहां छह काय के जीवों की विराधना का प्रसंग हो, वहां कोई अपवाद नहीं है, वैसी भिक्षा अग्राह्य ही है।

### ७. उन्मिथ

असण पाणमं वा वि, खाइमं साइमं तथा।

पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥

तं भवे भक्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।।।।।

(द १।१।१७,५८)

यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुष्प, बीज

और हरियाली से उन्मिथ हो तो वह भक्तपाण संयति के लिए अकल्पनीय होता है।

### ८. अपरिणत

कंदं मूलं पलंबं वा. आमं छिन्नं व सन्निरं ।

तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए ॥

(द १।१।७०)

मुनि अपक्व कंद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक, घीया और अदरक न ले।

### ९. लिप्त

घेतव्वमलेवकडं लेवकडे मा हु पच्छकम्माई ।

न य रसमेहिपसंगो ।।।।। (पिनि ६१३)

लेपकृति गृह्यमाणे पश्चात्कर्मादयो दध्यादिलिप्त-हस्तादिप्रक्षालनादिरूपा दोषाः। आदिशब्दात् कीटिकादिसंसक्तवस्त्रादिना प्रोच्छनादिपरिग्रहः।

(पिनिवृ प १६६)

मुनि को अलेपकृत आहार ग्रहण करना चाहिये। इससे रसगृद्धि का प्रसंग नहीं आता। लेपकृत आहार लेने से पश्चात्कर्म आदि दोष लगते हैं—दही आदि से लिप्त हाथों को सचित्त जल से धोया जाता है।

### १०. छदित

आहरंती सिया तत्थ, परिसाडेज्ज भोयणं ।

देतियं पडियाइवखे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

(द १।१।२८)

यदि साधु के पास भोजन लाती हुई गृहिणी उसे गिराए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

### ६. नवकोटि शुद्ध भिक्षा

णवकोडीपरिसुद्धं उग्गम-उप्पायणेसणासुद्धं ।।।।।

(दनि ४४)

प्रथमतः कोटयो नव भवन्ति, तद्यथा - स्वयं हनन-मन्येन घातनमपरेण हन्यमानस्यानुमोदनं, तथा स्वयं पचनमन्येन पाचनमपरेण पच्यमानस्यानुमोदनं, तथा स्वयं क्रयणमन्येन कायणमपरेण क्रीयमाणस्यानुमोदनम्। इहाद्याः षडविशोधिकोटयोऽन्तिमास्तु तिस्रो विशोधि-कोटयः।

(पिनिवृ प ११९)

कोटि के नौ प्रकार हैं—

- हनन—१. स्वयं हिंसा करना  
 २. दूसरे से हिंसा करवाना  
 ३. हिंसा का अनुमोदन करना  
 पाचन—४. स्वयं पकाना, ५. दूसरों से पकवाना  
 ६. पचन-पाचन का अनुमोदन करना  
 क्रयण—७. स्वयं खरीदना, ८. दूसरों से खरीदवाना  
 ९. खरीदने का अनुमोदन करना ।

इनमें प्रथम छह भेद अविशोधिकोटि के और अंतिम तीन भेद विशोधिकोटि के हैं । इन नौ कोटियों तथा उद्गम-उत्पाद-एषणा के दोषों से रहित शुद्ध आहार आदि मुनि के लिए ग्राह्य है ।

### १०. अनेषणीय आहार आदि का दुष्परिणाम

उद्देसियं कीयकडं नियामं,  
 न मुंचई किंचि अहेसणिज्जं ।  
 अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता,  
 इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥  
 (उ २०।४७)

जो औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र और कुछ भी अनेषणीय को नहीं छोड़ता वह अग्नि की तरह सर्वभक्षी होकर पापकर्म का अर्जन करता है और यहां से मरकर दुर्गति में जाता है ।

जे नियामं ममायंति, कीयमुद्देसियाहडं ।  
 वहं ते समणुजाणंति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥  
 (द ६।४८)

जो नित्याग्र, क्रीत, औद्देशिक और आहृत (निग्रन्थ के निमित्त दूर से लाया गया) आहार ग्रहण करते हैं—वे प्राणिवध का अनुमोदन करते हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है ।

सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाए दोसा उ ।  
 दस एसणाएँ दोसा संभोयणमाइ पंचेव ॥  
 (पिनि ६६९)

एषणा के सैंतालीस दोष हैं—उद्गम के सोलह, उत्पादना के सोलह, एषणा के दस और मांडलिक के पांच ।

उग्गमदोसाइजडं अहवा बीअं जहि जहापडिअं ।  
 इय एसो गहणविही असुद्धपच्छायणे अविही ॥  
 (ओभा २९५)  
 उद्गम आदि दोषों से रहित शुद्ध भिक्षा लेना और

जो जिस रूप में ग्रहण किया है, उसे उसी रूप में रखना—सार-असार भोजन को विभक्त न करना विधि-गृहीत है ।

सदोष भिक्षा लेना तथा सरस, मनोज्ञ द्रव्य को नीरस द्रव्य से ढक देना अविधिगृहीत है ।

**औत्पत्तिकी बुद्धि**—अदृष्ट तथा अश्रुत अर्थ के विषय में तत्काल उत्पन्न होने वाली क्षमता । (द्र. बुद्धि)

**औदयिक भाव**—कर्माँ के उदय से होने वाली आत्मा की अवस्था । (द्र. भाव)

**औदारिक शरीर**—स्थूल पुद्गलों से निष्पन्न तथा रस आदि सप्त धातुमय शरीर । (द्र. शरीर)

**औद्देशिक**—अमुक-अमुक साधु को उद्दिष्ट कर बनाया जाने वाला आहार आदि ।  
**एषणा (उद्गम) का एक दोष ।** (द्र. एषणा)

**औपम्य संख्या**—संख्या प्रमाण का चौथा प्रकार । (द्र. संख्या)

**औपशमिक सम्यक्त्व**—मोहकर्म के उपशम से प्राप्त सम्यक्त्व । (द्र. सम्यक्त्व)

**कथा**—काल्पनिक अथवा घटनात्मक वचन-पद्धति ।

१. कथा की परिभाषा

२. कथा के प्रकार

- ० अर्थकथा
- ० कामकथा
- ० धर्मकथा
- ० मिथकथा

३. अर्थकथा के अंग

४. कामकथा के अंग

५. धर्मकथा के प्रकार

- ० आक्षेपणी
- ० विक्षेपणी
- ० सत्तेजनी
- ० निर्वेदनी

## ६. मिश्रकथा

७. कथा के अन्य प्रकार—कथा, अकथा, विकथा

० विकथा के प्रकार

\* धर्मकथा : स्वाध्याय का एक भेद (द्र. स्वाध्याय)

\* धर्मकथा के परिणाम (द्र. स्वाध्याय)

\* स्त्रीकथा से ब्रह्मचर्य की हानि (द्र. ब्रह्मचर्य)

## १. कथा की परिभाषा

तवसंजमगुणधारी जं चरणरया कहेति सन्भावं ।  
सव्वजगज्जीवहिंसा सा उ कथा देसिया समए ॥  
(दनि १०९)

कथा वह है, जिसमें सद्भाव/यथार्थता का निरूपण हो और जो सब जीवों का हित करने वाली हो ।

## २. कथा के प्रकार

अत्थकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा ।  
एत्तो एक्केक्का वि य णेगविहा होइ नायव्वा ॥  
(दनि ९२)

कथा के चार प्रकार हैं—अर्थकथा, कामकथा, धर्म-कथा और मिश्रकथा । इनमें से प्रत्येक कथा के अनेक प्रकार हैं ।

## ३. अर्थकथा के अंग

विज्जा सिप्पमुवाओ अणिवेओ संचओ य दक्खत्तं ।  
सामं दंडो भेओ उवप्पयाणं च अत्थकहा ॥  
(दनि ९३)

विद्या, शिल्प, उपाय, अनिर्वेद संचय, दक्षता, साम, दंड, भेद और उपप्रदान—ये अर्थ उपायों के हेतु हैं । इनकी कथा करना अर्थकथा है ।

## ४. कामकथा के अंग

रुवं वतो व वेसो दक्खिणं सिक्खियं च विसएसुं ।  
दिट्ठं सुयमणुभूयं च संथवो चेव कामकहा ॥  
(दनि ९५)

रूप, वय, वेश, दक्षता, विषयकला का शिक्षण, दृष्ट, श्रुत, अनुभूत तथा परिचय—ये कामकथा के अंग हैं ।

## ५. धर्मकथा

धम्मकहा बोधव्वा चउव्विहा धीरपुरिसपण्णत्ता ।  
अक्खेवणि विक्खेवणि संवेगे चेव निव्वेए ॥  
(दनि ९६)

जाए सोता रंजिज्जति सा अक्खेवणी । विविहं  
विण्णाण-विसयादीहिं खिवति विक्खेवणी । संवेगं  
संसारदुक्खेहिं जणेति संवेदणी । भोमेहिं तो निव्वेदणी ।  
(दअचू पृ ५५)

धर्मकथा के चार प्रकार हैं—

१. आक्षेपणी ज्ञान-चारित्र्य आदि में आकर्षण उत्पन्न करने वाली कथा ।
२. विक्षेपणी—सन्मार्ग की स्थापना करने वाली कथा ।
३. संवेजनी—सांसारिक दुःखों का प्रतिपादन कर वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा ।
४. निर्वेदनी—भोगों के प्रति उदासीन बनाने वाली कथा ।

## आक्षेपणी कथा

विज्जा चरणं च ततो पुरिसक्कारो य समितिगुत्तीओ ।  
उवइस्सइ खलु जहिंयं कहाइ अक्खेवणीइ रसो ॥  
(दनि ९७)

ज्ञान, चारित्र्य, तप, वीर्य, समिति और गुप्ति—इन विषयों से सम्बन्धित प्रज्ञापन करना आक्षेपणी कथा है और यही आक्षेपणी कथा का रस—सार है ।

आक्षिप्यन्ते मोहात् तत्त्वं प्रत्यनया भव्यप्राणिन इत्याक्षेपणी ।  
(दहावृ प ११०)

भव्य जीवों को मोह से दूर कर तत्त्व के प्रति आकृष्ट करने वाली कथा आक्षेपणी कथा है ।

अक्खेवणी चतुव्विहा, तं जहा—आयारक्खेवणी,  
ववहारक्खेवणी, पण्णत्तिअक्खेवणी, दिट्ठिवायअक्खेवणी ।

१. साधुणो अट्टारससीलंगसहस्सधारका बारसविहतवो-कम्मरता दुक्करकारक ति आयारक्खेवणी ।
२. अक्खित्तमत्तिमु सोत्तारेसु एवं परूविज्जति दुरणुचर-तवोजुत्ता वि साधुणो जदि किचि अतिचरंति तो जहा अव्ववहारिस्स लोए उंडो कीरति तथा पायच्छित्तं ति ववहारक्खेवणी ।
३. संदेहसमुग्घाते णिव्वेदकर-मधुर-सउवायपण्णत्तिगतो-दाहरणेहिं पत्तियावणं पण्णत्तिअक्खेवणी ।

४. दन्व-जीवातिचिता णिपुणमतीसु सोतारेसु विविध-  
भंगणयहेउवादसमुपगूढा दिट्ठिवादअक्खेवणी ।

(दअचू पृ ५६)

आक्षेपणी कथा के चार प्रकार हैं—

१. आचार आक्षेपणी—जिसमें साधु के आचार और तप का निरूपण हो ।
२. व्यवहार आक्षेपणी—जिसमें व्यवहार-प्रायश्चित्त का निरूपण हो ।
३. प्रज्ञप्ति आक्षेपणी—जिसमें संशयग्रस्त श्रोता को समझाने के लिए निरूपण हो ।
४. दृष्टिवाद आक्षेपणी—जिसमें श्रोता की योग्यता के अनुसार विविध नयदृष्टियों से तत्त्व का निरूपण हो ।

### विक्षेपणी कथा

जा ससमयवज्जा खलु होइ कहा लोग-वेयसंजुता ।  
परसमयाणं च कहा एसा विक्खेवणी नाम ॥  
जा ससमएण पुंवि अक्खाया तं छुभेज्ज परसमए ।  
परसासणवक्खेवा परस्स समयं परिकहेति ॥  
(दनि ९६, ९९)

स्व-सिद्धान्त से शून्य तथा रामायण, वेद आदि लौकिक सिद्धान्तों से युक्त और पर-सिद्धान्त का कथन करने वाली कथा विक्षेपणी कथा है ।

स्व-सिद्धान्त की बात का पर-सिद्धान्तों में क्षेपण करना तथा कथ्यमान परशासन के व्याक्षेप के द्वारा पर-समय का कथन करना विक्षेपणी कथा है ।

विक्षिप्यतेऽनया सन्मार्गात् कुमारो कुमार्याद्वा सन्मार्गे श्रोतेति विक्षेपणी ।  
(दहावृ प १११)

जिस कथा को सुनकर श्रोता सन्मार्ग से कुमारों में अथवा कुमारों से सन्मार्ग में प्रस्थित होता है, वह विक्षेपणी कथा है ।

कहिऊण ससमयं तो कहेइ परसमयमह विवच्चासा ।  
मिच्छासम्मावाए एमेव हवंति दो भेया ॥  
(दहावृ प ११०)

विक्षेपणी कथा के चार प्रकार हैं—

१. अपने सिद्धांत का प्रतिपादन कर फिर दूसरों के सिद्धांत का प्रतिपादन करना ।
२. दूसरों के सिद्धांत का प्रतिपादन कर फिर अपने सिद्धांत की स्थापना करना ।

३. सम्यक्वाद का प्रतिपादन कर फिर मिथ्यावाद का प्रतिपादन करना ।

४. मिथ्यावाद का प्रतिपादन कर फिर सम्यक्वाद की स्थापना करना ।

### कथा-कथन का परिवाप्य

वेणतितस्स पढमया कहा उ अक्खेवणी कहेतत्वा ।  
तो ससमयगहितत्थे कहेज्ज विक्खेवणी पच्छा ॥  
अक्खेवणिअक्खिता जे जीवा ते लभंति सम्मत्तं ।  
विक्खेवणीए भज्जं गाढतरागं व मिच्छत्तं ॥  
(दनि १०३, १०४)

सर्वप्रथम श्रोता को आक्षेपणी कथा सुनानी चाहिए । इससे स्व-सिद्धांत का अर्थ जान लेने पर विक्षेपणी कथा करनी चाहिए । आक्षेपणी कथा से आकृष्ट श्रोता सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । विक्षेपणी कथा में सम्यक्त्व की प्राप्ति वैकल्पिक है । अपने मिथ्या अभिनिवेश के कारण श्रोता इस कथा से सचन मिथ्यात्व को भी प्राप्त कर सकता है ।

### संवेजनी कथा

वीरिय-विउव्वणिड्ढी नाण-चरण-वंसणस्स तह इड्ढी ।  
उवइस्सइ खलु जहियं कहाइ संवेजणीइ रसो ॥  
(दनि १००)

तपःसामर्थ्योद्भवा आकाशगमनजड्ढाचारणादि-  
वीर्यवैक्रियनिर्माणलक्षणा 'ज्ञानचरणदर्शनानां तथद्धिः'  
तत्र ज्ञानद्धिः 'पभू णं भंते ! चोदसपुव्वी घडाओ घड-  
सहस्सं पडाओ पडसहस्सं विउव्वित्तए ?, हंता पहू  
विउव्वित्तए ।'  
(दहावृ प ११२)

जिस कथा में संवेग के सारभूत रस का प्रतिपादन होता है, वह संवेजनी कथा है । जैसे—वीर्यवैक्रियऋद्धि-यह तप के सामर्थ्य से उत्पन्न होती है । इस लब्धि वाला व्यक्ति मेरुपर्वत पर जाने की शक्ति अर्जित कर लेता है ।

इससे आकाशगमन और जंघाचारण की शक्ति के साथ विविध रूपों के निर्माण की क्षमता भी पैदा हो जाती है ।

यह ऋद्धि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप भी होती है । चौदहपूर्वी मुनि एक घट से हजार घट और एक पट से हजार पट बना सकता है—यह ज्ञान ऋद्धि है ।

सुभाणं कम्माणं विपाककहणेणं संवेगमुप्पाएति—  
जहा इहलीए चेव इमाओ लद्धीओ सुभकम्माणं भवंति ।  
(दअचू पृ ५७)



शुभ कर्मों के परिणामों का प्रतिपादन करने से संवेग उत्पन्न होता है। जैसे—इस लोक में वैकिय आदि लब्धियां शुभ कर्मों के फलस्वरूप होती हैं।

संवेगणी चतुर्विहा, तं जहा—आतसरीरसंवेदणी, परसरीरसंवेदणी, इहलोगसंवेदणी, परलोगसंवेदणी।

आयसरीरसंवेदणी—जं एतं अम्हं तुब्भं वा सरीरयं एयं सुक्क-सोणित-वसा-मेत-संघातनिष्फणं भुत्त-पुरीस-भायणत्तणेण य असुत्ति त्ति कहेमाणो सोतारस्स संवेगमुप्पादयति।

परसरीरसंवेदणीए वि परसरीरभेवमेवासुत्ति, अहवा परतो मततो, तस्स सरीरं वण्णेमाणो संवेगमुप्पाएति।

इहलोकसंवेदणी जहा—सव्वमेव माणुस्समणिच्चं कदलीधंभनिस्सारं एवं संवेगमुप्पाएति।

परलोकसंवेदणी जहा—जति देवेसु वि एरिसाणि दुक्खाणि णरम-तिरिएसु को विम्हतो ? (दअचू पृ ५७) संवेजनी कथा के चार प्रकार हैं—

१. आत्मशरीर संवेजनी—शरीर की अशुचि का वर्णन कर श्रोता के मन में संवेग उत्पन्न करने वाली कथा।
२. परशरीर संवेजनी—परशरीर अथवा मृतक के शरीर की अशुचि का वर्णन कर संवेग उत्पन्न करने वाली कथा।
३. इहलोक संवेजनी—मनुष्य-जीवन की असारता दिखाने वाली कथा।
४. परलोक संवेजनी—देव, तिर्यच और नरक के जन्मों की मोहमयता व दुःखमयता बताने वाली कथा।

### निर्वेदनी कथा

पावाणं कम्माणं असुभविवागो कहिज्जए जत्थ।

इह य परत्थ य लोए कहा उ णिव्वेयणी णाम ॥

(दनि १०१)

जिस कथा में पापकर्मों के अशुभ विपाकों का कथन हो, वह निर्वेदनी कथा है। जिस कथा में यह बताया जाता है कि इहलोक में किए हुए कर्म इहलोक में भी उदय में आ सकते हैं, परलोक में भी उदय में आ सकते हैं, वह निर्वेदनी कथा है।

निव्वेदणीकहा चउच्चिहा, तं जहा—इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगदुहविवागसंजुत्ता भवति चउभंगो ; पढमे भंमे चोरपारदारियाणं पढमा

निव्वेदणी। बितिया निव्वेदणी—इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए दुहविवागसंजुत्ता भवन्ति। जहा णेरतियाणं इह मणुस्सभवे कतं कम्मं णिरयभवे फलति। ततिया निव्वे-गणी—परलोए दुच्चिण्णा कम्मा इहलोकदुहविवागसंजुत्ता भवन्ति। जहा बालत्तणे चेव दरिद्रकुलसंभूता खय-कुट्ट-जलोपराभिभूता। चतुत्थी निव्वेगणी—परलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए चेव दुहविवागसंजुत्ता भवन्ति। जहा पुच्चि दुक्कएहि कम्मोहि चंडालादिदुगुच्छितजातीजाता एकंताणि-द्धंघसा णिरयसंवत्तणीयं पूरेऊणं णिरयभवे वेदंति।

(दअचू पृ ५७)

निर्वेदनी कथा के चार प्रकार हैं—

१. इहलोक में दुश्चीर्णं कर्म इसी लोक में फल देने वाले होते हैं। जैसे—चोर, पारदारिक आदि के कर्म।
२. इहलोक में दुश्चीर्णं कर्म परलोक में दुःखमय फल देने वाले होते हैं। जैसे—नैरयिकों को मनुष्य भव में कृत कर्म नरक में फल देते हैं।
३. पूर्वभव में दुश्चीर्णं कर्म इहभव में दुःखमय फल देने वाले होते हैं। जैसे—दरिद्रकुल में उत्पन्न कोई-कोई जीव बचपन में ही क्षय, कोढ़, जलोदर आदि रोगों से अभिभूत हो जाता है।
४. पूर्वभव में दुश्चीर्णं कर्म परभव में दुःखमय फल देने वाले होते हैं। जैसे—पूर्वभव में कृत दुष्कर्मों के द्वारा चंडाल आदि जुगुप्सनीय जातियों में उत्पन्न हो अत्यन्त क्रूर कर्म कर नरक में उन कर्मों का वेदन करना।

### कथा से संवेग-निर्वेद

सिद्धी य देवलोगो सुकुलुप्पत्ती य होइ संवेगो।

नरगो तिरिवखजोणी कुमाणुसत्तं च णिव्वेओ ॥

(दनि १०२)

मुक्ति, देवलोक और सुकुल में जन्म—इनका निरूपण करने से श्रोता में संवेग उत्पन्न होता है। नारक, तिर्यच और कुमनुष्यत्व—इनका निरूपण करने से श्रोता में निर्वेद उत्पन्न होता है।

### ६. मिश्रकथा

धम्मो अत्थो कामो उवइस्सइ जत्थ सुत्त-कव्वेसु।

लोगे वेदे समए सा उ कहा मीसिया णामं ॥

(दनि १०५)

सूत्रों और काव्यों में धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों का जहाँ एक साथ निरूपण हो, वह मिश्र कथा है। लौकिक (महाभारत आदि), वैदिक (यज्ञक्रिया आदि) और सामयिक (तरंगवती आदि) कथा मिश्र कथा है।

### ७. कथा के अन्य प्रकार

एता चैव कहातो पण्णवगपरूवगं समासज्ज ।  
अकहा कहा व विकहा व होज्ज पुरिसंतरं पप्प ॥  
(दनि १०७)

कथाकार और श्रोता के आधार पर कथा के तीन प्रकार हैं—अकथा, कथा और विकथा।

#### अकथा

मिच्छत्तं वेदंतो जं अण्णाणी कंहं परिकहेइ ।  
लिगत्यो व मिही वा सा अकहा देसिया समए ॥  
(दनि १०८)

मोहाकुल, मिथ्याज्ञानी, अज्ञानी, वेषधारी और गृहस्थ जो कथा करता है, उसे अकथा कहा गया है।

#### विकथा

जो संजतो पमत्तो राग-दोसवसगो परिकहेइ ।  
सा उ त्रिगहा पवयणे पण्णत्ता धीरपुरिसोहि ॥  
(दनि ११०)

रागद्वेष के वशीभूत हो जो कथा, चर्चा, आलोचना की जाती है, वह विकथा है।

विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा ।  
(आवहावू २ पृ ६०)

कथाविपक्षभूतां त्याज्यां विकथामाह ।  
(दहावू प ११४)

जो कथा के लक्षणों से शून्य है, जिससे संयम में बाधा उपस्थित होती है, ब्रह्मचर्य प्रतिहत होता है, उस वर्जनीय कथा को विकथा कहा जाता है।

#### विकथा के प्रकार

चउहि विकहाहि—इत्थीकहाए, भक्तकहाए, देस-  
कहाए, रायकहाए । (आव ४८)

विकथा के चार प्रकार हैं—

स्त्रीकथा—स्त्री संबंधी कथा करना।

भक्तकथा—भोजन संबंधी कथा करना।

देशकथा—देश संबंधी कथा करना।

राज्यकथा—राज्य संबंधी कथा करना।

इत्थिकहा भक्तकहा रायकहा चोरजणवयकहा य ।  
नडमट्टजल्लमुट्टियकहा उ एसा भवे विकहा ॥  
(दनि १०६)

स्त्री, भोजन, राज्य, चोर, जनपद, नाट्य, नृत्य, जल्ल, नट, मल्ल—इनसे संबंधित कथा करना विकथा है।

#### स्त्रीकथा

इत्थिकथा चतुन्विधा—जातिकथा कुलकथा रूवकथा  
नेवत्थकथा । (आवचू २ पृ ८१)

स्त्रीकथा के चार प्रकार हैं—

१. स्त्रियों की जाति की कथा,
२. स्त्रियों के कुल की कथा,
३. स्त्रियों के रूप की कथा,
४. स्त्रियों की वेशभूषा की कथा।

#### भक्तकथा

भक्तकथा चतुन्विधा—अतिवावे निवावे आरंभे निट्ठाणे ।  
अतिवावे एत्तिया दब्बा सागघतादीए उवउत्ता । निव्वाए  
एत्तिया वंजणभेदादी एत्थ । आरंभे एत्तिलगा तित्तिर-  
हिंणुकडुमेंढरेधितदुद्धदहियतंदुला एवमादी । णिट्ठाणे एत्ति-  
एहि रूवेहि वेलाए संभत्तं निट्ठितं । (आवचू २ पृ ८१)

भक्तकथा के चार प्रकार हैं—

१. आवापकथा—रसोई की सामग्री—घृत, साग आदि की चर्चा करना।
२. निर्वापककथा—अन्न व व्यञ्जन आदि की चर्चा करना।
३. आरंभकथा—इस जीमनवार आदि में इतने तित्तिर, हिंण, कटुक, मेष आदि तथा इतना दूध, दही और ओदन आवश्यक होगा।
४. निष्ठानकथा—अमुक भोज में इतनी सामग्री और इतना धन लगा—इस प्रकार की चर्चा करना।

#### देशकथा

देसकथा चतुन्विधा—छंदो विधी विकप्पो नेवत्थो ।  
देसच्छंदो माउलधीता गंमा लाडाणं, गोल्लविसए भग्गिणी,  
मातिसवित्तिओ विचचाण गंमा अण्णेसि अगग्गमा एमादि ।  
विधी नाम भोयणविधी विवाहविधी एवमादि । विकप्पो  
परिसा घरा देवकुलाणि नगरनिवेसा गामादीण एवमादि ।  
नेवत्थो इत्थीणं पुरिसाणं साभावो विउन्विओ वा ।

(आवचू २ पृ ८१)

देशकथा के चार प्रकार हैं—

१. देशच्छंद कथा—विभिन्न देशों में प्रचलित विवाह संबंधी रीतिरिवाजों की कथा करना। जैसे—लाट देश में मामा की बेटी के साथ और गोल्ल देश में बहिन के साथ विवाह सम्मत है। माता की सपत्नी बुनकरों के लिए विवाह योग्य है, दूसरों के लिए उसका निषेध है।
२. देशविधि कथा—भोजन विधि, विवाह विधि आदि की कथा करना।
३. देशविकल्प कथा—परिषद्, गृह, देवकुल, नगर-निवेश, ग्राम आदि की कथा करना।
४. देशनेपथ्य कथा—विभिन्न देशों के पहनावे की कथा करना।

#### राजकथा

रायकथा चतुर्विधा—निज्जाणकथा अतिजाण कथा बलकथा कोसकथा। निज्जाणकथा एरिसीरिद्धीए नीति, अतिजाणकथा - एरिसियाए अतीति, बलकथा—एत्तियं बलं, कोसकथा—एत्तिओ कोसो। (आवचू २ पृ ८१)

राजकथा के चार प्रकार हैं—

१. निर्याणकथा—राजा के निष्क्रमण की कथा करना।
२. अतियानकथा—राजा के नगर आदि के प्रवेश की कथा करना।
३. बलकथा—राजा की सेना और वाहनों की कथा करना।
४. कोशकथा—राजा के कोश और कोष्ठागार—अनाज के कोठों की कथा करना।

#### कथा-विवेक

सिगाररसुग्गुतिया मोहकुवितफुंफुमा हसहसेति ।

जं सुणमाणस्स क्हं समणेण ण सा कहेयव्वा ॥

समणेण कहेतव्वा तव-णियमक्का विरागसंजुत्ता ।

जं सोऊण मणुस्सो वच्चइ सवेग-निव्वेगं ॥

अत्यमहंती वि क्हा अपरिक्केसबहुला कहेतव्वा ।

हंदि मह्या चडगरत्तणेण अत्थं क्हा हणइ ॥

देसं खेतं कालं सामत्थं चऽप्यणो वियाणेतता ।

समणेण उ अणवज्जा पगयम्मि क्हा कहेयव्वा ॥

(दनि १११-११४)

जिसे सुनने से शृंगार रस की उत्कट उद्भावना हो,

मोह की वृद्धि हो, वैसी कथा श्रमण को नहीं करनी चाहिए।

वैराग्य रस से परिपूर्ण, तप और नियम संबंधी कथा करनी चाहिए, जिसे सुनकर व्यक्ति संवेग और निर्वेद को प्राप्त होता है।

महान् अर्थ वाली कथा भी यदि अवलेशकारी हो तो कहनी चाहिए।

व्यक्ति, देश, क्षेत्र, काल और अपनी शक्ति को जानकर निर्दोष प्रासंगिक कथा कहनी चाहिए।

करण—जीव के परिणाम-विशेष। क्रिया।

#### १. करण की परिभाषा

२. करण के प्रकार और अधिकारी

३. तीन करण : चोटी का दृष्टांत

४. यथाप्रवृत्तिकरण

◦ धान्यपल्प का दृष्टांत

◦ गिरिसरिद्वावधोलना न्याय

५. ग्रंथिभेद और सम्यक्त्व प्राप्ति

६. प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्ति : तीन अभिमत

\* सम्यक्त्व के प्रकार

(द. सम्यक्त्व)

७. ग्रंथि भेद : भव्य-अभव्य

◦ महाज्वर का दृष्टांत

◦ चोरों का दृष्टांत

८. करण (क्रिया) की परिभाषा

९. करण के निक्षेप

◦ नामकरण स्थापनाकरण

◦ द्रव्यकरण

◦ क्षेत्रकरण

\* कालकरण

(द. कासविज्ञान)

◦ भावकरण

#### १. करण की परिभाषा

.....करणं ति परिणामो ॥

क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणं, सर्वत्र जीवपरिणाम एवोच्यते। (विभा १२०२ मवृ पृ ४५८)

करण का अर्थ है—जीव के परिणाम।

जीव के वे परिणाम, जिनसे कर्म क्षीण होते हैं, करण कहलाते हैं।

## २. करण के प्रकार और अधिकारी

करणं अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टियमेव भव्वाणं ।

इयरेसि पढमं चिय भन्नइ.....।।

अनादिकालात् कर्मक्षपणप्रवृत्तोऽध्यवसायविशेषो यथाप्रवृत्तिकरणम् । अप्राप्तपूर्वमपूर्वं स्थितिघातरसघाताद्य-पूर्वार्थनिवर्तकं चापूर्वम् । निवर्तनशीलं निवर्ति, न निवर्ति अनिवर्ति—आ सम्यग्दर्शनलाभाद् न निवर्तते ।

(विभा १२०२; मवृ पृ ४५८)

करण के तीन प्रकार हैं—

१. यथाप्रवृत्तिकरण—अनादि काल से कर्मक्षीण करने में प्रवृत्त अध्यवसाय ।
२. अपूर्वकरण—जो पहले प्राप्त नहीं हुआ, ऐसा अध्यवसाय । अथवा अपूर्व स्थितिघात और रसघात करने वाला आत्मपरिणाम ।
३. अनिवृत्तिकरण—जिस परिणाम की श्रेणी में सम्यक्त्व की अभिमुखता होती है । उसके अनंतर सम्यक्त्व प्राप्त होता है । भव्य जीवों के तीनों कारण होते हैं । अभव्य जीवों के केवल यथाप्रवृत्तिकरण होता है ।

जा गंठी ता पढमं गंठी समइच्छओ अपुव्वं तु ।

अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरखडे जीवे ॥

अनादिकालादरभ्य यावद् ग्रन्थिस्थानं तावत् प्रथमं यथाप्रवृत्तिकरणं भवति । कर्मक्षपणनिबन्धनस्याध्यवसाय-मात्रस्य सर्वदैव भावात्, अष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदय-प्राप्तानां सर्वदैव क्षपणादिति । ग्रन्थि तु समतिक्रामतो भिन्दानस्यापूर्वकरणं भवति, प्राक्तनाद् विशुद्धतराध्यव-सायरूपेण तेनैव ग्रन्थेर्भेदादिति । अनिवर्तिकरणं पुनः सम्यक्त्वं पुरस्कृतमभिमुखं यस्यासौ सम्यक्त्वपुरस्कृतः... तत एव विशुद्धतमाध्यवसायरूपादनन्तरं सम्यक्त्वलाभात् ।

(विभा १२०३; मवृ पृ ४५९)

अनादिकाल से लेकर ग्रन्थिदेशप्राप्ति तक प्रथम यथाप्रवृत्ति करण होता है । कर्मक्षय का हेतुभूत यह अध्यवसाय निरंतर रहता ही है । इसी अध्यवसाय के कारण उदय प्राप्त कर्म प्रकृतियों का क्षय होता रहता है । ग्रन्थिभेद के समय अपूर्वकरण होता है । इसी अध्यवसाय से ग्रन्थि का भेदन होता है । जिसके सम्यक्त्व अभिमुख होता है, उस जीव के अनिवृत्तिकरण होता है । इस अध्यवसाय के अनन्तर ही सम्यक्त्व प्राप्त

होता है । यथाप्रवृत्ति करण विशुद्ध, अपूर्वकरण विशुद्धतर और अनिवृत्तिकरण विशुद्धतम अध्यवसाय है ।

## ३. तीन करण : चींटी का दृष्टान्त

खिइगमणं पिव पढमं थाणूसरणं व करणमपुव्वं ।

उप्पयणं पिव तत्तो जीवाणं करणमनियट्टि ॥

(विभा १२०९)

चींटी के पृथ्वी पर सहज गमन के समान है— यथाप्रवृत्तिकरण ।

उसके स्थाणु आरोहण के समान है—अपूर्वकरण ।

चींटी के कीलिका-उत्पतन के समान है अनिवृत्ति-करण ! (इस करण में मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर प्रस्थान होता है)

## ४. यथाप्रवृत्तिकरण : धान्यपत्य का दृष्टान्त

जो पल्लेऽतिमहल्ले धण्णं पक्खिवइ थोवथोवयरं ।

सोहेइ बहुवहुतरं भिज्जइ थोवेण कालेण ॥

तह कम्मधन्नपल्ले जीवोऽणाभोगओ बहुतराणं ।

सोहंतो थोवतरं गिण्हंतो पावए गंठि ॥

(विभा १२०५, १२०६)

एक बहुत बड़े धान्य के कोठे में थोड़ा धान्य डाला जाये, अधिक मात्रा में बाहर निकाला जाए तो कालांतर में धान्य समाप्त हो जाता है । इसी प्रकार जीव कर्म रूपी धान्य के कोठे से सहज स्वभाव से बहुत कर्मों का शोधन करता है और थोड़े कर्मों को उसमें डालता है, तब वह ग्रन्थि देश तक पहुंचता है ।

पल्ले महइमहल्ले कुंभं पक्खिवइ सोहए नांलि ।

अस्संजए अविरेए बहु बंधए निज्जरे थोवं ॥

पल्ले महइमल्ले कुंभं सोहए पक्खिवे नांलि ।

जे संजए पमत्ते बहु निज्जरे बंधए थोवं ॥

पल्ले महइमहल्ले कुंभं सोहेइ पक्खिवे न किंचि ।

जे संजए अपमत्ते बहु निज्जरे बंधए न किंचि ॥

प्रायोवृत्तिरेषा यत् असंयतस्य बहुतरकर्मण उपचयः, अल्पतरस्य चापचय इति । यदि पुनरिस्थमेव सर्वदैव स्यात्, तदोपचितबहुकर्मणां जीवानां कदापि कस्यापि सम्यक्त्वादिलाभो न स्यात्, न चैतदस्ति । इह त्रयो भङ्गा द्रष्टव्याः । तद्यथा—कस्यचिद् बन्धहेतूनां प्रकर्षात्, पूर्वोपचितकर्मक्षपणहेतूनामपकर्षाच्चोपचयप्रकर्षः । कस्यचित् बन्धहेतूनां क्षपणहेतूनां च साम्यादुपचयापचय-साम्यम् । कस्यचित् पुनर्बन्धहेतूनामपकर्षात् क्षपणहेतूनां

च प्रकर्षादपचयप्रकर्षः । तद्विह तृतीयभंगे यदाऽसौ मिथ्या-  
दृष्टिरपि वर्तते तदा ग्रन्थिदेशं प्राप्नोति ।

(विभामवृ १ पृ ४६०)

एक बहुत बड़े धान्य के कोठे में बहुत धान्य डाला जाता है, थोड़ा धान्य निकाला जाता है । इसी प्रकार असंयत अविरत मिथ्यादृष्टि के बहु कर्मबंध होता है, अल्प निर्जरा होती है ।

एक बहुत बड़े धान्य के कोठे में बहुत धान्य निकाला जाता है, थोड़ा धान्य डाला जाता है । इसी प्रकार प्रमत्तसंयत के बहुत निर्जरा होती है और कर्म-बंध अल्प होता है ।

एक बहुत बड़े धान्य के कोठे में बहुत धान्य निकाला जाता है, नया धान्य नहीं डाला जाता । इसी प्रकार अप्रमत्तसंयत के बहुत निर्जरा होती है, कर्मबंध नहीं होता ।

यह सापेक्ष कथन है—असंयत के बहुत कर्मों का उपचय और अल्प कर्मों का अपचय होता है । यदि ऐसा निरन्तर होता रहे तो कभी किसी भी बहुलकर्मों जीव को सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होगा । किन्तु ऐसा नहीं है ।

इस संदर्भ में तीन विकल्प द्रष्टव्य हैं—

१. जिस जीव को कर्मबंध के हेतु अधिक और कर्मक्षय के हेतु कम प्राप्त होते हैं, उसके कर्मों का उपचय अधिक होता है ।
२. जिस जीव को कर्मबंध और कर्मक्षय के समान हेतु प्राप्त होते हैं, उसके कर्मों का उपचय और अपचय भी समान होता है ।
३. जिस जीव को बंध के हेतु कम और क्षय के हेतु अधिक प्राप्त होते हैं, उसके कर्मों का अधिक अपचय (बहुनिर्जरा) होता है ।

इस तीसरे विकल्प वाला मिथ्यादृष्टि ग्रन्थिदेश तक पहुंचता है ।

### गिरिसरिद्ध्यावधोलना न्याय

गिरिनद्वत्तपिपत्थरघडणोवम्पेण पढमकरणेणं ।

जा गंठी कम्मठित्तिखवणमणाभोगओ तस्स ॥

(विभा १२०७)

जैसे पहाड़ी नदी के प्रस्तरखण्ड और मार्गवर्ती प्रस्तरखण्ड परस्पर घर्षण (घञ्चनघोलनान्याय) से अनायास ही गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, छोटे, बड़े आदि अनेक आकार वाले हो जाते हैं, वैसे ही यथाप्रवृत्तिकरण

के द्वारा स्वाभाविक रूप से कर्मस्थिति के क्षीण होने पर जीव ग्रन्थि के समीप पहुंचता है ।

### ५. ग्रन्थिभेद : सम्यक्त्व प्राप्ति

अंतिमकोडाकोडीए सव्वकम्माणमाउवज्जाणं ।  
पलियासंखिज्जइमे भागे खीणे भवइ गंठी ॥  
गंठि त्ति सुदुब्भेओ कवखडघणलुडगुडुगंठि व्व ।  
जीवत्स कम्मजणिओ घणरागदोसपरिणामो ॥

(विभा ११९४, ११९५)

जब आयुवर्जित शेष सात कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति क्षीण हो जाती है, मात्र एक-एक सागरूपम कोटि-कोटि की स्थिति शेष रहती है, इसका भी जब पल्योपम का असंख्यातवां भाग क्षीण हो जाता है, तब ग्रन्थिभेदन की प्रक्रिया प्रारंभ होती है ।

डाभ आदि की रस्सी में दुर्भेद्य ग्रन्थि की तरह आत्मा का सघन राग-द्वेष का परिणाम ग्रन्थि कहलाता है । ग्रन्थि भिन्न होने पर सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

### ६. प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्ति : तीन अस्मिमत

अनादिमिथ्यादृष्टिः कोऽपि तथाविधसामग्रीसद्भावे-  
ऽपूर्वकरणेन पुञ्जत्रयं कृत्वा शुद्धपुञ्जपुद्गलान् वेदयन्ती-  
पशमिकं सम्यक्त्वमलच्छवैव प्रथमत एव क्षायोपशमिक-  
सम्यग्दृष्टिर्भवति ।

कार्मग्रन्थिकास्त्वदमेव मन्यन्ते यदुत—सर्वोऽपि  
अनादिमिथ्यादृष्टिः प्रथमसम्यक्त्वलाभकाले यथाप्रवृ-  
त्त्यादिकरण त्रयपूर्वकमन्तरकरणं करोति, तत्र चौपशमिकं  
सम्यक्त्वं लभते, पुञ्जत्रयं चाऽसौ विदधात्येव । अत  
एवौपशमिकं सम्यक्त्वाच्छ्रुतोऽसौ क्षायोपशमिक-  
सम्यग्दृष्टिः, मिश्रः, मिथ्यादृष्टिर्वा भवति ।

अन्यस्तु यथाप्रवृत्त्यादिकरणत्रयक्रमेणान्तरकरणे  
औपशमिकं सम्यक्त्वं लभते, पुञ्जत्रयं त्वसौ न करोत्येव ।  
ततश्चौपशमिकसम्यक्त्वाच्छ्रुतोऽवश्यं मिथ्यात्वमेव  
गच्छति । (विभामवृ १ पृ २४२)

सैदांतिक मान्यता—अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि जीव अनुकूल सामग्री के प्राप्त होने पर औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त किए बिना ही अपूर्वकरण के द्वारा मिथ्यात्व दलिकों के तीन पुञ्ज करके शुद्ध पुञ्ज पुद्गलों का वेदन करता हुआ सर्वप्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है ।

कार्मग्रन्थिक मान्यता—मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्ति के समय यथाप्रवृत्ति आदि तीनों करणों

के बाद अन्तरकरण में औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। वह मिथ्यात्व दलिकों के तीन पुञ्ज करता है, इसलिए औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होकर वह क्षायो-शमिक सम्यग्दृष्टि, मिश्रदृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि भी हो सकता है।

अन्य मान्यता—यथाप्रवृत्ति आदि करणत्रय को क्रमशः करता हुआ जीव अन्तरकरण में औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। वह मिथ्यात्व दलिकों के तीन पुञ्ज नहीं करता, इसलिए औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होकर निश्चित ही मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।

### ७. ग्रन्थिभेद : भव्य-अभव्य

जे भविया ते तं गंठि केवि समतिच्छंति । केवि ततो चेव पडिणियत्तंति । जे अभविया ते नियमा ततो चेव पडिणियत्तंति । जहा पिपीलियाओ बिलाओढाइयाओ समाणीओ एगं खाणुयं विलगगेति, तत्थ जासि पक्खा अत्थि ता उड्डेति, जासि नत्थि ता ततो चेव पडिणियत्तंति । (आवचू १ पृ ९९)

ग्रन्थिभेद के योग्य कर्म स्थिति होने पर जो भव्य जीव होते हैं, उनमें से कुछ ग्रन्थिभेदन करते हैं, कुछ पुनः लौट जाते हैं, ग्रन्थिभेदन नहीं कर पाते।

अभव्य जीव निश्चित ही ग्रन्थिभेद नहीं कर पाते। जैसे—चींटियां बिल से निकल कर स्थाणु पर चढ़ती हैं। उनमें से जिनके पंख होते हैं, वे उड़ जाती हैं, जिनके पंख नहीं होते, वे गिर जाती हैं।

### महाज्वर का दृष्टांत

भेसज्जेण सयं वा नस्सइ जरओ न नस्सए कोइ ।  
भव्वस्स गंठिदेसे मिच्छत्तमहाजरो चेवं ॥

(विभा १२१६)

ज्वरग्रस्त किसी व्यक्ति का ज्वर स्वतः चला जाता है, किसी का औषधि-सेवन से चला जाता है और किसी का ज्वर नष्ट नहीं होता। वैसे ही भव्य प्राणी के मिथ्यात्व रूप महाज्वर की ये तीनों स्थितियां होती हैं—

किसी का मिथ्यात्व ग्रन्थिभेद से स्वतः चला जाता है।

किसी का मिथ्यात्व गुरु के उपदेश रूप भेषज से चला जाता है।

किसी का मिथ्यात्व नष्ट नहीं होता।

### चोरों का दृष्टांत

जह वा तिन्नि मणूसा जंतऽडविपहं सहावगमणेणं ।  
वेलाइक्कमभीआ तुरंति पत्ता य दो चोरा ॥  
दट्ठुं मग्गतडत्थे ते एगो भग्गओ पडिणियत्तो ।  
वितिओ गहिओ तइओ समइनकत्तुं पुरं पत्तो ॥  
अडवी भवो मणूसा जीवा कम्मट्टिईं पओ दीहो ।  
गंठी य भयट्टाणं राग-दोसा य दो चोरा ॥  
भग्गो ठिइपरिवुड्डी गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ ।  
सम्मत्तपुरं एवं जोएज्जा तिण्णि करणाणि ॥

(विभा १२११-१२१४)

तीन मनुष्य एक साथ यात्रा करते हुए अटवी मार्ग से जा रहे थे। समय के अतिक्रमण के भय से उन्होंने त्वरता की। वहां उन्हें दो चोर मिले। उनमें से एक व्यक्ति मार्ग में स्थित चोर को देखकर लौट गया। दूसरा चोरों द्वारा पकड़ा गया। तीसरा गन्तव्य स्थान पर पहुंच गया।

अटवी के समान है भव। मनुष्य के समान है जीव। लम्बा मार्ग है कर्मस्थिति। भय स्थान के समान है ग्रन्थि। राग और द्वेष के तुल्य हैं चोर।

जो चोर लौट गया, उसके तुल्य है—कर्मस्थिति की वृद्धि। जो पकड़ा गया, उसके तुल्य है—ग्रन्थि-स्थान की प्राप्ति। जिसने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लिया, उसके समान है—सम्यक्त्व की प्राप्ति।

### ८. करण (क्रिया) की परिभाषा

करणं किरिया भावो संभवओ वेह.....॥

कृतिनिर्वृत्तिर्वस्तुनः करणमुच्यते ।

(विभा ३३०१; मवृ पृ ३०१)

करण का अर्थ है—क्रिया। जो किया जाता है, वह करण है। अथवा जिसके द्वारा, जिससे या जिसमें किया जाता है, वह करण है। किसी भी वस्तु का निर्वर्तन करना करण कहलाता है।

### ९. करण के निक्षेप

नामं ठवणा दब्बं खित्ते काले तहेव भावे य ।

एसो खलु करणंमी णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥

(उनि १८३)

करण के छह निक्षेप हैं—

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ।

**नामकरण स्थापनाकरण**

नामं नामस्स व नामओ व करणं ति नामकरणं ति ।  
ठवणा करणन्नासो करणागारो व जो जस्स ॥  
(विभा ३३०२)

नाम ही नामकरण है अथवा किसी का प्रियंकर, शुभंकर आदि नाम रखना नामकरण है। अक्ष आदि का न्यास अथवा जिस करण का जो आकार है, वह स्थापनाकरण है।

**द्रव्यकरण**

द्रव्यकरणं तु दुविहं सन्नाकरणं च नो य सन्नाए ।  
कडकरणमद्रुकरणं वेलूकरणं च सन्नाए ॥  
नोसन्नाकरणं पुण पओगसा वीससा य वोद्धव्वं ।  
साईअमणाईअं दुविहं पुण विस्ससाकरणं ॥  
(उनि १८४, १८५)

द्रव्य करण के दो प्रकार हैं—

१. संज्ञाकरण—द्रव्य का निष्पादन अथवा द्रव्य की क्रिया को ही रूढ़ि से संज्ञाकरण कहा जाता है। इसके अनेक भेद हैं—

कटकरण—कटनिर्वर्तक ओजार आदि का निर्माण।

अर्थकरण—सिक्का बनाने के लिए अधिकरणी आदि का निर्माण।

वेलूकरण—रूई की पूणी कातने के लिए वेणुशलाका का निर्माण।

२. नोसंज्ञाकरण—क्रिया होने पर भी जिसकी करणसंज्ञा रूढ़ नहीं है, वह नोसंज्ञाकरण है। इसके दो भेद हैं—

प्रयोगकरण और विस्ससाकरण। विस्ससा करण के दो प्रकार हैं—सादिकरण और अनादिकरण।

धम्माम्मागसा एयं तिविहं भवे अणाईयं ।....  
(उनि १८६)

....अन्नोन्नसमाहाणं जमिहं करणं न निव्वत्ती ॥  
अहव परपच्चयाओ संजोगाइ करणं नभाईणं ।  
साइयमुवधाराओ पज्जायादेसओ वावि ॥  
चक्खुसमचक्खुसं चिय साईअं रूविवीससाकरणं ।  
अब्भाणुप्पभिईणं बहुहा संघायभेयकयं ॥  
(विभा ३३०९-३३११)

**विस्ससाकरण**

अनादिविस्ससाकरण के तीन प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय।

इनकी परस्पर व्यवस्थित अनादिकालीन प्रदेशसंहति के अर्थ में यहां करण शब्द का प्रयोग हुआ है, क्रियात्मककरण के अर्थ में नहीं।

अथवा उपचार से इनमें क्रियात्मक करण भी घटित होता है। जैसे—आकाश के साथ घट आदि का संयोग। यह सादिकरण है। पर्याय की अपेक्षा से भी इनमें सादिकरण होता है।

रूपी अजीव द्रव्यों में सादि विस्ससाकरण दो प्रकार का है—

चाक्षुष—अध्र, इन्द्रधनुष आदि में होने वाला परिणमन।

अचाक्षुष—परमाणु-स्कन्धों में होने वाला भेद और संघात।

**प्रयोगकरण**

होइ पओगो जीवव्वावारो तेण जं विणिम्मणं ।

सज्जीवमजीवं वा पओगकरणं तयं बहुहा ॥

(विभा ३३१२)

जीव की प्रवृत्ति से द्रव्य का जो निर्माण होता है, वह प्रयोगकरण है। उसके दो भेद हैं—

१. जीवप्रयोगकरण (द्र. क्षरीर)

२. अजीवप्रयोगकरण (द्र. पुद्गल)

**क्षेत्रकरण**

खित्तस्स नत्थि करणं आगासं जं अकित्तिमो भावो ।

वज्जणपरिआवन्नं तहावि पुण उच्छुकरणाई ॥

(आवनि १०१७)

क्षेत्र का करण नहीं होता क्योंकि आकाश अकृत्रिम—अकृतक है। किन्तु क्षेत्र के अभिव्यंजक पुद्गलों की अपेक्षा से क्षेत्रकरण होता है। जैसे—इक्षुक्षेत्रकरण, शालीक्षेत्रकरण आदि। क्षेत्र के पर्यायों का अवस्थान्तर ही क्षेत्रकरण है।

**भावकरण**

भावकरणं तु दुविहं जीवाजीवेषु होइ नायव्वं ।....

जीवकरणं तु दुविहं सुयकरणं चैव नो य सुयकरणं ।....

(उनि २०१, २०३)

भावकरण के दो प्रकार हैं—जीवभावकरण और अजीवभावकरण। अजीवभावकरण (द्र. पुद्गल)

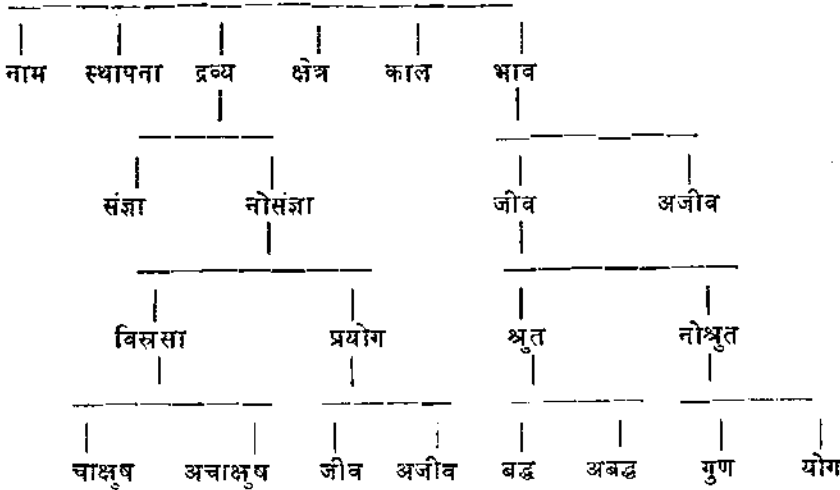
जीवकरण के दो प्रकार हैं—श्रुतकरण और नोश्रुतकरण। श्रुतकरण (द्र. श्रुतज्ञान)

नोसुयकरणं दुविहं गुणकरणं तह य जुंजणाकरणं ।  
गुण तवसंजमजोगा जंजण मणवायकाए य ॥  
(उत्ति २०४)

नोश्रुतकरण के दो प्रकार हैं—

१. गुणकरण - तपोयोग, संयमयोग ।
२. योजनाकरण—मत्तियोग, वचनयोग, काययोग ।

### करण (क्रिया)



**करणसत्तरी—**प्रयोजन होने पर किया जाने वाला अनुष्ठान । इसके सत्तर अंग हैं—

पिडविसोही समिई भावण पडिमा य इंदियनिरोहो ।  
पडिलेहणमुत्तीथो अभिग्गहा चेव करणं तु ॥  
(ओभा ३)

चार प्रकार की पिडविशोधि, पाच समिति, बारह भावना, बारह प्रतिमा, पांच प्रकार का इंद्रियनिग्रह, पन्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन मुप्ति और चार प्रकार का अभिग्रह (पिड, शय्या, वस्त्र, पात्र)---इन्हें करणसत्तरी कहा जाता है ।

**कर्म—**जीव की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति से आकृष्ट सुख-दुःख एवं आवरण के हेतुभूत पुद्गल-स्कन्ध ।

५. दर्शनावरण कर्म
६. वेदनीय कर्म
७. मोहनीय कर्म
  - ० दर्शन मोहनीय के प्रकार
  - ० चारित्र मोहनीय के प्रकार
  - \* कषाय मोहनीय (द्र. कषाय)
  - नोकषाय मोहनीय
  - \* मोहकर्म के क्षय आदि से सम्भवत्व प्राप्ति (द्र. सम्भवत्व)
८. आयुष्य कर्म
  - ० आयुष्य का बंध कब ?
  - ० आयुष्यबंध और आकर्ष
  - ० सोपक्रम-निरुपक्रम आयुष्य
  - ० आयुष्य के उपक्रम
  - \* शीर्षप्रहेलिका : आयुष्य का मापन (द्र. काल)
९. नाम कर्म
  - ० शुभ नामकर्म की प्रकृतियां
  - ० अशुभ नामकर्म की प्रकृतियां
१०. गोत्र कर्म
  - \* वन्दना से नीच गोत्र कर्म का क्षय (द्र. वन्दना)

१. कर्म का निर्वचन

२. कर्म बंध का हेतु और प्रकार

३. कर्म के प्रकार

४. ज्ञानावरण कर्म

\* ज्ञानावरण का क्षयोपशम सब जीवों में (द्र. ज्ञान)

\* स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय

(द्र. स्वाध्याय)



## ११. अन्तराय कर्म

\* सेवा से श्रामान्तराय कर्म का क्षय (द्र. बंयावृत्य)

१२. कर्म-प्रकृतियों का उपक्रम

१३. कर्म एकक्षेत्रावगाही

१४. सब आत्मप्रदेशों से कर्म बंध

१५. आत्मप्रदेश-कर्मप्रदेश-परिमाण

१६. कर्म-अनुभाग का प्रदेश-परिमाण

१७. एक समय में गृहीत कर्मप्रदेश-परिमाण

१८. कर्मबन्ध : सूचीकलाप की उपमा

१९. उदय से पूर्व कर्म की अवस्थाएं

२०. कर्मभोग की प्रक्रिया

२१. कर्म-संक्रमण की प्रक्रिया

२२. कर्मों की स्थिति

२३. अबाधा काल

२४. संविलष्ट परिणाम और स्थितिबंध

२५. पुण्यकर्म, पापकर्म, तोकर्म

२६. वातराग के कर्मबंध

२७. कम और शरीर का अनादि संबंध

२८. आत्मा और कर्म का अनादि संबंध

२९. अनादि संबंध का अन्त कैसे ?

३०. संसारी आत्मा कंचचित् मूर्त्त

३१. कर्म की मूर्त्तता के हेतु

३२. मूर्त्त से अमूर्त्त का अनुग्रह-निग्रह

३३. आत्मा और कर्म सहगामी

३४. जीव की विविधता का हेतु : कर्म

\* कर्म के अस्तित्व की सिद्धि (द्र. गणधर)

\* आश्रव से कर्मबंध (द्र. आश्रव)

\* कर्मबंध और गुणस्थान (द्र. गुणस्थान)

\* कर्म के उपशम-क्षय की प्रक्रिया (द्र. गुणस्थान)

\* कर्मक्षय से गृणों की प्राप्ति (द्र. सिद्ध)

## १. कर्म का निर्वचन

क्रियते —मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानुगतेनात्मना  
निर्वर्त्येत इति कर्म । (उशावृ प ७२)

मिथ्यस्त्व, अविरात्, कषाय और योग—इन आश्रवों से अनुगत आत्मा द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है।

## २. कर्मबन्ध का हेतु और प्रकार

रागो य दोसो वि य कम्मवीयं...॥

(उ ३२।७)

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं।

कर्मणां चतुःप्रकारो बंधो भवति—प्रकृतिबंधः  
स्थितिबंध अनुभागबंधः प्रदेशबंधः । (उचू पृ २७७)

कर्मबंध के चार प्रकार हैं—

१. प्रकृतिबंध—कर्मों का स्वभाव और कर्म के भेद।

२. स्थितिबंध—कर्मों का आत्मा के साथ बंधे रहने का कालमान।

३. अनुभागबंध—कर्मों का शुभ-अशुभ विपाक।

४. प्रदेशबंध—जीवप्रदेश और कर्मपुद्गलों का संबंध।

जोगा पयडिपएसं ठितिअणुभागं कसायओ कुणइ ।

(उशावृ प १९०)

योग से कर्मों का प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है। कषाय से कर्मों का स्थितिबंध और अनुभागबंध होता है।

## ३. कर्म के प्रकार

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तथा ।

वेयणिज्जं तथा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥

नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।

एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥

(उ ३३।२,३)

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ प्रकार के कर्म हैं।

## ४. ज्ञानावरण कर्म

ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्—अवबोधस्तस्य आत्रियते—  
सदप्याच्छाद्यतेऽनेन पटेनेव विवस्वत्प्रकाश इत्यावरणीयम् ।

(उशावृ प ६४१)

जिसके द्वारा जाना जाता है, वह ज्ञान है। जैसे वस्त्र सूर्य के प्रकाश को आवृत करता है, वैसे ही जो पुद्गल-स्कन्ध ज्ञान को आवृत करता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म है।

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।

ओहिनाणं तइयं, मणनाणं च केवलं ॥

(उ ३३।४)

ज्ञानावरण पांच प्रकार का है—

- |                    |                     |
|--------------------|---------------------|
| (१) मतिज्ञानावरण   | (३) अवधिज्ञानावरण   |
| (२) श्रुतज्ञानावरण | (४) मनोज्ञानावरण    |
|                    | (५) केवलज्ञानावरण । |

‘ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दाप्रद्वेषमत्सरैः ।

उपघातैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते ॥’

(उशावृ प १२६)

ज्ञानावरणीय कर्मबंध के हेतु—

ज्ञान तथा ज्ञानी की निन्दा करना ।

ज्ञान तथा ज्ञानी के प्रति द्वेष रखना ।

ज्ञान तथा ज्ञानी के प्रति मत्सर भाव रखना ।

ज्ञान तथा ज्ञानी का उपघात करना ।

ज्ञान तथा ज्ञानी के मार्ग में विघ्न डालना ।

## ५. दर्शनावरण कर्म

दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं— सामान्यावबोधस्तदाव्रियते  
वस्तुनि प्रतीहारेणैव नृपतिदर्शनमनेनेति दर्शनावरणम् ।

(उशावृ प ६४१)

जिसके द्वारा देखा जाता है, वह दर्शन है। यह सामान्य अवबोध है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधा डालता है, वैसे ही जो पुद्गल-स्कंध दर्शन को आवृत करता है, वह दर्शनावरण कर्म है।

निहा तहेव पयला, निहानिहा य पयलपयला य ।

तत्तो य थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥

चक्खुमचक्खुओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे ।

एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥

(उ ३३।५,६)

दर्शनावरण कर्म के नौ प्रकार हैं—

- |                  |                    |
|------------------|--------------------|
| १. निद्रा        | ६. चक्षुदर्शनावरण  |
| २. प्रचला        | ७. अचक्षुदर्शनावरण |
| ३. निद्रा-निद्रा | ८. अवधिदर्शनावरण   |
| ४. प्रचला-प्रचला | ९. केवलदर्शनावरण । |
| ५. स्त्यानर्द्धि |                    |

## निद्रा आदि पांच प्रकार

निद्रा—सुखप्रतिबोधोच्यते । प्रचला—निद्रावत्  
किञ्चिच्छुभरूपतात्मकेन प्रकारेण प्रचलत्यस्यामासी-  
नोऽपीतिप्रचला । निद्रानिद्रा—अतिशयनिद्रा दुःखप्रति-  
बोधात्मिका । प्रचलाप्रचला—प्रचलाऽतिशायिनी, सा हि

चक्रम्यमाणस्यापि भवति । स्त्यानर्द्धिः— प्रकृष्टतरा-  
शुभानुभावतया ताभ्य उपरिर्वृत्तिनी स्त्याना सहतोपचिते-  
त्यर्थः ऋद्धिर्गृद्धिर्वा यस्यां सा स्त्यानर्द्धिः स्त्यानर्द्धिर्वा ।  
एतदुदये च वासुदेवबलाद्धैबलः प्रबलरागद्वेषोदयवांश्च  
जन्तुर्जायते, अतएव परिचिन्तितार्थसाधन्यसावुच्यते ।

(उशावृ प ६४२)

१. निद्रा—जो सहजता से टूट जाये, वह निद्रा है ।

२. प्रचला - जो बैठे-बैठे नींद आती है, वह प्रचला है ।

३. निद्रानिद्रा - जो कठिनाई से टूटे, वह निद्रानिद्रा है ।

४. प्रचलाप्रचला जो चलते-चलते नींद आती है, वह गहरी नींद प्रचला-प्रचला है ।

५. स्त्यानर्द्धि - यह निद्रा प्रकृष्टतर अशुभ अनुभाव वाली है। इसमें चेतना प्रगाढ मूर्च्छा से जम जाती है। इस प्रकृति का उदय होने पर व्यक्ति के रागद्वेष का प्रबल उदय होता है और उस समय उसमें वासुदेव के बल से आधा बल जाग जाता है। व्यक्ति जो सोचता, उसे वह इस नींद में सिद्ध कर लेता है। इसलिए उसे चिन्तित अर्थ को सिद्ध करने वाली निद्रा कहा जाता है।

## स्त्यानर्द्धि के पांच उदाहरण

पोग्गल-मोयग-दंते फहसगवडसालभंजणे चैव ।

थीणद्वियस्स एए आहरणा होंति नायव्वा ॥

तदुदये च वच्चऋषभनाराचसंहननवतः केशवार्धबल-  
संपन्नता समये निगच्छते ।

(विभा २३५, मवृ पृ ११७, ११८)

१. पुद्गल (मांस)—एक मुनि के मन में मांसभक्षण की अभिलाषा जगी। वह रात को सोया हुआ था। उसके स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हुआ। वह उठा और गांव के बाहर जाकर एक भैंसे को मारकर उसका मांस खाकर लौट आया, उपाश्रय में आकर पुनः सो गया। उसने सुबह गुरु के पास दुःस्वप्न की आलोचना की। उपाश्रयद्वार पर गिरे मांस को देख ज्ञात हुआ कि इसके स्त्यानर्द्धि नींद का उदय हुआ है। अतः उसे मुनिसंघ से बहिष्कृत कर दिया गया।

२. मोदक—एक मुनि के मन में मोदक खाने की

इच्छा जगी। स्त्यानर्द्धि के उदय से वह रात्रि में उठा, दिन में जिस घर में मोदक देखे थे, उसी घर में पहुंचा, मनइच्छित मोदक खाकर शेष बचे मोदकों को पात्र में डाल, उपाश्रय में आकर सो गया। पुनः जगने पर गुरु के पास आलोचना की। उसे संघ से बहिष्कृत कर दिया गया।

३. गजदंत - एक दिन एक हाथी ने मुनि को उत्पीड़ित किया। प्रतिशोध की आग में जलता हुआ वह मुनि रात को उठा। नगरकपाटों को तोड़कर हाथी को मार, उसके दांत उखाड़ लाया। उन दांतों को उपाश्रय द्वार पर रखकर सो गया। प्रातः गुरु के पास अपने दुःस्वप्न की आलोचना की। स्त्यानर्द्धि के उदय के कारण उसे संघ से बहिष्कृत कर दिया गया।

४. फरुसग (कुंभकार) - एक कुंभकार मुनि बना। उससे पूर्व वह मूर्तिपटों को कूट-पीट कर घड़े बनाता था। उस पूर्वाभ्यास की स्मृति हुई। रात को स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय होने से उसने कई साधुओं की कपालक्रिया कर दी। उसे भी संघ से विसर्जित कर दिया गया।

५. वटवृक्षशाखा - एक बार एक मुनि ग्रामान्तर से भिक्षा लेकर आ रहा था। गर्मी की भयंकरता के कारण छायाभिलाषी मुनि मार्ग में एक बटवृक्ष के नीचे बैठा। उसकी एक शाखा से उसका सिर टकराया, बड़ा परिताप हुआ। मन क्रोध से प्रज्वलित हो उठा। वह रात को सो रहा था। स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हुआ। रात्रि में ही वह उस वटशाखा को तोड़कर ले आया और पुनः सो गया। संघ ने उसे लिंग-अपनयन कर विसर्जित कर दिया।

स्त्यानर्द्धि निद्रा के समय वज्रशृङ्खलानाराच संहनन वाले व्यक्ति में वासुदेव के बल से आधा बल जाग जाता है।

## ६. वेदनीय कर्म

वेद्यते - सुखदुःखतयाऽनुभूयते लिह्यमानमधुलिप्तासि-  
धारावदिति वेदनीयम्। (उशावृ प ६४१)

जैसे मधु से लिपटी तलवार की धार को चाटने से स्वाद भी आता है और जीभ भी कट जाती है, वैसे ही जो पुद्गल सुख और दुःख - दोनों के संवेदन में हेतुभूत

बनते हैं, उनका नाम है वेदनीय कर्म।

वेयणीयं पि य दुविहं, सायमसायं च आहियं।

सायस्स उ बहू भेषा, एमेव असायस्स वि॥

(उ ३३।७)

वेदनीय दो प्रकार का है—सात वेदनीय और असात वेदनीय। इन दोनों के अनेक प्रकार हैं।

## ७. मोहनीय कर्म

मोहयति जानानमपि मद्यपानवद्विचित्तताजननेनेति  
मोहः। (उशावृ प ६४१)

जैसे मदिरापान किए हुए मनुष्य की चेतना विकृत या मूर्च्छित हो जाती है, वैसे ही जो कर्म पुद्गल चेतना को मूर्च्छित और विकृत बनाता है, वह मोहकर्म है।

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तथा।

(उ ३३।८)

मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

### दर्शनमोहनीय

सम्भत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।

एयाओ तिल्लि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे॥

(उ ३३।९)

दर्शनमोहनीयत्रैविध्यं तथाऽऽह—सम्यग्भावः सम्यक्त्वं शुद्धदलिकरूपं यदुदयेऽपि तत्त्वरुचिः स्यात्। मिथ्याभावः मिथ्यात्वम् - अशुद्धदलिकरूपं यतस्तत्त्वेऽतत्त्वम-  
तत्त्वेऽपि तत्त्वमिति बुद्धिरूपद्यते। सम्यग्मिथ्यात्वमेव च—शुद्धाशुद्धदलिकरूपं यत उभयस्वभावता जन्तां भवति।

(उशावृ प ६४३)

दर्शनमोह के तीन प्रकार हैं—

१. सम्यक्त्वमोह—इसके दलिक (पुद्गल) शुद्ध होते हैं। इसके उदयकाल में भी तत्त्वरुचि बनी रहती है।

२. मिथ्यात्वमोह—मिथ्याभाव / गलत दृष्टिकोण मिथ्यात्व है। यह अशुद्धपुद्गलरूप है। इसका उदय होने पर तत्त्व में अतत्त्व और अतत्त्व में तत्त्व की बुद्धि उत्पन्न होती है।

३. सम्यक्त्व-मिथ्यात्व—इसके पुद्गल शुद्ध-अशुद्ध—मिश्र-रूप होते हैं। इनके उदय से प्राणी की तत्त्वरुचि/श्रद्धा सन्दिग्ध अवस्था में रहती है।

दर्शनमोहं सप्तभेदं अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमाया-  
लोभाः सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं ।

(उच्चू पृ २७८)

दर्शनमोह के सात प्रकार हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व ।

### चारित्रमोहनीय

चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु विद्याहियं ।

कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥

(उ ३३।१०)

चारित्रमोहनीय के दो प्रकार हैं—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय ।

चरित्तमोहनीयं एकविंशतिभेदं अप्रत्याख्याना-  
क्रोधादयश्चत्वारः प्रत्याख्यानावरणाक्रोधादयश्चत्वारः  
संज्वलनक्रोधादयश्चत्वारः हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सा-  
स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः ।

(उच्चू पृ २७८)

चारित्र मोहनीय के इक्कीस प्रकार हैं—

अप्रत्याख्यान चतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ ।

प्रत्याख्यान चतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ ।

संज्वलन चतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ ।

नोकषाय नौ—हास्य, रति, अरति, भय, शोक,

जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और

नपुंसकवेद ।

### नोकषाय मोहनीय

नोकषायः—कषायसहवर्त्तिनो हास्यादयस्तद्रूपेण  
यद्वेद्यते ।

(उशावृ प ६४३)

जो कषाय के सहवर्ती हैं, मूलभूत कषायों को उत्ते-  
जित करते हैं, हास्य आदि के रूप में जिनका वेदन  
होता है, वे नोकषाय हैं ।

### नोकषाय के प्रकार

....सत्तविहं नवविहं वा कम्मं नोकसायजं ॥

(उ ३३।११)

सप्तविधं हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्साः षड् वेदश्च  
सामान्यविवक्षयैक एवेति । यदा तु वेदः स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन  
त्रिधेति विवक्ष्यते तदा षड्भिस्त्रयो मीलिता नव भवन्ति ।

(उशावृ प ६४३)

एक गणना के अनुसार नोकषाय सात हैं—हास्य,

रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद । दूसरी  
गणना के अनुसार वे नौ हैं—हास्य, रति, अरति, भय  
शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ।

### ८. आयुष्य कर्म

आयाति—आगच्छति स्वकृतकर्मावाप्तनरकादि-  
कुगतेर्निष्क्रमितुमनसोऽप्यात्मनो निगडवत्प्रतिबन्धकता-  
मित्यायुः तदेव कर्म आयुःकर्म ।

(उशावृ प ६४१)

जैसे बेड़ी से बंधा हुआ आदमी नियत स्थान से  
प्रतिबद्ध रहता है, वैसे ही आयुष्य के पुद्गल नरक आदि  
किसी एक गति से प्राणी को प्रतिबद्ध करते हैं ।

नेरइयतिरिक्खाउ, मणुस्साउ तहेव य ।

देवाउयं चउत्थं तु, आउकम्मं चउत्विहं ॥

(उ ३३।१२)

आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—१. नैरयिक  
आयु, २. तिर्यच आयु, ३. मनुष्य आयु, ४. देव आयु ।

### आयुष्य का बन्ध कब ?

देवा णारया असंखेज्जवासाउया य छम्माससेसा-  
उया आउगाणि बंधंति, परभवियायुआणि । सेसा  
तिभागसेसाउया निरुवक्कमा । जे ते सोवक्कमा ते सिया  
तिभागसेसाउआ परभवियायुअं पकरेंति सिय तिभागति-  
भागावसेसाउआ सिअ तिभागतिभागतिभागसेसाउआ  
पकरेंति ।

(आवचू १ पृ ३६६)

देव, नारक तथा असंख्येय वर्षजीवी मनुष्य और  
तिर्यच वर्तमान जीवन का छह माह आयुष्य शेष रहने  
पर अगले जन्म का आयुष्य बांधते हैं । निरूपक्रम आयु  
वाले मनुष्य और तिर्यच वर्तमान भव की ३ भाग आयु  
शेष रहने पर अगले भव का आयुबंध करते हैं । सोपक्रम  
आयु वाले जीव ३ भाग आयु शेष रहने पर अथवा  
उत्तरोत्तर तीसरे भाग का तीसरा भाग (छठा, नौवां,  
सत्ताईसवां) शेष रहने पर आयुबंध करते हैं ।

### आयुष्यबन्ध और आकर्ष

यत्तु षड्भिः पञ्चभिश्चतुर्भिर्वा आकर्षैः आगृहीतं  
दलिकं तदपवर्तनाकरणेनोपक्रम्यते इति सोपक्रमम् ।

(उशावृ प २३७)

आकर्ष का अर्थ है—कर्म पुद्गलों का ग्रहण । चार,  
पांच अथवा छह आकर्षों से आयुष्य के पुद्गलों का  
ग्रहण होता है, वह सोपक्रम आयुष्य है । इसमें

अपवर्तनाकरण के द्वारा आयुष्य का अपवर्तन हो सकता है ।

सप्तभिरष्टभिर्वाऽऽकर्षैर्गंवामिव सरुषु जलगण्डूष-  
ग्रहणरूपैर्यत्पुद्गलोपादानं तदनुभागोऽतिदृढ इत्यपवर्त-  
यितुमशक्यतया निरुपक्रममुच्यते । (उशावृ प २३७)

जैसे मरुभूमि में गाय जलाशय में बार-बार मुंह डालकर जल पीती है, एक साथ नहीं पीती वैसे ही सात-आठ आकर्षों से आयुष्य के पद्गलों का ग्रहण होता है, एक साथ नहीं, वह निरुपक्रम आयुष्य है, क्योंकि उसका अनुभाग अत्यन्त दृढ़ होता है, उसका अपवर्तन संभव नहीं है ।

### सोपक्रम-निरुपक्रम आयुष्य

सोवक्कमो अ निरुवक्कमो अ दुविहोऽणुभावमरणंमि ।....  
(उनि २२६)

जं जीवियसंवट्टणमज्झवसाणाइहेउसंजणियं ।

सोवक्कमाउयाणं स जीविउवक्कमणकालो ॥

स जीवितोपक्रमणकालो यथायुकोपक्रमणकालोऽभि-  
धीयत इत्यर्थः यत् किम् ? इत्याह—यज्जीवितस्य  
यथाबद्धस्य दीर्घकालवेद्यस्यायुष्कस्य संवर्तनं स्वल्पस्थिति-  
कत्वाभादनम् । केषाम् ? सोपक्रमायुषां जीवानाम् ।  
निरुपक्रमायुषां निकाचितावस्थस्यैव बद्धत्वादपवर्तना-  
योगात् । (विभा २०४५ मवृ पृ ७२१, ७२२)

आयुष्य (अनुभावमरण) के दो प्रकार हैं—सोपक्रम  
मरण और निरुपक्रम मरण । सोपक्रम आयुष्य वाले जीव  
अध्यवसान, भय आदि निमित्त मिलने पर दीर्घकाल तक  
भोगे जाने वाले अपने बद्ध आयुष्य को अल्प काल में  
ही भोग लेते हैं—इसे यथायुष्कउपक्रमकाल कहा जाता  
है । निरुपक्रम आयुष्य वाले जीवों का आयुष्य निकाचत  
रूप में बद्ध होता है, अतः उसका अपवर्तन—ह्रस्वीकरण  
नहीं होता ।

के पुण सोवक्कमा निरुवक्कमा ? नेरइया देवा  
असंज्जवासाउगा तिरिया मणुया य उत्तमपुरिसा  
चरिमसरीरं त्ति । सेसा भंतया । (आवचू १ पृ ३६६)

नैरयिक, देव, असंख्येयवर्षजीवी तिर्यंच और मनुष्य,  
उत्तम पुरुष (तिरसठ शलाकापुरुष) तथा चरमशरीरी—  
इन सबका आयुष्य निरुपक्रम होता है । इनके अतिरिक्त  
शेष सब जीवों का आयुष्य सांपक्रम और निरुपक्रम—  
दोनों प्रकार का हो सकता है ।

### आयुष्य के उपक्रम

अज्झवसाणनिमित्ते आहारे वेयणा पराघाए ।

फासे आणापाणु सत्तविहं भिज्जए आउं ॥

(आवनि ७२४)

आयुष्य क्षीण होने के सात कारण—

अध्यवसान—राग-स्नेह-भयात्मकविचार ।

निमित्त—दण्ड, शस्त्र आदि का प्रहार ।

आहार—अति अल्प मात्रा में या अधिक मात्रा में  
भोजन करना ।

वेदना—आंख, कान आदि की पीड़ा ।

पराघात—गड्ढे आदि में गिरना ।

स्पर्श—सांप आदि से डसा जाना ।

आनापान—उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध हो  
जाना ।

### अन्य कारण

दंडकससत्थरज्जू अग्गी उदगपडण विसं वाला ।

सीउण्हं अरइ भयं खुहा पिवासा य वाही य ॥

मुत्तपुरीसनिरोहे जिण्णाजिण्णे य भोयणे बहुसो ।

घंसणधोलणपीलण आउस्स उवक्कमा एए ॥

(आवनि ७२५, ७२६)

दण्ड, कश, शस्त्र, रज्जु (फांसी लगाना), अग्नि,  
उदकपतन, विष, व्याल (सर्प, दुष्ट गज), शीत, उष्ण,  
अरति, भय, क्षुधा, पिपासा, व्याधि, मल-मूत्र का निरोध  
करने पर, अधिक भोजन करने पर, अजीर्ण होने पर  
तथा घर्षण-घोलन-पीडन से आयुष्य क्षीण होता है—  
ये आयुष्य के उपक्रम हैं ।

### ६. नामकर्म

गतिजात्यादिभिः प्रकारैर्नामयतीति नाम ।

(उचू पृ २७७)

जा गति, जाति आदि से प्राणी-विशेष को निर्दिष्ट  
करता है, वह है नाम कर्म ।

नमयति—गत्यादिविविधभावानुभवनं प्रत्यात्मानं  
प्रवणयति चित्रकर इव करितुरगादिभाव प्रति रेखाकृति-  
मिति नामकर्म । (उशावृ प ६४१)

जैसे चित्रकार हाथी, घोड़े आदि का रेखांकन करता  
है, वैसे ही जीवों को गति, जाति आदि विविध भावों  
का अनुभव कराने वाला कर्मविशेष नामकर्म है ।

नामं कर्मं तु दुविह, सुहमसुहं च आहियं ।  
सुहस्स उ बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥

(उ ३३।१३)

नामकर्म दो प्रकार का है—शुभनाम और अशुभनाम । इन दोनों के अनेक प्रकार हैं ।

### शुभ नामकर्म की प्रकृतियाँ

शुभनाम्नोऽनन्तभेदत्वेऽपि विमध्यमविवक्षातः सप्तत्रिंशद् भेदाः, तद्यथा—मनुष्यगतिः देवगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकवैक्रियआहारकतैजसकार्मणशरीराणि पञ्च, समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननम् औदारिकवैक्रियआहारकअङ्गोपाङ्गानि त्रीणि, प्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शाश्चत्वारः, मनुष्यानुपूर्वीदेवानुपूर्वी चेत्यानुपूर्वीद्वयमगुरुलघु पराघातम् उच्छ्वासः आतपः उद्योतः प्रशस्तविहायोगतिः तथा त्रसबादरं पञ्जतं प्रत्येकं स्थिरं शुभ सुभग सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्तिश्चेति निर्माणं तीर्थकरनाम चेति एताश्च सर्वा अपि शुभानुभावात् शुभम् ।

(उशावृ प ६४४)

शुभ नामकर्म के अनन्त भेद हैं, किंतु मुख्य भेद सैतीस हैं—

- |                        |                       |
|------------------------|-----------------------|
| १. मनुष्यगति           | १९. देवानुपूर्वी      |
| २. देवगति              | २०. अगुरुलघु          |
| ३. पंचेन्द्रिय जाति    | २१. पराघात            |
| ४. औदारिक शरीर         | २२. उच्छ्वास          |
| ५. वैक्रिय शरीर        | २३. आतप               |
| ६. आहारक शरीर          | २४. उद्योत            |
| ७. तैजस शरीर           | २५. प्रशस्त विहायोगति |
| ८. कार्मण शरीर         | २६. त्रस              |
| ९. समचतुरस्र संस्थान   | २७. बादर              |
| १०. वज्रऋषभनाराच संहनन | २८. पर्याप्त          |
| ११. औदारिक अंगोपांग    | २९. प्रत्येक          |
| १२. वैक्रिय अंगोपांग   | ३०. स्थिर             |
| १३. आहारक अंगोपांग     | ३१. शुभ               |
| १४. प्रशस्त वर्ण       | ३२. सुभग              |
| १५. प्रशस्त गंध        | ३३. सुस्वर            |
| १६. प्रशस्त रस         | ३४. आदेय              |
| १७. प्रशस्त स्पर्श     | ३५. यशःकीर्ति         |
| १८. मनुष्यानुपूर्वी    | ३६. निर्माण           |
|                        | ३७. तीर्थकर नाम       |

### अशुभनाम कर्म की प्रकृतियाँ

अशुभनाम्नोऽपि विमध्यमविवक्षया चतुस्त्रिंशद्भेदाः, तद्यथा—नरकगतिः तिर्यग्गतिः एकेन्द्रियजातिः द्वीन्द्रियजातिः त्रीन्द्रियजातिः चतुरिन्द्रियजातिः ऋषभनाराचं नाराचं अर्धनाराचं कीलिका सेवार्त्तं न्यग्रोधमण्डलं साति वामनं कुब्जं हुण्डम् अप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शचतुष्टयं नरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी उपघातम् अप्रशस्तविहायोगतिः स्थावरं सूक्ष्मं साधारणम् अपर्याप्तम् अस्थिरम् अशुभं दुर्भगं दुःस्वरम् अनादेयं अयशःकीर्तिश्चेति एतानि चाशुभनारकत्वादिनिबन्धनत्वेनाशुभानि ।

(उशावृ प ६४४)

अशुभ नामकर्म के चौतीस भेद हैं—

- |                             |                        |
|-----------------------------|------------------------|
| १. नरक गति                  | १८. अप्रशस्त गंध       |
| २. तिर्यच गति               | १९. अप्रशस्त रस        |
| ३. एकेन्द्रिय जाति          | २०. अप्रशस्त स्पर्श    |
| ४. द्वीन्द्रिय जाति         | २१. नरकानुपूर्वी       |
| ५. त्रीन्द्रिय जाति         | २२. तिर्यचानुपूर्वी    |
| ६. चतुरिन्द्रिय जाति        | २३. उपघात              |
| ७. ऋषभनाराच संहनन           | २४. अप्रशस्त विहायोगति |
| ८. नाराच संहनन              | २५. स्थावर             |
| ९. अर्धनाराच संहनन          | २६. सूक्ष्म            |
| १०. कीलिका संहनन            | २७. साधारण             |
| ११. सेवार्त्तं संहनन        | २८. अपर्याप्त          |
| १२. न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान | २९. अस्थिर             |
| १३. साति संस्थान            | ३०. अशुभ               |
| १४. वामन संस्थान            | ३१. दुर्भग             |
| १५. कुब्ज संस्थान           | ३२. दुःस्वर            |
| १६. हुण्डक संस्थान          | ३३. अनादेय             |
| १७. अप्रशस्त वर्ण           | ३४. अयशःकीर्ति नाम     |

### १०. गोत्र कर्म

प्रधानमप्रधानं वा करोतीति गोत्रं । (उचू पृ २७७)  
जो पुद्गल आत्मा की प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा में निमित्त बनते हैं, वह है गोत्र कर्म ।

गीयते—शब्दते उच्चावचैः शब्दैः कुलालादिव मृदद्रव्यमत आत्मेति गोत्रम् । (उशावृ प ६४१)

जैसे कुम्भकार मिट्टी से बने छोटे-बड़े घड़ों को विभिन्न नामों से पुकारता है वैसे ही आत्मा विभिन्न उच्चावच शब्दों से पुकारी जाती है, वह गोत्र कर्म है ।

गोयं कम्मं दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं ।  
उच्चं अदुविहं होइ, एवं नीयं पि आहियं ॥

(उ ३३/१४)

गोत्र कर्म दो प्रकार का है—उच्च गोत्र और नीच गोत्र । इन दोनों के आठ-आठ प्रकार हैं ।

जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, ज्ञान, लाभ और रूप की उच्चता से उच्च गोत्र तथा इन आठों की निम्नता से नीच गोत्र ।

### ११. अन्तराय कर्म

अन्तरा—दातृप्रतिघ्राहकयो रन्तर्भाण्डागारिकवद्विघ्न-  
हेतुतयाऽयते—गच्छतीत्यन्तरायम् । (उशावृ प ६४१)

जैसे कौषाध्यक्ष राजा के द्वारा प्रदत्त राशि को देने में बाधा उपस्थित करता है, वैसे ही जो कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और शक्ति—इनमें बाधक बनता है, वह है अन्तराय कर्म ।

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तथा ।

पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ॥

(उ ३३/१५)

दानान्तरायं यत्सति विशिष्टे ग्रहीतरि देये च वस्तुनि तत्फलमवगच्छतोऽपि दाने प्रवृत्तिमुपहन्ति । यत्पुनर्विशिष्टेऽपि दातरि यावन्निपुणेऽपि याचितरि उपलब्धिउपघातकृततल्लभान्तरायं । भोगान्तरायं तु सति विभवादी सम्पद्यमाने च आहारमाल्यादी यद्वशात् भुङ्क्ते । उपभोगान्तरायं तु यस्योदयात्सदपि वस्त्रालङ्कारादि नोपभुङ्क्ते । वीर्यान्तरायं यद्वशाद्बलवाञ्छीरुगवयःस्थः अथ च वृशकुञ्जीकरणेऽप्यसमर्थः । (उशावृ प ६४५)

अन्तराय कर्म के पांच प्रकार हैं—

१. दानान्तराय—दान लेने वाला और देय वस्तु विशिष्ट है तथा दाता दान के फल से अभिन्न है, किन्तु दान की प्रवृत्ति में बाधा आती है ।
२. लाभान्तराय—दाता भी विशिष्ट है और याचक भी निपुण है किन्तु याचक की उपलब्धि में बाधा आ जाती है ।
३. भोगान्तराय—सम्पदा होने पर भी व्यक्ति के भोग में बाधा आती है । वह आहार, माला आदि का भोग नहीं कर पाता ।

४. उपभोगान्तराय—वस्त्र, अलंकरण आदि की प्राप्ति होने पर भी व्यक्ति उनका उपभोग नहीं कर पाता ।

५. वीर्यान्तराय—व्यक्ति बलवान् है, स्वस्थ है, तरुण है फिर भी वह एक तिनके को भी तोड़ नहीं सकता ।

### १२. कर्म प्रकृतियों का उपक्रम

सञ्जपगईणमेव परिणामवसादुवक्कमो होज्जा ।

पायमनिकाइयाणं तवसा उ निकाइयाणं पि ॥

(विभा २०४६)

शुभ-अशुभ परिणामवशात् ज्ञानावरणीय आदि सब कर्म प्रकृतियों का अपवर्तनाकरण के द्वारा उपक्रम होता है । यह उपक्रम प्रायः अनिकाचित प्रकृतियों का ही होता है । तपस्या के द्वारा निकाचित प्रकृतियों का भी उपक्रम होता है ।

उदय-खय-खयोवसमोवसमा जं च कम्मणो भणिया ।

दव्वाइपंचयं पइ जुत्तमुवक्कामणमओ वि ॥

(विभा २०५०)

कर्मों का उदय, क्षय, क्षयोपशम और उपशम द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भाव के आश्रित होता है । इसलिए कर्मों का उपक्रम युक्तियुक्त है ।

जेणोवक्कामिज्जइ समीवमाणिज्जए जओ जं तु ।

स किलोवक्कमकालो किरियापरिणामभूइट्ठो ॥

(विभा २०३९)

जिस क्रिया विशेष से दूरस्थ को समीप लाया जाता है, वह उपक्रम है । इसमें क्रिया-परिणाम (उपक्रम की हेतुभूत क्रियाओं) की बहुलता है ।

### सोपक्रम कर्म के दृष्टान्त

जह वा दीहा रज्जू ड्ज्झइ कालेण पुंजिया खिप्पं ।

विणओ पडो व सुस्सइ पिडोभूओ य कालेण ॥

(विभा २०६१)

जैसे फँली हुई रज्जु को जलने में समय लगता है और पुंजीभूत रज्जु शीघ्र जल जाती है, फँला हुआ गीला वस्त्र जल्दी सूख जाता है और पिडीभूत वस्त्र को सूखने में समय लगता है, वैसे ही वेदनकाल में कर्मों का उद्वर्तन और अपवर्तन होता है ।

किंचिदकाले वि फलं पाइज्जइ पच्चए य कालेण ।

तह कम्मं पाइज्जइ कालेण विपच्चए वण्णं ॥

भिण्णो जहेह कालो तुल्ले वि पहम्मि मइविसेसाओ ।  
सत्थे व ग्रहणकालो मइ-मेहाभेयओ भिण्णो ॥  
तह तुल्लम्मि वि कम्मे परिणामाइकिरियाविसेसाओ ।  
भिण्णोऽणुभवणकालो जेट्ठो मज्झो जहन्नो य ॥

(विभा २०५८-२०६०)

फलों का परिपाक दो तरह से होता है। जैसे वृक्षस्थ आम्रफल समय आने पर ही पकता है, किन्तु गर्त में डाल पलाल से ढक देने पर वह समय से पहले ही पक जाता है। वैसे ही कर्म का फल अध्यवसान आदि हेतु मिलने पर शीघ्र भोग लिया जाता है। (सौ वर्ष में भोगा जाने वाला आयुष्य अन्तर्मुहूर्त में भोग लिया जाता है) अन्यथा यथाकाल सम्पूर्ण रूप से भोगा जाता है।

मार्ग की दूरी तुल्य होने पर भी गति की मन्दता और तीव्रता के कारण पथिक भिन्न-भिन्न काल में अपने गन्तव्य पर पहुंचते हैं। ग्रन्थ का परिमाण समान होने पर भी ग्रहण-अवधारण शक्ति की तरतमता के कारण विद्यार्थी भिन्न-भिन्न काल में उस ग्रन्थ का पार पाते हैं। इसी प्रकार बद्ध कर्मों की स्थिति तुल्य होने पर भी परिणाम, बाह्य निमित्त, क्रिया आदि की भिन्नता के कारण कर्मों का अनुभवकाल भिन्न-भिन्न होता है।

### १३. कर्म एक क्षेत्रावगाही

गिण्हइ तज्जोगं चिय रेणु पुरिसो जहा कयळ्भंगो ।

एगक्खेत्तोगाढं जीवो सव्वप्पएसेहि ॥

एकक्षेत्रावगाढमेव गृह्णाति, न तु स्वावगाढप्रदेशेभ्यो भिन्नप्रदेशावगाढम् । (विभा १९४१; मवृ पृ ६८७)

जीव कर्म के योग्य कर्मवर्गणा के पुद्गलों को ही ग्रहण करता है। वह एक क्षेत्रावगाही पुद्गलों को ग्रहण करता है—अपने आत्मप्रदेशों से अवगाहित क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों का ग्रहण नहीं करता। यह ग्रहण सब आत्मप्रदेशों से होता है। जैसे तेल आदि से स्निग्ध शरीर पर रजकण चिपकते हैं, वैसे ही राग-द्वेष से संविलष्ट आत्मा पर कर्म चिपकते हैं।

### १४. सब आत्मप्रदेशों से कर्मबंध

सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं ।

सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥

(उ ३३/१८)

सब जीवों के संग्रह-योग्य पुद्गल छहों दिशाओं—आत्मा से संलग्न सभी आकाशप्रदेशों में स्थित हैं। वे सब

कर्म-परमाणु बन्ध-काल में आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ सम्बद्ध होते हैं।

### १५. आत्मप्रदेश-कर्मप्रदेश-परिमाण

.....आउमकम्मपएसग्गणंतणता पएसेहि ॥

आत्मप्रदेशो हि एकैकस्तत्प्रदेशैरनन्तानन्तैरावेष्टितः संवेष्टितः । (उनि २२६ शावृ प २३७)

एक-एक आत्मप्रदेश अनंतानंत कर्मपुद्गलों से आवेष्टित-परिवेष्टित है। आयुष्य कर्म का प्रदेशपरिमाण अनंतानंत है, जिससे एक-एक आत्मप्रदेश आवेष्टित है।

### १६. कर्म अनुभाग का प्रदेश-परिमाण

सिद्धाणणंतभागो य, अणुभागा ह्वंति उ ।

सव्वेसु वि पएसग्गं, सव्वजीवेसुऽइच्छियं ॥

(उ ३३/२४)

कर्मों के अनुभाग सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितने होते हैं। सब अनुभागों का प्रदेश परिमाण—रसविभाग का परिमाण सब जीवों से अधिक होता है।

### १७. एक समय में गृहीत कर्मप्रदेशों का परिमाण

सव्वेसि चैव कम्मणं, पएसग्गमणंतगं ।

मंठियसत्ताईयं, अंतो सिद्धाण आहियं ॥

(उ ३३/१७)

एक समय में गृहीत सब कर्मों का प्रदेशाग्र अनन्त है। वह अभव्य जीवों से अनन्त गुना अधिक और सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितना होता है।

### १८. कर्मबंध : सूचीकलाप की उपमा

कम्मप्पवायपुब्बे बद्धं पुट्ठं निकाइयं कम्मं ।

जीवपएसेहि समं सूईकलावोवमाणाओ ॥

अयं च त्रिविधोऽपि बन्धः सूचीकलापोपमानाद् भावनीयः, तद्यथा—गुणाऽऽवेष्टितसूचीकलापोपमं बद्ध-मुच्यते, लोहपट्टबद्धसूचीसंघातसद्दशं तु बद्धस्पृष्टमित्य-भिधीयते, बद्धस्पृष्टनिकाचितं त्वग्निपतघनाहतिक्रोडी-कृतसूचीनिचयसनिभं भावनीयमिति ॥

(विभा २५१३ मवृ प ९३)

कर्म जीव-प्रदेशों के साथ बद्ध, स्पृष्ट और निकाचित होते हैं—ऐसा कर्मप्रवाद पूर्व में प्ररूपित है। इस बंध को सूची-कलाप की उपमा से उपमित किया गया



है। सूची-कलाप से उपमित कर्मबन्ध के तीन प्रकार हैं—

१. धामे से बंधे हुए सूची-कलाप के समान कर्मों की बद्ध अवस्था है।
२. लोहपट्ट से बद्ध सूची-समूह के समान बद्धस्पृष्ट अवस्था है।
३. अग्नि में तपाकर घन से पीटकर सूची-समूह को एकमेक कर देने के समान है बद्धस्पृष्ट निकाचित अवस्था।

### १९. उदय से पूर्व कर्म की चार अवस्थाएं

जोग्गा बद्धा बज्जभंतया य पत्ता उर्द्धणावलियं ।

अहं कम्मदव्वराओ चउव्विहा पोग्गला हुंति ॥

(विभा २९६२)

१. योग्य—जो कर्म पुद्गल बंधपरिणाम के अभिमुख हैं।
२. बध्यमान—जिन कर्म पुद्गलों की बंध-क्रिया प्रारंभ हो चुकी है।
३. बद्ध—जिन कर्म पुद्गलों की बंध-क्रिया सम्पन्न हो चुकी है।
४. उदीरणावलिका प्राप्त—जो कर्मपुद्गल उदीरणा-करण द्वारा उदीरणावलिका को प्राप्त हैं, लेकिन उदयावलिका को प्राप्त नहीं हुए हैं।

### २०. कर्मभोग की प्रक्रिया

पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुंवि  
दुच्चिष्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि  
अवेयइत्ता, तवसा वा भोसइत्ता । (दचू १/सूत्र १८)

दुश्चरित्र और दुष्ट पराक्रम के द्वारा पूर्वकाल में अजित किए हुए पाप-कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है।

भणियं च सुए जीवो वेएइ न वाऽणुभावकम्मं ति ।

जं पुण पएसकम्मं नियमा वेएइ तं सव्वं ॥

नाणुट्ठियं निज्जीरइ नासंतमुदेइ जं तओऽवस्सं ।

सव्वं पएसकम्मं वेएउं मुच्चए सव्वो ॥

(विभा १२९५, १२९६)

आगम श्रुत में कहा गया है—जीव अनुभाव कर्म का वेदन करता भी है, नहीं भी करता। प्रदेश कर्म का वेदन नियमतः होता है।

अनुदित कर्म की निर्जरा नहीं होती, असत् का उदय नहीं होता, इसलिए प्रदेश कर्म का वेदन होने पर ही जीव कर्मों का निर्जरण करता है।

किरियाए कुणइ रोगो मंदं पीलं जहाऽवणिज्जंतो ।

किरियाभेत्तकयं चिय पएसकम्मं तहा तवसा ॥

(विभा १२९९)

औषध सेवन के द्वारा अपनीयमान रोग की पीड़ा मन्द हो जाती है। चिकित्साकाल में जो कुछ क्रियाएं की जाती हैं, मात्र उतनी सी पीड़ा होती है। वैसे ही तपस्या के द्वारा अपनीयमान प्रदेशकर्म से गुणों का विघात नहीं होता, मात्र तप-क्रिया से थोड़ा कष्ट होता है।

नरकगत्यादिकाः कर्म प्रकृतयस्तद्भवसिद्धिकानामपि मुनीनां सत्तायां विद्यन्ते एव, न चाननुभूतास्ताः कदाचिदपि क्षीयन्ते, न च तद्भवसिद्धिको नरकादिजन्मविपाकेन ताः समनुभवति, किन्तु तपसा प्रदेशरूपतया समनुभूय ताः क्षपयति । (विभामवृ पृ ४८३)

उसी भव में सिद्ध गति को प्राप्त करने वाले मुनियों के भी नरकगति आदि कर्म प्रकृतियां सत्ता में रहती हैं। उनका अनुभव किए बिना वे कभी क्षीण नहीं होती। तद्भवसिद्धिक जीव नरक आदि जन्मों के विपाकोदय के रूप में उनका अनुभव नहीं करता, किन्तु प्रदेशोदय में उनका अनुभव कर तपस्या से उनको क्षीण कर देता है।

### कर्मभोग अवश्यंभावी

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।.... (उ १३/१०)

मनुष्यों का सब सुचीर्ण (सुकृत) सफल होता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष नहीं होता।

.....कम्मसच्चा हु पाणिणो । (उ ७/२०)

प्राणी कर्म-सत्य होते हैं—अपने किये हुए का फल अवश्य पाते हैं।

पुण्य-पापलक्षणमुभयमपि सविपाकमविपाकं च मन्त-व्यम्—यथावद्धं तथैव विपाकाः किञ्चिद् वेद्यते, किञ्चित्तु मन्दरसं नीरसं वा कृत्वा प्रदेशोदयेनाविपाकं वेद्यते । (विभामवृ १ पृ ६९०)

पुण्य कर्म और पापकर्म सविपाकी, अविपाकी—दोनों तरह के होते हैं। कुछ कर्म सविपाकी होते हैं—जिस रूप में बंधे हैं, उसी रूप में भोगे जाते हैं। कुछ कर्म अविपाकी होते हैं—जिन्हें मंदरस अथवा नीरस कर

प्रदेशोदय के रूप में भोगा जाता है, उनका विपाकोदय नहीं होता।

## २१. कर्म-संक्रमण की प्रक्रिया

मोक्षण आयुं खलु दंसणमोहं चरित्तमोहं च ।  
सेसणं पमईणं उत्तरविहिसंक्रमो भज्जो ॥

ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनामन्योन्यं संक्रमः कदापि न भवत्येव, उत्तरप्रकृतीनां तु निजनिजमूलप्रकृत्यभिन्नानां परस्परं संक्रमो भवति ।.....भज्जना चैवं द्रष्टव्या— याः किल ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-कषायषोडशक-मिथ्यात्व-भय-जुगुप्सा - तैजस - कार्मणवर्णादिचतुष्कागुरु-लघूपघातनिर्माणाऽन्तरायपञ्चकलक्षणाः सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्य उत्तरप्रकृतयः । तासां निजैकमूलप्रकृत्यभिन्नानामन्योन्यं संक्रमः सदैव भवति । यथा ज्ञानावरणपञ्चकान्तर्वर्तिनि मतिज्ञानावरणे श्रुतज्ञानावरणादीनि, तेष्वपि मतिज्ञानावरणं संक्रामतीत्यादि । यास्तु शेषा अध्रुवबन्धिन्यस्तासां निजैकमूलप्रकृत्यभेदवर्तिनीनामपि बध्यमानायाम-बध्यमाना संक्रामति, न त्वबध्यमानायां बध्यमानाः यथा साते बध्यमानेऽसातमबध्यमानं संक्रामति, न तु बध्यमान-मबध्यमाने इत्यादि वाच्यमिति । एषः प्रकृतिसंक्रमे विधिः । शेषस्तु प्रदेशादिसंक्रमविधिः मूलप्रकृत्यभिन्नासु वेद्यमानासु संक्रमः भवति ।

(विभा १९३९; मवृ पृ ६८६, ६८७)

कर्म की ज्ञानावरण आदि मूल आठ प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण कभी भी नहीं होता। सजातीय उत्तर प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण हो सकता है, अतिवार्य नियम नहीं है। आयुष्य कर्म की चारों प्रकृतियों का तथा दर्शनमोह और चारित्रमोह का परस्पर संक्रमण नहीं होता।

ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, कषाय की सोलह, मिथ्यात्व की एक, भय की एक, जुगुप्सा की एक तैजस की एक, कार्मण की एक, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और अंतराय की पांच— इन ४७ ध्रुवबन्धिनी उत्तर प्रकृतियों का अपनी सजातीय प्रकृति के साथ संक्रमण होता है। जैसे—मतिज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण आदि के साथ, श्रुतज्ञानावरण का मति-ज्ञानावरण आदि के साथ संक्रमण होता है।

शेष अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के संक्रमण का नियम यह है कि पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति बध्यमान (वर्तमान में

बंधने वाली) प्रकृति में संक्रांत होती है। बध्यमान प्रकृति पूर्वबद्ध प्रकृति में संक्रांत नहीं होती। जैसे—पूर्वबद्ध असात वेदनीय बध्यमान सात वेदनीय में संक्रांत होता है किन्तु बध्यमान सात वेदनीय पूर्व बद्ध असात वेदनीय में संक्रांत नहीं होता—यह प्रकृति-संक्रमण का नियम है। स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के संक्रमण का नियम इससे भिन्न है। वह वेद्यमान अवस्था में होता है।

पुव्वगहियं च कम्मं परिणामवसेण मीसयं नेज्जा ।

इयरेयरभावं वा सम्मा-मिच्छाई न उ गहणे ॥

(विभा १९३८)

पूर्वगृहीत सत्तावर्ती कर्म का संक्रमण होता है। यह संक्रमण—परिवर्तन परिणामधारा की तीव्रता-मंदता और शुद्धि-अशुद्धि के आधार पर होता है। जैसे—पूर्वबद्ध मिथ्यात्व के पुद्गल विशुद्ध परिणामों से शोधित होने पर सम्यक्त्व में संक्रांत हो जाते हैं। इसी प्रकार अशुद्ध परिणामों की तीव्रता के कारण सम्यक्त्व के पुद्गल मिथ्यात्व में संक्रांत हो जाते हैं।

## २२. कर्मों की स्थिति

उदहीसरिनामाणं, तीसई कोडिकोडिओ ।

उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥

आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य ।

अंतराय ए कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ।

(उ ३३।१९, २०)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय—इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

.....वेअणीए वारस मुहुत्ता ॥ (विभा ११८८)

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है।

(वेदनीय कर्म बन्ध के दो प्रकार हैं—साम्परायिक और ईयपिथिक। साम्परायिक बन्ध सकषायी के होता है, उसकी जघन्य स्थिति है बारह मुहूर्त। ईयपिथिक बन्ध वीतराग के होता है, उसकी जघन्य स्थिति है अन्तर्मुहूर्त (दो समय)।)

## मोहनीय कर्म

उदहीसरिनामाणं, सत्तरि कोडिकोडिओ ।

मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

(उ ३३।२१)

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटि-कोटि

सागर की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है ।

### आयुष्य कर्म

तेतीस सागरोपमा, उक्कोसेण वियाहिया ।

ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

(उ ३३।२२)

आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है ।

### नाम-गोत्र-कर्म

उदहीसरिनामाणं, वीसई कोडिकोडिओ ।

नामगोत्ताणं उक्कोसा, अट्ट मुहुत्ता जहन्निया ॥

(उ ३३।२३)

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की होती है ।

### उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति

उत्तरप्रकृतिविषया (स्थितिः) प्रदर्श्यते—तत्रोत्कृष्टा स्त्रीवेद-सातवेदनीयमनुजगत्यानुपूर्वीणां चतसृणामुत्तर-प्रकृतीनां पञ्चदश सागरोपमकोटीकोट्यः । कषाय-षोडशकस्य चत्वारिंशन्नपुंसकारतिशोकभयजुगुप्सानां पञ्चानां विशतिः । पुंवेदहास्यरतिदेवगत्यानुपूर्वीद्वयाद्य-संहननसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेय-यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणां पञ्चदशानां दश । न्यग्रोध-संस्थानद्वितीयसंहननयोर्द्वादश । सातिसंस्थाननाराचसंह-ननयोश्चतुर्दश । कुब्जाद्धनाराचयोः षोडश । वामन-संस्थानकीलिकासंहननद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिसूक्ष्मापर्याप्त-कसाधारणानामष्टानामष्टादश । तिर्यग्मनुष्यायुधोः पत्योपमत्रयं । अवशिष्टानां तु मूलप्रकृतिवदुत्कृष्टा स्थितिः ।

### कर्म की उत्तर प्रकृतियां

स्त्रीवेद, सात वेदनीय, मनुष्यगति }  
मनुष्य गति आनुपूर्वी }  
सोलह कषाय

नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय }  
जुगुप्सा }

पुरुष वेद, हास्य, रति, देवगति, }  
देवगत्यानुपूर्वी, प्रथम संहनन, }  
प्रथम संस्थान, प्रशस्त विहायोगति }

### उत्कृष्ट स्थिति

पन्द्रह कोटाकोटि }  
सागरोपम }  
चालीस कोटाकोटि }  
सागरोपम }

बीस कोटाकोटि }  
सागरोपम }

दस कोटाकोटि }  
सागरोपम }

स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, }  
आदेय, यशोकीर्ति, उच्चगोत्र, }  
न्यग्रोध संस्थान, ऋषभनाराच }  
संहनन }

सातिसंस्थान, नाराच संहनन

कुब्ज, अर्धनाराच संहनन

वामन संस्थान, कीलिका संहनन, }  
द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, }  
सूक्ष्म, पर्याप्त, साधारण }  
तिर्यञ्च }

शेष प्रकृतियों की स्थिति

### उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति

जघन्या तु निद्रापञ्चकासातवेदनीयानां षण्णां सागरोपम सप्तभागास्त्रयः पत्योपममासंख्येयभागन्यूनाः । सातस्य तु द्वादश मुहूर्ताः । मिथ्यात्वस्य पत्योपमासंख्येय-भागोनं सागरोपमम् । आद्यकषायद्वादशकस्य चत्वारः सागरोपमसप्तभागास्तावतैव न्यूनाः । क्रोधस्य संज्वल-नस्य मासद्वयं । मानस्य मासो । मासाद्धे मायायाः । पुंवेदस्थाष्टौ वर्षाणि । शेषनोकषायमनुष्यतिर्यग्गतिजाति-पञ्चकौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गैर्जसकर्मणसंस्थानषट्क-संहननषट्कवर्णचतुष्कतिर्यग्मनुष्यानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरा-घातोच्छ्वासातपोद्योतप्रशस्ताप्रशस्त-विहायोगतियशः-कीर्तिवर्जत्रसादिविशतिनिर्माणनीचैर्गोत्राणां षट्षट्युत्तर-प्रकृतीनां सागरोपमसप्तभागौ द्वौ पत्योपमासंख्येय-भागन्यूनौ । वैक्रिषट्कस्य सागरोपमसहस्रभागौ द्वौ पत्योपमासंख्येयभागन्यूनौ । आहारकतदङ्गोपाङ्ग-तीर्थकरनाम्नामन्तःसागरोपमकोटीकोटी ।

(उशावृ प ६४७, ६४८)

### कर्म की उत्तर प्रकृतियां जघन्य स्थिति

निद्रा पञ्चक } पत्योपम का असंख्येय भाग न्यून  
असात वेदनीय } ३ सागरोपम  
सात वेदनीय } बारह मुहूर्त  
मिथ्यात्व } पत्योपम का असंख्येय भाग न्यून  
एक सागरोपम

अनन्तानुबन्धी चतुष्क } पत्योपम का असंख्येय भाग  
अप्रत्याख्यान चतुष्क } कम ३ सागरोपम  
प्रत्याख्यान चतुष्क }

संज्वलन क्रोध	दो मास	नाम	दो हजार वर्ष
संज्वलन मान	एक मास	गोत्र	दो हजार वर्ष
संज्वलन माया	पन्द्रह दिन		आयुष्य कर्म का अबाधाकाल नहीं होता ।
संज्वलन लोभ	अन्तर्मुहूर्त		
पुरुष वेद	आठ वर्ष		
पुरुषवेदवर्जित नोकषाय से नीचे गोत्र पर्यंत ६६ प्रकृतियां	} पल्योपम का असंख्येय भाग कम के सागरोपम		
वैक्रिय षट्क		—	पल्योपम का असंख्येय भाग कम के सागरोपम
आहारक शरीर	} अन्तःकोटिकोटि सागरोपम		
आहारक अंगोपांग तीर्थंकर नाम			

### आहारक... उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति

ननुत्कृष्टाऽपि एतावत्येवासां तिसृणां स्थितिरभिहता, सत्यं, तथाऽपि ततः संख्येयगुणहीनत्वेनास्या जघन्यत्वमिति सम्प्रदायः । (उशावृ प ६४८)

आहारकशरीर, आहारकशरीरअंगोपांग और तीर्थंकर नाम—इन तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति भी जघन्य स्थिति की तरह अन्तःकोटिकोटि सागरोपम ही है । किन्तु वह जघन्य स्थिति उत्कृष्ट स्थिति से संख्येयगुण हीन होती है—यह तथ्य परम्परा से प्राप्त है ।

### २३. अबाधाकाल

जाणावरणीयस्य...त्रीणि च वर्षसहस्राणि आबाधा अंतरं भवति ।...न बाधा अबाधा, तत्र उदयो न भवतीत्यर्थः, तत्र सत्स्थितिरूना भवति, एवं दर्शनावरणीयान्तराययोः । वेदनीयस्थितिः तदेव...दर्शनमोहनीयं...चत्वारि वर्षसहस्राण्याबाधा अन्तरं भवति...चारित्र-मोहनीयस्य...सप्तवर्षसहस्राणि आबाधा अन्तरं भवति । नामगोत्रयोः...वर्षसहस्रद्वयं आबाधा अंतरं भवति ।

(उचू पृ २७८)

कर्म	अबाधाकाल
ज्ञानावरण	तीन हजार वर्ष
दर्शनावरण	तीन हजार वर्ष
वेदनीय	तीन हजार वर्ष
अंतराय	तीन हजार वर्ष
दर्शनमोहनीय	चार हजार वर्ष
चारित्रमोहनीय	सात हजार वर्ष

### २४. संक्लिष्ट परिणाम और स्थितिबंध

मोहसुककोसाए ठिईए सेसाण छहमुक्कोसा ।  
आउस्सुककोसा वा मज्झिमिया वा न उ जहण्णा ॥  
(विभा ११८९ मवृ पृ ४५४)

मोह कर्म का स्थिति बंध उत्कृष्ट हो तो शेष छह (आयुष्य वर्जित) कर्मों का स्थिति बंध भी उत्कृष्ट ही होता है । संक्लिष्ट परिणामों की उत्कृष्टता इस दीर्घ स्थितिबंध में निमित्त बनती है ।

उत्कृष्ट स्थिति वाले मोह कर्म के साथ उत्कृष्ट आयुष्य बंध होने पर जीव नरकगति का आयुष्य बांधकर सातवीं पृथ्वी में उत्पन्न होता है । उसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम होती है । जब जीव छठी आदि पृथ्वियों में उत्पन्न होता है, तब मध्यम स्थितिबंध होता है, जघन्य नहीं । अत्यधिक संक्लिष्ट परिणामों वाला जीव नरक में ही उत्पन्न होता है । वह जघन्य आयु-स्थिति वाले क्षुल्लक भव में उत्पन्न नहीं होता । जब नैरयिक और देव संक्लिष्ट परिणामों से उत्कृष्ट मोहस्थिति का बंध कर तिर्यचगति में उत्पन्न होते हैं, तब भी उनका जघन्य स्थिति वाला आयुष्य नहीं होता । देव और नैरयिक क्षुल्लक भव में उत्पन्न नहीं होते ।

मोहविवज्जुक्कोसयठिईए मोहस्स सेसियाणं च ।

उक्कोस मज्झिमा वा कासइ व जहण्णिया होज्जा ॥

(विभा ११९० मवृ पृ ४५५)

जब जीव मोहवर्जित उत्कृष्ट स्थिति वाला ज्ञानावरण आदि कर्म बांधता है, तब मोह तथा शेष कर्मों की उत्कृष्ट अथवा मध्यम स्थिति का बंध करता है ।

मोहनीय, दर्शनावरण आदि कर्मों की जघन्य स्थिति का बंध अनिवृत्ति बादर और सूक्ष्मसम्पराय—इन दो गुणस्थानों में ही होता है । इन दोनों गुणस्थानों में ज्ञानावरण आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध कभी नहीं होता । उत्कृष्ट स्थिति का बंध मिथ्यादृष्टि के ही होता है । ज्ञानावरण आदि की उत्कृष्ट स्थिति में मोहनीय आदि की जघन्य स्थिति संभव नहीं है । किन्तु किसी-किसी के आयु कर्म की जघन्य स्थिति संभव है । जैसे—ज्ञानावरण आदि की उत्कृष्ट स्थिति का बंध करता हुआ

तिर्यंच अथवा मनुष्य जघन्य क्षुल्लक भव का आयुष्य बांध लेता है।

मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति का बंध करते हैं—अनिवृत्ति बादर नामक गुणस्थानवर्ती जीव। आयुष्य कर्म की जघन्य स्थिति का बंध करते हैं—मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति का बंध करते हैं—सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती जीव। यह जघन्य स्थितिबन्ध कषायप्रत्ययिक है। योग-प्रत्ययिक जघन्य स्थितिबन्ध उपशांतमोह आदि गुण-स्थानों में होता है।

### २५. पुण्यकर्म पापकर्म

सोहणवण्णाइगुणं सुभाणुभावं च जं तयं पुण्णं ।  
विवरीयमओ पावं न बायरं नाइसुहुमं च ॥  
(विभा १९४०)

जिसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि शुभ तथा जिसका विपाक शुभ है, वह पुण्य कर्म है। जिसके वर्ण, गन्ध आदि अशुभ हैं और जिसका विपाक अशुभ है, वह पाप कर्म है। ये दोनों पुद्गल न परमाणु के समान अति सूक्ष्म हैं और न अति स्थूल हैं।

### कर्म की पुण्य प्रकृतियां

सायं सम्मं हासं पुरिस-रइ-सुभाउ-नाम-गोत्ताइ ।  
पुण्णं, सेसं पावं नेयं सविवागमविवागं ॥  
(सायं उच्चामोयं नर-तिरि-देवाउयाइं तह नामे ।  
देवदुगं भणुयदुगं पर्णिदिजाईं य तणुपणगं ॥  
अंगोवंगण तिंगं पढमं संघयणमेव संठाणं ।  
सुभवण्णाइचउक्कं अगुरुलहू तह य परघायं ॥  
ऊसासं आयावं उज्जोय विहगगईं वि य पसत्था ।  
तस-बायर पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं सुभगं ॥  
सुस्सर आएज्ज जसं निम्मिण तित्थयरमेव एयाओ ।  
बायालं पगईओ पुण्णं ति जिणेहि भणिआओ ॥)

भणितशेषास्तु द्वचशीतिप्रकृतयस्तत् सर्वसशुभत्वात्  
पापं विज्ञेयम् ।

अन्ये तु मोहनीयभेदान् सर्वानपि जीवस्य विपर्यास-  
हेतुत्वात् पापमेव मन्यन्ते । ततः सम्यक्त्व-हास्य-पुरुषवेद-  
रतिवर्जा द्विचत्वारिंशदेव प्रकृतयः पुण्यम् ।

(विभा १९४६ मवृ पृ ६८९, ६९०)

सातवेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, हास्य, पुरुषवेद,

रति मोहनीय, तिर्यंच आयुष्य, मनुष्य आयुष्य, देव आयुष्य, देवगति, देव आनुपूर्वी, मनुष्यगति, मनुष्य आनुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, पांच शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कामण), तीन अंगोपांग (औदारिक, वैक्रिय, आहारक), वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, शुभ वर्ण, शुभ गंध, शुभ रस, शुभ स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रभस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश, निर्माण और तीर्थंकर नाम तथा उच्च गोत्र—ये छियालीस पुण्य कर्म की प्रकृतियां हैं।

एक मान्यता यह है कि मोहनीय कर्म की सर्व अठाईस प्रकृतियां विपर्यास का हेतु होने से पाप ही हैं। उस मान्यता के अनुसार सम्यक्त्व मोह, हास्य, पुरुषवेद और रति—इन चार प्रकृतियों को छोड़ शेष बयालीस पुण्य प्रकृतियां हैं।

सम्यक्त्वं शोधितमिथ्यात्वपुद्गलरूपम्, तच्च शङ्का-  
दानर्थहेतुत्वादशुभमेव, अशुभत्वाच्च पापम् ।

(विभामवृ १ पृ ६९०)

यद्यपि सम्यक्त्वमोहनीय मिथ्यात्व के पुद्गलों का शोधितरूप है फिर भी शंका आदि दोषों का हेतु होने से अशुभ ही है और अशुभ होने से यह पाप प्रकृति है।

### पाप प्रकृतियां

ज्ञानावरण—५

दर्शनावरण—९

वेदनीय—१

मोहनीय २६ (चारित्रमोह २५,  
दर्शनमोह १)

आयुष्य—१

नाम—३४

गोत्र—१

अन्तराय—५

ये बय्यासी पाप प्रकृतियां हैं। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां मानी जाएं तो चौरासी पाप प्रकृतियां होती हैं। दर्शनमोहनीय की मूल प्रकृति एक मिथ्यात्व ही है। सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीय प्रकृति का स्वतंत्र बन्ध नहीं होता। ये दोनों प्रकृतियां मिथ्यात्व के पुद्गलों का शोधित रूप हैं।

### पुण्य पाप अपना-अपना

तं पुण्यं पावं वा ठियमत्तणि बज्भपच्चयाविक्खं ।  
कालंतरपागाओ देइ फलं न परओ लब्भं ॥  
(विभा ३२३८)

पुण्य और पाप आत्मस्थित हैं किन्तु बाह्य निमित्तों की अपेक्षा रखते हैं, काल-परिपाक से फल देते हैं। पुण्य-पाप का फल स्वतः प्राप्त होता है, दूसरों से नहीं।

पत्तेयं पुण्यपावं । (उच्चू १ सूत्र १५)

पुण्य और पाप अपना-अपना होता है।

### नो कर्म

नोकर्म—ग्रहणप्रायोग्यानि मुक्तानि द्रव्याणि ।  
(उच्चू पृ २७७)

कर्मग्रहण के प्रायोग्य पुद्गलद्रव्य तथा कर्मरूप में भोगने के बाद आत्मा से छूटे हुए कर्म पुद्गलद्रव्य नो-कर्म कहलाते हैं।

### २६. वीतराग के कर्मबन्ध

ईरियावहिया सा अप्पमत्तसंजतस्स वीतरागच्छउमत्थ-  
केवलस्स वा । आउत्तं गच्छमाणस्स वा आउत्तं चिट्ठ-  
माणस्स वा आउत्तं निसीदमाणस्स वा आउत्तं तुयट्ठमाण-  
स्स वा आउत्तं भुंजमाणस्स वा आउत्तं भासमाणस्स वा  
आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पादपुंछुणं गेण्हमाणस्स  
निक्खेवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हनिवातमवि अत्थि वेमाता  
सुहुमा किरिया इरियावहिया कज्जति । सा पढमसमये  
बद्धपुट्टया बितियसमये वेदिता ततियसमये निज्जिण्णा ।  
सा बद्धा पुट्टा उदिता वेदिता निज्जिण्णा, सेअकाले अकम्मं  
वावि भवति । (आवचू २ पृ ९२)

अप्रमत्तसंयत छद्मस्थ वीतराग अथवा केवली वीतराग के ईर्यापथिक कर्म का बन्ध होता है। जब केवली संयम पूर्वक चलते हैं, खड़े होते हैं, बैठते हैं, सोते हैं, आहार करते हैं, बोलते हैं, वस्त्र-पात्र कम्बल-पादप्रोच्छन्न लेते-रखते हैं अथवा आंख का उन्मेष-निमेष करते हैं, तब उनके ईर्यापथिक सूक्ष्म क्रिया होती है। उस बंध की स्थिति दो समय की होती है। प्रथम समय में वह कर्म बद्ध-स्पृष्ट होता है, दूसरे समय में वेदित होता है और तीसरे समय में निर्जीर्ण हो उदित, वेदित और निर्जीर्ण कर्म अंत में अकर्म भी हो जाता है।

### २७. कर्म और शरीर का अनादि संबंध

संताणोऽणाई उ परोप्परं हेउहेउभावाओ ।  
देहस्स य कम्मस्स य गोयम ! वीयंकुराणं व ॥  
(विभा १६३९)

प्रवाह रूप से अनादिकालीन कर्म और देह में परस्पर हेतु-हेतुमद्भाव है। कर्म से शरीर और शरीर से कर्म उत्पन्न होते हैं। जैसे—बीज से अंकुर और अंकुर से बीज पैदा होता है।

### २८. आत्मा और कर्म का अनादि संबंध

न य कम्मस्स वि पुब्बं कत्तुरभावे समुब्भवो जुत्तो ।  
निक्कारणओ सो वि य तह जुगवुप्पत्ति भावे य ॥  
न हि कत्ता कज्जं ति य जुगवुप्पत्तीए जीवकम्माणं ।  
जुत्तो ववएसोऽयं जह लोए गोविसाणाणं ॥  
(विभा १८०९, १८१०)

१. क्या पहले कर्म और बाद में जीव हुआ ?

नहीं। कर्म का कर्ता जीव है इसलिए जीव के अभाव में कर्म नहीं होते।

२. कर्म निष्कारण नहीं होते। निष्कारण होते हैं ऐसा मानने से वे निष्कारण ही विनष्ट हो जायेंगे।

३. जीव और कर्म की उत्पत्ति युगपत् भी नहीं होती। युगपद् उत्पन्न होने पर 'यह जीव कर्ता है' और 'यह ज्ञानावरणीय आदि कर्म-समूह उसका कार्य है—ऐसा व्यपदेश नहीं हो सकता। जैसे—गाय के दो सीगों में एक सीग दूसरे का कर्ता या कार्य नहीं होता।

तो कि जीव-नहाण व अहजोगो-कंचणोवलाणं व ।  
जीवस्स य कम्मस्स य भण्णइ दुक्खिो वि न विरुद्धो ॥  
पढमोऽभव्वाणं चिय भव्वाणं कंचणोवलाणं व ।....  
(विभा १८२०, १८२१)

क्या जीव और कर्म का संबंध जीव और आकाश की तरह अनादि-अनन्त है या स्वर्ण और उपल की तरह अनादि-सान्त है? जीव और कर्म में दोनों प्रकार का संबंध है। जैसे—अभव्य प्राणी में जीव और कर्म का संबंध अनादि-अनन्त है और भव्य प्राणी में जीव और कर्म का संबंध अनादि-सान्त है।

### २९. अनादि संबंध का अन्त कैसे ?

जं संताणोऽणाई तेणाणतोऽवि णायमेगंतो ।  
दीसइ संतो वि जओ कत्थइ वीयंकुराईणं ॥

जह वेह कंचणोवेलसंजोगोऽण्डसंतइगओवि ।  
वोच्छिञ्जइ सोवायं तह जोगो जीव कम्माणं ॥

(विभा १८१७, १८१९)

जीव और कर्म के संयोग की सन्तति (प्रवाह/परम्परा) अनादि है, अतः वह अनन्त है—यह बात एकान्तिक नहीं है। जैसे—बीज और अंकुर का अनादिकालीन संबंध भी सान्त होता है। जैसे स्वर्ण और मिट्टी का अनादिकालीन संयोग संतानगत होने पर भी अग्नि आदि उपायों से विच्छिन्न होता है, वैसे ही जीव और कर्म का सन्तानगत/प्रवाह रूप से अनादि संबंध तप, संयम आदि उपायों से विच्छिन्न होता है।

### ३०. संसारी आत्मा कथञ्चित् मूर्त्त

अहवा नेमंतोऽयं संसारी सव्वहा अमुत्तो त्ति ।

जमणाइकम्मसंतइपरिणामावन्नरुवो सो ॥

वह्लघयःपिण्डन्यायेन..... मूर्त्तकर्मणः कथञ्चि-  
दनन्यत्वाद् मूर्त्तोऽपि कथञ्चिज्जीवः ।

(विभा १६३८ मवृ पृ ६०१)

एकान्त रूप से संसारी जीव सर्वथा अमूर्त्त नहीं है। अनादिकाल से कर्मसंतति जीव के साथ वैसे ही एकमेक है, जैसे लोहपिण्ड में अग्नि। मूर्त्त कर्म के साथ जीव का कथञ्चित् अनन्य संबंध होने से जीव कथञ्चित् मूर्त्त है।

### ३१. कर्म की मूर्त्तता के हेतु

तह सुहसंविस्तीओ संबंधे वेयणुब्भवाओ य ।

बज्झवलाहाणाओ परिणामाओ य विण्णेषं ॥

आहार इवानल इव घडुव्व नेहाइकयवलाहाणो ।

खीरमिबोदाहरणाइं कम्मरुवित्तगमगाइं ॥

(विभा १६२६, १६२७)

कर्म की मूर्त्तता के चार हेतु—

१. **सुख संवित्ति**—कर्म का संबंध होने पर सुख का संवेदन होता है। (जिसके संबंध से सुख का संवेदन होता है, वह मूर्त्त है) जैसे—आहार से क्षुधाशान्ति-रूप सुख का संवेदन होता है।
२. **वेदना का उद्भव**—कर्म के संबंध से वेदना का उद्भव होता है। जैसे—अग्नि से ताप का उद्भव।
३. **बाह्य बल का आघात**—मिथ्यात्व आदि की हेतुभूत बाह्य सामग्री से कर्म का उपचय होता है, इससे कर्म की शक्ति बढ़ जाती है। जैसे—स्नेह से अभिषिक्त घट परिपक्व होता है।

४. **परिणामित्व**—शरीर आदि के रूप में कर्म का परिणामित्व परिलक्षित होता है। जैसे—दही का तक्र के रूप में परिणमन होने से दूध का परिणामित्व जाना जाता है।

### ३२. मूर्त्त से अमूर्त्त का अनुग्रह-निग्रह

मुत्तेणामुत्तिमओ उवघायाऽणुग्गहा कहं होज्जा ?

जह विण्णाणाईणं मइरापाणोसहाईहिं ।

यथाऽमूर्त्तानामपि विज्ञान-विविदिषा-धृति-स्मृत्यादि-जीवधर्माणां मूर्त्तरपि मदिरापान-हृत्पूर-विष-विपीलि-कादिभिर्भक्षितरूपघातः क्रियते, पयःशर्करा-घृतपूर्णभेष-जादिभिस्त्वनुग्रह इत्येवमिहापीति । एतच्च जीवस्यामूर्त्त-त्वमभ्युपगम्योक्तम् । (विभा १६३७ मवृ पृ ६०१)

कर्म मूर्त्त है, जीव अमूर्त्त है। इस स्थिति में कर्म जीव का अनुग्रह-निग्रह कैसे कर सकता है ? इसका समाधान यह है—जैसे मदिरापान और विषभक्षण आदि से विज्ञान, जिज्ञासा, धृति, स्मृति आदि जीव के अमूर्त्त गुणों का उपघात तथा दूध, शर्करा, घृतपूर्ण, भेषज आदि से उनका अनुग्रह होता है, वैसे ही मूर्त्त कर्म से अमूर्त्त जीव का उपघात और अनुग्रह होता है।

### ३३. आत्मा और कर्म सहगामी

चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।  
कम्मप्पवीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावणं वा ॥  
(उ १३।२४)

यह पराधीन आत्मा द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर, धन, धान्य, वस्त्र आदि सब कुछ छोड़कर केवल अपने किए कर्मों को साथ लेकर सुखद या दुःखद परभव में जाता है।

तेणावि जं कयं कम्मं सुहं वा जइ वा दुहं ।

कम्मुणा तेण संजुत्ता, गच्छई उ परं भवं ॥

(उ १८।१७)

मरने वाले व्यक्ति ने भी जो कर्म किया—सुखकर या दुःखकर, उसी के साथ वह परभव में चला जाता है।

### ३४. जीव की विविधता का हेतु—कर्म

समानयोनिक्का अपि विचित्रवर्णसंस्थाना दृश्यन्ते प्राणिनः । तथाहि—गोमयाद्येकयोनिसम्भविनोऽपि केचिन्नीलतनवोऽपरे पीतकाया अन्ये विचित्रवर्णाः ।

संस्थानमध्येतेषां परस्परं विभिन्नमेव । तद्यदि भूतमात्र-  
निमित्तं चैतन्यं तत एकयोनिकाः सर्वेऽप्येकवर्णसंस्थाना  
भवेयुः, न च भवन्ति । तस्मादात्मन एव तत्तत्कर्मवशात्  
तथोत्पद्यन्ते इति प्रतिपत्तव्यम् । (नन्दीमवृ प ४)

समान योनि वाले प्राणी भी विचित्र वर्ण और  
संस्थान वाले होते हैं । जैसे— गोबर आदि की एक ही  
योनि में उत्पन्न कोई प्राणी नील वर्ण वाले और कोई  
पीत वर्ण वाले होते हैं । यदि चैतन्य को भूतमात्र से होने  
वाला माना जाये तो एक योनिक प्राणियों के समान वर्ण  
और समान संस्थान होना चाहिये, पर ऐसा होता नहीं  
है । इसलिए यह सिद्ध है कि आत्मा ही अपने-अपने कर्म  
के अनुसार उत्पन्न होती है ।

कम्मस्स वि परिणामो मुहम्म ! धम्मो स पोग्गलमयस्स ।  
हेऊ चित्तो जगओ होई सहावो त्ति को दोसो ? ॥  
(विभा १७९३)

पौद्गलिक कर्म का स्वभाव है—परिणमन । यह  
विविध प्रकार का होता है । जगत् की विचित्रता का  
यही हेतु है ।

**कर्मभूमि**—पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच  
विदेह—ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं ।  
यहां कर्म—असि, मषि, कृषि से  
आजीविका चलाई जाती है ।  
(द्र. मनुष्य)

**कर्मसम्पदा**—दसविध सामाचारी की सम्पदा ।

कम्मसंपयत्ति कर्म—क्रिया दशविधचक्रवालसामा-  
चारीप्रभृतिरितिकर्तव्यता । तस्याः सम्पत्—सम्पन्ता ।  
“कर्मसम्पदा—यत्पनुष्ठानमाहात्म्यसमुत्पन्नपुला-  
कादिलब्धिसम्पत्था.....” (उशावृ प ६६)

अक्षीणमहाणसीयादिलद्धिजुत्तो । (उचू पृ ४४)  
कर्मसम्पदा के दो अर्थ हैं—१ दस प्रकार की चक्र-  
वाल सामाचारी आदि की सम्पदा । २. मुनि के अनुष्ठान  
के माहात्म्य से उत्पन्न पुलाक, अक्षीणमहानस आदि  
योग्य विभूतियों की सम्पदा ।

**कर्मांश**—विद्यमान कर्म

‘कम्मंस’ त्ति कार्मग्रन्थिकपरिभाषयांऽशशब्दस्य  
सत्पर्यायत्वात् सत्कर्माणि केवलिसत्कर्माणि—भवोप-  
माहीणि क्षपयति । (उशावृ प ५८९)

कर्मग्रन्थ की परिभाषा के अनुसार कर्मांश का अर्थ  
है—विद्यमान कर्म (अंश=सत्=विद्यमान) । शुक्ल-  
ध्यान के चतुर्थे चरण में केवली के जो भवोपमाही चार  
अथात् कर्म विद्यमान रहते हैं, वे क्षीण हो जाते हैं ।

**कल्पातीत**—जिनमें स्वामी-सेवक का भेद नहीं  
होता, सब अहमिन्द्र—समान होते हैं,  
वे देव । (द्र. देव)

**कल्पोपग**—जिनमें स्वामी-सेवक, छोटे-बड़े आदि  
का भेद होता है, वे देव । (द्र. देव)

**कषाय**—मोहजनित आंतरिक उत्ताप ।

### १. कषाय का निर्वचन

\* कषाय : मोहनीय कर्म का एक भेद (द्र. कर्म)

### २. कषाय के प्रकार

३. कषाय से होने वाले अभिघात

४. कषाय की स्थिति और उत्पत्तिस्थल

५. कषाय के उदाहरण

६. कषाय : पुनर्जन्म का हेतु

७. कषाय : पतन का हेतु

८. कषाय-विजय के उपाय

९. कषाय-प्रत्याख्यान के परिणाम

१०. कषाय के द्रव्य आदि अन्य प्रकार

\* कषाय प्रतिसंलीनता (द्र. प्रतिसंलीनता)

\* कषाय-उपशम-क्षय की प्रक्रिया (द्र. गुणस्थान)

\* कषायनिरोध : भाव ऊनोदरी (द्र. ऊनोदरी)

\* कषाय और लेश्या (द्र. लेश्या)

\* कषाय : शिक्षा का बाधक तत्त्व (द्र. शिक्षा)

### १. कषाय का निर्वचन

कम्मं कस भवो वा कसमाओ सिं जओ कसाया तो ।  
कसमाययंति व जओ गमयंति कसं कसाय त्ति ॥  
(विभा २९७८)

१. जिससे प्राणी पीड़ित होते हैं वह है कष अर्थात् कर्म  
या भव । जिनसे कर्म या भव की प्राप्ति होती है,  
वह है कषाय ।

२. जो कष—संसार को प्राप्त कराते हैं, वे हैं कषाय ।



३. जो कष—संसार के उपादान कारण हैं, वे हैं कषाय ।

## २. कषाय के प्रकार

सोलसविहभेएणं कम्मं तु कसायाजं ।... (उ ३३।११)  
षोडशविधत्वं चास्य क्रोधमानमायालोभानां चतुर्णामपि प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानावरणसंज्वलनभेदतश्चतुर्विधत्वात् । (उशावृ प ६४३)

कषाय-मोहनीय कर्म के १६ प्रकार हैं—

अनन्तानुबन्धी—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ । अप्रत्याख्यानी—(५) क्रोध, (६) मान, (७) माया और (८) लोभ । प्रत्याख्यानी—(९) क्रोध, (१०) मान, (११) माया और (१२) लोभ । संज्वलन—(१३) क्रोध, (१४) मान, (१५) माया और (१६) लोभ ।

## ३. कषाय से होने वाले अभिघात

पढमिल्लुयाण उदए नियमा संजोयणा कसायाणं ।

सम्महंसणलभं भवसिद्धीयावि न लहंति ॥

(आवनि १०८)

अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क के उदयकाल में भव्य जीव भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकते ।

विइयकसायाणुदए अप्पच्चक्खाणामधिज्जाणं ।

सम्महंसणलभं विरयाविरइं न उ लहंति ॥

(आवनि १०९)

अप्रत्याख्यानकषायचतुष्क के उदयकाल में सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है, विरताविरति—श्रावकत्व प्राप्त नहीं होता ।

सच्चं देसो व जओ पच्चक्खाणं न जेसिमुदएणं ।  
ते अप्पच्चक्खाणा सच्चनिसेहे मओऽकारो ॥

(विभा १२३२)

अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से देश (आंशिक) और सर्व—दोनों प्रकार के प्रत्याख्यान नहीं होते । यहाँ 'अकार' सर्वप्रतिषेध का वाचक है ।

तइयकसायाणुदए पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं ।

देसिक्कदेसविरइं चरित्तलभं न उ लहंति ॥

(आवनि ११०)

जो सर्वप्रत्याख्यान को आवृत करते हैं, अंश को नहीं, वे प्रत्याख्यानानावरण कषाय हैं ।

मूलगुणाणं लभं न लहइ मूलगुणघाइणं उदए ।

उदए संजलणाणं न लहइ चरणं अहक्खायं ॥

(आवनि १११)

मूल गुणों (महाव्रत आदि) का घात करने वाले प्रत्याख्यानकषायचतुष्क आदि का उदय रहने पर मूल गुणों की प्राप्ति नहीं होती । संज्वलन कषाय का उदय होने के कारण यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होता ।

ईसि सयराहं वा सपाए वा परीसहाईणं ।

अलणाओ संजलणा... ॥

(विभा १२४६)

संज्वलन कषाय का अर्थ है—अल्पदीप्त, शीघ्र दीप्त अथवा परीषह आदि के कारण दीप्त कषाय ।

## ४. कषाय की स्थिति और उत्पत्तिस्थल

पक्ख-चउम्मास-वच्छर-जावज्जीवाणुगामिणो कमसो ।

देव-नर-तिरिय-नारयमइसाहणहेयवो नेया ॥

(विभा २९९२)

स्थिति	अनन्तानुबन्धी	अप्रत्याख्यानानावरण	प्रत्याख्यानानावरण	संज्वलन
	उत्पत्तिस्थल	यावज्जीवन	संवत्सर	चार मास
	नरकगति	तियञ्चगति	मनुष्यगति	देवगति

## ५. कषाय के उदाहरण

जल-रेणु-भूमि-पञ्चयराईसरिसो चउच्चिहो कोहो ।

तिणिसलयाकट्टुद्वियसेलत्थंभोवमो माणो ॥

मायावलेहि-गोमुत्ति-मेंढसिग-वणवंसिमूलसमा ।

लोहो हरिइ-खंजण-कइम-किमिरागसामाणो ॥

(विभा २९९०, २९९१)

	अनन्तानुबन्धी	अप्रत्यास्थानावरण	प्रत्यास्थानावरण	सज्वलन
क्रोध	शील की रेखा के समान	भूमि की रेखा के समान	रेणु की रेखा के समान	जल की रेखा के समान
मान	शील स्तम्भ के समान	अस्थि स्तम्भ के समान	काष्ठ स्तम्भ के समान	तिनिशलता स्तम्भ के समान
माया	वंशीमूल के समान	मेघ-विषाण के समान	गोमूत्रिका के समान	अबलेखनिका के समान
लोभ	कृमिराग के समान	कर्दमराग के समान	खंजनराग के समान	हरिद्राराग के समान

### ६. कषाय : पुनर्जन्म का हेतु

कोहो य माणो य अणिग्गहीया  
 माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।  
 चत्तारि एए कसिणा कसाया  
 सिचंति मूलाइं पुण्णभवस्स ॥  
 (द ८।३९)

अनिगृहीत क्रोध और मान, प्रवर्धमान माया और लोभ—ये चारों संकिलष्ट कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं ।

### ७. कषाय : पतन का हेतु

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।  
 माया गईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥  
 (उ ९।५४)

मनुष्य क्रोध से अधोगति में जाता है । मान से अधम गति होती है । माया से सुगति का विनाश होता है । लोभ से दोनों प्रकार का—ऐहिक और पारलौकिक भय होता है ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।  
 माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सब्बविणासणो ॥  
 (द ८।३७)

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सब का नाश करने वाला है ।

सामन्नमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति ।  
 भन्नामि उच्छुफुल्लं व, निपफलं तस्स सामन्नं ॥  
 (दिनि २०३)

जिस श्रमण का कषाय प्रबल होता है, उसका श्रामण्य इक्षुपुष्प की भांति निष्फल होता है । इसलिए श्रमण को कषाय का निग्रह करना चाहिए ।

अणथोवं वणथोवं अग्गीथोवं कसायथोवं च ।  
 ण हू भे वीससियव्वं थेवंपि हू तं बहुं होइ ॥  
 (आवनि १२०)

ऋण, व्रण, अग्नि और कषाय—इनकी अल्पता पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए । ये अल्पमात्रा में होते हुए भी बहुत होते हैं ।

उवसामं उवणीआ गुणमहया जिणचरित्तसरिसंपि ।  
 पडिवायंति कसाया कि पूण सेसे सरागत्थे ? ॥  
 (आवनि ११८)

कषायों का उपशमन करने वाले तथा महान् गुणों से अर्हत् के समान चारित्र्य वाले व्यक्ति को भी कषाय नीचे गिरा देते हैं, फिर सरागी व्यक्तियों की तो बात ही क्या ?

### ८. कषाय-विजय के उपाय

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।  
 मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥  
 (द ८।३८)

उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते, ऋजुभाव से माया को और संतोष से लोभ को जीते ।

कसाया अग्गिणो वृत्ता, सुयसीलतवो जलं ।  
 सुयधाराभिहया संता, भिन्ना हु न डहंति मे ॥  
 (उ २३।५३)

गौतम ने केशीकुमार श्रमण से कहा—कषायों को अग्नि कहा गया है । श्रुत, शील और तप जल है । श्रुत की धारा से आहत किए जाने पर निस्तेज बनी हुई वे अग्नियों मुझे नहीं जलातीं ।

बारसविहे कसाए खइए उवसामि ए व जोगेहि ।  
 लब्भइ चरित्तलंभो ॥  
 (आवनि ११३)

प्रशस्त ध्यानयोग के द्वारा बारह प्रकार के कषायों का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होता है, तब चारित्र्य की प्राप्ति होती है ।

## ६. कषाय-प्रत्याख्यान के परिणाम

“कसायपचकखाणेषं वीतरागभावं जणयइ । वीय-  
रागभावपडिबन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ।

(उ २९।३७)

कषाय के प्रत्याख्यान से जीव वीतरागभाव को प्राप्त होता है । वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में सम हो जाता है ।

“कोहविजएणं खंति जणयइ । कोहवेयणिज्जं कम्मं  
न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।

“माणविजएणं मद्वं जणयइ । माणवेयणिज्जं  
कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।

“मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ । मायावेयणिज्जं  
कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।

“लोभविजएणं संतोसीभावं जणयइ । लोभवेयणिज्जं  
कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ । (उ २९।६८-७१)

क्रोध-विजय से जीव क्षमा को उत्पन्न करता है । वह क्रोधवेदनीय कर्म का बंधन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है ।

मान-विजय से जीव मृदुता को उत्पन्न करता है । वह मानवेदनीय कर्म का बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है ।

माया-विजय से जीव ऋजुता को उत्पन्न करता है । वह मायावेदनीय कर्म का बंधन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है ।

लोभ-विजय से जीव सन्तोष को उत्पन्न करता है । वह लोभवेदनीय कर्म का बंधन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है ।

## १०. कषाय के द्रव्य आदि प्रकार

नामं ठवणा वविए उप्पत्ती पच्चए य आएसे ।

रस-भाव-कसाए”

॥

(विभा २९८०)

कषाय के आठ प्रकार —

- |                  |                 |
|------------------|-----------------|
| १. नाम कषाय      | ५. प्रत्यय कषाय |
| २. स्थापना कषाय  | ६. आदेश कषाय    |
| ३. द्रव्य कषाय   | ७. रस कषाय      |
| ४. उत्पत्ति कषाय | ८. भाव कषाय     |

## द्रव्य कषाय

दुविहो दव्वकसाओ कम्मदव्वे य नो य कम्मम्मि ।

कम्मदव्वकसाओ चउव्विहा पोग्गलाणुइया ॥

(विभा २९८१)

द्रव्य कषाय के दो प्रकार हैं—

१. कर्म-द्रव्य-कषाय ।

२. नोकर्म-द्रव्य-कषाय ।

कर्म-द्रव्य-कषाय के चार प्रकार के पुद्गल होते हैं—योग्य—बंधपरिणामाभिमुख, बध्यमान, बद्ध तथा उदीरणावलिका में प्राप्त ।

सज्जकसायाइओ नोकम्मदव्वओ कसाओऽयं ।

(विभा २९८२)

सर्ज (साखू का पेड़), बेहड़ा, हरीतकी आदि कषाय गुण वाली वनस्पतियां नोकर्म-द्रव्य-कषाय है ।

## उत्पत्ति कषाय

खेत्ताइ समुप्पत्ती जत्तोप्पभवो कसायाणं ॥

(विभा २९८२)

जिस क्षेत्र या द्रव्य आदि से कषाय की उत्पत्ति होती है, वह उत्पत्ति-कषाय है ।

## प्रत्यय कषाय

होइ कसायाणं बंधकारणं जं स पच्चयकसाओ ।

सदाइउ त्ति केई न समुप्पत्तीए भिन्नी सो ॥

(विभा २९८३)

जो कषायबंध का आन्तरिक कारण अविरति आदि है, वह प्रत्यय कषाय है ।

कुछ आचार्य शब्द आदि बाह्य कारणों को प्रत्यय-कषाय मानते हैं, लेकिन यह युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द आदि बाह्य कारणों का उत्पत्ति-कषाय में समावेश हो जाता है ।

## आदेश कषाय

आएसओ कसाओ कइयवकयभिउडिभंगुरागारो ।

केई चित्ताइगओ ठवणाणत्थंतरो सोऽयं ॥

(विभा २९८४)

अन्तरंग कारण के बिना नट आदि के द्वारा कपट युक्त क्रोध आदि दिखाया जाता है, वह आदेश कषाय है ।

कुछ मानते हैं, चित्र आदि में जो क्रोध आदि कषाय दिखाई देता है, वह आदेश-कषाय है, लेकिन इसका स्थापना-कषाय में समावेश हो जाता है ।

**रस और भाव कषाय**

रसओ रसो कसाओ कसायकम्मोदओ य भावम्मि ।...

(विभा २९८५)

हरीतकी आदि का जो कसैला रस है, वह रस-कषाय है ।

मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला कषाय का परिणाम भाव-कषाय है ।

**राग कषाय के प्रकार**

जं रायवेयणिज्जं समुइण्णं भावओ तओ राओ ।

सो दिट्ठि-विसय-नेहाणुरायरूवो अभिस्संगो ॥

कुप्पवयणेषु पढमो बिइओ सदाइएसु विसएसु ।

विसयादनिमित्तो वि हु सिण्णेहराओ सुयाईसु ॥

(विभा २९६४, २९६५)

राग-वेदनीयकर्म के उदय से होने वाला जीव-परिणाम भावराग है ।

उसके तीन प्रकार हैं —

१. दृष्टिराग—कुप्रवचन में अनुराग ।

२. विषयराग—शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों में अनुराग ।

३. स्नेहराग—विषय आदि के निमित्तों के अभाव में भी पुत्र, स्वजन आदि के प्रति होने वाला अनुराग ।

**काकिणी—१. चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में एक रत्न ।**

**२. एक प्रकार का सिक्का ।**

काकिणी नाम रुवगस्स असीतिमो भागो । वीसोव-गस्स चतुभागो ।

(उच्चृपृ १६१)

एक रुपये के अस्सीवें भाग तथा विशोपक के चौथे भाग को काकिणी कहा जाता है ।

काकिणिः—विशतिकपर्दकाः । (उशावृ प २७२)

बीस कौड़ियों की एक काकिणी होती है ।

**कापोत लेश्या—अप्रशस्त भावधारा तथा उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत कापोत वर्ण वाले पुद्गल ।**

(द्र. लेश्या)

**कामभोग—शब्द आदि इन्द्रियविषयों का आसेवन ।**

१. कामभोग की परिभाषा

२. द्रव्यकाम-भावकाम

३. विषय कामभोग

४. कामभोग : उपमाएं

५. कामभोग के परिणाम

६. कामभोग-परित्याग के परिणाम

७. पदार्थ : आध्यात्मिक दृष्टिकोण

८. कामभोग-विरति का उपाय

**१. कामभोग की परिभाषा**

ते इट्ठा सहरसरूवगंधफासा कामिज्जमाणा विसय-पसत्तेहि कामा भवति ।...भोगा सदादयो विसया ।

(दजिचू पृ ७५, ८२)

विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य— इष्ट शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श काम कहलाते हैं ।

इन्द्रिय-विषय— शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श का आसेवन भोग कहलाता है ।

काम्यन्ते इति कामाः । भुज्यन्ते इति भोगाः । ...कामी च शब्दरूपाख्यौ । भोगाश्च स्पर्शरसगन्धाख्याः ।

(उशावृ प २४३)

जिनकी कामना की जाती है वे काम हैं और जिनका उपभोग किया जाता है वे भोग हैं ।

शब्द और रूप काम कहलाते हैं । स्पर्श, रस और गंध भोग कहलाते हैं ।

विसयसुहेसु पसत्तं अबुहजणं कामरागपडिबद्धं ।

उक्कामयंति जीवं धम्मातो तेण ते कामा ॥

अण्णं पि य सि णामं कामा रोग ति पंडिया वेति ।

कामे पत्थेमाणो रोगे पत्थेति खलु जंतू ॥

(दनि ७१, ७२)

विषय सुख में आसक्त और काम-राग में प्रतिबद्ध अज्ञानी जीव को जो धर्म से उत्क्रमण कराते हैं, वे काम हैं । ज्ञानी काम को रोग कहते हैं । जो कामों की प्रार्थना करते हैं, वे प्राणी निश्चय ही रोगों की प्रार्थना करते हैं ।

विषीदन्ति—धर्म प्रति नोत्सहन्त एतेष्विति विषयाः । यद्वाऽऽसेवनकाले मधुरत्वेन परिणामे चाति-

कटुकत्वेन विषयस्योपमां यांतीति विषयाः ।

(उणावृ प १९०)

विषय वे हैं, जिनके कारण धर्म के प्रति उत्साह नहीं रहता ।

विषय वे हैं, जो आसेवनकाल में मधुर हैं और परिणाम में कटु होने से विष की उपमा से उपमित हैं ।

## २. द्रव्यकाम-भावकाम

सहृसरुवर्गंधाफासा उदयंकरा य जे दव्वा ।

दुविहा य भावकामा, इच्छाकामा मयणकामा ॥

(दनि ६९)

काम के दो प्रकार हैं—

द्रव्यकाम—मोहोदय में हेतुभूत द्रव्य—शब्द, रस आदि विषय ।

भावकाम—इच्छाकाम—अभिलाषारूप काम और

मदनकाम—विषयभोग की प्रवृत्ति ।

## ३. दिव्य कामभोग

जहा कामिणि हेउं, सहस्सं हारए नरो ।

अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥

एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ।

सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥

अणेयवासानउया, जा सा पन्नवओ ठिई ।

जाणि जीयंति दुम्मेह, ऊणे वाससयाउए ॥

(उ ७।११-१३)

जैसे कोई मनुष्य कार्कषी के लिए हजार कार्षापण गंवा देता है, जैसे कोई राजा अपथ्य आम को खाकर राज्य से हाथ धो बैठता है, वैसे ही जो व्यक्ति मानवीय भोगों में आसक्त होता है, वह देवी भोगों को हार जाता है ।

देवी भोगों की तुलना में मनुष्य के कामभोग उतने ही नगण्य हैं, जितने कि हजार कार्षापणों की तुलना में एक कार्कषी और राज्य की तुलना में एक आम । दिव्य आयु और दिव्य कामभोग मनुष्य की आयु और काम-भोगों से हजार गुना अधिक हैं ।

प्रजावान् पुरुष की देवलोक में अनेक वर्ष नयुत (असंख्यकाल) की स्थिति होती है—यह ज्ञात होने पर भी मूर्ख मनुष्य सौ वर्ष जितने अल्प जीवन के लिए उन दीर्घकालीन सुखों को हार जाता है ।

## ४. कामभोग : उपमाएं

जहा य किपागफला मणोरमा

रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।

ते खुड्डुए जीविय पच्चमाणा

एओवमा कामगुणा विवागे ॥

(उ ३२।२०)

जैसे किपाक फल खाने के समय रस और वर्ण से मनोरम होते हैं और परिपाक के समय क्षुद्र जीवन का अन्त कर देते हैं, कामगुण भी विपाक काल में ऐसे ही होते हैं ।

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।

भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥

उल्लो सुक्को य दो छुद्धा, गोलया मट्टियामया ।

दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई ॥

एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।

विरत्ता उ न लग्गंति, जहा सुक्को उ गोलओ ॥

(उ २५।३९-४१)

भोगों में उपलेप होता है । अभोगी लिप्त नहीं होता । भोगी संसार में भ्रमण करता है । अभोगी उससे मुक्त हो जाता है । मिट्टी के दो गोले—एक गीला और एक सूखा—फेंके गए । दोनों भीत पर गिरे । जो गीला था वह वहां चिपक गया ।

इसी प्रकार जो मनुष्य दुर्बुद्धि और कामभोगों में आसक्त होते हैं, वे विषयों से चिपट जाते हैं । जो विरक्त होते हैं, वे उससे नहीं चिपटते, जैसे सूखा गोला ।

....दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं ॥

(उ ५।१०)

कामभोगों में आसक्त व्यक्ति आचरण और चिन्तन—दोनों से उसी प्रकार कर्ममल का संचय करता है, जैसे शिशुनाग मुख और शरीर—दोनों से मिट्टी का ।

अच्चेइ कालो तूरति राइओ

न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।

उविच्च भोगा पुरिसं चयति,

दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

(उ १३।३१)

जीवन बीत रहा है । रात्रियां दौड़ी जा रही हैं । मनुष्यों के भोग भी नित्य नहीं हैं । वे मनुष्य को प्राप्त

कर उसे छोड़ देते हैं, जैसे क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी ।

भोगामिसदोसविसण्णे, हियनिस्सेयसब्बुद्धिवोच्चत्थे ।  
बाले य मंदि ए मूढे, बज्झई मच्छया व खेलमि ॥  
दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहि ।  
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया व ॥

(उ ८।५.६)

आत्मा को दूषित करने वाले भोगामिष में निमग्न, हित और श्रेयस् में विपरीत बुद्धि वाला अज्ञानी, मन्द और मूढ़ जीव उसी तरह बंध जाता है जैसे श्लेष्म में मक्खी । ये कामभोग दुस्त्यज हैं, अधीर पुरुषों द्वारा ये सुस्त्यज नहीं हैं । जो सुव्रती साधु हैं, वे दुस्तर कामभोगों को उसी प्रकार तर जाते हैं, जैसे वणिक् समुद्र को ।

नागो जहा पंकजलावसन्नो,  
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं ।  
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा,  
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥

(उ १३।३०)

जैसे दलदल में फंसा हुआ हाथी स्थल को देखता हुआ भी किनारे पर नहीं पहुंच पाता, वैसे ही कामगुणों में आसक्त बने हुए हम श्रमणधर्म को जानते हुए भी उसका अनुसरण नहीं कर पाते ।

## ५. कामभोग के परिणाम

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा ।  
कामे पत्थेमाण्णा अकामा जंति दोग्गइं ॥

(उ ९।५.३)

कामभोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं । कामभोग की इच्छा करने वाले, उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

इह कामाणियट्ठस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई ।  
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥

(उ ७।२.५)

इस मनुष्य भव में कामभोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है । वह पार ले जाने वाले मार्ग को सुनकर भी बार-बार भ्रष्ट होता है ।

परिव्वयंते अणियत्तकामे अहो य राओ परितप्पमाणे ।  
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥

(उ १४।१५)

जिसे कामनाओं से मुक्ति नहीं मिली, वह पुरुष अतृप्त की अग्नि से संतप्त होकर दिन-रात परिभ्रमण करता है । दूसरों के लिए प्रमत्त होकर धन की खोज में लगा हुआ वह जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है ।

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।

न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणायया ।

को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥

जणेण सद्धि होक्खामि, इह बाले पगब्भई ।

कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥

(उ ५।५-७)

जो कोई कामभोगों में आसक्त होता है, उसकी गति मिथ्याभाषण की ओर जाती है । वह कहता है—परलोक तो मैंने देखा नहीं, यह रति (आनन्द) तो चक्षु-दृष्ट है—आंखों के सामने है । ये कामभोग हाथ में आए हुए हैं, भविष्य में होने वाले संदिग्ध हैं । कौन जानता है—परलोक है या नहीं ? मैं लोकसमुदाय के साथ रहूंगा ! ऐसा मानकर वाल अज्ञानी मनुष्य धृष्ट बनता है । कामभोग के अनुराग से क्लेश (संक्लिष्ट परिणाम) को प्राप्त करता है ।

तओ से दंडं समारभई, तसेसु थावरेसु य ।

अट्टाए य अणट्टाए, भूयग्गामं विहिसई ॥

हिसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सट्टे ।

भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥

(उ ५।८.९)

फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवों के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही प्राणी समूह की हिंसा करता है । हिंसा करने वाला, भूठ बोलने वाला, छल-कपट करने वाला, चुगली खाने वाला, वेश परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रकट करने वाला अज्ञानी मनुष्य मद्य और मांस का भोग करता है और 'यह श्रेय है'—ऐसा मानता है ।

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्ठं विडंबियं ।

सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥

(उ १३।१६)

सब गीत विलाप हैं, सब नाट्य विडम्बना हैं, सब आभरण भार हैं और सब कामभोग दुःखकर हैं ।

क्षणमेतसोन्खा बहुकालदुक्खा

पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।

संसारमोक्खस्स विपक्खभूया

खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥

(उ १४।१३)

ये कामभोग क्षण भर सुख और चिरकाल दुःख देने वाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं ।

### ६. कामभोग-परित्याग के परिणाम

इह कामणियदुस्स, अत्तट्ठे नावरञ्जई ।

पूइदेहनिरोहेणं, भवे देव त्ति मे सुयं ॥

इड्ढी जुई जसो वण्णो, आउं सुहमणुत्तरं ।

भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जई ॥

(उ ७।२६,२७)

इस मनुष्य भव में कामभोगों से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट नहीं होता । वह प्रीतिदेह का निरोध कर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है ।

(देवलोक से च्युत होकर) वह जीव विपुल ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, आयु और अनुत्तर सुख वाले मनुष्य कुलों में उत्पन्न होता है ।

### ७. पदार्थ : आध्यात्मिक दृष्टिकोण

न कामभोगा समयं उवेत्ति न यावि भोगा विगइं उवेत्ति ।  
जे तप्पओसी य परिग्गही य सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥

(उ ३२।१०१)

कामभोग समता के हेतु भी नहीं होते और विकार के हेतु भी नहीं होते । जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है, वह तद्विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है ।

### ८. कामभोग-विरति का उपाय

...सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ । अणुस्सुयाए णं  
जीवे अणुकंपए अणुव्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं  
कम्मं खवेइ ।

(उ २९।३०)

सुख की स्पृहा का निवारण करने से जीव विषयों (कामभोगों) के प्रति अनुत्सुक भाव को प्राप्त करता

है । विषयों के प्रति अनुत्सुक जीव अनुकम्पा करने वाला, प्रशान्त और शोकमुक्त होकर चारित्र्य को विकृत करने वाले मोहकर्म का क्षय करता है ।

### कामस्कन्ध—मनोज पुद्गलसमूह ।

काम्यत्वात् कामाः—मनोजशब्दादयः । तद्धेतवः  
स्कन्धाः—पुद्गलसमूहाः ततः कामस्कन्धाः ।

(उशावृ प १८८)

कामस्कन्ध का अर्थ है—मनोज शब्द आदि के हेतु-भूत पुद्गलसमूह ।

खेत्तं वत्थु हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं ।

चत्तारि कामखंधाणि... ॥

(उ ३।१७)

क्षेत्र-वास्तु, स्वर्ण, पशु और दासपौरुषेय—ये चारों कामस्कन्ध कहलाते हैं ।

कायक्लेश—आसन, आतापना, केशलोच आदि निरवद्य प्रवृत्तियों द्वारा शरीर को साधना । बाह्यतप का एक भेद ।

(द्र. तप)

ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा ।

उग्गा जहा धरिज्जति, कायकिलेसं तमाहियं ॥

(उ ३०।२७)

आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि उत्कट आसनों का जो अभ्यास किया जाता है, उसे कायक्लेश कहा जाता है ।

कायकिलेसो लोयाऽऽतावणाती । (दअचू पृ १४)

केशों का लुंचन करना, आतापना लेना आदि काय-क्लेश तप है ।

कायकिलेसो नाम वीरासणउक्कुडुगासणभूमी-  
सेज्जाकट्टुसेज्जालोयमादियाउ भाणियव्वाउ ।

(दजिचू पृ २४)

वीरासन, उत्कटकासन, भूमिशयन, काष्ठपट्टशयन, केशलोच आदि कायक्लेश के मुख्य प्रकार हैं ।

### केशलोच के गुण

केसलोओ य दाहणो... ॥

(उ १९।३३)

णिस्संगया य पच्छापुरकम्मविवज्जणं च लोअगुणा ।

दुखसहत्तं नरगादिभावणाए य निव्वेओ ॥

पश्चात्कर्म पुरःकर्म ईर्यपिथपरिग्रहः ।  
दोषा ह्येते परित्यक्ताः, शिरोलोचं प्रकुर्वता ॥  
(दहावृ प २८, २९)

केशलोच—हाथ से सिर आदि के बालों को उखाड़ना बहुत दारुण होता है। लोच से अनेक गुण प्राप्त होते हैं— निलेपता, पश्चात्कर्म-वर्जन, पुरःकर्म-वर्जन, कष्टसहिष्णुता, विरक्ति, मुनिचर्या की अनुपालना आदि ।

कायक्लेश की निवृत्ति—

....कायकिलेसो संसारवासणिव्वेयहेउत्ति ॥

कायस्य क्लेशो—बाधनं कायक्लेशः....संसार्यात्मनः  
कायानुगतत्वेन तत्क्लेशे यद्यप्यवश्यं क्लेशसम्भवस्तथाऽपि  
भावित्तात्मनामसौ सन्नप्यसत्सम एवेति ।

(उशावृ प ६०७)

कायक्लेश संसार-विरक्ति का हेतु है। शरीर को तपाना कायक्लेश है। यद्यपि शरीर को तपाने या साधने में संसारी आत्मा को कष्ट होता है, फिर भी जिसने आत्मा को भावित कर लिया है, उसके लिए वह कष्ट नहीं जैसा है।

कायगुप्ति—शरीर की प्रवृत्ति का निरोध तथा असत् प्रवृत्ति से निवर्तन ।

(द्र. गुप्ति)

कायोत्सर्ग—शारीरिक प्रवृत्ति और शारीरिक ममत्व का विसर्जन ।

### १. कायोत्सर्ग की परिभाषा

० काय-उत्सर्ग के पर्याय

### २. कायोत्सर्ग के प्रयोजन

० अमंगल-निवारण

\* कायोत्सर्ग : आवश्यक का एक विभाग

(द्र. आवश्यक)

### ३. कायोत्सर्ग के प्रकार

० द्रव्य-भाव कायोत्सर्ग

० चेष्टा-अभिभव कायोत्सर्ग

### ४. चेष्टा कायोत्सर्ग : उच्छ्वास-लोगत्स परिमाण

### ५. अभिभव कायोत्सर्ग—कालमान

### ६. कायोत्सर्ग के अधिकारी

### ७. कायोत्सर्ग-विधि

### ८. कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा सूत्र

### ९. कायोत्सर्ग के दोष

### १०. कायोत्सर्ग के परिणाम

### ११. कायोत्सर्ग चिकित्सा

\* आहार से पूर्व कायोत्सर्ग (द्र. आहार)

\* गोचरचर्या के पश्चात् कायोत्सर्ग (द्र. गोचरचर्या)

### १. कायोत्सर्ग की परिभाषा

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे ।

कायस्स विउत्सग्गो.... ॥

(उ ३०।३६)

सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु व्यापृत नहीं होता (काया को नहीं हिलाता-डुलाता) उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग/कायोत्सर्ग कहा जाता है ।

असई वोसट्टुचत्तदेहे ।.... (द १०।१३)

जो बार-बार शरीर का व्युत्सर्ग और त्याग करता है, उसे व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह कहा जाता है ।

वोसट्टो पडिमादिमु विनिवृत्तक्रियो ।

(दअचू पृ २४०)

अभिग्रह और प्रतिमा स्वीकार कर शारीरिक-क्रिया का त्याग करना व्युत्सर्ग है ।

व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धाभावेन त्यक्त्तो विभूषाकरणेन देहः ।

(दहावृ प २६७)

शरीर के प्रति प्रतिबंध का अभाव व्युत्सर्ग है । शरीर की विभूषा न करना त्याग है ।

कायः—शरीरं तस्योत्सर्गः—आगमोक्तनीत्या परित्यागः कायोत्सर्गः । (उशावृ प ५८१)

आगमोक्तनीति के अनुसार शरीर का त्याग (क्रिया-विसर्जन और ममत्व-विसर्जन) करना कायोत्सर्ग है ।

### काय-उत्सर्ग के पर्याय

काए सरीर देहे बुंदी य चय उवच्चए य संघाए ।

उत्सय समुत्सए वा कलेवरे भत्थ तण पाणू ॥

उत्सग्ग विउत्सरणुज्जग्गणा य अवगिरण छड्डण विवेगो ।

वज्जण चयणुम्मुअणा परिसाडण साडणा चेव ॥

(आवनि १४४६, १४५१)



काय के एकार्थक—काय, शरीर, देह, बोन्दी, चय, उपचय, संघात, उच्छ्रय, समुच्छ्रय, कलेवर, भस्त्रा, तनु, पाणु ।

उत्सर्ग के एकार्थक—उत्सर्ग, व्युत्सर्ग, उज्झना, अवकिरण, छर्दन, विवेक, वर्जन, त्याग, उन्मोचना, परिशातना, शातना ।

## २. कायोत्सर्ग के प्रयोजन

पावुग्घाई कीरइ उस्सग्गो मंगलंति उद्देसो ।

अणुवहियमंगलाणं मा हुज्ज कहिचि जे विग्घं ॥

(आवनि १५३७)

कायोत्सर्ग मंगल है। पाप (अनिष्ट या अमंगल) का निराकरण करने के लिए यह किया जाता है। मंगल का अनुष्ठान न करने पर हमारे कार्य में कहीं विघ्न न आ जाए, इस दृष्टि से कार्य के प्रारम्भ में मंगल का अनुष्ठान (कायोत्सर्ग) करणीय है।

अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति एव कयबुद्धी ।

दुक्खपरिकलेसकरं छिद ममत्तं सरीराओ ॥

(आवनि १५५२)

शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है—इस प्रकार की बुद्धि का निर्माण करतू दुःखद और क्लेशकारी शरीर के ममत्व का छेदन कर ।

जावइया किर दुक्खा संसारे जे मए समणुभूया ।

इत्तो दुव्विसहतरा नरएसु अणोवमा दुक्खा ॥

तम्हा उ निम्ममेण मुणिणा उवलद्धमुत्तसारेणं ।

काउस्सग्गो उग्गो कम्मकखयट्ठा कायव्वो ॥

(आवनि १५५३, १५५४)

संसार में मैंने जितने दुःखों का अनुभव किया है, उनसे अति दुःसह्य और अनुपम दुःख नरक के होते हैं—यह सोचकर निर्ममत्व की साधना करने वाला तथा सूत्र के सार को उपलब्ध मुनि अपने कर्मों को क्षीण करने के लिए कायोत्सर्ग करे ।

मोहपयडीभयं अभिभवित्तु जो कुणइ काउस्सग्गं तु ।

भयकारणे य तिविहे, नाभिभवो नेव पडिसेहो ॥

(आवनि १४५४)

मोहनीयकर्म की भय आदि प्रकृतियों का अभिभव करने के लिए अभिभव कायोत्सर्ग किया जाता है, बाह्य कारणों का पराभव करने के लिए नहीं। भय उत्पन्न होने के तीन बाह्य कारण हैं—देव, मनुष्य और

तिर्यञ्च । उनका अभिभव करने के लिए कायोत्सर्ग नहीं किया जाता । भय को मिटाने के लिए कायोत्सर्ग करने का निषेध नहीं है ।

काउस्सग्गं मोक्खपह्देसियं जाणिऊण तो धीरो ।

दिवसाइयारजाणणट्टयाइ ठायति उस्सग्गं ॥

(आवनि १४९७)

कायोत्सर्ग मोक्षमार्ग के रूप में उपदिष्ट है—ऐसा जानकर धृतिमान् मुनि दैवसिक आदि अतिचारों की स्मृति करने के लिए चेष्टा कायोत्सर्ग करते हैं ।

## अमंगल निवारण

कज्जणिमित्तं गच्छंती अववखलितो अट्ट उस्सासे काउस्सग्गो कातव्वो, ताहे गंमति, जदि ब्रितियंषि तो सोलस उस्सासा । ततियं जदि अवसउणो तो अच्छति अण्णं सोभणं सउणं पडिच्छंती, सुतक्खंधपरियट्टणे पणु-वीसं उस्सासा ।

(आवचू २ पृ २६६, २६७)

किसी कार्य के निमित्त स्थान से बाहर जाते समय अपशकुन हो जाये तो आठ उच्छ्वास का कायोत्सर्ग कर फिर जाए । दूसरी बार फिर अपशकुन हो जाये तो सोलह उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करे । तीसरी बार अपशकुन होने पर ठहर जाये, शुभ शकुन की प्रतीक्षा करे ।

## ३. कायोत्सर्ग के प्रकार

काउस्सग्गो दव्वतो भावओ य भवति । दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो भाणं ।

(आवचू २ पृ २४९)

कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं—

द्रव्य कायोत्सर्ग—कायचेष्टा का निरोध, शरीर की स्थिरता ।

भाव कायोत्सर्ग—प्रशस्त ध्यान ।

उसिउस्सिओ य तह उस्सिओ अ उस्सिअनिसन्नओ चेव । निसनुस्सिओ निसन्नो, निसन्नगनिसन्नओ चेव ॥ निवन्नुसिओ निवन्नो, निवन्ननिवन्नगो अ नायव्वो ।...

(आवनि १४५९, १४६०)

कायोत्सर्ग के नौ प्रकार—

- |                      |                    |
|----------------------|--------------------|
| १. उच्छ्रित-उच्छ्रित | ६. निषण्ण-निषण्ण   |
| २. उच्छ्रित          | ७. निपन्न-उच्छ्रित |
| ३. उच्छ्रित-निषण्ण   | ८. निपन्न (सुप्त)  |
| ४. निषण्ण-उच्छ्रित   | ९. निपन्न-निपन्न   |
| ५. निषण्ण            |                    |

**उच्छ्रितः—द्रव्यतः भावतः**

धम्मं सुक्कं च दुवे, भायइ भाणाइ जो ठिओ संतो ।  
एसो काउस्सग्गो, उसिउसिओ होइ नायव्वो ॥

(आवनि १४७९)

खड़े होकर धर्म और शुक्ल—इन दो ध्यानों में प्रवृत्त होना उच्छ्रित-उच्छ्रित कायोत्सर्ग है ।

खड़े होकर कायोत्सर्ग करना—द्रव्यतः उच्छ्रित कायोत्सर्ग है ।

धर्म-शुक्ल ध्यान करना—भावतः उच्छ्रित कायोत्सर्ग है ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि भायइ न वि य अट्टरुद्दाइ ।

एसो काउस्सग्गो, दव्वुस्सिओ होइ नायव्वो ॥

अट्टं रुद्दं च दुवे, भायइ भाणाइ जो ठिओ संतो ।

एसो काउस्सग्गो, दव्वुस्सिओ भावओ निसन्नो ॥

धम्मं सुक्कं च दुवे, भायइ भाणाइ जो निसन्नो अ ।

एसो काउस्सग्गो, निसनुसिओ होइ नायव्वो ॥

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि भायइ न वि य अट्टरुद्दाइ ।

एसो काउस्सग्गो, निसन्नओ होइ नायव्वो ॥

अट्टं रुद्दं च दुवे, भायइ भाणाइ जो निसन्नो य ।

एसो काउस्सग्गो, निसन्नगनिसन्नगो नामं ॥

धम्मं सुक्कं च दुवे, भायइ भाणाइ जो निवन्नो य ।

एसो काउस्सग्गो, निवनुसिओ होइ नायव्वो ॥

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि भायइ न वि य अट्टरुद्दाइ ।

एसो काउस्सग्गो, निवन्नओ होइ नायव्वो ॥

अट्टं रुद्दं च दुवे, भायइ भाणाइ जो निवन्नो उ ।

एसो काउस्सग्गो, निवन्नगनिवन्नगो नामं ॥

(आवनि १४८०, १४८१-१४९५)

- खड़े होकर धर्म, शुक्ल, आर्त्त और रौद्र—किसी ध्यान में प्रवृत्त नहीं होना, यह द्रव्य-उच्छ्रित कायोत्सर्ग है ।

खड़े रहकर कायोत्सर्ग करना—द्रव्यतः उच्छ्रित, ध्यान का अभाव—भावतः शून्य ।

- खड़े होकर आर्त्त और रौद्र—ये दो ध्यान करना द्रव्यतः उच्छ्रित और भावतः निषण्ण कायोत्सर्ग है ।

- बैठकर धर्म और शुक्ल ध्यान में संलग्न होना निषण्ण-उच्छ्रित कायोत्सर्ग है ।

बैठकर कायोत्सर्ग करना—द्रव्यतः निषण्ण ।

धर्म-शुक्ल ध्यान करना—भावतः उच्छ्रित ।

- बैठकर धर्म-शुक्ल अथवा आर्त्त-रौद्र—किसी ध्यान में संलग्न नहीं होना—निषण्ण कायोत्सर्ग है ।  
बैठकर कायोत्सर्ग करना—द्रव्यतः निषण्ण ।  
ध्यान का अभाव—भावतः शून्य ।
- बैठकर आर्त्त और रौद्र ध्यान में संलग्न होना निषण्ण निषण्ण कायोत्सर्ग है ।  
बैठकर कायोत्सर्ग करना—द्रव्यतः निषण्ण ।  
आर्त्त-रौद्र ध्यान करना—भावतः निषण्ण ।
- सोकर धर्म और शुक्ल ध्यान में संलग्न होना निपन्न-उच्छ्रित कायोत्सर्ग है ।  
सोकर कायोत्सर्ग करना—द्रव्यतः निपन्न ।  
धर्म-शुक्ल ध्यान करना—भावतः उच्छ्रित ।
- सोकर धर्म-शुक्ल अथवा आर्त्त-रौद्र—किसी ध्यान में संलग्न नहीं होना निपन्न कायोत्सर्ग है ।  
सोकर कायोत्सर्ग करना—द्रव्यतः निपन्न ।  
ध्यान का अभाव—भावतः शून्य ।
- सोकर आर्त्त और रौद्र ध्यान में संलग्न होना निपन्न-निपन्न कायोत्सर्ग है ।  
सोकर कायोत्सर्ग करना—द्रव्यतः निपन्न ।  
आर्त्त-रौद्र ध्यान करना—भावतः निपन्न ।  
उड्डनिसीयतुयट्टण ठाणं तिविहं तु होइ नायव्वं ।……  
(ओभा १५२)

स्थान (कायोत्सर्ग) के तीन प्रकार—

१. ऊर्ध्वं—खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना ।
२. निषीदन—बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करना ।
३. त्वक्वत्तं—सोए-सोए कायोत्सर्ग करना ।

सो उस्सग्गो दुविहो, चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो ।  
भिक्खायरियाइ पढमो, उवसग्गभिज्जुजणे विडओ ॥  
(आवनि १४५२)

कायोत्सर्ग के दो प्रकार—

१. चेष्टा—भिक्षाचर्या आदि की प्रवृत्ति के पश्चात् कायोत्सर्ग करना ।
२. अभिभव—प्राप्त उपसर्गों को सहन करने के लिए कायोत्सर्ग करना ।

**चेष्टा कायोत्सर्ग**

विओसग्गो—काउस्सग्गो, शमणागमण सुविण-णइ-  
संतरणादिसु । (दञ्चू पृ १४)

चेष्टाउत्सर्गो चेष्टातो निष्फणो जथा गमणागमणा-  
दिषु काउत्सर्गो कीरति । (आवचू २ पृ २४८)

चेष्टा से निष्फण कायोत्सर्ग चेष्टा कायोत्सर्ग है ।  
गमन-आगमन, स्वप्न, नदी-संतरण आदि—ये चेष्टा  
कायोत्सर्ग के स्थान हैं ।

### अभिभव कायोत्सर्ग

अट्टविहंपि य कम्मं अरिभूयं तेष तज्जयट्टाए ।

अन्भुट्टिया उ तवसंजममि कुव्वंति निग्गंथा ॥

(आवनि १४५६)

अभिभवो षाम अभिभूतो वा परेणं परं वा अभिभूय  
कुणति । परेणाभिभूतो, जथा हूणादीहिं अभिभूतो सव्वं  
सरीरादि वोसिरामित्ति काउत्सर्गं करेति । परं वा  
अभिभूय काउत्सर्गं करेति । जथा तित्थयरो देवमणुया-  
दिणो अणुलोमपडिलोमकारिणो भयादी पंच अभिभूय  
काउत्सर्गं कातुं प्रतिज्ञां पूरेति । (आवचू २ पृ २४८)

अष्टविध कर्मशत्रु को अभिभूत करने के लिए  
निर्ग्रथ अभिभव कायोत्सर्ग करते हैं । अभिभव कायोत्सर्ग  
के दो प्रकार हैं—

१. पराभिभूत—हूण, शक आदि आक्रामक लोगों से  
अभिभूत होकर 'मैं शरीर आदि सबका व्युत्सर्ग  
करता हूँ'—इस संकल्प के साथ कायोत्सर्ग करना ।

२. पराभिभव—अनुलोम-प्रतिलोम उपसर्ग करने वाले  
देव, मनुष्य आदि को तथा भय, क्षुधा, अज्ञान,  
ममत्व और परीषह—इन पांचों को अभिभूत कर  
कायोत्सर्ग का संकल्प करना ।

### ४. चेष्टा कायोत्सर्ग : उच्छ्वास और लोगस्स- परिमाण

साय सयं गोसद्धं तिन्नेव सया हव्वंति पक्खंमि ।

पंच य चाउम्मासे अट्टसहस्सं च वारिसए ॥

चत्तारि दो दुवालस वीसं चत्ता य हुंति उज्जोआ ।

देसिय राइय पक्खिय चाउम्मासे अ वरिसे य ॥

(आवनि १५३०, १५३१)

सायंकालीन कायोत्सर्ग में श्वासोच्छ्वास का परि-  
माण सौ, प्रातःकालीन में पचास, पाक्षिक में तीन सौ,  
चातुर्मासिक में पांच सौ और वार्षिक में १००८ है ।  
द्वैसिक कायोत्सर्ग—सौ श्वासोच्छ्वास । इस प्रकार  
द्वैसिक प्रतिक्रमण के चार, रात्रिक के दो, पाक्षिक के

बारह, चातुर्मासिक के बीस और वार्षिक प्रतिक्रमण के  
चालीस उद्योतकर (लोगस्स) होते हैं ।

गमणागमणविहारे सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ ।

नावानइसंतारे इरियावहियापडिक्कमणं ॥

(आवनि १५३३)

गमन, आगमन विहार, शयन, स्वप्नदर्शन तथा  
नौका आदि से नदीसंतरण करने पर ईर्यापथिकी प्रति-  
क्रमण में पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग किया  
जाता है ।

उद्देससमुद्देसे सत्तावीसं अणुन्नवणियाए ।

अट्ठेव य ऊसासा पट्टवणपडिक्कमणमाई ॥

जुज्जइ अकालपडियाइएसु दुट्ठु अ पडिच्छियाईसु ।

समणुन्नसमुद्देसे काउत्सर्गस्स करणं तु ॥

(आवनि १५३४, १५३५)

सूत्र के उद्देश और समुद्देश के समय सत्तावीस  
श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग तथा अनुज्ञा, प्रस्थापना  
एवं काल-प्रतिक्रमण में आठ श्वासोच्छ्वास का कायो-  
त्सर्ग करना होता है ।

इसी प्रकार अकाल में स्वाध्याय करने, अविनीत  
को वाचना देने तथा दूसरों को पढ़ाने और अर्थ की  
वाचना देने में भी कायोत्सर्ग करना होता है ।

पाणवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव ।

सयमेगं तु अणुणं ऊसासाणं हविज्जाहि ॥

(आवनि १५३८)

स्वप्न में प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और  
परिग्रह का सेवन करने पर पूरे सौ श्वासोच्छ्वास का  
कायोत्सर्ग करना होता है ।

मेहुणे दिट्ठीविप्परियासियाए सतं, इत्थिए सह  
अट्टसयं । (आवचू २ पृ २६७)

स्वप्न में मैथुन—दृष्टिविपर्यास होने पर सौ उच्छ-  
वास तथा स्त्री-विपर्यास होने पर एक सौ आठ उच्छ-  
वास का कायोत्सर्ग किया जाता है ।

आयंबिलविसज्जणे विगयविसज्जणे य सत्तावीसं  
उवस्सयदेवयाए य सत्तावीसं, कालग्गहणे पट्टवणे य  
अणेसणाए पडिक्कमणे अट्ट उस्सासा ।

(आवचू २ पृ २६६)

आयंबिल और निर्विकृति

के पारणे में

उपाश्रयदेवता हेतु

२७ उच्छ्वास का कायोत्सर्ग

२७ " "

अनेषणीय वस्तु ग्रहण- प्रतिक्रमण हेतु	८	उच्छ्वास का कायोत्सर्ग
कालप्रतिलेखन-स्वाध्याय- प्रस्थापन में	८	" "
श्रुतस्कन्धपरिवर्तना के समय	२५	" "

### उच्छ्वास का कालमान

पायसमा ऊसासा कालधमाणेणं हुंति नायन्वा ।

एयं कालधमाणं उस्सग्गेणं तु नायन्वं ॥

(आवनि १५३९)

एक उच्छ्वास का कालमान है एक चरण (श्लोक के एक पाद) का स्मरण । इस प्रकार कायोत्सर्ग से कालप्रमाण ज्ञातव्य है ।

### ५. अभिभव कायोत्सर्ग—कालमान

संवच्छरमुक्कोसं, अंतमुहुत्तं च अभिभवुस्सग्गे । ...

वाहुबलिना संवत्सरं कायोत्सर्गः कृतः ।

(आवनि १४५८ हावृ २ पृ १८८)

अभिभव कायोत्सर्ग का जघन्य कालमान अन्तर्मुहुत्तं तथा उत्कृष्ट कालमान एक वर्ष का होता है । अर्हत् ऋषभ के पुत्र बाहुबलि एक वर्ष तक कायोत्सर्ग की मुद्रा में रहे ।

### ६. कायोत्सर्ग का अधिकारी

वासीचंदणकप्पो जो मरणे जीविए य समसण्णो ।

देहे य अपडिबद्धो काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥

(आवनि १५४८)

जो मुनि वसोले से काटने या चंदन का लेप करने पर समता रखता है, जीवन और मरण में सम रहता है तथा देह के प्रति अप्रतिबद्ध है, उसी के कायोत्सर्ग होता है ।

### ७. कायोत्सर्ग विधि

निक्कूडं सविसेसं वयाणुरूवं बलाणुरूवं च ।

खाणुव्व उद्धदेहो काउस्सग्गं तु ठाइज्जा ॥

चउरंगुल मुहपत्ती उज्जुए डब्बहत्थ रयहरणं ।

वोसट्टचत्तदेहो काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥

(आवनि १५४१, १५४५)

मुनि मायारहित होकर, विशेष रूप से अपनी

अवस्था और बल के अनुरूप स्थाणु की भांति निष्प्रकंप खड़े होकर कायोत्सर्ग करे । वह पंजों के बीच चार अंगुल का अंतर रखकर, दाएं हाथ में मुखवस्त्रिका और बाएं हाथ में रजोहरण धारण कर शरीर की प्रवृत्ति का विसर्जन और परिकर्म का त्याग कर कायोत्सर्ग करे ।

नियमा असमत्थत्तणेणं जावतिओ उद्धितओ सक्केति कातुं तावतिए तथा करेति, सेसे उव्विट्ठो करेति । जतिए सक्केति उव्विट्ठो कातुं तेत्तिकं करेति । सेसे असमत्थो संविट्ठो करेति । (आवचू २ पृ २५०)

शारीरिक असामर्थ्य के कारण जब तक खड़ा रह सके, तब तक खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करे, तत्पश्चात् बैठ कर कायोत्सर्ग करे । इसमें भी असमर्थ हो तो लेटकर कायोत्सर्ग करे ।

### ८. कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा सूत्र

तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावणं कम्मणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं...जाव अरहंताणं भगवताणं नमोवकारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं भाणेणं अप्पाणं वोसिरामि । (आव ५।३)

मैं अविधिकृत आचरण के परिष्कार, प्रायश्चित्त, विशोधन और शल्य-विमोचन द्वारा पापकर्मों को नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ ।

जब तक मैं अर्हत् भगवान् को नमस्कार कर, उसे सम्पन्न न करूँ तब तक मैं स्थिर मुद्रा, मौन और शुभ-ध्यान के द्वारा अपने शरीर का विसर्जन करता हूँ ।

...अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छ्राए सुहुमेहि अंगसंचालेहि सुहुमेहि खेलसंचालेहि सुहुमेहि दिट्ठिसंचालेहि एवमाइएहि आगारेहि अभग्गो अविराहिओ होज्ज मे काउस्सग्गो... । (आव ५।३)

उच्छ्वास, निःश्वास, खांसी, छींक, जम्हाई, डकार, अधोवायु, चक्कर, पित्तजनितमूर्च्छा, शारीरिक अवयवों का, कफ और दृष्टि का सूक्ष्म संचालन—ये प्रवृत्तियाँ कायोत्सर्ग में बाधक नहीं बनेंगी । इस प्रकार की अन्य स्वाभाविक और विकारजनित बाधाओं के द्वारा भ्रम और विराधित नहीं होगा मेरा कायोत्सर्ग—ये कायोत्सर्ग के अपवाद हैं ।

## ६. कायोत्सर्ग के दोष

घोडग लयाइ खंभे कुड्डे माले अ सवरि बहु नियले ।  
 लंबुत्तर घण उद्धी संजय खलि वायसकविट्ठे ॥  
 सीसुकंपिय सूई (मूअ) अंगुलिभमुहा य वारुणी पेहा ।....  
 (आवनि १५४६, १५४७)

कायोत्सर्ग के इक्कीस दोष हैं—

घोटक—अश्व की भांति पैरों को विषम स्थिति में रखना ।

लता—हवा से प्रेरित लता की तरह प्रकंपित होना ।

स्तंभ } खंभे या भीत का सहारा लेकर खड़ा होना ।  
 कुड्य }

माल—ऊपर की छत से सिर को सटाकर खड़ा होना ।

शबरी—नग्न भीलनी की तरह अपने गुह्य प्रदेश को हाथों से ढककर खड़ा होना ।

बहू—कुलबधू की तरह सिर को नमाकर खड़ा रहना ।

निगड—पैरों को सटाकर या चौड़ा कर खड़ा होना ।

लम्बोत्तर—चोलपट्ट को नाभि के ऊपर बांधकर नीचे उसे घुटनों तक रखना ।

स्तन—दंश-मशक से बचने के लिए अथवा अज्ञान से चोलपट्ट को स्तनों तक बांधकर खड़ा होना ।

उद्धि—एड़ियों को सटाकर, पंजों को फैलाकर खड़े होना । यह बाह्य उद्धिका है । दोनों पैरों के अंगूठों को सटाकर, एड़ियों को फैलाकर खड़े होना, यह आभ्यन्तरिक उद्धिका है ।

संयती—सूत के कपड़े या कम्बल से शरीर को साध्वी की भांति ढंककर खड़े होना ।

खलीन—रजोहरण को आगे कर खड़े होना ।

वायस—कौबे की भांति दृष्टि को इधर-उधर घुमाना ।

कपित्थ—जूं के भय से कपित्थ की भांति गोलाकार में जंघाओं के बीच कपड़ा रखकर खड़े होना ।

शीष प्रकंपन—यक्षाविष्ट व्यक्ति की भांति सिर को धुन्ते हुए कायोत्सर्ग करना ।

मूक—प्रवृत्ति के निवारण के लिए कायोत्सर्ग में 'हूँ हूँ' ऐसे शब्द करना ।

अंगुलि—आलापकों को गिनने के लिए अंगुलियों को चालित करना ।

भू—भीहों को नचाना ।

वारुणी—कायोत्सर्ग में मदिरा की भांति बुदबुदाना ।

प्रेक्षा—बंदर की भांति होठों को चालित करना ।

## १०. कायोत्सर्ग के परिणाम

काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ ।  
 विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निब्बुद्यहियए ओहरियभारोव्व  
 भारवहे पसत्त्यज्जाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ ।

(उ २९।१३)

भंते ! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान के प्राय-श्चित्तोचित्त कार्यों का विशोधन करता है । ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भारवाहक की भांति स्वस्थ हृदय वाला अर्थात् हल्का हो जाता है और प्रशस्त ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है ।

देहमइज्जुमुद्धी, सुहदुक्खतित्तिकखया अणुप्पेहा ।

भायइ य सुहं भाणं, एगगो काउस्सग्गम्मि ॥

(आवनि १४६२)

कायोत्सर्ग के पांच लाभ निर्दिष्ट हैं—

१. देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है ।

२. मतिजाड्यशुद्धि—जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है ।

३. सुख-दुःख-तितिक्षा—सुख-दुःख को सहन करने की शक्ति का विकास होता है ।

४. अनुप्रेक्षा—भावनाओं से मन को भावित करने का अवसर प्राप्त होता है ।

५. एकाग्रता—एकाग्रचित्त से शुभध्यान करने का अवसर प्राप्त होता है ।

काउस्सग्गे जह सुट्टियस्स भज्जंति अंगमंगाइं ।

इय भिदंति सुविहिया अट्टविहं कम्मसंघायं ॥

(आवनि १५५१)

लम्बे समय तक खड़े होकर कायोत्सर्ग करने वाले मुनि के अंगोपांग टूटने लगते हैं, उसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वाला मुनि अपने आठ प्रकार के कर्मसंघात को तोड़ देता है ।

**कायोत्सर्ग चिकित्सा**

काउस्सग्गेण तिगिच्छा अवस्सं कातव्वा चरित्ता-  
दीण उत्तरीकरणादिणा पावकम्मणिग्घातत्थं काउस्सग्गे  
कातव्वा दव्ववणो ओसहादीहि तिगिच्छिज्जति ।  
भाववणो संजभातियारो तस्स पायच्छित्तेण तिगिच्छणा ।  
(आवचू २ पृ २४५, २४६)

मुनि को कायोत्सर्ग से चिकित्सा अवश्य करनी  
चाहिए । चारित्र आदि की विशुद्धि के द्वारा पापकर्म को  
नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है । शारीरिक  
व्रण (द्रव्यव्रण) की औषधि आदि से चिकित्सा की जाती  
है । भावव्रण हैं संयम के अतिचार । उनकी चिकित्सा  
प्रायश्चित्त से होती है ।

**कामर्षण शरीर**—कर्मवर्गणा से निष्पन्न शरीर ।  
(द्र. शरीर)

**कार्मिकी बुद्धि**—कर्म—अभ्यास से उत्पन्न क्षमता ।  
(द्र. बुद्धि)

**काल**—चेतन और अचेतन के परिणमन में हेतुभूत  
कार्पनिक द्रव्य ।

१. काल का निर्वचन
२. काल की परिभाषा  
\* काल : एक द्रव्य (द्र. द्रव्य)  
\* काल अस्तिकाय नहीं (द्र. अस्तिकाय)
३. काल : जीव-अजीव का पर्याय
४. काल का क्षेत्र-काल-भाव  
सूक्ष्म श्या—काल या क्षेत्र ?
५. काल के प्रकार
६. द्रव्य काल (निश्चयकाल)
७. अद्धा काल (व्यवहारकाल)
८. अद्धाकाल के प्रकार : समय... शीर्षप्रहेलिका...  
९. शीर्षप्रहेलिका (गणित) का प्रयोजन  
\* असंख्य-अनंत (द्र. संख्या)
१०. यथापुष्ककाल
११. उपक्रमकाल
१२. देशकाल
१३. कालकाल

१४. प्रमाणकाल

१५. वर्णकाल

१६. भावकाल

\* काल : प्रमाण का एक भेद (द्र. प्रमाण)

१७. कालप्रमाण के प्रकार

० प्रदेशनिष्पन्न

० विभागनिष्पन्न—समय पुद्गलपरावर्त

१८. औपमिक काल

\* कालप्रतिलेखना } (द्र. कालविज्ञान)  
\* कालकरण }**१. काल का निर्वचन**

कलणं पञ्जायाणं कलिज्जाए तेण वा जओ वत्थु ।  
कलयति तयं तम्मि व समयाइकलासमूहो वा ॥  
(विभा २०२८)

जिससे वस्तु के पर्याय का कलन/ज्ञान किया जाता  
है, वह काल है अथवा समय आदि कलाओं के समूह को  
काल कहते हैं ।

सूक्ष्ममपि कलां कलयति इति कालः । सकलयति  
भूतानि वा कालः । (उचू पृ २९)

जो सूक्ष्म विभाग का भी आकलन करता है, वह  
काल है । जो प्राणियों के आयुष्य को पूर्ण करता है, वह  
काल है ।

**२. काल की परिभाषा**

वत्तणालक्खणो कालो... (उ २८।१०)

वर्तन्ते—भवन्ति भावास्तेन तेन रूपेण तान् प्रति  
प्रयोजकत्वं वर्तना सा लक्षणं—लिङ्गमस्येति वर्तना-  
लक्षणः कालः । (उशावृ प ५६१)

काल का लक्षण है—वर्तना । पदार्थ अपने-अपने  
रूप में रहते हैं, उनके प्रति जो प्रयोजक तत्त्व है, वह है  
वर्तना ।

**३. काल : जीव-अजीव का पर्याय**

जीवाजीवपञ्जायत्तणतो कालस्स गियमा आह्येत्तणतो  
य अंते अद्धासमयः । (अनुचू पृ ३०)

काल जीव और अजीव का पर्याय है । यह आधार  
नहीं, आधेय है—जीव-अजीव के आश्रित है । अतः षड्  
द्रव्यों में यह अंतिम द्रव्य है ।

#### ४. काल का क्षेत्र-काल-माप

...समए समयखेतिए ॥ (उ ३६।७)

समय (कालविभाग) समयक्षेत्र—मनुष्यलोक में ही होता है ।

समए वि सन्तइं पप्प, एवमेव वियाहिए ।

आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिए वि य ॥

(उ ३६।९)

काल प्रवाह की अपेक्षा अनादि-अनन्त है । एक-एक क्षण की अपेक्षा से वह सादि-सान्त है ।

...अद्धासमए चेव अरूवी... ॥ (उ ३६।६)

भाव की अपेक्षा से काल अरूपी है ।

#### सूक्ष्म क्या—काल या क्षेत्र ?

अंगुनप्पमाणमेत्ते आगासे जावतिया आगासपदेसा ते बुद्धीए समए समए एगमेगं आनासपदेसं गहाय अवहीर-माणा अवहीरमाणा असंखेज्जाहिं उत्सप्पिणीहिं अवहिया भवन्ति । अतो कालतो खेतं सुहुमतारागं भवति ।

(आवचू १ पृ ४४)

अंगुलप्रमाण आकाश में जितने आकाश प्रदेश हैं, उनमें से यदि एक-एक समय में एक-एक आकाश प्रदेश का अवहरण किया जाये तो उस क्षेत्र को खाली होने में असंख्यात उत्सर्पिणी काल बीत जाएगा । अतः काल से क्षेत्र सूक्ष्मतर है ।

#### ५. काल के प्रकार

दब्बे अद्ध अहाउयं उवक्कमे देसकालकाले य ।

तह य पमाणे वण्णे भावे पगयं तु भावेणं ॥

(आवनि ६६०)

१. द्रव्यकाल—वर्तना आदि ।
२. अद्धाकाल—सूर्य और चन्द्र द्वारा प्रवर्तित ढाई द्वीप समुद्र में वर्तन करने वाला काल (समय आदि) ।
३. यथायुष्ककाल—देव आदि का आयुष्य ।
४. उपक्रमकाल—सामाचारी और यथायुष्क ।
५. देशकाल—अभीष्ट वस्तु प्राप्ति का अवसर ।
६. कालकाल—मरणकाल ।
७. प्रमाणकाल—अद्धाकाल-विशेष, दिवस आदि ।
८. वर्णकाल—काला आदि वर्ण ।
९. भावकाल—औदयिक आदि भाव ।

#### ६. द्रव्यकाल

सो वत्तणाइरूवो कालो दब्बस्स चेव पज्जाओ ।

किंचिम्मत्तविसेसेण दब्बकालाइवएसो ॥

(विभा २०२९)

वर्तन आदि रूप काल द्रव्य का ही पर्याय है । किंचित् विशेष विवक्षा से द्रव्यकाल, अद्धाकाल आदि का व्यवहार होता है ।

गइ सिद्धा भवियाया अभविय पोग्गल अणागयद्धा य ।

तीयद्ध तिन्नि काया जीवाजीवट्टिई चउहा ॥

(आवनि ६६२)

चेतन-अचेतन की स्थिति द्रव्यकाल है ।

चेतन द्रव्यकाल के चार विकल्प—

सादि सपर्यवसित—देव, मनुष्य आदि गति

सादि अपर्यवसित—सिद्ध

अनादि सपर्यवसित—कुछ भव्य जीव

अनादि अपर्यवसित—अभव्य जीव

अचेतन द्रव्यकाल के चार विकल्प—

सादि सपर्यवसित—पुद्गल

सादि अपर्यवसित—अनागत काल

अनादि सपर्यवसित—अतीत काल

अनादि अपर्यवसित—धर्मास्तिकाय,

अधर्मास्तिकाय और

आकाशास्तिकाय

निच्छयनयस्स दब्बपरिणामो चेव कालो भन्नति ।

(आवचू १ पृ ४२)

निश्चयनय की दृष्टि से द्रव्य का परिणाम ही काल है ।

निश्चयनयस्स पुण ण चेव दब्बाववद्धातो खेत्तातो कालो अण्णो भवति । जच्चेव सा तस्स दब्बावद्वस्स खेत्तस्स परिणती सो कालो भण्णति । (आवचू १ पृ ४२)

निश्चयनय की दृष्टि से द्रव्य से सम्बद्ध क्षेत्र से काल अन्य नहीं है । जो द्रव्य से अवबद्ध क्षेत्र की परिणति है, वही काल है ।

#### ७. अद्धाकाल

अद्धासमयेत्ति अद्धा इति कालः समूहवचनतः तद्विसेसः समयं । अह्वा आदिच्चादिधावणकिरिया चेव परिमाण-विसिद्धावस्थगता अद्धा एवं काल उभयथावि तस्स समयः ।

(अनुचू पृ ३०)

अद्धा पद सामान्य काल का वाचक है। समय पद विशिष्ट काल का वाचक है। अथवा सूर्य-चन्द्र आदि की गतिक्रिया का जो विशिष्ट परिमाण है वह अद्धासमय है

सूरकिरियाविसिद्धो गोदोहाइकिरियासु निरवेकखो ।  
अद्धाकालो भण्णइ समयक्खेत्तम्मि समयआई ॥

(विभा २०३५)

सूर्य की गतिक्रिया के आधार पर अद्धाकाल होता है। यह गतिक्रिया गोदोहिका आदि क्रियाओं से निरपेक्ष है। समयक्षेत्र (मनुष्य क्षेत्र) में समय, आवलिका आदि का प्रवर्तन अद्धाकाल है।

#### ८. अद्धाकाल के प्रकार—समय

असंखेज्जाणं समयानं समुदय-समिति-समागमेणं सा एग आवलिया ति वुच्चइ । संखेज्जाओ आवलियाओ ऊसासो, संखेज्जाओ आवलियाओ नीसासो । सिलोमा —

हट्टस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिकट्टस्स जंतुणो ।

एगे ऊसास-नीसासे, एस पाणु ति वुच्चइ ॥

सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे ।

लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥

तिण्णि सहस्सा सत्त य, सयाई तेहत्तरि च ऊसासा ।

एस मुहुत्तो भणियो, सर्व्वेहि अणतनाणीहि ॥

एएणं मुहुत्तपमाणेणं तीसं मुहुत्ता अहोरत्तं, पण्णरस्स अहोरत्ता पक्खो, दो पक्खा मासो, दो मासा उऊ, तिण्णि उऊ अयणं, दो अयणाइ संवच्छरे, पंच संवच्छराइं जुगे, वीसं जुगाइं वाससयं, दस वाससयाइं वाससहस्सं, सयं वाससहस्साणं वाससयसहस्सं, चउरासीइं वाससयसहस्साइं से एगे पुव्वंगे, चउरासीइं पुव्वंगसयसहस्साइं से एगे पुव्वे, चउरासीइं पुव्वसयसहस्साइं एगे तुडियंगे, चउरासीइं तुडियंगसयसहस्साइं से एगे तुडिए, चउरासीइं तुडिसयसहस्साइं से एगे अडडंगे, चउरासीइं अडडंगसयसहस्साइं से एगे अडडे, एवं अववंगे अववे, हुहुयंगे हुहुए, उप्पलंगे उप्पले, पउमंगे पउमे, नल्लिणंगे नल्लिणे, अत्थनिरउंगे अत्थनिरउरे, अउयंगे अउए, नउयंगे नउए, पउयंगे पउए, चूलियंगे चूलिया, सीसपहेलियंगे सीसपहेलिया । एतावताव गणिए, एतावए चैव गणियस्स विसए, अतो परं ओवमिए ।

(अनु ४१७)

#### समय के अवबोध की तालिका

असंख्येय समय—आवलिका

संख्यात आवलिका—एक उच्छ्वास-निःश्वास ।  
आन प्राण—रोगरहित स्वस्थ व्यक्ति को एक उच्छ्वास और एक निःश्वास में जो समय लगता है, उसको 'आन प्राण' कहते हैं ।

सात प्राण—स्तोक

सात स्तोक—लव

७७ लव (३७७३ उच्छ्वास-निःश्वास)—मुहूर्त्त

३० मुहूर्त्त—अहोरात्र

१५ अहोरात्र—पक्ष

२ पक्ष—मास

२ मास—ऋतु

३ ऋतु—अयन

२ अयन—संवत्सर

५ संवत्सर—युग

२० युग—शत वर्ष

१० शतवर्ष—सहस्र वर्ष

१०० सहस्रवर्ष—लाख वर्ष

८४ लाख वर्ष—पूर्वांग

८४ लाखपूर्वांग—पूर्व

८४ लाखपूर्व—त्रुटितांग

८४ लाख त्रुटितांग—त्रुटित

८४ लाख त्रुटित—अटटांग

८४ लाख अटटांग—अटट

८४ लाख अटट—अयवांग

८४ लाख अयवांग—अयव

८४ लाख अयव—हूहकांग

८४ लाख हूहकांग—हूहक

८४ लाख हूहक—उत्पलांग

८४ लाख उत्पलांग—उत्पल

८४ लाख उत्पल—पद्मांग

८४ लाख पद्मांग—पद्य

८४ लाख पद्य—नलिनांग

८४ लाख नलिनांग—नलिन

८४ लाख नलिन—अर्थनिकुरांग

८४ लाख अर्थनिकुरांग—अर्थनिकुर

८४ लाख अर्थनिकुर—अयुतांग

८४ लाख अयुतांग—अयुत

८४ लाख अयुत—नयुतांग

८४ लाख नयुतांग—नयुत



- ८४ लाख नयुत — प्रयुतांग
- ८४ लाख प्रयुतांग — प्रयुत
- ८४ लाख प्रयुत — चूलिकांग
- ८४ लाख चूलिकांग — चूलिका
- ८४ लाख चूलिका — शीर्षप्रहेलिकांग
- ८४ लाख शीर्षप्रहेलिकांग — शीर्षप्रहेलिका

यहाँ तक गणित (संख्या) है, यहाँ तक ही गणित का विषय है, इसके पश्चात् औपमिक काल प्रवृत्त होता है।

### पूर्वांग, पूर्व ..... शीर्षप्रहेलिका

इच्छिममाणेण गुण पणसुण्णं चउरासीतिगुणितं वा।  
काऊण तत्तिवारा पुव्वंगदीण मुण संखं ॥

पुव्वंगे परिमाणं पण सुण्णा चउरासीती य। एतं एगं पुव्वंगं चूलसीतीए सयसहस्सेहि गुणितं एगं पुव्वं भवति। तस्सिमं परिमाणं—दस सुण्णा छप्पणं च सहस्सा कोडीणं सत्तरि लक्खा य .....सीसपहेलियाए चत्तालं सुण्णसयं ततो छ णत्त दो ति अट्ट एक्को सुण्णं अट्ट सुण्णं अट्ट चतु अट्ट छ छ णव अट्ट एक्को दो छ सुण्णं चतु छ णव छ पण सत्त णव णव छ पण ति सत्त णव सत्त पण एक्को एक्को चतु दो सुण्णं एक्को सुण्णं ति सत्त सुण्णं ति पण दो ति छ दो अट्ट पण सत्त य ठवेज्जा।

(अनुचू पृ ३७-४०)

विवक्षित संख्या को चौरासी लाख से गुणित करने पर जो फलित आये, वह पूर्वांग आदि है।

पूर्वांग का संख्यापरिमाण है—८४०००००। इस एक पूर्वांग (८४ लाख) को एक पूर्वांग (८४ लाख) से गुणन करने पर एक पूर्व होता है—पूर्वांग×पूर्वांग=पूर्व  
८४०००००×८४०००००=७०५६००००००००००।

इसी प्रकार ऋटितांग आदि संख्याएं उत्तरोत्तर चौरासी लाख से गुणित होने पर होती हैं। अंतिम संख्या 'शीर्षप्रहेलिका' में ५४ संख्यांक और १४० शून्य—कुल १९४ अंक होते हैं। वे संख्यांक ये हैं—७५८२६३२५३० ७३०१०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६६८ ४८०८०१८३२९६। इनके आगे १४० शून्य लगाने से एक शीर्षप्रहेलिका होती है। (माधुरी वाचना में यह संख्या स्वीकृत है। वत्सलभी वाचना के अनुसार शीर्षप्रहेलिका की संख्या २५० अंकों (७० अंक और १८० शून्य) की है। इसका उल्लेख ज्योतिष्करंड में हुआ है।)

### ६. शीर्षप्रहेलिका (गणित) का प्रयोजन

अंतोमुहुत्तादिया जाव पुव्वकोडीएत्ति - एतानि धम्म-चरणकालं पडुच्च णरतिरियाण आउपरिमाणकरणे उव-जुज्जति। णारगभवणवंतराणं दसवरिससहस्सादि उव-जुज्जति। आउयचित्ताए तुडियादिया सीसपहेलियंता एते प्रायसो पुव्वगतेसु जविएसु आउयसेडीए उवउज्जति। अन्यत्र यदुच्छातः एताव ताव गणियं अंकट्टवणाए। ..... जावयं अंकट्टवणट्टाणादिट्टा ताव गणितज्ञानमपि दृष्टं तुडिगादि सीसपहेलियंतां। (अनुचू पृ ५७)

अन्तर्मुहूर्त से पूर्वकोटि तक की संख्या का उपयोग मनुष्यों और तिर्यंचों के धर्माचरणकाल के संदर्भ में आयुष्यपरिमाण के लिए किया जाता है। तारक, भवन-पति और व्यंतर देवों के आयुष्य का मापन दस हजार वर्ष आदि में होता है। ऋटित से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक की संख्या का उपयोग प्रायः पूर्वगत-यविकों में आयुष्यश्रेणी के लिए किया जाता था। अन्यत्र भी इच्छानुसार इसका उपयोग किया जाता था। .....जहाँ तक अंकस्थान स्थापित किये जा सकते हैं, वहाँ तक गणित के ज्ञान का निरूपण किया गया है।

सीसपहेलियाए चतुणतुयं ठाणसयं जाव ताव संवव-हारकालो। जाव संववहारकालो ताव संववहारकालविसए, तेण य पढमपुढविणेरइयाणं भवणवंतराणं भरहेरवतेसु य सुसमदूसमाए पच्छिमे भाणे णरतिरियाणं आऊ उवमि-ज्जति। किं च सीसपहेलियाए य परतो अत्थि संसेज्जो कालो सो य अणतिसईणं अववहारिउत्तिकाउं ओवम्मि पक्खित्तो। (अनुचू पृ ४०)

शीर्षप्रहेलिका के अंकों की संख्या १९४ है—यहाँ तक संव्यवहारकाल है। इस संव्यवहारकाल से प्रथम पृथ्वी के नैरयिकों, भवनपतियों, व्यंतरों, भरत तथा ऐरवत क्षेत्र के सुषम-दुःषमा काल के पश्चिम भाग के मनुष्यों और तिर्यंचों के आयुष्य का माप किया जाता है।

शीर्षप्रहेलिका से आगे भी संख्येय काल होता है किन्तु उसका उपयोग अतिशयज्ञानी ही कर सकता है। अनतिशयज्ञानी के लिए वह व्यवहार्य नहीं है, इसलिए औपम्य काल में उसका समावेश किया गया है।

### १०. यथायुष्ककाल

नेरइयतिरियमणुयादेवाण अहाउयं तु जं जेण ।  
निव्वत्तियमण्णभवे पालेंति अहाउकालो सो ॥

(आवनि ६६४)

नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव अपने-अपने भव में जो आयुष्य कर्म का वेदन करते हैं, वह यथायुष्ककाल है ।

### ११. उपक्रमकाल

दुविहोवक्कमकालो सामायारी अहाउयं चेव ।

(आवनि ६६५)

उपक्रमकाल के दो प्रकार हैं—

१. सामाचारी—ओष, पदविभाग आदि ।

(द्र. सामाचारी)

२. यथायुष्क—सोपक्रम आशुष्य । (द्र. कर्म)

### १२. देशकाल

जो जस्स जयाऽवसरो कज्जस्स सुभासुसस्स सोपायं ।  
भण्णइ स देसकालो.....॥

(विभा २०६३)

जो जिस शुभाशुभ कार्य का अवसर है, वह देशकाल है । वह सोपाय है ।

### १३. कालकाल

कालो ति मयं मरणं जहेह मरणं गउ त्ति कालगओ ।  
तम्हा स कालकालो जो जस्स मओ स मरणकालो ॥

(विभा २०६६)

लोक में मृत व्यक्ति के लिए कहा जाता है कि वह कालधर्म को प्राप्त हो गया । लोकरूढ़ि से यहां प्रथम काल का अर्थ है—मरण । अतः कालकाल का अर्थ है मरणकाल ।

### १४. प्रमाणकाल

अट्ठाकालविसो पत्थयमाणं व माणुसे खित्ते ।

सो संववहारत्थं पमाणकालो अहोरत्तं ॥

(विभा २०६८)

मनुष्यक्षेत्र में अहोरात्र आदि अट्ठाकाल विशेष प्रमाणकाल है । प्रथकमान की तरह व्यवहार का प्रवर्तन इसका प्रयोजन है ।

### १५. वर्णकाल

पंचप्पहं वण्णाणं जो खलु वण्णेण कालओ वण्णो ।  
सो होइ वण्णकालो वण्णिज्जइ जो व जं कालं ॥

(आवनि ७३१)

पांच वर्णों में जो काला वर्ण है वह वर्णकाल है । अथवा जिस काल में जीव आदि पदार्थों का वर्णन किया जाता है, वह वर्णकाल है ।

### १६. भावकाल

सादीसपज्जवसिओ चउभंगविभागभावणा एत्थं ।

ओदइयादीयाणं तं जाणसु भावकालं तु ॥

(आवनि ७३२)

जिससे औदयिक आदि भावों की सादि-सपर्यवसित आदि चार विकल्प व्यवस्था को जाना जाता है, वह भावकाल है ।

### १७. कालप्रमाण के प्रकार

कालप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा - पएसनिष्फण्णे  
य विभागनिष्फण्णे य ।

(अनु ४१३)

कालप्रमाण के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—

प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न ।

पएसनिष्फण्णे—एगसमयट्ठिईए दुसभयट्ठिईए  
तिसमयट्ठिईए जाव दससमयट्ठिईए संखेज्जसमयट्ठिईए  
असंखेज्जसमयट्ठिईए ।

(अनु ४१४)

एक समय की स्थिति, दो समय की स्थिति, तीन समय की स्थिति यावत् दस समय की स्थिति, संख्येय समय की स्थिति, असंख्येय समय की स्थिति—यह प्रदेशनिष्पन्न काल है ।

विभागनिष्फण्णे—

समयावलय-भुहुत्ता, दिवसमहोरत्तपक्खमासा य ।

संवच्छर-जुग-पलिया सागर-ओसप्पि-परियट्ठा ॥

(अनु ४१५)

समय, आवलिका, मुहूर्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पत्थोपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और पुद्गलपरावर्त्त—यह विभागनिष्पन्न काल है ।

### समय

समयः परमनिकृष्टः कालविभागः, स च प्रवचनप्रति-  
पादितादुत्पलपत्रशतव्यतिभेदोदाहरणात् जरत्पट्टशाटिका-  
पाटनदृष्टान्ताच्चावसेयः । (नन्दीभट्ट प १८५)

काल का सबसे सूक्ष्म भाग समय कहलाता है । आममप्रतिपादित कमलशतपत्रभेदन और जीर्णशाटिका-पाटन दृष्टांत से उसे जाना जा सकता है ।

सूक्ष्मस्तावत्कालो भवति यस्मादुत्पलपत्रशतभेदे प्रतिपत्रमसंख्येयाः समयाः प्रतिपाद्यन्ते ततः सूक्ष्मः कालः तस्मादपि कालात् सूक्ष्मतरं क्षेत्रं भवति, यस्मादंगुलमात्रे क्षेत्रे—प्रमाणांगुलकमात्रे श्रेणिरूपे नभःखण्डे प्रतिप्रदेशं समयगणनया असंख्येया अवसर्पिष्यस्तीर्थकृद्गिरा-ख्याताः । (नन्दीमवृ प ९५. ९६)

कमल के सौ पत्तों का भेदन करते समय प्रत्येक पत्ते के भेदन में असंख्य समय लगते हैं, इससे स्पष्ट है कि काल सूक्ष्म है । काल से भी सूक्ष्मतर है—क्षेत्र । क्योंकि एक अंगुलप्रमाण मात्र आकाशखण्ड के प्रत्येक प्रदेश पर समय की गणना के आधार पर असंख्य अवसर्पिण्यां वर्तन करती है ।

से जहणामए तुष्णामदारए तरुणे बलवं णिउणसिप्पो-बगयादिगुणजुत्ते पडसाडियं वा पट्टसाडियं वा गहाय सयराहं हत्थमेत्तं ओसारेज्जा । जम्हा संखेज्जाणं पम्हाणं समागमेण तंतु णिक्फज्जति । उवरिल्ले य पम्हमि अणि-च्छणमि हेट्टिल्ले पम्हे ण छिज्जति । अणमि काले उवरिल्ले पम्हे छिज्जति । अणमि काले हेट्टिल्ले पम्हे छिज्जति । अतो सेऽवि समए न भवति । एतेण सुहुमतराए समए पणत्ते । (आवचू १ पृ ४३, ४४)

एक निपुण, बलवान और तरुण जुलाहा शाटिका में से एक हाथ प्रमाण कपड़ा शीघ्र फाड़ देता है । संख्येय पक्षों से तंतु निष्पन्न होता है । इसलिए प्रथम क्षण में ऊपर का पक्ष छिन्न होने पर ही दूसरे क्षण में नीचे का पक्ष छिन्न होता है—इतना काल भी समय नहीं है । समय इससे भी सूक्ष्मतर है ।

### अन्तर्मुहूर्त

मुहूर्त्तो घटिकाद्वयप्रमाणः कालविशेषः तस्यार्द्धं मुहूर्त्तार्द्धं व्यवहारपेथया एतन्मुहूर्त्तार्द्धमित्युच्यते, पर-मार्थतः पुनरन्तर्मुहूर्त्तमवसेयम् । (नन्दीमवृ प १८५)

दो घड़ी प्रमाण काल को मुहूर्त्त कहते हैं । व्यवहार-दृष्टि से मुहूर्त्त के अर्धभाग (एक घड़ी) को मुहूर्त्तार्द्ध कहा जाता है । वास्तव में वह अन्तर्मुहूर्त्त ही है ।

### दिवस

रविणो गडपरिणयस्स ञं पुव्वदिसादरिसणं सो

पुव्वव्हकालो भण्णति । तस्सेव गतिपरिणयस्स ञं णहमज्जे दरिसणं सो मज्झव्हकालो भण्णति । तस्सेव गतिपरिण-यस्स ञं पच्चत्थिमेण गमणं सो अवरव्हकालो भन्नइ ।

(आवचू १ पृ ४२)

दिन के तीन विभाग हैं— १. पूर्वाह्न काल २. मध्याह्न काल ३. अपराह्न काल ।

ये तीनों विभाग सूर्य की गति के आधार पर हैं । जब सूर्य पूर्व दिशा में दिखाई देता है तब पूर्वाह्न काल कहलाता है । वही गतिपरिणत सूर्य जब नभ के मध्य में दिखाई देता है, तब मध्याह्न काल कहलाता है । जब उसकी गति पश्चिम की ओर होती है, तब अपराह्न काल कहलाता है ।

### अवसर्पिणी काल

अवसर्पन्ति—प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीरायुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य ह्रासमनुभवन्त्यवश्यमित्यव-सर्पिण्यो दशसागरोपमकोटीकोटिपरिमाणाः ।

(उशावृ प ६५७)

जिस कालखण्ड में प्राणियों के शरीर और आयुष्य के प्रमाण का क्रमशः ह्रास होता है, वह अवसर्पिणी काल है । यह काल दस कोटिकोटि सागरोपम प्रमाण होता है ।

### उत्सर्पिणी काल

तत्परिमाणानामेव उत्सर्पन्ति—उक्तन्यायतो वृद्धिमनु-भवन्त्यवश्यमित्युत्सर्पिण्यः । (उशावृ प ६५७)

जिस कालखण्ड में शरीर, आयुष्य आदि के परिमाण का क्रमशः विकास होता है, वह उत्सर्पिणी काल है । वह दस कोटिकोटि सागरोपमप्रमाण होता है ।

### पुद्गलपरावर्त

सव्वपोग्गला जावतिएण कालेण सरीरफासअशना-दीहिं फासेज्जति सो पोग्गलपरियट्ठो । (उचू पृ १८९)

एक जीव को शरीर, आहार आदि के रूप में सब पुद्गलों का स्पर्श करने में जितना समय लगता है, वह एक पुद्गलपरावर्त है ।

अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः पुद्गलपरावर्तः ।

(अनुमवृ प ९१)

अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का एक पुद्गल-परावर्त होता है ।

## १. औपमिक काल

ओवमिए दुविहे पणत्ते, तं जहा—पलिओवमे य सागरोवमे य ।  
(अनु ४१८)

औपमिक काल के दो प्रकार हैं—पत्योपम और सागरोपम ।  
(द्र. पत्योपम)

**कालविज्ञान**—समय को जानने का विज्ञान । स्वाध्याय आदि के उपयुक्त समय का ज्ञान । कालज्ञान के प्राचीन साधनों में 'दिक्-प्रतिलेखन' और 'नक्षत्रावलोकन' प्रमुख थे । मुनि स्वाध्याय से पहले काल की प्रति-लेखना करते थे । नक्षत्रविद्या में कुशल मुनि इस कार्य के लिए नियुक्त होते थे ।

१. कालप्रतिलेखना

२. कालप्रतिलेखक की अहंता

३. कालग्रहण-विधि

◦ दिक्-प्रतिलेखन

◦ नक्षत्र-अवलोकन

४. काल के व्याघात

५. स्वाध्यायकाल

\* गोचरकाल (द्र. गोचरचर्या)

६. प्रतिलेखना काल

◦ पौरुषी का कालमान

◦ पौरुषी का प्रमाणकाल

७. कालकरण

८. कालप्रतिलेखना की निष्पत्ति

## १. कालप्रतिलेखना

कालः—प्रादोषिकादिस्तस्य प्रत्युपेक्षणा—आगम-विधिना यथावन्निरूपणा ग्रहणं प्रति जागरणरूपा काल-प्रत्युपेक्षणा ।  
(उशावृ प ५८३)

आगमोक्त विधि के अनुसार स्वाध्याय आदि के काल का ग्रहण-निर्धारण और प्रज्ञापन करना कालप्रतिलेखना/कालविज्ञान है ।

## २. कालप्रतिलेखक की अहंता

पियधम्मो ददधम्मो संविग्गो चेवज्जज्जभीरू य ।  
खेयन्नो य अभीरू कालं पडिलेहेए साहू ॥

(ओनि ६४७)

जो प्रियधर्मा, दृढधर्मा, संवेगप्राप्त, पापभीरू, गीतार्थ और सत्त्वसम्पन्न है, वह कालप्रतिलेखना के योग्य है ।

## ३. कालग्रहण-विधि

आवासगं तु काउं जिणोवदिट्ठं गुरुवएसेणं ।

तिन्निथुई पडिलेहा कालस्स विही डमो तत्थ ॥

निस्सीहिया नमोक्कारे काउस्सग्गे य पंचमंगलए ।

पुव्वाउत्ता सव्वे पट्टवणचउक्कनाणत्तं ॥

(ओनि ६३८, ६४९)

मुनि आवश्यक (प्रतिक्रमण) को सम्पन्न कर तीन स्तुतिपाठ करता है । फिर स्वाध्याय के योग्य काल की प्रतिलेखना हेतु गुरु के पास जाकर निषद्यापूर्वक वन्दना-नमस्कार करना है । वह गुरु से अनुज्ञा प्राप्त कर आठ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग को पंच मंगल (नमस्कार महामंत्र) से पूर्ण कर कालग्रहण के लिए जाता है । काल-ग्रहण के पश्चात् सभी मुनि स्वाध्याय की प्रस्थापना करते हैं । रात्रिकालीन स्वाध्याय के चार भाग हैं—प्रादोषिक, अर्धरात्रिक, वैरात्रिक और प्राभातिक ।

थोवावसेसियाए संक्काए ठाइ उत्तराहुत्तो ।

चउवीसगदुमपुक्फियपुव्वग एक्केक्कयदिसाए ॥

(ओनि ६५०)

कालप्रतिलेखक मुनि सन्ध्या का थोड़ा भाग अवशिष्ट रहने पर काल-मण्डल में प्रविष्ट हो उत्तरदिशा में मुंह कर कायोत्सर्ग करता है ।

वह पंच नमस्कार एवं आठ उच्छ्वास के कायोत्सर्ग के पश्चात् एक-एक दिशा में मौनभाव से चतुर्विंशतिस्त्व, दशवैकालिक सूत्र का पहला और दूसरा अध्ययन—इनकी अस्खलित अनुप्रेक्षा करता है ।

## दिक्-प्रतिलेखन

पाओसियअड्ढरत्ते उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं ।

वेरत्तियंमि भयणा पुव्वदिसा पच्छिमे काले ॥

(ओनि ६६२)

कालप्रतिलेखक मुनि प्रादोषिक और अर्धरात्रि में सर्वप्रथम उत्तर दिशा की, वैरात्र (रात्रि के तीसरे प्रहर)

में उत्तर अथवा पूर्व दिशा की तथा प्रभातकाल में पूर्व दिशा की प्रत्युपेक्षा करता है, तत्पश्चात् दक्षिण आदि दिशाओं की प्रत्युपेक्षा कर कायोत्सर्ग करता है।

#### नक्षत्र-अवलोकन

जं नेइ जया रत्ति नक्खत्तं तंमि नहचउब्भाए ।  
संपत्ते विरमेज्जा सज्झायं पओसकालम्मि ॥  
तम्मेव य नक्खत्ते, गयणचउब्भागसावसेसंमि ।  
वेरत्तियं पि कालं, पडिलेहिता मुणी कुज्जा ॥

(उ २६।१९,२०)

जो नक्षत्र जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग में आए (प्रथम प्रहर समाप्त हो) तब मुनि प्रदोष-काल (रात्रि के प्रारम्भ) में प्रारब्ध स्वाध्याय से विरत हो जाए।

वही नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग में शेष रहे तब वैरात्रिक काल (रात का चतुर्थ प्रहर) आया हुआ जान फिर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाए।

#### ४. काल के व्याघात

आपुच्छण किङ्कम्मं आवस्सियखलियपडियवाघाओ ।  
इंदिय दिसा य तारा वासमसज्झाड्यं चैव ॥  
सज्झायमचितंता कण्णं दट्ठूण तो नियत्तंति ।  
वेलाए दंडधारी मा बोलं गंडए उवमा ॥  
आघोसिए बहूहि सुयंमि सेमेसु निवडइ दंडो ।  
अह तं बहूहि न सुयं दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥  
(ओनि ६४१, ६४४ ६४५)

गुरु की आज्ञा के बिना जाना, कृतिकर्म न करना, आवस्सई आदि का उच्चारण न करना, जाते-जाते खलित होना, गिर जाना, अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों की संप्राप्ति होना, दिग्मोह होना, ताराओं का टूटना, वर्षा होना, अस्वाध्यायिक होना — ये सारे काल के व्याघात हैं।

कालवेला के निरूपण के लिए गया हुआ मुनि स्वाध्याय न करता हुआ कालवेला का निरूपण करे। कनक (रेखायुक्त ज्योतिषिड) को देखकर लौट आए। कालग्रहण वेला प्राप्त हो जाने पर दंडधारी गुरु को निवेदन करता है तथा अन्यान्य मुनियों को मौन और सावधान रहने के लिए कहता है। जैसे ग्राम-उद्घोषक प्रयोजन होने पर अक्कर पर खड़ा होकर गांव में यह घोषणा करता है—आज प्रातः यह कार्य करना है। इसी प्रकार यह दंडधारी भी कहता है—अब कालग्रहण-

वेला प्राप्त है अतः सबको गर्जन आदि के प्रति सावधान हो जाना है।

दंडधारी के द्वारा घोषणा कर दिए जाने पर यदि उस घोषणा को बहुत मुनियों ने सुना है, कुछेक ने नहीं सुना है तो वे कुछेक न सुनने वाले दंड के भागी होते हैं और यदि कुछेक ने घोषणा सुनी है, बहुतों ने नहीं सुनी है तो वह दंडधारी दंड का भागी होता है।

निसीहिया नमुक्कारं आसज्जावडपडणजोइक्खे ।

अपमज्जियभीए वा छीए छिग्नेव कालवहो ॥

(ओनि ६५२)

कालग्राहक के कालग्रहण कर गुरु के पास निषीधिका, नमस्कार और ग्रहणविधि का पालन नहीं करने से, किसी साधु का संघट्टन करने से, पत्थर या स्वयं के गिरने से, अग्नि का स्पर्श होने पर, प्रमार्जना न करते हुए प्रवेश करने पर, त्रस्य होने पर, छींक आने पर अथवा बिल्ली, कुत्ते आदि द्वारा मार्ग काटने पर काल का व्याघात होता है।

#### ५. स्वाध्याय काल

प्रादोषिके काले गृहीते सति सर्व एव साधवः प्रथम-यामं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति, द्वौ त्वाद्यौ यामौ वृषभाणां भवतो गीतार्थानां । ते हि सूत्रार्थं चिन्तयन्तस्तावत्तिष्ठन्ति यावत्प्रहरद्वयमतिक्रान्तं भवति, तृतीया च पौरुष्यवतरति । ततस्ते चैव कालं गृह्णन्ति अड्ढरत्तियं उवज्झायाईणं संदिसावेत्ता ततो कालं घेतूणं आयरियं उट्टुवेति, चंदणयं दाऊण भणन्ति — सुद्धो कालो । आयरिया भणति — तहत्ति । पच्छा ते वसभा सुयंति, आयरिओवि वितियं उट्टावेत्ता कालं पडियरावेइ । ताहे एगचित्तो सुत्तत्थं चित्तेइ जाव वेरत्तियस्स कालस्स बहुदेसकालो, ताहे तइय-पहरे अतिककते सो कालपडिलेहणो आयरियस्स पडि-संदिसावेत्ता वेरत्तियं कालं गेण्हइ आयरिओवि कालस्स पडिक्कमित्ता सोवति । ताहे जे सोइयल्लया साहू आसी ते उट्ठेऊण वेरत्तियं सज्झायं करेति जाव पाभाइयकाल-ग्रहणवेला जाया । (ओनिवृ प २०६)

प्राचीन विधि के अनुसार रात्रि के प्रथम प्रहर में सभी मुनि स्वाध्याय करते थे। जब दूसरा प्रहर प्रारंभ होता, तब अन्यान्य मुनि सो जाते, केवल गीतार्थ और वृषभ मुनि स्वाध्याय (सूत्र-अर्थ का चिन्तन) करते। दूसरा प्रहर अतिक्रान्त होने पर तीसरे प्रहर के प्रारंभ में

ही वे काल की प्रतिलेखना कर उपाध्याय को ज्ञापित कर आचार्य को जगाते । आचार्य एकाग्रचित्त हो स्वाध्याय करते । वृषभ और गीतार्थ साधु सो जाते । तीसरे प्रहर के अतिक्रान्त होने पर तथा चौथे प्रहर के प्रारंभ होने पर कालप्रतिलेखक वैरात्रिक काल की प्रतिलेखना कर आचार्य को ज्ञापित करते । आचार्य काल का प्रतिक्रमण कर सो जाते और शेष सोए हुए सभी साधुओं को जागृत कर दिया जाता । वे सभी वैरात्रिक स्वाध्याय में रत हो जाते ।

### ६. प्रतिलेखना काल

“अरुणावासग पुक्वं परोष्परं पाणिपडिलेहा ॥

एते उ अणाएसा अंधारे उग्गएवि हु न दीसे ।

मुहरयनिसिज्जचोले कप्पतिग्गदुपट्ठथुई सूरु ॥

(ओनि २६९, २७०)

प्रभातकालीन प्रतिलेखना काल के चार अभिमत—

१. सूर्योदय का समय—प्रभास्फाटन का समय ।
२. सूर्योदय के पश्चात्—प्रभास्फाटन होने के पश्चात् ।
३. परस्पर जब मुख दिखाई दे ।
४. जिस समय हाथ की रेखा दिखाई दे ।

ये अनादेश माने गए हैं । निर्णायक पक्ष यह है कि मुनि प्रतिक्रमण के पश्चात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की तीन स्तुति करे, फिर मुखवस्त्र, रजोहरण, दो निषद्याएं, चोलपट्ट, तीन उत्तरीय, संस्तारकपट्ट और उत्तरपट्ट—इनकी प्रतिलेखना के अनन्तर ही सूर्योदय हो जाए, वह प्रतिलेखना का काल है ।

जेट्टामूले आसाढसावणे छ्हि अंगुलेहि पडिलेहा ।

अट्टहि बीयतियमी तइए वस अट्टहि चउत्थे ॥

(उ २६।१६)

ज्येष्ठ, आसाढ़, श्रावण—इस प्रथम त्रिक में छह, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक—इस द्वितीय त्रिक में आठ, मृगशिर, पौष, माघ—इस तृतीय त्रिक में दश और फाल्गुन, चैत्र, वैशाख—इस चतुर्थ त्रिक में आठ अंगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखना का समय होता है ।

### पौरुषी का अर्थ

पुरिसो त्ति संकू पुरिससरीरं वा, ततो पुरिसातो निष्फण्णा पोरिसी, एवं सब्वस्स वत्थुणो जदा स्वप्रमाणा च्छाया भवति तदा पोरिसी भवति, एतं पोरिसीप्रमाणं

उत्तरायणस्स अंते दक्षिणायणस्स य आदीए एककं दिणं भवति । अतो परं अट्ट एकसट्ठिभागा अंगुलस्स दक्खिणायणे वड्ढंति, उत्तरायणे य हस्संति ।

(नन्दीचू पृ ५८)

पौरुषी के प्रकरण में 'पुरुष' शब्द के दो अर्थ हैं— (१) पुरुष-शरीर और (२) शंकु । पुरुष द्वारा उसका माप होता है, इसलिए उसे 'पौरुषी' कहा जाता है । (शंकु २४ अंगुल प्रमाण का होता है और पैर से जानु तक का प्रमाण भी २४ अंगुल होता है ।) जिस दिन वस्तु की छाया उसके प्रमाणोपेत होती है, वह दिन उत्तरायण का अन्तिम दिन व दक्षिणायन का प्रथम दिन होता है ।

पौरुषी का छाया प्रमाण दक्षिणायन में प्रतिदिन  $\frac{1}{2}$  अंगुल बढ़ता है और उत्तरायण में प्रतिदिन घटता है ।

### पौरुषी का कालमान

पोरिसीमाणमनिययं दिवसनिसाचुड्ढिहाणिभावाओ ।

हीणं तिन्नि मुहुत्तद्धयंचमा माणमुक्कोसं ॥

बुड्ढी बावीसुत्तरसयभागो पइदिणं मुहुत्तस्स ।

एवं हाणी वि मया, अयणदिणभागओ नेया ॥

(विभा २०७०, २०७१)

दिवस अथवा रात्रि का चौथा भाग पौरुषी है । पौरुषी का मान अनियत होता है । दिन-रात की वृद्धि-हानि के आधार पर इसके कालमान का निश्चय होता है । दिवस-पौरुषी का जघन्य मान मकर संक्रान्ति के दिन तीन मुहूर्त (छह घटिका) का होता है । रात्रि पौरुषी का जघन्य मान कर्क संक्रान्ति के दिन तीन मुहूर्त (छह घटिका) का होता है । दिवस-पौरुषी का उत्कृष्ट मान कर्क-संक्रान्ति के दिन साढ़े चार मुहूर्त (नौ घटिका) का होता है । रात्रि पौरुषी का उत्कृष्ट मान मकर-संक्रान्ति के दिन साढ़े चार मुहूर्त (नौ घटिका) का होता है ।

प्रतिदिन  $5\frac{1}{2}$  मुहूर्त पौरुषी बढ़ती व घटती है । और एक अयन में १८३ अहोरात्र होते हैं । इसलिए एक अयन में  $1\frac{1}{2} \times 183 = 274\frac{1}{2} = 275$  मुहूर्त कालमान बढ़ता है । इस प्रकार तीन मुहूर्त की जघन्य पौरुषी में ११३ मुहूर्त मिलाने पर पौरुषी का उत्कृष्ट कालमान  $275 + 113 = 388$  मुहूर्त होता है ।

**पौरुषी का प्रमाणकाल**

पोरिसी प्रमाणकालो निच्छयववहारिओ जिणक्खाओ ।

निच्छयओ करणजुओ ॥ (ओनि २८१)

पौरुषी का प्रमाणकाल दो प्रकार का है— नैश्चयिक और व्यावहारिक । नैश्चयिक पौरुषी का प्रमाणकाल करण अर्थात् गणित के द्वारा निकाला जाता है ।

अयणाईयदिणग्णे अट्टगुणेगट्ठिभाइए लद्धं ।

उत्तरदाहिणमाई पोरिसि पयसुज्झपक्खेवा ॥

(ओनि २८२)

अयनातीतदिनमणः उत्कृष्टतस्वयशीतं शतम् । तच्चाष्टगुणं जातानि चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि तत्र चैकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि चतुर्विंशतिरंगुलानि तत्रापि द्वादशभिरंगुलैः पदमिति जाते द्वे पदे । तत्र हि उत्तरायणप्रथमदिने चत्वारि पदान्यासन् ततस्तन्मध्यात्पदद्वयोत्सारणे जाते कर्कटसंक्रान्त्यदिने द्वे पदे । दक्षिणायनाद्यदिने तु द्वे पदे अभूतां, तन्मध्ये च द्वयोः क्षिप्तयोर्जातानि मकरसंक्रान्ती चत्वारि पदानि । इदं चोत्कृष्टजघन्यदिनयोः पौरुषीमानम् । (उशावृ प ५३७)

अयन के अतीत दिनों के समूह को ८ से गुणा करके ६१ का भाग देने से जो लब्ध आता है, उसको उत्तरायण के और दक्षिणायन के आदि में क्रमशः शुद्धि (घटाने) और प्रक्षेप (योग) करने से पौरुषी का प्रमाण आता है ।

अयन दो प्रकार का होता है—उत्तरायण और दक्षिणायन । सूर्य दक्षिणायन के अन्तिम दिन से उत्तर की ओर गति करता है उसे उत्तरायण कहते हैं । उत्तरायण के अन्तिम दिन से सूर्य वापस दक्षिण की ओर गति करता है उसे दक्षिणायन कहते हैं ।

एक अयन में उत्कृष्ट १८३ दिन होते हैं । एक अयन में पौरुषी का परिमाण दो पाद घटता या बढ़ता है । यह कथन १८३ दिनों की अपेक्षा से कहा गया है । उत्तरायण के प्रथम दिन में पौरुषी का परिमाण चार पाद होता है । वह क्रमशः घटता-घटता कर्क-संक्रान्ति के दिन तक दो पाद का हो जाता है । दक्षिणायन के प्रथम दिन पौरुषी का परिमाण दो पाद होता है । क्रमशः बढ़ते बढ़ते मकर-संक्रान्ति तक दो पाद बढ़ जाता है, तब उसका परिमाण २+२=४ पाद हो जाता है । दो पाद का परिमाण पौरुषी का जघन्य परिमाण है और चार पाद का परिमाण पौरुषी का उत्कृष्ट परिमाण है । बीच के दिनों

का परिमाण निकालने के लिए गणित इस प्रकार है—

∴ १८३ दिनों में दो पाद अर्थात् २४ अंगुल

∴ १ दिन में  $\frac{24}{183} = \frac{8}{61}$

पौरुषी अयन के प्रतिदिन में  $\frac{8}{61}$  अंगुल घटती या बढ़ती है ।

आसाढे मासे दुपया पोसे मासे चउप्पया ।

चित्तासोएसु मासेसु तिपया हवइ पोरिसी ॥

(उ २६।१३)

आषाढ मास में दो पाद प्रमाण, पौष मास में चार पाद प्रमाण, चैत्र तथा आश्विन मास में तीन पाद प्रमाण पौरुषी होती है ।

समय	पाद-अंगुल	समय	पाद-अंगुल
आषाढ पूर्णिमा	२-०	पौष पूर्णिमा	४-०
श्रावण पूर्णिमा	२-४	माघ पूर्णिमा	३-८
भाद्रपद पूर्णिमा	२-८	फाल्गुन पूर्णिमा	३-४
आश्विन पूर्णिमा	३-०	चैत्र पूर्णिमा	३-०
कार्तिक पूर्णिमा	३-४	वैशाख पूर्णिमा	२-८
मृगसर पूर्णिमा	३-८	ज्येष्ठ पूर्णिमा	२-४

अंगुलं सत्तरत्तेणं पक्खेण य दुअंगुलं ।

वड्ढए हायए वावी मासेणं चउरंगुलं ॥

(उ २६।१४)

पौरुषी के कालमान में सात दिन रात में एक अंगुल पक्ष में दो अंगुल, एक मास में चार अंगुल वृद्धि और हानि होती है । श्रावण मास से पौष मास तक वृद्धि और माघ से आषाढ तक हानि होती है ।

आसाढबहुलपक्खे, भद्वए कटिए य पोसे य ।

फग्गुणवइसाहेसु य, नायव्वा ओमरत्ताओ ॥

(उ २६।१५)

आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख—इनके कृष्ण-पक्ष में एक-एक अहोरात्र (तिथि) का क्षय होता है । (साधारतया एक मास में ३० अहोरात्र और एक पक्ष में १५ अहोरात्र होते हैं । किन्तु आषाढ आदि उपर्युक्त छह मासों का कृष्ण पक्ष १४ अहोरात्र का ही होता है ।)

**पादोनपौरुषी-छायाप्रमाण**

जेट्टमूले आसाढसावणे छहि अंगुलेहि पड्डिेहा ।

अट्टहि बीअतियमि अ तइए दस अट्टहि चउत्थे ॥

(ओनि २८६)

तीन-तीन मास के चार त्रिक—

पहला त्रिक—ज्येष्ठ, आषाढ़ और श्रावण ।

दूसरा त्रिक—भाद्रव, आसोज और कार्तिक ।

तीसरा त्रिक—मृगसर, पौष और माघ ।

चतुर्थ त्रिक—फाल्गुन, चैत्र और वैशाख ।

प्रथम त्रिक के मासों के पौरुषी प्रमाण में ६ अंगुल

जोड़ने से उन मासों के पादोन पौरुषी का छाया-प्रमाण होता है । दूसरे त्रिक के मासों में ८ अंगुल, तीसरे त्रिक के मासों में १० अंगुल और चौथे त्रिक के मासों में ८ अंगुल बढ़ाने से उन-उन मासों का पादोन पौरुषी छाया-प्रमाण आता है ।

पौरुषी		छाया-प्रमाण		पादोन-पौरुषी		छाया-प्रमाण	
पाद	अंगुल		अंगुल	पाद	अंगुल		अंगुल
२	४	+	६	=	२		१०
२	०	+	६	=	२		६
२	४	+	६	=	२		१०
२	८	+	८	=	३		४
३	०	+	८	=	३		८
३	४	-	८	=	४		०
३	८	±	१०	=	४		६
४	०	+	१०	=	४		१०
३	८	+	१०	=	४		६
३	४	÷	८	=	४		०
३	०	+	८	=	३		८
२	८	+	८	=	३		४

### ७. कालकरण

कालेवि नत्थि करणं तहावि पुण वंजणप्पमाणेणं ।

बवबालवाइकरणेहिण्णेगहा होइ ववहारे ॥

(आवनि १०१८)

काली जो जावइओ जं कीरइ जंमि जंमि कालम्मि ।

ओहेण नामओ पुण हवंति इक्कारसक्करणा ॥

(उनि १९७)

काल के वर्तना, समय आदि अंग स्वभाव से ही होते हैं, अतः काल का करण नहीं होता । किंतु व्यञ्जन-प्रमाण से कालकरण होता भी है । यहां व्यञ्जन का अर्थ है—वर्तना आदि के अभिव्यंजक द्रव्य—वर्तना परिणामी द्रव्य ।

जिस काल में जो जितना किया जाता है, वह काल-करण है । यह व्यवहार नय की अपेक्षा से होता है । बव, बालव आदि ग्यारह करणों के आधार पर अनेक प्रकार का व्यवहार होता है ।

बलं च बालवं चैव, कोलवं थीविलोअणं ।

गराइ वणियं चैव, विट्ठी हवइ सत्तमी ॥

सउणि चउप्पयं नामं, किमुग्घं करणं तहा ।

एए चत्तारि धुवा, सेसा करणा चला सत्त ॥

किष्हचउहसिरत्ति सउणि पडिवज्जए सया करणं ।

इत्तो अहक्कमं खलु चउप्पयं नाग किष्सुग्घं ॥

(उनि १९८-२००)

ज्योतिष में ग्यारह करण मान्य हैं—

बव, बालव, कोलव, स्त्रीविलोचन, गरादि, वणिज विष्टि, शकुनि, चतुष्पद, नाग और किस्तुघ्न । इनमें प्रथम सात करण चल और अंतिम चार करण ध्रुव हैं ।

कृष्ण पक्ष की चतुर्विंशती को रात्रि में 'शकुनि' करण होता है । अमावस्या को दिन में 'चतुष्पद' तथा रात्रि में 'नाग' करण होता है । प्रतिपदा को दिन में 'किस्तुघ्न' करण होता है ।



## ८. काल-प्रतिलेखना की निष्पत्ति

काऽपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।  
(उ २९।१६)

काल-प्रतिलेखना से जीव ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है ।

.....अकालं च विवज्जेत्ता, काले कालं समायरे ॥  
(द ५।२।४)

अकालं च विवज्जेत्ता णाम जहा पडिलेहणवेलाए सज्झायस्स अकालो, सज्झायवेलाए पडिलेहणयाए अकालो, एवमादि । भिक्खावेलाए भिक्खं समायरे, पडिलेहणवेलाए पडिलेहणं समायरे, एवमादि । भणियं च—

'जोगो जोगो जिणसासणंमि दुक्खक्खया पउंजंतो ।  
अण्णोऽण्णमणाहंतो असवत्तो होइ कायव्वो ॥'  
(दजिचू पृ १९४, १९५)

प्रतिलेखन का काल स्वाध्याय के लिए अकाल है । स्वाध्याय का काल प्रतिलेखन के लिए अकाल है । काल-मर्यादा को जानने वाला भिक्षु अकाल-क्रिया न करे । मुनि को भिक्षा-काल में भिक्षा, प्रतिलेखन-काल में प्रतिलेखन, स्वाध्याय-काल में स्वाध्याय और जिस काल में जो क्रिया करनी हो, वह उसी काल में करनी चाहिए ।

जिनशासन में योग्य योग - प्रवृत्ति का विधान है— जिस समय जो योग्य हो, दुःखक्षय के लिए उसका प्रयोग करे, जिससे किसी दूसरे को बाधा न पहुंचे, कोई शत्रु न बने ।

**कालिकसूत्र**—दिन और रात के पहले और चौथे प्रहर में पढ़े जाने वाले आगम ।

(द्र. अंगबाह्य)

**कालिक्युपदेश**—वह ज्ञान जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श होता है । संज्ञो श्रुत का एक भेद ।  
(द्र. श्रुतज्ञान)

**काव्यरस**—स्थायीभाव की अभिव्यक्ति से होने वाली अनुभूति ।

रौद्र रस

वीडा रस

बीभत्स रस

हास्य रस

करुण रस

प्रशान्त रस

## १. काव्यरस की परिभाषा

कवेरभिप्रायः काव्यं, रस्यन्ते—अन्तरात्मनाऽनुभूयन्त इति रसाः, तत्तत्सहकारिकारणसन्निधानोद्भूताश्चेतो-विकारविशेषाः ।

बाह्यार्थालम्बनो यस्तु विकारो मानसो भवेत् ।  
स भावः कथ्यते सद्भिस्तस्योत्कर्षो रसः स्मृतः ॥  
(अनुमवृ प १२४)

कवि के कर्म, भाव या अभिप्राय का नाम काव्य है । जो अन्तरात्मा के द्वारा अनुभूत होते हैं वे रस कहलाते हैं । वे सहकारी कारणों की सन्निधि से उद्भूत चैतन्यविकार हैं ।

विकार और रस में कुछ अन्तर भी है । बाहरी वस्तु के आलम्बन से जो मानसिक विकार होता है वह भाव कहलाता है । उस भाव का प्रकर्ष रस है ।

मिउमहुररिभियसुभयरणीतिणिहोसभूसणाणुगतो ।  
सुहदुहकम्मसमा इव कव्वस्स रसा भवति तेणं ॥  
(अनुचू पृ ४७)

रस की भांति रसनीय चित्तवृत्तियां भी रस कहलाती हैं । जैसे सुख वेदनीय और दुःख वेदनीय अथवा साता-असाता वेदनीय कर्म के रस होते हैं वैसे ही काव्य के रस होते हैं ।

## २. रस के प्रकार

नव कव्वरसा पण्णत्ता, तं जहा—

वीरो सिगारो अब्भुओ य रोहो य होइ बोधव्वो ।  
वेलणओ बीभच्छो, हासो कलुणो पसंतो य ॥

(अनु ३०९)

काव्यरस के नौ प्रकार हैं—

१. वीर

६. बीभत्स

२. शृंगार

७. हास्य

३. अद्भूत

८. करुण

४. रौद्र

९. प्रशान्त ।

५. वीडा

### १. काव्यरस की परिभाषा

### २. रस के प्रकार

वीर रस

शृंगार रस

अद्भूत रस

**वीर रस की उत्पत्ति और लक्षण**

तत्थ परिच्छायम्मि य, तवचरणे सत्तुजणविणासे य ।  
अणणुसय-धिति-परक्कर्मलिगो, वीरो रसो होइ ॥  
सो नाम महावीरो, जो रज्जं पयहिऊण पव्वइओ ।  
काम-क्कोह-महासत्तु-पक्खनिग्घायणं कुणइ ॥  
(अनु ३१०।१,२)

परित्याग (दान), तपश्चरण और शत्रुजनों के विनाश में वीर रस उत्पन्न होता है। अतनुशय (गर्व या पश्चात्ताप न करना), धृति और पराक्रम उसके लक्षण हैं। वीर रस, जैसे—

जो राज्य को छोड़कर प्रव्रजित हो गया और काम, क्रोध आदि महाशत्रुओं का निग्रह करता है, वह महावीर है।

**शृंगार रस की उत्पत्ति और लक्षण**

सिगारो नाम रसो, रतिसंजोगाभिलाससंजणणो ।  
मंडण-विलास-विब्बोय-हास-लीला-रमणलिगो ॥  
महुरं विलास-ललियं, हियुयुम्मादणकरं जुवाणणं ।  
सामा सद्दुद्दामं, दाएत्ती मेह्लादामं ॥  
(अनु ३११।१,२)

रति और संयोग की अभिलाषा से शृंगार रस उत्पन्न होता है। विभूषा, विलास (चक्षु आदि का विभ्रम), विब्बोक (कामचेष्टा), हास्य, लीला और रमण उसके लक्षण हैं। शृंगार रस, जैसे—

श्यामा स्त्री मधुर विलास से ललित, युवकों के हृदय को उन्मत्त करने वाला, घुंघरू के शब्दों से मुखर मेखला-सूत्र (करधनी) दिखलाती है।

**अद्भुत रस की उत्पत्ति और लक्षण**

विम्हयकरो अपुव्वोऽनुभूयपुव्वो य जो रसो होइ ।  
हरिसविसायुप्पत्तिलक्खणो, अब्भुओ नाम ॥  
अब्भुयतरमिह एत्तो, अन्नं कि अत्थि जीवलोगम्मि ।  
जं जिणवयणेणत्था, तिकालजुत्ता वि नज्जति ॥  
(अनु ३१२।१,२)

अपूर्व और अनुभूतपूर्व वस्तु को देखने पर जो विस्मयकारी रस उत्पन्न होता है, वह अद्भुत रस है। हर्ष और विषाद उसके लक्षण हैं। अद्भुत रस, जैसे—

जिनवचन के द्वारा त्रैकालिक अर्थ जान लिए जाते हैं—इस जीवलोके में इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा ?

**रौद्र रस की उत्पत्ति और लक्षण**

भयजणणरुव-सद्धंकार-चित्ता-कहासमुप्पन्नो ।  
संमोह-संभम-विसाय-मरणलिगो रसो रोद्धो ॥  
भिउडी-विडंबियमुहा ! संदट्टोड्ड ! इय रहिरमोकिण्णा ।  
हणसि पसुं अमुरणिभा ! भीमरसिय ! अइरोइ ! रोहोसि ॥  
(अनु ३१३।१,२)

भयंकर रूप, शब्द, अन्धकार, चिन्ता और भयंकर कथा से रौद्र रस उत्पन्न होता है। संमोह, संभ्रम, विषाद और मरण उसके लक्षण हैं। रौद्र रस, जैसे—

भूकुटि से विडम्बित मुख वाले ! होठ काटने वाले ! रुधिर बिखेरने वाले ! असुर के समान भयंकर शब्द करने वाले ! अतिशय रौद्र ! तू पशु को मारता है, बड़ा रौद्र है।

**ब्रीडा रस की उत्पत्ति और लक्षण**

विणओवयार-गुज्झ-गुरुदार-मेरावइक्कमुप्पन्नो ।  
वेलणओ नाम रसो, लज्जासंकाकरणलिगो ॥  
कि लोइयकरणीओ, लज्जणीयतरं लज्जिया मो त्ति ।  
वारज्जम्मि गुरुजणो, परिवंदइ जं वहूपोत्ति ॥  
(अनु ३१४।१,२)

विनयोपचार, गुह्य और गुरु-स्त्री की मर्यादा के अतिक्रमण से ब्रीडा रस उत्पन्न होता है। लज्जा और शंका उसके लक्षण हैं। ब्रीडा रस, जैसे—

विवाह के बाद प्रथम वार शोणित से सना हुआ वधू का अधोवस्त्र गुरुजनों के सामने ले जाया जाता है। वे उसे सतीत्व की कसौटी मानकर नमस्कार करते हैं। इस लौकिक क्रिया से अधिक लज्जास्पद और क्या है ? मैं तो इससे लज्जित हो रही हूँ।

**बीभत्स रस की उत्पत्ति और लक्षण**

असुइ-कुणव-दुद्धंण-संजोगभासगंधनिप्फण्णो ।  
निव्वेयविहिसालक्खणो रसो होइ बीभत्सो ॥  
असुइमलभरियनिज्झर, सभावदुग्गंधिसव्वकालं पि ।  
घण्णा उ सरीरकलिं, बहुमलकलुसं विमुंचति ॥  
(अनु ३१५।१,२)

अशुचि पदार्थ, शव, बार-बार अनिष्ट दृश्य के संयोग और दुर्गन्ध से बीभत्स रस उत्पन्न होता है। निर्वेद (उदासीनता) और अविहिंसा (जीव हिंसा के प्रति होने वाली ग्लानि) उसके लक्षण हैं। बीभत्स रस, जैसे—

अशुचि, मलसमूह के निर्भर, सर्वकाल में स्वभाव

से दुर्गन्धित, नाना प्रकार के मलों से कलुषित निकृष्ट शरीर को जो छोड़ देते हैं, वे धन्य हैं ।

### हास्य रस की उत्पत्ति और लक्षण

रूव-वय-वेस-भासाविवरीयविलंबणासमुत्पन्नो ।  
हासो मण्यपहासो, पयासलियो रसो होइ ॥  
पासुत्त-मसीमंडिय-पडिबुद्धं देयरं पलोयंती ।  
ही ! जह धण-भर-कंपण-पणमियमज्झा हसइ सामा ॥  
(अनु ३१६।१,२)

रूप, वय, वेष और भाषा के विपर्यय की विडम्बना (प्रयोग) से मन को आह्लादित करने वाला हास्य रस उत्पन्न होता है । प्रकाश (मुख, नेत्र आदि का विकास) उसका लक्षण है । हास्य रस, जैसे—

स्तनों के भार के कम्पन से भ्रुकी हुई कटिप्रदेश वाली श्यामा स्त्री अपने सुप्त देवर को मसि-मण्डित करती है और जब वह जागता है, तब 'ही ही' शब्दोच्चारणपूर्वक हंसती है ।

### करुण रस की उत्पत्ति और लक्षण

पियविप्पओग-बंध-वह-वाहि-विणिवाय-संभमुत्पन्नो ।  
सोइय-विलविय-पव्वाय-रुष्णालियो रसो करुणो ॥  
पज्झाय-किलाभिययं, बाहागयपप्पुयच्छियं बहुसो ।  
तस्स विओगे पुत्तिय ! दुब्वलयं ते मुहं जायं ॥  
(अनु ३१७।१,२)

प्रिय-वियोग, बंध, वध, व्याधि, विनिपात (पुत्र आदि की मृत्यु) और संभ्रम से करुण रस उत्पन्न होता है । शोक, विलाप, म्लान और रोदन उसके लक्षण हैं । करुण रस, जैसे—

हे पुत्रि ! उसके वियोग में दुश्चिन्ता से क्लान्त और आंसुओं से भरी हुई आंखों वाला तुम्हारा मुख दुर्बल हो गया है ।

### शान्त रस की उत्पत्ति और लक्षण

निदोसमण-समाहाणसंभवो जो पसंतभावेण ।  
अविकारलक्खणो सो, रसो पसंतो त्ति नायव्वो ॥  
सवभाव-निव्विगारं, उवसंत-पसंत-सोमदिट्ठीयं ।  
ही ! जह मुणिणो सोहइ, मुहकमलं पीवरसिरीयं ॥  
(अनु ३१८।१,२)

स्वस्थ मन की समाधि (एकाग्रता) और प्रशान्त भाव से शान्त रस उत्पन्न होता है । अविकार उसका लक्षण है । शान्त रस, जैसे—

स्वभाव से निर्विकार, उपशान्त, प्रशान्त, सौम्यदृष्टि

युक्त और पुष्ट कान्ति वाला मुनि का मुखकमल सुशोभित हो रहा है ।

एए नव कव्वरसा, बत्तीसदोसविहिसमुत्पन्ना ।

गाहाहि मुणेयव्वा, हवंति सुद्धा व मीसा वा ॥

(अनु ३१८।३)

बत्तीस दोष-विधियों से समुत्पन्न ये नौ काव्य रस उक्त माथाओं से जानने चाहिए । ये रस किसी काव्य में शुद्ध और किसी में मिश्र (अनेक रसों के मिश्रण वाले) होते हैं ।

कंथु—सतरहवें तीर्थंकर । (द्र. तीर्थंकर)

कुत्रिकापण—वह आपण, जहां तीन लोक में प्राप्य सभी वस्तुएं मिलती हैं ।

भुवनत्रयेऽपि यद्वस्तुजातं तत् कुत्रिकमित्युच्यते ।  
तस्य पणायानिमित्तमापणो—हृदः कुत्रिकापणः । यदिवा  
को—पृथिव्यां त्रिकस्य—जीवधातुमूलात्मकस्य समस्त-  
लोकभाविनो वस्तुजातस्यापणः कुत्रिकापणः । अस्मिञ्च  
कुत्रिकापणे वणिजः कस्यापि मन्त्राद्याराधितः सिद्धो  
व्यन्तरः सुरः क्रायकजनसमीहितं समस्तमपि वस्तु  
कुतोऽप्यानीय सम्पादयति, तन्मूल्यद्रव्यं तु वणिग्  
गृह्णाति ।

अन्ये त्वभिदधति—वणिग्विर्वजिताः सुराधिष्ठिता  
एव ते आपणाः सन्ति, मूल्यद्रव्यमपि स एव व्यन्तरसुरः  
स्वीकरोति । एते च कुत्रिकापणाः प्रतिनियतेष्वेव नगरेषु  
भवन्ति, न सर्वत्र । (आवमवृ प ४१४)

स्वर्ग, मर्त्यलोक और पाताल—इन तीनों लोकों की वस्तुएं जहां उपलब्ध होती हैं, वह कुत्रिकापण है । इसका स्वामी वणिक् मंत्र-आराधना से किसी व्यंतर देव को सिद्ध करता है । वह देव ग्राहक द्वारा याचित सारी वस्तुएं कहीं से भी लाकर दे देता है । उस वस्तु का मूल्य वणिक् ग्रहण करता है ।

एक मत यह भी है कि कुत्रिकापण के अधिष्ठाता व्यन्तर देव ही होते हैं और वहां कोई वणिक् नहीं होता । वस्तु का मूल्य भी देव ही ग्रहण करते हैं । कुत्रिकापण प्रतिनियत नगरों (उज्जयिनी, भृगुकच्छ आदि) में ही होते हैं, सर्वत्र नहीं ।

कुल—पितृसत्ताक व्यवस्था वाला पारिवारिक संगठन ।

कुलनामे—उग्गे भोगे राइण्णे खत्तिए इक्खामे नाते कोरव्वे ।  
(अनु ३४३)

कुल सात हैं --

१. उग्र भगवान् ऋषभ ने आरक्षक वर्ग के रूप में जिनकी नियुक्ति की थी, वे उग्र कहलाये। उनके वंशजों को भी उग्र कहा गया है।
२. भोज — जो गुरुस्थानीय थे, वे तथा उनके वंशज।
३. राजन्य — जो मित्रस्थानीय थे, वे तथा उनके वंशज।
४. क्षत्रिय — रक्षा का दायित्व वहन करने वाले।
५. इक्ष्वाकु — भगवान् ऋषभ के वंशज।
६. ज्ञात — भगवान् महावीर के वंशज।
७. कौरव — भगवान् शान्ति के वंशज।

(देखें—ठाण ६।३५ का टिप्पण)

**कुलकर—**यौगलिक युग में कुल को व्यवस्था करने वाले पुरुष।

१. सात कुलकर
२. कुलकर-अंगना
३. उत्पत्ति-काल-क्षेत्र
४. कुलकर-अवगाहना
५. संहनन-संस्थान-वर्ण
६. कुलकर-आयु
७. कुलकरों की गति

८. कुलकर और दंडनीति

\* यौगलिक-जीवन चर्या (द्र. मनुष्य)

\* यौगलिक युग के पश्चात् समाज व्यवस्था (द्र. तीर्थकर)

९. विमलवाहन कुलकर का पूर्वभव

### १. सात कुलकर

पढमित्थ विमलवाहण चक्खुम जसमं चउत्थमभिचंदे ।

तत्तो अ पसेणइए मरुदेवे चेव नाभी य ॥

(आवनि १५५)

कुलकर सात हैं—विमलवाहन, चक्षुमान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित्, मरुदेव और नाभि।

### २. कुलकर-अंगना

चंदजसचंदकंता सुरूव पडिखुव चक्खुकंता य ।

सिरिकंता मरुदेवी कुलगरपत्तीण नामाई ॥

(आवनि १५९)

कुलकरों की पत्नियों के क्रमशः ये नाम हैं—  
चन्द्रयशा, चन्द्रकांता, सुरूपा, प्रतिकृपा, चक्षुकान्ता,  
श्रीकान्ता, मरुदेवी।

### ३. उत्पत्ति-काल-क्षेत्र

ओसपिणी इमीसे तइयाएँ समाएँ पच्छिमे भागे ।

पलिओवमट्टभाए सेसमि उ कुलगरुप्पती ॥

अढभरहमज्झिल्लुतिभागे गंगसिधुमज्झमि ।

इत्थ बहुमज्झसे उप्पण्णा कुलगरा सत्त ॥

(आवनि १५०, १५१)

इस अवसर्पिणी के तीसरे अर (सुषमदुष्पमा) के पश्चिम भाग में पत्योपय का आठवां भाग शेष रहने पर कुलकरों की उत्पत्ति हुई।

अर्धभरत के मध्य भाग में गंगा-सिधु के मध्य सात कुलकर पैदा हुए।

### ४. कुलकर-अवगाहना

णवधणुसया य पढमो अट्ट य सत्तद्धसत्तमाई च ।

छ्चवेव अढच्छट्टा पंचसया पण्णवीसं तु ॥

(आवनि १५६)

कुलकर	अवगाहना
विमलवाहन	१०० धनुष
चक्षुमान्	८०० ”
यशस्वी	७०० ”
अभिचन्द्र	६५० ”
प्रसेनजित्	६०० ”
मरुदेव	५५० ”
नाभि	५२५ ”

### ५. संहनन-संस्थान-वर्ण

वज्जरिसहसंघयणा समचउरंसा य हुंति संठाणे ।”

चक्खुम जसमं च पसेणइअं एए पिअंगुवण्णाभा ।

अभिचंदो ससिगोरो निम्मलकणमप्पभा सेसा ॥

संघयणं संठाणं उच्चत्तं चेव कुलगरेहि समं ।

वण्णेण एकवण्णा सव्वाओ पिअंगुवण्णाओ ॥

(आवनि १५७, १५८, १६०)

सब कुलकर वज्रऋषभनाराच संहनन और सम-चतुरस्र संस्थान वाले होते हैं।

चक्षुष्मान्, यशस्वी और प्रसेनजित् लाल वर्ण वाले, अभिचन्द्र चन्द्रमा के समान गौर वर्ण वाले और शेष कुलकर स्वर्ण आभा वाले थे।

कुलकर अंगनाओं का संहनन, संस्थान तथा ऊंचाई अपने-अपने पति कुलकर के समान थी। सबका वर्ण प्रियंगु था।

#### ६. कुलकर-आयु

पलिओवमदसभाए पढमस्साउं तओ असंखिज्जा ।  
ते आणुपुचिवहीणा पुव्वा नाभिस्स संखेज्जा ॥  
जं चेव आउयं कुलगराण तं चेव होइ तासिपि ।  
जं पढमगस्स आउं तावइयं चेव हत्थिस्स ॥

(आवनि १६१, १६२)

प्रथम कुलकर विमलवाहन की आयु पल्योपम का दसवां भाग थी। चक्षुष्मान् आदि कुलकरों की आयु असंख्येय पूर्व और अन्तिम कुलकर नाभि की आयु संख्येय पूर्व थी। कुलकर-अंगनाओं की आयु कुलकरों के समान थी। उनके हाथियों की आयु भी उतनी ही थी।

#### ७. कुलकरों की गति

....ते वयणुपिज्जदोसा सव्वे देवेसु उववण्णा ॥  
दो चेव सुवण्णेषु उदधिकुमारेसु हुंति दो चेव ।  
दो दीवकुमारेसु एगो नागेषु उववण्णो ॥  
हत्थी छच्चित्थीओ नागकुमारेसु हुंति उववण्णा ।  
एगा सिद्धि पत्ता मरुदेवी नाभिणो पत्ती ॥

(आवनि १६४-१६६)

सभी कुलकरों के रागद्वेष प्रतनु थे। अतः वे सभी मरकर देवगति में उत्पन्न हुए। दो कुलकर सुपर्णकुमार, दो उदधिकुमार, दो द्वीपकुमार तथा एक नागकुमार देवों में उत्पन्न हुए। सातों हाथी और छह कुलकर-अंगनाएं—ये सब नागकुमारदेवों में उत्पन्न हुए। नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवी सिद्धि को प्राप्त हुई।

#### ८. कुलकर और दंडनीति

हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चेव दंडनीईओ ।....

पढमबीयाण पढमा तइयचउत्थाण अभिनवा बीया ।  
पंचमछट्टस्स य सत्तमस्स तइया अभिनवा उ ॥

(आवनि १६७, १६८)

तीन दण्डनीतियां थीं—हाकार, माकार और धिक्कार। प्रथम और द्वितीय कुलकर के समय हाकार-नीति का प्रयोग होता था। तीसरे और चौथे कुलकर के समय माकार और अंतिम तीन कुलकरों के समय धिक्कारनीति का प्रयोग होता था।

#### ९. विमलवाहन कुलकर का पूर्वभव

अवरविदेहे दो वणिय वयंसा, माइ उज्जुए चेव ।  
कालगया इह भरहे, हत्थी मणुओ अ आयाया ॥  
दटुं सिणेहकरणं गयमारुहणं च नामणिप्फत्ती ।  
परिहाणि मेहि कलहो सामत्थण विन्नवण हत्ति ॥

(आवनि १५३, १५४)

तेसि च जातिसरणं जायं । ताहे कालदोसेण ते  
रुक्खा परिहायंती....तेसु परिहायंतेसु कसाया उप्पण्णा ।  
....तेहि सो विमलवाहणो एस अमहेहितो अहितो त्ति  
ठवितो ।

तस्स य चंदजसा भारिया । तीए समं भोगे भुंजंतस्स  
अवरं मिथुणं जायं । तस्स वि कालंतरेण अवरं, एवं ते  
एगवंसम्मि सत्त कुलगरा उप्पण्णा । पूर्वभवाः खत्वमीषां  
प्रथमानुयोगतोऽवसेयाः । (आवहावृ १ पृ ७४)

अपरविदेह में दो वणिक मित्र थे—एक ऋजु, दूसरा मायावी। ऋजु वणिक मरकर भरतक्षेत्र में यौगलिक रूप में उत्पन्न हुआ। मायावी वणिक उसी प्रदेश में श्वेत, चतुर्दन्त हाथी बना। दोनों ने एक-दूसरे को देखा, प्रीति उत्पन्न हुई, वह हाथी पर आरूढ हो गया। लोगों ने देखा—यह व्यक्ति हम सबसे अधिक अतिशायी है, इसका वाहन विमल है—इस प्रकार उसका नाम विमलवाहन हो गया। उसने जातिस्मृति से जान लिया कि अब कालदोष से कल्पवृक्षों में क्षीणता आयेगी, इससे ममत्वभाव बढ़ेगा, कलह होगा—यह जान लेने पर लोगों ने विमलपूर्वक विमलवाहन को अपना अधिपति बनाया, जो प्रथम कुलकर कहलाया। उसने हाकार नीति का प्रवर्तन किया। चंद्रयज्ञा उसकी भार्या थी। उसने एक युगल को जन्म दिया। उस युगल ने कालांतर में अन्य युगल को जन्म दिया। इस प्रकार एक वंश में सात कुलकर उत्पन्न हुए। उनके पूर्वभव 'प्रथमानुयोग' से ज्ञातव्य हैं।

कुलकर	अवगाहना	वर्ण	पत्नी	आयु	काल	वंशनीति	गति
१. विमलवाहन	९०० धनुष	कनक	चन्द्रयशा	पत्योपम का दसवां भाग	अवसर्पिणी काल के तीसरे अर का पत्योपम का आठवां भाग शेष रहा तब	हाकार	सुपर्णकुमार
२. चक्षुष्मान्	८०० ,,	प्रियंगु	चन्द्रकान्ता	असंख्येय पूर्व		,,	,,
३. यशस्वी	७०० ,,	,,	सुहृपा	,,		माकार	उदधिकुमार
४. अभिचन्द्र	६५० ,,	गौर	प्रतिरूपा	,,		,,	,,
५. प्रसेनजित्	६०० ,,	प्रियंगु	चक्षुकान्ता	,,		ध्रुवकार	द्वीपकुमार
६. मरुदेव	५५० ,,	कनक	श्रीकान्ता	,,		,,	,,
७. नाभि	५२५ ,,	,,	मरुदेवी	संख्येय पूर्व		,,	नागकुमार

कृतिकर्म—वंदना की विधि । (द्र. वंदना)

कृष्ण लेश्या—अप्रशस्त भावधारा तथा उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल । (द्र. लेश्या)

केवलज्ञान—समस्त द्रव्यों और पर्यायों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान ।

१. केवलज्ञान का स्वरूप

अहं सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं ।

सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं नाणं ॥

(तन्दी ३३१)

जो सब द्रव्यों, उनके परिणामों, उनकी सत्ता की विज्ञप्ति का कारण तथा अनन्त, शाश्वत, अप्रतिपाति और एक प्रकार का है, वह केवलज्ञान है ।

पज्जायओ अणंतं सासयमिट्ठं सदोवओगाओ ।

अव्वयओऽपडिवाई एगविहं सव्वमुद्धीए ॥

(विभा ८२८)

पर्याय अनन्त होने से केवलज्ञान अनन्त है। सदा उपयोगयुक्त होने से वह शाश्वत है। इसका व्यय नहीं होता इसलिए अप्रतिपाति है। आवरण की पूर्ण शुद्धि के कारण वह एक प्रकार का है ।

केवलमेणं सुद्धं सगलमसाहारणं अणंतं च ।....

(विभा ८४)

केवलम्—असहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षम् । शुद्धं वा केवलम्, आवरणमलकलङ्काङ्करहितम् । सकलं वा केवलम्, तत्प्रथमतयैवाशेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णोत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसदृशमितिहृदयम् । ज्ञेयानन्तत्वादनन्तं वा केवलम् । (तन्दीहावृ पृ १९)

• केवलज्ञान मति आदि ज्ञानों से निरपेक्ष है, इसलिए असहाय है ।

• वह निरावरण है, इसलिए शुद्ध है ।

• अशेष आवरण की क्षीणता के कारण प्रथम क्षण में ही पूर्णरूप में उत्पन्न होता है, इसलिए वह सकल/संपूर्ण है ।

१. केवलज्ञान का स्वरूप

२. केवलज्ञान का विषय

\* केवलज्ञान स्वार्थ है

\* केवलज्ञान : ज्ञान का एक प्रकार (द्र. ज्ञान)

३. केवलज्ञान के प्रकार—

१. भवस्थ केवलज्ञान २. सिद्ध केवलज्ञान

४. भवस्थ केवलज्ञान : परिभाषा एवं प्रकार

५. सिद्ध केवलज्ञान : परिभाषा एवं प्रकार

\* केवलज्ञान : एक लब्धि (द्र. लब्धि)

६. केवलज्ञान-प्राप्ति का हेतु

७. केवलज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया

८. आवरणक्षय और नय

\* मति-भूत-ज्ञान और केवलज्ञान में साधर्म्य तथा उनके ज्ञेय की सीमा } (द्र. भूतज्ञान)

\* भूतज्ञान और केवलज्ञान में अन्तर } (द्र. भूतज्ञान)

\* मन-पर्यवज्ञान और केवलज्ञान में साधर्म्य तथा अन्तर (द्र. मनःपर्यवज्ञान)

९. केवलज्ञान-केवलदर्शन

- ० वह अन्य ज्ञानों के सदृश नहीं है, इसलिए असाधारण है।
- ० ज्ञेय अनन्त हैं, इसलिए वह अनन्त है।

## २. केवलज्ञान का विषय

तं समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । तत्थ

दव्वओ णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ-पासइ ।  
खेत्तओ णं केवलनाणी सव्वं खेत्तं जाणइ-पासइ ।  
कालओ णं केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ-पासइ ।  
भावओ णं केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ-पासइ ।

(नन्दी ३३)

केवलज्ञान का विषय संक्षेप में चार प्रकार का है—  
द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः ।  
द्रव्य की अपेक्षा से—केवलज्ञानी सभी द्रव्यों को जानता-  
देखता है ।  
क्षेत्र की अपेक्षा से—केवलज्ञानी सभी क्षेत्रों को जानता  
देखता है ।  
काल की अपेक्षा से—केवलज्ञानी सभी कालों को जानता-  
देखता है ।  
भाव की अपेक्षा से—केवलज्ञानी सभी भावों को जानता-  
देखता है ।

## ३. केवलज्ञान के प्रकार

केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवत्थकेवलनाणं  
च सिद्धकेवलनाणं च । (नन्दी २६)

केवलज्ञान के दो प्रकार हैं भवस्थ केवलज्ञान और  
सिद्ध केवलज्ञान ।

## ४. भवस्थ केवलज्ञान : परिभाषा एवं प्रकार

मणुस्सभवट्ठितस्स जं केवलनाणं तं भवत्थकेवलनाणं ।  
(नन्दीचू पृ २५)

भवत्थकेवलनाणं नाम जं मणुस्सभवे चेव अवत्थितस्स  
चउरहिं घातिकम्मेहिं खीणंहिं समुप्पज्जति । तं जाव  
चउरो केवलिकम्मा अकखीणा ताव भवत्थकेवलनाणं  
भन्नति । (आवचू १ पृ ७४)

मनुष्य भव में स्थित मनुष्य का केवलज्ञान भवस्थ  
केवलज्ञान है ।

भवस्थ केवलज्ञान वह है, जो मनुष्यभ्रम में अवस्थित  
व्यक्ति के ज्ञानावर्णीय आदि चार घातिकर्मों के क्षीण  
होने पर उत्पन्न होता है । जब तक शेष चार अघाति-

कर्म क्षीण नहीं होते, तब तक वह भवस्थ केवलज्ञान  
कहलाता है ।

भवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—सजोगि-  
भवत्थकेवलनाणं च अजोगिभवत्थकेवलनाणं च ।

(नन्दी २७)

भवस्थ केवलज्ञान दो प्रकार का है—

सयोगी भवस्थ केवलज्ञान और अयोगी भवस्थ केवल-  
ज्ञान ।

## सयोगी भवस्थ केवलज्ञान

केवलनाणसमुप्पत्तीओ आरब्भ जाव पंचहस्सक्खरियं  
सेलेसि ण पडिवज्जति ताव सयोगिभवत्थकेवलनाणं  
भन्नति । (आवचू १ पृ ७४)

केवलज्ञान की प्राप्ति से लेकर जब तक पंच ह्रस्वा-  
क्षरिक शैलेशी अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक वह  
केवलज्ञान सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है ।

सजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—  
पढमसमयसजोगि भवत्थकेवलनाणं च अपढमसमयसजोगि-  
भवत्थकेवलनाणं च । अहवा चरमसमयसजोगिभवत्थ-  
केवलनाणं च अचरमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च ।

(नन्दी २८)

सयोगी भवस्थ केवलज्ञान दो प्रकार का है—प्रथम  
समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान, अप्रथम समय सयोगी  
भवस्थ केवलज्ञान । अथवा—चरम समय सयोगी भवस्थ  
केवलज्ञान, अचरम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान ।

## अयोगी भवस्थ केवलज्ञान

जाहे पुण पंचहस्सक्खरियं सेलेसि पडिवन्ने भवति  
ताहे अजोगिभवत्थकेवलनाणं भन्नति ।

(आवचू १ पृ ७४)

जब पंच ह्रस्वाक्षरिक शैलेशी अवस्था प्राप्त हो  
जाती है, तब वह अयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है ।

अजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—  
पढमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च अपढमसमय-  
अजोगिभवत्थकेवलनाणं च । अहवा—चरमसमयअजोगि-  
भवत्थकेवलनाणं च अचरमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं  
च । (नन्दी २९)

अयोगी भवस्थ केवलज्ञान दो प्रकार का है—

१. प्रथम समय अयोगीभवस्थ केवलज्ञान २. अप्रथम

समय अयोगी भवस्थ केवलज्ञान ।

अथवा—चरम समय अयोगी भवस्थ केवलज्ञान ।

अचरम समय अयोगी भवस्थ केवलज्ञान ॥

### ५. सिद्धकेवलज्ञान : परिभाषा एवं प्रकार

सर्वकर्मविषयमुक्तको सिद्धो, तस्स जं णाणं तं सिद्ध-  
केवलनाणं । (नन्दीचू पृ २५)

सर्वकर्ममुक्त सिद्धों का ज्ञान सिद्ध केवलज्ञान है ।

केवलिकम्मेहि खीणेहि सिद्धस्स तं सिद्धकेवलनाणं  
भन्नति । (आवचू १ पृ ७४)

जब केवली के भवप्रत्ययिक कर्म क्षीण हो जाते हैं,  
तब वह सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। सिद्ध का  
केवलज्ञान सिद्ध केवलज्ञान कहलाता है ।

सिद्धकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अणंतर-  
सिद्धकेवलनाणं च परंपरसिद्धकेवलनाणं च । (नन्दी ३०)

सिद्ध केवलज्ञान के दो प्रकार हैं—

१. अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान २. परम्परसिद्ध केवलज्ञान  
अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान

जंमि समते एगो केवली सिद्धो ततो जो अणंतरो  
बितीओ समतो तंमि अन्नो केवली सिद्धो, तस्स केवलस्स  
जं णाणं तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं भन्नति ।

(आवचू १ पृ ७५)

जिस समय में एक केवली सिद्ध होता है, उसके  
अनन्तर दूसरे समय में अन्य केवली सिद्ध होता है, उस  
केवली का ज्ञान अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान है ।

अणंतरं णो समयंतरं पत्तं, सिद्धत्वप्रथमसमयवर्तिनः ।

(नन्दीचू पृ २६)

सिद्ध अवस्था के प्रथम समय का ज्ञान अनन्तरसिद्ध  
केवलज्ञान है ।

अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान के भेद (ब्र. सिद्ध)  
परम्परसिद्ध केवलज्ञान

पढमसमयसिद्धस्स जो वितियसमयसिद्धो सो परो,  
तस्स वि य अणो, एवं परंपरसिद्धकेवलनाणं भाणितव्वं ।  
(नन्दीचू पृ २७)

प्रथम समय के सिद्ध की अपेक्षा से दूसरे समय का  
सिद्ध 'पर' है, तीसरे समय का जो सिद्ध है, वह भी 'पर'  
है—इस प्रकार परम्परसिद्धों का केवलज्ञान परम्परसिद्ध  
केवलज्ञान है ।

परंपरसिद्धकेवलनाणं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—  
अपढमसमयसिद्धा, दुसमयसिद्धा, तिसमयसिद्धा, चउसमय-  
सिद्धा जाव दससमयसिद्धा, सखेज्जसमयसिद्धा, असंखे-  
ज्जसमयसिद्धा, अणंतसमयसिद्धा । (नन्दी ३२)

परम्परसिद्ध केवलज्ञान अनेक प्रकार का है—

अप्रथमसमय सिद्ध, द्विसमय सिद्ध, तिसमय सिद्ध,  
चतुःसमय सिद्ध यावत् दससमय सिद्ध, संख्येय समय सिद्ध,  
असंख्येय समय सिद्ध, अनन्त समय सिद्ध ।

### ६. केवलज्ञान-प्राप्ति का हेतु

....केवलियनाणलंभो नन्नस्थ खए कसायाणं ॥

(आवनि १०४)

केवलज्ञान की प्राप्ति कषाय के क्षय होने पर ही  
होती है ।

खयनिप्फण्णे.....खीणकेवलनाणावरणे .....

(अनु २८२)

केवलज्ञानावरणकर्म क्षीण होने पर केवलज्ञान उत्पन्न  
होता है, अतः वह क्षयनिष्पन्न है ।

### ७. केवलज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया

....अट्टविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्य-  
ढमयाए जहाणुपुंवि अट्टवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं  
उग्घाएइ पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दंसणावरणिज्जं  
पंचविहं अंतराय एए तिन्नि वि कम्मसे जुगवं खवेइ ।  
तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं  
वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्यभावगं केवलवरनाणदंसणं  
समुप्पाडेइ । (उ २९।७२)

साधक सर्वप्रथम आठ कर्मों की जो कर्मग्रन्थि है,  
उसे खोलने के लिए उद्यत होता है । वह जिसे पहले कभी  
भी पूर्णतः क्षीण नहीं कर पाया, उस अट्टाईस प्रकार वाले  
मोहनीय कर्म को क्रमशः सर्वथा क्षीण करता है, फिर  
वह पांच प्रकार वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार वाले  
दर्शनावरणीय और पांच प्रकार वाले अंतराय— इन तीनों  
विद्यमान कर्मों को एक साथ क्षीण करता है । उसके  
पश्चात् वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण,  
तिमिर रहित, विशुद्ध, लोक और अलोक को प्रकाशित  
करने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन को उत्पन्न करता  
है ।



## द. आवरणक्षय और नय

आवरणक्षयसमए नेच्छइअनयस्स केवलुप्पत्ती ।

तत्तोऽणंतरसमए ववहारो केवलं भणइ ॥

(विभा १३३४)

जिस क्षण केवलज्ञानावरण का क्षय होता है, उसी क्षण केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है—यह निश्चयनय का अभिमत है। आवरणक्षय के अनन्तर क्षण में केवल्य उत्पन्न होता है—यह व्यवहारनय का अभिमत है।

नाणं न खिज्जमाणे, खीणे जुत्तं जओ तदावरणे ।

न य किरियानिट्ठाणं, कालेगत्तं जओ जुत्तं ॥

(विभा १३३५)

व्यवहारनय के अनुसार आवरण की क्षीयमाण अवस्था में ज्ञान नहीं होता, आवरण के क्षय होने पर ही वह होता है, क्योंकि क्रियाकाल और निष्ठाकाल में एकत्व उचित नहीं है।

किरियाकालम्मि खओ

जइ नत्थि तओ न होज्ज पच्छावि ।

जइवाकिरियस्स खओ

पढमम्मि वि कीस किरियाए ॥

(विभा १३३७)

यदि क्रियाकाल में क्षय नहीं होता है तो वह बाद में भी नहीं होगा। यदि क्रिया के बिना ही क्षय होता है, तब पहले क्षण की क्रिया की क्या अपेक्षा है ?

जं निज्जरिज्जमाणं निज्जिण्णं ति भणियं सुए जं च ।

नोकम्मं निज्जरइ नावरणं तेण तस्समए ॥

(विभा १३३८)

आगम में निर्जीर्यमाण को निर्जीर्यं कहा गया है। कर्म का वेदन होता है। नोकर्म (अकर्म) की निर्जरा होती है। इसलिए निर्जीर्यमाण/क्षीयमाण काल में कर्म का आवरण क्षीण हो जाता है। क्षीयमाण और क्षीण में कालभेद नहीं है।

## ६. केवलज्ञान-केवलदर्शन

उभयावरणाईओ केवलवरणाण-वंसणसहाओ ।

जाणइ पासइ य जिणो नेयं सव्वं सयाकालं ॥

(विभा १३४१)

केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्म के क्षीण होने पर केवली समस्त ज्ञेय को केवलज्ञान से सदा जानता है और केवलदर्शन से सदा देखता है।

## केवली-केवलज्ञान से संपन्न ।

### १. केवली की परिभाषा

० प्रकार

२. केवली के दो उपयोग युगपत् नहीं

३. केवली का बोलना वचनयोग

\* केवली के मनोयोग

(द्र. गुणस्थान)

\* केवली के द्रव्यमान

(द्र. आत्मा)

४. केवली नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी

५. केवली के ईर्ष्यापथिक बंध

६. केवली : कायनिरोध ध्यान

\* केवली : शुक्ल ध्यान

(द्र. ध्यान)

७. केवली : योगनिरोध की प्रक्रिया

८. केवली : शैलेशी अवस्था

\* शैलेशी अवस्था : कर्मक्षय का क्रम

(द्र. गुणस्थान)

९. केवली जीविताशंसा से मुक्त

\* केवली मरण

(द्र. मरण)

१०. केवली छद्मस्थ को वन्दना करते हैं

### १. केवली की परिभाषा

कसिणं केवलकप्पं लोभं जाणंति तह य पासंति ।

केवलचरित्तनाणी तम्हा ते केवली हुंति ॥

(आवनि १०७९)

जो पंचास्तिकायात्मक लोक को सम्पूर्ण रूप से जानते-देखते हैं, वे केवली हैं। यहाँ केवल शब्द के दो अर्थ विवक्षित हैं—एक और सम्पूर्ण। जिनके एक ज्ञान (केवलज्ञान) और एक चारित्र (यथाख्यात) अथवा सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण चारित्र होता है, वे केवली कहलाते हैं।

### प्रकार

केवली त्रिविधः, तद्यथा—श्रुतकेवली, क्षायिक-सम्यक्त्वकेवली, क्षायिकज्ञानकेवली। यदिवा चतुर्विधः, तद्यथा—श्रुतकेवली, अवधिकेवली, मनःपर्यायज्ञानकेवली, केवलज्ञानकेवली। (आवमवृ प १०४)

केवली के तीन प्रकार हैं—१. श्रुतकेवली २. क्षायिक सम्यक्त्व केवली ३. क्षायिकज्ञान केवली।

अथवा केवली के चार प्रकार हैं—१. श्रुतकेवली २. अवधिकेवली ३. मनःपर्यायज्ञानकेवली ४. केवलज्ञान-केवली।

## २. केवली के दो उपयोग युगपत् नहीं

नाणमि दंसणमि अ इत्तो एगयरयमि उवउत्ता ।

सव्वस्स केवलस्सा जुगवं दो नत्थि उवओगा ॥

(आवनि ९७९)

केवली के एक समय में दो उपयोग एक साथ नहीं होते । केवली एक समय में ज्ञान और दर्शन — दोनों में से किसी एक में उपयुक्त होते हैं ।

अंतोमुहुत्तमेव य कालो भणिओ तहोवओगस्स ।

साई अपज्जवसित्ति नत्थि कत्थइ विणिद्धिओ ॥

परिणामियभावाओ जीवत्तं पिव सहाव एवायं ।

एगंतरोवओगो जीवाणमण्णहेउ त्ति ॥

(विभा ३१३०, ३१३५)

उपयोग का समय अन्तर्मुहूर्त ही कहा गया है । वह सादि-अपर्यवसित है, ऐसा कहीं भी निर्दिष्ट नहीं है ।

जैसे पारिणामिक भाव के कारण जीवत्व जीव का स्वभाव है, वैसे ही एकान्तर उपयोग भी जीव का स्वभाव है, क्योंकि वह भी पारिणामिक भाव है ।

केवलज्ञानकेवलदर्शनोपयोगचिन्तायां क्रमोपयोगादिविषया सूरौणामनेकधा विप्रतिपत्तिः । सिद्धसेनाचार्यादयो श्रुवते — एकस्मिन् काले केवली न त्वन्यश्छद्मस्थो जानाति पश्यति च नियमेन । अन्ये पुनराचार्या जिनभद्रगणिक्रमाश्रमणप्रभृतयः मन्यन्ते — एकान्तरितं केवली जानाति पश्यति चेति, एकस्मिन् समये जानाति एकस्मिन् समये पश्यतीत्यर्थः ।

(नन्दीमवृ प १३४)

केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग के संबंध में आचार्यों की विभिन्न अवधारणाएं रही हैं । सिद्धसेन आदि आचार्य मानते हैं कि केवली निश्चित रूप से एक समय में जानते-देखते हैं, छद्मस्थ नहीं ।

जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण आदि अन्य आचार्यों की मान्यता है — केवली एक समय में जानते हैं, एक समय में देखते हैं ।

(केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग के बारे में तीन मत मिलते हैं — क्रमवाद, युगपत्वाद और अभेदवाद । क्रमवाद आगमानुसारी है । उसके मुख्य प्रवक्ता हैं — जिनभद्रगणि । युगपत्वाद के प्रवक्ता हैं — मल्लवादी । अभेदवाद के प्रवक्ता हैं — सिद्धसेन दिवाकर । देखें — भगवती भाष्य ८।१८८ का टिप्पण ।)

## ३. केवली का बोलना वचनयोग

केवलनाजेणत्थे, नाउं जे तत्थ पण्णवणजोगे ।

ते भासइ तित्थयरो, वइजोग तयं हवइ सेसं ॥

(नन्दी ३३।२)

तीर्थंकर केवलज्ञान के द्वारा अर्थों को जानते हैं, उनमें जो प्रज्ञापन योग्य हैं, उनका निरूपण करते हैं, वह उनका वचनयोग है, शेष द्रव्यश्रुत है ।

केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिः प्रोच्यमानस्तस्य भगवतो वाग्योग एव भवति, न श्रुतम् । तस्य भाषापर्याप्त्यादिनामकर्मोदयनिबन्धनत्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात् । स च वाग्योगः... श्रोतृणां भावश्रुतकारणतया द्रव्यश्रुतं व्यवह्रियते । (नन्दीमवृ प १३९)

अर्हत् केवलज्ञान से परिज्ञात तत्व को शब्दों से प्रतिपादित करता है, वह अर्थबोधक शब्दराशि अर्हत् का वचनयोग है, श्रुतज्ञान नहीं । क्योंकि वह वचनयोग भाषा पर्याप्त आदि नामकर्म के उदय से होता है और श्रुतज्ञान क्षयोपशमजन्य है । वह वचनयोग श्रोता के भावश्रुत का हेतु होने के कारण द्रव्यश्रुत कहलाता है ।

## ४. केवली नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी

खयनाणी कि सण्णी न होइ होइ व खओवसमनाणी ।

सण्णा सरणमणागयचिंता य न सा जिणे जम्हा ॥

(विभा ५१८)

क्षायोपशमिक ज्ञानी संज्ञी होते हैं, क्षयज्ञानी (केवली) संज्ञी नहीं होते । संज्ञा का अर्थ है — अतीत का स्मरण और अनागत का चिन्तन । केवली इस संज्ञा से अतीत होते हैं — वे नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी होते हैं ।

## ५. केवली के ईर्यापथिक बंध

जाव सजोगी भवइ ताव य इरियावहियं कम्मं बंधइ सुहफरिसं दुसमयठिइयं । तं पढमसमए बद्धं विइयसमए वेइयं तइयसमए निज्जिण्णं । तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ । (उ २९।७२)

जब तक मुनि सयोगी होता है तब तक उसके ईर्यापथिक कर्म का बंध होता है । वह बंध सुख-स्पर्श होता है । उसकी स्थिति दो समय की होती है । वह प्रथम समय में बंधता है, दूसरे समय में उसका वेदन होता है और तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाता है । वह कर्म बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय में आता है, भोगा जाता है, नष्ट हो जाता है और अन्त में अकर्म भी हो जाता है ।

## ६. केवली : कायनिरोध ध्यान

होज्ज न मणीमयं वाइयं च भाणं जिणस्स तदभावे ।  
कायनिरोहपयत्तस्सभावमि कोह निवारइ ? ॥

(विभा ३०७२)

केवली के मन, वचन का अभाव होने पर भले ही मानसिक या वाचिक ध्यान न हो, परन्तु कायनिरोध का प्रयत्न रूप ध्यान क्यों नहीं होगा ?

### ७. केवली : योगनिरोध की प्रक्रिया

पञ्जत्तमित्तसन्निसस जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स ।  
 होति मणोदब्बाइं तब्बावारो य जम्मत्तो ॥  
 तदसंखगुणविहीणं समए समए निहंभमाणो सो ।  
 मणसो सव्वनिरोहं करे असंखेज्जसमएहि ॥  
 पञ्जत्तमेत्तविदियजहन्नवज्जोगपज्जया जे उ ।  
 तदसंखगुणविहीणे समए समए निहंभतो ॥  
 सव्ववज्जोगरोहं संखाईएहि कुणइ समएहि ।  
 तत्तो य सुहुमपणयस्स पढमसमओववन्नस्स ॥  
 जो किर जहन्नजोगो तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केक्के ।  
 समए निहंभमाणो देहतिभागं च मुंचतो ॥  
 हंभइ स कायजोगं संखाईएहि चव समएहि ।  
 तो कयजोगनिरोहो सेलेसीभावयामेइ ॥

(विभा ३०५९-३०६४)

केवली का जीवनकाल जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है, तब वह मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध करता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—

शुक्ल ध्यान के तृतीय चरण (सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति) में वर्तता हुआ वह सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करता है। जो जीव पर्याप्त है, संजी है, जघन्य मनयोगी (सबसे कम मन की प्रवृत्ति करने वाला) है, उसके जितने मनोद्रव्य (मन के पुद्गल) हैं और उनका जितना व्यापार (प्रवृत्ति) है, उससे असंख्येय गुणहीन मनोद्रव्य और व्यापार का प्रतिसमय निरोध करते-करते असंख्य समयों में उसका पूर्ण निरोध करता है।

उसके पश्चात् वचन योग का निरोध करता है। पर्याप्तमात्र द्वीन्द्रिय प्राणी के जघन्य वचनयोग के पर्यायों से असंख्येय गुणहीन वचनयोग-पर्यायों का प्रतिसमय निरोध करते-करते असंख्य समयों में वचनयोग का पूर्ण निरोध करता है। फिर काययोग का निरोध करता है। प्रथम समय के उत्पन्न सूक्ष्म धनक जीव के जघन्य काययोग से असंख्येय गुणहीन काययोग के पुद्गल और व्यापार का प्रतिसमय निरोध करते-करते तथा शरीर की अवगाहना के तीसरे भाग को छोड़ते (बोले भाग को पूरित करते) हुए असंख्य समयों में काययोग का (श्वासोच्छ्वास सहित) पूर्ण निरोध करता है। पूर्ण योगनिरोध होते ही अयोगी या शैलेशी अवस्था प्राप्त हो

जाती है।

अन्तोमुहुत्तद्वावसेसाउए जोगनिरोहं करमाणे सुहुम-  
 किरियं अप्पडिवाइसुक्कज्झाणं भायमाणे तप्पढमयाए  
 मणजोगं निहंभइ, निहंभित्ता वज्जोगं निहंभइ,  
 निहंभित्ता आणापाणुनिराहं करेइ, करेत्ता ईसि  
 पंचरहस्सक्खरुच्चारद्वाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं  
 अनियट्टिसुक्कज्झाणं क्रियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं  
 गोत्तं च एए चत्तारि वि कम्मसे जुगवं खवेइ ।

(उ २९।७३)

केवली होने के पश्चात् वह शेष आयुष्य का निर्वाह करता है। जब अन्तर्मुहूर्त परिमाण आयु शेष रहती है, तब वह योगनिरोध करने में प्रवृत्त होता है। उस समय सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान में लीन बना हुआ वह सबसे पहले मनोयोग का निरोध करता है, फिर वचनयोग का निरोध करता है, उसके पश्चात् आनापान (उच्छ्वास-निःश्वास) का निरोध करता है। उसके पश्चात् स्वल्पकाल तक—पांच ह्रस्वाक्षरों—अ इ उ ऋ लृ का उच्चारण किया जाए, उतने काल तक समुच्छिन्न-क्रियाअनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में लीन बना हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—इन चारों विद्यमान कर्मों को एक साथ क्षीण करता है।

### ८. केवली : शैलेशी अवस्था

हस्सक्खराइं मज्झेण जेण कालेण पंच भण्णंति ।  
 अत्थइ सेलेसिगओ तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥  
 तणुरोहारंभाओ भायइ सुहुमकिरियानियट्टि सो ।  
 वुच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइं सेलेसिकालम्मि ॥

(विभा ३०६८, ३०६९)

‘अ इ उ ऋ लृ’—इन पांच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण काल तक केवली शैलेशी अवस्था में रहता है। यह उच्चारण न अतिशीघ्र होता है, न प्रलम्ब, किन्तु मध्यम भाव में होता है। काययोग के निरोध के प्रारंभ समय में सूक्ष्मक्रियाअनिवृत्ति रूप शुक्लध्यान होता है और शैलेशी अवस्था के समय समुच्छिन्नक्रियाअप्रतिपाति रूप शुक्ल-ध्यान होता है। (शुक्लध्यान के अंतिम दो विभागों के ये नाम एक मतान्तर है।)

### ९. केवली जीविताशंसा से मुक्त

अकेवलिनो हि संयमजीवितं दीर्घमिच्छेयुरपि,  
 मुक्त्यवाप्ति इतः स्यादिति । केवलिनस्तु तदपि नेच्छन्ति,  
 आस्तां भवजीवितमिति । (उशावृ प २४२)

छद्मस्थ मुनि दीर्घ संयमी जीवन की इच्छा कर सकता है, इसलिए कि वर्तमान जीवन में मुक्ति हो जाये। केवली दीर्घायु जीवन की इच्छा नहीं करते। वे कृतकृत्य हो चुके हैं, इसलिए उनके जीवन का प्रयोजन शेष नहीं रहा।

### १०. केवली छद्मस्थ को वन्दना करते हैं

ववहारोऽविह बलवं जं छुमत्थपि वंदई अरहा।

जा होइ अणाभिण्णो जाणंतो धम्मयं एयं ॥

(आवभा १२३)

व्यवहार भी बलवान होता है, क्योंकि अहंतू (केवली) छद्मस्थ को भी उस समय तक वन्दना करते हैं, जब तक वे (अहंतू) केवली के रूप में अज्ञात रहते हैं। यह उनका आचार है।

जहाहियग्गी जलणं नमसे, नाणाहुईमंतपयाभिसितं।

एवायरियं उवचिदुएज्जा, अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥

(द ९।१।११)

जैसे आहिताग्नि ब्राह्मण विविध आहुति और मंत्र-पदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञानसम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनय-पूर्वक सेवा करे।

**केवली समुद्घात—**केवली के वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात।

समो आयुषो कर्मणा उद्घातः समुद्घातः सव्वे जीवपदेसे विसारेति, एवं सिग्धं कम्मं खविज्जति..... पढममेव अंतोभुहुत्थियमुदीरणावलिकायां कम्मपक्खेवाइ-रूवं परिस्पन्दनं गच्छति। (आवचू १ पृ ५७९)

जिस प्रयत्न में प्रबलता से कर्मों की स्थिति और अनुभाग का समीचीन उद्घात होता है, वह केवली समुद्घात है। उनमें उदीरणावलिका में प्रविष्ट कर्म-पुद्गलों का प्रक्षेपण होता है—वेदनीय कर्मदलिकों को आयुष्य कर्मदलिकों के समान करने के लिए सब आत्म-प्रदेशों का लोकाकाश में निस्सरण होता है और कर्मों का शीघ्रता से क्षय होता है। इसका कालमान है—अन्तर्मुहूर्त (आठ समय)।

**केवली समुद्घात कब और क्यों ?**

नाऊण वेयणज्जं अइवहुअं आउअं च थोवागं।

गंतूण समुग्घायं खवेति कम्मं निरवसेसं ॥

जह उल्ला साडीया आसुं सुवकइ विरत्तिया संती।  
तह कम्मलहुयसमए वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥

(आवनि ९५४, ९५६)

वेदनीय कर्म की बहुलता और आयुष्यकर्म की अल्पता को जानकर केवली समुद्घात करते हैं और अशेष कर्मों का क्षय कर देते हैं।

जिस प्रकार आर्द्र वस्त्र फैलाने पर शीघ्र ही सूख जाता है, उसी प्रकार केवली-समुद्घात से कर्मों की दीर्घकालिक स्थिति अल्प हो जाती है।

कम्मलहुयार समओ भिन्नमुहुत्तावसेसओ कालो।

अन्ने जहन्नमेयं छम्मासमुक्कोसमिच्छंति ॥

(विभा ३०४८)

केवली के जब अन्तर्मुहूर्त आयुष्य शेष रहता है तब वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति और आयुष्यकर्म की स्थिति को समान करने के लिए केवली समुद्घात का आरम्भ करते हैं। कुछ आचार्यों की मान्यता है—केवली के जब जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट आयुष्य छह मास का रहता है, तब केवली समुद्घात करते हैं।

अन्तर्मुहूर्तमादिक्रत्वोत्कर्षेण आमासेभ्यः षड्भ्यः आयुषोऽवशिष्टेभ्यः अभ्यन्तर आविर्भूतकेवलज्ञानपर्यायाः ते नियमात्समुद्घातं कुर्वन्ति। ये तु षण्मासेभ्य उपरिष्ठा-दाविर्भूतकेवलज्ञानाः शेषास्ते समुद्घातकाद् बाह्याः, ते समुद्घातं न कुर्वन्तीत्यर्थः.....षाण्मासिकावशिष्टे आयुषि आविर्भूतकेवल-ज्ञानपर्यायेभ्यः सकाशात् षड्भ्यो मासेभ्यः ये उपरि समयोत्तरवृद्ध्याऽवशिष्टे आयुषि शेषे आविर्भूतज्ञानाः केवलिनः ते शेषाः समुद्घातं प्रति भाज्याः.....अथवा येषां बहु संवेद्यमस्ति आयुच्छाल्पमव-तिष्ठते ते नियमात्समुद्घातं कुर्वन्ति नेतर इति।

(आवचू १ पृ ५७०)

अंतर्मुहूर्त से लेकर अधिकतम छह माह आयु शेष रहने पर जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है, वे निश्चित रूप से समुद्घात करते हैं। कैवल्यप्राप्ति के समय जिनकी आयु छह माह से अधिक होती है, वे समुद्घात नहीं करते।

कैवल्यप्राप्ति के समय जिनकी आयु छह माह से अधिक है, उनकी जब छह माह आयु शेष रहती है, तब उनमें से कुछ समुद्घात करते हैं, कुछ नहीं करते। अथवा जिनके वेदनीय आदि कर्म अधिक तथा आयुष्य कर्म अल्प होता है, वे केवली नियमतः समुद्घात करते हैं।

## समुद्घात की विधि

दंड कवाडे मंथंतरे अ साहरणया सरीरत्थे ।  
भासाजोगनिरोहे सेलेसी सिज्झणा चेव ॥

(आवनि ९५५)

केवली आत्मप्रदेशों को प्रथम चार समय में क्रमशः दंड, कपाट, मंथान और मंथान्तर (अन्तरावगाह) के आकार में पूरे लोक में फैलाता है, पांचवें, छठे, सातवें, आठवें समय में पुनः प्रतिलोम क्रम से आत्मप्रदेशों का संहरण करता है। समुद्घात के समय वचनयोग नहीं रहता, तत्पश्चात् वह शैली अवस्था को प्राप्त कर सिद्ध हो जाता है।

न किर समुद्घायगओ मण-वइजोगप्पओयणं कुणइ ।  
ओरालियजोगं पुण जुंजइ पढमट्टमे समए ॥  
उभयव्ववाराओ तम्मिसं वीय-छट्ट-सत्तमए ।  
ति-वउत्थ-पंचमे कम्मयं तु तम्मत्तचेट्टाओ ॥

(विभा ३०५४, ३०५५)

केवली समुद्घात में मनयोग और वचनयोग का व्यापार नहीं होता। पहले और आठवें समय में औदारिक काययोग होता है। दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र और तीसरे, चौथे, पांचवें समय में कामेणकाययोग होता है।

**क्षायिक भाव**—कर्मों के क्षय से होने वाली आत्मा की अवस्था। (द्र. भाव)

**क्षायिक सम्यक्त्व**—अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन मोहनोय त्रिक—इन सात प्रकृतियों के क्षय से प्राप्त होने वाला सम्यक्त्व। (द्र. सम्यक्त्व)

**क्षायोपशमिक भाव**—चार घात्यकर्मों के विपाक-वेदन के अभाव से होने वाली आत्मा की अवस्था। (द्र. भाव)

**क्षीणमोह गुणस्थान**—जिसका मोह क्षीण हो जाता है, उस प्राणी की आत्मविशुद्धि, बारहवां गुण-स्थान। (द्र. गुणस्थान)

**क्षुल्लक भव**—सबसे छोटा भव २५६ आवलिका का होता है—बो य सया छप्पन्ना आवलियाणं तु खुल्लभवमाणं ।

(विभामव २ पृ ३०३)

**गणधर**—१. तीर्थंकर द्वारा स्वयं अनुज्ञात गण को धारण करने वाले—‘तित्यमरोहि सयमणुम्नातं गणं धारंति त्ति गणहरा ।’

(आवव १ पृ ८६)

२. सूत्रागम के कर्त्ता—‘मूलसूत्रकर्त्तारो गणधरा उच्यन्ते ।’ (आवहाव १ पृ ९४)

१. गणधर : एक परिचय

२. गणधर : जिज्ञासा समाधान

३. गणधरों के अतिशेष

४. गणधरों द्वारा आगम (द्वादशांग) रचना

\* द्वादशांग (द्र. अंगप्रविष्ट)

५. आगम रचना का प्रयोजन

\* गणधरों द्वारा पूर्वों की रचना (द्र. पूर्व)

६. गणधर और धर्मदेशना

७. गण और गणधर

८. गणधर सुधर्मा की शिष्य परम्परा

\* तीर्थंकरों की गणधर-सम्पदा (द्र. तीर्थंकर)

\* गणधर तीर्थ है (द्र. तीर्थ)

**गणधर : एक परिचय**

पढमित्थ इवभूर्ई बीए पुण होइ अग्निभूर्इ त्ति ।  
तइए य वाउभूर्ई तओ वियत्ते सुहम्मो य ॥  
मंडिय-मोरियपुत्ते अकंपिए चेव अयलभाया य ।  
मेयज्जे य पहासे य गणहरा हुंति वीरस्स ॥  
(तन्दी गाथा २०, २१)

**गणधर**

- |               |               |
|---------------|---------------|
| १. इन्द्रभूति | ७. मौर्यपुत्र |
| २. अग्निभूति  | ८. अकंपित     |
| ३. वायुभूति   | ९. अचलभ्राता  |
| ४. व्यक्त     | १०. मेतार्य   |
| ५. सुधर्मा    | ११. प्रभास    |
| ६. मंडित      |               |

**स्थान**

मगहा गोब्वरगामे जाया तिण्णेव गोयमसगोत्ता ।  
कोल्लामसन्निवेसे जाओ विअत्तो सुहम्मो य ॥  
मोरियसन्निवेसे दो भायरो मंडिमोरिया जाया ।  
अयलो य कोसलाए महिलाए अकंपिओ जाओ ॥  
तुंगीयसन्निवेसे मेयज्जो वच्छभूमिए जाओ ।  
भभवंपि य प्पभासो रायगिहे गणहरो जाओ ॥

(आवनि ६४३-६४५)

**जन्म-नक्षत्र**

जेढा कित्तिय साई सवणो हत्थुत्तरा महाओ य ।  
रोहिणि उत्तरसाढा मिगसिर तह अस्सिणी पुसो ॥  
(आवनि ६४६)

**पिता**

वसुभूई धणमित्ते धम्मिल धणदेव मोरिए चेव ।  
देवे वसू य दत्ते बले य पियरो गणहराणं ॥  
(आवनि ६४७)

**माता**

पुहवी य वारुणी भदिला य विजयदेवा तहा जयंती य ।  
णंदा य वरुणदेवा अइभहा य मायरो ॥  
(आवनि ६४८)

**गोत्र**

तिष्णि य गोयमगोत्ता भारहा अग्गिबेसवासिढा ।  
कासवगोयमहारिय कोडिण्णदुगं च गोत्ताइं ॥  
(आवनि ६४९)

**गृहस्थ पर्याय**

पण्णा छायालीसा बायाला होइ पण्ण पण्णा य ।  
तेवण्ण पंचसट्ठी अडयालीसा य छायाला ॥  
छत्तीसा सोलसगं अगारवासो भवे गणहराणं ।...  
(आवनि ६५०, ६५१)

**धर्मस्थ मुनि पर्याय**

तीसा बारस दसगं बारस बायाल चोहसदुगं च ।  
णवगं बारस दस अदुगं च छउमत्थपरियाओ ॥  
(आवनि ६५२)

**जिन पर्याय**

बारस सोलस अट्टारसेव अट्टारसेव अट्ठेव ।  
सोलस सोल तहेकवीस चोद सोले य सोले य ॥  
(आवनि ६५४)

**सर्वं आयु**

बाणउई चउहत्तरि सत्तरि तत्तो भवे असीई य ।  
एणं च सयं तत्तो तेसीई पंचणउई य ॥  
अट्टत्तरि च वासा तत्तो वावत्तरि च वासाइं ।  
वावट्ठी चत्ता खलु सव्वगणहराउयं एयं ॥  
(आवनि ६५५, ६५६)

**शिष्य संपदा**

पंचण्हं पंचसया अद्घुट्टसया य होति दोण्ह गणा ।  
दोण्हं तु जुयलयणं तिसओ तिसओ भवे गच्छो ॥  
(आवनि ५९७)

**गणधर**

गणधर	स्थान	जन्म-नक्षत्र	पिता	माता	गोत्र	गृहस्थ पर्याय	छायास्थ मुनि पर्याय	जिनपर्याय	सर्वं आयु	शिष्य संपदा
१. इन्द्रभूति	गाबर ग्राम	उषेष्ठा	वसुभूति	पृथ्वी	गौतम	५० वर्ष	३० वर्ष	१२ वर्ष	९२ वर्ष	५००
२. अग्निभूति	गाबर ग्राम	कृत्तिका	वसुभूति	पृथ्वी	गौतम	४६ वर्ष	१२ वर्ष	१६ वर्ष	७४ वर्ष	५००
३. वायुभूति	गाबर ग्राम	स्वाति	वसुभूति	पृथ्वी	गौतम	४२ वर्ष	१० वर्ष	१२ वर्ष	७० वर्ष	५००
४. व्यक्त	कोल्लाय सन्निवेश	श्रवण	धम्मिल	वारुणी	भारद्वाज	५० वर्ष	१२ वर्ष	१२ वर्ष	८० वर्ष	५००
५. सुधर्मा	कोल्लाय सन्निवेश	उत्तराफाल्गुनी	धम्मिल	भद्रिला	अग्निवैश्यायन	५० वर्ष	४२ वर्ष	८ वर्ष	१०० वर्ष	५००
६. मंडित	मौर्य सन्निवेश	मघा	धनदेव	विजयदेवी	वाशिष्ठ	५३ वर्ष	१४ वर्ष	१६ वर्ष	८३ वर्ष	३५०
७. मौर्यपुत्र	मौर्य सन्निवेश	रोहिणी	मौर्य	विजयदेवी	काश्यप	६५ वर्ष	१४ वर्ष	१६ वर्ष	९५ वर्ष	३५०
८. अकपित	कांशाल	उत्तराषाढा	देव	जयन्ती	गौतम	४८ वर्ष	९ वर्ष	२१ वर्ष	७८ वर्ष	३००
९. अचलभ्राता	मिथिला	मृगशिरस	वसु	नन्दा	हरितायन	४६ वर्ष	१२ वर्ष	१४ वर्ष	७२ वर्ष	३००
१०. मेताय	तुंगिका सन्निवेश	अश्विनी	दत्त	वरुणदेवा	कोण्डिन्य	३६ वर्ष	१० वर्ष	१६ वर्ष	६२ वर्ष	३००
११. प्रभास	राजगृह	पुष्य	बल	अतिभद्रा	कोण्डिन्य	१६ वर्ष	८ वर्ष	१६ वर्ष	४० वर्ष	३००

## २. गणधर : जिज्ञासा-समाधान

जीवे कम्मे तज्जीव भूय तारिसय बंधमोक्खे य ।  
देवी षेरइए या पुण्णे परलोय णेव्वाणे ॥

(आवनि ५९६)

### जिज्ञासाएं

१. इन्द्रभूति—जीव है या नहीं ?
२. अग्निभूति—कर्म है या नहीं ?
३. वायुभूति—शरीर ही जीव है या अन्य ?
४. व्यक्त—भूत है या नहीं ?
५. सुधर्मा—इस भव में जीव जैसा है, परभव में भी वैसा ही होता है या नहीं ?
६. मंडित—बन्ध-मोक्ष है अथवा नहीं ?
७. मौर्यपुत्र—देव है अथवा नहीं ?
८. अकंपित—नारक है अथवा नहीं ?
९. अचलभ्राता—पुण्य-पाप है अथवा नहीं ?
१०. मेतार्य—परलोक है अथवा नहीं ?
११. प्रभास—निर्वाण है अथवा नहीं ?

### गणधर इन्द्रभूति

जीवे तुह संदेहो, पच्चक्खं जं न विप्पइ षडो व्व ।  
अर्च्चतापच्चक्खं च णत्थि सोए खपुप्फं व ॥

(विभा १५४९)

श्रमण महावीर ने कहा—इन्द्रभूति ! तुम्हें जीव के अस्तित्व में संदेह है। तुम मानते हो कि घट की भांति उसका प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं होता। जो अत्यन्त परोक्ष है, उसका आकाशकुसुम की भांति अस्तित्व नहीं होता।

ण य सोऽणुमाणगम्मो जम्हा पच्चक्खपुव्वयं तं पि ।  
पुव्वोवलद्धसंबंधसरओ सरणओ लिगलिगीणं ॥

(विभा १५५०)

जीव का अस्तित्व अनुमानगम्य भी नहीं है। क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। पहले से जाने हुए साध्य और साधन की स्मृति व्याप्ति के ज्ञान से होती है।  
ण य जीवलिगसंबंधदरिसणमभू जओ पुणो सरओ ।  
तल्लिगदरिसणाओ, जीवे संपच्चओ होज्जा ॥

(विभा १५५१)

जीव को प्रमाणित करने वाले हेतु की व्याप्ति पूर्व-दृष्ट नहीं है, जिससे कि उसकी स्मृति हो सके, उसके हेतु को देखकर जीव की संप्रत्यय—प्रतीति हो सके।

नागमगम्मो वि तओ, भिज्जइ जं नागमोऽणुमाणाओ ।

न य कासइ पच्चक्खो, जीवो जस्सागभो वयणं ॥

जं चागमा विरुद्धा, परोप्परमओ वि संसओ जुत्तो ।  
सच्चप्पमाणविसयाईओ जीवो त्ति तो बुद्धी ॥

(विभा १५५२, १५५३)

आगम प्रमाण से भी जीव की सिद्धि नहीं हो सकती। आगम प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न नहीं है। ऐसा कोई आप्तपुरुष नहीं है, जिसने जीव का साक्षात्कार किया हो जिसके आधार पर उसके वचन को आगम माना जा सके।

आगम परस्पर विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए तुम्हारा जीव के अस्तित्व में संशय होना संभव है। तुम्हारा मत है कि जीव सब प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से अतीत है।

गोयम ! पच्चक्खो च्चिचय, जीवो जं संसयाइ विष्णाणं ।  
पच्चक्खं च न सज्जं, जह सुहदुक्खा सदेहम्मि ॥  
(विभा १५५४)

गौतम ! तुम्हें संशयात्मक विज्ञान होता है, इसलिए जीव प्रत्यक्ष है। जो प्रत्यक्ष है, वह साध्य नहीं होता। जैसे शरीर में होने वाला सुख-दुःख का संवेदन।

जं च न लिगेहि समं, मन्नसि लिभो जओ पुरा गहिओ ।  
संगं ससेण व समं, न लिगओ तोऽणुमेओ सो ॥  
(विभा १५६५)

तुम मानते हो कि जीव को सिद्ध करने वाले हेतु का संबंध (व्याप्ति) प्रत्यक्ष प्रमाण से पूर्व गृहीत नहीं है। जैसे खरगोश के साथ सींग का संबंध। इसलिए जीव हेतु द्वारा अनुमेय नहीं है।

सोऽणुमेतो जम्हा, लिगेहि समं न दिट्ठपुव्वो वि ।  
गहल्लिगदरिसणाओ, गहोऽणुमेओ सरीरम्मि ॥

(विभा १५६६)

पूर्वदृष्ट हेतु के साथ साध्य को देखा हो तभी उस हेतु से साध्य की सिद्धि होती है, यह एकांत नियम नहीं है। हमने ग्रह (देवयोनि विशेष) को हास्य, रुदन आदि हेतुओं के साथ नहीं देखा फिर भी व्यक्ति के शरीर में इन लक्षणों को देख उसका अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार साधन के अभाव में भी जीव का अनुमान हो सकता है।

छिन्नम्मि संसयम्मि, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।  
सो समणो पव्वइओ, पंचाहि सह खंडियसएहि ॥

(विभा १६०४)

जरा और मृत्यु से मुक्त भगवान महावीर की बानी सुन इन्द्रभूति का संशय छिन्न हो गया। उसने अपने ५०० शिष्यों के साथ भगवान महावीर के पास प्रब्रज्या स्वीकार कर ली।

### गणधर अग्निभूति

किं मणिं अत्थि कम्मं, उदाहु णत्थित्ति संसओ तुज्झं ।  
(आवनि ६०४)

कम्मे तुह संदेहो, मन्नसि तं नाणमोयराईयं ।

तुह तमणुमाणसाहणमणुभूइमयं फलं जस्स ॥

(विभा १६११)

अग्निभूति ! तुम्हारे मन में यह संदेह है कि कर्म है अथवा नहीं। तुम यह मानते हो कि कर्म प्रत्यक्ष आदि किसी ज्ञान का विषय नहीं होता। पर उसका फल अनुभूति का विषय है, इसलिए तुम अनुमान से उसे जान सकते हो।

अत्थि सुह-दुक्खहेउं, कज्जाओ बीयमंकुरस्सेव ।

सो दिट्ठो चेव मई, वभिचाराओ न तं जुत्तं ॥

(विभा १६१२)

अग्निभूति—सुख-दुःख कार्य हैं। उनके हेतु—कारण दृष्ट हैं। जैसे अंकुर का हेतु बीज। फिर अदृष्ट कर्म को मानने की क्या आवश्यकता है? महावीर—दृष्टकारण यदि अनेकांतिक हो तो अदृष्टकारण मानना अपेक्षित है।

जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो ण सो विणा हेउं ।

कज्जत्तणओ मोयम ! घडो व्व हेऊ य सो कम्मं ॥

(विभा १६१३)

जिसके साधन समान हों और फल में वैषम्य हो तो वह अहेतुक नहीं है। घट कार्य है। कार्य का कारण अवश्य होता है। तुल्य साधन होने पर भेद नहीं होता। तुल्य साधन होने पर भी कार्य में भेद होता है, उसका हेतु है—कर्म।

बालसरीरं देहंतरपुव्वं इंदियाइमत्ताओ ।

जह बालदेहपुव्वो, जुवदेहो पुव्वमिह कम्मं ॥

(विभा १६१४)

बालक का शरीर अन्य शरीरपूर्वक होता है। क्योंकि वह इन्द्रिय आदि से युक्त है। जैसे युवकशरीर बालशरीर पूर्वक होता है, वैसे ही बालकशरीर जिस शरीरपूर्वक होता है, वही है कर्म—कामंण शरीर।

### गणधर वायुभूति

तज्जीवतस्सरीरं ति, संसओ णवि य पुच्छसे किचि ।

(आवनि ६०८)

वायुभूति ! तुम्हारे मन में यह संशय है कि जो जीव है, वही शरीर है। तुम चाहने पर भी इस संबंध में कुछ पूछ नहीं रहे हो।

वसुहाइभूयसमुदयसंभूया चेयण त्ति ते संका ।

पत्तेयमदिट्ठा वि हु, मज्जंगमउ व्व समुदाये ॥

जह मज्जंमेसु मओ, वीसुमदिट्ठो वि समुदए होउं ।

कालंतरे विणस्सइ, तह भूयगणम्मि चेयण्णं ॥

(विभा १६५०, १६५१)

तुम्हारा यह संशय है कि पृथ्वी, पानी आदि भूत-समुदाय से चेतना उत्पन्न होती है। जैसे मद्य के प्रत्येक अवयव—फूल, गुड़, पानी आदि में मदशक्ति दिखाई नहीं देती, परन्तु उनके समुदाय में मदशक्ति प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार पृथ्वी, पानी आदि अलग-अलग भूतों में चैतन्यशक्ति दिखाई नहीं देती, उनके समुदाय में वह दृष्ट हो जाती है।

मद्य के प्रत्येक अवयव में मदशक्ति नहीं होती, समुदाय में वह हो जाती है और कालान्तर में विनष्ट हो जाती है। उसी प्रकार प्रत्येक भूत में अदृष्ट चैतन्य भूतसमुदाय में दृष्ट होता है और कालान्तर में वह विनष्ट हो जाता है।

पत्तेयमभावाओ, ण रेणुतेल्लं व समुदये चेया ।

मज्जंमेसुं तु मओ, वीसुं पि ण सव्वसो णत्थि ॥

(विभा १६५२)

मद्य के प्रत्येक अवयव में मदशक्ति नहीं है तो वह उनके समुदाय होने पर भी नहीं हो सकती। जैसे बालू के एक-एक कण में तैल नहीं होता, वैसे ही उनका समुदाय होने पर भी तैल नहीं होता।

### गणधर व्यक्त

किं मणिं पंचभूया, अत्थि णत्थि त्ति संसओ तुज्झं ।

(आवनि ६१२)

व्यक्त ! तुम्हारे मन में यह संशय है कि पांच भूतों का अस्तित्व है या नहीं।



भूयाइससयाओ, जीवाइसु का कह त्ति ते बुद्धी ।  
तं सब्वसुण्णसंकी, मन्नसि मायोवमं लोयं ॥

(विभा १६९१)

भूत आदि प्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में भी जब तुम संदिग्ध हो तो फिर जीव आदि परोक्ष पदार्थों का ज्ञान तुम्हें कैसे होगा ? इसलिए तुम शून्यवाद को स्वीकार कर विश्व को इन्द्रजाल के समान मानते हो ।

मा कुरु वियत्त ! संसयमसइ न संसयसमुब्भवो जुत्तो ।  
खकुसुम-खरसिगेसु व, जुत्तो सो थाणु-पुरिसेसु ॥  
(विभा १६९७)

व्यक्त ! तुम ऐसा संशय मत करो । पदार्थ का अस्तित्व नहीं है तो संशय उत्पन्न ही नहीं होगा । आकाशकुसुम और गधे के सींग के विषय में क्या कभी संशय होता है ? यह स्तंभ है या पुरुष ? ऐसा संशय हो सकता है, क्योंकि स्तम्भ और पुरुष दोनों का अस्तित्व है ।

को वा विसेसहेऊ, सब्वाभावे वि थाणु-पुरिसेसु ।  
संका न खपुप्फाइसु, विवज्जओ वा कहं न भवे ॥  
(विभा १६९८)

ऐसा कौन-सा विशेष हेतु है, जिसके कारण सब पदार्थों का अभाव होने पर भी स्तंभ और पुरुष विषय में संदेह होता है, आकाशकुसुम और गधे के सींग के विषय में नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि आकाशकुसुम की भांति सब कुछ शून्य नहीं है ।

### गणधर सुधर्मा

कि मण्णि जारिसो इहभवाम्मि, सो तारिसो परभवेऽवि ।  
(आवनि ६१६)

सुधर्मा ! तुम्हारा मानना है कि जीव जैसा इस भव में होता है वैसा ही परभव में होता है ।

कारणसरिसं कज्जं, बीयस्सेवंकुरो त्ति मण्णंतो ।  
इहभवसरिसं सब्बं, जमवेसि परे वि तमजुत्तं ॥

(विभा १७७३)

तुम यह मानते हो कि कारण जैसा ही कार्य होता है, जैसा बीज वंसा अंकुर । इसी प्रकार इस जन्म जैसा ही अगला जन्म होता है, किन्तु तुम्हारा यह मत संगत नहीं है ।

जाइ सरो सिगाओ, भूतणओ सासवाणुलित्ताओ ।  
संजामइ गोलोमाऽविलोमसंजोगओ कुव्वा ॥

(विभा १७७४)

सींग से सर वनस्पति उत्पन्न होती है । उस वनस्पति पर यदि सरसों का लेप कर दिया जाये तो उससे भूतृण (एक प्रकार की घास) उत्पन्न होती है । गाय एवं बकरी के बालों से दूब उत्पन्न होती है ।

इति हक्खायुव्वेदे, जोणिविहाणे य विसरिसेहितो ।  
दीसइ जम्हा जम्मं, सुहम्म ! तो नायमेगंतो ॥  
(विभा १७७५)

वृक्षायुर्वेद और योनिप्राभृत में यह सिद्धांत प्रतिपादित है कि कार्य कारण से विलक्षण भी हो सकता है । इसलिए सुधर्मा ! तुम्हारी उपर्युक्त मान्यता एकांततः सम्यक् नहीं है ।

अहव जउ च्चिय बीयाणुरूवजम्मं मयं तओ चेव ।  
जीवं गिण्ह भवाओ, भवंतरे चित्तपरिणामं ॥

(विभा १७७६)

यदि तुम कारण के अनुरूप कार्य मानते हो तो भी तुम्हें जीव को वर्तमान जन्म से अगले जन्म में भिन्न मानना होगा । क्योंकि भवांकुर का बीज मनुष्य नहीं, कर्म है ? वह विचित्र प्रकार का होता है ।

### गणधर मंडित

कि मण्णि बंधमोक्खा, अत्थि ण अत्थित्ति संसओ तुज्झं ।  
(आवनि ६२०)

तं मण्णसि जइ बंधो, जोगो जीवस्स कम्मणा समयं ।  
पुव्वं पच्छा जीवो, कम्मं व समं व ते होज्जा ॥  
(विभा १८०५)

मंडित ! बंध और मोक्ष है या नहीं—तुम्हारे मन में यह संदेह है ।

तुम्हारा मानना है कि जीव के साथ कर्म का संयोग ही यदि बंध है तो पहले जीव और पश्चात् कर्म उत्पन्न हुआ अथवा पहले कर्म और पश्चात् जीव उत्पन्न हुआ अथवा दोनों एक साथ उत्पन्न हुए—यह प्रश्न अनुत्तरित है, इसलिए न बन्ध है और न मोक्ष ।

संताणोऽण्णार्इओ, परोप्परं हेउ-हेउभावाओ ।  
देहस्स य कम्मस्स य, मंडिय ! बीयंकुराणं व ॥

(विभा १८१३)

मंडित ! शरीर और कर्म की संतति अनादि है । क्योंकि इनमें बीज और अंकुर के समान परस्पर कार्य-कारण भाव है ।

अत्थि स देहो जो, कम्मकारणं जो य कज्जमण्णस्स ।  
कम्मं च देहकारणमत्थि य जं कज्जमण्णस्स ॥

(विभा १८१४)

शरीर से कर्म और कर्म से शरीर की उत्पत्ति का क्रम भी अनादिकाल से चला आ रहा है। इसलिए शरीर और कर्म की संतति भी अनादि है।

तो किं जीव-नहाण व, अह जोगो कंचणोवलाणं व ?  
जीवस्स य कम्मस्स य, भण्णइ दुविहो वि न विरुद्धो ॥

(विभा १८२०)

क्या जीव और कर्म का संयोग जीव और आकाश के समान अनादि अनन्त है अथवा सोने और मिट्टी के समान अनादि सांत है? जीव में दोनों प्रकार का संयोग घटित हो सकता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। अनादि सांत संयोग की अवस्था में ही मोक्ष संभव बनता है।

### गणधर मौर्यपुत्र

किं मन्नसि संति देवा उयाहु न सन्तीति संसओ तुज्झं ।  
(आवनि ६२४)

जइ णारगा पवन्ना, पगिट्ठपावफलभोइणो तेणं ।  
सुबहुमपुण्णफलभुजो, पवज्जियव्वा सुरगणा वि ॥  
(विभा १८७४)

मौर्यपुत्र ! देवता है अथवा नहीं, तुम्हारे मन में यह संदेह है ?

यदि तुम प्रकृष्ट पाप का फल भोगने वाले नरकों को स्वीकार करते हो तो तुम्हें प्रकृष्ट पुण्य का भोग करने वाले देवों को भी स्वीकार करना चाहिए।

### गणधर अकम्पित

किं मण्णे णेरइया, अत्थि ण अत्थि त्ति संसओ तुज्झं ।  
(आवनि ६२८)

पावफलस्स पगिट्ठस्स, भोइणो कम्मओऽवसेस व्व ।  
संति ध्रुवं तेभिमया णेरइया अह मई होज्जा ॥  
(विभा १८९९)

अकम्पित ! नारक है अथवा नहीं, तुम्हारे मन में यह संदेह है ?

शेष कर्मों की भांति प्रकृष्ट पाप फल को भोगने वाले नैरयिक होते हैं, यह तुम्हारा अभिमत है।

अच्चत्थदुक्खिया जे, तिरियनरा णारग त्ति तेऽभिमया ।  
तं ण जओ सुरसोक्खप्पगरिससरिसं ण तं दुक्खं ॥

(विभा १९००)

तुम्हारे इस मत के अनुसार अत्यन्त दुःखी जो मनुष्य और तिर्यंच हैं, वे ही नारक हैं। परन्तु यह अभिमत समीचीन नहीं है। जैसे देवों में प्रकृष्ट सुख होता है, वैसे ही नरक में प्रकृष्ट दुःख होता है। यदि तुम प्रकृष्ट सुख वाले देवों को स्वीकार करते हो तो प्रकृष्ट दुःख वाले नैरयिकों को क्यों नहीं स्वीकार करते ?

### गणधर अचलभ्राता

किं मन्नि पुण्णपावं, अत्थि न अत्थित्ति संसओ तुज्झं ।  
(आवनि ६३२)

मण्णसि पुण्णं पावं, साहारणमहव दो वि भिन्नाइं ।  
होज्ज न वा कम्मं चिय, सभावओ भवपवंचोऽयं ॥  
(विभा १९०८)

अचलभ्राता ! पुण्य और पाप है अथवा नहीं, तुम्हारे मन में यह संदेह है ?

१. केवल पुण्य है, पाप नहीं है।

२. केवल पाप है, पुण्य नहीं है।

३. पुण्य और पाप साधारण है—एक ही है।

४. पुण्य और पाप दोनों स्वतन्त्र हैं।

५. पुण्य जैसा कोई कर्म नहीं है। सुख और दुःख स्वभाव से ही होता है।

सुहदुक्खाणं कारणमणुरूवं कज्जभावओऽवस्सं ।  
परमाणवो घडस्स व, कारणमिह पुण्णपावाइं ॥

(विभा १९२१)

सुख और दुःख—दोनों कार्य हैं। वे कारण के अनुरूप ही होते हैं। जैसे घट का कारण परमाणुस्कंध है, वैसे ही सुख-दुःख के कारण पुण्य-पाप हैं।

### गणधर मेतार्य

किं मण्णे परलोगो अत्थि णत्थित्ति संसओ तुज्झं ।  
(आवनि ६३६)

मन्नसि विणासि चेओ उप्पत्तिमदादिओ जहा कुंभो ।  
नणु एयं चिय साहणमविणासित्ते वि से सोम्म ॥  
(विभा १९६१)

मेतार्य ! परलोक है अथवा नहीं, तुम्हारे मन में यह संदेह है ?

मेतार्य ! तुम आत्मा को अनित्य मानते हो। तुम्हारा मत है जो उत्पत्तिधर्मा होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घट। तुम अनित्य होने का जो साधन बता रहे हो, वही साधन नित्य होने का है। उत्पत्ति धर्म है।

धर्म धर्मी में रहता है। इसलिए उत्पत्ति धर्म का जो आधार है, वह नित्य है। नित्य होता है, उसका पुनर्जन्म अवश्य होता है।

### गणधर प्रभास

किं मण्णे निव्वाणं अत्थि णत्थित्ति संसओ तुज्झं ।  
(आवनि ६४०)

पडिबज्ज मण्डओ इव वियोगमिह कम्मजीवजोगस्स ।  
तमणाइणो वि कंचण-धाऊण व णाण-किरियाहिं ॥

(विभा १९७७)

प्रभास ! निर्वाण है अथवा नहीं, तुम्हारे मन में यह संदेह है ?

मंडितपुत्र की तरह तुम इस बात को स्वीकार करो कि जीव और कर्म का संयोग अनादि है, फिर भी सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा उसका अन्त हो सकता है, जैसे सोने और धातु के विरकालिक संयोग का वियोग होता है।

### ३. गणधरों के अतिशेष

सव्वे य माहणा जच्चा, सव्वे अज्झावया विऊ ।  
सव्वे दुवालसंगी य, सव्वे चोहसपुण्विणो ॥  
परिणिव्वुया गणहरा जीवन्ते णायए णव जणा उ ।  
इंदभूई सुहम्मो य रायगिहे निव्वुए वीरे ॥  
मासं पाओवगया सव्वेऽवि य सव्वलद्धिसंपण्णा ।  
वज्जरिसहसंधयणा समचउरंसा य संठाणा ॥  
(आवनि ६५७-६५९)

सभी गणधर जाति से ब्राह्मण थे। गृहस्थ पर्याय में वे सभी विद्वान् अध्यापक (उपाध्याय) थे। दीक्षित होने पर सबने द्वादशांग और चौदह पूर्व ग्रहण किये।

सब गणधर आमश्रीषधि आदि सब लब्धियों से सम्पन्न थे। उनके वज्रकृष्णनाराच संहतन और समचतुरस्र संस्थान था। सबने प्रायोपगमन अन्तशन कर निर्वाण प्राप्त किया।

गणधर इन्द्रभूति और सुधर्मा वीरनिर्वाण के पश्चात् निर्वाण को प्राप्त हुए। शेष नौ गणधर भगवान् महावीर की उपस्थिति में ही मुक्त हो गये।

बीजबुद्धि: सर्वोत्तमा प्रकर्षप्राप्ता भगवतां गणभृतां,  
ते हि उत्पादादिपदत्रयमवधार्यं सकलमपि द्वादशाङ्गात्मकं  
प्रवचनमभिसूत्रयन्ति ।  
(नन्दीमवृ प १०६)

सभी गणधर सर्वोत्तम और चरम शिखर तक पहुँचने

वाली बीजबुद्धि के धारक होते हैं। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—इस त्रिपदी का अवधारण कर वे सम्पूर्ण द्वादशांगत्मक प्रवचन की रचना करते हैं।

गौतमः चतुर्दशपूर्वधरः सर्वाक्षरसंज्ञिपाती सन्भिन्न-  
श्रोताः सकलप्रज्ञापनीयभावपरिज्ञानकुशलः प्रवचनस्य  
प्रणेता सर्वज्ञदेशीय एव । (नन्दीमवृ प १०१)

गणधर गौतम चतुर्दशपूर्वी, सर्वाक्षरसंज्ञिपाती, संभिन्नश्रोतोलब्धिसम्पन्न, समस्त प्रज्ञापनीय भावों के परिज्ञान में कुशल, प्रवचन—द्वादशांगी के प्रणेता और सर्वज्ञ-तुल्य थे।

### ४. गणधरों द्वारा आगम (द्वादशांग) रचना

तवनियमनाणरुक्खं, आरूढो केवली अमियनाणी ।  
तो मुयइ नाणवृद्धि, भवियजणविवोहणट्टाए ॥  
तं बुद्धिमएण पडेण, गणहरा मिण्हउं निरवसेसं ।  
तित्थयरभासियाइं, गंथति तओ पवयणट्टा ॥  
(आवनि ८९,९०)

अनंतज्ञानसम्पन्न अर्हत् तप, संयम और ज्ञानरूपी वृक्ष पर आरूढ़ होकर भव्यजनों को जागृत करने के लिए ज्ञान की वृष्टि करते हैं। गणधर उसी वृष्टि को बुद्धि-रूपी पट में समग्रता से ग्रहण करते हैं। तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित वाणी को वे शासनहित के लिए शुष्कित करते हैं।

### ५. आगम-रचना का प्रयोजन

घित्तुं च सुहं सुहगणणधारणा दाउं पुच्छिउं चव ।  
एएहिं कारणेहिं जीयंति कयं गणहरेहिं ॥  
(आवनि ९१)

प्रयोजन के छह बिन्दु—

१. पद, वाक्य, प्रकरण, अध्याय, प्राभृत आदि के रूप में व्यवस्थित होने से श्रुत का सुखपूर्वक ग्रहण होता है।
२. सुगमता से गणना की जा सकती है।
३. दीर्घकाल तक उसकी स्मृति बनी रह सकती है।
४. ज्ञान देने की सुविधा होती है।
५. प्रश्न पूछने की सुविधा होती है।
६. द्वादशांगी की अविच्छिन्नता रह सकती है।

सव्वेहिं गणहरेहिं जीयंति सुयं जओ न वोच्छिन्नं ।  
गणहरमज्जाया वा जीयं सव्वाणुचिन्नं वा ॥  
(विभा १११७)

गणधरों द्वारा आगम-रचना की जाती है, इसके तीन प्रयोजन हैं, जो जीत शब्द में निहित हैं—

- ० जीत—श्रुत की अव्यवच्छिन्ति ।
- ० जीत—मर्यादा का अनुपालन ।
- ० जीत—आचार-परम्परा का निर्वहन अर्थात् श्रुत-रचना का आचार सभी गणधरों द्वारा आचीर्ण है ।

#### ६. गणधर : धर्मदेशना

खेयविणोओ सीसगुणदीवणा पच्चओ उभओऽवि ।

सीसायरियकमोऽवि य गणहरकहणे गुणा होंति ॥

तित्थगरो पढमपोरुसीए धम्मं ताव कहेति जाव पढम-पोरुसी-उग्घाडवेला.....उर्वार पोरुसीए उट्टित्ते तित्थकरे गोयमसामी अन्नो वा गणहरो वित्थियपोरुसीए धम्मं कहेति ।

(आवनि ५८८ चू १ पृ ३३२, ३३३)

तीर्थकर जब प्रथम पौरुषी की संपन्नता तक धर्म-देशना देकर उठ जाते हैं, तब दूसरी पौरुषी में गौतम गणधर अथवा अन्य गणधर धर्मोपदेश करते हैं। उनकी देशना के ये प्रयोजन हैं—

- ० तीर्थकर के शारीरिक श्रम का अपनयन ।
- ० शिष्य के गुणों का उद्दीपन ।
- ० तत्त्वरूपण की अविस्मयिता से श्रोतृ-गण में गुरु-शिष्य के प्रति आस्था—विश्वास की उत्पत्ति ।
- ० आचार्य और शिष्य की शालीन परम्परा का संवहन ।

#### ७. गण और गणधर

एककारस उ गणहरा जिणस्स वीरस्स सेसयाणं तु ।

जावइआ जस्स गणा तावइआ गणहरा तस्स ॥

(आवनि २६९)

जिस तीर्थकर के जितने गण होते हैं, उतने ही गण-धर होते हैं। किन्तु तीर्थकर महावीर के नौ गण और ग्यारह गणधर थे ।

अकपियअयलभातीणं एगो गणो । मेयज्जपभासाणं एगो गणो । एवं णव गणा होंति । (आवचू १ पृ ३३७)

गणधर अकपित और अचलभ्राता—इन दोनों का एक गण था। गणधर मेतार्य और प्रभास—इन दोनों का एक गण था ।

#### ८. सुधर्मा और शिष्य परम्परा

.....तित्थं च सुहम्माओ पिरक्कचा गणहरा सेसा ॥

(आवनि ५९५)

वर्तमान तीर्थ में जो शिष्य-परम्परा है, वह गणधर आर्य सुधर्मा की है ।

शेष गणधर निरपत्य—शिष्य परम्परा से रहित हैं ।

सामी जस्स जत्तिओ गणो तस्स तत्थियं अणुजाणति ।  
आतीए सुहम्मं करेति, तस्स महल्लं आउयं, एत्तो तित्थं  
होहिति त्ति । (आवचू १ पृ ३३७)

गणधर सुधर्मा दीर्घायु हैं, इनसे तीर्थ प्रवर्तित होगा—  
यह जानते हुए भगवान् महावीर ने सुधर्मा को संघ का  
दायित्व सौंपा ।

**गणना**—संख्या प्रमाण का सातवां भेद ।

(द्र. संख्या)

**गणित**—गणना ।

(द्र. काल)

**गणपिटक**—द्वादशांगी, आचार्य का सर्वस्व ।

(द्र. आगम)

**गति**—एक भव से दूसरे भव में गमन ।

जेणुवगहिओ वच्चइ भवंतरं जच्चिरेण कालेण ।

एसो खलु गइकाओ सतेयगं कम्मगसरीरं ॥

(आवनि १४३५)

चतसृष्वपि गतिषु—नारकतिर्यग्नरामरलक्षणासु ।

(आवहावृ २ पृ १८५)

तैजस और कार्मण शरीर से युक्त जीव एक भव से  
दूसरे भव में जाता है, उसे गति कहते हैं। इस अन्तराल  
गति से जीव जहाँ जाकर उत्पन्न होता है, वह भी 'गति'  
शब्द से व्यवहृत होती है। वे गतियां चार हैं—नारक,  
तिर्यच, मनुष्य और देव । (द्र. संबद्ध नाम)

**गमिकश्रुत**—सदृश पाठ वाला श्रुत ।

(द्र. श्रुतज्ञान)

**गर्हा**—गुरु-साक्षी से अपने अकृत्य की निन्दा  
करना । (द्र. आलोचना)

**गीत**—दशांश लक्षणों से लक्षित स्वरसन्निवेश,  
पद, ताल एवं मार्ग—इन चार अंगों से  
युक्त गान । (द्र. स्वरमण्डल)

**गुणस्थान**—कर्मविशोधि की मार्गणा। आध्या-  
त्मिक विकासक्रम का सोपान ।

१. गुणस्थान के प्रकार

२. भिद्य्यादुष्टि गुणस्थान

३. सास्वादन सम्यग्दुष्टि

\* सास्वादन सम्यक्त्व (द्र. सम्यक्त्व)

४. सम्यग्-भिद्य्यादुष्टि

५. अविरत सम्यग्दृष्टि  
 \* सम्यक्त्व का स्वरूप (द्र. सम्यक्त्व)  
 ६. विरताविरत (देशविरत)  
 \* ध्रावक के देशविरत गुणस्थान (द्र. ध्रावक)  
 ७. प्रमत्तसंयत  
 ८. अप्रमत्तसंयत  
 ९. निवृत्तिबादर  
 १०. अनिवृत्तिबादर  
 ११. सूक्ष्मसम्पराय  
 \* सूक्ष्मसम्पराय चारित्र्य (द्र. चारित्र्य)  
 १२. श्रेणि आरोहण कब ?  
 १३. उपशम श्रेणि : मोह उपशम की प्रक्रिया  
 उपशमश्रेणि के अधिकारी  
 उपशमश्रेणि और गति  
 १४. क्षपकश्रेणि : कर्म क्षय की प्रक्रिया  
 \* कर्म के प्रकार (द्र. कर्म)  
 क्षपकश्रेणि : अकलेवर श्रेणि  
 क्षपकश्रेणि के अधिकारी  
 श्रेणि-आरोहण : बद्धायु-अबद्धायु  
 १५. उपशांतमोह गुणस्थान  
 १६. क्षीणमोह गुणस्थान  
 १७. सयोगीकेवली गुणस्थान  
 १८. अयोगीकेवली गुणस्थान  
 \* योगनिरोध की प्रक्रिया (द्र. केवली)  
 १९. शंलेशी अवस्था : कर्मक्षय  
 २०. गुणस्थान और कर्मबंध

### १. गुणस्थान के प्रकार—

मिच्छादिद्वी सासायणे य तह सम्ममिच्छदिद्वी य ।  
 अविरयसम्मदिद्वी विरयाविरए पमत्ते य ॥  
 ततो य अप्पमत्तो नियट्टि अनियट्टिबायरे सुहुमे ।  
 उवसंतखीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य ॥  
 (आवहावृ २ पृ १०७)

गुणस्थान के चौदह प्रकार हैं—

१. मिथ्यादृष्टि
२. सास्वादन सम्यग्दृष्टि
३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि
४. अविरत सम्यग्दृष्टि
५. विरताविरत
६. प्रमत्तसंयत
७. अप्रमत्तसंयत
८. निवृत्तिबादर
९. अनिवृत्तिबादर
१०. सूक्ष्मसंपराय

११. उपशांतमोह
१२. क्षीणमोह
१३. सयोगीकेवली
१४. अयोगीकेवली

### २. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

मिथ्यादर्शनं मोहकर्मोदय इत्यर्थः । सो तिविधो—  
 अभिनिवेशेण मतिमोहेण संपवेण वा । तत्थ उदाहरणानि  
 जथासंख्यं गोठामाहिलो जमाली सावगोत्ति ।

(आवचू २ पृ ७९)

मोहकर्म का उदय मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) कहलाता है । उसके तीन प्रकार हैं—अभिनिवेश, मतिमोह और संप्लवन । गोठामाहिल, जमाली और ध्रावक—ये क्रमशः इनके उदाहरण हैं । मिथ्यादृष्टि प्राणी का गुणस्थान मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाता है ।

मिच्छादिद्वी दुविहो, तं जहा—अभिग्गहीतमिच्छ-  
 दिद्वी अणभिग्गहीतमिच्छदिद्वी । तत्थ अभिग्गहीतमिच्छ-  
 दिद्वी संखआजीवयवुड्ढवसणतावसपाणामनिण्हगबोडियादी ।  
 अणभिग्गहीतमिच्छदिद्वी एगिदियबेइदियतेइदिय-  
 चउरिदिय, जेसि च पच्चिदियाणं जीवाणं न कत्थइ दंसणे  
 अभिप्पायो । (आवचू २ पृ १३३)

मिथ्यादृष्टि के दो प्रकार हैं—

१. आभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि—सांख्य, आजीवक, वृद्ध-  
 वास, तापस, निह्वव, बोटिक आदि ।
२. अनाभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय,  
 त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और दर्शन के अभि-  
 प्राय से शून्य पंचेन्द्रिय जीव ।

### ३. सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

उवसमसम्मत्ताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स ।  
 सासायणसम्मत्तं तयंतरालम्म छावलियं ॥

(विभा ५३१)

सासायणो जस्स ईसि जिणवयणई । अहव जो जीवो  
 उवसमसंमत्ताओ मिच्छत्तं संकामितुकामो । जथा वा  
 कोई पुरिसो पुष्कफलसमिद्धाओ महदुत्ताओ पमाददोसेण  
 पवडमाणो जाव धरणितलं न पावति ताव अंतराले  
 वट्टति । एवं जीवोवि संभत्तमूलाओ जिणवयणकप्प-  
 रुक्खाओ परिवयमाणो मिच्छत्तं संकामितुकामो एत्थ  
 छावलियमेत्ते काले वट्टमाणो सासायणो भवति । अहवा  
 संमत्ते सस्सादो सायणो । (आवचू २ पृ १३३)

जिसकी जिनप्रवचन में अत्यल्प रुचि है, वह सास्वादन सम्यग्दृष्टि है। अथवा उपशम सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर जाने वाले जीव के संक्रमणकाल में सास्वादन सम्यक्त्व होता है। इसका कालमान है—छह आवलिका। यह सम्यक्त्व उस व्यक्ति के समान है, जो वृक्ष से गिर रहा है पर अभी तक भूमि तक नहीं पहुँचा है, अन्तरालवर्ती है। इस सम्यक्त्व वाले प्राणी का गुणस्थान सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है।

#### ४. सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

सम्मामिच्छादिद्वी नियमा भवत्यपंचिदियसन्निपज्ज-त्तगसरीरो भवति। पढमं चैव मिच्छादिद्वी होंतो पसत्थेसु अज्भवसाणेसु वट्टमाणो..... मिच्छतादिभावोवचित्ते मिच्छत्तपोगले सुभज्भवसाणपयोगेण तिहा करेति, तं जहा—मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं सम्मत्तंति। एत्थ जाहे जीवो मिच्छत्तोदयातो विसुञ्जिऊणं सम्मामिच्छत्तोदयं परिणमति, ताहे से जिणवयणे सद्धासद्धदंसणी सम्मामिच्छदिद्वी अंतोमुहुत्तकालो भवति त्ति। ततो परं सम्मत्तं वा मिच्छत्तं वा परिणमति।

(आवचू २ पृ १३३, १३४)

सम्यग्मिथ्यादृष्टि निश्चित रूप से भवस्थ पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय होता है। वह पहले मिथ्यादृष्टि होता है, फिर शुभ अध्यवसायों के प्रयोग से उपचित मिथ्यात्व-पुद्गलों को तीन भागों में विभक्त करता है—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। जब जीव मिथ्यात्व पुद्गलों को विशुद्ध कर मिथ्यात्व के उदय को सम्यक् मिथ्यात्व के उदय रूप में परिणत करता है, तब वह जिनवचनों पर श्रद्धा और अश्रद्धा करता है—यह सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान है। इसका कालमान है—अन्तर्मुहूर्त। उसके पश्चात् वह सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व को प्राप्त करता है।

येषामेकस्मिन्नपि च वस्तुनि तत्पर्याये वा मति-दौर्बल्यादिना एकान्तेन सम्यक्परिज्ञानमिथ्याज्ञानाभावतो न सम्यक्श्रद्धानं नाप्येकान्ततो विप्रतिपत्तिः ते सम्यग्-मिथ्यादृष्टयः। (नन्दीमवू प १०५, १०६)

जिनमें मतिदौर्बल्य के कारण एक ही वस्तु अथवा उसके पर्याय में एकांत रूप से सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान का अभाव है—न एकांततः सम्यक् श्रद्धा है और न एकांततः विप्रतिपत्ति है, वे सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं।

#### ५. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान

अविरतसम्मदिद्वी निरयतिरियमण्यदेवगतीसु महव्वताणुव्वतविरती न भवति, खओवसमखाइयरोइत-दंसणी भवति। (आवचू २ पृ १३४)

अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान के अधिकारी नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—चारों गति के जीव हो सकते हैं। इस चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव महाव्रत या अणुव्रत को स्वीकार नहीं कर सकते। वे क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्व वाले होते हैं।

#### ६. विरताविरत गुणस्थान

विरताविरतो मण्यपंचेदियतिरियएसु देशमूलुत्तर-गुणपच्चक्खाणी नियमा सन्निपंचेदियपज्जत्तसरीरो भवति। (आवचू २ पृ १३४)

विरताविरत गुणस्थान के अधिकारी मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय हैं। ये आंशिक रूप में मूलगुण और उत्तरगुण संबंधी प्रत्याख्यान करते हैं। ये नियमतः संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त ही होते हैं।

#### ७. प्रमत्तसंयत गुणस्थान

पमत्तो दुविहो भवति—कसायपमत्तो जोगपमत्तो य। (आवचू २ पृ १३४)

प्रमत्त के दो प्रकार हैं—कषायप्रमत्त और योग-प्रमत्त।

##### कषायप्रमत्त

कसायपमत्तो कोहकसायवसट्टो जाव लोभकसाय-वसट्टो त्ति, एस कसायपमत्तो। (आवचू २ पृ १३४)

जो क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत है, वह कषाय-प्रमत्त है।

##### योगप्रमत्त

जोगप्पमत्तो मणदुप्पणिहाणेणं वइदुप्पणिहाणेणं कायदुप्पणिहाणेणं, तथा इदियेसु सट्टाणुवाती रुवाणुवाती ...तथा इरियासमितादीसु पंचमुवि असमितो भवति, तथा आहारउव्वहिंसहिभादीणि उग्गमउत्पादणेसणाहि अणुवउत्तो गेण्हति। (आवचू २ पृ १३४)

जिसके मन, वाणी और काया के प्रधिधान दूषित हैं, वह योगप्रमत्त है। वह शब्द, रूप आदि इन्द्रियविषयों में आसक्त होता है, ईर्ष्या आदि पांच समितियों से असमित होता है। वह उद्गम-उत्पाद-एषणा से शुद्ध आहार, उपधि और स्थान के ग्रहण में जागरूक नहीं होता।

## ८. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

अप्यमत्तो दुर्विहो — कषायअप्यमत्तो जोगअप्यमत्तो य ।

(आवचू २ पृ १३४)

अप्रमत्त के दो प्रकार हैं—कषाय-अप्रमत्त और योग-अप्रमत्त ।

### कषाय-अप्रमत्त

कषायअप्यमत्तो खीणकसाओ । कर्हं तस्स अप्यमत्तत्तं भवति ? कोहोदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं ।

(आवचू २ पृ १३४)

जिसका कषाय क्षीण है, वह कषाय अप्रमत्त है । क्रोध के उदय का निरोध अथवा उदयप्राप्त क्रोध का विफलीकरण—यही उसकी अप्रमत्तता है ।

### योग-अप्रमत्त

जोगअप्यमत्तो मणवयणकायजोगेहि तिहि व गुत्तो । अहवा अकुसलमणनिरोहो कुसलमणउदीरणं वा, मणसो वा एगत्तीभावकरणं । एवं वइएवि, एवं काएवि । तथा इदिएमु सोइदियविसयपयानिरोहो वा सोइदियविसयपत्तेसु वा अत्थेसु रागदोसविण्णहो ।

(आवचू २ पृ १३४, १३५)

मन, वचन और काया—जो इन तीनों योगों से गुप्त है, वह योग-अप्रमत्त है ।

जो अकुशल मन-वचन-काययोग का निरोध (निवर्तन) तथा कुशल मन-वचन-काययोग की उदीरण (प्रवर्तन) करता है, वह योग-अप्रमत्त है ।

जो मन को एकाग्र करता है, वचन और काया को स्थिर करता है, वह योग-अप्रमत्त है ।

जो इन्द्रियविषयों की सावद्य प्रवृत्ति से निवर्तन तथा प्राप्त विषयों में रागद्वेष का नियंत्रण करता है, वह योग-अप्रमत्त है ।

### अप्रमत्त कौन ?

अप्यमत्तसंजता जिणकप्पिया परिहारविसुद्धिया अहालंदिया पडिमापडिवणणा य, एते सततोवयोगोवउत्तत्तणतो अप्यमत्ता ।

(नन्दीचू पृ २२)

जो सतत उपयोगशील/जागरूक रहते हैं, वे अप्रमत्त हैं । अप्रमत्तसंयत, जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिक, यथालंदक और प्रतिमाप्रतिपन्न अनगार अप्रमत्त होते हैं ।

## ९. निवृत्तिबादर गुणस्थान

नियट्टी - जदा जीवो मोहणिज्जे कंमे खवेति वा उवसमेति वा तदा अप्यमत्तसंजतस्स अणंतरं पसत्थतरेसु

अज्झवसाणट्टाणेसु वट्टमाणो मोहणिज्जे कंमे खवेति उवसमेति वा जाव हासरतिअरतिसोगभयदुगुंछाणं उदयतो छेदो न भवति ताव सो भगवं अणगारो अंतोमुहुत्तकालं नियट्टिति भवति ।

(आवचू २ पृ १३५)

जब जीव मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम करता है तब अप्रमत्तसंयत प्रशस्ततर अध्यवसान स्थानों में वर्तमान होकर मोहनीय कर्म का क्षय करता है अथवा उपशमन करता है और जब तक हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा के उदय का उच्छेद नहीं होता तब तक वह अनगार अन्तर्मुहूर्त काल तक निवृत्तिबादर गुणस्थान में होता है ।

## १०. अनिवृत्तिबादर गुणस्थान

अनियट्टी नाम जदा जीवो नियट्टिस्स उवरि पसत्थतरेसु अज्झवसाणट्टाणेसु वट्टमाणो हासच्छक्कोदये वोच्छिण्णे जाव मायाउदयवोच्छेदो न भवति एत्थ वट्टमाणो अणगारो अंतोमुहुत्तकालो अणियट्टियत्ति भवति ।

(आवचू २ पृ १३५)

जब जीव बादर कषायों से निवृत्त होकर आगे प्रशस्ततर अध्यवसायस्थानों में उपयुक्त होता है और हास्यषट्क का उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर जब तक माया के उदय का व्यवच्छेद नहीं होता, तब तक उसमें वर्तमान अनगार अन्तर्मुहूर्तकाल तक अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में होता है ।

## ११. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान

सुहुमसंपरायं कम्मं जो बज्झति सो सुहुमसंपरायो । सुहुमं नाम थोवं । आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ सिद्धिलबंधणबद्धाओ अप्पकालट्टितिकाओ मंदाणुभावाओ अप्पप्पदेसगाओ सुहुमसंपरायस्स बज्झति । एवं थोवं संपरायकम्मं तस्स बज्झति । सुहुमो रागो वा जस्स सो सुहुमसंपरायो । सो य असंखेज्जसमइओ अंतोमुहुत्तिओ विसुद्धिमाणपरिणामो वा पडिपत्तमाणपरिणामो वा भवति ।

(आवचू २ पृ १३५)

सूक्ष्मसंपरायिक कर्मबंध जिसमें होता है, वह सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान है । सूक्ष्म का अर्थ है अल्प । वह अल्प इसलिए कि आयुष्य और मोहनीय को छोड़कर शेष छह कर्म प्रकृतियों का बंध शिथिल, अल्पकालस्थिति वाला, मंद अनुभाव वाला तथा अल्प प्रदेशाग्र वाला होता है । इस प्रकार उसमें अल्प संपरायिक कर्मबंध होता है ।

अथवा इसका अर्थ है—जिसमें सूक्ष्म राग की विद्यमानता होती है, वह सूक्ष्म सम्पराय है। वह असंख्येय समय वाले अन्तर्मुहूर्त की स्थितिवाला, विशुध्यमान परिणाम वाला अथवा प्रतिपाति परिणाम वाला होता है।

### निवृत्तिबादर, अनिवृत्तिबादर और सूक्ष्मसम्पराय

दंसणमोहकखवणे नियट्टि अनियट्टिवायरो परओ ।  
जाव उ सेसो संजलणलोभसंखेज्जभायो त्ति ॥  
तदसंखेज्जइभागं समए समए खवेइ एक्केक्कं ।  
तत्थ य सुहुम सरागं लोभाणू जावमेक्को वि ॥

(विभा १३३०, १३३१)

दर्शन मोह के क्षय होने पर निवृत्ति बादर गुणस्थान प्राप्त होता है। उसके बाद अप्रत्याख्यान कषाय से लेकर जब तक संज्वलन लोभ के संख्येय भाग को क्षय करता है, तब तक अनिवृत्ति बादर गुणस्थान होता है।

उस संख्येय भाग के चरम खण्ड के असंख्येय खण्ड करता है। उन असंख्येय खण्डों को एक-एक समय में क्षीण करता है। जब तक लोभ का एक अंश रहता है, तब तक सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान होता है।

### १२. श्रेणि-आरोहण कब ?

सम्मत्तम्मि उ लद्धे पलियपुहुत्तेण सावओ होज्जा ।  
चरणो-वसम-खयाणं सागर संखंतरा होंति ॥

(विभा १२२२)

सम्यक्त्व के प्राप्तिकाल में मोहकर्म की जितनी स्थिति अवशिष्ट रहती है, उस स्थिति में से पल्योपम पृथक्त्व (दो से नौ पल्योपम) स्थितिखंड के क्षय होने पर जीव देशविरति को प्राप्त करता है। संख्यात सागरोपम के क्षीण होने पर सर्वविरति प्राप्त करता है। उसमें से संख्यात सागरोपम क्षीण होने पर उपशम श्रेणी, उसमें से संख्यात सागरोपम क्षीण होने पर क्षपक श्रेणी प्राप्त करता है।

### १३. उपशम श्रेणी : मोह-उपशम की प्रक्रिया

अणदंसनपुंसिस्थी वेयल्लक्कं च पुहसवेयं च ।

दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥

(आवनि ११६)

मोहकर्म की प्रकृतियों के उपशम का क्रम—

अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क— युगपत्

दर्शनत्रिक— युगपत्

नपुंसकवेद

स्त्रीवेद

हास्यषट्क

पुरुषवेद

अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान क्रोध— युगपत्

संज्वलन क्रोध

अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान मान— युगपत्

संज्वलन मान

अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान माया— युगपत्

संज्वलन माया

अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान लोभ— युगपत्

संज्वलन लोभ

विशेष— श्रेणी प्रारम्भ करने वाला यदि नपुंसक हो तो पहले स्त्रीवेद फिर पुरुष वेद और अन्त में नपुंसक वेद का उपशमन करता है। यदि श्रेणी प्रारम्भ करने वाली स्त्री हो तो पहले नपुंसक वेद फिर पुरुषवेद और अन्त में स्त्रीवेद का उपशमन करती है।

### उपशम श्रेणी के अधिकारी

उवसामगसेडोए पट्टवओ अप्पमत्तविरओ उ ।

पज्जवसाणे सो वा होइ पमत्तो अविरओ वा ॥

अन्ने भणंति अविरय-देस-पमत्ता-उपमत्तविरयाणं ।

अन्नयरो पडिवज्जइ दंसणसमणम्मि उ नियट्टी ॥

(विभा १२८५, १२८६)

उपशम श्रेणी में आरोहण करते समय जीव अप्रमत्त संयत होता है। उपशम श्रेणि से गिरने पर वह पुनः प्रमत्त संयत अथवा अविरत हो जाता है।

कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत— इनमें से कोई भी जीव उपशम श्रेणि पर आरोहण कर सकता है।

कामंश्रन्थिकाभिप्रायेण तु प्रतिपतितोऽसौ मिथ्या-दृष्टिगुणस्थानकमपि यावद् गच्छति ।

(विभामवृ पृ ४८२)

कर्म ग्रन्थ की मान्यता है— उपशम श्रेणि से गिरने पर वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक भी चला जाता है।

### उपशम श्रेणी और गति

बद्धाऊ पडिवन्नो सेट्ठिगओ वा पसंतमोहो वा ।

जइ कूणइ कोइ कालं वच्चइ तोऽणुत्तरसुरेसु ॥

अनिबद्धाऊ होउं पसंतमोहो मुहुत्तमेत्तद्धं ।

उइयकसायो नियमा नियत्तए सेट्ठिपडिलोमं ॥

(विभा १३०४, १३०५)



बद्धायुष्क कोई जीव उपशमश्रेणी का आरोहण करता है, वह श्रेणि के मध्यवर्ती गुणस्थानों में अथवा उपशांतमोह की अवस्था में यदि काल करता है तो अनुत्तर विमान में पैदा होता है।

अबद्धायुष्क जीव उपशांतमोह गुणस्थान में अन्त-मूर्हूर्त रहकर कषाय का उदय होने पर नियमतः श्रेणी के प्रतिलोम क्रम से नीचे लौट आता है।

तस्मि भवे निव्वानं न लभइ उक्कोसओ व संसारं ।  
पोगलपरियट्टद्धं देसोणं कोइ हिण्डेज्जा ॥  
(विभा १३०८)

उपशमश्रेणि वाला उस भव में मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। वह उत्कृष्टतः अर्धपुद्गलपरावर्तकाल तक संसार में भ्रमण कर सकता है।

सैदान्तिकमतेन तस्मिन्नेव भवे क्षपकश्रेणिं न करोति,  
तामन्तरेण च न सिध्यति । (विभामवृ पृ ४८९)

सैदान्तिक मत के अनुसार उपशमश्रेणि वाला उसी भव में क्षपकश्रेणि नहीं ले सकता और उसके बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता।

#### १४. क्षपकश्रेणी : कर्मक्षय की प्रक्रिया

अण मिच्छ मीस सम्मं अट्ट नप्सित्थीवेय छक्कं च ।

पुवेयं च खवेइ कोहाइए य संजलणे ॥

गइ आणुपुब्बी दो दो जाइनामं च जाव चउरिदी ।

आयावं उज्जेयं, यावरनामं च सुहुमं च ॥

साहारणमपज्जत्तं निहानिहं च पयलपयलं च ।

धीणं खवेइ ताहे अवसेसं जं च अट्टहं ॥

(आवनि १२१-१२३)

कर्म प्रकृतियों के क्षय का क्रम इस प्रकार है—

अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क ।

मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व मोह ।

अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान कषाय अष्टक का युगपत् क्षय प्रारंभ ।

क्षयकालके मध्यम भाग में सोलह अन्य प्रकृतियों का क्षय—

- |                         |                          |
|-------------------------|--------------------------|
| १. नरकगति नाम           | ७. त्रीन्द्रिय जाति नाम  |
| २. नरकानुपूर्वी नाम     | ८. चतुरिन्द्रिय जाति नाम |
| ३. तिर्यच गति नाम       | ९. आतप नाम               |
| ४. तिर्यचानुपूर्वी नाम  | १०. उद्योत नाम           |
| ५. एकेन्द्रिय जाति नाम  | ११. स्थावर नाम           |
| ६. द्वीन्द्रिय जाति नाम | १२. सूक्ष्म नाम          |

१३. साधारण

१४. निद्रानिद्रा

अवशिष्ट अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान कषाय अष्टक ।  
नपुंसक वेद ।

स्त्रीवेद ।

हास्यषट्क (हास्य, रति, अरति,  
भय, शोक, जुगुप्सा) ।

पुरुषवेद ।

संज्वलन क्रोध ।

संज्वलन मान ।

संज्वलन माया ।

संज्वलन लोभ ।

वीसमिऊण नियंठो दोहि समएहि केवले सेसे ।

पढमे निहं पयल नामस्स इमाओ पयडीओ ॥

देवगइआणुपुब्बीविउब्बिसंधयण पढमवज्जाइ ।

अन्नयरं सठाण तित्थयराहारनामं च ॥

चरमे नाणावरणं पंचविहं दंसणचउवियप्पं ।

पंचविहमंतरायं खवइत्ता केवली होइ ॥

(आवनि १२४-१२६)

जीव छद्मस्थकाल (क्षीणमोह गुणस्थान) के दो समय शेष रहने पर निद्रा आदि प्रकृतियों का क्षय करता है।

प्रथम समय में क्षय होने वाली प्रकृतियाँ—  
निद्रा ।

प्रचला ।

देवगति नाम ।

देवानुपूर्वी नाम ।

वैक्रिय नाम ।

संहनन (वज्रऋषभनाराच को छोड़कर) ।

संस्थान नाम ।

तीर्थंकर नाम ।

आहारक नाम ।

दूसरे समय (छद्मस्थ काल के अंतिम समय) में  
क्षीण होने वाली प्रकृतियाँ—

ज्ञानावरण पंचक ।

दर्शनावरण चतुष्क ।

अंतराय पंचक ।

इन सब प्रकृतियों के क्षीण होने पर केवलज्ञान प्राप्त होता है ।

**क्षपकश्रेणी : अकलेवरश्रेणी**

कलेवरं—शरीरम् अविद्यमानं कडेवरमेषामकडेवराः सिद्धास्तेषां श्रेणिरिव श्रेणिर्योत्तरोत्तरशुभपरिणाम-प्राप्तिरूपया ते सिद्धिपदमारोहन्ति, क्षपकश्रेणिरित्यर्थः ।

(उशावृ प ३४१)

सिद्ध अकलेवर होते हैं । उनकी श्रेणी की तरह जो श्रेणी है, जिससे उत्तरोत्तर शुभ परिणामों की प्राप्ति होती है और अन्त में सिद्धिपद में आरोहण होता है, उसको अकलेवरश्रेणी/क्षपकश्रेणी कहते हैं ।

**क्षपकश्रेणी का अधिकारी**

पडिवत्तीए अविरय-देस-पमना-पमत्त-विरयाणं ।

अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्जभाणोवमयचित्तो ॥

(विभा १३१४)

अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत में से कोई भी शुद्ध ध्यानापगत चित्त वाला जीव क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर सकता है ।

**श्रेणि-आरोहण : बद्धायु-अबद्धायु**

बद्धाऊ पडिवन्नो नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ ।

इयरोऽणुवरओ च्चिय सयलं सेट्ठि समाणेइ ॥

(विभा १३२५)

श्रेणि-आरोहण के उपक्रम में जो जीव बद्धायु होता है, वह अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनसोहृत्रिक—इन सात प्रकृतियों के क्षीण होने पर नियमतः रुक जाता है । अबद्धायु यदि प्रकृतिक्षय के इस क्रम से उपरत न हो तो वह सम्पूर्ण क्षपकश्रेणि को प्राप्त करता है ।

बद्धाऊ पडिवन्नो पढमकसायकखए जइ मरेज्जा ।

तो भिच्छन्नोदयओ विण्णज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥

तम्मि मओ जाइ दिव तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।

उवरयपरिणामो पुण पच्छा नाणामइग्गओ ॥

(विभा १३१६, १३१७)

क्षपकश्रेणि-प्रतिपत्ता बद्धायुष्क जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क क्षय होने पर यदि मरता है, तब उसके मिथ्यात्व उदय में रहता है, इसलिए वह अनन्तानुबन्धी चतुष्क का संग्रहण पुनः कर लेता है ।

अनन्तानुबन्धीचतुष्क के क्षीण होने पर कोई मरता है, उसका परिणाम शुभ होता है तो वह देवलोक में उत्पन्न होता है । यदि परिणामधारा प्रतिपतित हो जाये तो वह मरकर अपनी मति के अनुसार किसी भी शक्ति में उत्पन्न हो सकता है । दर्शनसप्तक के क्षीण होने

पर कोई मरता है तो वह भी देवलोक में उत्पन्न होता है ।

**१५. उपशान्तमोह गुणस्थान**

उवसंतमोहो नाम जस्स अट्टावीसतिविहंपि मोह-णिज्जकम्ममुवसंतं अणुमेत्तं पि ण वेदेति, सो य देसपडि-वातेन सब्वपडिवातेण वा नियमा पडिवतिस्सति ।

(आवचू २ पृ १३५)

उपशान्तमोह गुणस्थान में जीव मोहकर्म की अट्टावीस प्रकृतियों का सर्वथा उपशम करता है, किञ्चित् मात्र भी वेदन नहीं करता । उपशमश्रेणी में आरोहण करने वाले जीव का निश्चित ही देश प्रतिपात अथवा सर्व प्रतिपात होता है ।

**१६. क्षीणमोह गुणस्थान**

क्षीणमोहो नाम जेण निरवसेसमिह कम्मणायकं मोहणिज्जं खवित्तं, सो य नियमा विसुज्जभाणपरिणामो अंतोमुहुत्तंतरेण केवलनाणी भवति ।

(आवचू २ पृ १३५)

क्षीणमोह गुणस्थान में जीव सम्पूर्ण मोहकर्म को नष्ट कर देता है । वह अपने विशुद्ध्यमान परिणाम से नियमतः अन्तर्मुहूर्त के बाद केवलज्ञान प्राप्त करता है ।

**१७. सयोगी केवली गुणस्थान**

जोगा जस्स अत्थि केवलस्स सो सजोगिकेवली । तस्स धम्मकथासीसाणुत्तासणवागरणनिमित्तं वयजोगो, ठाण्णिणीसीदणतुयट्टणउव्वत्तणपरियत्तणविहारादिनिमित्तं कायजोगो, मणजोगो य से परकारणं पडुच्च भज्जो । अणुत्तरोववातिदेवेहि अण्णेहि वा देवमणुएहि मणसा पुच्छितो संतो ताहे तेसि संसयवोच्छेदनिमित्तं मणपायो-ग्गाइं दग्गाइं मेण्हिऊण मणत्ताए परिणामेतुणं ताहे तेसि मणसा चेव वागरणं वागरेति । ततो तेसि अणुत्तरादीणं ते भगवतो मणपोग्गले वियाणित्तूण संसयवोच्छेदो भवति स्ति । अण्णहा तस्स नत्थि मण्णेणं पयोयणं । तेणं तस्स सकारणं पडुच्च मणजोगो पडिसेहिज्जति ।

(आवचू २ पृ १३५, १३६)

सयोगी केवली के तीनों योग होते हैं । धर्मकथा करने, शिष्यों पर अनुशासन करने तथा प्रश्न आदि का व्याकरण करने के लिए वाक्ययोग होता है । खड़े होने, बैठने, सोने, उठने, पार्श्व परिवर्तन करने तथा विहार आदि करने के

निमित्त काययोग होता है। मनोयोग की उनमें भजना होती है—उनका मनोयोग दूसरों के लिए प्रवर्तित होता है। जब अनुत्तरोपपातिक देव तथा अन्य देव या मनुष्य अपने मन से उन केवलियों को कोई प्रश्न पूछते हैं तब वे केवली उनके संशय को मिटाने के लिए, प्रश्नों का समाधान देने के लिए मनःप्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर, उनको मन रूप में परिणत करते हैं और मन से ही उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं। अनुत्तरोपपातिक आदि देव केवली के मन को जान लेते हैं, तब उनका संशय व्युच्छिन्न हो जाता है। यही केवली के मन का प्रयोजन है, अन्यथा उनका मन से क्या प्रयोजन? इसलिए उनके मनोयोग का निषेध सकारण किया गया है।

### १८. अयोगी केवली गुणस्थान

अजोगिकेवली नाम सेलेसीं पडिवन्नओ। सो य तीहिं जोगेहिं विरहितो जाव कखगघङ इच्चेताइं पंच-ह्रस्वभ्रखराइं उच्चारिज्जंति एवतियं कालमजोगिकेवली भवित्थ ताहे सब्बकम्मविणिमुक्को सिद्धो भवति।

(आवचू २ पृ १३६)

मन, वचन, काया—इन तीनों योगों का निरोध होते ही अयोगी—शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है, उसे अयोगी केवली गुणस्थान कहा जाता है। पांच ह्रस्व अक्षरों—क ख ग घ ङ का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक अयोगी अवस्था रहती है। उसके पश्चात् अयोगी केवली सब कर्मों से मुक्त हो सिद्ध हो जाता है।

### १९. शैलेशी अवस्था : कर्मक्षय

तदसखेज्जगुणाए गुणसेढीए रइयं पुरा कम्मं ।  
समए समए खवियं कमसो सेलेसिकालेणं ॥  
मणुयगइ-जाइ-तस-बायरं च पज्जत्त सुभयमाएज्जं ।  
अन्तयरवेयण्णिज्जं नराऽमुच्चं जसोनामं ॥  
संभवओ जिणनामं नराणुपुव्वी य चरिमसमयम्मि ।  
सेसा जिणसंता ओ हु चरिमसमयम्मि निट्ठंति ॥  
ओरालियाहिं सब्बाहिं चयइ विण्णजहणाहिं जं भणियं ।  
निस्सेसतया न जहा देसच्चाएण सो पुव्वं ॥  
तस्सोदइयाईया भवत्तं च विणिवत्तए समयं ।  
सम्मत्त-नाण-दंसण-सुह सिद्धत्ताइं मोत्तूणं ॥

(विभा ३०८२, ३०८४-३०८७)

शैलेशी अवस्था में असंख्यात गुणी गुणश्रेणी में रचित

कृतकर्म क्रमशः एक-एक समय में क्षीण होते हैं। केवली शैलेशी अवस्था के चरम समय में बारह प्रकृतियों को क्षीण करता है—मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभय नाम, आदेय नाम, सात अथवा असातवेदनीय, मनुष्यायुष्य, उच्चमोक्ष, यशःनाम और नरानुपूर्वी। यदि तीर्थंकर हो तो नरानुपूर्वी से पूर्व तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति को क्षीण करता है। इसके पश्चात् तीन शरीर (औदारिक, तैजस, कामण) का त्याग करता है। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, सुख तथा सिद्धत्व को छोड़कर शेष औदयिक आदि भाव और भव्यत्व युगपत् क्षीण होते हैं।

### २०. गुणस्थान और कर्मबन्ध

मिध्यादृष्ट्यादयो मिश्रवज्जिता अप्रमत्तान्ता आयु-बन्धकालेऽष्टानामपि कर्मणां बन्धकाः, शेषकाले त्वायु-वर्जानां सप्तानाम् । एतेषामेव सप्तकर्मणां मिश्रापूर्वकरणा-निवृत्तिबादरा अपि बन्धकाः । सूक्ष्मसम्पराया मोहायु-वर्जानां षण्णां कर्मणाम् । उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगि-केवलिनः सातवेदनीयस्यैवैकस्य । शैलेशीप्रतिपत्तेरारभ्य पुनर्योगाभावादबन्धकाः । (नन्दीमवृ प ४२)

पहले, दूसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में आयुबन्धकाल में आठ कर्मों का बन्ध होता है।

आयुबन्ध से व्यतिरिक्त काल में आयुवर्जित सात कर्मों का बन्ध होता है। तीसरे, आठवें और नवें गुणस्थान में भी इन सात कर्मों का बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान में छह कर्मों (आयु-मोह वर्जित) का बन्ध होता है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल सातवेदनीय का बन्ध होता है। चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों और सिद्धों के कर्मबन्ध नहीं होता क्योंकि वहां योग नहीं है।

कर्मबन्ध	गुणस्थान
आठ कर्म	१, २, ४, ५, ६, ७
सात कर्म (आयुवर्जित)	१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९
छह कर्म (मोह और आयुवर्जित)	१०वां
एक कर्म (सात वेदनीय)	११, १२, १३
अबन्ध	१४वां, सिद्ध ।

गुप्ति—असत् प्रवृत्ति से निवर्तन । योगनिग्रह ।

१. गुप्ति की परिभाषा

२. गुप्ति के प्रकार

३. मनोगुप्ति

४. वचनगुप्ति

५. कायगुप्ति

\* गुप्ति समिति भी है (द्र. समिति)

\* गुप्ति ध्यान है (द्र. ध्यान)

## १. गुप्ति की परिभाषा

गुप्ति नियतपणे वृत्ता, असुभ्रत्थेषु सव्वसो ॥

(उ २४।२६)

अशुभ विषयों से निवृत्त होना गुप्ति है ।

गोपनं गुप्तिः—सम्यग्योगनिग्रहः ।

(उशावृ प ५१४)

सम्यक् रूप से मन, वचन और काययोग का निग्रह करना गुप्ति है ।

प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गमननिवारणं गुप्तिः ।

(उशावृ प ५१४)

गुप्ति का अर्थ है—आममोक्त विधि से प्रवृत्ति करना तथा उन्मार्ग से निवृत्त होना ।

## २. गुप्ति के प्रकार

तिहिं गुत्तीहिं—मणगुत्तीए वडगुत्तीए कायगुत्तीए ।

(आव ४।८)

गुप्ति के तीन प्रकार हैं—

मनोगुप्ति—असत् मन से निवर्तन ।

वचनगुप्ति—असत् वाणी से निवर्तन ।

कायगुप्ति—असत् प्रवृत्ति से निवर्तन ।

## ३. मनोगुप्ति

सच्चा तहेव मोसा य सच्चा मोसा तहेव य ।

चउत्थी असच्चमोसा, मणगुत्ती चउत्थिहा ॥

(उ २४।२०)

मनोगुप्ति के चार प्रकार हैं—

१. सत्या

२. मृषा

३. सत्यामृषा

४. असत्यामृषा ।

संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य ।

मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥

(उ २४।२१)

संरम्भः—सङ्कल्पः स च मानसः । तथाऽहं ध्यास्यामि यथाऽसौ मरिष्यतीत्येवंविधः । समारम्भः—परपीडा-करोच्चाटनादिनिबन्धनं ध्यानम् । आरम्भः—अत्यन्त-क्लेशतः परप्राणापहारक्षममशुभध्यानमेव ।

(उशावृ प ५१८, ५१९)

संरम्भ (अशुभ संकल्प), समारम्भ (परपीडाकारी ध्यान) और आरम्भ (परप्राणापहारी ध्यान) में प्रवृत्ति का निवर्तन करना मनोगुप्ति है ।

## मनोगुप्ति के परिणाम

मणगुत्तयाए णं जीवे एगगं जणयइ । एगगचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ।

(उ २९।५४)

मनोगुप्तता (कुशल मन के प्रयोग) से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है । एकाग्र चित्त वाला जीव अशुभ संकल्पों से मन की रक्षा करने वाला और संयम की आराधना करने वाला होता है ।

## ४. वचनगुप्ति

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चा मोसा तहेव य ।

चउत्थी असच्चमोसा, वडगुत्ती चउत्थिहा ॥

(उ २४।२२)

वचनगुप्ति के चार प्रकार हैं—

१. सत्या

२. मृषा

३. सत्यामृषा

४. असत्यामृषा ।

संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य ।

वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥

(उ २४।२३)

वाचिकः संरम्भः—परव्यापादनक्षमक्षुद्रविद्यादिपरावर्तनासङ्कल्पसूचको ध्वनिरेवोपचारात्सङ्कल्पशब्दवाच्यः सन् । समारम्भः—परपरितापकरमन्त्रादिपरावर्तनम् । आरम्भः—तथाविधसंक्लेशतः प्राणिनां प्राणव्यपरोपण-क्षममन्त्रादिजपनमिति ।

(उशावृ प ५१९)

संरम्भ—प्राणव्यपरोपण में समर्थ क्षुद्र विद्या आदि के परावर्तन की संकल्पसूचक ध्वनि वाचिक संरम्भ है ।

समारम्भ—परपीडाकारक मन्त्र आदि का परावर्तन समारम्भ है ।

आरंभ—संकलिष्ट परिणामों से प्राणव्यपरोपण में समर्थ मन्त्र का जाप वाचिक आरंभ है। संरंभ, समारंभ और आरंभ में प्रवर्तमान वचन का निवर्तन करना वचनगुप्ति है।

#### वचनगुप्ति के परिणाम

वद्गुत्तयाए णं निव्वियारं जणयइ। निव्वियारेणं जीवे वद्गुत्ते अक्कप्पजोमक्कमाणगुत्ते यावि भवइ।

(उ २९।३५)

वाग् गुप्तता (कुशल वचन के प्रयोग) से जीव निर्विचार भाव को प्राप्त होता है। निर्विचार जीव सर्वथा वान्-गुप्त और अध्यात्म योग के साधन—चित्त की एकाग्रता आदि से युक्त हो जाता है।

#### कायगुप्ति का स्वरूप

ठाणे णिसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।  
उल्लंघणपल्लंघणे, इंदियाण य जुंजणे ॥  
संरंभसमारंभे, आरंभम्मि तहेव य।  
कार्यं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥

(उ २४।२४,२५)

मुनि ठहरने, बैठने, लेटने, उल्लंघन-प्रलंघन करने और इन्द्रियों के व्यापार में—संरंभ, समारंभ और आरंभ में प्रवर्तमान काया का निवर्तन करे।

संरंभः—अभिघातो यष्टिमुष्ट्यादिसंस्थानभेव सङ्कल्पसूचकमुपचारात्सङ्कल्पशब्दवाच्यं सत्। समारंभः—परित्यापकरो मुष्ट्याद्यभिघातः। आरंभे—प्राणिवधधात्मनि कायं प्रवर्तमानं निवर्तयेत्।

(उशावृ प ५१९)

प्रहार करने की दृष्टि से लाठी, मुष्टि आदि उठाना कायिक संरंभ है। दूसरों के लिए पीड़ाकारक मुष्टि आदि का अभिघात समारंभ है। प्राणिवध में शरीर की प्रवृत्ति आरंभ है। इनसे काया का निवर्तन करना कायगुप्ति है।

#### कायगुप्ति के परिणाम

कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ।

(उ २९।३६)

कायगुप्तता (कुशल काय के प्रयोग) से जीव संवर (अशुभ प्रवृत्ति का निरोध) को प्राप्त होता है। संवर के द्वारा कायिक स्थिरता को प्राप्त करने वाला जीव फिर पापकर्म के उपादान हेतु (आश्रवों) का निरोध कर देता है।

गूध्रवृष्ठ—मरण का एक भेद। (द्र. मरण)

गूर्हिलिगसिद्ध—गृहस्थ के वेश में मुक्त होने वाले। (द्र. सिद्ध)

ग्रैवेयक—लोकपुरुष के श्रीवास्थानीय देवलोक। (द्र. देव)

गोचरचर्या—वह भिक्षाविधि, जिसमें नाना घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लिया जाता है।

#### १. गोचरचर्या

\* गोचराग्र के प्रकार (द्र. भिक्षाचर्या)

२. माधुकरी वृत्ति

३. कापोती वृत्ति

४. उच्छ्वृत्ति

५. सामुदानिक भिक्षा

६. संघाटक व्यवस्था

७. भिक्षागमन : विधि-निषेध

८. भिक्षाचर्या से उपाध्य में प्रवेश-विधि

९. द्रव्य-विवेक

\* सचित्त द्रव्य-ग्रहण : अनाचार (द्र. अनाचार)

१०. क्षेत्र-विवेक

११. काल-विवेक

० गोचरकाल

१२. भिक्षा संबंधी विवेक

१३. बाधा रोकने का निषेध

\* भिक्षाग्रहण के पश्चात् : आहार से पूर्व

(द्र. आहार)

\* सदोष भिक्षा और श्वातोच्छ्वास

(द्र. कायोत्सर्ग)

\* साधमिक को आमन्त्रण

(द्र. आहार)

\* भिक्षा संबंधी दोष

(द्र. एषणा)

#### १. गोचरचर्या

गोचराग्रः—अग्रः—प्रधान आधाकर्मादिपरिहारेण स चासी गौरिव चरणम्—उच्चावचकुलेष्वविशेषेण पर्यटनं गोचरः। (उशावृ प ६०७)

गोचराग्र का अर्थ है—गाय की तरह उच्चावच कुलों में निर्दोष भिक्षा के लिए पर्यटन करना।

## २. माधुकरि वृत्ति

जहा द्रुमस्त पुष्केसु भमरा आवियइ रसं ।  
न य पुष्क किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥  
एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।  
विहंगमा व पुष्केसु, दाणभत्तेसणे रया ॥

(द १।२,३)

जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किसी भी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है, उसी प्रकार लोक में जो मुक्त (अपरिग्रही) श्रमण साधु हैं वे दानभक्त (दाता द्वारा दिए जाने वाले निर्दोष आहार) की एषणा में रत रहते हैं—जैसे भ्रमर पुष्पों में ।

वयं च विंति लब्धामो, न य कोइ उवहम्मई ।  
अहागडेसु रीर्यति, पुष्केसु भमरा जहा ॥

(द १।४)

हम इस तरह से वृत्ति-भिक्षा प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो । क्योंकि श्रमण यथाकृत (सहज रूप से बना) आहार लेते हैं, जैसे—भ्रमर पुष्पों से रस ।

एत्थ य भणेज्ज कोती समणाणं कीरती सुविहिताणं ।  
पाकोवजीविणो त्ति य लिप्पंताऽऽरंभदोसेण ॥  
वासति ण तणस्स कते ण तणं वड्ढति कते मयकुलाणं ।  
ण य रुक्खा सतसाहा फुल्लेति कते मह्यराणं ॥  
किच दुमा पुष्केती भमराणं कारणा अहासमयं ।  
मा भमर-महुगरिगणा किलामएज्जा अणाहारा ॥  
अत्थि बहू वणसंडा भमरा जत्थ ण उर्वेति ण वसंति ।  
तत्थ वि पुष्केति दुमा पगती एसा दुमगणाणं ॥  
पगती एस दुमाणं जं उउसमयम्मि आगए सतं ।  
पुष्केति पादवगणा फलं च कालेण बंधंति ॥

(दनि ३३-३७)

सुविहित श्रमण पचन-पाचन की क्रिया नहीं करते; किंतु पाकोपजीवी होने के कारण वे हिंसा के भागी बनते हैं—यह शंका उचित नहीं है ।

तृणों के लिए वर्षा नहीं होती, हरिणों के लिए तृण नहीं बढ़ते, मधुकरों के लिए पेड़-पौधे पुष्पित नहीं होते ।

भौरों के लिए फूल यथासमय पुष्पित होते हैं ताकि भौर निराहार न रहें, क्लान्त न हों—यह कथन सही नहीं है ।

क्योंकि ऐसे अनेक वनखंड हैं, जहां भ्रमर न जाते हैं, न रहते हैं, फिर भी वहां फूल खिलते हैं । इसका हेतु है—द्रुम-नामगोत्र कर्म का उदय । द्रुमपुष्प अथवा वृक्ष मात्र की यह प्रकृति ही है कि वे समय आने पर अपनी-अपनी ऋतु में पुष्पित-फलित होते हैं ।

किष्णु गिही रंधंती समणाणं कारणा सुविहियाणं ? ।

मा समणा भगवंतो किलामएज्जा अणाहारा ॥

कंतारे दुब्भिक्षे आयंके वा महई समुप्पणे ।

रत्ति समणसुविहिया सव्वाहारं ण भुंजंति ॥

अह कौस पुण गिहत्था रत्ति आयरतरेण रंधंति ? ।

समणेहि सुविहिहं चउव्विहाहारविरहं ॥

अत्थि बहुगाम-वेसा समणा जत्थ ण उर्वेति ण वसंति ।

तत्थ वि रंधंति गिही पगती एसा गिहत्थाणं ॥

पगती एस गिहीणं जं भिहिणो गाम-णगर-णिगमेसुं ।

रंधंति अप्पणो परियणस्स कालेण अट्टाए ॥

एत्थ य समणसुविहिया परकड-परनिट्ठियं विगयधूमं ।

आहारं एसंती जोगाणं साहणट्टाए ॥

(दनि ३८-४३)

कुछ व्यक्ति कहते हैं—श्रमण भूख से क्लान्त न हों—इस दृष्टि से उन पर अनुकंपा करने के लिए अथवा पुष्पो-पार्जन के लिए गृहस्थ भोजन पकाता है—यह कथन सही नहीं है ।

अटवी, दुर्भिक्ष और आतंक उत्पन्न होने पर तथा रात्रि के समय साधु आहार नहीं करते । उस समय में भी गृहस्थ तो भोजन पकाते ही हैं ।

बहुत सारे गांव और नगर ऐसे हैं, जहां श्रमण नहीं जाते । भोजन वहां भी पकता है । भोजन पकाना गृहस्थ की प्रकृति है । वह अपने लिए, अपने परिजनों के लिए यथासमय भोजन पकाता है ।

संयमयोगों की साधना के लिए श्रमण दूसरों के लिए कृत—निष्पन्न आहार की एषणा करते हैं ।

जह दुमगणा उ तह णगरजणवया पयण-पायणसभावा ।

जह भमरा तह मुण्णिणो णवरि अदिण्णं ण गेण्हंति ॥

(दनि ४८)

जैसे द्रुम का स्वभाव है—फलित होना, वैसे ही लोगों का स्वभाव है—पचन-पाचन करना । जैसे भ्रमर अवधजीवी होते हैं, वैसे ही मुनि अवधजीवी होते हैं ।

इन दोनों में अंतर इतना ही है कि मुनि अदत्त वस्तु का ग्रहण नहीं करते।

### ३. कापोती वृत्ति

कापोती जा इमा वित्ती....।

(उ १९।३३)

कापोता:—पक्षिविशेषास्तेषामियं कापोती येयं वृत्तिः—निर्वहणोपायः, यथा हि ते नित्यशंकिताः कणकीट-कदिग्रहणे प्रवर्तन्ते। एवं भिक्षुरप्येषणादोषशंकेव भिक्षादौ प्रवर्तन्ते। (उशावृ प ४५६, ४५७)

कापोतीवृत्ति का अर्थ है—कबूतर की तरह आजी-विका का निर्वहन करना। जिस प्रकार कपोत धान्य-कण आदि को चुगते समय नित्य सशंक रहता है, उसी प्रकार भिक्षाचर्या में प्रवृत्त मुनि एषणा आदि दोषों के प्रति सशंक होता है।

जथा कपोता व कपिजला य

गावो चरन्ती इध पागडाधो।

एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा,

नो हीलए नो विय संधवेज्जा ॥

(आवचू २ पृ ७४)

कपोत, कपिजल और गाय की तरह मुनि गोचरी/भिक्षाचरी करे। भिक्षा न मिलने पर किसी की अवहेलना न करे। भिक्षा मिलने पर किसी की प्रशंसा न करे।

### ४. उच्छ्रवृत्ति

अन्नायउच्छं चरई विसुद्धं, जवणट्टया समुयाणं च निच्छं।  
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा, लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥  
(द ९।३।४)

जो जीवनयापन के लिए विशुद्ध सामुदायिक अज्ञातउच्छ (भिक्षा) की सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर खिन्न नहीं होता, मिलने पर श्लाघा नहीं करता, वह पूज्य है।

उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं अण्णायमण्णातेण समुप्पादितं भावुंछमण्णाउच्छं।  
(दअचू पृ २४२)

उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित जो भक्ष्य उपलब्ध हो, वह 'अज्ञातउच्छ' है।

### ५. सामुदायिक भिक्षा

समुयाणं चरे भिक्खू, कुलं उच्चावयं सया।

नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥

(द ५।२।२५)

भिक्षु सदा समुदान भिक्षा करे। उच्च और नीच सभी कुलों में जाए। नीच कुल को छोड़कर उच्च कुल में न जाए।

### ६. संघाटक व्यवस्था

एकाणियस्स दोसा इत्थी साणे तहेव पडिणीए।

भिक्खविसोहि महव्वय तम्हा सवितिज्जए गमणं ॥

(ओनि ४१२)

भिक्षा आदि के लिए दो मुनियों को एक साथ जाना चाहिए अन्यथा अकेले मुनि के अनेक कठिनाइयाँ हो सकती हैं। जैसे—स्त्रीजनित उपसर्ग, पशुजनित उपसर्ग, प्रत्यनीकजनित उपसर्ग, भिक्षा की अविशोधि, महाव्रतों का उपघात आदि।

मारविए काहीए माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे।

दुल्लभअत्ताहिठिय अमणुन्ने वा असंघाडो ॥

(ओनि ४१३)

भिक्षा के लिए अकेला मुनि कौन जाता है—

जिसे लब्धि का गर्व है।

जो गृहस्थ के घर में धर्मकथा करता है (उसके साथ कोई जाना नहीं चाहता)।

जो मायावी, आलसी और रसलोलुप है।

जो अनेवणीय वस्तु-ग्रहण की इच्छा करता है।

जो दुर्भिक्ष में भिक्षा की दुर्लभता को जानता है।

आत्मलब्धिक—जो स्वयं द्वारा आनीत आहार करने वाला है।

अमनोज्ञ—जो चिड़चिड़े स्वभाव वाला है।

### ७. भिक्षागमन : विधि-निषेध

से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गओ मुणी।

चरे मंदमणुव्विगो, अब्बक्खित्तेण चेषसा ॥

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महि चरे।

वज्जंतो बीयहरियाई, पाणे य दग्गमट्टियं ॥

(द ५।१।२, ३)

गांव या नगर में गोचराय के लिए निकला हुआ मुनि धीमे-धीमे अनुद्विग्न और अब्याक्षिप्त चित्त से चले ।

आगे युगप्रमाण भूमि को देखता हुआ और बीज, हरियाली, प्राणी, जल तथा सजीव मिट्टी को टालता हुआ चले ।

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले ।  
इंदियाणि जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥  
दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे ।  
हंसतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥  
(द ५।१।१३,१४)

मुनि न ऊंचा मुंहकर, न झुककर, न हूँष्ट होकर, न आकुल होकर, किंतु इन्द्रियों को अपने-अपने विषय के अनुसार दमन कर चले ।

उच्च-नीच कुल में गोचरी गया हुआ मुनि दौड़ता हुआ न चले, बोलता और हंसता हुआ न चले ।

आलोभ्यं शिग्गलं दारं, संधि दग्गभवणाणि य ।  
चरंतो न विणिग्गए, संकट्टाणं विवज्जए ॥  
रन्नो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण य ।  
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥  
(द ५।१।१५,१६)

मुनि चलते समय आलोक, शिग्गल, द्वार, संधि तथा पानी-घर को न देखे । शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से बचता रहे ।

राजा, गृहपति, अन्तःपुर और आरक्षकों के उस स्थान का मुनि दूर से ही वर्जन करे, जहाँ जाने से उन्हें संक्लेश उत्पन्न हो ।

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तद्वाए समागया ।  
त-उज्जुयं न गच्छेज्जा, जयमेव परक्कमे ॥  
(द ५।२।७)

नाना प्रकार के प्राणी भोजन के लिए एकत्रित हों, उनके सम्मुख न जाए । उन्हें ब्रास न देता हुआ यतना-पूर्वक जाए ।

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए व पडंतीए ।  
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥  
(द ५।१।८)

वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात

चल रहा हो और मार्ग में तिर्यक् संपातिम जीव छा रहे हों तो भिक्षा के लिए न जाए ।

### निषिद्ध कुल

पडिक्कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए ।  
अचियत्तकुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥  
(द ५।१।१७)

मुनि निन्दित कुल में प्रवेश न करे । मामक—गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध स्थान का परिवर्जन करे । प्रीतिकर कुल में प्रवेश करे ।

पडिक्कुलं निन्दितं, तं दुविहं—इत्तिरियं आवकहियं च । इत्तिरियं मयगसूतगादि । आवकहितं चंडालादी ।  
(दअचू पृ १०४)

प्रतिक्रुष्ट कुल का अर्थ है—निन्दित कुल । वह दो प्रकार का होता है—

१. अल्पकालिक—वह कुल, जहाँ मृतक, सूतक आदि हो ।

२. यावत्कालिक—डोम, मातंग आदि कुल ।

### द. भिक्षाचर्या से उपाश्रय में प्रवेश-विधि

पायपमज्जणनिसीहिया य तिग्नि उ करे पवेसंमि ।  
अंजलि ठाणविसोही दंडग उवहिस्स निकखेवो ॥  
(ओनि ५०९)

भिक्षाचर्या से लौटकर मुनि उपाश्रय से बाहर ही पैरों का प्रमार्जन करता है ।

प्रविष्ट होता हुआ उपाश्रय के अग्रद्वार, मध्यभाग और मूलद्वार पर तीन निषीधिका करता है ।

‘नमो खमासमणाणं’ का उच्चारण कर बद्धांजलि नमस्कार करता है । फिर उपधि आदि को रखने के लिए स्थान-विशोधन करता है ।

### कायोत्सर्ग

पुव्वुहिट्ठे ठाणे ठाउं चउरंगुलंतरं काउं ।  
मुहपोत्ति उज्जुहत्थे वाममि य पायपुंछणयं ॥  
काउस्सग्गंमि ठिओ चित्ते समुयाणिए अईअरे ।  
जा निग्गमप्पवेसो तत्थ उ दोसे मणे कुज्जा ॥  
ते उ पडिसेवणाए अणुलोमा होंति वियडणाए य ।  
(ओनि ५११-५१३)

भिक्षा से लौटकर मुनि कायोत्सर्ग करता है । पैरों



में परस्पर चार अंगुल की दूरी रखकर, दायें हाथ में मुखवस्त्रिका, बायें हाथ में रजोहरण धारण कर निष्क्रमण से लेकर पुनः प्रवेश तक के सामुदानिक (भिक्षा) अतिचारों का कायोत्सर्ग में चिन्तन करता है। प्रतिसेवना का अनुक्रम से चिन्तन करता है और अनुक्रम से ही उनकी गुरु के पास आलोचना करता है।

### गोचर-अतिचार-प्रतिक्रमण

पडिककमामि गोयरचरिआए भिक्खायरिआए उग्घाड-कवाड-उग्घाडणाए साणा-वच्छा-दारा-संघट्टणाए मंडी-पाहुडियाए बलि-पाहुडियाए ठवणा-पाहुडियाए संकिए सहसागारे अणेसणाए पाणभोयणाए बीयभोयणाए हरियभोयणाए पच्छाकम्मियाए पुरेकम्मियाए अदिट्टहडाए दग-संसट्टहडाए रय-संसट्टहडाए परिसाडणियाए पारि-ट्ठावणियाए ओहासणभिक्खाए जं उग्गमेणं उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं पडिग्गहियं परिभुत्तं वा जं च न परिट्टवियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं । (आव ४।६)

में गोचरचर्या—गाय की भांति अनेक स्थानों से थोड़ा-थोड़ा लेने वाली भिक्षाचर्या से सम्बन्धित अति-चारों का प्रतिक्रमण करता हूँ—बंद किवाड़ को खोला हो, कुत्ते, बछड़े और बच्चे को इधर-उधर किया हो, पकाये हुए भोजन में से निकाले गए प्रथम ग्रास की भिक्षा ली हो, देवपूजा के लिए तैयार किया हुआ भोजन लिया हो, भिक्षाचर आदि याचकों के लिए स्थापित भोजन लिया हो, शंका सहित आहार लिया हो, बिना सोचे शीघ्रता में आहार लिया हो, एषणा—पूछताछ किए बिना आहार लिया हो, प्राण, बीज और हरितयुक्त आहार लिया हो, भिक्षा देने के पश्चात् उसके निमित्त से हस्त-प्रक्षालन आदि आरंभ किया जाए वैसी भिक्षा ली हो, भिक्षा देने के पूर्व उसके निमित्त से आरम्भ किया जाए वैसी भिक्षा ली हो, अनदेखे लाई हुई भिक्षा ली हो, सचित्त जल से स्पृष्ट वस्तु को लाकर दी जाने वाली भिक्षा ली हो, सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु को लाकर दी जाने वाली भिक्षा ली हो, भूमि पर गिराते-गिराते दी जाने वाली भिक्षा ली हो, खाने-पीने के अयोग्य वस्तु ली हो, विशिष्ट भोज्य-पदार्थ मंगाकर लिए हों, उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से युक्त आहार लिया हो, खाया हो, उसका परिष्ठापन न किया

हो, उस संबंधी मेरा दुष्कृत निष्फल हो।

### ६. द्रव्य-विवेक

कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरं ।  
तुंबागं सिगबेरं च, आमगं परिवज्जए ॥  
तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे ।  
सक्कुलि फाणियं पूयं, अन्नं वा वि तहाविहं ॥  
विककायमाणं पसढं, रएण परिफासियं ।  
देतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

(द ५।१।७०-७२)

मुनि अपक्व कंद, मूल, फल, छिन्ना हुआ पत्ती का शाक, घीया और अदरक न ले। इसी प्रकार सत्तू, बेर का चूर्ण, तिलपपड़ी, गीला गुड़, पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएं भी जो बेचने के लिए दुकान में रखी हों, परन्तु न बिकी हों, रज से स्पृष्ट हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार की वस्तुएं मैं नहीं ले सकता।

बहुअट्टियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकटयं ।  
अत्थियं तिट्ठियं विल्लं, उच्छुखंडं व सिवलि ॥  
अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्जिक्कय-धम्मिए ।  
देतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

(द ५।१।७३, ७४)

बहुत अस्थि वाले पुद्गल, बहुत कांटों वाले अनिमिष, आस्थिक, तेन्दु और बेल के फल, गण्डेरी और फली—जिनमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार के फल आदि मैं नहीं ले सकता।

### १०. क्षेत्र-विवेक

अइभूमि न गच्छेज्जा, गोयरग्गओ मुणी ।  
कुलस्स भूमि जाणित्ता, मियं भूमि परक्कमे ॥  
तत्थेव पडिलेहेज्जा, भूमिभागं वियक्खणी ।  
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥  
दग्गमट्टियआयाणं, बीयाणि हरियाणि य ।  
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा, सव्विदियसमाहिए ॥

(द ५।१।२४-२६)

गोचराग्र के लिए घर में प्रविष्ट मुनि अतिभूमि (अनुज्ञात) में न जाये, कुल-भूमि को जानकर मितभूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे।

विवेक्षण मुनि मित-भूमि में ही उचित भूभाग का प्रतिलेखन करे। जहाँ से स्नान-घर और शौचगृह दिखाई पड़े, उस भूमिभाग का परिवर्जन करे।

सर्वेन्द्रिय समाहित मुनि उदक और मिट्टी लाने के मार्ग तथा बीज और हरियाली को वर्जकर खड़ा रहे।

अम्मलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए ।  
अवलंबिया न चिट्ठेज्जा, गोयरग्गओ मुणी ॥

(द ५।२।९)

गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी आगल, परिघ, द्वार या किवाड़ का सहारा लेकर खड़ा न रहे।

गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसीएज्ज कत्थई ।  
कहं च न पबंघेज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥

(द ५।२।८)

गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी कहीं न बैठे और खड़ा रहकर भी कथा का प्रबन्ध न करे।

परिवाडीए न चिट्ठेज्जा.... ॥ (उ १।३२)

भिक्षु भिक्षा के लिए भिखारी की तरह पंक्ति में खड़ा न रहे।

समणं माहणं वा वि, किविणं वा वणीमणं ।  
उवसंक्रमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥  
तं अइक्कमित्तु न पविसे, न चिट्ठे चक्खुगोयरे ।  
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ॥  
वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा ।  
अप्पत्तियं सिया होज्जा, लहुतं पवयणस्स वा ॥

(द ५।२।१०-१२)

भक्त या पान के लिए उपसंक्रमण करते हुए (घर में जाते हुए) श्रमण, ब्राह्मण, कृपण या वनीपक को लांघकर संयमी मुनि गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे। गृहस्वामी और श्रमण आदि की आंखों के सामने खड़ा भी न रहे। किन्तु एकान्त में जाकर खड़ा हो जाए।

भिक्षाचरों को लांघकर घर में प्रवेश करने पर वनीपक या गृहस्वामी को अथवा दोनों को अप्रीति हो सकती है अथवा उससे प्रवचन की लघुता होती है।

परमद्धजोयणाओ, विहारं विहरए मुणी ।

(उ २६।३५)

दूसरे ग्राम में भिक्षा के लिए जाना आवश्यक हो तो अधिक से अधिक अर्ध योजन तक जाए।

## दूर भिक्षा के लाभ

एवं उग्गमदोसा विज्जा पइरिक्कया अणोमाणं ।  
मोहतिगिच्छा अ कया विरियायारो य अणुच्चिण्णो ॥  
(ओनि २४९)

- ० आधाकर्म आदि दोषों से बचाव।
- ० प्रचुर आहार की प्राप्ति।
- ० लोक में आदर के भाव।
- ० श्रम के कारण मोहचिकित्सा का लाभ।
- ० वीर्याचार का पालन।

## ११. काल-विवेक

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।....

(द ५।२।४)

भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे।

अकाले चरसि भिक्खू, कालं न पडिलेहसि ।

अप्पाणं च किलामेसि, सन्निवेशं च गरिहसि ॥

(द ५।२।५)

भिक्षो ! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रति-लेखना नहीं करते, इसलिए तुम अपने आपको भी क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की भी निन्दा करते हो।

## गोचरकाल

....तइयाए भिक्खायरियं.... ॥

(उ २६।१२)

औत्सर्गिकमेतत्, अन्यथा हि स्थविरकल्पिकानां यथाकालमेव भक्तादिगवेषणम् । (उशावृ प ५४३)

मुनि तीसरे प्रहर में भिक्षाचरी करे। यह अभिग्रह-धारी मुनियों की भिक्षा-विधि है। स्थविरकल्पी मुनि यथासमय भिक्षा के लिए जाए।

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो व गोयरे ।

अयावयट्ठा भोच्चा णं, जइ तेणं न संयरे ॥

तओ कारणमुप्पन्ने, भत्तपाणं गवेसए ।....

(द ५।२।२,३)

उपाश्रय या स्वाध्याय-भूमि में अथवा गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में अपर्याप्त खाकर यदि न रह सके तो कारण उत्पन्न होने पर भक्त-पान की गवेषणा करे।

सो पुण खमओ वा जधा—“वियट्टभत्तियस्स कप्पंति सव्वे गोयरकाला, छुधालु वा दोसीणाति पढमालियं काउं पाहुणएहिं वा उवउत्ते ततो एवमातिम्मि कारणे उप्पण्णे ।

(दअचू पृ १२६)

विकृष्ट तपस्वी के लिए सब गोचरकाल विहित हैं । जो अत्यधिक भूख को सहन नहीं कर सकता, वह प्रातराश के लिए जा सकता है । प्राधूर्णक (अतिथि मुनि) के आगमन आदि कारणों से पुनः गोचरचर्या कर सकता है ।

## १२. भिक्षा संबंधी विवेक

साणीपावारपिहियं, अप्पणा नावपंगुरे ।

कवाडं नो पणोलेज्जा, ओग्गहंसि अजाइया ॥

(द ५।१।१८)

मुनि गृहपति की आज्ञा लिए बिना सन और मृग-रोम के बने वस्त्र से ढका द्वार स्वयं न खोले, किवाड़ न खोले ।

आगमणदायगस्सा हेट्ठा उवरिं च होइ जह पुंवि ।

संजमआयचिराहण विट्ठतो होइ वच्छेण ॥

(ओनि ४७७)

भिक्षा लेकर आती हुई, भिक्षा देती हुई स्त्री को विकृत दृष्टि से न देखे । जैसे—एक भूखा-प्यासा बछड़ा केवल अपने चारे को ही देखता है, चारा डालने वाली अलंकृत महिला को नहीं देखता ।

बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं ।

न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा देज्ज परो न वा ॥

सयणासण वत्थं वा, भत्तपाणं व संजए ।

अदेंतस्स न कुप्पेज्जा, पच्चक्खे वि य दीसओ ॥

(द ५।२।२७-२८)

गृहस्थ के घर में नाना प्रकार का प्रचुर खाद्य-स्वाद्य होता है, (किन्तु न देने पर) पण्डित मुनि कोष न करे । (यों चिन्तव करे कि) इसकी अपनी इच्छा है, दे या न दे ।

संयमी मुनि सामने दीख रहे शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान न देने वाले पर भी कोष न करे ।

जत्थ पुप्फाइ बीयाइं, विप्पइण्णाइं कोट्टए ।

अहुणोवलित्तं उल्लं, दट्ठुणं परिवज्जए ॥

एलगं दारगं साणं, वच्छगं वावि कोट्टए ।

उल्लंघिया न पविसे, विऊहिंत्ताण व संजए ॥

असंसत्तं पलोएज्जा, नाइदूरावल्लोयए ।

उत्फुल्लं न विणिज्जाए, नियट्टेज्ज अयंपिरो ॥

(द ५।१।२१-२३)

जहां कोष्ठक में या कोष्ठकद्वार पर पुष्प, बीज आदि बिखरे हों, वहां मुनि न जाये । कोष्ठक को तत्काल का लीपा और गीला देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे ।

मुनि भेड़, बच्चे, कुत्ते और बछड़े को लांघकर या हटाकर कोठे में प्रवेश न करे ।

मुनि अनासक्त दृष्टि से देखे । अति दूर न देखे ।

उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे । भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे वापस चला जाये ।

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तथा ।

जं जणेज्ज सुणेज्जा वा दाणट्ठा...पुण्णट्ठा...

वणिमट्ठा...समणट्ठा पगडं इमं ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।...

(द ५।१।४७-५४)

यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य दानार्थ अथवा पुण्यार्थ तैयार किया हुआ है, बनीपकों अथवा श्रमणों के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाये या सुन ले तो वह भक्त-पान मुनि के लिए अकल्पनीय होता है ।

## १३. बाधा रोकने का निषेध

गोयरग्गपविट्ठो उ, वच्चमुत्तं न धारए ।

ओगासं फासुयं नच्चा, अणुत्तविय वोसिरे ॥

(द ५।१।१९)

गोचराग्न के लिए घर में प्रविष्ट मुनि मल-मूत्र की बाधा न रोके । प्रासुक स्थान देख, गृहस्वामी की अनुमति लेकर बाधा से निवृत्त हो जाये ।

**गोत्र**—सम्माननीय और असम्माननीय स्थिति का हेतुभूत कर्म । (द्र. कर्म)

**गौरव**—गर्व, मद ।

गुरुभावो गारवो प्रतिबंधो अतिलोभ इत्यर्थः ।

(आवचू २ पृ ७९)

गुरुलाभाभिमानाध्मातचित्त आत्मैव तद्भावास्तस्य वैतान्यध्यवसानानि गौरवाणि । (उशावृ प ६१२)

गौरव का अर्थ है—प्रतिबंध, अतिलोभ ।

अपनी उपलब्धि के अभिमान से प्रसन्न वित्त वाले व्यक्ति के अध्यक्षसमय को गौरव कहते हैं ।

### गौरव के प्रकार

तिर्हि गारवेहि—इड्डीगारवेणं, रसगारवेणं, साया-गारवेणं । (आव ४८)

इड्डीगारवो लोगसंणतीए नरिदवेविदपूयाए वा भवति । रसगारवो जिब्भादंडो । सातागारवो सुहसागतणं सयणासणवसहिवत्थादीहि सुहकारणेहि पडिबंधो ।

(आवचू २ पृ ७९, ८०)

गौरव के तीन प्रकार हैं—

ऋद्धिगौरव—प्रचुर लोगों अथवा राजाओं तथा देवों द्वारा वंदना-पूजा प्राप्त होने पर उसके प्रति होने वाली प्रतिबद्धता ।

रसगौरव—जिह्वेन्द्रिय की आसक्ति, रसलोलुपता ।

सातागौरव—सुविधाजनक शयन, आसन, स्थान, वस्त्र आदि सुखकारक पदार्थों के प्रति प्रतिबद्धता ।

### ऋद्धि गौरव

इड्डीगारविए ति ऋद्ध्या गौरवं—श्राद्धा ऋद्धि-मन्तो मम वषयाः संपद्यते च यथाचिन्तितमुपकरण-मित्याद्यात्मबहुमानरूपमृद्धिगौरवं तदस्यास्तीति ऋद्धि-गौरविको न गुरुनियोगे प्रवर्तते किमेतैर्ममेति ।

(उशावृ प ५५२)

ऋद्धि गौरव का अर्थ है—ऐश्वर्य का गौरव । ऐश्वर्य का गौरव करने वाला शिष्य सोचता है—अनेक धनाढ्य व्यक्ति मेरे श्रावक हैं । वे मुझे यथेष्ट उपकरण आदि लाकर देते हैं । यह सोचकर वह शिष्य आत्म-बहुमानरूप ऋद्धि के अहं से प्रसन्न होकर 'गुरु से मुझे क्या लेना-देना' इस चिन्तन से गुरु की आज्ञा में नहीं चलता ।

### रस गौरव

रसगारवेति रसेषु—मधुरादिषु गौरवं—गाढ्यं यस्यासौ रसगौरवो बालग्लानादिसमुचितआहारदानतपोऽनु-ष्ठानादौ न प्रवर्तते । (उशावृ प ५५२)

रस गौरव का अर्थ है—जिह्वा की लोलुपता । रसलोलुप शिष्य बाल, ग्लान आदि को समुचित आहार आदि नहीं देता और स्वयं तपस्या भी नहीं करता ।

### साता गौरव

सायागारविए ति साते—सुखे गौरवं—प्रतिबन्धः सातगौरवं, तदस्यास्तीति सातगौरविक एकः सुख-प्रतिबद्धो हि नाप्रतिबद्धविहारादौ प्रवर्तितुं शमः ।

(उशावृ प ५५२)

सुख-सुविधा में बंध जाना साता गौरव है । सुख-प्रतिबद्ध मुनि अप्रतिबद्धविहारी नहीं हो सकता ।

चक्रवर्ती—भरत क्षेत्र के छह भूखंडों (वैताद्व्यगिरि के उत्तर और दक्षिण के तीन-तीन भू-भागों) का अधिपति ।

### १. चक्रवर्ती कौन ?

२. चक्रवर्ती : एक परिचय

३. चौदह रत्न और उनका विवरण

० नौ महानिधि

४. चक्रवर्ती भरत

५. सगर आदि चक्रवर्ती

\* शांति, कृष्ण और अर—ये तीनों तीर्थंकर भी थे

(द्र. तीर्थंकर)

६. चक्रवर्ती और इन्द्र मध्य होते हैं

\* चक्रवर्ती : एक लब्धि

(द्र. लब्धि)

७. चक्रवर्ती और वासुदेव कब ?

८. चक्रवर्ती और वासुदेव का क्रम

### १. चक्रवर्ती कौन ?

...से चाउरंते, चक्रवर्ती महिड्डीए ।

चउदसरयणाहिवई ..... ॥

यथा स चतसृष्वपि दिक्ष्वन्तः—पर्यन्त एकत्र हिमवानन्यत्र च दिक्त्रये समुद्रः स्वसम्बन्धितयाऽस्येति चतुरन्तः, चतुर्भिर्वा हयगजरथनरात्मकैरन्तः—अत्रुविनाशात्मको यस्य सः । (उ ११।२२ शावृ प ३५०)

महान् ऋद्धिशाली, चतुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का अधिपति होता है ।

जिसके राज्य में एक दिगन्त में हिमवान् पर्वत और तीन दिगन्तों में समुद्र हो, वह 'चातुरन्त' कहलाता है । इसका दूसरा अर्थ है—हाथी, अश्व, रथ और मनुष्य—इन चार प्रकार की सेनाओं के द्वारा शत्रु का अन्त करने वाला ।

छक्खंडभरहसामी..... । (आवनि ३९१) गोत्र

छह छण्ड वाले भरतक्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती कहलाता है ।

## २. चक्रवर्ती : एक परिचय

पद्मराया इहाहि भरहाहिवो णरवरिवो ।

(आवचू १ पृ २००)

होही सगरो मघवं सणकुमारो य रायसद्दूलो ।

संती कुंथु अ अरो होइ सुभूमो य कोरव्वं ॥

णवमो अ महापउमो हरिसेणो चेव रायसद्दूलो ।

जयनामो अ नरवई बारसमो बंभदत्तो अ ॥

(आवनि ३७४, ३७५)

### नगर

जम्मण विणीअ उज्झा सावत्थी पंच हत्थिणपुरंमि ।

वाणारसि कपिल्ले रायगिहे चेव कपिल्ले ॥

(आवनि ३९७)

### माता

सुमंगला जसवई भद्रा सहदेवि अइर सिरि देवी ।

तारा जाला मेरा य वप्पगा तह य चूलणी अ ॥

(आवनि ३९८)

### पिता

उसभे सुमित्तविजए समुद्विजए अ अस्ससेणे अ ।

तह वीससेण सूरे सुदंसणे कत्तविरिए अ ॥

पउमुत्तरे महाहरि विजए राया तहेव बंभे अ ।।।।

(आवनि ३९९, ४००)

कासवगुत्ता सब्बे चउदसरयणाहिवा समक्खाया ।।।।

(आवनि ३९४)

### अवगाहना

पंचसय अद्धपंचम वायालीसा य अद्धधणुअं च ।

इगयाल धणुस्सद्धं च चउत्थे पंचमे चत्ता ॥

पणतीसा तीसा पुण अट्टावीसा य वीसइ धणूणि ।

पण्णरस बारसेव य अपच्छिमो सत्त य धणूणि ॥

(आवनि ३९२, ३९३)

### वर्ण

सब्बेऽवि एगवण्णा निम्मलकणमप्पभा मुणेयव्वा ।

(आवनि ३९१)

### गति

अटठेव गया भोक्खं सुभूमो बंभो अ सत्तमि पुढावि ।

मघवं सणकुमारो सणकुमारं गया कप्पं ॥

(आवनि ४०१)

### आयुष्य

चउरासीई बावत्तरी अ पुव्वाण सयसहस्साइं ।

पंच य तिण्णि अ एगं च सयसहस्सा उ वासाणं ॥

पंचाणउइ सहस्सा चउरासीई अ अट्टमे सट्टी ।

तीसा य दस य तिण्णि अ अपच्छिमे सत्तवाससया ॥

(आवनि ३९५, ३९६)

चक्रवर्ती	नगर	माता	पिता	गोत्र	अवगाहना	वर्ण	गति	आयुष्य	
१.	भरत	विनीता	सुमंगला	ऋषभ	काश्यप	५०० धनुष	स्वर्ण	मोक्ष	८४ लाख पूर्व
२.	सगर	अयोध्या	यशस्वती	सुमित्रविजय	"	४५० "	"	मोक्ष	७२ लाख पूर्व
३.	मघवा	श्रावस्ती	भद्रा	समुद्रविजय	"	४२३ "	"	तीसरा देवलोक	५ लाख वर्ष
४.	सनत्कुमार	हस्तिनापुर	सहदेवी	अश्वमेन	"	४१६ "	"	तीसरा देवलोक	३ लाख वर्ष
५.	शान्ति	"	अचिरा	विश्वसेन	"	४० "	"	मोक्ष	१ लाख वर्ष
६.	कुंथु	"	श्री	सूर	"	३५ "	"	मोक्ष	९५ हजार वर्ष
७.	अर	"	देवी	सुदर्शन	"	३० "	"	मोक्ष	८४ हजार वर्ष
८.	सुभूम	"	तारा	काल्दीर्य	"	२८ "	"	सातवीं नरक	६८ हजार वर्ष
९.	महापद्म	वाराणसी	ज्वाला	पद्मोत्तर	"	२० "	"	मोक्ष	३० हजार वर्ष
१०.	हरिषेण	कापिल्य	मेरा	महाहरि	"	१५ "	"	मोक्ष	१० हजार वर्ष
११.	जय	राजगृह	वप्रा	विजय राजा	"	१२ "	"	मोक्ष	३ हजार वर्ष
१२.	ब्रह्मदत्त	कापिल्य	चुलनी	ब्रह्म	"	७ "	"	सातवीं नरक	७०० वर्ष

### ३. चौदह रत्न और उनका विवरण

सेणावइ माहावइ पुरोहित्य गय तुरंग वड्डइग इत्थी ।  
चक्कं छत्तं चम्मं मणि कामिणि खग दंडो य ॥  
(उणावृ प ३५०)

१. सेनापति—यह दलनायक होता है तथा गंगा और सिन्धु नदी के पार वाले देशों को जीतने में बलिष्ठ होता है ।
२. गृहपति—चक्रवर्ती के गृह की समुचित व्यवस्था में तत्पर रहने वाला ।
३. पुरोहित—ग्रहों की शांति के लिए उपक्रम करने वाला ।
४. गज } अत्यन्त वेग और महान् पराक्रम से युक्त ।
५. अश्व }
६. वर्धकी—गृह, निवेश, सेतु आदि के निर्माण का कार्य करने वाला ।
७. स्त्री—अत्यन्त अद्भुत काम-जन्य सुख को देने वाली होती है ।
८. चक्र—सभी आयुधों में श्रेष्ठ तथा दुर्दम शत्रु पर विजय पाने में समर्थ ।
९. छत्र—धूप, हवा, वर्षा से बचाने में समर्थ ।
१०. चर्म—बारह योजन लम्बे-चौड़े छत्र के नीचे प्रातः-काल में बोए गए शाली आदि बीजों को मध्याह्न में उपभोग योग्य बनाने में समर्थ ।
११. मणि—यह बारह योजन में विस्तृत चक्रवर्ती की सेना में सर्वत्र प्रकाश बिखेरता है । इसके प्रभाव से सभी प्रकार के उपद्रव तथा रोग नष्ट हो जाते हैं ।
१२. काकणी—तमिस्रगुहा में यह अन्धकार को समूल नष्ट कर देता है । इसकी किरणें बारह योजन तक फैलती हैं ।
१३. असि—संग्राम भूमि में इसकी शक्ति अप्रतिहत होती है । इसका बार खाली नहीं जाता ।
१४. दंड—शत्रुओं की सेनाओं को नष्ट करने में समर्थ ।

#### सेनापति रत्न

सुसेणं सेणावइरयणं .....से सेणावई बलस्स णेता भरहे वासंमि वीसुतजसे महावलपरक्कमे महप्पा ओयंसी तेजलक्खणजुत्ते मिलक्खुभासाविसारदे चित्तचास-भासी भरहे वासंमि निक्खुडाणं णिन्नाण य दुग्गमाण य दुक्खपवेसणाणं वियाणए अत्थसत्थकुसले ।

(आवचू १ पृ १९०)

भरत चक्रवर्ती के सुषेण नाम का सेनापति रत्न था । वह महापराक्रमी, ओजस्वी और तेजलक्षणयुक्त था । वह म्लेच्छ भाषाओं का ज्ञाता, मंजुलभाषी, सम-विषम-दुर्गम पथों को पार करने में समर्थ तथा अर्थशास्त्र में निपुण था ।

#### गृहपति रत्न

तस्स य अणइवरं चाइरुवं सिलणिहिअत्थमंतसेत्तु सालिजवगोधूममुग्गमासतिलकुलत्थसट्टिगणिप्फावचणकोद्-वकोत्थुभरिकंमुवरालकअणेग्धन्नावरत्तहारितगअल्लक-मूलकहनिहिलाउकतउसतुंवकालिगकविट्टुअंबअंबिलियसव्व-णिप्फादए सुकुसले गाहावतिरयणेत्ति सव्वजणवीसुतगुणे । गाहावतिरयणे भरहस्स रन्ने तद्विसपइन्नणिप्फावित-पूइताणं सव्वधन्नाणं अणेगाइं कुंभसहस्साइं उवट्टवेत्ति ।

(आवचू १ पृ १९७, १९८)

गृहपति रत्न शालि, यव आदि सब धान्यों और शाकसब्जियों के निष्पादन में कुशल होता है । वह चर्मरत्न पर सुबह बोये गये धान्यों को उसी दिन सूर्यास्त से पहले ही हजारों कुम्भों में भरकर चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित करता है ।

#### गज रत्न

“आभिसेगं च हत्थिरयणं पडिकप्पेहत्ति” अंजण-गिरिकूडसंनिभं गयवति णरवती दुरुडे ।

(आवचू १ पृ १८४)

चक्रवर्ती भरत के आभिषेक्य नाम का हस्ति रत्न था । उसका वर्ण अंजनगिरिकूट के समान श्यामल था ।

#### अश्व रत्न

“कमलामेलगं णाम आसरयणं दुरुहत्ति, तए णं तं असीतिमंगुलमूसितं णवणउतिमंगुलपरिणाहं अट्टसयमंगुल-मायतं बत्तीसंगुलमूसितसिरं चउरंगुलकन्नाकं वीसति-अंगुलबाहाकं चतुरंगुलजन्नुकं सोलसअंगुलजंघाकं चतुरंगुलमूसितखुरं” सुजातं अमरमणपवणगरुलजइण-चवलसिग्घगामि ईसिमिक्खं तिखमए सुसीसमिक्ख पच्चक्खती विणीतं उदगहुतवहपासाणपंसुकइमससक्करस-वालुइल्लतडकडगविसमपन्भारगिरिदरीमु लंघणपीलण-णित्थारणासमत्थं ।

(आवचू १ पृ १९५)

चक्रवर्ती के अश्वरत्न का नाम था कमलामेलक । उसकी ऊंचाई अस्सी अंगुल, मोटाई निन्यानवे अंगुल और लम्बाई एक सौ आठ अंगुल थी । उसका सिर बत्तीस

अंगुल, कान चार अंगुल, बाहु बीस अंगुल, घुटने चार अंगुल, जंघा सोलह अंगुल और खुर चार अंगुल प्रमाण थे।

वह देव, मन, पवन और गरुड़ से भी अधिक शीघ्र-गामी, ऋषि की भांति क्षमाशील और सुशिष्य की भांति विनीत था। वह जल, अग्नि तथा पथरीले आदि सभी प्रकार के मार्गों और विषम गिरि-कंदराओं को लांघने में समर्थ था।

### वर्धकी रत्न

...स आसमदोणमुहमाभपट्टणपुरवरखंधावारगिहा-  
वणविभागकुसले एगासीतिपदेसु सन्वेसु चैव वत्थूसु  
णेगमुणजाणने पंडिए विहिन्नु...जलयानं भूमियाणं य  
भाजणं जलथलमुहासु जतेसु परिहासु य कालनाणे तद्देव  
सद्दे वत्थुपदेसे पहाणे...

इय तस्स बहुमुण्डडे थवतीरतणे णरिदचंदस्स ।  
तवसंजमणिचिदट्ठे किं करवाणी उवट्ठाति ॥  
सो देवकम्मविधिणां खंधावारं णरिदवयणेणं ।  
आवसहभवणवलितं करेति सव्वं मुहुत्तेणं ॥

करेति य पवरपोसहधरं...तीसे णं गुहाए बहुमज्झ-  
देसभाए एत्थ णं उमुग्गन्तिमुग्गजलाओ नामं दुवे महा-  
नदीओ पण्णत्ताओ...वड्ढतिपरयणे भरहवयणसंदेसेणं तासु  
णदीसु अणेगखंभसयसहस्ससंनिविट्ठं अचलमकपं सालंबण-  
बाहणं सव्वरयणाभयं सुहसंकमं करेइ ।

(आवचू पृ १८७, १८८, १९४)

वर्धकी रत्न आश्रम, द्रोणमुख, ग्राम, पत्तन, नगर, स्कन्धावार, गृह और आपण की विभागपूर्वक रचना करने में कुशल होता है। वह वास्तुकला के इक्यासी पदों से अभिन्न होता है।

वह जलीय और स्थलीय सुरंगों को जानकर उनमें काम आने वाले जलयान, स्थलयान तथा यंत्रों को बनाने में कुशल होता है। चक्रवर्ती तप-संयम-साधना के द्वारा अनेक मुणों से सम्पन्न वर्धकी रत्न को प्राप्त करता है।

वह वर्धकी देवों की भांति अन्तर्मुहूर्त्त में ही भवन, छावनी आदि की रचना कर देता है तथा चक्रवर्ती के लिए श्रेष्ठ पीषत्रशाला का निर्माण करता है। तमिस्रा मुफा के मध्यभाग में दो महान् नदियाँ हैं—उन्मग्नजला और निमग्नजला। वर्धकी रत्न इन नदियों पर रत्नमय मजबूत, अचल और अप्रकंप पुल का निर्माण करता है, जो लाखों खंभों पर प्रतिष्ठित होता है।

### स्त्री रत्न

विणमी णाऊण चक्कवट्ठीं दिव्वाए मतीए चोदितमती  
माणुम्माणप्पमाणजुत्तं तेयंसीं रुवलक्खणजुत्तं ठितजोव्वणं  
केसवट्ठितणहं सव्वामयणासिणि वलकरिं इच्छितसीउण्ह-  
फासजुत्तं...समसरीरं भरहे वासमि सव्वमहिलप्पहाणं...  
जुत्तोवयारकुसलं अमरवहूणं सुरूवं रुवेण अणुहरंति सुभदं  
भद्वमि जोव्वणे वट्टमाणि...विणमी इत्थोरयणं... ।

(आवचू १ पृ २००)

विद्याधर विनमी ने चक्रवर्ती भरत को सुभद्रा नामक स्त्री रत्न समर्पित किया। वह स्त्री तेजस्वी, शक्तिसंपन्न और सर्व शुभ लक्षणों से युक्त होती है। उसका शरीर मान-उन्मान-प्रमाणयुक्त होता है। चिरयौवना उस स्त्री के केश-नख अवस्थित होते हैं। उसका समशीतोष्ण स्पर्श सब रोगों का नाश करता है।

उसका संस्थान समचतुरस्र होता है। भरतक्षेत्र में सर्वोत्तम, देवांगनाओं के समान सुन्दर स्त्री रत्न लोक-व्यवहार में कुशल होता है।

### चक्र रत्न

आयुधघरिएणऽवि णिवेदितं जहा—चक्करयणं  
उप्पन्नं...चक्करयणे...आयुधघरसालाओ पडिणिक्खमति  
अंतलिक्खपडिवन्नजक्खसहस्ससंपरिवुडे...तं दिव्वं चक्क-  
रयणं अणुगच्छमाणे जोयणंतरियाहिं वसहीहिं वसमाणे  
जेणेव मागहित्थे तेणेव उवागच्छति । तं च किल  
चक्करयणं जोयणं संतूणं ठाति, तत्थ किल जोयणाणं  
संखा जाता...दिव्वे चक्करयणे वइरामयत्तुंवे लोहि-  
यक्खमयारए जंबूणयणेमीए णाणामणिखुरप्पवालि-  
परियते...णामेण य सुदंसणे णरवइस्स पढमे चक्करयणे ।

(आवचू १ पृ १८१-१८४, १८७)

आयुधशाला के रक्षक ने सम्राट् भरत से कहा—  
आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है। यह चक्र एक हजार देवों से अधिष्ठित होता है जो चक्रवर्ती और उसकी सेना के आगे-आगे चलता है तथा प्रत्येक योजन पर जाकर रुक जाता है। इसी रत्न से योजनों की संख्या का प्रमाण होता है।

चक्र की नाभि वज्रमय, आरे लोहिताक्षमय और नेमि स्वर्णमय होती है। सम्राट् भरत के चक्ररत्न का नाम था 'सुदर्शन'।

### छत्र रत्न

दिव्वं छत्तरयणं परामुसति, तए णं तं णवणवति-

सहस्रकंचणसलागपरिमंडितं महिरहं अतोऽङ्गं... रन्नो  
संचारिणं विमाणं सूरतववातवृद्धिदोसाण खतकरं तव-  
गुणेहि लडं -

अहतं बहुगुणदाणं उरुण विवरीतसुहकयच्छायं ।

छत्ररयणं पहाणं सुदुल्लभं अप्पुन्नाणं ॥

...दिव्वे छत्ररयणे भरहेणं रन्ना परामुट्ठे खिप्पामेव  
दुवालस जोयणाइं पवित्थरइ साहियाइं तिरियं, तं  
खंधावारस्स उवरिं ठवेति । (आवचू १ पृ १९७)

महामूल्यवान् दिव्य छत्र रत्न निन्यातवे हजार स्वर्ण-  
शलाकाओं से परिमंडित होता है । इसे धारण करने वाला  
अयोध्य होता है । आतप, वर्षा आदि दोषों का नाशक  
छत्र तप से प्राप्त होता है । यह गर्मी में ठंडी और सर्दी  
में गर्म छाया देता है । चक्रवर्ती जब इसे हाथ में उठाता  
है तो यह कुछ अधिक बारह योजन में तिरछा फैल जाता  
है ।

### चर्म रत्न

दिव्वं चम्मरयणं परामुसति, तए णं तं सिरिवच्छ-  
सरिसरूवं मुत्तातारयद्धचंदचित्तं अयलमकंपं अभिज्जकवयं  
जंतं सलिलामु सागरेसु य उत्तरणं । दिव्वं चम्मरयणं  
सणसत्तरसाइं सव्वधन्नाइं जत्थ रोहंति एगदिव्वसेण  
वाविताइं । वासं णारुण चककवट्टीणं परामुट्ठे दिव्वचम्म-  
रयणे दुवालसजोयणाइं तिरियं पवित्थरति तत्थ  
साहियाइं । तए णं से चम्मरयणे खिप्पामेव णावाभूते जाते,  
तए णं से सेणावइ सखंधावारखले चम्मरयणं दुरुहंति ।  
सिंधुं महानइं विमलजलतुंगवीइयं णावाभूतेणं चम्मरयणेणं  
उत्तरति । (आवचू १ पृ १९१)

दिव्य चर्म रत्न का आकार श्रीवत्स जैसा होता है ।  
उस पर मुक्ता, तारे और अर्धचंद्राकार चित्र बने होते  
हैं । वह अचल, अकंप और अभेद्य कवच के रूप में यंत्र  
जैसा बन जाता है, जिससे नदी और समुद्र आसानी से  
पार किये जा सकते हैं । इस पर सन आदि सत्रह धान्यों  
की खेती एक ही दिन में पक जाती है । वर्षा से सुरक्षा  
के लिए चक्रवर्ती इसका स्पर्श करता है तो यह चर्म रत्न  
कुछ अधिक बारह योजन तक तिरछा फैल जाता है ।  
नौका के रूप में परिणत चर्म रत्न पर आरूढ ही ससैन्य  
सेनापति सिन्धु नदी को पार करता है ।

### मणि रत्न

चउरंगुलप्पमाणमेत्तं च अणग्घेयं तंसं छलंसं अणोवम-  
जुतिं दिव्वं मणिं रयणपतिसमं वेरुलियं सव्वभूतकंतं । जेण

य मुद्दागतेणं दुक्खं न किञ्चि जाव हवति । अरोगे य  
सव्वकालं । तेरिच्छियदिव्वमाणुसकता य उवसग्गा सव्वे  
ण करेति तस्स दुक्खं । संगामेऽपि य असत्थवज्जो होहिति  
णरो, मणिवरं धरेतो ठितजोव्वणकेसअवट्टितणहो, हवति  
य सव्वभयविप्पमुक्को, तं मणि रयणं गहाय से णरवई  
हत्थिरयणस्स दाहिणिल्लाए कुंभीए निक्खिवेइ ।

(आवचू १ पृ १९३)

अमूल्य मणि रत्न चार अंगुल लम्बा और तिरछा  
होता है । इसके छह कोण हाते हैं । वैडूर्यमणि-सी आभा  
वाला यह रत्न अनुपम द्युतिमान होता है । जो इसे मस्तक  
पर धारण करता है, वह सब प्रकार के रोगों और दुःखों  
से मुक्त रहता है । देव, मनुष्य और तिर्यंच द्वारा कृत  
उपसर्ग उसे उत्पीडित नहीं करते । संग्राम में निःशस्त्र  
होने पर भी वह बध्य नहीं होता । वह सदा युवा बना  
रहता है । उमर केश और नख नहीं बढ़ते । वह अभय  
होता है । चक्रवर्ती इस मणि रत्न को हस्तिरत्न के  
दाहिने कुम्भस्थल पर स्थापित करता है ।

### काकणी रत्न

से भरहे छत्तलं दुवालसंसियं अट्टवणिकं अहिकरण-  
संठितं अट्टसोवन्तिकं कागणिरयणं परामुसति । तए णं तं  
चउरंगुलप्पमाणमेत्तं अट्टसुवन्नं च विसहरणं अतुलं  
चउरंससंठाणसंठियं समतलं माणुग्माणपमाणजोगजुत्तो  
लोणे चरंति सव्वजणपन्नवणका । ...अंधकारे जत्थ तेहिं  
तकं दिव्वप्पभावजुत्तं दुवालसजोयणाणि तस्स लेसाउ  
विवड्डंति तिमिरिणगरपडिसिहिककाओ, रंति च सव्व-  
कालं खंधावारे करेति आलोकं दिवसभूतं । जस्स पहावेण  
चककवट्टी तिमिसगुहमतीति सेन्नसहिते अभिजेतुं वित्थिय-  
मड्डभरहं । रायपवरे कागिणिं गहाय तिमिसगुहापुरत्थि-  
मपच्चत्थिमिल्लेसु कडएसु जोयणंतरियाइं पंचध्रणुस-  
यायामविवखंभाइं जोयणुज्जोकराइं चककनेमिसंठियाइं  
चंदमंडलपडिणिकासाइं एगुणपन्नमंडलाइं आनिहमाणे-  
आलिहमाणे अणुपविसइ, जाव धरति चककवट्टी ताव किर  
ताणि मंडलाणि धरंति, गुहाय किर तहा उग्घाडिया  
चेव । तए णं सा तिमिसगुहा तेहिं मंडलेहिं आलोयभूता  
उज्जोयभूता जाता यावि होत्था ।

(आवचू १ पृ १९३, १९४)

काकणी रत्न के छह तल, बारह कोटि, आठ कोण  
होते हैं । वह अहरन के संस्थान से संस्थित और आढ



मुवर्ण जितने वजन वाला होता है। उसका प्रमाण है चार अंगुल। वह विषनाशक, अतुल, समतल और समचतुरस्र संस्थान वाला होता है।

लोक में मान-उन्मान-प्रमाण इसी के आधार पर प्रवृत्त होते हैं। इस दिव्य प्रभावशाली रत्न की रश्मियां चक्रवर्ती की सेना में बारह योजन तक के अंधकार को नष्ट कर देती है। इसके प्रभाव से रात्रि भी दिन जैसी आलोकमय बन जाती है।

अपर अर्धभरत क्षेत्र पर विजय पाने के लिए चक्रवर्ती तमिस्रा गुफा में प्रवेश करता है और वहाँ एक-एक योजन

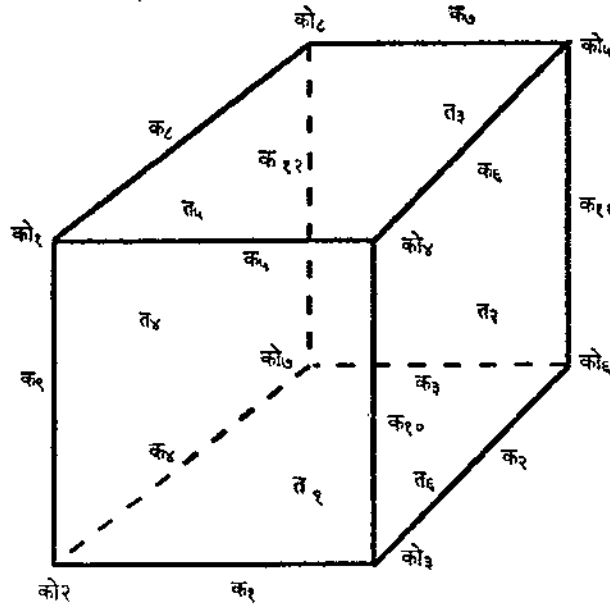
के अन्तर से काकणी रत्न द्वारा चन्द्रमण्डल जैसे प्रकाशक उनपचास मण्डलों का आलेखन करता है। वे मण्डल चक्रनेमि संस्थान वाले, पांच सौ धनुष आयाम वाले तथा एक-एक योजन तक प्रकाश करने वाले होते हैं। इनसे तमिस्रा गुफा आलोकमय, उद्योतमय बन जाती है।

भरहे...कागणिरयणं परामुसति, परामुसिता उसभ-  
कूडस्स पुरत्थिमिल्लंसि कडगंसि णामगं आउडेति।

(आवचू १ पृ २००)

चक्रवर्ती भरत ऋषभकूट पर्वत के पूर्वीय भाग में काकणी रत्न से अपना नाम उत्कीर्ण करता है।

## काकणी रत्न



- १२ कोटि—क<sub>१</sub> = को<sub>२</sub> से को<sub>३</sub>  
 क<sub>२</sub> = को<sub>३</sub> से को<sub>४</sub>  
 क<sub>३</sub> = को<sub>४</sub> से को<sub>७</sub>  
 क<sub>४</sub> = को<sub>७</sub> से को<sub>२</sub>  
 क<sub>५</sub> = को<sub>१</sub> से को<sub>४</sub>  
 क<sub>६</sub> = को<sub>४</sub> से को<sub>५</sub>  
 क<sub>७</sub> = को<sub>५</sub> से को<sub>८</sub>  
 क<sub>८</sub> = को<sub>८</sub> से को<sub>१</sub>  
 क<sub>९</sub> = को<sub>१</sub> से को<sub>२</sub>  
 क<sub>१०</sub> = को<sub>४</sub> से को<sub>३</sub>  
 क<sub>११</sub> = को<sub>५</sub> से को<sub>६</sub>  
 क<sub>१२</sub> = को<sub>८</sub> से को<sub>७</sub>

- ८ कोण—को<sub>१</sub> = सामने तल के ऊपर बाएं  
 को<sub>२</sub> = सामने तल के नीचे बाएं  
 को<sub>३</sub> = सामने तल के नीचे दाएं  
 को<sub>४</sub> = सामने तल के ऊपर दाएं  
 को<sub>५</sub> = पीछे तल के ऊपर दाएं  
 को<sub>६</sub> = पीछे तल के नीचे दाएं  
 को<sub>७</sub> = पीछे तल के नीचे बाएं  
 को<sub>८</sub> = पीछे तल के ऊपर बाएं

- ६ तल—त<sub>१</sub> = सामने तल त<sub>४</sub> = बाएं  
 त<sub>२</sub> = दाएं त<sub>५</sub> = ऊपर  
 त<sub>३</sub> = पीछे त<sub>६</sub> = नीचे

(इस स्थापना में 'क' कोटि का सूचक है।)

**असि रत्न**

कुवलयदलसामलं च रयणिकरमंडलनिभं सत्तुजण-  
विणासणं कणकरतण्डंडं णवमालियपुप्फसुरभिर्गंधि  
णाणामणिलतिकभत्तिचित्तं च पद्योतमिसिमिसैतं तिवखधारं  
दिव्वं खग्गरयणं लोके अणोवमाणं, तं च पुणो वंसरुक्ख-  
सिगट्टिदंतकालायसविपुललोहडंडकवरवड्ढरभेदयं जाव  
सव्वत्थ अप्पडिहतं, किं पुण देहेसु जंगमाणं ?

पन्नासंगुलदीहो सोलस अंगुलाइं विच्छिन्नो ।  
अट्ठंगुलसोणीक्को जेट्टपमाणो असी भणितो ॥  
(आवचू १ पृ १९६)

दिव्य असि रत्न नीलकमल के समान श्यामल, चन्द्र  
के समान चमक वाला, नव मल्लिका के समान गंध वाला  
होता है। शत्रुओं का विनाशक, तीक्ष्ण धार वाला वह  
असि रत्न लोक में अनुपम होता है। इसकी मूठ स्वर्ण-  
रत्नों से मंडित होती है। उस पर मणिरत्नों से नाना  
चित्र निमित्त होते हैं। असि रत्न वंशवृक्ष, शृंग, अस्थि,  
हाथीदांत, लोहदंड और वज्र को भी भेद डालता है।  
वह पचास अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौड़ा और आठ  
अंगुल मोटा होता है।

**दंड रत्न**

तं भवे दंडरयणं पंचलडयं वड्ढरसारमतियं विणासणं  
सव्वसत्तुत्तेन्नाणं खंधावारे णरवड्ढस्स मड्डुदरिविसमपण्णार-  
गिरिपव्वताणं समीकरणं संतिकरणं सुभकरं रत्नो  
हिदइच्छित्तमणोरहपुरं दिव्वमपडिहतं । .....तिसिसगुहाए  
दाहिणिरुलस्स दुवारस्स कचाडे दंडरयणेण.....विहाडेइ ।

(आवचू १ पृ १९२)

दिव्य दण्ड रत्न अप्रतिहत, शान्तिकारक, शुभकारक  
और चक्रवर्ती का मनोरथ पूर्ण करने वाला होता है।  
उसके पांच लताएं होती हैं। वज्र के सारभाग से  
निर्मित वह रत्न शत्रुसेना को नष्ट कर देता है तथा  
गड्ढों, गुफाओं और पर्वतों के विषम भागों को सम  
बना देता है।

सेनापति तमिस्रा गुफा के दक्षिणी भाग के कपाटों  
को दंड रत्न से ताड़ित कर खोलता है।

**एकेन्द्रिय रत्न**

सत्त एगिदियरयणा तं जहा—चक्करयणे, छत्तरयणे,  
चम्मरयणे, दंडरयणे, असिरयणे, मणिरयणे, कामणिरयणे ।  
(आवचू १ पृ २०३)

चक्रवर्ती के एकेन्द्रिय रत्न सात हैं —

- |         |          |
|---------|----------|
| १. चक्र | ५. असि   |
| २. छत्र | ६. मणि   |
| ३. चर्म | ७. काकणी |
| ४. दंड  |          |

**रत्नों की उत्पत्ति**

भरहस्स णं रत्नो चक्करयणे छत्तरयणे दंडरयणे  
असिरयणे - एते णं चत्तारि एगिदियरयणा आयुधसालाए  
समुप्पन्ना । चम्मरयणे मणिरयणे कामणिरयणे णव य  
महाणिहीओ, एते णं सिरिघरंसि समुप्पण्णा, सेणावतिरयणे  
गाहावतिरयणे, वड्ढतिरयणे पुरोहितरयणे एते णं चत्तारि  
मणुयरयणा विणीताए रायहाणीए समुप्पन्ना, आस्रयणे  
हत्थिरयणे एते णं दुवे पंचेदियरयणा वेयड्ढगिरिपादमूले  
समुप्पण्णा, इत्थिरयणे उत्तरिल्लाए विज्जाहरसेठीए  
समुप्पन्ने । (आवचू १ पृ २०७)

चक्र, छत्र, दंड और असि—ये चार एकेन्द्रिय रत्न  
आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं।

चर्म, मणि, काकणी तथा नव निधियां ये श्रीगृह  
में उत्पन्न होती हैं।

सेनापति, माथापति, वर्धकी और पुरोहित—ये चार  
मनुष्य रत्न विनीता राजधानी में उत्पन्न होते हैं।

अश्व और हस्ति—ये दो पंचेन्द्रिय रत्न वैताड्य  
पर्वत की तलहटी में उत्पन्न होते हैं।

स्त्री रत्न उत्तरी विद्याधर श्रेणी में उत्पन्न होता है।

**नौ महानिधि**

णेसप्ये षंडुयए पिगलये सव्वरयण महापउमे ।

काले य महाकाले माणवग महाणिही संखे ॥

(आवचू १ पृ २०२)

चक्रवर्ती के नौ महानिधि होते हैं—

- |             |           |
|-------------|-----------|
| १. नैसर्ग   | ६. काल    |
| २. पांडक    | ७. महाकाल |
| ३. पिगल     | ८. माणवक  |
| ४. सर्वरत्न | ९. शंख    |
| ५. महापद्म  |           |

**नैसर्ग महानिधि**

णेसप्यंमि णिवेसा मामागरणगरपट्टणाणं च ।

दोणमुहमडंबाणं खंधावारावणमिहाणं ॥

(आवचू १ पृ २०२)

ग्राम, आकर, नगर, पट्टण, द्रोणमुख, मडंब, स्कंधा-  
वार और गृहों की रचना का ज्ञान नैसर्ग महानिधि से  
होता है ।

### पांडुक महानिधि

गणितस्स य उप्पत्ती माणुम्माणस्स जं पमाणं च ।

धन्नस्स य बीयाण य णिप्फत्ती पंडुए भणिता ।

(आवचू १ पृ २०२)

गणित की उत्पत्ति, मान-उन्मान का प्रमाण तथा  
धान्य और बीजों की निष्पत्ति का ज्ञान 'पांडुक' महा-  
निधि से होता है ।

### पिंगल महानिधि

सव्वा आहरणविही पुरिसाणं जा य होति महिलाणं ।

आसाण य हत्थीण य पिंगलगणिहिमि सा भणिया ॥

(आवचू १ पृ २०२)

स्त्री, पुरुष, घोड़े और हाथियों की समस्त आभरण-  
विधि का ज्ञान 'पिंगल' महानिधि से होता है ।

### सर्वरत्न महानिधि

रयणाणि सव्वरतणे चउदसवि वराइं चक्रवट्टिस्स ।

उप्पज्जती पंचेदिधाइं एगिदियाइं च ॥

(आवचू १ पृ २०२)

चक्रवर्ती के सात एकेन्द्रिय और सात पञ्चेन्द्रिय  
रत्न — इन चौदह रत्नों की उत्पत्ति का वर्णन 'सर्वरत्न'  
महानिधि से होता है ।

### महापद्म महानिधि

वत्थाण य उप्पत्ती णिप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं ।

रंगाण य धोव्वाण य सव्वा एसा महापउमे ॥

(आवचू १ पृ २०२)

रंगे हुए या श्वेत सभी प्रकार के वस्त्रों की उत्पत्ति  
व निष्पत्ति का ज्ञान 'महापद्म' महानिधि से होता है ।

### काल महानिधि

काले कालन्नाणं भव्व पुराणं व तिसुवि वासेसु ।

सिप्पसयं कम्मणि य तिण्ण पयाए हितकराणि ॥

(आवचू १ पृ २०२)

अनागत व अतीत के तीन-तीन वर्षों के शुभाशुभ का  
कालज्ञान, सौ प्रकार के शिल्पों का ज्ञान और प्रजा के  
लिए हितकर सुरक्षा, कृषि, वाणिज्य — इन तीन कर्मों  
का ज्ञान 'काल' महानिधि से होता है ।

### महाकाल महानिधि

लोहस्स य उप्पत्ती होइ महाकालि आगराणं च ।

रूपस्स सुवण्णस्स य णिमुत्तिसिलापवालाणं ॥

(आवचू १ पृ २०२)

लोह, चांदी तथा सोने के आकर, मणि, मुक्ता,  
स्फटिक और प्रवाल की उत्पत्ति का ज्ञान 'महाकाल'  
महानिधि से होता है ।

### माणवक महानिधि

जोहाण य उप्पत्ती आवरणाणं च पहरणाणं च ।

सव्वा य जुद्धणीती माणवगे डंडणीती य ॥

(आवचू १ पृ २०२)

योद्धाओं, कवचों और आयुधों के निर्माण का ज्ञान  
तथा समस्त युद्धनीति और दण्डनीति का ज्ञान 'माणवक'  
महानिधि से होता है ।

### शंख महानिधि

णट्टविहि णाडगविही कव्वस्स य चउविहस्स उप्पत्ती ।

सखे महाणिहिम्मी तुडियंगाणं च सव्वेसि ॥

(आवचू १ पृ २०२)

नृत्यविधि, नाटकविधि, चार प्रकार के काव्यों तथा  
सभी प्रकार के वाद्यों की विधि का ज्ञान 'शंख' महानिधि  
से होता है ।

पलिओवमट्टितीया णिहिसरिणामा य तेसु खलु देवा ।

जेसि ते आवासा, अक्केज्जा आहिवच्चाय ॥

एते णवणिहिरयणा पभूतधणरयणसंचयसमिद्धा ।

जे वसमणुगच्छंती भरहाहिवचकवट्टीणं ॥

(आवचू १ पृ २०३)

वे सभी निधि एक पर्योपम की स्थिति वाले होते  
हैं । जो-जो निधियों के नाम हैं, उन्हीं नामों के देव उनमें  
आवास करते हैं । उनका क्रय-विक्रय नहीं होता और उन  
पर सदा देवों का आधिपत्य रहता है ।

वे नौ निधि प्रभूत धन और रत्नों के संचय से  
समृद्ध होते हैं और वे समस्त चक्रवर्तियों के वश में रहते  
हैं ।

चककट्टपतिट्टाणा अट्टुस्सेहा य णव य विकखंभो ।

बारसदीहा मंजूस-संठिता जण्हीयमुहे ॥

वेरुलियमणिकवाडा कणममया विविहरयणपडिपुला ।

ससिभूरचककलखण अणुसमवयणोववत्तीया ॥

(आवचू १ पृ २०२)

प्रत्येक महानिधि आठ-आठ चक्रों पर अवस्थित है। वे आठ योजन ऊंचे, नौ योजन चौड़े, बारह योजन लम्बे तथा मंजूषा के संस्थान वाले होते हैं। वे सभी गंगा के मुहाने पर अवस्थित रहते हैं।

उन निधियों के कपाट वैदूर्य-रत्नमय और सुवर्णमय होते हैं। उन पर चन्द्र, सूर्य और चक्र के आकार के चिह्न होते हैं। वे सभी समान होते हैं और उनके दरवाजे के मुखभाग में खंभे के समान वृत्त और लम्बी द्वार-शाखाएं होती हैं।

#### ४. चक्रवर्ती भरत

भरहे रहं परावत्तेता जेणेव उसभकूडे पव्वते तेणेव उवागच्छति उवागच्छता तं पव्वयं तिकखुत्तो रहसीसेणं फुसति रहं ठवेति, कागणिरयणं परामुसति, परामुसित्ता उसभकूडस्स पुरत्थिमिल्लंसि कडगंसि णामगं आउडेति।

ओसपिणी इमीसे ततिष्ठाएँ समाएँ पच्छिमे भाए।

अहयंमि चक्रवट्टी भरहो इति णामघेज्जेणं ॥

अहमंसि पढमराया इहाहि भरहाहिवो णरवरिदो।

णत्थि महं पडिसत्तु जितं मए भारहं वासं ॥

(आवचू १ पृ २००)

चक्रवर्ती भरत ऋषभकूट पर्वत के पूर्वी भाग में काकणी रत्न से अपना नाम-परिचय उत्कीर्ण करता है—

इस अवसर्पिणी कालचक्र के तीसरे अर के पश्चिम भाग में मैं भरत नाम वाला प्रथम चक्रवर्ती हूँ। मैं संपूर्ण भरतक्षेत्र का अधिपति हूँ। मेरा कोई प्रतिशत्रु नहीं है। मैंने भारतवर्ष को जीत लिया है।

भरहे राया महता हिमवंतमलयमंदरजावरज्जं पसा-हेमाणे विहरति। (आवचू १ पृ २०७)

भरत सम्राट् का साम्राज्य हिमवान्, मलय और मंदर पर्वत पर्यंत व्याप्त था।

वमुधर गुणधर अयवर हिरिसिरिधितिकित्तिधारकरिंद। लक्खणसहस्सधारक नायमिणं जे चिरं धारे ॥

ह्यवतिगजवतिणरवतिणवनिहिवति भरहवासपढमवति !। बत्तीसजणवयसहस्सरायसामी चिरं जीव ॥

पढमणरीसर ईसर हियईसर महिलियासहस्साणं। देवसयसहस्सीसर चौहसरयणीसर जसंसी ॥

सागरगिरिपेरंतं उत्तरपाईणमभिजितं तुमए। तं अम्हे देवाणुप्पियस्स विसए परिवसामो ॥

(आवचू १ पृ १९८, १९९)

भरत चक्रवर्ती रत्नों का धारक, गुणों का आलय

और ह्री-श्री-धृति-कीर्ति से सम्पन्न थे। वे हजार शुभ लक्षणों से युक्त थे। वे अश्वपति, गजपति, नरपति और नौ निधियों के स्वामी थे। भरतक्षेत्र के प्रथम अधिपति थे। वे बत्तीस हजार जनपद-राजाओं पर शासन करते थे। उनके हजारों रानियां थीं। लाखों देव उनकी सेवा में थे। उन यज्ञस्वी और चौदह रत्नों के अधिपति चक्रवर्ती का साम्राज्य पश्चिम में सागर पर्यंत और उत्तर में मंदरगिरिपर्यंत फैला हुआ था।

#### प्रव्रज्या

भरहसामी दसहि रायसहस्सेहि सद्धि पव्वइओ। सेसा णव चक्रिणो सहस्सपरिवारा पव्वइया। आइच्च-जसो सक्केण अभिसित्तो। एवं अट्ट पुरिसजुगाणि अभिसित्ता। (आवचू १ पृ २२८)

भरत चक्रवर्ती दस हजार राजाओं के साथ प्रव्रजित हुए। शेष नौ चक्रवर्ती हजार-हजार राजाओं के साथ प्रव्रजित हुए। सम्राट् भरत की दीक्षा के पश्चात् शक्र ने आदित्ययण का राज्याभिषेक किया। आठ पुरुषयुग — महायुग, अतिवल, बलभद्र, बलवीर्य, वीर्य, जलवीर्य और दंडवीर्य तक यह अभिषेक का क्रम चला।

#### भरत को कैवल्य

एयं पुण्णपयं सोच्चा, अत्थधम्मोवसोहियं।

भरहो वि भारहं वासं, चेच्चा कामाइ पव्वए ॥

(उ १८।३४)

अर्थ (मोक्ष) और धर्म से उपशोभित पवित्र उपदेश को सुनकर भरत चक्रवर्ती ने भारतवर्ष और काम-भोगों को छोड़कर प्रव्रज्या ली।

आयंसघरपवेसो भरहे पडणं च अंगुलीअस्स।

सेसाणं उम्मुअणं संवेगो नाण दिक्खा य ॥

(आवनि ४३६)

सव्वालंकारविभूसितो आयंसघरं अतीति, तत्थ य सव्वंगिओ पुरिसो दीसति, तस्स एवं पेच्छमाणस्स अंगुली-ज्जगं पडियं तं च तेण ण णायं पडियं, एवं तस्स पलोए-तस्स जाहे तं अंगुलि पलोएति जाव सा अंगुली न सोहति तेण अंगुलीज्जएण विणा, ताहे पेच्छति पडियं, ताहे कडगंपि अवणेति, एवं एक्केक्क आभरणं अवणतेण सव्वाणि अवणीताणि, ताहे अप्पाणं पेच्छति, उच्चिय-पउमं व पउमसरं असोभमाणं पेच्छइ। पच्छा भणति आगंतुएहि दव्वेहि विभूसितं इमं सरीरगंति, एत्थं संवेग-

मावन्नो । इमं च एवं गतं सरीरं, एवं चितेमाणस्स ईहा-  
बूहामग्गणगवेसणं करेमाणस्स अपुब्बकरणं भाणं  
अणुपविट्ठो केवलणणं उप्पाडेति । (आवचू १ पृ २२७)

एक दिन चक्रवर्ती भरत ने आदर्श गृह में प्रवेश किया । वहाँ वे अपने अलंकारों से अलंकृत शरीर को शीशे में देख रहे थे । सहसा उनकी अंगुली से एक अंगूठी नीचे गिर गई । जब अंगूठीविहीन अंगुली पर उनकी दृष्टि पड़ी तो वह अंगुली सुन्दर नहीं लगी, इससे चितन-धारा बदली और एक-एक कर उन्होंने सभी आभूषण उतार दिये । फिर अपने शरीर को शीशे में देखा तो वह पद्मविहीन पद्मसरोवर की तरह अरमणीय लगा । शरीर-प्रेक्षा से यह अनुचितन उभरा कि यह शरीर मूल में सुन्दर नहीं है, बाह्य आभूषणों से सुन्दर लगता है— इस अनुप्रेक्षा से वैराग्यवृद्धि हुई । ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते-करते सम्राट् भरत ने अपूर्वकरण ध्यानश्रेणी में अनुप्रविष्ट हो केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ।

### ५. सगर आदि चक्रवर्ती

सगरो वि सागरतं, भरहवासं नराहिवो ।  
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे ॥

(उ १८१३५)

सगर चक्रवर्ती सागर पर्यंत भारतवर्ष और पूर्ण ऐश्वर्य को छोड़ अहिंसा की आराधना कर मुक्त हुए ।

#### मघवा चक्रवर्ती

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिडिडओ ।  
पव्वज्जमळ्भुवगओ, मघवं नाम महाजसो ॥

(उ १८१३६)

महद्विक और महान् यशस्वी मघवा चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड़कर व्रज्या ली ।

#### सनत्कुमार चक्रवर्ती

सणकुमारो मणुस्सिन्दो, चक्कवट्टी महिडिडओ ।  
पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं, सो वि राया तवं चरे ॥

(उ १८१३७)

महद्विक राजा सनत्कुमार चक्रवर्ती ने पुत्र को राज्य सौंप कर तपश्चरण किया ।

#### शांति चक्रवर्ती

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिडिडओ ।  
संती संतिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं ॥

(उ १८१३८)

महद्विक और लोक में शांति करने वाले शांतिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड़कर अनुत्तर गति प्राप्त की ।

#### कुंथु चक्रवर्ती

इक्खागरायवसभो, कुंथु नाम नराहिवो ।  
विक्खायकिस्ती धिइमं, मोक्खं गओ अणुत्तरं ॥

(उ १८१३९)

इक्ष्वाकु कुल के राजाओं में श्रेष्ठ, विख्यात कीर्ति वाले, धृतिमान् भगवान् कुंथु नरेश्वर ने अनुत्तर मोक्ष प्राप्त किया ।

#### अर चक्रवर्ती

सागरतं जहित्ताणं, भरहं वासं नरीसरो ।  
अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥

(उ १८१४०)

सागर पर्यंत भारतवर्ष को छोड़कर, कर्मरज से मुक्त होकर 'अर' नरेश्वर ने अनुत्तर गति प्राप्त की ।

#### महापद्म चक्रवर्ती

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी नराहिवो ।  
चइत्ता उत्तमे भोए, महापउमे तवं चरे ॥

(उ १८१४१)

विपुल राज्य, सेना और वाहन तथा उत्तम भोगों को छोड़कर महापद्म चक्रवर्ती ने तप का आचरण किया ।

#### हरिषेण चक्रवर्ती

एगच्छत्तं पसाहित्ता, महि माणनिसूरणो ।  
हरिसेणो मणुस्सिन्दो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥

(उ १८१४२)

(शत्रु-राजाओं का) मान-मर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी पर एक-छत्र शासन किया, फिर अनुत्तर गति प्राप्त की ।

#### जय चक्रवर्ती

अस्सिओ रायसहस्सेहि, सुपरिच्चाई दमं चरे ।  
जयनामो जिणक्खायं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥

(उ १४१४३)

जय चक्रवर्ती ने हजार राजाओं के साथ राज्य का परित्याग कर जिन-भाषित दम का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की ।

### ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

जाईपराजिओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।  
चुलणीए बंभदत्तो, उववघो पउमग्ग्माओ ॥  
कंपिल्ले संभूओ, चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि ।  
सेट्टिकुलम्मि विसाले, धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥  
कंपिल्लम्मि य नयरे, समागया दो वि चित्तसंभूया ।  
सुहदुक्कफलविवागं, कहेंति ते एकमेक्कस्स ॥  
(उ १३।१-३)

जाति से पराजित हुए संभूत ने हस्तिनापुर में निदान (चक्रवर्ती होऊँ—ऐसा संकल्प) किया । वह सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान में देव बना । वहाँ से च्युत होकर चुलनी की कोख में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुआ ।

संभूत काम्पिल्य नगर में उत्पन्न हुआ । चित्र पुरिम-ताल में एक विशाल श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न हुआ । वह धर्म सुन प्रव्रजित हो गया । काम्पिल्य नगर में चित्र (ब्रह्मदत्त) और संभूत (मुनि) दोनों मिले । दोनों ने परस्पर एक दूसरे के सुख-दुःख के विपाक की बात की ।  
आसिमो भायरा दो वि, अन्नमन्नवसाणुसा ।  
अन्नमन्नमणुरत्ता, अन्नमन्नहिंसिणो ॥  
दासा दसण्णे आसी, मिया कालिजरे नगे ।  
हंसा मयंगतीरे, सोवागा कासिभूमिए ॥  
देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिडिडया ।  
इमा नो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा ॥  
(उ १३।५-७)

ब्रह्मदत्त ने मुनि से कहा—

हम दोनों भाई थे—एक दूसरे के वंशवर्ती, परस्पर अनुरक्त और परस्पर हितैषी । हम दोनों दक्षार्ण देश में वास, कालिजर पर्वत पर हरिण, मृतगंगा के किनारे हंस और काशी देश में चांडाल थे । हम दोनों सौधर्म देवलोक में महान् ऋद्धि वाले देव थे । यह हमारा छठा जन्म है, जिसमें हम एक दूसरे से बिछुड़ गये ।

पंचालराया वि य बम्भदत्तो, साहुस्स तस्स वयणं अकाउं ।  
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे, अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ॥  
(उ १३।३४)

पंचाल जनपद के राजा ब्रह्मदत्त ने मुनि के वचन

का पालन नहीं किया । वह अनुत्तर कामभोगों को भोगकर अनुत्तर (अप्रतिष्ठान) नरक में गया ।

### ६. चक्रवर्ती और इन्द्र भव्य

पोगलपरियट्टद्धं जं नरदेवंतरं सुए भणियं ।  
तो सो भव्वो, कालो जमयं निव्वाणभावीणं ॥  
नरदेवाणं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होइ ?  
गोयसा ! जहन्नेणं साइरेगं सागरोवमं, उवकोसेणं अणंतं कालं—  
अवड्ढं पोगलपरियट्टं देसूणं । (भग १२।१९३)  
चक्रवर्ती भव्य एव भवति नाभव्यः, यस्मादयमपार्धपुद्गलपरावर्तलक्षणोऽन्तरकालो भाविनिर्वाणपदानामेव घटते । अभव्यानां तु भवनपत्यादिभाविदेवानामुत्कृष्टतो वनस्पतिकालस्यैवाऽन्तराऽभिधानात् । किञ्च, अन्यत्रापि देवेन्द्र-चक्रवर्तित्वादिपदयोग्यकर्मणां बन्धो भव्यानामेवोक्तः ।  
(विभा ८०५ मवृ पृ ३२९)

भगवती सूत्र में चक्रवर्ती का अन्तरकाल जघन्यतः सातिरेक सागरोपम और उत्कृष्टतः देशेन अपार्ध पुद्गलपरावर्त प्रतिपादित है । इस आधार पर कहा गया है कि चक्रवर्ती भव्य ही होता है, अभव्य नहीं । जो भविष्य में मुक्त होने वाले जीव हैं, उन्हीं के लिए अंतरकाल अपार्ध पुद्गलपरावर्त घटित होता है । भवनपति आदि अभव्य देवों का अन्तरकाल अनन्त है । इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों के योग्य कर्मों का बंध भव्य जीवों के ही होता है—ऐसा अन्य ग्रन्थों में भी प्रतिपादित है ।

### ७. चक्रवर्ती और वासुदेव कब ?

उसभे भरहो अजिए सगरो मघवं सणंकुमारो अ ।  
धम्मस्स य संतिसस य जिणंतरे चक्कवट्टिदुमं ॥  
संती कुंथू अ अरो अरहंता चैव चक्कवट्टी अ ।  
अरमल्लीअंतरे उ हवइ सुभूमो अ कोरव्वो ॥  
मुणिसुव्वए नमिमि अ हुंति दुवे पउमनाभहरिसेणा ।  
नमिनेमिसु जयनामो अरिट्ठपासंतरे बंभो ॥  
पंचरहंते वंदंति केसवा पंच आणुपुव्वीए ।  
सिज्जंस तिविट्ठाई धम्म पुरिससीहपेरंता ॥  
अरमल्लिअंतरे दुण्णि केसवा पुरिसपंडुरिअदत्ता ।  
मुणिसुव्वयनमिअंतरि नारायण कण्हु नेमिमि ॥  
(आवनि ४१६-४२०)

(किस तीर्थंकर के कालखंड में कौन से चक्रवर्ती और वासुदेव हुए ? उनकी आयु और अवगाहना कितनी थी, इसका विवरण इस प्रकार है—)

तीर्थंकर	चक्रवर्ती	वासुदेव	अवगाहना घनुष	आयु वर्ष
ऋषभ	भरत	०	५००	८४ लाख पूर्व
अजित	सगर	०	४५०	७२ "
सम्भव	०	०	४००	६० "
अभिनन्दन	०	०	३५०	५० "
सुमति	०	०	३००	४० "
पद्म	०	०	२५०	३० "
सुप शर्व	०	०	२००	२० "
चन्द्र	०	०	१५०	१० "
सुविधि	०	०	१००	२ "
शीतल	०	०	९०	१ "
श्रेयास	०	त्रिपृष्ठ	८०	८४ लाख वर्ष
वासुपूज्य	०	द्विपृष्ठ	७०	७२ "
विमल		स्वयम्भू	६०	६० "
अनन्त	०	पुरुषोत्तम	५०	३० "
धर्म	०	पुरुषसिंह	४५	१० "
०	मधवा	०	४२ <sup>३</sup> / <sub>४</sub>	५ "
०	सनत्कुमार	०	४१ <sup>३</sup> / <sub>४</sub>	३ "
शान्ति	शान्ति	०	४०	१ "
कुन्धु	कुन्धु	०	३५	९५००० वर्ष
अर	अर	०	३०	८४००० "
०	०	पुरुषपुण्डरीक	२९	६५००० "
०	सुभूम	०	२८	६०००० "
०	०	दत्त	२६	५६००० "
मल्लि	०	०	२५	५५००० "
मुनिसुव्रत	पद्म	०	२०	३०००० "
०	०	नारायण	१६	१२००० "
नेमि	हरिषेण	०	१५	१०००० "
०	जय	०	१२	३००० "
नेमि	०	कृष्ण	१०	१००० "
०	ब्रह्मदत्त	०	७	७०० "
पाशर्व	०	०	९ हाथ	१०० "
महावीर	०	०	७ हाथ	७२ "

### ८. चक्रवर्ती और वासुदेव का क्रम

चक्रवर्ती हरिपणमं पणमं चक्रवर्ती केसवो चक्रवर्ती ।

केसव चक्रवर्ती केसव दु चक्रवर्ती केसी अ चक्रवर्ती अ ॥

(आवनि ४२१)

चक्रवर्ती और वासुदेव के होने का क्रम इस प्रकार

है—

दो चक्रवर्ती, पांच वासुदेव, पांच चक्रवर्ती, वासुदेव, चक्रवर्ती, वासुदेव, चक्रवर्ती, वासुदेव, दो चक्रवर्ती, वासुदेव, चक्रवर्ती ।

चतुरिन्द्रिय —स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु—इन चार इन्द्रियों वाले जीव । (द्र. त्रस)

चतुर्विंशतिस्तव —चौबीस अर्हंतों की उत्कीर्तना ।  
(द्र. स्तवस्तुति)

चन्द्रप्रभु—आठवें तीर्थंकर । (द्र. तीर्थंकर)

चरणसत्तरी—प्रतिदिन किया जाने वाला चारित्रिक अनुष्ठान । इसके सत्तर अंग हैं—

वय समणधम्म संजम वेयावच्चं च वंभमुत्तीओ ।  
नाणाइतियं तव कोहन्निग्गहाई चरणमेयं ॥  
(ओभा २)

पांच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सत्तरह प्रकार का संयम, दस प्रकार का वैयावृत्त्य, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बारह प्रकार का तप (अनशन आदि) और क्रोध आदि चार कषायों का निग्रह—इन्हें चरणसत्तरी कहा जाता है ।

चारित्र—महाव्रत आदि का आचरण । सामायिक की साधना ।

* चारित्र के आचार	(द्र. आचार)
* चारित्र विनय	(द्र. विनय)
* चारित्र धर्म के प्रकार	(द्र. धर्म)
* चारित्र भावना	(द्र. भावना)
* अप्रत्याख्यानकषाय के क्षयोपशम से देश चारित्र	(द्र. भावक)
* कषाय के उदय से चारित्रघात	(द्र. कषाय)
* चारित्रसम्पन्न को ही मनःपर्यवज्ञान	(द्र. मनःपर्यवज्ञान)
* चारित्र-अतिशय से अंधाचारण लब्धि	(द्र. लब्धि)
* चारित्रमोह के प्रकार	(द्र. कर्म)
* चारित्र : सामायिक का एक भेद	} (द्र. सामायिक)
* चारित्र सामायिक की स्थिति, ग्रहण की अर्हता, काल, विशा आदि	
* सामायिक और कालचक्र.....	
* चारित्रसम्पन्नता और ध्यान	द्र. ध्यान)

## १. चारित्र का निर्वचन और लक्षण

....एयं चरित्करं, चारित्तं होइ आहियं ॥

(उ २=३३)

जो कर्म-संचय को रित्त करता है, वह चारित्र है ।

चरित्तं—गच्छन्त्यनेन मुक्तिमिति चारित्रम् ।

(उशावृ प ५५६)

जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है, वह चारित्र है ।

चारित्रं....सदसत्क्रियाप्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणम् ।

(उशावृ प ५५६)

चारित्र का लक्षण है—सत् आचरण में प्रवृत्ति और असत् आचरण से निवृत्ति ।

## २. चारित्र के प्रकार

चरित्तगुणप्पमाणे पंचविहे पणत्ते, तं जहा—सामा-  
इयचरित्तगुणप्पमाणे, छेदोवद्वावणियचरित्तगुणप्पमाणे,  
परिहारविमुद्धियचरित्तगुणप्पमाणे, सुहुमसंपरायचरित्तगुण-  
प्पमाणे, अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे । (अनु ५५३)

चारित्र के पांच प्रकार हैं—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ।

## ३. सामायिक चारित्र

सावज्जजोगविरइ त्ति.....॥ (विभा १२६३)

सर्वथा सावद्ययोग की विरति सामायिक है ।

### १. चारित्र का निर्वचन और लक्षण

#### २. चारित्र के प्रकार

#### ३. सामायिक चारित्र

\* तीर्थंकर के सामायिक चारित्र (द्र. तीर्थंकर)

#### ४. छेदोपस्थापनीय चारित्र

#### ५. परिहारविशुद्धि चारित्र

#### ० परिहार तप का क्रम

#### ० आहार विधि

#### ० कालमान

#### ० तप समाप्ति के बाद का क्रम

#### ६. सूक्ष्मसंपराय चारित्र

\* सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान (द्र. गुणस्थान)

#### ७. यथाख्यात चारित्र

#### ८. कषाय-विलय से चारित्र-प्राप्ति

#### ९. चारित्रिक स्थिरता के आलम्बन सूत्र

#### १०. चारित्र का मूल्य

#### ११. चारित्र सम्पन्नता के परिणाम

#### १२. चारित्र और सम्यक्त्व

#### १३. चारित्र और नय

#### १४. चारित्र (शौल) के अठारह हजार अंग



समिति साङ्गत्येनैकीभावेन वा आयो - गमनं-प्रवर्तनं  
समायः स प्रयोजनमस्य सामायिकम् । तच्च सकलसाव-  
द्यपरिहार एव । तत्रैव सति साङ्गत्येन स्वपरविभागा-  
भावेन च सर्वत्र प्रवृत्तिसम्भवात् । यद्वा समो—रागद्वेष-  
विरहितः स चेह प्रस्तावाच्चित्तपरिणामस्तस्मिन्नाथो—  
गमनं समायः स एव सामायिकम् । (उशावृ प ५६७)

- ० अपने और पराये का भेद किये बिना प्रवृत्ति करना सामायिक है । सर्व सावद्य योग का परिहार करने पर ही सामायिक हो सकती है ।
- ० राग-द्वेष से रहित चित्त का परिणाम सम है, उसमें रहना सामायिक है ।

#### प्रकार

“सामाश्यं दुहा तं च ।

इतरमावकहं ति य पढमं पढमंतिमजिणाणं ॥  
तित्थेसुमणारोवियवयस्स सेहस्स थोवकालियं ।  
सेसाणमावकहियं तित्थेसु, विदेहयाणं च ॥

(विभा १२६३, १२६४)

सामायिक चारित्र के दो भेद हैं—इत्वरिक—स्वल्प-  
कालीन और यावत्कथिक—आजीवन ।

इत्वरिक सामायिक चारित्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय के उन शंख साधुओं के तब तक होता है, जब तक महाव्रतों का विस्तार से आरोपण नहीं किया जाता । महाविदेह क्षेत्र में सब साधुओं तथा शेष बान्सी तीर्थंकरों के शासन में यावत्कथिक सामायिक चारित्र होता है ।

#### ४. छेदोपस्थापनीय चारित्र

परियायस्स य छेओ जत्थोवट्ठावणं वएसुं च ।

छेओवट्ठावणमिह ..... ॥

(विभा १२६८)

जिसमें सामायिक चारित्र की पर्याय का छेद और महाव्रतों का पुनः उपस्थापन किया जाता है, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है ।

#### प्रकार

छेओवट्ठावणियचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते तं  
जहा—साइयारे य निरइयारे य । (अनु ५५३)

सेहस्स निरइयारं तित्थंतरसंकमे च तं होज्जा ।

मूलगुणघाइणो साइयारमुभयं च ठियकप्पे ॥

(विभा १२६९)

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो प्रकार हैं—

१. निरतिचार—यह दो अवस्थाओं में होता है—
    - ० शिष्य को विस्तार से महाव्रतों की उपस्थापना दी जाने पर ।
    - ० एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने पर ।
  २. सातिचार—मूल गुण का घात हो जाने पर पुनः महाव्रतों का आरोपण करना सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है ।
- ये दोनों ही अवस्थाएं स्थितकल्प साधु में होती है ।

#### ५. परिहारविशुद्धि चारित्र

परिहारेण विसुद्धं सुद्धो वा तओ जहिं विसेसेण ।

तं परिहारविसुद्धं परिहारविसुद्धियं नाम ॥

(विभा १२७०)

परिहार नामक तपविशेष के द्वारा शुद्धि प्राप्त करना परिहारविशुद्धि चारित्र है ।

#### प्रकार

परिहारविशुद्धियचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते,  
तं जहा—निव्विसमाणए य निव्विट्टकाइए य । (अनु ५५३)

तं दुविगप्पं निव्विसमाण-निव्विट्टकाइयवसेणं ।

परिहारियाणुपरिहारियस्स कप्पट्टियस्स वि य ॥

नवको गणं इदं प्रतिपद्यते, तच्चथा—चत्वारः परि-

हारिकाः, चत्वारश्चानुपरिहारिकाः, एकस्तु कल्पस्थितः ।

तत्र परिहारिकाणां तदासेवकत्वादिदं निविशमानकमुच्यते,

अनुपरिहारिकाणां कल्पस्थितस्य च विहितवक्ष्यमाणतपसां  
निविष्टकायिकमभिधीयते । (विभा १२७१ मवृ पृ ४७८)

परिहार विशुद्धि के दो प्रकार हैं—निविशमान और निविष्टकायिक ।

नौ साधु इस तप को प्रारम्भ करते हैं । उनमें एक कल्पस्थित, चार पारिहारिक और चार अनुपरिहारिक होते हैं । वर्तमान में जो पारिहारिक मुनि परिहार तप करते हैं, वे निविशमान कहलाते हैं । जो परिहार तप कर चुकते हैं और वर्तमान में सेवा में नियुक्त होते हैं, वे निविष्टकायिक कहलाते हैं ।

परिहार तप का क्रम

गिम्ह-सिसिर-वासासुं चउत्थयाईणि वारसंताइं ।

अड्ढापक्कंतीए जहण्णमज्झिभुवकोसयतवाणं ॥

(विभा १२७३)

श्रीष्म	शिशिर	वर्षा
जघन्य उपवास (चतुर्थ भक्त)	बेला (षष्ठभक्त)	तेला (अष्टमभक्त)
मध्यम बेला	तेला	चोला
उत्कृष्ट तेला	चोला	पंचोला

### आहार-विधि

सेसा उ निययभक्ता पायं भक्तं च ताणमायामं ।  
होइ नवण्हं वि नियमा न कप्पए सेसयं सव्वं ॥

(विभा १२७४)

अनुपरिहारिक-कल्पस्थिताः पञ्चापि प्रायो नियत-  
भक्ता नित्यभोजिनो भवन्ति । प्रायोग्रहणाद् निजेच्छया  
कदाचिदुपवासमपि कुर्वन्ति । भक्तं च तेषां सर्वदेवाऽनु-  
परिहारिक-कल्पस्थितानां पारणके परिहारिकाणां च  
सर्वेषामाचाम्लमेव भवति । शेषं तु विकृतिलेपकृदादिकं  
वस्तु सर्वं नवानामपि नियमाद् न कल्पते ।

(विभामवृ पृ ४७९)

अनुपरिहारिक और कल्पस्थित प्रायः नित्यभोजी  
होते हैं । वे स्वेच्छा से कभी-कभी उपवास कर लेते हैं ।  
वे प्रतिदिन तथा पारिहारिक पारणे के दिन आयम्बिल  
करते हैं । उनमें से कोई भी साधु विकृति या लेपकृत  
वस्तु का प्रयोग नहीं करते हैं ।

### कालमान

परिहारिया-ऽनुपरिहारियाण कप्पट्टियस्स वि य भक्तं ।

छ छम्मासा उ तवो अट्टारसमासिओ कप्पो ॥

(विभा १२७५)

परिहारविशुद्धि साधना का कालमान अठारह  
महीने है । पारिहारिक, अनुपरिहारिक और कल्पस्थित  
—तीनों में से प्रत्येक के छह-छह महीने का तप होता है ।

### तप-समाप्ति के बाद का क्रम

कप्पसमत्तीए तयं जिणकप्पं वा उव्वेति गच्छं वा ।

ठियकप्पे च्चिय नियमा दो पुरिसजुगाइ ते हीति ॥

(विभा १२७६)

परिहार तप की समाप्ति पर कुछेक मुनि पुनः  
परिहार तप को स्वीकार करते हैं । कुछेक जिनकल्प को  
स्वीकार करते हैं । कुछेक संघ में प्रवेश कर लेते हैं ।  
इसलिए पारिहारिक तप स्थितकल्प की अवस्था में होता  
है । वह प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही होता  
है ।

### ६. सूक्ष्मसंपराय चारित्र

कोवाइ संपराओ तेण जओ संपरीइ संसारं ।

तं सुहुमसंपरायं, सुहुमो जत्थावसेसो सो ॥

(विभा १२७७)

क्रोध आदि कषाय संपराय हैं । जीव उनसे संसार  
में भ्रमण करता है । जहां सूक्ष्म कषाय (लोभ) अवशेष  
रहता है, वह सूक्ष्मसंपराय चारित्र है ।

सुहुमो अस्य रागः सुहुमसंपरागः ।

(आवचू १ पृ १०३)

जिसके सूक्ष्म राग शेष रहता है, वह सूक्ष्मसंपराग(य)  
है ।

लोभाणुं वेअंतो जो खलु उवसामओ व खवगो वा ।

सो सुहुमसंपराओ अहक्खाया ऊणओ किची ॥

(आवति ११७)

उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी में आरूढ साधक  
सूक्ष्म लोभाणुओं का वेदन करता है, उस समय की  
चारित्रिक स्थिति को सूक्ष्मसंपराय चारित्र कहा जाता  
है । यह यथाख्यात चारित्र से कुछ न्यून होता है ।

दंसणमोहाईओ भण्णइ अनियट्टिबायरो परओ ।

....जाव उ सेसो संजलणलोभ संखेज्जभागो त्ति ॥

तदसंखेज्जइभागं समए समए समेइ एक्केक्कं ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं तस्सासंखेज्जभागं पि ॥

(विभा १३००, १३०१)

दर्शनमोह के अतीत हो जाने पर जब तक संज्वलन  
लोभ का संख्याततम भाग शेष रहता है, तब तक अनि-  
वृत्तिबाधर गुणस्थान रहता है । श्रेणिआरूढ मुनि संज्व-  
लन के संख्याततम भाग के असंख्य भाग करता है । उन  
असंख्य भागों को एक-एक समय में उपशान्त या क्षीण  
करता है, तब अन्तर्मुहूर्त वाला सूक्ष्मसंपराय चारित्र  
प्राप्त होता है ।

### प्रकार

सुहुमसंपरायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पणत्ते, तं  
जहा—संकलित्समाणए य विसुज्झमाणए य ।

(अनु ५५३)

सेट्ठि विलगओ तं विसुज्झमाणं तओ चयंतस्स ।

तह संकलित्समाणं परिणामवसेण विन्नेयं ॥

(विभा १२७८)

सूक्ष्मसंपराय चारित्र के दो भेद हैं—संकलिश्यमान  
और विशुद्धयमान । इन भेदों का कारण है विशुद्ध और  
संकलिष्ट परिणाम । यह चारित्र श्रेणिआरोहण के समय

विशुद्धमान होता है। उपशान्तमोह गुणस्थान से गिरते समय वह संविलश्यमान होता है।

### ७. यथाख्यात चारित्र

अह सद्दो जाहस्थे आडोऽभिविहीए कहियमक्खायं ।  
चरणमकसायमुद्धितं तमहक्खायं जहक्खायं ॥  
(विभा १२७९)

अविद्यमानकषायं क्षपितोपशमितकषायावस्थाभावि ।  
इह चोपशमितकषायावस्थायामकषायत्वं कषायकार्या-  
भावात्, यथाख्यातम् अर्हत्कथितस्वरूपानतिक्रमवत् ।  
(उशावृ प ५६८)

जब क्रोध, मान, माया और लोभ सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, उस समय की चारित्र-स्थिति को यथाख्यात चारित्र कहा जाता है।

अर्हत् द्वारा प्रस्तुत चारित्र का जो स्वरूप प्ररूपित है उसका अतिक्रमण न करना यथाख्यात है।

### प्रकार

अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—  
पडिवाई य अपडिवाई य । (अनु ५५३)

यथाख्यात चारित्र के दो प्रकार हैं—प्रतिपाती (उप-  
शम चारित्र) और अप्रतिपाती (क्षायिक चारित्र)।

अकसायं अहक्खायं, छउमस्थस्स जिणस्स वा ।

(उ २८।३३)

छउमस्थस्य उपशान्तक्षीणमोहाख्यगुणस्थानद्वयवर्तित्तः ।  
केवलिनः सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वयस्थापिनः ।

(उशावृ प ५६९)

गुणस्थान के आधार पर इसके अधिकारी दो वर्गों में विभक्त हैं—

१. छउमस्थ—उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती।
२. केवली—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थान-वर्ती।

### ८. कषाय-विलय से चारित्र प्राप्ति

खयओ वा समओ वा खओवसमओ व तिण्णि लब्भन्ति ।  
सुहुमाहक्खायाइं खयओ समओ व नण्णत्तो ॥  
(विभा १२५७)

सामायिकच्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकलक्षण-  
न्यायानि त्रीणि चारित्राणि श्रेणिद्वयादन्यत्र कषायक्षयो-  
पशमात् पूर्वप्रतिपन्नानि प्रतिपद्यमानानि च लभ्यन्ते, अनि-  
वृत्तिवादेरस्य पुनरुपशमश्रेणी तदुपशमात् पूर्वप्रतिपन्नानां

तेषां लाभः । क्षपकश्रेणौ तु क्षयादिति । सूक्ष्मसंपराय-  
यथाख्यातचारित्रे तूपशमश्रेणौ कषायोपशमात्, क्षपकश्रेणौ  
तु तत्क्षयात्लभ्येते । (विभा १२७४)

सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि—ये तीनों चारित्र श्रेणी आरोहण से पूर्व कषाय के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। अनिवृत्ति गुणस्थान में उपशमश्रेणी की अपेक्षा कषाय के उपशम से और क्षायिकश्रेणी की अपेक्षा कषाय के क्षय से प्राप्त होते हैं। सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र उपशमश्रेणी की अपेक्षा कषाय के उपशम से तथा क्षायिकश्रेणी की अपेक्षा कषाय के क्षय से प्राप्त होते हैं।

चरित्तमोहखतोवसमे णाम बारसकसायोदयखये सडु-  
वसमे य । संजलणचउक्कअन्नतरदेसघातिफडङ्गोदए णोक-  
सायनवगस्स य यथासंभवोदये । (आवृ १ पृ ९७, ९८)

उदय प्राप्त द्वादश कषाय का क्षय तथा अनुदित कषाय का उपशम होने पर क्षयोपशम चारित्र प्राप्त होता है। इसमें संज्वलनचतुष्क के देशघाती स्पर्धकों का उदय तथा नोकषायनवक का यथासंभव उदय रहता है।

न हु नवरिमहक्खाओवधाइणो सेसचरणदेसं पि ।  
घाएत्ति ताणमुदए होइ जओ साइयारं तं ॥

(विभा १२४८)

संज्वलन कषाय केवल यथाख्यात का ही उपघाति नहीं है। वह शेष चारित्र का भी देशघाति है। उसके उदय से शेष चारित्र सातिचार हो जाते हैं।

### ९. चारित्रिक स्थिरता के आलम्बन सूत्र

इह खलु भो ! पव्वइएणं, उप्पन्नदुक्खेणं, संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं, ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चैव, हयरसि-गयंकुस-पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्टारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवन्ति । तं जहा—

१. हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी ।
२. लहुस्सगा इत्तरिया गिहीणं कामभोगा ।
३. भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा ।
४. इमे य मे दुक्खे न चिरकालोवट्टाईं भविस्सइ ।
५. ओमजणपुरक्कारे ।
६. वंतस्स य पडियाइयणं ।
७. अहरमइवासोवसंपया ।
८. दुल्लभे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्जे वसंताणं ।
९. आयंके से वहाय होइ ।

१०. संकल्पे से वहाय होइ ।
११. सोवक्केसे गिह्वासे । निरुवक्केसे परियाए ।
१२. बंधे गिह्वासे । मोक्खे परियाए ।
१३. सावज्जे गिह्वासे । अणवज्जे परियाए ।
१४. बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा ।
१५. पत्तेयं पुण्णपावं ।
१६. अणिच्चे खलु भो ! मणुयाण जीविए कुसग्गजल-  
बिदुच्चं चले ।
१७. बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं ।
१८. पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुंवि  
दुच्चिष्णाणं दुप्पडिवकंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि  
अवेयइत्ता, तवसा वा भोसइत्ता । अट्टारसमं पयं  
भवइ । (दचूला १ सूत्र १-१८)

निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो प्रवृजित है किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया, संयम में उसका वित्त अरति-युक्त हो गया, वह संयम को छोड़ गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहता है, उसे संयम छोड़ने से पूर्व अठारह स्थानों का भलीभांति आलोचन करना चाहिए । अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है, जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पीत के लिए पताका का है । वे अठारह स्थान इस प्रकार हैं—

१. ओह ! इस दुःपमा (दुःखबहुल पांचवें आरे) में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं ।
२. गृहस्थों के कामभोग स्वल्प सार सहित (तुच्छ) और अल्पकालिक हैं ।
३. मनुष्य प्रायः माया बहुल होते हैं ।
४. यह मेरा परीषहजनित दुःख चिरकालस्थायी नहीं होगा ।
५. गृहवासी को नीच जनों का पुरस्कार करना होता है—सत्कार करना होता है ।
६. संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है—वमन को वापस पीना ।
७. संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है—नारकीय जीवन का अङ्गीकार ।
८. ओह ! गृहवास में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है ।
९. वहां आतंक वध के लिए होता है ।
१०. वहां संकल्प वध के लिए होता है ।
११. गृहवास क्लेश सहित है और मुनिपर्याय क्लेश रहित ।
१२. गृहवास बन्धन है और मुनिपर्याय मोक्ष ।

१३. गृहवास सावद्य है और मुनिपर्याय अनवद्य ।
१४. गृहस्थों के कामभोग बहुजनसामान्य हैं—सर्व-सुलभ हैं ।
१५. पुण्य और पाप अपना-अपना होता है ।
१६. ओह ! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चंचल है ।
१७. ओह ! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पापकर्म किए हैं ।
१८. ओह ! दुश्चरित्र और दुष्टपराक्रम के द्वारा पूर्व-काल में अजित किए हुए पापकर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है । उन्हें भोगे बिना मोक्ष नहीं होता—उनसे छुटकारा नहीं होता ।

### १०. चारित्र का मूल्य

सुबहुं पि सुयमहीयं किं काही चरणविप्पहीणस्स ?  
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीवि ॥  
अप्पपि सुय महीयं पयासयं होइ चरणजुत्तस्स ।  
एक्कोऽपि जह पईवी, सचक्खुअस्सा पयासेइ ॥  
जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।  
एवं खु नाणी चरणेण हीणी, नाणस्स भागी न हु सोग्गईए ॥  
(आवनि ९८-१००)

पढ़ा हुआ बहुत ज्ञान भी आचारहीन को क्या लाभ देगा ? अंधे व्यक्ति के सामने करोड़ों दीपक जलाने का क्या अर्थ है ? पढ़ा हुआ अल्पज्ञान भी आचारवान को प्रकाश से भर देता है । चक्षुष्मान को प्रकाश देने के लिए एक दीपक भी काफी है ।

चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार का भागी होता है, चन्दन का नहीं । उसी प्रकार चरित्रहीन ज्ञानी केवल जान लेता है, सद्गति को प्राप्त नहीं कर सकता । दसारसीहस्स य सेणियस्सा, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स ।  
अणुत्तरा दंसणसंपया तथा, विणा चरित्तेणऽहरं गइं गया ॥  
(आवनि ११६०)

दशारसिह, श्रेणिक, पेढालपुत्र और सत्यकी अनुत्तर दर्शनसम्पन्न होने पर भी चारित्र के अभाव में अधोगति को प्राप्त हुए ।

### ११. चारित्रसम्पन्नता के परिणाम

चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?  
चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ । सेलेसि पडिबन्ने  
य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ । तभी पच्छा

सिद्धिबुद्धि बुद्धिपरिनिष्ठाएइ सब्बदुक्खानमंतं करेइ ।

(उ २१।६२)

भते ! चारित्रसम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ? चारित्रसंपन्नता से वह शैलेशी भाव को प्राप्त होता है । शैलेशी दशा को प्राप्त करने वाला अनगार चार केवलसत्क कर्मों को क्षीण करता है । उसके पश्चात् वह सिद्ध, बुद्ध (प्रज्ञांत), मुक्त, परिनिर्वृत होता है और सब दुःखों का अन्त करता है ।

## १२. चारित्र और सम्यक्त्व

सम्मत्तं अचरित्तस्स हुज्ज भयणाइ नियमसो नत्थि ।

जो पुण चरित्तजुत्तो तस्स उ नियमेण सम्मत्तं ॥

(आवनि ११६२)

चारित्ररहित प्राणी के सम्यक्त्व हो भी सकता है और नहीं भी होता । परन्तु जो चारित्रयुक्त होता है उसके सम्यक्त्व निश्चित ही होता है ।

## १३. चारित्र और नय

निच्छयनयस्स चरणायविघाय नाणदंसणवहोस्वि ।

ववहारस्स उ चरणे हयमि भयणा उ सेसाणं ॥

(पिनि १०५)

चारित्र का नाश होने पर ज्ञान, दर्शन भी नष्ट हो जाते हैं—यह निश्चय नय का अभिमत है । चारित्र नष्ट होने पर ज्ञान-दर्शन का नाश होता भी है, नहीं भी होता—यह व्यवहार नय का अभिमत है ।

## १४. चारित्र (शील) के अठारह हजार अंग

जोणे करणे सण्णा इंदिय भोमादि समणधम्मे य ।

सीलंगसहस्साणं अट्टारसगस्स उप्पत्ती ॥ (दनि ८२)

(जे जो करंति मणसा, णिज्जियआहारसन्ना सोइदिये ।

पुढविकायारंभं, खंतिजुत्ते ते मुणी वंदे ॥)

जे णो करंति ६०००	जे णो कारयंति ६०००	जे णो समणुजाणंति ६०००							
मणसा २०००	वयसा २०००	कायसा २०००							
णिज्जिय आहार- सन्ना ५००	णिज्जिय भय- सन्ना ५००	णिज्जिय मेहुण- सन्ना ५००	णिज्जिय परिग्गह- सन्ना ५००						
ओत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शनेन्द्रिय १००					
पृथिवी १०	अप् १०	तेजस् १०	वायु १०	वनस्पति १०	द्वीन्द्रिय १०	त्रीन्द्रिय १०	चतुरिन्द्रिय १०	पंचेन्द्रिय १०	अजीव १०
क्षान्ति १	मुक्ति २	आर्जव ३	मार्दव ४	लाघव ५	सत्य ६	संयम ७	तप ८	त्याग ९	अकिंचन १०

यह एक गाथा है । दूसरी गाथा में 'खंति' के स्थान पर 'मुक्ति' शब्द आएगा, शेष ज्यों का त्यों रहेगा । तीसरे में 'अर्जव' आएगा । इस प्रकार १० गाथाओं में दश धर्मों के नाम क्रमशः आएंगे । फिर ग्यारहवीं गाथा में 'पुढवि' के स्थान पर 'आउ' शब्द आएगा । पुढवि के साथ १० धर्मों का परिवर्तन हुआ था । उसी प्रकार 'आउ' शब्द के साथ भी होगा । फिर 'आउ' के स्थान पर क्रमशः 'तेउ', 'वाउ', 'वणस्सइ', 'वेइदिय', 'तेइदिय',

'चतुरिदिय', 'पंचेदिय' और 'अजीव' ये दश शब्द आएंगे । प्रत्येक के साथ दश धर्मों का परिवर्तन होने से (१० × १०) १०० गाथाएं हो जाएंगी । १०१ गाथा में सोइदिय के स्थान पर 'चक्खुरिदिय' शब्द आएगा । इस प्रकार पांच इंद्रियों की (१०० × ५) ५०० गाथाएं होंगी । फिर ५०१ में 'आहारसन्ना' के स्थान पर 'भयसन्ना' फिर 'मेहुणसन्ना' और 'परिग्गहसन्ना' शब्द आएंगे । एक संज्ञा के ५०० होने से ४ संज्ञा के (५०० × ४) २००० होंगे ।

फिर मणसा शब्द का परिवर्तन होगा। 'मणसा' के स्थान पर 'वयसा' फिर 'कायसा' आएगा। एक-एक का २००० होने से तीन योगों के (२००० × ३) ६००० होंगे। फिर 'करति' शब्द में परिवर्तन होगा। करति के स्थान पर 'कारयति' और 'समणुजाणति' शब्द आएंगे। एक-एक के ६००० होने से तीन करणों के (६००० × ३) १८,००० शील के अंग हो जाएंगे।

**चित्त**—स्थूल शरीर के साथ कार्य करने वाली चेतना। (द्र. आत्मा; ज्ञान)

**चूलिका**—चोटी, ग्रंथ का परिशिष्ट। मूल ग्रंथ में उक्त या अनुक्त विषय का प्रतिपादन करने वाला प्रकरण। दृष्टिवाद का पांचवां भेद। (द्र. दृष्टिवाद)

**छद्मस्थ**—घातिकर्मों के आवरण से युक्त।

छाद्यतीति छद्म घातिकर्मचतुष्टयं, तत्र तिष्ठति छद्मस्थः अनुत्पन्नकेवलः। (उशावृ प ५६४)

जो आत्मगुणों को आच्छादित करता है, वह छद्म है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय—ये चार घातिकर्म छद्म कहलाते हैं। इनसे युक्त जीव छद्मस्थ कहलाता है। यह केवलज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था है।

**छद्मस्थ मरण**—मरण का एक भेद। (द्र. मरण)

**छन्दना**—आहार के लिए साधमिक साधुओं को आमंत्रित करना। सामाचारी का एक प्रकार। (द्र. सामाचारी)

**छविपर्व**—औदारिक शरीर।

छविः—त्वक् पर्वाणि च—जानुकूर्परदीनि छविपर्वं तद्योगादौदारिकशरीरमपि छविपर्वं। (उशावृ प २५१)

छवि का अर्थ है त्वचा। जानु, कूर्पर आदि पर्व हैं। इनसे युक्त होने के कारण औदारिक शरीर छविपर्व कहलाता है।

**छेद**—दोष की विशुद्धि के लिए दीक्षापर्याय का छेदन कर उसे कम कर देना। प्रायश्चित्त का सातवां भेद। (द्र. प्रायश्चित्त)

**छेदोपस्थापनीय**—विभागपूर्वक महाव्रतों को उपस्थापना। (द्र. चारित्र)

**जलचर**—जल में विचरने वाले जीव। तिर्यच पंचेन्द्रिय का एक भेद (द्र. तिर्यच)

**जातिस्मृति**—पूर्व जन्मों का ज्ञान।

**जातिस्मृति के तीन हेतु**

१. बाह्यनिमित्त से जातिस्मृति —

....दट्ठण ते कामगुणे विरत्ता ॥

....सरित्तु पोरणिय तत्थ जाइं, तहा सुचिण्णं तवसंजमं च ॥ (उ १४४,५)

भृगु पुरोहित के पुत्रों ने निर्ग्रन्थ को देखा। उन्हें पूर्वभव की स्मृति हुई और भलीभांति आचरित तप और संयम की स्मृति जाग उठी। वे कामगुणों से विरक्त हो गये।

ते दारगा साहू दट्ठणं चित्तं पयत्ता कत्थ अम्हेहि एयारिसाणि रुवाणि विट्ठुपुव्वाणित्ति ? जाई संभरिया, संबुद्धा। (उच्चू पृ २२१)

साधुओं को देखकर भृगुपुत्र चिन्तना में एकाग्र हो गए—ऐसा रूप हमने पहले कहीं देखा है ऐसा सोचते-सोचते उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति हो आयी और वे सम्बुद्ध हो गये।

२. शुभ अध्यवसाय से जातिस्मृति

अंगरिसी भद्दो वणसडे चित्तेइ—सुहज्भवसाणेण जाती सरिया। (आवहावृ २ पृ १४३)

भद्र अंगरि चिन्तन में डूब गया, शुभ अध्यवसाय से उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ। (अध्यवसाय और लेश्या की विशुद्धि के क्षणों में जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न होता है।)

३. मोह के उपशम से जातिस्मृति

....उवसंतमोहणिज्जो, सरई पोरणियं जाइं ॥

(उ ९११)

दंसणमोहणिज्जं चरित्रमोहणिज्जं च उवसंतं जस्स सो भवति उवसंतमोहणिज्जो। (उच्चू पृ १८०)

जिसके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय—दोनों उपशांत होते हैं, उसे पूर्वजन्म की स्मृति होती है।

नमी राया सुमिणए पासत्ति—सेयं नागरायं मंदरोवरि च अत्ताणमारूढं, णदिघोसतूरेण य विवोहितो

“चित्तइ” कथ मया एवंगुणजातितो पव्वतो दिट्ठ-  
पुव्वोत्ति ? चित्तयतेण जाती संभरिता—पुव्वं माणुसभवे  
सामण्णं काऊण पुप्फुतरे विमाणे उववण्णे आसी । तत्थ  
देवत्ते मंदरो जिणमहिमाइसु आगएण दिट्ठपुव्वोत्ति संबुद्धो  
पव्वतितो । (उचू पृ १७९)

नमि राजा ने स्वप्न में देखा मैं मंदराचलस्थित  
श्वेत हाथी पर आरूढ हूँ । नन्दिदोषों से जाग जाने पर  
राजा ने सोचा—ऐसा पर्वत मैंने पहले भी कहीं देखा  
है—इस चिंतन की गहराई में उतरते ही उन्हें जाति-  
स्मृति ज्ञान हो गया । उस ज्ञान से ज्ञान लिया कि मैंने  
देवभव से पूर्व मनुष्य के भव में साधुत्व को स्वीकार  
किया था । वहाँ से मरकर पुष्पोत्तर विमान में उत्पन्न  
हुआ । उस देवभव में देव के रूप में जिनमहिमा के अवसर  
पर मैं मंदर-गिरि पर आया था—इस स्मृति से वे संबुद्ध  
हो प्रव्रजित हो गये ।

### ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की जातिस्मृति

“अन्यदा चोपनीतं देवतया मन्दारदाम । समुत्पन्नं  
तद्दर्शनादस्य जातिस्मरणम् अनुभूतानि मयैवंविधकुसुम-  
दामानि । अहं हि नलिनगुल्मविमाने देवोऽभवम् ।

(उशावृ प ३८२)

देवता द्वारा उपहृत मंदारपुष्पमाला को देखकर  
ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती चिन्तन में डूब गया—ऐसी पुष्पमालाओं  
का मैंने पहले कभी अनुभव किया है । विमर्श करते-करते  
उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया । इससे उसने  
साक्षात् जान लिया कि मैं पूर्वजन्म में नलिनीगुल्म विमान  
में देवरूप में उत्पन्न हुआ था ।

### श्रेयांस को आठ जन्मों की स्मृति

“रायाणो सोमप्यभादयो लोगा य परेण कोऊहल्लेण  
पुच्छंति सेज्जंसकुमारं—सुमुह ! कहं तुमे विन्नायं जहा  
भगवतो परमगुरुस्स भिक्खं दायव्वंति, कहेहि णे परमत्थं ।  
ताहे सो तेसि पकहितो, जहा—मम पितामहस्स दिक्खि-  
यस्य रूवदंसणे चित्ता समुप्पन्ना कत्थ मन्ने एरिसरूवं  
दिट्ठपुव्वंति ! वियारेमाणस्स बहुभवितं जातीस्सरणं  
समुप्पन्नं, ततो मया पायं भगवतो भिक्खादायं । ततो ते  
परमविन्हिता भणंति—साह केरिसोऽसि केसु भवेसु  
आसी ? ताहे सो तेसि अप्पणो सामिस्स य अट्ठभवगह-  
णाणि कहेति, जहा वसुदेवहिंडीए । “मया वइरसेण-

तित्थगरो एरिसीए आगीइए तत्थ दिट्ठोत्ति । पितामह-  
लिंगदरिसणेण पोराणाओ जातिओ सरिताओ, विन्नातं च  
अन्नपाणादि दायव्वं तवस्सीणंति ।

(आवचू १ पृ १६४, १८०)

अर्हत् ऋषभ ने संवत्सर तप का पारणा अपने पौत्र  
श्रेयांसकुमार के हाथ से किया । उस समय अन्य सब लोग  
मुनि की भिक्षाविधि से अनभिज्ञ थे । राजा सोमप्रभ आदि  
ने कुतूहलपूर्वक श्रेयांस से जिज्ञासा की—आयुष्मन् !  
तुमने कैसे जाना कि हमारे परमगुरु भगवान् ऋषभ को  
भिक्षा देनी चाहिये ? हमें भी इसका रहस्य समझाओ ।

श्रेयांस ने कहा—पूज्य दादागुरु को मुनिपरिवेश में  
देख मैं चिन्तन में डूब गया—क्या ऐसा प्रतिरूप मैंने पहले  
कहीं देखा है ? चिन्तन की एकाग्रता से मुझे अनेक जन्मों  
की स्मृति हो आई । उस जातिस्मृति से मुझे भिक्षादान  
की विधि ज्ञात हो गई । यह सुन लोगों को बड़ा आश्चर्य  
हुआ । उन्होंने फिर जिज्ञासा की—श्रेयांस ! कहो, तुम  
किस भव में किस रूप में थे ? यह पूछने पर श्रेयांस ने  
अपने तथा अपने पितामह ऋषभ के आठ पूर्वभवों की  
संबंध-परम्परा का उल्लेख किया, जिसका विशद वर्णन  
वसुदेवहिंडी में है ।

अंत में श्रेयांस ने बताया कि देवभव से पूर्व के भव  
में मैंने तीर्थंकर वज्रमेन को ऐसे आकार-प्रकार में देखा  
था, जैसा कि आज अर्हत् ऋषभ को देख रहा हूँ । इस  
मुनिवेश को देख मुझे अतीत के जन्मों की स्मृति हुई और  
उसी के आधार पर मैं इस महान् तपस्वी को इक्षुरस का  
दान कर धन्य हुआ हूँ ।

### मृगापुत्र की जातिस्मृति

तं देहई मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाए उ ।

कहि मन्नेरिसं रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा ॥

साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्जभवसाणम्मि सोहणे ।

मोहंगयस्स संतस्स, जाईसरणं समुप्पन्नं ॥

(उ १९।६,७)

मृगापुत्र ने श्रमण को अनिमेष्ट दृष्टि से देखा और  
मन ही मन चिन्तन करने लगा—‘मैं मानता हूँ कि ऐसा  
रूप मैंने पहले कहीं देखा है ।’ साधु के दर्शन और  
अध्यवसाय पवित्र होने पर “मैंने ऐसा कहीं देखा है”—

इस विषय में सम्मोहित हो गया, चित्तवृत्ति सधन रूप में एकाग्र हो गई, विकल्प शांत हो गए और जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया।

### जातिस्मृति की प्रक्रिया

‘अध्यवसाने’ इत्यन्तःकरणपरिणामे शोभने प्रधाने क्षायोपशमिकभाववतिनीति यावत् ‘मोह’ क्वेदं मया दृष्टं क्वेदमित्यतिचिन्तातश्चित्तसंघट्टजमूर्च्छात्मकं गतस्य।

(उशावृ प ४५२)

पूर्वजन्म के स्मरण की विशेष पद्धति है। कोई व्यक्ति पूर्व परिचित व्यक्ति को देखता है, तत्काल चैतसिक संस्कारों में एक हलचल होती है। वह सोचता है कि इस प्रकार का आकार मैंने कहीं देखा है? ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा के द्वारा चिन्तन आगे बढ़ता है। मैंने यह कहां देखा? यह कहां है?— इस प्रकार की चिन्ता का एक संघर्ष चलता है। उस समय व्यक्ति संमोहन की स्थिति में चला जाता है। उस स्थिति में उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो जाती है।

इससे जाति-स्मरण की प्रक्रिया के तीन अंग फलित होते हैं—

१. दृश्य वस्तु या व्यक्ति का साक्षात्कार।
२. अध्यवसान की शुद्धि।
३. संमोहन।

(जातिस्मृति के द्वारा पूर्ववर्ती संख्येय जन्मों की स्मृति होती है। वे सारे समनस्क जन्म होते हैं। जाति-स्मृति मतिज्ञान का एक प्रकार है। देखें—आवागंग १।१-४ का भाष्य।)

तस्सोवसंपत्ती सहसंमृड्याए परवागरणेणं अण्णेषिं वा सोच्चा तत्थ सहसंमुत्तियाए जातीसरणादिणा।

(आवचू २ पृ २७५)

सम्यक्त्व-प्राप्ति के तीन हेतु—

१. स्वस्मृति,
२. अहंत् का उपदेश और
- ३ दूसरों से सुनना। यहां स्वस्मृति का अर्थ है—

जातिस्मृति।

**जिन—वीतराग, अहंत्।**

जियकोहमाणमाया जियलोहा तेण ते जिणा हुंति।....

(आवनि १०७६)

जो क्रोध, मान, माया और लोभ पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे जिन कहलाते हैं।

कम्मरिजियत्तणातो जिणो। (अनुचू पृ ४३)

जिनः परीषहोपसमंजेता। (उशावृ प ४९८)

जो कर्म शत्रुओं, परीषहों और उपसर्गों पर विजय प्राप्त करते हैं, वे जिन हैं।

जिनः—जितसकलकर्मा भवोपग्राहिकर्मणामपि दरघरज्जुसंस्थानतयैव तेन व्यवस्थापनात्, मुक्त्यवस्था-पैक्षया वा। (उशावृ प ४९८)

जिन को सकलकर्मजेता बहा गया है। इसके दो हेतु हैं— उनके भवोपग्राही (अचाति) कर्म दग्ध-रज्जु-संस्थान की तरह अकिञ्चित्कर होते हैं। उनकी मुक्ति अवश्य होती है।

### वीतराग के वचन सत्य

भय-राग-दोस-मोहाभावाओ सच्चमणइवाइं च।

सव्वं चियं मे वयणं जाणयमज्झत्थवयणं व॥

(विभा १५७८)

ज्ञाता और वीतराग के वचन मार्गज्ञ के वचन की तरह सत्य और अबाधित होते हैं, क्योंकि वे राग, द्वेष, भय और मोह से अतीत होते हैं।

### वीतरागता के परिणाम

वीतरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिदइ, मणुन्नेसु सद्धफरिसरसरूवगंधेसु चेव विरज्जइ। (उ २९।४६)

वीतरागता से जीव स्नेह के अनुबंधनों और तृष्णा के अनुबंधनों का विच्छेद करता है तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध से विरक्त हो जाता है।

एविदियत्था य मणस्स अत्था

दुक्खस्स हेउं मणुयस्स राणिणो।

ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं

न वीतरागस्स करेत्ति किञ्चि ॥ (उ ३२।१००)

इन्द्रिय और मन के विषय रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु होते हैं। वे वीतराग के लिए कभी किञ्चित् भी दुःखदायो नहीं होते।



**जीव—प्राण धारण करने वाला ।**

१. जीव के लक्षण
२. जीव का स्वरूप
३. जीवास्तिकाय का अर्थ
४. जीव का परिमाण
५. जीवों की अनन्तता
६. जीव के प्रकार —
  - ० संसारी जीव
    - \* सिद्ध जीव (द्र. सिद्ध)
    - ० संसारी जीव के प्रकार
      - \* त्रस (द्र. त्रस)
      - \* स्थावर (द्र. जीवनिकाय)
७. जीव के चौदह प्रकार
८. सूक्ष्म जीवों के प्रकार
  - \* जीव (आत्मा) की अस्तित्वसिद्धि (द्र. आत्मा)
  - \* पृथ्वी आदि में जीवत्वसिद्धि (द्र. जीवनिकाय)
  - \* जीव और कर्म का संबंध (द्र. कर्म)
  - \* जीव : द्रव्य का एक भेद (द्र. द्रव्य)

## १. जीव के लक्षण

“जीवो उवओगलक्खणो ॥”

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तथा ।

वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥

(उ २८।१०,११)

जीव का लक्षण है उपयोग ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य और उपयोग—ये

जीव के लक्षण हैं ।

आयाणे परिभोगे जोगुवओगे कसाय लेसा य ।

आणापाणू इदिय बंधोदयनिज्जरा चेव ॥

चित्तं चेयण सण्णा विण्णाणं धारणा य बुद्धी य ।

ईहा मती वितक्का जीवस्स उ लक्खणा एए ॥

(दनि १२५,१२६)

आदान, परिभोग, योग, उपयोग, कषाय, लेभ्या, आनापान, इंद्रिय, बंध, उदय, निर्जरा, चित्त, चेतना, संज्ञा, विज्ञान, धारणा, बुद्धि, ईहा, मति, वितर्क—ये जीव के लक्षण हैं ।

## २. जीव का स्वरूप

जीवद्वस्स अणुओगो चउव्विहो दव्वतो खेत्ततो

कालतो भावतो । दव्वतो एगं जीवदव्वं । खेत्ततो असंखेज्जपएसोगादं । कालतो अणादीए अपज्जवसिते । भावतो अणंता नाणपज्जवा दंसणपज्जवा चरित्तपज्जवा अगुहलहुयपज्जवा य । (आवचू १ पृ १०८)

जीवद्रव्य—द्रव्य की अपेक्षा एक द्रव्य—एक संख्या वाला है । क्षेत्र की अपेक्षा असंख्येय प्रदेशों में अवगाहन करता है । काल की अपेक्षा अनादि और अनन्त है । भाव की अपेक्षा अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य पर्यवों वाला तथा अगुहलघु पर्याय वाला है ।

## ३. जीवास्तिकाय का अर्थ

जीवास्तिकायः यस्माज्जीवितवान् जीवति जीविष्यति च तस्माज्जीवः । अस्तीति वा प्रदेशाः, अस्तिशब्दो वाऽस्तित्वप्रसाधकः । कायस्तु समूहः, प्रदेशानां जीवानां वा उभयथाप्यविरुद्धं इत्यतो जीवास्तिकायः ।

(अनुचू पृ २९)

जीव जीवित था, है और रहेगा, इसलिए वह जीव कहलाता है । अस्ति शब्द प्रदेश और अस्तित्व का वाचक है । काय शब्द प्रदेशों अथवा जीवों के समूह का वाचक है । जीवास्तिकाय के दो अर्थ हैं—जीवप्रदेशों का समूह, जीवों का समूह ।

## ४. जीव का परिमाण

जीवस्स उ परिमाणं वित्थरो जाव लोगमेत्तं तु ।

ओगाहणा य सुहुमा तस्स पदेसा असंखेज्जा ॥

जदा केवली समुग्घायगतो भवति तदा लोमं पूरेति जीवपदेसेहि, एककेवको जीवपदेसो पिहीभवति, एवं ओगाहणे सुहुमं । असमुग्घायगतस्स जीवपदेसा उपरि उपरि भवति । ते य पदेसा असंखेज्जा, जावतिया लोमा-गासपदेसा तावतिया जीवपदेसा वि एकजीवस्स परिमाणं मणितं । (दनि १३५, अचू पृ ७१)

केवलीसमुद्घात के समय जीव के प्रदेश पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं । एक-एक जीवप्रदेश अविभक्त होने पर भी फ़ैलाव की अपेक्षा से पृथक्-पृथक् (एक-एक आकाश प्रदेश पर एक-एक जीवप्रदेश) हो जाता है—यही सूक्ष्म अवगाहना है । असमुद्घात के समय जीव-प्रदेश सघन और एक दूसरे के ऊपर रहते हैं । लोका-काश के असंख्येय प्रदेश हैं । उतने ही प्रदेश एक जीव के हैं ।

## ५. जीवों की अनन्तता

### उपयोग की अपेक्षा

जेणोवओर्गलिणो जीवो भिन्नो य सो पइसरिरीं ।

उवओगो उक्करिसावगरिसओ तेण तेऽणता ॥

(विभा १५८३)

जीव का लक्षण है उपयोग । वह प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न-भिन्न होता है । उत्कर्ष-अपकर्ष के आधार पर उपयोग के अनन्त भेद हैं । अतः जीव अनन्त हैं ।

### एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा

सिज्जकति सोम्म ! बहुसो जीवा नवसत्तसंभवो नवि य ।

परिमियदेसो लोणो न संति चेण्णिया जेसि ॥

तेसि भवविच्छिन्ती पावइ नेट्टा य सा जओ तेण ।

सिद्धमणता जीवा भूयाहारा य तेऽवस्सं ॥

(विभा १७६०, १७६१)

बहुत से जीव निरन्तर मुक्त हो रहे हैं । नया जीव उत्पन्न नहीं होता । लोक परिमित है । बादर जीव तो बहुत थोड़े हैं । यदि एकेन्द्रिय का अस्तित्व नहीं माना जाए तो संसार की व्यवच्छिन्नता का प्रसंग आ जाएगा । संसार की व्यवच्छिन्नता किसी को भी इष्ट नहीं है । एकेन्द्रिय (वनस्पति) जीवों की अपेक्षा ही जीवों की अनन्तता सिद्ध होती है ।

## ६. जीव के प्रकार

संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया ।...

(उ ३६।४८)

जीव के दो प्रकार हैं—संसारी और सिद्ध ।

जीवा दुविहा—रूवी अरूवी य । रूवी संसारी, अरूवी सिद्धा । जीव रूवी सपदेसा य । कालादेसेण नियमा सपदेसा । लद्धिआदेसेण सपदेसा वा अपदेसा वा । अरूवी कालादेसेणवि लद्धिआदेसेणवि सपदेसा वा अपदेसा वा ।

(आवचू २ पृ ४)

जीव के दो प्रकार हैं—रूपी और अरूपी । संसारी जीव रूपी हैं । सिद्ध जीव अरूपी हैं । जो जीव रूपी और सप्रदेशी है, वह काल की अपेक्षा से नियमतः सप्रदेश है । लब्धि की अपेक्षा से सप्रदेश अथवा अप्रदेश है । अरूपी जीव कालादेश से भी और लब्ध्यादेश से भी सप्रदेश अथवा अप्रदेश है ।

## संसारी जीव के प्रकार

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया ।

तसा य थावरा चेव.....॥ (उ ३६।६८)

संसारी जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर ।

दुविहा य होति जीवा सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।

सुहुमा य सव्वलोए दो चेव य बायरविहाणे ॥

(दनि १२४)

जीव के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर । सूक्ष्म जीव सारे लोक में व्याप्त हैं । बादर जीव के दो प्रकार हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक ।

## ७. जीव के चौदह प्रकार

चोदसहिं भूतगामेहिं.....एण्णिया सुहुमा इतरा-

बादरा, सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता य । एवं बादरावि

दुविहा । वेण्णियावि दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता य ।

तेण्णियावि दुविहा, चउरिदिया दुविहा पंचिदिया दुविहा—

सण्णणो असण्णणो य । तत्थ असण्णिपंचिदियावि

दुविधा —पज्जत्ता अपज्जत्ता । सण्णिपंचिदियावि दुविधा—

पज्जत्ता अपज्जत्ता य ।

(आवचू २ पृ १३२)

जीव के चौदह प्रकार—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त, अपर्याप्त ।

बादर एकेन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त, अपर्याप्त ।

द्वीन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त, अपर्याप्त ।

त्रीन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त, अपर्याप्त ।

चतुरिन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त, अपर्याप्त ।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त, अपर्याप्त ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त, अपर्याप्त ।

....ओह भवग्गहणम्मि य तब्भवजीवे य भावम्मि ॥

संते आउयकम्मे धरती तस्सेव जीवती उदए ।

तस्सेव निज्जराए मओ ति सिद्धो नयमएणं ॥

जेण य धरति भगवतो जीवो जेण य भवाउ संकमई ।

जाणाहि तं भवाउं चउव्विहं तब्भवे दुविहं ॥

(दनि १२१-१२३)

जीव के तीन प्रकार है—

१. ओष जीव—जीव आयु द्रव्य के कारण जीवन

धारण करता है, वह ओष जीव है । उसके संपूर्ण

क्षय होने से वह सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है ।

२. भवजीव—गतिनाम कर्म के उदय से जीव नरक

आदि चारों गतियों को प्राप्त करता है, वह

भवजीव है ।

३. तद्भवजीव—जो जीव स्वस्थान से उद्भूत होकर पुनः उसी स्थान में उत्पन्न होते हैं, वे तद्भवजीव हैं। इनके दो प्रकार हैं—मनुष्य और तिर्यंच।

#### द. सूक्ष्म जीवों के प्रकार

सिनेहं पुष्फसुहृमं च, पाणुत्तिगं तहेव य ।

पणगं बीय हरियं च, अंडसुहृमं च अट्टमं ॥

(द ८।१५ अचू पृ १८८ जिचू पृ २७८)

सूक्ष्म जीव आठ प्रकार के हैं—

स्नेह सूक्ष्म—ओस, हिम, कुहासा, ओला और उद्भिद् जलबिन्दु ।

पुष्प सूक्ष्म—बड़, उम्बर आदि के फूल या उन जैसे वर्ण वाले दुर्बिभाव्य फूल ।

प्राण सूक्ष्म—क्यू, जो चलने पर जाना जाता है किन्तु स्थिर अवस्था में दुर्ज्ञेय है ।

उत्तिग सूक्ष्म—कीटिकानगर, जहाँ प्राणी दुर्ज्ञेय हैं ।

पनक सूक्ष्म—काई । यह पांच वर्ण की होती है ।

बीज सूक्ष्म—सरसों और शाल के अग्रभाग पर होने वाली कणिका ।

हरित सूक्ष्म—जो तत्काल उत्पन्न, पृथ्वी के समान वर्ण वाला और दुर्ज्ञेय हो, वह अंकुर ।

अंड सूक्ष्म—मधुमक्खी, कीड़ी, मकड़ी, ब्राह्मणी और गिरगिट के अंडे ।

जीवनिकाय—पृथ्वी आदि जीवों के छह वर्ग ।

#### १. छह जीवनिकाय

- ० पृथ्वीकाय
- ० अप्काय
- ० तेजस्काय
- ० वायुकाय
- ० वनस्पतिकाय

\* त्रसकाय

(द्र. त्रस)

#### २. स्थावर जीव

- ० स्थावर जीवों के शस्त्र

\* तेजस्-वायु त्रस हैं

(द्र. त्रस)

#### ३. पृथ्वीकाय की परिभाषा

- ० जीवत्वसिद्धि
- ० प्रकार

- ० सचित्त-अचित्त-मिश्र पृथ्वी
- ० अचित्त पृथ्वी का उपयोग
- ० पृथ्वीकाय की स्थिति आदि

#### ४. अप्काय की परिभाषा

- ० जीवत्वसिद्धि
- ० प्रकार
- ० सचित्त-अचित्त-मिश्र जल
- ० अप्काय की स्थिति आदि

#### ५. तेजस्काय की परिभाषा

- ० जीवत्वसिद्धि
- ० प्रकार
- ० सचित्त-मिश्र अग्नि
- ० सर्वाधिक तेजस्काय का उत्पत्तिकाल
- ० तेजस्काय की स्थिति आदि

#### ६. वायुकाय की परिभाषा

- ० जीवत्वसिद्धि
- ० प्रकार
- ० सचित्त-अचित्त-मिश्र वायु
- ० वायुकाय की स्थिति आदि

#### ७. वनस्पतिकाय की परिभाषा

- ० जीवत्वसिद्धि
- \* वनस्पति में पांच इन्द्रियों का अस्तित्व

(द्र. इन्द्रिय)

० प्रकार

० बाहर वनस्पति के प्रकार

० साधारण शरीरी

० प्रत्येक शरीरी

० अग्रबीज आदि

० सचित्त-मिश्र वनस्पति

० अचित्त वनस्पति का उपयोग

० वनस्पति की स्थिति आदि

० वनस्पति के आठ प्रकार

० वनस्पति की दस अवस्थायें

#### ८. पृथ्वी आदि की अवगाहना

१. पृथ्वी आदि में उच्छ्वास आदि अव्यक्त

१०. पृथ्वी आदि की सघन मूर्च्छा का हेतु

**११. पृथ्वी आदि की दृश्यता**

पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवां में—

- \* पर्याप्ति (द्र. पर्याप्ति)
- \* अव्यक्त मन (द्र. आत्मा)
- \* संज्ञा (द्र. श्रुतज्ञान)
- \* शरीर (द्र. शरीर)
- \* चेतना-विकास का क्रम (द्र. ज्ञान)

**१. छह जीवनिकाय**

छहजीवणिया नामउभयणं समर्पणं भगवया महा-  
वीरेण कासवेणं पवेइया तं जहा पुढविकाइया आउ-  
काइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तस-  
काइया । (उ ४।सूत्र ३)

भगवान महावीर द्वारा प्रज्ञप्त छह जीवनिकाय ये हैं—

- १. पृथ्वीकायिक ४. वायुकायिक
  - २. अप्कायिक ५. वनस्पतिकायिक
  - ३. तेजस्कायिक ६. त्रसकायिक
- (इनमें प्रथम पांच जीवनिकाय स्थावर हैं ।)

**२. स्थावर जीव**

शीतातपाद्बुपहता अपि स्थानान्तरं प्रत्यनभिसर्पितया  
स्थानशीलाः स्थावराः । (उशावृ प २४४)

शीत, आतप आदि से उपहत होने पर भी जो जीव  
स्थानान्तर में गमन नहीं करते, स्थिर रहते हैं, वे स्थावर  
जीव हैं ।

पुढवी आउजीवा उ तहेव य वणस्सई ।  
इच्चेए थावरा तिविहा ..... ॥  
(उ ३६।६९)

प्रस्तुत सूत्र में स्थावर के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—  
पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय । (तेजस्काय तथा  
वायुकाय को गति के कारण त्रस माना गया है ।)

**स्थावरजीवों के शस्त्र**

दव्वं सत्थ-ग्गि-विसं-नेह्वं बिल-खार-लोणमार्इयं ।  
भावो तु दुप्पउत्तो वाया काओ अविरई य ॥  
(दनि १४०)

द्रव्यशस्त्र—अग्नि, विष, स्नेह (तैल आदि), क्षार तथा  
नमक आदि ।

भावशस्त्र—दुष्प्रयुक्त मन-वचन-काय और असंयम ।

किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंचि ।  
एतं तु दव्वसत्थं भावे अस्संजमो सत्थं ॥  
(दनि १४१)

स्वकायशस्त्र—पांच प्रकार की मिट्टी परस्पर शस्त्र है ।  
परकायशस्त्र—पृथ्वीकाय अप्काय के लिए शस्त्र है ।  
उभयशस्त्र—काली मिट्टी जल में मिलने पर पानी और  
मिट्टी दोनों के लिए शस्त्र है ।

**३. पृथ्वीकाय की परिभाषा**

पृथिवी—काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता सैव कायः—  
शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः । (दहावृ प १३८)

काठिन्य आदि लक्षणों से जानी जाने वाली पृथ्वी  
ही जिनका काय—शरीर होता है, उन जीवों को पृथ्वी-  
काय कहते हैं ।

**जीवत्वसिद्धि**

मंसंकुरो व्व सामाणजाइरुवंकुरोवलंभाओ ।  
तरुणविदुम-लवणोवलादथो सासयावत्था ॥  
(विभा १७५६)

विद्रुम, लवण उपल आदि पृथ्वीकाय अपने जन्म-  
स्थानगत सजीव हैं । छिन्न होने पर भी उसी स्थान पर  
समानजातीय अंकुर की उत्पत्ति होती है, जैसे—अर्श के  
मांसंकुर की ।

पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणगजीवा पुढोसत्ता  
अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । (उ ४।सूत्र ४)

शस्त्र-परिणति से पूर्व पृथ्वी चित्तवती (सजीव)  
कही गई है । वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक  
जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली है ।

**प्रकार**

दुविहा पुढवीजीवा उ, सुहुमा वायरा तथा ।  
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥  
(उ ३६।७०)

पृथ्वीकाय के जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और  
बादर । इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो  
भेद होते हैं ।

वायरा जे उ पज्जत्ता दुविहा ते वियाहिया ।  
सण्हा खरा य बोद्धवा, सण्हा सत्तविहा तहि ॥  
(उ ३६।७१)

वाटर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों के दो भेद हैं—  
मृदु और कठोर । मृदु के सात भेद हैं ।

### मृदु पृथ्वीकाय

किष्का नीला य रुहिरा य, हालिहा सुक्कला तथा ।  
पंडुपणगमट्टिया..... ॥

(उ ३६।७२)

मृदु पृथ्वीकाय के सात भेद हैं—

कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत, पांडु (भूरी मिट्टी)  
और पनक (अतिसूक्ष्म रज) ।

### कठोर पृथ्वीकाय

पुढवी य सक्करा वालुया य, उवले सिया य लोणूसे ।  
अयतंबतउय सीसग रूपमुवण्णे य वड्डरे य ॥  
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला सासगंजणपवाले ।  
अब्भपडलब्भवालुय, बायरकाए मणिविहाणा ॥  
गोमेज्जए य रुयणे, अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।  
मरगयमसारगल्ले, भुयमोयगइंदनीले य ॥  
चंदणगेरुयहंसगन्भ, पुलए सोगंधिए य बोद्धवे ।  
चंदणहवेरुलिए, जलकते सूरकंते य ॥

(उ ३६/७३-७६)

कठोर पृथ्वीकाय के छत्तीस प्रकार हैं—

- |                 |                             |
|-----------------|-----------------------------|
| १. शुद्ध पृथ्वी | २०. प्रवाल                  |
| २. शर्करा       | २१. अश्रपटल                 |
| ३. बालू         | २२. अश्रबालुका              |
| ४. उपल          | <b>मणियों के भेद</b>        |
| ५. शिला         | २३. गोभेदक                  |
| ६. लवण          | २४. रुचक                    |
| ७. नौनी मिट्टी  | २५. अंक                     |
| ८. लोहा         | २६. स्फटिक और लोहिताक्ष     |
| ९. रांगा        | २७. मरकत एवं मसारगल्ल       |
| १०. तांबा       | २८. भुजसांचक                |
| ११. शीशा        | २९. इन्द्रनील               |
| १२. चांदी       | ३०. चंदन, गेरुक एवं हंसगर्भ |
| १३. सोना        | ३१. पुलक                    |
| १४. वज्र        | ३२. सौगंधिक                 |
| १५. हरिताल      | ३३. चन्द्रप्रभ              |
| १६. हिंगुल      | ३४. वैडूर्य                 |
| १७. मैनसिल      | ३५. जलकांत और               |
| १८. सस्यक       | ३६. सूर्यकांत               |
| १९. अंजन        |                             |

एएसि वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।  
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्सओ ॥

(उ ३६/८३)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से  
पृथ्वीकाय के हजारों भेद होते हैं ।

### सचित्त-अचित्त-मिश्र पृथ्वी

पुढविक्काओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अचित्तो ।  
सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारिओ चेव ॥  
निच्छयओ सच्चित्तो, पुढविमहापव्वयाण बहुमज्जे ।  
अचित्तमीसवज्जो सेसो ववहारसच्चित्तो ॥  
खीरदुमहेट्ट पथे कट्टोत्ता इंधणे य मीसो य ।  
सीउण्हखारखत्ते अग्गीलोणूसअंबिले नेहे ।  
वक्कंतओणिएण..... ॥

(ओनि ३३७-३४०)

पृथ्वीकाय के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और  
मिश्र । सचित्त के दो प्रकार हैं—

१. निश्चय सचित्त—रत्न, शर्करा आदि पृथ्वियों से  
सम्बन्धित हिमवत आदि महापर्वतों का मध्य भाग  
निश्चयदृष्टि से सचित्त है ।

२. व्यवहार सचित्त—अचित्त और मिश्र को छोड़कर  
शेष व्यवहार सचित्त है, जैसे—अरण्य आदि जहां  
गोबर आदि नहीं है ।

### मिश्र पृथ्वीकाय—

• क्षीरदुम—उदुम्बर आदि के नीचे की पृथ्वी ।

• पथ—पथ में विकीर्ण सचित्त रजकण ।

• कट्टोत्तल—हल द्वारा जोती हुई भूमि ।

• ईंधन—गोबर में पृथ्वीकाय का मिश्रण ।

ये सब मिश्र पृथ्वीकाय हैं ।

### अचित्त पृथ्वीकाय—

शीत शस्त्र, उष्ण शस्त्र, क्षार, करीष, अग्नि,  
लवण, ऊष, अम्ल और स्नेह—ये पृथ्वीकाय जीवों के  
शस्त्र हैं । इनसे उपहत होने पर पृथ्वीकायिक जीव  
अचित्त हो जाते हैं ।

### अचित्त पृथ्वीकाय का उपयोग

अवरद्विगविसंबधे लवणेन व सुरभिउवलएणं वा ।

अच्चित्तस्स उ गहणं पओयणं तेषिमं वऽन्नं ॥

(पिनि १४)

लूतास्फोट (मकड़ीकृत फोड़ा), सर्पदंश आदि के विष

को उतारने के लिए सफेद मिट्टी तथा तलाई आदि के तल की मिट्टी का लेप किया जाता है।

- नमक का प्रयोग भोजन में किया जाता है।
- गंधपाषाण (गंधरोहक) खुजली से उत्पन्न वात का शमन करता है।

ठाणनिसियणतुयट्टण उच्चाराईण चैव उस्सगो।

घुट्टुगडगलमलेवो एमाइ पओयणं बहुहा ॥

(पिनि १५)

- मुनि अचित्त भूमि पर कायोत्सर्ग, उपवेशन, शयन आदि करता है।
- घुट्टक पाषाण से पात्र को घिसकर चिकना करता है।

### पृथ्वीकाय की स्थिति

संतई पप्पणाईया, अपज्जवसिया वि य।

ठिई पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥

(उ ३६।७९)

प्रवाह की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीव अनादि अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सांत हैं।

### आयुस्थिति

बावीससहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।

आउठिई पुढवीणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥

(उ ३६।८०)

पृथ्वीकाय की आयुस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं और उत्कृष्टतः बाईस हजार वर्ष की है।

आयुः जीवितं तस्य स्थितिः--अवस्थानमायुःस्थितिः।

(उशावृ प ६९०)

प्राणी एक जन्म (भव) में जितने काल तक अवस्थित रहता है, उस कालमर्यादा को आयुस्थिति या भवस्थिति कहा जाता है।

### कायस्थिति

काये स्थितिः—ततोऽनुद्वर्त्तनेनावस्थानं काय-स्थितिः।

(उशावृ प ६९०)

एक ही जीवनिकाय में निरन्तर जन्म ग्रहण करते रहने की काल-मर्यादा को कायस्थिति कहा जाता है।

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।

कायठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥

(उ ३६।८१)

पृथ्वीकाय की कायस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

### अन्तरकाल

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।

विजठंमि सए काए, पुढवीजीवाण अंतरं ॥

(उ ३६।८२)

पृथ्वीकाय का अन्तर (पृथ्वीकाय को छोड़कर पुनः पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

### क्षेत्र

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोणदेसे य बायरा।

(उ ३६।७८)

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव समूचे लोक में और बादर पृथ्वीकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

### ४. अष्काय की परिभाषा

आपो—द्रवाः प्रतीता एव ता एव कायः—शरीरं येषां तेऽष्कायाः।

(दहावृ प १३८)

प्रवाहशील द्रव्य—जल ही जिनका काय—शरीर होता है, उन जीवों को अष्काय कहते हैं।

### जीवत्वसिद्धि

भूमिक्खयसाभावियसंभवओ ददुवुरो व्व जलमुत्तं।

अहवा मच्छो व सभाववोमसंभूयपायाओ ॥

(विभा १७५७)

भूमि को खोदने से पानी प्राप्त होता है, इसलिए पानी को भीम कहा जाता है। वह भूमि का सजातीय है। उसकी प्राप्ति स्वाभाविक है। अतः वह मेंढक के समान सजीव है। अथवा मछली के समान बादलों से गिरने के कारण आकाश का पानी सजीव है।

आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं।

(द ४।सूत्र ५)

शस्त्र-परिणति से पूर्व जल चित्तवान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतंत्र अस्तित्व) वाला है।

**प्रकार**

दुविहा आउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।  
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥  
(उ ३६।८४)

अपकायिक जीव दो प्रकार के हैं— सूक्ष्म और बादर । इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो भेद हैं ।

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकितिया ।  
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे ॥  
(उ ३६।८५)

बादर पर्याप्त अपकायिक जीवों के पांच भेद हैं— १. शुद्धोदक २. ओस ३. हरतनु ४. कुहासा और ५. हिम ।

एएसि वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।  
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥  
(उ ३६।९१)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

**सचित्त-अचित्त-मिथ जल**

घणउदहीघणवलय करगसमुद्दहाण बहुमज्जे ।  
अह निच्छयसच्चित्तो ववहारनयस्स अगडाइं ॥  
उसिणोदगमणुत्ते दंडे वासे य पडिअमेत्ते य ।  
सीउण्हखारखत्ते अग्गीलोणूसअंबिले तेहे ।  
वक्कंतजोणिएणं ..... ॥  
(ओनि ३४३, ३४४, ३४६)

घनोदधि, रत्नप्रभा आदि पृथिव्यों के घनवलय, करक (ओले), समुद्र का मध्यभाग और तालाब का मध्यभाग निश्चय सचित्त अपकाय हैं ।

कुएं आदि का जल व्यवहार सचित्त अपकाय है । जिस उष्ण जल में जब तक दंड अनुद्वृत्त हो—गहरा उबाल न आया हो, वह मिश्र अपकाय है । पतितमात्र वर्षा का जल मिश्र अपकाय है ।

शीत शस्त्र, उष्ण शस्त्र, क्षार, करीष, अग्नि, लवण, ऊष, अम्ल और स्नेह—ये अपकायिक जीवों के शस्त्र हैं । इनसे उपहत होने पर अपकायिक जीव अचित्त हो जाते हैं ।

**अपकाय की स्थिति**

संतइं पप्पणाईया अपज्जवसिया वि य ।  
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥  
(उ ३६।८७)

प्रवाह की अपेक्षा से ये अनादि अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं ।

**आयुस्थिति**

सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।  
आउट्टिई आऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥  
(उ ३६।८८)

अपकायिक जीवों की आयुस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहुत्तं और उत्कृष्टतः सात हजार वर्ष की है ।

**कायस्थिति**

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।  
कायट्टिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥  
(उ ३६।८९)

अपकायिक जीवों की कायस्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहुत्तं और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है ।

**अन्तरकाल**

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।  
विजडंमि सए काए, आऊजीवाण अंतरं ॥  
(उ ३६।९०)

उनका अन्तर (अपकाय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहुत्तं और उत्कृष्टतः अनंतकाल का है ।

**क्षेत्र**

एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ विवाहिया ।  
सुहुमा सब्वलोगम्मि, लोमदेसे य बायरा ॥  
(उ ३६।८६)

सूक्ष्म अपकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं । उनमें नानात्व नहीं होता । वे समूचे लोक में व्याप्त हैं । बादर अपकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं ।

**५. तेजस्काय की परिभाषा**

तेज उष्णलक्षणं प्रतीतं तदेव कायः—शरीरं येषां ते तेजःकायाः ।  
(दहावृ प १३८)

उष्ण लक्षण तेज ही जिनका काय—शरीर होता है, उन जीवों को तेजस्काय कहते हैं ।

**जीवरवसिद्धि**

.....अनलो आहाराओ विद्धि-विगारोवलम्भाओ ॥

(विभा १७५८)

जैसे मनुष्य में आहार आदि से उपचय और अपचय दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही अग्नि में भी ईंधन से वृद्धि और हानि दिखाई देते हैं, इसलिए वह मनुष्य के समान सजीव है।

तेऊ चित्तमंतमक्खाया अपेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

(द ४।सूत्र ६)

शस्त्र-परिणति से पूर्व तेजस् चित्तवान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतंत्र अस्तित्व) वाला है।

**प्रकार**

दुविहा तेउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।

पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥

(उ ३६।१०८)

तेजस्कायिक जीवों के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर। उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

बायरा जे उ पज्जत्ता, पेगहा ते वियाहिया ।

इंगाले मुम्पुरे अगणी, अच्चि जाला तहेव य ॥

उक्का विज्जू य बोद्धवा, पेगहा एवमायओ ।

एगविहमणात्ता, सुहुमा ते वियाहिया ॥

(उ ३६।१०९, ११०)

बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों के अनेक भेद हैं—अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अचि, ज्वाला, उल्का, विद्युत् आदि। सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता।

एएसि वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥

(उ ३६।११६)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

**सचित्त-मिश्र अग्नि**

इट्टगपागाईणं बहुमज्जे विज्जुवाइ निच्छइओ ।

इंगालाई इयरो मुम्पुरमाई य मिससो उ ॥

(ओनि ३५८)

अग्निकाय के तीन प्रकार हैं—

१. नैश्चयिक सचित्त—इष्टका-पाक आदि के बहुमध्य-भाग की विद्युत् आदि।

२. व्यावहारिक सचित्त—अंगारे आदि।

३. मिश्र—मुर्मुर आदि।

**सर्वाधिक तेजस्काय का उत्पत्तिकाल**

यदा सर्वासु कर्मभूमिषु निर्व्याघातमग्निकायसमारम्भकाः सर्वबहवो मनुष्याः । ते च प्रायोऽजितस्वामि तीर्थकरकाले प्राप्यन्ते, यदा चोत्कृष्टपदवर्त्तिनः सूक्ष्मानलजीवाः तदा सर्वबह्वग्निजीवाः ।

(नन्दीमवृ प ९२)

अहंत् अजित के तीर्थकाल में सब कर्मभूमियों में अग्नि का समारम्भ करने वाले मनुष्य सबसे अधिक थे।

जब सूक्ष्म अग्निजीव उत्कृष्ट होते हैं, तब सर्वाधिक अग्निजीव होते हैं।

**स्थिति**

संतइं पप्पणाईया, अपज्जवसिया वि य ।

ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥

(उ २३।११२)

प्रवाह की अपेक्षा तेजस्कायिक जीव अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा सादिसांत हैं।

**आयुस्थिति**

तिण्णेव अहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया ।

आउट्टिई तेऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥

(उ ३६।११३)

तेजस्कायिक जीवों की आयुस्थिति जघन्यतः अन्त-मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन दिन-रात की है।

**कायस्थिति**

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

कायट्टिई तेऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥

(उ ३६।११४)

तेजस्काय की कायस्थिति जघन्यतः अन्तमुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

**अन्तरकाल**

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

विजडमि सए काए, तेउजीवाण अंतरं ॥

(उ ३६।११५)



उनका अन्तर (तेजस्काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

### क्षेत्र

सुहृमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।  
(उ ३६।१११)

सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव समूचे लोक में और बादर तेजस्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

### ६. वायुकाय की परिभाषा

वायुः—चलनधर्मा प्रतीत एव स एव कायः—शरीरं येषां ते वायुकायाः ।  
(दहावृ प १३८)

चलनधर्मा वायु ही जिनका काय—शरीर होता है, उन जीवों को वायुकाय कहते हैं।

### जीवस्वविधि

अत्थि अदिस्सापाइयफरिसणाईणं गुणी गुणत्तणओ ।  
रुवस्स घडोव्व गुणी जो तेसि सोऽणिलो नाम ॥  
(विभा १७४९)

स्पर्श आदि गुणों का गुणी अदृश्य होने पर भी विद्यमान होना चाहिए। क्योंकि गुण गुणी में ही रहते हैं और गुणी गुणों के कारण ही गुणी कहलाता है। जैसे रूप गुण का गुणी घट है। इसी प्रकार शब्द, कम्प आदि वायु के गुण हैं, अतः इन गुणों का अधिष्ठाता गुणी वायु है।

अपरपेरियतिरियानियमियदिग्गमणओऽणिलो गो व्व ।  
(विभा १७५८)

जैसे गाय किसी की प्रेरणा के बिना ही अनियमित तिर्यग् गमन करती है, वैसे ही वायु भी तिर्यग् गति करता है, अतः वह सजीव है।

वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।  
(द ४।सूत्र ७)

शस्त्रपरिणति से पूर्व वायु चित्तवान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतंत्र अस्तित्व) वाला है।

### प्रकार

दुविहा वाउजीवा उ सुहृमा बायरा तथा ।

पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥

(उ ३६।११७)

वायुकायिक जीवों के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर। उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

### बादर वायुकाय

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।

उक्कलियामंडलियाघणगुजा सुद्धवाया य ॥

(उ ३६।११८)

उत्कलिकावाता ये स्थित्वा स्थित्वा पुनर्वान्ति ।  
मण्डलिकावाता—वातोलोरूपा । धनवाता—रत्नप्रभाद्य-  
धोर्वान्तिनां धनोदधीनां विमानानां वाऽऽधारा हिमपटल-  
कल्पा वायवः । गुञ्जावाता—ये गुञ्जन्तो वान्ति ।  
शुद्धवाता—उत्कलिकाद्युक्तविशेषविकला मन्दानिलादयाः ।  
संवर्तकवाताश्च—ये बहिः स्थितमपि तृणादि विवक्षित-  
क्षेत्रान्तः क्षिपन्तीति ।  
(उणावृ प ६९४)

बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों के पांच भेद हैं—

१. उत्कलिका वायु—जो ठहर-ठहर कर चलती है।
२. मण्डलिका वायु—जो बवंडर रूप में होती है।
३. धनवायु—जो रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों के अधोवर्ती धनोदधि की अथवा विमानों की आधारभूत है। यह बर्फ जैसी सघन होती है।
४. गुंजावायु—जो गुंजार करती हुई चलती है।
५. शुद्धवायु—जो मन्द-मन्द बहती है।

जो वायु घासफूस को बाहर से उड़ाकर भीतर ले जाती है, उसे संवर्तक वायु कहा गया है।

एएसि वण्णओ चव, गंधओ रसफासओ ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्सत्तो ॥

(उ ३६।१२५)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

### सच्चित्त-अच्चित्त-मिथ वायु

सवल्लयघणतणुवाया अतिहिम अतिदुद्दिणे य निच्छइओ ।

ववहार पायमाई अक्कतादी य अच्चित्तो ॥

हत्थसयमेग गंता दइउ अच्चित्तो बिइय संमीसो ।

तइयमि उ सच्चित्तो वत्थी पुण पोरिसिदिणेहि ॥

(ओनि ३६०, ३६१)

कालो हि द्विविधः—निद्धो लुक्खो य । तत्थ निद्धो तिविहो उक्कोसो मज्झमो जहण्णो य । तत्थ उक्को-  
सनिद्धे काले पौस्सीमात्रं कालं यावत् वत्थी वायुणाऽऽ-

पुरितो अचित्तो होइ तदुर्वरि सो चेव तइए पहरे सचित्तो होइ ।

लुक्खकालोऽवि तिविहो—जहन्नलुक्खो मज्झिम-लुक्खो, उक्कोसलुक्खो य । तत्थ जहन्नलुक्खे काले वत्थी वाउणाऽऽपुरिओ एगदिवसं जाव अचित्तो होइ, तदुर्वरि सो चेव बिइयदिवसे मिस्सो होइ, सो चेव ततिए दिवसे सचित्तो होइ । उक्कोसलुक्खे काले दिवसतिगं जाव अचित्तो होइ, तदुर्वरि सो चेव चउत्थे दिवसे मीसो होइ, तदुर्वरि सो चेव पंचमे दिवसे सचित्तो होइ ।

(ओनिवृ पृ १३४)

वायुकाय के चार प्रकार हैं—

१. नैश्चयिक सचित्त—बलय के आकार में स्थित घनवात और तनुवात, अतिहिमपात और अतिदुर्दिन (मेघकृत अन्धकार) में होने वाली वायु ।
२. व्यावहारिक सचित्त—दुर्दिन रहित पूर्व आदि दिशाओं की वायु ।
३. अचित्त वायु—कदम आदि पर चलने से उठने वाली वायु ।
४. मिश्र वायु—दूति (मशक) में भरी अचित्त वायु नदी में दो सौ हाथ की दूरी पर मिश्र हो जाती है ।

काल दो तरह का होता है—स्निग्ध काल और रूक्ष काल । स्निग्ध काल के तीन रूप हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य । उत्कृष्ट स्निग्ध काल में वायु से आपूरित मशक एक प्रहरपर्यंत अचित्त रहती है । तत् पश्चात् वही तीसरे प्रहर में पुनः सचित्त हो जाती है ।

रूक्ष काल के भी तीन रूप हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । जघन्य रूक्ष काल में वायु से आपूरित मशक एक दिन तक अचित्त रहती है, तत्पश्चात् दूसरे दिन मिश्र और तीसरे दिन सचित्त हो जाती है । उत्कृष्ट रूक्ष काल में मशक की वायु तीन दिन पर्यंत अचित्त रहती है, वही चौथे दिन मिश्र और पांचवें दिन सचित्त हो जाती है ।

स्थिति

संतइं पप्पणाईया, अपज्जवसिया वि य ।

ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥

(उ ३६।१२)

प्रवाह की अपेक्षा से वायुकायिक जीव अनादि-

अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादिसान्त है ।

आयुस्थिति

तिण्णेव सहस्ताइं, वासानुक्कोसिया भवे ।

आउट्टिई वाऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥

(उ ३६।१२२)

वायुकाय की आयुस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन हजार वर्षों की है ।

कायस्थिति

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

कायट्टिई वाऊणं, तं कायं तु अमूचओ ॥

(उ ३६।१२३)

वायुकाय की कायस्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है ।

अंतरकाल

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

विजडंमि सए काए, वाउजीवाण अंतरं ॥

वायुकाय का अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है ।

क्षेत्र

सुहुमा सब्वलोगम्मि, लोणदेसे य बायरा ।

(उ ३६।१२०)

सूक्ष्म वायुकायिक जीव समूचे लोक में और बाहर वायुकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं ।

७. वनस्पतिकाय की परिभाषा

वनस्पतिः—लतादिरूपः प्रतीतः, स एव कायः—शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः । (दहावृ प १३८)

लता आदि वनस्पति ही जिनका काय—शरीर होता है, उन जीवों को वनस्पतिकाय कहते हैं ।

जीवत्वसिद्धि

जम्म-जरा-जीवण-मरण-रोहणा-हार-दोहला-मयओ ।

रोग-तिमिच्छाईहि य नारिब्ब सचेयणा तरवो ॥

(विभा १७५३)

वनस्पतिजीव है । उसकी सजीवता के चिह्न हैं—जन्म, वृद्धत्व, जीवन, मृत्यु, व्रणसंरोहण, आहार, दोहद, रोग, रोग-चिकित्सा आदि ।

छिक्कपरोइया छिक्कमेत्तसंकोयओ कुलिगो व्व ।  
आसयसंचाराओ वियत्त ! वल्लीवियाणाइ ॥  
सम्मादओ य साव-प्पबोह-संकोयणाइओऽभिमया ।  
बउलादओ य सदाइविसयकालोवल्लभाओ ॥  
(विभा १७५४, १७५५)

१. कोई वनस्पति स्पर्श से बढ़ने लगती है ।
२. वनस्पति कुलिग कीट की भांति स्पर्शमात्र से सिकुड़ती है ।
३. लताएं वृक्ष आदि के सहारे ऊपर चढ़ती हैं ।
४. शमी आदि में निद्रा, जागृति, संकोच आदि होते हैं ।
५. बकुल, अशोक आदि वृक्ष शब्द, रूप आदि विषयों का यथासमय परिभोग करते हैं ।

वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेग-  
जीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । (द ४।८)

शस्त्रपरिणति से पूर्व बीजपर्यन्त (मूल से लेकर बीज तक) वनस्पतिकायिक चित्तवान् कहे गए हैं । वे अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतंत्र अस्तित्व) वाले हैं ।

### प्रकार

दुविहा वणस्सईजीवा, सुहुमा बायरा तथा ।  
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥  
(उ ३६।९२)

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर । इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं ।

### बादर वनस्पति के प्रकार

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया ॥  
साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥  
(उ ३६।९३)

बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद होते हैं—साधारणशरीर और प्रत्येकशरीर ।

### साधारण शरीरी

साधारणम्—अनन्तजीवानामपि समानमेकं शरीरं  
येवां तेऽमी साधारणशरीराः ।

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।  
साहारणजीवानां साहारणलक्खणं एयं ॥  
(उशावृ प ६९१)

जिसके एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, उसे साधारण शरीर कहा जाता है ।

इन जीवों के आहार, उच्छ्वासनिःश्वास आदि में कोई अन्तर नहीं होता, समानता होती है । ये सब जीव समान होते हैं ।

साहारणसरीरा उ णेगहा ते पकित्तिया ।  
आलुए मूलए चेव सिंगबेरे तहेव य ॥  
हिरिली सिरिली सिस्सिरिली, जावई केदकंदली ।  
पल्लदूलसणकन्दे य, कंदली य कुडुंबए ॥  
लोहि णीहू य थिहू य, कुहगा य तहेव य ।  
कण्हे य वज्जकंदे य, कंदे सूरणए तथा ॥  
अस्सकण्णी य बोद्धवा, सीहकण्णी तहेव य ।  
मुसुंठी य हलिद्दा य, णेगहा एवमायओ ॥  
(उ ३६।९६-९९)

साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार है—आलू, मूली, अदरक, हिरलीकन्द, सिरिली-कंद, सिस्सिरिलीकंद, जवाइकंद, केदकदलीकन्द, प्याज, लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक, लोही, स्निहु, कुहक, कृष्ण, वज्रकन्द, सूरणकन्द, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंठी, हरिद्रा आदि—ये सब साधारण शरीर हैं ।

सव्वो वि किसलओ खलु उप्पयमाणो अणंततो होइ ।  
सो चेव बड्ढमाणो होति अणंतो परित्तो वा ॥  
(दअचू पृ ७६)

सारे किसलय उत्पत्ति के समय अनन्तकायिक साधारणशरीर होते हैं । बढ़ने पर अनन्त भी रह सकते हैं और प्रत्येकशरीर भी बन सकते हैं ।

### प्रत्येक शरीरी

प्रत्येकम्—एकैकशो विभिन्नं शरीरमेवामिति  
प्रत्येकशरीराः, तेषां हि यदेकस्य शरीरं न तदन्यस्येति ।  
(उशावृ प ६९१)

जिसके एक-एक शरीर में एक-एक जीव होता है, उसे प्रत्येक शरीर कहा जाता है । इन जीवों के असंख्य शरीरों का पिंड दृष्टिगत होता है । उनमें जो एक जीव का शरीर है, वह अन्य जीव का शरीर नहीं होता—प्रत्येक जीव का स्वतंत्र शरीर होता है ।

एर्णसि वण्णओ चव, गंधओ रसफासओ ।  
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्सओ ॥

(उ ३६।१०५)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

पत्तेगसरीरा उ, षेगहा ते पकित्तिया ।  
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य लया वल्ली तणा तथा ।  
लयावलय पव्वगा कुहुणा, जलरुहा ओसहीतिणा ।  
हरियकाया य बोद्धवा, पत्तेया इति आहिया ॥

(उ ३६।९४, ९५)

प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली और तृण । लता, वलय (नारियल आदि), पर्वज (ईख आदि), कुहण (भूफोड़ आदि), जलरुह (कमल आदि), औषधि-तृण (अनाज) और हरितकाय — ये सब प्रत्येक शरीर हैं ।

### सच्चित्त-मिश्र वनस्पति

सव्वो वण्णंतकाओ सच्चित्तो होइ निच्छयनयस्स ।  
ववहारारउ अ सेसो मीसो पव्वायरोट्टाई ॥  
(ओनि ३६३)

वनस्पति के प्रकार

१. नैश्चयिक सच्चित्त—अनन्तकाय वनस्पति ।
२. व्यावहारिक सच्चित्त—प्रत्येक वनस्पति ।
३. मिश्र—म्लान पुष्प-फल, कुट्टित तन्दुल आदि ।

### अचित्त वनस्पति के प्रयोजन

संधारपायदंडगखोमिय कप्पा य पीढफलगाई ।  
ओसहभेसज्जाणि य एमाइ पओयणं बहुहा ॥

(पिनि ४६)

शय्यापट्ट, पीढ, फलक, पात्र, दण्ड, सूती वस्त्र, औषध (केवल हरीतकी आदि), भेषज (हरीतकी बहेड़ा आदि का मिश्रित चूर्ण अथवा बहिः उपयोगी प्रलेप आदि)—इन रूपों में अचित्त वनस्पतिकाय का उपयोग किया जाता है ।

### स्थिति

संतइं पप्पणाईया, अपज्जवसिया वि य ।

ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥

(उ ३६।१०१)

प्रवाह की अपेक्षा से वनस्पतिकायिक जीव अनादि अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सांत हैं ।

### आयुस्थिति

दस चव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।

वणप्फईण आउं तु, अंतोमुहुत्तं जहन्नगं ॥

(उ ३६।१०२)

वनस्पति जीवों की आयुस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः दस हजार वर्ष की है ।

### कायस्थिति

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

कायठिई पणगणं, तं कायं तु अमुच्चओ ॥

(उ ३६।१०३)

वनस्पति की कायस्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्तकाल की है ।

वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।

कालमणंतदुरंतं..... ॥

(उ १०।९)

वनस्पतिकाय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक दुरन्त अनन्तकाल तक वहाँ रह जाता है ।

### अन्तरकाल

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

विजदंमि सए काए, पणगजीवाण अंतरं ॥

(उ ३६।१०४)

उनका अन्तर (वनस्पतिकाय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यत काल का है ।

### क्षेत्र

एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ।

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य वायरा ॥

(उ ३६।१००)

सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं । उनमें नानात्व नहीं होता । सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव समूचे लोक में व्याप्त हैं तथा बाहर वनस्पतिकायिक जीव लोक के एक देश में व्याप्त हैं ।

### वनस्पतिकाय के आठ प्रकार

अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया वीथरुहा  
सम्मुच्छिमा तणलय । (द ४।सूत्र ८)

वनस्पति के आठ प्रकार हैं—

अग्रबीज—जिसका अग्रभाग बीज हो, जैसे कोरंटक ।

मूलबीज— जिसका मूल ही बीज हो, जैसे उत्पलकंद आदि ।

पर्वबीज— जिसका पर्व ही बीज हो, जैसे इक्षु आदि ।

स्कन्धबीज— जिसका स्कन्ध ही बीज हो, जैसे बूरह, कपित्थ आदि ।

बीजरुह— जो बीज से उत्पन्न हो, जैसे शालि, गेहूं आदि ।

संमूर्च्छिम— जो बीज के बिना पृथ्वी, पानी आदि कारणों को प्राप्त कर उत्पन्न हो, जैसे पश्चिमी आदि

तृण— दूब, दर्भ आदि सभी प्रकार के तृण ।

लता— सब प्रकार की लताएं ।

### वनस्पति की दस अवस्थाएं

वणस्सइकाइयस्स बीयपञ्जवसाणा दस भेदा गहिया भवन्ति—तं जहा—

मूले कंदे खंधे तथा य साले तहप्पवाले य ।

पत्ते पुफ्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा ॥

(दजिचू पृ १३८)

वनस्पति की दस अवस्थाएं हैं—

- |          |           |
|----------|-----------|
| १. मूल   | ६. प्रवाल |
| २. कंद   | ७. पत्र   |
| ३. स्कंध | ८. पुष्प  |
| ४. त्वचा | ९. फल और  |
| ५. शाखा  | १०. बीज । |

जोणिभूते बीए जीवो वक्कमइ सो व अण्णो वा ।

जो वि य मूले जीवो सो वि य पत्ते पढमयाए ॥

(दनि १४२)

योनिभूत बीज में बीज का जीव जन्म लेता है, अथवा दूसरा जीव जन्म लेता है । प्रारम्भ में मूल में जो जीव है, पत्ते में भी वही जीव है ।

### ८. पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों की अवगाहना

पृथिवीकायिकादीनां त्वंगुलासंख्येय भागमात्रतया तुल्यायामप्यवगाहनायां विशेषः ।

वणऽन्तसरीराण एगाणिलसरीराणं पमाणेण ।

अणलोदगपुढवीणं असंखगुणिया भवे बुद्धी ॥

(अनुहावृ पृ ८०)

पृथ्वीकायिक आदि सभी एकेन्द्रिय जीवों की अवगाहना अंगुल का असंख्येय भाग मात्र होती है, फिर भी उनमें कुछ अन्तर होता है—

अनन्त वनस्पतिकायिक जीवों के शरीर—

एक वायुकायिक जीव का शरीर ।

असंख्य वायुकायिक जीवों के शरीर—

एक तेजस्कायिक जीव का शरीर ।

असंख्य तेजस्कायिक जीवों के शरीर—

एक अप्कायिक जीव का शरीर ।

असंख्य अप्कायिक जीवों के शरीर—

एक पृथ्वीकायिक जीव का शरीर ।

### ९. पृथ्वी आदि में उच्छ्वास आदि अव्यक्त

चित्तमात्रमेव तेषां पृथिवीकायिनां जीवितलक्षणं, न पुनरुच्छ्वासादीनि विद्यन्ते । (दजिचू पृ १३६)

पृथ्वीकाय आदि पांच जीवनिकायों में चैतन्य अल्पविकसित होता है । उनमें उच्छ्वास, निमेष आदि जीव के व्यक्त चिह्न नहीं होते ।

### १०. सघन मूर्च्छा का हेतु

जहा पुरिसस्स मज्जपाणविसोवयोग-सप्पावराह-हिप्पूरभक्खण मुच्छादीहि चेतोविघातकारणेहि जुगपद-भिभूतस्स चित्तं मत्तं एवं पुढविक्कातियाणं ।

(दअचू पृ ७४)

जिस प्रकार चित्त के विघातक कारणों से अभिभूत मनुष्य का चित्त मूर्च्छित हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण के प्रबलतम उदय से पृथिवी आदि एकेन्द्रिय जीवों का चैतन्य सदा मूर्च्छित रहता है । इनके चैतन्य का विकास न्यूनतम होता है ।

### ११. पृथ्वी आदि जीवों की दृश्यता

ताणि पुण असंखेज्जाणि समुदिताणि चक्खुविसय-मागच्छन्ति । (दअचू पृ ७४)

सिद्धी के कण, जल की बूंद और अग्नि की चिनगारी में असंख्य जीव होते हैं । इनका एक शरीर दृश्य नहीं बनता । इनके असंख्य शरीरों का समुदय ही हमें दीख सकता है ।

ज्ञातधमं कथा— छठा अंग । (द्र. अंगप्रविष्ट)

ज्ञान— ज्ञेय का बोध कराने वाला साधन ।

१. ज्ञान का निर्वचन

○ परिभाषा

२. ज्ञान के पांच प्रकार

○ चार ज्ञान स्वार्थ, श्रुतज्ञान परार्थ

३. मतिज्ञान आदि के क्रम का हेतु
४. चार ज्ञान क्षयोपशम भाव
५. ज्ञान-प्राप्ति के विकल्प
६. ज्ञान के दो प्रकार
७. प्रत्यक्ष ज्ञान का निर्वचन
  - परिभाषा
  - प्रकार
८. इन्द्रियप्रत्यक्ष की परिभाषा
  - प्रकार
  - इन्द्रियज्ञान संशयहार प्रत्यक्ष
  - इन्द्रियज्ञान परोक्ष
९. नोइन्द्रियप्रत्यक्ष की परिभाषा
  - प्रकार
१०. परोक्ष ज्ञान की परिभाषा
  - प्रकार
  - परोक्षता का हेतु
११. ज्ञान और नय
१२. ज्ञान और सम्यक्त्व में भेद
१३. ज्ञानसम्पन्नता के परिणाम
१४. चेतना-विकास का क्रम
१५. ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम सब जीवों में
  - \* ज्ञानावरण के प्रकार (द्र. कर्म)
  - \* ज्ञान के आचार (द्र. आचार)
  - \* ज्ञान विनय (द्र. विनय)
  - \* ज्ञान भावना (द्र. भावना)
  - \* पांच ज्ञान और सामायिक (द्र. सामायिक)
  - \* ज्ञान : भावप्रमाण का एक भेद (द्र. प्रमाण)
  - \* मिथ्यात्व की ज्ञान अज्ञान (द्र. अज्ञान)
१६. सामान्य बोध—दर्शन
  - दर्शन के प्रकार
  - चक्षुदर्शन-अक्षुदर्शन
  - अर्धदर्शन
  - \* केवलदर्शन (द्र. केवलज्ञान)
  - ज्ञान और दर्शन का भेद क्यों ?

## १. ज्ञान का निर्वचन

णाती णाणं—अवबोहमेत्तं ।  
 खओवसमियखाइएण वा भावेण जीवादिपदत्था  
 णज्जति इति णाणं ।

णज्जति एतमिह ति णाणं, णाणभावे जीवो ति ।  
 (नन्दीचू पृ १३)

- जानना ज्ञान है ।
- क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक भाव से जीव आदि पदार्थ जाने जाते हैं ।
- इसके होने पर जाना जाता है, इसलिए यह ज्ञान है ।

## परिभाषा

सविसेसं सागारं तं नाणं ।... (विभा ७६४)  
 जो वस्तु के विशेष रूपों—भेदों का ग्राहक है, वह साकार उपयोग ज्ञान है ।  
 णाणं च ज्ञेयाओ अब्बतिरित्तं । कहुं ? जाव जाणि-  
 यव्वा भावा ताव णाणं । (आवचू १ पृ २९)  
 ज्ञान और ज्ञेय अभिन्न हैं । क्योंकि जितने ज्ञेय पदार्थ हैं, उतना ज्ञान है ।

## २. ज्ञान के पांच प्रकार

नाणं पंचविहं पणत्तं, तं जहा आभिणिवोहिय-  
 नाणं सुयनाणं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं केवलनाणं ।  
 (नन्दी २)  
 ज्ञान के पांच प्रकार हैं—आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अर्धज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवल-  
 ज्ञान । (द्र. सम्बद्ध नाम)

एयं पंचविहं नाणं दव्वाण य गुणाण य ।

पज्जवाणं च सर्व्वेसि नाणं नाणीहि देसियं ॥

(उ २८५)

यह पांच प्रकार का ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण और पर्यायों का अवबोधक है—ऐसा ज्ञानियों ने बतलाया है ।

## चार ज्ञान स्वार्थ, धृतज्ञान परार्थ

चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं— नो उद्दि-  
 स्सन्ति, नो समुद्दिस्सन्ति, नो अणुण्णविज्जन्ति । सुयना-  
 णस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ ।

(अनु २)

चार ज्ञान प्रतिपादन में सक्षम नहीं होने के कारण स्थाप्य-स्थापनीय है । इसलिए इनके उद्देश (अध्ययन का निर्देश) समुद्देश (स्थिरीकरण का निर्देश) और अनुज्ञा (अध्यापन का निर्देश) नहीं होते । श्रुतज्ञान के उद्देश,

समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होते हैं।

### ३. मतिज्ञान आदि के क्रम का हेतु

किमेस मतिनाणादियो कयो ? सकारणो उवण्णासो ।  
इमे य ते कारणः—तुल्लसामित्तणतो सब्बकालाविच्छे-  
दट्टित्तणतो इंदियाऽर्णदियणिमित्तणतो तुल्लक्खतोव-  
समकारणत्तणतो सब्बदब्ब दिविसयसामणत्तणतो परूक्ख-  
सामन्नत्तणओ य तब्भावे य सेसणाणसंभवातो अतो  
आदीए मति-सुताइं कताइं ।

मति-सुयसमाणकालत्तणतो मिच्छइंसणपरिग्गह-  
त्तणतो तव्विक्खज्जयसाहम्मत्तणतो सामिसाहम्मत्तणतो य  
कत्थइ कालेगलाभत्तणतो य मतिसुताणतरं अवधि त्ति  
भणितो ।

ततो य छउमत्थसामिसामणत्तणतो य पुग्गलविसय-  
सामणत्तणतो य खयोवसमभावसामणत्तणतो य पच्च-  
क्खभावसामणत्तणतो य अवहिसमणतरं मणपज्जवनाणं  
ति ।

सब्वनाणुत्तमत्तणतो सब्बविसुद्धत्तणतो य विरत-  
सामिसामणत्तणतो य सब्बावसाणलाभत्तणतो य  
सब्वुत्तमलद्धित्तणओ य तदंते केवलं भणितं ।

(नन्दीचू पृ १४)

मति और श्रुत को सर्वप्रथम रखा गया है, क्योंकि  
दोनों के होने पर ही शेष ज्ञान संभव है। दोनों के  
अधिकारी तुल्य/समान हैं, दोनों की स्थिति समान  
है, दोनों इन्द्रियनिमित्तज हैं, दोनों का क्षयोपशम तुल्य  
है, दोनों का विषय समान है, दोनों परोक्ष ज्ञान हैं।

मति-श्रुत और अवधिज्ञान का कालमान समान है,  
अधिकारी समान हैं। ये मिथ्यादृष्टि के भी हो सकते हैं/  
इनका विपर्यय भी होता है। कभी-कभी तीनों की प्राप्ति  
एक साथ भी हो जाती है—इन समानताओं के कारण  
मति-श्रुत के पश्चात् अवधिज्ञान का क्रम रखा गया है।

अवधि और मनःपर्यवज्ञान—दोनों के अधिकारी  
छद्मस्थ होते हैं। दोनों का विषय है—पुद्गल/रूपी  
द्रव्य। दोनों क्षायोपशमिक प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। अतः अवधि  
के बाद मनःपर्यव का क्रम उपन्यस्त है।

मनःपर्यव और केवलज्ञान के अधिकारी भुनि/व्रती  
होते हैं। केवलज्ञान सब ज्ञानों में उत्तम है, सर्वविशुद्ध है,  
सर्वोत्तम लब्धि है, सबसे अन्त में प्राप्त होता है, अतः वह  
अंत में निरूपित है।

### ४. चार ज्ञान क्षयोपशमभाव

...खओवसमिया आभिणिबोहियनाणलद्धी,  
खओवसमिया सुयनाणलद्धी, खओवसमिया ओहि-  
नाणलद्धी, खओवसमिया मणपज्जवनाणलद्धी ।

(अनु २८५)

चार ज्ञानलब्धियां क्षयोपशम-निष्पन्न हैं—

१. आभिनिबोधिक ज्ञानलब्धि ३. अवधिज्ञानलब्धि
२. श्रुतज्ञानलब्धि ४. मनःपर्यवज्ञानलब्धि ।

### ५. ज्ञान-प्राप्ति के विकल्प

दोहि वा मति-सुतेहि । तिहि वा मति-सुता-सवहीहि  
अहवा मति-सुय-मणपज्जवेहि । चतुहि वा मति-  
सुतावहि-मणपज्जवेहि । एककेण वा केवलनाणेण संपण्णं ।

(दअचू पृ १३८)

एक साथ ज्ञान-प्राप्ति के चार विकल्प—

१. दो ज्ञान—मति और श्रुत ।
२. तीन ज्ञान—(१) मति, श्रुत और अवधि ।  
(२) मति, श्रुत और मनःपर्यव ।
३. चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव ।
४. एक ज्ञान—केवलज्ञान ।

### ६. ज्ञान के दो प्रकार

तं समासओ दुविहं पणत्तं, तं जहा—पच्चक्खं च  
परोक्खं च ।

(नन्दी ३)

ज्ञान के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष ।

### ७. प्रत्यक्ष ज्ञान का निर्वचन

जीवो अक्खो अत्थेव्वावण-भोयणगुणणिणओ जेण ।

तं पइ वटुइ नाणं जं पच्चक्खं..... ॥

(विभा ८९)

णाणप्पणताए अत्थे असइ त्ति इच्चेवं जीवो अक्खो,  
णाणभावेण वावेति । अक्खं पति वट्टति त्ति पच्चक्खं ।  
अणिदियं त्ति वुत्तं भवति ।

(नन्दीचू पृ १४)

जो ज्ञानात्मा से सभी अर्थों—पदार्थों में व्याप्त होता  
है, वह अक्ष/जीव है। अक्ष द्वारा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष  
है। यह अनिन्द्रिय ज्ञान है।

अश्नाति समस्तत्रिभुवनान्तर्गतानि देवलोकसमू-  
ह्यादीनर्थान् पालयति भुंक्ते वेति...अक्षः।...तमक्षं

प्रति साक्षात्...वर्तते यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ।

(विभामवृ पृ ५०)

जो समस्त पदार्थों का पालन/रक्षण और उपभोग करता है, वह अक्ष जीव है। साक्षात् अक्ष से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है।

### परिभाषा

जं सयं चैव जीवो इदिण्ण विणा जाणति, तं पच्चक्खं भण्णति । (आवचू १ पृ ७)

इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मा स्वयं जिससे ज्ञेय को जानती है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।

इन्द्रियमनोनिरपेक्षमात्मनः साक्षात् प्रवृत्तिमत्प्रत्यक्षम् । (आवचू प १६)

इन्द्रिय और मन से निरपेक्ष केवल आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है।

### प्रकार

पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा -- इदियपच्चक्खं च नोइदियपच्चक्खं च । (नन्दी ४)

प्रत्यक्ष के दो प्रकार - १. इन्द्रिय प्रत्यक्ष।

२. नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष।

## ८. इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिभाषा

पुगलेहिं संठाणणिव्वत्तिरूवं दब्बदियं । सोइदिय-मा दइदियाणं सव्वातप्पदेसेहिं स्वावरणक्खतोवसमातो जा लद्धी तं भाविदियं । तस्स पच्चक्खं ति इदियपच्चक्खं ।

(नन्दीचू पृ १४)

पुद्गलों ; जो इन्द्रिय-संस्थान निर्मित होता है, वह द्रव्येन्द्रिय है। सर्व आत्मप्रदेशों में श्रोत्र आदि इन्द्रियों के आवरण का क्षयोपशम होने से श्रोत्र आदि इन्द्रियों की लब्धि/ज्ञान करने की क्षमता को भावेन्द्रिय कहते हैं। जो भावेन्द्रिय के प्रत्यक्ष है, वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

### प्रकार

इदियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा—सोइदिय-पच्चक्खं, चक्खिदियपच्चक्खं, घ्राणिदियपच्चक्खं, जिब्भिदियपच्चक्खं, फासिदियपच्चक्खं । (नन्दी ५)

इन्द्रियप्रत्यक्ष पांच प्रकार का है—१. श्रोत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, २. चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष, ३. घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष, ४. रसनेन्द्रियप्रत्यक्ष, ५. स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्ष।

## इन्द्रियज्ञान : संव्यवहार प्रत्यक्ष

एगंतेण परोक्खं लिगियमोहाइयं च पच्चक्खं ।

इदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं ॥

(वि भा ९५)

हेतु से होने वाला अनुमान ज्ञान वास्तविक परोक्ष है। अवधि, मन-पर्यव और केवलज्ञान वास्तविक प्रत्यक्ष हैं। इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है।

इदियमणोनिमित्तं पि नाणुमाणाहि भिज्जए कित्तु । नाविकखइ लिगंतरमिइ पच्चक्खोवयारो त्थ ॥

(विभा ४७१)

इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान भी अनुमान से भिन्न नहीं है। किन्तु इसमें धूम आदि अन्य लिग या निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती, इसलिए इन्द्रिय-मनोज्ञान को उपचार से प्रत्यक्षज्ञान कहा गया है।

भाविदियोवयारपच्चक्खत्तणतो एतं पच्चक्खं । परम-त्थओ पुण चित्तमाणं एतं परोक्खं । परा दब्बिदिया, भाविदियस्स य तदायत्तप्पणतो । (नन्दीचू पृ १५)

भावेन्द्रिय के कारण इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। परमार्थतः यह परोक्ष है क्योंकि द्रव्येन्द्रियों 'पर' हैं और भावेन्द्रियां द्रव्येन्द्रियों के अधीन हैं।

## इन्द्रियज्ञान परोक्ष

जीवो च्चैव चक्खुमादिएहिं रूवाईणं विसयत्थाणं गाहूतो । कहं ? जम्हा जीवोवओगविरहियाणि इदियाणि णो उवलभंति । अओ जं इदिएहिं उवलभंति तं णाणं लिगितं, ...परनिमित्तफिप्फणं । (आवचू १ पृ ७)

जीव ही चक्षु आदि इन्द्रियों के माध्यम से रूप आदि विषयों को ग्रहण करता है। क्योंकि जीव के उपयोग से शून्य इन्द्रियां कुछ भी उपलब्ध नहीं कर सकतीं। इसलिए इन्द्रियों के द्वारा जो उपलब्ध होता है वह ज्ञान परोक्ष है, परनिमित्त से निष्पन्न है।

## ९. नोइन्द्रियप्रत्यक्ष की परिभाषा

नोइदियपच्चक्खं ति इदियातिरित्तं । (नन्दीचू पृ १५)

नोइन्द्रियप्रत्यक्षं यत् इन्द्रियप्रत्यक्षं न भवति ।

नोशब्दः सर्वनिषेधव ची । तेन मनसोऽपि कथञ्चिदिन्द्रियत्वाभ्युपगमात्तदाश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षं न भवतीति ।

नन्दीमवृ प ७६)

अतीन्द्रियज्ञान नोइन्द्रियप्रत्यक्ष है।



जो इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं है, वह नोइन्द्रियप्रत्यक्ष है। यहां नो शब्द सर्वथा निषेधवाचक है। मन भी किसी अपेक्षा से इन्द्रियरूप में स्वीकृत है इसलिए उसके माध्यम से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता।

### प्रकार

नोइन्द्रियपञ्चकखं तिविहं पणत्तं, तं जहा—ओहि-  
नाणपञ्चकखं, मणपञ्जवनाणपञ्चकखं, केवलनाणपञ्चकखं।  
(नन्दी ६)

नोइन्द्रियप्रत्यक्ष तीन प्रकार का है—१. अवधिज्ञान-  
प्रत्यक्ष, २. मनःपर्यवज्ञानप्रत्यक्ष ३. केवलज्ञानप्रत्यक्ष।  
(द्र. सम्बद्ध नाम)

### १०. परोक्षज्ञान की परिभाषा

अक्खो जीवो । तस्स जं परतो तं परोक्खं ।

(आवचू १ पृ ६,७)

अक्खातो परेसु जं णाणं उप्पज्जति तं परोक्खं  
इदियमणोनिमित्तं दट्ठव्वं । (नन्दीचू पृ १४)

अक्ष का अर्थ है—जीव। जो उससे पर होता है, वह परोक्ष है।

जो ज्ञान साक्षात् आत्मा से नहीं, 'पर' से होता है, वह परोक्ष है। यह इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान है।

### प्रकार

परोक्खं दुविह पणत्तं, तं जहा --आभिणिबोहिय-  
नाणपरोक्खं च सुयनाणपरोक्खं च । (नन्दी ३४)

परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—१. आभिनिबोधिक-  
ज्ञानपरोक्ष २. श्रुतज्ञानपरोक्ष।

### परोक्षता का हेतु

अक्खस्स षोग्गलकया जं दव्विन्दिय-मणा परा तेणं ।  
तेहिं तो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥  
अपौद्गलिकत्वादमूर्तो जीव । पौद्गलिकत्वात् तु  
मूर्तानि द्रव्येन्द्रियमनांसि । अमूर्तान्च मूर्तं पृथग्भूतम् ।  
ततस्तेभ्यः पौद्गलिकेन्द्रियमनोभ्यो यद् मति-श्रुत-  
लक्षणं ज्ञानमुपजायते, तद् धूमादेरन्यादिज्ञानवत्  
परनिमित्तत्वात् परोक्षमिह जिनमते परिभाष्यते ।

(विभा ९० मवृ पृ ५०)

आत्मा अमूर्त है, क्योंकि अपौद्गलिक है। द्रव्य-  
इन्द्रियां और मन मूर्त हैं, क्योंकि पुद्गलों से निष्पन्न हैं।  
अमूर्त से मूर्त 'पर' (पृथक्) है। अतः द्रव्येन्द्रियों और

मन के माध्यम से जो मति-श्रुतात्मक ज्ञान होता है, वह धूम से अग्निज्ञान की तरह परनिमित्तज्ञ होने के कारण परोक्ष है।

इन्द्रिय-मणोनिमित्तं परोक्खमिह ससयादिभावाओ ।  
तक्कारणं परोक्खं जहेह साभासमणुमाणं ॥  
(विभा ९३)

इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाले ज्ञान में संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि हो सकते हैं, इसलिए वह परोक्ष है। जैसे साभास अनुमान या सम्यग् अनुमान को परोक्ष इसलिए माना है कि वह इन्द्रिय और मन-सापेक्ष होता है तब उसमें संशय आदि की संभावना बनी रहती है।

होन्ति परोक्खाइं मइ-सुयाइं जीवस्स परनिमित्ताओ ।  
पुव्वोवलद्वसंबंधसरणाओ वाणुमाणं व ॥  
(विभा ९४)

जैसे पूर्व उपलब्ध संबंध की स्मृति के कारण उत्पन्न होने वाला अनुमान ज्ञान परोक्ष है, वैसे ही श्रुत ज्ञान भी पर अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है, इसलिए वह परोक्ष है।

### ११. ज्ञान और नय

सम्मत्त-नाणरहियस्स नाणमुप्पज्जइ त्ति ववहारो ।  
नेच्छइयनओ भासइ उप्पज्जइ तेहिं सहिअस्स ॥  
(विभा ४१४)

व्यवहारनय के अनुसार सम्यक्त्व और ज्ञान से विहीन (मिथ्यात्वी और अज्ञानी) जीव को ज्ञान उत्पन्न होता है। निश्चयनय के अनुसार सम्यक्त्वी और ज्ञानी को ही ज्ञान उत्पन्न होता है।

### १२. ज्ञान और सम्यक्त्व में भेद

नाणमवाय-धिईओ दंसणमिट्ठं जहोग्गहे-हाओ ।  
तह तत्तर्हूइं सम्मं रोइज्जइ जेण तं नाणं ॥  
(विभा ५३६)

जैसे अवग्रह और ईहा सामान्य अवबोध के कारण दर्शन हैं और अपाय तथा धृति—धारणा विशेष अवबोध के कारण ज्ञान हैं, वैसे ही तत्त्वविषयक हृत्—श्रद्धा सम्यक्त्व है और जिससे जीव आदि तत्त्वों पर श्रद्धा होती है, वह ज्ञान है।

### १३. ज्ञानसम्पन्नता के परिणाम

नाणसंपन्नयाए णं भत्ते ! जीवे कि जणयइ ?

नाणसंपन्नयाए णं जीवे सब्बभावाहिंगम जणयइ ।  
नाणसपन्ने णं जीवे चाउरते संसारकंतारे न विणस्सइ ।

जहा सूई ससुत्ता पडिया वि न विणस्सइ ।

तहा जीवे ससुत्ते संसारे न वि स्सइ ॥

नाणविणयतवच्चि त्तजोगे संपाउणइ, ससमयपरसमय-  
संधायणिज्जे भवइ । (उ २९।६०)

भन्ते ! ज्ञान-सम्पन्नता (श्रुतज्ञान की सम्पन्नता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ज्ञान-सम्पन्नता से वह सब पदार्थों को जान लता है । ज्ञान-सम्पन्न जीव चार गतिरूप चार अन्तों वाली अटवी में विनष्ट नहीं होता । जिस प्रकार ससूत्र (धामे में पिरोई हुई) सूई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुतसहित) जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता ।

ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त करता है तथा स्वसमय और परसमय की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक रूप माना जाता है ।

ज्ञानस्य फलं हेयस्य हानिः उपादेयस्य चोपादानं, न च संसारात्परं किञ्चिद्वेद्यमस्ति न च मोक्षात्परं किञ्चिदुपादेयं, ततो भवमोक्षावेकान्तेन हेयोपादेयौ । भवमोक्षयोश्च हान्युपादाने सर्वसङ्गविरतेर्भवतः । ततः साऽवश्यं तत्त्ववेदिना कर्त्तव्या । सैव च परमार्थतो ज्ञानस्य फलम् । (नन्दीमवृ प १४३)

ज्ञान की निष्पत्ति है—हेय का त्याग और उपादेय का स्वीकार । संसार से बढ़कर कोई दूसरा हेय नहीं है और मोक्ष से बढ़कर कोई दूसरा उपादेय नहीं है । इसलिए भव—संसार एकान्ततः हेय है और मोक्ष एकान्ततः उपादेय है । भव की हानि और मोक्ष के उपादान का साधन है—सर्वसंग-विरति । ज्ञानी को विरति अवश्य करनी चाहिए । वस्तुतः ज्ञान का यही फल है ।

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहि ।

तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊत्तासमेत्तेण ॥

(उणावृ प ६८)

एक अज्ञानी करोड़ों वर्षों में जितने कर्मों को क्षीण करता है, उतने कर्मों को एक त्रिगुप्त ज्ञानी उच्छ्वास मात्र में क्षीण कर देता है ।

## १४. चेतना-विकास का क्रम

पुढविकाइतेहिंतो आउक्कातियाण अणंतभागेण

विसुद्धतरं नाणमक्खरं, एवं कमेणं तेउ-वाउ-वणस्सति-  
वेइंदिय-तेइंदिय-चतुरिदिय-असण्णिपंचेदिय-सण्णिपंचेदि-  
याण य विसुद्धतरं भवति । (नन्दीचू पृ २६)

सव्वजहण्णं चित्तं एभिदियाणं, ततो विसुद्धतरं  
वेइंदियाणं, ततो तेइंदियाणं, ततो चउरिंदियाणं, ततो  
असण्णिपंचिदियतिरिक्खजोणित्ताणं सम्मुच्छिममणूसाण य,  
ततो गढभवककंतियतिरियाणं, ततो गढभवककंतियमणूसाणं,  
ततो वाणमंतराणं, ततो भवणवासीणं, ततो जोतिसियाणं,  
ततो सोधम्मताणं जाव सव्वुक्कस्सं अणुत्तरोववातियाणं  
देवाणं । (दअचू पृ ७४)

पृथ्वीकायिक जीवों में ज्ञान-चेतना का विकास न्यूनतम होता है । उससे अनंत भाग विशुद्धतर ज्ञान अप्कायिक जीवों में होता है । इसी प्रकार तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असन्नी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, सम्मूर्च्छिम मनुष्य, गर्भज तिर्यंच, गर्भज मनुष्य, व्यंजर देव, भवनपति देव, ज्योतिष्क देव, सौधर्म आदि कल्पोपपन्न देव और नव ग्रंथेयक देव—इनका ज्ञान क्रमशः विशुद्ध, विशुद्धतर होता है । अनुत्तरोपपातिक देवों में ज्ञानचेतना का विकास सर्वोत्कृष्ट विशुद्धतम होता है ।

## १५. ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम सब जीवों में

णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स अणंतेहि अविभागपलि-  
च्छेदेहि जतिवि एक्केक्को जीवपदेसो आवेदितो  
परिवेदितो भवति तहावि णाणभावो अत्थि चेव पुढवि-  
काइयादीणं । (आवचू १ पृ ३०)

यद्यपि ज्ञानावरणीय कर्म के अनन्त अविभागी परिवेदितों से एक-एक आत्मप्रदेश आवेष्टित-परिवेष्टित है, फिर भी पृथ्वीकाय आदि जीवों में ज्ञान की सत्ता (क्षयोपशम) तो विद्यमान है ही ।

## १६. सामान्यबोध—दर्शन

...निव्विसेसमणागारं । तं वंसणं...॥

(विभा ७६४)

जो सामान्य का ग्राहक है, वह दर्शन/अनाकार उप-  
योग है ।

### दर्शन के प्रकार

दंसणगुणप्पमाणे चउव्विहे पणत्ते, तं जहा—चक्खु-  
दंसणगुणप्पमाणे अचक्खुदंसणगुणप्पमाणे ओहिदंसण-

गुणध्वमाणे केवलदसणगुणध्वमाणे । (अनु ५५२)

दर्शन के चार प्रकार हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ।

### चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन

चक्षुदर्शने—चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणे । अचक्षुषि—  
चक्षुःसदृशानि शेषेन्द्रियमनांसि तद्दर्शने तेषां स्वस्वविषय-  
सामान्यपरिच्छेदे । (उशावृ प ६४२)

चक्षु के द्वारा रूप का सामान्य ग्रहण चक्षुदर्शन है । श्रोत्र, घ्राण, रस, स्पर्श और मन के द्वारा अपने-अपने विषय का सामान्य ज्ञान होता है, वह अचक्षुदर्शन है ।

### अवधिदर्शन

सागारमणागारा ओहि.....। (आवनि ६५)

जो रूपी द्रव्यों को विशेष रूप से ग्रहण करता है, वह अवधिज्ञान है । जो रूपी द्रव्यों को सामान्य रूप से ग्रहण करता है, वह अवधिदर्शन है ।

### ज्ञान और दर्शन का भेद क्यों ?

सामान्यत एकरूपेऽपि क्षयोपशमलम्भेऽपान्तराले  
द्रव्याद्यपेक्षया क्षयोपशमस्य विशेषसम्भवाद् विविधोपयोग-  
सम्भवो भवतीति । (नन्दीमवृ प १०९)

ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति में ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम की समानता रहती है—सामान्यतः क्षयोपशम एक ही प्रकार का है । किन्तु द्रव्य में सामान्य और विशेष—दोनों धर्म होते हैं, इस दृष्टि से क्षयोपशम के दो रूप बनते हैं—ज्ञान (साकार उपयोग) और दर्शन (अनाकार उपयोग) ।

ज्ञानक्रियावाद—मुक्ति के लिए ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना का सिद्धान्त । (द्र. वाद)

ज्ञानावरणीय—ज्ञान को आवृत करने वाला कर्म । (द्र. कर्म)

ज्योतिष्क—जो प्रकाशमान विमानों में रहते हैं, वे देव । (द्र. देव)

तत्त्व—पारमार्थिक वस्तु—'तथ्याः अवितथाः निरुप-  
चरितवृत्तयः ।' (उशावृ प ५६२)

जीवाजीवा य बंधो य, पुष्णं पावासवो तथा ।

संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥

(उ २८।१४)

तत्त्व नौ हैं—

जीव—जिसमें चेतना हो, सुख-दुःख का संवेदन हो ।

अजीव—जिसमें चेतना न हो ।

पुण्य—शुभ रूप में उदय आने वाले कर्मपुद्गल ।

पाप—अशुभ रूप में उदय आने वाले कर्मपुद्गल ।

आश्रव—कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने वाली आत्मप्रवृत्ति ।

संवर—आश्रव का निरोध ।

निर्जरा—तपस्या आदि के द्वारा कर्मविलय से होने वाली आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता ।

बंध—आत्मा के साथ शुभ-अशुभ कर्मों का संबंध ।

मोक्ष—अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कर्ममुक्त आत्मा ।

तथाकार—आचार्य के वचनों को 'तद्दत्'—आप जो कह रहे हैं, वह वैसा ही है—इस रूप में स्वीकार करना । सामाचारी का एक भेद । (द्र. सामाचारी)

तद्भवमरण—मरण का एक भेद । (द्र. मरण)

तप—कर्मशरीर को तपाने वाला अनुष्ठान, कर्म-क्षय का असाधारण हेतु ।

### १. तप की परिभाषा

\* तप : मोक्ष का मार्ग (द्र. मोक्ष)

### २. तप के प्रकार

### ३. बाह्य-आभ्यंतर के भेद का हेतु

### ४. इत्वरिक तप के प्रकार

• श्रेणी तप

• प्रतर तप

• घन तप

• वर्ग तप

• वर्गवर्ग तप

• प्रकीर्ण तप

\* तप : चारित्र धर्म का एक भेद (द्र. धर्म)

### ५. तप चारित्र से पृथक् क्यों ?

### ६. तप का उद्देश्य

### ७. तप की अहंता

### ८. तप के परिणाम

\* तप : प्रायश्चित्त का एक प्रकार (द्र. प्रायश्चित्त)

\* नमस्कारसहिता आदि तप (द्र. प्रत्याख्यान)

\* महाबोर की तपस्या (द्र. तीर्थंकर)

## १. तप की परिभाषा

तवो णाम तावयति अटुविहं कम्मगंठि नासेतित्ति वुत्तं भवइ ।  
(दजिचू पृ १५)

जो आठ प्रकार की कर्मग्रन्थियों को तपाता है—  
उनका नाश करता है, वह तप है।

तपति पुरोपात्तकर्मणि क्षपणेनेति तपो...यदर्हद्वच-  
नानुसारि तदेव समी िनमुपादीयते । (उशावृ प ५५६)

जो पूर्व उपाजित कर्मों को क्षीण करता है, वह तप है। आर्हत प्रवचन के अनुकूल तप ही सम्यक् तप है और वही उपादेय है।

## २. तप के प्रकार

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरुभंतरो तथा ।  
बाहिरो छुविहो वुत्तो, एवमभंतरो तवो ॥  
अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।  
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥  
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्जाओ ।  
क्काणं च विउस्सग्गो, एसो अन्धितरो तवो ॥  
(उ ३०।७,८,३०)

तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर ।

बाह्य तप छह प्रकार का है—

- |                |                   |
|----------------|-------------------|
| १. अनशन        | ४. रस-परित्याग    |
| २. ऊनोदरिका    | ५. कायक्लेश       |
| ३. भिक्षाचर्या | ६. प्रतिसंलीनता । |

आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है—

- |                 |                 |
|-----------------|-----------------|
| १. प्रायश्चित्त | ४. स्वाध्याय    |
| २. विनय         | ५. ध्यान        |
| ३. वैयावृत्य    | ६. व्युत्सर्ग । |

## ३. बाह्य-आभ्यन्तर के भेद के हेतु

बाह्यं—बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् प्रायो मुक्त्यवाप्तिबहि-  
रङ्गत्वाच्च । अभ्यन्तरं तद्विपरीतं । यदिवा लोकप्रतीत-  
त्वात्कुतीर्थिकेश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यमानत्वाद् बाह्यं  
तदितरत्वाभ्यन्तरम् ।

लोके परसमयेषु च यत्प्रथितं तत्तपो भवति बाह्यम् ।

आभ्यन्तरमप्रथितं कुशलजनेनैव तु ग्राह्यम् ॥

(उशावृ प ६००)

अनशन आदि निम्न कारणों से बाह्य तप कहलाते हैं—

१. इनमें बाहरी द्रव्य—अशन, पान आदि का त्याग होता है।

२. ये मुक्ति के बहिरंग कारण होते हैं।

३. ये सर्वसाधारण के द्वारा तपस्या के रूप में स्वीकृत होते हैं।

४. लोक में इनकी स्पष्ट प्रतीति होती है। अन्यतीर्थिक भी अपने-अपने मत के अनुसार इनका पालन करते हैं।

प्रायश्चित्त आदि निम्न कारणों से आभ्यन्तर तप कहलाते हैं—

१. इनमें बाहरी द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होती।

२. ये मुक्ति के अन्तरंग कारण होते हैं।

३. ये विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा तप के रूप में स्वीकृत होते हैं।

४. ये लोकप्रसिद्ध नहीं हैं—लोक में इनकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है। कुशल आध्यात्मिक व्यक्ति के द्वारा ही ये ग्राह्य होते हैं।

## ४. इत्वरिक तप के प्रकार

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छुविहो ।  
सेद्धितवो पयरतवो, षणो य तह होई वग्गो य ॥  
तत्तो य वग्गवग्गो उ, पंचमो छुट्ठो पइण्णतवो ।...  
(उ ३०।१०,११)

इत्वरिक तप के छह प्रकार हैं—

- |              |                  |
|--------------|------------------|
| १. श्रेणी तप | ४. वर्म तप       |
| २. प्रतर तप  | ५. वर्गवर्ग तप   |
| ३. घन तप     | ६. प्रकीर्ण तप । |

### श्रेणी तप

श्रेणी—पंक्तिस्तदुपलक्षितं तपः श्रेणितपः । तच्चतु-  
र्थादिक्रमेण क्रियमाणमिह षण्मासान्तं परिगृह्यते ।

(उशावृ प ६००,६०१)

श्रेणी का अर्थ है—पंक्ति। पंक्तिबद्ध जो तप किया जाता है, वह श्रेणितप है। इसमें उपवास से प्रारम्भ कर छह मास पर्यन्त क्रमपूर्वक तपस्या की जाती है।

### प्रतर तप

श्रेणितेव श्रेण्या गुणिता प्रतर उच्यते, तदुपलक्षितं तपः प्रतरतपः, इह चाव्यामोहार्थं चतुर्थषष्ठाष्टमदश-  
माख्यपदचतुष्टयात्मिका श्रेणिविवक्ष्यते, सा च चतुर्भि-

गुणिता षोडशपदात्मकः प्रतरो भवति, अयं चायामतो विस्तरतश्च तुल्यः ।  
(उशावृ प ६०१)

श्रेणि को श्रेणि पदों से गुणा करने पर प्रतर तप होता है । जैसे — उपवास, बेला, तेला और चोला — इन चार पदों की श्रेणी है । इनको चार से गुणा करने पर  $४ \times ४ = १६$  पद होते हैं । स्थापना इस प्रकार है—

१	उपवास	बेला	तेला	चोला
२	बेला	तेला	चोला	उपवास
३	तेला	चोला	उपवास	बेला
४	चोला	उपवास	बेला	तेला

### घन तप

अत्र च षोडशपदात्मकः प्रतरः पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गुणितो घनो भवति, आगतं चतुःषष्टिः ६४, स्थापना तु पूर्वैकैव नवरं बाह्यतोऽपि पदचतुष्टयात्मकत्वं विशेषः, एतदुपलक्षितं तपो घनतप उच्यते ।

(उशावृ प ६०१)

प्रतर तप के १६ पदों को चार पदात्मक श्रेणी से गुणा करने पर घन तप होता है । इसके  $१६ \times ४ = ६४$  पद होते हैं ।

### वर्ग तप

घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति, ततश्चतुःषष्टि-श्चतुःषष्ट्यैव गुणिता जातानि षण्णवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि, एतदुपलक्षितं तपो वर्गतपः । (उशावृ प ६०१)

घन को घन से गुणा करने पर वर्ग तप होता है । घन तप के ६४ पद हैं । इनको ६४ से गुणा करने पर वर्ग तप के  $६४ \times ६४ = ४०९६$  पद होते हैं ।

### वर्गवर्ग तप

वर्ग एव यदा वर्गेण गुण्यते तदा वर्गवर्गो भवति, तथा च चत्वारि सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि तावतैव गुणितानि जातं का कोटिः सप्तषष्टिलक्षाः सप्तसप्ततिसहस्राणि द्वै शते षोडशाधिके अङ्कतोऽपि १६७७७२१६ एतदुपलक्षितं तपो वर्गवर्गतप इत्युच्यते । (उशावृ प ६०१)

वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्गवर्ग तप होता है ।

वर्ग के ४०९६ पदों को ४०९६ से गुणा करने पर वर्गवर्ग तप के  $४०९६ \times ४०९६ = १६७७७२१६$  पद होते हैं ।

### प्रकीर्ण तप

प्रकीर्णतपयच्छ्रेण्यादिनियतरचनाविरहितं स्वशक्त्य-पेक्षं यथाकथञ्चिच्चिधीयते । तच्च नमस्कारसहितादि पूर्वपुष्पाचरितं यवमध्यवज्रमध्यचन्द्रप्रतिमादि च ।

(उशावृ प ६०१)

जो तप श्रेणी आदि निश्चित पदों की रचना किए बिना ही अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है, वह प्रकीर्ण तप है । नमस्कारसहिता, यवमध्यप्रतिमा, वज्रमध्यप्रतिमा, चन्द्रप्रतिमा आदि तप भी इसके अन्तर्गत हैं ।

### ५. तप चारित्र से पृथक् क्यों ?

चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्त्यैव क्षपणं प्रत्यसाधारणहेतुत्वमुपदर्शयितुम् । (उशावृ प ५५६)

तप चारित्र का ही एक प्रकार है, किन्तु मोक्षमार्ग में इसको पृथक् रूप से ग्रहण किया गया है, क्योंकि कर्म-क्षय करने का यह असाधारण हेतु है ।

### ६. तप का उद्देश्य

चउक्विहा खलु तवसमाही भवइ, तं जहा — नो इहलोगद्वयाए तवमहिट्ठेज्जा । नो परलोगद्वयाए तवमहिट्ठेज्जा । नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगद्वयाए तवमहिट्ठेज्जा । नन्नत्थ निज्जरद्वयाए तवमहिट्ठेज्जा ।

(द १।४।सू ६)

तप-समाधि के चार प्रकार हैं—

१. इहलोक (वर्तमान जीवन की भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नहीं करना चाहिए ।
२. परलोक (पारलौकिक भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नहीं करना चाहिए ।
३. कीर्ति, वर्ण शब्द और श्लोक के लिए तप नहीं करना चाहिए ।
४. निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए ।

विविहगुणतवोरए य निच्चं,

भवइ निरासए निज्जरद्विए ।

तवसा धुणइ पुराणपावगं,

जुत्तो सया तवसमाहिए ॥

(द १।४।४)

सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है। वह तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और सदा तपःसमाधि में युक्त रहता है।

### ७. तप की अर्हता

बलं धामं च पेहाए, सद्धामारोगमप्पणो ।

खेतं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥

(उ ८।३४)

अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर, क्षेत्र और काल को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार आत्मा को तप आदि में नियोजित करे।

### ८. तप के परिणाम

...तवेणं वोदाणं जणयइ । (उ २९।२८)

व्यवदानं पूर्वबद्धकर्मापगमतो विशिष्टां शुद्धिम् ।

(उशावृ प ५८६)

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ । अकिरियाए भविता तओ पच्छा सिञ्जइ बुञ्जइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्व-दुक्खाणमंतं करेइ । (उ २९।२९)

तप से जीव व्यवदान को प्राप्त होता है। व्यवदान का अर्थ है—पूर्वबद्ध कर्मों के विलय से होने वाली विशिष्ट शुद्धि।

व्यवदान से जीव अक्रिया (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति के पूर्ण निरोध) को प्राप्त होता है। वह अक्रियावान् होकर सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिवृत होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

तवेण परिसुञ्जई । (उ २८।३५)

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।

उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।

भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

(उ ३०।५,६)

तपस्या से आत्मा की विशुद्धि होती है।

जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से, सूर्य के ताप से

क्रमशः सूख जाता है, उसी प्रकार संयमी पुरुष के पाप-कर्म के आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं।

एयं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी ।

से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥

(उ ३०।३७)

जो पण्डित मुनि बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के तपों का सम्यक् रूप से आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त हो जाता है।

निःसङ्गता शरीरलाघवेन्द्रियविजयसंयमरक्षणादिगुण-योगात् शुभध्यानावस्थितस्य कर्मनिर्जरणम् ।

(उशावृ प ६०८)

निःसंगता, शरीरलाघव, इन्द्रियविजय, संयमरक्षा, शुभध्यान, कर्मनिर्जरण—ये तप के परिणाम हैं।

तिर्यंच—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा पशु, पक्षी आदि पंचेन्द्रिय ।

### १. तिर्यंच का निर्वचन, परिभाषा

\* एकेन्द्रिय तिर्यंच (द्र. जीवनिर्काय)

\* विकलेन्द्रिय तिर्यंच (द्र. ब्रह्म)

### २. पंचेन्द्रिय तिर्यंच के प्रकार

#### ३. जलचर के प्रकार

० आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

#### ४. स्थलचर के प्रकार

० आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

#### ५. लोचर के प्रकार

० आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच में—

\* अवधिज्ञान (द्र. अवधिज्ञान)

\* सम्यक्त्व (द्र. सम्यक्त्व)

\* आशीविष लब्धि (द्र. लब्धि)

\* लेशया (द्र. लेशया)

\* शरीर (द्र. शरीर)

\* अवगाहना का मापन (द्र. अंगुल)

\* आयुष्य का मापन (द्र. काल)

\* अन्तर्द्वीपज तिर्यंच (द्र. भनुष्य)

## १. तिर्यंच का निर्घञन, परिभाषा

तिरोऽञ्चन्तीति गच्छन्तीति तिर्यञ्चः, व्युत्पत्ति-  
निमित्तं चैतत् । प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यंगतिनाम, एते  
चैकेन्द्रियादयः । तत एषामायुस्तिर्यंगायुर्येनेतेषु स्थिति-  
र्भवति । (उप्रावृ प ६४३, ६४४)

तिर्यंचः—एकेन्द्रियादयः पञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः द्रष्टव्याः ।  
(पिनिवृ प ३७)

जो तिरछी गति करते हैं, वे तिर्यंच हैं—यह  
तिर्यंच का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।

जिन जीवों के तिर्यंग गति नामकर्म का उदय होता  
है, वे तिर्यंच हैं—यह प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है । तिर्यंचायु  
कर्म के उदय से ये तिर्यंचगति का आयुष्य भोगते हैं ।

तिर्यंच एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक होते हैं ।

## २. पंचेन्द्रिय तिर्यंच के प्रकार

पंचिन्द्रियतिरिक्खाओ, दुविहा ते वियाहिया ।  
सम्पुच्छिमतिरिक्खाओ, गम्भवक्कतिया तथा ॥  
दुविहावि ते भवे तिविहा, जलयरा-थलयरा नहा ।  
खहयरा य बोद्धवा ..... ॥

(उ ३६।१७०, १७१)

पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव के दो प्रकार हैं—सम्पुच्छिम  
तिर्यंच और गम्भज तिर्यंच । ये दोनों ही जलचर, स्थल-  
चर और खेचर के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं ।

## ३. जलचर के प्रकार

मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तथा ।  
सुंसुमारा य बोद्धवा, पंचहा जलयराहिया ॥  
(उ ३६।१७२)

जलचर जीव पांच प्रकार के हैं—

१. मत्स्य
२. कच्छप
३. ग्राह
४. मकर
५. सुंसुमार ।

एएसि वण्णओ चव, गंधओ रसफासओ ।  
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥

(उ ३६।१७८)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से  
उनके हजारों भेद होते हैं ।

## आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

एगा य पुव्वकोडीओ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
आउट्टिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥

पुव्वकोडीपुहुत्तं, उक्कोसेण वियाहिया ।  
कायट्टिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥  
अणतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।  
विजडंमि सए काए, जलयराणं तु अंतरं ॥

(उ ३६।१७५-१७७)

आयुस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं, उत्कृष्टतः एक करोड़  
पूर्व ।

कायस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं, उत्कृष्टतः पृथक्त्व  
कोटि पूर्व (दो से नौ कोटि पूर्व) ।

अन्तरकाल—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं, उत्कृष्टतः अनन्त  
काल ।

## ४. स्थलचर के प्रकार

चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे ।  
चउप्पया चउविहा, ते मे कित्तयओ सुण ॥  
एगखुरा दुखुरा चव, गंडीपयसणप्पया ।  
हयमाइगोणमाइ, गयमाइसीहमाइणो ॥

(उ ३६।१७९, १८०)

स्थलचर जीव के दो प्रकार हैं—चतुष्पद और  
परिसर्प ।

चतुष्पद के चार प्रकार हैं—

१. एक खुर—घोड़े आदि ।
२. दो खुर—बैल आदि ।
३. गंडीपद—हाथी आदि ।
४. सनखपद—सिंह आदि ।

## परिसर्प

भुओरगपरिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे ।  
गंहाइ अहिमाई य, एक्केक्का जेगहा भवे ॥

(उ ३६।१८१)

परिसर्प के दो प्रकार हैं—

१. भुजपरिसर्प—हाथों के बल चलने वाले गोह आदि  
प्राणी ।
२. उरःपरिसर्प—पेट के बल चलने वाले सांप आदि प्राणी ।  
ये दोनों अनेक प्रकार के होते हैं ।

एएसि वण्णओ चव, गंधओ रसफासओ ।  
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥

(उ ३६।१८७)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से  
उनके हजारों भेद होते हैं ।

**आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल**

पलिओवमाउ तिण्णि उ, उक्कोसेण बियाहिया ।  
आउट्टिई थलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥  
पलिओवमाउ तिण्णि उ, उक्कोसेण तु साहिया ।  
पुव्वकोडीपुहत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥  
कायट्टिई थलयराणं, अंतरं तेसिमं भवे ।  
कालमणंतमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नियं ॥

(उ ३६।१८४-१८६)

आयुस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः तीन पल्योपम ।

कायस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम ।

अंतरकाल—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः अनंतकाल ।

**५. सेचर के प्रकार**

चम्मे उ लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खिया ।  
विययपक्खी य बोद्धव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ॥

चर्मपक्षिणः चर्मचटकाप्रभृतयः चर्मरूपा एव हि तेषां पक्षाः—रोमप्रधानाः पक्षा रोमपक्षास्तद्वन्तः रोमपक्षिणः—राजहंसादयः । समुद्गपक्षिणः समुद्गाकारपक्षवन्तः, ते च मानुषोत्तराद्वह्निर्द्वीपवर्तितः । विततपक्षिणः ये सर्वदा विस्तारिताभ्यामेव पक्षाभ्यामासते ।

(उ ३६।१८८ श्रावृ प ६९९)

सेचर जीवों के चार प्रकार हैं—

१. चर्मपक्षी—चर्मगीदड़ आदि ।
२. रोमपक्षी—राजहंस आदि ।
३. समुद्गपक्षी—इनके पंख समुद्ग के आकार वाले होते हैं । ये मानुषोत्तर पर्वत के बाहरी द्वीपों में निवास करते हैं ।
४. विततपक्षी—इनके पंख सदा फैले हुए रहते हैं ।

एएसि वण्णओ चैव, गंधओ रसफासओ ।

संठाण्णादेसओ वावि, विहाण्णाइं सहस्सओ ॥

(उ ३६।१९४)

वर्णं, गंधं, रसं, स्पर्शं और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

**आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल**

पलिओवमस्स भागो, असखेज्जइमो भवे ।  
आउट्टिई खहयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥  
असंखभागो पलियस्स, उक्कोसेण उ साहो ।  
पुव्वकोडीपुहत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नियं ॥

कायट्टिई खहयराणं, अंतरं तेसिमं भवे ।

कालं अणंतमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नियं ॥

(उ ३६।१९१-१९३)

आयुस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः पल्योपम का असंख्यातवां भाग ।

कायस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक पल्योपम का असंख्यातवां भाग ।

अंतरकाल—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः अनंतकाल ।

तीर्थ—चतुर्विध श्रमणसंघ । गणधर । प्रवचन ।

**१. तीर्थ की परिभाषा**

तित्थं चातुवण्णो सभणसंघो पढमादिगणधरा वा ।

(नन्दीचू पृ २६)

तीर्थं यथावस्थितसकलजीवाजीवादिपदार्थसार्थप्ररूपकं परमगुरुप्रणीतं प्रवचनम् । तच्च निराधारं न भवतीति कृत्वा संघः प्रथमगणधरो वा वेदितव्यम् ।

(नन्दीमवृ प १३०)

जीव, अजीव आदि पदार्थ जिस रूप में अवस्थित हैं, उसी रूप में उनका प्ररूपण करने वाला प्रवचन तीर्थ है । वह प्रवचन तीर्थकर द्वारा प्रणीत है । वह निराधार नहीं होता । उसका आधार है—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध श्रमणसंघ अथवा गणधर । अतः संघ और प्रथम गणधर तीर्थ हैं ।

तित्थं ति पुव्वभणियं संघो जो नाणचरणसंघाओ ।

इह पवयणं पि तित्थं तत्तोऽणत्थंतरं जेण ॥

(विभा १३८०)

संघ ज्ञान और चारित्र्य का संघात है । संघ को तीर्थ कहा गया है । प्रवचन और तीर्थ एकार्थक हैं ।

**२. तीर्थ के प्रकार**

तित्थं दुविहं—द्ववतित्थं च भावतित्थं च । प्रभासादीनि द्रव्यतीर्थानि, जीवानामुपरोधकारीनीति कृत्वा न शान्तितीर्थानि भवन्ति । यस्तु आत्मनः परेषां च शान्तये तद्भावतीर्थं भवति । ब्रह्म एव शान्तितीर्थं ।

(उचू पृ २१२)

तीर्थ के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्यतीर्थ—प्रभास आदि । यहां जीवों का उपहनन होता है, अतः ये शान्तितीर्थ नहीं हो सकते ।



२. भावतीर्थ—शांतितीर्थ, ब्रह्म, आत्मा । यह स्व और पर की शांति का हेतु है ।

### द्रव्यतीर्थ

दाहोवसमं तण्हाइछेअणं मलपवाहणं चैव ।  
तिहि अत्थेहि निउत्तं तम्हा तं दव्वओ तित्थं ॥  
(आवनि १०६६)

द्रव्यतीर्थ से दाह-उपशम—शारीरिक ताप का शमन, तृष्णा आदि का अपनयन और मल का शोधन होता है इसलिए नदी आदि का घाट द्रव्यतीर्थ है ।

### भावतीर्थ

कोहमि उ निग्गहिए दाहस्स पसमणं हवइ तत्थं ।  
लोहमि उ निग्गहिए तण्हाए छेअणं होइ ॥  
अट्टविहं कम्मरयं बहुएहि भवेहि संचिअं जम्हा ।  
तवसंजमेण घुव्वइ तम्हा तं भावओ तित्थं ॥  
(आवनि १०६७, १०६८)

क्रोधनिग्रह से द्वेषदाह का उपशम होता है । लोभ-निग्रह से तृष्णा—आसक्ति का छेदन होता है । तप और संयम से अनेक भवों में संचित आठ प्रकार की कर्मरजों का शोधन होता है । इस प्रकार मोक्ष साधक भावों का प्रतिपादक प्रवचन भावतीर्थ है ।

दंसणनाणचरित्तसु निउत्तं जिणवरेहि सर्व्वेहि ।  
तिमु अत्थेसु निउत्तं तम्हा तं भावओ तित्थं ॥  
(आवनि १०६९)

दर्शन, ज्ञान, चारित्र—इन तीन अर्थों में निर्युक्त होने से सभी तीर्थकरों का प्रवचन भावतीर्थ है ।

धम्मं हरए बम्भे संतित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।  
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो, सुसीड्भूओ पजहामि दोसं ।  
एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।  
जहिंसि ण्हाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तम ठाण पत्ता ॥  
(उ १२।४६, ४७)

अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न लेख्या वाला धर्म मेरा जलाशय है । ब्रह्मचर्य मेरा शांतितीर्थ है, जहां नहाकर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्मरज का त्याग करता हूँ ।

यह स्नान कुशल पुरुषों द्वारा दृष्ट है । यह महास्नान है । अतः ऋषियों के लिए यही प्रशस्त है । इस धर्म-नद में नहाए हुए महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम-स्थान (मुक्ति) को प्राप्त हुए ।

### ३. तीर्थ को प्रणाम क्यों ?

तित्थपणामं काउं कहेइ ॥

तप्पुव्विया अरहया पूइयपूता य विणयकम्मं च ।

कयकिच्चोऽवि जह कहं कहए णमए त्हा तित्थं ॥

(आवनि ५६६, ५६७)

तीर्थकर तीर्थ को प्रणाम कर प्रवचन करते हैं (यह निर्युक्तिकार की मान्यता है) ।

तीर्थ को प्रणाम करने के प्रयोजन—

- ० तीर्थ के कारण ही तीर्थकर कहलाते हैं ।
  - ० पूजितपूजा—अर्हत् स्वयं पूजनीय होते हैं । उनके द्वारा तीर्थ की पूजा होने से तीर्थ की प्रभावना वृद्धिगत होती है ।
  - ० धर्म का मूल विनय है—इसकी प्रस्थापना होती है ।
- तीर्थकर—अर्हत्, प्रवचनकार, तीर्थ के प्रवर्तक ।

#### १. तीर्थ का प्रवर्तन

\* तीर्थकर एक लब्धि (द्र. लब्धि)

#### २. तीर्थकरनामगोत्र का बंध

\* वंयावृत्य से तीर्थकरनामगोत्र का बंध (द्र. वंयावृत्य)

#### ३. तीर्थकर और ज्ञान

\* तीर्थकर में अवधिज्ञान की नियमा (द्र. अवधिज्ञान)

#### ४. तीर्थकर की माता के स्वप्न

५. लोकान्तिक देवों द्वारा संबोध  
\* तीर्थकर स्वयं संबुद्ध (द्र. सिद्ध)

#### ६. तीर्थकर के सामायिक चारित्र

#### ७. तीर्थकरों के अतिशय

#### ८. तीर्थकर के उपदेश का हेतु

#### ९. तीर्थकर की भाषा

\* तीर्थकर और पूर्व देशना (द्र. पूर्व)  
\* तीर्थकर और अर्थागम (द्र. आगम)  
\* तीर्थकर और प्रकीर्णक (द्र. अंगबाह्य)

#### १०. तीर्थकर व्रता

#### ११. कैवल्यकाल

#### १२. तीर्थकर और मनशन

#### १३. तीर्थकर की शुभ कर्मप्रकृतियां

\* तीर्थकर और प्रतिक्रमण आदि का क्रम (द्र. शासनभेद)

* तीर्थकर और समवसरण	(द्व. समवसरण)
* तीर्थकरों की स्तुति	(द्व. स्तवस्तुति)
१४. तीर्थकर : एक परिचय	
१५. ऋषभ नामकरण	
१६. ऋषभ के पूर्वभव	
१७. मरुदेवा के स्वप्न	
१८. ऋषभ का जन्म	
१९. इक्ष्वाकुवंश, काश्यपगोत्र	
२०. गृहस्थ पर्याय	
२१. आदिम युग की सामाजिक व्यवस्था	
२२. ऋषभ का अभिनिष्क्रमण	
० प्रथम मिलाग्रहण	
२३. ऋषभ की प्रथमता	
२४. ऋषभ की शिष्य सम्पदा	
२५. ऋषभ का प्रमाद काल	
२६. मरुदेवा प्रथम सिद्ध	
२७. नमि-विनमि की प्रार्थना	
२८. तीर्थ का विच्छेद	
२९. अजित आदि अर्हंतों का नामकरण	
० अर्हत् अरिष्टनेमि का अभिनिष्क्रमण	
० शिष्य संपदा	
० अर्हत् पार्ष्व की शिष्य संपदा	
३०. महावीर के अभिधान	
३१. महावीर के पूर्वभव	
३२. महावीर का गर्भहरण	
३३. महावीर का परिवार	
३४. महावीर की तपस्या	
० पांच अभिग्रह	
० विशिष्ट अवधिज्ञान	
० शूलपाणियक्षकृत उपसर्ग	
० महावीर के महास्वप्न	
३५. महावीर की प्रतिमा साधना	
३६. संगमकृत उपसर्ग	
३७. कैवल्यप्राप्ति	
३८. महावीर की शिष्य सम्पदा	
३९. एक साथ कितने तीर्थकर ?	
* तीर्थकर और चक्रवर्ती	(द्व. चक्रवर्ती)

## १. तीर्थ का प्रवर्तन

तित्थं चाउव्वण्णो संघो सो पढमए समोसरणे ।  
उपपण्णो अ जिणाणं वीरजिण्णिदस्स बोअंमि ॥

(आवनि २६५)

तीर्थकर कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् सर्वप्रथम चार तीर्थ (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना करते हैं। ऋषभ आदि तेईस तीर्थकरों के प्रथम समवसरण में तथा भगवान् महावीर के दूसरे समवसरण में तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

## २. तीर्थकरनामगोत्र का बंध

अरिहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसुं ।  
वच्छल्लया एएंसि अभिक्खनाणोवओगे य ॥  
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइआरो ।  
खणलव तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥  
अप्पुव्वनाणमहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।  
एएहि कारणेहि तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥  
(आवनि १७९-१८१)

तीर्थकरनामगोत्र-बंध के बीस स्थान—

१ अर्हत्-वत्सलता	११. आवश्यक
२. सिद्ध-वत्सलता	१२. शीलव्रतविशुद्धि
३. प्रवचन-वत्सलता	१३. क्षणलव (संवेग भावना और ध्यान का सतत अभ्यास)
४ गुरु-वत्सलता	१४. तप
५. स्थविर-वत्सलता	१५. त्याग (साधु को प्रासुक एवणीय दान)
६. बहुश्रुत-वत्सलता	१६. वैयावृत्य
७. तपस्वी-वत्सलता	१७. समाधि
८. अभीक्षणज्ञानोपयोग	१८. अपूर्वज्ञान-ग्रहण
९. दर्शन-विशुद्धि	१९. श्रुत-भक्ति
१०. विनय	२०. प्रवचन-प्रभावना ।

नियमा मण्युगईए इत्थी पुरिसेयरो य सुह्लेसो ।

आसेवियवहुलेहि वीसाए अण्णयरएहि ॥

(आवनि १८४)

इस कर्मबन्ध में निमित्त बनते हैं—अर्हत्भक्ति आदि बीस स्थान। यह बंध मनुष्य गति में, शुभलेश्या में होता है। स्त्री, पुरुष, नपुंसक—कोई भी इसका बंध कर सकता है।

पुरिमेण पच्छिमेण य एए सव्वेऽवि फासिया ठाणा ।

मज्झिमएहि जिणेहि एवकं दो तिण्णि सव्वे वा ॥

(आवनि १८२)

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर ने इन सभी स्थानों का स्पर्श किया। मध्यम बाईस तीर्थंकरों ने इनमें से एक, दो, तीन अथवा सब स्थानों का आसेवन किया।

तं च कंहं वेद्मज्जइ ? अगिलाए धम्मदेसणाईहिं ।

बज्झइ तं तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताणं ॥

तस्य ह्युत्कृष्टा सागरोपमकोटीकोटिबंधस्थितिः ।

तच्च प्रारंभबन्धसमयादारभ्य सततमुपविनोति, यावद-  
पूर्वकरणसंख्येयभागरिति, केवलिकाले तु तस्योदयः ।

(आवनि १८३, हावृ १ पृ ८०)

तीर्थंकर अग्लान-अक्लांत भाव से धर्मदेशना करते हुए तीर्थंकरनामगोत्र कर्म का वेदन करते हैं।

तीर्थंकर वर्तमान भव से पूर्व तीसरे भव में तीर्थंकर-नामगोत्र कर्म का बंध करते हैं। अथवा जिस भव में इस कर्म का बंध करते हैं, उसके पश्चात् तीसरे भव में अवश्य उस कर्म का वेदन कर मुक्त हो जाते हैं।

तीर्थंकरनामगोत्र कर्म की उत्कृष्ट बंधस्थिति एक कोटीकोटि सागरोपम है। जिस समय इसका बंध प्रारंभ होता है, उस समय से लेकर अपूर्वकरण (क्षपकश्रेणी) के संख्येयभाग तक इस कर्मप्रकृति का सतत उपपद्य होता रहता है और केवलज्ञान की अवस्था में इसका उदय होता है। यही भाव तीर्थंकर की अवस्था है। इससे पूर्व द्रव्य तीर्थंकर होते हैं।

### ३. तीर्थंकर और ज्ञान

उदिआ परीसहा सि पराइआ ते अ जिणवरिदेहिं ।

नव जीवाइपयत्थे उवलभिक्रुणं च निक्खंता ॥

पढमस्स बारसंगं सेसाणिककारसंगं सुयलंभो ।”

(आवनि २३५, २३६)

सभी तीर्थंकर निष्क्रमणकाल में जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों के ज्ञाता थे। प्रथम तीर्थंकर पूर्वभव में बारह अंगों तथा शेष तेईस तीर्थंकर ग्यारह अंगों के ज्ञाता थे। सभी ने शीत, उष्ण आदि परीषहों को पराजित किया।

सुतलभे उसभसामी पुव्वभवे चोहसपुव्वी, अवसेसा  
एककारसंगी ।

(आवचू १ पृ १५८)

तीर्थंकर ऋषभ पूर्व भव में चतुर्दशपूर्वी थे, शेष तेईस तीर्थंकर आचार आदि ग्यारह अंगों के ज्ञाता थे। तिहिं नाणेहिं समग्गा तित्थयरा जाव हुंति गिह्वासे ।

पडिक्खणंमि चरित्ते चउनाणी जाव छउमत्था ॥

(आवभा ११०)

जब तक तीर्थंकर गृहवास में रहते हैं तब तक उनमें मति, श्रुत और अवधि—ये तीन ज्ञान होते हैं। जब वे प्रव्रजित होते हैं, तब उनको मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। ये चारों ज्ञान उनमें छद्मस्थ अवस्था तक रहते हैं।

### ४. तीर्थंकर की माता के स्वप्न

मय वसह सीह अभिसेअ दाम ससि दिणयरं भयं कुंभं ।

पउमसर सागर विभाणभवण रयणुच्चय सिहिं च ॥

(आवभा ४६)

प्रत्येक तीर्थंकर की माता चौदह स्वप्न देखती है—

१. गज	८. ध्वज
२. वृषभ	९. कुम्भ
३. सिंह	१०. पद्मसरोवर
४. अभिषेक (श्री)	११. सागर
५. माला	१२. विमान-भवन
६. चन्द्र	१३. रत्नराशि
७. सूर्य	१४. अग्नि

### ५. लोकांतिक देवों द्वारा संबोध

सव्वेवि सयंबुद्धा लोगतिअबोहिआ य जीएणं ।”

सारस्सयमाइच्चा वण्ही वरुणा य गदतोया य ।

तुभिया अब्वावाहा अगिगच्चा चेव रिट्ठा य ॥

एए देवनिकाया भयवं बोहिंति जिणवरिदं तु ।

सव्वजगज्जीवहिअं भयवं ! तित्थं पवत्तेहि ॥

(आवनि २१२, २१४, २१५)

सब तीर्थंकर स्वयं संबुद्ध होते हैं, फिर भी लोकांतिक देव—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, अग्नि और रिष्ट अपनी मर्यादा परम्परा के अनुसार तीर्थंकरों को संबोधित करते हैं—‘भते ! जगत् के हित के लिए तीर्थ का प्रवर्तन करें।’

### ६. तीर्थंकर के सामायिक चरित्र

सव्वतित्थगरावि य णं सामाइयं करेमाणा भणंति—  
करेमि सामाइयं, सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि”” ।

(आवचू १ पृ १६१)

सब तीर्थंकर प्रव्रज्या काल में—“मैं सामायिक की साधना में उपस्थित होता हूँ, सर्व पापकारी प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान करता हूँ”—इस पाठ का उच्चारण करते हैं।

सन्वेवि एगदूषेण निग्गया जिणवरा चउव्वीसं ।

न य नाम अण्णल्लिगे नो गिहिर्ल्लिगे कुल्लिगे वा ॥

(आवनि २२७)

सभी तीर्थकर अभिनिष्क्रमणकाल में एक दूष्य (वस्त्र) रखते हैं । वे तीर्थकर-लिंग में निष्क्रमण करते हैं, अन्यलिंग, गृहिलिंग या कुलिंग में नहीं ।

### ७. तीर्थकरों के अतिशय

#### जन्मसम्बन्धी

जायमाणेसु तित्थयरेसु सन्वलोए उज्जोओ भवति ।  
तित्थयरमायरो य पच्छन्नगम्भाओ भवति । जररुहिर-  
कलमल्लणि य न भवति । (आवचू १ पृ १३५)

तीर्थकर के जन्म के समय सारे लोक में उद्योत फैलता है । तीर्थकर की माता प्रच्छन्न गर्भ वाली होती है । गर्भ में जर, रुधिर आदि अशुद्धियां नहीं होतीं ।

#### आहारसंबन्धी

....आहारमंगुलीए ठवंति देवा मणुण्णं तु ॥

सन्वे तित्थमरा बालभावे जदा तण्हातिया छुहातिया वा भवति तदा अप्पणी अंगुलियं वयणे पक्खिवन्ति, तत्थ देवा सन्वभवखे परिणामयन्ति, एस बालभावे आहारो सन्वेसिं । ण ते थणं धावन्ति । पच्छा सिद्धमेव भुंजन्ति महतीभूता । उसभस्स पुण सन्वकालं देवोवणीतयाइं उत्तरकुक्षफलाइं जाव पव्वतितो ।

(आवनि १८९ चू १ पृ १५१, १५२)

तीर्थकर स्तनपान नहीं करते । वे शैशवकाल में जब भूख-प्यास का अनुभव करते हैं, तब अपनी अंगुलि को मुंह में डालते हैं । देव उस अंगुलि में नाना रसों से समायुक्त आहार का प्रक्षेप करते हैं । शिशुवय अतिश्रांत होने पर वे अग्नि में पका हुआ भोजन करते हैं । केवल अर्हंत ऋषभ ने ऐसा नहीं किया । उन्होंने प्रव्रज्या से पूर्व देवों द्वारा आनीत उत्तरकुरु (एक अकर्मभूमि) के फलों का आहार किया ।

#### उत्कृष्ट रूप सम्पदा

मणहर आहार अणुत्तरा य जाव वण चक्कि वासु बला ।  
मण्डलिया ता हीणा छट्टाणगया भवे सेसा ॥  
(आवनि ५७०)

तीर्थकर की रूपसम्पदा उत्कृष्ट होती है । उनकी अपेक्षा मणधर आदि की रूपसम्पदा क्रमशः अनन्तगुणहीन

होती है—

१. मणधर	८. व्यन्तर
२. आहारकशरीरी	९. चक्रवर्ती
३. अनुत्तर वैमानिक देव	१०. वासुदेव
४. नव प्रैवेयक देव	११. बलदेव
५. अच्युत आदि बारह कल्पोपन्न देव	१२. माण्डलिक राजा
६. भवनपति	१३. राजा
७. ज्योतिष्क	१४. जन साधारण

भगवतो अणुत्तरं संघयणं....अणुत्तरं संठाणं....अणुत्तरो ज्वसासनिस्सासगंधो....गोखीरपंडुरं मंसशोणितं ।

(आवचू १ पृ ३३०)

तीर्थकर के संहनन और संस्थान अनुत्तर होते हैं । उनके उच्छ्वासनिःश्वास सुरभि गंध वाले तथा मांस और शोणित गोक्षीर के समान धवल होते हैं ।

#### बल

जं केसवस्स उ बलं, तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स ।

तत्तो बला बलवगा, अपरिमियबला जिणवरिदा ॥

(आवनि ७५)

वासुदेव में बीस लाख अष्टापद का बल होता है, चक्रवर्ती में उससे दुगुना—चालीस लाख अष्टापद का बल होता है । तीर्थकर उनसे अधिक बल वाले, अपरिमित बल वाले होते हैं ।

#### आठ प्रातिहार्य

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-

दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च ।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं,

सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

(नन्दीमवृ प ४१)

अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, देवदुन्दुभि और छत्र—ये तीर्थकरों के आठ प्रातिहार्य (चामत्कारिक अतिशय) हैं ।

#### अचेलता आवि के हेतु

निरुपमधिइसंघयणा चउनाणाइसयसत्तसंपण्णा ।

अच्छिह्पाणिपत्ता जिणा जियपरिसहा सन्वे ॥

तह्वि महिएगवत्था सवत्थतित्थोवएसणत्थंवि ।

अभिनिकखमति सन्वे तम्मि च्चुएज्जेलया हुंति ॥

(विभा २५८१, २५८३)

तीर्थंकरों की अचेलता आदि के हेतु—

१. असाधारण धृति
२. उत्तम संहनन
३. चार ज्ञान सम्पन्नता
४. अतिशय शक्ति
५. परीषह-विजय

फिर भी वस्त्र तीर्थ का उपदेश देने के लिए तीर्थंकर एक वस्त्र को ग्रहण कर अभिनिष्क्रमण करते हैं। उसके गिर जाने पर वस्त्र का परित्याग कर अचेल हो जाते हैं। वे निश्छिद्रपाणि होते हैं, अतः पात्र नहीं रखते।

### वचनतिशय

सव्वत्थ अविस्मत्तं रिद्धिविसेसो अकालहरणं च ।

सव्वण्णुपच्चओऽवि य अचित्तगुणभूतिओ जुगवं ॥

(आवनि ५७६)

तीर्थंकरों की वाणी से निम्नांकित अतिशेष प्रकट होते हैं—

- ० सब प्राणियों के प्रति तुल्यता का भाव ।
- ० ऋद्धि-विशेष—सबके संशय एक साथ निश्छिन्न ।
- ० अकालहरण—संशयविच्छक्ति से पूर्व मृत्यु नहीं ।
- ० सर्वज्ञता की प्रतीति ।
- ० अचिन्त्य गुणसम्पदा ।

साहारणासवत्ते तदुवओगो उ गाहगगिराए ।

न य निव्विज्जइ सोया किट्ठिवाणियदासिआहरणा ॥

एगस्स वाणियगस्स एगा किट्ठीदासी । किट्ठी थेरी ।

सा गोसे कट्ठाणं गता । तण्हाछुहाकिलंता मज्झण्हे आगता । अतिथोवा कट्ठा आणियत्ति पिट्ठिता अजिमित-पीता पुणो पट्टविता, सा य वड्डं कट्ठभारं गहाय ओगा-हंतीए पोस्सीए आगच्छति । जेट्टामूलमासो । अह ताए थेरीए कट्ठभाराओ एगं कट्ठं पडितं, ताहे ताए थेरीए ओणमित्ता तं कट्ठं गहितं । तं समयं च भगवं तित्थगरो धम्मं पकहितो जोयणणीहारिणा सरेणं, सा थेरी तं सहं सुणेति तहेव ओणता सोउमाढत्ता, उण्हं तण्हं छुहं परिस्समं च ण विदति । (आवनि ५७८, चू १ पृ ३३१, ३३२)

अर्हत्तों की वाणी सर्वजनग्राह्य, अनुपम और सब दुःखों से प्राण देने वाली होती है। उस अद्वितीय अनुपम वाणी को सुनने वाला कभी खेदखिन्न नहीं होता। यहाँ वणिग्-दासी का उदाहरण मननीय है—

एक वृद्ध दासी प्रातः काष्ठ लाने के लिए जंगल में गई,

मध्याह्न में लौटी। वह भूख-प्यास से क्लान्त थी। काष्ठ बहुत थोड़ा था, अतः वणिक् ने उसे पीटा। वह बिना कुछ खाये पुनः काष्ठ लाने गई। लौटते समय काष्ठभार अधिक था। ज्येष्ठमास में मध्याह्न का समय था। उसके हाथ से एक काष्ठयष्टि गिर गई, जिसे उठाने हेतु वह नीचे झुकी। उस समय उसे तीर्थंकर की देशना सुनाई दी, वह झुकी हुई ही सुनती रही, उसे भूख-प्यास और गर्मी की अनुभूति ही नहीं हुई।

### द. तीर्थंकर के उपदेश का हेतु

तित्थयरो कि कारण भासइ सामाह्यं तु अज्झयणं ?

तित्थयरणामगोतं कम्मं मे वेइयव्वति ॥

(आवनि ७४२)

तीर्थंकरनामगोत्र कर्म का वेदन करने के लिए तीर्थंकर सामायिक अध्ययन का निरूपण करते हैं। उनका यह वेदन अग्लान/अभ्रांत भाव से धर्मदेशना देने से होता है।

अपरे हि केवलमवाप्यापि नैव धर्मं देशयति । तद्यथा—प्रत्येकबुद्धा । तित्थकरो णियमा धम्मं देसेति । सेसा साधु भयणीया । (उचू पृ १३०)

० तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद नियमतः उपदेश देते हैं ।

० केवली उपदेश देते भी हैं और नहीं भी देते ।

० प्रत्येक बुद्ध केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद उपदेश नहीं देते ।

### ६. तीर्थंकर की भाषा

.....कहेइ साहारणेण सट्ठेणं ।

सव्वेसि सग्गीणं जोयणणीहारिणा भगवं ॥

....सव्वेसिपि सभासा जिणभासा परिणमे एवं ॥

साहारणेणं सट्ठेणं अद्धमागहाए भासाए, सावि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी सव्वेसि तेसि आरिय-मणारियाणं अप्पप्पणो भासापरिणामेणं परिणमति ।

(आवनि ५६६, ५७७, चू १ पृ ३२९)

तीर्थंकर साधारण शब्दों के माध्यम से अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं। देव, मनुष्य, तिर्यं च—सब संज्ञी प्राणी उन शब्दों को समझ लेते हैं अर्थात् वे शब्द आर्य-अनार्य सबकी अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाते हैं। वे शब्द एक योजन तक सुनाई देते हैं।

## १०. तीर्थंकर श्राता

परतातारो तित्थकरा, कंहं ? ते कयकिच्चावि भगवंतो भवियाणं संसारसमुद्धारकंखिणो धम्मोवएसेण तारयंति ।  
(दजिचू पृ १११)

सामाइयाइया वा बयजीवणिकायभावणा पढमं ।

एसो धम्मोवाओ जिणेहि सव्वेहि उवइट्ठो ॥

(आवनि २७१)

तीर्थंकर पर-श्राता हैं। कैसे ? यद्यपि वे कृतकृत्य होते हैं, फिर भी भव्य जीवों को संसार-समुद्र से पार पहुंचाने के लिए सामायिक, व्रत, जीवनिकाय और भावना विषयक धर्मोपदेश करते हैं।

भगवान् सर्वज्ञोऽत एव भव्यानेव विबोधयति, अभव्यानां बोधनोपायस्य कस्याप्यभावात् । तस्य भगवत-स्त्रीलोक्याधिपतेः पक्षपातनिरपेक्षमविशेषेण सद्धर्मदेशना कुर्वतो विभिन्नस्वभावेषु प्राणिषु तथा तथा स्वभाव्याद् विबोधाविबोधकारिणी पुरुषोलूककमलकुमुदादिष्वादित्यस्य प्रकाशनक्रियेव सद्धर्मदेशनक्रियोपजायते ।

त्वद्वाक्यतोऽपि केषाञ्चिदबोध इति मेऽद्भुतम् ।

भानोर्मरीचयः कस्य, नाम नालोकहेतवः ॥

नैवाद्भुतमुलूकस्य, प्रकृत्या क्लिष्टचेतसः ।

स्वच्छा अपि तमस्त्वेन, भासन्ते भास्वतः कराः ॥

(आवमवृ प १०५)

अर्हत् सर्वज्ञ होते हैं, अतः वे भव्यों को ही उद्बोध देते हैं। अभव्यों को संबुद्ध करने का कोई भी उपाय नहीं है।

तीन लोक के अधिपति तीर्थंकर निष्पक्षभाव से देशना देते हैं, श्रोता अपनी क्षमता के अनुसार उसे ग्रहण करते हैं। जैसे सूर्य की प्रकाशनक्रिया पुरुष, उल्लू, कमल, कुमुद आदि के स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में होती है, वैसे ही धर्मदेशना की क्रिया के विविध रूप हैं।

आश्चर्य ! भंते ! तुम्हारी वाणी सुनकर भी कोई अबोध रह जाता है। सूर्य की रश्मियां किसे आलोकित नहीं करती ? उल्लू स्वभाव से ही क्लिष्ट चित्त वाला है। उसे प्रभास्वर किरणों में भी अंधकार का आभास होता है—इसमें आश्चर्य कैसा ?

## ११. कैवल्य-काल

तेवीसाए तित्थगराणं सूहम्ममणमुहुत्ते एगराइयाते पडिमाए णाणं उप्पन्नं, वीरस्स पाईणिगामिणीए ।  
अन्ने भणंति—बावीसाए पुव्वण्हे मल्लिवीराणं अवरण्हे ।

(आवचू १ पृ १५८)

तेईस तीर्थंकरों को एकरात्रिकी प्रतिमा में, सूर्योदय-काल (पूर्वाह्न) में तथा महावीर को अपराह्न में कैवल्य उत्पन्न हुआ। एक मान्यता के अनुसार बाईस तीर्थंकरों को पूर्वाह्न तथा अर्हत् मल्लि और महावीर को अपराह्न में कैवल्य उत्पन्न हुआ।

## १२. तीर्थंकर और अनशन

....सव्वेवि य तित्थयरा पातोवगया उ सिद्धिगया ॥

(उशावृ प २३७)

सभी तीर्थंकरों की सिद्धि प्रायोपगमन/पादपोपगमन अनशन में होती है।

## १३. तीर्थंकर के शुभ कर्मप्रकृतियां

पसत्थाणं वेदणिज्जाउयनामगोत्ताणं अणुभावं पडुच्च उदइयभावस्स उत्तमा । नामस्स एककीत्साए पसत्थुत्तर-पगडीणं । तं जथा—मणुस्सगति पंचिदियजाति ओरा-लियं तेयमं कंमगं समचतुरंसंठाणं ओरालियंगोवंगं, वइरोसभनारायसंघयणं वण्णरसगंधफासा अगुहलघुं उवघातं पराघातं ऊसासं पसत्थविहगमती तसं बादरं पज्जत्तयं पत्तेयं थिराथिराणि मुभासुभाणि सुभमं सूसरं आदेज्जं जसकित्ती निम्मानगं तित्थगरमिति । वेदणिज्जं मणुस्साऊ उच्चागोयं वा । एतेसि चोत्तीसाए उदइयभावेहि उत्तमा ।  
(आवचू २ पृ ६८)

तीर्थंकरों के प्रशस्त वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—इन चार कर्मों की चौतीस प्रकृतियां अनुभाव की अपेक्षा से उत्तम होती हैं—

१. मनुष्य गति	२०. पर्याप्त
२. पञ्चेन्द्रिय जाति	२१. प्रत्येक
३. औदारिक शरीर	२२. स्थिर
४. तैजस शरीर	२३. अस्थिर
५. कामंश शरीर	२४. शुभ
६. समचतुरस संस्थान	२५. अष्टुभ
७. औदारिक अंगोपांग	२६. मुभग
८. वज्र ऋषभनाराच संहनन	२७. सुस्वर
९-१२. वर्ण-गंध-रस-स्पर्श	२८. आदेय
१३. अगुहलघु	२९. यज्ञःकीर्ति
१४. उपघात	३०. निर्माण
१५. पराघात	३१. तीर्थंकर
१६. उच्छ्वास	३२. वेदनीय
१७. प्रशस्त विहायो गति	३३. मनुष्यायु
१८. त्रस	३४. उच्चगोत्र ।
१९. बादर	

## १४. तीर्थंकर : एक परिचय

उसभमजियं च वंदे, संभवमभिनंदनं च सुमहं च ।  
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥  
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।  
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥  
कुंधुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।  
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥  
(आव २।२-४)

## जन्म स्थान

इक्खागभूमि उज्झा सावत्थि जिणिअ कोसलपुरं च ।  
कोसंबी वाणारसी चंदाणण तह य काकंदी ॥  
भद्विलपुर सीहपुरं चंपा कंपिल्ल उज्झ रयणपुरं ।  
तिण्णेव गयपुरमी मिहिला तह चेव रायमिहं ॥  
मिहिला सोरिअनयरं वाणारसि तह य होइ कुंडपुरं ।  
उसभाईण जिणाणं जम्मणभूमि जहासंखं ॥  
(आवनि ३८२-३८४)

## पिता

नाभी जिअसत्तू आ, जियारी संवरे इअ ।  
मेहे धरे पइट्ठे अ, महसेणे अ खत्तिए ॥  
सुमीवे दढरहे विण्ह वसुपुज्जे अ खत्तिए ।  
कयवम्मा सीहसेणे अ भाणू विससेणे इअ ॥  
सूरे सुदंसणे कुंभे सुमित्तु विजए समुह्विजए अ ।  
राया अ अस्ससेणे सिद्धत्थेअवि य खत्तिए ॥  
(आवनि ३८७-३८९)

## माता

मरुदेवि विजय सेणा सिद्धत्था मंगला सुसीमा य ।  
पुह्वी लक्खण रामा नंदा विण्हू जया सामा ॥  
सुजसा सुव्वया अइरा सिरी देवी पभावई ।  
पउमावई अ वप्पा अ, सिव वम्मा तिसला इअ ॥  
(आवनि ३८५, ३८६)

## वर्ण और अवगाहना

पउमाभवासुपुज्जा रता ससिपुप्फदंत ससिगोरा ।  
सुव्वयनेमी काला पासो मल्ली पियंभाभा ॥  
वरकणगतविअगोरा सोलस तित्थंकरा मुण्येव्वा ।  
एसो वण्णविभागो चउवीसाए जिणवराणं ॥  
पंचेव अद्धपंचम चत्तारद्धट्ट तह तिगं चेव ।  
अद्धाइज्जा दुण्णि अ दिवह्दमेगं धणूसयं च ॥

नउई असीइ सत्तरि सट्ठी पण्णास होइ नायव्वा ।  
पण्णाल चत्त पण्णीस तीसा पण्णीस वीसा य ॥  
पण्णरस दस धणूणि य नव पासो सत्तरयणिओ वीरो ।  
(आवनि ३७६-३८०)

## कुमारकाल, राज्यकाल

उसभस्स कुमारत्तं पुव्वाणं वीसई सयसहस्सा ।  
तेवट्ठी रज्जंमी अणुपालेऊण णिक्खंतो ॥  
अजिअस्स कुमारत्तं अट्टारस पुव्वसयसहस्साइं ।  
तेवण्णं रज्जंमी पुव्वंगं चेव बोद्धव्वं ॥  
पण्णरस सयसहस्सा कुमारवासो अ संभवजिणस्स ।  
चोआलीसं रज्जे चउरंयं चेव बोद्धव्वं ॥  
अद्धत्तेरस लक्खा पुव्वाणसभिणंदणे कुमारत्तं ।  
छत्तीसा अद्धं चिय अट्ठंगा चेव रज्जंमि ॥  
सुमइस्स कुमारत्तं हवंति दस पुव्वसयसहस्साइं ।  
अउणातीसं रज्जे बारस अंगा य बोद्धव्वा ॥  
पउमस्स कुमारत्तं पुव्वाणसद्धट्टमा सयसहस्सा ।  
अद्धं च एगवीसा सोलस अंगा य रज्जंमि ॥  
पुव्वसयसहस्साइं पंच सुपासे कुमारवासो उ ।  
चउदस पुण रज्जंमी वीसं अंगा य बोद्धव्वा ॥  
अद्धाइज्जा लक्खा कुमारवासो ससिप्यहे होइ ।  
अद्धं छ च्चिय रज्जे चउवीसंगा य बोद्धव्वा ॥  
पण्णं पुव्वसहस्सा कुमारवासो उ पुप्फदंतस्स ।  
तावइअं रज्जंमी अट्टावीसं च पुव्वंगा ॥  
पण्णीससहस्साइं पुव्वाणं सीअले कुमारत्तं ।  
तावइअं परिआओ पण्णासं चेव रज्जंमि ॥  
वासाण कुमारत्तं इगवीसं लक्ख हंति सिज्जंसे ।  
तावइअं परिआओ बायालीसं च रज्जंमि ॥  
गिहवासे अट्टारस वासाणं सयसहस्स निअमेणं ।  
चउपण्ण सयसहस्सा परिआओ होइ वसुपुज्जे ॥  
पण्णरस सयसहस्सा कुमारवासो अ तीसई रज्जे ।  
पण्णरस सयसहस्सा परिआओ होइ विमलस्स ॥  
अद्धट्टमलक्खाइं वासाणमणंतईं कुमारत्ते ।  
तावइअं परिआओ रज्जंमी हंति पण्णरस ॥  
धम्मस्स कुमारत्तं वासाणद्धाइआइं लक्खाइं ।  
तावइअं परिआओ रज्जे पुण हंति पंचेव ॥  
संतिस्स कुमारत्तं मंडलियचक्किपरिआअ चउसुपि ।  
पत्तेअं पत्तेअं वाससहस्साइं पण्णीसं ॥  
एमेव य कुंधुस्सवि चउसुवि ठाणेसु हंति पत्तेअं ।  
तेवीससहस्साइं वरिसाणद्धट्टमसया य ॥

एमेव अरजिणिदस्स चउसुवि ठाणेसु हुंति पत्तेअं ।  
 इगवीस सहस्साइं वासाणं हुंति णायव्वा ॥  
 मल्लिस्सवि वाससयं गिहवासे सेसअं तु परिआओ ।  
 चउपण्ण सहस्साइं नव चेव सयाइ पुण्णाइं ॥  
 अद्धट्टमा सहस्सा कुमारवासी उ सुव्वयजिणस्स ।  
 तावइअं परिआओ पण्णरससहस्स रज्जंमि ॥  
 नमिणो कुमारवासी वाससहस्साइ दुण्णि अद्धं च ।  
 तावइअं परिआओ पंच सहस्साइ रज्जंमि ॥  
 तिण्णेव य वाससया कुमारवासी अरिट्टुनेमिस्स ।  
 सत्त थ वाससयाइं सामण्णे होइ परिआओ ॥  
 पासस्स कुमारत्तं तीसं परिआओ सत्तरी होइ ।  
 तीसा य वद्धमाणे बायालीसा उ परिआओ ॥  
 (आवनि २७७-२९९)

### अभिनिक्रमण स्थान और बन

उसभो अ विणीआए बारवईए अरिट्टुवरनेमी ।  
 अवसेसा तित्थयरा निक्खंता जम्मभूमीसुं ॥  
 उसभो सिद्धत्थवणंमि वसुपुज्जो विहारगेहंमि ।  
 धम्मो अ वप्पगाए नीलगुहाए अ मुणिनामा ॥  
 आसमपयंमि पासो वीरजिणिदो अ नायसंडंमि ।  
 अवसेसा निक्खंता, सहसंबवणंमि उज्जाणे ॥  
 (आवनि २२९-२३३)

### अभिनिक्रमण-काल

पासो अरिट्टुनेमी सिज्जंसो सुमइ मल्लिनाभो अ ।  
 पुव्वण्हे निक्खंता सेसा पुण पच्छिमण्हंमि ॥  
 (आवनि २३२)

### दीक्षोपवास

सुमई थ निक्खभत्तेण निग्गओ वासुपुज्ज जिणो चउत्थेणं ।  
 पासो मल्लीवि अ अट्टुमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥  
 (आवनि २२८)

### भिक्षा कब और कहा ?

संवच्छरेण भिक्षा लद्धा उसभेण लोगनाहेण ।  
 सेसेहि वीयदिवसे लद्धाओ पढमभिक्षाओ ॥  
 हत्थिणउरं अओज्झा सावत्थी तहय चेव साकेअं ।  
 विजयपुर बंभयलयं पाडलित्तंडं पउमसंडं ॥  
 सेयपुरं रिट्टुपुरं सिद्धत्थपुरं महापुरं चेव ।  
 घण्णकड वद्धमाणं सोमणसं मंदिरं चेव ॥

चक्कपुरं रायपुरं मिहिला गयमिहमेव बोद्धव्वं ।  
 वीरपुरं बारवई कोअगडं कोल्लयग्गामो ॥  
 (आवनि ३१९, ३२३-३२५)

### भिक्षा किसके द्वारा ?

सिज्जंस बंधदत्ते सुरेददत्ते य इंददत्ते अ ।  
 पउमे अ सोमदेवे मंहिद तह सोमदत्ते अ ॥  
 पुस्से पुणव्वसू पुणनंद सुनंदे जए अ विजए य ।  
 तत्तो अ धम्मसीहे सुमित्त तह वप्पसीहे अ ॥  
 अपराजिअ विस्ससेणे वीसइमे होइ बंधदत्ते अ ।  
 दिण्णे वरदिण्णे पुण धण्णे बहुले अ बोद्धव्वे ॥  
 (आवनि ३२७-३२९)

### भिक्षा क्या ?

उसभस्स उ पारणए इक्खुरसो आसि लोमनाहस्स ।  
 सेसाणं परमण्णं अमयरसरसोवम आसी ॥  
 (आवनि ३२०)

### सहदीक्षा

एगो भगवं वीरो पासो मल्ली अ तिहि तिहि सएहि ।  
 भयवं च वासुपुज्जो छहि पुरिससएहि निक्खंतो ॥  
 उग्गाणं भोगाणं रायण्णाणं च खत्तिआणं च ।  
 चउहि सहस्सेहुसभो सेसा उ सहस्सपरिवारा ॥  
 (आवनि २२४, २२५)

### छद्मस्थमुनि-पर्याय

वाससहस्सं बारस चउवस अट्टार वीस वरिसाइं ।  
 मासा छ भव तिण्णि अ चउ तिग दुगमिक्कग दुगं च ॥  
 तिग दुगमिक्कग सोलस वासा तिण्णि अ तहेवउहोरत्तं ।  
 मासिक्कारस नवमं चउपण्ण दिणाइ चुलसीई ॥  
 तह बारस वासाइं, जिणाण छउमत्थकालपरिमाणं ।  
 उग्गं च तवोकम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स ।  
 (आवनि २३८-२४०)

### दीक्षा-पर्याय

उसभस्स पुव्वलक्खं पुव्वंगूणमजिअस्स तं चेव ।  
 चउरंगूणं लक्खं पुणो पुणो जाव सुविहित्ति ॥  
 पणवीसं तु सहस्सा पुव्व्वाणं सीअलस्स परिआओ ।  
 लक्खाइं इक्कवीसं सिज्जंसजिणस्स वासाणं ॥  
 चउपण्णं पण्णारस तत्तो अद्धट्टमाइ लक्खाइं ।  
 अड्ढाइज्जाइं तथो वाससहस्साइं पणवीसं ॥  
 तेवीसं च सहस्सा सयाणि अद्धट्टमाणि अ हवंति ।  
 इगवीसं च सहस्सा वाससउणा य पणपण्णा ॥



अद्वट्टमा सहस्सा अड्ढाड्ज्जा य सत्त य सयाइं ।  
सयरी विचत्तवासा दिक्खाकालो जिणिदाणं ॥

(आवनि २७२-२७६)

### केवलज्ञान तिथि, नक्षत्र

फग्गुणबहुलिकारसि उत्तरसाढाहि नाणमुसभस्स ।  
पोसिककारसि सुद्धे रोहिणिजोएण अजिअस्स ॥  
कत्तिअबहुले पंचमि मिगसिरजोगेण संभवजिणस्स ।  
पोसे सुद्धचउदसि अभीइ अभिगंदणजिणस्स ॥  
चित्ते सुद्धिककारसि महाहि सुमइस्स नाणमुप्पण्णं ।  
चित्तस्स पुण्णिमाए पउभाभजिणस्स चित्ताहिं ॥  
फग्गुणबहुले छट्ठी विसाहजोगे सुपासनामस्स ।  
फग्गुणबहुले सत्तमि अणुराह ससिप्पहजिणस्स ॥  
कत्तिअसुद्धे तइया मूले सुविहिस्स पुप्फदंतस्स ।  
पोसे बहुलचउदसि पुक्वासाढाहि सोअलजिणस्स ॥  
पण्णरसि माहबहुले सिज्जंसजिणस्स सवणजोएणं ।  
सयभिय वासुपुज्जे बीयाए माहसुद्धस्स ॥  
पोसस्स सुद्धछट्ठी उत्तरभइवय विमलनामस्स ।  
वइसाह बहुलचउदसि रेवइजोएणणंतस्स ॥  
पोसस्स पुण्णिमाए नाणं धम्मस्स पुस्सजोएणं ।  
पोसस्स सुद्धनवमी भरणीजोगेण संतिस्स ॥  
चित्तस्स सुद्धतइआ कित्तिअजोगेण नाण कुंधुस्स ।  
कत्तिअसुद्धे बारसि अरस्स नाणं तु रेवइहिं ॥  
मग्गसिरसुद्धइवकारसीइ मल्लिस्स अस्सिणीजोगे ।  
फग्गुणबहुले बारसि सवणेणं सुक्कयजिणस्स ॥  
मग्गसिरसुद्धिककारसि अस्सिणिजोगेण नमिजिणिदस्स ।  
आसोअमावसाए नेमिजिणिदस्स चित्ताहिं ॥  
चित्ते बहुलचउत्थी विसाहजोएण पासनामस्स ।  
वइसाह सुद्धदससी हत्थुत्तरजोगि वीरस्स ॥

(आवनि २४१-२५२)

### केवलज्ञान काल और स्थान

तेवीसाए नाणं उप्पण्णं जिणवराण पुव्वण्हे ।  
वीरस्स पच्चिमण्हे पमाणपत्ताए चरिमाए ॥  
उसभस्स पुरिमताले वीरस्सुजुवालिआनईतीरे ।  
सेसाण केवलाइं जेसुज्जाणसु पव्वइया ॥  
(आवनि २५३, २५४)

### केवलज्ञान तप

अद्वमभत्तंसमी पासोसहमल्लिरिट्टुनेमीणं ।  
वसुपुज्जस्स चउत्थेण छट्ठभत्तेण सेसाणं ॥  
(आवनि २५५)

### गण-तणघर

चुलसीइ पंचनउई विउत्तरं सोलसुत्तर सयं च ।  
सत्तहिअं पणनउई तेणउई अट्टसीई अ ॥  
इक्कासीई बावत्तरी अ छावट्ठि सत्तवण्णा य ।  
पण्णा तेयालीसा छत्तीसा चैव पणतीसा ॥  
तित्तीस अट्टवीसा अट्टारस चैव तहय सत्तरस ।  
इक्कारस दस नवगं गणाण माणं जिणिदाणं ॥  
एक्कारस उ गणहरा जिणस्स वीरस्स सेसयाणं तु ।  
जावइआ जस्स गणा तावइआ गणहरा तस्स ॥  
(आवनि २६६-२६९)

### शिष्य-संपदा

चुलसीइं च सहस्सा एगं च दुवे अ तिण्णि लक्खाइं ।  
तिण्णि अ वीसहिआइं तीसहिआइं च तिण्णेव ॥  
तिण्णि अ अड्ढाड्ज्जा दुवे अ एगं च सयसहस्साइं ।  
चुलसीइं च सहस्सा बिसत्तरि अट्टसट्ठि च ॥  
छावट्ठि चउसट्ठि बावट्ठि सट्ठिमेव पण्णासं ।  
चत्ता तीसा वीसा अट्टारस सोलस सहस्सा ॥  
चउदस य सहस्साइं जिणाण जइसीससंगहपमाणं ।  
(आवनि २५६-२५९)

### शिष्या-संपदा

तिण्णेव य लक्खाइं तिण्णि य तीसा य तिण्णि छत्तीसा ।  
तीसा य छच्च पंच य तीसा चउरो अ वीसा अ ॥  
चत्तारि अ तीसाइं तिण्णि अ असिआइ तिण्हेत्तो अ ।  
वीसुत्तरं छलहिअं तिसहस्सहिअं च लक्खं च ॥  
लक्खं अट्टसयाणि अ बावट्टिसहस्स चउसयसमगा ।  
एगट्ठी छच्च सया सट्टिसहस्सा सया छच्च ॥  
सट्ठि पणपण्णवण्णेगचत्तचत्ता तहट्टतीसं च ।  
छत्तीसं च सहस्सा अज्जाणं संगहो एसो ॥  
(आवनि २६०-२६३)

### विहारक्षेत्र

मगहारायगिहाइसु मुणओ खित्तारिएसु विहरिंसु ।  
उसभो नेमी पासो वीरो अ अणारिएसुंणि ॥  
(आवनि २३४)

### आयुष्य

चउरासीइ बिसत्तरि सट्ठी पण्णासमेव लक्खाइं ।  
चत्ता तीसा वीसा दस दो एगं च पुक्काणं ॥

चउरसीई बावत्तरी अ सट्ठी अ होइ वासाणं ।  
तीसा य दस य एगं च एवमेए सयसहस्सा ॥  
पंचाणउइ सहस्सा चउरसीई अ पंचवण्णा य ।  
तीसा य दस य एगं सयं च बावत्तरी चैव ॥

(आवनि ३०३-३०५)

### निर्वाण, तप और स्थान

निव्वाणमंतकिरिआ सा चउदसमेण पढमनाहस्स ।  
सेसाण मासिएणं वीरजिणिवस्स छट्ठेणं ॥  
अट्ठावयचंपुज्जितपावासम्भेअसेलसिहरेसुं ।  
उसभ वसुपुज्ज नेमी वीरो सेसा य सिद्धिगया ॥

(आवनि ३०६, ३०७)

### सह-निर्वाण

एगो भयवं वीरो तित्तीसाइ सह निव्वुओ पासो ।  
छत्तीसएहिं पंचहिं सएहिं नेमी उ सिद्धिगओ ॥  
पंचहिं समणसएहिं मल्ली संती उ नवसएहिं तु ।  
अट्टसएणं धम्मो सएहिं छहिं वासुपुज्जजिणो ॥  
सत्तसहस्साणंतइजिणस्स विमलस्स छस्सहस्साइं ।  
पंचसयाइ सुपासे पउमाभे तिण्णि अट्ट सया ॥  
दसहिं सहस्सेहिं उसभो सेसा व सहस्सपरिवुडा सिद्धा ।  
कालाइ जं न भणिअं पढमणुओगाउ तं णेअं ॥

(आवनि ३०८-३११)

### अन्तराल-काल

उसभो वरवसभगती ततियसमापच्छिमंमि कालंमि ।  
उप्पन्नो पढमजिणो भरहपिता भारहे वासे ॥  
पन्नासा लक्खेहिं कोडीणं सागराण उसभाओ ।  
उप्पन्नो अजियजिणो ततिओ तीसाए लक्खेहिं ॥  
जिणवसभसंभवाओ दसहिं लक्खेहिं अयरकोडीणं ।  
अभिणंदणो य भगवं एवइकालेण उप्पन्नो ॥

अभिणंदणाओ सुमती णवहिं लक्खेहिं अयरकोडीणं ।  
उप्पन्नो सुहपुन्नो सुप्पभनामस्स वोच्छामि ॥  
णउईय सहस्सेहिं कोडीणं सागराण पुन्नाणं ।  
सुमतिजिणाओ पउमो एवति कालेण उप्पन्नो ॥  
पउमप्पभनामाओ णवहिं सहस्सेहिं अयरकोडीणं ।  
सुहपुन्नो संपुन्नो सुपासनामो समुप्पन्नो ॥  
कोडीसएहिं णवहिं उ सुपासणामा जिणो समुप्पन्नो ।  
चंदप्पभो पभाए पभासयंतो उ तेलोक्कं ॥  
णउतीय तु कोडीहिं ससीउ सुविहिजिणो समुप्पन्नो ।  
सुविहिजिणाओ णवहिं कोडीहिं मीतलो जातो ॥  
सीतलजिणाउ भगवं सेज्जंसा सागराण कोडीए ।  
सागरसयऊणाए वरिसेहिं तथा इमेहिं तु ॥  
छव्वीसाए सहस्सेहिं चैव छावट्टिसयसहस्सेहिं ।  
एतेहिं ऊणिया खलु कोडी मग्गिल्लिया होति ॥  
चउपन्ना अयराणं सेज्जंसाओ जिणो उ वसुपुज्जो ।  
वसुपुज्जाओ विमलो तीसहिं अयरेहिं उप्पन्नो ॥  
विमलजिणा उप्पन्नो णवहिं तु अयरेहिं अणंतइजिणोवि ।  
चउसागरणामेहिं अणंतईओ जिणो धम्मो ॥  
धम्मजिणाओ संती तिहिं तिचउभागपलियऊणेहिं ।  
अयरेहिं समुप्पन्नो पलियद्वेणं तु कुंथुजिणो ॥  
पलियचउन्भागेणं कोडिसहस्सूणएण वासाणं ।  
कुंथुओ अरणामा कोडिसहस्सेण मल्लिजिणो ॥  
मल्लिजिणाओ मुणिसुव्वओवि चउपन्नवासलक्खेहिं ।  
सुव्वयनामातो णमी लक्खेहिं छहिं तु उप्पन्नो ॥  
पंचहिं लक्खेहिं ततो अरिट्टनेमी जिणो समुप्पन्नो ।  
तेसीतिसहस्सेहिं सतेहिं अद्धट्टमेहिं वा ॥  
नेमीओ पासजिणो पासजिणाओ य होइ वीरजिणो ।  
अइडाइज्जसएहिं गतेहिं चरिमो समुप्पन्नो ॥

(आवचू १ पृ २१७)

## तीर्थंकर : एक परिचय

क्रम	तीर्थंकर	जन्म-स्थान	पिता	माता	वर्ण	अवगाहना	कुमार-काल	राज्य-काल
१	ऋषभ	इक्ष्वाकुभूमि	नाभि	महदेवा	स्वर्ण	५०० धनुष	२० लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व
२	अजित	अयोध्या	जितशत्रु	विजया	"	४५० "	१८ " "	१ पूर्वांग सहित ५३ लाख पूर्व
३	संभव	श्रावस्ती	जितारि	सेना	"	४०० "	१५ " "	४ पूर्वांग सहित ४४ लाख पूर्व
४	अभिनंदन	विनीता	संवर	सिद्धार्थ	"	३५० "	१२ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> " "	८ पूर्वांग सहित ३६ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> लाख पूर्व
५	सुमति	कौशलपुर	मेघप्रभ	मंगला	"	३०० "	१० " "	१२ पूर्वांग सहित २९ लाख पूर्व
६	पद्म	कौशाम्बी	धर	सुसीमा	रक्त	२५० "	७ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> " "	१६ पूर्वांग सहित २१ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> लाख पूर्व
७	सुपाश्व	वाराणसी	प्रतिष्ठ	पृथ्वी	स्वर्ण	२०० "	५ " "	२० पूर्वांग सहित १४ लाख पूर्व
८	चन्द्र	चन्द्रपुर	महासेन	लक्ष्मणा	श्वेत	१५० "	२ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> " "	२४ पूर्वांग सहित ६ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> लाख पूर्व
९	सुबिधि	काकंदी	सुग्रीव	रामा	"	१०० "	५० हजार पूर्व	२८ पूर्वांग सहित ५० हजार पूर्व
१०	शीतल	भद्विलपुर	दृढरथ	नंदा	स्वर्ण	९० "	२५ " "	५० हजार पूर्व
११	श्रयांस	सिंहपुर	विष्णु	विष्णु	"	८० "	२१ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष
१२	वासुपूज्य	चंपा	वसुपूज्य	जया	रक्त	७० "	१८ " "	×
१३	विमल	कापिल्य	कृतवर्मा	श्यामा	स्वर्ण	६० "	१५ " "	३० लाख वर्ष
१४	अनन्त	अयोध्या	सिहसेन	सुयशा	"	५० "	७ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> " "	१५ " "
१५	धर्म	रत्नपुर	भानु	सुव्रता	"	४५ "	२ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> " "	५ " "
१६	शांति	हस्तिनापुर	विश्वसेन	अचिरा	"	४० "	२५ हजार वर्ष	५०,०००
१७	कुंभु	"	सूर	श्री	"	३५ "	२३,७५० वर्ष	४७,५०० वर्ष
१८	अर	"	सुदर्शन	देवी	"	३० "	२१ हजार वर्ष	४२,००० वर्ष
१९	मल्लि	मिथिला	कुम्भ	प्रभावती	नील	२५ "	१०० वर्ष	×
२०	मुनिसुव्रत	राजगृह	सुमित्र	पद्मावती	कृष्ण	२० "	७,५०० वर्ष	१५,००० वर्ष
२१	नमि	मिथिला	विजय	वप्रा	स्वर्ण	१५ "	२,५०० "	५,००० "
२२	अरिष्टनेमि	सौरियपुर	समुद्र-विजय	शिवा	कृष्ण	१० "	३०० "	×
२३	पाश्व	वाराणसी	अश्वसेन	वामा	नील	९ हाथ	३० "	×
२४	महावीर	कुंडपुर	सिद्धार्थ	त्रिशला	स्वर्ण	७ हाथ	३० "	×

अभिनिष्क्रमण				प्रथम भिक्षा				सह	छद्मस्थ	दीक्षा पर्याय
वन	स्थान	काल	तप	कब	कहां	किससे	क्या	दीक्षा	मुनि पर्याय	
सिद्धार्थ	विनीता	अपराह्ल	षष्ठ भक्त	१ वर्ष बाद	हस्तिनापुर	श्रेयांस	इक्षु रस	४०००	१००० वर्ष	१ लाख पूर्व
सहस्रात्र	अयोध्या	"	"	दूसरे दिन	अयोध्या	ब्रह्मदत्त	क्षीर	१०००	१२ "	१ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व
"	श्रावस्ती	"	"	"	श्रावस्ती	सुरेन्द्रदत्त	"	१०००	१४ "	४ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व
"	विनीता	"	"	"	साकेत	इन्द्रदत्त	"	१०००	१८ "	८ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व
"	कौशलपुर	पूर्वाह्ल	नित्य-भक्त	"	विजयपुर	पद्म	"	१०००	२० "	१२ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व
"	कौशाम्बी	अपराह्ल	षष्ठ भक्त	"	ब्रह्मस्थल	सोमदेव	"	१०००	६ मास	१६ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व
"	वाराणसी	"	"	"	पाटलिखण्ड	महेन्द्र	"	१०००	९ मास	२० पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व
"	चन्द्रपुर	"	"	"	पद्मखण्ड	सोमदत्त	"	१०००	३ "	२४ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व
"	कार्कदी	"	"	"	श्रेयः पुर	पुष्य	"	१०००	४ "	२८ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व
"	भद्रपुर	"	"	"	रिष्टपुर	पुनर्वसु	"	१०००	३ "	२५ हजार पूर्व
"	सिंहपुर	पूर्वाह्ल	"	"	सिद्धार्थपुर	नंद	"	१०००	२ "	२१ लाख वर्ष
विहारगृह	चंपा	अपराह्ल	चतुर्थ भक्त	"	महापुर	सुनद	"	६००	१ "	५४ लाख वर्ष
सहस्रात्र	कापिल्य	"	षष्ठ भक्त	"	धान्यकट	जय	"	१०००	२ वर्ष	१५ लाख वर्ष
"	अयोध्या	"	"	"	बद्धमान	विजय	"	१०००	३ वर्ष	७ $\frac{१}{२}$ " "
वप्रगा	रत्नपुर	"	"	"	सौमनस	धर्मसिंह	"	१०००	२ वर्ष	२ $\frac{१}{२}$ " "
सहस्रात्र	हस्तिनापुर	"	"	"	मंदिरपुर	सुमित्र	"	१०००	१ वर्ष	२५,००० वर्ष
"	"	"	"	"	चक्रपुर	व्याघ्रसिंह	"	१०००	१६ वर्ष	२३,७५० वर्ष
"	"	"	"	"	राजपुर	अपराजित	"	१०००	३ दिन	२१,००० वर्ष
"	मिथिला	पूर्वाह्ल	अष्टमभक्त	"	मिथिला	विश्वसेन	"	३००	१ दिन	५४,९०० वर्ष
नीलगुफा	राजगृह	अपराह्ल	षष्ठभक्त	"	राजगृह	ब्रह्मदत्त	"	१०००	११ मास	७,५०० वर्ष
सहस्रात्र	मिथिला	"	"	"	वीरपुर	दत्त	"	१०००	९ मास	२,५०० वर्ष
"	द्वारवती	पूर्वाह्ल	"	"	द्वारवती	वरदत्त	"	१०००	५४ दिन	७०० वर्ष
आश्रम पद	वाराणसी	"	अष्टमभक्त	"	कोपकट	धन्य	"	३००	८४ दिन	७० वर्ष
ज्ञातखंड	कुंडपुर	अपराह्ल	षष्ठ भक्त	"	कोल्लाक	बहुल	"	एकाकी	१२ वर्ष १३ पक्ष	४२ वर्ष

क्रम	तिथि	केवलज्ञान		स्थान	तप	गण	गणधर	शिष्यसंपदा
		नक्षत्र	काल					
१	फा. कृ. ११	उत्तराषाढा	पूर्वाह्न	पुरिमताल	अष्टमभक्त	८४	८४	८४ हजार
२	पौ. शु. ११	रोहिणी	"	अयोध्या	षष्ठ भक्त	९५	९५	१ लाख
३	का. कृ. ५	मृगशिरा	"	श्रावस्ती	"	१०२	१०२	२ "
४	पौ. शु. १४	अभिजित्	"	विनीता	"	११६	११६	३ "
५	चै. शु. ११	मघा	"	कौशलपुर	"	१००	१००	३ लाख २० हजार
६	चै. शु. १५	चित्रा	"	कौशाम्बी	"	१०७	१०७	३ लाख ३० हजार
७	फा. कृ. ६	विशाखा	"	वाराणसी	"	९५	९५	३ लाख
८	फा. कृ. ७	अनुराधा	"	चन्द्रपुर	"	९३	९३	२ १/२ "
९	का. शु. ३	मूल	"	काकंदी	"	८८	८८	२ "
१०	पौ. कृ. १४	पूर्वाषाढा	"	भद्रपुर	"	८१	८१	१ "
११	मा. कृ. १५	श्रवण	"	सिंहपुर	"	७२	७२	८४ हजार
१२	मा. कृ. २	शतभिषा	"	चंपा	चतुर्थ भक्त	६६	६६	७२ "
१३	पौ. शु. ६	उत्तरभद्रपदा	"	कांपिल्य	षष्ठ भक्त	५७	५७	६८ "
१४	वै. कृ. १४	रेवती	"	अयोध्या	"	५०	५०	६६ "
१५	पौ. शु. १५	पुष्य	"	रत्नपुर	"	४३	४३	६४ "
१६	पौ. शु. ९	भरणी	"	हस्तिनापुर	"	३६	३६	६२ "
१७	चै. शु. ३	कृत्तिका	"	"	"	३५	३५	६० "
१८	का. शु. १२	रेवती	"	"	"	३३	३३	५० "
१९	मृ. शु. ११	अश्विनी	"	मिथिला	अष्टमभक्त	२८	२८	४० "
२०	फा. कृ. १२	श्रवण	"	राजगृह	षष्ठ भक्त	१८	१८	३० "
२१	मृ. शु. ११	अश्विनी	"	उज्जयन्तगिरि	"	१७	१७	२० "
२२	आ. कृ. १५	चित्रा	"	सौरियपुर	अष्टमभक्त	११	११	१८ "
२३	चै. कृ. ४	विशाखा	"	वाराणसी	"	१०	१०	१६ "
२४	वै. शु. १०	उत्तरफल्गुनी	अपराह्न	ऋजुवालिका नदी का तट	षष्ठ भक्त	९	११	१४ "

शिव्यासंपदा	विहार क्षेत्र	आयुष्य	निर्वाणतप	निर्वाणस्थान	सह निर्वाण	अन्तराल काल
३,००,०००	आर्य-अनार्य क्षेत्र	८४ लाख पूर्व	६ दिन	अष्टापद	१०,०००	X X
३,३०,०००	आर्यक्षेत्र	७२ " "	१ मास	सम्मोदशिखर	१०००	५० लाख करोड़ सागर
३,३६,०००	"	६० " "	"	"	१०००	३० " "
६,३०,०००	"	५० " "	"	"	१०००	१० " "
५,३०,०००	"	४० " "	"	"	१०००	९ " "
४,२०,०००	"	३० " "	"	"	३०८	९० हजार " "
४,३०,०००	"	२० " "	"	"	५००	९ हजार " "
३,८०,०००	"	१० " "	"	"	१०००	९०० करोड़ "
१,२०,०००	"	२ " "	"	"	१०००	९० " "
१,०६,०००	"	१ " "	"	"	१०००	९ " "
१,०३,०००	"	८४ लाख वर्ष	"	"	१०००	६६ लाख २६ हजार १ सौ सागर कम एक करोड़ सागर
१,००,०००	"	७२ " "	"	चम्पा	६००	५४ सागर
१,००,८००	"	६० " "	"	सम्मोदशिखर	६०००	३० "
६२,०००	"	३० " "	"	"	७०००	९ "
६२,४००	"	१० " "	"	"	८००	४ "
६१,६००	"	१ " "	"	"	९००	पौन पल्योपम कम तीन सागर
६०,६००	"	९५ हजार वर्ष	"	"	१०००	अर्ध पल्योपम
६०,०००	"	८४ " "	"	"	१०००	१ हजार करोड़ वर्ष कम $\frac{१}{३}$ पल्योपम
५५,०००	"	५५ " "	"	"	५००	१ हजार करोड़ वर्ष
५०,०००	"	३० " "	"	"	१०००	५४ लाख वर्ष
४१,०००	"	१० " "	"	"	१०००	६ " "
४०,०००	आर्य-अनार्य क्षेत्र	१ " "	"	उज्जयन्त गिरि	५३६	५ " "
३८,०००	"	१०० वर्ष	"	सम्मोदशिखर	३३	८३,७५० वर्ष
३६,०००	"	७२ " "	दो दिन	पावापुरी	एकाकी	२५० वर्ष

## १५. ऋषभ नामकरण

ऊरुमु उसभलंछणं उसभं सुमिणंमि तेण उसभजिणो ।  
वृष—उद्वहने, उद्वहूँ तेन भगवता जगत्संसारमगं  
अतुलं नाणदंसणचरितं वा तेन ऋषभ इति ।

(आवनि १०८० चू २ पृ ९)

दोनों ऊरुओं—जंघाओं पर वृषभ का चिह्न होने  
के कारण वे ऋषभ कहलाए ।

माता मरुदेवी ने सर्वप्रथम वृषभ का स्वप्न देखा,  
इसलिए उनका नामकरण ऋषभ हुआ ।

जो संसार का उद्वहन—उद्धार करता है, वह  
वृषभ—ऋषभ है ।

जो अतुल ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को धारण करता  
है, वह वृषभ है ।

## १६. ऋषभ के पूर्वभव

१. धन सार्थवाह (अवरविदेह) ।
२. मनुष्य (उत्तरकुरु) ।
३. सौधर्म देव ।
४. महाबल राजा (अवरविदेह) ।
५. ईशान कल्प में ललितांग देव ।
६. वज्रजंघ राजा (पुष्कलावती विजय) ।
७. योगलिक (उत्तरकुरु)
८. सौधर्म देव
९. चिकित्सकपुत्र (महाविदेह)
१०. अच्युत देव
११. वज्रनाभ चक्रवर्ती (पूर्वविदेह)
१२. सर्वार्थसिद्ध देव ।
१३. ऋषभ । (देखें—आवनि १७१-१७८)

## १७. मरुदेवा के स्वप्न

चोद्स सुमिणा उसभगयसीहमादी पासिता पडिबुद्धा  
णाभिस्स कहेति । तेण भणियं—तुज्झ पुत्तो वड्ढो कुल-  
गरो होहिंति ति । सक्कस्स आसणं चलितं, सिग्घं  
आगमणं, भणति—देवाणुप्पिया ! तव पुत्तो सयल-  
भुवणमंगलालओ पढमधम्मवरचक्कवट्टी महइ महाराया  
भविस्सइ । (आवजू १ पृ १३५)

ऋषभ जब सर्वार्थसिद्धविमान से मरुदेवा के गर्भ में  
आये तब वृषभ, गज, सिंह, लक्ष्मी, माला, चन्द्र,  
सूर्य, ध्वज, कुंभ, पद्मसरोवर, सागर, विमान,  
रत्नराशि और अग्नि—इन चौदह स्वप्नों को देख माता

मरुदेवा प्रतिबुद्ध हुई । उसने नाभि के समक्ष स्वप्नों की  
चर्चा की, तब नाभि ने कहा—तुम्हारा पुत्र महाकुलकर  
होगा । देवेन्द्र शक्र ने उपस्थित होकर कहा—देवानुप्रिये !  
तुम्हारा पुत्र त्रिभुवन का मंगलगृह, प्रथम धर्मचक्रवर्ती  
और महान् महाराजा होगा ।

## १८. ऋषभ का जन्म

नाभी विणीअभूमि मरुदेवी उत्तरा य साढा य ।

राया य वडरणाहो विमाणसव्वट्टसिद्धाओ ॥

....रिक्खेण असाढाहि असाढवहुले चउत्थीए ।

चित्तबहुलट्टमीए जाओ उसभो आसाढणक्खते ।....

(आवनि १७०, १८५, १८७)

कुलकर नाभि अर्हत् ऋषभ के पिता थे । मरुदेवी  
उनकी माता थी । विनीताभूमि उनकी जन्मभूमि थी ।  
उत्तराषाढा नक्षत्र, आषाढ कृष्णा चतुर्थी को सर्वार्थसिद्ध  
विमान से उनका च्यवन हुआ और उत्तराषाढा नक्षत्र,  
चैत्र कृष्णा अष्टमी को उनका जन्म हुआ । देवभव से  
पूर्वभव में वे वज्रनाभ राजा थे ।

## १९. इक्ष्वाकुवंश, काश्यप गोत्र

देसूणमं च वरिसं सक्कागमणं.... ॥

सक्को वंसट्टवणे इक्खु अयू तेण हुंति इक्खागा.... ।

(आवनि १८९, १९०)

जब कुमार ऋषभ लगभग एक वर्ष के हुए, इन्द्र  
का आगमन हुआ । खाली हाथ कैसे जाऊँ—यह सोच  
इन्द्र इक्षुयष्टि के साथ प्रविष्ट हुए । उस समय ऋषभ  
अपने पिता नाभि की गोद में थे । उनकी दृष्टि इक्षु पर  
पड़ी, तब शक्र ने पूछा—क्या आप इक्षु खायेंगे ? ऋषभ  
ने प्रसन्नता से हाथ फैला दिया । इन्द्र ने सोचा—ऋषभ  
को इक्षु प्रिय है, इसलिए इस वंश का नाम इक्ष्वाकु  
रहेगा । इन्द्र प्रथम तीर्थंकर के वंश की स्थापना करते  
हैं—यह परम्परा है ।

ऋषभ के पूर्वज इक्षुरस पीते थे, इसलिए वे काश्यप-  
गोत्रीय कहलाये ।

## २०. गृहस्थ-पर्याय

देवी सुमंगलाए भरहो बंभी य मिहुणयं जायं ।

देवीइ सुनंदाए बाहुबली सुंदरी चेव ॥

(आवभा ४४)

आउणापणं जुअले पुत्ताण सुमंगला पुणो पसवे ।

(आवनि १९७)

अर्हत् ऋषभ के दो पत्नियां थीं—सुमंगला और सुनन्दा। सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी युगल को तथा उनचास पुत्रयुगलों को जन्म दिया। सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया।

पढमो अकालमच्चू तर्हि तालफलेण दारओ पहओ ।  
कण्णा य कुलगरेणं सिट्ठे गहिआ उसहपत्ती ॥  
(आवनि १९४)

तालवृक्ष के नीचे एक युगल बैठा था। तालफल के गिरने से उनमें से बालक आहत हुआ और मर गया। यह यौगलिक युग की प्रथम अकाल मृत्यु थी। कुलकर नाभि के आदेश से वह कन्या ऋषभ की पत्नी के रूप में स्वीकार की गई।

## २१. आदिमयुग की सामाजिक व्यवस्था

### आहार और पाकविद्या

आसी य कंदहारा, मूलाहारा च पत्तहारा य ।  
पुष्पफलभोइपोऽवि य, जइया किर कुलगरो उसभो ॥  
आसी य इक्खुभोई, इक्खागा तेण खत्तिया हुंति ।  
सणसत्तरसं धण्णं, आमं ओमं च भुंजीया ॥  
ओमंवाहारंता अजीरमाणमि ते जिणमुविति ।  
हत्थेहिं थंसिऊणं आहारेहत्ति ते भणिया ॥  
आसी य पाणिधंसी तिम्मियतंदुलपवालपुडभोई ।  
हत्थतलपुडाहारा जइया किर कुलगरो उसहो ॥  
....कक्खसेए य ॥

अगणित्स य उट्ठाणं दुमधंसा दट्ठू भीयपरिकहणं ।  
पासेसुं परिच्छिदह गिण्हह पागं च ततो कुणह ॥  
पक्खेव उहणमोसहि कहणं निग्गमण हत्थिसीसम्मि ।  
पयणारंभपवित्ति ताहे कासी य ते मणुआ ॥  
(आवभा ५-११)

ऋषभ के प्रारंभिक समय तक मनुष्य कंद, मूल, पत्र, फूल और फल का आहार करते थे।

इक्षु का भोजन करने के कारण क्षत्रिय इक्ष्वाकु कहलाए। उस समय के लोग सन प्रमुख सतरह प्रकार के धान्य का भोजन करते थे। वे कच्चा धान्य खाते और बहुत कम मात्रा में खाते।

कम मात्रा में किया गया भोजन भी कच्चा होने के कारण पचता नहीं था। इस समस्या को लेकर लोग ऋषभ के पास आए। ऋषभ ने धान्य को हाथों से मर्दन कर खाने के लिए कहा।

कुछ समय के बाद मर्दन कर खाया जाने वाला धान्य भी जीर्ण नहीं होता था। ऋषभ ने उन्हें चावल आदि सब प्रकार के धान्यों को दोनों में भिगोकर खाने का निर्देश दिया। जब वह भी दुष्पाच्य हो गया तो भिगोये हुए धान्य को मुहूर्त भर हाथ में रखकर खाने की बात कही।

जब भिगोया हुआ धान्य हाथ में रखकर खाने पर भी दुष्पाच्य हो गया तो उसे कांख की उष्मा में रखकर खाने की बात कही। एकान्त स्निग्ध और एकान्त रूक्ष काल में अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती। एकान्त स्निग्ध काल के बीत जाने पर वृक्षों के घर्षण से एक दिन अग्नि की उत्पत्ति हुई। लोग उसे देख भयभीत हो गए और ऋषभ को उसकी सूचना दी। ऋषभ ने उन्हें आसपास के घासपात को काटकर अग्नि में धान्य पकाने का निर्देश दिया। धान्य को अग्नि में डाला तो वह जल गया। वे ऋषभ के पास आए और सारी बात बताई। ऋषभ हाथी पर आरूढ़ हो उन सबको साथ ले नगर के बाहर आए। मिट्टी का पिंड लिया। हाथी के कुम्भ पर रख एक बर्तन बनाया और कहा—इस प्रकार बर्तन बनाओ और धान्य बर्तन में पकाकर खाओ। तब से पाकविद्या और पात्र-निर्माण विद्या का प्रारंभ हुआ।

### शिल्पकर्म

पंचेव य सिप्पाइं घड लोहे चित्त णंत कासवए ।  
इविकक्कस्स य इत्तो वीसं वीसं भवे भेया ॥

(आवनि २०७)

अग्नि का आविष्कार होने के बाद पांच प्रकार के शिल्प—कुम्भकार शिल्प, लोहकार शिल्प, चित्रकार शिल्प, वस्त्र शिल्प (जुलाहा) और नापित शिल्प का प्रवर्तन हुआ। प्रत्येक शिल्प की बीस-बीस विधाओं का विकास हो गया।

### लेख

लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीइ दाहिणकरेणं ।  
गणियं संखाणं सुंदरीइ वामेण उवइट्ठं ॥

(आवभा १३)

ऋषभ ने अपनी ज्येष्ठपुत्री ब्राह्मी को लिपि और कनिष्ठपुत्री सुन्दरी को गणित सिखाई।



**चित्रकला**

भरहस्स रुक्कम्मं नराइलक्खणमहोइयं बलिणो ।

माणुम्माणवमाणप्पमाणगणिमाइवत्थूणं ॥

(आवभा १४)

भरत को चित्रकला और बाहुबली को स्त्री-पुरुष के लक्षण तथा वस्तु के मान, उन्मान, अवमान, प्रमाण, संख्यान आदि का प्रशिक्षण दिया ।

**बाहन**

मणियाई दोराइसु पोआ तह सागरमि वव्हाणइं ।

ववहारो लेहवणं कज्जपरिच्छेयणत्थं वा ॥

(आवभा १५)

धागे में मणि आदि पिरौने की कला, जलपीत निर्माण और वाहन, व्यवहार--दंडविधान, कार्य-परिच्छेद के लिए लिखित प्रमाण—इन सबका प्रवर्तन किया ।

**दंडनीति**

णीई हक्काराईं सत्तविहा अहव सामभेयाईं ।

जुद्धाईं बाहुजुद्धाइयाईं वट्टाइयाणं वा ॥

(आवभा १६)

हाकार, माकार, धिक्कार, परिभाषित—अल्पकालीन कारावास, मंडलिबंध—सीमा से बाहर जाने का निषेध, गृहबंध, दंडप्रहार आदि दंडनीतियां अथवा चार प्रकार की नीतियां—साम, दाम, दण्ड और भेद, बाहुयुद्ध आदि युद्ध—इन सबका प्रवर्तन किया ।

**चिकित्सा**

रोगहरणं तिग्गिच्छा अत्थागम सत्थमत्थसत्थत्ति ।

निअलाइजमो बन्धो भाओ दण्डाइत्ताणण्या ॥

(आवभा १८)

रोगहरण के लिए चिकित्साशास्त्र, अर्थाजर्न के लिए अर्थशास्त्र, बंध—निगड आदि से बांधना, घात—दंड आदि से ताड़ना देना—इन सबका प्रवर्तन हुआ ।

ईसत्थं धणुवेओ उवासणा मंसुकम्ममाईया ।

गुरारायाईणं वा उवासणा पज्जुवासण्या ॥

(आवभा १७)

बाण, शस्त्र, धनुर्वेद और दाढ़ी-मूछ आदि कटाना, पर्युपासना—गुरु, राजा आदि की उपासना करना—इन सबका प्रवर्तन किया ।

**वस्त्र-माल्य**

पुत्विं कयाइ पहुणो सुरेहि रक्खाइ कोउगाइं व ।

तह वत्थगंधमल्लालंकाराकेसभूसई ।

तं दट्ठूण पवत्तोऽलंकारेउं जणोऽवि सेसोऽवि ।

विहिणा चूलाकम्मं बालाणं चोलया नाम ॥

(आवभा २१, २२)

देवों ने ऋषभ के रक्षा आदि कौतुक कर्म किए । वस्त्र, गंध, माल्य, अलंकार आदि धारण करवाए । केश-विन्यास किया ।

उसे देखकर लोगों में भी अलंकार की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई । बच्चों के चूलाकर्म का भी उसी समय में प्रवर्तन हुआ ।

**विवाह**

दट्ठुं कयं विवाहं जिणस्स लोगोऽवि काउमारदो ।

गुरुदत्तिया य कण्णा परिणिज्जंते ततो पायं ॥

(आवभा २४)

सर्वप्रथम ऋषभ का विवाह हुआ । उस पद्धति के आधार पर प्रजा में भी विवाह का प्रचलन हो गया । प्रायः गुरुजनों द्वारा प्रदत्त कन्या के साथ ही विवाह किए जाने की परंपरा पड़ी ।

**मृतककर्म**

मडयं मयस्स देहो तं मरुदेवीइ पठमसिद्धत्ति ।

देवेहि पुरा महियं भावण्या अगिसक्कारो ॥

(आवभा २६)

मरुदेवा प्रथम सिद्ध हुईं । देवों ने सबसे पहले उनकी देह का दाह-संस्कार किया । फिर वह मृतकर्म-संस्कार-विधि प्रजा में प्रचलित हो गई ।

**स्तूप**

सो जिणदेहाईणं देवेहि कओ चिआसु थूभाई ।

सदो य रुण्णसदो लोगोवि तओ तहा पगओ ॥

(आवभा २७)

भगवान् ऋषभ जब मुक्त हो गए, तब देवों ने उनके शरीर को चिता में जलाया और उनकी स्मृति में वहां स्तूप बनाकर रुदन करने लगे । तब से लोगों में मृतक के पीछे रोने की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई और स्तूप निर्माण की प्रथा चली ।

**निमित्त**

अहव निमित्ताईणं सुहसइयाइ सुहदुक्खपुच्छा वा ।  
इच्चेवमाइ पाएणुप्पन्नं उसभकालम्मि ॥  
(आवभा २९)

नैमित्तिकों से सुख-दुःख के विषय में पृच्छा भी ऋषभ के समय में ही प्रारंभ हुई ।

**चार वर्ग**

उग्गा भोगा रायण्ण खत्तिआ संगहो भवे चउहा ।  
आरक्खि गुरु वयंसा सेसा जे खत्तिआ ते उ ॥  
(आवनि २०२)

राज्यव्यवस्था के लिए अर्हत् ऋषभ ने चार वर्ग स्थापित किये —

उग्र—आरक्षक ।

भोज—गुरुस्थानीय ।

राजन्य—वयस्य ।

क्षत्रिय—इन तीनों के अतिरिक्त ।

**२२. ऋषभ का अभिनिष्क्रमण**

चउरो साहस्सीओ लोअं काऊण अप्पणा चेव ।  
जं एस जहा काही तं तह अम्हेअि काहाभो ॥  
उसभो वरवसभगई धित्तूणमभिम्महं परमघोरं ।  
वोसट्टुचत्तदेहो विहरइ गामाणुगामं तु ॥  
णवि ताव जणो जाणइ का भिक्खा ?

केरिसा व भिक्खयरा ?

ते भिक्खमलभमाणा वणमज्जे तावसा जाया ॥

(आवनि ३१५, ३१६ भा ३१)

चउहि सहस्सेहि सिद्धि एणं देवदूसमादाय जाव पव्वइते । उसभे णं अरहा कोसलिए संवच्छरं साहियं चीवरधारी होत्था । तेसि पंचमुट्ठिओ लोओ सयमेव, भगवतो पुण सक्कवयणेण कणयावदाते सरीरे जडाओ अंजणे रेहाओ इव रेहंतीओ उवलभतित्तुणट्ठिताओ तेण चउमुट्ठिओ लोओ ।  
(आवचू १ पृ १६१)

अर्हत् ऋषभ चार हजार व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हुए । ऋषभ के पास एक देवदूष्य वस्त्र था जो साधिक एक वर्ष तक उनके पास रहा ।

इन्द्र की प्रार्थना पर ऋषभ ने चारमुष्टि केशलोच किया । अन्य मुनियों ने पंचमुष्टि केशलोच किया ।

ऋषभ शरीर के व्युत्सर्ग और त्याग का संकल्प कर ग्रामानुग्राम विहार करने लगे । लोग भिक्षा की विधि

नहीं जानते थे । भिक्षा के अभाव में सभी शिष्य तापस हो गये ।

**प्रथम भिक्षाग्रहण**

संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसभेण....॥  
घुट्ठं च अहोदाणं दिव्वाणि अ आहयाणि तूराणि ।  
देवा य संनिवइआ वसुहारा चेव बुट्ठा य ॥  
गयउर सिज्जंमिक्खुरसदाण..... ॥  
(आवनि ३१९, ३२१, ३२२)

ऋषभ ने प्रव्रज्या के एक वर्ष पश्चात् गजपुर में अपने प्रपौत्र श्रेयांस के हाथ से इक्षुरस की प्रथम भिक्षा ग्रहण की । उस समय पांच दिव्य प्रकट हुए—आकाश में देवों द्वारा अहोदानं की ध्वनि, देवदुंदुभि, रत्नवृष्टि, वस्त्रोत्क्षेप, गंधोदक-पुष्पवृष्टि ।

**२३. ऋषभ की प्रथमता**

से य उसभे कोसलिए पढमराया पढमभिक्खायरे पढमजिणे पढमत्तित्थयरे ।  
(आवचू १ पृ १६०)

अर्हत् ऋषभ इस युग के प्रथम राजा, प्रथम भिक्षा-चर, प्रथम जिन और प्रथम तीर्थंकर थे ।

**२४. अर्हत् ऋषभ की शिष्य-सम्पदा**

तत्थ समोसरणे भगवं सक्कादीणं धम्मं परिकहेति । तत्थ उसभसेणो णाम भरहस्स रन्नो पुत्ती सो धम्मं सोऊण पव्वइतो । तेण तिहि पुच्छाहि चोहसपुव्वाइं गहिताइं, उप्पन्ने विगते ध्रुवे । तत्थ बंभीवि पव्वइया । भरहो सावओ । सुंदरीए ण दिन्नं पव्वइउं, मम इत्थिरयणं एसत्ति । सा साविगा, एस चउव्विहो समणसंघो । ते य तावसा भगवतो णाणं उप्पन्नं ति कच्छसुकच्छवज्जा सव्वे भगवतो सगासे पव्वइता ।  
(आवचू १ पृ १८२)

कैवल्यप्राप्ति के पश्चात् अर्हत् ऋषभ ने धर्मदेशना दी । उस समयसरण में देव, मनुष्य आदि सभी उपस्थित थे । चक्रवर्ती भरत का पुत्र ऋषभसेन धर्मदेशना सुनकर प्रव्रजित हुआ । उसने उत्पन्न, विगत और ध्रुव—इन तीन निषद्याओं से चौदह पूर्वों का ज्ञान ग्रहण किया । ऋषभसेन ऋषभ भगवान् का प्रथम साधु, प्रथम गणधर था । ब्राह्मी (ऋषभपुत्री) प्रथम साध्वी बनी । भरत प्रथम श्रावक और सुंदरी (ऋषभपुत्री) प्रथम श्राविका बनी । —इस प्रकार चतुर्विध तीर्थ की स्थापना हुई । कच्छ और सुकच्छ के अतिरिक्त शेष ३९९८ तापस ऋषभ के तीर्थ में प्रव्रजित हो गये ।

**अर्हत् ऋषभ का तीर्थ-चतुष्टय—**

उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स उसभसेणपामो-  
कखाओ चउरासीति समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समण-  
संपदा होत्था, बभिसुंदरिपामोक्खाणं अज्जियाणं तिन्नि  
सयसाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जियासंपदा होत्था,  
सेज्जंसपामोक्खाणं समणोवासगणं तिन्नि सयसाहस्सीओ  
पंचासयसहस्सा सुभदापामोक्खाणं समणोवासियाणं पंच  
सयसाहस्सीओ चउप्पन्नं च सहस्सा चत्तारि सहस्सा सत्त  
सया पन्नासा चोद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं णव  
सहस्सा ओहिन्नाणीणं वीससहस्सा केवलणाणीणं, वीस-  
सहस्सा छच्च सया वेउव्वियाणं, बारस सहस्सा छच्च  
सया पन्नासा विपुलमतीणं, बारससहस्सा छच्च सया  
पन्नासा वादीणं, बावीस सहस्सा णव य सया अणुत्तरो-  
ववातियाणं ..... वीसं समणसहस्सा सिद्धा, चत्तालीसं  
अज्जियासहस्सा सिद्धा, सट्ठि अंतेवासिसहस्सा सिद्धा ।

(आवचू १ पृ १५८)

ऋषभसेन आदि ८४ हजार श्रमण

ब्राह्मी-सुंदरी आदि ३ लाख साध्वियां

श्रेयांस आदि ३ लाख ५० हजार श्रावक

सुभदा आदि ५ लाख ५४ हजार श्राविकाएं

घोदहपूर्वी साधु ४७५०

अवधिज्ञानी साधु ९०००

केवलज्ञानी साधु २००००

विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी १२६५०

वैक्रियलब्धिधर २०६००

वादी १२६५०

अनुत्तर विमान में उत्पन्न २२९००

सिद्ध } २०००० साधु, ४०००० साध्वियां,  
कुल ६०००० अन्तेवासी**२५. अर्हत् ऋषभ का प्रमादकाल**

वाससहस्सं उग्गं तवमाइगरस्स आयरंतस्स ।

जो किर पमायकालो अहोरत्तं तु संकलितं ॥

(उनि ५२३)

अर्हत् ऋषभ ने एक हजार वर्ष तक उग्र तप किया ।

इस तपःसाधनाकाल में उनके प्रमाद-काल को संकलित  
किया जाये तो वह एक दिन-रात का होता है ।**२६. मरुदेवा प्रथम सिद्ध**

...आराहणाए मरुदेवा ओसप्पिणीए पढम सिद्धो ॥

सा मरुदेवा भरह्विभूतिं पासित्ता भणति भरहं,

तुज्झ पिता एरिसं विभूतिं जहिता एकल्लओ अवसणो  
हिडति । भरहो भणति—मम कतो विभूती तारिसी  
जारिसी तात्तस्स ? जदि न पत्तियह एह जामो पासामो ।  
भरहो निप्पिडति सब्वलेणं । मरुदेवा वि एककाहिं  
हत्थिमि विलग्गा जाव पेच्छति छत्तातिच्छत्तं सुरसमूहं च  
धुवंतं । भरहस्स य वत्थाभरणाणि ओमिलायंताणि ।  
भरहो भणति दिट्ठा ते पुत्तविभूती ? कनो मम एरिसा ?  
सा तोसएणं चितेतुमारद्धा, अपुव्वकरणं अणुपविट्ठा ।  
जातीसरणं नत्थि, जेण वणस्सतिकातिएहितो उव्वट्टिका ।  
तत्थेव हत्थिखंधवरगताए केवलनाणं, उप्पण्णं सिद्धा ।  
इमाए ओसप्पिणीए पढमसिद्धो मरुदेवा ।

(आवनि १३२० चू २ पृ २१२)

भरत के वैभव को देखकर मरुदेवा कहती है—

भरत ! तुम्हारा पिता ऋषभ ऐसी विभूति को छोड़  
निर्वस्त्र अकेला घूम रहा है । भरत ने कहा— पिताश्री  
जैसी विभूति मेरे पास कहां है ? यदि आपको विश्वास न  
हो तो चलिए, वहां जाकर देखें । भरत ने अपनी सेना के  
साथ प्रस्थान किया । हाथी पर आरूढ़ हो मरुदेवा ने भी  
प्रस्थान किया । उसने ऋषभ की स्तुति करते हुए महर्द्धिक  
देवों को देखा । उनके सामने भरत के वस्त्र-आभरण  
फीके लगने लगे । भरत ने कहा—आपने अपने पुत्र की  
विभूति को देखा ? मेरे पास कहां है ऐसी विभूति ! यह  
देख-सुन मरुदेवा स्वयं चिंतन में डूब गई । वह अपूर्वकरण-  
अद्भुत भावश्रेणि में आरूढ़ हुई । उसे जातिस्मृति नहीं  
हुई, क्योंकि वह वनस्पति से उद्भूत हुई थी । परम  
विशुद्ध अध्यवसाय, लक्ष्या और परिणामधारा से उसे हाथी  
के हाँदे पर बैठे-बैठे ही कैवल्य उत्पन्न हो गया । इस  
अवर्सापिणी काल में वह सर्वप्रथम सिद्ध हुई ।

**२७. नमि-विनमि की प्रार्थना**

नमि-विनमिणं जायण नाग्गिदो विज्जदाण वेअड्ढे ।

उत्तरदाहिणसेढी सट्ठीपण्णासनगराईं ॥

दुवे नमि-विणमिणो कच्छमहाकच्छाणं पुत्ता उवट्ठित्ता,  
भगवं विन्नवेन्ति—भगवं ! अमहं तुब्भेहि संविभागो ण  
केणवि वत्थुणा कतो, स पट्ठे बद्धकवया ओलग्गति  
विन्नवेन्ति य, तातो ! तुब्भेहिं सर्व्वेसि भोगा दिन्ना  
अमहेऽवि देह, एवं तिसञ्चं ओलग्गति, एवं कालो  
वच्चति, अन्नया धरणी णाभकुमारिदो भगवं वंदओ  
आगओ, इमेहि य विन्नवितं, सो ते तह जातमाणे  
भणति—ओ सुणह भगवं चत्तसंगो गतरोसतोसो  
ससरीरेऽवि णिम्ममत्तो अकिचणो परमजोगी णिरुद्धासवो

कमलपलासणिह्वलेवचित्तो मा एवं जायह अह तु भगवतो भतीए मा तुव्भं सामिस्स सेवा अफला भवतुत्ति काउं पठितसिद्धाई गंधव्वपन्नगाणं अडयालीसं विज्जासहस्साई देमि, ताण इमाओ चत्तारि महाविज्जाओ, तं जहा - गौरी गंधारी रोहिणी पन्नत्ती ।

(आवनि ३१७ चू १ पृ १६०)

भगवान् ऋषभ सामायिक की साधना में लीन थे । एक दिन कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए और बोले— 'भते ! आपने सबको विपुल भोग्यसामग्री दी, हमें किसी वस्तु का संविभाग नहीं दिया, अतः हमें भी कुछ दें'— इस प्रकार प्रार्थना और तीनों संघ्याओं में पर्युपासना करते हुए कुछ समय बीता । एक दिन धरणेन्द्र नागकुमार भगवान् की वन्दना के लिए उपस्थित हुआ । नमि-विनमि की प्रार्थना पर उसने कहा—सुनो ! परम योगी ऋषभ अकिंचन हैं, अपने शरीर पर भी इनका ममत्व नहीं है । ये किसी पर रुष्ट-तुष्ट नहीं होते । तुम लोगों ने भगवान् की पर्युपासना की है, वह निष्फल न हो, इसलिए मैं तुम्हें गंधर्वपन्नग की अडतालीस हजार विद्याएं देता हूँ, जो पठितसिद्ध हैं । उनमें चार महाविद्याएं ये हैं—गौरी, गांधारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति ।

नागेन्द्र ने नमि को वैताड्यमिरि की दक्षिणी विद्याधर श्रेणी में पचास नगर और विनमि को उत्तरी विद्याधर श्रेणी में साठ नगर निवास के लिए प्रदान किये ।

## २८. तीर्थ का विच्छेद

राया आइच्चजसो महाजसे अइवले अ बलभदे । बलवीरिए क्तविरिए जलविरिए दंडविरिए य ॥  
...कालेण य मिच्छत्तं जिणंतरे साहुवोच्छेओ ॥  
अष्टौ पुरुषान् यावदयं धर्मः प्रवृत्तः, अष्टौ वा तीर्थ- करान् यावदिति । तत ऊर्ध्वं मिथ्यात्वमुपगताः । ...कालेण गच्छता मिथ्यात्वमुपगताः, कदा ? नवमजिनान्तरे, किमिति ? यतस्तत्र साधुव्यवच्छेद आसीदिति ।

(आवनि ३६३, ३६५ हावृ १ पृ १०५)

चक्रवर्ती भरत के पश्चात् आदित्ययश, महायश, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कृतवीर्य, जलवीर्य, दंडवीर्य— इन आठ राजाओं तक माहन—श्रावकों को दान देने की विधि चली । अथवा आठ तीर्थकरों तक साधु-परंपरा अविच्छिन्न चली । तत्पश्चात् दृष्टिकोण मिथ्या हो गया ।

नीवें अहंत् सुविधि के पश्चात् साधु-वर्ग का विच्छेद हुआ ।

तीर्थस्य व्यवच्छेदश्चन्द्रप्रभस्वामिसुविधिस्वाम्यवान्त-राले... । (नन्दीमवृ प १३०)

आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभ और नीवें तीर्थकर सुविधि के अंतराल काल में तीर्थ का व्यवच्छेद हुआ ।

(नीवें तीर्थकर सुविधि से सोलहवें तीर्थकर शांति के समय तक सवया तीर्थच्छेद रूप असंयति पूजा हुई है । इसे दसवां आश्चर्य माना गया है—देखें ठाणं १०।१६० का टिप्पण ।)

## अहंत् अजित

अक्खेसु जेण अजिआ जणणी अजिओ जिणो तम्हा । (आवनि १०८०)

जब अजितप्रभु गर्भ में आए, तब उनकी माता विजया दूतक्रीड़ा में विजित हुई, इसलिए उनका नाम अजित रखा गया ।

## अग्निजीवों की बहुलता क्यों ?

जया पंचसु भरहेसु पंचसु एरवथएसु उत्तमकट्टपत्ता मणुया भवति तदा सव्वबहुअग्निजीवा णायव्वा । जेण तत्थ लोगवहुत्तयाए पयणादीणिवि चेव बहूणि भवन्ति । जया अजियसामी आसि तदा सिहुणधम्मभेदगुणेण चिर-जीवियनणेण य बहुपुत्तणत्तुका मणुया जाया, अतो अजियसामिकाले उत्तमकट्टपत्ता मणुया आसि ।

(आवचू १ पृ ३९)

जब पांच भरत और पांच ऐरावत में मनुष्यों की संख्या पराकाष्ठा पर होती है, तब सबसे अधिक अग्नि के जीव होते हैं । क्योंकि लोगों की बहुलता होने पर पचन-पाचन आवि क्रियाएं भी प्रचुर होती हैं । अहंत् अजित के काल में अग्नि के जीव पराकाष्ठा प्राप्त थे, क्योंकि उस समय मनुष्यों की संख्या पराकाष्ठा को प्राप्त थी । योगलिक परम्परा का अन्त हो चुका था । लोगों का आयुष्य लम्बा था । एक-एक परिवार में पुत्र-पौत्रों की संख्या भी अधिक थी ।

## सर्वाधिक मनुष्य और सर्वबहु अग्निजीव

अव्वाघाए सव्वासु कम्मभूमिसु जं तदारभा ।

सव्वबहवो मणुस्सा होंतजियजिणिककालम्मि ॥

(विभा ५९९)

अहंत् अजित के शासनकाल में सब कर्मभूमियों

(भरत-ऐरावत-विदेह) में अग्नि का प्रयोग करने वाले गर्भज मनुष्य सबसे अधिक थे। उस समय अग्नि जीवों की उत्पत्ति में महावृष्टि आदि का व्याघात नहीं था।

### अर्हत् संभव

अभिसंभूआ सासत्ति संभवो तेग वुच्चई भयवं ।....

(आवनि १०८१)

जब सभवप्रभु गर्भ में थे, तब उनके प्रभाव से अत्यधिक धान्य संभूत हुआ, अतः उनका नाम संभव रखा गया।

### अर्हत् अभिनन्दन

....अभिणंदई अभिवखं सक्को अभिणंदणो तेण ॥

(आवनि १०८१)

गर्भकाल से लेकर निरन्तर शक्र ने जिनका पुनः पुनः अभिनन्दन किया, वे अभिनन्दन की अभिधा से अभिहित हुए।

### अर्हत् सुमति

जणणो सव्वत्थ विणिच्छएसु सुमइत्ति तेण सुमइजिणो ।

(आवनि १०८२)

जब सुमति गर्भ में थे, उस समय माता मंगला ने प्रत्येक न्याय-व्यवहार में सुमति—प्रभूत बुद्धिमत्ता का परिचय दिया (दो माताओं के षाष्मासिक कलह का कुशलता से उपशमन किया), इस कारण से उनका नाम सुमति रखा गया।

### अर्हत् पद्मप्रभ

....पउमसयणंमि जणणीइ डोहलो तेण पउमाभो ।

(आवनि १०८२)

गर्भवती माता सुसीमा को पद्मशय्या में शयन करने का दोहद उत्पन्न हुआ, अतः पुत्र का नाम पद्म रखा गया। उनकी पद्म जैसी आभा थी।

### अर्हत् सुपार्श्व

गढभगए जं जणणी जाय सुपासा तओ सुपासजिणो ।

(आवनि १०८३)

जब सुपार्श्वप्रभु गर्भस्थ हुए, तब माता पृथ्वी के पार्श्वभाग सुन्दर हो गए, अतः उन्हें सुपार्श्व कहा गया।

### अर्हत् चन्द्रप्रभ

....जणणीए चंदपियणंमि डोहलो तेण चंदाभो ॥

(आवनि १०८३)

माता लक्ष्मणा को चंद्रपान का दोहद उत्पन्न हुआ

था, इसलिए उसने अपने पुत्र को 'चन्द्रप्रभ' कहकर पुकारा। उनकी चंद्र जैसी आभा थी।

### अर्हत् सुविधि

सव्वविहीसु अ कुसला गढभगए तेण होइ सुविहिजिणो ।

(आवनि १०८४)

पुत्र का गर्भ में अवतरण होते ही जननी रामा ने सब विधिविधानों में अत्यधिक कुशलता अर्जित की, इसलिए पुत्र का नामकरण सुविधि हुआ।

### अर्हत् शीतल

....पिउणो दाहोवसमो गढभगए सीयलो तेण ॥

(आवनि १०८४)

पिता दृक्करथ की पित्तदाहजन्य पीड़ा औषधि से शांत नहीं हुई, पर गर्भवती माता नन्दा के स्पर्शमात्र से पित्तदाह का शमन हो गया, अतः शिशु का नाम शीतल रखा गया।

सकलसत्त्वसन्तापकरणविरहादा ह्लादजनकरवाच्च

शीतल इति, तत्थ सव्वेऽपि अरिस्स मित्तस्स वा उवर्णि सीयलघरसमाणा ।

(आवहावृ २ पृ ९)

जो सब प्राणियों का सन्ताप दूर कर आह्लाद उत्पन्न करता है, सबके लिए शीतगृह की भांति सुखकर है, वह शीतल है।

### अर्हत् श्रेयांस

महरिहसिज्जारुहणंमि डोहलो तेण होइ सिज्जंसो ।....

(आवनि १०८५)

राजा परम्परा से प्राप्त देवतापरिगृहीत शय्या की अर्चा करता था। जो उस शय्या पर बैठता, उसे देवता द्वारा उपसर्ग दिया जाता। माता विष्णुदेवी को उस पर बैठने का दोहद उत्पन्न हुआ। वह उस पर बैठे कितु गर्भ के प्रभाव से उसका कुछ भी अश्रेय—अहित नहीं हुआ, अतः शिशु का नाम 'श्रेयांस' रखा गया।

### अर्हत् वासुपूज्य

....पूएइ वासवो जं अभिवखणं तेण वसुपूजो ॥

(आवनि १०८५)

वासुपूज्य जब माता जया की कुक्षि में अवतरित हुए, तब वासव (इन्द्र) ने पुनः पुनः जननी की पूजा की, इसलिए उनका नामकरण 'वासुपूज्य' हुआ।

वसूणि—रयणाणि, वासवो—वेसमणो सो वा अभिगच्छति ।

(आवचू २ पृ १०)

उनके गर्भस्थ होने पर वासव (वीश्रमण) ने पुनः पुनः राजकोप को वसु—रत्नों से भरा, अतः उनका नाम वासुपुज्य रखा गया ।

### अहंत् विमल

विमलतण्डुबुद्धि जणणी गन्धगए तेण होइ विमलजिणो ।  
(आवनि १०८३)

जिनके गर्भ में आने पर माता श्यामा की बुद्धि और शरीर—दोनों अत्यन्त विमल हो गये, वे विमल नाम से अभिहित हुए ।

### अहंत् अनंत

....रयणवित्तमणंतं दामं सुमिणे तओऽणंतो ॥  
(आवनि १०८६)

माता सुयशा ने स्वप्न में रत्नजटित अनंत—विशाल माला देखी, अतः पुत्र का नाम रखा—अनंत ।

अनन्तकर्माशजयादनन्तः, अनन्तानि वा ज्ञानादीन्य-  
स्येति अनन्तः । (आवहावृ २ पृ १०)

जो अनन्त कर्मांशों को जीतता है, उनका क्षय करता है, वह अनन्त है । जो अनन्त ज्ञानचतुष्टयी से सम्पन्न है, वह अनन्त है ।

### अहंत् धर्म

गन्धगए जं जणणी जाय सुधम्मत्ति तेण धम्म जिणो ।  
(आवनि १०८७)

जब धर्मनाथ गर्भ में आये, तब माता सुव्रता और पिता भ्रातृ श्रावक धर्म में विशेष रूप से उपस्थित हुए, इसलिए उनका नाम रखा—धर्म ।

### अहंत् शान्ति

....जाओ असिबोवसमो गन्धगए तेण संतिजिणो ॥  
(आवनि १०८७)

शान्तिनाथ के गर्भ में आने पर सर्वत्र व्याप्त महा-  
मारी का प्रकोप शांत हो गया, अतः उनका अभिधान हुआ—शांतिजिन ।

### अहंत् कुंथु

थूहं रयणवित्तं कुंथुं सुमिणंमि तेण कुंथुजिणो ।....  
(आवनि १०८८)

गर्भवती माता 'श्री' ने स्वप्न में कु—भूमि पर स्थित थूह—रत्नों का विशाल स्तूप देखा, इसलिए बालक का नामकरण हुआ 'कुंथु' ।

### अहंत् अर

....सुमिणे अरं महिरिहं पासइ जणणी अरो तम्हा ॥  
(आवनि १०८८)

माता देवी ने स्वप्न में अतिसुन्दर, अतिविशाल रत्नमय अर—चक्र देखा, अतः शिशु का नाम रखा 'अर' ।

सर्वोत्तमे महासत्त्वकुले य उपजायते ।

तस्याभिवृद्धये वृद्धैरसावर उदाहृतः ॥

(आवहावृ २ पृ १०)

जो सर्वोत्तम, महान् शक्तिशाली कुल में उसकी अभिवृद्धि के लिए उत्पन्न होता है, वह 'अर' कहलाता है ।

### अहंत् मल्लि

वसुरहिमल्लसयणंमि डोहलो तेण होइ मल्लिजिणो ।  
(आवनि १०८९)

माता प्रभावती को सब ऋतुओं में सुन्दर, सुरभित पुष्पमाला की शय्या का दोहद उत्पन्न हुआ, इसलिए अपनी पुत्री का नामकरण किया 'मल्लि' ।

सर्व्वेहिं पि परीसहमल्लरागदोसा य णिहयत्ति ।

(आवहावृ २ पृ १०)

जो परीषह तथा राग-द्वेष आदि मल्लों को जीतता है, वह मल्लि है ।

### अहंत् मुनिसुव्रत

....जाया जणणी जं सुक्कयत्ति मुणिसुव्वओ तम्हा ॥  
(आवनि १०८९)

बालक के गर्भ में आने पर माता-पिता सुव्रती बने, अतः उनका नाम रखा गया 'मुनिसुव्रत' ।

### अहंत् नमि

पणया पच्चंतनिवा दंसियमित्ते जिणंमि तेण नमी ।....  
(आवनि १०९०)

शत्रु राजाओं ने नगर को घेर रखा था । जब उन्होंने अट्टालिका पर खड़ी गर्भवती रानी 'वप्रा' को देखा, गर्भ के प्रभाव से वे सभी राजे तत्काल प्रणत हो गये, अतः शिशु का नामकरण हुआ 'नमि' ।

### अहंत् अरिष्टनेमि

....रिद्धरयणं च नेमिं उप्पयमाणं तओ नेमी ॥  
(आवनि १०९०)

गर्भवती माता शिवा ने स्वप्न में अत्यन्त विशाल

अरिष्टरत्नमय नेमि (चक्र) को ऊपर उठते हुए देखा, अतः बालक का नाम 'अरिष्टनेमि' रखा ।

सोऽरिष्टनेमिनामो उ, लक्ष्मणस्तरसंजुओ ।

अट्टसहस्रलक्षधरो, गोयमो कालगच्छत्री ॥

वज्ररिसहस्रधयो, समचउरसो भसोयरो ।...

(उ २२।५,६)

अरिष्टनेमि स्वर-लक्षणों से युक्त, एक हजार आठ शुभ लक्षणों का धारक, गौतम गोत्री और श्यामवर्ण वाला था । वह वज्ररूपभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान वाला था । उसका उदर मछली के उदर जैसा था ।

### अहंत् अरिष्टनेमि का अभिनिष्क्रमण

...तस्स राईमइं कन्नं, भज्जं जायइ केसवो ॥

अह सो तत्थ निज्जंतो, दिस्स पाणे भयद्दुए ।

वाडेहि पंजरेहि च, सन्निरुद्धे सुदुक्खिए ॥

जीवियंतं तु संपत्ते, मंसट्ठा भक्खियव्वए ।

पासेत्ता से महापन्ने, सारहि इणमव्ववी ॥

कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो ।

वाडेहि पंजरेहि च, सन्निरुद्धा य अच्छहि ? ॥

अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा हु पाणिणो ।

तुज्झं विवाहकज्जंमि, भोधावेउं वहुं जणं ॥

सोऊण तस्सा वयणं, बहुपाणिविणासणं ।

चित्तेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहि उ ॥

जइ मज्झ कारणाएए, हम्मिंहिति वहुं जिया ।

न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥

सो कुंडलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो ।

आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए ॥

मणपरिणामे य कए, देवा य जहोइयं समोइण्णा ।

सव्वइद्धीए सपरिस्ता, निक्खमणं तस्स काउं जे ॥

देवमणुस्सपरिवुडो, सीयारयणं तओ समारूढो ।

निक्खमिय वारगाओ, रेवययंमि ट्ठिओ भगवं ॥

उज्जाणं संपत्तो, ओइण्णो उत्तिमाओ सीयाओ ।

साहस्सीए परिवुडो, अह निक्खमई उ चित्ताहि ॥

अह से सुगंधगंधिए, तुरियं मउयकुंचिए ।

सयमेव लुंचई केसे, पचपुट्ठीहि समाहिओ ॥

(उ २२।६,१४-२४)

केशव ने अरिष्टनेमि के लिए राजीमती कन्या की मांग की ।

विवाह के लिए जाते हुए अरिष्टनेमि ने भय से

संत्रस्त, बाड़ों और पिजरो में निरुद्ध, सुदुःखित प्राणियों को देखा । वे मरणासन दशा को प्राप्त थे और मांसाहार के लिए खाए जाने वाले थे । उन्हें देखकर महाप्रज्ञ अरिष्टनेमि ने सारथि से इस प्रकार कहा—

“सुख की चाह रखने वाले थे सब प्राणी किसलिए इन बाड़ों और पिजरो में रोके हुए हैं ।”

सारथि ने कहा—“ये भद्र प्राणी तुम्हारे विवाह-कार्य में बहुत जनों को खिलाने के लिए यहां रोके हुए हैं ।”

सारथि का बहुत जीवों के वध का प्रतिपादक वचन सुनकर जीवों के प्रति सकरुण उस महाप्रज्ञ अरिष्टनेमि ने सोचा—“यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से जीवों का वध होने वाला है तो यह परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा ।”

उस महायशस्वी अरिष्टनेमि ने दो कुंडल, करधनी और सारे आभूषण उतारकर सारथि को दे दिए ।

अरिष्टनेमि के मन में जैसे ही निष्क्रमण (दीक्षा) की भावना हुई, वैसे ही उसका निष्क्रमण-महोत्सव करने के लिए औचित्य के अनुसार देवता आए । उनका समस्त वैभव और उनकी परिषदें उनके साथ थीं ।

देव और मनुष्यों से परिवृत भगवान् अरिष्टनेमि शिविका रत्न में आरूढ़ हुआ । द्वारका से चलकर वह रैवतक (गिरगार) पर्वत पर स्थित हुआ ।

अरिष्टनेमि सहस्राश्रयन उद्यान में पहुंचकर उत्तम शिविका से नीचे उतरा । उसने एक हजार मनुष्यों के साथ चित्रा नक्षत्र में निष्क्रमण किया ।

समाहित अरिष्टनेमि ने सुगंध से सुवासित सुकुमार और घुंघराले वालों का पंचमुष्टि से अपने आप तुरन्त लोच किया ।

### शिष्य-सम्पदा

अरहतो णं अरिष्टनेमिस्स वरदत्तपामोक्खाओ अट्टारस समणसाहस्सीओ, जक्खिणपामोक्खाओ चत्तालीसं अज्जासाहस्सीओ, णंदप्पामोक्खाणं समणोवासगणं एगा सयसाहस्सी अउणत्तरिं च सहस्सा उक्कोसिया, महासुव्वयपामोक्खाणं समणोवासियाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ छत्तीसं च सहस्सा, चत्तारि सया चोइसपुव्वीणं, पन्नरस सता ओहीनाणीणं, पन्नरस सया केवलनाणीणं, पन्नरस सता वेउव्वियाण दस सता विपुलमतीणं, अट्टसया वादीणं, सोलस सया अणुत्तरोववाद्याणं ।

(आवचू १ पृ १५९)

**अहंत् अरिष्टनेमि का तीर्थ-चतुष्टय**

श्रमण १८००० वरदत्त आदि  
 श्रमणी ४०००० यक्षिणी आदि  
 श्रमणोपासक १६९००० नन्द आदि  
 श्रमणोपासिका ३३६००० महासुजता आदि  
 चौदहपूर्वी ४००  
 अवधिज्ञानी १५००  
 केवलज्ञानी १५००  
 वैक्रियलब्धिधर १५००  
 विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी १०००  
 वादी ८००  
 अनुत्तरोपपातिक १६००

**अहंत् पार्श्व**

सप्यं सयणे जणणी तं पासइ तमसि तेण पासजिणो ।  
 (आवनि १०९१)

माता वामा ने अपनी श्रय्या पर लेटे-लेटे (गर्भ के प्रभाव से) अंधेरे में भी सर्प को देख लिया, इसलिए अपने पुत्र को 'पार्श्व' नाम से संबोधित किया ।

पश्यति सर्वभावानिति पार्श्वः, पश्यक इति चान्ये ।  
 (आवहावृ २ पृ ११)

जो सब भावों की पश्यना —परिज्ञान करता है, वह पश्यक/पार्श्व है ।

**अहंत् पार्श्व की शिष्य-सम्पदा**

पासस्स णं अरहत्तो पुरिसादाणीयस्स अज्जदिन्न-  
 पामोक्खाओ सोलस समणसाहस्सीओ, पुप्फचुलापामो-  
 क्खाओ अट्टत्तीसं अज्जियासाहस्सीओ । सुणंदपामोक्खाणं  
 समणोवासगणं एगा सयसाहस्सी चउसंठि च सहस्सा  
 णंदिणपामोक्खाणं समणोवासियाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ  
 सत्तावीसं च सहस्सा उक्कोसिया, अद्धट्टसया चोद्दस-  
 पुब्बीणं, चोद्दस सया ओहिन्नाणीणं, दस सया केवल-  
 नाणीणं, एक्कारस सया वेउब्बियाणं, अद्धट्टमा सत्ता  
 विपुलमतीणं, छस्सया वादीणं, बारस सया अणुत्तरो-  
 ववाइयाणं । (आवचू १ पृ १५९)

**अहंत् पार्श्व का तीर्थ-चतुष्टय**

आर्यदत्त आदि १६००० श्रमण  
 पुष्पचूला आदि ३८००० श्रमणी  
 सुनंद आदि १६४००० श्रमणोपासक  
 नन्दिनी आदि ३२७००० श्रमणोपासिका  
 चौदहपूर्वी ३५०

अवधिज्ञानी १४००  
 केवलज्ञानी १०००  
 वैक्रियलब्धिधर ११००  
 मनःपर्यवज्ञानी ७५०  
 वादी ६००  
 अनुत्तरविमान में उत्पन्न १२००

**३०. महावीर के अभिधान**

वड्ढइ नायकुलं ति अ तेण जिणो वद्धमाण्ति ।  
 (आवनि १०९१)

भगवान् जब त्रिशला के गर्भ में आये, तब ज्ञातकुल में धनसंपदा की अतिशय वृद्धि हुई, अतः उनका नाम वर्धमान रखा गया ।

उत्पत्तेरारभ्य ज्ञानादिभिर्वर्धत इति वर्धमानः ।  
 (आवहावृ २ पृ ११)

जन्म से लेकर जिसके ज्ञान आदि गुण बढ़ते रहते हैं, वह वर्धमान है ।

गुणा अस्य विशाला इति वैशालीयः । विशालं  
 शासनं वा, विशाले वा इक्ष्वाकुवशे भवा वैशालिया ।

वैशाली जननी यस्य, विशालकुलमेव च ।  
 विशालं प्रवचनं वा, तेन वैशालिको जिनः ॥  
 (उचू पृ १५६, १५७)

- ० जो गुणों से विशाल है, वह वैशालिक है ।
- ० जिसका शासन विशाल है, वह वैशालिक है ।
- ० जो विशाल इक्ष्वाकुवंश में जन्मा है, वह वैशालिक है ।
- ० जिसकी माता वैशाली है —वैशाली नगर की वास्तव्या है, जिसका कुल विशाल है, जिसका प्रवचन विशाल है, वह वैशालिक — भगवान् महावीर है ।

षाया नाम खत्तियाणं जातिविसेसो, तम्मि संभूओ  
 सिद्धथो, तस्स पुत्तो णायपुत्तो । (दजिचू पृ २२१)

भगवान् महावीर का एक नाम है—ज्ञातपुत्र । 'ज्ञात' (नाग) क्षत्रियों की एक जाति है । यहां ज्ञात का अर्थ है—ज्ञातकुल में उत्पन्न सिद्धार्थ । ज्ञातपुत्र अर्थात् सिद्धार्थपुत्र महावीर ।

तस्स णं ततो णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—  
 अम्मापिउसंति ए वद्धमाणे । सहसमुदिते समणे । परी-



सहोक्सगसहे त्ति देवेहि से कत्तं णामं समणे भगवं  
महावीरे । (आवचू १ पृ २४५)

महावीर के तीन नाम—

१. उनका माता-पिता के द्वारा प्रदत्त नाम था—  
वद्धमान ।
२. उन्हें सहज ज्ञान प्राप्त था, इसलिए वे समण  
कहलाए ।
३. भीम और अतिभयंकर परीषहों और उपसर्गों  
को सहने के कारण देवों ने उनका नाम श्रमण  
महावीर रखा ।

### ३१. महावीर का पूर्वभव : सम्यक्त्वप्राप्ति

पंथं किर देसित्ता साहूणं अडविक्खिप्पणट्टाणं ।

सम्मत्तपढमलंभो बोद्धव्वो वद्धमाणस्स ॥

अवरविदेहे तत्थ एमंमि गामंमि गामस्स चित्तओ (बला-  
हिओ) सो रायाएसवसेण सगडिसागडं गहाय एणं महं अडवि  
अणुपविट्ठो दासुगनिमित्तं, अन्ने य साधुणो सत्थपरिभट्टा...  
तव्हाए छुहाए य परज्झहिता तं देसं गता जत्थ सो  
सगडसंनिवेशो । सो य ते पासित्ता साधुणो महता संवेग-  
मावन्नो—अहो इमो साधुणो अदेसिया तवस्सिणो अडवि  
अणुपविट्टा, तेसिं सो अणुकंपाए विपुलं अन्नं पाणं दाऊणं  
भणति—एह भगवं ! जाहे पंथं समोतरेमि...एगो  
धम्मकहियलद्धिसपन्नो तस्स धम्मं कहेउमारद्धो,  
धम्मकहावसाणे य से उवगतं सम्मत्तं ।

(आवनि १४६ चू १ पृ १२८)

अपरविदेह के एक गांव का ग्रामचित्तक (बलाहक) राजा  
के आदेश से काष्ठ लाने के लिए गाड़ियां लेकर एक घने  
जंगल में गया । वहां कुछ ऐसे साधु थे, जो मार्ग भूल  
गये थे, भूख-प्यास से व्याकुल थे । मध्याह्न का समय  
था । वे सब उसी शकटसन्निवेश में गये । साधुओं को  
देख ग्रामचित्तक बहुत आनन्दित हुआ । उन्हें विपुल  
अन्न-पान से प्रतिलाभित कर सही मार्ग बताया । उन  
मुनियों में से एक धर्मकथालब्धिसम्पन्न मुनि ने धर्म का  
उपदेश दिया, जिसे सुन ग्रामचित्तक (महावीर के जीव)  
को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ ।

इक्खागेसु मरीई चउरासीई अ बंभलोगंमि ।  
कोसिउ कुल्लामंमी असीइमाउं च संसारे ॥  
थूणाइ पूसमित्तो आउं बावत्तरि च सोहम्मो ।  
चेइअ अग्गिज्जोओ चोवट्ठीसाणकप्पंमि ॥  
मंदिरे अग्गिभूई छप्पण्णा उ सणंकुमारंमि ।  
सेअवि भारद्वाओ चोआलीसं च माहिदे ॥

संसरिअ थावरो रायगिहे चउतीस बंभलोगंमि ।  
छस्सुवि पारिव्वज्जं भमिओ तत्तो अ संसारे ॥  
रायगिहे विस्सन्दी विसाहभूई अ तस्स जुवराया ।  
जुवरण्णो विस्सभूई विसाहनदी अ इअरस्स ।  
रायगिहे विस्सभूई...वाससहस्सं दिक्खा... ॥  
...महसुक्के उववण्णो तओ चुओ पोअणपुरंमि ॥  
पुत्तो पयावइस्सा मिआवईदेविकुच्छिसंभूओ ।  
नामेण तिविट्ठत्ती आई आसी दसाराणं ॥  
चुलसीईमण्णइट्ठे सीहो नरएसु तिरियमणुएसु ।  
पिअमित्त चक्कवट्ठी भूआइ विदेहि चुलसीई ॥  
पुत्तो धणंजयस्सा पुट्टिल परिआउ कोडि सव्वट्ठे ।  
णंदण छत्तग्गाए पणवीसाउं सयसहस्सा ॥  
पव्वज्ज पुट्टिले सयसहस्स सव्वत्थ मासभत्तेणं ।  
पुप्फुत्तरि उववण्णो तओ चुओ माहणकुल्लंमि ॥  
(आवनि ४४०-४५०)

महावीर के सत्ताईस भव—

१. बलाहक
२. सौधर्म देव
३. मरीचि (ऋषभ-पौत्र)
४. ब्रह्मलोक में देव ।
५. कौशिक ब्राह्मण (कोल्लाक सन्निवेश)
६. पुष्यमित्र ब्राह्मण (स्थूणा नगरी)
७. सौधर्म देव
८. अग्निद्योत ब्राह्मण (चैत्य सन्निवेश)
९. ईशानकल्पवारी देव ।
१०. अग्निभूति ब्राह्मण (मन्दिर सन्निवेश)
११. सनत्कुमार देव
१२. भारद्वाज ब्राह्मण (श्वेतविका नगरी)
१३. माहेन्द्र देव
१४. स्थावर ब्राह्मण (राजगृह)
१५. ब्रह्मकल्प में देव
१६. विश्वभूति (राजगृह)
१७. महाशुक्र देव
१८. त्रिपृष्ठ वासुदेव (पोतनपुर)
१९. सातवीं नरक
२०. सिंह
२१. नरक
२२. प्रियमित्र चक्रवर्ती
२३. महाशुक्र देव ।

२४. नन्दन राजा (छत्राग्र नगरी)

२५. प्राणत देव

२६. देवानन्दा का पुत्र }

२७. त्रिशला का पुत्र }

### ३२. महावीर का गर्भ-संहरण

माहणकुंडगामे कोडालसगुत्तमाहणो अत्थि ।  
तस्स घरे उववण्णो देवान्दाइ कुच्छिसि ॥  
...चउदस सुमिणे पासइ सा माहणी सुहपसुत्ता ।...  
अह दिवसे वासीई वसइ तहि माहणीइ कुच्छिसि ।  
चितइ सोहम्मवई, साहरिउं जे जिणं कालो ॥  
अरहंन चक्कवट्ठी बलदेवा चैव वासुदेवा य ।  
एए उत्तमपुरिसा न हु तुच्छकुलेसु जायति ॥  
उग्गकुलभोगखत्तिअकुलेसु इक्खामनायकोरव्वे ।  
हरिवंसे अ विसाले आयति तहि पुरिससीहा ॥  
अह भणइ णेगमेसि देविदो एस इत्थ तित्थयरो ।  
लोगुत्तमो महप्पा उववण्णो माहणकुलमि ॥  
खत्तिअकुंडगामे सिद्धत्थो नाम खत्तिओ अत्थि ।  
सिद्धत्थभारिआए साहर तिसलाइ कुच्छिसि ॥  
बाढं ति भाणिऊण वासारत्तस्स पंचमे पक्खे ।  
साहरइ पुव्वरत्ते हत्थुत्तर तेरसी दिवसे ॥  
(आवनि ४५७ भा ४७-५३)

महावीर प्राणतकल्प के पुष्पोत्तर विमान से ज्युत हो ब्राह्मणकुण्डग्राम में कोडाल सगोत्र ब्राह्मण ऋषभदत्त के घर में देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए, उस समय ब्राह्मणी ने गज, वृषभ आदि चौदह स्वप्न देखे ।

बयासी दिन के बाद सौधर्म देवलोक के इन्द्र ने हरिनैगमेपी को बुलाकर कहा—

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव असार कुलों में उत्पन्न नहीं होते । वे उत्तम पुरुष उग्र, भोग, क्षत्रिय, इक्ष्वाकु, जात, कौरव्य, हरिवंश आदि विशाल कुलों में उत्पन्न होते हैं । महावीर अपने पूर्व कर्मों के कारण ब्राह्मण कुल में आये हैं । तुम जाओ और उस गर्भ को क्षत्रियकुंडग्राम के क्षत्रिय सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला के गर्भ में रख दो ।

वह देव तत्काल वहाँ गया । उस दिन आश्विन कृष्णा त्रयोदशी थी । रात्रि के दूसरे प्रहर के अंत में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उसने गर्भ का संहरण कर त्रिशला के गर्भ में रख दिया ।

### चौदह स्वप्न

गयवसहसीहअभिसेयदामससिदिणयरं भयं कुंभं ।  
पउमसर सागर विभाणभवण रयणुच्चय सिहि च ॥  
एए चोदस सुमिणे पासइ सा तिसलया सुहपसुत्ता ।  
जं रयणि साहरिओ कुच्छिसि महायसो वीरो ॥  
(आवभा ५६,५७)

महारानी त्रिशला सुखशय्या में सो रही थी । जिस रात्रि को उसकी कुक्षि में महायज्ञस्वी महावीर का प्रक्षेपण हुआ, उस समय उसने चौदह स्वप्न देखे—

- |           |               |
|-----------|---------------|
| १. गज     | ८. ध्वज       |
| २. वृषभ   | ९. कुंभ       |
| ३. सिंह   | १०. पद्मसरोवर |
| ४. अभिषेक | ११. सागर      |
| ५. माला   | १२. विमान     |
| ६. चन्द्र | १३. रत्नराशि  |
| ७. सूर्य  | १४. अग्नि     |

तिहि नाणेहि समग्गो देवी तिसलाइ सो अ कुच्छिसि ।  
अह वसइ सण्णिगग्गो छम्मासे अद्धमासं च ॥  
(आवभा ५८)

महावीर त्रिशला देवी की कुक्षि में साढे छह महीनों तक रहे । उस समय वे मति, श्रुत और अवधि—इन तीनों ज्ञानों से सम्पन्न थे ।

### ३३. महावीर का परिवार

भगवतो माया चेडगस्स भगिणी । भोयी चेडगस्स धुया । पित्तिज्जए सुपासे । जेट्ठे भाता णंदिवद्धणे । भगिणी सुदंसणा । भारिया जसोया कोडिन्नागोत्तेणं । धूया कासवीगोत्तेणं । तीसे दो नामधेज्जा—अणोज्जगित्ति वा पियदंसणाति वा । णत्तुई कोसीगोत्तेणं । तीसे दो नामधेज्जा—जसवतीति वा सेसवतीति वा ।

(आवचू १ पृ २४५)

भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहिन थी । महावीर की भाभी (नंदीवर्धन की पत्नी) चेटक की पुत्री थी ।

महावीर के चाचा सुपाश्वर, ज्येष्ठ भ्राता नंदीवर्धन, ज्येष्ठ भगिनी सुदर्शना—ये सभी काश्यपगोत्रीय थे । महावीर की पत्नी यशोदा कोडिन्निगोत्रीय थी । महावीर की पुत्री काश्यपगोत्रीय थी । उसके दो नाम थे—अनवद्या, प्रियदर्शना । महावीर की दौहित्री कौशिकगोत्रीय

थी। उसके दो नाम थे—शेषवती, यशस्वती।

तिहिरिक्खंमि पसत्थे महंतसामंतकुलपसूआए।

कारंति पाणिग्रहणं जसोअवरारायकण्णाए॥

(आवभा ७९)

प्रशस्त तिथि-नक्षत्र में महान् सामंत कुल में प्रसूत राजकन्या यशोदा के साथ महावीर का पाणिग्रहण हुआ।

### ३४. महावीर की तपस्या

नव किर चाउम्मासे छविकर दोमासिए उवासीय।

वारस य भासियाइं बावत्तरि अद्धमासाइं॥

एमं किर छम्मासं दो किर तेमासिए उवासीय।

अड्ढाड्ज्जाइ दुवे दो चेव दिवड्ढमासाइं॥

भइं च महाभइं पडिमं तत्तो य सव्वओभइं।

दो चत्तारि दसेव य दिवसे ठासीय अणुबद्धं॥

गोयरमभिग्गहजुयं खमणं छम्मासियं च कासीय।

पंचदिवसेहि ऊण अब्बहिओ वच्छनयरीए॥

दस दो य किर महप्पा ठाइ मुणी एगराइयं पडिमं।

अट्टमभत्तेण जई एककेक्कं चरमराइयं॥

दो चेव य छट्ठसए अउणातीसे उवासिया भगवं।

न कयाइ तिच्चभत्तं चउत्थभत्तं च से आसि॥

वारस त्रासे अहिए छट्ठं भत्तं जहण्णयं आसि।

सव्वं च तवोकम्मं अपाणयं आसि वीरस्स॥

तिग्णि सए दिवसाणं अउणावण्णं तु पारणाकालो।

उक्कुड्ढनिसेज्जाणं ठियपडिमाणं सए बहुए॥

(आवनि ५२८-५३५)

भगवान् ने नौ बार चार मास का उपवास किया। छह बार दो मास का उपवास किया। बारह बार एक मास का उपवास किया। बहुतर बार पन्द्रह दिन का उपवास किया।

एक बार छह मास का उपवास किया। दो बार तीन मास का उपवास किया। दो बार ढाई मास का उपवास किया। दो बार डेढ़ मास का उपवास किया।

भद्र प्रतिभा (दो दिन की), महाभद्र प्रतिभा (चार दिन की), सर्वतोभद्र प्रतिभा (दस दिन की) एक-एक बार की।

एक बार भगवान् ने आहार प्राप्ति के लिए अभिग्रह किया। वह अभिग्रह पांच मास और पच्चीस दिन तक पूरा नहीं हुआ। भगवान् विचलित नहीं हुए। आखिर

वह कौशांबी नगरी में चन्दनबाला के हाथ से दान लेने पर पूर्ण हुआ।

भगवान् ने बारह तैले (तीन दिन का उपवास) किए। प्रत्येक तैले के अंत में एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा की आराधना की।

भगवान् ने २२९ बेले (दो दिन का उपवास) किए। साधनाकाल में भगवान् ने भोजन नित्य नहीं किया और न चतुर्थभक्त (एक दिन का उपवास) ही किया।

साधिक बारह वर्षों की अवधि में भगवान् का न्यूनतम तप बेला था। उनकी सारी तपस्या चौबिहार (निर्जल) थी।

भगवान् ने साढ़े बारह वर्ष की अवधि में केवल ३४९ दिन आहार किया। उन्होंने उकड़ू निषद्या और खड़े-खड़े प्रतिमा करने का सैंकड़ों बार प्रयोग किया।

### ३५. महावीर का साधना काल

#### पांच अभिग्रह

सामी विहरमाणो गतो मोरागं संनिवेशं...इमे य तेण पंच अभिग्रहा गहिता, तं जहा—अचियत्तोग्गहे ण वसितव्वं, तिच्चं बोसट्ठे काए मोणं च, पाणीसु भोत्तव्वं, ...गिहत्थी न वंदियव्वो न अब्भुट्ठेयव्वोत्ति।

(आवचू १ पृ २७१, २७२)

महावीर की साधना का प्रथम वर्ष। मोराक सन्निवेश में महावीर ने पांच अभिग्रह धारण किये—

१. मैं अप्रीतिकर स्थान में नहीं रहूंगा।
२. शरीर की सार-संभाल नहीं करूंगा।
३. मौन रहूंगा।
४. हाथ में भोजन करूंगा।
५. गृहस्थ का अभिवादन और अभ्युत्थान नहीं करूंगा।

#### सूलपाणियसकृत उपसर्ग

अट्टितगामे वाणमंतरधरे। जो रत्ति परिवसति तत्थ सो सूलपाणी संनिहितो तं रत्ति वाहेत्ता पच्छा मारेति, ताहे तत्थ लोगो दिवसं अच्छिऊणं पच्छा विशाले अन्नत्थ वच्चति...सामी आगतो दूइज्जंतगाण पासतो... भणति—ट्टाह, तत्थेक्केक्का वसहि वेति, सामी णेच्छति, भगवं जाणति—सो संबुज्जिह्हित्ति, ताहे गंता एगकोणं पडिमं ठितो।

(आवचू १ पृ २७३)

महावीर की साधना का प्रथम वर्ष। अस्थिकग्राम।

वहाँ एक व्यंतरगृह में शूलपाणि यक्ष रहता था। जो कोई रात्रि में वहाँ प्रवास करता, उसे पहले वह कष्ट देता और फिर मार देता। इसलिए उधर आने वाले राहगीर दिन में वहाँ ठहरकर संध्या के समय अन्यत्र चले जाते। भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए वहाँ आए।

महावीर ने व्यंतरगृह में रहने की अनुमति मांगी। लोगों ने कहा—आप यहाँ रह नहीं सकेंगे। हमारी बस्ती में आप ठहरें। महावीर ने इसे अस्वीकार कर दिया। क्योंकि वे जानते थे कि वहाँ रहने से यक्ष को संबोध प्राप्त होगा। अतः व्यंतरगृह में रहने की अनुमति प्राप्त कर महावीर उसमें गए और एक कोने में ध्यानप्रतिमा में स्थित हो गए।

भीमदृहास हृथी पिसाय नागे य वेदणा सत्त ।  
सिरकण्णनासदन्ते नहञ्छ्ठी पट्टीय सत्तमिआ ॥

(आवभा ११२)

सन्ध्या को भयंकर अदृहास करता हुआ यक्ष महावीर को भयभीत करने लगा। अदृहास से जब महावीर भयभीत नहीं हुए तब वह हाथी का रूप बनाकर उपसर्ग करने लगा। उससे भी भयभीत नहीं हुए तब उसने पिशाच का रूप बनाया। इतना करने पर भी जब वह महावीर को क्षुब्ध न कर सका तो उसने प्रभात काल में सात प्रकार की वेदना—सिर, कान, आंख, दांत, नख, नाक और पीठ में उत्पन्न की। साधारण व्यक्ति के लिए एक-एक वेदना भी प्राणलेवा थी। किन्तु भगवान् उन सबको सहते रहे। आखिर प्रभु को विचलित करने में स्वयं को असमर्थ पा यक्ष महावीर के चरणों में गिर कर बोला—पूज्य ! मुझे क्षमा करें।

महावीर के महास्वप्न

तालपिसायं दो कोइला य दामदुगमेव गोवर्गं ।  
सर सागर सूरते मन्दर सुविणुपले चव ॥  
मोहे य भाण पवयण धम्मे संघे य देवलोए य ।  
संसारं णाण जसे धम्मं परिसाए मज्झंमि ॥

(आवभा ११३, ११४)

सामी य देसूणत्तारि जामे अतीव परितावित्तो समाणो पभायकाले मुहुत्तमेत्तं तिदापमादं गत्तो । तत्थिमे दस महासुमिणे पासित्ताणं पडिबुद्धो ।...उप्पलो वि सारिंमि दट्ठुं पहट्ठो वंदति, ताहे भणति—सामी ! तुब्भेहि अंतिमरातीए दस सुमिणा दिट्ठा, तेसि इमं फलंति—

जो तालपिसायो हतो तमचिरेण मोहणिज्जं उम्मूले-  
हिसि ।...दामदुगं पुण ण जाणामि । सामी भणति—  
हे उप्पला ! जं णं तुमं न याणसि तं णं अहं दुविहम-  
गाराणगारियं धम्मं पन्नवेहामि ।

(आवचू १ मृ २७४, २७५)

शूलपाणि के द्वारा भगवान् को कुछ न्यून चार प्रहर तक अतीव परिताप दिया गया। फलतः प्रभातकाल में भगवान् को मुहूर्त मात्र नींद आ गई। निद्राकाल में महावीर ने दस स्वप्न देखे और जाग गए। महानैमित्तिक उत्पल ने महावीर की वन्दना की और बोला—स्वामिन् ! आपने रात्रि के अन्तिम प्रहर में दस स्वप्न देखे, उनका फलादेश इस प्रकार है—

१. तालपिशाच—आपने तालपिशाच को पराजित होते हुए देखा। उसके फलस्वरूप आप शीघ्र ही मोहनीय कर्म का उन्मूलन करेंगे।
२. श्वेत पुंस्कोकिल—आपने श्वेत पंख वाले पुंस्कोकिल को देखा। उसके फलस्वरूप आप शुक्ल-ध्यान को प्राप्त होंगे।
३. विचित्र पुंस्कोकिल—आपने विचित्र पंख वाले पुंस्कोकिल को देखा। उसके फलस्वरूप आप द्वादशांगी की प्ररूपणा करेंगे।
४. दामद्विक—उत्पल ने कहा—आपने स्वप्न में जो दो मालाएं देखी हैं, उनका फल मैं नहीं जानता। महावीर ने कहा—उत्पल ! जिसे तुम नहीं जानते हो, वह यह है—मैं दो प्रकार के धर्म—अगारधर्म और अनगारधर्म का प्ररूपण करूंगा।
५. गोवर्म—आपने श्वेत गोवर्ग देखा है। उसके फलस्वरूप आपके चतुर्वर्णात्मिक श्रमणसंघ होगा।
६. पद्मसरोवर—आपने चहुंओर से कुसुमित विशाल पद्मसरोवर देखा है। उसके फलस्वरूप आपकी परिषद् में चतुर्विध देवों का समवाय होगा अथवा आप चतुर्विध देवों की प्ररूपणा करेंगे।
७. महासागर—आपने भुजाओं से महासागर को तैरते हुए आपने आपको देखा। उसके फलस्वरूप आप संसारसमुद्र का पार पाएंगे।
८. सूर्य—आपने तेज से जाज्वल्यमान सूर्य को देखा है। उसके फलस्वरूप आपको शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होगा।

९. अन्त्र—आपने अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित देखा है। उसके फलस्वरूप सम्पूर्ण त्रिभुवन में आपका निर्मल यश, कीर्ति और प्रताप फैलेगा।

१०. मन्दरगिरि—आपने अपने को मंदराचल पर आरूढ़ देखा है। उसके फलस्वरूप आप सिंहासनस्थ होकर देव, मनुष्य और असुर परिषद् के बीच धर्म का आख्यान करेंगे।

### विशिष्ट अवधिज्ञान

ततो सामी सालीसीसयं णाम गामो तहि गतो । तत्थ उज्जाणे पडिमं ठितो । माहमासो य वट्टति । तत्थ कडपूयणा वाणमंतरी...सा य किल तिविट्ठुकाले अंते-पुरिया आसि । ण य तदा पडियरिथत्ति पदोसं वट्टति । तं दिव्वं वेयणं अहियासंतस्स भगवतो ओही विगसिओ । सर्व्वं लोमं पासितुमारद्धो । सेसं कालं गम्भातो आद्धवेत्ता जाव सालिसीसं ताव सुरलोगप्पमाणो ओही एक्कारस य अंगा सुरलोगप्पमाणमेत्ता, जावतियं देवलोमेषु पेच्छिताइता । (आवचू १ पृ २९२, २९३)

साधना का छठा वर्ष। महावीर शालिशीर्ष ग्राम में गए। उद्यान में प्रतिमा में स्थित हो गए। माघ का महीना था। कटपूतना नाम की वाणमंतरी वहाँ आई। ...त्रिपुष्ठ वासुदेव के भव में वह उनके अंतःपुर की एक रानी थी। उस समय सम्यक् प्रकार से परिचर्या न होने के कारण वह त्रिपुष्ठ के प्रति द्वेष से भर गई।

कटपूतना द्वारा दी गई वेदना महावीर सहन कर रहे थे। ऐसा करते-करते महावीर का अवधिज्ञान अधिक विकसित हो गया। उससे वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे। इससे पूर्व गर्भकाल से लेकर जब वे शालिशीर्ष ग्राम में पहुँचे तब तक उनका अवधिज्ञान देवलोक तक जान सके उतना ही था। उनके शरीर के ग्यारह अंग (करण अथवा चैतन्यकेन्द्र) अतीन्द्रियज्ञान के साधन थे। उनसे वे देवलोक तक के पदार्थों का ज्ञान कर लेते थे।

### महावीर की प्रतिमा साधना

ततो साणुलट्टितं णाम गामं गतो, तत्थ भद्दं पडिमं ठाति । केरिसिया भद्दा ? पुव्वाहुत्तो दिवसं अच्छत्ति, पच्छा रत्ति दाहिणहुत्तो अवरेण दिवसं उत्तरेण रत्ति, एवं छट्ठेण भत्तेण णिट्ठिता । तहवि ण चैव पारेत्ति, अपारितो चैव महाभद्दं ठाति, सा पुण पुव्वाए दिसाए अहोरत्तं, एवं

चउसुवि चत्तारि अहोरत्ता, एवं दसमेण णिट्ठिता । ताहे अपारितो चैव सर्व्वतोभद्दं पडिमं ठाति, सा पुण सर्व्वतो-भद्दा इदाए अहोरत्तं, पच्छा अग्गेयाए, एवं दससुवि दिसासु सर्वासु, विमलाए जाइं उड्ढलोत्तियाणि दव्वाणि ताणि भाति, तमाए हिट्ठिल्लाइं ।

(आवचू १ पृ ३००)

श्रावस्ती में दसवां चातुर्मास पूर्ण कर महावीर साणुलट्टित ग्राम में गए। वहाँ भद्र प्रतिमा की।

भद्र प्रतिमा का स्वरूप—दिन में पूर्व की ओर खड़े रहकर ध्यान करते, रात को दक्षिण दिशा की ओर खड़े रहकर ध्यान करते। दूसरे दिन पश्चिम दिशा की ओर खड़े रहकर ध्यान करते और रात्रि में उत्तर दिशा की ओर खड़े रहकर ध्यान करते। इस प्रकार भद्र प्रतिमा में दो दिन और दो रात का ध्यान तथा वेले की तपस्या की।

उसे संपन्न करने से पूर्व ही महावीर महाभद्र प्रतिमा में स्थित हो गए। महाभद्र प्रतिमा में चार दिन-रात का ध्यान और चौले (चार दिन का उपवास) की तपस्या की।

महाभद्र प्रतिमा को पूर्ण करने से पूर्व ही महावीर सर्वतोभद्र प्रतिमा में स्थित हो गए। सर्वतोभद्र प्रतिमा में दस दिन-रात का ध्यान और दस दिन की तपस्या की।

महावीर विमला (ऊर्ध्वदिशा) में ध्यान करते तब ऊर्ध्वलोकवर्ती द्रव्यों का ध्यान करते। तमा—अधोदिशा में ध्यान करते तो अधोलोकवर्ती द्रव्यों का ध्यान करते।

### संगमकृत उपसर्ग

सोहम्मकप्पवासी देवो सक्कस्स सो अमरिसेणं । सामाणिअ संगमओ वेइ सुरिदं पडिनिविट्ठो ॥ तेलोक्कं असमत्थत्ति बेह एतस्स चालणं काउं । अज्जेव पासह इमं मम वसगं भट्टजोगतवं ॥ अह आगओ तुरंतो देवो सक्कस्स सो अमरिसेणं । कासी य हउवसगं मिच्छट्ठिट्ठी पडिनिविट्ठो ॥ धूली पिवीलिआओ उहंसा चैव तह्य उपहोला । विच्छय नउला सप्पा य मूसगा चैव अट्टमगा ॥ हत्थी हत्थीणिआओ पिसायए घोररूव वग्घो य । थेरो थेरीइ सुओ आगच्छइ पक्कणो य तहा ॥ खरवाय कलंकलिया कालचक्कं तहेव य । पाभाइय उवसग्गे वीसइमो होइ अणुलोमो ॥

सामाणिअदेवहिं देवो दावेइ सो विमाणगओ ।  
भणइ य बरेह महिरसि ! निष्फत्ती संगमोवखाणं ॥  
उवहयमइविण्णाणो ताहे वीरं बहुप्पसाहेउं ।  
ओहीए निज्झाइ भायइ छज्जीवहियमेव ॥

(आवनि ४९९-५०६)

सौधर्मकल्प सभा में संगम नाम का एक सामानिक देवता था। वह अभव्य था। उसने कहा - देवराज इन्द्र ने जो यह कहा कि महावीर को कोई विचलित नहीं कर सकता, वे रागवश ऐसा कथन कर रहे हैं। ऐसा कौन मनुष्य है जिसे देवता विचलित न कर सकें। मैं उसे आज ही विचलित कर दूंगा।

इन्द्र ने सोचा— मैं अगर रोकूंगा तो उसका अर्थ होगा, महावीर दूसरों के सहारे तपस्या कर रहे हैं। इन्द्र मौन रहा। संगम महावीर के पास आया। उनकी साधना का ग्यारहवां वर्ष चल रहा था।

संगम ने सर्वप्रथम वज्रधूलि की वर्षा की। आंख, कान आदि सब इन्द्रियस्रोत धूल से भर गए। श्वास लेना भी कठिन हो गया। पर महावीर अपने ध्यान से तिलतुषभाग मात्र भी विचलित नहीं हुए।

जब वह थक गया तो उस माया को समेट चींटियों का निर्माण किया। वे वज्रमुखी थीं। वे शरीर के चारों ओर चढ़कर महावीर को खाने लगीं। वे शरीर के एक स्रोत से प्रविष्ट हो, दूसरे स्रोत से बाहर आतीं। उन्होंने महावीर के शरीर को चलनी बना दिया। पर महावीर विचलित नहीं हुए।

खटमल का निर्माण किया। वे वज्रमुखी थे। वे एक ही प्रहार में शरीर से खून निकाल देते।

महावीर विचलित नहीं हुए। उसने तिलचट्टों का निर्माण किया। वे तीखे मुख से महावीर के गहरा डंक लगाते।

जैसे-जैसे उपसर्ग होते, महावीर वैसे-वैसे ध्यान में और अधिक आत्मलीन होते। उन्होंने चिंतन किया— यह सब तुमने ही किया है। शुद्ध आत्मा के लिए कोई दंड नहीं होता।

संगम ने बिच्छुओं का निर्माण किया। वे डंक लगाने लगे।

नेवलों का निर्माण किया। वे तीक्ष्ण दाढ़ों से महावीर को काटते और मांस के टुकड़े ले जाते।

विषैले और श्लोधी सर्पों का निर्माण किया। वे उग्र-विष थे। शरीर में दाहज्वर पैदा करने वाले थे।

चूहों का निर्माण किया। वे अपनी तीक्ष्ण दाढ़ों से महावीर को काटते। मांस निकाल देते और शरीर पर मल-मूत्र विसर्जित कर देते। महावीर को इससे अतुल वेदना हुई।

हाथी का निर्माण किया। हाथी ने सूंड में पकड़कर महावीर को आकाश में सात-आठ तल ऊपर उछाला। दंतमूसल से पकड़ा और फिर भूमि पर गिराया। पहाड़-से भारी-भरकम पांवों से रौंदा।

हथिनी का रूप बनाया। हथिनी ने सूंड और दांतों से महावीर को बींधा, चीरा, मूत्र विसर्जित किया और उस मूत्रकीचड़ में पांवों से रौंदा।

पिशाच का रूप बनाया। उपसर्ग करने लगा। व्याघ्र का रूप बनाया। दाढ़ों और नखों से महावीर को विदारित करने लगा और फिर क्षारयुक्त मूत्र विसर्जित कर दिया।

अपने लक्ष्य में सफल न होने पर उसने राजा सिद्धार्थ का रूप बनाया और हृदयविदारक रुदन करने लगा— पुत्र ! आओ ! हमारा रुदन सुना। हमें मत छोड़ो।

फिर त्रिशला का रूप बनाकर निवेदन किया। रसोइए का रूप बनाया। शिविर की रचना की। महावीर के चारों ओर अपना आवास बना लिया। रसोइए को खाना बनाने के लिए इधर-उधर पत्थर नहीं मिला तो उसने महावीर के दोनों पैरों के मध्य तीव्र अग्नि जलाई। उस पर पात्र रखकर भोजन पकाने लगा।

चंडाल का रूप बनाया। महावीर की भुजाओं, गले एवं कानों में पक्षियों के पिंजरे लटका दिए। पक्षी चोंचों से महावीर के शरीर को काटते, बींधते और वहीं मल-मूत्र विसर्जित कर देते।

प्रचंडवात का निर्माण किया। ऐसी प्रचंडवात जो मेह पर्वत को हिला सके। पर महावीर विचलित नहीं हुए तो उन्हें उठा-उठाकर नीचे गिराया।

चक्राकार हवा चलाई। उसमें महावीर का शरीर बेंत की तरह कंपित होने लगा।

कालचक्र का निर्माण कर संगम आकाश में स्थित हुआ और सोचा— यह चक्र मेह पर्वत को भी चूर-चूर कर सकता है। मैं इस चक्र को महावीर पर फेंकूँ। कालचक्र के प्रहार से महावीर हाथों के नख तक भूमि में धंस गए।

इन उपायों से महावीर को मारा नहीं जा सकता, यह सोच संगम अनुकूल उपसर्ग करने लगा। उसने सामानिक देवता की ऋद्धि दिखाई और देवविमान में स्थित होकर बोला—महर्षि! आपकी तपस्या सिद्ध हो गई है। आप स्वर्ग और मोक्ष की ऋद्धि का वरण करें।

प्रभात का निर्माण किया। सब लोग इधर-उधर घूमने लगे। उसने महावीर को संबोधित कर कहा—अब तक आप यहीं ठहरे हुए हैं। महावीर काल को जानते थे। उन्होंने जान लिया कि यह प्रभात स्वाभाविक नहीं, कृत्रिम है। यह संगम कृत बीसवां उपसर्ग था।

जब संगम महावीर को विचलित न कर सका तो लौट गया और सोचा कल फिर उपसर्ग करूंगा।

दूसरे दिन संगम पुनः उपसर्ग करने लगा। प्रभात होने पर महावीर बालुका ग्राम की ओर गए। संगम ने ५०० चोरों का निर्माण कर महावीर को उपसर्ग दिए।

महावीर बालुका ग्राम में गए। वहां भिक्षा के लिए घूमने लगे।

बालुका ग्राम से सुभूम गए। इन सभी ग्रामों में संगम ने उपसर्ग किए।

सुभूम से महावीर सुक्षेत्र ग्राम में गए। जब वे भिक्षा के लिए गए तो संगम बहुरूपिए का रूप बना जोर-जोर से हंसने और गाने लगा। अश्लिष्ट भाषा बोलने लगा। पीटने लगा।

महावीर मलय ग्राम में गए। संगम ने पिशाच का रूप बना उपसर्ग किए।

महावीर हस्तिशीर्ष ग्राम में गए। वहां भिक्षा के समय संगम ने उपसर्ग किए।

महावीर तोसलि गए और ग्राम के बाहर प्रतिमा में स्थित हो गए। संगम ने बाल साधु का रूप बना यहां भी उपसर्ग किया।

महावीर मोसलि गए। वहां भी बाल साधु का रूप बना उपसर्ग किया।

महावीर पुनः तोसलि आए। ग्राम के बाहर प्रतिमा में स्थित हो गए। संगम ने बालसाधु का रूप बनाया। गांव के घरों में सेंध लगाई। इधर-उधर देखा और सेंध लगाने के उपकरण महावीर के पास लाकर रख दिए।

लोगों ने बाल-साधु को पकड़ा और पूछा—तुम यहां क्या खोज रहे हो ?

वह बोला—मेरे धर्माचार्य के पैरों में रात को कांटा न लग जाए क्योंकि वे रात को सेंध लगाने के लिए आते हैं।

लोगों ने पूछा—कहां हैं तुम्हारे धर्माचार्य ? उसने बताया। लोग गए। महावीर को देखा। चारों ओर रखे शस्त्र देखे। महावीर को बंदी बनाया, ग्रामाधिपति के पास लाए और फांसी के फंदे पर चढ़ाया।

एक ओर से फंदे की रस्सी टूट गई। इस प्रकार सात बार फंदा बांधा और हर बार फंदे की रस्सी एक सिरे से टूट गई।

लोगों ने यह बात तोसलि ग्राम के अधिपति क्षत्रिय से कही।

ग्राम के अधिपति ने कहा—छोड़ो इसे। यह निर्दोष है।

महावीर सिद्धार्थपुर ग्राम में गए। वहां भी संगम ने उपसर्ग किया।

महावीर व्रजग्राम के गोकुल में गए। उस दिन गांव में उत्सव था। सब घरों में खीर बनाई गई थी। संगम देव को उपसर्ग करते हुए लम्बा समय हो गया।

महावीर ने सोचा—छह महीने बीत गए हैं। वह कहीं चला नहीं गया है। उसी समय संगम आया और उसने भोजन को अनेपणीय बना दिया।

महावीर ने अपने ज्ञानबल से देखा और भिक्षा किए बिना ही लौट आए, प्रतिमा में स्थित हो गए।

संगम ने अपने अवधिज्ञान से देखा कि महावीर के परिणाम कुछ भग्न हुए हैं या नहीं ?

महावीर के परिणाम उतने ही विशुद्ध थे, जितने छह मास पूर्व। वे छह जीविकाय के सभी जीवों का हितचिंतन कर रहे थे।

संगम यह देख अपने कार्य से निवृत्त हुआ। वह महावीर को विचलित करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने सोचा—जो महावीर छह माह तक उपसर्ग करने पर भी विचलित नहीं हुए, उन्हें दीर्घकाल में भी विचलित नहीं किया जा सकता।

संगम महावीर के पैरों में गिरा और बोला—वह सत्य है, वह सत्य है। इन्द्र ने जो कहा, वह सत्य

हे ! भते ! मैंने जो कुछ किया, उस सबके लिए क्षमा-याचना करता हूँ ।

भगवन् ! मैं भग्नप्रतिज्ञ हूँ, आप यथार्थप्रतिज्ञ हैं । आप पधारें और पारणा करें । भगवन् ! मैं अब उपसर्ग नहीं करूँगा ।

महावीर ने कहा—हे संगम ! मैं किसी के वक्तव्य की अपेक्षा नहीं रखता । मैं अपनी इच्छा से ही आता हूँ और अपनी इच्छा से ही जाता हूँ ।

दूसरे दिन महावीर गांव में भिक्षा के लिए गए । एक बृद्धा स्वालिन ने वासी खीर का दान दिया । पांच दिव्य प्रकट हुए ।

उस दिन सौधर्म देवलोक के सभी देव उद्विग्न से बैठे थे । संगम सौधर्म देवलोक में गया ।

उसे देख शक्र पराङ्मुख हो देवों से बोला - हे देवो ! सुनो, यह दुरात्मा है । इसने न तो मेरी और न दूसरे देवों के चित्त की अनुपालना की है । यह तीर्थंकर का प्रत्यनीक है । यह हमारे किसी काम का नहीं है । यह बातचीत करने योग्य भी नहीं है । इसे देवलोक से निष्कासित कर दो ।

इन्द्र ने संगम को पैर से लताड़ कर निकाल दिया ।

### महावीर का प्रमादकाल

वारसवासे अहिए तवं चरंतस्स वद्धमाणस्स ।

जो किर पमायकालो अंतमुहुत्तं तु संकलिअं ।

....ऋषभनाम्नो भगवत आचरतो यः....प्रमादकालः....अप्रमादगुणस्थानस्थान्तरमौहूर्त्तिकत्वेनानेकशोऽपि प्रमाद-प्राप्तौ तदवस्थितिषण्यभूतस्थान्तर्मुहूर्त्तस्यासंख्येयभेदत्वा-त्तेषामतिसूक्ष्मतया सर्वकालसंकलनायामप्यहोरात्रभेवा-भूत् ।....वर्द्धमानस्य यः किल प्रमादकालः.... इहाप्यन्तर-मुहूर्त्तानामसंख्येयभेदत्वात्प्रमादस्थिति-विषयान्तर्मुहूर्त्तानां सूक्ष्मत्वं, संकलनान्तर्मुहूर्त्तस्थ च बृहत्तरत्वमिति भाव-नीयम् । अन्ये त्वेतदनुपपत्तिभीत्या निद्राप्रमाद एवायं विवक्षित इति व्याचक्षते । (उनि ५२४ शावृ प ६२०)

भगवान् ऋषभ का संकलनात्मक प्रमादकाल एक अहोरात्र का है । भगवान् महावीर ने बारह वर्ष तेरह पक्ष तक तपःसाधना की । इस कालखंड में उनके प्रमाद-काल को संकलित किया जाये तो वह अन्तर्मुहूर्त्त का होता है ।

तीर्थंकर अप्रमत्त होते हैं, किंतु अप्रमत्तसंयत

गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त होने से अनेक बार प्रमाद की स्थिति प्राप्त होती है । अप्रमत्तसंयत का अन्तर्मुहूर्त्त असंख्येय प्रकार का है । प्रमाद की स्थिति वाला अन्तर्मुहूर्त्त सूक्ष्म होता है, किन्तु पूरे प्रमादकाल का संकलन करने पर बृहत्तर अन्तर्मुहूर्त्त हो जाता है । एक मान्यता के अनुसार इसे निद्राप्रमाद कहा गया है ।

### ३६. कैवल्यप्राप्ति

ताहे सामी जंभियगामं णाम णगरं गतो, तस्स बहिया वियावत्तस्स चेतियस्स अदूरसामते...उज्जुयालि-याए णदीए तीरंमि उत्तरिल्ले कूले सामागस्स गाहा-वत्तस्स कट्टुकरणसि...सालपादवस्स अहो उक्कुडुयणि-सेज्जाए गोदोहियाए आतावणाए आतावेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं अणुत्तरेणं णाणेणं अणुत्तरेणं दंसणेणं अणुत्तरेणं चरित्तेणं...अप्याणं भावेमाणस्स दुवालसंहि संवच्छरेहि वितिककतेहि तेरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स वडसाहमुद्धदसमीए पादीणगामिणीए छायाए अभिनिव्वट्टाए पोहसीए पमाणपत्ताए सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तराहि नक्खत्तेणं जोगमुवागतेणं ऋणंतरियाए वट्टमाणस्स एकत्तवितक्कं बोलीणस्स सुहुम-किरियं अणियट्टिमपत्तस्स अणत्ते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने । (आवचू १ पृ ३२२, ३२३)

जृ भिकग्राम के बाहर, व्यावृत्त चैत्य । ऋजुबालिका नदी का उत्तरी तट । श्यामाक गृहपति का खेत । शाल-वृक्ष के नीचे । महावीर पहले उत्कटुक आसन में बैठे, फिर गोदोहिका मुद्रा में आतापन । दो दिन का निर्जल उपवास ।

अनुत्तर ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य से अपने आपको भ वित करते हुए बारह वर्ष बीत गए । तेरहवां वर्ष चल रहा था । वैशाख मास का शुक्ल पक्ष । दसवीं तिथि । पूर्वगामिनी छाया । चतुर्थ प्रहर । सुव्रत दिवस । विजय मुहूर्त्त । उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का योग । ध्यानकोष्ठक में प्रविष्ट । शुक्ल ध्यान की अंतरिका में वर्तमान— एकत्ववितर्क अविचार (शुक्ल ध्यान का दूसरा भेद) के पूर्ण होने पर, सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान की प्राप्ति से पूर्व अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याहृत, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।



### ३७. महावीर की देशना

उप्पण्णमि अणते नट्ठमि थ छाउमत्थिए नाणे ।  
राईए संपत्तो महसेणवणमि उज्जाणे ॥  
...धीयपि समोसरणं पावाए मज्झिमाए उ ॥

जाहे सामिस्स केवलनाणं उप्पन्नं ताहे इंदादीया देवा सव्विड्डीए हट्टुत्तुणा णाणुप्पादमहिमं करेति । तत्थ भगवं जाणति—णत्थिए एत्थ पव्वयंततो, जत्थ नत्थिए पव्वयंततो तत्थ ण पवत्तिउज्जति । ततो य बारसेहिं जोयणेहिं मज्झिमा नाम नगरी, तत्थ सोमिलज्जो नाम माहणो, सो जन्नं जयइ, तत्थ य एक्कारस अज्जावगा आगता भवियरासी थ । ताहे सामी तत्थ मुहुत्तं अच्छति जाव देवा पूयं करेति । एस केवलकप्पो किर जं उप्पन्ने नाणे मुहुत्तमेत्तं अच्छयव्वं, ताहे सामी रत्तीय तं वच्चति । तत्थ वच्चतो असंखेज्जाहिं देवकोडीहिं परिवुडो देवुज्जो-एण सव्वो पंथो उज्जोवितो जथा दिवसो । जत्थ भगवतो पादा तत्थ देवा सत्त पउमाणि सहस्सपत्ताणि णवणीत-फासाणि विउव्वंति । मग्गतो तिन्नि, पुरओ तिन्नि, एगं पायणिककमे । एगे भणति...मग्गतो सत्त, दो पावेसु, एवं नव । एवं जाव मज्झिमाए णगरीए महसेण-वणं उज्जाणं संपत्तो । तत्थ देवा वितियं समोसरणं करेति महिमं च सूरुग्गमणे । एगं जत्थ नाणं, बिंतियं इमं चैव । (आवनि ५३९, ५४० चू १ पृ ३२४)

महावीर की छद्मस्थ अवस्था का अंत । केवलज्ञान की प्राप्ति । देव-देवेन्द्रों द्वारा ज्ञान-उत्पाद-महोत्सव । भगवान् ने जान लिया कि यहां कोई प्रव्रजित होने वाला नहीं है । जहां ऐसी स्थिति हो, वहां प्रवचन नहीं करना चाहिये । यहां (जूंभिकग्राम) से बारह योजन दूर मध्यमा नगरी है, जहां सोमिल ब्राह्मण यज्ञ कर रहा है । उस यज्ञ में ग्यारह भवसिद्धिक अध्यापक ब्राह्मण आये हुए हैं । अतः मुझे वहां जाना है—यह सोच महावीर मुहूर्त-भर वहां ठहरे, किञ्चित् देशना दी । देवों ने अर्चा की । जहां कैवल्य उत्पन्न हो, वहां मुहूर्तभर ठहरना केवली का आचार है । रात्रि में ही महावीर वहां से चल पड़े । संख्यातीत देवों ने मार्ग को दिवस की भांति प्रकाश से भर दिया । अर्हत् ने जहां चरणन्यास किया वहां देवों ने पूरे मार्ग में नवनीत से कोमल स्पर्श वाले सात-सात कमलों की रचना की । पार्श्व में तीन कमल, आगे तीन कमल और पादक्षेप पर एक—इस प्रकार सात कमल पूरे मार्ग में विकुवित थे । कुछ मानते हैं कि पार्श्व में

सात कमल और दो परों के नीचे दो कमल—इस प्रकार नौ कमल विकुवित थे । भगवान् मध्यमा पावा के महा-सेनवन उद्यान में पहुंचे । देवताओं ने वहां समवसरण की की रचना की और सूर्योदय के समय तीर्थकर की स्तुति-पूजा की । यह दूसरा समवसरण था । पहला समवसरण केवलज्ञान की प्राप्ति के समय किया था । इस दूसरे समवसरण में इन्द्रभूति आदि ग्यारह वेदविद् दीक्षित हुए, चार तीर्थ की स्थापना हुई ।

### ३८. महावीर की शिष्य संघदा

समणस्स णं भगवतो महावीरस्स इंदभूतिपामो-क्खाओ चोद्दससमणसाहस्सीओ, अज्जाचंदणापामोक्खाओ छत्तीसं अज्जियासाहस्सीओ, संखसतगपामोक्खाणं समणो-वासगाणं एगा सयसाहस्सी अउणट्ठि च सहस्सा, सुलसारे-वतिपामोक्खाणं समणोवासियाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ अट्टारस य सहस्सा, तिन्नि सया चोद्दसपुव्वीणं, तेरस सया ओहिन्नाणीणं, सत्त सया केवलनाणीणं, सत्त सया वेउव्वीणं, पंच सया विउलमतीणं, चत्तारि सया वादीणं, अट्टसया अणुत्तरोववाइयाणं । (आवचू १ पृ १५९, १६०)

इन्द्रभूति आदि १४००० श्रमण ।

चन्दनबाला आदि ३६००० श्रमणियां ।

शंख, शतक आदि १५९००० श्रमणोपासक ।

सुलसा, रेवती आदि ३१८००० श्रमणोपासिकाएं ।

चौदहपूर्वी ३००

अवधिज्ञानी १३००

केवलज्ञानी ७००

वैश्रियलब्धिधर ७००

मनःपर्यवज्ञानी ५००

वादी ४००

अनुत्तर विमान में उत्पन्न ८००

### ३९. एक साथ कितने तीर्थकर ?

पंच भरहाणि पंच एरवयाणि पंच महाविदेहाणि तत्थ उक्कोसपदेणं सत्तरं तीर्थकरसत्तं, जहण्णपदेणं वीस तीर्थकरा । एते ताव एगकाले भवंति । अतीताणागता अणंता तित्थकरे । (आवचू २ पृ २५८)

पांच भरत. पांच ऐरवत और पांच महाविदेह— इन पन्द्रह क्षेत्रों में एक साथ उत्कृष्ट एक सौ सत्तर तथा जघन्य बीस तीर्थकर हो सकते हैं । अतीत और अनागत के तीर्थकर अनंत हैं ।

तीर्थकर सिद्ध—तीर्थकर होकर मुक्त होने वाले ।

(द्र. सिद्ध)

**तीर्थसिद्ध**—अहंत् के द्वारा तीर्थ को स्थापना के पश्चात् मुक्त होने वाले ।

(द्र. सिद्ध)

**तेजस्काय**—छह जीवनिकाय का तीसरा भेद ।

(द्र. जीवनिकाय)

**तेजोलेश्या**—प्रशस्त भावधारा तथा उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत रक्त वर्ण वाले पुद्गल ।

(द्र. लेश्या)

**तेजस शरीर**—तेजोमय परमाणुओं से निष्पन्न शरीर ।

(द्र. शरीर)

**त्रस**—सुख की प्रवृत्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए गति करने वाले प्राणी ।

एक स्थान से दूसरे स्थान में स्वयं गमन करने वाले जीव त्रस कहलाते हैं ।

....जेसि केसिचि पाणाणं अभिककं पडिककं संकुचियं पसारियं ह्यं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइ-विनाया..... । (द ४।९)

जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएँ हैं और जो आगति एवं गति के विज्ञाता हैं, वे त्रस हैं ।

....जे य कीडपयंगा, जा य कुंथुपिवीलिया सव्वे वेइदिया सव्वे तेइदिया सव्वे चउरिदिया सव्वे पंचिदिया सव्वे तिरिक्खजोगिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुया सव्वे देवा.....एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओ त्ति पबुच्चई । (द ४।९)

कीट, पतंग, कुंथु, पिपीलिका, सब दो इन्द्रिय वाले जीव, सब तीन इन्द्रिय वाले जीव, सब चार इन्द्रिय वाले जीव, सब पांच इन्द्रिय वाले जीव, सब तिर्यक् योनिक, सब तैरयिक, सब मनुष्य, सब देव—यह छठा जीविकाय त्रसकाय कहलाता है ।

## २. त्रस के प्रकार

तेउ वाऊ य बोद्धवा, उराला य तसा तथा ।

इच्चेए तसा तिविहा..... ।।

(उ ३६।१०७)

त्रस के तीन प्रकार हैं—

तेजस्काय, वायुकाय और उदार त्रस ।

## ३. तेजस् और वायु त्रस क्यों ?

दुविहा खलु तसजीवा—लद्धितसा चेव गतितसा चेव । ततश्च तेजोवाय्वोर्गति उदारणां च लब्धि-तोऽपि त्रसत्वमिति । तेजोवाय्वोश्च स्थावरनामकर्मो-दवेऽप्युत्कर्षं त्रसनमस्तीति त्रसत्वम् । (उशावृ प ६९३)

त्रस जीव के दो प्रकार हैं—लब्धि त्रस और गति त्रस ।

उदार (द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के) जीव लब्धि त्रस हैं । अग्नि और वायु गति त्रस हैं । यद्यपि इनके स्थावर नाम कर्म का उदय है फिर भी गतिशीलता के कारण ये त्रस कहलाते हैं ।

### १. त्रस का निर्वचन, परिभाषा

\* त्रस : छह जीवनिकाय का एक भेद

(द्र. जीवनिकाय)

#### २. त्रस के प्रकार

तेजस्काय, वायुकाय, उदारत्रस

#### ३. तेजस् और वायु त्रस क्यों ?

#### ४. उदार त्रस के प्रकार

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय

#### ५. द्वीन्द्रिय त्रस के प्रकार

० आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

#### ६. त्रीन्द्रिय त्रस के प्रकार

० आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

#### ७. चतुरिन्द्रिय त्रस के प्रकार

० आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

#### ८. पंचेन्द्रिय त्रस के प्रकार

१. अंडज आदि त्रस

### १. त्रस का निर्वचन, परिभाषा

त्रस्यन्ति—तापाद्युपतप्तौ छायादिकं प्रत्यभिसर्पन्तीति त्रसाः—द्वीन्द्रियादयः । (उशावृ प २४४)

ताप आदि से संतप्त होने पर जो छाया आदि की ओर गतिशील होते हैं, वे त्रस (द्वीन्द्रिय आदि जीव) हैं ।

त्रस्यन्ति—चलन्ति देशाद्देशान्तरं संक्रामन्तीति त्रसाः । (उशावृ प ६९३)

#### ४. उदार त्रस के प्रकार

ओराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया ।

बेइदियतेइदिय-चउरो पंचिदिया चेव ॥

(उ ३६।१२६)

उदार त्रसकायिक जीव चार प्रकार के हैं—

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ।

तसा विगलिदिया पंचेदिया । विगलिदिया तिविहा-  
बिइदिया, तिइदिया, चतुरिदिया ।

(आवचू २ पृ १००)

त्रस जीवों के दो प्रकार हैं—विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ।

विकलेन्द्रिय तीन प्रकार के हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ।

#### ५. द्वीन्द्रिय त्रस के प्रकार

बेइदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।

पज्जत्तमपज्जत्ता ..... ॥

(उ ३६।१२७)

द्वीन्द्रिय जीव के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त ।

किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया ।

वासीमुहा य सिप्पीया संखा संखणगा तथा ॥

पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा ।

जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य ॥

इइ बेइदिया एए, णेगहा एवमायओ ।

लोणेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥

(उ ३६।१२८-१३०)

कृमि, सीमंगल, अलस, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख आदि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव हैं । वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं ।

एएसि वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥

(उ ३६।१३५)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

#### आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

वासाइं बारसेव उ, उक्कोसेण वियाहिया ।

बेइदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥

संखिज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

बेइदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

बेइदियजीवाणं, अंतरेयं वियाहियं ॥

(उ ३६।१३२-१३४)

आयुस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं, उत्कृष्टतः बारह वर्ष ।

कायस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं, उत्कृष्टतः संख्यात काल ।

अंतरकाल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं, उत्कृष्टतः अनंत काल ।

#### ६. त्रीन्द्रिय त्रस के प्रकार

तेइदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।

पज्जत्तमपज्जत्ता ..... ॥

(उ ३६।१३६)

त्रीन्द्रिय जीव के दो प्रकार हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त ।

कुंथुपिबीलिउडंडसा, उक्कलुहेहिया तथा ।

तणहारकट्टहारा, मालुमा पत्तहारगा ॥

कप्पासट्टिमिजा य, तिदुगा तउसमिजगा ।

सदावरी य गुम्मी य, बोद्धव्वा इंदकाइया ॥

इंदगोवगमाईया, णेगहा एवमायओ ।

लोणेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥

(उ ३६।१३७-१३९)

कुंथु, चीटी, खटमल, मकड़ी, दीमक, इन्द्रगोपक आदि अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव हैं । वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं ।

एएसि वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥

(उ ३६।१४४)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

#### आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

एणुणपण्होरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया ।

तेइदिय आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥

संखिज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

तेइदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।  
तेइंदियजीवाणं, अंतरेयं वियाहियं ॥  
(उ ३६।१४१-१४३)

आयुस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः  
उनचास दिन ।

कायस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः  
संख्यात काल ।

अंतरकाल—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः अनंत  
काल ।

### ७. चतुरिन्द्रिय त्रस के प्रकार

चउरिदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।  
पज्जत्तमपज्जत्ता..... । (उ ३६।१४५)

चतुरिन्द्रिय जीव के दो प्रकार हैं—पर्याप्त और  
अपर्याप्त ।

अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तथा ।  
भमरे कीडपयंगे य, ढिकुणे कुंकुणे तथा ॥  
कुक्कुडे सिगिरीडी य, नंदावत्ते य विच्छिए ।  
डोले भिगारी य, विरली अच्छिवेहए ॥  
अच्छिले माहए अच्छिरोडए, विचित्ते चित्तपत्तए ।  
ओहिजलिया जलकारी य, नीया तंतवगाविय ॥  
इइ चउरिदिया एए, गेगहा एवमायओ ।  
लोमस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया ॥  
(उ ३६।१४६-१४९)

अंधिका, पोत्तिका, मक्खी, मच्छर, भ्रमर, कीट,  
पतंग, तन्तवक आदि अनेक प्रकार के चतुरिन्द्रिय जीव  
हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे  
लोक में नहीं ।

एएसि वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।  
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥  
(उ ३६।१५४)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से  
उनके हजारों भेद होते हैं ।

### आयुस्थिति-कायस्थिति-अंतरकाल

छच्चेव य मासा उ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
चउरिदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥  
संखिज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।  
चउरिदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥  
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।  
विजडमि सए काए, अंतरेयं वियाहियं ॥  
(उ ३६।१५१-१५३)

आयुस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः छह  
मास ।

कायस्थिति—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः  
संख्यात काल ।

अंतरकाल—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः अनन्त-  
काल ।

### ८. पंचेन्द्रिय त्रस के प्रकार

पंचिदिया उ जे जीवा, चउविहा ते वियाहिया ।  
नेरइयतिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥  
(उ ३६।१५५)

पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं—१. नैरयिक,  
२. तिर्यंच, ३. मनुष्य और ४. देव । (द्र. संबद्ध नाम)

### ९. अंडज आदि त्रस

....अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मु-  
च्छिमा उब्भिया उववाइया.... । (द ४।९)

उत्पत्ति के आधार पर त्रस जीवों के आठ प्रकार  
हैं—

अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छ-  
नज, उद्भिज, औपपातिक ।

१. अण्डज—जो अण्डों से पैदा होते हैं, जैसे—पक्षी,  
सर्प आदि ।
२. पोतज—जो जन्म के समय खुले अंगों सहित  
होते हैं, जैसे—हाथी आदि ।
३. जरायुज—जो जन्म के समय मांस की फिल्ली  
से लिपटे रहते हैं, जैसे—मनुष्य, भैंस, गाय आदि ।
४. रसज—जो दही आदि रसों में उत्पन्न होते हैं,  
जैसे—कृमि आदि ।
५. स्वेदज—जो पसीने से उत्पन्न होते हैं, जैसे—जू,  
लीख आदि ।
६. सम्मूर्च्छिम—जो नर-मादा के संयोग के बिना ही  
उत्पन्न होते हैं, जैसे—मक्खी, चींटी आदि ।
७. उद्भिज—जो पृथ्वी को फोड़कर निकलते हैं, जैसे  
—टिड्डी, पतंग आदि ।
८. औपपातिक—जो गर्भ में रहे बिना ही स्थान विशेष  
में पैदा होते हैं, जैसे—देव और नारक ।

त्रीन्द्रिय—स्पर्शन, रसन और घ्राण—इन तीन  
इन्द्रियों वाले जीव । (द्र. त्रस)

दर्शन — १. सामान्य अवबोध । (द्र. ज्ञान)  
२. दृष्टि, तत्त्वचि । (द्र. सम्यक्त्व)

दर्शनावरणीय — दर्शन (सामान्य बोध) को आवृत करने वाला कर्म । (द्र. कर्म)

दिशा — ताप दिशा, प्रज्ञापक दिशा आदि । (द्र. लोक)

दुःख — क्लेश, परिताप ।

चार गति के दुःख

नरकगतौ कुन्तायभेदकरपत्रशिरःपाटनशूलारोपकुम्भ-  
पाकासिपत्रवनकृतकर्णनासिकादिच्छेदं कदम्बबालुकापथ-  
गमनादिरूपमनेक प्रकारं दुःखमेव निरन्तरं, नाक्षिनिमीलन-  
मात्रमपि तत्र सुखम् ।

तिर्यग्गतावपि अङ्कुशकशाभिघातप्राजनकतोदनवध-  
बन्धरोगक्षुत्पिपासादिप्रभवमनेकं दुःखम् । मनुष्यगतावपि  
परप्रेषगुप्तिगृहप्रवेशधनबन्धुवियोगानिष्टसम्प्रयोगरोगादि-  
जनितं विविधमनेकं दुःखम् । देवगतावपि च परगत-  
विशिष्टद्युतिविभवदर्शनात् मात्सर्यमात्मनि तद्विहीने  
विषादः, च्युतिसमये चातिरमणीयविमानवनवापीस्तूप-  
देवाङ्गनावियोगजमनिष्टजन्मसंतापं चाऽवेक्षमाणस्य  
तप्तायोभाजननिक्षिप्तशफरादप्यधिकतरं दुःखम् ।

(नन्दीमद्वृ प ३९)

नरकदुःख — नरक गति में जीव भयंकर दुःखों का संवेदन करता है । वहां जीवों को भालों से भेदा जाता है, करवत, आरे आदि से शिर को छेदा जाता है, शूली में पिरोया जाता है, विविध कुम्भियों में पकाया जाता है, असिपत्रों से कर्ण, नासिका आदि को काटा जाता है, कदम्बबालुका नदी की बालू में जलाया जाता है । वहां अक्षिनिमेष जितना भी सुख नहीं है ।

तिर्यचदुःख — तिर्यच गति में अनेक प्रकार के दुःख हैं । जैसे अङ्कुश और कश का अभिघात, चाबुक का प्रहार, वध, रस्सी आदि से बांधना, रोग, भूख, प्यास आदि ।

मनुष्य दुःख — पराधीनता, कारावास, धन और परिजनों का वियोग, अनिष्ट का संयोग, रोग आदि ।

देव दुःख — देवगति में भी दुःख है । जैसे—दूसरे देवों की द्युति और वैभव को देखकर ईर्ष्या, स्वयं के

पास उतना वैभव न होने पर विषाद, च्यवन के समय अतिरमणीय विमान, वापी, स्तूप और देवाङ्गना के वियोग का दुःख । देवलोक से अन्यत्र अप्रिय, अनिच्छित जन्म के दुःख को देखकर तप्त लोहपात्र में रखी मछली से भी अधिक दुःख होता है ।

दुःख के हेतु

जावन्तऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा ।  
लुप्पन्ति बहुसो मूढा संसारमि अणंतए ॥

(उ ६।१)

जितने अविद्यावान् पुरुष हैं, वे सब दुःख उत्पन्न करने वाले हैं । वे दिग्मूढ की भांति मूढ बने हुए इस अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते हैं ।

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे ह्वे य सव्वसो ।

मणसा कायवक्केण, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥

(उ ६।११)

जो कोई मन, वचन और काया से शरीर वर्ण और रूप में सर्वशः आसक्त होते हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं ।

....कामभोगाणुराएणं केसं संपडिबज्जई ॥

(उ ५।७)

अज्ञानी व्यक्ति काम-भोग के अनुराग से क्लेश को प्राप्त होता है ।

वरि विसु भुंजिउ मं विसय, एककसि विसिण मरन्ति ।

नर विसयामिसमोहिया, बहुसो नरइ पडन्ति ॥

(उसुवृ प १०३)

विष पीना अच्छा है, विषय नहीं । मनुष्य विष से एक ही बार मरते हैं, किन्तु विषय रूप मांस में मोहित मनुष्य अनेक बार मरते हैं, नरक में जाते हैं ।

अत्थि सुह-दुक्खहेऊ कज्जाओ वीयमंकुरस्सेव ।

सो दिट्ठो चेव मई वभिचाराओ न तं जुत्तं ॥

जो तुल्लासाहणाणं फले विसेसो न सो विणा हेऊं ।

कज्जत्तणओ गोयम ! छडोव्व, हेऊ य सो कम्मं ॥

(विभा १६१२, १६१३)

जैसे अंकुर का हेतु (उपादान कारण) बीज है, वैसे ही सुख-दुःख का हेतु कर्म है । यदि घर, चन्दन आदि को सुख का हेतु और सर्प, कंटक आदि को दुःख का हेतु मान लिया जाए तो यह हेतु व्यभिचारी हो जाएगा । क्योंकि सुख और दुःख के साधन तुल्य होने पर भी सुख-दुःख के

अनुभव में तारतम्य रहता है। वह बिना हेतु के नहीं हो सकता, वह हेतु है कर्म। जैसे घट का हेतु मिट्टी है।

### दुःखमुक्ति के उपाय

आयावयाही चय सोऽमल्लं  
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।  
छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं  
एवं सुही होहिसि संपराए ॥  
(द २।५)

दुःखमुक्ति के चार उपाय—

- श्रमनिष्ठा
- सुकुमारता का विसर्जन
- विषयवासना का अतिक्रमण
- राग-भाव और द्वेषभाव का अपनयन

दुक्खं ह्यं जस्स न होइ मोहो  
मोहो ह्यो जस्स न होइ तण्हा ।  
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो  
लोहो ह्यो जस्स न किचणाइं ॥  
(उ ३२।८)

जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख का नाश कर दिया।

जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया।

जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया।

जिसके पास कुल्ल नहीं है, उसने लोभ का नाश कर दिया।

### दुःख अनुप्रेक्षा

इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो  
दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो ।  
पलिओवमं भिज्जइ सागरोवमं  
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥  
न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई  
असासया भोगपिवास जंतुणो ।  
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई  
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥  
(दचूला १/१५, १६)

दुःख से युक्त और क्लेशमय जीवन बिताने वाले इन

नारकीय जीवों की पल्योपम और सागरोपम आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर यह मेरा मनोदुःख कितने काल का है ?

यह मेरा दुःख चिर काल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोगपिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय तो अवश्य भिट ही जाएगी।

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।

अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो ॥

(उ १९।१५)

जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। अहो! संसार दुःख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहा है।

नातः परतरं मन्ये, जगतो दुःखकारणम् ।

यथाऽज्ञानमहारोगं, सर्वरोगप्रणायकम् ॥

(उचू पृ १४८)

अज्ञान महारोग है, सब रोगों का नायक है। इससे बढ़कर संसार में दुःख का कारण अन्य नहीं है।

**दृष्टिवाद**—वारहवां अंग। सब नयदृष्टियों से निरूपण करने वाला आगम।

१. दृष्टिवाद का निबंधन

२. दृष्टिवाद का स्वरूप

३. दृष्टिवाद के प्रकार

४. परिकर्म की परिभाषा

- प्रकार
- सिद्धधेनिका परिकर्म
- मनुष्यधेनिका परिकर्म
- स्पृष्टधेनिका परिकर्म
- अवगाढधेनिका परिकर्म
- उपसम्पादनधेनिका परिकर्म
- विप्रहाणधेनिका परिकर्म
- च्युताच्युतधेनिका परिकर्म
- परिकर्म : नय और प्रप्रदाय
- परिकर्म के मूल-उत्तर भेद

५. सूत्र के निबंधन

- परिभाषा
- एकार्थक

- प्रकार
- गुण
- शेष
- सूत्र और नयदृष्टि
- छिन्नछेदनय
- अच्छिन्नछेदनय
- \* पूर्वगत

## ६. अनुयोग के प्रकार

- मूलप्रथमानुयोग
- कंडिकानुयोग
- वित्रान्तरकंडिका का प्रतिपाद्य

\* चूला

(द्र. पूर्व)

(द्र. पूर्व)

## ७. दृष्टिवाद के अंश

- \* दृष्टिवाद : गनिकभूत (द्र. श्रुतज्ञान)
- \* दृष्टिवाद की निरूपण शैली (द्र. आगम)
- \* दृष्टिवाद बारहवां अंग (द्र. अंगप्रविष्ट)
- \* दृष्टिवाद और ध्यान (द्र. ध्यान)

## १. दृष्टिवाद का निर्वचन

दृष्टिदर्शनम्, वदनं वादः । दृष्टीनां वादो दृष्टि-  
वादः । तत्र वा दृष्टीनां पातः दृष्टिपातः । सभेदभिण्णाओ  
सम्बन्धतद्विद्वीओ तत्थ वदन्ति पतन्ति व त्ति अतो दिद्वि-  
वातो । (नन्दीचू पृ ७१)

जिस शास्त्र में सभी दृष्टियों/दर्शनों का विमर्श  
किया जाता है, वह दृष्टिवाद (दृष्टिपात) कहलाता  
है । अथवा जिस शास्त्र में सभी नयदृष्टियों से वस्तु-  
सत्य का विचार किया जाता है, वह दृष्टिवाद कहलाता  
है ।

## २. दृष्टिवाद का स्वरूप

द्विट्ठिवाए णं सम्बन्धवपरूवणा आघविज्जइ.....। से  
णं अंगट्टयाए बारसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, चोदस पुव्वाइं,  
संखेज्जा वत्थू, संखेज्जा चुल्लवत्थू, संखेज्जा पाहुडा,  
संखेज्जा पाहुडपाहुडा, संखेज्जाओ पाहुडियाओ, संखेज्जाओ  
पाहुडपाहुडियाओ, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं ।

(नन्दी १२, १२३)

संखेज्जा वत्थु त्ति पणुवीसुत्तराणि दो सयाणि ।

(नन्दीहावृ पृ ९३)

दृष्टिवाद में सर्वभावों की प्ररूपणा की गई है । यह  
अंग की दृष्टि से बारहवां अंग है । इसमें एक श्रुतस्कन्ध,

चोदह पूर्व, संख्येय वस्तु—२२५ अध्याय, संख्येय  
चूलिकावस्तु, संख्येय प्राभूत, संख्येय प्राभूत-प्राभूत,  
संख्येय प्राभूतिका, संख्येय प्राभूत-प्राभूतिका, पद-प्रमाण  
से संख्येय लाख पद हैं ।

द्विट्ठिवायसुयपरिमाणसंखा अणेगविहा पणत्ता, तं  
जहा—पज्जवसंखा अक्खरसंखा संघायसंखा पयसंखा  
पायसंखा गाहासंखा सिलोगसंखा वेढसंखा निज्जुत्तिसंखा  
अणुओगदारसंखा पाहुडसंखा पाहुडियासंखा पाहुडपाहु-  
डियासंखा वत्थुसंखा । (अनु ५७२)

दृष्टिवादश्रुतपरिमाणसंख्या के अनेक प्रकार प्रज्ञप्त  
हैं, जैसे—पर्यवसंख्या, अक्षरसंख्या, संघातसंख्या, पद-  
संख्या, पादसंख्या, गाथासंख्या, श्लोकसंख्या, वेष्टक-  
संख्या, निर्युक्तिसंख्या, अनुयोगद्वारसंख्या, प्राभूतसंख्या,  
प्राभूतिकासंख्या, प्राभूत-प्राभूतिकासंख्या और वस्तु-  
संख्या ।

## ३. दृष्टिवाद के प्रकार

द्विट्ठिवाए से समासओ पंचविहे पणत्ते, तं जहा—  
परिकम्मे सुत्ताइं पुव्वगए अणुओगे चूलिया ।  
(नन्दी ९२)

दृष्टिवाद के पांच प्रकार हैं—

१. परिकर्म
२. सूत्र
३. पूर्वगत
४. अनुयोग
५. चूलिका

## ४. परिकर्म की परिभाषा

परिकम्मे—जोग्गकरणं, जहा गणितस्स सोलस  
परिकम्मा । तग्गहितसुत्तत्थो सेसगणितस्स जोग्गो भवति ।  
एवं गहितपरिकम्मसुत्तत्थो सेससुत्तादिद्विट्ठिवातसुत्तस्स  
जोग्गो भवति । (नन्दीचू पृ ७२)

परिकर्म का अर्थ है—योग्यता सम्पादित करने  
वाली विधि या प्रणाली । जिस प्रकार गणितशास्त्र के  
अभ्यास के लिए संकलन, व्यकलन, गुणन, भाग आदि  
सोलह परिकर्मों का ज्ञान अपेक्षित होता है, उसी प्रकार  
विवक्षित परिकर्म के सूत्रार्थ को जान लेने पर ही अध्येता  
शेष सूत्र आदि रूप दृष्टिवाद श्रुत को ग्रहण करने के  
योग्य हो सकता है ।

## प्रकार

परिकम्मे सत्तविहे पणत्ते, तं जहा—सिद्धसेणिया-

परिकर्मे, मणुस्ससेणियापरिकर्मे, पुट्टसेणियापरिकर्मे, ओगाढसेणियापरिकर्मे, उवसंपज्जणसेणियापरिकर्मे, विप्पजहणसेणियापरिकर्मे, चुयाचुयसेणियापरिकर्मे ।

(नन्दी ९३)

परिकर्म सात प्रकार का है—

- |                             |                                |
|-----------------------------|--------------------------------|
| १. सिद्धश्रेणिका परिकर्म    | ६. विप्रहाणश्रेणिका परिकर्म    |
| २. मनुष्यश्रेणिका परिकर्म   | ७. च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म |
| ३. स्पृष्टश्रेणिका परिकर्म  |                                |
| ४. अवगाढश्रेणिका परिकर्म    |                                |
| ५. उपसंपादनश्रेणिका परिकर्म |                                |

### सिद्धश्रेणिका परिकर्म

सिद्धसेणियापरिकर्मे चउद्दसविहे पणत्ते, तं जहा—माउगापयाइं, एगट्टियपयाइं, अट्टापयाइं, पाढो, आगासपयाइं, केउभूयं, रासिबद्धं, एगगुणं, दुगुणं, तिगुणं, केउभूयपडिग्गहो, संसारपडिग्गहो, नंदावत्तं, सिद्धावत्तं ।

(नन्दी ९४)

सिद्धश्रेणिका परिकर्म चौदह प्रकार का है—

- |              |                      |
|--------------|----------------------|
| १. मातृकापद  | ८. एकगुण             |
| २. एकार्थकपद | ९. द्विगुण           |
| ३. अर्थपद    | १०. त्रिगुण          |
| ४. पाठ       | ११. केतुभूतप्रतिग्रह |
| ५. आकाशपद    | १२. संसारप्रतिग्रह   |
| ६. केतुभूत   | १३. नन्दावत्तं       |
| ७. राशिबद्ध  | १४. सिद्धावत्तं      |

### मनुष्यश्रेणिका परिकर्म

मणुस्ससेणियापरिकर्मे चउद्दसविहे पणत्ते, तं जहा—माउगापयाइं, एगट्टियपयाइं, अट्टापयाइं, पाढो, आगासपयाइं, केउभूयं, रासिबद्धं, एगगुणं, दुगुणं, तिगुणं, केउभूयपडिग्गहो, संसारपडिग्गहो, नंदावत्तं, मणुस्सावत्तं ।

(नन्दी ९५)

मनुष्यश्रेणिका परिकर्म चौदह प्रकार का है—

- |              |                      |
|--------------|----------------------|
| १. मातृकापद  | ८. एकगुण             |
| २. एकार्थकपद | ९. द्विगुण           |
| ३. अर्थपद    | १०. त्रिगुण          |
| ४. पाठ       | ११. केतुभूतप्रतिग्रह |
| ५. आकाशपद    | १२. संसारप्रतिग्रह   |
| ६. केतुभूत   | १३. नन्दावत्तं       |
| ७. राशिबद्ध  | १४. मनुष्यावत्तं ।   |

### स्पृष्टश्रेणिका परिकर्म

पुट्टसेणियापरिकर्मे इक्कारसविहे पणत्ते, तं जहा—पाढो, आगासपयाइं, केउभूयं, रासिबद्धं, एगगुणं, दुगुणं, तिगुणं, केउभूयपडिग्गहो, संसारपडिग्गहो, नंदावत्तं, पुट्टावत्तं ।

(नन्दी ९६)

स्पृष्टश्रेणिकापरिकर्म के ग्यारह प्रकार हैं—

- |             |                     |
|-------------|---------------------|
| १. पाठ      | ७. त्रिगुण          |
| २. आकाशपद   | ८. केतुभूतप्रतिग्रह |
| ३. केतुभूत  | ९. संसारप्रतिग्रह   |
| ४. राशिबद्ध | १०. नन्दावत्तं      |
| ५. एकगुण    | ११. स्पृष्टावत्तं   |
| ६. द्विगुण  |                     |

### अवगाढश्रेणिका परिकर्म

ओगाढसेणियापरिकर्मे इक्कारसविहे पणत्ते, तं जहा—पाढो, आगासपयाइं, केउभूयं, रासिबद्धं, एगगुणं, दुगुणं, तिगुणं, केउभूयपडिग्गहो, संसारपडिग्गहो, नंदावत्तं, ओगाढावत्तं ।

(नन्दी ९७)

अवगाढश्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है—

- |             |                     |
|-------------|---------------------|
| १. पाठ      | ७. त्रिगुण          |
| २. आकाशपद   | ८. केतुभूतप्रतिग्रह |
| ३. केतुभूत  | ९. संसारप्रतिग्रह   |
| ४. राशिबद्ध | १०. नन्दावत्तं      |
| ५. एकगुण    | ११. अवगाढावत्तं     |
| ६. द्विगुण  |                     |

### उपसंपादनश्रेणिका परिकर्म

उवसंपज्जणसेणियापरिकर्मे इक्कारसविहे पणत्ते, तं जहा—पाढो, आगासपयाइं, केउभूयं, रासिबद्धं, एगगुणं, दुगुणं, तिगुणं, केउभूयपडिग्गहो, संसारपडिग्गहो, नंदावत्तं, उवसंपज्जणावत्तं ।

(नन्दी ९८)

उपसंपादनश्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है—

- |             |                     |
|-------------|---------------------|
| १. पाठ      | ७. त्रिगुण          |
| २. आकाशपद   | ८. केतुभूतप्रतिग्रह |
| ३. केतुभूत  | ९. संसारप्रतिग्रह   |
| ४. राशिबद्ध | १०. नन्दावत्तं      |
| ५. एकगुण    | ११. उपसंपादनावत्तं  |
| ६. द्विगुण  |                     |

### विप्रहाणश्रेणिका परिकर्म

विप्पजहणसेणियापरिकर्मे इक्कारसविहे पणत्ते,



तं जहा—पाढो, आगासपयाइं, केउभूर्यं, रासिबद्धं, एगगुणं, दुगुणं, तिगुणं, केउभूयपडिग्गहो, संसारपडिग्गहो, नंदावत्तं, विप्पजहणावत्तं । (नन्दी ९९)

विप्रहाणश्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है—

- |             |                     |
|-------------|---------------------|
| १. पाठ      | ७. त्रिगुण          |
| २. आकाशपद   | ८. केतुभूतप्रतिग्रह |
| ३. केतुभूत  | ९. संसारप्रतिग्रह   |
| ४. राशिबद्ध | १०. नन्दावत्तं      |
| ५. एकगुण    | ११. विप्रहाणावत्तं  |
| ६. द्विगुण  |                     |

### च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म

च्युअच्युसेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पणत्ते, तं जहा—पाढो, आगासपयाइं, केउभूर्यं, रासिबद्धं, एगगुणं, दुगुणं, तिगुणं, केउभूयपडिग्गहो, संसारपडिग्गहो, नंदावत्तं, च्युअच्युतावत्तं । (नन्दी १००)

च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है—

- |             |                       |
|-------------|-----------------------|
| १. पाठ      | ७. त्रिगुण            |
| २. आकाशपद   | ८. केतुभूतप्रतिग्रह   |
| ३. केतुभूत  | ९. संसारप्रतिग्रह     |
| ४. राशिबद्ध | १०. नन्दावत्तं        |
| ५. एकगुण    | ११. च्युताच्युतावत्तं |
| ६. द्विगुण  |                       |

### परिकर्म : नय और सम्प्रदाय

(इच्चेयाइं सत्त परिकम्माइं छ ससमइयाणि सत्त आजीवियाणि) छ चउक्कणयाइं, सत्त तेरासियाइं ।

(नन्दी १०१)

(ये सात परिकर्म हैं। इनमें प्रथम छह स्वसमय के प्रज्ञापक हैं। सातवां (च्युताच्युतश्रेणिका) परिकर्म आजीवक मत का प्रज्ञापक है।) इनमें प्रथम छह परिकर्म चार नयों (संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द) द्वारा व्याख्यात हैं। सातवां त्रैराशिक—तीन नय वाला है।

### परिकर्म के मूल-उत्तर-भेद

परिकम्मसुत्तं सिद्धसेणियापरिकम्मादिमूलभेदयो सत्तविहं, उत्तरभेदतो तेसीतिविहं मातुयपदादी । तं च सर्व्वं समूलुत्तरभेदं सुत्तत्थतो वोच्छिण्णं, जहागतसंप्रदातं वा वच्चं । (नन्दीचू पृ ७२)

परिकर्म के मूल भेद सात हैं—सिद्धश्रेणिका परिकर्म आदि। उत्तरभेद तिरासी हैं—मातृकापद आदि। अब

इनके सूत्र-अर्थ सब विच्छिन्न हैं, गुरुपरम्परा से ही ज्ञातव्य हैं।

### ५. सूत्र के निर्वचन

- सिचइ खरइ जमत्थं तम्हा सुत्तं निरुत्तविहिणा वा ।  
सूएइ सवइ सुव्वइ सिव्वइ सरए व जेणत्थं ॥  
(विभा १३६८)
- जो अर्थ का सिचन/क्षरण करता है, वह सूत्र है।
  - जो अर्थ को सूचित करता है, वह सूत्र है।
  - जो अर्थ को स्रवित करता है, वह सूत्र है।
  - जो सुना जाता है, वह सूत्र है।
  - जो अनेक अर्थपदों को स्यूत/संयुक्त करता है—विशिष्ट संघटना करता है, वह सूत्र है।
  - जो अर्थ का अनुसरण करता है, वह सूत्र है।

### परिभाषा

सुत्ताइं सव्वदव्वाण सव्वपज्जवाण सव्वणताण सव्वभंगविकप्पाण य दंसगाणि, सव्वस्स य पुव्वगतसुत्तस्स अत्थस्स य सूयग त्ति, अतो ते सूयणत्तातो सुत्ता भण्णिता । (नन्दीचू पृ ७४)

जिनमें सब द्रव्य, सब पर्याय, सब नय, सब भंगविकल्पों का सूचन है, वे सूत्र हैं। पूर्वगत के समग्र-सूत्र और अर्थ के सूचक होने के कारण ये सूत्र कहलाते हैं।

### एकार्थक

...सुत्तं तंतं गंधो पाढो सत्थं च एगट्ठा ।

(आवनि १३०)

सूत्र, तन्त्र, ग्रंथ, पाठ और शास्त्र—ये सूत्र के एकार्थक हैं।

सुत्तं भण्णियं तंतं तण्णज्जए तेण तम्मि व जमत्थो ।  
गंधिज्जइ तेण तओ तम्मि व तो तं मयं गंधो ॥

(विभा १३८३)

जिससे अर्थ विस्तार पाता है, वह तन्त्र/सूत्र है। जिसमें अर्थों का ग्रंथन/गुम्फन होता है, वह ग्रन्थ/सूत्र है।

...सासिज्जइ तेण तहिं व नेयमाया व तो सत्थं ।

(विभा १३८४)

जिसमें ज्ञेय अथवा आत्मा की अनुशिष्टि है, वह शास्त्र है।

**प्रकार**

सुत्ताइं बावीसं पण्णत्ताइं, तं जहा—उज्जुसुयं, परिणयापरिणयं, बहुभंगियं, विजयचरियं, अणंतरं, षरंपरं, सामाणं, संजूहं, संभिण्णं, आहूचयां, सोवत्थियं षंटं, नंदावत्तं, बहुलं, पुट्टापुट्ठं, वियावत्तं, एवंभूयं, दुयावत्तं, वत्तमाणुप्पयं, समयभिरूढं, सब्बओभइं, पण्णासं, दुप्पडिग्गहं । (नन्दी १०२)

सूत्र बाईस प्रकार के हैं—

- |                  |                     |
|------------------|---------------------|
| १. ऋजुसूत्र      | १२. नन्द्यावर्त     |
| २. परिणतापरिणत   | १३. बहुल            |
| ३. बहुभंगिक      | १४. स्पृष्टास्पृष्ट |
| ४. विजयचरित      | १५. व्यावर्त        |
| ५. अनन्तर        | १६. एवंभूत          |
| ६. परम्पर        | १७. द्विकावर्त      |
| ७. सत्           | १८. वर्तमानपद       |
| ८. संयूथ         | १९. समभिरूढ         |
| ९. संभिन्न       | २०. सर्वतोभद्र      |
| १०. यथात्थ्याग   | २१. पन्थ्यास        |
| ११. सौवस्तिक षंट | २२. दुष्प्रतिग्रह   |

**सूत्र के गुण**

निहोसं सारवन्तं च हेउजुत्तमलंकियं ।  
उवणीयं सोवयारं च मियं महुरमेव य ॥  
अप्पक्खरमसंदिद्धं सारवं विससओभुहं ।  
अत्थोभमणवज्जं च सुत्तं सब्बण्णुभासियं ॥

(आवनि ८८५, ८८६)

सूत्र के आठ गुण हैं—१. निर्दोष, २. सारवत् — बहु पर्याय वाला, ३. हेतुयुक्त—अन्वयव्यतिरेकलक्षण युक्त, ४. अलंकृत—उपमा आदि से युक्त, ५. उपनीत—उपनयों से युक्त, ६. सोपचार—अग्राम्यअभिधान, ७. मित—नियत वर्ण आदि, ८. मधुर । अथवा—

१. अल्पाक्षर २. असंदिग्ध ३. सारवत् ४. विश्वतो-मुख प्रत्येक सूत्र में अनुयोगों का कथन, अनेक अर्थ वाला ५. अस्तोभक—निपातरहित ६. अनवच—ये सर्वज्ञ-भाषित सूत्र के लक्षण हैं ।

**सूत्र के दोष**

अलियमुवघायजणयं निरत्थयमवत्थयं छलं दुहिलं ।  
निस्सारमधियमूणं पुणहत्तं वाहयमजुत्तं ॥  
कमभिण्णवयणभिण्णं विभक्तिभिन्नं च लिगभिन्नं च ।  
अणभिहित्वमपयमेव य सभावहीणं ववहियं च ॥

कालजतिच्छविदोसा समयविरुद्धं च वयणमित्तं च ।  
अत्थावत्तीदोसो य होइ असमासदोसो य ॥  
उवमारूवगदोसाऽग्निहेस पवत्थसंघिदोसो य ।  
एए उ सुत्तदोसा बत्तीसं हीति णायव्वा ॥  
(आवनि ८८१-८८४)

**सूत्र के बत्तीस दोष—**

१. अनृत २. उपघातजनक—जीवों की घात करने वाला ३. निरर्थक ४. अपार्थक—पौर्वापर्य योग के सम्बन्ध से रहित ५. छल—वाक्छल ६. द्रुहिल—द्रोह-स्वभाव ७. निःसार ८. अधिक—वर्ण आदि अधिक हों ९. ऊन—वर्ण आदि कम हों १०. पुनरुक्त—शब्द-अर्थ का पुनर्वचन ११. व्याहृत—पहले से दूसरे का हनन १२. अयुक्त १३. कमभिन्न १४. वचनभिन्न—वचनव्यत्यय १५. विभक्तिभिन्न १६. लिङ्गभिन्न १७. अनभिहित—अपने सिद्धान्त में अनुपदिष्ट १८. अपद १९. स्वभावहीन २०. व्यवहित—अन्तर्हित २१. कालदोष—अतीत आदि काल का व्यत्यय २२. यत्तिदोष—विरामरहित २३. छवि—अलंकारविशेष से शून्य २४. समयविरुद्ध—अपने सिद्धान्त से विरुद्ध २५. वचनमात्र २६. अर्थापत्ति दोष २७. असमास दोष—समास व्यत्यय २८. उपमादोष अधिक या कम उपमा २९. रूपक दोष—स्वरूपावयव व्यत्यय ३०. अनिर्देशदोष—उद्देश्यपदों को एक वाक्य में न करना ३१. पदार्थदोष ३२. सन्धिदोष ।

**सूत्र और नयदृष्टि**

बावीसं सुत्ताइं छिण्णच्छेयनइयाणि ससमयसुत्तपरि-  
वाडीए ।

बावीसं सुत्ताइं अच्छिण्णच्छेयनइयाणि आजीवियसुत्त-  
परिवाडीए ।

बावीसं सुत्ताइं तिगनइयाणि तेरासियसुत्तपरि-  
वाडीए ।

बावीसं सुत्ताइं चउक्कनइयाणि ससमयसुत्तपरि-  
वाडीए ।

एवामेव सपुव्वावरेण अट्टासीइ सुत्ताइं भवतीति  
मक्खायं । (नन्दी १०३)

दृष्टिवाद के बाईस सूत्र स्वसमय परिपाटी (जैनागम पद्धति) के अनुसार छिन्नछेदनयिक होते हैं ।

बाईस सूत्र आजीवक परिपाटी के अनुसार अच्छिन्नछेदनयिक होते हैं ।

बाईस सूत्र त्रैराशिक परिपाटी के अनुसार त्रिक नयिक होते हैं ।

बाईस सूत्र स्वसमय परिषाटी के अनुसार चतुष्क-  
नयिक होते हैं ।

इस प्रकार पूर्वापर की दृष्टि से अट्ठासी सूत्र हैं ।

### छिन्नछेदनय

जो णयो सुत्तं छिण्णं छेदेण इच्छति, जहा — “धम्मो मंगलमुक्किट्ठं” ति सिलोयो सुत्तज्जतो पत्तेयं छेदेण ठितो, णो वित्तियादिसिलोगे अवेक्खइ ।

(नन्दीचू पृ ७४)

जो नय एक सूत्र की दूसरे सूत्र से पृथक् व्याख्या करता है, दूसरे सूत्र से पहले सूत्र को सम्बन्धित नहीं करता, वह छिन्नछेदनय है । इन सूत्रों की परस्पर निरपेक्ष व्याख्या की जाती है । जैसे—धम्मो मंगल-मुक्किट्ठं—यह श्लोक सूत्र और अर्थ की अपेक्षा से दूसरे श्लोक से पृथक् है—इसकी व्याख्या के लिए दूसरे श्लोकों की अपेक्षा नहीं है ।

### अच्छिन्नछेदनय

(जो णयो सुत्तं अच्छिण्णं छेदेण इच्छति सो अच्छिण्ण-  
छेद णयो) जहा — दुमपुप्फियपढमसिलोयो अत्थतो वित्ति-  
याइसिलोगे अवेक्खमाणो, वित्तियादिया य पढमं अच्छि-  
ण्णच्छेदणताभिप्पाययो भवति । अत्थयो अण्णोणमवेक्ख-  
माणो अच्छिण्णछेदणया ।

(नन्दी चू पृ ७४)

जो नय दूसरे सूत्रों की अपेक्षा रखता हुआ व्याख्या करता है, वह अच्छिन्नछेदनय है । जैसे—दुमपुप्फिका  
बध्ययन का प्रथम श्लोक (धम्मो....) अर्थतः द्वितीय  
आदि श्लोकों की अपेक्षा रखता है, दूसरे श्लोक भी प्रथम  
श्लोक की अपेक्षा रखते हैं—यह अच्छिन्नछेदनय का  
अभिप्राय है ।

## ६. अनुयोग के प्रकार

अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—मूलपढमाणुओगे  
गंडियाणुओगे य ।

(नन्दी ११९)

अनुयोग दो प्रकार का है—मूलप्रथमानुयोग और  
कंडिकानुयोग ।

### मूलप्रथमानुयोग

मूलपढमाणुओगे णं अरहंताणं भगवताणं पुव्वभवा,  
देवलोग-गमणाइं, आउं, चवणाइं, जम्मणाणि य अभिसेया,  
रायवरसिरीओ, पव्वज्जाओ, तवा य उग्गा, केवलनाणु-  
प्ययाओ, तित्थपवत्तणाणि य, सीसा, गणा, गणहरा,  
अज्जा, पवत्तिणीओ, संघस्स चउव्विहस्स जं च परिमाणं  
जिण-मणपज्जव-ओहिनाणी, समत्तसुयनाणिओ य, वाई,

अणुत्तरमई य, उत्तर-वेउव्विणो य मुणिणो, जत्तिया  
सिद्धा, सिद्धिपहो जह देसिओ, जच्चिरं च कालं पाओव-  
गया, जे जहिं जत्तियाइं भत्ताइं छेइत्ता अंतगडे मुणिवरु-  
त्तमे तम-रओघ विप्पमुक्के मुक्खमुहमणुत्तरं च पत्ते ।  
एते अण्णे य एवमाई भावा मूलपढमाणुओगे कहिया ।

(नन्दी १२०)

मूलप्रथमानुयोग में अर्हत् तीर्थकरों के पूर्वभव, देव-  
लोकगमन, आयुष्य, च्यवन, जन्म, अभिषेक, राज्य की  
श्रेष्ठश्री, प्रव्रज्या और उग्र तप, केवलज्ञानोत्पत्ति, तीर्थ-  
प्रवर्तन, शिष्य, गण, गणधर, साध्वी, प्रवर्तिनी, चतुर्विध  
संघ का परिमाण, केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी,  
सम्यक्त्व, श्रुतज्ञानी, वादी, उत्तरवैक्रियलब्धिधर मुनि,  
जितने अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए हैं, जितने सिद्ध  
हुए हैं, जिन्होंने प्रायोपगमन अनशन किया है तथा जितने  
भक्तों का छेदन (भक्तप्रत्याख्यान) कर जो उत्तम मुनिवर  
मुक्त हुए हैं, तम और रज से विप्रमुक्त होकर अनुत्तर  
सिद्धि-पथ को प्राप्त हुए हैं, उनका वर्णन है ।  
तथा इस प्रकार के अन्य भावों का कथन इसमें  
हुआ है ।

मूलं—धर्मप्रणयनात्तीर्थकरास्तेषां प्रथमः—सम्य-  
क्त्वावाप्ति-लक्षणपूर्वभवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानु-  
योगः । मूलप्रथमानुयोगे अर्हतां भगवतां सम्यक्त्वभवा-  
दारभ्य पूर्वभवा देवलोकगमनानि तेषु पूर्वभवेषु देवभवेषु  
चायुर्देवलोकेभ्यश्च्यवनं तीर्थकरभक्त्वेनोत्पादस्ततो  
जन्मानि ततः शैलराजे मुरासुरैर्विधीयमाना अभिषेका  
इत्यादि ।

(नन्दीमवू प २४२)

धर्म के प्रणेता होने से तीर्थकर मूल हैं । उनसे  
सम्बद्ध अनुयोग मूलप्रथमानुयोग है । इसमें अर्हतों के  
पूर्वभव (सम्यक्त्व प्राप्ति वाले भव से लेकर), देवलोक-  
गमन, आयु, च्यवन, तीर्थकरभव-जन्म, मेरु पर्वत पर  
सुर-असुरों द्वारा अभिषेक इत्यादि का वर्णन है ।

### कंडिकानुयोग

गंडियाणुओगे कुलमरगंडियाओ, तित्थयरगंडियाओ,  
चक्कवट्टिगंडियाओ, दसारगंडियाओ, बलदेवगंडियाओ,  
वासुदेवगंडियाओ, गणधरगंडियाओ, भद्वाहुगंडियाओ,  
तवोकम्मगंडियाओ, हरिबंसगंडियाओ, ओसप्पिणीगंडि-  
याओ, उस्तप्पिणीगंडियाओ, चित्तंरगंडियाओ, अमर-  
नर-तिरिय-निरय-गइ-गमण-विविह-परियट्टणेमु, एव-  
माइयाओ गंडियाओ आघविज्जंति ।

(नन्दी १२१)

कंडिकानुयोग में कुलकरकंडिका, तीर्थकरकंडिका, चक्रवर्तीकंडिका, दशारकंडिका, बलदेवकंडिका, वासुदेव-कंडिका, गणधरकंडिका, भद्रबाहुकंडिका, तपःकर्मकंडिका, हरिवंशकंडिका, अवसर्पिणीकंडिका, उत्सर्पिणीकंडिका, चित्रान्तरकंडिका, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरकगति में गमन तथा विविध परिवर्तन इत्यादि कंडिकाओं का प्रतिपादन है।

इक्ष्वादीनां पूर्वापरपर्वपरिच्छिन्नो मध्यभागे गण्डिका। गण्डिकेव गण्डिका - एकार्थाधिकारा ग्रन्थ-पद्धतिरित्यर्थः। गण्डिकानुयोगे कुलकरगण्डिकाः, इह सर्वत्राप्यपान्तरालवर्त्तन्थो बह्व्यधः प्रतिनियतैकार्थाधि-काररूपागण्डिकाः कुलकरगण्डिकाः, तत्र कुलकराणां विमलवाहनादीनां पूर्वभवजन्मानामादीनि सप्रपञ्चमुप-वर्ण्यन्ते, एवं तीर्थकरगण्डिकादिष्वभिधानवशतो भाव-नीयम्। (नन्दीमवृ प २४२)

इक्षु आदि के पूर्व-अपर पर्व से परिच्छिन्न मध्यभाग को गंडिका—कंडिका कहते हैं। कंडिका की भांति जो समान वक्तव्यता के अर्थाधिकार वाली ग्रन्थपद्धति है, वह कंडिकानुयोग है। जैसे—कुलकरकंडिका में विमल-वाहन आदि कुलकरों का पूर्वभव, जन्म, नाम आदि विस्तार से वर्णित हैं। तीर्थकरकंडिका आदि में भी इसी प्रकार अपने-अपने नाम के आधार पर विस्तार से वर्णन होता है।

#### चित्रान्तरकंडिका का प्रतिपाद्य

ऋषभाजिततीर्थकरान्तरे ऋषभवंशसमुद्भूतभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्तरोपपातप्राप्ति-प्रतिपादिका गण्डिकाश्चित्रान्तरगण्डिकाः।

(नन्दीमवृ प २४२)

चित्रान्तरकंडिका में अर्हत् ऋषभ और अर्हत् अजित के अन्तराल काल में ऋषभवंश में उत्पन्न राजाओं के मोक्षगमन तथा अनुत्तर विमानों में उपपात का प्रतिपादन है।

(अर्हत् ऋषभ के वंशज आदित्यव्यश आदि सम्राट् दीक्षित हुए, साधना की और मुक्त हो गये। वे संख्या-तीत थे। उनके पश्चात् अर्हत् अजित हुए—इससे संबद्ध विवरण वाली असंख्येय चित्रान्तरगण्डिकाएँ हैं। यह सारी बात अष्टापद पर्वत पर चक्रवर्ती सगर के महामंत्री सुबुद्धि ने सगरपुत्रों को बताया थी।

(देखें—नन्दीमवृ प २४२-२४६)

#### ७. दृष्टिवाद के अनह

बह्वे दुग्मेघा असत्ता दिद्विवायं अहिज्जिउं। अप्पा-उयाण य आउयं ण पडुप्पति। इत्थियाओ पुण पाएण तुच्छाओ, गारवबहुलाओ चलिदियाओ, दुब्बलधिईओ, अतो एयासि जे अतिसेसज्जयणा भरुणोववायणिसीह-माइणो दिद्विवातो य ते ण दिज्जंति।

(आवचू १ पृ ३५)

जो मंद बुद्धि वाले हैं, वे दृष्टिवाद को पढ़ने में असमर्थ हैं। जो अल्पायु हैं, उनका आयुष्य विशाल ज्ञानराशि को प्राप्त करने से पूर्व ही समाप्त हो जाता है। स्त्रियां प्रायः तुच्छ और गौरवबहुल होती हैं। उनकी इन्द्रियां चंचल और धृति दुर्बल होती है, इसलिए उन्हें अरुणोपपात, निशीथ जैसे अतिशेष—विशिष्ट अध्ययनों तथा दृष्टिवाद की वाचना नहीं दी जा सकती।

देव—दिव्य शक्ति-सम्पन्न।

१. देव का निर्वचन
२. देव के प्रकार
३. भवनपति देव
- \* परमाधार्मिक देव (द्र. नरक)
४. स्व्यंतर देव
- ० जन्मक देव
५. ज्योतिष्क देव
- \* नक्षत्र देव (द्र. नक्षत्र)
६. वैमानिक देव
७. कल्पोपग देव
८. कल्पतीत देव
- ० प्रदेयक और अनुत्तर देव
- \* लोकांतिक देव (द्र. तीर्थकर)
९. देवों की आयुस्थिति
१०. देवों की कायस्थिति
- ० अन्तरकाल
- ० अवगाहना
११. देव-आयुष्य बंध के कारण
- ० देवों की सम्पदा
१२. देव के मनुष्यलोक में आगमन के कारण
१३. देव के मनुष्यलोक में न आने के कारण
- \* देवलोक की अवस्थिति (द्र. लोक)
- \* देव की अस्तित्व सिद्धि (द्र. गणधर)

* देव के भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान और उसकी क्षेत्र मर्यादा तथा संस्थान	(द्र. अवधिज्ञान)
* देवगति शुभ नाम कर्म	(द्र. कर्म)
* देवगति और सामायिक	(द्र. सामायिक)
* देवों में लेश्या की स्थिति	(द्र. लेश्या)
* देव और आशीषिष लब्धि	(द्र. लब्धि)
* देवों में श्रुत-विशुद्धि का तारतम्य	(द्र. श्रुतज्ञान)
* धर्मध्यान और देवगति	(द्र. ध्यान)
* देवेन्द्र भव्य होते हैं	(द्र. चक्रवर्ती)
* देवों में शरीर	(द्र. शरीर)
* अवगाहना और विमानों का मापन	(द्र. अंगुल)

## १. देव का निर्बचन

दिव्यन्ति—निरुपमक्रीडामनुभवन्तीति देवाः ।  
(नन्दीमवृ प ७७)

जो निरुपम क्रीडा का अनुभव करते हैं, वे देव हैं ।

## २. देव के प्रकार

देवा ऋतुविवहा वृत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।  
भोमिज्जवाणमंतर, जोइस्सेमाणिया तथा ।

(उ ३६।२०४)

देव चार प्रकार के हैं—

- |            |              |
|------------|--------------|
| १. भवनपति  | ३. ज्योतिष्क |
| २. व्यन्तर | ४. वैमानिक   |

एएसि वण्णओ चैव, गंधओ रसफासओ ।  
संठाणादेसओ वावि, विहाणाईं सहस्सओ ॥

(उ ३६।२४७)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

## ३. भवनपति देव

भूमौ—पृथिव्यां भवाः भोमेयकाः—भवनवासिनो,  
रत्नप्रभापृथिव्यन्तर्भूतत्वात्तद्भवनानाम् ।

(उशावृ प ७०१)

जिन देवों के आवास भूमि पर हैं, वे भवनवासी कहलाते हैं । उनके भवन रत्नप्रभा पृथ्वी के भीतर हैं ।

कुमारवदेव कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललित-  
गतयः शृङ्गाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेष-  
भाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोत्त्वणरागाः

क्रीडनपराश्वेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते । (उशावृ प ७०२)

जो कुमार की तरह कान्त, सुकुमार और मन्द-  
ललित गति वाले हैं, जो सुन्दर रूप की विक्रिया करते  
हैं, जो कुमार की तरह उद्धत रूप वेष, भाषा, आभूषण,  
आयुध, आवरण, यान वाहन वाले होते हैं, जो  
लावण्य सम्पन्न और क्रीडाप्रिय होते हैं, वे कुमार देव  
(भवनवासी देव) कहलाते हैं ।

असुरा नागसुवण्णा, विज्जू अग्गी य आहिया ।

दीवोदहिदिसा वाया, धणिया भवणवासिणो ॥

(उ ३६।२०६)

भवनवासी देवों के दस प्रकार हैं—

- |                  |                 |
|------------------|-----------------|
| १. असुरकुमार     | ६. द्वीपकुमार   |
| २. नागकुमार      | ७. उदधिकुमार    |
| ३. सुपर्णकुमार   | ८. दिक्कुमार    |
| ४. विद्युत्कुमार | ९. वायुकुमार    |
| ५. अग्निकुमार    | १०. स्तनितकुमार |

## ४. व्यंतर देव

वनेषु—विचित्रोपवनादिषूपलक्षणत्वादन्वेषु च विवि-  
धास्पदेषु क्रीडैकरसतया चरितुं शीलमेषामिति वन-  
चारिणः—व्यन्तराः । (उशावृ प ७०१)

कुतूहलप्रिय और क्रीडा रसिक होने के कारण जो  
वन-उपवन आदि विविध स्थानों में विचरण करते हैं, वे  
व्यंतर देव हैं ।

वाणमंतरत्ति आर्षत्वाद् विविधान्यन्तराणि—  
उत्कर्षापकर्षात्मकविशेषरूपाणि निवासभूतानि वा गिरि-  
कन्दरविवरादीनि येषां तेषां व्यन्तराः, उक्तं हि—ते  
ह्यधस्तिर्यगूर्ध्वं च त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तः स्वातन्त्र्यात्  
पराभियोगाच्च प्रायेण प्रतिपतन्त्यनियतगतिप्रचारान्मनु-  
ष्यान्पि क्वचिद् भृत्यवदुपचरन्ति तथा विविधेषु च शैल-  
कन्दरान्तरवनविवरादिषु प्रतिवसन्त्यतो व्यन्तरा  
इत्युच्यन्ते । (उशावृ प ७०१)

रत्नप्रभा पृथ्वी के साधारण-असाधारण अंतरों में  
जिनके आवास स्थल हैं तथा जो गिरिकन्दराओं के  
विवरों और वन-उपवनों आदि में रहते हैं, वे व्यन्तर देव  
हैं ।

वे देव ऊर्ध्व, अधः तथा तिर्यक्—तीनों लोकों का  
स्पर्श करते हैं तथा स्वतंत्र रूप से अथवा दूसरों के द्वारा

नियुक्त होकर अनियत गति से विचरण करते हैं, कभी-कभी मनुष्यों की भी सेवक की भांति सेवा करते हैं।

पिसायभूय जक्खा य, रक्खसा किन्नरा य किपुरिसा ।

महोरगा य गंधव्वा, अट्टविहा वाणमंतरा ॥

(उ ३६।२०७)

व्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं—

- |           |            |
|-----------|------------|
| १. पिशाच  | ५. किन्नर  |
| २. भूत    | ६. किपुरुष |
| ३. यक्ष   | ७. महोरग   |
| ४. राक्षस | ८. गन्धर्व |

### जृम्भक देव

वेसमणवयणसंचोइआ उ ते तिरिअजंभगा देवा ।

कोडिग्गसो हिरण्णा रयणाणि अ तत्थ उवणिति ॥

जृम्भकाः व्यन्तरा देवाः ।.....तिर्यंगिति तिर्यंग्लोक-

जृम्भकाः । (आवभा ६८ हावू १ पृ १२०)

जृम्भक व्यन्तर देवों की एक जाति है। ये देव तिर्यक् लोक में रहने के कारण तिर्यक् जृम्भक कहलाते हैं। ये देव वैश्रमण देव की प्रेरणा से तीर्थकरों के जन्म-महोत्सव आदि अवसरों पर स्वर्ण, रत्न आदि उपहृत करते हैं।

### ५. ज्योतिष्क देव

ज्योतींषि विमानान्यालया—आश्रया येषां ते ज्योतिरालयाः ।

(उशावृ प ७०२)

जिनके आश्रय—विमान ज्योतिर्मय हैं, वे ज्योतिष्क देव हैं।

चंदा सुरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।

दिसाविचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥

(उ ३६।२०८)

ज्योतिष्क देवों के पांच प्रकार हैं—

१. चन्द्र २. सूर्य ३. नक्षत्र ४. ग्रह और ५ तारा ।

ये दिशाविचारी देव मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए विचरण करने वाले हैं।

दिशासु विशेषेण—मेरुप्रादक्षिण्यनित्यचारितालक्षणेन चरन्ति—परिभ्रमन्तीत्येवंशीला दिशाविचारिणः । तद्विमानानि ह्येकादशभिरेकविंशत्यैोजनशतैर्मरौश्चतसृष्वपि दिक्ष्वबाधया सततमेव प्रदक्षिणं चरन्तीति तेऽप्येवमुक्ताः ।

(उशावृ प ७०२)

दिशाचरी ज्योतिष्क देवों के विमान मेरु की चारों दिशाओं में सतत प्रदक्षिणा करते हैं, जिसका क्षेत्र-परिमाण ११२१ योजन है।

### ६. वैमानिक देव

विशेषेण मानयन्ति—उपभुञ्जन्ति सुकृतिन एता-नीति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः ।

(उशावृ प ७०१)

पुण्यशाली जिनका उपभोग करते हैं, वे विमान हैं। जिनकी उत्पत्ति विमान में हो, वे वैमानिक देव हैं।

विसालिमेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तरउत्तरा ।

महासुकका व दिप्पंता, मन्ता अपुणच्चवं ॥

अप्पिया देवकामार्णं, कामरूवविउक्विणा ।

उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वा वाससया बहू ॥

(उ ३।१४, १५)

विविध प्रकार के शीलों की आराधना के कारण जो देव उत्तरोत्तर कल्पों व उसके ऊपर के देवलोकों की आयु का भोग करते हैं, वे महाशुक्ल (चंद्र-सूर्य) की तरह दीप्तिमान् होते हैं तथा स्वर्ग से पुनः च्यवन नहीं होता, ऐसा मानते हैं।

वे देवी भोगों के लिए अपने आपको अर्पित किए हुए रहते हैं। वे इच्छानुसार रूप बनाने में समर्थ होते हैं तथा सैकड़ों पूर्व वर्षों तक—असंख्य काल तक ऊर्ध्ववर्ती कल्पों में रहते हैं।

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।

कप्पोवगा य बोद्धव्वा, कप्पाईया तहेव य ।

(उ ३६।२०९)

वैमानिक देवों के दो प्रकार हैं—कलोपग और कल्पातीत ।

### ७. कलोपग देव

कल्प्यन्ते—इन्द्रसामानिकत्रार्थस्त्रिंशदादिदशप्रकारत्वेन देवा एतेष्विति कल्पा—देवलोकास्तानुपगच्छन्ति—उत्पत्तिविषयतया प्राप्नुवन्तीति कलोपगाः ।

(उशावृ प ७०२)

जहां इन्द्र आदि कल्पों की व्यवस्था है, वे कलोप-पन्न देवलोक हैं। वहां उत्पन्न देव कलोपग कहलाते हैं। दस कल्प ये हैं—

१. इन्द्र—सामानिक आदि देवों के अधिपति ।

२. सामानिक—आयु आदि में इन्द्र के समान ।

३. त्रायस्त्रिंश—मंत्रीस्थानीय ।
४. पारिषद्य मित्रस्थानीय ।
५. आत्मरक्षक—स्वामीरक्षक ।
६. लोकपाल—सीमारक्षक ।
७. अनीक—सैनिक और सेनापतिस्थानीय ।
८. प्रकीर्णक—नगरवासी और देशवासी स्थानीय ।
९. आभियोग्य—सेवकस्थानीय ।
१०. किल्बिषक—अंत्यजस्थानीय ।

कल्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तथा ।  
सणकुमारमहिंदा, बंभलोगा य छंतगा ॥  
महामुक्का सहस्सारा, आणया तथा ।  
आरणा अच्चुया चैव, इह कल्पोवगा सुरा ॥  
(उ ३६।२१०, २११)

कल्पोपग देव बारह प्रकार के हैं—

- |              |             |
|--------------|-------------|
| १. सौधर्म    | ७. महाशुक्र |
| २. ईशान      | ८. सहस्रार  |
| ३. सनत्कुमार | ९. आनत      |
| ४. माहेन्द्र | १०. प्राणत  |
| ५. ब्रह्मलोक | ११. आरण     |
| ६. लान्तक    | १२. अच्युत  |

### सौधर्म देवलोक

सुधर्मा नाम शक्रस्य सभा । साऽस्मिन्नस्तीति सौधर्मः  
कल्पः । स एषामवस्थितिविषयोऽस्तीति सौधर्मिणः ।  
(उशावृ प ७०२)

शक्र की सभा का नाम है सुधर्मा । जहाँ यह सुधर्मा सभा है, वह सौधर्म देवलोक है । वहाँ सौधर्म देव रहते हैं ।

### ८. कल्पातीत देव

कल्पान् — उक्तरूपानतीताः— तदुपरिवर्तिस्थानो-  
त्पन्नतया निष्क्रान्ताः कल्पातीताः । (उशावृ प ७०२)

जो सौधर्म आदि बारह कल्पविमानों से ऊपर ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं तथा जो इन्द्र, सामानिक (स्वामी, सेवक) आदि की कल्पमर्यादा से अतीत हैं, वे कल्पातीत देव हैं ।

कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।

गेविज्जाणुत्तरा चैव.....

॥

(उ ३६।२१२)

कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं— ग्रैवेयक और अनुत्तर ।

### ग्रैवेयक देव

ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्जुपरिवर्ती  
प्रदेशस्तस्मिन्निविष्टतयाऽतिभ्राजिष्णुतया च तदाभरण-  
भूना ग्रैवेया— देवावागस्तस्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयाः ।  
(उशावृ प ७०२)

चौदह रज्जु प्रमाण लोकपुरुष का ग्रीवास्थानीय भाग है—तेरह रज्जु का उपरि प्रदेश । उस लोकपुरुष के ग्रीवा स्थानीय प्रदेश में निवास करने वाले देव ग्रैवेयक कहलाते हैं ।

हेट्टिमाहेट्टिमा चैव, हेट्टिमामज्झिमा तथा ।  
हेट्टिमाउवरिमा चैव, मज्झिमाहेट्टिमा तथा ॥  
मज्झिमामज्झिमा चैव, मज्झिमाउवरिमा तथा ।  
उवरिमाहेट्टिमा चैव, उवरिमामज्झिमा तथा ॥  
उवरिमाउवरिमा चैव, इय मेविज्जगा सुरा ।....  
(उ ३६।२१३-२१५)

ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के हैं—

- |                |                |
|----------------|----------------|
| १. अधः-अधस्तन  | ६. मध्य-उपरितन |
| २. अधः-मध्यम   | ७. उपरि-अधस्तन |
| ३. अधः-उपरितन  | ८. उपरि-मध्यम  |
| ४. मध्य-अधस्तन | ९. उपरि-उपरितन |
| ५. मध्य-मध्यम  |                |

### अनुत्तर देव

....विजया वेजयन्ता य, जयन्ता अपराजिया ॥

सव्वट्टिसिद्धगा चैव, पंचहाणुत्तरा सुरा ।.....

(उ ३६।२१५, २१६)

अनुत्तर देव पांच प्रकार के हैं—

- |            |                   |
|------------|-------------------|
| १. विजय    | ४. अपराजित        |
| २. वैजयन्त | ५. सर्वार्थसिद्धक |
| ३. जयन्त   |                   |

न विद्यन्ते उत्तराः— प्रधानाः स्थितिप्रभावसुखद्युति-  
लेश्याविभिरेभ्योऽन्ये देवा इत्यनुत्तराः । (उशावृ प ७०२)  
अन्य देवों की अपेक्षा जिनकी स्थिति, प्रभाव, सुख,  
द्युति, लेश्या आदि अनुत्तर है, वे अनुत्तर देव हैं ।

सर्वेऽर्थाः सिद्धा इव सिद्धा येषां ते सर्वार्थसिद्धाः । ते  
हि विजितप्रायकर्माणः, उपस्थितभद्रा एव तत्रोत्पत्तिभाजः ।

(उशावृ प ७०३)

सर्वार्थसिद्ध देव वे हैं, जिनके प्रायः कर्म क्षीण हो चुके हैं और जिनके सामने हर क्षण कल्याण उपस्थित रहता है। सिद्धों की भांति इनके सब अर्थ सिद्ध होते हैं।

सर्वो-निरवशेषा अर्थ्यमानत्वादर्थीः—अनुत्तरसुखादयो यस्मिस्तत् सर्वार्थम् । (उशावृ प ७०४)

जहां अनुत्तर सुख-समृद्धि पूर्णतः विद्यमान है, वह सर्वार्थसिद्ध विमान है।

## ६. देवों की आयुस्थिति

साहियं सागरं एकं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 भोमेज्जाणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥  
 पलिओवममेगं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 वंतराणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥  
 पलिओवमं एगं तु, वासलक्खेण साहियं ।  
 पलिओवमट्टभागे, जोइसेसु जहन्निया ॥  
 दो चैव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया ।  
 सोहम्ममि जहन्नेणं, एगं च पलिओवमं ॥  
 सागरा साहिया दुत्ति, उक्कोसेण वियाहिया ।  
 ईसाणम्मि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं ॥  
 सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेण ठिई भई ।  
 सणकुमारे जहन्नेणं, दुत्ति ऊ सागरोवमा ॥  
 साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 माहिदम्मि जहन्नेणं, साहिया दुत्ति सागरा ॥  
 दस चैव सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 बंभलोए जहन्नेणं, सत्त ऊ सागरोवमा ॥  
 चउद्दस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 लंतगम्मि जहन्नेणं, दस ऊ सागरोवमा ॥  
 सत्तरस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 महासुक्के जहन्नेणं, चउद्दस सागरोवमा ॥  
 अट्टारस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 सहस्सारे जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥

सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 आणयम्मि जहन्नेणं, अट्टारस सागरोवमा ॥  
 वीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 पाणयम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणवीसई ॥  
 सागरा इक्कवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 आरणम्मि जहन्नेणं, वीसई सागरोवमा ॥  
 बावीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 अच्चुयम्मि जहन्नेणं, सागरा इक्कवीसई ॥  
 तेवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 पढमम्मि जहन्नेणं, बावीस सागरोवमा ॥  
 चउवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 बिइयम्मि जहन्नेणं, तेवीस सागरोवमा ॥  
 पणवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 तइयम्मि जहन्नेणं, चउवीस सागरोवमा ॥  
 छुवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 चउत्थम्मि जहन्नेणं, सागरा पणुवीसई ॥  
 सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 पंचमम्मि जहन्नेणं, सागरा उ छुवीसई ॥  
 सागरा अट्टुवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 छट्टुम्मि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसई ॥  
 सागरा अउणतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 सत्तमम्मि जहन्नेणं, सागरा अट्टुवीसई ॥  
 तीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 अट्टमम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणतीसई ॥  
 सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 नवमम्मि जहन्नेणं, तीसई सागरोवमा ॥  
 तेत्तीस सागराउ, उक्कोसेण ठिई भवे ।  
 चउसुं पि विजयाईसुं, जहन्नेणेक्कतीसई ॥  
 अजहन्नमणुक्कोसा, तेत्तीसं सागरोवमा ।  
 महाविमाण सब्बट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ॥

(उ ३६।२।१९-२४४)

## देव

भवनपति  
 व्यन्तर  
 ज्योतिष्क

## ० वैमानिक

सौधर्म  
 ईशान

## जघन्य आयु

दस हजार वर्ष  
 दस हजार वर्ष  
 पल्योपम का आठवां भाग

एक पल्योपम  
 किञ्चित् अधिक एक पल्योपम

## उत्कृष्ट आयु

किञ्चित् अधिक एक सागरोपम  
 एक पल्योपम  
 एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम

दो सागरोपम  
 किञ्चित् अधिक दो सागरोपम



देव	जवन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
सनत्कुमार	दो सागरोपम	सात सागरोपम
माहेन्द्र	किञ्चित् अधिक दो सागरोपम	किञ्चित् अधिक सात सागरोपम
ब्रह्मलोक	सात सागरोपम	दस सागरोपम
लान्तक	दस सागरोपम	चौदह सागरोपम
महाशुक्र	चौदह सागरोपम	सतरह सागरोपम
सहस्रार	सतरह सागरोपम	अठारह सागरोपम
आनत	अठारह सागरोपम	उन्नीस सागरोपम
प्राणत	उन्नीस सागरोपम	बीस सागरोपम
आरण	बीस सागरोपम	इक्कीस सागरोपम
अच्युत	इक्कीस सागरोपम	बईस सागरोपम
० नव ग्रैवेयक		
प्रथम ग्रैवेयक	बाईस सागरोपम	तेईस सागरोपम
द्वितीय ग्रैवेयक	तेईस सागरोपम	चौबीस सागरोपम
तृतीय ग्रैवेयक	चौबीस सागरोपम	पच्चीस सागरोपम
चतुर्थ ग्रैवेयक	पच्चीस सागरोपम	छब्बीस सागरोपम
पंचम ग्रैवेयक	छब्बीस सागरोपम	सत्ताईस सागरोपम
षष्ठ ग्रैवेयक	सत्ताईस सागरोपम	अट्ठाईस सागरोपम
सप्तम ग्रैवेयक	अट्ठाईस सागरोपम	उनतीस सागरोपम
अष्टम ग्रैवेयक	उनतीस सागरोपम	तीस सागरोपम
नवम ग्रैवेयक	तीस सागरोपम	इकतीस सागरोपम
० पांच अनुस्तर विमान		
विजय	}	
वैजयन्त		
जयन्त		
अपराजित		
सर्वार्थसिद्ध		
	इकतीस सागरोपम	तेतीस सागरोपम
	तेतीस सागरोपम	तेतीस सागरोपम

## १०. देवों की कायस्थिति

जा चेव उ आउठिई, देवाणं तु वियाहिया ।

सा तेसिं कायठिई, जहनुक्कोसिया भवे ॥

(उ ३६।२४५)

सारे ही देवों की जितनी आयुस्थिति है, उतनी ही उनकी जघन्य या उत्कृष्ट कायस्थिति है ।

देवे नेरइए य अइमओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।

इक्किक्कभवग्गहणे ..... ॥

(उ १०।१४)

देव और नरकयोनि में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक एक-एक जन्म ग्रहण तक वहां रह जाता है ।

## अन्तरकाल

अर्णतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

विजडमि सए काए, देवाणं हुज्ज अंतरं ॥

(उ ३६।२४६)

उनका अन्तर—अपने-अपने काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्तकाल का है ।

## अवगाहना

एवं असुरकुमाराईणं जाव अणुत्तरविमाणवासीणं  
सगसगसरीरोगाहणा भाणियव्वा । (अनु ४०५)

असुरकुमारार्णं भवधारणा जहण्णा अंगुलअसंखभागी

उक्कोस सत्त रयणी, उत्तरवेउव्विया जहण्णा अंगुलस्स असंखेज्जतिभागे उक्कोसा जोयणलक्खं । एवं णागादिया-णवि णवण्हं, णवरं उत्तरवेउव्विया उक्कोसा जोयण-सहस्सं । (अनुचू पृ ५५)

असुरकुमार देवों के भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्येय भाग तथा उत्कृष्ट सात हाथ है । उनकी उत्तरवैक्रिय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग तथा उत्कृष्ट एक लाख योजन है । इसी प्रकार नामकुमार आदि भवनवति देवों की अवगाहना भी इतनी है, केवल उत्तर वैक्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन है ।

(व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों की अवगाहना असुर-कुमार देवों जितनी होती है ।.....अनुत्तरोपपातिक देवों की अवगाहना एक हाथ की होती है ।

देखें—पन्नवणा २१।७०, ७१ ।

### ११. देव-आयुष्य बंध के कारण

देवाउयं निबंधद, सरागतवसंजमो ।  
अणुव्वयधरो दंतो, सत्तो बालतवम्मि य ॥  
बालतवे पडिबद्धा, उक्कडरोसा तवेण गारविया ।  
वेरेण य पडिबद्धा, मरिऊणं जति असुरेसु ॥  
रज्जुगहणे विसभक्खणे य जलणे य जलपवेसे य ।  
तप्हाछुहाकिलंता, मरिऊणं हुंति वंतरिया ॥  
(उसुवृ प ६७)

### देव-आयुष्य बंध के कारण

१. सराग तप-संयम का पालन ।
२. अणुव्रतों का पालन ।
३. इन्द्रिय और मन का दमन ।
४. बाल तप में आसक्त ।

### असुरदेव-आयुष्य बंध के कारण

१. अज्ञान तप में प्रतिबद्धता ।
२. प्रबल क्रोध करना ।
३. तप का अहं करना ।
४. वैर में प्रतिबद्धता ।

### व्यन्तरदेव-आयुष्य बंध के कारण

१. फांसी पर लटक कर आत्महत्या करना ।
२. विष-भक्षण ।

३. अग्नि में जलकर मरना ।

४. जल में डूबकर मरना ।

५. भूख और प्यास से क्लान्त होकर मरना ।

जेसि तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइच्छिया ।

सीलवंता सवीसेसा, अहीणा जंति देवयं ॥

(उ ७।२१)

जिनके पास विपुल शिक्षा है, वे शीलसम्पन्न और उत्तरोत्तर गुणों को प्राप्त करने वाले पराक्रमी पुरुष मूलधन—मनुष्यत्व का अतिक्रमण करके देवत्व को प्राप्त होते हैं ।

ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं ।

भिक्षाए वा गिहत्थे वा, जे संति परिनिव्वुडा ॥

(उ ५।२८)

जो उपशान्त होते हैं, वे संयम और तप का अभ्यास कर देव-आवासों में जाते हैं, भले फिर वे भिक्षु हों या गृहस्थ ।

इहजीवियं अणियमेत्ता, पब्भट्टा समाहिजोएहि ।

ते कामभोगरसगिद्धा, उव्वज्जंति आसुरे काए ॥

(उ ८।१४)

जो इस जन्म में जीवन को अनियंत्रित रखकर समाधि-योग से परिभ्रष्ट होते हैं, वे कामभोग और रसों में आसक्त बने हुए पुरुष असुरकाय में उत्पन्न होते हैं ।

### देवों की सम्पदा

उत्तराइं विमोहाइं, जुइमंताणुपुव्वसो ।

समाइण्णाइं जक्खेहि, आवासाइं जसंसिणो ॥

दीहाउया इड्ढमंता, समिद्धा कामरुविणो ।

अहुणोव्वन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्वभा ॥

(उ ५।२६, २७)

देवताओं के आवास उत्तरोत्तर उत्तम, मोहरहित और वृत्तिमान् तथा देवों से आकीर्ण होते हैं । उनमें रहने वाले देव यशस्वी, दीर्घायु, ऋद्धिमान्, दीप्तिमान्, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हों ऐसी कान्ति वाले और सूर्य के समान अतितेजस्वी होते हैं ।

सौधर्मादिषु ह्यनुत्तरविमानावसानेषु पूर्वपूर्वापेक्षया प्रकर्षवन्त्येव विमोहत्वादीनि । (उशावृ प २५२)

सौम्यं देवलोक से अनुत्तरविमान पर्यन्त देवलोकों में निवास करने वाले देवों में मोह आदि क्रमशः कम होते जाते हैं। अनुत्तर विमानवासी देवों का मोह अत्यंत उपशांत होता है।

अधुनोपपन्नसंकाशाः प्रथमोत्पन्नदेवतुल्याः, अनुत्तरेषु हि वर्णद्युत्यादि यावदायुस्तुल्यमेव भवति।  
(उशावृ प २५२)

अधुनोपपन्न का अर्थ है तत्काल उत्पन्न देव। इसका तात्पर्य है कि उनमें औदारिक शरीरगत अवस्थायें नहीं होती। वे न बालक होते हैं न बूढ़े, सदा एक समान रहते हैं। अनुत्तरविमानवासी देवों का रूप-रंग और लावण्य जैसा उत्पत्ति के समय होता है वैसा ही अन्तकाल तक होता है।

.....मोहणियसायवेयणियकम्मउदयाओ।

कामपसत्ता विरई कम्मोदयउ च्चिय न तेसि ॥

अणिमिस देवसहावा णिच्चिट्ठाणुत्तरा उ कयकिच्चा।

कालाणुभावा तित्थुन्नईवि अन्नत्थ कुर्वति ॥

(आवनि २ पृ १६०)

देव मोहनीय और सातवेदनीय कर्म के उदय के कारण कामासक्त होते हैं। अप्रत्याख्यान मोहनीय के उदय के कारण वे त्याग नहीं कर सकते। वे स्वभाव से ही अनिमेष होते हैं। अनुत्तर देव कृतकृत्य होने के कारण क्रिया नहीं करते। उचित समय में वे तीर्थ की प्रभावना में भी सहयोगी बनते हैं।

## १२. देव के मनुष्यलोक में आगमन के कारण

नवरि जिणजम्म-दिक्खा-केवल-निव्वाणमहनिओगेणं।

भत्तीए सोम्म! संसयचिच्छेयत्थं व एज्जहण्हा ॥

पुव्वाणुरामओ वा समयनिबंधा तवोगुणाओ वा।

नरगणपीडा-ऽणुग्गह-कंदप्पाईहिं वा केइ ॥

(विभा १८७६, १८७७)

देव निम्न कारणों से मनुष्य लोक में आ सकते हैं—

१. अर्हत् के जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण महोत्सव पर।

२. भक्ति के वशीभूत होकर।

३. संशय दूर करने के लिए।

४. पूर्वजन्म के पुत्र, मित्र आदि के अनुराग से।

५. पूर्वभव में किसी निश्चित संकेत आदि के द्वारा प्रतिबोध देने के लिए।

६. तपस्या आदि गुणों से आकृष्ट होकर।

७. पूर्वभव के वैर के कारण उसे पीड़ा देने के लिए।

८. पूर्वभव के मित्र आदि पर अनुग्रह करने के लिए।

९. हास्य, कुतूहल के कारण।

## १३. देव के मनुष्यलोक में न आने के कारण

संकतदिव्वपेम्मा विसयपसत्ताऽअसमत्तकत्तव्वा।

अणहीणमणुयकज्जा नरभवमसुहं न एति सुरा ॥

(विभा १८७५)

देव निम्न कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आते—

१. संक्रांतदिव्यप्रेम—उत्पन्न होते ही देवों का परस्पर धनिष्ठ प्रेम हो जाता है।

२. विषयासक्ति—वे दिव्य कामभोगों में आसक्त हो जाते हैं।

३. असमाप्तकर्तव्य—वे अनेक कार्यों में नियुक्त हो जाते हैं। उन कार्यों में अतिव्यस्तता रहने के कारण।

४. अनधीनकार्य—वे मनुष्य के किसी कार्य के अधीन नहीं होते।

५. अशुभ गंध—वे मनुष्य लोक की दुर्गन्ध को सहन नहीं कर सकते।

देशविरति— जो अंश रूप में ब्रती होता है, उसकी आत्मविशुद्धि। (द्र. गुणस्थान)

द्रव्य गुण और पर्याय का आश्रय।

१. द्रव्य के निर्वचन

२. द्रव्य-गुण-पर्याय

३. द्रव्य के प्रकार

\* धर्मास्तिकाय

\* अधर्मास्तिकाय

\* आकाशास्तिकाय

\* काल

\* पुद्गल

\* जीवास्तिकाय

४. पर्याय के लक्षण

(द्र. अस्तिकाय)

(द्र. काल)

(द्र. पुद्गल)

(द्र. जीव)

५. सामान्य-विशेष
६. द्रव्य परिणामीनित्य
७. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य
८. गुरु और लघु द्रव्य
९. अगुरुलघु पर्याय
१०. द्रव्य-पर्याय की सूक्ष्मता

## १. द्रव्य के निर्वचन

दवए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण संदावो ।  
दव्वं भव्वं भावस्स भूअभावं च जं जोगं ॥  
(विभा २८)

द्रव्य वह है—

- ० जो अपने पर्यायों को प्राप्त होता है और उनसे मुक्त होता है ।
- ० जो अपने पर्यायों द्वारा गृहीत होता है और परित्यक्त (मुक्त) होता है ।
- ० जो सत्ता का अवयव अथवा विकार है । (अवा-न्तर सत्तात्मक द्रव्य महासत्ता के अवयव अथवा विकार होते हैं ।)
- ० जो रूप आदि गुणों का समुदाय है ।
- ० जिसमें भूतकालीन और भविष्यकालीन पर्यायों की योग्यता है ।

## २. द्रव्य-गुण-पर्याय

गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा ।  
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥

(उ २८।६)

जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है । जो एक (केवल) द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण होते हैं । द्रव्य और गुण—दोनों के आश्रित रहना पर्याय का लक्षण है ।

## ३. द्रव्य के प्रकार

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो ।

(उ २८।७)

द्रव्य के छह प्रकार हैं—

- |                  |                   |
|------------------|-------------------|
| १. धर्मास्तिकाय  | ४. काल            |
| २. अधर्मास्तिकाय | ५. पुद्गलास्तिकाय |
| ३. आकाशास्तिकाय  | ६. जीवास्तिकाय    |

धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किककमाहियं ।  
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजंतवो ॥

(उ २८।८)

धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक हैं ।  
काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनन्त-अनन्त हैं ।

## ४. पर्याय के लक्षण

एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य ।

संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥

(उ २८।१३)

एकत्व—प्रत्येक स्कन्ध के परमाणु भिन्न-भिन्न होते हैं,  
फिर भी उनके संघात में एकत्व की अनुभूति होती है ।

पृथक्त्व—यह इससे पृथक् है—इस अनुभूति का हेतुभूत पर्याय ।

संख्या—एक, दो, तीन आदि की प्रतीति का हेतुभूत पर्याय ।

संस्थान—आकार-विशेष में संस्थित होना । यह वर्तुल है,  
यह दीर्घ है—इस बुद्धि का हेतुभूत पर्याय ।

संयोग—दो वस्तुओं का संयोग ।

विभाग—यह इससे विभक्त है—इस बुद्धि का हेतुभूत पर्याय ।

## ५. सामान्य-विशेष

सामण्ण-विसेसमओ तेण पयत्थो विवक्खया जुत्तो ।

वत्थुस्स विस्सरुवो पज्जायावेक्खया सव्वो ॥

(विभा १६०३)

प्रत्येक पदार्थ में सामान्य और विशेष दोनों होते हैं ।  
पर्याय की अपेक्षा पदार्थ के विविध रूप हैं ।

....वत्थुं चिय जो सरिसो पज्जवो स सामन्नं ।

जो विसरिसो विसेसो .....

(विभा २२०२)

वस्तु के सदृश पर्याय को सामान्य और विसदृश पर्याय को विशेष कहते हैं ।

सव्वं चिय सव्वमयं स-परपज्जायओ जओ निययं ।

सव्वमसव्वमयं पि य विवित्तरुवं विवक्खाओ ॥

(विभा १६०२)

सर्व पदार्थ सर्वात्मक है, स्व और पर पर्याय अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से । सर्व सर्वात्मक नहीं हैं, पृथक्

पर्याय अर्थात् विशेष की अपेक्षा से ।

### ६. द्रव्य परिणामीनित्य

आविर्भाव-तिरोभावमेतत्परिणामि द्रव्यमेवेयं ।  
निष्चं बहुल्वं पि य नडोव्व वेसतरावन्नो ॥

(विभा २६६६)

नाना प्रकार के वेष धारण करने वाले नट के बहुरूपों की तरह आविर्भाव और तिरोभाव होने पर भी द्रव्य अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है, इसलिए द्रव्य परिणामीनित्य है ।

जं जं जे जे भावे परिणमइ पओग-वीससादव्वं ।

तं तह जाणाइ जिणो अपज्जवे जाणणा नत्थि ॥

(विभा २६६७)

प्रयोग और स्वभाव से जो-जो द्रव्य जिस-जिस भाव में परिणत होता है, केवली उसे उसी रूप में जानते हैं । पर्याय रहित द्रव्य को नहीं जाना जा सकता ।

### ७. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य

नाणुप्पन्नं लक्खिज्जए जओ वत्थु लक्खणं तेणं ।

उप्पाओ संभवओ तह चेव विगच्छओ विगमो ॥

लक्खिज्जइ जं विगयं विगमेण विणा व जं न संभूई ।

विगमो वि लक्खणमओ विगच्छओ वत्थुणोऽणणो ॥

(विभा २१६४, २१६५)

अनुत्पन्न वस्तु का बोध नहीं होता और विगम (व्यय) के बिना उत्पाद नहीं होता । उत्पाद और व्यय से वस्तु लक्षित होती है, अतः उत्पाद और व्यय वस्तु के लक्षण हैं, उससे अभिन्न हैं ।

सव्वं चिय पइसमयं उप्पज्जइ तासए य निष्चं च ।.....

(विभा ५४४)

सभी वस्तुएं प्रतिक्षण उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती हैं और नित्य हैं ।

अहव सहावो धम्मो वत्थुस्स, न सो वि सरिसओ निष्चं ।

उप्पायट्ठिइ-भंगा चित्ता जं वत्थुपज्जाया ॥

(विभा १७९२)

वस्तु का स्वभाव निरन्तर एक समान नहीं रहता । वस्तु के पर्याय विचित्र हैं । वे तीन हैं—उत्पाद, ध्रौव्य और विनाश ।

### उत्पाद और व्यय युगपत्

नाणस्सावरणस्स य समयं तम्हा पगासतमसो व्व ।

उप्पायव्वयधम्मो तह नेया सव्वभावाणं ॥

(विभा १३४०)

अंधकार के निवर्तन और प्रकाश के उद्भव की तरह केवलज्ञानावरण का क्षय और कैवल्य की उत्पत्ति युगपत् होती है । इसी प्रकार सब पदार्थों में उत्पाद और व्यय युगपत् होते हैं ।

उप्पज्जंति वयंति य परिणमंति य गुणा न द्वाइं ।

दव्वप्पभवा य गुणा ण गुणप्पभवाइं द्वाइं ॥

(आवनि ७९३)

उत्पाद और व्यय के रूप में परिणमन गुण का होता है, द्रव्य का नहीं । द्रव्य से गुण की उत्पत्ति होती है, गुण से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती ।

### मातृकापद

ते हि तीर्थविधौ सर्वे, मातृकाख्यं पदत्रयम् ।

उत्पत्तिविगमध्रौव्यख्यापकं सम्प्रचक्षते ॥

उत्पत्तिविगमावत्र, मतं पर्यायवादिनः ।

द्रव्याधिकस्य तु ध्रौव्यं, मातृकाख्यपदत्रये ॥

(उशावृ प २१)

अर्हत् तीर्थ में तीन मातृकापद हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य । पर्यायवादी को उत्पाद और व्यय तथा द्रव्यवादी को ध्रौव्य मान्य है ।

दव्वधम्मो ताव दव्वपज्जवा । एते धम्मो तास्स जीव-दव्वस्स अजीवदव्वस्स, उप्पायठिईभंगा पज्जाया भवंति । तत्थ जीवदव्वस्स ताव इमे उप्पायठित्तिभंगा, जह मणु-स्सभावेण उप्पणस्स मणुस्सस्स मणुस्सत्ते उप्पायो भवंति, जाओ पुण गतितो उव्वट्ठिऊण आगओ ताए गतीए विगमो, जीवत्तणेण पुण अवट्ठिओ चेव ।

अजीवस्स उप्पायठिईभंगा.....जहा परमाणुस्स परमाणुभावेण विगयस्स परमाणुत्तणेण विगमे दुप्पदेसिय-त्तणे उप्पाओ अजीवदव्वत्तणेण अवट्ठिओ चेव । तहा सुवणणदव्वस्स अंगुलेज्जगतणेण विगमो कुंडलत्तणेण उप्पाओ सुवणणदव्वत्ते अवट्ठियं चेव..... ।

(दजिचू पृ १६)

द्रव्य का धर्म है—द्रव्य के पर्याय । उत्पाद, स्थिति और व्यय—ये पर्याय जीव और अजीव—दोनों द्रव्यों के होते हैं । जैसे—एक देव मनुष्य जन्म लेता है तो उसके देवरूप का विनाश और मनुष्यरूप का उत्पाद होता है तथा उसका जीवत्व अवस्थित रहता है । इसी प्रकार अजीव द्रव्य में भी यह त्रिपदी घटित होती है । एक परमाणु का विनाश होने पर द्विप्रदेशी स्कंध आर्गि

के रूप में उसका उत्पाद होता है, अजीवत्व की अपेक्षा से वह अवस्थित रहता है। स्वर्ण की अंगूठी को भोज कर कुंडल बनाने पर अंगूठी का नाश और कुंडल का उत्पाद होता है तथा स्वर्णद्रव्यत्व अवस्थित रहता है।

जीवमजीवे रूवमरूवी सपएसमप्पसे अ ।

जाणाहि दव्वलोमं णिच्चमणिच्चं च जं दव्वं ॥

(आवभा १९५)

जीव द्रव्य के दो भेद हैं—रूपी (संसारी जीव), अरूपी (सिद्ध जीव)। अजीव द्रव्य के दो भेद हैं—रूपी (पुद्गल), अरूपी (धर्मास्तिकाय आदि)। परमाणु के अतिरिक्त सभी द्रव्य सप्रदेशी और अप्रदेशी हैं। द्रव्य द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है।

### ८. गुरु और लघु द्रव्य

णिच्छयणयस्स णत्थि सव्वगुहं दव्वं, णावि सव्वलहुं ।  
ववहारणयादेसेण पुण वायरखंधेसु सव्वेसु दोऽवि अत्थि ।  
जहा सव्वगुरु कोडियसिला, सव्वलहु मूलगपत्तं तूलं वा ।

(आवचू १ पृ २९)

निश्चय नय की अपेक्षा कोई भी द्रव्य सर्वथा गुरु और सर्वथा लघु नहीं है। व्यवहार नय की अपेक्षा सब बादर स्कन्ध गुरु और लघु—दोनों हैं। जैसे कोटिकशिला गुरु है। मूले का पत्र और रूई लघु है।

### ९. अगुरुलघु पर्याय

परमाणुतो आदत्तं जाव अणंतपदेसितो खंधो एते सुहुमा खंधा भण्णंति । अगुरुलहुपज्जाया य निच्छयतो एतेसि भवति । जे णो गुरु णो लहु ते अगुरुलहु-पज्जाया भण्णंति । जे पुण सुहुमातो अणंतपदेसितातो आरब्भ अणंताणंतपदेसिया खंधा तेसि जे पज्जाया ते गुरुया लहुया य णिच्छयतो णातव्वत्ति ।

(आवचू १ पृ २९, ३०)

निश्चयनय की दृष्टि से परमाणु से लेकर सूक्ष्म अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक अगुरुलघु हैं। जो द्रव्य न गुरु होते हैं और न लघु, वे अगुरुलघु पर्याय वाले होते हैं। सूक्ष्म अनन्तप्रदेशी स्कन्धों से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धों के पर्याय गुरुलघु होते हैं।

### १०. द्रव्य-पर्याय की सूक्ष्मता

सद्दणं पडुच्च दव्वतो सव्वदव्वणं परमाणुपोग्गलो सुहुमो । खेततो सद्दणं पडुच्च एमो आगासपदेसो सुहुमो ।

कालतो सद्दणं पडुच्च समओ सुहुमो । भावतो सद्दणं पडुच्च एगगुणकालतो सुहुमो । परद्दणं पडुच्च दव्वतो भावो सुहुमतरागो । परमाणुपोग्गलो अणंतगुणकालओऽवि अत्थि, अतो दव्वेहितो भावो सुहुमयरागो । मुत्तदव्व-भावेहितो अमुत्तभावत्तणेण कालखेत्ता सुहुमा, कालतो य खेत्तं सुहुमयराणंति । (आवचू १ पृ ४३)

स्वस्थान की अपेक्षा सब द्रव्यों में परमाणुपुद्गल, क्षेत्रतः एक आकाशप्रदेश, कालतः समय और भावतः एक गुण काला सूक्ष्म है। परमाणुपुद्गल अनन्त गुण काला भी होता है, इसलिए परस्थान की अपेक्षा द्रव्य से भाव सूक्ष्मतर है। मूर्त द्रव्य के भाव से अमूर्त भाव सूक्ष्म है, इसलिए काल और क्षेत्र सूक्ष्म है। काल से क्षेत्र सूक्ष्मतर है।

द्वादशांग—गणधर द्वारा रचित आचार आदि बारह अंग-आगम, गणिपिटक ।

(द्र. अंगप्रविष्ट)

### द्वीप—टापू ।

द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां स्थानदातृत्वाहाराद्युपष्टम्भहेतु-त्वलक्षणाभ्यां प्राणिनः पान्तीति द्वीपाः जन्तवावासभूत-क्षेत्रविशेषाः । (अनुमवृ प ८२)

स्थानदान और आहार आदि का उपष्टम्भ— इन दो प्रकारों से जो प्राणियों का पालन-संरक्षण करते हैं, वे द्वीप—आवासक्षेत्र हैं। जंबू, घातकीखंड, पुष्कर आदि द्वीप हैं। (द्र. लोक)

दुविहो य होइ दीवो दव्वदीवो अ भावदीवो य ।

इक्किक्कोऽवि अ दुविहो आसासपगासदीवो अ ॥

संदीणमसंदीणो संधिअमस्संधिए अ बोद्धव्वे ।

आसासपगासे अ भावे दुविहो पुणिकिकक्को ॥

(उनि २०६, २०७)

संदीणो गाम जो जलेण छादेज्जति, सो ण जीवितत्थ-संताणाय । जो पुण सो विच्छिण्णत्तणेण उस्सित्तणेण य जलेण ण छादेज्जति सो जीवितत्थीणं ताणाय असंदीणो दीवो जहा कोंकणदीवो... खओवसमियसम्महंसणदीवो पडिवात्ति काउ संदीणो असंदीणो तु खायमसम्महंसण-दीवो । (उचू पृ ११४, ११५)

संदीयते—जलप्लावनत् क्षयमाप्नोतीति सन्दीनः, तदितरस्त्वसन्दीनः । (उशावृ प २१२)

प्राकृत शब्द 'दीव' के संस्कृत में दो रूप हैं—द्वीप और दीप । इसके दो प्रकार हैं—द्रव्य और भाव । द्रव्य

दीप के दो प्रकार हैं—आश्वास द्वीप और प्रकाश दीप ।  
आश्वास द्वीप के दो भेद हैं—

१. संदीन द्वीप—यह अल्पलावन आदि से आच्छादित या नष्ट हो जाता है तथा जीवन को त्राण नहीं देता ।
२. असंदीन द्वीप—यह विस्तीर्ण और ऊंचा होता है, अतः जल से आच्छादित या नष्ट नहीं होता तथा जीवन को त्राण देता है । जैसे—कोंकण देश का द्वीप ।  
क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भावसंदीन और क्षायिक सम्यक्त्व भावअसंदीन द्वीप है ।

पगासदीवो गाम जो उज्जोयं करेति, सो दुविधो—  
संजोइमो सो तृणपुलकवर्तिअग्निकर्तृसमवायेन निष्पद्यते,  
असंजोइमो चंदादिच्चमणिमादि ।.....पगासभावदीवोवि  
दुविहो—विधानिमो संघाइमो य । तत्थ संघातिमो अक्खर-  
पदपादसिलोगो गाथाउद्देशगादिसंघातमयं दुवालसंगं  
सुतज्जानं । असंघातिमं केवलतरणं । (उच्चू पृ ११५)

जो अंधकार में प्रकाश फैलाता है, उसे प्रकाश दीप कहा जाता है । उसके दो भेद हैं—

१. संयोगिम दीप—तैल, बर्तन आदि के संयोग से प्रदीप्त होने वाला दीप ।
२. असंयोगिम दीप—चन्द्र, सूर्य, मणि आदि ।

**प्रकाशभावदीप के दो प्रकार हैं—**

१. संघातिम दीप—अक्षर, पद, पाद, श्लोक, गाथा, उद्देशक आदि का संघात द्वादशांग, श्रुतज्ञान ।
२. असंघातिम दीप—केवलज्ञान ।

(श्रुतज्ञान संदीन दीप और केवलज्ञान असंदीन दीप है । देखें—आचारांगवृत्ति पत्र २२४)

**धर्म—वस्तु का स्वभाव । मोक्ष का उपाय ।**

१. धर्म का निर्बंधन, परिभाषा
२. धर्म की अर्हता
३. धर्म के प्रकार
  - ० द्रव्य धर्म
  - ० भाव धर्म
४. लौकिक-कुप्रावचनिक धर्म
५. लोकोत्तर धर्म

६. श्रुतधर्म

७. चारित्रधर्म—कृपा आदि

८. धमणधर्म में मूलगुण-उत्तरगुण

\* अगारधर्म

(द्र. भावक)

\* अनगारधर्म

(द्र. महादत्त)

९. धर्म की दुर्लभता

१०. धर्म मंगल है ।

० धर्म शरण है

\* धर्म अनुप्रेक्षा

(द्र. अनुप्रेक्षा)

११. धर्मश्रद्धा के परिणाम

१२. लौकिक और लोकोत्तर उपकार

**१. धर्म का निर्बंधन, परिभाषा**

धारति संसारे पडमाणमिति धम्मो ।

(दअच्चू पृ १)

यस्मात् जीवं नरकतिर्यग्योनिकुमानुषदेवत्वेषु प्रपतंतं  
धारयतीति धर्मः ।

(दजिचू पृ १५)

जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करता है,  
उसका संरक्षण करता है, वह धर्म है ।

जो जीव को चतुर्गत्यात्मक जन्म से बचाता है, वह धर्म  
है अर्थात् जो मोक्ष का हेतुभूत है, वह धर्म है ।

....धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥

(मन्दीमवृ प १५)

जो प्राणियों को शुभ स्थानों—भावों और कार्यों में  
नियोजित करता है, वह धर्म है ।

असंजमाउ नियत्ती संजममि य पवित्ती ।

(दजिचू पृ १७)

धर्म का अर्थ है—असंयम से निवृत्ति और संयम में  
प्रवृत्ति ।

धम्मो सभावो लक्खणं ।

(दअच्चू पृ १०)

धर्म का अर्थ है—वस्तु का स्वभाव अथवा लक्षण ।

**२. धर्म की अर्हता**

सोही उज्जुवभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।

निध्वाणं परमं जाइ, धयसित्तं व्व पावए ॥

(उ ३।१२)

शुद्धि उसे प्राप्त होती है, जो ऋजुभूत होता है । धर्म  
उसमें ठहरता है, जो शुद्ध होता है । जिसमें धर्म ठहरता

है, वह घृत से अभिविक्त अग्नि की भांति परम निर्वाण (समाधि) को प्राप्त होता है।

जरा जाव न पीलेइ, चाही जाव न बड्ढई।

जाविदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

(द ८।३५)

जब तक बुढ़ापा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियों क्षीण न हों, तब तक व्यक्ति धर्म का आचरण करे।

### ३. धर्म के प्रकार

णामं ठवणाधम्मो दव्वधम्मो य भावधम्मो य।

(दनि १७)

धर्म के चार प्रकार हैं—नाम धर्म, स्थापना धर्म, द्रव्य धर्म, भाव धर्म।

#### द्रव्य धर्म

दव्वं च अत्थिकायो पयारधम्मो य....।

दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥

धम्मत्थिकायधम्मो पयारधम्मो य विसयधम्मो य।....

(दनि १८, १९)

द्रव्य धर्म के तीन प्रकार हैं—

१. द्रव्य धर्म—द्रव्य के पर्याय।

२. अस्तिकाय धर्म—धर्म आदि अस्तिकायों का स्वभाव।

३. प्रचार धर्म—इन्द्रियविषयों का स्वभाव।

#### भाव धर्म

लोइय कुप्पावयणिय लोमुत्तरो.... ॥

(दनि १९)

भावधर्म के तीन प्रकार हैं—लौकिक धर्म, कुप्रावचनिक धर्म, लोकोत्तर धर्म।

### ४. लौकिक-कुप्रावचनिक धर्म

गम्म पसु देस रज्जे पुरवर नाम गण गोट्टि राईणं।

सावज्जो उ कुत्तित्थियधम्मो ण जिणेषुं तु पसत्थो ॥

(दनि २०)

लौकिक धर्म के प्रकार—गम्यधर्म, पशुधर्म, देशधर्म राज्यधर्म, पुरवरधर्म, ग्रामधर्म, गणधर्म, गोष्ठीधर्म और राजधर्म।

कुत्तीधिको—कुप्रावचनिकों का धर्म सावद्यं—अप्रशस्त होता है। जिनेश्वर देव का धर्म प्रशस्त होता है।

### ५. लोकोत्तर धर्म

लोउत्तरियो भावधम्मो दुविहो—सुतधम्मो चरित्तधम्मो य।

(दअचू पृ ११)

लोकोत्तर भावधर्म के दो प्रकार हैं—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म।

#### ६. श्रुतधर्म

सुतधम्मो दुवालसंगं गणिपिडगं, तस्स धम्मो जाणितव्वा भावा।

(दअचू पृ ११)

द्वादशांग गणिपिटक में प्रतिपादित भावों को जामना श्रुतधर्म है।

(द्र. श्रुतज्ञान)

#### ७. चारित्र धर्म

चरित्तधम्मो दसविहो—खमा मड्वं अज्जवं सोयं सच्चं संजमो तवो चातो अकिचणत्तणं बंभवेरं।

(दअचू पृ ११)

चारित्र धर्म के दश प्रकार हैं—

- |           |                 |
|-----------|-----------------|
| १. क्षमा  | ६. संयम         |
| २. मार्दव | ७. तप           |
| ३. आर्जव  | ८. त्याग        |
| ४. शौच    | ९. अकिचनता      |
| ५. सत्य   | १०. ब्रह्मचर्य। |

सत्य, संयम, तप, ब्रह्मचर्य (द्र. संबद्ध नाम)

#### क्षमा

खमा अक्कोसतालणादी अहियासेंतस्स कम्मवखओ भवति। तम्हा कोहोदयनिरोहो कातव्वो, उदयप्पत्तस्स वा विफलीकरणं। एसा खमत्ति वा तित्तिक्खत्ति वा कोहनिरोहत्ति वा।

(आवचू २ पृ ११६)

आक्रोश, ताड़ना आदि को सहन करना क्षमा है। इससे कर्मक्षय होता है। क्रोध के उदय का निरोध और उदयप्राप्त क्रोध का विफलीकरण क्षमा है। क्षमा, तितिक्षा और क्रोधनिरोध एकार्थक हैं।

....कोहविजएणं खंति जणयइ।.... (उ २९।६८)

क्रोधविजय से क्षमा उत्पन्न होती है।

#### क्षमा के परिणाम

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहि काळुण निव्वभए भवइ।

(उ २९।१८)

क्षमा करने से जीव मानसिक प्रसन्नता को प्रात



होता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ जीव सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के साथ मैत्रीभाव उत्पन्न करता है। मैत्रीभाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

खंतीए णं परीसहे जिणइ । (उ २९।४७)

क्षमा से परीषहों पर विजय प्राप्त होती है।

### क्षमासूत्र

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।

मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई ॥

(आव ४।९)

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवों के साथ मेरी मैत्री है। किसी के साथ मेरा वैर नहीं है।

### मार्दव

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे ।

सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवसिबुद्धिए ॥

(द ८।३०)

मद्दवता—जातिकुलादीहिं परपरिभवाभावो ।

(दअचू पृ ११)

जाति, कुल आदि को लेकर दूसरे का तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष न दिखाए। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का मद न करे। यह मार्दव धर्म है।

अहं उत्तमजातीओ एस नीयजातित्ति मदो न कायव्वो, एवं च करेमाणस्स कम्मनिज्जरा भवइ, अकरेंतस्स य कम्मोवचयो भवइ । माणस्स उदितस्स निरोहो उदयपत्तस्स विफलीकरणं । (दजिचू पृ १८)

मैं उत्तम जाति का हूँ, यह नीच जाति का है— इस प्रकार का गर्व नहीं करना चाहिये। गर्व न करने से कर्मनिर्जरा और गर्व करने से कर्म का उपचय होता है। उदय में आने वाले मान का निरोध और उदय प्राप्त मान का विफलीकरण मार्दव धर्म है।

माणविजएणं मद्दवं जणयइ ॥ (उ २९।६९)

मान-विजय से मृदुता आती है।

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ । अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ट मयट्टाणाइं निट्टवेइ ।

(उ २९।५०)

मृदुता से जीव अनुद्धत मनोभाव को प्राप्त करता है। अनुद्धत मनोभाव वाला जीव मृदुमार्दव से संपन्न होकर जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और

ऐश्वर्य—इन आठ मद-स्थानों का विनाश कर देता है।

### आर्जव

अज्जवं नाम उज्जुगत्तणंति वा अकुडिलत्तणंति वा, एवं च कुव्वमाणस्स कम्मनिज्जरा भवइ, अकुव्वमाणस्स य कम्मोवचयो भवइ । माया उदितोए णिरोहो कायव्वो उदिण्णाए विफलीकरणं । (दजिचू पृ १८)

आर्जव का अर्थ है—ऋजुता अथवा अकुटिलता। ऋजुता करने वाले के कर्मनिर्जरा होती है, नहीं करने वाले के कर्म का उपचय होता है। उदय में आने वाली माया का निरोध करना और उदयप्राप्त माया को विफल करना आर्जव धर्म है।

अणायारं परक्कम्म, नेव गूहे न निण्हवे ।

सुई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइदिए ॥

(द ८।३२)

व्यक्ति अनाचार का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार करे। वह सदा पवित्र, स्पष्ट, अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे। यह आर्जव धर्म है।

मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ ॥ (उ २९।७०)

माया-विजय से ऋजुता आती है।

अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविंसंवायणं जणयइ । अविंसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ । (उ २९।४९)

ऋजुता से जीव काया की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता और कथनी-करनी की समानता को प्राप्त होता है। कथनी-करनी की समानता से संपन्न जीव धर्म का आराधक होता है।

### शौच

सोयं नाम अलुद्धया धम्मोवगरणेसुवि, एवं च कुव्वमाणस्स कम्मनिज्जरा भवति, अकुव्वमाणस्स कम्मोवचओ, तम्हा लोभस्स उदितस्स णिरोहो कायव्वो उदयपत्तस्स वा विफलीकरणमिति । (दजिचू पृ १८)

शौच का अर्थ है—धर्मोपकरणों में भी लुब्ध न होना। अलुब्ध रहने वाले के कर्मों की निर्जरा और न रहने वाले के कर्मों का उपचय होता है। अतः उदय में आने वाले लोभ का निरोध और उदयप्राप्त लोभ को विफल करना शौच धर्म है।

### त्याग

चागो—दाणं । तं अलुद्धेण निज्जरट्ठं साहसु पडि-  
वायणीयं । (दअचू पृ ११)

त्याग का अर्थ है—दान। अलुब्ध भाव से, निर्जरा

के लक्ष्य से साधुओं को आहार आदि देना त्याग धर्म है ।

चागो षाम वेयावच्चकरणेण आयरियोवज्झायादीण  
महती कम्मनिज्जरा भवइ, तम्हा वत्थपत्तओसहादीहि  
साहूण संविभागकरणं कायव्वं । (दजिचू पृ १८)

आचार्य, उपाध्याय और साधु की वैयावृत्य करने से  
महान् निर्जरा होती है । अतः साधु वर्ग में परस्पर वस्त्र,  
पात्र, औषध आदि का संविभाग करना त्याग धर्म है ।

#### अकिंचनता

अकिंचनिया नाम सदेहे निस्संगता, निम्ममत्तणं ।  
(दजिचू पृ १८)

अकिंचनता का अर्थ है—अपने शरीर के प्रति  
निस्संगता, ममत्व का विसर्जन ।

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ । अकिंचणे य जीवे  
अत्थलोलानं अपत्थणिज्जे भवइ । (उ २९।४८)

मुक्ति (निर्लोभता) से जीव अकिंचनता को प्राप्त होता  
है । अकिंचन जीव अर्थलोलुप पुरुषों के द्वारा अप्रार्थनीय  
होता है—उसके पास कोई याचना नहीं करता ।

#### ८. धर्म की दुर्लभता

माणुस्सं विग्गहं लद्धं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।  
जं सोच्चा पडिबज्जति, तवं खंतिमहिंसयं ॥  
(उ ३।८)

मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी उस धर्म की श्रुति  
दुर्लभ है, जिसे सुनकर जीव तप, सहिष्णुता और अहिंसा  
को स्वीकार करते हैं ।

आहच्च सवणं लद्धं, सद्धा परमदुल्लहा ।  
सोच्चा नेआउयं भगं, बहवे परिभस्सई ॥  
(उ ३।९)

कदाचित् धर्म सुन लेने पर भी उसमें श्रद्धा होना  
परम दुर्लभ है । बहुत लोग मोक्ष की ओर ले जाने वाले  
मार्ग को सुनकर भी उससे भ्रष्ट हो जाते हैं ।

सुइ च लद्धं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।  
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिबज्जए ॥  
(उ ३।१०)

श्रुति और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी संयम में वीर्य  
(पुरुषार्थ) होना अत्यन्त दुर्लभ है । बहुत लोग संयम में  
रुचि रखते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते ।

#### ९. भ्रमणधर्म में मूलगुण-उत्तरगुण

दसविधे समणधम्मे मूलगुणा उत्तरगुणा समवयारि-

ज्जति—संजमसच्चआकिंचणियबंभचेरग्गहणेण मूलगुणा  
गहिया भवन्ति, तं जहा—संजमग्गहणेणं पढमअहिंसा  
गहिया, सच्चगहणेणं मुसावादविरती गहिया. बंभचेर-  
ग्गहणेण मेहुणविरती गहिया, अकिंचणियग्गहणेण अपरि-  
ग्गहो गहिओ अदत्तादानविरती य गहिया । खंति-  
मह्वज्जवतवोग्गहणेण उत्तरगुणाणं गहणं कयं भवइ ।

(दजिचू पृ १९)

दशविध भ्रमणधर्म में मूलगुण और उत्तरगुणों का  
समवतरण हो जाता है । यथा—संयमधर्म में अहिंसा  
महाव्रत, सत्य में मृषावादविरमण, ब्रह्मचर्य में मंथुन-  
विरमण तथा आकिंचन्य में अदत्तादानविरमण और  
अपरिग्रह का समवतरण होता है । क्षांति, मार्दव, आर्जव  
और तप—इनमें उत्तरगुण समवतरित होते हैं ।

#### १०. धर्म मंगल है

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।  
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

(द १।१)

धर्म उत्कृष्ट मंगल है । अहिंसा, संयम और तप  
उसके लक्षण हैं । जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता  
है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं ।

#### धर्म शरण है

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।  
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥  
(उ २३।६८)

जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए  
धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है ।

#### ११. धर्मश्रद्धा के परिणाम

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ,  
अगारधम्मं च णं चयइ । अणगारे णं जीवे सारीरमाणसाणं  
दुक्खाणं छेयण-भेयण-संजोमाईणं वोच्छेयं करेइ अन्वावाहं  
च सुहं निव्वत्तेइ । (उ २९।४)

धर्मश्रद्धा से जीव वैषयिक सुखों की आसक्ति को छोड़  
विरक्त हो जाता है, अगार-धर्म—गृहस्थी को त्याग देता  
है । वह अनगार होकर छेदन-भेदन आदि शारीरिक  
दुःखों तथा संयोग-वियोग आदि मानसिक दुःखों का  
विच्छेद करता है और निर्बाध सुख को प्राप्त करता है ।

माणुसत्तमि आयाओ जो धम्मं सोच्च सहहे ।  
तवस्सी वीरिय लद्धुं संबुडे निद्धुणे रयं ॥

(उ ३।११)

मनुष्यत्व को प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमें श्रद्धा करता है, वह तपस्वी संयम में पुरुषार्थ कर, संवृत हो कर्मरजों को धुन डालता है ।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।

अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।

धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥

(उ १४।२४, २५)

जो-जो रात बीत रही है, वह लौटकर नहीं आती । अधर्म करने वाले की रात्रियां निष्फल और धर्म करने वाले की रात्रियां सफल होती हैं ।

## १२. लौकिक और लोकोत्तर उपकार

परोपकारश्च द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो विविधान्नपानकाञ्चनादिव्रदानजनितः । स च नैकान्तिकः, कदाचित्ततो विसूचिकादिदोषसम्भवतः उपकारासम्भवात् । नाप्यात्यन्तिकः कियत्कालमात्रभावित्वात् । भावतो जिन-प्रणीतधर्मसम्पादनजनितः, स चैकान्तिकः, कदाचिदपि ततो दोषासम्भवात्, आत्यन्तिकश्च परम्परया शाश्वतिक-मोक्षसौख्यसम्पादकत्वात् । (नन्दीमवृ प १)

परोपकार के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव । अन्न पानी, स्वर्ण आदि से सहयोग करना द्रव्य उपकार अर्थात् लौकिक उपकार है । इससे विसूचिका आदि दोषों की सम्भावना रहती है, इसलिए यह उपकार ऐकान्तिक नहीं है । यह अल्पकालीन होने के कारण आत्यन्तिक भी नहीं है । आर्हत धर्म का सम्पादन करना भाव उपकार अर्थात् लोकोत्तर उपकार है । इससे कभी दोष संभव नहीं है, अतः यह ऐकान्तिक उपकार है । परम्परित रूप में शाश्वत मोक्षसुख का सम्पादक होने से यह आत्यन्तिक उपकार है ।

धर्मास्तिकाय— गतिसहायक द्रव्य ।

(द्र. अस्तिकाय)

धारणा--निर्णयात्मक ज्ञान की अविच्युति ।

(द्र. आभिनिबोधिक ज्ञान)

ध्यान—चित्त की एकाग्रता । योगनिरोध ।

## १. ध्यान की परिभाषा

० प्रकार

## २. आर्त्तध्यान का निर्वचन

० प्रकार

० लक्षण

० अधिकारी

० आर्त्तध्यान : लेश्या-अध्यवसाय-गति

## ३. रौद्रध्यान का निर्वचन

० प्रकार

० लक्षण

० अधिकारी

० रौद्रध्यान : गति और लेश्या

## ४. धर्म्यध्यान

० प्रकार

० लक्षण

० अधिकारी

० आलम्बन

० अनुप्रेक्षाएं

० धर्म्यध्यान : लेश्या-अध्यवसाय-गति

० निष्पत्ति

## ५. शुक्लध्यान का निर्वचन

० प्रकार

० लक्षण

० अधिकारी

० आलम्बन

० अनुप्रेक्षाएं

० शुक्लध्यान : योग-लेश्या-गति

० निष्पत्ति

० केवली में शुक्लध्यान कैसे ?

\* शुक्लध्यान और योगनिरोध (द्र. केवलज्ञान)

## ६. वाचिक-कायिक ध्यान

## ७. ध्यान के सात विकल्प

## ८. दृष्टिवाद और ध्यान

## ९. ध्यान की योग्यता : भावना

## १०. ध्यान के अयोग्य

## ११. ध्यान का स्थान-काल-आसन

\* ध्यान : तप का एक भेद (द्र. तप)

\* धर्म्य-शुक्ल ध्यान : उच्छिन्न कायोत्सर्ग

(द्र. कायोत्सर्ग)

## १. ध्यान की परिभाषा

जं थिरमज्जभवसाणं तं भाणं..... ।  
अंतोमुहुत्तमेतं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि ।  
छउमत्थाणं भाणं जोमनिरोहो जिणाणं तु ॥  
(ध्यानशतक २, ३)

जो स्थिर अध्यवसाय है, वह ध्यान है। छद्मस्थ के एक वस्तु में चित्त का एकाग्रतात्मक ध्यान अन्तर्मुहूर्त मात्र का होता है। फिर वह ध्यानधारा भिन्न पर्याय में परिवर्तित हो जाती है। केवली के योगनिरोधात्मक ध्यान होता है।

गाढालंबणलग्गं, चित्तं वृत्तं निरेयणं भाणं ।

सेसं न होइ भाणं, मउअमवत्तं भमंतं वा ॥

(आवनि १४८३)

आलम्बन में प्रगाढ़ रूप से संलग्न तथा निष्प्रकम्प चित्त ध्यान है। आलम्बन में मृदु भावना से संलग्न, अव्यक्त और अनवस्थित चित्त ध्यान नहीं कहलाता।

एगग्गमणसंनिवेशणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ ।.....  
(उ २९।२६)

एकाग्र-मन के सन्निवेश से जीव चित्त का निरोध करता है।

### ध्यान के प्रकार

...अट्टं रुहं धम्मं सुक्कं च नायव्वं ॥  
(आवनि १४६३)

हिंसाणुरंजितं रौद्रं, अट्टं कामाणुरंजितं ।  
धम्माणुरंजियं धम्मं, शुक्लं भाणं निरंगणं ॥  
(आवचू २ पृ ८२)

ध्यान के चार प्रकार हैं—

आर्त्तध्यान—कामनाओं से अनुरंजित।

रौद्रध्यान—हिंसा से अनुरंजित।

धर्म्यध्यान—धर्म से अनुरंजित।

शुक्लध्यान—निरंजन।

एक-एक ध्यान के असंख्य स्थान हैं। जीव रहंत की घड़ियों की तरह इन स्थानों में आरोह-अवरोह करता रहता है।

अट्टरुहाणि वज्जिता, भाएज्जा सुसमाहिए ।

धम्मसुक्काइं भाणाइं, भाणं तं तु बुहा वए ॥

(उ ३०।३५)

सुसमाहित मुनि आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म्य और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे। बुधजन उसे ध्यान कहते हैं।

## २. आर्त्तध्यान का निर्वचन

ऋतं—दुःखम् । ऋतशब्दो दुःखपर्यायवाच्याश्रीयते,  
ऋते भवमार्त्तम् । (उशावृ प ६०९)

ऋत का अर्थ है—दुःख। चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्त्तध्यान कहा जाता है।

### प्रकार

अमणुण्णाणं सदाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स ।  
धणियं विओगचित्तणमसंपओगाणुसरणं च ॥  
तह सूलसीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं ।  
तदसंपओगचित्ता तप्पडियाराउलमणस्स ॥  
इट्ठाणं विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स ।  
अविओगज्जभवसाणं तह संजोगाभिलासो य ॥  
देविदचक्कवट्टित्ताइ गुणरिद्धिपत्थणामईयं ।  
अहमं निद्याणचित्तणमण्णाणुगयमच्चंतं ॥  
(ध्यानशतक ६-९)

आर्त्तध्यान के चार प्रकार हैं -

१. द्वेष से मलिन अमनोज शब्द आदि इंद्रिय-विषयों के वियोग के लिए अत्यन्त चिन्ता करना तथा उनकी पुनः प्राप्ति न हो - इसका निरन्तर स्मरण करना।
२. रोग के प्रतिकार के लिए देहासक्ति से व्याकुल बने हुए व्यक्ति का शूल, शिरोरोग आदि की वेदना के वियोग के लिए तथा उनकी पुनः अप्राप्ति के लिए एकाग्र चिन्तन करना।
३. राग से रक्त व्यक्ति का इष्ट विषयों तथा इष्ट अनुभूतियों के अवियोग का एकाग्र अध्यवसाय तथा उनके पुनः संयोग की अभिलाषा करना।
४. देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि वैभवशाली व्यक्तियों के विषय और वैभव की प्रार्थना करना, निदान करना। यह अज्ञान से संव्रजित और अत्यन्त अधम है।

### लक्षण

तस्सज्जकंदणसोयणपरिदेवणताडणाइं लिगाइं ।  
इट्ठाणिट्ठकियोगावियोगवियणानिमित्ताइं ॥

(ध्यानशतक १५)

आर्त्तध्यान के चार लक्षण हैं -

१. आक्रन्दन—जोर-जोर से चिल्लाना।
२. शोचन—अशुपूर्ण आंखों से दीनता दिखाना।
३. परिदेवन—विलाप करना।
४. ताडन—छाती, सिर आदि को पीटना।

ये चारों दृष्ट के वियोग, अनिष्ट के योग और वेदना के निमित्त से उत्पन्न होते हैं ।

**अधिकारी**

तदविरयदेसविरया पमायपरसंजयाणुं भाणं ।....  
(ध्यानशतक १८)

यह आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत (श्रावक) और प्रमत्तसंयत (छूटे गुणस्थानवर्ती मुनि) के होता है ।

**आर्त्तध्यान : लेश्या-अध्यवसाय-गति**

तिव्वकोधोदयाविट्टो, किष्हेसाणुरंजितो ।  
अट्टं भाणं भ्रियायंती, तिरिक्खत्तं निगच्छति ॥  
मज्झिमकोधोदयाविट्टो, नीललेसाणुरंजितो ।  
अट्टं भाणं भ्रियायंती, तिरिक्खत्तं निगच्छति ॥  
मंदकोधोदयाविट्टो, काऊलेसाणुरंजितो ।  
अट्टंभाणं भ्रियायंती, तिरिक्खत्तं निगच्छति ॥  
(आवचू २ पृ ८३)

लेश्या	अध्यवसाय	गति
कृष्ण	उत्कृष्ट क्रोध-मान-माया-लोभ	तिर्यंच
नील	मध्यम " " " "	" "
कापोत	मंद " " " "	" "

कावोयनीलकाला लेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ ।  
अट्टंभाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥  
(ध्यानशतक १४)

आर्त्तध्यान करते हुए व्यक्ति की कापोत, नील और कृष्ण—ये तीनों लेश्याएं अतिसंक्लिष्ट नहीं होतीं । ये लेश्याएं कर्म-परिणामजनित होती हैं ।

रागो दोसो मोहो य जेणसंसारहेयवो भणिया ।  
अट्टंमि य ते तिष्णिवि, तो तं संसारतरुबीयं ॥  
(ध्यानशतक १३)

राग, द्वेष और मोह—तीनों संसार के हेतु हैं । ये आर्त्तध्यान में विद्यमान रहते हैं इसलिए आर्त्तध्यान को संसार-रूपी वृक्ष का बीज कहा गया है ।

**३. रौद्रध्यान का निर्वचन**

रोदयत्यपरानिति रुद्रः—प्राणिवधादिपरिणत आत्मैव तस्येदं कर्म रौद्रम् । (उशावृ प ६०९)

जो दूसरों को रुलाता है, वह रुद्र है । चेतना की प्राणिवध आदि के रूप में क्रूरतामय एकाग्र-परिणति रौद्रध्यान है ।

**प्रकार**

सत्तवह-वेह-बंधण-डहणंकणमारणाइपणिहाणं ।  
अइकोहग्गहपत्थं निग्घणमणसोऽहमविवामं ॥  
पिसुणासब्भासब्भूय - भूयघायाइवयणपणिहाणं ।  
मायाविणोऽइसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥  
तह तिव्वकोहलोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं ।  
परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं ॥  
सदाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिट्ठं ।  
सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥  
एयं चउव्विहं रागदोसमोहाउलस्स जीवस्स ।....  
(ध्यानशतक १९-२२,२४)

रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं—

१. हिसानुबंधी—निर्दयी व्यक्ति का प्राणियों के वध, वेध, बंधन, दहन, अंकन और मारने का क्रूर अध्यवसाय होना तथा अनिष्ट विपाक वाले उत्कट क्रोध के ग्रह से ग्रस्त होना ।
२. मृषानुबंधी—माया करने, दूसरे को ठगने तथा अपना पाप छिपाने के लिए चुगली करने तथा असभ्य, असत्य और प्राणीघातक वचन कहने में दृढ़ अध्यवसाय का होना ।
३. स्तेयानुबंधी—तीव्र क्रोध और लोभ से आकुल होकर प्राणियों का उपहनन, अनार्य आचरण और दूसरे की वस्तु का अपहरण करने की इच्छा करना तथा पारलौकिक दोषों से निरपेक्ष रहना ।
४. विषयसंरक्षणानुबंधी—शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति के साधनभूत धन के संरक्षण के लिए तत्पर रहना, अनिष्ट चिन्ता में व्यापृत रहना, सबके प्रति शंकाशील होना, दूसरों की घात करने की कलुषता से आकुल रहना ।  
रौद्रध्यान के ये चारों प्रकार रागद्वेष और मोह से आकुल व्यक्ति के होते हैं ।

**लक्षण**

लिमाइं तस्स उस्सण्णबहुलनाणाविहामरणदोसा ।  
तेसिं चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥  
(ध्यानशतक २६)

रौद्रध्यान के चार लक्षण हैं—

१. उस्सन्नदोष - रौद्रध्यान के चार प्रकारों में से किसी एक में बहुलतया प्रवृत्त होना ।

२. बहुलदोष—रौद्रध्यान के सभी प्रकारों में प्रवृत्त होना ।

३. नानाविधदोष—चमड़ी उधेड़ने, आँखें निकालने आदि हिंसात्मक कार्यों में बार-बार प्रवृत्त होना ।

४. आमरणदोष—मरणान्त तक हिंसा आदि करने में अनुत्ताप न होना ।

परवसणं अहिनंदइ निरवेक्खो निदुओ निरणुतावो ।  
हरिसिज्जइ कयपावो रोह्ज्झाणोवगयचित्तो ॥

(ध्यानशतक २७)

जो रौद्रध्यान में संलग्न है, वह दूसरों के दुःख का अभिनन्दन करता है, आनन्दित होता है । वह निरपेक्ष होता है—उसके मन में पाप का भय नहीं रहता । वह निर्दय और अनुत्तापरहित होता है । वह पाप में प्रवृत्त होकर प्रसन्न होता है । ये रौद्रध्यानी के लक्षण हैं ।

#### अधिकारी

““अविरयदेसासंजयजणमणसंसेवियमहणं ॥

(ध्यानशतक २३)

वह अश्रेयस्कर ध्यान अविरत और देश-असंयत (श्रावक) के होता है ।

#### रौद्रध्यान : गति और लेश्या

““रोह्ज्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूलं ॥

कावोयनीलकाला लेसाओ तिव्वसंकिलिटाओ ।

रोह्ज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥

(ध्यानशतक २४, २५)

रौद्रध्यान भवपरंपरा को बढ़ाने वाला तथा नरक गति का मूल है । इस ध्यान के समय व्यक्ति की कापोत, नील और कृष्ण—ये तीनों लेश्याएं अत्यन्त संक्लिष्ट होती हैं । ये कर्मपरिणामजनित होती हैं ।

#### ४. धर्म्यध्यान

खमादिधम्माज्जपेतं धम्मं । (दअचू पृ १६)

क्षमा आदि धर्मों को ध्येय बनाने वाला ध्यान धर्म्य-ध्यान है ।

#### प्रकार

धम्मं चउच्चिहं—आणाविजए, अवायविजए,  
विपाकविजए, संठाणविजए । (दअचू पृ १७)

धर्म्य ध्यान के चार प्रकार हैं—

१. आज्ञाविचय
२. अपायविचय
३. विपाकविचय
४. संस्थानविचय

#### आज्ञाविचय

आणाविजए आणं विवेएति । जथा पंचत्थिकाए छज्जीवनिकाए अट्ट पववणमाता । अण्णे य सुत्तनिबद्धे भावे अबद्धे च पेच्छ कंहं आणाए परियाणिज्जंति ? एवं चित्तेति भासति य । तथा पुरिसादिकारणं पडुच्च किच्छा-सज्जेसु हेतुविसयातीतेसुवि वत्थुसु सबवणुणा दिट्ठेसु एवमेव से तं ति चित्तंतो भासंतो य आणा विवेयेति ।

(आवचू २ पृ ८४)

अतीन्द्रिय विषय अथवा प्रवचन के निर्णय में एकाग्र होना आज्ञाविचय है । जैसे—पांच अस्तिकाय, षट् जीव-निकाय, आठ प्रवचनमाताएं आदि तथा इसी प्रकार आगम में प्रतिपादित या अप्रतिपादित अनेक तथ्य हैं । ये सारे किस प्रकार आज्ञा से विवेचित होते हैं—ऐसा चिन्तन करना, प्रतिपादन करना आज्ञा विचय ध्यान है । तथा किसी पुरुष के पूछे जाने पर ऐसे कठिन विषयों तथा हेतु आदि से निरपेक्ष विषयों, जिन्हें सर्वज्ञ ने देखा है, कहा है, के विषय में ये ऐसे ही हैं, ऐसा चिन्तन करना, प्रतिपादन करना आज्ञाविचय ध्यान है ।

सुनिउणमणाइनिहणं भूयहियं भूयभावणमहगं ।

अमियमजियं महत्थं महानुभावं महाविसयं ॥

भाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।

अनिउणजणदुण्णयं नयभंगपमाणमगमहणं ॥

(ध्यानशतक ४५, ४६)

जगत्प्रदीप अर्हत् की आज्ञा का आशंसा से मुक्त होकर ध्यान करे । वह आज्ञा अतिनिपुण, अनादि-अनन्त, प्राणियों के लिए हितकर, सत्यग्राही, अनर्घ्य, अपरिमित, अपराजित, महान् अर्थवाली, महान् सामर्थ्य से युक्त, महान् विषयवाली, अनिपुण लोगों द्वारा अज्ञेय तथा नय, भंग, प्रमाण और गम (विकल्प) से गहन है ।

#### अपायविचय

अवाय विजयेति, पाणातिवातेणं निरयं गच्छति अप्पाउओ काणकुंटादी भवति एवमादि त्वाज्ञा, अह्वा मिच्छत्तअविरतिपमायकसायजोगाणं अवायमणुचित्तेति । पाणदंसणचरित्ताणं वा विराधणावायमणुचित्तेति ।

(आवचू २ पृ ८४)

अपायविचय ध्यान में ध्यानी चिन्तन करता है—  
हिंसा से प्राणी नरक में जाता है, अल्पायुष्क होता है,  
काणा-लूला आदि होता है, यह आज्ञा—भगवान् का  
निरूपण है। अथवा ध्यानी इसमें मिथ्यात्व, अविरति,  
प्रमाद, कषाय, योग आदि के अपायों का चिन्तन करता  
है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की विराधना के अपायों  
का अनुचिन्तन करता है।

रागद्वेषकसायासवादिकिरियासु वट्टमाणानं ।

इहपरलोयावाओ भाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥

(ध्यानशतक ५०)

वर्जनीय का परिवर्जन करने वाला मुनि राग,  
द्वेष, कषाय, आश्रव आदि क्रियाओं में प्रवर्तमान व्यक्तियों  
के इहलोक और परलोक के अपायों (दोषों) का चिन्तन  
करता है—यह धर्म्यध्यान का अपायविचय नामक दूसरा  
प्रकार है।

#### विपाकविचय

पयइठिइपएसाणुभावभिनं सुहासुहविभत्तं ।

जोगाणुभावजणियं कम्मविवाणं विचितेज्जा ॥

(ध्यानशतक ५१)

प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाव के भेद से  
भिन्न, शुभ और अशुभ में विभक्त, योग तथा अनुभाव  
—प्रमाद से उत्पन्न कर्मविपाक को ध्येय बनाकर  
उसमें एकाग्र होना विपाकविचय ध्यान है।

#### संस्थानविचय

जिणदेसियाइ लक्खणसंठाणासणविहाणमाणानां ।

उप्पायट्टिइभंगाइ पज्जवा जे य दव्वाणं ॥

पंचरिक्कायमइयं लोगमणाइनिहणं जिणक्खायं ।

नामाइभेयविहिअं तिविहमहोलयभेआइं ॥

खिइवल्लयदीवसागरनिरयविमाणभवणाइसंठाणं ।

वोमाइपइट्टाणं निमयं लोगट्टिइविहाणं ॥

(ध्यानशतक ५२-५४)

- अहंत् द्वारा प्ररूपित द्रव्यों के लक्षण, संस्थान,  
आसन, विधान, मान, उत्पाद, स्थिति, भंग और  
पर्याय का चिन्तन करे।
- लोक पंचास्तिकायमय, अनादि-अनन्त, नाम आदि  
निक्षेपों के भेद से अवस्थापित, अधोलोक, तिर्यक्-  
लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से विभक्त है। (लोक  
के इस संस्थान का चिन्तन करे)।

- क्षिति, वलय, द्वीप, सागर, नरक, विमान और  
भवन के संस्थान से संस्थित, आकाश, वायु आदि  
पर प्रतिष्ठित शाश्वत लोकस्थिति का चिन्तन करे।  
इस प्रकार विविध पदार्थों की विभिन्न  
आकृतियों को ध्येय बनाकर उसमें एकाग्र होना  
संस्थानविचय ध्यान है।

#### आलम्बन

आलंबणाइ वायणपुच्छणपरियट्टणाणुचिताओं ।

सामाइयाइयाइं सद्धम्मावस्सयाइं च ॥

(ध्यानशतक ४२)

धर्म्यध्यान के चार आलम्बन हैं—

१. वाचना
२. प्रच्छना
३. परिवर्तना
४. अनुचिन्ता (अनुप्रेक्षा)

ये चारों श्रुतधर्मानुगामी आलम्बन हैं। सामायिक  
आदि तथा सद्धर्मावश्यक आदि चारित्र्यधर्मानुगामी  
आलम्बन हैं।

#### लक्षण

आगमउवएसाणाणिसग्गाओ जं जिणप्पणीयाणं ।

भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिगं ॥

(ध्यानशतक ६७)

धर्म्यध्यान के चार लक्षण —

१. आगमरुचि—प्रवचन में श्रद्धा होना।
२. उपदेशरुचि—उपदेश से प्रवचन में श्रद्धा होना।
३. आज्ञारुचि—तीर्थंकर की आज्ञा की प्रशंसा करना।
४. निसर्गरुचि—स्वभाव से ही जिनप्रवचन में श्रद्धा  
होना।

#### अधिकारी

सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहा य ।

भायारो नाणधणा धम्मज्झाणस्स निहिट्ठा ॥

(ध्यानशतक ६३)

जो ज्ञानी मुनि अप्रमत्त हैं, उपशांतमोह या क्षीण-  
मोह हैं, वे धर्म्यध्यान के अधिकारी हैं।

तं इदियादिप्पमातणियत्तमाणस्ससेति भण्णति  
अपमत्तसंजयस्स । (दअचू पृ १८)

इन्द्रिय, कषाय आदि प्रमादों से निवृत्त चित्त वाले  
अप्रमत्तसंयत के धर्म्यध्यान होता है।

**अनुप्रेक्षाएं**

भ्राणोवरमेवि मुणी णिच्चपणिच्चाइभावणापरमो ।  
होइ सुभाविचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुट्ठि ॥  
(ध्यानशतक ६५)

अणुपेहाओ, तं जहा—अणिच्चाणुपेहा, असरणाणु-  
पेहा, एगत्ताणुपेहा, संसाराणुपेहा । (दअचू पृ १८)

धर्म्यध्यान से सुभावित चित्त वाले मुनि के लिए  
ध्यान से उपरत होने पर चार अनुप्रेक्षाएं करणीय हैं—  
अनित्य, अशरण, एकत्व और संसार अनुप्रेक्षा ।  
(द्र. अनुप्रेक्षा)

**धर्म्यध्यान : लेश्या-अध्यवसाय-गति**

धम्मज्झाणं भियायतो, सुक्कलेसाए वट्टती ।  
विकिकट्टुगंमि ठाणमि सचरिती सुसंजतो ॥  
एवं पम्हूलेसाए मज्झियगंमि ठाणमि, तेऊलेसाए  
कणिट्टुगंमि ठाणमि ।  
कोवनिग्गहसजुत्तो, सुक्कलेसाणरंजितो ।  
धम्मभाणं भियायतो, देवयत्तं निगच्छती ॥  
...उववातो कप्पतीते कर्प्पमि व अण्णतरगंमि ॥  
(आवचू २ पृ ८५)

लेश्या	अध्यवसाय	गति
शुक्ल	क्रोध-मान-माया-लोभ का उत्कृष्ट निग्रह	देवगति—कल्पोपपन्न- कल्पातीत
पद्म	क्रोध-मान-माया-लोभ का मध्यम निग्रह	देवगति—कल्पोपपन्न- कल्पातीत
तेजस्	क्रोध-मान-माया-लोभ का जघन्य निग्रह	देवगति—कल्पोपपन्न- कल्पातीत

**निष्पत्ति**

होति सुहासवसंवरविणिज्जरासरसुहाइं विउलाइं ।  
भाणवरस्स फलाईं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥  
(ध्यानशतक ९३)

धर्म्यध्यान से शुभ आश्रव, संवर, निर्जरा, विपुल  
देवसुख आदि शुभ अनुबंध वाले फलों की प्राप्ति होती  
है ।

**५. शुक्लध्यान का निर्वचन**

शुक्लं—शुचि—निर्मलं सकलमिथ्यात्वादिमल-

विलयनात् । यद्वा शुभिति—दुःखमष्टप्रकारं वा कर्म ततः  
शुचं क्लमयति निरस्यतीति शुक्लम् । (उशावृ प ६०९)  
० जो मिथ्यात्व आदि समग्र अशुद्धियों का विलय हो  
जाने के कारण निर्मल है, वह शुक्लध्यान है ।  
० जो दुःख अथवा आठों कर्मों का निरसन करता है,  
वह शुक्लध्यान है ।

**प्रकार**

उप्पायट्ठिइभंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुंमि ।  
नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेणं ॥  
सवियारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं पढमसुक्कं ।  
होइ पुहुसवितक्क सविआरमरागभावस्स ॥  
जं पुण सुणिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिच चित्तं ।  
उप्पायट्ठिइ भंगाइयाणमेगम्मि पज्जाए ॥  
अविचारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं वितियसुक्कं ।  
पुव्वगयसुआलंबणमेगत्तवितक्कमवियारं ॥  
निव्वाणयमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स ।  
सुहुमकिरियाअनिर्वाट्टं तइयं तणुकायकिरियस्स ॥  
तस्सेव य सेलेसि गयस्स सेलोव्व निप्पकंपस्स ।  
वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं ॥  
(ध्यानशतक ७७-८२)

शुक्लध्यान के चार प्रकार—

१. पृथक्त्ववितर्क-सविचार—पूर्वगतश्रुत के अनुसार  
एक द्रव्य में विद्यमान उत्पाद, स्थिति, भंग आदि  
पर्यायों का अनेक नयों से चिन्तन करना ।  
सविचार का अर्थ है—अर्थ से अर्थान्तर, व्यंजन से  
व्यंजनान्तर और एक योग से दूसरे योग में संक्रमण  
करना ।
२. एकत्व-वितर्क-अविचार—उत्पाद, स्थिति, भंग  
आदि पर्यायों में से किसी एक पर्याय में अपने मन  
को, निर्वातगृह में रखे हुए प्रदीप की भांति  
निष्प्रकम्प बनाकर चिन्तन करना । यह भी पूर्वगत-  
श्रुत के आलम्बन के आधार पर होता है । इसमें  
अर्थ से अर्थान्तर, व्यंजन से व्यंजनान्तर और योग  
से योगान्तर में संक्रमण नहीं होता ।
३. सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति—मोक्षगमन के प्रत्यासन्न काल  
में केवली के मन और वचन की प्रवृत्ति निरुद्ध हो  
जाती है, किन्तु उच्छ्वास-निःश्वासरूप काया की  
सूक्ष्म प्रवृत्ति वर्तमान रहती है । यह शुक्लध्यान का  
तीसरा प्रकार है ।



४. समुच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति—शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली मेरु की भांति निष्प्रकंप हो जाता है। उसमें सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है और उस अवस्था का पतन नहीं होता।

### लक्षण

अवहासंमोहविवेगविउसग्मा तस्स होंति लिगाइं ।  
 लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥  
 चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहोवसग्गेहिं ।  
 सुहमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु ॥  
 देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोभे ।  
 देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥  
 (ध्यानशतक ९०-९२)

शुक्लध्यान के चार लक्षण हैं—

१. अव्यथ—परीषह और उपसर्गों से न विचलित होना और न भयभीत होना।
२. असम्मोह—सूक्ष्म पदार्थों और देवमाया में मूढ न होना।
३. विवेक—शरीर तथा सब संयोगों से आत्मा को भिन्न जानना, देखना।
४. व्युत्सर्ग—शरीर और उपधि में सर्वथा निस्संग रहना।

### अधिकारी

एए च्चिअ पुव्ववाणं पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा ।  
 दोव्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ॥  
 (ध्यानशतक ६४)

धर्मध्यान के अभ्यास में परिपक्व सुप्रशस्त संहनन वाले चतुर्दशपूर्वी मुनि शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकारों के ध्याता होते हैं। उसका तीसरा प्रकार सयोगी केवली के और चौथा प्रकार अयोगी केवली के होता है।

एतं उभयं सामिविसेसेण सुक्कलेसस्स चोदसपुव्वधर-  
 स्स अणुत्तरोववाताभिमुहस्स उत्तमसंघयणस्स ।

(दअचू पृ १८)

सुत्तणाणे उवउत्तो, अत्थमि य वंजणमि सवियारं ।  
 भायति चोदसपुव्वी, पढमं सुक्कं सरागो तु ॥  
 सुत्तणाणे उवउत्तो, अत्थमि य वंजणमि अवियारं ।  
 भायति चोदसपुव्वी, बीयं सुक्कं विगतारागो ॥  
 (आवचू २ पृ ८६)

शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद अनुत्तरोपपात के अभि-  
 मुख चतुर्दशपूर्वी मुनि के होते हैं। उसके शुक्ललेश्या और  
 वज्रऋषभनाराच संहनन होता है।

शुक्लध्यान का प्रथम भेद सराग चतुर्दशपूर्वी और  
 दूसरा भेद वीतराग चतुर्दशपूर्वी के होता है।

### आलम्बन

अह खंतिमद्वज्जवमुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।  
 आलंबणाइं जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥  
 (ध्यानशतक ६९)

शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं—

१. शान्ति—क्षमा।
२. मार्दव—मृदुता।
३. आर्जव—ऋजुता।
४. मुक्ति—निलोभता।

### शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएं

सुक्कज्झाणसुभाविअचित्तो चित्तेइ भाणविरमेऽवि ।  
 णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥  
 आसवदारग्वाए तह संसारासुहाणुभावं च ।  
 भवसंताणमणंतं वत्थूणं विपरिणामं च ॥  
 (ध्यानशतक ८७, ८८)

शुक्लध्यान से सुभावित चित्त वाला चारित्रसम्पन्न  
 मुनि ध्यान से उपरत होने पर भी सदा चार अनुप्रेक्षाओं  
 का चिन्तन करता है—

१. अपाय अनुप्रेक्षा—दोषों का चिन्तन करना।
२. अशुभ अनुप्रेक्षा—पदार्थों की अशुभता का चिन्तन करना।
३. अनन्तवृत्तित्ता अनुप्रेक्षा—संसारपरम्परा का चिन्तन करना।
४. विपरिणाम अनुप्रेक्षा—वस्तुओं के विविध परिणामों का चिन्तन करना।

### शुक्लध्यान : योग-लेश्या-गति

जोगे जोगेसु वा पढमं, बीयं योगमि कण्हुयी ।  
 ततियं च काइके जोगे, चउत्थं च अजोगिणो ॥  
 पढमन्नितियाओ सुक्काए, ततियं परमसुक्कियं ।  
 लेश्यातीतं उवरिल्लं, होति ज्झाणं वियाहितं ॥  
 अणुत्तरेहिं देवेहिं, पढमवीएहिं गच्छती ।  
 उवरिल्लेहिं भाणेहिं, सिज्झती निरयो ध्रुवं ॥  
 (आवचू २ पृ ८६)

	शुक्लध्यान	लेश्या	योग	गति
१.	पृथक्त्व वितर्क सविचार	शुक्ललेश्या	तीनों योग (मन, वचन, काय)	अनुत्तर विमान
२.	एकत्व वितर्क अविचार	शुक्ललेश्या	कोई एक योग	अनुत्तर विमान
३.	सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति	परम शुक्ललेश्या	काययोग	सिद्धगति
४.	समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति	लेश्यातीत	अयोग	सिद्धगति

### निष्पत्ति

ते य विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहं च ।

दोहं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिस्लाणं ॥

(ध्यानशतक ९४)

शुभ आश्रव, संवर और निर्जरा की विशेष प्राप्ति तथा अनुत्तरविमानवासी देवों का सुख मिलना—यह शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकारों का फल है तथा अंतिम दो प्रकारों का फल है—परिनिर्वाण ।

### केवली में शुक्लध्यान कैसे ?

पुव्वप्पओगओ चिय कम्मविणिज्जरणहेउतो यावि ।

सद्धत्थबहुत्ताओ तह जिणचंदागमाओ य ॥

चित्ताभावेवि सया सुहमोवरयकिरियाइ भण्णंति ।

जीवोवओगसवभावओ भवत्थस्स भाणाइ ॥

(ध्यानशतक ८५, ८६)

भवस्थ सयोगी या अयोगी केवली के चित्त का अभाव होने पर भी जीव का उपयोग रहता ही है । अतः उनमें शुक्लध्यान के अंतिम दो प्रकार होते हैं । उनमें ध्यान का अस्तित्व मानने के चार हेतु हैं—

१. जीव के पूर्व प्रयोग के कारण ।
२. कर्मों की निर्जरा के कारण ।
३. शब्द के अनेक अर्थों के कारण ।
४. आगमिक साक्षी के कारण ।

जह सव्वसरोरगयं मत्तेण विसं निहंभए डंके ।

तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहणवरमंतजोगेणं ॥

तह तिहुयणतणुविसयं मणोविसं जोगमंतबलजुत्तो ।

परमाणुम्मि निहंभइ अवणेइ तओवि जिणवेज्जे ॥

(ध्यानशतक ७१, ७२)

जैसे सारे शरीर में फैले हुए विष को मंत्र-प्रयोग से सर्प द्वारा डसे हुए स्थान पर एकत्रित कर विशेष मंत्र-प्रयोग से उसे निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार अर्हत् रूपी वैद्य, जो मंत्र (जिन-वचन) और ध्यान के सामर्थ्य

से युक्त हैं, वे त्रिभुवन-विषयभूत मन रूपी विष को एक परमाणु में निरुद्ध कर, उसका (मन का) अपनयन कर देते हैं ।

### ६. वाचिक-कायिक ध्यान

सुदहप्पयद्धवावारणं निरोहो व विज्जमाणाणं ।

भाणं करणाण मयं न उ चित्तनिरोहमितागं ॥

(विभा ३०७१)

मात्र चित्त का निरोध ही ध्यान नहीं है । मन, वचन और काया—इन तीनों करणों को सुदृढ़ प्रयत्न से एकाग्रता में व्याप्त करना अथवा उनका निरोध करना भी ध्यान है ।

काएविय अज्झप्पं, वायाइ मणस्स चेव जह होइ ।

कायवयमणोजुत्तं, तिविहं अज्झप्पमाहंमु ॥

अध्यात्मं ध्यानमित्यर्थः ।

(आवनि १४७० हावृ पृ १८९)

जैसे मन में अध्यात्म (ध्यान) होता है, वैसे ही शरीर और वचन में भी अध्यात्म होता है । शरीर में एकाग्रतापूर्वक चंचलता का निरोध करना कायिक ध्यान है । वचन में एकाग्रतापूर्वक असंयत भाषा का निरोध करना वाचिक ध्यान है । तीर्थंकरों ने अध्यात्म (ध्यान) के तीन प्रकार बताए हैं—

१. मन में अध्यात्म—मानसिक ध्यान (मनोगुप्ति)

२. वचन में अध्यात्म—वाचिक ध्यान (वाग्गुप्ति)

३. काय में अध्यात्म—कायिक ध्यान (कायगुप्ति)

मा मे एजउ काउत्ति, अचलओ काइअं हवइ भाणं ।

एमेव य माणसिअं, निरुद्धमणसो हवइ भाणं ॥

(आवनि १४७४)

‘मेरा शरीर कंपित न हो’—ऐसा सोचकर जो निश्चल होता है, उसके कायिक ध्यान होता है । इसी प्रकार मन का निरोध करना मानसिक ध्यान है ।

एवंविहा गिरा मे, वत्तव्वा एरिसा न वत्तव्वा ।

इअ वेआलियवक्करस्स, भासओ वाइअं भाणं ॥

(आवनि १४७७)

मुझे ऐसी भाषा बोलनी चाहिए और ऐसी नहीं, ऐसा विमर्श कर बोलने वाले के वाचिक ध्यान होता है।

### ७. ध्यान के सात विकल्प

भाणस्स सत्त भंगा—मानसं, वाइयं, कायिगं, माणसं वाइयं च, वाइयं काइयं च, माणसं काइयं, मणवयणकायिगंति । एत्थ पढमो भंगो छउमत्थाणं सम्महिट्ठीमिच्छादिट्ठीणं सरागवीतरागाणं भवति । वित्ति तोसि चैव छदुमत्थाणं सजोगिकेवलीणं च धम्मं कथेन्ताणं । काइयं तोसि चैव छदुमत्थाणं सजोगिकेवलीणं च चरमसमयसजोगिगति ताव भवति । चउत्थो पंचमो य जथा पढमो । छट्ठो जथा सजोगिकेवलीणं । सत्तमो जथा पढमो । (आवचू २ पृ ८१, ८२)

ध्यान के सात विकल्प हैं—

१. मानसिक ध्यान—यह छद्मस्थ, सम्यग्दृष्टि, मिध्या-दृष्टि, सराग और वीतराग के होता है।
२. वाचिक ध्यान—यह छद्मस्थ और धर्मकथा में संलग्न सयोगी केवली के होता है।
३. कायिक ध्यान—यह छद्मस्थ और सयोगी केवली के चरम समय पर्यन्त होता है।
४. मानसिक-वाचिक ध्यान—प्रथम विकल्प तुल्य।
५. वाचिक-कायिक ध्यान—प्रथम विकल्प तुल्य।
६. मानसिक-कायिक ध्यान—सयोगी केवली।
७. मानसिक-वाचिक-कायिक ध्यान प्रथम विकल्प तुल्य।

### ८. दृष्टिवाद और ध्यान

मणसा वावारंती, कायं वायं च तप्परीणामो ।

भंगिअसुयं गुणतो, वट्टइ तिविहेवि भाणम्मि ॥

(आवनि १४७८)

भंगिक श्रुत (दृष्टिवाद का अंश या अन्य विकल्प-प्रधान श्रुत) का गुणन करने वाला व्यक्ति तीनों ध्यानों में प्रवृत्त होता है। उसका मन भंगिक श्रुत में नियोजित होता है, वचन से उसका उच्चारण और काया—अंगुलियों द्वारा उसका लेखन या गुणन किया जाता है।

### ९. ध्यान की योग्यता : भावना

पुव्वकयन्भासो भावणाहि भाणस्स जोगयमुवेइ ।

ताओ य नाणदंसणचरित्तवेरग्गजणियाओ ॥

णाणे णिच्चन्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च ।

नाणगुणमुणियसारे तो भाइ सुनिच्चलमईओ ॥

संकाइदोसरहिओ पसमयेज्जाइगुणगणोवेओ ।

होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए भाणंमि ॥

नवकम्माणायाणं पोरानविणिज्जरं सुभायाणं ।

चारित्तभावणाए भाणमयत्तेण य समेइ ॥

सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य ।

वेरग्गभावियमणो भाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥

(ध्यानशतक ३०-३४)

जिसने भावनाओं के माध्यम से ध्यान का पहले अभ्यास किया है, वह ध्यान करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। भावनाएं चार प्रकार की हैं—

१. ज्ञान भावना—जो ज्ञान का नित्य अभ्यास करता है, ज्ञान में मन को स्थिर करता है, सूत्र और अर्थ की विशुद्धि रखता है, ज्ञान के माहात्म्य से परमार्थ को जान लेता है, वह सुस्थिर चित्त से ध्यान कर सकता है।
२. दर्शन भावना—जो अपने को शंका आदि दोषों से रहित और प्रशम, स्वैर्य आदि गुणों से सहित कर लेता है, वह दर्शन-शुद्धि के कारण ध्यान में अभ्रान्त चित्त वाला हो जाता है।
३. चारित्र्य भावना—चारित्र्य भावना से नए कर्मों का अग्रहण, पूर्वसंचित कर्मों का निर्जरण तथा शुभकर्मों का ग्रहण और ध्यान—ये बिना किसी प्रयत्न के ही उपलब्ध हो जाते हैं।
४. वैराग्य भावना—जो जगत् के स्वभाव को जानता है, निस्संग है, अभय है और आशंसा से विप्रमुक्त है, वह वैराग्य भावना से भावित मन वाला होता है। वह ध्यान में सहज ही निश्चल हो जाता है।

### १०. ध्यान के अयोग्य

पयलायंतं सुसुत्तो, नेव सुहं भाइ भाणमसुहं वा ।

अव्वावारिअचित्तो, जागरमाणोवि एभेव ॥

अचिरोववन्नगाणं, मुच्छिअववत्तमत्तसुत्ताणं ।

ओहाडिअमव्वत्तं, च होइ पाएण चित्तंति ॥

(आवनि १४८१, १४८२)

१. जो प्रचलायमान और सुषुप्त है, वह न शुभ ध्यान में प्रवृत्त होता है और न अशुभ ध्यान में। इसी प्रकार अव्यापारित चित्त वाला व्यक्ति जागता हुआ भी न शुभ में प्रवृत्त होता है और न अशुभ में।
२. नवजात शिशु, मूर्च्छित, अव्यक्तचेता, मत्त और मुप्त—इनका चित्त प्रायः स्थगित और अव्यक्त होता है। इन अवस्थाओं में ध्यान नहीं होता।

### ११. ध्यान का स्थान-काल-आसन

निच्चं चिय जुवइपसुनपुंसगकुसीलवज्जियं जइणो ।  
ठणं वियणं भणियं विसेसओ ऋणकालम्मि ॥  
तो जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयणकायजोगाणं ।  
भूओवरोहरहिओ सो देसो ऋयमाणस्स ॥  
(ध्यानशतक ३५, ३७)

मुनि सदा युवती, पशु, नपुंसक तथा कुशील व्यक्तियों से रहित विजन स्थान में रहे। ध्यानकाल में विशेष रूप से विजन स्थान में रहे।

जहां मन, वचन और काया के योगों का समाधान (स्वास्थ्य) बना रहे और जो जीवों के संघट्टन से रहित हो, वही ध्याता के लिए श्रेष्ठ ध्यानस्थल है।

कालोऽत्रि सोच्चिअ जहि जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ ।  
न उ दिवसनिसावेलाइनियमणं ऋइणो भणियं ॥  
(ध्यानशतक ३८)

ध्यान के लिए वही काल श्रेष्ठ है, जब मन, वचन और काया के योगों का समाधान बना रहे। ध्यान करने वाले के लिए दिन-रात या वेला का नियमन नहीं है।

जच्चिअ देहावस्था जिया ण ऋणोवरोहिणी होइ ।  
ऋइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥  
(ध्यानशतक ३९)

जिस देहावस्था (आसन) का अभ्यास हो चुका है और जो ध्यान में बाधा डालने वाली नहीं है, उसी में अवस्थित होकर ध्याता स्थित—खड़े होकर कायोत्सर्ग आदि में, निषण्ण—बैठकर वीरासन आदि में अथवा निपन्न—सोकर दण्डायतिक आदि आसन में ध्यान करे।

सव्वासु वट्टमाणो मुणओ जं देसकालचेट्ठासु ।  
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥  
तो देसकालचेट्ठानियमो ऋणस्स नत्थि समयमि ।  
जोगाणं समाहाणं जह होइ तहा यइयव्वं ॥  
(ध्यानशतक ४०, ४१)

सभी देश, काल और चेष्टा आसनों में प्रवृत्त, उपशान्त दोष वाले अनेक मुनियों ने ध्यान के द्वारा केवलज्ञान आदि की प्राप्ति की है।

अतः आरम्भ में ध्यान के लिए देश, काल और आसन का कोई नियम नहीं है। जैसे योगों का समाधान हो, वैसे ही प्रयत्न करना चाहिए।

(आवश्यकनिर्मुक्ति की हारिभद्रीया वृत्ति भाग-२, पृष्ठ ६१ से ८१ में ध्यानशतक के १०५ श्लोक प्रकाशित हैं। इसे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृति माना गया है।)

नक्षत्र—ज्योतिष्क देवों का एक भेद।

नक्षत्र और उनके अधिष्ठाता देव

कत्तिय रोहिणि मिगसिर अट्टा य पुणव्वसू य पुस्से य ।  
तत्तो य अस्सिलेसा मघाओ दो फग्गुणीओ य ॥  
हत्थो वित्ता साती विसाहा तह य होइ अणुराहा ।  
जेट्ठा मूलो पुव्वासाढा तह उत्तरा चेवा ॥  
अभिई सवण धणिट्ठा सतभिसया दो य हीति भट्टवया ।  
रेवति अस्सिणि भरणी एसा नक्खत्तपरिवाडी ॥  
(अनु ३४१/१-३)

अग्नि पयावइ सोमे रुहे अदित्ती बहस्सई सध्पे ।  
पिति भग अज्जम सविया तट्ठा वाऊ य इंदग्गी ॥  
मित्तो इंदो निरती आऊ विस्सो य बंभ विण्णू य ।  
वसु वरुण अय विवट्ठी पुस्से आसे जमे चेव ॥  
(अनु ३४२/१,२)

नक्षत्र	अधिष्ठाता देव
१. कृत्तिका	१. अग्नि
२. रोहिणी	२. प्रजापति
३. मृगशिरा	३. सोम
४. आर्द्रा	४. रुद्र
५. पुनर्वसु	५. अदिति
६. पुष्य	६. बृहस्पति
७. अश्लेषा	७. सर्प
८. मघा	८. पितृ
९. पूर्वफाल्गुनी	९. भग
१०. उत्तरफाल्गुनी	१०. अर्यमा
११. हस्त	११. सविता
१२. चित्रा	१२. त्वष्टा
१३. स्वाति	१३. वायु
१४. विशाखा	१४. इंद्राग्नि
१५. अनुराधा	१५. मित्र
१६. ज्येष्ठा	१६. इंद्र
१७. मूल	१७. निष्कृति
१८. पूर्वाषाढा	१८. अप्
१९. उत्तराषाढा	१९. विश्व
२०. अभिजित	२०. ब्रह्म
२१. श्रवण	२१. विष्णु
२२. धनिष्ठा	२२. वसु
२३. शतभिषक्	२३. वरुण

२४. पूर्वाभाद्रपद	२४. अज
२५. उत्तराभाद्रपद	२५. विवृद्धि (अहिर्बुध्न)
२६. रेवति	२६. पूषा
२७. अश्विनी	२७. अश्व
२८. भरणी	२८. यम

**नन्दनवन**—क्रीडास्थल ।

णंदति जेण वणयर-जोतिस-भवण-वेमाणिया विज्जाहर-भणुया य तेण णंदणं, वणं ति—वणसंडं ।

(नन्दीचू पृ ५)

जहां व्यन्तर, ज्योतिष्क, भवनपति और वैमानिक देव, विद्याधर और मनुष्य आनन्द का अनुभव करते हैं, क्रीडा करते हैं, वह वनषण्ड नन्दनवन है ।

**नमस्कार महामंत्र**—अर्हत् परंपरा का सुप्रसिद्ध मंत्र जिसमें पंच परमेष्ठी को नमन किया जाता है ।

१. नमस्कार पंचक
२. नमस्कार के अनुयोग
३. नमस्कार की उत्पत्ति
४. नमस्कार का प्रयोजन
५. नमस्कार की स्थिति
६. नमस्कार की तिष्ठपत्ति
७. नमस्कार का महत्त्व
८. नमस्कार के पद पांच क्यों ?
९. नमस्कारपदों का क्रम

### १. नमस्कार पंचक

नमो अरहंताणं  
नमो सिद्धाणं  
नमो आयरियाणं  
नमो उवज्झायाणं  
नमो लोए सव्वसाहूणं (आव १/१)  
एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।  
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥  
(आवनि १०१८ मवू प ५५२)

अर्हंतों को नमस्कार  
सिद्धों को नमस्कार  
आचार्यों को नमस्कार  
उपाध्यायों को नमस्कार  
लोक के सब साधुओं को नमस्कार

यह पंच नमस्कार सब पापों का नाश करने वाला और सब मंगलों में प्रथम मंगल है ।

...काऊणं पंचमंगलं आरंभो होइ सुत्तस्स ॥  
(आवनि १०१३)

कयपंचनमोक्कारस्स दिति सामाइयाइयं विहिणा ।  
आवासयमायरिया कमेण तो सेसयसुयं पि ॥  
(विभा ५)

शिष्य सर्वप्रथम मंगलरूप पंचनमस्कार करता है, उसके पश्चात् ही आचार्य शिष्य को उसकी योग्यता के अनुसार सामायिक, आवश्यक, आचारांग आदि शेष सूत्रों की विधियुत वाचना देते हैं ।

जदा संहिता सव्वा उच्चारिता भवति तत्थ सो सुत्ताणु गमो ।...सुत्तं अणुगतं व्वं । तं च पंचनमोक्कारपुव्वं भणंति पुव्वगा ।  
(आवचू १ पृ ५०१, ५०२)

आगम पाठ में सर्वप्रथम सूत्र का उच्चारण किया जाता है, जो सूत्रानुगम कहलाता है । पूर्वविदों द्वारा सूत्रानुगम से पूर्व पंच नमस्कार किया जाता है ।

अरहंतनमोक्कारो जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।  
भावेण कीरमाणो होइ पुणो बोहिलाभाए ॥  
अरिहंतनमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो ।  
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥  
(आवनि ९२३, ९२६)

अर्हत् को भावपूर्वक नमस्कार करने से बोधिलाभ होता है, अनंत भवों से मुक्ति मिलती है । अर्हत्-नमस्कार सब पापों का नाश करता है और सभी मंगलों में प्रथम मंगल है ।

निच्छिन्नसव्वदुक्खा जाइजरामरणबंधणविमुक्का ।  
अव्वावाहं सुक्खं अणुहुंती सासयं सिद्धा ॥  
सिद्धाणं नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो ।  
मंगलाणं च सव्वेसिं विइअं होइ मंगलं ॥  
(आवनि ९८८, ९९२)

सब दुःखों से मुक्त, जन्म-जरा-मरण के बंधन से विप्रमुक्त सिद्ध अव्याबाध, शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं । सिद्ध-नमस्कार सब पापों का नाश करता है और सब मंगलों में द्वितीय मंगल है ।

आयारवेसणाओ पुज्जा परमोवगारिणो गुरवो ।  
विणयाइगाहणा वा उवज्झाया सुत्तया जं च ॥

आचार-विनय-साहजसाहज्जं साहजो जओ दिति ।  
तो पुज्जा ते पंच वि तग्गुणपूयाफलनिमित्तं ॥

(विभा २९५७, २९५८)

गुरु (आचार्य) स्वयं आचार-सम्पन्न होते हैं और दूसरों को आचार की देशना देते हैं इसलिए पूज्य परम-उपकारी गुरु नमस्करणीय हैं ।

उपाध्याय स्वयं विनयवान् होते हैं और शिष्यों को विनय की शिक्षा तथा सूत्र की वाचना देते हैं, इसलिए नमस्करणीय हैं ।

मुनि आचार और विनय से सम्पन्न होते हैं तथा मोक्ष-साधना में सहयोगी बनते हैं, इसलिए वे नमस्करणीय हैं ।

अर्हत् आदि पांचों पूज्य हैं । उनके ज्ञान आदि गुणों की पूजा का जो फल है—मोक्षाभिमुखता तथा स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति, उनकी निष्पत्ति में वे कारणभूत होते हैं ।

## २. नमस्कार के अनुयोग

उप्पत्ती निक्खेवो परं पयत्थो परूवणा वत्थुं ।  
अक्खेव पसिद्धि कम्मो पओयणफलं नमुक्कारो ॥

(आवनि ८८७)

नमस्कार के ग्यारह अनुयोग हैं—

(१) उत्पत्ति (२) निक्षेप (३) पद (४) पदार्थ (५) प्ररूपणा (६) वस्तु (७) आक्षेप (८) प्रसिद्धि (९) क्रम (१०) प्रयोजन और (११) फल ।

## ३. नमस्कार की उत्पत्ति

समुट्ठाण वायणा लद्धिओ पढमे नयत्तिहं तिविहं ।...  
(आवनि ८८९)

पन्नरससुवि कम्मभूमीसु पुरिसादिभावं पडुच्च, जदि उप्पन्नो कहं उप्पन्नोत्ति? तिविहेण सामित्तेण—समुत्थाणसामित्तेण वायणासामित्तेण लद्धिसामित्तेण ।... समुट्ठाणं नाम संमं आयरियादीण उपस्थापनमित्थं: तेन, वायणाए वायणायरियणीसाए, जहा भगवता गोयमसामी वायितो, लद्धी जहा भविकस्स । (आवचू १ पृ ५०२)

पन्द्रह कर्मभूमियों में पुरुष, काल आदि की अपेक्षा से नमस्कार मंत्र की उत्पत्ति होती है, उसके तीन रूप हैं—

१. समुत्थानस्वामित्व—आचार्य आदि की सम्यक् उपस्थापना ।

२. वाचनास्वामित्व—वाचनाचार्य की निश्चा में वाचना । जैसे—महावीर ने गौतम को वाचना दी ।

३. लब्धिस्वामित्व—बिना उपदेश के भी भक्त्य जीव को किसी निमित्त से नमस्कार की प्राप्ति होती है ।

## ४. नमस्कार का प्रयोजन

इत्थ य पओयणमिणं, कम्मक्खओ मंगलागमो चेव ।...  
(आवनि १०१०)

नमस्कार का प्रयोजन है—कर्म का क्षय और मंगल की प्राप्ति ।

## पंच पदों के नमस्कार का हेतु

मग्गे अविप्पणासो आयारे विणयया सहायत्तं ।

पंचविहनमुक्कारं करेमि एएहिं हेऊहिं ॥

(आवनि ९०३)

१. अर्हत् को नमस्कार करने से मोक्षमार्ग का बोध होता है ।

२. सिद्ध को नमस्कार करने से शाश्वत मोक्ष की ओर दृष्टि होती है ।

३. आचार्य को नमस्कार करने से आचार की सम्पन्नता बढ़ती है ।

४. उपाध्याय को नमस्कार करने से विनय का विकास होता है ।

५. साधु को नमस्कार करने से संयम जीवन में सहायता मिलती है ।

कोवप्पसायहेउं च जं फलं नहि तदत्थमारंभो ।

न परप्पसायणत्थं किन्तु निययप्पसायत्थं ॥

(विभा ३२५३)

कोपहेतुक और प्रसादहेतुक फलप्राप्ति के लिए अथवा दूसरों को प्रसन्न करने के लिए अर्हत् आदि को नमस्कार नहीं करना चाहिए । अपने चित्त की प्रसन्नता के लिए नमस्कार करणीय है ।

पूया परोवयाराभावे वि सिवाय जिणवराईणं ।

परिणामसुद्धिहेउं सुभकिरियाओ य वंभं व ॥

(विभा ३२६७)

पंच-परमेष्ठी नमस्कार परोपकार के अभाव में भी मोक्ष के लिए है, क्योंकि यह परिणामशुद्धि का हेतु है । ब्रह्मचर्य की भांति यह शुभ क्रिया है ।

## ५. नमस्कार की स्थिति

उवओम पडुच्चंतोमुहुत्त लद्धीए होइ हु जहधो ।

उक्कोसट्टिइ छावट्टि सागरा... ॥

(आवनि ८९४)

उपयोग की अपेक्षा से नमस्कार की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है और लब्धि की अपेक्षा से जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति साधक छियासठ सागर की होती है ।

## ६. नमस्कार की निष्पत्ति

इह लोइ अत्थकामा आरुग्गं अभिरई य निष्फत्ती ।

सिद्धी य सम्गसुकुलप्पच्चायाई य परलोए ॥

(आवनि १०११)

नमस्कार महामंत्र का जाप करने से इस लोक में अर्थ, काम, आरोग्य, अभिरति—पुण्य की निष्पत्ति और परलोक में सिद्धि, स्वर्ग, सुकुल में जन्म आदि की उपलब्धि होती है ।

## ७. नमस्कार का महत्त्व

जलणाइभए सेसं मोत्तुं पेगययणं महामोत्तलं ।

जुधि वातिभए चेप्पइ अमोहयत्थं जह तहेह ॥

मोत्तुं पि बारसंगं मरणाइ भएसु कीरए जम्हा ।

अरहंतनमोक्कारो तम्हा सो बारसंगत्थो ॥

सब्बं पि बारसंगं परिणामविसुद्धिहेउमित्तांगं ।

तवकारणभावाओ कह न तयत्थो नमोक्कारो ॥

न हु तम्मि देसकाले सक्को बारसविहो सुयक्खंधो ।

सब्बो अणुचितेउं धंतं पि समत्थंचित्तेणं ॥

(विभा ३०१६-३०१९)

जैसे घर में आग लगने पर अन्य धनधान्य सामग्री को छोड़कर महान् मूल्य वाले एक रत्न को ग्रहण किया जाता है, युद्धक्षेत्र में अमोघ अस्त्र को ग्रहण किया जाता है, वैसे ही मृत्यु के समय द्वादशांग आगमों को छोड़कर नमस्कारमंत्र का स्मरण किया जाता है । इसका फलित यह है कि नमस्कार मंत्र द्वादशांग का तात्पर्यार्थ है ।

जैसे समग्र द्वादशांग परिणामविशुद्धि का हेतु है, वैसे ही अर्हत् नमस्कार परिणामविशुद्धि का हेतु है; अतः यह द्वादशांग का वाचक है ।

कोई भी श्रुतसम्पन्न व्यक्ति अत्यन्त समर्थ होने पर भी तात्कालिक मृत्यु, भय आदि की स्थिति में सम्पूर्ण

द्वादशांग के श्रुतस्कंधों का अनुचिन्तन नहीं कर सकता, अतः उस आपदा की स्थिति में नमस्कार मंत्र का निरंतर पुनः-पुनः स्मरण किया जाता है ।

इस मंत्र के अक्षर अल्प और अर्थ महान् है, क्योंकि यह द्वादशांग के अर्थ का संग्राहक है ।

एकस्मि वि जस्मि पए संवेगं कुणइ वीयरामए ।

सो तेण मोहजालं छिदइ अज्झप्पओणेणं ॥

ववहाराओ मरणे तं पयमेक्कं मयं नमोक्कारो ।

अन्नं पि निच्छयाओ तं चेव य बारसंगत्थो ॥

जं सोऽतिनिज्जरत्थो पिडयत्थो वन्निओ महत्थो वि ।

कीरइ निरंतरमभिकखणं तु बहुसो बहू वारा ॥

(विभा ३०२१-३०२३)

वीतराग का एक पद—वचन भी व्यक्ति में वैराग्य उत्पन्न कर देता है, अध्यात्मयोग से मोहग्रंथि को छिन्न कर देता है । नमस्कार मंत्र अनेक पदात्मक है, द्वादशांग गणितक का तात्पर्यार्थ है, महान् निर्जरा का हेतु है । यद्यपि व्यवहार में इसे एक पद भी कहा जा सकता है, किंतु निश्चय दृष्टि से यह सम्पूर्ण द्वादशांग है, क्योंकि यह संवेग अथवा वैराग्य का जनक है । जिस पद या वाक्य से व्यक्ति में विराग्य उत्पन्न होता है, वही पद उस व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण ज्ञान है । अतः मरणकाल में इस मंत्र का निरंतर पुनः-पुनः स्मरण किया जाता है ।

## ८. नमस्कार के पद पांच क्यों ?

नवि संखेवो न वित्थार संखेवो दुविहु सिद्धसाहूणं ।

वित्थारओऽण्णेगविहो पंचविहो न जुज्जई तम्हा ॥

अरहंताई निअमा साहू साहू अ तेसु भइअव्वा ।

तम्हा पंचविहो खलु हेउनिमित्तं हवइ सिद्धो ॥

(आवनि १००६, १००७)

शिष्य ने पूछा—भंते ! सूत्र दो प्रकार का होता है—संक्षिप्त और विस्तृत । यह पंचनमस्कार न संक्षिप्त है, न विस्तृत । यदि संक्षेप में होता तो इसके दो ही पद होते—सिद्ध और साधु । परिनिवृत्त अर्हंतों का सिद्ध पद में और शेष पदों का साधु पद में समाहार हो जाता है ।

यदि विस्तार से होता तो इसके अनेक पद होते—अर्हत् ऋषभ, अर्हत् अजित आदि, तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध आदि-आदि । अतः पंचविध नमस्कार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता ।

आचार्य ने समाधान देते हुए कहा—अर्हत्, आचार्य और उपाध्याय नियमतः साधु हैं क्योंकि साधु के गुण उनमें विद्यमान हैं। साधु में अर्हत् आदि की भजना है। मात्र साधु को नमस्कार करने से अर्हत् आदि के विशिष्ट गुणों को नमन नहीं होता, अतः उससे निष्पन्न फल भी प्राप्त नहीं होता। जैसे - अर्हत् मोक्षमार्ग के उपदेष्टा हैं, अतः अर्हत्-नमस्कार मोक्षमार्ग की प्राप्ति का हेतु है। इस प्रकार हेतुभेद से पंचविध नमस्कार युक्तियुक्त है।

### ६. नमस्कारपदों का क्रम

अरहंतुवएसेणं सिद्धा नज्जंति तेष अरिहाई ।

नवि कोई परिसाए षणमिन्ता षणमई रण्णो ॥

यद्येवमाचार्यादिस्तिहि क्रमः प्राप्तः, अर्हतामपि तदुपदेशेन संवित्तेरिति। अत्रोच्यते, न, इहाहर्हत्सिद्धयोरेवायं वस्तुतस्तुल्यबलयोर्विचारः श्रेयान्, परमनायकभूतत्वाद्, आचार्यास्तु तत्परिषत्कल्पा वर्तन्ते।

(आवनि १००९ हावृ १ पृ ३०१)

अर्हत् के उपदेश से अथवा आगम से सिद्धों की अवगति मिलती है, अतः सर्वप्रथम अर्हत् को नमस्कार किया गया है।

आचार्य के उपदेश से अर्हत्ओं की अवगति मिलती है, तब सर्वप्रथम आचार्यों को नमस्कार क्यों नहीं किया गया? इसके समाधान में कहा गया है कि वस्तुतः तुल्य बल वालों के क्रम का विचार श्रेयस्कर है। शक्ति-सम्पन्नता और कृतकृत्यता की दृष्टि से अर्हत् और सिद्ध प्रायः समान ही हैं। दोनों परम नायक हैं। आचार्य उनकी परिषद् के समान हैं। कोई भी व्यक्ति परिषद् को प्रणाम कर राजा को प्रणाम नहीं करता।

नय—अनंत धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म को ग्रहण कर अन्य धर्मों का निराकरण न करने वाला दृष्टिकोण।

#### १. नय का निर्वचन

#### २. नय की परिभाषा

#### ३. सात नय

- नंगम
- संग्रह
- व्यवहार

- ऋजुसूत्र
- शब्द
- समभिरुद्ध
- एवंभूत

#### ४. चार नय

#### ५. द्रव्याधिक-पर्यायाधिक नय

#### ६. अर्थनय-शब्दनय

#### ७. निश्चयनय-व्यवहारनय

#### ८. ज्ञाननय-क्रियानय

#### ९. सम्यक्नय-मिथ्यानय

#### १०. नय : विभिन्न दृष्टांत

• गज का दृष्टांत

• रत्नावलि का दृष्टांत

• प्रस्थक, वसति और प्रदेश का दृष्टान्त

#### ११. नयविधि से अयुक्त भी युक्त

#### १२. कालिकभूत और नय

• नय के अपृथक्करण का हेतु

\* नय : अनुयोग का प्रवेशद्वार

(द्र. अनुयोग)

\* हिंसा, अहिंसा और नय

(द्र. अहिंसा)

\* सामायिक और नय

(द्र. सामायिक)

\* निक्षेप में नय का अन्तर्भाव

(द्र. निक्षेप)

### १. नय का निर्वचन

स नयइ तेण तहि वा तओऽहवा वत्थुणो व जं नयणं ।  
वहुहा पज्जायाणं संभवओ सो नओ नाम ॥  
(विभा ९१४)

वक्ता संभावित पर्यायों से वस्तु का बोध कराता है, वह नय है।

अथवा जिससे अर्थ का परिच्छेद होता है, वह नय है।

### २. नय की परिभाषा

एणेण वत्थुणो ऽणोगधम्मणो जमवधारणे णेव ।

नयणं धम्मणेण तओ होइ नओ...॥

(विभा २१८०)

नयति—अनेकांशात्मकं वस्त्वेकांशावलम्बनेन प्रतीति-पथमारोपयति नीयते वा तेन तस्मिस्ततो वा नयनं वा नयः—प्रमाणप्रवृत्त्युत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः ।

(उशावृ प ६७)

अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म (अंश) का अवलम्बन लेकर उसे प्रतीति का विषय बनाना नय



है। यह प्रमाण की प्रवृत्ति के पश्चात् होने वाला परामर्श है।

अनेकधर्मकं वस्त्वधारणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्य-  
न्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धिं नीयते—प्राप्यते  
येनाभिप्रायविशेषेण स ज्ञानुरभिप्रायविशेषो नयः।

(आवमवृ प ३६९)

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। उसके विवक्षित धर्म का अवधारण करने वाला ज्ञाता का अभिप्रायविशेष नय कहलाता है।

दिगम्बरी त्वियं प्रमाणनयपरिभाषा—सम्पूर्णवस्तु-  
कथनं प्रमाणवाक्यं, यथा स्याज्जीवः, स्याद्धर्मास्तिकाय  
इत्यादि, वस्त्वेकदेशकथनं नयवादः, तत्र यो नाम नयो  
नयान्तरसापेक्षः स नयः इति वा सुनय इति बोध्यते,  
यस्तु नयान्तरनिरपेक्षः स दुर्नयो नयाभास इति।

(आवमवृ प ३७०)

दिगम्बर मान्यता के अनुसार—सम्पूर्ण वस्तु का प्रतिपादन करने वाला प्रमाणवाक्य कहलाता है, जैसे—  
स्यात् जीव है, स्यात् धर्मास्तिकाय है। वस्तु के एक अंश का प्रतिपादन करने वाला कथन नयवाद कहलाता है। जो नय दूसरे नय की अपेक्षा रखता है, वह सुनय है और जो नय दूसरे नय की अपेक्षा नहीं रखता, वह दुर्नय अथवा नयाभास है।

### ३. सात नय

सत्त मूलनया पण्णत्ता, तं जहा—नेगमे संगहे  
ववहारे उज्जुसुए सदे समभिरूडे एवंभूए। (अनु ७१५)

नय सात हैं—

- |             |            |
|-------------|------------|
| १. नैगम     | ५. शब्द    |
| २. संग्रह   | ६. समभिरूड |
| ३. व्यवहार  | ७. एवंभूत। |
| ४. ऋजुसूत्र |            |

### नैगम नय

नेगेहि माणेहि मिणइ त्ति नेगमस्स य निरुत्ती।....

(अनु ७१५।१)

णेगाइं माणाइं सामलोभयविसेसणाणाइं।

जं तेहि मिणइ तो णेमो णओ षेगमाणो त्ति ॥

(विभा २१८६)

जो अनेक प्रमाणों से वस्तु का ज्ञान करता है, वह नैगम है।

सामान्य, विशेष और उभयरूप ज्ञानों से ग्रहण करना नैगम नय है।

### संग्रह नय

संगहियपिडियत्थं, संगहवयणं समासओ बेत्ति।....

(अनु ७१५।२)

जो संग्रहीत और पिडित अर्थ को संक्षेप में बताता है, वह संग्रह नय है।

### व्यवहार नय

....वच्चइ विणिच्छियत्थं, ववहारो सव्वदव्वेसु ॥

(अनु ७१५।२)

....ववहारपरो व जओ विसेसओ तेण ववहारो ॥

(विभा २२१२)

जो सब द्रव्यों के विनिश्चित—विशेष अर्थ का अनु-  
गमन करता है, वह व्यवहार नय है।

### संग्रह और व्यवहार नय में अन्तर

जं सामन्नगाही संगिणहइ तेण संगहो निययं।

जेण विसेसगाही ववहारो तो विसेसेइ ॥

(विभा ७६)

संग्रहनय सामान्यग्राही है। वह अभेद को ग्रहण करता है।

व्यवहारनय विशेषग्राही है। वह भेद को ग्रहण करता है।

### ऋजुसूत्र नय

तम्हा निययं संपइकालीणं लिग-वयणभिन्नं पि।

नामाइभेयविहियं पडिवज्जइ वत्थुमुज्जुसुओ ॥

(विभा २२२६)

लिंग और वचन का भेद होने पर भी जो वस्तु के वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र है। ऋजुसूत्र तीनों लिंगों, दोनों वचनों और नाम आदि चारों निक्षेपों को मान्य करता है।

### शब्द नय

धणिभेयाओ भेओ त्थी-पुलिगाभिहाणवच्चाणं।

पड-कुंभाणं व जओ तेणाभिन्नत्वमित्ठं तं ॥

(विभा २२३४)

जिन शब्दों के लिंग भिन्न हैं, उन शब्दों में भेद है, एकत्व नहीं है। जैसे—पट और कुम्भ शब्द भिन्न हैं;

वैसे ही तटी, तट और तटम्—इन शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न है। क्योंकि इनमें ध्वनि का भेद है। ध्वनि के अनुसार जिस शब्द का जो लिंग है, वह अन्य लिंग वाले अर्थ का वाच्य नहीं हो सकता।

### ऋजुसूत्र और शब्द नय में अंतर

पञ्चुप्पणगाही, उज्जुसुओ नयविही मुण्येयव्वो ।

इच्छइ विसेसियतारं, पञ्चुप्पणं नओ सद्दो ॥

(अनु ७१५।३)

जो वस्तु के प्रत्युत्पन्न—वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है।

शब्द नय उसी प्रत्युत्पन्न पर्याय को लिंग और वचन के भेद से विशेष रूप में ग्रहण करता है।

### समभिरूढ नय

वत्थूओ संकमणं, होइ अवत्थू नए समभिरूढे ।

(अनु ७१५।४)

समभिरूढ नय में वस्तु का संक्रमण—एक शब्द का दूसरे पर्यायवाची शब्द में गमन अवस्तु हो जाता है।

वस्तुनो—घटाख्यस्य संक्रमणम् अन्यत्र कुटाख्यादी गमनं किम् ? भवति अवस्तु असदित्यर्थः । घटः कुटः कुम्भ इत्यादिशब्दान् भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वादिभन्नार्थ-गोचरानेव मन्यते, घटपटादिशब्दानिव । तथा च विशिष्टचेष्टावानर्थो घट इति तथा कौटिल्यायोगात्कुटः, तथा उम्भनात् उम्भः कुस्थितपूरणादित्यर्थः । ततश्च यदा घटार्थे कुटादिशब्दः प्रयुज्यते तदा वस्तुनः कुटादेस्तत्र संक्रान्ति कृता भवति । (आवहावृ १ पृ १९०)

घट वस्तु में कुट, कुम्भ आदि अन्य शब्दों का आरोप करने पर वह अवस्तु (असत्) हो जाती है। क्योंकि इस नय को वाचक भेद से वाच्यार्थ में भिन्नता मान्य है। जैसे—जो चेष्टाशील है, वह घट है। जो कुटिल/टेढ़ा-मेढ़ा है, वह कुट है। जिसे भूमि पर रखकर भरा जाता है, वह कुम्भ है। इस प्रकार प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न-भिन्न होने से इन शब्दों का वाच्यार्थ भी भिन्न-भिन्न है। घट शब्द से कुट शब्द उतना ही भिन्न है, जितना घट से पट शब्द भिन्न है। सभी पर्यायों को एकार्थक मानने से सांकर्य दोष होता है—यह समभिरूढ नय का अभिमत है !

### एवंभूत नय

...वंजण-अत्थ-तदुभयं, एवंभूओ विसेसेइ ॥

(अनु ७१५।४)

वंजणमत्थेणत्थं च वंजणेणोभयं विसेसेइ ।

जह घडसद्दं चेट्टावया तथा तं पि तेण्वेव ॥

(विभा २२५२)

जो शब्द और अर्थ—इन दोनों को विशेषित करता है, वह एवंभूत नय है। इसमें वाच्य वाचक से तथा वाचक वाच्य से अथवा शब्द अर्थ से तथा अर्थ शब्द से विशेषित होता है। जैसे—जल-आहरण आदि की चेष्टा—क्रिया से घट शब्द सार्थक होता है और घट शब्द से आहरण आदि की क्रिया का बोध होता है।

### शब्द-ऋजुसूत्र, समभिरूढ-एवंभूत

सद्दुज्जुया पज्जायवायगा भावसंगहं बेत्ति ।

उत्तरिमया विवरीआ भावं भिदंति तो निययं ॥

(विभा ७७)

शब्द और ऋजुसूत्र—ये दोनों नय पर्यायवाचक होने पर भी भाव निक्षेप का प्रतिपादन करते हैं। समभिरूढ और एवंभूत—ये दोनों नय शब्द और ऋजुसूत्र से विपरीत हैं। ये भाव के एकत्व का नहीं, भिन्नत्व का प्रतिपादन करते हैं।

एक्केवको य सयविहो सत्त नयसया हवंति एमेव ।

अण्णोऽवि य आएसो पंचेव सया नयाणं तु ॥

(आवनि ७५९)

प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद हैं। इस प्रकार सात नयों के सात सौ भेद हो जाते हैं।

अन्य परम्परा के अनुसार तीनों शब्दनयों को एक मान लेने पर मूलनय पांच ही रह जाते हैं। उसके आधार पर पांच नयों के पांच सौ भेद होते हैं।

(उमास्वाति के अनुसार नय पांच हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द (तत्त्वार्थ सूत्र १।३४)। सिद्धसेन के अनुसार नय छह हैं—संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत (सन्मति प्रकरण १।४, ५)। उत्तरवर्ती साहित्य में सात नय के वर्गीकरण का ही अनुसरण हुआ है।)

### ४. चार नय

णेगमो दुविहो—संगहितो असंगहितो य । संगहितो

संग्रहं पविद्मो, असंग्रहितो व्यवहारं, तम्हा संग्रहो व्यवहारो रिजुसुतो, सदाइया य एक्को, एवं चतुरा णया ।

(नन्दीचू पृ ७२, ७३)

नैगम नय के दो भेद हैं—संग्रह और असंग्रह । संग्रह संग्रह में और असंग्रह व्यवहार में समाविष्ट है । अतः नय चार हैं—संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द (समभिरूढ़ और एवंभूत नय शब्द नय के अन्तर्गत हैं) ।

### ५. द्रव्याधिक-पर्यायाधिक नय

संग्रह-व्यवहारा पढमगस्स सेसा य इयरस्स ॥....

(विभा ७५)

संग्रह और व्यवहार ये दो नय द्रव्याधिक हैं । शेष ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—ये पांच नय पर्यायाधिक हैं ।

### ६. अर्थनय-शब्दनय

अत्थप्पवरं सहोवसज्जणं वत्थुमुज्जुसुत्तता ।

सट्ठप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विति ॥

(विभा २२६२)

प्रथम चार नयों में अर्थ प्रधान है और शब्द गौण, इसलिए वे अर्थनय कहलाते हैं । शेष तीन नयों में शब्द प्रधान है और अर्थ गौण, इसलिए वे शब्दनय कहलाते हैं ।

### ७. निश्चयनय-व्यवहारनय

लोगव्ववहारपरो व्यवहारो भणइ कालओ भमरो ।

परमत्थपरो मणइ निच्छइओ पंचवणो त्ति ॥

(विभा ३५८९)

लोक प्रसिद्ध अर्थ को मानने वाले विचार को व्यवहार नय कहते हैं, जैसे—भौरा काला होता है ।

नैश्चयिक नय परमार्थ को मानता है । उसके अनुसार भौरा पांच वर्ष वाला होता है ।

निच्छइओ सव्वगुरुं सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं ।

बायरमिह गुरुलहुयं अगुरुलहुं सेसयं सव्वं ॥

(विभा ६६०)

निश्चयनय के मत में कोई भी वस्तु एकान्त गुरु या एकान्त लघु नहीं है । जो बादर है, वह गुरुलघु है, शेष सब अगुरुलघु है ।

गुरुयं लहुयं उभयं नोभयमिति वावहारियनयस्स ।

दव्वं, लेटठुं दीवो वाऊ वोमं जहासंखं ॥

(विभा ६५९)

व्यवहारनय के अनुसार द्रव्य के चार स्वभाव हैं—गुरु, लघु, गुरुलघु, अगुरुलघु । जो वस्तु ऊपर फेंकने पर सहज नीचे गिरती है, वह गुरु है, जैसे—पत्थर । जो निसर्गतः ऊर्ध्वगति स्वभाव वाली है वह लघु है, जैसे—दीपकलिका । जो स्वभाव से तिरछी गति वाली है वह गुरुलघु है, जैसे—वायु । जो न गुरु है, न लघु है, सर्वत्रगामी है, वह अगुरुलघु है, जैसे—आकाश, परमाणु आदि ।

### ८. ज्ञाननय-क्रियानय

नायमि गिण्हिअव्वे अगिण्हअव्वमि चेव अत्थमि ।

जइअव्वमेव इअ जो उवएसो सो नओ नामं ॥

(आवनि १०५४)

हेय और उपादेय अर्थ को जानना ज्ञाननय है और उपादेय अर्थ में प्रवृत्त होना क्रियानय है ।

सत्त मूलनया...सव्वेवि दोसु समोतरंति—उवएसे

चरणे य । नेगमसंग्रहव्यवहारा उवदेसनयो । उज्जुमुत्त-सट्ठसमभिरूढ़एवंभूता चरणनयो । तत्र जाणणाणयो ज्ञानो-पलब्धिमात्रः, अविशेषितं द्रव्यास्तिक इत्यर्थः ।...चरण-नयः पर्याय इत्यर्थः ।

(आवचू २ पृ ५१)

सातों मूल नय उपदेश (ज्ञान) और चरण में समव-तरित होते हैं ।

नैगम, संग्रह और व्यवहार उपदेश नय हैं ।

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत चरण नय हैं ।

ज्ञानोपलब्धि ज्ञान नय है—यह द्रव्यास्तिक है ।

चरणनय पर्यायास्तिक है ।

### ९. सम्यक्नय-मिथ्यानय

इय सव्वनयमयाइं परित्तविसयाइं, समुदियाइं तु ।

जइणं.....

॥

(विभा १५३०)

प्रत्येक नय का विषय सीमित है—परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाले नय अप्रमाण हैं । वे ही जब परस्पर सापेक्ष होकर समुचित रूप में सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण करते हैं, तब सम्यक् होते हैं । यही जैनमत है ।

एवं विवयंति नया भिच्छाभिनिवेशओ परोप्परओ ।

इयमिह सव्वनयमयं जिणमयमणवज्जमच्चंतं ॥

(विभा ७२)

इस प्रकार निरपेक्ष नय मिथ्या अभिनिवेश के कारण परस्पर विवाद करते हैं । जैन दर्शन सब नयों को मान्य करता है, इसलिए वह अत्यन्त निर्दोष है ।

जावंतो वयणपहा तावंतो वा नया विसद्दाओ ।

ते चेव य परसमया सम्मत्तं समुदिया सव्वे ॥

(विभा २२६५)

जितने वचन के प्रकार हैं, उतने ही नय हैं, उतने ही पर-सिद्धान्त हैं। वे समुदित होकर सम्यक्त्व का रूप ले लेते हैं—यथार्थ बन जाते हैं।

नत्थि नएहि विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किच्चि ।  
आसज्ज उ सोयारं नए नयविसारओ बूया ॥

(विभा २२७७)

जिनवाणी अथवा आगम में जो सूत्र और अर्थ का प्रतिपादन है, वह नयसापेक्ष है। नयविशारद प्रवक्ता श्रोता की योग्यता के अनुसार उनका प्रतिपादन करे।

वेसगममत्तणाओ गमग च्चिय वत्थुणो सुयाइ व्व ।  
सव्वे समत्तगमगा केवलमिव सम्मभावम्मि ॥

(विभा २२६८)

श्रुतज्ञान आदि की तरह नय भी वस्तु के एक अंश के ग्राहक होने पर भी वस्तु के गमक/ज्ञापक होते हैं। सम्यक् होने पर सभी नय केवलज्ञान की भांति समस्त वस्तु के ज्ञापक बनते हैं।

## १०. नय : विभिन्न दृष्टान्त

### गज का दृष्टान्त

जमणेगधम्मणो वत्थुणो तदंसे च सव्वपडिबत्ती ।

अन्ध व्व गयावयवे तो मिच्छादिट्ठिणो वीसु ॥

(विभा २२६९)

हाथी के एक-एक अवयव को सम्पूर्ण हाथी समझने वाले चक्षुहीन व्यक्तियों की भांति जो अनन्त धर्मात्मक वस्तु के केवल एक धर्म को ग्रहण कर समस्त वस्तु की प्रतिपत्ति मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं।

जं पुण सम्मत्तपज्जायवत्थुममग त्ति समुदिया तेणं ।

सम्मत्तं चक्खुमओ सव्वगयावयवगहणे व्व ॥

(विभा २२७०)

हाथी के समस्त अवयवों के समुदाय को हाथी समझने वाले चक्षुष्मान् की तरह वस्तु की समस्त पर्यायों के समुदाय को वस्तु जानने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।

### रत्नावली का दृष्टान्त

न समत्तवत्थुममगा वीसुं रयणावलीए मणउ व्व ।

सहिया समत्तगमगा मणओ रयणावलीए व्व ॥

(विभा २२७१)

रत्नावली के बिखरे मनकों की भांति पृथक्-पृथक् नय समस्त वस्तु के गमक नहीं होते। नय समुदित होकर संयुक्त मनकों की भांति समस्त वस्तु के गमक बन जाते हैं।

### प्रस्थक, वसति और प्रदेश का दृष्टान्त

नयप्पमाणे ति विहे पणत्ते, तं जहा —पत्थगदिट्ठं-  
तेणं वसहिदिट्ठंतेणं, पएसदिट्ठंतेणं । (अनु ५५४)

प्रस्थक दृष्टान्त, वसति दृष्टान्त और प्रदेश दृष्टान्त—इन तीन दृष्टान्तों से नयप्रमाण का प्रतिपादन होता है।

### प्रस्थक का दृष्टान्त

पत्थगदिट्ठंतेणं—से जहानामए केइ पुरिसे परसुं  
गहाय अडविहुत्तो गच्छेज्जा, तं च केइ पासित्ता  
वएज्जा—कहि भवं गच्छसि ?

अविसुद्धो नेगमो भणति—पत्थगस्स गच्छामि ।

तं च केइ छिदमाणं पासित्ता वएज्जा—किं भवं  
छिदसि ?

विसुद्धो नेगमो भणति—पत्थगं छिदामि ।

तं च केइ तच्छेमाणं पासित्ता वएज्जा—किं भवं  
तच्छेसि ?

विसुद्धतराओ नेगमो भणति—पत्थगं तच्छेमि ।

तं च केइ उक्किरमाणं पासित्ता वएज्जा—किं भवं  
उक्किरसि ?

विसुद्धतराओ नेगमो भणति—पत्थगं उक्किरामि ।

तं च केइ लिहमाणं पासित्ता वएज्जा—किं भवं  
लिहसि ?

विसुद्धतराओ नेगमो भणति—पत्थगं लिहामि ।

एवं विसुद्धतरागस्स नेगमस्स नामाउडिओ पत्थओ ।  
एवमेव ववहारस्स वि ।

संगहस्स चिओ मिओ मेज्जसमारूढो पत्थओ ।

उज्जुसुयस्स पत्थओ वि पत्थओ, मेज्जं वि पत्थओ ।

तिण्हं सद्दनयाणं पत्थगाहिणारजाणओ पत्थओ, जस्स वा  
वसेणं पत्थओ निष्फज्जइ । (अनु ५५५)

प्रस्थक दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादित नय प्रमाण—  
कोई पुरुष कुल्हाड़ी लेकर अटवी की ओर जाता है, उसे  
देखकर कोई कहता है—आप कहां जाते हैं ? अविसुद्ध  
नेगम नय कहता है—प्रस्थक के लिए जाता हूं।

उस (वृक्ष) को काटते हुए देखकर कोई कहता है—

आप क्या काटते हैं? विशुद्ध नगम नय कहता है—  
प्रस्थक काटता हूँ।

उसे तराशते देखकर कोई कहता है—आप क्या  
तराशते हैं?

विशुद्धतर नैगम नय कहता है—प्रस्थक तराशता  
हूँ।

उसे उकेरते हुए देखकर कोई कहता है—आप क्या  
उकेरते हैं?

विशुद्धतर नैगम नय कहता है—प्रस्थक उकेरता  
हूँ।

उसे लिखते हुए (प्रमार्जित करते हुए) देखकर कोई  
कहता है—आप क्या लिख रहे हैं?

विशुद्धतर नैगम नय कहता है—प्रस्थक लिख रहा  
हूँ।

इस प्रकार विशुद्धतर नैगम नय नामांकित होने पर  
उसे प्रस्थक मानता है।

इसी प्रकार व्यवहार नय भी पूर्वोक्त सभी  
अवस्थाओं को प्रस्थक मानता है।

धान्य से व्याप्त और पूरित होने पर मेय समारूढ  
होता है इसलिए संग्रह नय उसे प्रस्थक मानता है।

ऋजुसूत्र नय प्रस्थक को भी प्रस्थक मानता है और  
मेय को भी प्रस्थक मानता है।

तीन शब्द नय प्रस्थक के अर्थाधिकार को जानने  
वाले व्यक्ति को प्रस्थक मानते हैं अथवा जिसके बल  
(प्रस्थकाधिकार को जानने वाले के उपयोग—चैतन्य  
व्यापार) से प्रस्थक निष्पन्न होता है, वह प्रस्थक  
कहलाता है।

### वसति का दृष्टान्त

वसतिद्विदंतेण—से जहानामए केइ पुरिसे कचि  
पुरिसं वएज्जा —कहिं भवं वसति? अविमुद्धो नेगमो  
भणति—लोगे वसामि।.....विमुद्धो नेगमो भणति—  
तिरियलोए वसामि।.....विमुद्धतराओ नेगमो भणति—  
जंबुद्वीवे...दाहिणड्ढभरहे...पाडलिपुत्ते...देवदत्तस्स घरे  
गभघरे वसामि। एवं विमुद्धतरागस्स नेगमस्स वसमाणो  
वसइ। एवमेव ववहारस्स वि। संगहस्स संथारसमारूढो  
वसइ। उज्जुसुयस्स जेसु आगासपएसेसु ओगाढो तेसु  
वसइ। तिण्हं सट्टनयाणं आयभावे वसइ। (अनु ५५६)

वसति दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादित नय प्रमाण—

कोई पुरुष किसी पुरुष से कहता है—आप कहां  
रहते हैं? अविशुद्ध नैगम नय कहता है—लोक में रहता  
हूँ। विशुद्ध नैगम नय कहता है—तिर्यक्लोक में रहता हूँ।  
विशुद्धतर नैगम नय कहता है—जम्बूद्वीप में, दक्षिणार्ध-  
भरत, पाटलिपुत्र, देवदत्त के घर, गर्भगृह में रहता हूँ।  
इस प्रकार विशुद्धतर नैगम नय जो व्यक्ति जिस स्थान  
में, जब निवास करता है उसे उसमें रहने वाला मानता  
है। इसी प्रकार व्यवहार नय भी नैगम नय की भांति  
निवास को मानता है। संग्रह नय बिछौने पर लेटे हुए  
व्यक्ति को ही निवास करने वाला मानता है।

ऋजुसूत्रनय व्यक्ति जितने आकाश प्रदेशों में अव-  
गाहन किए हुए रहता है, उनमें निवास करने वाला  
मानता है।

तीन शब्द नयों की दृष्टि से व्यक्ति आत्मभाव  
(अपने स्वरूप) में रहता है।

### प्रदेश का दृष्टान्त

पएसदिट्ठतेण—नेगमो भणति—छण्हं पएसो, तं  
जहा—धम्मपएसो अधम्मपएसो आगासपएसो जीवपएसो  
खंधपएसो देसपएसो। एवं वयंतं नेगमं संगहो भणति—  
जं भणसि छण्हं पएसो तं न भवइ।

कम्हा? जम्हा जो देसपएसो सो तस्सेव दव्वस्स,  
जहा को दिट्ठतो? दासेण मे खरो कीओ दासो वि मे  
खरो वि मे, तं मा भणाहि—छण्हं पएसो, भणाहि  
पंचण्हं पएसो, तं जहा—धम्मपएसो अधम्मपएसो...।  
एवं वयंतं संगहं ववहारो भणति—जं भणसि पंचण्हं  
पएसो तं न भवइ।

कम्हा? जइ पंचण्हं गोट्टियाणं केइ दव्वजाए  
सामण्णे, तं जहा—हिरण्णे वा सुवण्णे वा धणे वा घण्णे  
वा तो जुत्तं वत्तुं जहा पंचण्हं पएसो, तं मा भणाहि—  
पंचण्हं पएसो, भणाहि—पंचविहो पएसो, तं जहा—  
धम्मपएसो अधम्मपएसो...। एवं वयंतं ववहारं उज्जु-  
सुओ भणति—जं भणसि पंचविहो पएसो, तं न भवइ।

कम्हा? जइ ते पंचविहो पएसो—एवं ते एककेवको  
पएसो पंचविहो—एवं ते पणवीसतिविहो पएसो भवइ,  
तं मा भणाहि—पंचविहो पएसो, भणाहि—भइयव्वो  
पएसो—सिय धम्मपएसो...। एवं वयंतं उज्जुसुयं संपइ  
सहो भणति—जं भणसि भइयव्वो पएसो, तं न भवइ।

कम्हा? जइ ते भइयव्वो पएसो, एवं ते—धम्मपएसो  
वि—सिय धम्मपएसो सिय अधम्मपएसो सिय आगास-

पएसो सिय जीवपएसो सिय खंधपएसो.... । एवं ते अणवत्था भविस्सइ, तं मा भणाहि—भइयव्वो पएसो, भणाहि—धम्मे पएसे से पएसे धम्मे, अधम्मे पएसे से पएसे अधम्मे.... । एवं वयंतं सइं संपइ समभिरूढो भणति—जं भणसि धम्मे पएसे से पएसे धम्मे जाव खंधे पएसे से पएसे नोखंधे, तं न भवइ ।

कम्हा ? एत्थ दो समासा भवन्ति, तं जहा—तप्पुरिसे य कम्मधारए य । तं न नज्जइ कयरेणं समासेणं भणसि ? कि तप्पुरिसेणं ? कि कम्मधारएणं ? जइ तप्पुरिसेणं भणसि तो मा एवं भणाहि, अह कम्मधारएणं भणसि तो वित्सेसओ भणाहि—धम्मे य से पएसे य सेसे पएसे धम्मे, अधम्मे य से पएसे य सेसे पएसे अधम्मे.... । एवं वयंतं समभिरूढं संपइ एवंभूओ भणति—जं जं भणसि तं तं सव्वं कसिणं पडिपुण्णं निरवसेसं एगगहण-गहीयं । देसे वि मे अवत्थू, पएसे वि मे अवत्थू ।

(अनु ५५७)

प्रदेश दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित नय-प्रमाण—

नैगम नय कहता है—“छहों का प्रदेश” जैसे—धर्म का प्रदेश, अधर्म का प्रदेश, आकाश का प्रदेश, जीव का प्रदेश, स्कन्ध का प्रदेश और देश का प्रदेश ।

नैगम नय के ऐसा कहने पर संग्रह नय कहता है—“तुम कहते हो छहों का प्रदेश” वह उचित नहीं है ।

क्यों ? जो देश का प्रदेश है वह उसी द्रव्य का है । जैसे यहां कोई दृष्टान्त है ? मेरे दास ने गधा खरीदा, दास भी मेरा है और गधा भी मेरा है । इसलिए यह मत कहो कि “छहों का प्रदेश” । यह कहो कि “पांचों का प्रदेश”, जैसे धर्म का प्रदेश, अधर्म का प्रदेश ।

संग्रह नय के ऐसा कहने पर व्यवहार नय कहता है—तुम जो पांचों का प्रदेश कहते हो वह उचित नहीं है ।

क्यों ? यदि पांच मित्रों का कोई सामान्य (सबके अधिकार में) द्रव्य समूह है, जैसे—हिरण्य, सुवर्ण, धन या धान्य । वैसे ही पांचों का प्रदेश सामान्य है तो यह कहना उचित हो सकता है, जैसे—“पांचों का प्रदेश”, इसलिए मत कहो “पांचों का प्रदेश” । यह कहो “पांच प्रकार का प्रदेश”, जैसे—धर्म का प्रदेश, अधर्म का प्रदेश ।

व्यवहार नय के ऐसा कहने पर ऋजुसूत्र नय कहता

है—तुम जो पांच प्रकार का प्रदेश कहते हो वह उचित नहीं है ।

क्यों ? यदि तुम्हारे मत में पांच प्रकार का प्रदेश है तो इस प्रकार प्रत्येक प्रदेश के पांच प्रकार होने पर वह प्रदेश पच्चीस प्रकार का होता है । इसलिए मत कहो “पांच प्रकार का प्रदेश” । यह कहो प्रदेश भाज्य (विकल्पनीय) है, स्यात् धर्म का प्रदेश है, स्यात् अधर्म का प्रदेश है ।

ऋजुसूत्र के ऐसा कहने पर सम्प्रति शब्द नय कहता है—तुम जो कहते हो कि प्रदेश भाज्य है वह उचित नहीं है ।

क्यों ? तुम्हारे मत में प्रदेश भाज्य है तो इस प्रकार धर्म प्रदेश भी स्यात् धर्म का प्रदेश, स्यात् अधर्म का प्रदेश, स्यात् आकाश का प्रदेश, स्यात् जीव का प्रदेश, स्यात् स्कन्ध का प्रदेश हो सकता है ।... इस प्रकार अनवस्था हो जाएगी, इसलिए मत कहो प्रदेश भाज्य है, यह कहो—जो धर्मात्मक प्रदेश है वह प्रदेश धर्म है । जो अधर्मात्मक प्रदेश है वह प्रदेश अधर्म है ।

शब्द नय के ऐसा कहने पर सम्प्रति समभिरूढ कहता है—जो तुम कहते हो, जो धर्मात्मक प्रदेश है वह प्रदेश धर्म है यावत् स्कन्धात्मक प्रदेश है वह प्रदेश नो-स्कन्ध है, वह उचित नहीं है ।

किसलिए ? यहां दो समास होते हैं, जैसे—तत्पुरुष और कर्मधारय । अतः यह नहीं जाना जाता कि किस समास से कहते हो ? क्या तत्पुरुष समास से कहते हो ? क्या कर्मधारय समास से कहते हो ? यदि तत्पुरुष समास से कहते हो तो यह मत कहो, यदि कर्मधारय समास से कहते हो तो विशेषण सहित कहो—प्रदेश जो धर्म (धर्मात्मक) है वह प्रदेश धर्म है । प्रदेश जो अधर्म (अधर्मात्मक) है वह प्रदेश अधर्म है ।

समभिरूढ के ऐसा कहने पर सम्प्रति एवंभूत नय कहता है—जिस धर्मास्तिकाय आदि के सम्बन्ध में तुम कहते हो वह सब कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरवयव और एक शब्द के द्वारा अभिधेय है क्योंकि मेरी दृष्टि में देश भी वास्तविक नहीं है और प्रदेश भी वास्तविक नहीं है ।

## ११. नयविधि से अयुक्त भी युक्त

अत्थं जो न समिक्खइ निक्खेव-नय-प्पमाणओ विहिणा ।  
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ॥  
(विभा २२७३)

जो निक्षेप, नय, प्रमाण—इन विधियों से अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता, उसे अयुक्त युक्त और युक्त अयुक्त प्रतिभासित होता है ।

एवं सविसयसच्चे परविसयपरंमुहे तए नाउं ।

नेएमु न संमुक्कइ न य समयासायणं कुणइ ॥

(विभा २२७२)

नयविधि को जानने वाला अपने विषय में प्रयुक्त नय को सत्य और दूसरे द्वारा प्रयुक्त नय से पराङ्मुख होकर (उसका निराकरण अथवा स्थापन न करता हुआ) सभी नयों को जानता है। वह ज्ञेय में समूह नहीं होता और न सिद्धान्तों की आशातना ही करता है ।

## १२. कालिकश्रुत और नय

पायं संववहारो ववहारंतेहि तिहि य जं लोए ।

तेण परिकम्मणत्थं कालियसुत्ते तदहिगारो ॥

(विभा २२७६)

लोक में प्रायः नैगम, संग्रह और व्यवहार—इन तीन नयों का संव्यवहार होता है। इसलिए शिष्य की मति का परिकर्म करने के लिए कालिकश्रुत में इन तीन नयों का प्रयोग किया जाता है ।

## नय के अपव्यकरण का हेतु

साणुगहोणुओगे वीसुं कासी य सुयविभागेण ।

सुहगहणाइनिमित्तं नए य सुनिगृह्यविभागे ॥

सविसयमसद्दहंता नयाण तम्मत्तयं च गिण्हंता ।

मण्णंता य विरोहं अपरिणामातिपरिणामा ॥

गच्छेज्ज मा हु मिच्छं परिणामा य सुहमाइवहुभेए ।

होज्जाऽसत्ता घेसुं न कालिए तो नयविभागे ॥

(विभा २२९१-२२९३)

अल्पज्ञ, अव्युत्पन्न और अति तार्किक शिष्य नयों के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर भेद-प्रभेदों को पूरा समझ नहीं सकेंगे, तब तस्व को विपरीतरूप में ग्रहण करेंगे—यह जानकर आर्यरक्षित ने श्रुतविभाग के द्वारा अनुयोग का पृथक्करण किया। शिष्य सब नयों के द्वारा श्रुत का निरूपण समझने में असमर्थ हैं—यह जानकर आर्यरक्षित ने समग्र श्रुत में नयविभाग से विस्तृत व्याख्या नहीं की ।

नरक—वह स्थान, जहाँ जीव प्रकृष्ट पापजन्य दुःखों का वेदन करते हैं ।

### १. नरक का निर्वचन

२. सात नरक और उनके गोत्र

३. नैरयिक जीवों की अवगाहना

४. नरक आयुष्य बंध के कारण

५. नारक जीवों की आयुस्थिति

• कायस्थिति

• गति

\* सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी की गति-आगति

(द्र. सम्यक्त्व)

• अंतरकाल

६. नरक की वेदना

७. परमाधानिकदेवकृत वेदना

\* नारक जीवों में अवधिज्ञान, उसका संस्थान और क्षेत्रमर्यादा (द्र. अवधिज्ञान)

\* नरकगति अशुभ नामकर्म (द्र. कर्म)

\* नारक में लेण्या (द्र. लेण्या)

\* नैरयिक जीवों में श्रुत और सम्यक्त्व सामायिक (द्र. सामायिक)

\* नरकभूमियों का माप (द्र. अंगुल)

\* नरक की अस्तित्व सिद्धि (द्र. गणधर)

## १. नरक का निर्वचन

नरान् कायन्ति—शब्दयन्ति योग्यताया अनतिक्रमेणा-  
कारयन्ति जन्तून् स्वस्थाने इति नरकाः तेषु भवा नारकाः ।  
(नन्दीमवृ प ७७)

जो प्राणियों को उनकी योग्यता के अनुसार अपने स्थान पर बुलाते हैं, वे नरक हैं। वहाँ उत्पन्न प्राणी नारक कहलाते हैं ।

निष्क्रान्ता अयात्—इष्टफलदैवात्तत्रोत्पन्नां  
सद्देवनाऽभावेनेति निरयास्तेषु भवा नैरयिकास्तेषामायुः  
नैरयिकायुर्येन तेषु ध्रियन्ते । (उशावृ प ६४३)

जहाँ सद्भाग्य-विकल जीव उत्पन्न होते हैं और जहाँ सद्देवना का अभाव है, उन स्थानों को निरय या नरक कहा जाता है। वहाँ उत्पन्न जीव नैरयिक कहलाते हैं। वे जीव नैरयिक आयुष्य से बंधे हुए वहाँ रहते हैं ।

## २. सात नरक और उनके गोत्र

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसू भवे ।

रयणाभसक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥

पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा ।

इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥

(उ ३६।१५६, १५७)

घम्मा वंसा सेला अंजण रिट्ठा मघा य माघवती ।

एते अनादिसिद्धा णामा रयणप्पभादीणं ॥

घम्मादियाणं सत्तण्हं इमा गोत्राख्या—इंदनीलादि-  
बहुविहरयणसंभवओ रयणप्पभादीसु क्वचित् रत्नप्रभा-  
सनसंभवाद्वा रयणप्रभा रयणकंडप्रतिभागकप्पितोव-  
लिखिता वा रयणप्रभा, नरकवर्जप्रदेशेषु । सक्करो-  
पलस्थितपटलमघोऽधः एवविधस्वरूपेण प्रभाध्यत इति  
शर्करप्रभा । एवं वालुकात्ति वालुकारूपेण प्रख्यातेति  
वालुकाप्रभा, नरकवर्जेष्वेव पंक इवाभाति पंकप्रभा ।  
धूमा—धूमप्रभा । कृष्णतमो इवाभाति तमःप्रभा ।  
अतीवकृष्णमहत्तम इवाभाति महातमःप्रभा ।

(अनुचू पृ ३५)

तत्र रत्नकाण्डस्य भवनपतिभवनानां च विविध-  
रत्नवतां सम्भवात् ।

(उशावृ प ६९७)

सात नरक के अनादिसिद्ध नाम हैं—घर्मा, वंशा,  
शैला, अञ्जना, रिष्टा, मघा और माघवती । रत्नप्रभा  
आदि इनके गोत्र हैं—

१. रत्नप्रभा—जहाँ इन्द्रनील आदि बहुविध रत्न  
हैं और जो रत्नों की प्रभा से प्रभासित है, वह  
रत्नप्रभा है । वहाँ रत्नकांड और भवनपति देवों  
के रत्नमय भवन हैं ।
२. शर्कराप्रभा—जहाँ शर्करा—उपलों की प्रचुरता  
है, जिसके पटल शर्करा-उपल पर स्थित हैं, वह  
शर्कराप्रभा है ।
३. वालुकाप्रभा— जो वालुकारूप में प्रख्यात है ।
४. पंकप्रभा—जिसकी आभा पंक जैसी है, वह पंक-  
प्रभा है ।
५. धूमप्रभा—जो धूम-सी आभा वाली है, वह  
धूमप्रभा है ।
६. तमःप्रभा—जहाँ अंधेरा प्रचुर मात्रा में है, वह  
तमःप्रभा है ।
७. महातमःप्रभा—जहाँ सघन अन्धकार है, वह  
महातमःप्रभा है ।

इन सात पृथ्वियों में उत्पन्न होने के कारण नैरयिक  
जीव सात प्रकार के हैं ।

एएसि वण्णओ चैव, मंघओ रसफासओ ।

संठाणादेसओ वाक्वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥

(उ ३६।१६९)

वर्ण, मंघ, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से इन  
नैरयिक जीवों के हजारों भेद होते हैं ।

## ३. नैरयिक जीवों की अवगाहना

नेरइयाणं सरीरोगाहणा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—  
भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जासा  
भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असखेज्जइभागं,  
उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं । तत्थ णं जासा उत्तरवेउव्विया  
सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुसहस्सं ।

(अनु ४०२)

नैरयिक जीवों के शरीर की अवगाहना के दो प्रकार  
हैं—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय । इनमें भवधारणीय  
अवगाहना जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग और  
उत्कृष्टतः पांच सौ धनुष्य की होती है । उत्तरवैक्रिय  
अवगाहना जघन्यतः अंगुल के संख्यातवें भाग और  
उत्कृष्टतः एक हजार धनुष्य की होती है ।

रयणप्पभापुढवीए नेरइयाणं जासा भवधारणिज्जा  
सा जहण्णेणं अंगुलस्स असखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सत्त  
धणुइं तिण्णि रयणीओ छच्च अंगुलाइं । तत्थ णं जासा  
उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं,  
उक्कोसेणं पण्णरस धणुइं दोण्णि रयणीओ बारस  
अंगुलाइं ।

एवं सव्वाणं दुविहा—भवधारणिज्जा जहण्णेणं  
अंगुलस्स असखेज्जइभागं, उक्कोसेणं दुगुणा दुगुणा ।  
उत्तरवेउव्विया जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्को-  
सेणं दुगुणा दुगुणा ।

(अनु ४०३, ४०४)

रत्नप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों की भवधारणीय अव-  
गाहना जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग और  
उत्कृष्टतः सात धनुष्य, तीन रत्न और छह अंगुल की  
होती है । उत्तरवैक्रिय अवगाहना जघन्यतः अंगुल के  
संख्यातवें भाग और उत्कृष्टतः पन्द्रह धनुष्य,  
दो रत्न और बारह अंगुल की होती है । इसी प्रकार  
सब पृथ्वियों के नैरयिकों की दो प्रकार की अवगाहना  
होती है—भवधारणीय अवगाहना जघन्यतः अंगुल के  
असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्टतः दुगुनी-दुगुनी होती है ।



उत्तरवैक्रिय अवगाहना जघन्यतः अंगुल के संख्यातवें भाग की और उत्कृष्टतः दुगुनी-दुगुनी होती है ।

#### ४. नरक-आयुष्य बंध के कारण

जीवघायरओ कूरो, महारंभपरिगहो ।  
मिच्छद्विद्वी महापावो, बंधए नरयाउय ॥

(उसुवृ प ६७)

१. जीवों का बंध करने वाला
२. क्रूरता करने वाला
३. महाभारंभ करने वाला
४. महापरिग्रह रखने वाला
५. मिथ्यादृष्टि वाला
६. महापापी ।

—ये सब नरकायुष्य का बन्ध करते हैं ।

#### ५. नारक जीवों की आयु-स्थिति

सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।  
पढमाए जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥  
तिण्णेव सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
दोच्चाए जहन्नेणं, एगं तु सागरोवमं ॥  
सत्तेव सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
तइयाए जहन्नेणं, तिण्णेव उ सागरोवमा ॥  
दस सागरोवमा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
चउत्थीए जहन्नेणं, सत्तेव उ सागरोवमा ॥  
सत्तरस सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
पंचमाए जहन्नेणं, दस चेव उ सागरोवमा ॥  
बावीस सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
छट्ठीए जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥  
तेत्तीस सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
सत्तमाए जहन्नेणं, बावीस सागरोवमा ॥

(उ ३६।१६०-१६६)

नारक	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
१. रत्नाभा	दस हजार वर्ष	एक सागरोपस
२. शर्कराभा	एक सागरोपम	तीन सागरोपम
३. बालुकाभा	तीन सागरोपम	सात सागरोपम
४. पंकाभा	सात सागरोपम	दस सागरोपम
५. धूमाभा	दस सागरोपम	सतरह सागरोपम
६. तमा	सतरह सागरोपम	बाईस सागरोपम
७. तमस्तमा	बाईस सागरोपम	तेतीस सागरोपम

#### कायस्थिति

जा चेव उ आउठिई, नेरइयाणं वियाहिया ।  
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥

(उ ३६।१६७)

नैरयिक जीवों की जो आयु-स्थिति है, वही उनकी जघन्यतः या उत्कृष्टतः कायस्थिति है ।

#### गति

तत उद्वृत्तानां पुनस्तत्रैवानुपपत्तेः, ते हि तत उद्वृत्य गर्भजपर्याप्तकसंख्येयवर्षायुष्वेवोपजायन्ते ।

(उशावृ प ६९७)

प्राणी नरक से निकलकर पुनः नरक में उत्पन्न नहीं होते । वे वहाँ से निकलकर संख्येय वर्ष आयुष्य वाले गर्भज पर्याप्तक प्राणियों में उत्पन्न होते हैं ।

#### अंतरकाल

अणंतकालमुक्कोसं, अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।

विजडंमि सए काए, नेरइयाणं तु अंतरं ॥

(उ ३६।१६८)

उनका अन्तरकाल—नैरयिक के काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल—जघन्यतः अन्तर्मुहुत्तं और उत्कृष्टतः अन्तं काल का है ।

अन्तर्मुहुत्तं जघन्यमन्तरं, यदाऽन्यतरनरकादुद्वृत्य कश्चिज्जीवो गर्भजपर्याप्तकमत्स्यादिपूत्पद्यते । तत्र चातिसंक्लिष्टाध्यवसायोऽन्तर्मुहुत्तंमानायुः प्रतिपाल्य मृत्वाऽन्यतमनरक एवोपजायते तदा लभ्यते ।

(उशावृ प ६९७)

एक जीव के नरक से निकलकर पुनः नरक में उत्पन्न होने का जघन्य अन्तरकाल (विरहकाल) अन्तर्मुहुत्तं है । कोई जीव किसी नरक से निकलकर गर्भज पर्याप्त मत्स्य आदि के रूप में उत्पन्न होता है । वहाँ वह अत्यंत संक्लिष्ट परिणाम से अन्तर्मुहुत्तं आयुष्य को भोग, मरकर पुनः किसी नरक में ही उत्पन्न होता है ।

#### ६. नरक की वेदना

सारीरमाणसा चेव, वेयणाओ अणंतसो ।  
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥  
(उ १९।४५)

(मृगापुत्र प्रव्रजित होना चाहता था। उसकी मां मृगावती ने उसे श्रामण्य की दुष्चरता बताई, तब मृगापुत्र ने उसके समक्ष पूर्व भवों में अनुभूत नरक के दुःखों का वर्णन करते हुए कहा—)

मैंने भयंकर शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त बार सहा है और अनेक बार दुःख एवं भय का अनुभव किया है ।

## शीत और उष्ण वेदना

जहा इहं अगणी उष्णो, एतोऽणंतगुणे तर्हि ।

नरएसु वेयणा उष्णा, अस्साया वेइया भए ॥

जहा इमं इहं सीयं, एतोऽणंतगुणं तर्हि ।

नरएसु वेयणा सीया, अस्साया वेइया मए ॥

(उ १९।४७,४८)

जैसे यहां अग्नि उष्ण है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय उष्ण वेदना वहां नरक में है ।

जैसे यहां यह शीत है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय शीत वेदना वहां नरक में है ।

## अग्नि आदि संबंधी वेदना

कंदंतो कंदुकुम्भीसु, उड्ढपाओ अहोसिरो ।

हुयासणे जलंतम्मि, पक्कपुव्वो अणंतसो ॥

महादवग्गिसंकासे, महम्मि वइरवालुए ।

कलम्बवालुयाए य, दड्ढपुव्वो अणंतसो ॥

रसंतो कंदुकुम्भीसु, उड्ढं बद्धो अबंधवो ।

करवत्तकरकयाईर्हि, छिन्नपुव्वो अणंतसो ॥

अइत्तिकखकण्टमाइष्णे, तुंगे सिम्बलिपायवे ।

खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं ।

महाजन्तेसु उच्छू वा, आरसंतो सुभेरवं ।

पीलिओ मि सकम्मैहि, पावकम्मो अणंतसो ॥

(उ १९।४९-५३)

पकाने के पात्र में, जलती हुई अग्नि में पैरों को ऊंचा और सिर को नीचा कर आक्रन्दन करता हुआ मैं अनन्त बार पकाया गया हूँ ।

महादवाग्नि तथा मरु देश और वज्रवालुका जैसी कदम्ब नदी की बालू में मैं अनन्त बार जलाया गया हूँ ।

मैं पाकपात्र में त्राणरहित होकर आक्रन्द करता हुआ ऊंचा बांधा गया तथा करवत और आरा आदि के द्वारा अनन्त बार छेदा गया हूँ ।

अत्यन्त तीखे कांटों वाले ऊंचे शालमलि वृक्ष पर पाश से बांध, इधर-उधर खींचकर असह्य वेदना से मैं खिन्न किया गया हूँ ।

पापकर्मा मैं अति भयंकर आक्रन्द करता हुआ अपने ही कर्मा द्वारा महायन्त्रों में ऊख की भांति अनन्त बार पेरा गया हूँ ।

## पशु-पक्षी संबंधी वेदना

कूवंतो कोलसुणएर्हि, सामेर्हि सबलेहि य ।

पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरंतो अणेगसो ॥

अवसो लोहरहे जुत्तो, जलंते समिलाजुए ।

चोइओ तोत्तजुत्तेहि, रोज्झो वा जह पाडिओ ॥

बला संडासत्तुंजेहि लोहतुंजेहि पक्खिर्हि ।

विलुत्तो विलवंतो हं, ढंकरिद्धेहिणंतसो ॥

(उ १९।५४,५६,५८)

मैं इधर-उधर जाता और आक्रन्द करता हुआ काले और चितकबरे सूअर एवं कुत्तों के द्वारा अनेक बार गिराया, फाड़ा और काटा गया हूँ ।

युगकीलक (जूए के छेदों में डाली जाने वाली लकड़ी की कीलों) से युक्त जलते हुए लोह-रथ में परवश बनाया गया मैं जोता गया, चाबुक और रस्सी के द्वारा हंका गया तथा रोझ की भांति भूमि पर गिराया गया हूँ ।

संडासी जैसी चोंच वाले और लोहे जैसी कठोर चोंच वाले ढंक और गीध पक्षियों के द्वारा विलाप करता हुआ मैं बलपूर्वक अनन्त बार नोचा गया हूँ ।

## शस्त्रसंबन्धी वेदना

तण्हाकिलंतो धावंतो पत्तो वेयरणि नदि ।

जलं पाहि ति चितंतो खुरधाराहि विवाइओ ॥

उष्हाभितत्तो संपत्तो असिपत्तं महावणं ।

असिपत्तेहि पडंतेहि छिन्नपुव्वो अणेगसो ॥

मुग्गेरेहि मुसंढीहि सूलेहि मुसलेहि य ।

गयासं भग्गत्तेहि पत्तं दुक्खं अणंतसो ॥

खुरेहि तिक्खधारेहि छुरियाहि कप्पणीहि य ।

कप्पिओ फालिओ छिन्नो उक्कत्तो य अणेगसो ॥

पासेहि कूडजालेहि मिओ वा अवसो अहं ।

वाहिओ वद्धरुद्धो अ बहुसो चेव विवाइओ ॥

गलेहि मगरजालेहि मच्छो वा अवसो अहं ।

उल्लिओ फालिओ गहिओ मारिओ य अणंतसो ॥

वीदंसएहि जालेहि लेप्पाहि सउणो विव ।

गहिओ लग्गो बद्धो य मारिओ य अणंतसो ॥

कुहाडफरमुमाईर्हि वड्ढईर्हि दुमो विव ।

कुट्टिओ फालिओ छिन्नो तच्छिओ य अणंतसो ॥

चवेडमुट्टिमाईर्हि कम्मारेर्हि अयं पिव ।

ताडिओ कुट्टियो भिन्नो चुण्णिओ य अणंतसो ॥

(उ १९।५९-६७)

प्यास से पीड़ित होकर मैं दौड़ता हुआ वैतरणी नदी पर पहुँचा। जल पीऊँगा—यह सोच रहा था, इतने में छूरे की धार से मैं चीरा गया।

गर्मी से संतप्त होकर असिपत्र महावन में गया। वहाँ गिरते हुए तलवार के समान तीखे पत्तों से अनेक बार छेदा गया हूँ।

मुद्गारों, मुसुण्डियों, शूलों और मुसलों से त्राणहीन दशा में मेरा शरीर चूर-चूर किया गया—इस प्रकार मैं अनन्त बार दुःख को प्राप्त हुआ हूँ।

तेज धार वाले छुरों, छुरियों और कैंचियों से मैं अनेक बार खंड-खंड किया गया, दो टूक किया गया और छेदा गया हूँ तथा मेरी चमड़ी उतारी गई है।

पाशों और कूटजालों द्वारा मृग की भांति परवश बना हुआ मैं अनेक बार ठगा गया, बांधा गया, रोका गया और मारा गया हूँ।

मछली को फँसाने की कंटियों और मगरों को पकड़ने के जालों द्वारा मत्स्य की तरह परवश बना हुआ मैं अनन्त बार खींचा, फाड़ा, पकड़ा और मारा गया हूँ।

बाज पक्षियों, जालों और वज्रलेपों के द्वारा पक्षी की भांति मैं अनन्त बार पकड़ा, चिपकाया, बांधा और मारा गया हूँ।

बढ़ई के द्वारा वृक्ष की भांति कुल्हाड़ी और फरसा आदि के द्वारा मैं अनन्त बार कूटा, दो टूक किया, छेदा और छोला गया हूँ।

लोहार के द्वारा लोहे की भांति चपत और मुट्टी आदि के द्वारा मैं अनन्त बार पीटा, कूटा, भेदा और चूरा किया गया हूँ।

### मूख-प्यास संबंधी वेदना

तत्ताइं तम्बलोहाइं, तउयाइं सीसयाणि य।

पाइओ कलकलंताइं, आरसंतो सुभेरवं ॥

तुहं पियाइं मंसाइं, खंडाइं साल्लयाणि य।

खाविओ मि समंसाइं, अग्गिवण्णाइं जेगसो ॥

तुहं पिया सुरा सीह, मेरओ य महूणि य।

पाइओ मि जलंतीओ, वसाओ रहिराणि य ॥

(उ १९।६८-७०)

भयंकर आक्रन्द करते हुए मुझे गर्म और कलकल

शब्द करता हुआ तांबा, लोहा, रांगा, और सीसा पिलाया गया।

तुझे खण्ड किया हुआ और शूल में खोंस कर पकाया हुआ मांस प्रिय था—यह याद दिलाकर मेरे शरीर का मांस काट अग्नि जैसा लाल कर मुझे खिलाया गया।

तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु—ये मदिराएं प्रिय थीं—यह याद दिलाकर मुझे जलती हुई चर्बी और हृदय पिलाया गया।

### ७. परमाधार्मिकदेवकृत वेदना

परमाश्च तेऽधार्मिकाश्च संक्लिष्टपरिणामत्वात्परमाधार्मिकाः।

अंबे अंबरिसी चव, सामे अ सबले इय।

हद्देवसद्काले य, महाकालेति आवरे ॥

असिपत्ते धणुकुंभे, बालू वेयरणी इय।

खरस्सरे महाघोसे, एए पन्नरसाहिया ॥

(आवहवृ २ पृ १०७)

परमाधार्मिक देवों के परिणाम अत्यंत संक्लिष्ट होते हैं। उनके पन्द्रह प्रकार और भिन्न-भिन्न कार्य हैं—

१. अंब—हनन करना, ऊपर से नीचे गिराना, बीधना आदि।

२. अंबाधि—काटना आदि-आदि।

३. श्याम—फेंकना, पटकना, बीधना आदि-आदि।

४. शबल—आंते, फेफड़े कलेजा आदि निकालना।

५. रुद्र—तलवार, भाला आदि से मारना, शूली में पिरोना आदि-आदि।

६. उपरुद्ध—अंग-उपांगों को काटना।

७. काल—विविध पात्रों में पचाना।

८. महाकाल—शरीर के विविध स्थानों से मांस निकालना।

९. असिपत्र—हाथ, पैर आदि को काटना।

१०. धनु—कर्ण, ओष्ठ, दाँत को काटना।

११. कुम्भ—विविध कुम्भियों में पचाना।

१२. बालुक—भूजना आदि-आदि।

१३. वैतरणि—वसा, लोही आदि की नदी में डालना।

१४. खरस्वर—करवत, परशु आदि से काटना।

१५. महाघोष—भयभीत होकर दौड़ने वाले नैरयिकों का अवरोध करना।

(प्रथम तीन नरक पृथिवियों में परमाध्यात्मिक देव नारकीय जीवों को भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदना देते हैं। उनके कार्यों के विवरण के लिए देखें—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति ५९-७५)।

नाथ—जो योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की सुरक्षा) करता है, वह नाथ कहलाता है—‘नाथः योगक्षेमविधाता।’

(उशावृ प ४७३)

तरुणो सि अज्जो ! पव्वइओ भोगकालम्मि संजया ।  
उवट्ठिओ सि सामण्णे एयमट्ठं सुणेमि ता ॥  
अणाहो मि महाराय ! नाहो मज्झ न विज्जई ।  
...एवं ते इड्ढिमंतस्स कहां नाहो न विज्जई ? ॥  
होमि नाहो भयंताणं ! भोगे भुंजाहि संजया !  
अप्पणा वि अणाहो सि सेणिया ! मगहाहिवा !  
अप्पणा अणाहो संतो कहां नाहो भविस्ससि ? ॥

(उ २०१८-१२)

(एक बार सम्राट् श्रेणिक उद्यान में गये। वहां स्थित एक मुनि को देख सम्राट् ने पूछा—)

आर्य ! अभी तुम तरुण हो। संयत ! तुम भोगकाल में प्रव्रजित हुए हो, श्रामण्य के लिए उपस्थित हुए हो—इसका क्या प्रयोजन है ? —मैं सुनना चाहता हूं।

मुनि ने कहा—महाराज ! मैं अनाथ हूं, मेरा कोई नाथ नहीं है।

तुम ऐसे सहज सौभाग्यशाली हो फिर कोई तुम्हारा नाथ कैसे नहीं होगा ? हे भदन्त ! मैं तुम्हारा नाथ होता हूं। संयत ! तुम विषयों का भोग करो।

हे मगध के अधिपति श्रेणिक ! तुम स्वयं अनाथ हो। स्वयं अनाथ होते हुए भी दूसरों के नाथ कैसे होओगे ?

कोसंबी नाम नयरी पुराणपुरभेयणी ।  
पढमे वए महाराय ! अउला मे अच्छिवेयणा ।  
अहोत्था विउलो दाहो सव्वंगेसु य पत्थिवा ! ॥  
...इंदासणिसमा घोरा वेयणा परमदारुणा ॥  
उवट्ठिया मे आयरिया विज्जामंततिगिच्छगा ।  
(उ २०१८, १९, २१, २२)

मुनि बोले—प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर कौशाम्बी नाम की नगरी थी। महाराज ! प्रथम वय

(यौवन) में मेरी आंखों में असाधारण वेदना उत्पन्न हुई। पार्थिव ! मेरा समूचा शरीर पीड़ा देने वाली जलन से जल उठा। इन्द्र का वज्र लगने से होने वाली घोर वेदना के समान मेरी वेदना थी। विद्या और मन्त्र के द्वारा चिकित्सा करने वाले प्राणाचार्य मेरी चिकित्सा करने के लिए उपस्थित हुए।

ते मे तिगिच्छं कुव्वंति चाउप्पायं जहाहियं ।  
पिया मे सव्वसारं पि विज्जाहि मम कारणा ।  
माया य मे महाराय ! पुत्तसोगदुहट्टिया ।  
भायरो मे महाराय ! सगा जेट्ठकणिट्ठगा ।  
भइणीओ मे महाराय ! सगा जेट्ठकणिट्ठगा ।  
भारिया मे महाराय ! अणुरत्ता अणुव्वया ।  
न य दुक्खा विमोएइ एसा मज्झ अणाहया ॥

(उ २०१३-२८, ३०)

चिकित्सा करने वालों ने गुह-परंपरा से प्राप्त आयुर्विद्या के आधार पर मेरी चतुष्पाद चिकित्सा की। मेरे पिता ने मेरे लिए उन प्राणाचार्यों को बहुमूल्य वस्तुएं दीं। महाराज ! पुत्र-शोक से पीड़ित मेरी माता, मेरे बड़े-छोटे सगे भाई, मेरी बड़ी-छोटी सभी बहनें, मुझमें अनुरक्त और पतिव्रता पत्नी भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है।

सइं च जइ मुच्चेज्जा, वेयणा विउला इओ ।  
खंतो दंतो निरारंभो, पव्वए अणगारियं ॥  
एवं च चित्तइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा ! ।  
परियट्ठंतीए राईए, वेयणा मे खयं गया ॥  
तओ कल्ले पभायम्मि, आपुच्छित्ताण बंधवे ।  
खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइओऽणगारियं ॥  
ततो हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ।  
सव्वेसि चेव भूयाणं, तसाण थावराण य ॥

(उ २०१३२-३५)

इस विपुल वेदना से यदि मैं एक बार भी मुक्त हो जाऊं तो क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार वृत्ति को स्वीकार कर लूं।

हे नराधिप ! ऐसा चिन्तन कर मैं सो गया। बीतती हुई रात्रि के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई। उसके पश्चात् प्रभातकाल में मैं स्वस्थ हो गया। मैं अपने बन्धुजनों को पूछ, क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगारवृत्ति में आ गया।

तब मैं अपना और दूसरों का तथा सभी—ब्रह्म और स्थावर जीवों का नाथ हो गया।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्टियसुपट्टिओ ॥

दुष्प्रस्थितो ह्यात्मा समस्तदुःखहेतुरिति वैतरण्यादि-  
रूपः सुप्रस्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधेन्वादिकल्पः।  
तथा च प्रव्रज्याऽवस्थायामेव सुप्रस्थितत्वेनात्मनोऽन्येषां  
च योगकरणसमर्थत्वान्नाथत्वम्।

(उ २०।३७ शावृ प ४७७)

आत्मा ही दुःख-सुख की करने वाली और उनका  
क्षय करने वाली है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही  
मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

दुष्प्रवृत्त आत्मा सब दुःखों का हेतु होने से वैतरणी  
नदी के सदृश है। सुप्रवृत्त आत्मा सब सुखों का हेतु होने  
से कामधेनु के सदृश है। प्रव्रज्या की अवस्था में ही  
सुप्रस्थित आत्मा अपना और दूसरों का संरक्षण करने में  
समर्थ होती है— यही उसकी सनाथता है।

तुज्जं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं,

लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी !।

तुब्भे सणाहा य सबंधवा य,

जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं ॥

(उ २०।५५)

सम्राट् ने कहा—हे महर्षि ! तुम्हारा मनुष्य जन्म  
सुलब्ध है—सफल है। तुम्हें जो उपलब्धियां हुई हैं, वे  
भी सफल हैं। तुम सनाथ हो, सबान्धव हो, क्योंकि तुम  
जिनोत्तम (तीर्थंकर) के मार्ग में अवस्थित हो।

**नामकर्म**—शरीर और जीवन के पौद्गलिक  
घटकों की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(द्र. कर्म)

**निक्षेप**—प्रासंगिक अर्थ का बोध कराने वाला  
शब्दन्वयास। शब्द और अर्थ में संबंध  
स्थापित करने की शक्ति।

### १. निक्षेप का निर्वचन

० परिभाषा

### २. निक्षेप-प्रयोग के प्रयोजन

### ३. निक्षेप चतुष्टय

० नाम निक्षेप

० स्थापना निक्षेप

० नाम और स्थापना में अन्तर

० द्रव्य निक्षेप

० भाव निक्षेप

० नाम, स्थापना और द्रव्य में अभेद

० नाम, स्थापना और द्रव्य में तीन भेद

० द्रव्य-भाव : कारण-कार्य

### ४. चार निक्षेप अवश्य करणीय

### ५. उत्तर शब्द का निक्षेप

### ६. निक्षेप और नय

\* आवश्यक के निक्षेप

(द्र. आवश्यक)

\* निक्षेप : अनुयोग का एक द्वार

(द्र. अनुयोग)

### १. निक्षेप का निर्वचन

निक्खिप्पइ तेण तर्हि तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो ।  
नियओ व निच्छिओ वा खेवो नासो त्ति जं भणियं ॥  
(विभा ९१२)

पद को निश्चित अर्थ में स्थापित करना—अमुक-  
अमुक अर्थ के लिए अमुक-अमुक शब्द का निक्षेपण करना  
निक्षेप है। वह क्षेपण नियत या निश्चित होता है, अतः  
उसे न्यास कहा जाता है।

निक्खेवो अत्थभेदन्यासः ।

(अनुचू पृ १९)

अर्थ की भिन्नता का विज्ञान निक्षेप है।

### निक्षेप की परिभाषा

नामाइ भेअसइत्थबुद्धिपरिणामभावओ निययं ।

जं वत्थुमत्थि लोए चउपज्जायं तयं सव्वं ॥

(विभा ७३)

जिस वस्तु के नाम आदि भेदों में शब्द, अर्थ और  
बुद्धि का परिणमन होता है—वाचक, वाच्य और ज्ञान—  
इन तीनों की परिणति होती है, वह निक्षेप है। सर्व वस्तु  
लोक में निश्चित ही नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—  
इन चार पर्यायों से युक्त है।

### २. निक्षेप-प्रयोग के प्रयोजन

नामादिचतुष्टय एव सर्वनिक्षेपाणामन्तर्भावात्तदेवाभि-  
धेयं, तत इहान्यत्र च यन्नामादिचतुष्टयाधिकनिक्षेपाभि-  
धानं तच्छिष्यमतिव्युत्पादनार्थं सामान्यविशेषोभयात्म-  
कत्वख्यापनार्थं च सर्ववस्तूनाम् । (उपावृ प ४)

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों  
में सब निक्षेपों का समावेश हो जाता है। जहां कहीं इनसे  
अधिक निक्षेपों का प्रयोग होता है, उसके दो प्रयोजन हैं—

१. शिक्षार्थी की बुद्धि को व्युत्पन्न करना ।
२. सब वस्तुओं के सामान्य, विशेष और उभयात्मक अर्थ का प्रतिपादन करना ।

भण्णइ चिप्पइ य सुहं निक्खेव पयाणुसारओ सत्थं ।  
(विभा ९५७)

नाम आदि निक्षेपों के माध्यम से शास्त्र का प्रतिपादन और ग्रहण सहज हो जाता है ।

अत्थं जो न समिक्खइ निक्खेवनयप्पमाणओ विहिणा ।  
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ॥  
(विभा २२७३)

जो ज्ञाता निक्षेप, नय और प्रमाण की विधि से अर्थ की समीक्षा नहीं करता, उसके लिए युक्त अयुक्त हो जाता है और अयुक्त युक्त हो जाता है ।

### ३. निक्षेप-चतुष्टयी

“वत्थुभिहाणं नामं ठवणा य जो तयागारो ।  
कारणया से दब्बं, कज्जावन्नं तयं भावो ॥  
(विभा ६०)

वस्तु का अपना अभिधान 'नाम निक्षेप' है । वस्तु का अपना आकार 'स्थापना निक्षेप' है । जो वस्तु के भूत और भावी पर्याय का कारण है, वह 'द्रव्य निक्षेप' है । कार्यरूप में विद्यमान वस्तु 'भाव निक्षेप' है ।

#### नाम निक्षेप

पज्जायाणभिधेयं ठिअमण्णत्थे तयत्थनिरत्थेक्खं ।  
जाइच्छिअं च नामं जावह्वं च पाएण ॥  
(विभा २५)

जो अपने मूल विवक्षित अर्थ से निरपेक्ष तथा अन्य अर्थ में स्थित होता है, वह नाम निक्षेप है । (शक्र, पुरन्दर आदि शब्द पर्यायवाची होने पर भी इन्द्र नाम वाले व्यक्ति के अभिधेय नहीं बन सकते ।)

जिसका अर्थ अन्यत्र विद्यमान नहीं है, जो स्वेच्छा से रखा गया है, वह भी नाम निक्षेप है । जैसे—डित्थ, उवित्थ ।

नाम प्रायः तब तक रहता है, जब तक उसका वाच्य द्रव्य विद्यमान रहता है । जैसे—द्वीप, समुद्र आदि के नाम ।

जं वत्थुणोऽभिहाणं पज्जयभेयाणुसारि तं नामं ।  
पइभेयं जं नमए पइभेयं जाइ जं भणियं ॥  
(विभा ९४४)

वस्तु के विविध पर्यायों—अवस्थाओं की वाचक-शक्ति का अनुसरण करने वाला शब्द नाम कहलाता है । वह प्रत्येक पर्याय में वाचक के रूप में परिणत होता है ।

#### स्थापना निक्षेप

जं पुण तयत्थसुन्नं तयभिप्पाएण तारिसागारं ।  
कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥  
(विभा २६)

जो मूल अर्थ से शून्य और उसके अभिप्राय से आरोपित होती है, उसका नाम है स्थापना । वह मूल आकार के सदृश और विसदृश—दोनों प्रकार की होती है । उसके दो प्रकार हैं—अल्पकालिक और यावत्कथिक (दीर्घकालिक) ।

#### नाम और स्थापना में अन्तर

नामं आवकहियं, ठवणा इत्तरिया वा होज्जा आवकहिया वा ।  
(अनु ११)

नामं पायसो आवकथितं, ठवणा इत्तरिया वा होज्जा आवकहिया वा । तत्थ इत्तरिया जथा—अक्खो इंदो वा सरतकालभूसितो, एवमादि । आवकहिता जघा जे देवलोकादिमु घडसुत्थियादिणो चित्तकम्मलिहिया । अहवा इमो विसेसो—जहा ठवणाइंदो अणुग्गहत्थीहि अभिधुव्वति, ण एवं णामिदोत्ति । (आवचू १ पृ ५)

नाम प्रायः यावत्कथिक—जीवनपर्यन्त होता है । स्थापना इत्वरिक (अल्पकालिक) और यावत्कथिक—दोनों प्रकार की होती है ।

इत्वरिक स्थापना—जैसे—शरदकाल में विभूषित अक्ष या इन्द्र ।

यावत्कथिक—जैसे—देवलोक में चित्रकर्मलिखित घट, स्वस्तिक आदि ।

नाम और स्थापना में एक अन्तर यह भी है कि जैसे स्थापना इन्द्र की पूजा की जाती है, वैसे नाम इन्द्र की पूजा नहीं की जाती ।

#### द्रव्य निक्षेप

“दब्बं भव्वं भावस्स भूअभावं च जं जोगं ॥

अनुपयोगो द्रव्यम् (विभा २८ मवू पृ २२)

भूत और भावी पर्याय के योग्य वस्तु या व्यक्ति द्रव्यनिक्षेप है । अनुपयोग को भी द्रव्य कहा जाता है ।

द्रव्यनिक्षेप के भेद (द्र. आवश्यक, मंगल)

**भाव निक्षेप**

भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः ।  
सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥  
(आवमवृ प ९)

विवक्षित क्रिया की अनुभूति कराने में उपयुक्त जो है, वह है भाव निक्षेप । जैसे 'इन्द्र' को देखकर उसके ऐश्वर्य या दीप्ति की अनुभूति होती है, तो वह भावइन्द्र है ।

**नाम, स्थापना और द्रव्य में अभेद**

अभिहाणं दव्वत्तं तयत्थसुन्नत्तणं च तुल्लाई ।

को भाववज्जिआणं नामाईणं पइविसेसो ? ॥

(विभा ५२)

नाम, स्थापना और द्रव्य—ये तीनों तीन दृष्टियों से परस्पर तुल्य हैं—अभिधान, द्रव्यत्व और भावार्थ-शून्यत्व । जैसे—मंगल एक (शब्द) वस्तु है । 'मंगल' अभिधान नाम, स्थापना और द्रव्य—इन तीनों में समान रूप से विद्यमान है ।

इसी प्रकार द्रव्यत्व और भावार्थशून्यता भी जैसे नाम में है, वैसे स्थापना और द्रव्य में भी है ।

**नाम, स्थापना और द्रव्य में तीन भेद**

आमारोअभिष्पाओ बुद्धी किरिया फलं च पाएण ।

जह् दीसइ ठव्णिणदे न तथा नामे न दव्विदे ॥

(विभा ५३)

**१. आकार भेद**

स्थापना इन्द्र (इन्द्र की प्रतिमा) का जैसा आकार—कर्णकुण्डल, शिरःकिरीट और करकुलिश—धारण-जन्य अतिशय और सौन्दर्य है, वैसे आकार नाम इन्द्र या द्रव्य इन्द्र में प्रायः दिखाई नहीं देता ।

**२. अभिप्राय भेद**

स्थापनाकर्ता (सूक्तिकार) का जैसा अभिप्राय (भाव) स्थापना इन्द्र (प्रतिमा) के प्रति होता है, वैसे नाम और द्रव्य इन्द्र के प्रति नहीं होता ।

**३. बुद्धि भेद**

इन्द्र-प्रतिमा को देख द्रष्टा में इन्द्र के प्रति जो आदर-सम्मान की बुद्धि उत्पन्न होती है, वह नाम अथवा द्रव्य इन्द्र को देखकर नहीं होती । इसी प्रकार नमस्कार, पूजा, स्तुति आदि क्रियाएं तथा पुत्र, धन आदि फल की प्राप्ति भी प्रायः स्थापना इन्द्र से जैसे सम्बद्ध है, वैसे

नाम और द्रव्य इन्द्र से सम्बद्ध नहीं है ।

**द्रव्य-भाव : कारण-कार्य**

भावस्स कारणं जह् दव्वं भावो अ तस्स पज्जाओ ।  
उवओग-परिणइमओ न तथा नामं न वा ठवणा ॥  
(विभा ५४)

भाव का कारण है—द्रव्य । द्रव्य का कार्य (पर्याय) है—भाव । जैसे—अनुपयुक्त वक्ता द्रव्य है, उपयोगकाल में वही द्रव्य भाव का कारण बनता है । वही उपयोग लक्षण वाला भाव अनुपयुक्त वक्ता रूप द्रव्य का पर्याय होता है ।

जैसे—जो साधु इन्द्र बनने वाला है, वह द्रव्य-इन्द्र भाव-इन्द्र रूप परिणमन का कारण होता है । वही भाव इन्द्र रूप में परिणत भाव इन्द्र साधु द्रव्य-इन्द्र का पर्याय या कार्य होता है ।

द्रव्य जिस रूप में भाव का कारण बनता है, वैसे या उस रूप में न नाम कारण बनता है और न स्थापना ही । अतः नाम और स्थापना से द्रव्य भिन्न है ।

**४. चार निक्षेप अवश्य करणीय**

जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।

जत्थ वि य न जाणेज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥

(अनु ७)

जहां जितने निक्षेप ज्ञात हों, वहां उन सभी निक्षेपों का उपयोग किया जाए और जहां बहुत निक्षेप ज्ञात न हों, वहां कम से कम निक्षेप-चतुष्टय—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव का प्रयोग अवश्य किया जाए ।

**५. उत्तर शब्द के निक्षेप**

नामं ठवणा दविए खित्तं दिसा तावखित्त पन्नवए ।

पइकालसंचयपहाणनाणकममणओ भावे ॥

(उनि १, चू पृ ५,६; उशावृ प ३,४)

पन्द्रह निक्षेपों के माध्यम से उत्तर शब्द का न्यास—

१. नाम उत्तर—किसी का नामकरण—उत्तर ।

२. स्थापना उत्तर—अक्ष आदि में उत्तर की स्थापना ।

३. द्रव्य उत्तर—१. आगमतः—उत्तर शब्द का ज्ञाता किन्तु अनुपयुक्त ।

२. नो आगमतः के तीन भेद—१. जिसने अतीत में 'उत्तर' शब्द को जाना उसका शरीर ।

२. भव्यशरीर—अनागत में 'उत्तर' जानेगा ।
३. तद्व्यतिरिक्त—तद्व्यतिरिक्त के तीन भेद—
  १. सचित्त—पिता के उत्तर में पुत्र । २. अचित्त—दूध का उत्तरवर्ती दही । ३. मिश्र—मां के शरीर से उत्पन्न रोम आदि युक्त सन्तान ।
४. क्षेत्र उत्तर—मेह आदि की अपेक्षा उत्तर में स्थित उत्तरकुरु । अथवा जो पहले शालिक्षेत्र था, बाद में इक्षुक्षेत्र हो गया ।
५. दिशा उत्तर—उत्तर दिशा ।
६. तापक्षेत्र उत्तर—ताप दिशा की अपेक्षा । जैसे सबके उत्तर में है मन्दराचल ।
७. प्रज्ञापक उत्तर—प्रज्ञापक के बायें भाग में स्थित व्यक्ति ।
८. प्रति उत्तर—एक दिशा में स्थित देवदत्त और यज्ञदत्त में देवदत्त से परे यज्ञदत्त उत्तर ।
९. काल उत्तर—समय के उत्तर में आवलिका ।
१०. संचय उत्तर—धान्यराशि के ऊपर काष्ठ ।
११. प्रधान उत्तर—
  १. सचित्त—
    - (क) द्विषद में उत्तर—तीर्थकर ।
    - (ख) चतुष्पदों में उत्तर—सह ।
    - (ग) अपद में उत्तर—सुदर्शनाजंबू वृक्ष ।
  २. अचित्त—चिन्तामणि ।
  ३. मिश्र—गृहस्थ अवस्था में अलंकार युक्त तीर्थकर ।
१२. ज्ञान उत्तर—निरावरणता के कारण केवलज्ञान अथवा स्वपरप्रकाशकत्व के कारण श्रुतज्ञान ।
१३. क्रम उत्तर—
  - (क) द्रव्यतः—परमाणु से उत्तर है द्विप्रदेशीस्कन्ध, त्रिप्रदेशी स्कन्ध, अनन्त प्रदेशी स्कन्ध ।
  - (ख) क्षेत्रतः—एक प्रदेश में अवगाढ, तीन प्रदेशों में अवगाढ, असमानवर्ती असंख्य प्रदेशावगाढ पर्यन्त ।
  - (ग) कालतः—एक समय की स्थिति के उत्तर में है—दो समय की स्थिति.....असंख्य समय की स्थिति ।
  - (घ) भावतः—एक गुण कृष्ण से उत्तर में है दो गुण कृष्ण.....अनन्तगुण कृष्ण ।

१४. गणना उत्तर—एक के उत्तर में दो, दो के उत्तर में तीन.....शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त ।

१५. भाव उत्तर—औदयिक आदि पांच भावों में क्षायिक भाव उत्तर है ।

### ६. निक्षेप और नय

नामादितयं दब्बट्टियस्स भावो य पज्जवनयस्स ।...  
(विभा ७५)

नय आदि तीन निक्षेप द्रव्याधिक नय द्वारा और भाव निक्षेप पर्यायाधिक नय द्वारा सम्मत है ।

**निदान**—पौद्गलिक सुखसमृद्धि के लिए किया जाने वाला संकल्प अथवा कोई भी आकांक्षात्मक संकल्प ।

निश्चितमादानं निदानं । अप्रतिक्रान्तस्य अवस्यमुदया-  
पेक्षः तीव्रः कर्मबन्ध इत्यर्थः । निदानमेव सल्लो निदान-  
सल्लो । दिव्वं वा माणुसं वा विभवं पासित्थण सोऊण वा  
निदानस्स उववत्ती भवेज्जा । (आवचू २ पृ ७९)

दोषसेवन का प्रतिक्रमण नहीं करने पर अवश्य उदय में आने वाला तीव्र कर्मबन्ध निदान है । आत्म विकास में बाधक होने से यही निदान शल्य है ।

देवों और मनुष्यों के वैभव को देखकर या सुनकर उनकी प्राप्ति का संकल्प करना निदान है ।

निदानं—ममातस्तपःप्रभृत्यादेरिदं स्यादिति  
प्रार्थनात्मकम् । (उशावृ प ५७९)

'यदि मेरी तपस्या का फल है तो मैं अगले जन्म में चक्रवर्ती बनूँ'—इस प्रकार तप के फल के विनिमय में भोगप्राप्ति का संकल्प करना निदान है ।

सणिआणस्स चरित्तं न वट्टति । कस्मात् ? अधि-  
करणानुमोदनात् । तत्थोदाहरणं बंधदत्तो ।

(आवचू २ पृ ७९)

जो निदानयुक्त होता है, उसके चारित्र नहीं होता, क्योंकि निदान के साथ हिंसा की अनुमोदना जुड़ी हुई है । यहां ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का उदाहरण मननीय है ।

जाईपराजिओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।  
चुलणीए बंधदत्तो, उवबन्नो पउममुम्माओ ॥  
हत्थिणपुरम्मि चित्ता, दट्ठणं नरवईं महिद्धियं ।  
कामभोगेसु गिट्ठेणं, नियाणमसुहं कडं ॥



तस्स मे अपडिकंतस्स, इमं एयारिसं फळं ।  
जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥

(उ १३।१,२८,२९)

जाति से पराजित हुए संभूत ने हस्तिनापुर में निदान (चक्रवर्ती होऊँ—ऐसा संकल्प) किया। वह सौधर्म देवलोक के पद्मगुण्य नामक विमान में देव बना। वहाँ से च्युत होकर चुलनी की कोख में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुआ।

(चित्त मुनि के द्वारा धर्म का उपदेश दिए जाने पर ब्रह्मदत्त ने कहा) चित्रमुने! हस्तिनापुर में महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती (सनत्कुमार) को देख, भोगों में आसक्त होकर मैंने अशुभ निदान (भोगसंकल्प) कर डाला। उसका मैंने प्रतिक्रमण (प्रायश्चित्त) नहीं किया। उसी का यह ऐसा फल है कि मैं धर्म को जानता हुआ भी कामभोगों में मूर्च्छित हो रहा हूँ।

**निर्जरा**—तपस्या के द्वारा कर्मविच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है। यह नौ तत्त्वों में सातवाँ तत्त्व है।

कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। उसके बारह भेद हैं। (द्र. तप)

**निर्जरा अनुप्रेक्षा**— (द्र. अनुप्रेक्षा)

**निर्युक्ति**—आगम की मूलस्पर्शी पञ्चात्मक व्याख्या।

निज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होई निज्जुत्ती ॥....

(आवनि ८८)

सुत्तनिज्जुत्तअत्थनिज्जुहणं निज्जुत्ती ।

(आवचू १ पृ ९२)

सूत्र में निर्युक्त अर्थ की सुव्यवस्थित व्याख्या करने वाला व्याख्या ग्रन्थ है—निर्युक्ति।

निर्युक्तानामेव सूत्रार्थानां युक्तिः परिपाट्या योजनं निर्युक्तयुक्तिरिति वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिः ।

(दहावृ प २)

निर्युक्तयो न स्वतन्त्रशास्त्ररूपाः किन्तु तत्तत्सूत्रपर-  
तन्त्राः तथा तद्व्युत्पत्त्याश्रयणात्, तथाहि—सूत्रोपात्ता  
अर्थाः स्वरूपेण सम्बद्धा अपि शिष्यान् प्रति निर्युज्यन्ते—  
निश्चितं सम्बद्धा उपदिश्य व्याख्यायन्ते यकाभित्ता  
निर्युक्तयः ।

(पिनिवृ प १)

निर्युक्ति स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है, किन्तु वह अपने-  
अपने सूत्र के अधीन है। जैसे—आवश्यक सूत्र से सम्बद्ध  
है आवश्यकनिर्युक्ति। सूत्र का सम्बन्ध अर्थ के साथ  
होता है, क्योंकि वह उससे अविच्छिन्न है। निर्युक्ति का  
अर्थ है—सूत्र के साथ अर्थ का एकात्मभाव से सम्बद्ध  
होना। युक्ति का अर्थ है—स्पष्टरूप से सूत्र से संपृक्त  
अर्थ का क्रमबद्ध प्रतिपादन। मध्यवर्ती युक्त शब्द का  
लोप होने से निर्युक्ति शब्द निष्पन्न होता है।

सुत्ते निज्जुत्ताणं निज्जुत्तीए पुणो किमत्थाणं ? ।

निज्जुत्ते वि न सन्वे कोइ अवक्खाणिए मुणइ ॥

(विभा १०८७)

मन्दबुद्धि शिष्य व्याख्या के बिना सारे अर्थों को  
नहीं जान पाते। अतः सूत्र में कहे गए अर्थों को भी  
निर्युक्ति के द्वारा व्याख्यात किया जाता है।

अंतम्मि उ वणसिउं पुव्वमणुगमस्स जं नए भणइ ।

तं जाणावेइ समं वच्चंति नयाणुओगो य ॥

उपक्रमः निक्षेप अनुगमः नयाः इत्यनुयोगद्वारा-  
गामन्ते पूर्वं नयानुपन्यस्य यदिदानीमनुगमस्यानुयोगस्य पूर्वं  
प्रथमं नयान् भणति, तज्ज्ञापयति भद्रबाहुस्वामी—नया-  
नुयोगौ प्रतिस्मृतं युगपदेव व्रजतः ।

(विभा १३५५ मवृ ५०१)

अनुयोगद्वार चार हैं—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और  
नय। जहाँ अनुगम से पूर्व नय का न्यास होता है, वह  
इस बात का सूचक है कि प्रत्येक सूत्र में नय और अनु-  
गम अनुयोग एक साथ प्रवृत्त होते हैं—ऐसा भद्रबाहु-  
स्वामी ने प्रज्ञापित किया है।

निर्युक्तिअनुगम के प्रकार (द्र. अनुयोग)

एवं सुत्ताणुगमो सुत्तालावगगओ य निक्खेवो ।

सुत्तप्फासियजुत्ती नया य वच्चंति समयं तु ॥

(विभा १००१)

सूत्रानुगम, सूत्रालापकगत निक्षेप, सूत्रस्पर्शिक-  
निर्युक्ति और नय—प्रत्येक सूत्र में इनका युगपत् प्रयोग  
होता है।

निज्जुत्ती वक्खाणं निक्खेवो नासमेत्तं तु ।

(विभा ९६५)

निर्युक्ति में सूत्र की व्याख्या होती है और निक्षेप  
में सूत्र का न्यासमात्र होता है—निर्युक्ति और निक्षेप में  
यही अन्तर है।

### निर्युक्तियां और निर्युक्तिकार

आवस्सयस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे ।  
सूयगडे निज्जुत्ति वोच्छामि तहा दसाणं च ॥  
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्सेव परमनिउणस्स ।  
सूरिअपण्णत्तीए वोच्छं इसिभासिआणं च ॥  
(आवनि ८४, ८५)

दस निर्युक्तियां—

- |                      |                              |
|----------------------|------------------------------|
| १. आवश्यक निर्युक्ति | ६. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति |
| २. दशवैकालिक "       | ७. बृहत्कल्प "               |
| ३. उत्तराध्ययन "     | ८. व्यवहार "                 |
| ४. अचारांग "         | ९. सूर्यप्रज्ञप्ति "         |
| ५. सूत्रकृतांग "     | १०. ऋषिभाषित "               |

स्थविराः—भद्रबाहुस्वाम्यादयस्तैः 'यत् कृतं' यद्  
दृग्धं श्रुतमावश्यकनिर्युक्त्यादिकं तद् अङ्गबाह्यम् अतङ्ग-  
प्रविष्टमुच्यते । (नन्दीमवृ प १६१)

स्थविर भद्रबाहुस्वामी आदि ने आवश्यकनिर्युक्ति  
आदि (दस निर्युक्तियों) —श्रुतग्रन्थों की रचना की, जो  
अंगबाह्य या अनंग- प्रविष्ट कहलाते हैं ।

### आवश्यकनिर्युक्ति

भगवतो भद्रबाहुस्वामिनः परमकरुणापरीतचेतस  
ऐदंयुगीनसाधूनामुपकाराय आवश्यकस्य व्याख्यानरूपामिमां  
निर्युक्तिं कृतवन्तः । (आवमवृ प १, २)

परम कारुणिक भद्रबाहुस्वामी ने साधुओं के उपकार  
के लिए आवश्यकसूत्र की व्याख्या स्वरूप आवश्यक-  
निर्युक्ति की रचना की ।

### ओघनिर्युक्ति

अरहते वंदित्ता चउदसपुंवी तहेव दसपुंवी ।  
एककारसंगसुत्तथधारए सब्वसाहू य ॥  
ओहेण उ निज्जुत्ति वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ ।  
अप्पक्खरं महत्थं अणुगहत्थं सुविहियाणं ॥

भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वात् दशपूर्वधरादीनां  
च न्यूनत्वात्तत्किं तेषां नमस्कारमसौ करोति ? इति,  
अत्रोच्यते, गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्तिगुणाधिक्यात्,  
अतो न दोष इति । एवं व्याख्याते सत्याह परः—  
एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकाणां किमर्थं क्रियते ? इति,  
उच्यते, इह चरणकरणात्मिका ओघनिर्युक्तिः, एकादशाङ्ग-  
सूत्रार्थधारिणश्च चरणकरणवन्त एव, एकादशानामङ्गानां  
चरणकरणानुयोगत्वात् उपयोगित्वेनांशेन तेषां नमस्कारः ।  
(ओनि १, २ वृ प ३)

भद्रबाहुस्वामी कहते हैं— अर्हत्, चौदह पूर्वी, दस  
पूर्वी, ग्यारह अंगों के धारक और सब साधुओं को  
नमस्कार कर सुविहितों पर अनुग्रह करने के लिए ओघ-  
निर्युक्ति की रचना करूंगा, जो चरणकरणानुयोग से  
सम्बद्ध है, अल्प अक्षर और महान् अर्थ वाली है ।

यहां वृत्तिकार ने प्रश्न उठाया है कि भद्रबाहुस्वामी  
चौदह पूर्वी थे, तब फिर उन्होंने अपने से न्यून दस पूर्वी  
आदि को नमस्कार क्यों किया ? इसके समाधान में कहा  
गया है कि दस पूर्वी आदि श्रुतपरम्परा की अव्यवच्छित्ति  
में योगभूत बनते हैं, अतः इस गुणाधिक्य के कारण उन्हें  
नमस्कार करना अनुपयुक्त नहीं है ।

पुनः प्रश्न हुआ कि भद्रबाहुस्वामी ने ग्यारह अंगों  
के धारकों को नमस्कार क्यों किया ? इसके समाधान में  
कहा गया कि ओघनिर्युक्ति ग्रन्थ चरणकरणात्मक है ।  
ग्यारह अंगों के धारक चरणकरणयुक्त होते हैं, क्योंकि  
ग्यारह अंग चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत हैं । उपयोगिता  
के कारण उनको नमस्कार करना युक्त ही है ।

### पिण्डनिर्युक्ति

दशाध्ययनपरिमाणश्चूलिकायुगलभूपितो दशवैकालिको  
नाम श्रुतस्कन्धः । तत्र च पञ्चममध्ययनं पिण्डैषणानामकं,  
दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहु-  
स्वामिना कृता । तत्र पिण्डैषणाभिधपञ्चमाध्ययन-  
निर्युक्तिरतिप्रभूतग्रन्थत्वात्पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्था-  
पिता, तस्याश्च पिण्डनिर्युक्तिरिति नाम कृतम् ।

(पिनिवृ प १)

दशवैकालिक के दश अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं ।  
दशवैकालिक निर्युक्ति चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु द्वारा  
कृत है । दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन 'पिण्डैषणा' की  
निर्युक्ति परिमाण में विस्तृत होने से पृथक्/स्वतंत्र ग्रन्थ के  
रूप में व्यवस्थापित है, वह पिण्ड-निर्युक्ति नाम से  
प्रसिद्ध है ।

### दशवैकालिकनिर्युक्ति

दुमपुप्फियाए णिज्जुत्तिसमासो वणिणओ विभासा य ।  
जिण-चोद्दसपुंवी वित्थरेण कहयंति से अट्ठं ॥  
दुमपुप्फितअज्झयणविवरणं समासतोऽभिहितं ।  
वित्थरेण सब्वक्खरसण्णिवायावदाताममबुद्धीहि चोद्दस-  
पुंवीहि भण्णति । (दिनि ५५ अचू पृ ३५)  
दुमपुष्पिका (दशवैकालिक का प्रथम अध्ययन) की  
संक्षिप्त निर्युक्ति की गई है । जिन और सर्वाक्षरसन्निपात-

लब्धि से सम्पन्न चतुर्दशपूर्वी मुनि विस्तार से उसका अर्थ प्रतिपादित करते हैं।

### उत्तराध्ययननिर्युक्ति

ओहाविकामोऽवि य अजासाढो... ॥

न च केषाञ्चिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वा-  
कालभावितेत्यन्योक्तत्वमाशङ्कनीयं, स हि भगवांश्-  
चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येव ।

(उनि १२३ उशावृ प १३९, १४०)

उत्तराध्ययन सूत्र के 'परीषह प्रविभक्ति' नामक अध्ययन में दर्शन परीषह के संदर्भ में निर्युक्तिकार ने आचार्य आषाढ़ का उदाहरण दिया है, जो निर्युक्तिकाल के पश्चात् घटित होने वाली घटना है। कुछ उदाहरण निर्युक्तिकाल-पश्चात् भावी हैं, किंतु उनके आधार पर यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि ये किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित हैं। क्योंकि आचार्य भद्रबाहु चौदहपूर्वी थे। वे श्रुतकेवली होने के कारण त्रैकालिक विषयों के ज्ञाता थे।

(यह वृत्तिकार का अभिमत है, किन्तु आषाढभूति का प्रसंग यह प्रमाणित करता है कि निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु द्वितीय हैं। उनका अस्तित्व-काल विक्रम की पांचवीं-छठी शताब्दी है।)

**निवृत्तिबादर**—जो संयती स्थूल कषाय से निवृत्त होता है, उसकी आत्म-विशुद्धि।  
आठवां गुणस्थान। (द्र. गुणस्थान)

**निषद्या**—स्थान। स्वाध्याय भूमि। एक परीषह।  
(द्र. परीषह)

(आगमों में तथा व्याख्या ग्रन्थों में निसीहिया शब्द मिलता है और उसका संस्कृत रूप निशीथिका, निषी-  
धिका या नैषेधिकी किया जाता है। जहां निसीहिया शब्द परीषह के अन्तर्गत आया है वहां निसीहिया और स्थान को चूर्णिकार ने एकार्थक माना है। 'णिसीहियत्ति वा ठाण्ति वा एगट्ठं' (उचू पृ ६७)। वृहद्वृत्ति पत्र ८३ में इसका अर्थ स्वाध्याय भूमि किया गया है—  
"श्मशानादिका स्वाध्यायादिभूमिः निषद्येति यावत्"।  
मूलतः यह पाठ निसीदिया होना चाहिए। प्राचीन लिपि में 'द' और 'ह' का प्रायः साम्य है अतः लिपि परिवर्तन के साथ 'निसीदिया' का निसीहिया हो गया प्रतीत होता है। खारवेल के शिलालेख में 'काय निसीदिका' और

'अहंतु निसीदिका' का पाठ मिलता है। निसीदिया का अर्थ है—निषद्या। यह स्वाभाविक प्रयोग है। स्थान के अर्थ में निसीहिया का संस्कृत रूप निषीधिका, नैषेधिकी या निशीथिका किया जाए तो यह रूप मौलिक प्रतीत नहीं होता। 'निसीदिया' और 'निसीहिया' दोनों का एकीकरण हो जाने पर आर्थिक जटिलता उत्पन्न हुई है।)

**निषीधिका**—निषद्या।

(द्र. परीषह)

**निह्व**—अहंतु-वचन का अपलाप करने वाले।

### १. निह्व कौन ?

२. जमालि और बहुरतवाद

३. तिष्यगुप्त और जीवप्रादेशिकवाद

४. आचार्य आषाढ़ के शिष्य और अव्यक्तवाद

५. अश्वमित्र और समुच्छेदवाद

६. आचार्य गंग और द्वैक्रियवाद

७. रोहगुप्त और त्रैराशिकवाद

८. गोष्ठामाहिल और अब्दिकवाद

९. शिवभूति और बोटिकमत

### १. निह्व कौन ?

...जो पुण पयं पि निषह्वइ ।

मिच्छाभिनिवेशाओ स निषह्वो... ॥ (विभा २२९९)

तीर्थकरभाषितमर्थमभिनवेशात् निह्वुवते—प्रपञ्च-  
तोऽपलपन्तीति निह्ववाः, एते च मिथ्यादृष्टयः सूत्रोक्तार्था-  
पलपनात्... एते साक्षादुपात्ता उपलक्षणसूचिताश्च  
देशविसंवादिनो द्रव्यलिङ्गेनाभेदिनो निह्ववाः। बोटिकास्तु  
वक्ष्यमाणाः सर्वविसंवादिनो द्रव्यलिङ्गतोऽपि भिन्ना  
निह्ववाः। (आवमवृ प ४०१)

जो अपने मिथ्या अभिनिवेश के कारण अहंतु-प्रज्ञप्त अर्थपद का अपलाप करते हैं, वे निह्व कहलाते हैं। वे सूत्र के अर्थ का अपलाप करने के कारण मिथ्यादृष्टि होते हैं। निह्व सिद्धांत के एक देश का विसंवाद करने वाले तथा द्रव्यलिंग (वेश) से अभिन्न होते हैं।

बोटिकमतावलंबी सर्वविसंवादी तथा द्रव्यलिंग से भिन्न होने पर भी निह्व कहलाये।

(जिनका किसी एक विषय में, चालू जैन परम्परा के साथ, मतभेद हो गया और वे वर्तमान शासन से पृथक् हो गये, किन्तु किसी अन्य धर्म को स्वीकार नहीं किया, उन्हें निह्व कहा गया।)

## २. जमालि और बहुरतवाद

चोइस वासाणि तथा जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स ।  
तो बहुरयाण दिट्ठी सावत्थीए समुप्पन्ना ॥  
(विभा २३०६)

भगवान महावीर के कैवल्य प्राप्ति के चौदह वर्ष पश्चात् श्रावस्ती नगरी में बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई । बहुसु समएसु कज्जसिद्धि पडुच्च रता—सक्ता बहुरता । (आवचू १ पृ ४१९)

एकस्मिन् क्रियासमये वस्तु तोत्पद्यते, किन्तु बहुभिः क्रियासमयैः इत्यभ्युपगमाद् बहुषु समयेषु रताः सक्ता बहुरता दीर्घकालवस्तुप्रभवरूपकाः ।

(विभगमवृ २ पृ ३३)

कार्य की सिद्धि एक समय में नहीं होती, उसमें बहुत समय लगते हैं, वस्तु की उत्पत्ति दीर्घकाल सापेक्ष है— इस अभ्युपगम का प्रतिपादन जिसे मान्य है, वह बहुरतवाद है ।

कुंडपुरं नगरं । तस्स सामिस्स जेट्ठा भगिणी सुदंसणा नाम । तीए पुत्तो जमाली । सो सामिस्स मूले पव्वइतो पंचहि सतेहि समं, तस्स य भज्जा सामिणो धूता अणोज्जंगी नाम । बीयं नाम से पियदंसणा । सावि तमणुपव्वतिया ससहस्सपरिवारा, एक्कारस अंगा अधीता । सामिणा अणणुणातो सावत्थि मतो पंचसतपरिवारो । तत्थ तेदुमुज्जाथं कोट्टगे चेतिते समोसदो । तत्थ से अंतपत्तेहि रोगो उप्पण्णो । न तरति तिट्ठेतुं अच्छित्तुं । ताहे सो समणे भणति—मम सेज्जासंधारणं करेह । ते कातुमारद्धा । पुणो अधरो भणति—कतो ? कज्जति ? ते भणति—न कतो, अज्जावि कज्जति ।

(आवचू १ पृ ४१६)

जमाली कुंडपुर नगर में, भगवान महावीर की ज्येष्ठा भगिनी सुदर्शना का पुत्र था । भगवान की पुत्री अनवद्यांगी उसकी भार्या थी । उसका दूसरा नाम था प्रियदर्शना ।

जमाली ने पांच सौ पुरुषों के साथ तथा प्रियदर्शना ने हजार स्त्रियों के साथ भगवान महावीर के पास दीक्षा स्वीकार की । उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया ।

एक बार जमालि ने भगवान से अलग विहार की आज्ञा मांगी । भगवान की आज्ञा प्राप्त नहीं होने पर भी वह पांच सौ साधुओं के साथ श्रावस्ती चला गया । वहां तिन्दुक उद्यान के कोष्ठक चैत्य में ठहरा । अंत-प्रांत आहार सेवन से उसका शरीर रोगान्कान्त हो गया । उसने श्रमणों से कहा—मेरा बिछौना करो । वे करदे लगे ।

अधीरता के कारण पुनः पूछा—क्या बिछौना कर दिया? श्रमणों ने कहा—कर रहे हैं ।

सखं चियं संधारो न कज्जमाणो कउत्ति मे जम्हा ।  
वेइ जमाली सव्वं न कज्जमाणं कयं तम्हा ॥  
(विभा २३०८)

ताहे तस्स चिता जाता—जणं समणे भगवं आइक्खति 'कज्जमाणे कडे चलमाणे चलिते उदीरिज्जमाणे उदीरिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे' तण्णं मिच्छा । इमं णं पंचवखमेव दीसति सेज्जासंधारए कज्जमाणे अकडे संधारेज्जमाणे असंधारिए । (आवचू १ पृ ४१६)

उसके मन में विचिकित्सा उत्पन्न हुई—भगवान महावीर क्रियमाण को कृत, चलमाण को चलित, उदीर्यमाण को उदीरित, निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहते हैं—यह मिथ्या है । यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि बिछौना क्रियमाण है पर कृत नहीं है । वह संस्तीर्यमाण है, किन्तु संस्तृत नहीं है । इस प्रकार वेदनाविह्वल जमालि मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से निह्व बन गया । उससे बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई ।

अत्येगतिया भिग्गंथा एतमत्थं सदहंति । अत्येगतिया णो सदहंति । जे ते सदहंति ते णं जमालि चैव अणगारं उवसंपज्जित्ताणं विहरति । जे ते णो सदहंति ते णं एवमाहंसु, जणं सामी आइक्खति तण्णं तह चैव, जं णं तुमं वयसि तं णं मिच्छा । (आवचू १ पृ ४१६)

जमालि के पांच सौ साधुओं में से कुछ साधुओं ने बहुरतवाद में श्रद्धा की, कुछ ने नहीं की । जिन्होंने श्रद्धा की, वे जमालि के पास रहे । जिन्होंने श्रद्धा नहीं की, उन्होंने कहा—जमालि ! भगवान् ने जो कहा है, वह तथ्य है । तुम जो कह रहे हो वह मिथ्या है । वे पुनः भगवान् महावीर के शासन में सम्मिलित हो गये ।

पियदंसणा ढंकरस्स कुंभकारस्स घरे ठिता । सा आगता चेतियवंदिता, ताहे तं पि पण्णवेति । साति विप्पडिवण्णा तस्स जेहानुरागेण, पच्छा मता अज्जाणं परिकहेति, तं च ढंकरं भणति, सो जाणति जथा—विप्पडिवण्णा नाहच्चएणं, ताहे सो भणति—अहं न याणामि एयं विसेसतरं । एवं तीसे अण्णदा कदायी सज्जायपोरिसि करेतीए तेण भायणाणि उव्वत्ततेणं ततोहुत्तो इगालो छूदो जथा तीसे संघाडी एगदेसंमि दइढा । सा भणति—इमा

अज्ज ! संघाडी दड्ढा, ताहे सो भणति—तुब्भे चेव पणवेह जथा—डुब्भमाणे अदड्ढे, केण तुब्भं संघाडी दड्ढा ? एत्थ सा संबुद्धा, तहत्ति पडिसुणेति । इच्छामो अज्ज ! सम्भं पडिचोदणा । ताहे सा गंतूण जमालि पणवेति । सो जाहे न गेण्हति ताहे गता सहस्सपरिवारा सामि उवसंपज्जित्तणं विहरति ।

.....तते णं से जमाली...बहूहि असवभावुब्भाव-णाहि मिच्छत्ताभिनिवेशेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च बुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे बहूइ वासाइं सामण्णपरियायं पाउणति, बहूहि छट्टट्टमादीहि अप्पाणं भावेति .....तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिककंते कालमासे कालं किच्चा रंतए कप्पे तेरससाशरोवमट्टितिकेसु देवेषु देवत्ताए उववण्णे । (आवचू १ पृ ४१८, ४१९)

साध्वी प्रियदर्शना कुंभकार ढंक के घर ठहरी हुई थी । वह जमाली के दर्शनार्थ आई । जमाली ने उसे सारी बात कही । उसने पूर्व अनुराग के कारण जमाली की बात मान ली । उसने कुंभकार को भी इससे अवगत कराया । प्रियदर्शना उन्मार्ग में प्रस्थित हो गई है—यह ज्ञात होने पर कुंभकार ने स्पष्ट कहा—मैं इस सिद्धांत का मर्म नहीं समझ सका ।

एक दिन प्रियदर्शना स्वाध्याय पौरुषी कर रही थी । ढंक ने एक अंगारा उस पर फेंका, जिससे उसकी साड़ी का एक कोना जल गया । उसने कहा—ढंक ! तुमने मेरी साड़ी जला दी है । तब ढंक ने कहा—साड़ी जली कहाँ है, जल रही है । वह सम्बुद्ध हो गई । जमाली को समझाने गई । वह नहीं समझा । तब वह हजार साध्वी-परिवार के साथ भगवान की शरण में चली गई ।

जमालि असत्य प्ररूपणा तथा मिथ्या अभिनिवेश के कारण स्वयं को तथा दूसरों को शंकित तथा भ्रमित करने लगा । उसने अनेक वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन किया और विभिन्न प्रकार से तप तपा । किन्तु अपने दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमण किए बिना ही मृत्यु को प्राप्त होकर वह लान्तक देवलोक में तेरह सागरोपम की स्थिति वाला देव बना ।

### ३. तिष्यगुप्त और जीवप्रादेशिकवाद

सोलस वासाणि तथा जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स । जीवपएसियदिट्ठी तो उसभपुरे समुप्पण्णा ॥ रायगिहे गुणसिलए वसु उउदसपुव्वि तीसगुत्ते य\*\*\* ।

आयप्पवायपुव्वं अहिज्जमाणस्स तीसगुत्तस्स । नयमयमयाणमाणस्स दिट्ठिमोहो समुप्पण्णो ॥ एगादओ पएसो नो जीवो नो पएसहीणो वि । जं तो स जेण पुण्णो स एव जीवो पएसो त्ति ॥ गुरुणाऽभिहिओ जइ ते पढमपएसो न संमओ जीवो । तो तप्परिणामो च्चिय जीवो कहमंतिमपएसो ॥ तंतू पडोवयारी न समत्तपडो य समुदिया ते उ । सव्वे समत्तपडओ सव्वपएसो तहा जीवो ॥ इय पण्णविओ जाहे न पवज्जइ सो कओ तओ बज्जओ । ततो आमलकप्पाए मित्तसिरिणा सुहोवायं ॥ भक्खण-पाण-वंजण-वत्थं तावयवलाभिओ भणइ । सावय ! विधम्मिया म्हे कीस त्ति तओ भणइ सड्ढो ॥ नणु तुज्जं सिद्धंतो पज्जंतावयवमित्तओऽवयवी । जइ सच्चमिणं तो का विहम्मणा मिच्छमिहरा भे ॥ इय चोइय संबुद्धो खामियपडिलाभिओ पुणो विहिणा । गंतुं गुरुपायमूलं ससोसपरिसो पडिककंतो ॥ (विभा २३३३-२३३७, २३४४, २३४८, २३५०, २३५५)

भगवान महावीर के कैवल्य प्राप्ति के १६ वर्ष पश्चात् ऋषभपुर में जीवप्रादेशिकवाद की उत्पत्ति हुई ।

राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में चतुर्दश पूर्वों के धारक आचार्य वसु का पदार्पण हुआ । उनके शिष्य का नाम तिष्यगुप्त था । गुरु तिष्यगुप्त को आत्मप्रवादपूर्व का अध्ययन करा रहे थे । नयवाद का प्रसंग चल रहा था । तिष्यगुप्त को समझ में नहीं आया तब उसके दृष्टि-विपर्यास उत्पन्न हो गया ।

तिष्यगुप्त ने कहा—जब जीव एक प्रदेश नहीं, दो, तीन यावत् संख्येय प्रदेश जीव नहीं है, एक प्रदेश न्यून को भी जीव नहीं कहा जा सकता, तब जिस प्रदेश से वह पूर्ण होता है, वही जीव है ।

गुरु ने कहा—जब प्रथम प्रदेश जीव नहीं है, तब अन्तिम प्रदेश जीव कैसे होगा ?

एक तन्तु समस्त पट नहीं होता किन्तु वे सारे तन्तु मिलकर समस्त पट का कथन प्राप्त करते हैं; वैसे ही एक प्रदेश जीव नहीं, किन्तु सारे प्रदेश समुदित रूप से ही जीव हैं ।

गुरु ने उसे समझाया । उसने स्वीकार नहीं किया तब

उसे संघ से अलग कर दिया गया। वह वहाँ से आमल-कल्पा नगरी में आया। वहाँ मित्रश्री नाम का श्रमणोपासक था। उसने तिष्यगुप्त को प्रतिबोध देने के लिए अपने घर आने का निमन्त्रण दिया। वह वहाँ गया। उसने उसके समक्ष खाद्य पदार्थ, वस्त्र आदि प्रस्तुत किए और प्रत्येक पदार्थ का अन्तिम अवयव (छोटा टुकड़ा) देने लगा। तिष्यगुप्त ने कहा—तुमने मेरा तिरस्कार किया है। श्रावक ने कहा—यह तो आपका सिद्धांत ही है कि अन्तिम अवयव वास्तविक है। यदि यह सत्य है तो तिरस्कार कैसा? यदि नहीं तो आप मिथ्या प्ररूपणा क्यों कर रहे हैं?

इस प्रकार प्रतिबोध पाकर तिष्यगुप्त ने श्रावक मित्रश्री से क्षमायाचना की और अपने शिष्य-परिवार के साथ गुरु के पास जाकर प्रतिक्रमण किया।

#### ४. आचार्य आषाढ के शिष्य और अव्यक्तवाद

चउदस दो वाससया तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।  
तो अव्वत्तयदिट्ठी सेववियाए समुप्पणा ॥  
सेयविपोलासाडे जोगे तद्विवसहिययसूले य ।  
सोहम्मनलिणिगुम्मे रायगिहे मुरियबलभदे ॥  
गुरुणा देवीसूएण समणरूवेण वाइया सीसा ।  
सब्भावे परिकहिए अव्वत्तयदिट्ठिणो जाया ॥  
को जाणइ कि साहू देवो वा तो न वंदणिज्जो त्ति ।  
होज्जासंजयनमणं होज्ज मुसावायममुगो त्ति ॥  
इय ते नासग्गाहं मुयति जाहे बहं पि भण्णता ।  
ता संघपरिचवत्ता रायगिहे निवतिणा नाउं ॥  
बलभदेणघाया भणति सावय वयं तवस्सि त्ति ।  
मा कुरु संकमसंकारहेमु भणिए भणइ राया ॥  
को जाणइ के तुब्भे कि चोरा चारिआ अभिमर त्ति ।  
संजयरूवच्छणणा अज्जमहं भे विवाएमि ॥

(विभा २३५६-२३५९, २३६३-२३६५)

वीर निर्वाण के २१४ वर्ष व्यतीत होने पर श्वेतविका नगरी में अव्यक्तवाद की उत्पत्ति हुई।

श्वेतविका नगरी के पोलाषाढ उद्यान में आचार्य आषाढ ठहरे हुए थे। वे शिष्यों को योगाभ्यास कराते थे। एक दिन आचार्य आषाढ को हृदयशूल उत्पन्न हुआ। उससे उनकी मृत्यु हो गई। मरकर वे सौधर्म कल्प के नलिनीगुल्म विमान में उत्पन्न हुए।

आचार्य आषाढ देवरूप में पोलाषाढ उद्यान में आए

और मृत शरीर में प्रवेश कर उन्होंने शिष्यों को योग साधना का क्रम पूर्ण करवाया। फिर देवरूप में प्रकट होकर क्षमायाचना करके सारी घटना बतलाई, तब अव्यक्तवाद की दृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ।

श्रमणों को संदेह हो गया कि कौन जाने कौन साधु है और कौन देव? कोई वन्दनीय नहीं है। यदि वन्दना करते हैं तो असंयमी को वन्दना हो जाती है। अमुक ब्रती है—ऐसा कहना मृषावाद है।

बहुत समझाने पर भी आषाढ के शिष्यों ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा, तब उन्हें संघ से बाहर कर दिया गया। वे वहाँ से विहार कर राजगृह नगर में आए। वहाँ के राजा बलभद्र को जब ज्ञात हुआ, उसने उनको आमन्त्रित किया। उन्होंने कहा—हे श्रावक! हम तपस्वी हैं, सन्देह न करें। राजा ने कहा—कौन जानता है साधु के वेश में कौन चोर है? कौन चारिक है? आज मैं आपका वध करूँगा।

मुनियों ने कहा—ज्ञान और चर्या के द्वारा श्रमण और अश्रमण की पहचान होती है। तुम श्रावक होकर सन्देह करते हो?

राजा ने कहा—आपको भी परस्पर विश्वास नहीं है तब मुझे ज्ञान और चर्या से कैसे विश्वास होगा?

इस प्रकार युक्ति और भय से संबोध पाकर उन्होंने राजा से क्षमायाचना की। पुनः गुरु के पास आए और प्रायश्चित्त लेकर संघ में सम्मिलित हो गए।

#### ५. अश्वमित्र और समुच्छेदवाद

वीसा दो वाससया तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।  
सामुच्छेइयदिट्ठी मिहिलपुरीए समुप्पणा ॥  
मिहिलाए लच्छिधरे महगिरि कोडिन्न आसमिते य ।  
नेउणियणुप्पवाए रायगिहे खंडरक्खा य ॥  
नेउणमणुप्पवाए अहिज्जिओ वत्थुमासमित्तस्स ।  
एगसमयाइवोच्छेयसुत्तओ नासपडिवत्ती ॥  
उप्पायाणंतरओ सब्बं चिय सब्बहा विणासि त्ति ।  
गुरुवयणमेगनयमयमेयं मिच्छं न सब्बमयं ॥

(विभा २३६९-२३९२)

इअ पणविओ वि जओ न

पवज्जइ सो कओ तओ बज्जो ।

विहरंतो रायगिहे नाउं तो खंडरक्खेहि ॥  
गहिओ सीसेहि सभ एएऽहिमर त्ति जंपमाणेहि ।  
संजयवेसच्छणणा, सज्जं सब्बे समाणेह ॥

अम्हे सावय ! जयओ

कत्थुप्पणा कहिं च पव्वइया ।

अमुगत्थ बेति सड्ढा ते वोच्छिण्णा तया चेव ॥

तुब्भे तव्वेसधरा भणिण् भयओ सकारणं च त्ति ।

पडिक्कणा गुरुमूलं गंतूण तओ पडिक्कंता ॥

(विभा २४२०-२४२३)

वीरनिर्वाण के २२० वर्षे व्यतीत होने पर मिथिला में समुच्छेदवाद की उत्पत्ति हुई। मिथिला नगरी के लक्ष्मीगृह चैत्य में आचार्य महागिरि के शिष्य कौण्डिन्य थे। कौण्डिन्य अपने शिष्य अश्वमित्र को अनुप्रवादपूर्व की नैपुणिक वस्तु की वाचना दे रहे थे। छिन्न-छेदन्य की वक्तव्यता के अनुसार प्रथम समय के नारक विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे समय के नारक भी विच्छिन्न हो जायेंगे। उत्पत्ति के अनन्तर ही वस्तु विनष्ट हो जाती है, अश्वमित्र को ऐसा बोध हुआ। गुरु ने कहा— यह बात ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से है, सब नयों की अपेक्षा से नहीं है। गुरु के समझाने पर भी उसने गुरु के कथन को स्वीकार नहीं किया। तब गुरु ने उन सबको संघ से अलग कर दिया। वे विहरण करते हुए राजगृह नगर में आए। वहाँ खण्डरक्षक श्रावक थे, जो वहाँ शुकपाल थे। उन्होंने उसको शिष्यों के साथ पकड़ लिया और ये साधु-वेश में चोर हैं—ऐसा कहकर पीटना शुरू किया।

अश्वमित्र ने कहा—श्रावको ! हम साधु हैं। तब श्रावकों ने कहा—आप कहां उत्पन्न हुए ? कब प्रव्रजित हुए ? आपके सिद्धान्त के अनुसार आपका श्रमण रूप तो विच्छिन्न हो गया। आप सब वेशधारी हैं—ऐसा कहने पर तथा भय और युक्ति से समझाने पर वे सब श्रावकों के वचनों को स्वीकार कर गुरु के पास जाकर प्रायश्चित्तपूर्वक पुनः संघ में प्रविष्ट हो गए।

## ६. आचार्य गंग और द्वैक्रियवाद

अट्ठावीसा दो वाससया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।  
दोकिरियाणं दिट्ठी उल्लुगतीरे समुप्पणा ॥  
नड्डेडजणवउल्लुग महगिरि धणगुत्त अज्जगंगे य ।  
नइमुत्तमभुत्तरओ सरए सीयजलमज्जगंगस्स ।  
सुराभित्तसिरसो सीओसिणवेयणोभयओ ॥  
लागोअमसगगाहो जुगवं उभयकिरिओवओमो त्ति ।  
जं दो वि समयमेव य सीओसिणवेयणाओ मे ॥

(विभा २४२४-२४२७)

वीरनिर्वाण के २२० वर्षे व्यतीत होने पर उल्लुका-तीर नगर में द्वैक्रियावाद की उत्पत्ति हुई।

उल्लुका नदी के एक किनारे खेड़ा था, दूसरे किनारे उल्लुकातीर नाम का एक नगर था। वहाँ महागिरि के शिष्य आचार्य धनगुप्त रहते थे। उनके शिष्य का नाम गंग था। वे भी आचार्य थे। वे उल्लुका नदी के इस ओर खेड़े में वास करते थे।

आचार्य गंग शरद ऋतु में अपने आचार्य को वन्दना करने के लिए निकले। नदी में उतरे। वे गंजे थे। ऊपर सूरज तप रहा था। नीचे पानी की ठंडक थी। उन्हें एक समय (क्षण) में सिर को सूर्य की गरमी और पैरों को नदी की ठंडक का अनुभव हो रहा था।

इस अनुभूति के आधार पर आचार्य गंग ने द्वैक्रिय-वाद का प्रतिपादन किया।

तरतमजोभेणायं गुरुणाऽभिहिओ तुमं न लक्खेसि ।  
समयाइसुहुमयाओ मणोऽतिचलसुहुमयाओ य ॥  
सुहुमासुचरं चित्तं इदियदेसेण जेण जं कालं ।  
सबज्झइ तं तम्मत्तनाणहेउ त्ति तो तेण ॥  
उवलभए किरियाओ जुगवं दो दूरभिण्णदेसाओ ।  
पाय-सिरोगयसीउप्पह्वेयणाणुभवरूवाओ ॥  
बहु-बहुविहाइगहणे नणूवओगबहुया सुएऽभिहिआ ।  
तमणेमग्गहणं चिय उवओगाणेगया नत्थि ॥  
ते च्चिय न संति समयं सामण्णाणेगहणमविरुद्धं ।  
एगमणेगं पि तयं तम्हा सामण्णभावेणं ॥  
जं च विसेसन्नाणं सामन्नन्नाणपुव्वयमवस्सं ।  
तो सामण्णविसेसन्नाआइं नेगसमयम्मि ॥  
मणिनागेणरुद्धो भओववत्तिओ पडिबोहिओ वोत्तुं ।  
इच्छामो गुरुमूलं गंतूण तओ पडिक्कंता ॥

(विभा २४२८-२४३०, २४३८, २४४२, २४४५, २४५०)

सो हिंडंनो रायगिहं गतो महातपोतीरप्पभे पासवणे तत्थ मणिनागो नाम नागो, तस्स चेतिते वेणति, सो तत्थ परिसामज्जे कहेति - एवं खलु जीवेण एगसमएण दो किरियाओ वेदिज्जति। तामु तेण नागेण तीसे चेव परिसाए मज्जे भणितो मा एतं पण्णवणं पण्णवेहि। एसा पण्णवणा दुट्ठु सेहा !, अहं एच्चिरं कालं वद्धमाण-सामिस्स मूले सुणेमि जथा - एगा किरिया (एगसमएण वेइज्जति)। .....छड्डेहि एतं वादं .....भगवता एत्थ ठितेण समोसरितेण वागरितं। एवं सो पण्णवितो अब्भुव-गतो उवट्ठितो भणति मिच्छामि दुक्कडंति।

(आवचू १ पृ ४२४)

द्विक्रिया का प्रतिवाद करते हुए गुरु ने कहा—समय, आवलिका आदि काल की सूक्ष्मता से मन की सूक्ष्मता और शीघ्रगामिता के कारण तुम क्रिया की पृथक्ता का अनुभव नहीं कर सकते।

चित्त अत्यंत सूक्ष्म और शीघ्रगामी है। वह जिस काल में जिस इन्द्रिय से संबद्ध होता है, उस समय उतना मात्र ही ज्ञान कर सकता है। इसलिए पैर और सिर की शीत और उष्ण वेदना—दो भिन्न देशों में होने के कारण युगपत् दो क्रियाएं नहीं हो सकतीं।

शिष्य बोला—आगम में कहा है—बहु, बहुविध आदि अनेक का ग्रहण एक साथ होता है, तब उपयोग भी अनेक होंगे ?

बहु-बहुविध आदि वस्तु की अनेक पर्यायों का एक साथ ग्रहण सामान्य रूप से होता है लेकिन उपयोग अनेक नहीं होते।

अनेक उपयोग युगपत् नहीं होते। अनेक अर्थों का ग्रहण एक साथ हो सकता है। सामान्य की अपेक्षा से एक साथ अनेक अर्थों का ग्रहण होता है। विशेष की अपेक्षा एक समय में एक ही अर्थ का ग्रहण होता है।

आचार्य गंग संघ से अलग होकर राजगृह नगर में आए। वहां महातपतीरप्रभ नामक एक भ्ररना था। वहां मणिनाग नामक नागदेव का चैत्य था। आचार्य गंग ने उस चैत्य में परिषद् के सम्मुख द्वैक्रियवाद का प्रतिपादन किया। मणिनाग नागदेव ने परिषद् के मध्य प्रगट होकर कहा—तुम यह विपरीत प्ररूपणा मत करो। एक बार भगवान् महावीर यहां समवसृत हुए थे। मैंने उनके मुंह से यह सुना था कि एक समय में एक ही क्रिया का संवेदन होता है। तुम अपने मिथ्यावाद को छोड़ो। मिथ्या प्ररूपणा से तुम्हारा नाश ही होगा। नागदेव ने भय और युक्ति से उसे प्रतिबोध दिया। वह गुरु के पास आया, प्रायश्चित्त लेकर संघ में सम्मिलित हो गया।

### ७. रोहगुप्त और त्रैराशिकवाद

पंच सया चोयाला तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।  
पुरिमंतरंजियाए तेरासियादिद्वि उप्पन्ना ॥  
पुरिमंतरंजि भूयगिह बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य ।  
परिवायपोट्टसाले धोसणपडिसेहणा वाए ॥  
विच्छूय सप्पे..... ॥ मोरी नउली..... ॥  
जेऊण पोट्टसालं छलूओ भणइ गुरुमूलमागंतु ।  
वायम्मि मए विजिओ सुणह जहा सो सहामज्जे ॥

रासिदुगगहियपक्खो तइयं नो जीवरासिमादाय ।  
गिहकोकिलाइपुच्छच्छेओदाहरणओऽभिहिए ॥

भणइ गुरु सुट्ठु कयं कि पुण जेऊण कीस नाभिहियं ।  
अयमवसिद्धंतो जे तइओ नो जीवरासि त्ति ॥  
एवं गए वि गंतुं परिसामज्जम्मि भणसु नायं जे ।  
सिद्धंतो कित्तु मए बुद्धि परिभूय सो समिओ ॥  
बहुसो स भणमाणो गुरुणा,

पडिभणइ किमवसिद्धंतो ।

जइ नाम जीवदेसो नो जीवो हुज्ज को दोसो ? ॥  
एवं पि भणमाणो न पवज्जइ

सो जओ तओ गुरुणा ।

चित्तिमयं पणट्ठो नासिहिई मा बहुं लोणं ॥  
तो णं रायसभाए निग्गिह्हामि बहुलोणपच्चक्खं ।  
बहुजणनाओऽवसिओ होही अयेज्जपक्खो त्ति ॥  
तो बलसिरिनिवपुरओ वायं नाओवणीयमगाणं ।  
कुणमाणामईया सीसा-ऽऽवरियाण छम्मासा ॥  
एवको विनावसिज्जइ जाहे तो भणइ नरवई नाहं ।  
सत्तो सोउं सीयति रज्जकज्जाणि मे भगवं ॥  
गुरुणाऽभिहिओ भवओ सुणावणत्थमियमेत्तियंभणियं ।  
जइ सि न सत्तो सोउं तो निग्गिह्हामि णं कल्लं ॥  
वीयदिणे बेइ गुरु वरिद ! जं मेइणीए सवभूयं ।  
तं कुत्तियावणे सव्वमत्थि सव्वप्पतीयमियं ॥  
तं कुत्तियावणसुरो नोजीवं देइ जइ, न सो नत्थि ।  
अह भणइ नत्थि, तो नत्थि, कि व ह्हेउप्पबंधेणं ॥  
तं मग्गिज्जउ मुल्लेण.....परिसाहि ॥  
सिरिगुत्तेणं छलुगो छम्मास विकडिडऊण वाए जिओ ।  
आहरण कुत्तियावण चोयालसएण पुच्छाणं ॥  
(विधा २४५१-२४५९; २४८१-२४८९)

वीरनिर्वाण के ५४४ वर्ष व्यतीत होने पर अंतरंजिका नगरी में त्रैराशिक मत का प्रवर्तन हुआ।

अंतरंजिका नगरी के बाहर भूतगृह नामक चैत्य था। वहां आचार्य श्रीगुप्त रहते थे। वहां के राजा का नाम बलश्री था। रोहगुप्त आचार्य श्रीगुप्त का शिष्य था। वह दूसरे स्थान पर रहता था। एक दिन वह आचार्य को बंदना करने वहां आया। वहां पोट्टसाल नामक परिव्राजक भी रहता था। उसने वाद-विवाद के लिए नगर में उद्घोषणा की। रोहगुप्त ने उस चुनौती को स्वीकार किया और सारी बात आचार्य को सुनाई।



आचार्य ने कहा—वह परिव्राजक वृश्चिक, सर्प आदि सात विद्याओं में पारंगत है। मैं तुम्हें इन विद्याओं की प्रतिपक्षी—मायूरी, नाकुली आदि सात विद्याएं सिखा देता हूँ, जिनसे तू अजेय होगा। (द्र. मंत्रविद्या)

पोटुशाल को जीतकर रोहगुप्त गुरु के पास आया और कहा—मैं वाद में विजयी बना हूँ।

परिव्राजक ने 'राशि दो है'—इस पक्ष की स्थापना की। मैंने छुछंदर की कटी हुई पूंछ का उदाहरण देकर तीसरी राशि की स्थापना की।

गुरु ने कहा—जीतकर तुमने यह क्यों नहीं कहा कि 'यह अपसिद्धान्त है'। तीसरी नो-जीवराशि नहीं होती। अतः पुनः परिषद् में जाकर कहो—यह हमारा सिद्धान्त नहीं है किन्तु मैंने उसे बुद्धि से पराभूत कर, शान्त किया है।

गुरु के समझाने पर वह बोला—अपसिद्धान्त क्या है? जीव का देश यदि नो-जीव होता हो तो इसमें क्या दोष है?

आचार्य के बहुत समझाने पर भी उसने स्वीकार नहीं किया, तब आचार्य ने सोचा—यह स्वयं नष्ट होकर दूसरे व्यक्तियों को भी नष्ट करेगा। मैं लोगों के समक्ष राजसभा में इसका निग्रह करूंगा, जिससे लोगों का इस पर विश्वास नहीं रहेगा और मिथ्या तत्त्व का प्रचार भी रुक जाएगा।

राजा बलश्री के समक्ष चर्चा प्रारम्भ हुई। चर्चा करते हुए छह भास व्यतीत हो गए। राजा ने कहा—मेरे राज्य का सारा कार्य अव्यवस्थित हो रहा है। यह वाद कब तक चलेगा? आचार्य ने कहा—मैंने जान-बूझकर इतना समय बिताया है। मैं कल ही इसका निग्रह करूंगा।

दूसरे दिन प्रातः वाद प्रारम्भ हुआ। आचार्य ने कहा—यदि तीन राशि वाली बात सही है तो कुत्रिकापण में चलें। वहां सभी वस्तुएं उपलब्ध हैं।

राजा को साथ ले सभी कुत्रिकापण में पहुंचे। वहां नो-जीव मांगा। वहां के अधिकारी देव ने कहा—नो-जीव की श्रेणी का कोई पदार्थ विश्व में नहीं है। इस प्रकार आचार्य श्रीगुप्त ने १४४ प्रश्नों के द्वारा रोहगुप्त का निग्रह कर उसे पराजित किया। (आवश्यकनिर्युक्ति-दीप्ति में १४४ प्रश्नों का विवरण प्राप्त है।)

## ८. गोष्ठामाहिल और अबद्धिकवाद

पंच सया चुलसीया तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।  
तो अबद्धियदिट्ठी दसउरनयरे समुप्पन्ना ॥  
दसउरनयरुच्छुधरे अज्जरविखय पूसमित्तिगयं च ।  
गोष्ठामाहिल नवमट्टमेसु पुच्छ य विक्कस्स ॥  
सोरुण कालधम्मं गुरुणो गच्छम्मि पूसमित्तं च ।  
ठवियं गुरुणा किल गोष्ठामाहिलो मच्छरियभावो ॥  
वीसु वसहीए ठिओ छिद्धन्नेसणपरो य स कयाए ।  
विक्कस्स सुणइ पासेणुभासमाणस्स वक्खाणं ॥  
न हि कम्मं जीवाओ अवेइ अविभागओ पएसोव्व ।  
तदणवगमादमुक्खो जुत्तमिणं तेण वक्खाणं ॥  
पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ ।  
एवं पुट्टमवद्धं जीव कम्मं समन्नेइ ॥

(विभा २५०९-२५१२, २५१६, २५१७)

वीरनिर्वाण के ५८४ वर्ष व्यतीत होने पर दशपुर नगर में अबद्धिकवाद की उत्पत्ति हुई।

दशपुरनगर के इक्षुमूह में आर्यरक्षित घृतपुष्यमित्र, वस्त्रमित्र, दुर्बलिकापुष्यमित्र, गोष्ठामाहिल आदि शिष्यों के साथ विराजमान थे। गण का दायित्व दुर्बलिकापुष्यमित्र को देकर आर्यरक्षित कालधर्म को प्राप्त हुए। दुर्बलिकापुष्यमित्र को गण का आचार्य जानकर गोष्ठामाहिल मात्सर्यभाव को प्राप्त हुआ।

वह पृथक् वसति में स्थित होकर दोषों को खोजने लगा। एक दिन व्याख्यानमण्डली में विन्ध्य द्वारा आठवें कर्मप्रवादपूर्व की तथा नवमें प्रत्याख्यान पूर्व की व्याख्या को सुनकर वह विप्रतिपत्ति को प्राप्त हुआ। उसने कहा—कर्म का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने पर जीव की प्रदेशराशि की तरह कर्मराशि को जीव से अलग नहीं किया जा सकता। कर्म दूर हुए बिना जीव का मोक्ष नहीं होता। इसीलिए यह कथन उचित है कि सर्प की कञ्चुकी की तरह कर्म जीव का स्पर्श करते हैं, उससे बड़ नहीं होते। यह अबद्धिकवाद है।

अविभागतथस्स वि से विमोयणं कंचणोवलाणं व ।

नाण-किरियाहि कोरइ मिच्छताईहि चायाणं ॥

(विभा २५३१)

गुरु ने कहा—मिथ्यात्व आदि के द्वारा गृहीत कर्म जीव के साथ एकीभूत हो जाते हैं। उन अविभक्त कर्मों को जान और क्रिया के द्वारा विभक्त किया जा सकता

है, जैसे कि अग्नि के द्वारा सोने और मिट्टी को पृथक् किया जाता है ।

सोऽरुण भन्नमाणं पञ्चकखाणं पुणो नवमपुब्बे ।  
सो जाक्कजीवावहियं तिविहं तिविहेण साहूणं ॥  
जंपइ पञ्चकखाणं अपरिमाणए होइ सेयं तु ।  
जेसि तु परिमाणं तं दुट्ठं आससा होइ ॥

(विभा २५१८, २५१९)

साधु के यावज्जीवन तीन करण तीन योग से सावद्य योग के प्रत्याख्यान होते हैं । नवमें प्रत्याख्यान पूर्व की इस व्याख्या को सुनकर गोष्ठामाहिल विप्रतिपत्ति को प्राप्त हुआ ।

गोष्ठामाहिल ने कहा—अवधि रहित प्रत्याख्यान ही श्रेयस्कर है । जिस प्रत्याख्यान में अवधि/सीमा होती है वह प्रत्याख्यान आशंसा दोष से दूषित होता है ।

### ६. शिवभूति और बोटिक मत

छव्वाससयाइं नवुत्तराइं सिद्धि गयस्स वीरस्स ।  
तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पणा ॥  
रहवीरपुरनगरं दीवगमुज्जाणमज्जकण्हे य ।  
सिवभूइस्सुवहिम्मि पुच्छा थेरण कहणा य ॥  
बोडियसिवभूईओ बोडिर्यालगस्स होइ उप्पत्ती ।  
उवहिविभागं सोउं सिवभूई अज्जकण्हगुरुमूले ।  
जिणकप्पियाइयाणं, भणइ गुरुं कीस नेयाणि ॥  
जिणकप्पोऽणुचरिज्जइ ?

वोच्छिन्नो त्ति भणिए पुणा भणइ ।  
तदसत्तस्सोच्छिज्जउ, वुच्छिज्जइ कि समत्थस्स ?  
....सो बेइ परिग्गहओ कसाय-मुच्छा भयाईया ॥  
गुरुणाऽभिहिओ जइ जं कसायहेऊ परिग्गहो सो ते ।  
तो सो देहो च्चिय ते कसायउप्पत्तिहेउ त्ति ॥

(विभा २५५०-२५५५, २५५८)

परिग्गहसब्भावे कसायमुच्छाभयादयो बहू दोसा, अपरिग्रहत्वं च सुते भणितं । .....एवं सर्वं जथाय निग्गतो । .....तेण य दो सीसा पव्वाविता—कोडिण्णो कोट्टिवीरो य । ततो सीसपसीसाणं परंपरं फासो जातो ।

(आवचू १ पृ ४२८)

वीर-निर्वाण के ६०९ वर्ष व्यतीत होने पर रथवीर-पुर में बोटिक मत की उत्पत्ति हुई ।

रथवीरपुर के दीपक उद्यान में आचार्य कृष्ण के पास शिवभूति ने दीक्षा स्वीकार की । शिवभूति ने गुरु से जिनकल्पी सम्बन्धी उपधि का विवेचन सुनकर पूछा—आजकल इतनी उपधि क्यों रखी जाती है ? आज जिनकल्प को स्वीकार क्यों नहीं किया जा सकता ?

गुरु ने कहा—जिनकल्प का विच्छेद हो गया ।

शिवभूति बोलने—विच्छेद अशक्त व्यक्ति के लिए हुआ है, समर्थ व्यक्ति के लिए नहीं ।

पुनः शिवभूति ने कहा—परिग्रह से ही कषाय, भूच्छा और भय की उत्पत्ति होती है ।

आर्य कृष्ण ने कहा—यदि परिग्रह कषाय का कारण है तब देह भी कषाय की उत्पत्ति का हेतु है, इसलिए उसे भी छोड़ देना चाहिए ।

शिवभूति को आचार्य के कथन पर विश्वास नहीं हुआ । उसने सबकुछ छोड़कर वहाँ से प्रस्थान कर दिया । वह बोटिकमत का प्रवर्तक कहलाया । उसने दो शिष्यों को प्रव्रजित किया—कोडिन्न और कोट्टवीर । शिष्य-प्रशिष्य की परंपरा आगे तक चली ।

### निह्नव

निह्नव	प्रवर्तित मत	उत्पत्ति-स्थान	काल
१. जमाली	बहुरतवाद	श्रावस्ती	भ. महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के १४ वर्ष पश्चात्
२. तिष्यगुप्त	जीवप्रादेशिकवाद	ऋषभपुर	कैवल्य-प्राप्ति के १६ वर्ष पश्चात्
३. आचार्य आषाढ के शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	वीर निर्वाण सं. २१४
४. अश्वमित्र	समुच्छेदवाद	मिथिला	वीर निर्वाण सं. २२०
५. मंग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	वीर निर्वाण सं. २२८
६. रोहमुप्त	त्रैराशिकवाद	अंतरजिका	वीर निर्वाण सं. ५४४
७. गोष्ठामाहिल	अबद्धिकवाद	दशपुर	वीर निर्वाण सं. ५८४

**निह्वनों के वादों का स्वरूप**

**बहुरतवाद**—कार्य की पूर्णता होने पर उसे पूर्ण कहना ।  
**जीवप्रादेशिकवाद**—असंख्यातप्रदेशमय जीव का अन्तिम प्रदेश ही जीव है ।

**अव्यक्तवाद**—कौन साधु ? कौन असाधु ?—निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

**सामुच्छेदिकवाद**—वस्तु उत्पन्न होते ही सर्वथा विनष्ट हो जाती है ।

**द्वैक्रियवाद**—एक समय में दो क्रियाओं की अनुभूति होती है ।

**त्रैराशिकवाद**—जीव, अजीव और नोजीव—ये तीन राशियां हैं ।

**अवद्विकवाद**—कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं, उससे एकीभूत रहते होते ।

(विशेष विवरण के लिए देखें—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २२९९-२६१० ।)

**नील लेश्या**—अप्रशस्ततर भावधारा तथा उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत नील वर्ण वाले पुद्गल । (द्र. लेश्या)

**नैरयिक**—नरकभूमियों में उत्पन्न होने वाले जीव । (द्र. नरक)

**नैवेधिकी**—कार्य से निवृत्त होकर उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'निसीहिया' शब्द का उच्चारण करना । सामाचारी का एक भेद । (द्र. सामाचारी)

**पंडितमरण**—संयमी अवस्था में होने वाली मृत्यु । (द्र. मरण)

**पद्मलेश्या**—प्रशस्ततर भावधारा तथा उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत पीतवर्ण वाले पुद्गल । (द्र. लेश्या)

**परमाणु**—अविभाज्य पुद्गल । (द्र. पुद्गल)

**परिकर्म**—दृष्टिवाद का एक विभाग । दृष्टिवाद के अन्यान्य प्रकारों को ग्रहण करने की योग्यता संपादित करने वाली विधि का ज्ञापक विभाग । (द्र. दृष्टिवाद)

**परिग्रह—धन-धान्य आदि पदार्थ । मूर्च्छा ।**

१. परिग्रह के छह प्रकार

२. परिग्रह के नौ प्रकार

३. बाह्य-आभ्यंतर परिग्रह

४. द्रव्य-भाव परिग्रह

५. परिग्रह अनुप्रेक्षा

६. परिग्रह के परिणाम

\* परिग्रह विरमण

(द्र. महाप्रल)

\* परिग्रह परिमाण व्रत

(द्र. आवक)

**१. परिग्रह के छह प्रकार**

घण्णाणि रयण आवर दुपय चउप्यय तहेव कुवियं च ।  
 ओहेण छविहस्सथो एसो धीरेहि पण्णत्तो ॥  
 (दनि १५३)

परिग्रह के छह प्रकार—

१. धान्य

४. द्विपद

२. रत्न

५. चतुष्पद

३. स्थावर

६. कुप्य ।

**धान्य के प्रकार—**

घण्णाणि चउब्बीसं जव मोधूम सालि वीहि सट्टीया ।  
 कोह्व अणुया कंगू रालग तिल मुग्ग मासा य ॥  
 अतसि हिरिमिय तिउडग,

निष्कावऽलिसिद रायमासा य ।

इक्खू आसुरि तुवरी कुलत्थ तह धन्नग कलाया ॥

(दनि १५५, १५६)

**धान्य के चौबीस प्रकार—**

१. जी

१३. अलसी

२. गेहूं

१४. काला चना

३. शालि चावल

१५. तिउडग—खेसारी

४. ब्रीहि

१६. निष्पाव

५. साठी चावल

१७. मोठ

६. कोदो

१८. राजमाष

७. अणुक

१९. इक्षु

८. कांगणी

२०. लोबिया

९. रालक

२१. अरहर

१०. तिल

२२. कुलथी

११. मूंग

२३. धनिया

१२. उड़द

२४. मटर ।

## रत्न के प्रकार—

रयणाईं चउब्बीसं सुवण्ण तउ तंब रयय लोहाईं ।  
सीसग हिरण्ण पासाण वडर मणि मोत्तिय पवाळं ॥  
संखो तिणिसो अमरु चंदणाणि,

वत्थाऽऽमिलाणि कट्टाणि ।

तह चम्म दंत वाला गंधा वव्वोसहाईं च ॥

(दनि १५७, १५८)

## रत्न के चौबीस प्रकार—

१. स्वर्ण	१३. शंख
२. वपु—कलइ	१४. तिनिसा
३. ताम्र	१५. अमरु
४. चांदी	१६. चंदन
५. लोहा	१७. वस्त्र
६. सीसा—रांगा	१८. अमिला—ऊनी वस्त्र
७. हिरण्य—रुपया	१९. काष्ठ
८. पाषाण—विजातीय रत्न	२०. महिष, सिंह आदि का चर्म
९. वज्र	२१. दंत—हाथी दांत आदि
१०. मणि	२२. चमरी गाय आदि के बाल
११. मुक्ता	२३. गंध—सौमधिक द्रव्य
१२. प्रवाल	२४. द्रव्य—औषधि ।

## स्थावर के प्रकार—

भूमि घरं तरुण्णा तिविहं पुण थावरं मुणेयव्वं ।....  
(दनि १५९)

## स्थावर के तीन प्रकार—

१. भूमि—खेत आदि
२. गृह—१. खात (भूमिगृह आदि)  
२. उच्छ्रित (प्रासाद आदि)  
३. खातोच्छ्रित—भूमिगृह के ऊपर निर्मित प्रासाद
३. तरुण्य—नारियल, आम्र आदि के बगीचे ।

## द्विपद के प्रकार—

...चक्कारवद्ध माणुस्स दुविहं पुण होइ दुपयं तु ॥  
(दनि १५९)

## द्विपद के दो प्रकार—

१. चक्कारवद्ध—दो पट्टियों से चलने वाली गाड़ी, रथ आदि ।
२. मनुष्य—दास, भूतक आदि ।

दुपदं दासीदाससुगसारिगादि । अपदं वाहणरुक्खादि ।  
(आवचू २ पृ २९२)

दासी, दास, शुक, सारिका आदि द्विपद हैं ।  
वाहन, वृक्ष आदि अपद हैं ।

## चतुष्पद के प्रकार

गावी महिती उट्टी अय एलब आस आसतरगा य ।  
घोडग गहह हत्थी चउप्पयं होति दसहा उ ॥  
(दनि १६०)

## चतुष्पद के दस प्रकार—

- |                |                           |
|----------------|---------------------------|
| १. गौ जाति     | ६. अश्व जाति (उत्तम अश्व) |
| २. महिष जाति   | ७. अश्वतर जाति (खच्चर)    |
| ३. उष्ट्र जाति | ८. घोटक जाति              |
| ४. अज जाति     | ९. गर्दभ जाति             |
| ५. भेड़ जाति   | १०. हस्ति जाति ।          |

## कुप्य के प्रकार—

णाणाविहोवकरणं णेगविहं कुप्पलक्खणं होइ ।....  
कुवियं नाम घडघडिउदुंचणियं सयणासणभायणादि  
गिहवित्थारो । (दनि १६१ जिचू पृ २१३)  
कुवियं—घरोवक्खरकणगपारसलोहादीहकडाहमादि-  
णाणाविहं । (आवचू २ पृ २९२)  
कुप्य का अर्थ है—घट, घटी, शयन, आसन, पात्र  
आदि गृहोपकरण ।

.....चउसट्टिविहो विभागेणं ॥ (दनि १५२)

धन्नाणि चउब्बीसं, रयणाणि चउब्बीसं, थावरं  
तिविहं, दुपयं दुविहं, चउप्पयं दसविहं, कुवियं अणेगविहं,  
तं च अणेगविहमवि एगं चैव गणिज्जति, सव्वे ते भेया  
पिडिया चउसट्टी भवन्ति । (दजिचू पृ २११)

चौबीस प्रकार के धान्य, चौबीस प्रकार के रत्न,  
तीन प्रकार के स्थावर, दो प्रकार के द्विपद, दस प्रकार  
के चतुष्पद और कुप्य—इस प्रकार अर्थ के कुल चौंसठ  
प्रकार हैं ।

## २. परिग्रह के नौ प्रकार

परिग्रहे दुविहे—सचित्ते अचित्ते य । विभागतो  
पुण णेगविहो—धणधन्नखेतवत्थुरुप्पसुवण्णकुवित्तदुपदादि-  
भेदेण । (आवचू २ पृ २९२)

## परिग्रह के दो प्रकार—

१. सचित्त—द्विपद, चतुष्पद आदि ।

२. अचित्त — रत्न, वस्त्र आदि ।

अथवा परिग्रह के नौ प्रकार हैं—

धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, रुप्य, स्वर्ण, कुप्य,  
द्विपद और चतुष्पद ।

धर्म-भंड । तं चउव्विहं—गणिमं धरिमं मेज्जं परि-  
छेज्जं । तत्थ गणिमं पूगफलादि । धरिमं मंजिष्ठादि ।  
मेज्जं लक्खायततेरुलादि । पारिच्छेज्जं परीक्ष्य मूलतः  
परिच्छिज्जते तच्च मणिपच्चहीरकादि ।

(आवचू २ पृ २९२)

धन के चार प्रकार—

१. गणिम—गिनने योग्य । सुपारी, नारियल  
आदि ।
२. धरिम—तोलने योग्य । मजीठ आदि ।
३. मेय—मापने योग्य । लक्षपाक तैल, घृत आदि ।
४. परिच्छेद—परीक्षण करने योग्य । मणि, पद्म,  
हीरक आदि ।

### ३. बाह्य-आभ्यंतर परिग्रह

दुविहो य होइ गंधो वज्झो अंभितरो य नायव्वो ।

अंतो य चउदसविहो दसहा पुण बाहिरो गंधो ॥

(उनि २४०)

ग्रन्थ (परिग्रह) के दो प्रकार हैं—बाह्य और  
आभ्यंतर । बाह्य ग्रन्थ के दस प्रकार और आभ्यंतर ग्रन्थ  
के चौदह प्रकार हैं ।

#### बाह्यग्रन्थ के प्रकार

खेसं वत्थू धणधन्नसंचओ मित्तनाइसंजोगो ।

जाणसयणासणाणि अ दासीदासं च कुवियं च ॥

(उनि २४२)

बाह्यग्रन्थ के दस प्रकार—

- |                        |             |
|------------------------|-------------|
| १. क्षेत्र             | ६. यान      |
| २. वास्तु              | ७. शयन      |
| ३. धन                  | ८. आसन      |
| ४. धान्य               | ९. दास-दासी |
| ५. ज्ञातिजनों का संयोग | १०. कुप्य । |

#### आभ्यंतर ग्रन्थ के प्रकार

कोहो माणो माया लोभे पिज्जे तहेव दोसे य ।

मिच्छस वेअ अरइ रइ हास सोमे भय दुग्गुच्छा ॥

(उनि २४१)

आभ्यन्तर ग्रन्थ के चौदह प्रकार—

- |              |                |
|--------------|----------------|
| १. क्रोध     | ८. वेद         |
| २. मान       | ९. अरति        |
| ३. माया      | १०. रति        |
| ४. लोभ       | ११. हास्य      |
| ५. राग       | १२. शोक        |
| ६. द्वेष     | १३. भय         |
| ७. मिथ्यात्व | १४. जुगुप्सा । |

### ४. द्रव्य-भाव परिग्रह

.....दव्वत्थो हिरण्णादी ।

भावत्थो दुविहो —पसत्थो अपसत्थो य । पसत्थो  
नाण-वंसण-चरित्ताणि । अपसत्थो अण्णाण-अविरति-  
मिच्छत्ताणि ।

(दअचू पृ १४०)

स्वर्ण, रजत आदि द्रव्य अर्थ कहलाते हैं ।

भाव अर्थ के दो प्रकार हैं—

१. प्रशस्त—ज्ञान, दर्शन, चारित्र ।
२. अप्रस्त—अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व ।

### ५. परिग्रह अनुप्रेक्षा

जह अप्पो लोभो जध जध अत्पो परिग्गहारंभो ।

तह तह सुहं पवड्ढति धम्मस्स य होति संसिद्धी ॥

धन्ना परिग्गहं उज्झिक्कण मूलमिह सव्वपावाणं ।

धम्मचरणं पवन्ना मणण एवं विचित्तेज्जा ॥

(आवचू २ पृ २९४)

जैसे-जैसे लोभ, परिग्रह और आरम्भ अल्प होते हैं,  
वैसे-वैसे सुख बढ़ता है तथा धर्म की संसिद्धि होती है ।

समस्त पापों के मूल परिग्रह को छोड़कर जो  
धर्म का आचरण करते हैं, वे धन्य हैं ।

### ६. परिग्रह के परिणाम

मोहाययणं मयकाभवद्धणो जणियचित्तसंतावो ।

आरम्भकलहहेऊ, दुक्खाण परिग्गहो मूलं ॥

(उसुवू प ८३)

परिग्रह मोह का आयतन, अहंकार और काम-  
वासना को बढ़ाने वाला, चित्त में संताप पैदा करने  
वाला, हिंसा और कलह का हेतु तथा दुःखों का मूल है ।

वित्तेण त णं न लभे पमत्ते, इमंमि लोणं अदुवा परत्था ।  
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेआउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

(उ ४/५)

प्रमत्त मनुष्य इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण नहीं पाता। अन्धेरी गुफा में जिसका दीप बुझ गया हो, उसकी भांति अनन्त मोह वाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नहीं देखता।

**परिवर्तना**—परिचित श्रुत को स्थिर रखने के लिए उसको बार-बार दोहराना।  
स्वाध्याय का एक भेद।

(द्र. स्वाध्याय)

**परिषद्**—जिज्ञासुओं अथवा श्रोताओं का समुदाय।

१. परिषद् के प्रकार

२. वाचनायोग्य परिषद्

३. योग्य-अयोग्य श्रोता : मुद्गशैल आदि दृष्टान्त

४. प्रत्याख्यान और श्रुतग्रहण योग्य परिषद्

\* अयोग्य को वाचना देने से हानि (द्र. शिक्षा)

\* तीर्थंकरों की परिषद् (द्र. समवसरण)

### १. परिषद् के प्रकार

सा समासओ तिविहा पणत्ता, तं जहा—जाणिया, अजाणिया, दुव्वियड्ढा।

खीरमिव जहा हंसा जे घुटंति इह गुरुगुणसमिद्धा।

दोसे अविवज्जंती तं जाणसु जाणिअं परिसं ॥

जा होइ पगइमहरा मियच्छावयसीहकुक्कुडयभूआ।

रयणमिव असंठविआ अजाणिआ सा भवे परिसा ॥

न य कत्थइ निम्माओ न य पुच्छइ परिभवस्स दोसेण।

वत्थिज्ज वायपुण्णो फुट्टइ गामित्तयविअड्ढो ॥

(नन्दीमवृ प ६३, ६४)

परिषद् के तीन प्रकार—

#### १. ज्ञा परिषद्

जो हंस की तरह क्षीर-नीर-निर्णायक बुद्धि से सम्पन्न है, महान् गुणों से समृद्ध है, दोषों का परिहार करने वाली है, वह ज्ञा परिषद् है।

#### २. अज्ञा परिषद्

जो प्रकृति से मधुर—भद्र है, जिसमें मृगशावक, सिंहशावक और कुक्कुटशावक जैसा भोलापन है, जो असंस्कारित जात्यरत्नों की तरह अन्तर्गुण से समृद्ध है, वह अज्ञा परिषद् है।

### ३. दुर्विदग्धा परिषद्

जो नैपुण्य के अहं के कारण किसी भी विषय को कहने में समर्थ नहीं होती, अपने पराभव के भय से गुरु से प्रश्न नहीं पूछती, हवा से भरी हुई मशक की तरह जो अपने ज्ञान के अहं में फूली नहीं समाती, वह दुर्विदग्धा परिषद् है।

### २. वाचनायोग्य परिषद्

नाणपरुवणज्झयणं अरिहस्स देज्जति, णो अणरिहस्स देज्जइ। (नन्दीचू पृ १२)

तिसृणां पर्वदां मध्ये आद्ये द्वे पर्वदावनुयोगयोग्ये, तृतीया त्वयोग्या। आद्ये एव द्वे अधिकृत्यानुयोगः प्रारंभणीयो, न तु दुर्विदग्धा, मा भूदाचार्यस्य निष्फलः परिश्रमः। (नन्दीमवृ प ६४)

योग्य शिष्य को वाचना दी जाती है, अयोग्य को नहीं। तीन परिषदों में से प्रथम दो—ज्ञा और अज्ञा परिषदें वाचना के योग्य हैं। तीसरी 'दुर्विदग्धा' परिषद् वाचना के अयोग्य है। इसे वाचना देने वाले आचार्य का परिश्रम व्यर्थ चला जाता है।

### ३. योग्य-अयोग्य श्रोता

सेल घण कुडम चालणि परिपूणग हंस महिस मेसे य।

मसग जलूग विराली जाहग गो भेरि आभीरी ॥

(नन्दी गाथा ४४)

मुद्गशैल, घन, घट, चालनी, परिपूणक (बया का घोंसला), हंस, महिष, मेष, मशक, जलौका, बिल्ली, जाहक (भावा), गौ, भेरी और आभीरी—इस प्रकार श्रोता अनेक प्रकार के होते हैं।

### मुद्गशैल और घन का दृष्टान्त

उल्लेऊण न सक्को गज्जइ इय मुग्गसेलओऽरन्ने।

तं संवट्टयमेहो गंतुं तस्सोपरि पडइ ॥

रविउ त्ति ठिओ मेहो,

उल्लोऽमिह न व त्ति गज्जइ य सेलो।

सेलसमं गाहिस्सं निव्विज्जइ गाहगो एवं ॥

वुट्ठे वि दोणमेहे न कण्होमाओ लोठए उदयं।

गहण-धरणासमत्थे इय देयमच्छित्तिकारिम्मि ॥

(विभा १४५५, १४५६, १४५८)

एक जंगल में पर्वत के समीपवर्ती प्रदेश में मुद्गशैल—गोल और चिकना पाषाण-खंड था। उसने

महामेघ संवर्तक से कहा—मुझे कोई भी जल से आर्द्र नहीं कर सकता। उसकी चुनौती स्वीकार कर संवर्तक मेघ सात अहोरात्र तक निरन्तर बरसता रहा। 'अब मुद्गशैल खंड-खंड हो गया होगा'—यह सोच मेघ ने बरसना बन्द कर दिया, किन्तु देखने पर पता चला कि वह तो तिलतुषमात्र भी खंडित नहीं हुआ है और गीला भी नहीं हुआ है।

मुद्गशैल की श्रेणी का शिष्य अथवा श्रोता आचार्य से एक अक्षर का ज्ञान भी ग्रहण नहीं कर सकता। आचार्य के सैकड़ों वचनों से भी उसके चित्त का भेदन नहीं हो सकता, प्रत्युत आचार्य को खेदखिन्न ही होना पड़ता है।

इसके विपरीत जो शिष्य या श्रोता कृष्णभूमि के समान होता है, वह गुरु के एक भी वचन को व्यर्थ नहीं जाने देता। सूत्र और अर्थ के ग्रहण-धारण में कुशल वह शिष्य श्रुतपरम्परा को अविच्छिन्न रखता है।

कृष्णभूमि इतनी ग्रहणशील होती है कि वह द्रोण-मेघ की एक भी बूंद को व्यर्थ नहीं जाने देती, सम्पूर्ण जल को सोख लेती है। जिसकी धारा से बड़ी कलशी भर जाती है, वह द्रोणमेघ कहलाता है।

### घट का दृष्टांत

....छिद्रकुड-भिन्न-खंडे सगले य परुवणा तेसि ॥

(विभा १४६२)

चार प्रकार के घड़े होते हैं—

१. सच्छिद्र कुट—जिस घड़े के तल में छिद्र होता है, उसमें जितना जल डाला जाता है, सारा का सारा निकल जाता है।
२. भिन्न कुट—जो घड़ा पेट से फूटा हुआ, दरारयुक्त होता है, उसमें डाला हुआ जल कुछ सुरक्षित रह जाता है और शेष बह जाता है।
३. खंडित कुट—जो घड़ा किनारों से फूटा हुआ होता है, उसमें काफी जल बचा रहता है, थोड़ा सा बह जाता है।
४. सकल कुट—जो घट परिपूर्ण होता है, उसमें डाला गया जल सारा सुरक्षित रहता है।

इसी प्रकार चार प्रकार के श्रोता या शिष्य होते हैं। प्रथम कोटि का शिष्य इस कान से सुनता है, उस कान से निकाल देता है। दूसरी कोटि का शिष्य थोड़ा ग्रहण करता है और अधिक को विस्मृत कर देता है। तीसरी

कोटि का शिष्य थोड़ा भूलता है और अधिक याद रखता है। चौथी कोटि का शिष्य अक्षर, मात्रा और बिन्दु की भी विस्मृति नहीं होने देता, सम्पूर्ण श्रुत को ग्रहण-धारण करने में समर्थ होता है।

### चालनी और तापसपात्र का दृष्टांत

एणेण विसइ बीएण नीइ कन्नेण चालणी आह ।....

तावसखउरकठिनयं चालणिपडिवक्खो

न सबइ दवं पि ।....

(विभा १४६४, १४६५)

चालनी जब तक जल में रहती है, भरी हुई रहती है, बाहर निकालते ही पूरी खाली हो जाती है। उसमें डाला गया पानी टिकता नहीं, निकल जाता है। इस कोटि का शिष्य गुरु के एक भी वचन को अवधारित नहीं कर पाता।

तापसपात्र (खउरकठिनक) अत्यन्त सघन होता है, उसमें डाला गया जल किंचित् भी रुवित नहीं होता। इस कोटि का शिष्य आचार्य के प्रत्येक वचन को अवधारित कर लेता है।

### परिपूर्णक और हंस का दृष्टांत

....परिपूर्णगम्मि उ गुणा गलंति दोसा य च्छिट्ठंति ॥

अंबत्तणेण जीहाए क्चिया होइ खीरमुद्गम्मि ।

हंसो मुत्तूण जलं आवियइ पयं तह सुसीसो ॥

(विभा १४६५, १४६७)

परिपूर्णक (सुधरी—बया के घोंसले) में घृत आदि को छाना जाता है तो कचरा उसमें रह जाता है, सार पदार्थ नीचे झर जाता है। इस कोटि का शिष्य अपनी अपात्रता के कारण श्रुत में से दोषों को ग्रहण करता है, गुणों को छोड़ देता है।

हंस की जीभ में अम्लता होती है। वह ज्यों ही अपनी चोंच दुग्धपात्र में डालता है, अम्लता के कारण दूध फट जाता है, पानी एक ओर हो जाता है और दूध छँने के रूप में एक ओर हो जाता है। वह पानी को छोड़कर छँना खा लेता है। इस कोटि के शिष्य दोषों को छोड़, गुणों को ग्रहण कर लेते हैं।

### महिष और मेघ का दृष्टांत

सयमवि न पियइ महिसो न य जूहं पियइ लोडियं उदयं ।  
विग्गहविग्गहाहि तहा अयक्कपुच्छाहि य कुसीसो ॥

अवि गोपयस्मि वि पिबे सुद्धिओ तणुयत्तणेण तुंडस्स ।  
न करेइ कलुस तोयं मेसो एवं सुसीसो वि ॥  
(विभा १४६८, १४६९)

महिष जब किसी जलाशय में पानी पीने के लिए उतरता है तब वह आलोडन-विलोडन कर सारे पानी को कलुषित कर देता है। उस पानी को न तो वह स्वयं पी सकता है और न दूसरे महिष ही पी सकते हैं। इसी प्रकार कुशिष्य व्याख्यामंडली में बैठकर विग्रह-विकथा करता है, असंबद्ध प्रश्न करता है, इससे वह स्वयं भी लाभ से वंचित रहता है, दूसरों के भी बाधा उपस्थित करता है।

मेष थोड़े से जल वाले जलाशय में, एक किनारे से धीरे-धीरे जल पीता है, पानी को कलुषित नहीं करता। इसी प्रकार सुशिष्य शांतभाव से गुरु के पास श्रुत ग्रहण करता है और परिषद् में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करता।

#### मशक और जलौका का दृष्टांत

मसउ व्व तुदं जच्चाइएहि निच्छुब्भए कुसीसो वि ।  
जलुगा व अदूमंतो पिबइ सुसीसो वि सुयनाणं ॥  
(विभा १४७०)

मच्छर शरीर को व्यथित करता है, तब उसे उड़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार कुशिष्य जाति आदि से संबंधित दोष उद्घाटित कर अपने गुरु को व्यथित करता है, तब उसे मण्डली से निष्काशित कर दिया जाता है।

जलौका शरीर से खून पीती है, पर उसे पीड़ित नहीं करती। इसी प्रकार सुशिष्य गुरु को व्यथित किये बिना श्रुतज्ञान का पान करता है।

#### मार्जारी और जाहक का दृष्टांत

छड्डेउं भूमिए खीरं जह पियइ दुट्टमज्जारी ।  
परिसुट्टियाण पासे सिक्खइ एवं विणयभंसी ॥  
पाउं थोवं थोवं खीरं पासाइं जाहमो लिहइ ।  
एमेव जियं काउं पुच्छइ मइमं न खेएइ ॥  
(विभा १४७१, १४७२)

दुष्ट बिल्ली किसी पात्र में से सीधा दूध नहीं पीती। वह पहले उसे नीचे गिराती है, फिर पीती है। इसी प्रकार कुशिष्य अपनी अस्मिता के कारण गुरु के पास वाचना नहीं लेता, किंतु वाचनापरिषद् की सम्पन्नता के पश्चात् अन्य शिष्य से श्रुत ग्रहण करता है।

जाहक (सैला) पात्र में से दूध पीते समय थोड़ा-थोड़ा पीकर उसके किनारे चाटता रहता है, इससे दूध की एक भी बूंद नीचे नहीं गिरती। इसी प्रकार मतिमान् शिष्य गुरु के पास श्रुत ग्रहण कर पहले उसे परिचित और स्थिर करता है, फिर नया श्रुत ग्रहण करता है। वह सम्पूर्ण श्रुतग्रहण पर्यंत यही क्रम चालू रखता है और गुरु को भी क्लान्त नहीं करता।

#### गौ का दृष्टांत

अन्नो दोज्झइ कल्ले निरत्थियं कि व्हामि से चारिं ।  
चउचरणगवी उ मया अवन्न-हाणी य बहुयाणं ॥  
मा मे होज्ज अवण्णो गोवज्झा वा पुणो वि न दविज्जा ।  
वयमवि दोज्झामो पुणो अणुग्गहो अन्नदुद्धे वि ॥  
(विभा १४७३, १४७४)

चार ब्राह्मणों को गाय दान में मिली। चारों ने बारी-बारी से गाय की रक्षा का भार लिया। पहले ब्राह्मण ने गाय को दुहा और चारा डालते समय सोचा — 'कल गाय को ले जाने वाला ब्राह्मण चारा डालेगा ही। मैं नहीं डालूंगा तो क्या होगा? चारों ने ऐसा ही सोचा। क्रम चलता रहा और चारे के अभाव में गाय मर गई। चारों का लोगों में अवर्णवाद हुआ और गो-हत्या का पाप लगा।

दूसरे चार ब्राह्मणों को गाय दान में मिली। उन चारों ने गाय की सार-संभाल की और लम्बे समय तक उसके दूध का लाभ उठाते रहे। वे गोहत्या के पाप से बच गए और लोगों में उनकी प्रशंसा हुई।

इसी प्रकार अयोग्य शिष्य प्रथम चार ब्राह्मणों की भांति सूत्रार्थ के लाभ से वंचित रह जाते हैं और अपकीर्ति के पात्र बनते हैं। योग्य शिष्य दूसरे चार ब्राह्मणों की भांति गुरु की सम्यग् परिचर्या कर सूत्रार्थ से सम्पन्न हो जाते हैं।

#### भेरी का दृष्टांत

जो सीसो सुत्तस्थं चंदणकंथं व परमयाईंहि ।  
मीसेइ गलियमहवा सिक्खियमाणेण स न जोग्गो ॥  
(विभा १४३८)

वासुदेव के पास गोशीर्षचंदन की एक भेरी थी। उसको छह महीनों में एक बार बजाया जाता। जिस-जिसको उसका शब्द सुनाई देता, उसका उपद्रव भिट



जाता। एक बार भेरी-रक्षक ने धन के लोभ से भेरी के अंश को बेच डाला और दूसरे चंदन के टुकड़े से उस पर पेबंद लगादी। अब उस भेरी का शब्द अप्रभावी हो गया।

इसी प्रकार कुशिष्य सूत्र और अर्थ को परमत के अर्थों से मिश्रित कर उसे विकृत कर डालता है। कुशिष्य अनुयोग को यथावत् सुरक्षित रखता है।

### आभीरी का दृष्टांत

मुक्कं तथा अग्रहिए दुपरिग्महियं कयं तथा कलहो ।  
पिट्टण-अइचिरविककय गएसु चोरा य ऊणग्घे ॥  
भा निणह्व इय दाउं उवजुज्जिय देहि कि विंचित्तेसि ।  
वच्चाभेलियदाणे किलिस्ससी तं च हं नेव ॥

(विभा १४८०, १४८१)

अहीर पति-पत्नी भी बेचने नगर में गये। असावधानी के कारण घी का एक घड़ा फूट गया। अहीर दंपती में कलह हुआ। पति-पत्नी एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाने लगे। घी की विक्रय बेला बीत गई। घी को कम मूल्य में बेचकर जब वे घर लौटने लगे तब रात्रि में चोरों ने उन्हें लूट लिया।

इसी प्रकार कुशिष्य अपने गुरु पर सूत्रार्थ विषयक मिथ्या आरोप लगाता है और पूछने पर कहता है—गुरु ने मुझे इसका अर्थ यही बताया था। इस स्थिति में गुरु और शिष्य—दोनों क्लेश पाते हैं।

इसके प्रतिपक्ष में घी का घड़ा फूट जाने पर अहीर और अहीरी ने अपना ही प्रमाद माना। कलह नहीं हुआ। समय पर घी बिक गया। बहुत लाभ हुआ।

इसी प्रकार गुरु-शिष्य एक दूसरे पर आरोप-प्रत्या-रोप न कर, एक दूसरे के प्रमाद की अवगणना करते हुए बर्ताव करते हैं तो विवाद नहीं होता, क्लेश नहीं होता।

### ४. प्रत्यास्थान और श्रुतग्रहण योग्य परिषद्

सोउं उवट्टियाए विणीयवक्खित्तदुवउत्ताए ।

एवंविहपरिसाए पच्चक्खाणं कहेयव्वं ॥

(आवनि १६१८)

उवठियसम्मोवट्टियभावितविणया य होइ वक्खित्ता ।

उवउत्तिगा य जोग्गा सेस अजोग्गातो तेवट्टि ॥

एतं पच्चक्खाणं पढमपरिसाए कहेज्जति, तव्वतिरि-

त्ताए ण कहेतव्वं, ण केवलं पच्चक्खाणं सव्वमवि आव-  
स्सयं सव्वमवि सुयणाणं । (आवहावृ २ पृ २४८)

परिषद् (श्रोता) के अनेक प्रकार हैं—उपस्थित-  
अनुपस्थित, सम्यग् उपस्थित-मिथ्या उपस्थित, भावित-  
अभावित, विनीत-अविनीत, व्याक्षिप्त-अव्याक्षिप्त,  
उपयुक्त-अनुपयुक्त। इनको परस्पर संयुक्त-वियुक्त करने  
पर चौसठ विकल्प बनते हैं। उनमें पहला विकल्प है—

उपस्थित, सम्यक् उपस्थित, भावित, विनीत, अव्या-  
क्षिप्त और उपयुक्त (दत्तचित्त)—यह प्रथम परिषद् ही  
प्रत्याख्यान, आवश्यक सूत्र अथवा सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को  
ग्रहण करने के योग्य है, शेष तिरसठ प्रकार की परिषद्  
अयोग्य है।

**परिहारविशुद्धि**—‘परिहार’ तप की विशिष्ट  
साधना का उपक्रम। चारित्र  
का एक प्रकार।

(द्र. चारित्र)

### परीत—सीमाकरण।

परीत्ताः—प्रत्येकशरीरिणः परीत्तीकृतसंसारा वा ।

(आवमवृ प ४२)

परीत के दो अर्थ हैं—प्रत्येकशरीरी और परीत  
संसारी।

### परीत संसारी

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेति भावेण ।

अमला असंकलिट्ठा, ते होति परित्तसंसारी ॥

(उ ३६/२६०)

जो जिनवचन में अनुरक्त हैं तथा जिनवचनों का  
भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंकलिष्ट  
होकर परीत-संसारी (अल्प जन्म-मरण वाले) हो जाते  
हैं।

परितः—समस्तदेवादिभावाल्पतापादनेन समन्तात्  
खण्डितः परिमित इति यावत् स चासौ संसारश्च स विद्यते  
येषां तेऽपि परीतसंसारिणः—कतिपयभवाभ्यन्तरमुक्ति-  
भाजः । (उशावृ प ७०८)

जिसने देव, मनुष्य आदि भवों को सीमित कर दिया  
है, वह परीत संसारी कहलाता है। कतिपय भवग्रहण के  
पश्चात् वह मुक्त हो जाता है।

**अपरीत संसारी**

अपरीतास्तु साधारणशरीरिणोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्ता-  
दच्युपरिसंसारा वा । (आवमवृ प ४२)

साधारणशरीरी (अनन्तकायिक वनस्पति) जीव  
अपरीत कहलाते हैं। अथवा जिनका संसार—भवभ्रमण  
अपार्द्धपुद्गलपरावर्त्त से भी अधिक अवशेष है, वे जीव  
अपरीत हैं।

**परीषह**—मुनि जीवन में आने वाले क्षुधा आदि  
कष्ट ।

१. परीषह का निर्वचन
२. परीषह का प्रयोजन
३. परीषह के प्रकार
४. परीषह और कर्म-विपाक
५. परीषह और गुणस्थान
६. एक साथ कितने परीषह ?
७. परीषहप्रविभक्ति अध्ययन का उत्स
८. परीषह और नय-निक्षेप
  - ० परीषह-कालमान
  - ० द्रव्य परीषह : भाव परीषह

**१. परीषह का निर्वचन**

परीति—समन्तात् स्वहेतुभिश्चदीरिता मार्गाच्यवन-  
निर्जरार्थं साध्वादिभिः सह्यन्त इति परीषहाः ।

(उशावृ प ७२)

जो कष्ट मार्ग से अविच्युति और निर्जरा के लिए  
साधु-साध्वियों द्वारा सहे जाते हैं, वे परीषह हैं। क्षुधा  
आदि परीषह अपने-अपने हेतुओं से उदीरित होते हैं।

**२. परीषह का प्रयोजन**

परिसोढ्वा जइणा मग्गाविच्चुइ-विणिज्जराहेऊ ।

जुत्ता परीसहा ते खुहादओ होंति बावीसं ॥

(विभा ३००४)

परीषह सहने के दो प्रयोजन हैं—

१. मार्गाच्यवन—स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के  
लिए ।

२. निर्जरा—कर्मों को क्षीण करने के लिए ।

(बाईस परीषहों में दर्शन-परीषह और प्रज्ञा-परीषह

—ये दो परीषह मार्ग से अच्यवन में सहायक होते हैं और

शेष बीस परीषह निर्जरा के लिए होते हैं।—तत्र  
मार्गाच्यवनार्थं दर्शनपरीषहः प्रज्ञापरीषहश्च, शेषा  
विंशतिर्निर्जरार्थम् । प्रवचनसारोद्धार पत्र १९२)

**३. परीषह के प्रकार**

१. दिग्मिच्छापरीषहे २. पिवासापरीषहे ३. सीय-  
परीषहे ४. उसिणपरीषहे ५. दंसमसयपरीषहे  
६. अचेलपरीषहे ७ अरइपरीषहे ८. इत्थीपरीषहे  
९. चरियापरीषहे १०. नितीहिआपरीषहे ११. सेज्जा-  
परीषहे १२. अक्कोसपरीषहे १३. बहपरीषहे  
१४. जायणापरीषहे १५. अलाभपरीषहे १६. रोग-  
परीषहे १७. तणफासपरीषहे १८. जल्लपरीषहे  
१९. सत्कारपुरस्कारपरीषहे २०. पन्नापरीषहे  
२१. अन्नाणपरीषहे २२. दंसणपरीषहे । (उ २/सूत्र ३)

**परीषह बाईस हैं—**

- |                   |                           |
|-------------------|---------------------------|
| १. क्षुधा परीषह   | १३. वध परीषह              |
| २. पिवासा परीषह   | १४. याचना परीषह           |
| ३. शीत परीषह      | १५. अलाभ परीषह            |
| ४. उष्ण परीषह     | १६. रोग परीषह             |
| ५. दंसमशक परीषह   | १७. तृष्ण-स्पर्श परीषह    |
| ६. अचेल परीषह     | १८. आक्रोश परीषह          |
| ७. अरति परीषह     | १९. जल्ल परीषह            |
| ८. स्त्री परीषह   | १९. सत्कार-पुरस्कार परीषह |
| ९. चर्या परीषह    | २०. प्रज्ञा परीषह         |
| १०. निषद्या परीषह | २१. अज्ञान परीषह          |
| ११. शय्या परीषह   | २२. दर्शन परीषह ।         |

परीषह के दो विभाग हैं—

१. शीत -मन्द परिणाम वाले । शीत परीषह और  
सत्कार परीषह—ये दो अनुकूल परीषह हैं ।

२. उष्ण—तीव्र परिणाम वाले । शेष बीस प्रतिकूल  
परीषह हैं । (देखें—आचारांगनिर्युक्ति २०२, २०३)

**क्षुधा परीषह**

दिग्मिच्छापरिणए देहे, तवस्सी भिक्खु थामव ।

न छिदे न छिदावए, न एए न पयावए ॥

कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए ।

मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥

(उ २।२, ३)

देह में क्षुधा व्याप्त होने पर तपस्वी और प्राणवान्

भिक्षु फल आदि का छेदन न करे, न कराए। उन्हें न पकाए और न पकवाए।

शरीर के अंग भूख से सूखकर काकजंघा नामक तृण जैसे दुर्बल हो जाएं, शरीर कृश हो जाए, धमनियों का ढांचा भर रह जाए तो भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु अदीनभाव से विहरण करे।

दिगिच्छा—देशीपरिभाषया बुभुक्षा, सैवात्यन्तव्याकुलताहेतुरप्यसंयमभीरुतया आहारपाकप्रासुकानेषणीय-भुक्तिवाञ्छाविनिवर्तनेन परि—समन्तात् सह्यत इति परीषहो दिगिच्छापरीषहः। (उसुवृ प १७)

क्षुधा अत्यन्त व्याकुलता का हेतु है, फिर भी मुनि असंयमभीरु होता है, अतः वह आहार का पचन-पाचन, अनेषणीय आहार आदि की इच्छा का विनिवर्तन कर भूख को सहन करता है—यह क्षुधा परीषह है।

### पिपासा परीषह

तओ पुट्टो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए ।  
सीआंदगं न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे ॥  
छिन्नावाएसु पथेसु, आउरे सुपिवासिए ।  
परिसुक्कमुहेऽदीणे, तं तितिकखे परीसहं ॥  
(उ २।४,५)

अहिंसक या करुणाशील, लज्जावान् संयमी साधु प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त पानी का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करे। निर्जन मार्ग में जाते समय प्यास से अत्यन्त आकुल हो जाने पर, मुंह सूख जाने पर भी साधु अदीनभाव से प्यास के परीषह को सहन करे।

### शीत परीषह

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।  
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चाणं जिणसासणं ॥  
न मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जई ।  
अहं तु अंगि सेवामि, इइ भिक्खू न चितए ॥  
(उ. २।६,७)

विचरते हुए विरत और रूक्ष शरीर वाले साधु को शीत ऋतु में सर्दी सताती है। फिर भी वह जिन-शासन को सुनकर (आगम के उपदेश को ध्यान में रखकर) स्वाध्याय आदि की बेला (मर्यादा) का अतिक्रमण न करे।

शीत से प्रताड़ित होने पर मुनि ऐसा न सोचे— मेरे पास शीत-निवारक घर आदि नहीं हैं और छवित्ताण (वस्त्र, कम्बल आदि) भी नहीं हैं, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूं।

### उष्ण परीषह

उसिणपरियावेणं, परिदाहेण तज्जिए ।  
धिसु वा परियावेणं, सायं नो परिदेवए ॥  
उण्हाहितत्ते मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए ।  
गायं नो परिसिचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं ॥  
(उ २।८,९)

गर्म धूलि आदि के परिताप, स्वेद, मैल या प्यास के दाह अथवा ग्रीष्मकालीन सूर्य के परिताप से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी मुनि सुख के लिए विलाप न करे—आकुल-व्याकुल न बने। गर्मी से अभितप्त होने पर भी मेधावी मुनि स्नान की इच्छा न करे। शरीर को गीला न करे। पंखे से शरीर पर हवा न ले।

### दंशमशक परीषह

पुट्टो य दंसमसएहि, समरेव महामुणी ।  
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ॥  
न संतसे न वारेज्जा, मणं पि न पओसए ।  
उवेहे न हणे पाणे, भुंजते मंससोगियं ॥  
(उ २।१०,११)

डांस और मच्छरों का उपद्रव होने पर भी महामुनि समभाव में रहे, क्रोध आदि का वैसे ही दमन करे जैसे युद्ध के अग्रभाग में रहा हुआ शूर हाथी बाणों को नहीं गिनता हुआ शत्रुओं का हनन करता है।

भिक्षु उन दंशमशकों से संव्रस्त न हो, उन्हें हटाए नहीं। मन में भी उनके प्रति द्वेष न लाए। मांस और रक्त खाने-पीने पर भी उनकी उपेक्षा करे, किन्तु उनका हनन न करे।

### अचेल परीषह

परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामि ति अचेलए ।  
अदुवा सचेलए होक्खं, इइ भिक्खू न चितए ॥  
एगया चेलए होइ, सचेले यावि एगया ।  
एयं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥  
(उ २।१२,१३)

वस्त्र फट गए हैं इसलिए मैं अचेल हो जाऊंगा अथवा वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेल हो जाऊंगा—

मुनि ऐसा न सोचे । (दीनता और हर्ष दोनों प्रकार का भाव न लाए ।)

जिनकल्प-दशा में अथवा वस्त्र न मिलने पर मुनि अचेलक भी होता है और स्थविरकल्प-दशा में वह सचेलक भी होता है । अवस्था भेद के अनुसार इन दोनों को यत्ति-धर्म के लिए हितकर जानकर ज्ञानी मुनि वस्त्र न मिलने पर दीन न बने ।

जिनकल्पप्रतिपत्तौ स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन सति वा चेले विना वर्षादि-निमित्तमप्रावरणेन जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलक इति अवस्त्रोऽपि भवति । (उशावृ प १२,१३)

अचेल-परीषद् जिनकल्पी मुनियों के लिए तथा ऐसे स्थविरकल्पी मुनियों के लिए ग्राह्य है जिन्हें वस्त्र मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जिनके पास वस्त्रों का अभाव है, जिनके वस्त्र जीर्ण हो गये हैं अथवा जो वर्षा आदि के बिना वस्त्र-धारण नहीं कर सकते ।

अचेलता के परिणाम ।

(द्र. शासनभेद)

अरति परीषद्

गामाणुगामं रीयंतं अणमारं अकिंचनं ।  
अरई अणुप्पविसे, तं तित्तिक्खे परीसहं ॥  
अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ।  
धम्मारामे निरारम्भे, उवसंते मुणी चरे ॥

(उ २।१४,१५)

एक गांव से दूसरे गांव में विहार करते हुए अकिंचन मुनि के चित्त में अरति उत्पन्न हो जाए तो उस परीषद् को वह सहन करे । हिंसा आदि से विरत रहने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, धर्म में रमण करने वाला, असत् प्रवृत्ति से दूर रहने वाला उपशान्त मुनि अरति को दूर कर विहरण करे ।

रमणं रतिः—संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरतिः, सैव परीषद्: अरतिपरीषद्: । (उशावृ प ८२)

संयम में धृति रखना रति है और अधृति रखना अरति है । यही परीषद् है ।

स्त्री परीषद्

संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोमि इत्थिओ ।  
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामणं ॥  
एवमादाय मेहावी, पंकभूया उ इत्थिओ ।  
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए ॥

(उ २।१६,१७)

‘लोक में जो स्त्रियां हैं, वे मनुष्यों के लिए संग हैं—लेप हैं’—जो इस बात को जान लेता है, उसके लिए श्रामण्य सुकर है ।

‘स्त्रियां ब्रह्मचारी के लिए दलदल के समान हैं’—यह जानकर मेधावी मुनि उनसे अपने संयम-जीवन की घात न होने दे, किन्तु आत्मा की गवेषणा करता हुआ विचरण करे ।

चर्या परीषद्

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।  
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥  
असमाणो चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं ।  
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥

(उ २।१८,१९)

संयम के लिए जीवन निर्वाह करने वाला मुनि परीषद्को जो जीतकर गांव में या नगर में, निगम में या राजधानी में अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) विचरण करे ।

मुनि एक स्थान पर आश्रम बनाकर न बैठे, किंतु विचरण करता रहे । गांव आदि के साथ ममत्व न करे, उनसे प्रतिबद्ध न हो । गृहस्थों से निर्लिप्त रहे । अनिकेत (गृहभुक्त) रहता हुआ परिव्रजन करे ।

न विद्यते समानोऽस्य गृहिण्याश्रयामूर्च्छितत्वेन अन्यतीर्थिकेषु वाऽनियतविहारादिनेत्यसमानः—असदृशो, यद्वा समानः—साहज्कारो न तथेत्यसमानः । अथवा... यत्रास्ते तत्राप्यसंनिहित एवेति हृदयं, संनिहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्योदन्तमावहति अयं तु न तथेत्येवं-विधः सन् चरेत्, अप्रतिबद्धविहारतया विहरेत् ।

(उशावृ प १०७)

भिक्षु असमान (असाधारण) होता है, इसके पांच अर्थ प्राप्त हैं—

१. भिक्षु किसी घर या आश्रय में रहता है, पर गृह और गृहिणी के प्रति मूर्च्छित नहीं होता ।
२. वह अनियतविहारी होता है—अन्यतीर्थिकों की भांति नियत स्थानों में नहीं रहता ।
३. वह असमान—अहंकाररहित होता है ।
४. भिक्षु असंनिहित होने के कारण आश्रय की वार्ता से मुक्त होता है, उसकी प्रशंसा या सारसंभाल नहीं करता, गृहस्वामी से उसकी टूट-फूट संबंधी शिकायत नहीं करता ।

५. वह अप्रतिबद्ध होकर विचरण करता है ।

### निषद्या परीषद्

मुसाणं सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ ।  
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥  
तत्थ से चिट्ठमाणस्स, उवसग्गाभिधारए ।  
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥

(उ २।२०,२१)

राग-द्वेष रहित मुनि चपलताओं का वर्जन करता हुआ श्मशान, शून्यगृह अथवा वृक्ष के मूल में बैठे । दूसरों को त्रास न दे ।

वहाँ बैठे हुए उसे उपसर्ग प्राप्त हों तो वह यह चिन्तन करे—“ये मेरा क्या अतिष्ठ करेंगे ?” किन्तु अपकार की शंका से डरकर वहाँ से उठ दूसरे स्थान पर न जाए ।

निषेधः पापकर्मणां गमनादिक्रियायाश्च क्ष प्रयोजन-  
मस्या नैषेधिकी - श्मशानादिका स्वाध्यायादिभूमिः  
निषद्येति यावत् सैव परीषहो नैषेधिकीपरीषहः ।

(उशावृ प ८३)

जिसमें पापक्रिया अथवा गमन आदि क्रिया का निषेध होता है, वह नैषेधिकी है । स्वाध्यायभूमि आदि में निषद्या से संबंधित कष्ट सहन करना नैषेधिकी परीषह है । (नैषेधिकी की अपेक्षा निषद्या शब्द अधिक उपयुक्त है—द्र. निषद्या)

उच्चावयाहिं सेज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामवं ।  
नाइवेलं विहनेज्जा, पावदिट्ठी विहन्तई ॥  
पइरिक्कुवस्सयं लद्धं, कल्लाणं अट्टु पावगं ।  
किमेगरायं करिस्सइ, एवं तत्थइहियासए ॥

(उ २।२२,२३)

तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु उत्कृष्ट या निकृष्ट उपाश्रय को पाकर मर्यादा का अतिक्रमण न करे (हर्ष या शोक न लाए) । जो पापदृष्टि होता है, वह विहत (हर्ष या शोक से आक्रांत) हो जाता है ।

प्रतिरिक्त (एकान्त) उपाश्रय—भले फिर वह सुन्दर हो या असुन्दर—को पाकर “एक रात में क्या होना जाना है”—ऐसा सोचकर रहे, जो भी सुख-दुःख हो, उसे सहन करे ।

### आक्रोश परीषद्

अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं, न तेसि पडिसंजले ।  
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥

सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गाम-कण्टगा ।  
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे ॥

(उ २।२४,२५)

कोई मनुष्य भिक्षु को गाली दे तो वह उसके प्रति क्रोध न करे । क्रोध करने वाला भिक्षु बाल (अज्ञानियों) के सदृश हो जाता है, इसलिए भिक्षु क्रोध न करे ।

मुनि परुष, दारुण और ग्राम-कंटक (कर्णकंटक) भाषा को सुनकर मौन रहता हुआ उसकी उपेक्षा करे, उसे मन में न लाए ।

### वध परीषद्

हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए ।  
तित्तिक्खं परमं नच्चा, भिक्खुधम्मं विचितए ॥  
समणं संजयं दंतं, हणेज्जा कोइ कत्थई ।  
नत्थि जीवस्स नासु त्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥

(उ २।२६,२७)

पीटे जाने पर भी मुनि क्रोध न करे । मन में भी द्वेष न लाए । तितिक्षा को परम जानकर मुनि-धर्म का चिन्तन करे ।

संयत और दान्त श्रमण को कोई कहीं पीटे तो वह “आत्मा का नाश नहीं होता” ऐसा चिन्तन करे, पर प्रतिशोध की भावना न लाए ।

### याचना परीषद्

दुक्करं खलु भो ! निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो ।  
सव्वं ते जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं ॥  
गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए ।  
सेओ अगारवासु त्ति, इइ भिक्खू न चितए ॥

(उ २।२८,२९)

ओह ! अनगार भिक्षु की यह चर्चा कितनी कठिन है कि उसे जीवनभर सब कुछ याचना से मिलता है, उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता ।

गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं है । अतः ‘गृहवास ही श्रेय है’—मुनि ऐसा चिन्तन न करे ।

### अलाभ परीषद्

परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिए ।  
लद्धे पिडे अलद्धे वा, नाणुत्पेज्ज संजए ॥

अञ्जेवाहं न लब्धामि, अवि लाभो सुए सिया ।

जो एवं पडिसेवन्ति, अलाभो तं न तज्जए ॥

(उ २।३०, ३१)

गृहस्थों के घर भोजन तैयार हो जाने पर मुनि उसकी एषणा करे। आहार थोड़ा मिलने या न मिलने पर संयमी मुनि अनुताप न करे।

“आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, परन्तु संभव है कल मिल जाये”—जो इस प्रकार सोचता है, उसे अलाभ नहीं सताता।

### रोग परीषद्

नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए ।

अदीणो थावाए पन्नं, पुट्ठो तत्थहियासए ॥

तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खत्तगवेसए ।

एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥

(उ २।३२, ३३)

रोग को उत्पन्न हुआ जानकर तथा वेदना से पीड़ित होने पर दीन न बने। व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बनाए और प्राप्त दुःख को समभाव से सहन करे।

आत्मगवेषक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे। रोग हो जाने पर समाधिपूर्वक रहे। उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए।

जिनकल्पिकापेक्षया चैतत्, स्थविरकल्पापेक्षया तु 'जं न कुज्जा' इत्यादी सावद्यमिति मम्यते । ....एतदप्यी-त्सगिकम् । (उशावृ प १२०)

चिकित्सा न करे, न कराए—यह उपदेश जिन-कल्पिक मुनियों के लिए है। स्थविरकल्पी मुनि सावद्य चिकित्सा न करे, न कराए—यह औत्सगिक विधि है।

अपवादतस्तु सावद्याप्येषामियमनुमतैव ।

काहं अर्हिति अदुवा अहीहं, तवोविहाणेष य उज्जमिस्सं । गणं व णीतीइ वि सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेति मोक्खं ॥

(उशावृ प १२०)

आपवादिक विधि में मुनि चार कारणों से सावद्य चिकित्सा का आलंबन ले सकता है—

१. मैं परम्परा को व्युच्छिन्न नहीं होने दूंगा।
२. मैं ज्ञानार्जन करूंगा।
३. मैं उपधान आदि तपोयोग के लिए उद्यम करूंगा।
४. मैं नीतिपूर्वक गण की सार-संभाल करूंगा।

### तृणस्पष्टं परीषद्

अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो ।

तणेषु सयमाणस्स, हुज्जा माय-विराहणा ॥

आयवस्स निवाएणं, अउला हवइ वेयणा ।

एवं नच्चा न सेवन्ति, तंतुजं तणतज्जिया ॥

(उ २।३४, ३५)

अचेलक और रूक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी के घास पर सोने से शरीर में चुभन होती है। गर्मी पड़ने से अतुल वेदना होती है—यह जानकर भी तृण से पीड़ित मुनि वस्त्र का सेवन नहीं करते।

### जल्ल परीषद्

किलिन्नगाए मेहावी, पंकेण वा रएण वा ।

घिसु वा परितावेण, सायं नो परिदेवए ॥

वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्मऽणुत्तरं ।

जाव सरीरभेउ त्ति, जल्लं काएण धारए ॥

(उ २।३६, ३७)

मैल, रज या ग्रीष्म के परिताप से शरीर के क्लिन्न (गीला या पंकिल) हो जाने पर मेधावी मुनि सुख के लिए विलाप न करे।

निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर आर्य-धर्म (श्रुत-चारित्रधर्म) को पाकर देहविनाश पर्यन्त काया पर “जल्ल” (स्वेद-जनित मैल) को धारण करे और तज्जनित परीषद् को सहन करे।

### सत्कार-पुरस्कार परीषद्

अभिवायणमम्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमतणं ।

जे ताइं पडिसेवन्ति, न तेसि पीहए मुणी ॥

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए ।

रसेसु नाणुभिज्जेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं ॥

(उ २।३८, ३९)

अभिवादन और अभ्युत्थान करना तथा ‘स्वामी’—इस संबोधन से संबोधित करना—जो गृहस्थ इस प्रकार की प्रतिसेवना सम्मान करते हैं, मुनि इन सम्मानजनक व्यवहारों की स्पृहा न करे।

अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला, अलोलुप, प्रज्ञावान् मुनि रसों में गृह्य न हो, दूसरों को सम्मानित देख अनुताप न करे।

सत्कारो—वस्त्रादिभिः पूजनं, पुरस्कारः—अभ्यु-

स्थानासनादिसम्पादनं, यद्वा सकलैवाभ्युत्थानाभिवादन-  
दानादिरूपा प्रतिपत्तिरिह सत्कारस्तेन पुरस्करणं सत्कार-  
पुरस्कारः । (उशावृ प २३)

अतिथि की वस्त्रदान आदि से पूजा करना सत्कार है  
और अभ्युत्थान करना, आसन देना आदि पुरस्कार है ।  
अथवा अभ्युत्थान, अभिवादन आदि सारी क्रियाएं सत्कार  
हैं और इनके द्वारा किसी की अगवानी करना पुरस्कार  
है ।

### प्रज्ञा परीषह

से नूनं मए पुञ्चं, कम्माणाणफला कडा ।  
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥  
अह पच्छा उइज्जंति, कम्माणाणफला कडा ।  
एवमस्सासि अप्पाणं, नच्चा कम्म-विवागयं ॥

(उ २।४०,४१)

निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञानरूप फल देने  
वाले कर्म किए हैं । उन्हीं के कारण मैं किसी के कुछ  
पूछे जाने पर भी कुछ नहीं जानता—उत्तर देना नहीं  
जानता ।

‘पहले किए हुए अज्ञानरूप फल देने वाले कर्म पकने  
के पश्चात् उदय में आते हैं’—इस प्रकार कर्म के विपाक  
को जानकर मुनि आत्मा को आश्वासन दे ।

### अज्ञान परीषह

निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंबुडो ।  
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावगं ॥  
तवोत्रहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ ।  
एवं पि विहरओ मे, छउमं न नियट्ठई ॥  
(उ २।४२,४३)

मैं मंथुन से निवृत्त हुआ, इन्द्रिय और मन का मैंने  
संवरण किया—यह सब निरर्थक है । क्योंकि धर्म  
कल्याणकारी है या पापकारी—यह मैं साक्षात् नहीं  
जानता ।

मैं तपस्या और उपधान को स्वीकार करता हूँ,  
प्रतिमा का पालन करता हूँ—इस प्रकार विशेष चर्या  
से विहरण करने पर भी मेरा छद्म (ज्ञान का आवरण)  
निर्वर्तित नहीं हो रहा है—मुनि ऐसा चिन्तन न करे ।

(प्रज्ञा परीषह का संबंध श्रुतज्ञान से और अज्ञान  
परीषह का संबंध अवधिज्ञान आदि अतीन्द्रिय ज्ञान से है ।)

### दर्शन परीषह

नत्थि नूनं परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो ।  
अदुवा वंचिओ मि त्ति, इइ भिक्खू न चितए ॥  
अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सई ।  
मुसं ते एवमाहंमु, इइ भिक्खू न चितए ॥  
(उ २।४४,४५)

निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी  
नहीं है, अथवा मैं ठगा गया हूँ—भिक्खु ऐसा चिन्तन न  
करे ।

जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे—ऐसा जो  
कहते हैं, वे झूठ बोलते हैं—भिक्खु ऐसा चिन्तन न करे ।

### ४. परीषह और कर्मविपाक

पन्नान्नाणपरिसहा णाणावरणंमि हंति दुन्नेए ।  
इक्को य अंतराए अलाहपरीसहो होइ ॥  
अरई अचेल इत्थी निसीहिया जायणा य अक्कोसे ।  
सक्कारपुरक्कारे चरित्तमोहंमि सत्तेए ॥  
अरईइ दुगुंछाए पुंवेय भयस्स चैव भाणस्स ।  
कोहस्स य लोहस्स य उदएण परीसहा सत्त ॥  
दंसणमोहे दंसणपरीसहो नियमसो भवे इक्को ।  
सेसा परीसहा खलु इक्कारस वेयणिज्जंमि ॥  
(उत्ति ७४-७७)

### परीषह

### कर्म का विपाक

१. प्रज्ञा	ज्ञानावरणीय
२. अज्ञान	”
३. अलाभ	अन्तराय
४. अरति	अरति मोहनीय (नोकषाय)
५. अचेल	जुगुप्सा मोहनीय (नोकषाय)
६. स्त्री	पुरुषवेद मोहनीय (नोकषाय)
७. निषेधा	भय मोहनीय (नोकषाय)
८. याचना	मान मोहनीय (कषाय)
९. आक्रोश	क्रोध मोहनीय (कषाय)
१०. सत्कार-पुरस्कार	लोभ मोहनीय (कषाय)
११. दर्शन	दर्शन मोहनीय
१२. क्षुधा	वेदनीय
१३. पिपासा	”
१४. शीत	”
१५. उष्ण	”

१६. दंश-मशक	वेदनीय
१७. चर्या	"
१८. शय्या	"
१९. बध	"
२०. रोग	"
२१. तृणस्पर्श	"
२२. जल्ल	"

## ५. परीषह और गुणस्थान

बावीसं बायरसंपराए चउदस थ सुहुमरागमि ।  
छउमत्थवीयराए चउदस इक्कारस जिणंमि ॥

(उनि ७९)

बाईस परीषह नौवें गुणस्थान (बादरसंपराय) तक हो सकते हैं। दसवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले अरति आदि सात परीषह तथा दर्शन मोहनीय से उत्पन्न दर्शनपरीषह को छोड़कर शेष चौदह परीषह होते हैं। छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि में भी ये ही चौदह परीषह हो सकते हैं। केवली में मात्र वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले ग्यारह परीषह पाये जाते हैं।

## ६. एक साथ कितने परीषह ?

जस्स चउहस तस्स उक्कोसपदे बारस । जस्स  
एक्कारस परीसहा तस्स उक्कोसपदे दस परीसहा  
उदेज्जेज्जा । (उचू पृ ५०)

जिसके चौदह परीषह होते हैं, उसके एक साथ उत्कृष्ट बारह परीषह हो सकते हैं। जिसके ग्यारह परीषह होते हैं, उसके एक साथ उत्कृष्ट दस परीषह हो सकते हैं।

वीसं उक्कोसपए वटंति जहन्नओ हवइ एगो ।  
सीउसिण चरियं निसीहिया थ जुगवं न वटंति ॥

(उनि ८२)

एक साथ उत्कृष्टतः बीस परीषह और जघन्यतः एक परीषह हो सकता है। शीत और उष्ण—दोनों एक साथ नहीं होते, इन दोनों में से कोई एक होता है। चर्या और निषद्या में से कोई एक होता है।

नैषेधिकीवत्कथं शय्याऽपि न चर्याया विरुध्यते ?  
उच्यते, निरोधबाधदितस्त्वङ्गनिकादेरपि तत्र सम्भवा-  
न्नैषेधिकी तु स्वाध्यायादीनां भूमिः, ते च प्रायः स्थिरता-  
यामेवानुज्ञाता इति तस्या एव चर्याया विरोधः ।

(उशावृ प ७८)

निषद्या की तरह शय्या परीषह भी चर्या परीषह का विरोधी क्यों नहीं है ? इसके समाधान में कहा गया है कि सूत्र, उत्सर्ग आदि की बाधा-निवृत्ति के लिए शय्या में भी चर्या संभव है।

निषद्या का अर्थ है—स्वाध्याय आदि की भूमि। स्वाध्यायभूमियां प्रायः स्थिरता में ही अनुज्ञात हैं। अतः निषद्या का ही चर्या से विरोध है।

## ७. परीषहप्रविभक्ति अध्ययन का उत्स

कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं ।  
सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंमि णायव्वं ॥

(उनि ६९)

कर्मप्रवादपूर्व के सतरहवें प्राभृत में परीषहों का नय और उदाहरण सहित निरूपण है। वही उत्तराध्ययन के इस दूसरे अध्ययन का उत्स है।

## ८. परीषह और नय-निक्षेप

तिण्हंमि णेगमणओ परीसहो उज्जुसुत्ताओ ।  
तिण्हं सट्ठणयाणं परीसहो संजए होइ ॥

(उनि ७०)

नेगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र की अपेक्षा परीषह संयत, असंयत और संयतासंयत—तीनों के होते हैं। शब्द आदि तीनों नयों की अपेक्षा बाईस परीषह संयत के ही होते हैं।

## परीषह का कालमान

वासग्गसो अ तिण्हं मुहुत्तमंतं च होइ उज्जुसुए ।  
सट्ठस एगसमयं परीसहो होइ नायव्वो ॥

(उनि ८३)

नेगम, संग्रह और व्यवहारनय की अपेक्षा परीषह वर्षों तक हो सकते हैं। (जैसे सनत्कुमार चक्रवर्ती ने सात सौ वर्षों तक रोग परीषह को सहन किया।)

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा परीषह का कालमान अन्तर्मुहूर्त और तीन शब्दनयों की अपेक्षा एक समय है।

## द्वय परीषह : भाव परीषह

द्वयपरीसहा दुविहा, तं जहा—कम्मदव्वपरीसहा थ  
णोकम्मदव्वपरीसहा थ । जाणि परीसह्वेदणिज्जाणि  
कम्माणि बद्धां ताव न उदेज्जति ते कम्मदव्वपरीसहा ।  
तिविहा णोकम्मदव्वपरीसहा—सचित्ताचित्तमीसगा ।  
सचित्तणोकम्मदव्वपरीसहा जेहि सचित्तेहि परीसहा



उदेज्जति जहा गिरिनिर्भरणपाणीयं, एयस्स छुहा उदेज्जति । अचित्ते णोक्कम्मदव्वपरीसहा जहा अग्गिदीवणियच्चुण्णेहि छुहा भवति । भीसे गुलत्तएणं छुहा भवति । पिवासापरीसहो लोणपाणीएण वा तण्हा उदेज्जति, त्तेलेहि य अचित्तेहि, णिद्वलवणपादीहि मिस्सेहि दव्वेहि खज्जेतेहि य तण्हा उदेज्जति ।

भावपरीसहा, ते वेदणिज्जाणं कम्माणं, उदिण्णाणं वेदणिज्जाणं भवति । (उच्चू पृ ५७)

द्रव्य परीषह के दो प्रकार हैं—

१. कर्मद्रव्यपरीषह—बद्ध परीषहवेदनीय जब तक उदय में नहीं आता ।

२. नोकर्मद्रव्यपरीषह—परीषह के उदय में निमित्तभूत द्रव्य । ये तीन प्रकार के हैं—

१. सचित्त—गिरिनिर्भर के जल आदि से क्षुधा का उदय ।

२. अचित्त—अग्निउद्दीपकचूर्ण आदि से क्षुधा का उदय ।

३. मिश्र—गुड़ाद्रक से क्षुधा का उदय ।

इसी प्रकार लवणजल, तेल, स्निग्धलवण आदि के सेवन से पिपासा परीषह का उदय होता है ।

परीषहवेदनीय कर्म का वेदन करना भाव परीषह है ।

**परोक्षज्ञान**—इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान । (द्र. ज्ञान)

**पर्याप्ति**—जन्म के प्रारंभ में होने वाली जीवनोपयोगी पौद्गलिक शक्ति ।

१. पर्याप्ति की परिभाषा

२. पर्याप्ति के प्रकार

३. पर्याप्ति-निर्माण का हेतु

४. पर्याप्त और अपर्याप्त

५. अपर्याप्त के प्रकार

\* पर्याप्त-अपर्याप्त : जीव के भेद (द्र. जीव)

६. पर्याप्ति-निर्माण का कालमान

७. किस जीव में कितनी पर्याप्तियां ?

**१. पर्याप्ति की परिभाषा**

पज्जत्ती णाम—सत्ती सामत्थं । सा य पुग्गलदव्वोवचया उप्पज्जति । (नन्दीचू पृ २२)

पुद्गलद्रव्यों के उपचय से उत्पन्न शक्ति या सामर्थ्य का नाम है पर्याप्ति ।

**पर्याप्ति**—आहारादिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः, स च पुद्गलोपचयात् ..... उत्पत्तिदेशमागतेन येन गृहीता आहारादिपुद्गलास्तेषां तथा अन्येषां च प्रति-समयं गृह्यमाणानां तत्सम्पर्कतः तद्रूपतया जातानामुपष्टम्भेन यः शक्तिविशेषो जीवस्याहारादिपुद्गलानां खल-रसादिरूपतया परिणमनहेतुः.....सा पर्याप्तिः ।

(नन्दीमवृ प १०४, १०५)

जीव उत्पत्तिस्थान को प्राप्त कर आहार आदि के योग्य पुद्गल ग्रहण करता है, फिर प्रतिसमय अन्य पुद्गल ग्रहण करता रहता है । प्रथम समय में गृहीत पुद्गलों के सम्पर्क से अन्य गृहीत पुद्गल भी उस रूप में परिवर्तित हो जाते हैं । उन पुद्गलों के उपष्टम्भ/अवलम्बन से जो विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, वह जीवनपर्यन्त जीव के आहार आदि के पुद्गलों का ग्रहण तथा उन्हें खल, रस आदि के रूप में परिणत करने का हेतु बनती है । यह पौद्गलिक शक्तिविशेष ही पर्याप्ति है ।

**२. पर्याप्ति के प्रकार**

छ पज्जत्तीतो—आहार-शरीर-इन्द्रिय - आणापाणु - भासा-मणपज्जत्ती । (नन्दीचू पृ २२)

पर्याप्ति के छह प्रकार—

१. आहार पर्याप्ति ४. प्राणापान पर्याप्ति

२. शरीर पर्याप्ति ५. भाषा पर्याप्ति

३. इन्द्रिय पर्याप्ति ६. मनः पर्याप्ति ।

**आहार पर्याप्ति**

आहारपज्जत्ती नाम खल-रसपरिणामणसत्ती ।

(नन्दीचू पृ २२)

यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति साऽऽहारपर्याप्तिः । (नन्दीमवृ प १०५)

जीव जिससे आहारप्रायोग्य पुद्गलों के ग्रहण, खल-रसरूप में परिणमन और उत्सर्जन की क्षमता प्राप्त करता है, वह आहार पर्याप्ति है ।

**शरीर पर्याप्ति**

सत्तघातुतया परिणामणसत्ती शरीरपज्जत्ती ।

(नन्दीचू पृ २२)

यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्ल-लक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः ।

(नन्दीमवृ प १०५)

जो रस में परिणत आहार को सात धातुओं—रस, रक्त, मांस, वसा, अस्थि, मज्जा और शुक्र के रूप में परिणत करती है, वह शक्ति शरीर पर्याप्त है।

### इन्द्रिय पर्याप्त

पंचर्हमिदियाणं जोग्गा पोग्गला च्चियत्तु अणाभोग-  
निव्वत्तितविरियकरणेण तन्भावणयणसत्ती इंदियपज्जत्ती।  
(नन्दीचू पृ २२)

जिससे इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों का चय होता है और स्वतः स्फूर्त वीर्यकरण से इन्द्रियों की कार्यशक्ति पैदा होती है, वह शक्ति इन्द्रिय पर्याप्त है।

यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया  
परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः।  
(नन्दीमवृ प १०५)

जो धातुरूप में परिणत आहार को इन्द्रियों के रूप में परिणत करती है, वह इन्द्रिय पर्याप्त है।

### प्राणापान पर्याप्त

उत्सासपोग्गलजोग्गाणापाणूण ग्रहण-णिसिरणसत्ती  
आणापाणुपज्जत्ती।  
(नन्दीचू पृ २२)

श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों की ग्रहण और विसर्जन की शक्ति का नाम है प्राणापान (आनापान/श्वासोच्छ्वास) पर्याप्त।

### भाषा पर्याप्त

वइजोग्गे पोग्गले घेत्तूण भासत्ताए परिणामेत्ता  
वइजोगत्ताए निसिरणसत्ती भासापज्जत्ती।  
(नन्दीचू पृ २२)

भाषा के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर, उन्हें भाषा रूप में परिणत कर, वचनयोग से उनका निःसरण करने की पौद्गलिक शक्ति का नाम है भाषा पर्याप्त।

### मनः पर्याप्त

मणजोग्गे पोग्गले घेत्तूण मणत्ताए परिणामेत्ता  
मणजोगत्ताए निसिरणसत्ती मणपज्जत्ती।  
(नन्दीचू पृ २२)

यया मनोयोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन  
परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः।  
(नन्दीमवृ प १०५)

जिस शक्ति से मनन के योग्य पुद्गलों का ग्रहण; मन रूप में परिणमन और विसर्जन होता है, वह मनःपर्याप्त है।

### ३. पर्याप्त-निर्माण का हेतु

एताओ पज्जत्तीओ पज्जत्तयणामकम्मोदएणं  
णिव्वत्तिज्जंति।  
(नन्दीचू पृ २२)

पर्याप्तनामकर्म के उदय से पर्याप्तियों का निर्वर्तन/निर्माण होता है।

### ४. पर्याप्त और अपर्याप्त

ता जेसि अत्थि ते पज्जत्तया। अपज्जत्तयणामकम्मो-  
दएणं अधिब्वत्तातो जेसि ते अपज्जत्तया।

(नन्दीचू पृ २२)

ये स्वयोग्यपर्याप्तपरिसमाप्तविकलाः ते अपर्याप्ताः।

(नन्दीमवृ प १०५)

जो जीव अपने जन्म के योग्य सारी पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है, वह पर्याप्त कहलाता है।

अपर्याप्त नामकर्म के उदय से जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं कर पाता, वह अपर्याप्त कहलाता है।

### ५. अपर्याप्त के प्रकार

ते च द्विधा—लब्ध्या करणंश्च। येऽपर्याप्तका एव  
सन्तो म्रियन्ते न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि  
समर्थयन्ते ते लब्धपर्याप्तकाः। तेऽपि नियमादाहार-  
शरीरेन्द्रियपर्याप्तपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाक्।  
यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः।  
तन्चाहारशरीरेन्द्रिय-पर्याप्तपर्याप्तानामेव बध्यते। ये  
पुनः करणानि—शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति  
अथ चावश्यं निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः।

(नन्दीमवृ प १०५)

अपर्याप्त दो प्रकार के होते हैं—

१. लब्धि अपर्याप्त—जो अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते हैं, अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं कर पाते, वे लब्धि अपर्याप्त हैं। वे भी आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीनों पर्याप्तियों को पूर्ण करने से पहले नहीं मरते। क्योंकि आगामी भव के आयुष्य का बंध होने पर ही प्राणी मरते हैं और आयुष्य का बंध इन पर्याप्तियों की पूर्णता होने पर ही होता है।
२. करण अपर्याप्त—जो प्राणी जिस जन्म में शरीर आदि पर्याप्तियों का निश्चित रूप में निर्माण करने

वाले हैं, वे जब तक इनका निर्माण नहीं कर लेते, तब तक करण अपर्याप्त कहलाते हैं।

### ६. पर्याप्ति-निर्माण का कालमान

उत्पत्तिप्रथमसमय एव चैता यथायथं सर्वा अपि युगपन्निष्पादयितुमारभ्यन्ते क्रमेण च निष्ठासुपयान्ति ।... आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पद्यते, शेषास्तु प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन । (नन्दीमवृ प १०५)

जन्म के प्रथम समय में ही इन छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है और पूर्णता क्रमिक रूप से होती है। आहारपर्याप्ति प्रथम समय में ही निष्पन्न हो जाती है। शेष पर्याप्तियों को पूर्ण होने में एक-एक अन्तर्मुहूर्त्त लगता है।

आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तो विग्रहगतवैवोपपद्यते, नोपपातक्षेत्रभागतोऽपि, उपपातक्षेत्रभागतस्य प्रथमसमय एवाहारकत्वात्, तत एकसामयिकी आहारपर्याप्ति-निर्वृत्तिः । (नन्दीमवृ प १०५)

विग्रहगति में ही जीव आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त होता है, उत्पत्तिक्षेत्र में नहीं। जीव उत्पत्तिक्षेत्र में आते ही प्रथम समय में आहारक हो जाता है, अतः आहार-पर्याप्ति-निर्माण का कालमान एक समय है।

### ७. किस जीव में कितनी पर्याप्तियां ?

एगिदियाणं चउरो, विगलिदियाणं पंच, अस्सणीणं संववहारतो पंच चेव, सण्णीणं च छ । (नन्दीचू पृ २२)

पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों में प्रथम चार, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) जीवों में प्रथम पांच, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में संव्यवहार की अपेक्षा से प्रथम पांच तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में छहों पर्याप्तियां होती हैं।

**पल्योपम**—पल्य की उपमा से उपमित काल।  
**पल्य और सागर**—ये दो उपमान हैं।

#### ० दृष्टान्त

#### ० अथ पल्योपम-सागरोपम का प्रयोजन

#### ५. क्षेत्र पल्योपम के प्रकार

#### ० दृष्टान्त

#### ० क्षेत्र पल्योपम-सागरोपम का प्रयोजन

#### ६. सागरोपम का परिमाण

#### ७. पालि-महापालि

\* पल्योपम-सागरोपम : काल के भेद (द्र. काल)

### १. पल्योपम-सागरोपम की परिभाषा

जं कालप्पमाणं ण सक्कइ घेत्तुं तं उवमियं भवति । धण्णपल्ल इव तेण उवमा जस्स तं पल्लोवमं भण्णति । सागरो इव जं महाप्रमाणं तं सागरोवमं । (अनुचू पृ ५७)

जिस काल का प्रमाण संख्या से नहीं जाना जा सकता, वह उपमा से जाना जाता है। धान्यपल्य से उपमित काल पल्योपम कहलाता है। सागर की तरह महाप्रमाण वाला काल सागरोपम कहलाता है।

### २. पल्योपम के प्रकार

पालिओवमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—उद्धारपलि-ओवमे अद्दापलिओवमे खेत्तपलिओवमे य । (अनु ४१९)

पल्योपम के तीन प्रकार—

**उद्धारपल्योपम**—जिस कालखण्ड में बालाग्र अथवा बालखण्ड का उद्धार किया जाता है, उसकी संज्ञा उद्धार-पल्योपम है।

**अद्दापल्योपम**—अद्दा कालवाचक शब्द है। इस कालखण्ड में सौ वर्ष से बालाग्र अथवा बालखण्ड का उद्धार किया जाता है। इसलिए इसकी संज्ञा अद्दा पल्योपम है।

**क्षेत्रपल्योपम**—जो कालखण्ड आकाश प्रदेशों के अवहार से मापा जाता है, उसकी संज्ञा क्षेत्रपल्योपम है।

### ३. उद्धार पल्योपम के प्रकार

उद्धारपलिओवमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुहुमे य वावहारिणं य । (अनु ४२०)

उद्धार पल्योपम के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और व्यावहारिक।

**दृष्टान्त**—व्यावहारिक उद्धार पल्योपम

तत्थ णं जे से वावहारिणं, से जहानामए पल्ले सिया

#### १. पल्योपम-सागरोपम की परिभाषा

#### २. पल्योपम के प्रकार

#### ३. उद्धार पल्योपम के प्रकार

#### ० दृष्टान्त

#### ० उद्धार पल्योपम-सागरोपम का प्रयोजन

#### ४. अथ पल्योपम के प्रकार

—जोयणं आयाम-विक्रंभेणं, जोयणं उड्डं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्रवेवेणं, से णं पल्ले—

एगाहिय-वेयाहिय-तेयाहिय, उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं ।  
सम्मट्ठे सन्नित्ते, भरिए वालग्गकोडीणं ॥

से णं बालग्गे नो अग्गी डहेज्जा, नो वाऊ हरेज्जा, नो कुच्छेज्जा, नो पलिविद्धसेज्जा, नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा ।

तओ णं समए-समए एगमेगं बालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्टिए भवइ ।

(अनु ४२२)

जैसे कोई कोठा एक योजन लम्बा, चौड़ा, ऊंचा और कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला है वह एक, दो, तीन यावत् उत्कृष्टतः सात रात के बढ़े हुए करोड़ों बालाग्रों से ठूस-ठूसकर, घनीभूत कर भरा हुआ है। वे बालाग्र न अग्नि से जलते हैं, न हवा से उड़ते हैं, न असार होते हैं, न विध्वस्त होते हैं और न दुर्गन्ध को प्राप्त होते हैं ।

उस कोठे से प्रत्येक समय में एक-एक बालाग्र को निकालने से जितने समय में वह कोठा खाली, रज रहित, निर्लेप और निष्ठित (अन्तिम रूप से खाली) होता है, वह व्यावहारिक उद्धार पत्योपम है ।

**दृष्टान्त — सूक्ष्म उद्धार पत्योपम**

सुहुमे उद्धारपलिओवमे से जहानामए पल्ले सिया—  
जोयणं आयाम-विक्रंभेणं, जोयणं उड्डं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्रवेवेणं, से णं पल्ले—

एगाहिय-वेयाहिय-तेयाहिय, उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं ।  
सम्मट्ठे सन्नित्ते, भरिए वालग्गकोडीणं ॥

तत्थ णं एगमेगे बालग्गे असखेज्जाइं खंडाइं कज्जइ ।  
ते णं बालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असखेज्जइभागमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असखेज्जगुणा ।  
ते णं बालग्गे नो अग्गी डहेज्जा, नो वाऊ हरेज्जा, नो कुच्छेज्जा, नो पलिविद्धसेज्जा, नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा ।  
तओ णं समए-समए एगमेगं बालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्टिए भवइ ।  
से तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे । (अनु ४२४)

जैसे कोई कोठा एक योजन लम्बा, चौड़ा, ऊंचा और कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला है। वह एक, दो, तीन दिन यावत् उत्कृष्टतः सात रात के बढ़े हुए करोड़ों बालाग्रों से ठूस-ठूसकर घनीभूत कर भरा हुआ है ।

इन बालाग्रों में से प्रत्येक बालाग्र के असंख्य खण्ड किए जाते हैं। वे बालाग्र दृष्टि विषय में आने वाले पुद्गलों की अवगाहना के असंख्येय भागमात्र और सूक्ष्म पनक जीव के शरीर की अवगाहना से असंख्य गुण अधिक हैं। वे बालाग्र न अग्नि से जलते हैं, न हवा से उड़ते हैं, न असार होते हैं, न विध्वस्त होते हैं और न दुर्गन्ध को प्राप्त होते हैं ।

उस कोठे से प्रत्येक समय में एक-एक बालाग्र को निकालने से जितने समय में वह कोठा खाली, रजरहित, निर्लेप और निष्ठित (अन्तिम रूप से खाली) होता है, वह सूक्ष्म उद्धार पत्योपम है ।

**उद्धार पत्योपम-सागरोपम का प्रयोजन**

एएसि वावहारिय-उद्धारपलिओवम-सागरोवमेहिं नत्थि किचिप्पओयणं, केवलं पण्णवणट्ठं पण्णविज्जति ।

(अनु ४२३)

इन व्यावहारिक उद्धार पत्योपमों और सागरोपमों का कोई प्रयोजन नहीं है, केवल प्रज्ञापना के लिए प्रज्ञापन किया जाता है ।

एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवम-सागरोवमेहिं दीवसमुद्धारणं उद्धारो वेप्पइ ।

(अनु ४२५)

इन सूक्ष्म उद्धार पत्योपमों और सागरोपमों से द्वीप-समुद्रों का उद्धार (परिमाण) किया जाता है ।

**४. अध्व पत्योपम के प्रकार**

अद्धापलिओवमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुहुमे य वावहारिए य ।

(अनु ४२७)

अध्व पत्योपम के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और व्यावहारिक ।

**दृष्टान्त — व्यावहारिक अध्व पत्योपम**

तत्थ णं जेसे वावहारिए—से जहानामए पल्ले सिया—  
जोयणं आयाम-विक्रंभेणं, जोयणं उड्डं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्रवेवेणं, से णं पल्ले—

एगाहिय-वेयाहिय-तेयाहिय, उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं ।  
सम्मट्ठे सन्नित्ते, भरिए वालग्गकोडीणं ॥

से णं बालग्गे नो अग्गी डहेज्जा, नो वाऊ हरेज्जा, नो कुच्छेज्जा, नो पलिविद्धसेज्जा, नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा ।  
तओ णं वाससए-वाससए गते एगमेगं बालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्टिए भवइ । (अनु ४२९)

जैसे कोई कोठा एक योजन लम्बा, चौड़ा, ऊंचा और कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला है, वह एक, दो, तीन दिन यावत् उत्कृष्टतः सात रात के बढ़े हुए करोड़ों बालाग्रों से ठूस-ठूसकर घनीभूत कर भरा हुआ है। वे बालाग्र न अग्नि में जलते हैं, न हवा से उड़ते हैं, न असार होते हैं, न विध्वस्त होते हैं और न दुर्गन्ध को प्राप्त होते हैं। उस कोठे से सौ-सौ वर्ष में एक-एक बालाग्र को निकालने से जितने समय में वह कोठा खाली, रजरहित, निर्लेप और निष्ठित (अन्तिम रूप से खाली) होता है, वह व्यावहारिक अश्व पत्योपम है।

#### दृष्टांत—सूक्ष्म अश्व पत्योपम

सुहुमे अद्वापलिओवमे—से जहानामए पल्ले सिया जोयणं आयाम-विबखंभेणं, जोयणं उड्डं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिवस्सेवेणं, से णं पल्ले—

एगाहिय-बेयाहिय-तेयाहिय, उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं ।  
सम्मट्ठे सन्निचित्ते, भरिए वालग्गकोडीणं ॥

तस्य णं एगमेगे बालग्गे असंखेज्जाइं खंडाइं कज्जइ, ते णं बालग्गे दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जइ-भागमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा । से णं बालग्गे नो अग्गी डहेज्जा, नो वाऊ हरेज्जा, नो कुच्छेज्जा, नो पल्लिविद्धसेज्जा, नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा । तओ णं वाससए-वाससए गत्ते एगमेगं बालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्टिए भवइ । (अनु ४३१)

जैसे कोई कोठा एक योजन लम्बा, चौड़ा, ऊंचा और कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला है, वह एक, दो, तीन यावत् उत्कृष्टतः सात रात के बढ़े हुए करोड़ों बालाग्रों से ठूस-ठूसकर घनीभूत कर भरा हुआ है।

इन बालाग्रों में से प्रत्येक बालाग्र के असंख्य खण्ड किए जाते हैं। वे बालाग्र दृष्टि विषय में आने वाले पुद्गलों की अवगाहना के असंख्येय भागमात्र और सूक्ष्म पतक जीव के शरीर की अवगाहना में असंख्य गुना अधिक होते हैं। वे बालाग्र न अग्नि में जलते हैं, न हवा से उड़ते हैं, न असार होते हैं और न विध्वस्त होते हैं और न दुर्गन्ध को प्राप्त होते हैं। उस कोठे से सौ-सौ वर्ष के बीत जाने पर एक-एक बालाग्र निकालने से जितने समय में वह कोठा खाली, रजरहित, निर्लेप और निष्ठित

(अन्तिम रूप से खाली) होता है, वह सूक्ष्म अश्व पत्योपम है।

#### अश्व पत्योपम-सागरोपम का प्रयोजन

एएहि वावहारिय-अद्वापलिओवम-सागरोवमेहि नत्थि किञ्चिप्पओयणं केवलं पणवणट्ठं पणविज्जति ।

(अनु ४३०)

इन व्यावहारिक अश्व पत्योपमों और सागरोपमों का कोई प्रयोजन नहीं है, केवल प्ररूपणा के लिए प्ररूपण किया जाता है।

एएहि सुहुमअद्वापलिओवम सागरोवमेहि नेरइय-तिरिक्खओणिय-मणुस्स-देवाणं आउयाइं मविज्जति ।

(अनु ४३२)

इन सूक्ष्म अश्व पत्योपमों और सागरोपमों में नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य और देवों का आयुष्य नापा जाता है।

#### ५. क्षेत्र पत्योपम के प्रकार

खेत्तपलिओवमे दुविहे पणत्ते, तं जहा—सुहुमे य वावहारिए य ।

(अनु ४३४)

क्षेत्र पत्योपम के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और व्यावहारिक।

#### दृष्टांत—व्यावहारिक क्षेत्र पत्योपम

से जहानामए पल्ले सिया—जोयणं आयाम-विबखंभेणं, जोयणं उड्डं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिवस्सेवेणं, से णं पल्ले—

एगाहिय-बेयाहिय-तेयाहिय, उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं ।  
सम्मट्ठे सन्निचित्ते, भरिए वालग्गकोडीणं ॥

से णं बालग्गे नो अग्गी डहेज्जा, नो वाऊ हरेज्जा नो कुच्छेज्जा, नो पल्लिविद्धसेज्जा, नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा । जे णं तस्स आगासपएसा तेहि बालग्गेहि अक्कुन्ना, तओ णं समए-समए एगमेगं आगासपएसं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्टिए भवइ । (अनु ४३६)

जैसे कोई कोठा एक योजन लम्बा, चौड़ा, ऊंचा और कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला है, वह एक, दो, तीन यावत् उत्कृष्टतः सात रात के बढ़े हुए करोड़ों बालाग्रों से ठूस-ठूसकर घनीभूत कर भरा हुआ है।

वे बालाग्र न अग्नि से जलते हैं, न हवा से उड़ते हैं,

न असार होते हैं, न विध्वस्त होते हैं और न दुर्गन्ध को प्राप्त होते हैं। उस कोठे के जो आकाशप्रदेश उन बालाग्रों से व्याप्त हैं, उनमें से प्रति समय एक-एक आकाशप्रदेश का अपहार करने पर जितने समय में वह कोठा खाली, रजरहित, निर्लेप और निष्ठित (अन्तिम रूप से खाली) होता है, वह व्यावहारिक क्षेत्रपत्योपम है।

#### दृष्टांत - सूक्ष्म क्षेत्र-पत्योपम

सुहुमे खेत्तपलिओवमे : से जहानामए-पल्ले सिया जोयणं आयाम-विकखंभेणं, जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिवक्खेवेणं, से णं पल्ले ---

एगाहिय-वेयाहिय-तेयाहिय, उक्कोत्तेणं सत्तरत्तपरूढाणं । सम्मट्ठे सन्नित्ते, भरिए वालग्गकोडीणं ॥

तत्थं णं एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइं खंडाइं कज्जइ, ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जइभागमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सररीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा । ..... । जे णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा तेहि वाल-स्सेहि अप्फुक्खा वा अणप्फुक्खा वा, तओ णं समए-समए एगमेगे आगासपएसं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्टिए भवइ । (अनु ४३८)

जैसे कोई कोठा एक योजन लम्बा, चौड़ा, ऊँचा और कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला है, वह एक, दो, तीन या वत् उत्कृष्टतः सात रात के बड़े हुए करोड़ों बालाग्रों से ठूस-ठूसकर, घनीभूत कर भरा हुआ है।

इन बालाग्रों में से प्रत्येक बालाग्र के असंख्य खण्ड किए जाते हैं। वे बालाग्र दृष्टिविषय में आने वाले पुद्गलों की अवगाहना से असंख्येय भागमात्र और सूक्ष्म पनक जीव के शरीर की अवगाहना से असंख्य गुना अधिक होते हैं।

उस कोठे के जो आकाशप्रदेश उन बालाग्रों से व्याप्त हों या अव्याप्त, उनमें से प्रति समय एक-एक आकाश-प्रदेश का अपहार करने पर जितने समय में वह कोठा खाली, रज-रहित, निर्लेप और निष्ठित (अन्तिम रूप से खाली) होता है, वह सूक्ष्म क्षेत्र-पत्योपम है।

#### क्षेत्र पत्योपम-सागरोपम का प्रयोजन

एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवम-सागरोपमेहिं दिट्ठिवाए दब्बा मविज्जति । (अनु ४४०)

सूक्ष्म क्षेत्र पत्योपमों और सागरोपमों से दृष्टिवाद

के द्रव्यों को नापा जाता है।

#### ६. सागरोपम का परिमाण

दस पल्लककोडाकोडीतो एगं सागरोवमं ।

(अनुचू पृ ५७)

दस कोटिकोटि पत्थों का एक सागरोपम होता है।

एएसि पल्लानं, कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया । तं सुहुमस्स उद्धारसागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं ॥

(अनु ४२४)

दस कोटिकोटि सूक्ष्म उद्धार पत्योपमों का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है।

एएसि पल्लानं, कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिया ।

तं सुहुमस्स अद्धारसागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं ॥

(अनु ४३१)

सूक्ष्म अथ पत्योपम को दस कोटिकोटि से गुणित करने पर एक सूक्ष्म अथ सागरोपम का परिमाण होता है।

एएसि पल्लानं, कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिया ।

तं सुहुमस्स खेत्तसागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं ॥

(अनु ४३९)

दस कोटिकोटि सूक्ष्म क्षेत्र पत्योपमों का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है।

#### ७. पालि-महापालि

पालिः—जीवितजलधारणाद् भवस्थितिः ।

(उशावृ प ४४५)

जैसे पाल जल को धारण करती है, वैसे ही भव-स्थिति जीवन-जल को धारण करती है, इसलिए उसे पाली कहा जाता है।

पाली मर्यादा । या पत्योपमैः स्थितिः सा पाली ।

या पुनः सागरोपमैः स्थितिः सा महापाली ।

(उचू पृ २४९)

पत्योपम की काल-मर्यादा का नाम है पाली ।

सागरोपम की काल-मर्यादा का नाम है महापाली ।

पाप—अशुभ कर्म पुद्गल । (द्र. कर्म)

पारिणामिकी बुद्धि—परिणाम/अवस्था के साथ-साथ नाना अनुभवों से उत्पन्न होने वाली बुद्धि ।

(द्र. बुद्धि)

**पार्श्वनाथ**—तेईसवें तीर्थंकर । (द्र. तीर्थंकर)

**पाषण्ड**—सम्प्रदाय । प्राचीन काल में मुख्यतया श्रमण सम्प्रदायों के लिए पाषण्ड शब्द का प्रयोग होता था ।

पासंडनामे—समणे पंडुरंगे भिक्खू कावालिए तावसे परिब्बायणे । (अनु ३४४)

पाषण्ड के पांच प्रकार हैं—

श्रमण, पंडुरंग, भिक्षु, कापालिक (शैव की एक शाखा), तापस और परिव्राजक ।

निर्ग्रन्थ सक्र तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा । ... निर्ग्रन्थाः साधवः, शाक्याः मायासूनवीयाः, तापसा वनवासिनः पाखण्डिनः, गैरुकाः गेरुकरञ्जितवाससः परिव्राजकाः, आजीवकाः गोशालकशिष्याः ।

(पिनि ४४५ वृ प ३०)

श्रमण के पांच प्रकार हैं—

निर्ग्रन्थ—साधु

शाक्य—बौद्ध

तापस—वनवासी

परिव्राजक—गैरिक वस्त्र धारण करने वाले

आजीवक—गोशालक के शिष्य ।

**पुद्गल**—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त पदार्थ ।

### १. पुद्गलास्तिकाय

\* अस्तिकाय का एक भेद (द्र. अस्तिकाय)

२. पुद्गल के लक्षण—वर्ण आदि

३. वर्ण-गंध-रस-स्पर्श के प्रकार

४. पुद्गल के प्रकार

० स्कन्ध

० देश

० प्रदेश

० परमाणु

५. परमाणु के प्रकार

० व्यावहारिक परमाणु

० परमाणु का सप्रदेशत्व-अप्रदेशत्व

६. पुद्गल की स्थिति और अन्तर

७. पुद्गल-परमाणु बन्ध की प्रक्रिया

८. पुद्गल संयोग के प्रकार

० संयुक्त संयोग

० इतरेतर संयोग

० इतरेतर परमाणुसंयोग के प्रकार

\* संस्थान संयोग

(द्र. संस्थान)

स्कन्ध संयोग

० संस्थान और स्कन्ध में अंतर

९. पुद्गल का अवगाहन क्षेत्र

१०. अजीव द्रव्यकरण-भावकरण

११. शब्द पुद्गल है

\* शब्द भवण का सिद्धान्त

(द्र. भाषा)

\* पुद्गल की वर्णणाएं

(द्र. वर्णणा)

### १. पुद्गलास्तिकाय

पुद्गलास्तिकायः पूरणगलणभावत्तणतो पुद्गलाः । इहाप्यस्तिकायः प्रदेशवाचकोऽस्तित्वे वा कायशब्दोऽप्यत्र समूहवचनः, समूहः प्रदेशानां सोऽवयवद्रव्यसमूहवचनो वा । (अनुचू पृ २९,३०)

परमाणु मिलते हैं, पृथक् होते हैं—यह पुद्गल का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है । अस्तिकाय शब्द का अर्थ है—प्रदेश अथवा अस्तित्व । काय शब्द समूहवाचक है । प्रदेशों के समूह को तथा अवयवरूप पुद्गल द्रव्य के समूह को भी काय कहते हैं ।

पुद्गलास्तिकाय का अर्थ है—पुद्गलों का प्रदेश-समूह अथवा पुद्गलद्रव्यों का समूह ।

### २. पुद्गल के लक्षण

सहृद्यारउज्जोओ, पहा छायातवे इ वा ।

वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥

(उ २८।१२)

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं ।

'वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं च लक्खणं'

(उशावृ प २४)

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं ।

वण्णओ गंधओ चैव रसओ फासओ तथा ।

संठाणओ य विन्नेओ परिणामो तेसि पंचहा ॥

(उ ३६।१५)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनका परिणमन पांच प्रकार का होता है ।

## ३. वर्ण-गंध-रस-स्पर्श के प्रकार

वर्णओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।  
 किण्हा नीला य लोहिया, हालिदा मुक्किला तहा ॥  
 गंधओ परिणया जे उ, दुविहा ते वियाहिया ।  
 सुन्निगंधपरिणामा, दुन्निगंधा तहेव य ॥  
 रसओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।  
 तित्तकड्यकसाया, अंबिला मधुरा तहा ॥  
 फासओ परिणया जे उ, अट्टहा ते पकित्तिया ।  
 ककखडा मउया चैव, गरुया लहुया तहा ॥  
 सीया उण्हा य निद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया ।  
 इइ फासपरिणया एए, पुग्गला समुदाहिया ॥  
 (उ ३६।१६-२०)

वर्ण की अपेक्षा से पुद्गल की परिणति पांच प्रकार की होती है—१. कृष्ण २. नील ३. रक्त ४. पीत और ५. शुक्ल ।

गन्ध की अपेक्षा से पुद्गल की परिणति दो प्रकार की होती है—१. सुगन्ध और २. दुर्गन्ध ।

रस की अपेक्षा से पुद्गल की परिणति पांच प्रकार की होती है—१. तिक्त २. कटु ३. कसैला ४. खट्टा और ५. मधुर ।

स्पर्श की अपेक्षा से पुद्गल की परिणति आठ प्रकार की होती है—१. कर्कश २. मृदु ३. गुरु ४. लघु ५. शीत ६. उष्ण ७. स्निग्ध और ८. रूक्ष ।

## ४. पुद्गल के प्रकार

पोग्गला छविहा, तं जहा—सुहुमसुहुमा सुहुमा सुहुमबादरा बादरसुहुमा बादरा बादरबादरा । सुहुमसुहुमा परमाणुपोग्गला, सुहुमा दुपएसियाओ आडत्ता जाव सुहुम-परिणओ अणंतपएसिओ खंधो, सुहुमबादरा गंधपोग्गला, बादरसुहुमा बाउक्कायसरीरा, बादरा आउक्कायसरीरा उस्सादीण, बादरबादरा तेउवणस्सइ-पुडवितससरीराणि ।  
 (दजिचू पृ १४२)

पुद्गल के छह प्रकार—

१. सूक्ष्म-सूक्ष्म—परमाणुपुद्गल ।
२. सूक्ष्म—द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् अनंतप्रदेशी स्कंध ।
३. सूक्ष्म-बादर—गन्ध पुद्गल ।
४. बादर-सूक्ष्म—वायुकायशरीर ।
५. बादर—अपकाय जीवों का शरीर, ओस आदि ।

६. बादर-बादर—अग्नि, वनस्पति, पृथ्वी और त्रस-जीवों का शरीर ।

खंधाय खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य ।  
 परमाणुणो य बोद्धवा, रूविणो य चउव्विहा ॥

(उ ३६।१०)

पुद्गल के चार प्रकार—

१. स्कन्ध—परमाणु-प्रचय ।
२. स्कन्धदेश—स्कन्ध का कल्पित विभाग ।
३. स्कन्धप्रदेश—स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अंश ।
४. परमाणु—स्कन्ध से पृथक् निरंश अंश ।

स्कन्ध

एगत्तेण पुहत्तेण. खंधाय परमाणुणो ।  
 (उ ३६।११)

अनेक परमाणुओं के एकत्व से स्कन्ध बनता है और उसका पृथक्त्व होने से परमाणु बनते हैं ।

परमाणुपुग्गला खलु दुन्नि व बहुगा य संहता संता ।  
 निव्वत्तयंति खंध..... ॥

(उनि ३७)

स्कन्ध के दो प्रकार—

१. द्विप्रदेशी स्कन्ध—दो अणुओं की संहति ।
२. बहुप्रदेशी स्कन्ध—तीन, चार यावत् अनंत परमाणु-पुद्गलों की संहति ।

स्कन्दन्ति—शुष्यन्ति धीयन्ते च—पोष्यन्ते च पुद्गलानां विचटनेन चेति स्कन्धाः  
 (उशावृ प ६७३)

जो पुद्गलों के विघटन से क्षीण और संघटन से पुष्ट होते हैं, वे स्कन्ध हैं ।

देश

देशः त्रिभागचतुर्भागादि । (उचू पृ २८१)

दिश्यते प्रदेशापेक्षया समानपरिणतरूपत्वेऽपि देशा-पेक्षायां असमानपरिणतिमाश्रित्य विशिष्टरूपतया विवक्ष्यते—उपदिश्यत इति देशः । (उशावृ प ३७२)

प्रदेश की अपेक्षा समान परिणति होने पर भी, देश की अपेक्षा असमान परिणति के आधार पर जिसकी तीन भाग, चार भाग आदि के रूप में विशेष विवक्षा होती है, वह देश है ।

प्रदेश

प्रदेशोऽसंख्येयतमोऽनन्ततमो वा प्रदेशः ।

(उचू पृ २८१)



प्रकर्षेणान्यत्वात्प्रदेशान्तराभावतः क्वचिदप्यनुगत-  
रूपाभावलक्षणेन दिश्यते प्राग्वदुपदिश्यत इति प्रदेशो—  
निरंशो भागस्तत्प्रदेशः । (उशावृ प ३७२)

स्कन्ध का निर्विभाग भाग प्रदेश कहलाता है। वह  
स्कन्ध का अंतिम भाग होता है, उसमें प्रदेशान्तर का  
अभाव होता है और वह वस्तु से संलग्न होता है।

### परमाणु

परमाणु द्रव्यतो एगद्वयं । खेततो एगपदेसोनाढं ।  
कालतो जहन्नेणं एणं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

(आवचू १ पृ १०८)

परमाणु द्रव्य की अपेक्षा एक द्रव्य—एक संख्या  
वाला, क्षेत्र की अपेक्षा एक प्रदेश में अवगाढ तथा काल  
की अपेक्षा जघन्य एक समय, उत्कृष्ट असंख्येय काल  
वाला है।

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।

एकरसवर्णगंधो द्विस्पर्शः कार्यलिगश्च ॥

(उशावृ प २४)

भाव की अपेक्षा परमाणु एक रस, एक वर्ण, एक  
गंध और दो अकिरुद्ध स्पर्श वाला होता है तथा अपने  
कार्यरूप द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् अनन्तप्रदेशी स्कंधों से  
जाना जाता है। वह अपने कार्यों का अन्तिम कारण,  
सूक्ष्म और नित्य होता है।

### ५. परमाणु के प्रकार

परमाणु दुविहे पणत्ते, तं जहा—सुहुमे य वावहारिए  
य । (अनु ३९६)

परमाणु के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और व्यावहारिक।

### व्यावहारिक परमाणु

वावहारिए—अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणं  
समुदयसमितिसमागमेणं से एगे वावहारिए परमाणुपोग्गले  
निष्फज्जइ ।”

सत्थेण सुतिक्खेण वि, छेतुं भेतुं च जं किर न सक्का ।

तं परमाणुं सिद्धा, वयंति आई पमाणानं ॥

(अनु ३९८)

अनन्त सूक्ष्म परमाणुपुद्गलों के समुदय, समिति और  
समागम से एक व्यावहारिक परमाणुपुद्गल निष्पन्न होता  
है।

सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन नहीं किया

जा सकता, उस (व्यावहारिक) परमाणु को सिद्धपुरुष  
(केवली) प्रमाणों का आदि बतलाते हैं।

(व्यावहारिक परमाणु तलवार आदि शास्त्रों के  
द्वारा अच्छेद्य, अभेद्य, अग्नि के द्वारा अदाह्य, जल में  
रहकर भी अनार्द्र और सड़ान से परे हैं। वर्तमान में  
वैज्ञानिकों ने परमाणु को तोड़ा है। जैनदर्शन का अभि-  
मत है कि परमाणु अविभाज्य है, उसे तोड़ा नहीं जा  
सकता। इन दोनों अवधारणाओं में विरोधाभास प्रतीत  
होता है। इस विरोध में समन्वय का सूत्र खोजा जा सकता  
है। सूक्ष्म अथवा नैश्चयिक परमाणु निरवयव होने के  
कारण अविभाज्य है, उसे तोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु  
व्यावहारिक परमाणु सावयव है इसलिए उसे तोड़ना  
संभव है। यहां सुतीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा छेदन-भेदन का  
निषेध किया गया है, यह तात्कालीन शस्त्रों की अपेक्षा  
किया गया है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने जिन सुतीक्ष्ण  
उपकरणों का निर्माण किया है, उनसे उसका भेदन भी  
हो सकता है।)

### परमाणु का सप्रदेशत्व-अप्रदेशत्व

द्रव्यो परमाणु अपदेसो, सेसा सपदेसा । खेततो  
एगपदेसोनाढो अपदेसो सेसा सपदेसा । कालो एकसमय-  
द्वितो अपदेसो, सेसा सपदेसा । भावतो एगगुणकालो  
अपदेसो, सेसा सपदेसा । अहवा वण्णगंधरसफासेहिं चउहा  
सपदेसत्तं वा अपदेसत्तं वा । (आवचू २ पृ ४,५)

द्रव्य से—एक परमाणु अप्रदेश है, शेष सप्रदेश।

क्षेत्र से—एक प्रदेशावगाढ परमाणु अप्रदेश है, शेष  
सब सप्रदेश।

काल से—एक समय की स्थिति वाला परमाणु  
अप्रदेश है, शेष सब सप्रदेश।

भाव से—एक गुण काला परमाणु अप्रदेश, शेष सब  
सप्रदेश।

अथवा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के आधार पर परमाणु  
के सप्रदेशत्व-अप्रदेशत्व के चार विकल्प बनते हैं।

### ६. पुद्गल की स्थिति और अंतर

संतइं पप तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य ।

ठिंइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥

(उ ३६।१२)

स्कंध और परमाणु प्रवाह की अपेक्षा से अनादि  
अनंत है तथा स्थिति (एक क्षेत्र में रहने) की अपेक्षा से

सादि सान्त है ।

असंखकालमुक्कोसं, एगं समयं जहन्निया ।  
अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा चियाहिया ॥  
अणतकालमुक्कोसं, एगं समयं जहन्नयं ।  
अजीवाण य रूवीणं, अन्तरेयं चियाहियं ॥

(उ ३६।१३,१४)

रूपी अजीवों (पुद्गलों) की स्थिति जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की होती है । उनका अन्तर (स्वस्थान से स्वलित होकर वापिस नहीं आने तक का काल) जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल का होता है ।

### ७. पुद्गल-परमाणु बन्ध की प्रक्रिया

णिद्धस्स णिद्धेण दुताहिएणं, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं ।  
णिद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहन्नवज्जो विसमो समो वा ॥

एगगुणनिद्धो तिगुणणिद्धेणं बज्झति, तिगुणनिद्धो पंचगुणणिद्धेणं, पंचगुणो सत्तगुणणिद्धेणं, एवं दुयाहिएणं बंधो भवति, तथा दुगुणणिद्धो चउगुणणिद्धेणं, चउगुणणिद्धो छगुणणिद्धेणं, छगुणणिद्धो अट्टगुणणिद्धेणं, एवं जेयं । लुक्खेवि एवं चेव । णिद्धलुक्खस्स पुण जहन्नगुणवज्जेसु सेसेसु विससेसु समेसु वा बंधो भवति । एगगुणनिद्धो एगगुणलुक्खेणं ण बज्झति, सेसेसु दुगुणतिगुणठिएसु बज्झति ।

(उचू पृ १७)

सदृश सम्बन्ध—स्निग्ध परमाणुओं का स्निग्ध परमाणुओं के साथ एवं रूक्ष परमाणुओं का रूक्ष परमाणुओं के साथ सम्बन्ध तब होता है, जब स्निग्ध का रूक्ष परमाणुओं में दो गुण या उनसे अधिक गुणों का अन्तर मिले ।

विसदृश सम्बन्ध—स्निग्ध परमाणुओं का रूक्ष परमाणुओं के साथ जघन्य को छोड़कर सम या विषम संख्या होने पर सम्बन्ध हो जाता है ।

गुण (अंश)	सदृश	विसदृश
१+१	नहीं	नहीं
१+२	नहीं	नहीं
१+३	है	नहीं
२+३	नहीं	है
२+४	है	है
२+५	है	है
३+४	नहीं	है

सरिसगुणा सरिसगुणं अड्भहियगुणाण हीणगुणमेव ।  
परिणामिउं समत्थान पुण ऊणा तु अहियाणं ॥  
जति कालियमेगगुणं सुक्किलयंपि हवेज्ज बहुयगुणं ।  
परिणामिज्जति कालं सुक्केण गुणाहियगुणेणं ॥  
जति सुक्कं एगगुणं कालगदब्बंपि एगगुणमेव ।  
कावोतं परिणामं तुल्लगुणं जस्स संभवति ॥

(उचू पृ १८)

बंध-काल में स्निग्ध परमाणु अपने समान गुण वाले रूक्ष परमाणुओं को और रूक्ष परमाणु अपने समान गुण वाले स्निग्ध परमाणुओं को अपने-अपने रूप में परिणत कर लेते हैं । अधिक गुण वाले परमाणु हीन गुण वाले परमाणुओं को अपने रूप में परिणत कर लेते हैं ।

एक गुण काला परमाणु अधिक गुण वाले शुक्ल परमाणु के योग से शुक्ल हो जाता है । एक गुण काला परमाणु एक गुण शुक्ल परमाणु के योग से कापोत वर्ण में परिणत हो जाता है ।

### ८. पुद्गल संयोग के प्रकार

.....दुविहो उ दव्वसंजोगो ।

संजुत्तगसंजोगो नायव्वियरेयरो चेव ॥

(उनि ३०)

द्रव्य संयोग के दो प्रकार हैं—संयुक्तसंयोग और इतरेतरसंयोग ।

#### संयुक्त संयोग

एगरस एगवण्णे एमे गंधे तथा दुफासे अ ।

परमाणु खंधेहि अ दुपएसार्ईहि णायव्वो ॥

यदा वा तिक्ततादिपरिणतमपहाय कटुकत्वादिपरिणति प्रतिपद्यते तदाऽपि वर्णादिभिः संयुक्त एव कटुकत्वादिना संयुज्यते इति संयुक्तसंयोग उच्यते ।

(उनि ३३ शावू प २४)

एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो अविरुद्ध स्पर्श वाला परमाणु जब द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों अथवा अन्य परमाणुओं अथवा अन्य वर्णों के साथ संयुक्त होता है, तब वह संयुक्त संयोग कहलाता है । अथवा वर्ण आदि से संयुक्त परमाणु तिक्तता आदि की परिणति को छोड़ कटुकत्व आदि से संयुक्त होता है, वह भी संयुक्तसंयोग है ।

#### इतरेतर संयोग के प्रकार—

इयरेयरसंजोगो परमाणूणं तथा पएसणं ।.....

दुष्पभ्रितीण परमाणूणं जो संजोगो सो इतरेतर-  
संजोगो भवति परमाणूणं, पदेसेसु दुपदेसादीण नेयमिति ।  
(उनि ३५ चू पृ १७)

इतरेतर संयोग के दो प्रकार —

१. परमाणुसंयोग — दो, तीन आदि परमाणुओं का संयोग ।
२. प्रदेशसंयोग — द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों का संयोग ।

### इतरेतर प्रदेशसंयोग

धम्माइपएसाणं पंचण्ह उ जो एससंजोगो ।  
तिण्ह पुण अणाईओ साईओ होति दुण्हं तु ॥

(उनि ४२)

धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल—इन पांचों द्रव्यों का सजातीय स्कन्ध-देश-प्रदेशों के साथ जो संयोग होता है, वह इतरेतर प्रदेशसंयोग है ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—इन तीनों का सजातीय देश-प्रदेशों के साथ जो संयोग होता है, वह अनादि संयोग है । वह संयोग स्वाभाविक और अनादि है । जीवप्रदेशों और पुद्गल-प्रदेशों का धर्म, अधर्म और आकाश के प्रदेशों के साथ तथा पुद्गलों के साथ जो संयोग होता है, वह सादि संयोग है । धर्म, अधर्म और आकाश के स्कन्धों के साथ जीवप्रदेशों और पुद्गलप्रदेशों का जो संयोग है, वह अनादि संयोग है ।

### इतरेतर परमाणुसंयोग के प्रकार

परमाणूणं इतरेतरसंजोगो दुविहो—संठाणतो खंधतो य ।  
(उचू पृ १७)

इतरेतर परमाणुसंयोग के दो प्रकार—संस्थान और स्कन्ध ।

### संस्थान और स्कन्ध में अन्तर

.....खंधं तं सठाणं अणित्थंत्थं ॥

तस्य —स्कन्धस्य संस्थानम्—आकारस्तत्संस्थानम् । .....नियतपरिमण्डलाद्यन्यतराकारं संस्थानं शेषोऽ-  
नियताकारस्तु स्कन्ध इत्यनयोविशेषः ।

(उनि ३७ शावू प २७)

स्कन्ध का आकार संस्थान कहलाता है ।

परमाणुसंहति अचित्तमहास्कन्ध अथवा अन्य अनित्थंस्थ—परिमण्डल आदि पांच संस्थानों से अतिरिक्त

अनेक प्रकार के स्कन्धों का निर्माण करती है ।

संस्थान का आकार नियत होता है और स्कन्ध अनियत आकार वाले होते हैं । संस्थान और स्कन्ध में यही अन्तर है ।

### ६. पुद्गल का अवगाहन क्षेत्र

....लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ ॥

परमाणूनामेकप्रदेश एवावस्थानात् स्कन्धविषयैव भजना द्रष्टव्या, ते हि विचित्रत्वात् परिणतेर्बहुतरप्रदेशो-  
पचिता अपि केचिदेकप्रदेशे तिष्ठन्ति । अन्ये तु संख्येषु च प्रदेशेषु यावत् सकललोकेऽपि तथाविधाचित्तमहास्कन्ध-  
वद् भवेयुरिति भजनीया उच्यन्ते ।  
(उ ३६।११ शावू प ६७४)

क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध लोक के एक देश और समूचे लोक में भाज्य हैं—असंख्य विकल्पयुक्त हैं ।

परमाणु आकाश के एक प्रदेश में ही अवगाहन करते हैं, इसलिए भजना अथवा विकल्प केवल स्कन्ध का ही होता है । स्कन्ध की परिणति नाना प्रकार की होती है । कुछ स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश में भी अवगाहन करते हैं, कुछ आकाश के संख्येय प्रदेशों में अवगाहन करते हैं और कुछ स्कन्ध पूर्ण लोकाकाश में फैल जाते हैं—जैसे अचित्तमहास्कन्ध ।

### १०. अजीव द्रव्यकरण

अजियप्पओगकरणं दब्बे वण्णाइयाण पंचण्हं ।

चित्तकर (णं) कुसुंभाईसु विभासा उ सेसाणं ॥

(उनि १९५)

जं जं निज्जीवाणं कीरइ जीवप्पओगओ तं तं ।

वन्नाइ रूवकम्माइ वावि तदजीवकरणं ति ॥

(विभा ३३४२)

वस्त्र, काष्ठ आदि अजीव द्रव्यों पर जीवप्रयोग के द्वारा कुसुंभ आदि वर्ण चित्रित किये जाते हैं, पुत्तलिका आदि का रूपनिर्माण किया जाता है, वह अजीव द्रव्यकरण है ।

### अजीव भावकरण

वण्णरसगंधफासे संठाणे चैव होइ नायव्वं ।

पंचविहं पंचविहं दुविहइडुविहं च पंचविहं ॥

(उनि २०२)

अवरूपओगजं जं अजीवरूवाइपज्जयावत्थं ।  
तमजीवभावकरणं तप्यज्जायप्पणावेक्खं ॥

(विभा ३३५२)

पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श और पांच संस्थान इनके पर्यायों का परिणमन अजीव भावकरण है। अन्न, इन्द्रधनुष आदि में रूप, रस आदि पर्यायों का जो स्वाभाविक परिणमन होता है, वह अजीव भावकरण है। इसमें रूप आदि पर्यायों का प्राधान्य है जबकि द्रव्य-विलसाकरण में द्रव्य का प्राधान्य है। (द्र. करण)

### ११. शब्द पुद्गल है

शब्दस्तावन्मूर्तत्वात्पीद्गलिको, मूर्तिभावोऽस्य प्रतिघातविधायित्वादिभ्यः । उक्तं हि—

प्रतिघातविधायित्वात्लोष्टवन्मूर्तता ध्वनेः ।

द्वारवातानुपाताच्च, धूमवच्च परिस्फुटम् ॥

(उशावृ प ५६१)

शब्द पुद्गल है, क्योंकि वह मूर्त है। लोष्ट की भांति शब्द भी प्रतिघात करता है, वायु की भांति द्वार में प्रवेश करता है और धुएं की भांति चारों ओर फैल जाता है, इसलिए वह मूर्त है।

नाकाशगुणः शब्दः किन्तु पुद्गलगुणः, ऐन्द्रियकत्वात् रूपादिवदिति । (विभामवृ १ पृ ५७५)

शब्द आकाश का गुण नहीं है। वह पुद्गल का गुण है। जैसे रूप चक्षुर्ग्राह्य होने के कारण पीद्गलिक है, वैसे ही शब्द श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होने के कारण पीद्गलिक है।

**पुद्गलपरावर्तन**—जितने समय में एक जीव समस्त लोकाकाश के प्रदेशों, समस्त पुद्गलों आदि का स्पर्श करता है, वह एक पुद्गलपरावर्तन है। उसका कालमान अनन्त उत्सपिणी-अवसपिणी जितना है। (द्र. काल)

(पुद्गलपरावर्तन के मुख्यतः चार भेद हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—बाह्य और सूक्ष्म। पुद्गलपरावर्तन में आहारकशरीर-वर्गणा को छोड़कर शेष सात वर्गणाओं का ग्रहण और परित्याग होता है। देखें—अनुयोगद्वारा सूत्र ६१६ का टिप्पण।)

**पूर्व**—पूर्वगत, दृष्टिवाद का अन्तरालवर्ती ग्रंथ-समूह।

१. पूर्व नाम क्यों ?
२. पूर्वी की रचना और गणधर
३. पूर्व के प्रकार
४. पूर्व के वस्तु
५. पूर्वों की चूलिकायें
६. चौदह पूर्व : एक परिचय  
\* पूर्व : दृष्टिवाद का एक भेद (द्र. दृष्टिवाद)
७. परीषहप्रविभक्ति का उद्गम : पूर्व
८. दशवैकालिक का उद्गम
९. चतुर्दशपूर्वी  
o आगम निर्ग्रहण
१०. पूर्वधर : दृष्टि और भुत  
\* भुतकेवली (द्र. भुतकेवली)
११. पूर्व और प्रत्येकबुद्ध
१२. चतुर्दशपूर्वी का ज्ञान परस्पर तुल्य
१३. चतुर्दशपूर्वी में ज्ञान की तरतमता : भुतनिबद्ध भाव
१४. अन्तमूर्त में चौदह पूर्वों की अनुप्रेक्षा
१५. अवसपिणी काल में पूर्वधरों का क्रम
१६. चौदहपूर्वी की स्मृति की मजना  
o भुतज्ञान के नाश के कारण  
\* भद्रबाहु और पूर्व वाचना (द्र. आगम)  
\* अंतिम चौदहपूर्वी (द्र. आगम)
१७. अंतिम वसपूर्वी  
\* चतुर्दशपूर्वी : उरुकृष्ट बहुभुत (द्र. बहुभुत)  
\* सामायिक : चौदह पूर्वों का सार (द्र. सामायिक)  
\* पूर्व : गमिक भुत (द्र. भुतज्ञान)  
\* चतुर्दशपूर्वी और आहारक शरीर (द्र. शरीर)  
\* पूर्वधर : एक लब्धि (द्र. लब्धि)  
\* चतुर्दशपूर्वी के ध्यान (द्र. ध्यान)

### १. पूर्व नाम क्यों ?

जम्हा तित्थकरो तित्थपवत्तणकाले गणधराण सच्च-सुताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगतसुत्तत्थं भासति तम्हा पुव्वत्ति भणित्ता । गणधरा पुण सुत्तरयणं करेन्ता आयाराइकमेण

रयति द्ववेति य । अण्णायरियमतेणं पुण पुव्वगतसुत्तत्थो पुव्वं भरहता भासितो, गणहरेहि वि पुव्वगतसुत्तं चैव पुव्वं रइत्तं पच्छा आयाराइ । (नन्दीचू पृ ७५)

तीर्थंकर तीर्थप्रवर्तन के समय गणधरों के समक्ष सर्वप्रथम पूर्व का व्याकरण करते हैं । ये पूर्व समस्त सूत्रों के आधारभूत होते हैं । ये सर्वप्रथम व्याकृत होने के कारण 'पूर्व' कहलाते हैं । गणधर जब सूत्र की रचना करते हैं, तब आचार आदि के क्रम से उनकी रचना और स्थापना होती है । दूसरा मत यह है कि तीर्थंकरों ने सर्वप्रथम पूर्वगत को व्याकृत किया और गणधरों ने भी सबसे पहले पूर्वगत की ही रचना की और बाद में आचार आदि की रचना हुई । यह मत अक्षररचना की दृष्टि से है, स्थापना की दृष्टि से नहीं । स्थापना की दृष्टि से आचारांग का स्थान पहला है ।

## २. पूर्वों की रचना और गणधर

पूर्वाणि भगवद्भिर्गणधरैरुपनिबध्यन्ते । पूर्वं करणात् पूर्वाणीति पूर्वाचार्यप्रदर्शितव्युत्पत्तिश्रवणात् । पूर्वेषु च सकलवाङ्मयस्यावतारो । न खलु तदस्ति यत्पूर्वेषु नाभिहितम् । (आवमवृ प ४८)

पूर्वों की रचना गणधर करते हैं । पूर्वाचार्यों के अनुसार गणधर सबसे पहले पूर्वों की रचना करते हैं इसलिए ये पूर्व कहलाते हैं । पूर्वों में समस्त वाङ्मय का अवतरण हो जाता है । जो पूर्वों में न कहा गया हो, वैसा कुछ है ही नहीं ।

उसभसेणो णाम भरहस्स रत्तो पुत्तो सो धम्मं सोऊण पव्वइत्तो । तेण तिहि पुच्छाहि चोइसपुव्वाइं गहिताइं, उप्पन्नेवुविगते ध्रुवे । (आवचू १ पृ १८२)

चक्रवर्ती भरत का पुत्र ऋषभसेन धर्मोपदेश सुनकर प्रव्रजित हुआ । उसने उत्पन्न, विगम और ध्रुव— इन तीन निषद्याओं में चौदह पूर्वों को ग्रहण किया ।

## ३. पूर्व के प्रकार

पुव्वगए चउइसविहे पण्णत्ते, तं जहा — १. उप्पाय-पुव्वं २. अग्गेणीयं ३. वीरियं ४ अत्थिनत्थिप्पवायं ५ नाणप्पवायं ६. सच्चप्पवायं ७. आयप्पवायं ८. कम्मप्पवायं ९. पच्चक्खाणं १०. विज्जाणुप्पवायं ११. अवंभं १२. पाणाउं १३. किरियाविसालं १४. लोकविन्दु-सारं । (नन्दी १०४)

पूर्वगत चौदह प्रकार का है— १. उत्पाद २. अग्रायणीय ३. वीर्यप्रवाद ४. अस्तित्नास्तिप्रवाद ५. ज्ञान-प्रवाद ६. सत्यप्रवाद ७. आत्मप्रवाद ८. कर्मप्रवाद ९. प्रत्याख्यानप्रवाद १०. विद्वानुप्रवाद ११. अवंध्य (कल्याण) १२. प्राणायुप्रवाद १३. क्रियाविशाल १४. लोकविन्दुसार ।

## उत्पाद पूर्व

पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सब्बदब्बाणं पज्जवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पण्णवणा कता, तस्स पदपरिमाणं एक्का पदकोडी । (नन्दीचू पृ ७५)

उत्पादपूर्व चौदह पूर्वों में प्रथम है । इसमें उत्पाद-भाव को लक्ष्य कर सब द्रव्यों और पर्यायों की प्ररूपणा की गई है । इसका परिमाण है—एक करोड़ पद ।

## अग्रायणीय पूर्व

बितियं अग्गेणीयं, तत्थ वि सब्बदब्बाणं पज्जवाण य सब्बजीवविसेसाण य अग्गं— परिमाणं वण्णजइ ति अग्गेणीत्तं, तस्स पदपरिमाणं छण्णउत्ति पदसतसहस्सा । (नन्दीचू पृ ७५)

अग्रायणीय दूसरा पूर्व है । इसमें सब द्रव्यों, पर्यायों और सब जीवों का अग्र/परिमाण वर्णित है । इसका परिमाण है—छियानवे लाख पद ।

## अग्रायणीय पूर्व का एक उद्धरण

अग्गेणीअंमि य जहा दीवायण जत्थ एग तत्थ सयं । जत्थ सयं तत्थेगो हम्मइ वा भुंजए वावि ॥ अग्गेणीते विरिते अत्थिणत्थिप्पवायपुव्वे य पाढो— जत्थ एगो दीवायणो भुंजति तत्थ दीवायणसयं भुंजति जत्थ सयं दीवायणा भुंजति तत्थ एगो दीवायणो भुंजति, एवं हंमइत्ति जाव तत्थ एगो दीवायणो हम्मति ।

सम्प्रदायाभावान्न प्रतन्त्यते ।

(आवनि १०२२ चू १ पृ ६००; हावृ १ पृ ३१०)

## वीर्यप्रवाद पूर्व

तत्थिं वीरियप्पवायं, तत्थ वि अजीवाणं जीवाणं य सकम्मेतराण वीरियं प्रवदति त्ति वीरियप्पवादं, तस्स वि पदपरिमाणं सत्तांरि पदसतसहस्सा । (नन्दीचू पृ ७५)

वीर्यप्रवाद तीसरा पूर्व है । इसमें अजीवों तथा

सकर्म-अकर्म जीवों के वीर्य का प्रवाद/कथन है। इसमें सत्तर लाख पद हैं।

### अस्तित्नास्तिप्रवाद पूर्व

चउत्थं अत्थिणत्थिप्पवाद्दं, जं लोए जहा अत्थि जहा वा णत्थि, अहवा सित्वादिभिप्पादतो तदेवास्ति नास्ती-त्येवं प्रवदतीति अत्थिणत्थिप्पवाद्दं भणितं, तं पि पदपरिमाणतो सट्ठि पदसत्तसहस्साणि। (नन्दीचू पृ ७५)

चतुर्थं पूर्व है अस्तित्नास्तिप्रवाद। यह स्याद्वाद की दृष्टि से लोक में अस्ति और नास्ति (जो जैसे है या जो जैसे नहीं है) का कथन करता है। इसमें साठ लाख पद हैं।

### ज्ञानप्रवाद पूर्व

पंचमं णाणप्पवाद्दं ति, तम्मि मत्तिणाणाइपंचकस्स सप्रभेदं प्ररूवणा जम्हा कता तम्हा णाणप्पवाद्दं, तम्मि पदपरिमाणं एका पदकोडी एकपदूणा।

(नन्दीचू पृ ७५)

ज्ञानप्रवाद पांचवां पूर्व है। इसमें मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानों का भेद-प्रभेद सहित प्ररूपण किया गया है। इसका पदपरिमाण है—एक कम एक करोड़ पद।

### सत्यप्रवाद पूर्व

छट्ठं सच्चप्पवाद्दं, सच्चं—संजमो सच्चवयणं वा, तं सच्चं जत्थं सभेदं सपडिवक्खं च वण्णिज्जति तं सच्चप्पवाद्दं, तस्स पदपरिमाणं एगा पदकोडी छप्पदा-धिया।

(नन्दीचू पृ ७५,७६)

छठा पूर्व है—सत्यप्रवाद। सत्य का अर्थ है संयम अथवा सत्य वचन। इसका विषय है—सत्य और असत्य के भेदों का वर्णन। इसका पदपरिमाण है—एक करोड़ छह पद।

### आत्मप्रवाद पूर्व

सत्तमं आयप्पवात्तं, आयत्ति—आत्मा सो णेगहा जत्थं णयदरिसणेहि वण्णिज्जति तं आयप्पवाद्दं, तस्स वि पदपरिमाणं छब्बीसं पदकोडीओ। (नन्दीचू पृ ७६)

आत्मप्रवाद सातवां पूर्व है। इसमें नाना नय-दृष्टियों से आत्मा का निरूपण किया गया है। इसमें छब्बीस करोड़ पद हैं।

### कर्मप्रवाद पूर्व

अट्ठमं कम्मप्पवाद्दं, णाणावरणाइयं अट्ठविधं कम्मं

पगति-ट्टिति-अणुभाग-प्पदेसादिएहि भेदेहि अण्णेहि य उत्तरुत्तरभेदेहि जत्थ वण्णिज्जति तं कम्मप्पवाद्दं, तस्स वि पदपरिमाणं एगा पदकोडी असीति च पदसहस्साणि भवन्ति। (नन्दीचू पृ ७६)

कर्मप्रवाद आठवां पूर्व है। इसमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म, उनकी प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश तथा मूल-उत्तर प्रकृतियां वर्णित हैं। इसका पदपरिमाण है—एक करोड़ अस्सी हजार पद।

### प्रत्याख्यान पूर्व

णवमं पच्चक्खवाणं, तम्मि सब्बपच्चक्खवाणसरूवं वण्णिज्जति ति अतो पच्चक्खवाणप्पवाद्दं, तस्स य पदपरिमाणं चतुरासीति पदसत्तसहस्साणि भवन्ति।।

(नन्दीचू पृ ७६)

नौवां पूर्व है—प्रत्याख्यान। इसमें सब प्रकार के प्रत्याख्यानों का स्वरूप वर्णित है। इसका पदपरिमाण है—चौरासी लाख पद।

### विद्यानुप्रवाद पूर्व

दसमं विज्जणुप्पवात्तं, तत्थ य अणेगे विज्जातिसया वण्णिता, तस्स पदपरिमाणं एगा पदकोडी दस थ पदसत्त-सहस्साणि।

(नन्दीचू पृ ७६)

दसवें विद्यानुप्रवादपूर्व में अनेक प्रकार की विद्याओं का अतिशय/विशिष्ट विद्याओं का वर्णन है। इसका पद-परिमाण है—एक करोड़ दस लाख पद।

### अवन्ध्य पूर्व

एकादसमं अवन्धं ति, बन्धं णाम णिप्फळं, ण वन्ध-मवन्धं, सफलैत्यर्थः, सब्बे णाण-तव-संजमजोगा सफला वण्णिज्जति, अप्पसत्था य पमादादिया सब्बे असुभफला वण्णिता, अतो अवन्धं, तस्स वि पदपरिमाणं छब्बीसं पद-कोडीओ।

(नन्दीचू पृ ७६)

ग्यारहवें अवन्ध्य पूर्व में ज्ञान, तप व संयमयोगों की सफलता/सार्थकता तथा प्रमाद आदि अप्रशस्त योगों की असफलता/व्यर्थता वर्णित है। इसका पदपरिमाण है—छब्बीस करोड़ पद।

### प्राणायुप्रवाद पूर्व

बारसमं पाणायुं, तत्थ आयुं—प्राणविधाणं सब्बं सभेदं अण्णे य प्राणा वण्णिता, तस्स पदपरिमाणं एगा पदकोडी छप्पणं च पदसत्तसहस्सा।

(नन्दीचू पृ ७६)

बारहवें प्राणायुप्रवाद पूर्व में आयुष्यप्राण तथा अन्य इन्द्रिय आदि सभी प्राण भेदोपभेद सहित प्ररूपित हैं। इसका पदपरिमाण है—एक करोड़ छप्पन लाख पद।

### क्रियाविशाल पूर्व

तेरसमं किरियाविशालं, तत्थ कायकिरियादियाओ विसाल ति—सभेदा, संजमकिरियाओ य छंदकिरिय-विहाणा य, तस्स वि पदपरिमाणं णव कोडीओ।

(नन्दीचू पृ ७६)

तेरहवें क्रियाविशाल पूर्व में कायिकी आदि क्रियाएं, संयमक्रियाएं, छन्द—शार्दूलविक्रीडित आदि, क्रियाएं करोति, भवति आदि तथा उनके प्रकार विस्तार से वर्णित हैं। इसका पदपरिमाण है—नौ करोड़ पद।

### लोकबिन्दुसार पूर्व

चोद्दसमं लोमबिन्दुसारं, तं च इमम्मि लोए सुतलोए वा बिन्दुमिव अक्खरस्स सारं सव्वुत्तमं सव्वक्खरसण्णिवात-पढितत्तणतो लोमबिन्दुसारं, तस्स पदपरिमाण अद्दतेरस पदकोडीओ।

(नन्दीचू पृ ७९)

लोकबिन्दुसार चौदहवां पूर्व है। यह लोक में अथवा श्रुतलोक में अक्षर पर बिन्दु की भांति सर्वोत्तम है। यह सर्वाक्षर-सन्निपात लब्धि का हेतु है। इसका पदपरिमाण है—साढ़े बारह करोड़ पद।

### ४. पूर्व के वस्तु (अध्याय)

दस चोद्दस अद्दु, अद्दुारसेव बारस दुवे य वत्थूणि ।  
सोलस तीसा बीसा, पणरस अणुप्पवायम्मि ॥  
बारस इक्कारसमे, बारसमे तेरसेव वत्थूणि ।  
तीसा पुण तेरसमे, चोद्दसमे पण्णवीसाओ ॥

(नन्दी ११८ संग्रहणी गाथा १,२)

पूर्व	वस्तु
१. उत्पाद	दस
२. अग्रायणीय	चौदह
३. वीर्यप्रवाद	आठ

४. अस्तिनास्तिप्रवाद	अठारह
५. ज्ञानप्रवाद	बारह
६. सत्यप्रवाद	दो
७. आत्मप्रवाद	सोलह
८. कर्मप्रवाद	तीस
९. प्रत्याख्यानप्रवाद	बीस
१०. विद्यानुप्रवाद	पन्द्रह
११. अवन्ध्य (कल्याण)	बारह
१२. प्राणायुप्रवाद	तेरह
१३. क्रियाविशाल	तीस
१४. लोकबिन्दुसार	पच्चीस

### ५. पूर्वों की चूलिकायें

चूडा इव चूडा, ग्रन्थे उक्ताऽनुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थ-पद्धतयश्चूडा।

(नन्दीहावृ पृ ९३)

मूल ग्रन्थ में प्रतिपादित-अप्रतिपादित अर्थ का संग्रह करने वाली ग्रन्थपद्धति का नाम है चूला।

दिट्ठिवाते जं परिकम्म-सुत्त-पुण्व-अणुयोमे य ण भणितं तं चूलासु भणितं। ताओ य चूलाओ आदिल्ल-पुण्वाण चतुण्हं जे चूलवत्थू भणिता ते चेव सव्वुवरि ट्ठुविता पढिज्जंति य, अतो ते सुयपव्वयचूला इव चूला।

(नन्दीचू पृ ७९)

परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग—दृष्टिवाद के इन चार भेदों में जो प्रतिपादित नहीं हुआ है, वह चूलाओं में प्रतिपादित है। प्रथम चार पूर्वों की चूलाएं हैं। अध्ययन के क्रम में चूलावस्तु सबसे अंत में पढ़ी जाती है, अतः वे श्रुत रूप पूर्वों की चूलाएं हैं।

चत्तारि दुवालस अद्दु चेव दस चेव चुल्लवत्थूणि ।

आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥

(नन्दी ११८-१३)

उत्पादपूर्व के चार, अग्रायणीय के बारह, वीर्यप्रवाद के आठ और अस्तिनास्तिप्रवाद के दस चूलिका-वस्तु हैं। शेष पूर्वों के चूलिका-वस्तु नहीं है।

## चौदह पूर्व : एक परिचय

पूर्व	विषय	पद-परिमाण	वस्तु	चूलिका-वस्तु
१. उत्पाद	द्रव्य और पर्यायों की उत्पत्ति	१ करोड़	१०	४
२. अन्नायणीय	द्रव्य, पर्याय और जीवों का परिमाण	९६ लाख	१४	१२
३. वीर्यप्रवाद	अजीवों तथा सकर्म-अकर्म जीवों के वीर्य का वर्णन	७० लाख	८	८
४. अस्तित्वास्तप्रवाद	पदार्थ की सत्ता-असत्ता का निरूपण	६० लाख	१८	१०
५. ज्ञानप्रवाद	पाँच ज्ञानों का भेद-प्रभेद सहित प्ररूपण	एक कम १ करोड़	१२	०
६. सत्यप्रवाद	सत्य और असत्य के भेदों का वर्णन	१ करोड़ छह	२	०
७. आत्मप्रवाद	नाना नयदृष्टियों से आत्मा का निरूपण	२६ करोड़	१६	०
८. कर्मप्रवाद	कर्म का स्वरूप और प्रकार	१ करोड़ ८० हजार	३०	०
९. प्रत्याख्यानप्रवाद	प्रत्याख्यानो का स्वरूप वर्णन	चौरासी लाख	२०	०
१०. विद्यानुप्रवाद	विशिष्ट विद्याओं का वर्णन	१ करोड़ १० लाख	१५	०
११. अवन्ध्य	संयमयोगों की सार्थकता, असंयमयोगों की व्यर्थता	२६ करोड़	१२	०
१२. प्राणायुप्रवाद	प्राणों के भेद-प्रभेद का प्ररूपण	१ करोड़ ५६ लाख	१३	०
१३. क्रियाविशाल	क्रियाओं के भेद-प्रभेद का निरूपण	९ करोड़	३०	०
१४. लोकविन्दुसार	सर्वाक्षरसन्निपात लब्धि का निरूपण	१२ $\frac{१}{२}$ करोड़	२५	०

## ७. परीषह प्रविभक्ति का उद्गम : पूर्व

अस्य कर्मप्रवादपूर्वसप्तदशप्राभृतोद्धृततया वस्तुतः सुधर्मास्वामिनैव जम्बूस्वामिनं प्रति प्रणीतत्वात् ।

(उशावृ प १३२)

आर्य सुधर्मा ने जम्बूस्वामी को 'परीषहप्रविभक्ति' (उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन) की वाचना दी । यह अध्ययन कर्मप्रवादपूर्व के सतरहवें प्राभृत से उद्धृत है ।

कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं ।

सणयं सोदाहरणं तं चैव इहंमि णायव्वं ॥

(उनि ६९)

कर्मप्रवादपूर्व के सतरहवें प्राभृत में परीषहों का नय और उदाहरण सहित निरूपण है ।

## ८. दशवैकालिक का उद्गम

आयप्पवायपुव्ववा णिज्जूढा होई धम्मपण्णत्ती ।

कम्मप्पवायपुव्ववा पिडस्स तु एसणा तिविधा ॥

सच्चप्पवातपुव्ववा णिज्जूढा होति वक्कमुद्धी उ ।

अवसेसा णिज्जूढा णवमस्स उ ततियवत्थूतो ॥

बित्तिओ वि य आदेसो गण्णिपिडगातो दुवालसंगातो ।

(दनि ५-७)

दशवैकालिक का धर्मप्रज्ञप्ति (चौथा अध्ययन)

आत्मप्रवादपूर्व से, पिण्डैषणा (पाँचवाँ अध्ययन) कर्मप्र-

वादपूर्व से, वाक्यशुद्धि (सातवाँ अध्ययन) सत्यप्रवादपूर्व से और शेष सात अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किए गए हैं ।

दूसरी मान्यता के अनुसार इसका निर्यूहण गणिपिटक द्वादशांगी से किया गया ।

## ९. चतुर्दशपूर्वी

ते किर चउदसपुव्वी, सव्वक्खरसन्निवाडणो निउण्णा ।... (उनि ३१७)

चोदसुपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खर-सन्निवादीणं जिणोवि ववितहं वागरमाण्णं... ।

(आवचू १ पृ १५९)

चौदहपूर्वी जिन नहीं होते, जिन के सदृश होते हैं । वे जिन की तरह यथार्थभाषी होते हैं । उन्हें सर्वाक्षर-सन्निपात लब्धि प्राप्त होती है ।

आगमो चोदसपुव्ववा णिट्ठं पत्ता जाव संयभूरमणे वि जं मच्छओ करेति तं पि जाणति । (आवचू १ पृ ५४३)

चतुर्दशपूर्वी स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्यों की चेट्टाएं भी जान सकते हैं ।

ऋद्धयश्चामपौषध्यादयश्चक्रवर्तिनमपि योधयेदित्येवं-विधपुलाकलब्ध्यादयश्च महत्स्य एवास्य भवन्ति, सन्ति चास्थापि चतुर्दशरत्नोपमानि सकलातिशयनिघ्नानानि पूर्वाणि । (उशावृ प ३५०)



चतुर्दशपूर्वी आमर्षोषधि आदि लब्धियों से सम्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती के साथ भी युद्ध कर सके, वैसे पुलाक लब्धि उनके पास होती है। जैसे चक्रवर्ती चौदह रत्नों के अधिपति होते हैं, वैसे ही वे अक्षय ज्ञानकोष रूप चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते हैं।

(चतुर्दशपूर्वी एक घट से हजार घट, एक पट से हजार पट, एक कट से हजार कट, एक छत्र से हजार छत्र और एक दंड से हजार दंड निर्मित कर दिखा सकते हैं। देखें—भगवती ५।४।११२)

### आगमनिर्यूहण

चोद्सपुव्वी कर्हिपि कारणे समुप्पण्णे णिज्जूहइ, दसपुव्वी पुण अपच्छिमो अवस्समेव णिज्जूहइ, ममपि इमं कारणं समुप्पण्णं, अहमपि निज्जुहामि... दसवेया-लियं। (दजिचू पृ ७)

चौदहपूर्वी कारण उपस्थित होने पर निर्यूहण करते हैं। अन्तिम दशपूर्वी अवश्य निर्यूहण करते हैं। चौदहपूर्वी आचार्य शय्यंभव ने कारण उपस्थित होने पर दशवैकालिक का निर्यूहण किया।

### १०. पूर्वधर : दृष्टि और श्रुत

चोद्स दस य अभिन्ने नियमा सम्मं तु सेसाए भयणा ... (विभा ५३४)

चतुर्दशपूर्वी और पूर्ण दशपूर्वी नियम से सम्यक्दृष्टि होते हैं। शेष अपूर्ण दशपूर्वी से आचारांगधर पर्यन्त में सम्यक्त्व की भजना है—वे सम्यक्दृष्टि भी हो सकते हैं और मिथ्यादृष्टि भी।

इच्चियं दुवालसंगं गणिपिडमं चोद्सपुव्विस्स सम्मसुयं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुयं, तेण परं भिण्णेसु भयणा। (नन्दी ६६)

द्वादशान्ग गणिपिटक चतुर्दशपूर्वी से अभिन्नदसपूर्वी पर्यन्त सम्यक् श्रुत होता है। शेष भिन्नदसपूर्वी आदि में सम्यक् श्रुत की भजना है।

### ११. पूर्व और प्रत्येकबुद्ध आदि

पत्तेयबुद्धाणं पुव्वाधीतं सुतं णियमा भवति—जहण्णेणं एककारसंगा, उक्कोसेणं भिण्णदसपुव्वा।

(नन्दीचू पृ २६)

प्रत्येकबुद्ध में पूर्व अधीत श्रुत की नियमा है—जघन्यतः ग्यारह अंग, उत्कृष्टतः भिन्न दस पूर्व।

पुलागवकुसपडिसेवणाकुसीला य उक्कोसेणं अभिन्न-दसपुव्वधरा कषायकुशीलनिर्ग्रन्थौ चतुर्दशपूर्वधरो। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु नवमपूर्वं बकुशकुशील-निर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। (उशावृ प २५८)

पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील—ये तीन प्रकार के निर्ग्रन्थ उत्कृष्टतः अभिन्न दसपूर्वधर होते हैं और कषायकुशील निर्ग्रन्थ चतुर्दशपूर्वधर होते हैं। पुलाक निर्ग्रन्थ जघन्यतः नौवें पूर्व की आचारवस्तु के ज्ञाता होते हैं और बकुश तथा कुशील निर्ग्रन्थ अष्ट प्रवचन-माता के ज्ञाता होते हैं।

### १२. चतुर्दशपूर्वी का ज्ञान परस्पर तुल्य

अखरलभेण समा ऊणहिया होंति मइविसेसेहिं।  
ते वि य मईविसेसे सुयणाणम्मंतरे जाण॥

(विभा १४३)

अक्षरलाभ की अपेक्षा से सभी चौदहपूर्वी तुल्य होते हैं किंतु क्षयोपशम की विचित्रता से प्राप्त मतिविशेषों की अपेक्षा से उनमें न्यूनाधिकता भी होती है। ये मति-विशेष श्रुतानुसारी होने के कारण श्रुतज्ञान के अन्तर्गत ही हैं, मतिज्ञानान्तर्भावी नहीं हैं।

### १३. चतुर्दशपूर्वी में ज्ञान की तरतमता : श्रुत-निबद्ध भाव

जं चोद्सपुव्वधरा छट्ठाणगया परोप्परं होंति।  
तेण उ अणंतभागो पण्णवणिज्जाण, जं सुत्तं॥

अणंतभागहीणे वा, असंखेज्जभागहीणे वा, संखेज्ज-भागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा। अणंतभागव्भहिए वा, असंखेज्ज-भागव्भहिए वा, संखेज्जभागव्भहिए वा, संखेज्जगुणव्भहिए वा, अणंतगुणव्भहिए वा।

यदि पुनर्यावन्तः प्रज्ञापनीया भावास्तावन्तः सर्वेऽपि सूत्रे निबद्धा भवेयुः, तदा तद्वेदिनां तुल्यतैव स्यात्, न षट्स्थानपातित्वम्। (विभा १४२ मवृ पृ ७५, ७६)

चौदहपूर्वी परस्पर षट्स्थानपातित—ग्रहणक्षमता में न्यूनाधिक होते हैं। यदि सारे प्रज्ञापनीयभाव श्रुतनिबद्ध हों तो उनके ज्ञाता में तरतमता नहीं होती, वे सब समान

ही होंगे। परन्तु छह प्रकार से तरतमता है, इसलिए प्रज्ञापनीय भावों का अनन्तवां भाग ही श्रुतनिबद्ध है। वे छह स्थान ये हैं—

न्यून	अधिक
१. अनन्तभाग हीन	१. अनन्तभाग अधिक
२. असंख्येयभाग हीन	२. असंख्येयभाग अधिक
३. संख्येयभाग हीन	३. संख्येयभाग अधिक
४. संख्येयगुण हीन	४. संख्येयगुण अधिक
५. असंख्येयगुण हीन	५. असंख्येयगुण अधिक
६. अनन्तगुण हीन	६. अनन्तगुण अधिक

उक्कोसमुयन्नाणी वि जाणमाणो वि तेऽभिलप्पे वि ।

न तरइ सव्वे वोत्तु न पहुप्पइ जेण कालो से ॥

तस्योत्कृष्टश्रुतज्ञानिनो वदतः कालो न प्रभवति न  
पूर्यते, आयुषः परिमितत्वात् वाचश्च क्रमवर्तित्वात् ।

(विभा ४५२ मवृ पृ २१४)

एक चतुर्दशपूर्वी, जो उत्कृष्ट श्रुतज्ञानलब्धि से सम्पन्न है, सब भावों को जानता है, फिर भी वह सब प्रज्ञापनीय (अभिलाष्य) भावों का पूर्णतया प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि आयुष्य परिमित और वचन क्रमवर्ती होने के कारण अनन्त भावों को व्यक्त करने जितना समय नहीं रहता ।

### १४. अन्तर्मुहूर्त में चौदहपूर्वी की अनुप्रेक्षा

महापाणं किर जदा अतिगतो होति ताहे उप्पण्णे  
कज्जे अन्तोमुहुत्तेण चोदसवि पुव्वाणि अणुप्पेहेज्जंति,  
उक्कइओवइयाणि करेति । (आवचू २ पृ १८७)

महाप्राण (महापान) ध्यान की साधना सम्पन्न होने पर चतुर्दशपूर्वी प्रयोजन उपस्थित होने पर अन्तर्मुहूर्त में चौदह ही पूर्वी की अनुप्रेक्षा—पर्यालोचना कर लेता है, अनुक्रम-व्युत्क्रम से उनका परावर्तन कर लेता है ।

चोदसपुव्वधरस्सागमोवउत्तस्स अन्तमुहुत्तमेत्तोवयोग-  
काले अत्थोवलंभोवयोगपज्जवा जे ते समयावहारेण  
अणंताहिवि उस्सप्पिणीओसप्पिणीहि णोवहिज्जंति ते  
अतो भणितं आगमतो भावअज्झीणं । (अनुचू पृ ८८)

चतुर्दश पूर्वविद् मुनि, जो आगम ग्रन्थों के विषय में एकाग्रचित्त है, वह अन्तर्मुहूर्त मात्र में असीम पर्यायों को जान लेता है, एक-एक पर्याय को एक-एक समय में

अवहृत किया जाये तो अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी में भी उनका अवहार नहीं हो सकता, इसे भावतः अक्षीण कहा जाता है ।

### १५. अवसर्पिणी काल में पूर्वधरों का क्रम

अस्यागवसर्पिण्यां चतुर्दशपूर्व्यनन्तरं दशपूर्वधरा एव  
संजाता न त्रयोदशपूर्वधरा द्वादशपूर्वधरा एकादशपूर्वधरा  
वा । (ओनिवृ प ३)

इस अवसर्पिणी कालखंड में चतुर्दशपूर्वी हुए हैं, उनके पश्चात् दशपूर्वी ही हुए, किंतु तेरहपूर्वी, बारहपूर्वी या ग्यारहपूर्वी नहीं हुए ।

### १६. चौदह पूर्वी की स्मृति की भजना

चोदसपुव्वी मणुओ देवत्ते तं न संभरइ सव्वं ।

देसम्मि होइ भयणा सट्ठाणभवे वि भयणा उ ॥

(विभा ५३९)

चतुर्दशपूर्वी को देवलोक में उत्पन्न होने पर सारे श्रुत की स्मृति नहीं रहती । आंगिक स्मृति रह भी सकती है, नहीं भी रहती । वर्तमान जन्म में भी भजना है ।

### श्रुतज्ञान के नाश के कारण

मिच्छ-भवंतर-केवल-गेलन्न पमायमाइण नासो ।....

(विभा ५४०)

श्रुत-नाश के ये कारण हैं—

- ० मिथ्यात्व
- ० भवान्तर-गमन
- ० केवलज्ञान की प्राप्ति
- ० रुग्ण शरीर
- ० प्रमाद आदि ।

### १७. अन्तिम दसपूर्वी

अज्जवइरा उवउत्ता—...मतेहिंतो वोच्छिज्जिहिंति  
दसमपुव्वं । ...तमि य भगवंते अद्धनारायसंघयणं दस  
पुव्वाणि य वोच्छिण्णा । (आवहावृ १ पृ २०२, २०३)

आर्य वज्र (वीरनिर्वाण की छठी शती) के पश्चात् विद्यानुप्रवाद नामक दशवां पूर्व तथा अर्धनाराच संहनन—ये दोनों विच्छिन्न हो गये ।

**पूर्वगत**—चौदह पूर्व । दृष्टिवाद का तीसरा भेद ।  
(द्र. पूर्व)

**पूर्वानुयोग**—दृष्टिवाद का चौथा भेद ।  
(द्र. दृष्टिवाद)

**पृथ्वीकाय**—पृथ्वी ही है शरीर जिनका, वे जीव ।  
(द्र. जीविकाय)

**पोट्टपरिहार**—पुनः पुनः उसी शरीर में उत्पन्न होना—'पउट्टपरिहारो नाम परावर्त्य तस्मिन्नेव सरीरके उववज्जति'  
(आवचू १ पृ २९९)

सिद्धत्थपुराओ य कुंमगामं संपत्थिया । तत्थ अंतरा एगो तिलथंभओ । तं दट्ठण गोसालो भणति—भगवं ! एस तिलथंभओ कि निप्फज्जिहिति न वत्ति ?

सामी भणइ—निप्फज्जिही । एते य सत्त पुप्फजीवा ओट्टाइत्ता एतस्सेव तिलथंभस्स एगाए सिबलियाए पच्चायाहिति ।

तेण असट्ठहंतेण अवक्कमित्ता सलेट्ठुओ उप्पाडितो । एगंते य एडिओ । .....बुट्ठं.....पुप्फा य पच्चायाता ।  
(आवचू १ पृ २९७)

महावीर ने सिद्धार्थपुर से कुंमग्राम की ओर प्रस्थान किया । मार्ग में एक तिल का पौधा था । गोशालक ने उसे देख पूछा—भगवन् ! यह तिल का पौधा निष्पन्न होगा या नहीं ?

महावीर ने कहा—यह निष्पन्न होगा । इस पौधे पर लगे सात फूलों के जीव मरकर इसी पौधे की एक फली में पैदा होंगे ।

महावीर के वचनों पर अश्रद्धा करते हुए गोशालक ने जड़ सहित पौधे को उखाड़ा और एकान्त में फेंक दिया ।

उसी समय आकाश में दिव्य बादल आए । ..... उससे तिलस्तम्भ का रोपण हुआ । वह अंकुरित हुआ, बढ़मूल हुआ और वहीं पर प्रतिष्ठित हो गया ।

तिलपुष्प के वे सात जीव मरकर उसी तिलस्तम्भ की एक फली में सात तिलों के रूप में उत्पन्न हो गए ।

अन्नदा सामी कुंमग्रामाओ सिद्धत्थपुरं संपत्थितो । पुणरवि तिलथंभस्स अदूरसामंतेण जाव वत्तिवयति ताहे पुच्छइ भगवं ! जहा न निप्फणो ।

भगवता कहितं—जहा निप्फणो । तं एवं वणप्फईण पउट्टपरिहारो ।  
(आवचू १ पृ २९९)

महावीर ने कुंमग्राम से सिद्धार्थपुर की ओर प्रस्थान किया । ज्योंही तिल के पौधे के पास से गुजरे कि गोशालक ने पूछा—भगवन् ! तिल का पौधा निष्पन्न नहीं हुआ है ।

महावीर ने कहा—तिल का पौधा निष्पन्न हो गया है । 'पोट्टपरिहार' केवल बनस्पतिकाग्र में ही होता है ।

**प्रच्छिन्ना**—प्रतिप्रश्न करना । स्वाध्याय का एक भेद ।  
(द्र. स्वाध्याय)

**प्रतिक्रमण**—असंयम से संयम में लौटना ।

### १. प्रतिक्रमण का अर्थ

\* प्रतिक्रमण : आवश्यक का एक विभाग (द्र. आवश्यक)

० मिच्छा मि दुक्कडं का अर्थ

### २. प्रतिक्रमण के पर्याय

० आठ दृष्टांत

### ३. प्रतिक्रमण के प्रकार

० दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण

० इत्वरिक-यावत्कथिक प्रतिक्रमण

० पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्यों ?

### ४. प्रतिक्रमण सूत्र

० ईयापथिक प्रतिक्रमण

० शय्या-अतिचार प्रतिक्रमण

\* गोचरचर्या-अतिचार प्रतिक्रमण (द्र. गोचरचर्या)

० स्वाध्याय-प्रतिलेखना अतिचार प्रतिक्रमण

### ५. प्रतिक्रमण के स्थान

६. अतिचार के हेतु

७. असंभव अतिचारों का प्रतिक्रमण क्यों ?

८. तीन काल का प्रतिक्रमण

९. प्रतिक्रमण की सार्थकता

### १०. प्रतिक्रमण के परिणाम

\* प्रतिक्रमण का कल्प (द्र. शासनभेद)

\* प्रतिक्रमण : प्रायश्चित्त का एक भेद

(द्र. प्रायश्चित्त)

\* प्रतिक्रमण और कृतिकर्म (द्र. वन्दना)

\* दैवसिक आदि प्रतिक्रमण और लोगस्स परिमाण (द्र. कायोत्सर्ग)

### ११. प्रतिक्रमण की उपसम्पदा

## १. प्रतिक्रमण का अर्थ

नेयं पडिक्कमामि त्ति भूयसावज्जओ निवत्तामि ।

तत्तो य का निवत्ती ? तदणुमईओ विरमणं जं ॥

(विभा ३५७२)

प्रतिक्रमण का अर्थ है—भूतकाल के सावद्ययोगों से निवृत्ति । यह निवृत्ति अनुमोदनविरमण रूप होती है ।

पडिक्कमामि नाम अपुणक्करणताए अब्भुट्ठेमि अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जामि । (आवचू २ पृ ४८)

प्रतिक्रमण का अर्थ है—दोष का पुनः सेवन न करने का संकल्प और यथायोग्य प्रायश्चित्त का स्वीकरण तथा वहन ।

स्वस्थानाच्छत्परं स्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः ।

तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

आयोपशमिकाद्वापि, भावादौदयिकं गतः ।

तत्रापि हि स एवार्थः, प्रतिकूलगमात् स्मृतः ॥

पति पति पवत्तणं वा सुभेसु जोगेसु मोक्खफलदेसु ।

निस्सल्लसस जतिस्सा जं तेणं तं पडिक्कमणं ॥

(आवचू २ पृ ५२)

प्रतिक्रमण का अर्थ है—

१. प्रमादवश पर-स्थान (असंयम) में चले जाने पर पुनः स्वस्थान (संयम) में आना ।

२. औदयिक भाव से आयोपशमिक भाव में लौटना ।

३. निःशल्य हो अशुभयोग से शुभयोग में प्रवृत्त होना ।

पडिक्कमणं पुण—पवयणमादिकादिषु आवस्सगाइ-क्कमे वा सहसाइक्कमणे पडिचोतितो सत्तं वा सरिऊण 'मिच्छा दुक्कडं' करेति, एवं तस्स सुद्धी ।

(दअचू पृ १४)

प्रवचनमाता (समिति-गुप्ति) के आचरण में अथवा आवश्यक में अतिक्रमण होने पर, सहसा अतिक्रमण होने पर, दूसरे के द्वारा कहे जाने पर अथवा स्वयं उस अतिक्रमण की स्मृति कर 'मिच्छा मि दुक्कडं—मेरा दुष्कृत मिथ्या हो'—ऐसा उच्चारण करना प्रतिक्रमण है । इससे दोषों की शुद्धि होती है ।

मूलुत्तरावराहकखलणाए क्खलित्ती पच्चागतसंवेगे विसुज्झमाणभावो पमातकरणं संभरंतो अल्पणो णिदण-गरंहणं करेति ।

(अनुचू पृ १८)

मूलगुणों और उत्तरगुणों में स्खलना होने पर जब संवेग की पुनः प्राप्ति होती है, तब मुनि भावना की विशुद्धि से प्रमाद की स्मृति करता हुआ आत्म-निन्दा और गर्हा करता है, वह प्रतिक्रमण है ।

## मिच्छा मि दुक्कडं का अर्थ

मित्ति मिउमह्वत्ते छत्ति अ दोसाण छायाणे होइ ।

मित्ति य मेराइ ठिओ दुत्ति दुग्गुंछामि अप्पाणं ॥

कत्ति कडं मे पावं डत्तियं डेवेमि तं उबसमेणं ।

एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो समासेणं ॥

(आवनि १५०५, १५०६)

'मि' के दो अर्थ हैं—काया की ऋजुता तथा भावों की ऋजुता, 'छा' का अर्थ है—असंयम का स्वयं, 'मि' का अर्थ है—मैं चारित्र्य की मर्यादा में स्थित हूँ । 'दु' का अर्थ है—मैं दुष्कृतकारी आत्मा की निन्दा करता हूँ । 'क' का अर्थ है—मैंने पापकर्म किया है । 'ड' का अर्थ है—मैं उसका अतिक्रमण करता हूँ, लंघन करता हूँ ।

(इसका तात्पर्य है मैं संयम में स्थित हूँ । मेरे द्वारा जो अनाचीर्ण का आचरण हुआ है, उसे मैं काया और भावों की ऋजुता से स्वीकार कर उसका प्रायश्चित्त करता हूँ ।)

## २. प्रतिक्रमण के पर्याय

पडिक्कमणं पडियरणा परिहरणा वारणा नियत्ती य ।

निंदा गरिहा सोही पडिक्कमणं अट्टहा होइ ॥

(आवनि १२३३)

प्रतिक्रमण, प्रतिकरण, परिहरण, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शोधि—ये प्रतिक्रमण के आठ पर्याय हैं ।

## आठ वृष्टान्त

अद्धाणे पासाए दुद्धकाय विसभोयणतलाए ।

दो कन्नाओ पइमारिया य वत्थे य अगए य ॥

(आवनि १२४२)

१. प्रतिक्रमण—प्रमादवश संयम से बाहर चले जाने पर पुनः संयम में लौट आना ।

एक राजा नगर के बाहर प्रासाद का निर्माण कराना चाहता था । उसने शुभ तिथि-नक्षत्र में कार्य प्रारंभ किया । उस क्षेत्र के संरक्षण के लिए रक्षक नियुक्त कर उन्हें कहा— जो इसमें प्रवेश करे, उसे मौत के घाट

उतार देना। जो उन्हीं पैरों लौट आए, उसे मत मारना। एक दिन दो ग्रामीण व्यक्ति अज्ञान में उसमें घुस गए। आरक्षकों ने उन्हें पकड़ा। एक ने उद्दंडतापूर्वक कहा—भीतर आ गए तो क्या हुआ? रक्षकों ने उसे मार डाला। दूसरे ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—आप जैसा कहेंगे, वैसा करूंगा। मुझे न मारें। रक्षकों ने कहा—आगे मत जाना। वह उन्हीं पैरों लौट आया। उसके प्रतिक्रमण ने उसे बचा लिया।

२. प्रतिक्रमण—अकार्य का परिहार और कार्य में प्रवृत्ति।

एक धनाढ्य वणिक् ने विशाल हर्म्य बनाया। एक बार वह वणिक् अपना हर्म्य अपनी पत्नी को संभला कर देशान्तर चला गया। कुछ समय बीता। हर्म्य का एक खंड गलित-पलित होकर गिर गया। सेठानी ने कहा—इतने विशाल मकान का एक कोना गिर जाने से क्या अनर्थ होगा? उसी मकान के एक ओर पीपल का अंकुर अंकुरित हो गया। सेठानी ने लापरवाही बरती। कालान्तर में उसके विस्तार से सारा हर्म्य ढह पड़ा। सेठानी ने सोचा—यदि मैं प्रारंभ से ही जागरूक रहती तो यह वशा नहीं होती।

जो दोषों की उपेक्षा करता है, वह संयम से भ्रष्ट होकर दुःखी हो जाता है। जो प्रायश्चित्त के द्वारा दोषों की विशुद्धि कर लेता है, वह चारित्र्य की अखंड आराधना कर सकता है।

३. परिहरण—अस्थानों—दोषों का परिहरण।

एक कुलपुत्र ने दो व्यक्तियों को दो-दो घड़े देकर कहा—जाओ, गोकुल से दूध ले आओ। दोनों गए। घड़ों को दूध से भरकर, कावड़ में चढ़े रख, घर की ओर प्रस्थित हुए। जाने के दो मार्ग थे। एक ऋजु किन्तु ऊबड़-खाबड़, दूसरा वक्र किन्तु निरापद। एक ऋजु मार्ग से चला। मार्ग ऊंचा-नीचा होने के कारण ठोकर लगी। दोनों घड़े फूट गए। दूसरा वक्र मार्ग से चला और घड़ों सहित घर पहुंच गया।

विषम स्थानों का परिहार करने वाला सुखपूर्वक लक्ष्य तक पहुंच जाता है।

४. वारण—अपने आपको दोषों से दूर रखना।

एक राजा था। उसने पड़ोसी राज्य पर आक्रमण कर दिया। पड़ोसी राजा ने सभी प्रकार के खाद्यों तथा

पानी के स्रोतों—तालाब, वापी, सरोवर आदि में विष मिला दिया। आक्रमणकारी राजा को यह ज्ञात हो गया। उसने अपने स्कंधावार में यह घोषणा करवाई कि यहां का सारा खाद्य और पेय विषमिश्रित है। कोई भी उसे न खाए। जिन सुभटों ने घोषणा के अनुसार बरताव किया, वे जीवित रह गए, और जिन्होंने घोषणा की अवहेलना की, वे मृत्यु को प्राप्त हो गए।

जो दोषों से दूर रहता है, वह चारित्र्य की सही अनुपालना करता है।

५. निवृत्ति—अशुभ भावों से निवर्तन।

एक गच्छ में अनेक मुनि थे। एक तरुण मुनि व्युत्पन्न था। आचार्य उसको गणधारण के योग्य समझकर सदा बढ़ाते रहते। एक बार वह आवेश के वशीभूत होकर गण से निकल गया। मार्ग में जाते-जाते उसने एक गीत सुना—

‘तरितव्वा य पतिष्णया, मरितव्वं वा समरे समस्यएणं ।  
असरिसवयणुप्फेसया, न हु सहितव्वा कुले पसुयएणं ॥’

उसने सोचा, गीत में कितना सुन्दर कहा है—‘व्यक्ति को सत्यप्रतिज्ञ होना चाहिए। सामान्य व्यक्तियों का अपलाप सहने से युद्ध में मर जाना अच्छा है।’ इस गीत-भावना से प्रेरित होकर वह मुनि पुनः गण में आ गया।

६. निदा—आत्म-संताप।

एक राजा ने चित्रशाला के लिए दूर-दूर से चित्रकारों को बुलाया। कुछ चित्रकार स्थानीय थे। एक बार तत्रस्थ चित्रकार की कन्या अपने पिता के लिए भोजन लेकर जा रही थी। राजा घोड़े को सरपट दौड़ाता हुआ उधर से निकला। लड़की ने सड़क से हटकर अपनी जान बचाई। वह चित्रशाला में पिता की प्रतीक्षा करने लगी। उस समय उसने मयूरपिच्छ का चित्र बनाया। इतने में ही राजा चंक्रमण करता हुआ वहां आया और उस चित्रगत मयूरपिच्छ को असली समझ कर हाथ से उठाना चाहा। नखों पर आघात लगा। कन्या हंस पड़ी। राजा ने हंसने का कारण पूछा। लड़की निपुण थी। वह बोली—मेरी मंचिका के तीन ही पाये हैं। आज तुम चौथे मिल गए। राजा ने कहा—मैं चौथा कैसे? कन्या ने उसको उसका रहस्य बताया और छह महीनों तक कथाओं में उलझाए रखा। कुछ

समय बीता। एक दिन कन्या ने अपना आत्म-संताप करते हुए एकान्त में अपने आपसे कहा— 'अरे चित्रकार-ध्रुवा ! तू यह गर्व मत करना कि तू राजा की प्रिया है।' राजा ने यह सुना और उसके आत्म-संताप और यथार्थ पर प्रसन्न होकर उसे अग्रमहिषी बना दिया। यह द्रव्य निन्दा है।

मुनि भाव निन्दा करे—हे जीव ! तुम अनन्तकाल से भवभ्रमण कर रहे हो। इस जन्म में तुम्हें मनुष्यत्व, सम्यक्त्व और चारित्र्य मिला। लोगों में तुम पूजनीय बने। परंतु यह गर्व मत करो कि तुम पूजनीय हो, बहु-श्रुत हो आदि।

७. गृही—गुरु के समक्ष आलोचना करना।

एक स्थविर ब्राह्मण अध्यापक की तरुण पत्नी एक पिंडारक में आसक्त थी। वह नर्मदा नदी के उस पार रहता था। तरुणी ब्राह्मणी वैश्वदेव बलि करती और कहती मुझे कौओं से भय लगता है। ब्राह्मण ने उसकी रक्षा के लिए छात्रों को नियुक्त कर दिया। एक दिन एक छात्र ने यह जान लिया कि यह तरुणी ब्राह्मणी प्रतिदिन मगरमच्छों से भरी नर्मदा नदी की तीर कर जाती है और कहती है—मैं कौओं से डरती हूं। उस छात्र ने एक बार उसे कहा—

'द्विवा कागाण बीभेसि, रत्ति तरसि नम्मवं ।

कुत्तिर्याणि य जाणासि, अच्छीणं ढक्कणाणि य ॥'

उस तरुणी ने जान लिया कि छात्र ने मेरा सारा रहस्य जान लिया है। वह उसमें आसक्त हो गई। छात्र ने कहा—अध्यापक को ज्ञात हो जाने पर... ? तब उस तरुणी ने अपने पति अध्यापक को मरवा डाला। कालान्तर में वह विक्षिप्त हो गई। वह घर-घर भिक्षा मांगने जाती और कहती—

'नए मवणुसत्ताए, पत्ती मारितो मे रओ ।

तरुणं कंखमाणीए, कुलं सीलं च फंसितं ॥'

'मैं पतिमारक हूं, मैं पतिमारक हूं, मुझे भिक्षा दो।' वह गृही करती रही। कालान्तर में वह प्रव्रजित होकर आत्म-साधना करने लगी।

८. शोधि—दोषों का उच्छेद करना।

राजा श्रेणिक ने एक बार रजक को दो रेशमी वस्त्र प्रक्षालन के लिए दिए। उस दिन कौमुदी महोत्सव था। रजक ने उत्सव का दिन सोचकर दोनों वस्त्र अपनी दोनों

पत्नियों को दे दिए। वे उन्हीं रेशमी वस्त्रों को पहन कर महोत्सव में गईं। प्रच्छन्नरूप से घूमते हुए राजा ने अपने वस्त्र पहचान लिए। दोनों महिलाओं ने ताम्बूल से उन दोनों वस्त्रों को बिगाड़ डाला। घर पहुंचने पर रजक ने उन्हें उपालभ दिया और क्षार पदार्थ से ताम्बूल के धब्बों को मिटाकर, प्रातः राजा को सौंपने गया। राजा ने रजक से पूछा। रजक ने सही-सही बता दिया। यह द्रव्य शोधि है।

मुनि भावशोधि करे—दोषों का प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाए।

(आवचू २ पृ ५३-६१; हावृ २ पृ ४३-४८)

### ३. प्रतिक्रमण के प्रकार

पडिकमणं देवसियं राइयं च इत्तरियमावकहियं च ।  
पक्खिय चउम्मासिय संवच्छर उत्तिमट्ठे य ॥  
(आवनि १२४७)

प्रतिक्रमण के आठ प्रकार—

- |                         |   |
|-------------------------|---|
| १. दैवसिक प्रतिक्रमण    | ५. पाक्षिक प्रतिक्रमण                                   |
| २. रात्रिक प्रतिक्रमण   | ६. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण                               |
| ३. इत्वरिक प्रतिक्रमण   | ७. सांबत्सरिक प्रतिक्रमण                                |
| ४. यावत्कथिक प्रतिक्रमण | ८. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण—<br>अनशन के समय किया जाने वाला। |

### दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण

देसियं च अइयारं, चित्तिज्ज अणुपुव्वसो ।  
नाणे दंसणे चेष, चरित्तमि तहेव य ॥  
पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुहं ।  
देसियं तु अइयारं, आलोएज्ज जहककमं ॥  
पडिककमित्तु निस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुहं ।  
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

(उ २६।३९-४१)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप सम्बन्धी दैवसिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे। कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से दैवसिक अतिचार की आलोचना करे। प्रतिक्रमण से निःशक्य होकर गुरु को वन्दना करे। फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

राइयं च अइयारं, चित्तिज्ज अणुपुव्वसो ।  
नाणमि दंसणमी, चरित्तमि तवमि य ॥

पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुहं ।  
राइयं तु अइयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥  
पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुहं ।  
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

(उ २६।४७-४९)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप सम्बन्धी रात्रिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे। कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुह को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से रात्रिक अतिचार की आलोचना करे। प्रतिक्रमण से निःशक्य होकर गुरु को वन्दना करे, फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

जो होज्ज उ असमत्थो बालो बुद्धो गिलाणपरितंतो ।  
सो आवस्सगजुत्तो अच्छेज्जा निज्जरापेही ॥

(ओनि ६३७)

असमर्थ (दुर्बल), बाल, बुद्ध और रोगाक्रान्त निर्ज-  
रार्थी साधु प्रतिक्रमण में बैठे-बैठे कायोत्सर्ग कर सकता  
है।

#### इत्वरिक-यावत्कथिक प्रतिक्रमण

उच्चारे पासवणे खेले सिघाणए पडिक्कमणं ।  
आभोगमणाभोगे सहस्सकारे पडिक्कमणं ॥

(आवनि १२४९)

उच्चार-प्रस्रवण और श्लेषम का परिष्ठापन कर  
किया जाने वाला प्रतिक्रमण तथा जान-अनजान में और  
सहसा गलती होने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण  
इत्वरिक प्रतिक्रमण कहलाता है।

पंच य महव्वयाइं राईछट्ठाइ चाउजामो य ।  
भत्तपरिण्णा य तथा दुण्हंषि य आवक्कहियाइं ॥

(आवनि १२४८)

पांच महाव्रत, रात्रिभोजनविरति, चातुर्याम, भक्त-  
परिज्ञा तथा इग्निनीमरण - इनसे संबंधित प्रतिक्रमण  
यावत्कथिक प्रतिक्रमण है।

#### पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण कथों ?

जथा लोभे गेहं दिवसे दिवसे पमज्जिज्जंतंति पक्षा-  
दिमु अब्भधितं अवलेवणपमज्जणादीहि सज्जिज्जति,  
एवमिहावि ववसोहणविसेसा कीरति ।

(आवचू २ पृ ६४)

लोभ अपने-अपने घरों को प्रतिदिन साफ करते हैं,  
फिर भी पक्ष, मास आदि में तथा विशेष उत्सवों के अवसर

पर घरों की लिपाई-पुताई करते हैं, विशेषरूप से साफ-  
सुथरा कर उसे सुसज्जित करते हैं। इसी प्रकार मुनि  
भी प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते हैं, परंतु विशेष शोधन के  
लिए वे पाक्षिक, मासिक आदि प्रतिक्रमण करते हैं।

#### ४. प्रतिक्रमण सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ अइयारो  
कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो  
अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुब्बिचिन्तिओ अणायारो  
अणिच्छियव्वो असमणपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते मुए  
सामाइए तिण्ह गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्व-  
याणं छण्हं जीवनिकायाणं सत्तण्हं पिडेसणाणं अट्ठण्हं  
पवयणमाऊणं नवण्हं बंधेचरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मं  
समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं, तस्स मिच्छा  
मि दुक्कडं । (आव ४।३)

मैं अपने द्वारा किए हुए दिवससंबंधी काथिक,  
वाचिक और मानसिक अतिचार के प्रतिक्रमण की इच्छा  
करता हूँ। मैंने उत्सूत्र की प्ररूपणा की हो, मोक्षमार्ग के  
प्रतिकूल मार्ग का प्रतिपादन किया हो, विधि के विरुद्ध  
आचरण किया हो, अकरणीय कार्य किया हो, अशुभ  
(आर्त-रोद्र) ध्यान किया हो असत् चिंतन किया हो,  
अनाचरणीय और अवाञ्छनीय का आचरण किया हो,  
श्रमण के अयोग्य कार्य का आचरण किया हो, ज्ञान,  
दर्शन, चारित्र, श्रुत और सामायिक के विषय में तथा  
तीन गुप्ति, चार कषाय, पांच महाव्रत, षड्जीवनिकाय,  
सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचनमाता, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति तथा  
दस प्रकार के श्रमण धर्म में होने वाले श्रमणयोगों की  
अखण्ड आराधना न की हो, विराधना की हो तो उससे  
सम्बन्धित मेरा दुष्कृत निष्फल हो।

#### ईर्यापथिक प्रतिक्रमण

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए  
गमणागमणे पाणक्कमणे वीयक्कमणे हरियक्कमणे ओसा-  
उत्तिग-पणय-दगमट्टी-मक्कडासंताणासंकमणे जे मे जीवा  
विराहिया एग्गिदिया बेइदिया तेइदिया चउरिदिया  
पंचिदिया अभिहया वत्तिथा लेसिया संघाइया संघट्टिया  
परियाविया किलाभिया उह्विया ठणाओ ठाणं  
संकाभिया, जीवियाओ ववरोविया, तस्स मिच्छा मि  
दुक्कडं । (आव ४।४)

मैं ईर्यापथ में होने वाले अतिचारों के लिए प्रति-  
क्रमण करना चाहता हूँ—गमनागमन में प्राण, बीज

और हरितकाय का अतिक्रमण किया हो, ओस, चींटियों के बिलों, फफुंड़ी, कीचड़ और मकड़ी के जालों का संक्रमण करते समय जो इन जीवों की विराधना की हो, सामने आते हुए एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवों को हत-प्रतिहत किया हो, उनकी दिशा बदली हो, उन्हें चोट पहुंचाई हो, गम्भीर रूप से घायल किया हो, हिलाया-डुलाया हो, सताया हो, क्लान्त किया हो, उत्पीड़ित किया हो, स्थानान्तरित किया हो और उन्हें मार डाला हो तो उससे सम्बन्धित मेरा दुष्कृत निष्फल हो ।

### शय्या-अतिचार प्रतिक्रमण

इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसेज्जाए निगामसेज्जाए उव्वट्टणाए परिवट्टणाए आउंटणाए पसारणाए छप्पइय-संघट्टणाए कूइए कक्कराइए छीए जंभाइए आमोसे, ससरक्खामोसे, आउलमाउलाए सोयणवत्तिथाए, इत्थी-विप्परियासिआए दिट्ठिविप्परियासिआए मणविप्परियासिआए पाणभोयणविप्परियासिआए, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । (आव ४।६)

मैं शय्या संबंधी प्रतिक्रमण करता हूँ—प्रकाम शय्या (अतिनिद्रा) और निकामशय्या (बार-बार निद्रा) ली हो, उद्वर्तन, परिवर्तन (करवट बदलना), शरीर का संकोच-विकोच, जूँ का संघट्टन, नींद में बोलना, दांत पीसना, छींक, जम्हाई, वस्तु का स्पर्श, सचित्त वस्तु का स्पर्श—इनसे संबंधित स्खलना हुई हो; स्वप्नहेतुक आकुलव्याकुलता, स्त्रीसंबंधी विपर्यास, दृष्टिविपर्यास, मनविपर्यास और आहारसंबंधी विपर्यास हुआ हो तो उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो ।

### स्वाध्याय-प्रतिलेखना-अतिचार प्रतिक्रमण

पडिक्कमामि चाउकालं सज्जायस्स अकरणयाए, उभओकालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए दुप्पडिलेहणाए अप्पमज्जणाए दुप्पमज्जणाए अइक्कमे वइक्कमे अइयारे अणायारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । (आव ४।७)

मैं प्रतिक्रमण करता हूँ—चातुष्कालिक (दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर तथा रात के प्रथम और अन्तिम प्रहर में) स्वाध्याय न किया हो, दिन के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर में पात्र, वस्त्र आदि उपकरणों का प्रतिलेखन न किया हो अथवा अविधि से किया हो, स्थान आदि का

प्रमार्जन न किया हो अथवा अविधि से किया हो ।

अतिक्रम—दोष-सेवन के लिए मानसिक संकल्प किया हो,

व्यतिक्रम—दोष-सेवन के लिए प्रस्थान किया हो,

अतिचार—दोष-सेवन के लिए तत्परता की हो, सामग्री जुटा ली हो,

अनाचार—दोष का आसेवन किया हो,

इस विषय में जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किया हो तो उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो ।

### ५. प्रतिक्रमण के स्थान

मिच्छत्तपडिक्कमणं तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं ।

कसायाण पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥

संसारपडिक्कमणं चउव्विहं होइ आणपुव्वीए ।

भावपडिक्कमणं पुण तिविहं तिविहेण नेयव्वं ॥

(आवनि १२५०, १२५१)

मिध्यात्व, असंयम, कषाय, अप्रशस्त योग और संसार (नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव) इन पांच स्थानों से मनुष्य को लौटना चाहिए ।

भावप्रतिक्रमण का अर्थ है—

प्रमाद न करना—मनसा, वाचा, कर्मणा ।

प्रमाद न करवाना—मनसा, वाचा, कर्मणा ।

प्रमाद का अनुमोदन न करना—मनसा, वाचा,

कर्मणा ।

पडिलेहेउं पमज्जिय भत्तं पाणं च वोसिरेऊणं ।

वसहीकयवरमेव उ णियमेण पडिक्कमे साहू ॥

हत्थसया आणंतु गंतुं च मुहुत्तमं जहिं चिट्ठे ।

पथे वा वच्चंतो णदिसंतरणे पडिक्कमइ ॥

(आवहावू २ पृ ५०)

पडिसिद्धाणं करणे किञ्चाणमकरणे य पडिक्कमणं ।

असहूणे य तहा विवरीयपरुव्वणाए य ॥

(आवनि १२७१)

मुनि प्रतिक्रमण कब करे ?

१. प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर,

२. भक्त्यान का परिष्ठापन कर,

३. उपाश्रय के कूड़े-ककट का परिष्ठापन कर,

४. सौ हाथ की दूरी तयकर मुहूर्त भर उस स्थान में ठहरने पर,

५. यात्रापथ से निवृत्त होने पर,

६. नदीसंतरण करने पर ।



७. प्रतिषिद्ध का आचरण करने पर,
८. करणीय (स्वाध्याय आदि) नहीं करने पर,
९. अर्हत् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों पर अश्रद्धा होने पर,
१०. विपरीत प्ररूपणा करने पर ।

## ६. अतिचार के हेतु

सहसा अण्णाणेण व भीएण व पिल्लिएण व परेण ।  
वसणेणायकेण व मूढेण व रागदोसेहि ॥  
जं किंचि कयमकज्जं न हु तं लब्धा पुणो समायरिउं ।  
तस्स पडिक्कमियव्वं न हु तं हियएण वोढव्वं ॥  
(ओनि ७९९,८००)

सहसा/अतर्कित, अज्ञान, भय, परप्रेरणा, विपत्ति, रोग-आतंक, मूढता और रागद्वेष—इन हेतुओं से आचरित दोषों का प्रतिक्रमण इस प्रकार से करना चाहिए कि पुनः उन दोषों का समाचरण न हो और न उनकी स्मृति का भार ही रहे ।

## ७. असंभव अतिचारों का प्रतिक्रमण क्यों ?

दिवसा असंभविणोवि देवसिए उच्चरिज्जंति,  
संवेगत्यं अप्पमादत्थं निदणगरहणत्थं एवमादि पडुच्च ।  
एवं रातिअसंभविणोवि विभावेज्जा ।

(आवचू २ पृ ७५)

दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में उन अतिचारों का भी उच्चारण किया जाता है, जिनका आसेवन दिन-रात में संभव भी नहीं है । ऐसा क्यों ? इसके मुख्य हेतु हैं—१. संवेगवृद्धि २. अप्रमाद की साधना ३. निदा-गर्हा ।

## ८. तीन काल का प्रतिक्रमण

पडिक्कमणं...तीए पच्चुप्पन्ने अणागए चेव कालंमि ॥

(आवनि १२३१)

प्रतिक्रमण तीनों काल से सम्बद्ध है—

१. अतीत का प्रतिक्रमण—निन्दा द्वारा अशुभ योग से निवृत्त होना ।
२. वर्तमान का प्रतिक्रमण—संवर द्वारा अशुभ योग से निवृत्त होना ।
३. अनागत का प्रतिक्रमण—प्रत्याख्यान द्वारा अशुभ योग से निवृत्त होना ।

## ९. प्रतिक्रमण की सार्थकता

जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं चेव णिसेवई पुणो पावं ।  
पच्चवखमुसावाई, मायाणियडिप्पसंगी य ॥

जइ य पडिक्कमियव्वं, अवस्स काज्जण पावयं कम्मं ।  
तं चेव न कायव्वं, तो होइ एए पडिक्कतो ॥  
(आवहावू १ पृ ३२३,३२४)

पापकारी प्रवृत्ति हो जाने पर अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए और उस प्रवृत्ति का पुनः आचरण नहीं करना चाहिए, तभी प्रतिक्रमण की सार्थकता है । जो व्यक्ति पाप करने पर कहता है—मिच्छा मि दुक्कडं—मेरा दुष्कृत मिथ्या हो और पुनः उसी पाप का आचरण करता है तो वह प्रत्यक्ष झूठ बोलता है । यह भाया—निकृति का प्रसंग है ।

## १०. प्रतिक्रमण के परिणाम

पडिक्कमणेणं वयच्छिदाइं पिहेइ । पिहियवयच्छिदे  
पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्टसु पवयणमायासु  
उवउत्ते अपुहुत्ते सुप्पणिगिहिए विहरइ । (उ २९।१२)

प्रतिक्रमण से जीव व्रत के छेदों को ढक देता है । जिसने व्रत के छेदों को ढक दिया वैसे जीव आश्रवों को रोक देता है, चारित्र के धब्बों को मिटा देता है, आठ प्रवचनमाताओं में सावधान हो जाता है तथा संयम में एकरस और सुसमाधिस्थ होकर विहार करता है ।

## ११. प्रतिक्रमण की उपसम्पदा

....तस्स धम्मस्स केवलपण्णत्तस्स अब्भुट्ठिओमि  
आराहणाए विरओमि विराहणाए ।

असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपज्जामि ।  
अवंभं परियाणामि वंभं उवसंपज्जामि ।  
अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसंपज्जामि ।  
अण्णाणं परियाणामि णाणं उवसंपज्जामि ।  
अकिरियं परियाणामि किरियं उवसंपज्जामि ।  
मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि ।  
अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि ।  
अमग्गं परियाणामि मग्गं उवसंपज्जामि ।

(आव २।९)

मैं केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आराधना में उपस्थित होता हूँ, विराधना से विरत होता हूँ ।

मैं असंयम से निवृत्त होता हूँ, संयम में प्रवृत्त होता हूँ ।

मैं अब्रह्मचर्य से निवृत्त होता हूँ, ब्रह्मचर्य में प्रवृत्त होता हूँ ।

मैं अकल्प्य (अनाचरणीय) से निवृत्त होता हूँ, कल्प्य (आचरणीय) में प्रवृत्त होता हूँ।

मैं अज्ञान से निवृत्त होता हूँ, ज्ञान में प्रवृत्त होता हूँ।

मैं अक्रिया (नास्तित्ववाद) से निवृत्त होता हूँ, क्रिया (अस्तित्ववाद) में प्रवृत्त होता हूँ।

मैं मिथ्यात्व से निवृत्त होता हूँ, सम्यक्त्व में प्रवृत्त होता हूँ।

मैं अबोध से निवृत्त होता हूँ, बोधि में प्रवृत्त होता हूँ।

मैं अमार्ग से निवृत्त होता हूँ, मार्ग में प्रवृत्त होता हूँ।

**प्रतिमा**—प्रतिज्ञा, अभिग्रह, साधना की विशिष्ट पद्धति।

१. ग्यारह उपासक-प्रतिमाएं
२. भिक्षु-प्रतिमा की अर्हता
३. बारह भिक्षु-प्रतिमाएं
४. भगवान् महावीर की एकरात्रिकी प्रतिमा
- \* महावीर की प्रतिमासाधना (ड. तीर्थंकर)

## १. ग्यारह उपासक-प्रतिमाएं

१. ....सव्वधम्मरुई यावि भवति...पढमा उवासग-पडिमा।
२. ....तस्स णं बहूई सीलव्वयगुणवेरमणपोसहो-ववासाइं सम्मं पट्टवित्ताइं भवति...दोच्चा उवासगपडिमा।
३. ....से णं सामाअयं देसावगासियं संमं अणुपालेत्ता भवति...तच्चा उवासगपडिमा।
४. ....से णं चाउहसिअट्टमिपुष्णमासिणीसु पडिपुष्ण-पोसहं संमं अणुपालेत्ता भवति...चउत्था उवासग-पडिमा।
५. अहावरा पंचमा उवासगपडिमा...से णं एगराअयं उवासगपडिंमं अणुपालेत्ता भवति। से णं असिणाणए वियडभोई मउलियडे दिया बंधयारी रत्ति परिमाण-कडे, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगहं...उक्कोसेणं पंचमासे विहरेज्जा।
६. अहावरा छट्ठा उवासगपडिमा...रातोवरायं बंध-

चारी सचित्ताहारे से अपरिण्णाते भवति...उक्कोसेणं छम्मासे विहरेज्जा।

७. अहावरा सत्तमा उवासगपडिमा...सचित्ताहारे से परिण्णाए भवति...उक्कोसेणं सत्त मासे विहरेज्जा।
  ८. अहावरा अट्टमा उवासगपडिमा...आरंभा से परि-ण्णाता...उक्कोसेणं अट्ट मासे विहरेज्जा।
  ९. अहावरा नवमा उवासगपडिमा...वेस्सा से परिण्णाया...उक्कोसेणं नव मासे विहरेज्जा।
  १०. अहावरा दसमा उवासगपडिमा...उद्धिभत्ते से परि-ण्णाए भवति। से णं खुरमुंडए वा छिहलिधारए वा, तस्स णं आलत्तसमाभट्टस्स कप्पंति दुवे भग्साओ भासित्तए, तं जथा—जाणं वा जाणं अजाणं वा णो जाणं, से णं एतारूवेणं विहारेणं...उक्कोसेणं दस मासे विहरेज्जा।
  ११. अहावरा एक्कारसमा उवासगपडिमा...तस्स णं गाहावतिकुलं पिडवायपडियाए अणुप्पविट्टस्स कप्पंति एवं वदित्तए—समणोवासगस्स पडिंमं पडिवण्णस्स भिन्खं दलयह...उक्कोसेणं एक्कारस मासे विहरेज्जा। (आवचू २ पृ ११८, १२०)
- उपासक प्रतिमा के ग्यारह प्रकार हैं—
१. दर्शनश्चावक—इसमें सर्वधर्मविषयक रुचि होती है।
  २. कृतव्रतकर्म—इसमें पूर्वोक्त उपलब्धि के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, विर-मण, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि का सम्यक् परिपालन करता है।
  ३. कृतसामायिक इसमें पूर्वोक्त उपलब्धि के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक प्रातः और सायंकाल सामायिक और देशावकाशिक व्रत का सम्यक् पालन करता है।
  ४. पौषधोपवासनिरत—इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पौर्णमासी आदि पर्व दिनों में प्रतिपूर्ण पौषध करता है।
  ५. दिन में ब्रह्मचारी—इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक एकरात्रिकी उपासक प्रतिमा का सम्यक् अनुपालन करता है तथा स्नान नहीं करता, दिवाभोजी होता है, धोती के दोनों अंचलों को कटिभाग में टांक लेता है—नीचे से नहीं

बांधता, दिवा ब्रह्मचारी और रात्रि में अब्रह्मचर्य का परिमाण करता है। इसका जघन्य कालमान एक दिन और उत्कृष्ट कालमान पांच मास का है।

६. दिन और रात में ब्रह्मचारी—इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक दिन और रात में ब्रह्मचारी रहता है, किन्तु सचित्त का परित्याग नहीं करता। इसका उत्कृष्ट कालमान छह मास का है।

७. सचित्तपरित्यागी—इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक सम्पूर्ण सचित्त का परित्याग करता है। इसका उत्कृष्ट कालमान सात मास का है।

८. आरम्भपरित्यागी—इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक आरम्भ—हिंसा का परित्याग करता है। इसका उत्कृष्ट कालमान आठ मास का है।

९. प्रेष्य-परित्यागी—इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक प्रेष्य आदि से हिंसा करवाने का परित्याग करता है। इसका उत्कृष्ट कालमान नौ मास का है।

१०. उद्दिष्टभक्त-परित्यागी—इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक उद्दिष्ट भोजन का परित्याग करता है। वह शिर को क्षुर से मुंडवा लेता है या चोटी रख लेता है। घर के किसी विषय में पूछे जाने पर जानता हो तो कहता है—मैं जानता हूँ और न जानता हो तो कहता है—मैं नहीं जानता हूँ। इसका उत्कृष्ट कालमान दस मास का है।

११. श्रमणभूत—इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक शिर को क्षुर से मुंडवा लेता है या लुंचन करता है। वह साधु का वेश धारण कर साधु-धर्मों का पालन करता है। वह भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश कर 'प्रतिमासम्पन्न श्रमणो-पासक को भिक्षा दो'—ऐसा कहता है। इसका उत्कृष्ट कालमान ग्यारह मास का है।

(बारहव्रती श्रावक के मन में जब साधना की तीव्र भावना उत्पन्न होती है, तब वह इन प्रतिमाओं को स्वीकार करता है। इनके प्रतिपूर्ण पालन में साढ़े पांच वर्ष लगते हैं। आनन्द श्रमणोपासक ने इन प्रतिमाओं को स्वीकार किया था। देखें—समावाओ ११।१ का टिप्पण तथा दशाश्रुतस्कन्ध की छठी दशा)

## २. भिक्षु-प्रतिमा की अर्हता

पडिवज्जइ संपुण्णो संघयणधिइज्जुओ महासत्तो ।  
पडिभाउ जिणमयंमी संमं गुरुणा अणुण्णाओ ॥  
गच्छे च्चिय निम्माओ जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा ।  
नवमस्स तइयवत्थुं होइ जहण्णो सुयाभिगमो ॥  
(आवहावृ २ पृ १०५)

भिक्षु-प्रतिमा की साधना करने वाला भिक्षु विजिण्ट संहननसम्पन्न, धृतिसम्पन्न और शक्तिसम्पन्न होता है। उस भावितात्मा भिक्षु की न्यूनतम श्रुतसम्पदा नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तथा उत्कृष्ट श्रुतसम्पदा कुछ न्यून दस पूर्व होनी चाहिये। वह गुरु से अनुज्ञा प्राप्त कर प्रतिमाओं को स्वीकार करता है।

## ३. बारह भिक्षु-प्रतिमाएं

मासाई सत्तंता पढमावितिसत्त राइदिणा ।  
अहराई एमराई भिक्खुपडिमाण बारसमं ॥

(आवहावृ २ पृ १०५)

भिक्षु-प्रतिमा के बारह प्रकार—

- |                |                      |
|----------------|----------------------|
| १. एकमासिकी    | ७. सप्त मासिकी       |
| २. द्विमासिकी  | ८. सप्त अहोरात्रिकी  |
| ३. त्रिमासिकी  | ९. सप्त अहोरात्रिकी  |
| ४. चतुर्मासिकी | १०. सप्त अहोरात्रिकी |
| ५. पंचमासिकी   | ११. एक अहोरात्रिकी   |
| ६. षण्मासिकी   | १२. एकरात्रिकी       |

वोसट्टुचत्तदेहो उवसगसहो जहेव जिणकप्पी ।  
एसण अभिगगीया भत्तं च अलेवयं तस्स ॥  
गच्छा विणिक्खमिता पडिवज्जे मासियं महापडिमं ।  
दत्तेगभोयणस्सा पाणस्सवि एग जा मासं ॥  
पच्छा गच्छमईए एव दुमासि तिमासि जा सत्त ।  
नवरं दत्तोवुड्ढी जा सत्त उ सत्तमासीए ॥  
तत्तो य अट्टमीया हवइ हू पढममत्तराइदी ।  
तीय चउत्थचउत्थेणऽपाणएणं अह विसेसो ॥  
उत्ताणगपासल्लीणिसज्जीयावि ठाण ठाइत्ता ।  
सहउवसग्गे घोरे दिव्वाइ तत्थ अविक्कपो ॥  
दोच्चावि एरिसच्चिय बहिया मामाड्याण णवरं तु ।  
उक्कुडलगंडसाई डंडाइतिउव्व ठाइत्ता ॥  
तच्चाए वि एवं णवरं ठाणं तु तस्स गोदोही ।  
वीरासणमहवावी ठाइज्ज व अब्बखुज्जो वा ॥

एमेव अहोराई छट्ठं भत्तं अपाणयं णवरं ।

गामण्यराण बहिया वग्घारियपाणिण्ठं ठाणं ॥

एमेव एगराई अट्टमभत्तेण ठाण बाहिरओ ।

ईसीपब्भारणए अण्णिससनयणेगदिट्ठीए ॥

साहट्टु दोवि पाए वग्घारियपाणि ठायई ठाणं ।

वाघारि लंबियभुओ सेसं दसासु जहा भणियं ॥

(आवहावृ २ पृ १०५, १०६)

पढमसत्तरातिदियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स

अण्णारस्स पारणए आर्यबिलपरिग्गहिते अचित्ते

पोग्गले निज्झायमाणस्स उत्ताणग्गस्स वा पासल्लियस्स

वा णिसज्जितस्स वा ठाणं ठात्तिए ।

(आवचू २ पृ १२५, १२६)

भिक्षु गच्छ से निष्क्रमण कर एकमासिकी भिक्षु-

प्रतिमा की आराधना करता है । वह शरीर का परिकर्म

और सारसंभाल नहीं करता, अलेपकृत् (रूखा) आहार

करता है । वह एषणा (संसृष्टा आदि सात) और

गोचराग्र (पेटा आदि आठ)—इनमें से कोई अभिग्रह

धारण कर (अमुक द्रव्य अमुक अवस्था में मिले तो लूं,

अन्यथा नहीं—इस संकल्प के साथ) भिक्षा ग्रहण करता है ।

पहली प्रतिमा एक मास की होती है । इसमें मुनि

आहार तथा पानी की एक-एक दत्ति लेता है । इनकी

उत्तरोत्तर वृद्धि होती है । सातवीं प्रतिमा में सात-सात

दत्तियां लेता है । द्विमासिकी से सप्तमासिकी पर्यंत

प्रतिमाएं गच्छ में रहकर की जाती हैं । शेष प्रतिमाएं

गांव के बाहर रहकर की जाती हैं ।

(छप्पकंपि यदि एक्कासिं छुब्भति एक्का दत्ती, डोवि-

लयंपि यदि वारे पप्फोडेति तावयियातो दत्तीतो ।)

(आवचू २ पृ ३१०)

(एक दत्ति का अर्थ है—एक बार में दिया जाने

वाला भक्त अथवा पान ।)

आठवीं, नौवीं और दसवीं प्रतिमा सात-सात अहो-

रात्र की होती है । आठवीं प्रतिमा में मुनि निर्जल

उपवास और पारणे में आर्यबिल करता है, अचित्त

पुद्गल पर अनिमेष प्रेक्षा करता है तथा उत्तानशयन,

पार्श्वशयन, निषद्या आदि आसनों में स्थित रहता है ।

मुनि नौवीं प्रतिमा में उत्कटुक, लगंडशयन और

वंडायतिक आसन तथा दसवीं प्रतिमा में गोदोहिका,

कीरासन और आम्रकुब्ज आसन का प्रयोग करता है ।

शेष विधि आठवीं प्रतिमा की तरह ही है ।

ग्यारहवीं अहोरात्रिकी प्रतिमा में मुनि दो दिन के निर्जल उपवास में पैरों को सटाकर, भुजाओं को प्रलम्बित कर कायोत्सर्ग करता है ।

बारहवीं एकरात्रिकी प्रतिमा में मुनि निर्जल उपवास के तीसरे दिन पूरी रात कायोत्सर्ग की मुद्रा में रहता है । उसकी शारीरिक स्थिति इस प्रकार होती है—थोड़ा झुका हुआ शरीर, अनिमेष नयन, दोनों पैर सटे हुए, दोनों हाथ घुटनों की ओर प्रलम्बित ।

इन प्रतिमाओं में स्थित भिक्षु जिनकल्पी मुनि की भांति व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह होता है तथा देव, मनुष्य और तिर्यंच कृत उपसर्गों को समभाव से सहन करता है । यह सारा प्रसंग दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की सातवीं दशा में विस्तार से वर्णित है ।

(बारह भिक्षुप्रतिमाओं तथा ग्यारह उपासकप्रतिमाओं को उपधानप्रतिमा कहा जाता है । जैन साधना पद्धति में प्रतिमाओं का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । आगम साहित्य में भद्रा, सुभद्रा, विवेक, व्युत्सर्ग, यवमध्यचन्द्र, वज्रमध्यचन्द्र आदि अनेक प्रकार की प्रतिमाओं का उल्लेख उपलब्ध है । देखें—ठाणं २।२४३-२४८ का टिप्पण)

एगराइयं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अण्णुपालेमाणस्स अण्णारस्स इमे तओ ठाणा अहिताए भवन्ति, तं जहा—उम्मायं वा लभेज्जा दीहकालियं वा रोमायं पाउणेज्जा केवलपण्णत्ताओ धम्माओ वा भंसिज्जा । एगराइयं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अण्णुपालेमाणस्स अण्णारस्स इमे तओ ठाणा हिताए जाव आणुगामित्ताए भवन्ति, तं जथा—ओधिण्णणे वा से समुप्पज्जेज्जा, मणपज्जवणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा केवलणाणे वा से असमुप्पण्णपुब्बे समुप्पज्जिज्जा । (आवचू २ पृ १२६, १२७)

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा की सम्यक् अनुपालना नहीं करने वाले मुनि के तीन स्थान अहितकर होते हैं—उन्माद की प्राप्ति, दीर्घकालिक रोग-आतंक की उत्पत्ति और केवलप्रज्ञप्त धर्म से विच्युति ।

इस प्रतिमा की सम्यक् अनुपालना करने वाले मुनि को अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

#### ४. भगवान् महावीर की एकरात्रिकी प्रतिमा

दठभूमीए वहिआ पेडालं नाम होइ उज्जाणं ।

पोलास चेइयंभी टिएगराईमहापडिमं ॥

अट्टुमेण भत्तेण अपाणएण ईसिपब्भारगतेण, ईसि-  
पब्भारगते नाम ईसि ओणओ काओ, एगपोग्गलनिरुद्ध-  
दिट्ठी अणिमिसणयणी तत्थवि जे अचित्तपोग्गला तेसु  
दिट्ठि निवेसेति, सचित्तेहिं दिट्ठी अप्पाइज्जति, जहा  
दुब्बाए ।...अहापणिहित्तेहिं गत्तेहिं सच्चिदिएहिं गुत्तेहिं  
दोवि पादे साहट्टु वग्घारियपाणी एगराइयं महापडिमं  
ठितो । (आवनि ४९७ चू १ पृ ३०१)

महावीर दृक्भूमि गए । दृक्भूमि के बाहरी भूभाग  
में पेढाल नाम का उद्यान था । वहां पोलाश नाम का  
चैत्य था । वहां महावीर ने तेले की निर्जल तपस्या की ।  
ध्यान की मुद्रा में खड़े हुए । थोड़ा झुका हुआ शरीर ।  
अनिमिष नयन (अनिमेषप्रेक्षा/त्राटक), एक पुद्गल-  
निहद्ध दृष्टि -- महावीर की दृष्टि अचित्त पुद्गल पर टिकी  
थी । वे सचित्त वस्तु पर दृष्टि नहीं टिकाते, यथा—  
दूर्वा आदि । सब अवयव अपने स्थान पर अवस्थित, सब  
इन्द्रियां गुप्त, दोनों पैर सटे हुए, दोनों हाथ घुटनों की  
ओर प्रलम्बित -- इस मुद्रा में महावीर एकरात्रिकी महा-  
प्रतिमा में स्थित थे ।

**प्रतिलेखना**—वस्त्र, पात्र आदि को यथासमय  
सावधानीपूर्वक देखना ।

### १. प्रतिलेखना के पर्याय

#### ० प्रतिलेखनीय

### २. प्रतिलेखना की विधि और प्रकार

### ३. प्रतिलेखना के विकल्प

### ४. प्रतिलेखना का क्रम

### ५. वस्त्रपात्र-प्रतिलेखना काल

\* प्रभातकालीन प्रतिलेखना काल (द्र. कालविज्ञान)

### ६. तीन भूमियों की प्रतिलेखना

### ७. प्रतिलेखना के दोष

### ८. प्रतिलेखना-प्रमाद से छह काय की विराधना

\* प्रतिलेखना-अतिचार प्रतिक्रमण (द्र. प्रतिक्रमण)

### ९. केवली-छद्मस्थ की द्रव्य-भाव प्रतिलेखना

\* प्रेक्षा संयम (द्र. संयम)

### १. प्रतिलेखना के पर्याय

आभोगमग्गण गवेसणा य ईहा अपोह पडिलेहा ।

पेनखणनिरिक्खणावि अ आलोयपलोयणेगट्ठा ॥

(ओनि ३)

आभोग, मार्गणा, गवेसणा, ईहा, अपोह, प्रतिलेखना,  
प्रेक्षण, निरीक्षण, आलोकन और प्रलोकन—ये प्रतिलेखना  
के पर्याय हैं ।

### प्रतिलेखनीय

ठाणे उवगरणे या थंडिलउवथंभमग्गपडिलेहा ।... (ओनि २६३)

शरीर (खड़े होते, बैठते और सोते समय), उपाश्रय,  
उपकरण, स्थण्डिल (परिष्ठापन भूमि), अवष्टम्भ और  
मार्ग—ये प्रतिलेखनीय हैं ।

### २. प्रतिलेखना की विधि और प्रकार

उड्ढं थिरं अतुरियं पुब्बं ता वत्थमेव पडिलेहे ।  
तो विइयं पप्फोडे तइयं च पुष्णे षमज्जेज्जा ॥  
अणच्चावियं अवलियं अणाणुब्धिं अमोसलित्ते चव ।  
छप्पुरिमा नव खोडा पाणीपाणविसोहणं ॥  
अनत्तितं प्रस्फोटनं प्रमार्जनं वा कुर्वतो वस्त्रं वपुर्वा  
यथा नत्तितं न भवति । अवलितं यथाऽऽत्मनो वस्त्रस्थ  
च वलितमिति मोटनं न भवति । अननुबन्धि अनुबन्धेन  
नैरन्तर्यलक्षणेन युक्तमनुबन्धि न तथा, अलक्ष्यमाणविभागं  
यथा न भवति । आमोसलित्ति सूत्रत्वादादर्शवत्ति  
र्यंगूर्ध्वमद्यो वा कुड्यादिपरामर्शवद्यथा न भवति । छप्पु-  
रिमत्ति षट् पूर्वाः पूर्वं क्रियमाणतया तिर्यक्कृतवस्त्र-  
प्रस्फोटनात्मका क्रियाविशेषा येषु ते षट्पूर्वाः । नवखोडति  
खोटकाः समयप्रसिद्धाः स्फोटनात्मकाः कर्तव्याः ।

(उ २६।२४, २५ श्रावृ प ५४०, ५४१)

सबसे पहले उकडू आसन में बैठ, वस्त्र को ऊंचा  
रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किए बिना उसकी प्रति-  
लेखना करे—चक्षु से देखे । दूसरे में वस्त्र को झटकाए  
और तीसरे में वस्त्र की प्रमार्जना करे । प्रतिलेखना करते  
समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये—

१. अनत्तित—वस्त्र या शरीर को न नचाए ।

२. अवलित—वस्त्र या शरीर को न मोड़े ।

३. अननुबन्धी—वस्त्र के दृष्टि से अलक्षित विभाग न  
करे ।

४. अमोसली—वस्त्र का मुसल की तरह दीवार आदि  
से स्पर्श न करे ।

५. छह पूर्व—वस्त्र के दोनों ओर तीन-तीन विभाग  
कर उसे झटकाए ।

६. नव खोटक—प्रत्येक पूर्व में तीन-तीन बार खोटक (प्रमार्जन) करे। एक भाग में नौ खोटक होते हैं। तत्पश्चात् जो कोई प्राणी हो, उसका हाथ पर नौ बार विशोधन (प्रमार्जन) करे।

दृष्टि डालना, छह पूर्व और अठारह खोटक करना—इस प्रकार प्रतिलेखना के पच्चीस प्रकार होते हैं।

ठाणनिसीयतुयट्टणउवगरणाईण गहणणिकखेवे ।

पुव्वं पडिलेहे चक्खुणा उ पच्छा पमज्जेज्जा ॥

(ओभा १५१)

स्थान, निषीदन, त्वक्वर्त्तन (शयन) तथा उपकरण आदि को लेते-रखते समय पहले दृष्टि-प्रतिलेखना की जाती है, फिर प्रमार्जन किया जाता है।

धुवं च पडिलेहेज्जा, जोगसा पायकंबलं ।

सेज्जमुच्चारभूमि च, संधारं अदुवासणं ॥

(द ८।१७)

मुनि पात्र, कंबल, शय्या, उच्चारभूमि, संस्कारक अथवा आसन का यथासमय प्रमाणोपेत (न न्यून न अतिरिक्त) प्रतिलेखन करे।

### ३. प्रतिलेखना के विकल्प

अणूणाइरित्तपडिलेहा, अविवच्चासा तहेव य ।

पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥

(उ २६।२८)

वस्त्र के प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण से अन्यून, अनतिरिक्त (न कम और न अधिक) और अविपरीत प्रतिलेखना करनी चाहिए। इन तीनों विशेषणों के आधार पर प्रतिलेखना के आठ विकल्प बनते हैं। इनमें प्रथम विकल्प (अन्यून, अनतिरिक्त और अविपरीत) प्रशस्त है और शेष अप्रशस्त।

आठ विकल्प ये हैं—

१. अन्यून	अनतिरिक्त	अविपरीत
२. अन्यून	अनतिरिक्त	विपरीत
३. अन्यून	अतिरिक्त	अविपरीत
४. अन्यून	अतिरिक्त	विपरीत
५. न्यून	अनतिरिक्त	अविपरीत
६. न्यून	अनतिरिक्त	अविपरीत
७. न्यून	अतिरिक्त	अविपरीत
८. न्यून	अतिरिक्त	विपरीत

### ४. प्रतिलेखना का क्रम

पडिलेहगा उ दुविहा भत्तट्टिय इयरा य नायक्वा ।

दोण्हवि य आइपडिलेहणा उ मुहणंतयसकायं ॥

तत्तो गुरु परिन्ना गिलाणसेहाति जे अभत्तट्टी ।

संदिसह पायमत्ते य अप्पणो पट्टगं चरिमं ॥

पट्टग भत्तय सयमोग्गहो य गुरुमाइया अणुन्नवणा ।

तो सेस पायवत्थे पाउंछणमं च भत्तट्टी ॥

(ओनि ६२८-६३०)

प्रतिलेखना करने वाले मुनि दो प्रकार के होते हैं—

१. तपस्वी (उपवास आदि करने वाले) २.

आहारार्थी। दोनों ही प्रतिलेखक सर्वप्रथम मुखवस्त्र और उससे अपने शरीर का प्रमार्जन करते हैं। तत्पश्चात् तपस्वी मुनि गुरु, अनशनधारी, ग्लान, शैक्ष आदि के उपकरणों की प्रतिलेखना करते हैं। फिर गुरु से अनुज्ञा प्राप्त कर पात्र, मात्रक तथा अन्य उपधि और अन्त में चोलपट्टक की प्रतिलेखना करते हैं।

भक्तार्थी मुनि अपने चोलपट्टक, मात्रक, पात्र आदि की प्रत्युपेक्षा कर गुरु आदि की उपधि की प्रत्युपेक्षा करते हैं। फिर गुरु को अनुज्ञापित कर शेष संघीय वस्त्र-पात्रों की प्रतिलेखना करते हैं और अन्त में पादप्रोञ्छन (रजोहरण) की प्रत्युपेक्षा करते हैं।

### ५. वस्त्रपात्र-प्रतिलेखना काल

पुव्विल्लमि चउब्भाए, पडिलेहिताण भंडयं ।

गुरुं वंदित्तु सज्जायं, कुज्जा दुक्खविमोक्खणं ॥

पोरिसीए चउब्भाए, वंदित्ताण तओ गुरुं ।

अपडिक्कमित्ता कालस्स, भायणं पडिलेहए ॥

मुहपोत्तियं पडिलेहिता, पडिलेहिज्ज गोच्छमं ।

गोच्छमलइयंगुलिओ, वत्थाइं पडिलेहए ॥

चउत्थीए पोरिसीए, निक्खवित्ताण भायणं ।

सज्जायं तओ कुज्जा, सब्बभावविभावणं ॥

(उ २६।२१-२३,३६)

दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन कर, गुरु को वंदना कर, दुःख से मुक्त करने वाला स्वाध्याय करे।

पौन पौश्वी बीत जाने पर गुरु को वंदना कर, काल का प्रतिक्रमण—कायोत्सर्ग किए बिना ही भाजन की प्रतिलेखना करे।

मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छम की प्रति-

लेखना करे। गोच्छ्रम को अंगुलियों से पकड़कर भाजन को ढांकने के पटलों की प्रतिलेखना करे।

चौथे प्रहर में भाजनों को प्रतिलेखनपूर्वक बांधकर रख दे, फिर सर्व भाजों को प्रकाशित करने वाला स्वाध्याय करे।

...पुक्वण्हे अवरण्हे मुहर्णतगमाइ पडिलेहा ॥

(ओभा १५८)

वस्त्र-प्रतिलेखना के दो काल हैं—पूर्वाह्ण (प्रथम प्रहर) और अपराह्ण (चतुर्थ प्रहर)।

### ६. तीन भूमियों की प्रतिलेखना

चउभागावसेसाए चरिमाए पडिक्कमित्तु कालस्स ।  
उच्चारे पासवणे ठाणे चउवीसइ पेहे ॥  
अहियासिया उ अंतो आसन्ने मज्झि तह य दूरे य ।  
तिन्नेव अणहियासी अंतो छच्छच्च बाहिरओ ॥  
एमेव य पासवणे बारस चउवीसइ तु पेहिता ।  
कालस्सवि तिन्नि भवे अह सूरु अत्थमुवयाई ॥  
(ओनि ६३२-६३४)

मुनि दिन की अंतिम पौखी का चतुर्थ भाग शेष रहने पर तीन भूमियों की प्रतिलेखना करता है—

१. उच्चारभूमि बारह—

१. निकट २. मध्य ३. दूर

४. अतिनिकट ५. मध्य ६. कुछ दूर—

ये छह भूमियां उपाश्रय के परिसर में और छह उपाश्रय के बाहर।

२. प्रश्रवण भूमि बारह।

३. काल (स्वाध्याय) भूमि तीन।

### ७. प्रतिलेखना के दोष

आरभडा सम्महा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया ।

पक्कोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइया छट्ठा ॥

आरभटा विपरीतकरणमुच्यते त्वरितं वाज्यान्य-  
वस्त्रग्रहणेनासी भवति । संमर्दा—वस्त्रान्तः—कोण-  
संचलनमुपधेर्वा उपरि निषीदन्म् । मोसलि त्ति तिर्यग्ध्वं-  
मधो वा घट्टना । प्रस्फोटना—प्रकर्षणं रेणुगुण्डितस्यैव  
वस्त्रस्य भ्रष्टना । विक्षिप्ता—प्रत्युपेक्षितवस्त्रस्यान्यत्रा-  
प्रत्युपेक्षिते क्षेपणं, प्रत्युपेक्षमाणो वा वस्त्राञ्चलं यदूर्ध्वं  
क्षिपति । वेतिया पंचविहा पन्नत्ता, तं जहा—उड्ढवेतिया  
अहोवेतिया तिरियवेतिया दुहत्तोवेतिया एगतोवेतिया ।

तत्थ उड्ढवेतिया उर्वरि जुण्णगाणं हत्थे काऊण पडिलेहेइ ।  
अहोवेइया अहो जुण्णगाणं हत्थे काऊण पडिलेहेइ ।  
तिरियवेइया सडासयाणं मज्जेण हत्थेण चित्तुण पडि-  
लेहेइ । दुहत्तोवेइया बाहाणं अंतरे दोवि जुण्णमा काऊण  
पडिलेहेति । एगतो वेइया एगं जुण्णमं बाहाणमंतरे काऊण  
पडिलेहेति । (उ २६।२६ शावृ प ५४१)

प्रतिलेखना के छह दोष —

१. आरभटा—विधि से विपरीत प्रतिलेखना करना अथवा एक वस्त्र का पूरा प्रतिलेखन किए बिना दूसरे वस्त्र का प्रतिलेखन करना ।
२. सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकड़ना कि उसके बीच में सलवटें पड़ जायें अथवा प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठकर प्रतिलेखना करना ।
३. मोसली—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे किसी वस्त्र या पदार्थ से संघट्टित करना ।
४. प्रस्फोटना—प्रतिलेखन करते समय रज से लिप्त वस्त्र को गृहस्थ की तरह वेग से भटकना ।
५. विक्षिप्ता—प्रतिलेखित वस्त्रों को अप्रतिलेखित वस्त्रों पर रखना अथवा वस्त्र के अञ्चल को इतना ऊंचा उठाना कि उसकी प्रतिलेखना न हो सके ।

६. वेदिका के पांच प्रकार हैं—

१. ऊर्ध्ववेदिका—दोनों जानुओं पर हाथ रखकर प्रतिलेखना करना ।
२. अधोवेदिका—दोनों जानुओं के नीचे हाथ रखकर प्रतिलेखना करना ।
३. तिर्यग्वेदिका—दोनों जानुओं के बीच में हाथ रखकर प्रतिलेखना करना ।
४. उभयवेदिका—दोनों जानुओं को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखना करना ।
५. एक वेदिका—एक जानु को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखना करना ।

पसिडिलपलंबलोला, एगामोसा अणेरुवधुणा ।

कुणइ पमाणि पमायं, संकिए गणणोवमं कुज्जा ॥

(उ २६।२७)

प्रतिलेखना के सात दोष —

१. प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकड़ना ।
२. प्रलम्ब—वस्त्र को विषमता से पकड़ने के कारण कोनों का लटकना ।

३. लोल—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का हाथ या भूमि से संघर्षण करना ।
४. एकामर्शा—वस्त्र को बीच में से पकड़कर उसके दोनों पाशवों का एक बार में ही स्पर्श करना—एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख लेना ।
५. अनेक रूप धुनना—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) भटकना अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ भटकना
६. प्रमाण-प्रमाद—प्रस्फोटन और प्रभाजंन का जो प्रमाण (नौ-नौ बार करना) बतलाया है, उसमें प्रमाद करना ।
७. गणनोपगणना—प्रस्फोटन और प्रभाजंन के निर्दिष्ट प्रमाण में शंका होने पर उसकी गिनती करना ।

#### द. प्रतिलेखना-प्रमाद से छद्म काय की विराधना

पडिलेहणं कुणंतो मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा ।  
 देइ व पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥  
 पुढवी आउवकाए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं ।  
 पडिलेहणापमत्तो छहं पि विराहओ होइ ॥  
 (उ २६।२९,३०)

जो प्रतिलेखना करते समय कामकथा करता है अथवा जनपद की कथा करता है अथवा प्रत्याख्यान करवाता है, दूसरों को पढ़ाता है अथवा स्वयं पढ़ता है, वह प्रतिलेखना में प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहों कायों का विराधक होता है ।

#### ६. केवली-छद्मस्थ की द्रव्य-भाव प्रतिलेखना

दुविहा खलु पडिलेहा छउमत्थाणं च केवलीणं च ।  
 अब्भितर बाहिरिआ दुविहा दव्वे य भावे य ॥  
 (ओनि २५६)

छद्मस्थ और केवली के दो-दो प्रकार की प्रतिलेखना होती है—द्रव्य और भाव । द्रव्य प्रतिलेखना बाह्य है और भाव प्रतिलेखना आभ्यन्तर है ।

पाणेहि उ संसत्ता पडिलेहा होइ केवलीणं तु ।  
 संसत्तमसंसत्ता छउमत्थाणं तु पडिलेहा ॥  
 (ओनि २५७)

केवली के बाह्य प्रतिलेखना प्राणियों से संसक्त वस्तु-विषयक होती है ।

छद्मस्थ के बाह्य प्रतिलेखना प्राणियों से संसक्त या असंसक्त वस्तुविषयक होती है ।

नाऊण वेयणिज्जं अइवहुअं आउअं च थोवागं ।

कम्मं पडिलेहेउं वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥

(ओनि २५९)

केवली आयुष्य कर्म को थोड़ा और वेदनीय आदि कर्मों को अधिक जानकर समुद्घात करते हैं । यह केवली की भाव प्रतिलेखना है ।

किं कयं किं वा सेसं किं करणिज्जं तवं च न करेमि ।

पुव्वावरत्तकाले जागरओ भावपडिलेहा ॥

(ओनि २६२)

पूर्वरात्र और अपररात्र में मुनि यह चिंतन करे कि मैंने आज क्या किया ? क्या करना मेरे लिए शेष है ? जो तप आदि मैं कर सकता हूँ, क्या मैं उसे नहीं कर रहा हूँ—यह छद्मस्थ की भाव प्रतिलेखना है ।

**प्रतिसंलीनता**—इन्द्रिय आदि का बाह्य विषयों से प्रतिसंहरण करना—उनकी बहिर्मुखीवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाना ।  
 बाह्य तप का छठा प्रकार ।

(द्र. तप)

#### १. प्रतिसंलीनता के प्रकार

२. इन्द्रिय प्रतिसंलीनता

३. कषाय प्रतिसंलीनता

४. योग प्रतिसंलीनता

५. विविक्त-शयनासन

६. विविक्त-शयनासन के परिणाम

#### १. प्रतिसंलीनता के प्रकार

संलीणता चउव्विहा, तं जहा—इंदियसंलीणया कसायसंलीणया जोगसंलीणया विवित्तचरिया ।

(दअनू पृ १४)

इन्द्रियसंलीनता श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैः शब्दादिषु सुन्दरेतरेषु रागद्वेषाकरणं, कषायसंलीनता तदुदयनिरोध



उदीर्णविफलीकरणं च । योगसंलीनता च मनोयोगा-  
दीनामकुशलानां निरोधः कुशलानामुदीरणम् ।

(उशावृ प ६०८)

प्रतिसंलीनता के चार प्रकार हैं—

१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता—श्रोत्र आदि इन्द्रियों का शब्द आदि अपने-अपने मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में रागद्वेष का अभाव ।
२. कषाय-प्रतिसंलीनता—क्रोध आदि के उदय का निरोध और उदीर्ण का विफलीकरण ।
३. योगप्रतिसंलीनता—अकुशल मन-वचन-काया का निरोध, कुशल योगों में प्रवृत्ति ।
४. विविक्तचर्या (विविक्त-शयनासन)—एकांत शयन और आसन का सेवन ।

## २. इन्द्रिय प्रतिसंलीनता

इन्द्रियसंलीणया पंचविहा भण्ड, तं जहा—  
सोइन्द्रियसंलीणया, चक्खिदियसंलीणया, घाणिदिय-  
संलीणया, जिडिभदियसंलीणया, फासिदियसंलीणया ।

(दजिचू पृ २४)

इन्द्रियसंलीनता के पांच प्रकार हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रियसंलीनता
२. चक्षुरिन्द्रियसंलीनता
३. घ्राणेन्द्रियसंलीनता
४. जिह्वेन्द्रियसंलीनता
५. स्पर्शनेन्द्रियसंलीनता

## ३. कषायसंलीनता

कषायसंलीणया चतुर्विहा, तं जहा—कोहोदय-  
निरोहो वा उदयप्पत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं, एवं  
सेसेसु वि ।

(दजचू पृ १४)

कषायसंलीनता के चार प्रकार हैं—

१. उदय में आने वाले क्रोध का निरोध करना तथा उदय प्राप्त क्रोध को विफल करना ।
२. उदय में आने वाले मान का निरोध करना तथा उदय प्राप्त मान को विफल करना ।
३. उदय में आने वाली माया का निरोध करना तथा उदय प्राप्त माया को विफल करना ।

४. उदय में आने वाले लोभ का निरोध करना तथा उदय प्राप्त लोभ को विफल करना ।

## ४. योगसंलीनता

जोगसंलीणया तिविहा, तं जहा—अकुसलमणनिरोहो  
कुसलमणउदीरणं वा, एवं वायाए, कायसंलीणया  
चक्रमणादीणि ण अरुज्जे, कज्जे जयणाए । (दअचू पृ १४)

योगसंलीनता के तीन प्रकार हैं—

- मनसंलीनता—अकुशल मन का निरोध, कुशल मन का प्रवर्तन ।
- वचनसंलीनता—अकुशल वचन का निरोध, कुशल वचन का प्रवर्तन ।
- कायसंलीनता—बिना प्रयोजन चक्रमण आदि न करना, प्रयोजन होने पर यतनापूर्वक चक्रमण आदि करना ।

## ५. विविक्त-शयनासन

एगंतमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए ।

सयणासणसेवणया, विविक्तसयणासणं ॥

(उ ३०।२८)

एकान्त, अनापात और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करना विविक्त-शयनासन है ।

(उत्तराध्ययन में यह गाथा बाह्य तप के छठे भेद 'प्रतिसंलीनता' की व्याख्या में दी गई है। परंतु यह प्रतिसंलीनता के एक अवान्तर भेद—विविक्त-शयनासन की छोटक मात्र है। वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने इसका विमर्श इस प्रकार किया है—विविक्तचर्या नाम संलीन-तोक्ता भवति... प्राधान्याच्चास्या एव साक्षादभिधानं, प्राधान्यं चेन्द्रियादिसंलीनतोपकारित्वादस्याः ।)

(उशा प ६०८)

## ६. विविक्त-शयनासन के परिणाम

विविक्तसयणासणयाए णं चरित्तमुत्तिं जणयइ ।  
चरित्तमुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए  
सोक्खभावपडिवन्ने अट्टविहकम्मगंठि निज्जरेइ ।

(उ २९।३२)

विविक्तशयनासन के सेवन से जीव चारित्र की रक्षा को प्राप्त होता है। चारित्र की सुरक्षा करने वाला जीव

पीष्टिक आहार का वर्जन करने वाला, दृढ़ चारित्र्य वाला, एकान्त में रत, अन्तःकरण से मोक्ष साधना में लगा हुआ, ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों की गंठ को तोड़ देता है ।

### प्रतिसेवना—दोष का आचरण ।

पडिसेवणा मङ्गला भङ्गो य विराहणा य खलणा य ।  
उपघाओ य असोही सबलीकरणं च एमट्टा ॥  
(ओनि ७८८)

प्रतिसेवना, मलिनता, भंग, विराधना, खलना, उपघात, अशोधि, शबलीकरण—ये सब एकार्थक हैं ।  
पडिसेवणा य दुविहा मूलगुणे चैव उत्तरगुणे य ।  
मूलगुणे छट्टाणा उत्तरगुणि होइ तिगमाई ॥  
हिंसास्त्रिचोरिक्के मेहुन्नपरिग्गहे य निसिभत्ते ।  
इय छट्टाणा मूले उग्गमदोसा य इयरमि ॥  
(ओनि ७८९, ७९०)

प्रतिसेवना के दो प्रकार हैं—

१. मूलगुण प्रतिसेवना—हिंसा, असत्य, चौर्य, मंथुन, परिग्रह और रात्रिभक्त से सम्बन्धित प्रतिसेवना ।
२. उत्तरगुण प्रतिसेवना—उद्गम-उत्पाद-एषणा के दोष तथा समिति, भावना, तप आदि से संबंधित प्रतिसेवना ।

जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।  
मूलगुणपडिसेवी, अणायतणं तं वियाणहि ॥  
जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।  
उत्तरगुणपडिसेवी, अणायतणं तं वियाणहि ॥  
(ओनि ७७९, ७८०)

जहाँ बहुत से साधर्मिक साधु चंचल चित्त वाले, मूलगुणप्रतिसेवी अथवा उत्तरगुणप्रतिसेवी होते हैं, वह अनायतन है ।

(प्रतिसेवना के दो प्रकार हैं—दर्पिका और कल्पिका । अनाभोग, प्रमाद आदि भी इसके भेद हैं । देखें—ठाणं १०१६९ का टिप्पण) ।

प्रत्यक्ष—बिना किसी माध्यम के होने वाला साक्षात् ज्ञान ।  
(द्र. ज्ञान)

### प्रत्याख्यान—आस्रव का निरोध ।

#### १. प्रत्याख्यान का अर्थ

\* प्रत्याख्यान : आवश्यक सूत्र का छूटा अध्ययन और उसका प्रतिपाद्य (द्र. आवश्यक)

#### २. प्रत्याख्यान के प्रकार

##### ३. दस प्रत्याख्यान

(१) नमस्कारसंहिता

(२) पौरुषी

\* पौरुषी का प्रमाण (द्र. कालविज्ञान)

(३) पुरिमाधं

(४) एकाशन

(५) एकस्थान

(६) निर्विकृति (निर्विगम)

\* विकृति के प्रकार

(द्र. रसपरित्याग)

(७) आयंबिल

(८) उपवास

० पारिष्ठापनिका आकार

० देय परिष्ठापनीय आहार

(९) दिवसचरिम

(१०) अभिग्रह

० महत्तर आकार

४. अनागत आदि दस प्रत्याख्यान

५. कोटिसहित प्रत्याख्यान

६. निर्विप्रित प्रत्याख्यान

७. अद्धा प्रत्याख्यान

८. प्रत्याख्यान की विशेषि के हेतु

९. प्रत्याख्यान की अशोधि के हेतु

१०. प्रत्याख्याता चार विकल्प

११. प्रत्याख्येय

१२. प्रत्याख्यान पालन विधि

१३. प्रत्याख्यान के परिणाम

० आहार-प्रत्याख्यान के परिणाम

० सहयोग-प्रत्याख्यान के परिणाम

० सद्भाव-प्रत्याख्यान के परिणाम

\* उपधि-प्रत्याख्यान के परिणाम (द्र. उपधि)

\* कषाय-प्रत्याख्यान के परिणाम (द्र. कषाय)

\* भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) के परिणाम

(द्र. अनशन)

\* प्रत्याख्यान और श्रुतग्रहण योग्य परिषद्  
(द्र. परिषद्)

१४. प्रत्याख्यान-प्रतिपादन विधि

\* श्रावक के नवकोटि प्रत्याख्यान (द्र. श्रावक)

\* साधु के प्रत्याख्यान (द्र. महाव्रत)

## १. प्रत्याख्यान का अर्थ

प्रत्याख्यायते—निषिध्यतेऽनेन मनोवाक्कायक्रिया-  
जालेन किञ्चिदनिष्टमिति प्रत्याख्यानम् ।

(आवहावृ २ पृ २०८)

मन, वचन और काया के द्वारा जो अनिष्टकारक  
अथवा बंधकारक प्रवृत्ति का निषेध किया जाता है, वह  
प्रत्याख्यान कहलाता है ।

जो अतियारो आलोयणपडिक्कमणकाउत्सग्गेहि ण  
सुज्झति सो तवेण पच्चक्खाणेण य विसोधिज्जति ।

(आवचू २ पृ २७२)

जिन अतिचारों की शुद्धि आलोचना, प्रतिक्रमण और  
कायोत्सर्ग के द्वारा नहीं होती, उनकी शुद्धि तप और  
प्रत्याख्यान से होती है ।

## २. प्रत्याख्यान के प्रकार

तं दुविहं सुअनोसुअ, सुयं दुहा पुव्वमेव नोपुव्वं ।

पुव्वसुय नवमपुव्वं, नोपुव्वसुयं इमं चेव ॥

नोसुअपच्चक्खाणं, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।

मूले सव्वं देसं, इत्तरियं आवकहियं च ॥

(आवभा २४१, २४२)

णोपुव्वसुतपच्चक्खाणं तं अणेगविहं, तं जहा—  
आतुरपच्चक्खाणं महापच्चक्खाणं, इमं पच्चक्खाणउभयणं ।  
जं तं णोसुतपच्चक्खाणं, तं दुविहं—मूलगुणपच्चक्खाणं  
उत्तरगुणपच्चक्खाणं च । जं तं मूलगुणपच्चक्खाणं तं  
दुविहं—सव्वमूलगुणपच्चक्खाणं देसमूलगुणपच्चक्खाणं  
च । सव्वमूलगुणपच्चक्खाणं पंच महव्वता, देसमूलगुण-  
पच्चक्खाणं च पंच अणुव्वता । उत्तरगुणपच्चक्खाणं  
दुविहं—सव्वत्तरगुणपच्चक्खाणं देसुत्तरगुणपच्चक्खाणं च ।  
सव्वत्तरगुणपच्चक्खाणं दसविहं अणागतमतिककंतं... ।  
देसुत्तरगुणपच्चक्खाणं सत्तविहं—तिन्नि गुणव्वताणि  
चत्तारि सिक्खावताणि । अहवा उत्तरगुणपच्चक्खाणं  
दुविहं—इत्तरियं आवकहियं । जथा णियंठितं, तं दुब्धि-  
क्खमादिसुवि जं पडिसेवति । सावगाणं च तिन्नि गुणव्व-

तानि आवकहिताणि । साधूणं केति अभिग्गह्विसेसा  
सावगाणं चत्तारि सिक्खावताणि इत्तरियाणित्ति ।

(आवचू २ पृ २७३)

भाव प्रत्याख्यान के दो प्रकार हैं—श्रुत प्रत्याख्यान  
और नोश्रुत प्रत्याख्यान ।

श्रुत प्रत्याख्यान के दो प्रकार हैं—

१. पूर्व श्रुत—नौवां प्रत्याख्यान पूर्व ।

२. नोपूर्व श्रुत—प्रत्याख्यान अध्ययन, आतुरप्रत्याख्यान,  
महाप्रत्याख्यान आदि ।

नोश्रुत प्रत्याख्यान के दो भेद—

१. मूल गुण—सर्वमूल गुण (महाव्रत), देशमूल गुण  
(अणुव्रत) ।

२. उत्तर गुण—सर्व उत्तरगुण (अनागत आदि दस  
प्रत्याख्यान) । देश उत्तरगुण (तीन गुणव्रत, चार  
शिक्षाव्रत) ।

अथवा उत्तर गुण के दो प्रकार थे हैं—

१. इत्वरिक—साधु के कुछ अभिग्रह आदि तथा श्रावक  
के चार शिक्षाव्रत इत्वरिक (अल्पकालिक) ।

२. यावत्कथिक—साधु का नियंत्रित प्रत्याख्यान  
यावत्कथिक है, जिसका दुर्भिक्ष आदि में भी पालन  
किया जाता है । श्रावक के तीन गुणव्रत यावत्कथिक  
हैं ।

## ३. दस प्रत्याख्यान

नमुक्कारपोरिरीए पुरिमइहेगासणेगठाणे य ।

आयंभिल अभत्तट्ठे चरमे य अभिग्गहे विगई ॥

(आवनि १५९७)

प्रत्याख्यान के दस प्रकार—

१. नमस्कारसहिता (नवकारसी)—सूर्योदय से लेकर  
४८ मिनट तक कुछ भी खाना-पीना नहीं । समय  
सम्पन्न होने पर नमस्कार मंत्र का स्मरण कर इसको  
पूरा किया जाता है, इस दृष्टि से इसका नाम  
नमस्कारसहिता रखा गया है ।

२. प्रहर—दिन के एक चौथाई भाग को प्रहर कहा  
जाता है । उतने समय तक खाद्य-पेय पदार्थों का  
उपयोग नहीं किया जाता ।

३. पुरिमार्ध—दिन का आधा भाग अर्थात् प्रथम दो  
प्रहर के काल तक खान-पान का परित्याग करना  
आधा दिन या पुरिमार्ध कहलाता है ।

४. एकाशन—दिन में एक स्थान पर बैठकर एक बार से अधिक भोजन नहीं करना ।
५. एकस्थान—दिन में एक समय एक आसन में एक बार से अधिक भोजन नहीं करना । इसमें शरीर का संकोच-विकोच करना भी वर्जित है ।
६. निर्विणय—दिन में एक समय, एक बार से अधिक भोजन नहीं करना । भोजन में दूध, दही आदि सभी विकृतियों का परिहार करना । छाछ, रोटी, चने जैसे पदार्थों के अतिरिक्त सरस पदार्थों का सेवन नहीं करना ।
७. आर्याबिल—दिन में एक समय, एक बार केवल एक धान्य के अतिरिक्त कुछ नहीं खाना । उसमें नमक, मसाले, घी आदि कुछ भी नहीं होने चाहिए ।
८. उपवास—एक दिन के लिए पानी के अतिरिक्त सब प्रकार के छाद्य-पेय पदार्थों का परिहार करना । यह तिथिहार उपवास का क्रम है । चौविहार उपवास में पानी नहीं पिया जाता । आगम साहित्य में उपवास के लिए 'चउत्यभक्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।
९. दिवसचरिम—एक घण्टा दिन रहते-रहते भोजन-पानी से निवृत्त होना, दूसरे दिन सूर्योदय तक कुछ भी नहीं खाना ।
१०. अभिग्रह—विशेष प्रतिज्ञा की संपूर्ति होने से पहले भोजन नहीं करना ।

### नमस्कारसहिता

सूरे उगए नमुक्कारसहियं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ । (आव ६।१)

णमोक्कारं काऊणं जेमेउं वट्टति तग्हा जेमणवेलाए भाणियव्वं—नमो अरहंताणं मत्थएण वंदामो खमा-समणा ! णमोक्कारं पारेमिस्सि ।

अणाभोगो णाम एकान्तविस्मृतिः, विस्सरिएणं णमो-क्कारं अकाऊणं मूहे छूढं होज्जा, संभरिते समाणे मुहे-तणमं खेलमल्लए जं हत्थे तं पत्ते पच्छा भुंजे, णमोक्कारं काऊणं जेमेति तो न भगं । सहसाकारे णाम सहसा मुहे पक्खित्तं, छड्ढति, जाणंतेवि तहेव विगिंचित्ता णमोक्कारं काऊणं भुंजति पच्छा, एवंपि किर जीवो आहाराभिमुहो णियत्तिओ भवति, तेण तण्हाच्छेदेण णिज्जरा ।

(आवचू २ पृ ३१५)

सूर्योदय होने पर नमस्कारसहिता में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है । इसके दो अपवाद हैं—

१. अनाभोग—'नमो अरहंताणं ...' इस प्रकार नमस्कार मंत्र का उच्चारण कर नवकारसी को पूरा किया जाता है । अत्यंत विस्मृति होने पर नमस्कार का उच्चारण किये बिना ही मुंह में कवल लिया, किंतु याद आते ही उसे मुंह से निकालकर 'खेलमल्लक' में डाल देने पर तथा हाथ का कवल पात्र में डाल देने पर और नमस्कारपूर्वक पुनः उस कवल को खाने पर त्याग का भंग नहीं होता ।
२. सहसाकार—अकस्मात् मुंह में कवल लेने पर, पुनः निकालकर नमस्कारपूर्वक खाने से त्याग का भंग नहीं होता । ऐसा करने से आहार की अभिलाषा का छेद और निर्जरा होती है ।

### पौरुषी

सूरे उगए पोरिसि पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसा-गारेणं पच्छन्नकालिणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सब्वसमा-हिवत्तिआगारेणं वोसिरइ । (आव ६।२)

पुरुषनिष्पन्ना पौरुषी, जदा किर चउव्वभागो दिवसस्स गतो भवति तदा सरीरप्पमाणच्छाया भवति, तीसे छ आगारा ।

...पच्छण्णातो दिसातो मेहेहि राहि रेणुणा पव्वएण वा पुष्णेत्ति कए पजिमितो होज्जा, जाहे णायं ताहे ठाति, जं मुहे तं खेलमल्लए, जं लंबणे तं पत्ते, पुणे संदिसा-वेति मिच्छादुक्कडमित्त करेति, जेमेति, अह एवं न करेति तहेव जेमेति तो भगं । दिसामूढो ण जाणहिंति हेमते जहा पोरिसी, जाणति अवरण्हे वट्टइत्ति । साहुवयणेणं अन्ने साहू भणंति उग्घाडा पौरुसी, सो जेमेत्ता मिणति अद्धजमिते वा अण्णे मिणंति तेण से कहियं जहा ण पूरि-त्तित्ति, तहेव ठातितव्वं । समाधी णाम तेण य पौरुसी पच्चक्खाया, आसुक्कारियं दुक्खं उष्पन्नं तस्स अन्नस्स वा, तेण किंचि कायव्वं तस्स, ताहे परो विज्जेज्जा तस्स वा पसमणमित्तं पाराविज्जति ओसहं वा दिज्जति, एत्थं-तरा णाए तहेव विवेगो । (आवचू २ पृ ३१५, ३१६)

सूर्योदय होने पर पौरुषी (प्रहर) में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है ।

जो पुरुष से निष्पन्न है, वह पौरुषी है। दिन का चतुर्थ भाग बीत जाने पर पुरुष प्रमाण छाया होती है और यही पौरुषी (प्रहर) का प्रमाणकाल है। इसके छह अपवाद हैं—

१. अनाभोग—अत्यंत विस्मृति होने पर।
२. सहसाकार—सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर।
३. प्रच्छन्नकाल—आकाश में बादल आदि छा जाने से काल का पता न लगने पर।
४. दिग्मूढ—पौरुषी का कालमान ज्ञात न होने पर।
५. साधुवचन—अन्य साधुओं के द्वारा प्रहर की पूर्णता की सूचना मिलने पर।
६. सर्वसमाधिहेतु—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि दिए जाने पर।

### पुरिमार्ध

सूरे उगए पुरिमर्द्धं पञ्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ। (आव ६।३)  
सूर्योदय होने पर पुरिमार्ध (दिन के प्रथम दो प्रहर) में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है। इसके सात अपवाद हैं—

१. अनाभोग—अत्यंत विस्मृति होने पर।
२. सहसाकार—सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर।
३. प्रच्छन्नकाल—आकाश में बादल आदि छा जाने से काल का पता न लगने पर।
४. दिग्मूढ—दो पौरुषी का कालमान ज्ञात न होने पर।
५. साधुवचन—अन्य साधुओं के द्वारा दो प्रहर की पूर्णता की सूचना मिलने पर।
६. महत्तराकार—आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर।
७. सर्वसमाधिहेतु—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि दिए जाने पर।

### एकाशन

एगासणं पञ्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउटणपसारणेणं गुरुअब्भुट्टाणेणं पारिट्टावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ। (आव ६।४)

एगासणं नाम पुता भूमितो ण चालिज्जति, सेसाणि

हत्थे पायाणि चालेज्जावि, तस्स अट्ट आगारा..... सागारियं अट्टसमुद्धिदुस्स आगतं, जदि वोलेति पडिच्छति, अह थिरं ताहे सज्झायवाघातोत्ति उट्ठेत्ता अन्नत्थ गंतुणं समुद्धिसति, हत्थं वा पायं वा सीसं वा आउटेज्जा वा पसारेज्ज वा ण भज्जति, अब्भुट्टाणारिहो आथरितो वा आगतो अब्भुट्ठेयव्वं, तस्स एवं समुद्धिदुयस्स पारिट्टावणिया जदि होज्जा करेति। (आवचू २ पृ ३१६)

एकाशन में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है।

एक आसन में बैठ, पुर्तों को स्थिर रख कर आहार करना एकासन कहलाता है। इसमें हाथ-पैरों का संकोच-फैलाव किया जा सकता है। इसके आठ अपवाद हैं—

१. अनाभोग—अत्यंत विस्मृति होने पर।
२. सहसाकार—सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर।
३. सागारिक—गृहस्थ के आ जाने पर अन्यत्र जाकर खाने पर।
४. हाथ-पैरों का संकुचन-प्रसारण करने पर।
५. गुरु-अभ्युत्थान—गुरु-आगमन पर खड़े होने पर।
६. पारिष्ठापनिका—अतिरिक्त आहार आ जाने पर परिष्ठापन की स्थिति में खाने पर।
७. महत्तराकार—आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर।
८. सर्वसमाधिहेतु—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि दिए जाने पर।

### एकस्थान

एगट्टाणं पञ्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं गुरुअब्भुट्टाणेणं पारिट्टावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ। (आव ६।५)  
एकस्थान में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है। इसके सात अपवाद हैं—

१. अनाभोग—अत्यंत विस्मृति होने पर।
२. सहसाकार—सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर।
३. सागारिक—गृहस्थ के आने पर अन्यत्र जाकर खाने पर।
४. गुरु-अभ्युत्थान—गुरु आगमन पर खड़े होने पर।
५. पारिष्ठापनिका—अतिरिक्त आहार आ जाने पर परिष्ठापन की स्थिति में खाने पर।

६. महत्तराकार—आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर ।  
 ७. सर्वसमाधिहेतु—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि दिये जाने पर ।

### निर्विकृति

निर्विकृति पञ्चकखाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवा-लेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमविक्रएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सब्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ । (आव ६।१०)

पडुच्चमविक्रयं षाम यदि अंगुलीहि गहाय मवसेति तेल्लेण वा घएण वा थोवएणं ताहे निव्वीतकस्स कप्पति, धाराए य विगई भवति । (आवचू २ पृ ३२०)

निर्विकृति में अशन, पान खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है । इसके नौ अपवाद हैं—

१. अनाभोग—अत्यन्त विस्मृति होने पर ।
२. सहसाकार—सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर ।
३. जिसमें दूध आदि का लेप लगा हो, उस पात्र से आहार लेने पर ।
४. विकृति से संसृष्ट हाथ से लेने पर ।
५. निर्विकृति द्रव्य में विकृति द्रव्य गिर जाए तो उसे निकाल देने पर ।
६. अंगुली से घी लेकर चुपड़ देने पर ।
७. पारिष्ठापनिका—अतिरिक्त आहार आ जाने पर परिष्ठापन की स्थिति में खाने पर ।
८. महत्तराकार—आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर ।
९. सर्वसमाधिहेतु—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि दिए जाने पर ।

### आर्यबिल

आर्यबिलं पञ्चकखाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवा-लेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सब्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ । (आव ६।६)

समयककतं आयामेणं आंबिलेण य आहारो कीरति तम्हा आर्यबिलंति गोष्णं नाम ।

लेवालेवे यदि भयणेणं पुव्वं लेवाडं गहियं जा समुद्धिट्ठं संलिहियं जति तेणं आणेति ण भञ्जति,

उक्खित्तविवेगो जं आर्यबिले पडति विगतिमादि तं उक्खि-वित्ता परिट्ठाविवज्जति य, णवरि गलिओ अण्णं वा आर्यबिलअप्पाउमं यदि उद्धरितुं तीरति, उद्धरिएणं ण हम्मति । गिहत्थसंसट्ठेणं षाम यदि गिहत्थडोयलियभायणं वा लेवालेवाडं कुसणादीहि तेणं यदि ईसिति लेवादीहि देति ण भञ्जति, यदि नहरसो आलिखिज्जति बहुतो ताहे ण कप्पति । (आवचू २ पृ ३१७-३१९)

आर्यबिल में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है । इसके आठ अपवाद हैं—

१. अनाभोग—अत्यन्त विस्मृति होने पर ।
२. सहसाकार—सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर ।
३. जिसमें दूध आदि का लेप लगा हो, उस पात्र से आहार लेने पर ।
४. आर्यबिल प्रायोग्य द्रव्य में आर्यबिल अप्रायोग्य द्रव्य गिर जाये तो उसे निकाल देने पर ।
५. अप्रायोग्य द्रव्य से संसृष्ट हाथ से लेने पर ।
६. पारिष्ठापनिका—अतिरिक्त आहार आ जाने पर परिष्ठापन की स्थिति में खाने पर ।
७. महत्तराकार—आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर ।
८. सर्वसमाधिहेतु—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि दिए जाने पर ।

### उपवास

सूरे उग्गए अभत्तट्ठं पञ्चकखाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सब्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ । (आव ६।७)

सूर्योदय होने पर उपवास में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है । इसके पांच अपवाद हैं—

१. अनाभोग—अत्यन्त विस्मृति होने पर ।
२. सहसाकार—सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर ।
३. पारिष्ठापनिका—अतिरिक्त आहार आ जाने पर परिष्ठापन की स्थिति में खाने पर ।
४. महत्तराकार—आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर ।
५. सर्वसमाधिहेतु—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि दिये जाने पर ।

**पारिष्ठापनिका आकार**

आयंबिलमणायंबिल चउथा बालबुड्डसहुअसहू ।

अर्णाहिंडियहिंडियए पाहुणयनिमंतणावलिया ॥

(आवनि १६१०)

पारिट्टावणियाआगारो—सो कस्स दायव्वो ण वा दायव्वो केरिसं वा पारिट्टावणियं दायव्वं ण दायव्वंति ? ते सब्बेवि दुविहा आयंबिलमो य अणायंबिलमो य, आयंबिलिओ आयंबिलितो चैव, अणायंबिलितो निब्बीयं एमासणमं एगट्टाणमं चउत्थं छट्ठं अट्टमं । दसमावियाणं ण वट्ठति दातुं, तस्स पेज्जे उण्हं वा देति, अवि य सो सदेवयतो होति । एक्को आयंबिलिओ एगो चउत्थभत्तितो कस्स दायव्वं ? चउत्थभत्तियस्स दायव्वं, दोवि ते आयंबिलिगा अभत्तट्ठिया वा, एगो बुड्डो एगो बालो, बालस्स दायव्वं, दोवि बाला दोवि बुड्डा एगो सहू एगो असहू, असहूस्स य दायव्वं, दोवि असहा एगो हिंडतो एगो अहिंडगो, अहिंडयस्स दायव्वं, दोवि हिंडया दोवि वा अहिंडया, एगो पाहुणगो एगो वत्थव्वतो, पाहुणगस्स दायव्वं ।

(आवचू २ पृ ३२०)

परिष्ठापनीय आहारग्रहण के योग्य साधु दो श्रेणियों में विभक्त हैं—१. आचाम्ल करने वाले २. आचाम्ल नहीं करने वाले (एकाशन, एकस्थान, उपवास, बेला, तेला करने वाले और निर्विकृतिक) ।

दशमभक्त (चार दिन के उपवास) वालों को परिष्ठापनीय आहार नहीं दिया जाता, केवल उष्ण जल दिया जा सकता है । उनके अधिष्ठित देव होता है ।

एक के आचाम्ल है और एक के उपवास है तो प्राथमिकता किसको दी जाये ? इसके समाधान में कहा गया है कि उपवास करने वाले को प्राथमिकता दी जाये । उपवास करने वालों में भी बाल और वृद्ध हों तो पहले बाल को दिया जाये । उनमें भी असहिष्णु, भ्रमणशील और प्राधूर्णक को दिया जाये, सहिष्णु, अभ्रमणशील और स्थिरवासी को नहीं । प्राधूर्णक न हो तो असहिष्णु, भ्रमणशील और वास्तव्य बाल को दिया जाये इन चार पदों के आधार पर आचाम्ल और उपवास के सोलह विकल्प बनते हैं । इसी प्रकार आचाम्ल के षष्ठभक्त, अष्टमभक्त आदि के साथ कुल छियानवे विकल्प बनते हैं । आचाम्लक और निर्विकृतिक में से आचाम्लक को प्राथमिकता दी जाये ।

एक मुनि के चतुर्थभक्त (उपवास) और एक के षष्ठभक्त (बेला) है तो षष्ठभक्त वाले को परिष्ठापनीय आहार दिया जाता है । इसी प्रकार एकाशन और एकस्थान में एकस्थान को, एकाशन और निर्विकृति में एकाशन को प्रथमता दी जाती है ।

अट्टमभत्तियस्स पारिट्टावणिया ण दिज्जति..... तं पुण वियट्ठं । केति आयरिया अट्टमा पभणंति केति दसमादि, जेसि अट्टमं अवियट्ठं तेसि अट्टमेण य दायव्वं ।

(आवचू २ पृ ३२१)

अष्टमभक्त (तेला) विकृष्ट तप है, अतः अष्टमभक्तिक को परिष्ठापनीय आहार नहीं दिया जाता । जो आचार्य अष्टमभक्त को अविकृष्ट तप मानते हैं, उनके अनुसार अष्टमभक्तिक को परिष्ठापनीय आहार दिया जा सकता है ।

**द्वेय परिष्ठापनीय आहार**

विहिगहियं विहिभुत्तं उव्वरियं जं भवे असणमाई ।

तं गुणणाणुन्यायं कप्पइ आयंबिलार्इणं ॥

(आवनि १६११)

जो आहार निर्दोष विधि (अलुब्धभाव) से गृहीत और विधिभुक्त (मण्डली में कट-प्रतर छेद और सिंह की तरह विधि से खाया गया) है, उसमें से यदि कुछ बच जाता है तो वही बचा हुआ परिष्ठापनीय आहार आयंबिल, एकाशन, उपवास आदि करने वालों को गृह की अनुज्ञा से दिया जा सकता है ।

(अविधि से गृहीत और काक, शृगाल आदि की तरह अविधि से भुक्त आहार में से बचा हुआ आहार तपस्वी के लिए कल्पनीय नहीं है । ऐसा दोष दूषित आहार देने वाले और खाने वाले—दोनों विवेक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं । यदि वे इस स्खलना को पुनः न करने का संकल्प करते हैं तो उन्हें प्रायश्चित्त स्वरूप केवल पांच कल्याणक दिये जाते हैं ।

लुब्धभाव से गृहीत आहार को मंडलीरात्मिक साधु समरस करके खिलाता है, खाने के पश्चात् जो आहार बच जाता है, वह भी विधिभुक्त होने के कारण देय है ।)

**दिवसचरिम**

दिवसचरिमं पच्चकखाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं

महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ ।

(आव ६।८)

दिवसचरिम में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है। इसके चार अपवाद हैं—

१. अनाभोग—अत्यंत विस्मृति होने पर ।
२. सहसाकार—सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर ।
३. महत्तराकार—आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर ।
४. सर्वसमाधिहेतु—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि दिए जाने पर ।

### अभिग्रह

अभिग्रहं पच्चक्खाइ । चउव्विहंपि आहारं—असण पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ ।

(आव ६।९)

अभिग्रह में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य—इस चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है। इसके चार अपवाद हैं—

१. अनाभोग—अत्यन्त विस्मृत होने पर ।
२. सहसाकार—सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर ।
३. महत्तराकार—आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर ।
४. सर्वसमाधिहेतु—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि दिए जाने पर ।

### महत्तर आकार

महत्तरागारेहिं—महल्लपयोयणेहिं, तेण अभत्तदुो पच्चक्खातो ताथे आयरिएहिं भण्णति—अमुगं गामं गंतव्वं, तेण निवेइयं जथा मम अज्ज अब्भत्तदुो, जति ताव समत्थो करेतु य, ण तरति अण्णो भत्तदुओ वा जो तरति सो वच्चनु, णत्थि अण्णी तस्स वा कज्जस्स असमत्थो ताथे तस्स चेव अभत्तदुयस्स गुरू विसज्जयति, एरिसस्स तं जेमंतस्स अणभिलासस्स अभत्तदुितणिज्जरा जा सा से भवति गुरुणिओएण । (आवहा २ पृ २३५)

महत्तराकार का अर्थ है—महान् प्रयोजन । कोई संपीय सेवाकार्य आदि विशेष प्रयोजन उपस्थित होने पर आचार्य शिष्य से कहते हैं—आज तुम्हें अमुक गांव जाना है। वह निवेदन करता है—गुरुदेव ! आज मेरे उपवास है। इस निवेदन के पश्चात् यदि शिष्य समर्थ है तो उपवास भी करता है और कार्यहेतु दूसरे गांव भी चला जाता है। यदि वह समर्थ नहीं है तो अन्य शिष्य तपस्वी

या अतपस्वी—जो भी समर्थ है, वह जाता है। यदि अन्य शिष्य नहीं है या उस विशिष्ट कार्य को सम्पादित करने में समर्थ नहीं है तो गुरु उस उपवासी (अभक्तार्थी) शिष्य को ही भेजते हैं। गुरु का आज्ञावर्ती होने के कारण वह आहार करता हुआ भी उपवास से होने वाली निर्जरा का भागी बनता है क्योंकि वह आहार की अभिलाषा से मुक्त है।

### ४. अनागत आदि दस प्रत्याख्यान

अणागयमइक्कंतं कोडियसहियं निअंतिअं चेव ।

सागारमणागारं परिमाणकडं निरवसेसं ॥

संकेय चेव अट्ठाए पच्चक्खाणं तु दसविहं । ...

(आवनि १५६४, १५६५)

प्रत्याख्यान के अन्य दस प्रकार ये हैं—

१. अनागत—भविष्य में करणीय तप को पहले करना ।
२. अतिक्रान्त—वर्तमान में करणीय तप नहीं किया जा सके, उसे भविष्य में करना ।
३. कोटिसहित—एक प्रत्याख्यान का अन्तिम दिन और दूसरे प्रत्याख्यान का प्रारम्भिक दिन हो, वह कोटिसहित प्रत्याख्यान है ।
४. नियन्त्रित—नीरोग या ग्लान अवस्था में भी 'मैं अमुक प्रकार का तप अमुक-अमुक दिन अवश्य करूंगा'—इस प्रकार का प्रत्याख्यान करना ।
५. साकार—अपवादसहित प्रत्याख्यान ।
६. अनाकार—अपवादरहित प्रत्याख्यान ।
७. परिमाणकृत—दत्ति, कवल, भिक्षा, गृह, द्रव्य आदि के परिमाण से युक्त प्रत्याख्यान ।
८. निरवशेष—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का सम्पूर्ण प्रत्याख्यान ।
९. संकेत—संकेत या चिह्न सहित किया जाने वाला प्रत्याख्यान ।
१०. अध्वप्रत्याख्यान—मुहूर्त, पौरुषी आदि कालमान के आधार पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान ।

### ५. कोटिसहित प्रत्याख्यान

पटुवणओ अ दिवसो पच्चक्खाणस्स निदुवणओ अ ।

जहियं समिति दुन्निवि तं भन्नइ कोडिसहियं तु ॥

(आवनि १५७०)

अन्ये त्वाहुः—आचाम्लमेकस्मिन् दिने कृत्वा द्वितीये दिने च तपोज्जतरमनुष्ठाय पुनस्तृतीयदिने आचाम्लमेव कुर्वतः कोटिसहितमुच्यते । (उशावृ प ७०६)



कोटि का अर्थ है—कोण । पहले दिन आचाम्ल का प्रत्याख्यान कर, उसका अहोरात्र पालन कर, दूसरे दिन पुनः आचाम्ल करने से—दूसरे दिन के आचाम्ल का आरम्भ कोण तथा प्रथम दिन के आचाम्ल का पर्यंत कोण—दोनों कोणों के मिलने से इसको कोटिसहित तप कहा जाता है ।

अथवा—प्रथम दिन आचाम्ल, दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल, उसे कोटि-सहित तप कहते हैं ।

### ६. नियंत्रित प्रत्याख्यान

मासे मासे अ तवो अमुचो अमुगं दिग्गमि एवइओ ।  
हृट्टेण गिलाणेण व काथव्वो जाव ऊसासो ॥  
एयं पच्चक्खाणं नियंत्तियं धीरपुरिसपन्नत्तं ।  
जं गिण्हंतऽणमारा अणिस्सि अप्पा अपडिबद्धा ॥  
चउदसपुव्वी जिणकप्पिएसु पढममि चैव संघयणे ।  
एयं विच्छिन्नं खलु थेरावि तया करेसी य ॥

(आवनि १५७१-१५७३)

जिसमें पूर्व स्वीकृत अमुक दिन अथवा अमुक मास में अमुक तप अंतिम श्वास तक निश्चित रूप से किया जाता है, वह नियंत्रित प्रत्याख्यान है । इसमें स्वस्थता हो या रुग्णता—किसी भी स्थिति में अपवादविधि का सेवन नहीं किया जाता ।

इस प्रत्याख्यान का वहन वे ही मुनि करते थे, जो विषयों से अनिश्चित, शरीर में अप्रतिबद्ध, वज्रशृङ्गभ-नाराच संहननवाले, चतुर्दशपूर्वी अथवा जिनकल्पी आदि होते थे । उस समय स्थविर मुनि भी इस प्रत्याख्यान के अधिकारी थे ।

चतुर्दशपूर्वी, प्रथम संहनन और जिनकल्पिक के विच्छेद के साथ यह नियंत्रित प्रत्याख्यान भी विच्छिन्न हो गया ।

### ७. अद्धा प्रत्याख्यान

अद्धा पच्चक्खाणं जं तं कालप्पमाणच्छेएणं ।  
पुरिमड्डपोरिसीए मुहुत्तमासद्धमासेहि ॥

(आवनि १५७९)

पौषधी आदि काल से जिसका परिमाण होता है, वह कालावद्ध प्रत्याख्यान अद्धा प्रत्याख्यान कहलाता है । जैसे—पुरिमार्ध, पौषधी (प्रहर) आदि । सबसे छोटा प्रत्याख्यान नमस्कारसहिता है, जिसका कालमान एक

मुहूर्त है । अर्ध मास, मास यावत् छह मास पर्यंत की तपस्या अद्धा प्रत्याख्यान के अन्तर्गत है ।

### ८. प्रत्याख्यान की विशोधि के स्थान

सा पुण सद्दहणा जाणणा य विणयाणुभासणा चैव ।  
अणुपालणा विसोही भावविसोही भवे छट्ठा ॥  
(आवनि १५८६)

प्रत्याख्यान-विशोधि के छह स्थान हैं—

१. श्रद्धाशुद्धि—प्रत्याख्यान में श्रद्धा ।
२. ज्ञानशुद्धि—प्रत्याख्यान विषयक ज्ञान ।
३. विनयशुद्धि—कृतिकर्म आदि क्रियाओं में निपुणता ।
४. अनुभाषणशुद्धि—गुरुवचनों के अनुसरण में कुशलता ।
५. अनुपालनाशुद्धि—कृत प्रत्याख्यान की अखंड अनुपालना ।
६. भावशुद्धि—रामद्वेष रहित भावधारा ।  
इन छह स्थानों से प्रत्याख्यान दूषित नहीं होता, शुद्ध होता है ।

### ९. प्रत्याख्यान की अशोधि के स्थान

थंभा कोहा अणाभोगा अणापुच्छा असंतइं ।  
परिणामथो असुद्धो अवाउ जग्गहा विउ पमाणं ॥

(आवभा २५३)

राग और द्वेष से संकिलष्ट चित्त से कृत प्रत्याख्यान अशुद्ध होता है । इसके मुख्य हेतु पांच हैं—

१. स्तब्धता—'इस तपस्वी की पूजा हो रही है । मैं तप करूंगा तो मेरी भी पूजा होगी'—इस भावना से तप करना ।
२. क्रोध—गुरु आदि के द्वारा प्रतिकूल वचन सुनकर यह सोचना कि मैं तिरस्कृत हुआ हूँ, अतः आहार नहीं करूंगा ।
३. अनाभोग—त्याग की विस्मृति होने पर कुछ खा लेना ।
४. अनापुच्छा—गुरु की स्वीकृति से पूर्व खाना ।
५. असत्—खाने योग्य कोई वस्तु न होने पर त्याग करना ।

प्रत्याख्यान के संदर्भ में गुण-दोषों को जानने वाला विद्वान् ही प्रमाण है ।

### १०. प्रत्याख्याता चार विकल्प

मूलगुणउत्तरगुणे सव्वे देसे य तह य सुद्धीए ।  
पच्चक्खाणविहिन्नु पच्चक्खाया गुरु होइ ॥

किङ्कमाइविहिन्नु उवओगपरो अ असदभावो अ ।  
संविग्गथिरपइन्तो पच्चक्खावित्तवो भणियो ॥  
इत्थं पुण चउभंगो जाणगइअरंमि गोणिनाएणं ।  
सुद्धासुद्धा पढमंतिमा उ सेसेसु अ विभासा ॥

(आवनि १६१४-१६१६)

जो प्रत्याख्यान-विधि के ज्ञाता हैं, मूलगुण, उत्तरगुण तथा श्रद्धा आदि की शुद्धि से सम्पन्न हैं, वे गुरु प्रत्याख्यान कराने वाले होते हैं ।

जो कृतिकर्म आदि विनयविधि में कुशल, उपयोग-परायण, शुद्ध भावधारायुक्त, मोक्ष के अभिलाषी और दहप्रतिज्ञ हैं, वे शिष्य प्रत्याख्यान करने वाले होते हैं ।

इनके चार विकल्प हैं—

१. जिसमें प्रत्याख्यान कराने वाला और प्रत्याख्यान करने वाला—दोनों उपयोगयुक्त हैं, वह शुद्ध प्रत्याख्यान है ।
२. जिसमें प्रत्याख्यान कराने वाला उपयोगयुक्त है, प्रत्याख्यान करने वाला किसी प्रयोजनवश उस क्षण उपयोगयुक्त नहीं है किन्तु बाद में उपयोगयुक्त हो जाता है तो वह प्रत्याख्यान भी शुद्ध है ।
३. जिसमें प्रत्याख्यान कराने वाला उपयोगशून्य और प्रत्याख्यान करने वाला उपयोगयुक्त है, वह प्रत्याख्यान भी शुद्ध है ।
४. जिसमें प्रत्याख्यान कराने वाला और प्रत्याख्यान करने वाला—दोनों उपयोगशून्य हैं, वह प्रत्याख्यान अशुद्ध ही है ।

इस प्रसंग में गौ का दृष्टांत मन्नीय है—यदि गायों का प्रमाण मालिक और भाला—दोनों जानते हैं तो मूल्य चुकाने और ग्रहण करने में सुविधा होती है ।

### ११. प्रत्याख्येय

दब्बे भावे य दुहा पच्चक्खाइव्वयं हवइ दुविहं ।

दब्बमि अ असणाई अन्नाणाई य भावमि ॥

(आवनि १६१७)

प्रत्याख्येय वस्तु के दो प्रकार हैं—

द्रव्य—अन्न आदि का प्रत्याख्यान ।

भाव—अज्ञान आदि का प्रत्याख्यान ।

### १२. प्रत्याख्यानपालन विधि—

फासियं पालियं चेव, सोहियं तीरियं तहा ।

किट्टिअमाराहिअं चेव, एरिसयमी पयइयव्वं ॥

(आवनि १५९३)

फासियं नाम यदि सो कालो अभग्गपरिणामेण अंतं पीयो भवति । फासियं नाम जं अंतरा न खंडेति असुद्ध-परिणामो वा अंतं नेति । .....पुणो पुणो पडि-जागरति तेण तं पालियं । सोभितं नाम जो भक्तपाणं आणेत्ता पुव्वं दाऊणं सेसं भुंजति दायव्वपरिणामेण वा, यदि पुण एककतो भुंजति ताहे न सोहियं भवति । पारियं नाम यदि पुन्नमेत्तए पच्चक्खाणे जेमेति, ताहे परं नीतं णो तीरियं, तीरियं पुण जं पुन्नेऽवि मुहुत्तमेत्तं अच्छति असणं निहंभति । किट्टियं यदि जेमणवेलाए उक्कित्तेति, जहा मए अमुणं पच्चक्खायन्ति, तुप्पिहक्कएणं भुंजतेणं ण कडिडयं भवति, एवं सव्वेहि आराहियं अणुपालियं भवति । अनुपालियं नाम अनुस्मृत्यानुस्मृत्य तीर्थंकरवचनं प्रत्याख्यानं पालियिव्वं । (आवचू २ पृ ३१४)

स्वीकृत प्रत्याख्यान के निर्वहन का क्रम इस प्रकार है—

- ० स्पृष्ट - अशुद्ध परिणामों का परिहार कर त्याग का अखंड पालन करना । प्रत्याख्यान को विधियुक्त ग्रहण करना ।
- ० पालित - बार-बार उसके प्रति जागृत होना ।
- ० शोभित - भक्तपान लाकर पहले गुरु आदि को देना, शेष बचने पर स्वयं उपभोग करना अथवा देने के परिणाम से भक्तपान लाना । यदि अकेला ही खाता है तो वह शोभित नहीं होता ।
- ० पारित—प्रत्याख्यान की अवधि पूर्ण होते ही भोजन आदि कर लेना ।
- ० तीरित - प्रत्याख्यान की अवधि पूर्ण हो जाने पर भी मुहूर्त्तमात्र तक आहार का निरोध करना ।
- ० कीर्तित - भोजन की वेला में—'मैने यह प्रत्याख्यान किया था, अब वह पूर्ण हो गया है'—इस प्रकार उच्चारण करता हुआ भोजन करे । मौन भाव से, बिना कुछ कहे, यदि भोजन करता है तो वह 'कीर्तित' नहीं कहलाता ।
- ० आराधित—इन सभी प्रकारों से पालन किया हुआ प्रत्याख्यान आराधित कहलाता है ।
- ० अनुपालित—तीर्थंकर के वचनों का बार-बार स्मरण कर प्रत्याख्यान का पालन करना ।

### १३. प्रत्याख्यान के परिणाम

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निहंभइ । (उ २९।१४)

पच्चक्खाणमि कए आसवदाराइं हुंति पिहियाइं ।

आसववुच्छेएणं तण्हावुच्छेअणं होइ ॥

तष्हाकोच्छेदेण य अउलोवसमो भवे मणुस्साणं ।  
अउलोवसमेण पुणो पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ॥  
तत्तो चरित्तधम्मो कम्मविवेगो तथो अपुच्चं तु ।  
तत्तो केवलनाणं तथो अ मुक्खो सयासुक्खो ॥

(आवनि १५९४-१५९६)

प्रत्याख्यान की विधिवत् अनुपालना करने से आस्रव-द्वारों का निरोध होता है। आस्रवद्वारों के निरोध से विषयाभिलाषा की निवृत्ति (तृष्णाक्षय), अतुल उपशम की वृद्धि, प्रत्याख्यान की विशोधि, चारित्रधर्म की आराधना, कर्म-विवेक, अपूर्वकरण (श्रेणीआरोहण), केवल्य की प्राप्ति और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

### आहार-प्रत्याख्यान के परिणाम

आहारपच्चक्खाणेण जीवियासंसप्पओगं वोच्छिदइ ।  
जीवियासंसप्पओगं वोच्छिदित्ता जीवे आहारमंतरेण  
न संकलिसइ । (उ २९।३६)

आहार प्रत्याख्यान से जीव जीवित रहने की अभिलाषा के प्रयोग का विच्छेद कर देता है। जीवित रहने की अभिलाषा का विच्छेद कर देने वाला व्यक्ति आहार के बिना (तपस्था आदि में) संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

### सहयोग-प्रत्याख्यान के परिणाम

सहायपच्चक्खाणेण एगीभावं जणयइ । एगीभावभूए  
वि य णं जीवे एगगं भावेमाणे अप्पसट्ठे अप्पभंभे अप्प-  
कलहे अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले  
समाहिए यावि भवइ । (उ २९।४०)

सहाय-प्रत्याख्यान से जीव अकेलेपन को प्राप्त होता है। अकेलेपन को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलम्बन का अभ्यास करता हुआ कोलाहलपूर्ण शब्दों से मुक्त, वाचिक कलह से मुक्त, भगड़े से मुक्त, कषाय से मुक्त, तू-तू से मुक्त, संयमबहुल, संवरबहुल और समाधिस्थ हो जाता है।

### सद्भाव-प्रत्याख्यान के परिणाम

सद्भावपच्चक्खाणेण अनियट्ठि जणयइ । अणियट्ठि-  
पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ, तं  
जहा वेयणिज्जं आउयं नामं गोयं । तथो पच्छा  
सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं  
करेइ । (उ २९।४२)

सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीव अनिवृत्ति—शुक्लध्यान को प्राप्त करता है। अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगर

केवलिसत्क (केवली के विद्यमान) चार कर्मों—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र को क्षीण कर देता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिवृत होता है तथा सब दुःखों का अन्त करता है।

सद्भावेन - सर्वथा पुनःकरणासंभवात्परमार्थेन प्रत्याख्यानं सद्भावप्रत्याख्यानं सर्वसंवररूपा शैलेशीति ।

(उशावृ प ५८९)

सद्भाव-प्रत्याख्यान का अर्थ है—पारमार्थिक प्रत्याख्यान। यह चौदहवें गुणस्थान में होता है—इस भूमिका में परिपूर्ण प्रत्याख्यान होता है, इसमें फिर किसी प्रत्याख्यान की अपेक्षा नहीं रहती। इस अवस्था को पूर्ण संवररूप शैलेशी अवस्था कहा जाता है।

### १४. प्रत्याख्यान-प्रतिपादन विधि

कथनविधिरुच्यते, तत्रायं वृद्धवादः—काए विधीए कहितव्वं ? पढमं मूलगुणा कड्ढेति पाणातिपातवेर-  
मणाति, ततो साधुधम्मो कथिते पच्छा असढस्स सावग-  
धम्मो, इहरा कहिज्जति सत्तिट्ठोवि सावयधम्मं पढमं सोतुं  
तत्थेव वित्ति करेइ । उत्तरगुणेसुवि छम्मासिय आदि काउं  
जं जस्स जोग्गं पच्चक्खाणं तं तस्स असढेण कहेतव्वं ।

(आवहावृ २ पृ २४८)

प्रत्याख्यान विषय का प्रतिपादन करना हो तो सर्वप्रथम प्राणातिपातविरमण आदि पांच महाव्रतरूप साधुधर्म का प्रतिपादन कर फिर श्रावकधर्म का प्रतिपादन करना चाहिये। अन्यथा श्रावकधर्म को सर्वप्रथम सुनकर श्रोता की मानसिकता में परिवर्तन आ सकता है, वह शक्ति-सम्पन्न होने पर भी श्रावकधर्म को स्वीकार करना चाहेगा, साधुधर्म को नहीं। उत्तरगुणों के सन्दर्भ में भी सर्वप्रथम षाण्मासिक तप की चर्चा कर फिर जो जिसके योग्य हो, उस तप का वर्णन करना चाहिये।

आणागिज्झो अत्थो आणाए चेव सो कहेयव्वो ।

दिट्ठंतिउ दिट्ठंता कहुणविहि विराहणा इअरा ॥

(आवनि १६१९)

अनागत आदि प्रत्याख्यानो का प्रतिपादन आगम में प्रतिपादित अर्थ के अनुसार करना चाहिये। जहां दृष्टांत अपेक्षित हो, वहां दृष्टांत का प्रयोग करना चाहिये। ऐसा करने से प्रतिपादनविधि की आराधना होती है, अन्यथा विराधना होती है।

आज्ञाग्राहोऽर्थः—सौधर्मादिः आज्ञयेवासी कथयि-

तव्यो, न दृष्टान्तेन, तत्र तस्य वस्तुतोऽस्तत्वात् ।

(आवहावृ २ पृ २४८)

सौधर्म आदि देवों की परिषद् हो तो प्रत्याख्यान का केवल आगमपरक अर्थ ही प्रतिपादित करना चाहिये । वहाँ दृष्टांत से समझाने की अपेक्षा नहीं होती ।

**प्रत्येकबुद्ध**—किसी एक बाह्य निमित्त से प्रतिबुद्ध होने वाले ।

बाह्यं वसभादिकारणमभिवीक्ष्य बुद्धा पत्तयेबुद्धा एतेसि णियमा पत्तये विहारो जम्हा तम्हा ते पत्तयेबुद्धा । जहा करकण्डुमादयो । किंच—पत्तयेबुद्धाणं जहन्नेण दुविहो उक्कोसेण णवहिहो उवधी णियमा पाउरणवज्जो भवति । पत्तयेबुद्धाणं नियमा पुब्बाधीतं सुतं भवति । जहन्नेण एककारसंगो उक्कोसेण भिन्नदसपुब्बी । लिगं च देवया पयच्छति लिगवज्जितो वा भवति ।

(आवचू १ पृ ७६)

प्रत्येकबुद्ध की पहचान के मुख्य चार बिन्दु हैं—

१. बोधि—प्रत्येकबुद्ध बाह्य निमित्तों से प्रतिबुद्ध होते हैं और नियमतः प्रत्येक—एकाकी विहार करते हैं ।
२. उपधि—इनके जघन्यतः दो प्रकार की उपधि होती है—रजोहरण और मुखवस्त्रिका तथा उत्कृष्टतः नौ प्रकार की उपधि होती है—पात्र, पात्रबंध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका, पटल, रजस्त्राण, गोच्छग, रजोहरण और मुखवस्त्र । चोलपट्ट, मात्रक और तीन कल्प—यह पांच प्रकार की उपधि इनके नहीं होती । स्थविरकल्पी मुनि के चौदह प्रकार की उपधि होती है (द्र. उपधि) ।
३. श्रुत—प्रत्येकबुद्ध के श्रुत नियमतः पूर्वअधीत होता है—जघन्यतः आचार आदि ग्यारह अंग, उत्कृष्टतः भिन्न दस पूर्व ।
४. लिग—इन्हें देवता लिग प्रदान करते हैं अथवा ये लिगविहीन भी प्रव्रजित होते हैं ।

**चार प्रत्येकबुद्ध : अभिनिष्क्रमण का हेतु**

करकण्डु कलिगेषु, पंचालेषु य दुम्मुहो ।  
नमी राया विदेहेसु, गंधारेसु य नग्गई ॥  
ए ए नरिदवसभा, निक्खंता जिणसाणे ।  
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं, सामण्णे पज्जुवट्टिया ॥

(उ १८/४५, ४६)

कलिग में करकण्डु, पंचाल में द्विमुख, विदेह में

नमि और गान्धार में नगति—ये चारों राजेन्द्र अपने-अपने पुत्रों को राज्य सौंप कर जिनशासन में प्रव्रजित हुए और श्रमणधर्म में सदा यत्नशील रहे ।

वसभे अ इंदकेऊ वलए अंबे अ पुप्फिए बोही ।

करकण्डु दुम्मुहस्सा नमिस्स गंधाररणो अ ॥

पुप्फुत्तराउ चवणं पव्वज्जा होइ एगसमएणं ।

पत्तयेबुद्धकेवलि सिद्धि मया एगसमएणं ॥

(उनि २६५, २७०)

करकण्डु बूढ़े बैल को देखकर, द्विमुख इन्द्रध्वज को देखकर, नमि एक चूड़ी की नीरवता को देखकर तथा नगति मंजरी विहीन आम्र-वृक्ष को देखकर प्रतिबुद्ध हुआ ।

ये चारों प्रत्येकबुद्ध एक साथ, एक ही समय में देवलोक से च्युत हुए, एक साथ प्रव्रजित हुए, एक ही समय में बुद्ध हुए, एक ही समय में केवली बने और एक साथ सिद्ध हुए ।

**चार प्रत्येकबुद्ध : एक परिचय**

सेअं सुजायं सुविभत्तिसिगं, जो पासिया वसहं गुट्टमज्जे ।

रिद्धि अरिद्धि समुपेहिआ णं,

कलिगरायावि समिक्ख धम्मं ॥

जो इंदकेउं समलंकियं तु, वट्ठुं पडंतं पविलुप्पमाणं ।

रिद्धि अरिद्धि समुपेहिआ णं,

पंचालरायावि समिक्खधम्मं ॥

बुडिड च हाणि च ससीव वट्ठुं, पूरावरेगं च महानईणं ।

अहो अणिच्चं अधुव्वं च नच्चा,

पंचालरायावि समिक्ख धम्मं ॥

बहुआणं सदयं सोच्चा, एगस्स य असदयं ।

वलयाण नमीराया निक्खंतो मिहिलाहिवो ॥

जो चूअसक्खं तु मणाभिरामं, समंजरीपल्लवपुप्फचित्तं ।

रिद्धि अरिद्धि समुपेहिआ णं,

गंधाररायावि समिक्ख धम्मं ॥

(उनि २७१-२७५)

**१. करकण्डु**

कलिग जनपद । चम्पा नगरी । वहा करकण्डु नाम का राजा राज्य करता था । करकण्डु गो-प्रिय था । एक दिन वह गोकुल देखने गया । उसने एक कृशकाय बछड़े को देखा । उसका मन दया से भर गया । उसने आज्ञा दी कि इस बछड़े को उसकी मां का सारा दूध पिलाया जाए और जब यह बड़ा हो जाए तो दूसरी मायों का दूध भी

उसे पिलाया जाए। गोपालों ने यह बात स्वीकार की।

बछड़ा सुखपूर्वक बढ़ने लगा। वह युवा हुआ। उसमें अतुल शक्ति थी। राजा ने उसे देखा। वह बहुत प्रसन्न हुआ। कुछ समय बीता। एक दिन राजा पुनः वहां आया। उसने देखा कि वही बछड़ा आज बूढ़ा हो गया है, आंखें धंसी जा रही हैं, पैर लड़खड़ा रहे हैं और वह दूसरे छोटे-बड़े बैलों का संघट्टन सह रहा है। राजा का मन वैराग्य से भर गया। उसे संसार की परिवर्तन-शीलता का भान हुआ। वह प्रतिबुद्ध होकर प्रव्रजित हो गया।

### द्विमुख

पांचाल देश में कांपिल्य नाम का नगर था। वहां द्विमुख नाम का राजा राज्य करता था। एक बार इन्द्र-महोत्सव आया। राजा की आज्ञा से नागरिकों ने इन्द्र-ध्वज की स्थापना की। वह इन्द्रध्वज अनेक प्रकार के पुष्पों, घण्टियों और मालाओं से सज्जित किया गया। लोगों ने उसकी पूजा की। स्थान-स्थान पर नृत्य, गीत होने लगे। सारे लोग मोद-मग्न थे। इस प्रकार सात दिन बीते। पूर्णिमा के दिन महाराज द्विमुख ने इन्द्रध्वज की पूजा की। पूजा-काल समाप्त हुआ। लोगों ने इन्द्र-ध्वज के आभूषण उतार लिए और काष्ठ को राजपथ पर फेंक दिया। एक दिन राजा उसी मार्ग से निकला। उसने उस इन्द्रध्वज काष्ठ को मलमूत्र में पड़े देखा। उसे वैराग्य हो आया। वह प्रतिबुद्ध हो पंचमुष्टि लोच कर प्रव्रजित हो गया।

### नमि

नरेश पद्मरथ विदेह राष्ट्र की राज्यसत्ता नमि को सौंप प्रव्रजित हो गया। एक बार महाराज नमि को दाह-ज्वर हुआ। उसने छह मास तक अत्यन्त वेदना सहनी। वैद्यों ने रोग को असाध्य बतलाया। दाह-ज्वर को शांत करने के लिए रानियां स्वयं चन्दन घिस रही थीं। उनके हाथ में पहने हुए कंकण बज रहे थे। उनकी आवाज से राजा को कष्ट होने लगा। उसने कंकण उतार देने के लिए कहा। सभी रानियों ने सौभाग्य चिह्न स्वरूप एक-एक कंकण को छोड़कर शेष सभी कंकण उतार दिए। कुछ देर बाद राजा ने अपने मंत्री से पूछा—कंकण का शब्द क्यों नहीं सुनाई दे रहा है? मंत्री ने कहा—‘राजन्! उसके घर्षण से उठे हुए शब्द आपकी

अभ्रिय लगते हैं, यह सोचकर सभी रानियों ने एक-एक कंकण के अतिरिक्त शेष कंकण उतार दिए हैं। अकेले में घर्षण नहीं होता। घर्षण के बिना शब्द कहां से उठे ?

राजा नमि ने सोचा—‘सुख अकेलेपन में है। जहां द्वन्द्व है, दो हैं, वहां दुःख है।’ विचार आगे बढ़ा। उसने सोचा—‘यदि मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊंगा तो अवश्य ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लूंगा। उस दिन कार्तिक मास की पूर्णिमा थी। राजा इसी चिंतन में लीन हो सो गया। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उसने स्वप्न देखा। नन्दीघोष की आवाज से जागा। उसका दाह-ज्वर नष्ट हो चुका था। उसने स्वप्न का चिन्तन किया। चिंतन करते-करते उसे जाति-स्मृति हो गई। वह प्रतिबुद्ध हो प्रव्रजित हो गया।

### नगगति

गांधार जनपद में पुण्ड्रवर्द्धन नाम का नगर था। वहां नगगति नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन राजा नगगति भ्रमण करने निकला। उसने एक पुष्पित आम्र-वृक्ष देखा। एक मंजरी को तोड़ वह आगे निकला। साथ वाले सभी व्यक्तियों ने मंजरी, पत्र, प्रवाल, पुष्प, फल आदि सारे तोड़ डाले। आम्र का वृक्ष अब केवल ठूठ मात्र रह गया। राजा पुनः उसी मार्ग से लौटा। उसने पूछा—‘वह आम्र-वृक्ष कहां है?’ मंत्री ने अंगुली के इशारे से उस ठूठ की ओर संकेत किया। राजा आम की उस अवस्था को देख अवाक् रह गया। उसे कारण ज्ञात हुआ। उसने सोचा—‘जहां ऋद्धि है, वहां शोभा है परन्तु ऋद्धि स्वभावतः चंचल होती है’—इन विचारों से वह संबुद्ध हो गया।

(इन चारों का विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र की सुखबोधो वृत्ति (पत्र १३३-१४५) में प्राप्त है। कुछ भिन्नता के साथ बौद्धग्रन्थ (कुम्भकार जातक) में भी इन चार प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख है।

ऋषिभाषित प्रकीर्णक में पैतालीस प्रत्येकबुद्ध मुनियों का जीवन तथा उनके शिक्षापद निबद्ध हैं। उनमें बीस प्रत्येकबुद्ध अर्हत् अरिष्टनेमि के तीर्थ में, पन्द्रह पाण्डव-नाथ के तीर्थ में तथा दस महावीर के तीर्थ में हुए हैं। उन पैतालीस प्रत्येक बुद्धों में करकण्डु आदि चार प्रत्येक बुद्धों का उल्लेख नहीं है।)

**प्रत्येकबुद्धसिद्ध**—प्रत्येकबुद्ध की अवस्था में सिद्ध होने वाले । सिद्धों का एक भेद । (द्र. सिद्ध)

**प्रदेश**—वस्तु का अविभाज्य अंश । (द्र. पुद्गल)

**प्रमत्तसंयत**—जो पूर्ण ब्रती होने पर भी प्रमादयुक्त होता है, उसकी आत्मविशुद्धि । छठा गुणस्थान । (द्र. गुणस्थान)

**प्रमाण**—ज्ञान अथवा ज्ञान के हेतु । (द्र. ज्ञान)

**प्रमाण**—माप अथवा मापने के साधन ।

### १. प्रमाण की परिभाषा

#### २. प्रमाण के प्रकार

- द्रव्य प्रमाण
- क्षेत्र प्रमाण
- काल प्रमाण
- भाव प्रमाण

#### ३. द्रव्य प्रमाण—प्रदेश निष्पन्न और विभाग निष्पन्न

#### ४. विभाग निष्पन्न प्रमाण के प्रकार

- मान प्रमाण
- उन्मान प्रमाण
- अद्वमान प्रमाण
- गण्य प्रमाण
- प्रतिमान प्रमाण

#### ५. क्षेत्र प्रमाण

#### ६. काल प्रमाण

#### ७. भाव प्रमाण

### १. प्रमाण की परिभाषा

दब्बाइचउभेयं पमीयए जेण तं पमाणं ति ।

(विभा ९४६)

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप चतुर्विध प्रमेय को जिसके द्वारा जाना जाए, वह प्रमाण है ।

### २. प्रमाण के प्रकार

पमाणे चउविहे पणत्ते, तं जहा—दब्बप्पमाणे सैत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे । (अनु ३६९)

प्रमाण के चार प्रकार हैं—द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण ।

### ३. द्रव्य प्रमाण

दब्बप्पमाणे दुविहे पणत्ते, तं जहा—पएसनिष्फण्णे य विभागनिष्फण्णे य । (अनु ३७०)

द्रव्य प्रमाण के दो प्रकार -

प्रदेश निष्पन्न—यह अपने प्रदेशों से निष्पन्न होता है । इसमें मेय और मापक पृथक्-पृथक् नहीं होते ।

विभाग निष्पन्न—इसमें मेय और मापक पृथक्-पृथक् होते हैं ।

पएसनिष्फण्णे—परमाणुपुद्गले दुपएसिए जाव दसपएसिए संखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसिए अनंत-पएसिए । (अनु ३७१)

प्रदेशनिष्पन्न—परमाणुपुद्गल, द्विप्रादेशिक यावत् दस प्रादेशिक, संख्येय प्रादेशिक, असंख्येय प्रादेशिक और अनंत प्रादेशिक ।

### ४. विभाग निष्पन्न प्रमाण के प्रकार

विभागनिष्फण्णे पंचविहे पणत्ते, तं जहा—माणे उम्माणे ओमाणे गणिमे पडिमाणे । (अनु ३७२)

विभागनिष्पन्न के पांच प्रकार—

मान—जिससे लम्बाई और चौड़ाई का माप किया जाए ।

उन्मान—जिससे वजन तोला जाए ।

अवमान—जिससे लम्बाई चौड़ाई और गहराई का माप किया जाए ।

गणिमान—जिससे गणना की जाए ।

प्रतिमान—जिससे मूल्यवान् वस्तुएं तोली जाए ।

### मान प्रमाण

माणे दुविहे पणत्ते, तं जहा—धन्नमाणप्पमाणे य रसमाणप्पमाणे य । (अनु ३७३)

मान के दो प्रकार धान्यमानप्रमाण और रसमान-प्रमाण ।

### धान्यमान प्रमाण

धन्नमाणप्पमाणे दो असतीओ पसती, दो पसतीओ सेतिया, चत्तारि सेतियाओ कुलओ, चत्तारि कुलया पत्थो, चत्तारि पत्थया आढगं, चत्तारि आढगाइं दोणो, सट्ठि आढगाइं जहण्णए कुंभे, असीइं, आढगाइं मज्झिमए कुंभे, आढगसतं उक्कोसए कुंभे, अट्टआढगसतिए वाहे ।

(अनु. ३७४)

धान्यमानप्रमाण—दो असृति (एक पल का माप) की एक प्रसृति (दो पल का माप), दो प्रसृति की एक सेतिका, चार सेतिका का एक कुडव, चार कुडव का एक प्रस्थ, चार प्रस्थ का एक आढक, चार आढक का एक द्रोण,

साठ आढक का एक जघन्य कुम्भ, अस्सी आढक का एक मध्यम कुम्भ, सौ आढक का एक उत्कृष्ट कुम्भ और आठ सौ आढक का एक वाह होता है।

असृति	= एक पल	= चार तोला
प्रसृति	= दो पल	= आठ तोला
सेतिका	= चार पल	= सोलह तोला
कुडव	= सोलह पल	= चौसठ तोला
प्रस्थक	= चौसठ पल	= दो सौ छप्पन तोला (३३ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> सेर)
आढक	= दो सौ छप्पन पल	= एक हजार चौबीस तोला (१२ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> सेर)
द्रोण (४ आढक)	= एक हजार चौबीस पल	= चार हजार छियानवे तोला (१ मन ११ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> सेर)
जघन्य कुंभ (६० आढक)	= पन्द्रह हजार तीन सौ साठ पल	= इकसठ हजार चार सौ चालीस तोला (१९ मन ८ सेर)
मध्यम कुंभ (८० आढक)	= बीस हजार चार सौ अस्सी पल	= इक्यासी हजार नौ सौ बीस तोला (२५ मन २४ सेर)
उत्कृष्ट कुम्भ (१०० आढक)	= पच्चीस हजार छह सौ पल	= एक लाख दो हजार चार सौ तोला (३२ मन)
वाह (८०० आढक)	= दो लाख चार हजार आठ सौ पल	= आठ लाख उन्नीस हजार दो सौ तोला (२५६ मन)

धन्नमाणप्यमाणं मुक्तोली-मुरव-इडुर-अलिद-ओचारसंसियाणं धन्नानं धन्नमाणप्यमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ। (अनु ३७५)

सोलसिया, दो सोलसियाओ अट्टभाइया, दो अट्टभाइयाओ चउभाइया, दो चउभाइयाओ अट्टमाणी दो अट्टमाणीओ माणी। (अनु ३७६)

धान्यमान प्रमाण से मुक्तोली (वह कोठी जो ऊपर-नीचे संकीर्ण और बीच में विशाल हो), मुरव (गाड़ी के ऊपर का ढक्कन), इडुर (ढकने का बड़ा पात्र), आलिन्दक (कुण्डा) और ओचार (बड़ा कोठा) में रखे हुए धान्य का धान्यमान प्रमाण जाना जाता है।

रसमान प्रमाण—धान्यमान प्रमाण से चार भाग अधिक आभ्यन्तर शिखा से युक्त रसमान प्रमाण किया जाता है। जैसे चतुःषष्टिका, द्वात्रिंशिका, षोडशिका, अष्टभागिका, चतुर्भागिका, अर्धमाणी, माणी।

**रसमान प्रमाण**

रसमाणप्यमाणे— धन्नमाणप्यमाणाओ चउभागविव-डिदए अम्भितरसिहाजुत्ते रसमाणप्यमाणे विहिज्जइ, तं अहा—चउसट्टिया ४, बत्तीसिया ८, सोलसिया १६, अट्टभाइया ३२, चउभाइया ६४, अट्टमाणी १२८, माणी २५६। दो चउसट्टियाओ बत्तीसिया, दो बत्तीसियाओ

चतुःषष्टिका के दो भाग करने से द्वात्रिंशिका, द्वात्रिंशिका के दो भाग करने से षोडशिका, षोडशिका के दो भाग भाग करने से अष्टभागिका, अष्टभागिका के दो भाग करने से चतुर्भागिका, चतुर्भागिका के दो भाग करने से अर्धमाणी और अर्धमाणी के दो भाग करने से माणी होती है।

चतुःषष्टिका	= ४ पल	= माणी का चौसठवां भाग	= १६ तोला
द्वात्रिंशिका	= ८ पल	= माणी का बत्तीसवां भाग	= ३२ तोला
षोडशिका	= १६ पल	= माणी का सोलहवां भाग	= ६४ तोला
अष्टभागिका	= ३२ पल	= माणी का आठवां भाग	= १२८ तोला (१ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> सेर)
चतुर्भागिका	= ६४ पल	= माणी का चौथा भाग	= २५६ तोला (३ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> सेर)
अर्धमाणी	= १२८ पल	= माणी का आधा भाग	= ५१२ तोला (६ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> सेर)
माणी	= २५६ पल		= १०२४ तोला (१२ <sup>३</sup> / <sub>४</sub> सेर)

रसमाणप्पमाणेणं वारण-घडम-करण-कलसिय-गगरि-  
दइय-करोडिय-कुंडियसंसियाणं रसाणं रसमाणप्पमाण-  
निव्वित्तिलक्खणं भवइ । (अनु ३७७)

रसमान प्रमाण से वारक (छोटा घड़ा), घट,  
करक (झारी), कलशी, गगरी, दीवड़ी, करोटिका  
(बड़ी कुण्डी) और कुण्डिका में डाले हुए रसों का रस-  
मान प्रमाण जाना जाता है ।

#### उन्मान प्रमाण

उम्माणे - जणं उम्मिण्जइ, तं जहा—अद्धकरिसो  
करिसो, अद्धपलं पलं, अद्धतुला तुला, अद्धभारो भारो ।  
दो अद्धकरिसा करिसो, दो करिसा अद्धपलं, दो  
अद्धपलाइं पलं, पंचुत्तरपलसइया तुला, दस तुलाओ अद्ध-  
भारो, बीसं तुलाओ भारो । (अनु ३७८)

जिससे तोला जाता है, वह उन्मान है, जैसे—अर्धकर्ष,  
कर्ष, अर्धपल, पल, अर्धतुला, तुला, अर्धभार, भार । दो  
अर्धकर्ष का एक कर्ष, दो कर्ष का एक अर्धपल, दो  
अर्धपल का एक पल, एक सौ पांच पलों की एक तुला,  
दस तुला का एक अर्धभार और बीस तुला का भार  
होता है ।

अर्धकर्ष—आधा तोला

कर्ष—एक तोला

अर्धपल—दो तोला

पल—चार तोला

अर्धतुला—दो सौ दस तोला (२½ सेर)

तुला—चार सौ बीस तोला (५¼ सेर)

अर्धभार—चार हजार दो सौ तोला (१ मन  
१२½ सेर)

भार—आठ हजार चार सौ तोला (२ मन २५ सेर)

उम्माणप्पमाणेणं पत्त-अगरु-तगर-चोयय-कुंकुम-खंड-  
गुल-मच्छंडियादीणं दव्वाणं उम्माणप्पमाणनिव्वित्ति-  
लक्खणं भवइ । (अनु ३७९)

उन्मान प्रमाण से पत्र (तेजपत्र आदि), अगरु, तगर,  
चोयक (सुगन्धित द्रव्य), कुंकुम, खाण्ड, गुड़, मस्त्यण्डिका  
(राब) आदि द्रव्यों का उन्मान प्रमाण जाना जाता है ।

#### अवमान प्रमाण

ओमाणे—जणं ओमिण्जइ, तं जहा—हत्थेण वा  
दंडेण वा धणुणा वा जुणेण वा नालियाए वा अक्खेण वा  
मुसलेण वा ।

दंडं धणुं जुगं नालियं च, अक्खं मुसलं च चउहत्थं ।  
दसनालियं च रज्जुं, वियाण ओमाणसण्णाए ॥  
वत्थुम्मि हत्थमेज्जं, खित्ते दंडं धणुं च पंथम्मि ।  
खायं च नालियाए, वियाण ओमाणसण्णाए ॥  
(अनु ३८०)

जिससे अवमान (लम्बाई, चौड़ाई और परिधि का  
माप) किया जाता है, वह अवमान है । जैसे—हाथ,  
दण्ड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष और मुसल ।

दण्ड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष और मुसल चार  
हाथ का होता है । दस नालिका की एक रज्जु होती है ।  
ये अवमान संज्ञा से ज्ञातव्य हैं ।

वास्तु (घर की भूमि) हाथ से मापा जाता है, खेत  
दण्ड से मापा जाता है, मार्ग धनुष से मापा जाता है  
और खाई का गड्ढा नालिका से मापा जाता है । ये भी  
अवमान संज्ञा से ज्ञातव्य हैं ।

एएणं ओमाणप्पमाणेणं खाय-विय-रचिय-करकचिय-  
कड-पड-भित्ति-परिक्खेवसंसियाणं दव्वाणं ओमाणप्प-  
माणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ । (अनु ३८१)

इस अवमान प्रमाण से खोदे हुए, चिने हुए, बनाए  
हुए, करीत से काटे हुए तथा कट, पट, भित्ति और  
परिधि - इनसे संबद्ध द्रव्यों का अवमान प्रमाण जाना  
जाता है ।

#### गण्य प्रमाण

गणिमे—जणं गणिज्जइ, तं जहा—एगो दस सयं  
सहस्सं दससहस्साइं सयसहस्सं दससयसहस्साइं कोडी ।  
(अनु ३८२)

जो गिना जाता है वह गण्य है, जैसे—एक, दस,  
सौ हजार, दस हजार, सौ हजार (लाख), दस सौ  
हजार (दस लाख) और कोटि ।

एएणं गणिमप्पमाणेणं भित्तग-भित्ति-भत्त-वेयण-आय-  
व्वयसंसियाणं दव्वाणं गणिमप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं  
भवइ । (अनु ३८३)

इस गण्य प्रमाण से भूतक (कर्मकर), भूति (वृत्ति),  
भक्त (भोजन), वेतन और आय-व्यय से संबद्ध द्रव्यों का  
गण्य प्रमाण जाना जाता है ।

#### प्रतिमान प्रमाण

पडिमाणे—जणं पडिमिण्जइ, तं जहा—गुंजा  
कागणी निप्फावो कम्ममासओ मंडलओ सुवण्णो । पंच  
गुंजाओ कम्ममासओ, चत्तारि कागणीओ कम्ममासओ,



तिष्णि निष्पावा कम्ममासओ, एवं चउक्कओ कम्ममासओ । बारस कम्ममासया मंडलओ, एवं अडयालीसाए कागणीओ मंडलओ । सोलस कम्ममासया सुवण्णो, एवं चउसट्टीए कागणीओ सुवण्णो । (अनु ३८४)

प्रतिमान—जिससे स्वर्ण आदि का तौल किया जाता है, जैसे गुञ्जा, काकणी, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डलक और सुवर्ण । पांच गुञ्जा, चार काकणी और तीन निष्पाव का एक कर्ममाषक होता है ।

इस प्रकार चार काकणी से निष्पन्न कर्ममाषक को चतुष्क कर्ममाषक कहते हैं । बारह कर्ममाषक का एक मण्डलक होता है ।

इस प्रकार अड़तालीस काकणी का एक मण्डलक और सोलह कर्ममाषक का एक सुवर्ण होता है । इस प्रकार चौसठ काकणी का एक सुवर्ण होता है ।

एएणं पडिमाणप्पमाणेणं सुवण्ण-रजत-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवालादीणं दब्बाणं पडिमाणप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ । (अनु ३८५)

इस प्रतिमान प्रमाण से स्वर्ण, रजत, मणि, मौक्तिक, शंख, शिला (मूल्यवान् पत्थर), प्रवाल आदि द्रव्यों का प्रतिमान प्रमाण जाना जाता है ।

## ५. क्षेत्र प्रमाण

क्षेत्रप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—एएसनिष्फण्णे य विभागनिष्फण्णे य । (अनु ३८६)

क्षेत्रप्रमाण के दो प्रकार—प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न ।

एएसनिष्फण्णे—एगएसोगाडे दुपएसोगाडे तिपएसोगाडे जाव दसएसोगाडे संखेज्जएसोगाडे असखेज्जएसोगाडे । (अनु ३८७)

प्रदेशनिष्पन्न—एकप्रदेशावगाढ, द्विप्रदेशावगाढ, त्रिप्रदेशावगाढ यावत् दसप्रदेशावगाढ, संख्येय प्रदेशावगाढ और असंख्येय प्रदेशावगाढ ।

विभागनिष्फण्णे—

अंगुल विहत्थिय रयणी, कुच्छी धणु गाउयं च बोधव्वं ।

जोयण सेढी पयरं, लोममलोमे वि य तहेव ॥

(अनु ३८८)

अंगुल, वितस्ति, रत्ति, कुक्षि, धनुष, गव्यूत, योजन, श्रेणी, प्रतर, लोक और अलोक—यह विभागनिष्पन्न प्रमाण है ।

## ६. काल प्रमाण

कालप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—एएसनिष्फण्णे य विभागनिष्फण्णे य । (अनु ४१३)

कालप्रमाण के दो प्रकार—प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न ।

## ७. भाव प्रमाण

भावप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—गुणप्पमाणे नयप्पमाणे संखप्पमाणे । (अनु ५०६)

भावप्रमाण के तीन प्रकार—गुणप्रमाण, नयप्रमाण और संख्याप्रमाण ।

### गुणप्रमाण

गुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—जीवगुणप्पमाणे य अजीवगुणप्पमाणे य । (अनु ५०७)

गुणप्रमाण के दो प्रकार—जीवगुणप्रमाण और अजीवगुणप्रमाण ।

अजीवगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—वण्ण-गुणप्पमाणे गंधगुणप्पमाणे, रसगुणप्पमाणे फासगुणप्पमाणे संठाणगुणप्पमाणे । (अनु ५०८)

अजीवगुणप्रमाण के पांच प्रकार—वर्णगुणप्रमाण, गंधगुणप्रमाण, रसगुणप्रमाण, स्पर्शगुणप्रमाण और संस्थानगुणप्रमाण ।

जीवगुणप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—नाण-गुणप्पमाणे दंसणगुणप्पमाणे चरित्तगुणप्पमाणे ।

(अनु ५१४)

जीवगुणप्रमाण के तीन प्रकार—ज्ञानगुणप्रमाण, दर्शनगुणप्रमाण और चारित्रगुणप्रमाण ।

### ज्ञानगुणप्रमाण

नाणगुणप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे अणुमाणे ओव्वमे आगमे । (अनु ५१५)

ज्ञानगुणप्रमाण के चार प्रकार—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान (४) आगम ।

(द्र. संबद्ध नाम)

**प्रमाणांगुल**—अंगुल का एक भेद । (द्र. अंगुल)

**प्रमाद**—धर्माचरण में अनुत्साह ।

मज्जं विसय कसाया निहा विगहा य पंचमी भणिया ।

(उनि १८०)

प्रमाद के पांच प्रकार—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ।

### प्रमाद : साधना का बाधक तत्त्व

प्रचुरकर्मन्धनप्रभवनिरन्तराविध्यातशारीरमानसानेकदुःखहुतवहज्वालाकलापपरीतमशेषमेव संसारवासगृहं पश्यन्तन्मध्यवर्त्यपि सति च तन्निर्गमनोपाये वीतराग-प्रणीतधर्मचिन्तामणी यतो विचित्रकर्मोदयसाचिव्य-जनितात् परिणामविशेषादपश्यन्निव तद्भयमविगणय्य विशिष्टपरलोकक्रियाविमुख एवास्ते जीवः स खलु प्रमादः । तस्य च प्रमादस्य ये हेतवो मद्यादयस्तेऽपि प्रमादास्तत्कारणत्वात् । (नन्दीमवृ प २०४)

प्रचुर कर्मरूपी इन्धन से उत्पन्न, निरन्तर प्रज्वलित, शारीरिक और भानसिक दुःखरूपी अग्नि की ज्वालाओं से यह सारा संसार-वास घिरा हुआ है। उसमें रहने वाला व्यक्ति उस अग्नि को साक्षात् देख रहा है। उस प्रज्वलित गृह से निर्गमन का उपाय है वीतराग द्वारा प्रणीत धर्म का समाचरण। किन्तु कर्मोदय के विचित्र परिणाम विशेष से उसको न देखता हुआ, उस कराल अग्नि के भय की गणना न करता हुआ वह जीव परलोक के लिए की जाने वाली विशिष्ट क्रियाओं से विमुख ही रहता है। इसका मूल कारण है—प्रमाद। इस प्रमाद के मद्य आदि जो हेतु हैं, वे सभी प्रमाद हैं, क्योंकि वे प्रमाद के कारणभूत हैं।

### प्रमाद : भव-भ्रमण का हेतु

एवं भवसंसारे. संसरइ सुहासुहेह कम्महि ।  
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥  
(उ १०/२५)

प्रमाद-बहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा जन्म-मृत्युमय संसार में परिभ्रमण करता है, इसलिए हे मौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

### अप्रमत्ता का आलम्बन

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,  
इमं च मे किञ्च इमं अकिञ्चं ।  
तं एवमेवं लालप्पमाणं,  
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥

(उ १४।१५)

“यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला काल उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाए ?”

### अप्रमत्त पहले या पीछे ?

स पुक्वमेवं न लभेज्ज पच्छा  
एसोवमा सासथवाइयाणं ।  
विसीयई सिद्धिले आउयमि  
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥  
खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं  
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।  
समिच्च लोयं समया महेसी  
अप्पाणरक्खी चरमप्पमत्तो ॥

(उ ४।९, १०)

जो पूर्व जीवन में अप्रमत्त नहीं होता वह पिछले जीवन में भी अप्रमाद को नहीं पा सकता। “पिछले जीवन में अप्रमत्त हो जाएंगे”—ऐसा निश्चय वचन शाश्वतवादियों के लिए ही उचित हो सकता है। पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला आयु के शिथिल होने पर मृत्यु के द्वारा शरीरभेद के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है।

कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नहीं कर सकता इसलिए मोक्ष की एषणा करने वाले महर्षि ! तुम उत्थित बनो—जीवन के अन्तिम भाग में अप्रमत्त बनें—इस आलस्य को त्यागो। कागभोमों को छोड़, लोक को भलीभांति जान समभाव में रमण तथा आत्मरक्षक और अप्रमत्त होकर विचरण करो।

सुत्तेसु यावी पडिबुट्टजीवी  
न वीससे पंडिए आसुषन्ने ।  
घोरा मुहुत्ता अबळं सरीरं  
भारुडपक्खी व चरप्पमत्तो ॥ (उ ४।६)

आशुप्रज्ञ पंडित सोये हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। काल बड़ा घोर (क्रूर) होता है। शरीर दुर्बल है। इसलिए वह भारण्ड पक्षी की भांति अप्रमत्त होकर विचरण करे।

अप्रमत्त नियमत्तः अहिंसक (ड. अहिंसा)  
कषायप्रमत्त-योगप्रमत्त (ड. गुणस्थान)  
प्रतिलेखना प्रमाद । (ड. प्रतिलेखना)

प्रवचन—जिनशासन, द्वादशांग ।

१. प्रवचन के अर्थ
२. प्रवचन के पर्याय
३. निर्ग्रन्थ प्रवचन का स्वरूप और परिणाम
४. प्रवचन के प्रभावक
- \* प्रवचन : द्वादशांग (ड. अंगप्रविष्ट)

## १. प्रवचन के अर्थ

पवयणं दुवालसंगं गणिपिटकं । (नन्दीचू पृ १२)  
प्रोच्यन्ते अनेन जीवादयः पदार्था इति प्रवचनम् ...  
प्रवचनं द्वादशांगं, तद्रूपयोगानन्वत्वाद् वा संघः ।

(उचू पृ १)

प्रवचन का अर्थ है—द्वादशांग गणिपिटक । द्वादशांग का आधार है संघ और उसका उपयोग भी संघसापेक्ष है, अतः संघ को प्रवचन कहा गया है ।

सुयमिह जिणप्पवयणं तस्सुप्पत्ती ... ।

जिणगणहरवयणाओ ... ।।

एगट्टियाणि तिन्नि उ पवयणं सुत्तं तहेव अत्थो य । ...

...सामन्नं सुयनारणं विसेसओ सुत्तमत्थो य ॥

(विभा १३६५-१३६७)

जिनप्रवचन श्रुत कहलाता है । उसकी अर्थ रूप उत्पत्ति अर्हेत् से तथा सूत्र रूप उत्पत्ति गणधरों से होती है । अतः प्रवचन, सूत्र और अर्थ—ये तीनों एकार्थक हैं । सामान्यतः श्रुतज्ञान को और विशेषतः सूत्र तथा अर्थ को प्रवचन कहा गया है ।

## २. प्रवचन के पर्याय

सुयधम्म तित्थ मग्गो पावयणं पवयणं च एगट्टा ।

(आवनि १३०)

श्रुतधर्म, तीर्थ, मार्ग, प्रावचन और प्रवचन—ये एकार्थक हैं ।

प्रवचन का आधारभूत होने के कारण तीर्थ को प्रवचन कहा गया है । (द्र. तीर्थ)

जमिह पगयं पसत्थं पहाणवयणं च पवयणं तं च ।

(विभा १३६७)

प्रशस्त और प्रधान वचन प्रवचन है ।

मज्जिज्जइ सोहिज्जइ जेणं तो पवयणं तओ मग्गो ।

अहवा सिवस्स मग्गो मग्गणमन्नेसणं पत्थो ॥

...पावयणमाइवयणं वा । सिवपावयवयणं वा ... ॥

(विभा १३८१, १३८२)

० मार्ग का अर्थ है—परिमार्जन, शोधन । प्रवचन परिमार्जन का हेतु है अतः उसे मार्ग कहा गया है । अथवा मार्ग का अर्थ है—अन्वेषण । इससे शिवपथ का अन्वेषण संभव है, अतः इसे मार्ग कहा गया है ।

० प्रवचन आदि वचन है अथवा शिवप्रापक वचन है, अतः इसे प्रवचन कहा गया है ।

## ३. निर्ग्रन्थप्रवचन का स्वरूप और परिणाम

नमो चउवीसाए तित्थगराणं उसभादिमहावीरपज्ज-  
वसाणाणं इणमेव निग्गंथ पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलं  
पडिपुण्णं नेआउयं संसुद्धं सल्लगततणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं  
निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अविहमविसंघि सव्वदुक्खप्प-  
हीणमग्गं । एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति  
परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेति । तं धम्मं सद्दहामि  
पत्तियामि रोएमि फासेमि अणुपालेमि । (आव ४।९)

मैं ऋषभ से महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थकरों को नमस्कार करता हूँ । यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही सत्य, अनुत्तर, अद्वितीय, प्रतिपूर्ण, मोक्ष की ओर ले जाने वाला, सर्वतः शुद्ध, माया, निदान और मिथ्यादर्शन—इन तीनों शक्तियों को छिन्न करने वाला है । यह सिद्धि, मुक्ति, निर्याण (मोक्ष) और निर्याण (शांति) का मार्ग है । यह यथार्थ, अविच्छिन्न और सर्व दुःखों के प्रहाण का मार्ग है ।

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थित जीव, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिवृत्त होते हैं तथा सब दुःखों का अन्त करते हैं ।

मैं इस निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता हूँ, इसका आचरण और अनुपालन करता हूँ ।

## ४. प्रवचन के प्रभावक

अइसेसइडिद्धयायरिय वाई धम्मकहि खवग नेमित्ती ।

विज्जा रायागणसंमया य तित्थं पभावंति ॥

(नन्दीमवृ प २१०)

प्रवचन अथवा तीर्थ के प्रभावक आठ घटक—

१. अतिशेषऋद्धि—अतिशय ऋद्धिसम्पन्न ।

२. आचार्य—युगप्रधान आगमपुरुष ।

३. वादी—वाद-विद्या में निपुण ।

४ धर्मकथी—धर्म-कथा में कुशल ।

५. क्षपक—तपस्या करने वाला ।

६. नैमित्तिक—निमित्तविद् ।

७. विद्याधर—प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं का पारगामी ।

८. राजसम्मत—राजाओं द्वारा सम्मत व्यक्ति ।

**प्रवचन-माता**—पांच समिति और तीन गुप्ति का संयुक्त नाम ।

अद्गु पवयणमायाओ समिई गुप्ति तहेव य ।....

एयाओ अद्गुसमिईओ समासेण विद्याहिया ।

दुवालसंगं जिणक्खायं मायं जत्थ उ पवयणं ॥

(उ २४१,३)

समितिगुप्तिषु प्रवचनं मातं स्थितमित्यर्थः ।

(उच्चू पृ २६६)

यदा तु माय त्ति पदस्य मातर इति संस्कारस्तदा....

भावमातरस्तु समितयः, एताभ्यः प्रवचनप्रसवात् ।

(उशावृ प ५१३, ५१४)

पांच समिति और तीन गुप्ति—ये आठ प्रवचन-माताएं हैं। इनमें जिनभाषित द्वादशांग रूप प्रवचन समाया हुआ है।

‘मायाओ’ शब्द के ‘माताः’ और ‘मातरः’—ये दो संस्कृत रूप किये जा सकते हैं। पहले में ‘समाने’ और दूसरे में ‘मां’ का अर्थ है। इन आठ समितियों से प्रवचन का प्रसव होता है, इसलिए इन्हें प्रवचन-माता कहा जाता है।

**समितियों में द्वादशांग का समवतरण**

अद्गुसुवि समिईसु अ दुवालसंगं समोअरइ ।....

ईर्यासमिती प्राणातिपातविरमणव्रतमवतरति, तद्बुत्तिकल्पानि च शेषव्रतानि तत्रैवान्तर्भावमुपयान्ति, तेषु च न तदस्ति यन्न समवतरति ।

भाषासमितिस्तु सावद्यवचनपरिहारतो निरवद्यवचो-भाषणात्मिका तथा च वचनपर्यायः सकलोऽप्याक्षिप्त एव, न च तद्बहिर्भूतं द्वादशाङ्गमस्ति, यद्वा सर्वा अप्यमूष-चारित्ररूपाः ज्ञानदर्शनाविनाभावि च चारित्रं, न चैतद् त्रयातिरिक्तमन्यदर्शतो द्वादशाङ्गमिति सर्वास्वप्येतासु प्रवचनं मातमुच्यते । (उनि ४५९ शावृ प ५१४, ५१५)

आठ प्रवचन-माताओं में जिनभाषित द्वादशांगी समाई हुई है—

- ईर्या समिति में प्राणातिपातविरमण व्रत का अवतरण होता है। शेष सारे व्रत उसकी सुरक्षा के लिए हैं, इसलिए उनका भी इसमें अन्तर्भाव हो जाता है।
- भाषा समिति में सावद्यवचन का परिहार होता है। वह निरवद्यवचन रूप होती है। इसमें सारा

वचनात्मकश्रुत गृहीत हो जाता है। द्वादशांग प्रवचन उससे बहिर्भूत नहीं है।

अथवा पांच समितियां और तीन गुप्तियां चारित्र रूप हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का अविनाभावी संबंध है। इन तीनों के अतिरिक्त द्वादशांगी कुछ है ही नहीं, इसलिए इन आठों में सारा प्रवचन समाया हुआ है।

**समिति-गुप्ति का स्वरूप (द्र. ममिति, गुप्ति)**

**प्रायश्चित्त—दोष-विशुद्धि का उपाय ।**

- |                               |                   |
|-------------------------------|-------------------|
| १. प्रायश्चित्त के निर्वचन    |                   |
| २. प्रायश्चित्त की परिभाषा    |                   |
| * प्रायश्चित्त : तप का एक भेद | (द्र. तप)         |
| ३. प्रायश्चित्त के प्रकार     |                   |
| ४. प्रायश्चित्त के स्थान      |                   |
| ५. प्रायश्चित्त के परिणाम     |                   |
| * आलोचना प्रायश्चित्त         | (द्र. आलोचना)     |
| * प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त     | (द्र. प्रतिक्रमण) |

**१. प्रायश्चित्त के निर्वचन**

पावं छिदति जम्हा पायच्छित्तं तु भण्णइ तेणं ।

पाएण वावि चित्तं विसोहए तेण पच्छित्तं ॥

(आवनि १५०८)

पायच्छित्तकरण—प्राय इति बाहुल्यस्याख्या, चित्त इति जीवितस्याख्या । प्रायश्चित्तं सोध्यतीति प्रायश्चित्तं । प्रशस्तं वा चित्तस्य विशुद्धिकारणमिति वा प्रायश्चित्तं, वा अथवा ‘चित्ती संज्ञाने’ प्रायशः वितथ-माचरितमर्थमनुस्सरतीति वा प्रायश्चित्तं ।

(आवचू २ पृ २५१)

- जो पापकर्मों को क्षीण करता है, वह प्रायश्चित्त है।
- जो प्रचुरता से चित्त-आत्मा का विशेषण करता है, वह प्रायश्चित्त है।
- जो चित्तविशुद्धि का प्रशस्त हेतु है, वह प्रायश्चित्त है।
- असत्य आचरण का अनुस्मरण करना प्रायश्चित्त है।

**२. प्रायश्चित्त की परिभाषा**

अवराहे पायच्छित्तं कातव्वं...अवराहेण मतिणत्तणं भवतीति तद् विशुद्धिः कार्या...अवराहो सत्त्वं भवति, तत उद्धरेतव्वं...अद्गुविहंपि कम्मं पावं जेष थोवेवि संते णेष्वाणगमणं णत्थि, तेण तं अद्गुविहंपि कम्मं णिग्घाते-तव्वं...तस्स पायच्छित्तस्स करणं । (आवचू २ पृ २५१)

अपराध (नियमों का अतिक्रमण) होने पर आत्मा मलिन होती है। उसकी विशोधि के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है। अपराध शल्य है। शल्य के उद्धरण के लिए जो किया जाता है वह प्रायश्चित्त है। आठों कर्म पाप हैं। उनके रहते निर्वाण नहीं होता। उनके उन्मूलन के लिए जो किया जाता है वह प्रायश्चित्त है।

### ३. प्रायश्चित्त के प्रकार

आलोयणारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं ।  
(उ ३०।३१)

पायच्छित्तं दसविहं, तं जहा—आलोयणं, पडिककमणं, तदुभयं, विवेगो, वियोसग्गो, तवो, छेदो, मूलं, अणवट्टप्पो, पारंचित्तो ।  
(दअचू पृ १४)

प्रायश्चित्त के दस प्रकार

आलोचना—गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना ।  
प्रतिक्रमण—किए हुए पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' ऐसा कहना ।

तदुभय आलोचना एवं प्रतिक्रमण—दोनों करना ।

विवेक—अशुद्ध आहार आदि का उत्सर्ग करना ।

तप—उपवास आदि करना ।

छेद—संयम-काल को छेदकर कम कर देना ।

मूल—पुनः व्रतारोपण करना ।

अनवस्थाप्य—तपस्यापूर्वक व्रतारोपण करना ।

पारंचित्त—अवहेलनापूर्वक व्रतारोपण करना ।

### ४. प्रायश्चित्त के स्थान

परोप्परस्स वायणपरियट्ठणवत्थदाणादिए अणालोतिए गुरूणं अविणओत्ति आलोयणारिहं ।

पडिककमणं पुण पवयणमादिसु आवस्सगंमे वा सहसा अतिक्रमणे पडिचोत्तितो सयं वा सरित्तूण मिच्छा-दुक्कडं करेति एवं तस्स सुद्धी ।

मूलुत्तरगुणातिक्रमसंदेहे आउत्तेण वा कए आलोयणपडिककमणमुभयं ।

आहारातीणं उग्गमादिसुद्धाणं गहिताणं पच्छा विण्णाताणं संपत्ताण वा विवेगो परिच्चागो ।

वियोसग्गो कातुस्सग्गो गमणागमणसुविणणई-संस्तरणाविसु । तवो मूलुत्तरगुणातियारे पंचरातिदियाति छम्मासावसाणमणेकधा ।

छेदो अवराधो पंचएण सासणविहद्धादिसमाधारेण वा तवारिहमतिककंतस्स पंचराईदियादिपव्वज्जाविच्छेदणं ।

मूलं पगाढतराहस्स मूलतो परियातो छिज्जति ।

अणवट्टो मूलच्छेदाणंतरं केणति कालविहिणा पुणो दिविखज्जति ।

पारंचित्तो खेत्तातो देसातो वा णिच्छुभति । छेद-मूल अणवट्टपारंचित्ताणि देसकालपुरिससामत्थादीनि पडुच्च दीज्जति । (आवचू २ पृ २४६, २४७)

प्रायश्चित्त के दस स्थान—

१. आलोचना—गुरु को सूचित किए बिना परस्पर वाचना, परिवर्तना करने पर तथा वस्त्र आदि का आदान-प्रदान करने पर गुरु को निवेदन करना ।

३. प्रतिक्रमण—प्रवचन आदि में अथवा आवश्यक कार्यों में सहसा नियमों का अतिक्रमण होने पर दूसरों से प्रेरित हो या स्वयं स्मृति कर 'मिच्छामि दुक्कडं' करना ।

३. तदुभय—मूलगुण अथवा उत्तरगुणों के अतिक्रमण में संदेह होने पर अथवा जानदूभकर अतिक्रमण करने पर तदुभय प्रायश्चित्त होता है ।

४. विवेक—उद्गम आदि दोषों से अशुद्ध आहार आदि ग्रहण करने के पश्चात् जानकारी होने पर उस आहार का विसर्जन करना विवेक प्रायश्चित्त है ।

५. व्युत्सर्ग—गमनागमन, स्वप्न, नदीसंतरण आदि प्रसंगों पर कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है ।

६. तप—मूलगुण-उत्तरगुण में अतिचार होने पर अतिचार के अनुरूप तप करना तप प्रायश्चित्त है । इसका कालमान जघन्य पांच दिन-रात तथा उत्कृष्ट छह मास है ।

७. छेद—अपराधों का उपचय और शासनविरुद्ध समाचरण होने पर तथा तप के योग्य प्रायश्चित्त का अतिक्रमण होने पर तथा प्रव्रज्या के पांच दिन आदि का छेद करना, संयमपर्याय को कम करना छेद प्रायश्चित्त है ।

८. मूल—प्रगाढतर अपराध होने पर संयमपर्याय का मूल से विच्छेद करना—नई दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है ।

९. अनवस्थाप्य—एक निश्चित अवधि के बाद पुनः दीक्षा देना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है ।

१०. पारांचित — इसमें क्षेत्र और देश से व्यक्ति को पृथक् कर दिया जाता है।  
छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त का प्रयोग देश, काल और पुरुष की शक्ति आदि को ध्यान में रखकर किया जाता है।

### ५. प्रायश्चित्त के परिणाम

पापच्छिन्नकरणेण पावकम्मविसोहि जणयइ निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ आयारं च आयारफलं च आराहेइ। (उ २९।१७)

प्रायश्चित्त करने से जीव पापकर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार हो जाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्गफल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचारफल (मुक्ति) की आराधना करता है।

बंध — आत्मा के साथ शुभ-अशुभ कर्मों का सम्बन्ध। (द्र. कर्म)

बलदेव — दो हजार सिंहों का बल एक अष्टापद में होता है और दस लाख अष्टपदों का बल एक बलदेव में होता है। दो बलदेवों का बल एक वासुदेव में होता है। बलदेव वासुदेव के बड़े भाई होते हैं। इनकी गति है—स्वर्ग या मोक्ष। (द्र. वासुदेव)

बहुश्रुत — नाना श्रुतग्रन्थों का स्वाध्यायी।

१. बहुश्रुत कौन ?	
२. अबहुश्रुत कौन ?	
३. बहुश्रुत को शंख आदि की उपमा	
* बहुश्रुतता की अर्हता	(द्र. शिक्षा)
* बहुश्रुत : चतुर्विंशपूर्वी	(द्र. पूर्व)
४. बहुश्रुतता के परिणाम	

### १. बहुश्रुत कौन ?

परिसमत्तगणिपिटकज्जभयणस्सवणेण य विसेसेण य बहुस्सुतो। (दअचू पृ २५६)  
जो गणिपिटक (आचार आदि द्वादशांग) का विशिष्ट

ज्ञाता है, वह बहुश्रुत है।

बहुस्सुओ चौदसपुव्वी।

(उचू पृ १९४)

जो चौदहपूर्वी है, वह बहुश्रुत है।

बहुश्रुता विविधागमश्रवणावदातीकृतमतयः।

(उशावृ प २५३)

विविध आगमों के श्रवण-अध्ययन से जिनकी बुद्धि निर्मल हो जाती है, वे बहुश्रुत कहलाते हैं।

आगमसिद्धो सक्कंगपारओ गोअमुक्क गुणरासी।...

'संखाईए उ भवे साहइ'...

तत्थागमसिद्धो किर संयभूरमणेऽवि मच्छगाइया।

जं चिट्ठति स भगवं उवउत्तो जाणई तयं पि।।'

(आविन ९३५ हावृ १ पृ २७५)

जो गणधर गौतम की तरह महान् अतिशयसम्पन्न और द्वादशांग का पारगामी है, वह आगमसिद्ध अथवा बहुश्रुत कहलाता है। वह प्राणियों के संख्यातीत भवों को जानता है। वह ज्ञानोपयोगउपयुक्त होने पर स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्य आदि प्राणियों की चेष्टाओं को भी जान लेता है।

(बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ४०२ के अनुसार बहुश्रुत तीन प्रकार के होते हैं —

१. जघन्य बहुश्रुत — निशीथ का ज्ञाता।

२. मध्यम बहुश्रुत — कल्प और व्यवहार का ज्ञाता।

३. उत्कृष्ट बहुश्रुत — नौवें और दशवें पूर्व का ज्ञाता।

निशीथभाष्य की चूर्णि, पृ. ४९५ के अनुसार बहुश्रुत के तीन प्रकार ये हैं —

१. जघन्य बहुश्रुत — निशीथ का ज्ञाता।

२. मध्यम बहुश्रुत — निशीथ और चौदह पूर्वों का मध्यवर्ती ज्ञाता।

३. उत्कृष्ट बहुश्रुत — चतुर्विंशपूर्वी।

धवला ८।३।४१ में बारह अंगों के धारक को बहुश्रुत कहा गया है।)

### २. अबहुश्रुत कौन ?

जे यावि होइ निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।

अभिवखणं उल्लवई, अविणीए अबहुस्सुए।।

(उ ११।२)

जो विद्याहीन है, विद्यावान् होते हुए भी जो अभिमानी है, जो सरस आहार में लुब्ध है, जो अजितेन्द्रिय

है, जो बार-बार असम्बद्ध बोलता है, जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत कहलाता है ।

### ३. बहुश्रुत को शंख आदि की उपमा

जहा संखम्मि पयं, निहियं दुहओ वि विरायइ ।  
 एवं बहुस्सुए भिक्खू, धम्मो किती तहा सुयं ॥  
 जहा से कंबोयाणं, आइण्णे कंधए सिया ।  
 आसे जवेण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥  
 जहाइण्णसमारूढे, सूरे दढपरक्कमे ।  
 उभओ नंदिबोसेणं, ..... ॥  
 जहा करेणुपरिकिण्णे, कुंजरे सट्ठिहायणे ।  
 बलवंते अप्पडिहए, ..... ॥  
 जहा से तिकखसिगे, जायखंधे विरायई ।  
 वसहे जूहाहिवई, ..... ॥  
 जहा से तिकखदाढे, उदग्गे दुप्पहंसए ।  
 सीहे मियाण पवरे, ..... ॥  
 जहा से वासुदेवे, संखचक्कगयाधरे ।  
 अप्पडिहयबले जोहे, ..... ॥  
 जहा से चाउरते, चक्कवट्टी महिडिहए ।  
 चउदसरयणाहिवई, ..... ॥  
 जहा से सहस्सकखे, वज्जपाणी पुरंदरे ।  
 सक्के देवाहिवई, ..... ॥  
 जहा से तिमिरविद्धसे, उत्तिट्ठते दिवायरे ।  
 जल्लते इव तेएण, ..... ॥  
 जहा से उडुवई चंदे, नक्खत्तपरिवारिए ।  
 पडिपुण्णे पुण्णमासीए, ..... ॥  
 जहा से सामाइयाणं, कोट्टागारे सुरक्खिए ।  
 नाणाधन्नपडिपुण्णे, ..... ॥  
 जहा सा दुमाण पवरा, जंबू नाम सुदंसणा ।  
 अणाडियस्स देवस्स, ..... ॥  
 जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा ।  
 सीया नीलवंतपवहा, ..... ॥  
 जहा से नगाण पवरे, सुमहं मंदरे गिरी ।  
 नाणोसहिपज्जलिए, ..... ॥  
 जहा से सयंभूरमणे, उदही अक्खओदए ।  
 नाणारयणपडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥

(उ ११।१५-३०)

**शंख**—जिस प्रकार शङ्ख में रखा हुआ दूध दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होता

है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होते हैं ।

**कम्बोज अश्व**—जिस प्रकार कम्बोज के घोड़ों में कन्थक घोड़ा शील आदि गुणों से आकीर्ण और वेग से श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं में बहुश्रुत श्रेष्ठ होता है ।

**योद्धा**—जिस प्रकार आकीर्ण (जातिमान्) अश्व पर चढ़ा हुआ दृढ़ पराक्रम वाला योद्धा दोनों ओर वजने वाले वाद्यों के घोष से अजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अपने आसपास होने वाले स्वाध्याय-घोष से अजेय होता है ।

**गज**—जिस प्रकार हथिनियों से परिवृत साठ वर्ष का बलवान् हाथी किसी से पराजित नहीं होता, उसी प्रकार बहुश्रुत दूसरों से पराजित नहीं होता ।

(साठ वर्ष की आयु तक हाथी का बल प्रतिवर्ष बढ़ता रहता है, उसके बाद में कम होना शुरू हो जाता है ! यहाँ हाथी की पूर्ण बलवत्ता बताने के लिए साठ वर्ष का उल्लेख किया गया है ।)

**क्षुभ**—जिस प्रकार तीक्ष्ण सींग और अत्यन्त पुष्ट स्कन्ध वाला बैल सूथ का अधिपति बन सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत आचार्य बनकर सुशोभित होता है ।

**सिंह**—जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढ़ों वाला पूर्ण युवा और दुष्पराजेय सिंह आरण्य पशुओं में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अन्यतीर्थिकों में श्रेष्ठ होता है ।

**वासुदेव**—जिस प्रकार शङ्ख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वासुदेव अबाधित बल वाला योद्धा होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अबाधित बल वाला होता है ।

**चक्रवर्ती**—जिस प्रकार महान् ऋद्धिशाली, चतुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत चतुर्दश पूर्वधर होता है ।

**शक्रेन्द्र**—जिस प्रकार सहस्रचक्षु, वज्रपाणि और पुरों का विदारण करने वाला शक्र देवों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत दैवी सम्पदा का अधिपति होता है ।

**सूर्य**—जिस प्रकार अंधकार का नाश करने वाला

उगता हुआ सूर्य तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत तप के तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है ।

**प्रतिपूर्ण चन्द्र**—जिस प्रकार नक्षत्रपरिवार से परिवृत ग्रहपति चन्द्रमा पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण होता है, उसी प्रकार साधुओं के परिवार से परिवृत बहुश्रुत सकल कलाओं से परिपूर्ण होता है ।

**कोष्ठागार**—जिस प्रकार सामाजिकों (समुदायवृत्ति वालों) का कोष्ठागार सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत नाना प्रकार के श्रुत से परिपूर्ण होता है ।

**जम्बू वृक्ष**—जिस प्रकार अनादृत देव का आश्रय सुदर्शना नाम का जम्बू वृक्ष सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है ।

**शीता नदी**—जिस प्रकार नीलवान् पर्वत से निकल कर समुद्र में मिलने वाली शीता नदी सब नदियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है ।

**मन्दर पर्वत**—जिस प्रकार अतिशय महान् और अनेक प्रकार की औषधियों से दीप्त मंदर पर्वत सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है ।

**स्वयंभूरमण समुद्र** जिस प्रकार अक्षय जल वाला स्वयंभूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है ।

## ४. बहुश्रुतता का परिणाम

समुद्रगंभीरसमा दुरासथा

अचक्रिकया केणइ दुप्पहंसया ।

सुयस्स पुण्णा विजलस्स ताइणो,

खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥

(उ ११।३१)

समुद्र के समान गम्भीर, दुराशय—जिनके आशय तक पहुँचना सरल न हो, अक्षय—जिनके ज्ञान सिन्धु को लांघना शक्य न हो, किसी प्रतिवादी के द्वारा अपराजय और विपुलश्रुत से पूर्ण बहुश्रुत मुनि कर्मों का क्षय करके उत्तम गति (मोक्ष) में गए ।

**बालपंडितमरण**—संयमासंयमी अवस्था में होने वाली मृत्यु । (द्र. मरण)

**बालमरण**—असंयमी अवस्था में होने वाली मृत्यु । (द्र. मरण)

**बाहुबली**—भगवान् ऋषभ के पुत्र ।

बाहुबलिकोवकरणं निवेअणं चक्रिक देवया कहणं ।  
नाहम्मेषं जुज्जे दिक्खा पडिमा पइष्णा य ॥  
(आवनि ३४९)

पढमं दिट्ठीजुद्धं वायाजुद्धं तहेव बाह्राहिं ।  
मुट्ठीहि अ दंडेहि अ सव्वत्थवि जिप्पए भरहो ॥  
सो एव जिप्पमाणो विहुरो अह नरवई विचितेइ ।  
कि मन्नि एस चक्की ? जह दाणि दुब्बलो अहयं ॥  
संवच्छरेण धूअं अमूढलक्खो उ पेसए अरिहा ।  
हत्थीओ ओयरत्ति अ वृत्ते चिन्ता पए नाण ॥  
(आवभा ३२-३४)

महाराज ऋषभ के भरत आदि सौ पुत्र और ब्राह्मी-सुंदरी दो पुत्रियां थीं । भरत की माता का नाम सुमंगला और बाहुबली की माता का नाम सुनन्दा था । दोनों पुत्रियां—ब्राह्मी और सुन्दरी तथा शेष ९८ पुत्र भगवान् ऋषभ के पास प्रव्रजित हो गए । भरत चक्रवर्ती बना । उसने बाहुबली के पास दूत भेजकर स्वयं को प्रभु मानने की बात कही । बाहुबली ने जब यह जाना कि शेष ९८ भाई भरत के भय से प्रव्रजित होकर भगवान् की शरण में चले गए हैं, तब उसे बहुत रोष आया । उसने दूत से कहा मेरे अन्य भाई नादान थे, कमजोर थे । मैं युद्ध करने में समर्थ हूँ । तुम जाओ और भरत से कहो कि मेरे पर विजय प्राप्त किए बिना कैसा चक्रवर्तित्व ! युद्ध में ज्ञात हो जाएगा कि मैं राजा हूँ या भरत राजा है ? दोनों सेनाएं देश के प्रत्यन्त भाग में मिलीं । बाहुबली ने भरत से कहा—'निरपराध प्राणियों को मारने से क्या प्रयोजन ? मैं और तुम—दोनों परस्पर लड़ें । भरत ने यह बात स्वीकार कर ली । पांच प्रकार के युद्ध निश्चित हुए—दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध और दंडयुद्ध । प्रथम चारों प्रकार के युद्धों में भरत पराजित हो गया । अन्तिम दंडयुद्ध में स्वयं को पराजित होते देख, भरत ने सोचा—ओह ! यह क्या ! क्या चक्रवर्ती यह है या मैं हूँ ? मैं इतना दुर्बल कैसे हो गया ? उसने संकल्प किया । देवता ने



उसे दिव्य दंडरत्न दिया। भरत उसको लेकर बाहुबली पर प्रहार करने दीड़ा। बाहुबली ने समर्पण मन ही मन सोचा—मैं भरत का इस दिव्यरत्न के साथ ही साथ नाश कर देता हूँ। धिक्कार है भरत को! वह तुच्छ राज्य के लिए अपनी प्रतिज्ञा को भंग कर रहा है। मैं ऐसे भ्रष्टप्रतिज्ञा को मारना नहीं चाहता। मेरे लिए प्रव्रज्या का मार्ग ही श्रेयस्कर है। उसने तब भरत से कहा—मैं अपना राज्य तुमको देकर प्रव्रजित हो जाता हूँ। भरत ने बाहुबली के पुत्र को राज्य सौंप दिया। बाहुबली ने सोचा—पिता के पास मेरे अन्य भाई पहले से प्रव्रजित हैं। वे अतिशयज्ञानी हैं। मैं अनतिशयज्ञानी उनके पास कैसे जाऊँ। अच्छा है, मैं यहीं साधना में स्थित होकर, केवलज्ञान प्राप्त कर, फिर ऋषभ के पास जाऊँ।

यह सोचकर बाहुबली प्रतिमा में स्थित हो गए। उनका मन अहंकार के शिखर को छू रहा था। ऋषभ को यह सारा ज्ञात था, परन्तु उन्होंने बाहुबली को समझाने किसी को नहीं भेजा। वे जानते थे कि अभी बाहुबली अहंकार से अन्धा हो रहा है। इस समय वह समझ नहीं सकेगा। 'अमूढलक्ष्मा तित्थयरा'—तीर्थंकर की प्रवृत्ति सलक्ष्य होती है। बाहुबली एक संवत्सर तक कायोत्सर्ग प्रतिमा में खड़े रहे। लताओं ने उनके शरीर को तथा वल्मीक से निर्गम भुजंगों ने उनके पैरों को वेष्टित कर डाला। एक संवत्सर पूरा हुआ। भगवान् ने ब्राह्मी और सुंदरी—दोनों साध्वियों को भेजा। वे बाहुबली की खोज में आईं। खोज करते-करते वल्लियों और तृणों से घिरे हुए तथा शिर और दाढ़ी-मूख के लम्बे और सघन वालों से परिवेष्टित बाहुबली को देखा। वन्दना कर दोनों साध्वियों ने कहा—क्या हाथी घर आरूढ़ व्यक्ति केवल्य प्राप्त कर सकता है? इतना कहकर वे चली गईं। बाहुबली ने सोचा—कैसा हाथी? कहाँ है हाथी? सोचते-सोचते वे गहराई में गए और ज्ञात हुआ कि अहंकार के मदोन्मत्त हाथी पर वे आरूढ़ हैं। अहं क्यों? कैसा? किस पर? अहंकारशून्य हो उन्होंने भगवान् के पास जाने तथा भ्राता-मुनियों को वंदन करने के लिए पैर उठाया। ज्ञानावरणीय कर्म आदि धातिकर्मों का पर्दा उठा और वे केवली हो गए। वे भगवान् की सन्निधि में गए और केवलियों की पंक्ति में बैठ गए। (देखें—आवचू १ पृ २०९-२११)

**बुद्धबोधितसिद्ध**—प्रतिबोध से दीक्षित होकर मुक्त होने वाले। (द्र. सिद्ध)

**बुद्धि**—विशेष प्रकार का बोध।

१. बुद्धि की परिभाषा
२. बुद्धि के पर्याय
- \*. बुद्धि: अभ्रुतनिश्चित मति (द्र. आमिनिबोधिक ज्ञान)
३. औत्पत्तिकी बुद्धि की परिभाषा
  - उदाहरण
४. वैनयिकी बुद्धि की परिभाषा
  - उदाहरण
५. कर्मजा बुद्धि की परिभाषा
  - उदाहरण
६. पारिणामिकी बुद्धि की परिभाषा
  - उदाहरण
७. बुद्धि के गुण : श्रुतग्रहण की प्रक्रिया

## १. बुद्धि की परिभाषा

अथस्स ऊह बुद्धी....। (दभा २०)

अर्थस्योहा बुद्धिः संज्ञितः परनिरपेक्षोऽर्थपरिच्छेदः।

(दहावृ प १२५)

समतीते सत्यत्वभावभासणं बुद्धी।

(दअचू पृ ६७)

जो स्वतंत्ररूप से अर्थ का निर्णय करती है, वह बुद्धि है।

जो अपनी मति से शास्त्र के अर्थ को प्रकाशित करती है, वह बुद्धि है।

पुणो पुणो अत्थावधारणावधारितं बुज्झतो बुद्धी भवइ। (नन्दीचू पृ ३६)

जो अर्थ की बार-बार अवधारणा करती है, निश्चय करती है, वह बुद्धि है।

अवधारितमर्थं क्षयोपशमविशेषात् स्थिरतया पुनः पुनः स्पष्टतरमेव बुद्धयमानस्य बुद्धिः।

(नन्दीहावृ पृ ५१)

क्षयोपशम की विशेषता तथा स्थिरता के कारण जिससे जाना हुआ अर्थ पुनः-पुनः स्पष्टतर जाना जाता है, वह बुद्धि है।

## बुद्धि के पर्याय

....अभिप्रायो बुद्धिपञ्जाओ ॥

अभिप्रायो बुद्धिः अध्यवसाय इति पर्यायाः ।

(विभा ३५१४ कोवृ पृ ७१२)

अभिप्राय और अध्यवसाय बुद्धि के पर्याय हैं ।

विजला विमला सुहमा जस्स मई जो चतुर्विहाए वा ।

बुद्धीए संपन्नो स बुद्धिसिद्धो ... ॥ (आवनि ९३७)

जो विपुल, निर्मल और सूक्ष्म मति से सम्पन्न हैं,

वह बुद्धिसिद्ध कहलाता है । अथवा जो औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि से सम्पन्न है, वह बुद्धिसिद्ध है ।

## ३. औत्पत्तिकी बुद्धि की परिभाषा

पुन्वमदिट्टमसुयमवेश्य, तक्खणविसुद्धगहियत्था ।

अव्वाहय-फलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया नाम ॥

औत्पत्तिकी नाम प्रातिभमिति हूदयम् ।

(नन्दी ३८२ हावृट्टि पृ १३२)

पहले अदृष्ट, अश्रुत, अनालोचित अर्थ का तत्क्षण यथार्थ रूप से ग्रहण करने वाली, जो प्रयोजन से युक्त और किसी दूसरे प्रयोजन से अव्याहृत है, वह बुद्धि औत्पत्तिकी कहलाती है । यह प्रातिभज्ञान है ।

उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यासकर्मपरिशीलनादिकं प्रयोजनं -- कारणं यस्याः सा औत्पत्तिकी । ... क्षयोपशमः सर्वबुद्धिसाधारणः । ततो नासौ भेदेन प्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति । व्यपदेशान्तरनिमित्तमत्र न किमपि विनयादिकं विद्यते । केवलमेवमेव तथोत्पत्तिः । (नन्दीमवृ प १४४)

शास्त्रों के अभ्यास और कर्मपरिशीलन के बिना ही जो स्वतः उत्पन्न होती है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है ।

क्षयोपशम सब बुद्धियों में रहता है, अतः वह भेद का कारण नहीं बन सकता । विनय आदि कोई भी अन्य निमित्त इसमें अपेक्षित नहीं है । इसकी उत्पत्ति स्वतः होती है ।

## उदाहरण

भरहसिल, पणिय, रुक्खे, खुड्डग,

पड, सरड, काय, उच्चारे ।

गय, घयण, गोल, खंभे, खुड्डग,

मग्गि-त्थि पइ पुत्ते ॥

महसित्थ-मुद्दि-अंके, य नाणए भिक्खु-चेडगनिहाणे ।

सिक्खा य अत्थसत्थे, इच्छा य महं सयसहस्से ॥

(नन्दी ३८३, ४)

भरहसिल मिड कुक्कुड तिल

वालुय हत्थि अमड वणसंडे ।

पायस अइया पत्ते खाडहिला पंचपिअरो य ॥

(आवनि ९४१)

औत्पत्तिकी बुद्धि के उनचालीस उदाहरण —

- |                         |                    |
|-------------------------|--------------------|
| १. भरतशिला              | २१. रुपयों की नोली |
| २. शर्त                 | २२. भिक्षु         |
| ३. वृक्ष                | २३. बालक का निधान  |
| ४. मुद्रिका             | २४. शिक्षा         |
| ५. वस्त्रखंड            | २५. अर्थशास्त्र    |
| ६. गिरगिट               | २६. मेरी इच्छा     |
| ७. काग                  | २७. एक लाख         |
| ८. उत्सर्ग              | २८. मेंढा          |
| ९. हाथी                 | २९. मुर्गा         |
| १०. भाण्ड               | ३०. तिल            |
| ११. लाख की गोली         | ३१. बालुका         |
| १२. स्तम्भ              | ३२. हाथी           |
| १३. क्षुल्लक            | ३३. कूप            |
| १४. मार्ग               | ३४. वनखण्ड         |
| १५. स्त्री              | ३५. खीर            |
| १६. पति                 | ३६. अजिका          |
| १७. पुत्र               | ३७. पत्र           |
| १८. मधुमक्खियों का छाता | ३८. बकरी की मेगनी  |
| १९. मुद्रिका            | अथवा गिलहरी        |
| २०. अङ्क                | ३९. पांच पिता ।    |

## मेंढे का उदाहरण

भूयोऽपि राजा रोहकबुद्धिपरीक्षार्थं मेण्डकमेकं प्रेषितवान्, एष यावत्पलप्रमाणः सम्प्रति वर्तते पक्षातिक्रमेऽपि तावत्पलप्रमाण एव समर्पणीयो, न न्यूनो नाप्यधिक इति, तत एव राजादेशे समागते सति सर्वोऽपि ग्रामो व्याकुलीभूतचेताः बहिः सभायामेकत्र मिलितवान्, सगौरवमाकारितो रोहकः, उवाच रोहको— वृकं प्रत्यासन्नं धृत्वा मेण्डकमेतं यवसदानेन पुष्टीकुरुत, यवसं हि भक्षयन्नेष न दुर्बलो भविष्यति, वृकं च दृष्ट्वा न बलवृद्धिमाप्स्यतीति, ततस्ते तथैव कृतवन्तः, पक्षातिक्रमे च तं राज्ञः समर्पयामासुः, तोलने च स तावत्पलप्रमाण एव जातः ।

(नन्दीमवृ प १४६, १४७)

रोहक की बुद्धि का परीक्षण करने के लिए राजा ने

गांव वालों के पास एक मेंढा भेजा और यह आज्ञा दी कि पन्द्रह दिन बाद इसे लौटा देना है, पर ध्यान रहे इस अवधि में उसका वजन कम या अधिक नहीं होना चाहिए।

राजा का यह आदेश पाकर ग्रामवासी चिन्तितुर हो गए। ग्राम के बाहर एकत्रित हुए। रोहक को बुलाया। राजा के आदेश को सुनाया।

रोहक ने कहा—इसे खाने के लिए पर्याप्त चारा (यवस) दो, पर इसको भेड़िये के पिंजरे के पास बांध दो। पर्याप्त चारा खाकर यह दुर्बल नहीं होगा और भेड़िये को देखकर बलवृद्धि को प्राप्त नहीं होगा। उन्होंने ऐसा ही किया। पन्द्रह दिन बाद राजा को मेंढा लौटा दिया। राजा ने उसे तोला, पर मेंढे के वजन में कोई अन्तर नहीं पाया। यह औत्पतिकी बुद्धि का उदाहरण है।

#### ४. वैनयिकी बुद्धि की परिभाषा

भरनित्यरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला ।

उभओलोग फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धि ॥

(नन्दी ३८५)

भार के निर्वाह में समर्थ, त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम के अर्जनोपाय के प्रतिपादक सूत्र और अर्थ का सार ग्रहण करने वाली, उभयलोक फलवती, विनय से उत्पन्न बुद्धि का नाम वैनयिकी है।

#### उदाहरण

निमित्ते अत्यसत्थे य, लेहे गणिए य कूव-अस्से य ।

गद्भ-लक्खण-गंठी, अगए रहिए य गणिया य ॥

सीया साडी दीहं, च तणं अवसव्वयं च कुंचस्स ।

निव्वोदए य गोणे, घोडगपडणं च रुक्खाओ ॥

(नन्दी ३८६, ७)

वैनयिकी बुद्धि के चौदह उदाहरण—

- |                |   |
|----------------|---|
| १. निमित्त     | ८. लक्षण  |
| २. अर्थशास्त्र | ९. गंठ  |
| ३. लेख         | १०. औषध   |
| ४. गणित        | ११. रथिक-गणिका  |
| ५. कूप         | १२. आर्द्रसाड़ी-दीर्घ तृण-उलटा घूमता हुआ क्रीचक पक्षी |
| ६. अश्व        | १३. नीबोदक—छत का पानी                                 |
| ७. गर्दभ       | १४. बैल-घोड़े और वृक्ष से गिरना ।                     |

#### अश्व का उदाहरण

बहवोऽश्ववणिजो द्वारवतीं जग्मुः, तत्र सर्वे कुमाराः स्थूलान् बृहत्तश्चाश्वान् गृह्णन्ति । वासुदेवेन पुनर्यो लघीयान् दुर्बलो लक्षणसम्पन्नः स गृहीतः, स च कार्य-निर्वाही प्रभूताश्ववहश्च जातः । वासुदेवस्य वैनयिकी बुद्धिः । (नन्दीमवृ प १६१)

एक बार अनेक अश्ववणिक द्वारिका नगरी में गये। वहां सब कुमारों ने स्थूलकाय और बड़े-बड़े हृष्टपुष्ट घोड़े खरीदे। श्रीकृष्ण ने अपनी वैनयिकी बुद्धि से पहचान कर एक कृशकाय दुर्बल घोड़ा खरीदा जो सर्व लक्षण सम्पन्न था।

श्रीकृष्ण इस बुद्धि के प्रभाव से कार्य का निर्वहन करने में समर्थ तथा बहुविध अश्वों पर सवारी करने में निपुण हो गए। यह वैनयिकी बुद्धि का उदाहरण है।

#### ५. कर्मजा बुद्धि की परिभाषा

उवओमदिटुसारा, कम्मपसंगपरिघोलण-विसाला ।

साहुक्कारफलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धि ॥

(नन्दी ३८८)

उपयोग (दत्तचित्तता) के द्वारा क्रिया के रहस्य को जानने वाली, माधुवाद है फल जिसका उस क्रिया से उत्पन्न होने वाली बुद्धि का नाम कर्मजा है।

#### उदाहरण

हेरणिणए करिसए, कोलिय डोए य मुत्ति-घय-पवए ।

तुण्णाग वड्ढइ पूइए य, घड-चित्तकारे य ॥

(नन्दी ३८९)

कर्मजा बुद्धि के बारह उदाहरण—

- |                 |                  |
|-----------------|------------------|
| १. स्वर्णकार    | ७. तैराक         |
| २. कृषक         | ८. रफू करने वाला |
| ३. जुलाहा       | ९. बढई           |
| ४. दर्वी        | १०. रसोइया       |
| ५. मणिकार       | ११. कुम्भकार     |
| ६. घृत-व्यापारी | १२. चित्रकार ।   |

#### कृषक का उदाहरण

कोऽपि तस्करो रात्री वणिजो गृहे पद्माकरं खातं खातवान्, ततः प्रातरलक्षितस्तस्मिन्नेव गृहे ममागत्य जनेभ्यः प्रशंसा माकर्णयति । तत्रैकः कर्षकोऽब्रवीत्— कि नाम शिक्षितस्य दुष्करत्वं ?, यद्येन सदैवाभ्यस्तं कर्म स

तत्प्रकर्षप्राप्तं करोति, नात्र विस्मयः । ततः स तस्कर एतद्वाक्यममर्षवैश्वानरसन्धुक्षणसममाकर्ष्य जज्वाल कोपेन, ततः पृष्ठवान् कमपि पुरुषं—कोऽयं कस्य वा सत्क इति ?, ज्ञात्वा च तमन्यदा क्षुरिकामाकृष्य गतः क्षेत्रे तस्य पार्श्वे, रे ! मारयामि त्वां सम्प्रति, तेनोक्तं— किमिति ?, सोऽब्रवीत्—त्वया तदानीं न मम खातं प्रशंसितमितिकृत्वा, सोऽब्रवीत्—सत्यमेतत्, यो यस्मिन् कर्मणि सदैवाभ्यासपरः स तद्विषये प्रकर्षवान् भवती, तत्राहमेव दृष्टान्तः, तथाहि अमून् मुद्गान् हस्तगतान् यदि भणसि तर्हि सर्वानप्यधोमुखान् पातयामि यद्वा ऊर्ध्वमुखान् अथवा पार्श्वस्थितानिति, ततः सोऽधिकतरं विस्मितचेताः प्राह— पातय सर्वानप्यधोमुखानिति, विस्तारितो भूमौ पटः, पातितः सर्वेऽप्यधोमुखा मुद्गाः । जातो महान् विस्मयश्चौरस्य, प्रशंसितं भूयो भूयस्तस्य कौशलमहो विज्ञानमहो विज्ञानमिति । (नन्दीमवृ प १६४, १६५)

किसी चोर ने एक सेठ के घर में इस प्रकार सेंध लगाई कि उसका आकार कमल जैसा बन गया । प्रातःकाल लोगों ने देखा और चोर की प्रशंसा की । वहाँ खड़े एक किसान ने कहा—कार्यविशेष में दक्ष व्यक्ति उस काम को कितनी ही निपुणता से करे, इसमें आश्चर्य जैसा क्या है ? किसान की बात सुनकर चोर को गुस्सा आ गया । उसने किसान का नाम-पता पूछ लिया ।

संध्या के समय वह हाथ में तलवार लेकर किसान के घर गया और उसे मारने के लिए उद्यत हुआ । किसान ने पूछा—मेरा अपराध क्या है ? चोर बोला—तुमने मेरा अपमान किया है । किसान बोला—मैंने जो कहा है, वह असत्य नहीं है । जो जिस विषय में सदैव अभ्यास करता है वह उस विषय में उत्कर्षता को प्राप्त करता है । इसका मैं स्वयं उदाहरण हूँ—ये मूंग के दाने हैं । तुम कहो तो मैं इनको पृथ्वी पर इस प्रकार गिरा सकता हूँ जिससे इनका मुँह ऊपर, नीचे, दाएँ, बाएँ हो जाए । चोर ने उनको अधोमुख गिराने के लिए कहा । धरती पर एक वस्त्र बिछाकर किसान ने मूंग गिराए । सबका मुख नीचे की ओर था । चोर विस्मित हो गया । उसने किसान की भूरि-भूरि प्रशंसा की । यह कार्य के अभ्यास से उत्पन्न कर्मजा बुद्धि का उदाहरण है ।

## ६. पारिणामिकी बुद्धि की परिभाषा

अणुमाणहेउदिट्ठंतसाहिया, वयविवागपरिणामा ।

हियनिस्सेयसफलवाई, बुद्धि परिणामिया नाम ॥

(नन्दी ३=१०)

अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से साध्य को सिद्ध करने वाली, वय-विपाक से परिपक्व होने वाली, अभ्युदय और निःश्रेयस फलवाली बुद्धि का नाम पारिणामिकी है ।

सुदीर्घकालपूर्वापरपर्यालोचनजन्य आत्मनो धर्मविशेषः स प्रयोजनमस्याः सा पारिणामिकी ।

(नन्दीमवृ प १४४)

दीर्घकालीन पूर्वापरपर्याय के पर्यालोचन से उत्पन्न बुद्धि पारिणामिकी है ।

## उदाहरण

अभाए सिट्टि-कुमार, देवी उदिओदए हवइ राया ।

साहू य नंदिसेणे, धणदत्ते सावग-अमच्चे ॥

खमए अमच्चपुत्ते, चाणक्के चेव थूलभदे य ।

नासिक्क- सुंदरीनंदे, वइरे परिणामिया बुद्धी ॥

चलणाहण-आमडे, मणी य सपे य खग्गि-थूभिदे ।

परिणामियबुद्धीए, एवमाई उदाहरणा ॥

(नन्दी ३=११-१३)

पारिणामिकी बुद्धि के बाईस उदाहरण—

- |                  |                         |
|------------------|-------------------------|
| १. अभयकुमार      | १२ अमात्य               |
| २. श्रेष्ठी      | १३. चाणक्य              |
| ३. कुमार         | १४. स्थूलभद्र           |
| ४. देवी          | १५. नासिकपुर-सुंदरीनन्द |
| ५. उदितोदित राजा | १६. वज्र                |
| ६. साधु          | १७. चरण से हत           |
| ७. नन्दिषेण      | १८. कृत्रिम आंवला       |
| ८. धनदत्त        | १९. मणि                 |
| ९. श्रावक        | २०. सांप                |
| १०. मंत्री       | २१. गेंडा               |
| ११. क्षपक        | २२. स्तूप-उखाड़ना ।     |

## कुमार का उदाहरण

मोदकप्रियस्य कुमारस्य प्रथमे वयसि वर्त्तमानस्य कदाचिद् गुणन्यां गतस्य प्रमदादिभिः सह यथेच्छं मोदकान् भक्षितवतोऽजीर्ण-रोगप्रादुर्भावादतिपूतिगन्धि वातकाय-मुत्सृजतो या उद्गता चिन्ता, यथा अहो ! तादृशान्यपि मनोहराणि कणिकवादीनि द्रव्याणि शरीर-सम्पर्क-वशात्पूतिगन्धानि जातानि, तस्माद् धिगिदमशुचि शरीरं, धिग्मोहो । ...ततः ऊर्ध्वं तस्य शुभशुभतराध्यवसाय-भावतोऽन्तर्मुहूर्त्तेन केवलज्ञानोत्पत्तिः । (नन्दीमवृ प १६६)

एक राजकुमार था । उसे मोदक का बहुत शौक था ।

एक बार उसने कुछ सुगन्धित पदार्थों से युक्त मोदक अतिमात्रा में खा लिए। उसे अजीर्ण हो गया और उसके मुँह से दुर्गन्ध आने लगी। राजकुमार सोचने लगा— यह शरीर कैसा अशुचिमय है। सुन्दर और मनोहर वस्तुएं इस शरीर के संयोग से अशुचि बन जाती हैं।

इस प्रकार अणौच अनुप्रेक्षा से उसके अध्यवसाय शुभ-शुभतर होते गए और उसने एक मुहूर्त्तमात्र में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। यह पारिणामिकी— अवस्था के साथ-साथ परिपक्व होने वाली बुद्धि का उदाहरण है।

(औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियों के शेष सम्पूर्ण उदाहरणों के लिए देखें—नन्दीमवृ प १४४-१६७; आवहावृ १ पृ २७७-२८२)

### ७. बुद्धि के गुण : श्रुतग्रहण की प्रक्रिया

सुस्सुसइ उ सोंउं सुयमिच्छइ सविणओ गुरुमुहाओ ।  
पडिपुच्छइ तं गहियं पुणो वि तीसकियं कुणइ ॥  
सुणइ तदस्थहीउं गहणेहावायधारणा तस्स ।  
सम्मं कुणइ सुयाणं अन्नंपि तओ सुयं लहइ ॥  
(विभा ५६२, ५६३)

१. शुश्रूषा—श्रुत को गुरुमुख से सविनय सुनने की इच्छा करना।

२. प्रतिपृच्छा—गृहीत श्रुत में शंकित अथवा विस्मृत शब्दों को पुनः पुनः पूछना।

३. श्रवण—श्रुत के अर्थ को सुनना।

४. ग्रहण—सूत्र और अर्थ का अध्ययन कर श्रुत का सम्यक् ग्रहण करना।

५. ईहा—सूत्र और अर्थपदों की मार्गणा-गवेषणा करना।

६. अवाय—‘यह ऐसा ही है, अन्य प्रकार से नहीं है’—इस प्रकार निश्चय करना।

७. धारण—परिवर्तना और अनुप्रेक्षा के द्वारा उसका स्थिरीकरण करना।

८. करण—श्रुत में प्रतिपादित अनुष्ठान का सम्यक् आचरण करना।

आगमसत्थगगहणं, जं बुद्धिगुणेहि अट्टहि दिट्ठं ।

बिति सुयनाणलंभं, तं पुव्वविसारया धीरा ॥

(नन्दी १२७अ२)

बुद्धि के आठ गुण आगमशास्त्र के अर्थग्रहण में कारणभूत/हेतुभूत हैं। जो पूर्वी के पारगामी और धीर पुरुष हैं, वे इस आगम ज्ञान के ग्रहण को ही श्रुतज्ञान की

उपलब्धि मानते हैं। अर्हत्-प्रवचन का परिज्ञान ही वस्तुतः श्रुतज्ञान है।

**बोधिदुर्लभ भावना**—बोधि (सम्यक्त्व या सही दृष्टिकोण) की दुर्लभता का बार-बार चिन्तन करना।

(द्र. अनुप्रेक्षा)

**ब्रह्मचर्य**—इन्द्रिय-संयम, मैथुन-विरति, आत्म-रमण।

१. ब्रह्मचर्य का निर्वचन

२. ब्रह्मचर्य का अर्थ

३. ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार

४. अब्रह्मचर्य के प्रकार

५. ब्रह्मचर्य-समाधि के स्थान

६. ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानों की उपेक्षा के परिणाम

७. ब्रह्मचर्य की साधना के विधन

\* ब्रह्मचर्य : एक महाव्रत (द्र. महाव्रत)

८. ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप

९. ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना

\* ब्रह्मचर्य : श्रावक का एक व्रत (द्र. श्रावक)

१०. ब्रह्मचर्य के परिणाम

\* कामभोग (अब्रह्मचर्य) के परिणाम (द्र. कामभोग)

### १. ब्रह्मचर्य का निर्वचन

बृंहति बृंहितो वा अनेनेति ब्रह्म । (उचू पृ २०७)  
जो संयम का बृंहण/पोषण करता है वह ब्रह्म/ब्रह्मचर्य है।

### २. ब्रह्मचर्य का अर्थ

बंधे—समणधम्मो पववणमायाओ ।

(आवचू २ पृ १३७)

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—श्रमणधर्म और समिति-गुप्ति रूप प्रवचनमाता।

अब्रह्म—वस्त्यनियमलक्षणं विपरीतं ब्रह्म ।

(आवहावृ २ पृ १८१)

अब्रह्मचर्य का अर्थ है—वस्ति असंयम। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—वस्ति संयम, मैथुनविरति।

### ३. ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार

अट्टारसविधं बंधं । (दअचू पृ २३४)

ओरालियं च दिव्यं मणवयकाएण करणजोएणं ।

अणुमोयणकारावणकरणणजट्टारसाबंधं ॥

(उशावू पृ ६१४)

अब्रह्मचर्य के दो प्रकार हैं—औदारिक (मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी) तथा दिव्य (देव संबन्धी) । इन दोनों को तीन करण (मन, वचन, काया) और तीन योग (कृत, कारित, अनुमति] से गुणन करने पर अब्रह्मचर्य के अठारह भेद हो जाते हैं । इन अठारह प्रकारों से अब्रह्मचर्य का सेवन न करने पर ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार निष्पन्न होते हैं ।

#### औदारिक कामभोगों का

१. मन से सेवन न करे,
२. मन से सेवन न कराए और
३. मन से सेवन करने वाले का अनुमोदन भी न करे ।
४. वचन से सेवन न करे,
५. वचन से सेवन न कराए और
६. वचन से सेवन करने वाले का अनुमोदन भी न करे ।
७. काया से सेवन न करे,
८. काया से सेवन न कराए और
९. काया से सेवन करने वाले का अनुमोदन भी न करे ।

#### दिव्य कामभोगों का

१०. मन से सेवन न करे,
११. मन से सेवन न कराए और
१२. मन से सेवन करने वाले का अनुमोदन भी न करे ।
१३. वचन से सेवन न करे,
१४. वचन से सेवन न कराए और
१५. वचन से सेवन करने वाले का अनुमोदन भी न करे ।
१६. काया से सेवन न करे,
१७. काया से सेवन न कराए और
१८. काया से सेवन करने वाले का अनुमोदन भी न करे ।

### ४. अब्रह्मचर्य के प्रकार

दव्वओ मेहुणं रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु, तत्थ रूवेत्ति णिज्जीवे भवइ, पडिमाए वा मयसरीरे वा । रूवसहगयं तिदिहं भवति, तं जहा—दिव्वं माणुसं तिरिकूखजोणियंति । (दजिचू पृ १५०)

देवीनामिदं दैवम्, अप्सरोऽभरसम्बन्धीति भावः ।

(दहावू पृ १४८)

अब्रह्मचर्य (मैथुन) दो तरह का होता है—१. रूप में २. रूपसहित द्रव्य में । रूप में अर्थात् निर्जीव वस्तुओं के साथ—जैसे प्रतिमा या मृत शरीर के साथ । रूपसहित मैथुन तीन प्रकार का होता है—दिव्य, मानुषिक और तिर्यच सम्बन्धी । देवी—अप्सरा सम्बन्धी मैथुन को दिव्य कहते हैं । नारी से सम्बन्धित मैथुन को मानुषिक और पशु-पक्षी आदि से संबंधित मैथुन को तिर्यच विषयक मैथुन कहते हैं ।

मेहुणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु, खेततो उड्डलोए वा अहोलोए वा तिरियलोए वा, कालतो दिया वा रातो वा, भावतो रागेण वा दोसेण वा । (दअचू पृ ८४)

अब्रह्मचर्य (मैथुन) के द्रव्य, क्षेत्र.....

द्रव्य—रूप और रूपसहमत द्रव्य (चेतन और अचेतन द्रव्य)

क्षेत्र—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्यक्लोक

काल—दिन-रात

भाव—राग-द्वेष

परदारो दुविहे—ओरालिए वेउव्विए य । ओरालिए दुविहे—तेरिक्को माणुसे य । विउव्विए देवाण वा माणुसाण वा । (आवचू २ पृ २८९)

परदारगमन अब्रह्मचर्य के दो प्रकार हैं—

१. औदारिक—तिर्यच और मनुष्य सम्बन्धी ।
२. वैक्रिय—देव अथवा मनुष्य सम्बन्धी ।

### ५. ब्रह्मचर्य-समाधि के स्थान

इह खलु थेरेहि भगवतेहि दस बंधेचरसमाहिठाणा पन्तत्ता .....

विवित्ताइ सयणासणाइ सेविज्जा, से निग्गथे । नो इत्थीपसुपंडगससत्ताइ सयणासणाइ सेवित्ता हवइ, से निग्गथे ।

नो इत्थीणं कहुं कहित्ता हवइ, से निग्गथे ।

नो इत्थीणं सद्धिं सन्निसेज्जाणं विहरित्ता हवइ, से निग्गथे ।

नो इत्थीणं इदियाइ मणोहराइ, मणोरमाइ आलो-इत्ता निज्झाइत्ता हवइ, से निग्गथे ।

नो इत्थीणं कुड्डंतरसि वा, दूसंतरंसि वा, भित्तंत-

रंसि वा, कुड्यसहं वा, रुड्यसहं वा, गीयसहं वा, हसिय-सहं वा, थणियसहं वा, कंदियसहं वा, विलवियसहं वा सुणेत्ता, से निग्गथे ।

नो निग्गथे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ, से निग्गथे ।

नो पणोयं आहारं आहारित्ता हवइ, से निग्गथे ।

नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ, से निग्गथे ।

नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गथे ।

नो सद्धवरसगंधफासाणुवाई हवइ, से निग्गथे ।

(उ १६।सूत्र १-१२)

ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान—

१. जो एकांत शयन और आसन का सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ है । वह स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन न करे ।

२. स्त्रियों के बीच कथा न कहे ।

३. स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे ।

४. स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ाकर न देखे ।

५. स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, विलाप आदि के शब्द न सुने ।

६. पूर्व-क्रीड़ाओं का अनुस्मरण न करे ।

७. प्रणीत आहार न करे ।

८. मात्रा से अधिक न खाए और न पीए ।

९. विभूषा न करे ।

१०. शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न हो ।

जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं ।

एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥

(द ८।५३)

जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को सदा बिल्ली से भय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है ।

जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसमाणं वसही पसत्था ।

एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,

न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥

(उ ३२।१३)

जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहों का रहना अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार स्त्रियों की बस्ती के पास ब्रह्मचारी का रहना अच्छा नहीं होता ।

हत्थपायपडिच्छिन्नं, कण्णनासविग्गप्पियं ।

अवि वाससइं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥

(द ८।५५)

जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, जो कान-नाक से विकल हो वैसे सौ वर्ष की बूढ़ी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे ।

न चरेज्ज वेससामंते, बंभचेरवसाणुए ।

बंभयारिस्स दंतस्स, होज्जा तत्थ विसोत्तिथा ॥

अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।

होज्ज वयाणं पीला, सामण्णम्मि य संसओ ॥

(द ५।१।९, १०)

ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाए । वहां दमितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के भी विद्योत्सिका हो सकती है—साधना का स्रोत मुड़ सकता है ।

अस्थान में बार-बार जाने वाले के (वेश्याओं) का संसर्ग होने के कारण व्रतों की पीड़ा (विनाश) और श्रामण्य में सन्देह हो सकता है ।

समरेसु अगारेसु, संधीसु य महापहे ।

एगो एमित्थिए सद्धि, नेव चिट्ठे न संलवे ॥

(उ १।२६)

कामदेव के मन्दिरों में, घरों में, दो घरों के बीच की संधियों में और राजमार्ग में अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे और न संलाप करे ।

न हवलावण्णविलासहासं,

न जंपियं इंगियपेहियं वा ।

इत्थीण चित्तसि निवेसइत्ता,

दट्ठं ववस्से समणे तवस्सी ॥

अदत्तणं चेव अपत्थणं च,

अचित्तणं चेव अकित्तणं च ।

इत्थीज्जणस्सारियक्काणजोगं,

हियं सया बम्भवए रयाणं ॥

(उ ३२।१४, १५)

तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर-आलाप, इङ्गित और चितवन को चित्त में रमाकर उन्हें देखने का संकल्प न करे ।

जो सदा ब्रह्मचर्य में रत है, उसके लिए स्त्रियों को न देखना, न चाहना, न चितन करना और न वर्णन करना हितकर है तथा आर्यध्यान - धर्मध्यान के लिए उपयुक्त है ।

चित्तभित्ति न निज्झाए, नारि वा सुअलकियं ।  
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठि पडिसमाहरे ॥

(द ८।५४)

चित्रभित्ति (स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति) या आभूषणों से सुसज्जित स्त्री को टकटकी लगाकर न देखे । उस पर दृष्टि पड़ जाए तो उसे वैसे ही खींच ले जैसे मध्याह्न के सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि स्वयं खिंच जाती है ।

### ६. ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानों की उपेक्षा के परिणाम

बंधचरे संका वा, कंखा वा वित्तिगिच्छा वा समु-  
प्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा,  
दीहकालियं वा रोगायकं ह्वेज्जा, केवलपन्नत्ताओ वा  
धम्माओ भसेज्जा । (उ १६।सूत्र ३)

ब्रह्मचर्य के साधनों की उपेक्षा के दुष्परिणाम—

१. शंका—ब्रह्मचर्य के पालन में संशय
२. कांक्षा—अब्रह्मचर्य की अभिलाषा
३. विविकित्सा—धर्माचरण के प्रति संदेह, चित्त-  
विप्लव ।
४. भेद—चारित्र्य का विनाश
- ५, ६. उन्माद और रोग—हठपूर्वक ब्रह्मचर्यपालन  
से उन्माद या दीर्घकालीन रोग और आतंक  
उत्पन्न होते हैं ।
७. धर्मभ्रंश—जो इन पूर्व अवस्थाओं से नहीं बच  
पाता, वह केवली-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो  
जाता है ।

### ७. ब्रह्मचर्य की साधना के विघ्न

आलयो थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा ।  
संथवो चैव नारीणं, तासि इंदियदरिसणं ॥  
कुइयं रुइयं गीयं, हसियं भुत्तासियाणि य ।  
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥  
गतभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया ।  
नरस्सज्जगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥

(उ १६।११-१३)

१. स्त्रियों से आकीर्ण आलय ।
२. मनोरम स्त्रीकथा ।
३. स्त्रियों का परिचय ।
४. उनकी इन्द्रियों को देखना ।
५. उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्ययुक्त शब्दों  
को सुनना ।
६. भुक्तभोग और सहावस्थान को याद करना ।

७. प्रणीत पान-भोजन ।

८. मात्रा से अधिक पान-भोजन ।

९. शरीर को सजाने की इच्छा ।

१०. दुर्जय कामभोग—ये दस स्थान आत्मगन्धेपी  
मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान हैं ।

० गृहनिषद्या से ब्रह्मचर्य में हानि । (द्र. आचार)

० स्त्रीकथा के प्रकार । (द्र. कथा)

० प्रमाणातिरेक आहार के परिणाम । (द्र. आहार)

### ८. ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप

चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं । सव्वं  
भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि । से दिव्वं वा माणुसं वा  
तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा नेवन्नेहि  
मेहुणं सेवावेज्जा मेहुणं सेवते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा  
जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न  
करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

(द ४।सूत्र १४)

भते ! चौथे महाव्रत में मैथुन से विरमण होता है ।  
शिष्य संकल्प करता है—भते ! मैं सब प्रकार के मैथुन  
(अब्रह्मचर्य) का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यच संबन्धी  
मैथुन का मैं स्वयं सेवन नहीं करूंगा, दूसरों से मैथुन  
सेवन नहीं कराऊंगा और मैथुन सेवन करने वालों का  
अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए, तीन  
करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न  
करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी  
नहीं करूंगा ।

विरई अबंधचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।

उयं महव्वयं बंधं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥

(उ १९।२८)

कामभोग का रस जानने वाले व्यक्ति के लिए  
अब्रह्मचर्य की विरति करना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत  
को धारण करना बहुत ही कठिन कार्य है ।

अबंधचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं ।

नायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।

तम्हा मेहुणसंसंगि. निग्गथा वज्जयंति णं ॥

(द ६।१५, १६)

अब्रह्मचर्य लोक में घोर, प्रमादजनक और दुर्बल  
व्यक्तियों द्वारा आसेवित है । चारित्र्यभंग के स्थान से



बचने वाले मुनि उसका आसेवन नहीं करते ।

अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महान् दोषों की राशि है । इसलिए निग्रन्थ मैथुन के संसर्ग का वर्जन करते हैं ।

### ९. ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना

तस्स णं इमाओ पंच भावणाओ भवन्ति... णो पाण-भोयणं अतिमायाए आहारेत्ता भवति... अविभूसाणुवाइ... णो इत्थीणं इंदियाइ मणोहराई मणोरमाई निज्जाइत्ता भवति ... णो इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइ सयणासणाई सेवेत्ता भवति... णो इत्थीणं कहं कहेत्ता भवति ।

(आवचू २ पृ १४५, १४६)

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पांच भावनाएं -

१. मात्रा से अधिक और प्रणीत आहार न करना ।
२. विभूषा न करना ।
३. स्त्रियों के अवयवों का अवलोकन न करना ।
४. स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का वर्जन करना ।
५. स्त्रीकथा का वर्जन करना ।

### १०. ब्रह्मचर्य के परिणाम

देवदाणवमंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।

वंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥

(उ १६।१६)

उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

**भंते**—भंते !, गुरु, पूज्य ।

भंते ! इति भगवतो आमंतणं । (दअचू पृ ७८)

भदन्तेति गुरोरा मन्त्रणम् । भदन्त भवान्त भयान्त इति साधरणा श्रुतिः ।... एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रति-पत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम् । (दहावृ प १४४)

‘भंते’ शब्द के संस्कृत रूप तीन हैं—भदन्त, भवान्त और भयान्त ।

यह भगवान् अथवा गुरु का संबोधन है । व्रतग्रहण गुरु के साक्ष्य से होता है, इसलिए शिष्य, गुरु को संबो-धित कर अपनी भावना का निवेदन करता है ।

(गुरुसाक्षी से किये गये संकल्प का स्थिरीकरण, सम्यक् परिपालन और निर्वहन सुकर हो जाता है,

इसलिए साधक जीवनचर्या के प्रत्येक अंग में—सामायिक आदि प्रत्येक आवश्यक कार्य करने से पहले गुरु को भंते ! शब्द से संबोधित करता है । भंते शब्द की विविध कोणों से व्याख्या की गई है । देखें विभा ३४३९-३४७४) ।

गणहरा भगवतो सकासे अत्थं सोऊण वतपडिवत्तीए एवमाहुतस्स भंते !... जहा जे वि इमम्मि काले ते पि वताइ पडिवज्जमाणा एवं भणंति—तस्स भंते !

(दअचू पृ ७८)

भंते !—इस सम्बोधन की उत्पत्ति के विषय में चूर्णिकार कहते हैं—

गणधरों ने भगवान् से अर्थ सुनकर व्रत ग्रहण किये, उस समय उन्होंने ‘भंते’ शब्द का व्यवहार किया । तभी से इसका प्रयोग गुरु को आमन्त्रण करने के लिए होता आ रहा है । इसका पर्याय शब्द है—भदन्त ।

भदि कल्लाणसुहत्थो धाऊ तस्स य भदंतसद्दोस्यं ।

स भदंतो कल्लाणो सुहो य कल्लं किलासम्मं ॥

तं तच्चं निव्वानं कारण कज्जोवयारओ वावि ।

तस्साहणमणसद्दो सद्दत्थो अहव गच्चत्थो ॥

(विभा ३४३९, ३४४०)

‘भदि’ कल्याण सुखे च’—इस धातु से भदंत शब्द निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है—कल्याण, सुख । जो कल्याण और सुख का प्रदाता है, वह है भंते—भदंत अर्थात् आचार्य, गुरु । कल्याण में दो शब्द हैं—कल्य और अण । कल्य का अर्थ है—आरोग्य अर्थात् निर्वाण अथवा निर्वाण के साधनभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य । ‘अण’ का अर्थ है—प्राप्त कराना । सुख अर्थात् निर्बाध सुख, मोक्षसुख ।

भदन्त का अर्थ है—पूज्य । इसका तात्पर्यार्थ है—वे गुरु, जो निर्वाण और निर्बाध सुख की प्राप्ति में निमित्तभूत बनते हैं ।

**भगवती**—व्याख्याप्रज्ञप्ति, पांचवां अंग ।

(द्र. अंगप्रविष्ट)

**भगवान्**—जानी, ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न ।

इस्सरिय-रुव-सिरि-जस-धम्म-पयत्ता मया भगाभिवखा ।  
ते तेसिमसामण्णा संति जओ तेण भगवन्ते ॥

(विभा १०४८)

ऐश्वर्य, रूप, श्री, यश, धर्म और प्रयत्न—ये छह भग कहलाते हैं । जिनमें ये छहों असामान्य रूप से पाये जाते

हैं, उन्हें भगवान् कहते हैं।

धैर्यसौभाग्यमाहात्म्ययशोऽर्कश्रुतधीश्वियः ।

तपोऽर्थोपस्थपुण्येणप्रयत्नतनवो भगाः ॥

(उशावृ प ३०६)

भग शब्द के अनेक अर्थ हैं—

धैर्य, सौभाग्य, माहात्म्य, यश, सूर्य, श्रुत, बुद्धि, लक्ष्मी, तप, अर्थ, योनि, पुण्य, ईश, प्रयत्न और तनु। इतसे युक्त व्यक्ति को भगवान् कहते हैं।

**भरत**—भगवान् ऋषभ का पुत्र, प्रथम चक्रवर्ती।  
(द्र. चक्रवर्ती)

**भवनपति**—पाताल लोक के भवनों में वास करने वाले देव।  
(द्र. देव)

**भव भावना**—संसार की नाना परिणतियों तथा जन्म-मरण के चक्र से होने वाले विविध परिवर्तनों का चिन्तन करना।  
(द्र. अनुप्रेक्षा)

**भव्य**—मोक्षगमन के योग्य।

(निपुण, विकसित)—ये पर्यायवाची शब्द हैं। भव्यत्व अनादि पारिणामिक भाव है।

अनंत (साधारण) वनस्पति के जीव भी भव्य हो सकते हैं।

.....जीवत्ते सामण्णे भव्वोऽभव्वो त्ति को भेशो ?।  
दव्वाइत्ते तुल्ले जीव-नहाणं सभावओ भेशो।  
जीवाजीवाइगओ जह, तह भव्वेयरविसेसो ॥  
(विभा १८२१, १८२३)

जैसे द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि तुल्य होने पर भी जीव और आकाश में चेतनत्व और अचेतनत्व कृत स्वाभाविक भेद है, वैसे ही जीवत्व तुल्य होने पर भी जीवों में भव्य-अभव्यकृत भेद है।

होउ व जइ कम्मकओ न विरोहो नारगाइभेउ व्व।  
भणह य भव्वाऽभव्वा सभावओ तेण संदेहो ॥  
(विभा १८२२)

जीव स्वभाव से ही भव्य या अभव्य होते हैं। भव्यत्व-अभव्यत्व नारकत्व-देवत्व की तरह कर्मकृत नहीं, स्वाभाविक अवस्था है।

## २. भव्यत्व और पारिणामिक भाव

एवं पि भव्वभावो जीवत्तं पिव सभावजाईओ।  
पावइ निच्चो तम्मि य तदवत्थे नत्थि निव्वाणं ॥  
जह घडपुव्वाभावोऽणाइसहावो वि सनिहणो एवं।  
जइ भव्वत्ताभावो भवेज्ज किरियाए को दोसो ? ॥  
(विभा १८२४, १८२५)

जीव के जीवत्व की तरह उसका भव्यत्व भी स्वाभाविक होने से नित्य और अविनाशी हो जायेगा और ऐसा होने से जीव सिद्धत्व को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? क्योंकि सिद्ध न भव्य होते हैं, न अभव्य।

इस जिज्ञासा के समाधान में घट और मिट्टी का दृष्टान्त मत्तनीय है—मिट्टी में घट का प्राक् अभाव अनादि-कालीन है किन्तु घट निर्मित हो जाने पर वह अनादि प्राक् अभाव भी नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार तपश्चरण आदि के द्वारा जीव मुक्त हो जाता है और मुक्तावस्था में भव्यत्व नहीं रहता।

भव्यत्वमाश्रित्य पुनरनादिः सान्तः...सिद्धावस्थायां भव्याभव्यत्वनिवृत्तेः। जीवत्वमभव्यत्वं चानादिरनन्तः।  
(विभामवृ १ पृ ७३४)

भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व—ये पारिणामिक

१. भव्य-अभव्य

२. भव्यत्व और पारिणामिक भाव

३. भव्य-अभव्य अनन्त

४. सब भव्य सिद्ध नहीं होते

५. भव्य और ग्रंथिभेद

\* असव्य के यथाप्रवृत्तिकरण (द्र. करण)

\* चक्रवर्ती और इन्द्र भव्य (द्र. चक्रवर्ती)

६. तीर्थंकर भव्यों के त्राता

### १. भव्य-अभव्य

भव्या अनादिपारिणामिकसिद्धिगमनयोग्यतायुक्ताः, तद्विपरीता अभव्याः। (नन्दीमवृ प २४७)

अनादिपारिणामिकभव्यभावयुक्तः सत्त्वविशेषो भव्य उच्यते। भव्यो योग्यो दलमिति पर्यायाः।

..... भव्योऽनन्तवनस्पत्यादिरपि स्यात्।

(विभाकोवृ पृ ५)

जिनमें मुक्त होने की योग्यता नहीं होती, वे जीव अभव्य और जिनमें मोक्षगमन की योग्यता होती है वे जीव भव्य कहलाते हैं। भव्य, योग्य, दल

भाव हैं। भव्यत्व की अपेक्षा पारिणामिक भाव अनादि-सांत भी है, क्योंकि सिद्धावस्था में भव्यत्व-अभव्यत्व भाव की निवृत्ति हो जाती है। जीवत्व और अभव्यत्व—ये दोनों पारिणामिक भाव अनादि-अनंत हैं। (मति अज्ञान आदि भाव अभव्य की अपेक्षा अनादि-अपर्यवसित हैं—द्र. भाव)

### ३. भव्य-अभव्य अनंत

“अणता भवसिद्धिया, अणता अभवसिद्धिया” ।  
(नन्दी १२४)

षण्मासपर्यन्ते चावश्यमेकस्य भव्यस्य जीवस्य सिद्धि-गमनात् ।

एवं भव्यच्छ्रेओ कोट्टागारस्स वा अवचओ त्ति ।  
तं नाणंतत्तणओऽणागयकालं-बराणं व ॥  
जं चातीताणागयकाला तुत्त्वा जओ य संसिद्धो ।  
एकओ अणंतभागो भव्वाणमईयकालेणं ॥  
एस्सेण तत्तिउ च्चिय जुत्तो जं तो वि सव्वभव्वाणं ।  
जुत्तो न समुच्छेओ होज्ज मई कहमिणं सिद्धं ॥  
भव्वाणमणंतत्तणमणंतभागो व किह व मुक्को सि ।  
कालादओ व मंडिय ! मह वयणाओ व पडिवज्ज ॥  
(विभा १८२७-१८३० मवृ पृ ६५६)

प्रत्येक छह मास बाद एक भव्य जीव अवश्य सिद्ध होता है—निरन्तर इस क्रम से सिद्ध होने पर तो एक दिन संसार भव्य जीवों से शून्य हो जाएगा, जैसे थोड़ा-थोड़ा धान्य निकालते रहने से एक दिन धान्य का कोष्ठागार खाली हो जाता है। पर ऐसा नहीं होता, क्योंकि अनागतकाल की अनन्त समयराशि और अनन्त आकाश की प्रदेशराशि की तरह भव्य जीवराशि अनन्तानन्त है।

अतीतकाल और अनागतकाल तुल्य हैं। अतीतकाल में भव्यों का अनन्तवा भाग सिद्ध हुआ है। अनागतकाल में भी भव्यों का अनन्तवा भाग ही सिद्ध होगा। अतः सब भव्यों के उच्छेद का प्रसंग ही नहीं आता। भव्य और अभव्य—दोनों प्रकार के जीव अनंत हैं।

### ४. सब भव्य सिद्ध नहीं होते

भव्वा वि न सिज्झस्संति केइ कालेण जइ वि सव्वेण ।  
नणु ते वि अभव्व च्चिय किंवा भव्वत्तणं तेसि ॥  
भण्णइ भव्वो जोग्गो न य जोग्गत्तेण सिज्झए सव्वो ।  
जह जोग्गम्मि वि दलिए सव्वम्मि न कीरण पडिमा ॥  
जह वा स एव पासाण-कणगजोग्गो विओगजोग्गो वि ।  
न विजुज्जइ सव्वो च्चिय स विजुज्जइ जस्स सपत्ती ॥

किं पुण जा संपत्ती सा जोग्गस्सेव न उ अजोग्गस्स ।  
तह जो मोक्खो नियमा सो भव्वाणं न इयरेसि ॥  
(विभा १८३३-१८३६)

शिष्य ने प्रश्न किया कि सारे भव्य जीव किसी भी काल में सिद्ध नहीं होंगे तो फिर उनका भव्यत्व कैसा? क्या वे अभव्य नहीं माने जा सकते?

सब भव्य सिद्ध नहीं होंगे। भव्य का अर्थ है—सिद्धिगमन के योग्य। योग्य होने मात्र से कोई सिद्ध नहीं होता। स्वर्ण, काष्ठ या पाषाण के प्रतिमा के योग्य होने पर भी उनकी सर्वत्र प्रतिमा नहीं बनायी जाती। प्रतिमा की निष्पत्ति योग्य सामग्री मिलने पर ही होती है। पर सामग्री के अभाव में भी स्वर्ण, काष्ठ आदि द्रव्यों में प्रतिमा बनने की योग्यता को नकारा नहीं जा सकता। प्रतिमा योग्य वस्तु से प्रतिमा होती ही है—यह नियम नहीं बनाया जा सकता। विद्युत् होने योग्य सोने और मिट्टी को अग्नि, ताप आदि उचित सामग्री के अभाव में अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सिद्धि के अनुकूल सामग्री की सम्प्राप्ति होने पर ही भव्य जीव सिद्ध हो सकता है, सामग्री के अभाव में नहीं। सामग्री न मिलने मात्र से वह अभव्य नहीं हो जाता। किन्तु जब कभी मुक्ति होगी, भव्य की ही होगी, अभव्य की नहीं।

### ५. भव्य और ग्रन्थभेद

भव्याः सम्यग्दर्शनादिगुणयोग्या भिन्नग्रंथयः ।

(उशावृ प ७१२)

सम्यक्-दर्शन आदि गुणों के योग्य जीव भव्य कहलाते हैं। भव्य जीव ही ग्रन्थभेदन में समर्थ होते हैं।

जे अभवितो सो तं गंठि ण समत्थो भिदितुं तेण गंठियसत्तो, गंठिए वा सत्तो । तत्थ पुण अंतरे इड्ढिविसेसं ददट्ठण तित्थगराणं अणगाराणं वा ताहे पव्वयति । तम्मू-लागं देवलोगं गच्छति । जो भवियो तस्स तंमि काले जति कोति संबोहेज्ज अह्वा कोति सयं चेव संबुज्झति तस्स एत्थ सुयसामाडयस्स लंभो भवति ।

(आवचू १ पृ १०१)

अभव्य प्राणी ग्रन्थभेदन में समर्थ नहीं है। वह तीर्थंकरों अथवा मुनियों की ऋद्धिविशेष को देखकर प्रव्रजित हो सकता है और देवलोक में जा सकता है। जो भव्य है, वह स्वयं अथवा दूसरों से सम्बुद्ध ही श्रुत-सामायिक प्राप्त करता है।

## ६. तीर्थंकर भव्यों के त्राता

किं व कमलेसु राओ रविणो बोहेइ जेण सो ताई ।  
कुमुएसु व से दोसो जं न विबुज्झंति से ताई ॥  
जं बोहमउलणाइं सूरकरामरिसओ समाणाओ ।  
कमलकुमुयाण तो तं साभव्वं तस्स तेसि च ॥  
जह बोलूगाईणं पगासधम्मा वि सो सदोसेणं ।  
उइओ वि तमोरूवो एवमभव्वाण जिणसुरो ॥  
सज्झं तिगिच्छमाणो रोगं रागी न भण्णए वेज्जो ।  
मुणमाणो य असज्झं निसेहयंतो जह अदोसो ॥  
तह भव्वकम्मरोगं नासंतो रागवं न जिणवेज्जो ।  
न य दोसी अमव्वासज्झकम्मरोगं निसेहंतो ॥

(विभा ११०५-११०९)

दिन में कमल विकसित होते हैं, कुमुद विकसित नहीं होते—इसमें सूर्य का कमल के प्रति राग और कुमुद के प्रति द्वेष भाव कारण नहीं है, यह तो उनका अपना-अपना स्वभाव है। सूर्य की रश्मियां तो दोनों प्रकार के पुष्पों का समान रूप से स्पर्श करती हैं।

सूर्य के उम जाने पर भी उल्लू को तो अपने स्वभाव के कारण अन्धकार ही प्रतिभासित होता है। इसी प्रकार अभव्यों को तीर्थंकर रूप सूर्य मुक्ति का प्रकाश नहीं देख सकते।

जैसे एक कुशल वैद्य साध्य रोग की चिकित्सा करता है, असाध्य की नहीं, वैसे ही तीर्थंकर भव्य जीवों को कर्मरोग से मुक्त करते हैं, अभव्यों को नहीं। इसमें अर्हत् का भव्य के प्रति राग और अभव्य के प्रति द्वेष कारण नहीं है, स्वभाव ही कारण है। अर्हत् वीतराग होते हैं।

**भाव**—होना। कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होने वाला जीव का स्पन्दन।

### १. भाव के प्रकार

### २. औदयिक भाव की परिभाषा

### ३. औदयिक भाव के प्रकार

- ० उदयनिष्पन्न के प्रकार
- ० जीवोदयनिष्पन्न
- ० अजीवोदयनिष्पन्न

### ४. औपशमिक भाव की परिभाषा

### ५. औपशमिक भाव के प्रकार

### ६. क्षायिक भाव की परिभाषा

### ७. क्षायिक भाव के प्रकार

## ८. क्षायिक भाव विकल्पातीत

### ९. क्षायोपशमिक भाव की परिभाषा

- ० जानावरण का क्षयोपशम
- ० मोहकर्म का क्षयोपशम

\* दर्शनमोह-क्षयोपशम की प्रकृतिः (द्र. करण)

### १०. क्षायोपशमिक भाव के प्रकार

- ० क्षयोपशम चार घातिकर्मों का

\* कर्मों की प्रकृतियां (द्र. कर्म)

### ११. देशघाति-सर्वघाति प्रकृतियां : एक स्थानक आदिरस

- ० सर्वघाति रसस्पर्धक देशघाति में परिणत
- ० कर्म और चतुःस्थानक आदि बन्ध
- ० उपशम और क्षयोपशम में अन्तर

### १२. पारिणामिक भाव की परिभाषा

### १३. पारिणामिक भाव के प्रकार

- ० सादि पारिणामिक
- ० अनादि पारिणामिक

### १४. सान्निपातिक भाव

### १५. भाव : सादि-सपर्यवसित आदि चार विकल्प

## १. भाव के प्रकार

उदइए, उवसमिए, खइए, खओवसमिए, पारिणामिए, सन्निवाइए। (अनु २७१)

भाव के छह प्रकार हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक।

## २. औदयिक भाव की परिभाषा

अट्टविहकम्मपोग्गला संतावत्थातो उदीरणावलिय-मतिक्रान्ता अप्पणां विपाणेण उदियावलियाए वट्टमाणा उदिनाओत्ति उदयभावो भन्नति। (अनुचू पृ ४२)

सत्ता अवस्था में विद्यमान कर्मपुद्गल उदीरणा-वलिका का अतिक्रमण कर अपने परिपाक काल में उदयावलिका में प्रविष्ट हो उदय में आते हैं—वह औदयिक भाव है। उदय आठों कर्म प्रकृतियों का होता है।

उदयः—शुभानां तीर्थंकरनामादिप्रकृतीनाम् अशुभानां च मिथ्यावादीनां विपाकतोऽनुभवत्वं तेन निर्वृत्तः औदयिकः। (उशावृ प ३३)

तीर्थंकरनाम आदि शुभ प्रकृतियों के तथा मिथ्यात्व

आदि अशुभ प्रकृतियों के विपाक का अनुभव करना उदय है। उदय से होने वाली आत्मा की अवस्था औदयिक भाव है।

### ३. औदयिक भाव के प्रकार

उदये दुविहे पण्णत्ते, तं जहा— उदए य उदय-निष्फण्णे य। (अनु २७२)

औदयिक के दो प्रकार हैं—

उदय—उदयावलिका में कर्मदलिक का विपाक।

उदय-निष्पन्न—उदय में आकर किसी अन्य पर्याय को जन्म देने वाला औदयिक भाव।

### उदय-निष्पन्न के प्रकार

उदयनिष्फण्णे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—जीवोदय-निष्फण्णे य अजीवोदयनिष्फण्णे य। (अनु २७४)

उदय-निष्पन्न के दो प्रकार हैं—जीवोदय-निष्पन्न और अजीवोदय-निष्पन्न।

उदयनिष्फण्णेणो णाम उदिण्णेण जेण अण्णो निष्फा-दितो सो उदयनिष्फण्णेणो...तत्थ जीवे कम्मोदएण जो जीवस्स भावो णिव्वत्तितो जहा णेरइत्ते इत्यादि, अजीवेसु जहा ओरालियदव्ववग्गणेहितो ओरालियसरीरप्पयोगे दव्वे धेतूणं तेहि ओरालियसरीरे णिव्वत्तेइ, णिव्वत्तिए वा तं उदयनिष्फण्णे भावो। (अनुचू पृ ४२)

कर्म के उदय से जो अवस्था निष्पन्न होती है, वह उदय-निष्पन्न है। जैसे—नरकगतिनामकर्म के उदय से जीव की नैरयिक अवस्था निष्पन्न होती है। यह जीव-द्रव्य की उदय-निष्पन्नता है।

आदारिक द्रव्यवर्गणा से आदारिक शरीर के प्राथम्य पुद्गलों को ग्रहण कर आदारिक शरीर का निर्माण करना अजीवद्रव्य उदय-निष्पन्न है।

### जीवोदय-निष्पन्न

जीवोदयनिष्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—नेरइए...पुढविकाइए...कोहकसाई...इत्थिवेए...कण्ह-लेसे...मिच्छदिट्ठी अविरए असण्णी अन्नाणी आहारए छउमत्थे सजोगी संसारत्थे असिद्धे अकेवली।

(अनु २७५)

जीवोदय-निष्पन्न के अनेक प्रकार हैं—

गति चार—नैरयिक, तिर्यक्योनिक, मनुष्य और देव।

काय छह—पृथ्वी, अप, तेजः, वायु, वनस्पति, त्रस।  
कषाय चार—क्रोध, मान, माया, लोभ।

वेद तीन—स्त्री, पुरुष, नपुंसक।

लेण्या छह—कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म, शुक्ल।  
मिथ्यादृष्टि, अविरत, असंज्ञी, अज्ञानी,  
आहारक, छद्मस्थ, सयोगी, संसारस्थ,  
असिद्ध, अकेवली।

### अजीवोदय-निष्पन्न

अजीवोदयनिष्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—ओरालियं वा सरीरं ओरालियसरीरपओगपरिणामियं वा दव्वं, वेउव्वियं वा सरीरं वेउव्वियसरीरपओगपरिणामियं वा दव्वं...पओगपरिणामिए वण्णे गंधे रसे फासे। (अनु २७६)

अजीवोदय-निष्पन्न के अनेक प्रकार हैं—आदारिक आदि पांच शरीर, पांच शरीर के प्रयोग द्वारा परिणामित पुद्गल द्रव्य, पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श।

### ४. औपशमिक भाव की परिभाषा

विपाकप्रदेशानुभवरूपतया द्विभेदस्याप्युदयस्य विष्कम्भणमुपशमस्तेन निर्वृत औपशमिकः। (उशावृ प ३३)

मोहनीय कर्म के विपाकोदय और प्रदेशोदय—इन दोनों प्रकार के उदय को रोकना उपशम है और उससे होने वाली आत्मा की अवस्था औपशमिक भाव है।

मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमे णं। (अनु २७८)

उपशम केवल मोहनीयकर्म का होता है।

(इसका हेतु यह है कि मोहनीय कर्म की प्रकृतियां संवेगात्मक और विकारक हैं इसलिए उनका उपशम किया जा सकता है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियां आवारक तथा अन्तराय कर्म की प्रकृतियां प्रत्युत्पन्नविनाशी और आगामी प्रतिरोधक हैं इसलिए उनका उपशम नहीं होता। अघाति कर्म का उपशम नहीं होता। जैसे—वेदनीय कर्म सात या असात के रूप में निरन्तर भोगा जाता है। आयुष्य कर्म भी निरन्तर भोगा जाता है।

उपशम की तुलना मनोविज्ञान के Supression से की जा सकती है। आयुर्वेद में दो प्रकार के वेग बतलाए

गये हैं—शारीरिक वेग और मानसिक वेग । शारीरिक वेग को नहीं रोकना चाहिये । मानसिक वेग को रोकना आवश्यक है ।)

## ५. औपशमिक भाव के प्रकार

उवसमि ए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—उवसमे य उवसमनिप्फण्णे य । (अनु २७७)

औपशमिक के दो प्रकार हैं—उपशम और उपशम-निष्पन्न ।

उवसमनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—उवसंत-कोहे उवसंतभाणे उवसंतमाए उवसंतलोहे उवसंतपेज्जे... उवसमिया सम्मत्तलद्धी उवसमिया चरित्तलद्धी उवसंत-कसायछउमत्थवीयरागे । (अनु २७९)

उपशम-निष्पन्न के अनेक प्रकार हैं—उपशांत क्रोध, उपशान्त मान, उपशान्त माया, उपशान्त लोभ, उपशान्त प्रेम... औपशमिकी सम्यक्त्वलब्धि, औपशमिकी चारित्र-लब्धि और उपशान्त कषायवाला छद्मस्थवीतराग ।

## ६. क्षायिक भाव की परिभाषा

क्षयः कर्मणामत्यन्तोच्छेदः तेन निर्वृत्तः क्षायिकः ।  
(उशावृ प ३३)

कर्मों का आत्यन्तिक उच्छेद होना क्षय है । उससे होने वाली आत्मा की अवस्था क्षायिक भाव है ।

अट्ठण्हं कम्मपयडीणं खए णं । (अनु २८१)  
क्षय आठों ही कर्म-प्रकृतियों का होता है ।

## ७. क्षायिक भाव के प्रकार

खइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—खए य खयनिप्फण्णे य । (अनु २८०)

क्षायिक के दो प्रकार हैं—क्षय और क्षय-निष्पन्न ।

खयनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—खीण-आभिणिब्रोहियनाणावरणे... खीणचक्खुदंसणावरणे... खीणसायवेयणिज्जे... खीणदंसण-मोहणिज्जे खीणचरित्त-मोहणिज्जे... खीणनेरइयाउए... खीणसुभनामे खीण-असुभनामे... खीणउच्चागोए खीणनीयागोए... खीण-दाणंतराए... । (अनु २८२)

क्षय-निष्पन्न के अनेक प्रकार हैं—

१. ज्ञानावरणीय कर्म—मतिज्ञानावरण आदि पांच प्रकृतियों का क्षय ।

२. दर्शनावरणीय कर्म—चक्षुदर्शनावरण आदि नौ प्रकृतियों का क्षय ।

३. वेदनीय कर्म—सात और असात वेदनीय का क्षय ।

४. मोहनीय कर्म—दर्शनमोह और चारित्रमोह की अठारह प्रकृतियों का क्षय ।

५. आयुष्य कर्म—नैरयिक आदि चार प्रकृतियों का क्षय ।

६. नाम कर्म—शुभ नाम और अशुभ नाम का क्षय ।

७. गोत्र कर्म—उच्च गोत्र और नीच गोत्र का क्षय ।

८. अन्तराय कर्म—दानान्तराय आदि पांच प्रकृतियों का क्षय ।

## ८. क्षायिक भाव विकल्पातीत

...खयम्मि अविगप्पमाहंसु ।

क्षायिकगुणसमुदायं अविक्लपं एगलक्षणं सञ्चुत्तमं ।  
(आवनि ५७२ चू १ पृ ३३०)

कर्मों के क्षय से निष्पन्न गुणों में कोई विकल्प या भेद नहीं होता । वे सब एक समान लक्षण वाले और सर्वोत्तम होते हैं ।

## ९. क्षायोपशमिक भाव की परिभाषा

नणु खीणम्मि उइण्णे सेसोवसमे खओवसमो ।

(विभा १२९१)

तस्स तस्स कम्मस्स सव्वघातिफड्डगाणं उदयक्खयात्, तेषामेव सदुपशमात् देशघातिफड्डगाणं उदयात् खतो-वसमितो भावो भवति । (आवचू १ पृ ९७)

क्षयोपशमः देशघातिरसस्पर्द्धकानामुदये सति भवति न सर्वघातिरसस्पर्द्धकानाम् । कर्मणां प्रत्येकमनन्तानन्तानि रसस्पर्द्धकानि भवन्ति । (नन्दीमवृ प ७७)

(ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय या अन्तराय) कर्म के उदय प्राप्त सर्वघाति स्पर्धकों का क्षय और विद्यमान (अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय में आने वाले) स्पर्धकों का उपशम होने पर क्षयोपशमभाव होता है । इसमें देशघाति स्पर्धकों का उदय रहता है । यह सर्व-घाति रसस्पर्धकों के उदयकाल में नहीं होता । प्रत्येक कर्म के अनंत अनंत रसस्पर्धक होते हैं । इसमें क्षय और उपशम की प्रक्रिया निरन्तर चालू रहती है ।

(क्षयोपशम शब्द में जो उपशम पद है, उसके दो रूप बनते हैं—

१. उदयावलिका में आने योग्य कर्मदलिकों को विपाकोदय के अयोग्य बना देना ।
२. तीव्ररस का मन्दरस में परिणमन होना ।)

### ज्ञानावरण का क्षयोपशम

निहिएसु सव्वघाईरसेसु फड्डेसु देसघाईणं ।  
जीवस्स गुणा जायंति ओहिमणचक्खुमाईया ॥

(नन्वीमवृ प ८०)

अध्यवसायों की विशुद्धि से ज्ञानावरणप्रकृतियों के सर्वघाति रसस्पर्धक देशघाति के रूप में परिणत होने पर, देशघाति रसस्पर्धकों के अतिस्निग्ध और मंद रस वाले होने पर, उदयावलिका में प्राप्त अंश का क्षय, अनुदीर्ण का उपशम और विपाकोदय का निरोध होने पर अवधि, मनःपर्यव आदि ज्ञान उत्पन्न होते हैं—यह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न अवस्था है ।

### मोह कर्म का क्षयोपशम

दंसणमोहस्स खतोवसमेण अणंताणुबंधिअणुदए मिच्छत्तस्स सव्वघातिफड्डगण उदयक्खते तेषामेव सदुवसमे सम्मत्तमोहणीयस्स उदये इति । चरित्तमोह-खतोवसमे णाम बारसकसायोदयखये सदुवसमे य । संजलणचउक्कअन्नतरदेसघातिफड्डगोदए णोकसाय-नवगस्स य यथासंभवोदये इति । चरित्ताचरित्तं पुण खओवसमिते चेव, कसायटुगोदयक्खए सदुवसमे य, पचक्खणकसायसंजलणचउक्कदेसघातिफड्डगोदये णो-कसायणवगस्स जहासंभवोदये य ।

(आवचू १ ५ ९७, ९८)

दर्शनमोह के क्षयोपशम में अनन्तानुबंधी कषाय का अनुदय रहता है । उदयप्राप्त मिथ्यात्व के सर्वघाती रसस्पर्धकों का क्षय तथा अनुदीर्ण (बंध आवलिका में विद्यमान विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका पर्यन्त जो दलिक उदय में आने योग्य नहीं हैं उन) दलिकों का उपशम होता है और सम्यक्त्व मोहनीय का उदय चालू रहता है ।

चारित्र्य मोहनीय के क्षयोपशम में उदय प्राप्त बारह कषायों का क्षय, अनुदीर्ण दलिकों का उपशम तथा संज्वलन कषाय और नोकषाय के देशघाति रसस्पर्धकों का यथासंभव उदय रहता है । देशचारित्र्य के क्षयोपशम में अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यान कषाय के उदय का

क्षय और अनुदीर्ण दलिकों का उपशम होता है; प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय के देशघाति रसस्पर्धकों तथा नोकषाय का यथासंभव उदय रहता है ।

### १०. क्षयोपशमिक भाव के प्रकार

खओवसमिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा खओवसमे य खओवसमनिप्फण्णे य । (अनु २८३)

क्षयोपशमिक भाव के दो प्रकार हैं क्षयोपशम और क्षयोपशम-निष्पन्न ।

खओवसमनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—  
खओवसमिया आभिणिबोहियणाणलद्धी ...खओवसमिया मइअन्नाणलद्धी ...खओवसमिया चक्खुदंसणलद्धी ...  
खओवसमिया सम्मदंसणलद्धी, खओवसमिया मिच्छादंसणलद्धी, खओवसमिया सम्ममिच्छादंसणलद्धी,  
खओवसमिया सामाइयचरित्तलद्धी ...खओवसमिया दाणलद्धी ...खओवसमिया सोइंदियलद्धी ...खओवसमिए आधारधरे, खओवसमिए सूयगडधरे ...खओवसमिए नवपुव्वी, खओवसमिए दसपुव्वी, खओवसमिए चउइस-पुव्वी, खओवसमिए गणी, खओवसमिए वायए । से तं खओवसमनिप्फण्णे । (अनु २८५)

क्षयोपशम-निष्पन्न के अनेक प्रकार हैं—

- ० ज्ञानलब्धि—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः-पर्यवज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान ।
- ० दर्शनलब्धि—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, सम्यक्मिथ्यादर्शन ।
- ० चारित्र्यलब्धि—सामायिकचारित्र्य, छेदोपस्थापनीय-चारित्र्य, परिहारविशुद्धिचारित्र्य, सूक्ष्मसंपराय-चारित्र्य, चारित्र्याचारित्र्य ।
- ० वीर्यलब्धि—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, बालवीर्य, पंडितवीर्य बालपंडितवीर्य ।
- ० इन्द्रियलब्धि—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय ।
- ० श्रुतलब्धि—आचारांगधर यावत् दृष्टिवादधर, नव-पूर्वी, दसपूर्वी, चतुर्दशपूर्वी, गणी, वाचक ।

### क्षयोपशम चार घातिकर्मों का

खओवसमे—चउण्हं घाइकम्माणं खओवसमे णं—  
नाणावरणिज्जस्स दंसणावरणिज्जस्स मोहणिज्जस्स अंतरायस्स खओवसमे णं । (अनु २८४)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय — इन चार घातिकर्मों का क्षयोपशम होता है।

(घातिकर्म की प्रकृतियां दो तरह की होती हैं — सर्वघाति और देशघाति।

सर्वघाति — केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पांच निद्रा, बारह कषाय, मिथ्यात्व।

देशघाति — चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ, नोकषाय, पांच अन्तराय। — कर्मग्रन्थ भाग ५ गाथा १३, १४।

इनके आधार पर क्षयोपशम के भी दो प्रकार बन जाते हैं—

१. देशघाति कर्मप्रकृतियों का क्षयोपशम।

२. सर्वघाति कर्मप्रकृतियों का क्षयोपशम।

देशघाति कर्मप्रकृतियों के क्षयोपशम काल में संबद्ध प्रकृति का मंद विपाकोदय रहता है। मंद विपाक अपने आवार्य गुण के विकास को रोक नहीं सकता। इस अवस्था में सर्वघाति रस वाला कोई भी दलिक उदय में नहीं रहता।

सर्वघाती कर्मप्रकृतियों के क्षयोपशम-काल में विपाकोदय सर्वथा नहीं रहता, केवल प्रदेशोदय रहता है।

केवलज्ञानावरण व केवलदर्शनावरण — इन दो सर्वघाति कर्मप्रकृतियों का क्षयोपशम नहीं होता।

शुभ अध्यवसाय, शुभ लेश्या और शुभ योग के द्वारा कर्मप्रकृतियों के तीव्र विपाकोदय को मंद विपाकोदय में और विपाकोदय को प्रदेशोदय में बदलने की प्रक्रिया चालू रहती है। औद्यिक भाव और क्षायोपशमिक भाव का संघर्ष निरन्तर चलता है। देखे— अनुयोगद्वार सूत्र २७१-२८७ का टिप्पण)

## ११. देशघाति-सर्वघाति प्रकृतियां : एक स्थानक आदि रस

केवलज्ञानावरणीयादिरूपाणां सर्वघातिनीनां प्रकृतीनां सर्वोप्यपि रसस्पर्द्धकानि सर्वघातीनि, देशघातिनीनां पुनः कानिचित् सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि ...

चउत्तिट्टाणरसाणि य सव्वघाईणि होंति फड्डाणि ।

दुट्टाणियाणि मीसाणि देसघाईणि सेसाणि ॥

घोसाडईनिबुवमो असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो । क्षीरादिरसश्च स्वाभाविक एकस्थानकः । द्वयोस्तु कर्षयो- रावर्त्तने कृते सति योऽवशिष्यते एकः कर्षकः स द्विस्था-

नकः । त्रयाणां कर्षाणामावर्त्तने कृते सति एकः कर्षोऽ- वशिष्टः त्रिस्थानकः । चतुर्णां कर्षणामावर्त्तने कृते सति उद्धरति य एकः कर्षः स चतुःस्थानकः । एकस्थानकोऽपि च रसो जललवविन्दुचुलुकार्धचुलुकप्रसृत्यञ्जलिकरक- कुम्भद्रोणादिप्रक्षेपात् मन्दमन्दतरादिबहुभेदत्वं प्रतिपद्यते, एवं द्विस्थानकादयोऽपि, एवं कर्मणामपि चतुःस्थानकादयो रसा भावनीयाः । (नन्दीमवृ प ७७, ७८)

केवलज्ञानावरणीय आदि सर्वघाति प्रकृतियों के रसस्पर्द्धक भी सर्वघाति होते हैं। देशघाति प्रकृतियों के रसस्पर्द्धक देशघाति भी होते हैं और सर्वघाति भी। चतुःस्थानक, त्रिस्थानक रस वाले स्पर्द्धक सर्वघाति होते हैं। द्विस्थानक रस वाले स्पर्द्धक देशघाति और सर्वघाति दोनों होते हैं। एकस्थानक रस वाले स्पर्द्धक देशघाति ही होते हैं। इस प्रकार रसविपाकी प्रकृतियों के चार प्रकार हैं—

१. एकस्थानक रस

३. त्रिस्थानक रस

२. द्विस्थानक रस

४. चतुःस्थानक रस।

शुभ प्रकृतियों का रस क्षीर और खांड जैसा तथा अशुभ प्रकृतियों का रस घोषातकी (चिरायता) और नीम जैसा होता है।

क्षीर आदि का जो स्वाभाविक रस होता है, वह एकस्थानक रस कहलाता है। दो कर्ष (तोला) क्षीर को आवर्त्तित करने (उबालने) पर जो एक कर्ष अवशिष्ट रहता है, वह द्विस्थानक रस है। तीन कर्षों को आवर्त्तित करने पर जो एक कर्ष बचता है, वह त्रिस्थानक रस है। चार कर्षों को आवर्त्तित करने पर जो एक कर्ष बचता है, वह चतुःस्थानक रस है। एकस्थानक आदि रस अंजलि, करक, कुम्भ, द्रोण आदि में प्रक्षिप्त करने पर मंद, मंदतर आदि अनेक भेदों में विभक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार कर्मों के एकस्थानक आदि रस जातव्य हैं। ये रस उत्तरोत्तर अनंतगुणा शक्ति वाले हैं।

जो घाएइ सविसयं सयलं सो होइ सव्वघाइरसो ।

सो निच्छिद्दो निडो तणुओ फलिहब्भरविमलो ॥

देसविघाइत्तणओ इयरो कडकंबलसुसंकासो ।

विविहच्छिद्दुहभरिओ अप्पसिणेहो अविमलो अ ॥

(नन्दीमवृ प ७९)

सर्वघाति प्रकृतियों का रस यद्यपि ताग्रभाजन के समान निश्छिद्र, घृत की तरह अति स्निग्ध, द्राक्षा की तरह तनुप्रदेश से उपचित, स्फटिक और अन्नक की



तरह अत्यन्त निर्मल होता है, किन्तु सम्पूर्ण गुणों का घात करने से सर्वघाति कहलाता है ।

देशघाति प्रकृतियों का रस यद्यपि सैकड़ों छिद्रों से युक्त चटाई के समान, सूक्ष्म छिद्रों वाले कंबल के समान, अल्प स्नेह वाला और अविशुद्ध होता है किन्तु एक देश का घात करने के कारण देशघाति कहलाता है ।

अघातिनीनां तु रसस्पर्शकानि स्वरूपेण न सर्व-घातीनि नापि देशघातीनि, केवलं सर्वघातिरसस्पर्शक-संघर्षतः सर्वघातिरससदृशानि भवन्ति, यथा स्वयमचौरा इति चौरसम्पर्कतः चौरप्रतिभासाः । (नन्दीमवृ प ७९)

अघाति प्रकृतियों के रसस्पर्शक सर्वघाति और देश-घाति दोनों प्रकार के नहीं होते । किन्तु ये सर्वघाति रसस्पर्शक के संघर्षण से सर्वघातिरस के सदृश हो जाते हैं, जैसे—चोरी नहीं करने वाला चोर के सम्पर्क से चोर दिखाई देता है ।

### सर्वघाति रसस्पर्शक देशघाति में परिणत

देशघातिनीनां मतिज्ञानावरणीयादिकर्मप्रकृतीनां सर्वघातीनि रसस्पर्शकानि अध्यवसायविशेषतो देश-घातीनि कर्तुं शक्यन्ते, ते पुद्गलाः केवलज्ञानकेवल-दर्शनावरणयोर्योग्या ये द्विस्थानकरसपरिणता अपि न देशघातिनी भवन्ति, नापि तेषां विपाकोदयनिरोधसम्भवः, शेषाणां तु सर्वघातिप्रकृतीनां रसस्पर्शकानि भवन्त्येवाध्य-वसायविशेषतो विपाकोदयविष्कम्भभाञ्जि ।

(नन्दीमवृ ७९-८०)

मतिज्ञान आदि देशघाति प्रकृतियों के सर्वघाति रसस्पर्शक अध्यवसाय विशेष से देशघाति में परिणत हो सकते हैं किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन के आवारक पुद्गल द्विस्थानकरस वाले होने पर भी अध्यवसाय विशेष से देशघाति नहीं हो सकते और न विपाकोदय में उनका निरोध ही संभव है । शेष सर्वघाति प्रकृतियों के सर्वघाति रसस्पर्शक अध्यवसाय विशेष से देशघाति हो सकते हैं और तब विपाकोदय का निरोध भी संभव है ।

### कर्म और चतुःस्थानक आदि बंध

पव्वयभूमिवालुयजलरेहासरिस संपराएसुं ।

चउठाणाई असुभाण सेसराण तु वच्चासो ॥

अत्यन्तविशुद्धी वर्तमानः शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानक-मेव रसं बध्नाति, ततो मन्दमन्दतरविशुद्धी त्रिस्थानकं द्विस्थानकं वा, सङ्क्लेशाद्यायां तु वर्तमानस्य शुभप्रकृतयो

बन्धमेव नायान्ति, कुतः?, तस्यामवस्थायां तद्गतरस-स्थानकचिन्तायामपि नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽतिसङ्-क्लष्टस्यापि वैक्रियतैजसादिकाः प्रकृतयो बन्धमायान्ति, तासामपि स्वभावतो द्विस्थानकरसस्यैव बन्धो नैकस्था-नस्य, ततः शुभप्रकृतीनां व्यत्यासयोजना द्विस्थानकरस-बन्धादारभ्य कर्तव्याः । (नन्दीमवृ प ७८)

पर्वत की रेखा के सदृश अनन्तानुबन्धी क्रोधप्रकृति का चतुःस्थानक बन्ध होता है । भूमि की रेखा के सदृश अप्रत्याख्यानावरण क्रोधप्रकृति का त्रिस्थानक बंध होता है । बालू की रेखा के सदृश प्रत्याख्यानावरण क्रोध प्रकृति का द्विस्थानक बंध होता है । जल की रेखा के सदृश संज्वलन क्रोधप्रकृति का एक स्थानक बन्ध होता है ।

शुभ प्रकृतियों का बन्ध इसके विपरीत होता है । अत्यन्त विशुद्ध अवस्था में चतुःस्थानक तथा मंद और मन्दतर विशुद्धि में क्रमशः त्रिस्थानक और द्विस्थानक बन्ध होता है । अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम में भी एक-स्थानकरस वाली शुभ प्रकृति का बन्ध नहीं होता । यथा—नरकगतिप्रायोग्य बन्ध करता हुआ जीव उन संक्लिष्ट परिणामों में वैक्रिय और तैजस प्रकृति का भी बन्ध करता है किन्तु वे प्रकृतियां भी द्विस्थानकरस वाली होती हैं, एकस्थानकरस वाली नहीं । अतः शुभ प्रकृतियों के बन्ध का प्रारम्भ द्विस्थानक से ही होता है, एक स्थानक से नहीं ।

द्विधा घातिन्योऽशुभप्रकृतयः, तद्यथा—सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्च । तत्र याः सर्वघातिन्यः तासां जघन्य-पदेऽपि द्विस्थानक एव रसो बन्धमायाति, नैकस्थानकः, तथास्वाभाव्यात् । तथाहि—क्षपकश्रेण्यारोहेऽपि सूक्ष्म-सम्परायगुणस्थानकचरमसमयेऽपि वर्तमानस्य केवलज्ञाना-वरणकेवलदर्शनावरणयोः रसबन्धो द्विस्थानक एवेति, नैकस्थानकः । यास्तु देशघातिन्यः तासां श्रेण्यारोहाभावे बन्धमागतानां नियमात् सर्वघातिनमेव रसं बध्नाति... श्रेण्यारोहे त्वनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकाद्यायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु तत ऊर्ध्वमेकस्थानकरस-बन्धसम्भवः ।\*\*\*

आवरणमसम्बन्धं पुंसंजलणंतरायपयडीओ ।

चउठाणपरिणयाओ दुतिचउठाणाउ सेसाओ ॥

(नन्दीमवृ ७८, ७९)

अशुभ घातिकर्मों की प्रकृतियों के दो प्रकार हैं

— सर्वघाति और देशघाति ।

सर्वघाति प्रकृतियों का जघन्यतः भी द्विस्थानक रस बंध होता है, एक स्थानक रसबंध नहीं होता । अपक-श्रेणि-आरोहण में भी सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान के चरम समय में भी केवलज्ञानावरण केवलदर्शनावरण का रसबंध द्विस्थानक ही होता है, एकस्थानक नहीं ।

देशघाति प्रकृतियों का रसबंध श्रेणिआरोहण से पूर्व द्विस्थानक आदि ही होता है । श्रेणिआरोहण के समय अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के संख्यात भाग बीत जाने पर सतरह प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध सम्भव है ।

वे सतरह प्रकृतियां ये हैं—ज्ञानावरण की प्रथम चार, दर्शनावरण की प्रथम तीन, पुरुषवेद, संज्वलन-कषायचतुष्क और अंतराय कर्म की पांच प्रकृतियां । शेष अशुभ प्रकृतियों का इस गुणस्थान में बंध ही नहीं होता ।

**उपशम और क्षयोपशम में अन्तर**

सो चैव नण्वसमो उद्दे खीणम्मि सेसए समिए ।  
सुहुमोदयता मीसे न तूवसमिए विसेसोऽयं ॥  
वेएइ संतकम्मं खओवसमिएसु नाणुभाव सो ।  
उवसंतकसाओ पुण वेएइ न संतकम्मं पि ॥

(विभा १२९२, १२९३)

उपशम में उदय प्राप्त कषाय क्षीण हो जाता है तथा शेष कषाय का अनुदय रहता है । क्षयोपशम में क्षय और उपशम होने पर भी सूक्ष्म उदय यानी प्रदेशोदय चालू रहता है । उपशम में विद्यमान कर्म का वेदन नहीं होता । क्षयोपशम में विद्यमान कर्म का प्रदेशोदय में वेदन होता है, विपाकोदय में वेदन नहीं होता है ।

**१२. पारिणामिक भाव की परिभाषा**

परि समता णामो जं जं जीवं पोग्गलादियं दब्बं जं जं अवत्थं पावति तं अपरिचत्तसरूक्खमेव तथा परिणमति सा किरिया परिणामितो भावो भण्णति ।

(अनुचू पृ ४४)

परि का अर्थ है—चारों ओर । नाम का अर्थ है—जीव, पुद्गल आदि की विभिन्न अवस्थाओं में परिणति । अपने स्वरूप को छोड़े बिना जो परिणमन होता है, वह पारिणामिक भाव है ।

परीति—सर्वप्रकारं नमनं—जीवानामजीवानां च

जीवत्वादिस्वरूपानुभवनं प्रति प्रह्वीभवनं परिणामः ।

(उशावृ प ३३)

जीव और अजीव का अपने स्वरूप के अनुभव में (परिणमन में) पूर्णतः संलग्न होना परिणाम है । उससे होने वाली अवस्था पारिणामिक भाव है ।

**१३. पारिणामिक भाव के प्रकार**

पारिणामिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—साइपारिणा-  
मिए य अणाइपारिणामिए य । (अनु २८६)

पारिणामिक भाव के दो प्रकार हैं—सादि-  
पारिणामिक और अनादि-पारिणामिक ।

**सादि पारिणामिक**

साइपारिणामिए अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—

जुण्णसुरा जुण्णगुलो, जुण्णघयं जुण्णतंडुला चैव ।

अब्भा य अब्भरुक्खा, संभ्भा गंधव्वनगरा य ॥

उक्कावाया दिसादाहगज्जियं विज्जू निग्घाया जूवया  
जक्खालित्ता धूमिया.... । (अनु २८७)

सादि-पारिणामिक के अनेक प्रकार हैं, जैसे—  
जीर्णं सुरा, जीर्णं गुड, जीर्णं घी, जीर्णं चाबल,  
अध्र, अध्रवृक्ष, संघ्या, गन्धर्वनगर, उत्कापात, दिशा-  
दाह, गर्जन, विद्युत्, निर्घात, यूपक, यक्षादीप्त, धूमिका  
आदि ।

**अनादि पारिणामिक**

अणाइ पारिणामिए—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए  
आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अट्ठासमए  
लोए अलोए भवसिद्धिया अभवसिद्धिया । (अनु २८८)

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय,  
जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, अध्वासमय, लोक-  
अलोक, भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक—ये अनादि-  
पारिणामिक भाव हैं ।

**१४. सान्निपातिक भाव**

सन्निवाइए—एएसि चैव उददय-उवसमिय-खइय-  
खओवसमिय-पारिणामियाणं भावाणं दुगसंजोएणं  
तिगसंजोएणं चउक्कसंजोएणं पंचगसंजोएणं जे निष्पज्जइ  
सव्वे से सन्निवाइए नामे । (अनु २८९)

औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और  
पारिणामिक भावों में दो के संयोग से, तीन के संयोग से,  
चार के संयोग से और पांच के संयोग से जो भाव निष्पन्न  
होते हैं, वे सब सान्निपातिक भाव हैं ।

सन्निरादितो भावोऽन्यभावेन सह निपात्यत इति  
संनिपातिकः । अविरोधेन वा द्विकादिनैकत्र मेलकः  
संनिपातिकः । (अनुचू पृ ४४)

- एक भाव का दूसरे भाव के साथ निपात—संयोग  
सान्निपातिक भाव है ।
- अविरोध रूप से दो, तीन, चार अथवा पांच भावों  
का संयोग होना संनिपात है ।

### १५. भाव : सादिसपर्यवसित आदि चार विकल्प

जो नारगाइभावो तह मिच्छतादओ वि भव्वाणं ।  
ते चेवाभव्वाणं ओदइओ वित्थियवज्जोऽयं ॥  
सम्मत्त-चरित्ताइं साई संतो य ओवसमिओऽयं ।  
दाणाइलद्धिपणमं चरणं पि य खाइओ भावो ॥

सम्मत्त-नाण-दंसण-सिद्धत्ताइं तु साइओऽणतो ।  
नाणं केवलवज्जं साई संतो खओवसमो ॥  
मइअन्नाणाईया भव्वाऽभव्वाण तइयचरमोऽयं ।  
सव्वो पोगलधम्मो पढमो परिणामिओ होइ ॥  
भव्वत्तं पुण तइओ जीवा-ऽभव्वाइं चरमभंगो उ ।  
भावाणमयं कालो भावावत्थाणओऽणणो ॥  
(विभा २०७७-२०८१)

पांच भावों के चार विकल्प हैं—

१. सादि-सपर्यवसित
  २. सादि-अपर्यवसित
  ३. अनादि-सपर्यवसित
  ४. अनादि-अपर्यवसित ।
- कौन सा भाव किस विकल्प में समवतरित होता है,  
इसके लिए देखें यंत्र—

### भावों के समवतार का यंत्र

संख्या	विकल्प	औदधिक	औपशमिक	क्षायिक	क्षायोपशमिक	पारिणामिक
१.	सादि सपर्यवसित	नारक आदि भव	औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र	क्षायिक चारित्र, दान आदि पांच लब्धियां (भवस्थ केवली की अपेक्षा)	प्रथम चार ज्ञान	पुद्गल में द्रव्यणुक आदि
२.	सादि अपर्यवसित	×	×	क्षायिक सम्यक्त्व, केवल- ज्ञान, केवलदर्शन, सिद्धत्व	×	×
३.	अनादि सपर्यवसित	कषाय, तीन वेद, अज्ञान, असंयत, असिद्धत्व, लेश्या (भव्य जीवों की अपेक्षा)	×	×	मति-श्रुत अज्ञान (भव्य जीवों की अपेक्षा)	भव्यत्व
४.	अनादि अपर्यवसित	कषाय, तीन वेद, अज्ञान, असंयत, असिद्धत्व, लेश्या (अभव्य जीवों की अपेक्षा)	×	×	मति-श्रुत अज्ञान (अभव्य जीवों की अपेक्षा)	जीवत्व, अभव्यत्व

भावना—पुनः पुनः अभ्यास । विविध संकल्पों से  
मन को भावित/वासित करना ।

१. भावना का निर्वचन

२. ज्ञान आदि भावनाएं

३. कान्दरपी आदि भावनाएं

\* अनित्य आदि भावनाएं

\* पच्चीस भावनाएं

(द्र० अनुप्रेक्षा)

(द्र० महान्त)

### १. भावना का निर्वचन

भाव्यते—आत्मसानीयतेऽनयाऽऽमेति भावना ।

(उशावृ प ७१०)

भाव्यत इति भावना ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः ।

(आवहावृ २ प ६२)

जो आत्मा को भावित करती है, आत्मसात् करती  
है, वह भावना है ।

ध्यान के योग्य चेतना का निर्माण करने वाली ध्यान  
के अभ्यास की क्रिया का नाम है भावना ।

## २. ज्ञान आदि भावनाएं

पुव्वकयवभासो भावणाहिं भ्माणस्स जोग्गयमुवेइ ।

ताओ य नाणदंसणचरित्तवेरग्गज्जिआओ ॥

(आवहावृ २ पृ ६७)

जिसने भावनाओं के माध्यम से ध्यान का पहले अभ्यास किया है, वह ध्यान करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। भावनाएं चार हैं—

१. ज्ञान भावना, २. दर्शन भावना, ३. चारित्र्य भावना,
४. वैराग्य भावना ।

णाणे निच्चवभासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च ।

नाणगुणमुणियसारो तो भाइ सुनिच्चलमईओ ॥

संकाइदोसरहिओ पसमथेज्जाइगुणगणोवेओ ।

होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए भ्माणमि ॥

नवकम्माणायणं पोरणव्विणिज्जरं सुभायाणं ।

चारित्तभावणाए भ्माणमयत्तेण य समेइ ॥

सुविदियजग्गस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य ।

वेरग्गभावियमणो भ्माणमि सुनिच्चलो होइ ॥

(आवहावृ २ पृ ६७, ६८)

**ज्ञान भावना**—जो ज्ञान का नित्य अभ्यास करता है, ज्ञान में मन स्थिर करता है, सूत्र और अर्थ की विशुद्धि रखता है, ज्ञान के माहात्म्य से परमार्थ को जान लेता है, वह सुस्थिर चित्त से ध्यान कर सकता है।

**दर्शन भावना**—जो अपने को शंका आदि दोषों से रहित, प्रशम, स्थैर्य आदि गुणों से सहित कर लेता है, वह दर्शनशुद्धि (दृष्टि की समीचीनता) के कारण ध्यान में अभ्रान्त चित्त वाला हो जाता है।

**चारित्र्य भावना**—नए कर्मों का अग्रहण, पुराने बंधे हुए कर्मों का निर्जरण और शुभकर्मों का ग्रहण—इस चारित्र्य भावना से बिना प्रयत्न किए भी ध्यानावस्था प्राप्त हो जाती है।

**वैराग्य भावना**—जो जगत् के स्वभाव को जानता है, निस्संग (अनासक्त) है, अभय और आशंसा से विप्रमुक्त है, वह वैराग्य भावना से भावित मन वाला होता है। वह ध्यान में सहज ही निश्चल हो जाता है।

एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य ।

भावणाहिं य सुद्धाहिं, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ॥

(उ १९।१४)

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भलीभांति भावित करो।

## ३. कान्दर्पी आदि भावनाएं

कंदप्पमाभिओगं, किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च ।

एयाओ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति ॥

(उ ३६।२५६)

कांदर्पी, आभियोगी, कित्त्वषिकी, मोही तथा आसुरी—ये पांच भावनाएं दुर्गति की हेतुभूत हैं। मृत्यु के समय ये सम्यग्दर्शन आदि की विराधना करती हैं।

### कान्दर्पी भावना

कंदप्पकोवकुइयाइं तह, सीलसहावहासविग्गहाहिं ।

विग्गहवोंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥

(उ ३६।२६३)

जो कामकथा करता रहता है, दूसरों को हंसाने की चेष्टा करता रहता है, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओं के द्वारा दूसरों को विस्मित करता रहता है, वह कांदर्पी भावना का आचरण करता है।

### आभियोगी भावना

मंताजोगं काउं, भूईकम्मं च जे पउंजति ।

सायरसइइदिहेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥

(उ ३६।२६४)

जो सुख, रस और समृद्धि के लिए मंत्र, योग और भूति-कर्म का प्रयोग करता है, वह आभियोगी भावना का आचरण करता है।

**भूत्या**—भस्मनोपलक्षणत्वान्मृदा सूत्रेण वा कर्म—  
रक्षार्थं वसत्यादेः परिवेष्टनं भूतिकर्म ।

(उशावृ प ७१०)

भूति का अर्थ है—राख, मिट्टी अथवा धामा। मकान, शरीर, भंडोपकरण आदि की रक्षा के लिए राख, मिट्टी अथवा धामे के द्वारा उनका परिवेष्टन करना भूति-कर्म कहलाता है।

### कित्त्वषिकी भावना

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं ।

माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥

(उ ३६।२६५)

जो ज्ञान, केवलज्ञानी, धर्माचार्य, संघ तथा साधुओं

की निन्दा करता है, वह मायावी पुरुष किल्बिषिकी भावना का आचरण करता है ।

### आसुरी भावना

अणुबद्धरोसपसरो, तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवि ।  
एएहि कारणेहि, आसुरिय भावणं कुणइ ॥  
(उ ३६।२६६)

जो क्रोध को सतत बढ़ावा देता रहता है और निमित्त कहता है, वह अपनी इन प्रवृत्तियों के कारण आसुरी भावना का आचरण करता है ।

### मोही भावना

सत्थग्गहणं विसंभक्खणं च जलणं च जलप्पवेसो य ।  
अणायारभण्डसेवा, जम्मणमरणाणि बंधंति ॥  
(उ ३६।२६७)

जो शस्त्र के द्वारा, विष भक्षण के द्वारा, अग्नि में प्रविष्ट होकर या पानी में कूदकर आत्म-हत्या करता है और जो मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है, वह जन्म-मरण की परम्परा को पुष्ट करता है—मोही भावना का आचरण करता है ।

(मूलाराधना (३।१७९-१८४) तथा प्रवचनसारोद्धार (गाथा ६४१-६४६) में भी इन संकिलष्ट भावनाओं की चर्चा है, जो उत्तराध्ययन से पूर्णतः प्रभावित हैं ।)

### भावितात्मा विशिष्ट साधना संपन्न अनगार ।

सम्मदंसणेण बहुविहेहि य तज्जेजोगेहि अण्णिच्चयादि-  
भावणाहि य भावितप्पा । (दअचू पृ २५६)

सम्यक् दर्शन, बहुविध तपोयोग और अनित्य आदि भावनाओं से जिसकी आत्मा भावित/वासित होती है, वह भावितात्मा कहलाता है ।

**भाषा—ध्वन्यात्मक और शब्दात्मक प्रयोग ।  
भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम ।**

#### १. भाषा की परिभाषा

० पर्याय

#### २. द्रव्यभाषा-भावभाषा

\* भाषा : अगुहलघु द्रव्यवर्णना (द्र. वर्णना)

#### ३. द्रव्य भाषा के प्रकार

#### ४. भाषाद्रव्य का ग्रहण-निसर्ग और काययोग

० भाषा के ग्रहण-निसर्ग का कालमान

० ग्रहण-निसर्ग के क्षण का भेद

#### ५. शब्दश्रवण की प्रक्रिया

#### ६. भाषाद्रव्य की तीव्रतम गति

#### ७. भाषाद्रव्य की लोक में व्याप्त होने की प्रक्रिया

#### ८. अवगाहना वर्णना

#### ९. भावभाषा के प्रकार

#### १०. द्रव्यभावभाषा के प्रकार

० सत्यभाषा के प्रकार

० मृषाभाषा के प्रकार

० मिश्रभाषा के प्रकार

० व्यवहार भाषा के प्रकार

#### ११. श्रुतभाव भाषा

#### १२. चारित्रभाव भाषा

#### १३. भाषा के दो प्रकार

\* वचन के सोलह अंग

(द्र. अनुयोग)

\* अक्षरश्रुत : श्रुतज्ञान का एक भेद (द्र. श्रुतज्ञान)

### १. भाषा की परिभाषा

भाष्यत इति भाषा—वाक्शब्दरूपतया उत्सृज्यमाना द्रव्यसन्ततिः । सा च वर्णात्मिका भेरीभाङ्कारादिरूपा वा द्रष्टव्या । (नन्दीमवृ प १८६)

जो बोली जाती है, वह भाषा है । भाषावर्णना के पुद्गलद्रव्य का ग्रहण और परिणमन के बाद वाणी—शब्द के रूप में उत्सर्जन किया जाता है, तब भाषा बनती है । वह वर्णात्मक होती है अथवा वह भेरी आदि के भांकार रूप होती है ।

#### पर्याय

वक्क वयणं च गिरा सरस्सती भारती य गो वाणी ।

भाषा पणवणी देवणी य वइजोग जोगे य ॥

(दनि १७२)

वाक्य, वचन, गिरा, सरस्वती, भारती, गो, वाणी, भाषा, प्रज्ञापनी, देवनी, वाक्योग और योग—ये भाषा के पर्याय हैं ।

### २. द्रव्यभाषा-भावभाषा

...दब्बं तु भासदब्बाइं । भावे भासासहो ... ॥

दध्ववक्कं वक्कजोग्गा दब्बा । ताणि चैव वक्कभाव-परिणामिताणि निगिरिज्जमाणाणि तं भावं भावयंतीति भाववक्कं । ...परावबोधायिकयाभिप्पायस्स सधमवघा-रितत्थस्स वेदणादिव परं गमं अप्पसवित्तिरूवं वयणपणि-घाणं भावभासा । (दनि १७१ अचू पृ १५९)

वयणं वागुच्चए वाऽणए त्ति वाय त्ति दव्वओ सा य ।  
तज्जोम्मपोमला जे गहिया तप्परिणया भावो ॥

(विभा ३५२६)

भाषा के योग्य द्रव्य द्रव्यवाक्य हैं। भाषा रूप में परिणत, बोले जाते हुए भाषा के द्रव्य, जो भावों को प्रकट करते हैं, वे भाववाक्य हैं।

जैसे वेदना की अनुभूति स्वयं को और पर को होती है वैसे ही जिस वचनप्रणिधान से व्यक्ति स्वयं अर्थ का अवधारण करता है, फिर दूसरे को अर्थबोध कराता है, वह भावभाषा है।

### ३. द्रव्य भाषा के प्रकार

दव्वे त्तिविधा गहणे य णिसिरणे तह भवे पराघाते ।  
वइजोगपरिणतस्स अप्पणो गहणसमए भासादव्वो-  
पादानं गहणं । तेसि चैव उर-कंठ-सिर-जिह्वामूल-तालु-  
णासिका-दंसणोट्टेसु जहाथाणसम्मच्छिताणं विसज्जणं  
निसिरणं । निसिट्ठेह विघट्टिताणं तप्पाजोग्गाण  
दव्वाण भासापरिणती पराघातो ।

(दनि १७३ अचू पृ १५९)

द्रव्यभाषा के तीन प्रकार हैं —

१. ग्रहण - वचनयोग में परिणत आत्मा के द्वारा ग्रहण-काल में भाषाद्रव्य का उपादान/ग्रहण।
२. निस्सरण - उर, कंठ, सिर, जिह्वामूल, तालु, नासिका, दांत और ओष्ठ पर यथास्थान सम्पूर्णच्छित भाषा द्रव्यों का विसर्जन।
३. पराघात - निःसृष्ट द्रव्यों के द्वारा विघटित भाषा द्रव्यों की भाषापरिणति।

### ४. भाषा द्रव्य का ग्रहण-निसर्ग और काययोग

गिण्हइ य काइएणं, निस्सरइ तह वाइएण जोगेणं ।  
भासालद्धीओ जीवो भासागहणपाउग्गाणि दव्वाणि  
कायजोगेण चेतूण भासत्ताए परिणामेउं वयजोगेण  
णिसिरति भासइत्ति । (आवनि ७ चू १ पृ १५)

भाषालब्धि से सम्पन्न जीव काययोग से भाषा के प्रायोग्य शब्दद्रव्यों को ग्रहण करता है, उन्हें भाषा रूप में परिणत कर वचनयोग से छोड़ता है।

त्तिविहंमि सरीरंमि जीवपएसा हवति जीवस्स ।

जेहि उ गिण्हइ गहणं तो भासइ भासओ भासं ॥

ओरालियवेत्तन्वियआहारी गिण्हइ मुयइ भासं ।....

(आवनि ८, ९)

आदारिक, वैक्रिय और आहारक...ये तीन शरीर

एसे हैं, जिनमें जीव के प्रदेश व्याप्त होते हैं, जिनसे भाषाद्रव्यों को ग्रहण किया जाता है, उसके आधार पर वक्ता बोलता है। बोलने के समय वे भाषा के रूप में परिणत हो जाते हैं और फिर उनका निसर्जन होता है।

### भाषा के ग्रहण-निसर्ग का कालनाम

गहणं मोक्खो भासा समयं गह-निसिरणं च दो समया ।  
होति जहणंतरओ तं तस्स च बीयसमयंमि ॥  
गहणं मोक्खो भासा गहण-विसग्गा य होति उक्कोसं ।  
अंतोमुहुत्तमेत्तं पयत्तभेएण भेयो सि ॥  
(विभा ३७१, ३७२)

भाषाद्रव्य का ग्रहण एक समय में होता है। उसका निसर्ग भी एक समय में होता है। इस प्रकार भाषा-द्रव्य के ग्रहण-निसर्ग का जघन्य काल दो समय है।

भाषाद्रव्य के ग्रहण-निसर्ग का उत्कृष्ट काल अन्त-मुहूर्त है। इनमें यह भेद वक्ता के प्रयत्न-भेद से होता है।

....एगंतरं च गिण्हइ निसिरइ एगंतरं चैव ॥

अंतोमुहुत्तस्स समया असंखेज्जा णायव्वा । तेसु  
एक्कंतरं गेण्हति णिसिरति य । जो भासंतो णो उवरमति  
सो जमि समए णिस्सरति तंमि चैव समए भासं भासंतो  
अण्णाणि भासादव्वाणि पुणो गेण्हति । चेतूण य तइए  
समए णिसिरति । ताणि य वितियसमयगहिताणि तइए  
समए णिसिरमाणो अण्णाणि भासादव्वाणि पुणो गेण्हति,  
ताणि चउत्थे णिसिरति ।.... एवं एगंतरं गेण्हतस्स एगंतरं  
णिसिरंतस्स य अब्भंतरेसु मुहुत्तस्स असंखेज्जा समया  
भवति । (आवनि ७ चू १ पृ १५)

इस अन्तमुहूर्त के असंख्येय समय होते हैं। उनमें भाषाद्रव्यों का प्रतिसमय ग्रहण और प्रतिसमय निसर्जन होता है। जो वक्ता विराम नहीं लेता है, वह जिस क्षण निसर्जन करता है, उसी क्षण अन्य भाषाद्रव्यों का पुनः ग्रहण करता है। दूसरे समय में गृहीत द्रव्यों का तीसरे समय में निसर्जन करता हुआ अन्य भाषाद्रव्यों का पुनः ग्रहण करता है तथा चतुर्थ समय में उनका निसर्जन करता है। इस प्रकार प्रतिक्षण ग्रहण और निसर्जन के अन्तरालवर्ती क्षणों में मुहूर्त के असंख्येय समय होते हैं।

### ग्रहण-निसर्ग के क्षण का भेद

गहणावेक्खइ तओ निरन्तरं जम्मि जाइं गहियाइं ।  
न वि तम्मि चैव निसिरइ जह पढमे निसिरणं नत्थि ॥

(विभा ३६९)

एकेन—आद्येन समयेन गृह्णाति, न तु निसृजति ।  
द्वितीयसमयादारभ्य निसर्गस्य प्रवृत्तेः, प्रथमसमये पूर्व-  
गृहीतद्रव्यासम्भवात् तथा एकेन पर्यन्तवर्तिना समयेन  
निसृजति—निसृजत्येव न तु गृह्णाति भाषणादुपरमात् ।  
अपान्तरालवर्तिषु ममयेषु ग्रहणनिसर्गो ।

स्थापना —

ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	०
०	नि	नि	नि	नि	नि

(आवमवृ प ३३, ३४)

जीव प्रथम समय में भाषावर्गणा के पुद्गल ग्रहण करता है, निसर्जन नहीं करता । निसर्जन दूसरे समय में प्रारम्भ होता है, क्योंकि प्रथम समय में पूर्वगृहीत भाषा-द्रव्य नहीं होते । जिस क्षण वक्ता विराम लेता है, उस अंतिम क्षण में भाषाद्रव्यों का केवल निसर्जन होता है, ग्रहण नहीं होता । अन्तरालवर्ती क्षणों में ग्रहण और निसर्ग — दोनों होते हैं ।

#### ५. शब्द-श्रवण की प्रक्रिया

भासासमसेढीओ, सद्ं जं सुणइ मीसयं सुणइ ।

वीसेढी पुण सद्ं, सुणेइ नियमा पराघाए ॥

(नन्दी ५४।५)

जो श्रोता वक्ता की समश्रेणी में स्थित है, वह मिश्रित शब्द सुनता है । विषमश्रेणी में स्थित श्रोता नियमतः भाषाद्रव्यों से वासित शब्दों को सुनता है ।

अणुसेढीगमणाओ पडिघायाभावओऽनिमित्ताओ ।

समयंतराणवत्थाणओ य मुक्काइं न सुणेइ ॥

(विभा ३५४)

- वक्ता द्वारा मुक्त भाषाद्रव्यों की गति अनुश्रेणी में होती है ।
- वे सूक्ष्म होते हैं, इसलिए उनके प्रतिघात का कोई निमित्त नहीं बनता ।
- भाषा के द्रव्य प्रथम समय में समश्रेणी में ही जाते हैं । द्वितीय समय में उनके द्वारा वासित द्रव्य विषमश्रेणी में जाते हैं । इसका तात्पर्य है कि एक समय के पश्चात् वे मूल रूप में अवस्थित नहीं रहते ।

इन तीन कारणों से विषमश्रेणी में स्थित श्रोता वक्ता द्वारा मुक्त शब्दों को नहीं सुनता । वह केवल मुक्त शब्द से वासित शब्द को ही सुनता है ।

#### ६. भाषा द्रव्य की तीव्रतम गति

सेढी पएसपंती वदतो सब्वस्स छद्दिसि ताओ ।

जासु विमुक्का धावइ भासा समयम्मि पढमम्मि ॥

(विभा ३५२)

श्रेणयो नाम क्षेत्रप्रदेशपंक्तयोऽभिधीयन्ते । ताश्च सर्वस्यैव भाषमाणस्य षट्सु दिक्षु विद्यन्ते । यासूत्सृष्टा सती भाषा प्रथमसमय एव लोकान्तमनुधावति ।

(नन्दीमवृ प १८६)

आकाश की प्रदेश पंक्ति को श्रेणि कहते हैं । वे श्रेणियां सब वक्ताओं के छहों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः) में होती हैं । उनमें उत्सृष्ट भाषाद्रव्य प्रथम समय में ही लोकान्त तक चले जाते हैं ।

#### ७. भाषाद्रव्य की लोक में व्याप्त होने की प्रक्रिया

चउहि समएहि लोगो, भासइ निरंतरं तु होइ फुडो ।

लोगस्स य चरमंते, चरमंतो होइ भासाए ॥

(आवनि ११)

चार समय में भाषाद्रव्य पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं । लोक का अंतिम छोर भाषाद्रव्यों की व्याप्ति का अंतिम छोर है ।

कोइ मंदपयत्तो निसिरइ सयलाइं सब्वदव्वाइं ।

असो तिक्वपयत्तो सो मुंचइ भिदिउं ताइं ॥

गंतुमसंखेज्जाओ अवगाहणवग्गणा अभिन्नाइं ।

भिज्जंति धंसमिति य संखेज्जे जोअणे गंतुं ॥

भिन्नाइं सुहुमयाए अणंतगुणवड्ढिआइं लोगंतं ।

पावति पुरयति य भासाए निरंतरं लोगं ॥

(विभा ३८०-३८२)

मन्द प्रयत्न वाला वक्ता सब भाषा द्रव्यों का सकल (अभिन्न) रूप में निसर्जन करता है । वे मन्द प्रयत्न से निसृष्ट भाषाद्रव्य असंख्येय अवगाहना वर्गणा तक जाकर भिन्न—खंडित हो जाते हैं । संख्येय योजन तक जाकर वे ध्वस्त हो जाते हैं—भाषारूप को छोड़ देते हैं ।

तीव्र प्रयत्न वाला वक्ता भाषाद्रव्यों का भेद—विस्फोट कर उनका निसर्जन करता है । वे सूक्ष्मत्व और अनन्त गुण वृद्धि के कारण लोकान्त तक चले जाते हैं । उनके आघात से प्रभावित भाषाद्रव्य की संहति सम्पूर्ण लोक को आपूरित कर देती है ।

जाइं भिण्णाइं णिसिरति ताइं महंतलेट्ठुकसमाइं चउहि समएहि लोगंतं पावंति । जाणि पुण अभिण्णाणि णिसिरति ताणि खुड्डलगलेट्ठुगसमाणाइं अंतरा चेव विद्धंसमागच्छंति । (आवचू १ पृ १६)

भिन्न रूप में निसृष्ट भाषाद्रव्य बड़े पाषाणखंड की तरह चार समय में लोकान्त तक चले जाते हैं । अभिन्न-रूप में निसृष्ट भाषाद्रव्य छोटे पाषाणखंड की तरह बीच में ही ध्वस्त हो जाते हैं ।

यो मन्दप्रयत्नो वक्ता स यथारूपाणि शब्दद्रव्याणि गृहीतवान् तथा रूपाण्येवाभिन्नानि उपजातमन्दशब्दपरिणामानि निसृजति । तानि च तथा निसृष्टानि मन्दप्रयत्ननिसृष्टत्वात् परिस्थूराणि । अत एव तदन्यद्रव्यवासनोत्पादपाटवरहितानि । (आवमवृ प ३५)

मन्द प्रयत्न वाला वक्ता जिस रूप में शब्दद्रव्यों को ग्रहण करता है, उसी रूप में उनका निसर्जन करता है । शब्दों का परिणमन मन्द होने के कारण उनमें भेद/विस्फोट नहीं होता । वे अभिन्न शब्दद्रव्य स्थूल होते हैं, इसलिए उनमें अन्य द्रव्यों को वासित करने की क्षमता नहीं होती ।

यस्तु महाप्रयत्नो वक्ता, स खल्वदानप्रयत्नेनापि भित्त्वं गृह्णाति, गृहीत्वा च शब्दपरिणाममपि तेषामत्युत्कटमुत्पादयति, उत्पाद्य च निसर्गप्रयत्नेन भूयो भित्त्वा निसृजति । तानि च तथा निसृष्टानि सूक्ष्मत्वादतिप्रभूतत्वाद्युत्कटशब्दपरिणामत्वाच्च तदन्वयानि बहूनि द्रव्याणि वासयन्ति । (आवमवृ प ३५, ३६)

तीव्र प्रयत्न वाला वक्ता ग्रहणप्रयत्न में भी भाषा-द्रव्यों का भेद - विस्फोट कर ही ग्रहण करता है, उनकी शब्दपरिणति भी उत्कट होती है और निसर्ग-प्रयत्न में पुनः उन द्रव्यों को भिन्न कर ही निसर्जन करता है । भिन्न रूप में निसृष्ट भाषाद्रव्य सूक्ष्म और प्रभूत होते हैं, उनकी शब्दपरिणति भी अत्यंत उत्कट होती है, इसलिए उनमें अन्य बहुत द्रव्यों को वासित करने की क्षमता होती है ।

पढमसमए च्चिय जओ मुक्काइं जंति छुद्दिसि ताइं । वितियसमयम्मि ते च्चिय छुद्दंटा होंति छम्मथा ॥ मथंतरेहि तईए समते पुन्नेहि पूरिओ लोगो । चउहि समएहि पूरइ लोगते भासमाणस्स ॥ दिसि विट्ठियस्स पढमोऽतिगमे ते चेव सेसया तिमि । विदिसि ट्ठियस्स समया पंचातिगमम्मि जं दोण्णि ॥ (विभा ३८-३८६)

यदा लोकमध्यस्थो वक्ता भवति तदा तेन निसृष्टानि भाषापरिणतानि द्रव्याणि प्रथमसमय एव षट्सु दिक्षु लोकान्तमनुघ्रावति, जीवसूक्ष्मपुद्गलानामनुश्रेणिगमनात् । द्वितीयसमये तु त एव षट् दण्डाः चतुर्दिक्षु एकैकशोऽनुश्रेण्या वासितद्रव्यैः प्रसरन्तः षट् मन्थानो भवन्ति । तृतीयसमये तु पृथक् पृथक् तदन्तरालापूर्णात् पूर्णौ भवति लोकः । एवं त्रिभिः समयैर्भाषया लोकः स्पृष्टो भवति । यदा तु स्वयंभूरमणपरतटवर्तिनि लोकान्ते अलोकस्यात्यन्तनिकटीभूय भाषको वक्ति त्रसनाड्या वा बहिश्चतसृणां दिशामन्यतमस्यां दिशि तदा चतुर्भिः समयैरापूर्यते । यदा त्रसनाड्या बहिर्व्यवस्थितो वक्ति तदा एकेन समयेनान्तर्नाडौ शब्दद्रव्याभ्यनुप्रविशन्ति, शेषसमय-भावना च पूर्ववत् । (आवमवृ प ३६)

### तीन समय में पूरे लोक में व्याप्त

जब वक्ता लोक के मध्यभाग में स्थित हो बोलता है, तब उससे निसृष्ट भाषा के पुद्गल प्रथम समय में ही छहों दिशाओं में लोकान्त तक चले जाते हैं, क्योंकि जीव और सूक्ष्म पुद्गल अनुश्रेणी में गमन करते हैं । दूसरे समय में ये षट् दण्डरूप में फैले हुए भाषाद्रव्य के पुद्गल अन्य द्रव्यों से अनुवासित होकर चारों दिशाओं में षट् मथानी के रूप में फैल जाते हैं । तीसरे समय में अन्तरालों को आपूरित करते हुए वे पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं ।

### चार समय में पूरे लोक में व्याप्त

जब वक्ता स्वयंभूरमण के परतटवर्ती भाग - लोकान्त में, अलोक के अत्यन्त निकट स्थित हो बोलता है, अथवा त्रसनाड़ी के बाहर किसी दिशा में स्थित हो बोलता है, तब भाषा के पुद्गल चार समय में पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं ।

त्रसनाड़ी के बाहर किसी भी दिशा में स्थित भाषक के भाषाद्रव्य प्रथम समय में त्रसनाड़ी में प्रवेश करते हैं । शेष तीन समय में लोक को पूरित करते हैं ।

पांच समय में पूरे लोक में व्याप्त

त्रसनाड़ी के बाहर विदिशा में स्थित भाषक के भाषाद्रव्य पहले समय में दिशा में आते हैं, दूसरे समय में त्रसनाड़ी में प्रवेश करते हैं । शेष तीन समयों में लोक को आपूरित करते हैं ।



## द. अवगाहना वर्गणा

अवगाहना एकैकस्य भाषाद्रव्यस्कन्धस्याऽऽधार-भूताऽऽसंख्येयप्रदेशात्मकक्षेत्रविभागरूपा, तासामवगाहना-नामनन्तभाषाद्रव्यस्कन्धाश्रयभूतक्षेत्रविशेषरूपाणां वर्गणा समुदायस्ता अवगाहनावर्गणाः । (विभामवृ १ पृ १८६)

भाषा द्रव्य के एक-एक स्कन्ध के आधारभूत असंख्येय प्रदेशात्मक क्षेत्र का नाम है—अवगाहना । वैसे अनन्त भाषा द्रव्य के स्कन्धों की आधारभूत अवगाहनाओं के समुदाय का नाम है—अवगाहनावर्गणा ।

## ६. भावभाषा के प्रकार

...भावे दब्बे य सुते चरित्तं... ॥ (दनि १७३)

भावभाषा के तीन प्रकार हैं द्रव्य, श्रुत और चारित्र ।

## १०. द्रव्यभावभाषा के प्रकार

आराहणी यु दब्बे सच्चा मोसा विराहणी होति ।

सच्चामोसा भीसा असच्चमोसा य पडिसेधो ॥

(दनि १७४)

द्रव्यभावभाषा के चार प्रकार हैं—

१. आराधनी (सत्य) —यथार्थ का प्रतिपादक वचन ।
२. विराधनी (मृषा) —अयथार्थ का प्रतिपादक वचन ।
३. आराधनी-विराधनी (सत्यमृषा) —यथार्थ और अयथार्थ का प्रतिपादक वचन ।
४. आराधन-विराधन विरहित (असत्यमृषा) —विधि-निषेध (व्यवहार) का प्रतिपादक वचन ।

## सत्यभाषा के प्रकार

जणवत समुति टुवणा णामे रूवे पडुच्चसच्चे य ।

ववहार भाव जोगे दसमे ओवम्मसच्चे य ॥

(दनि १७५)

सत्यभाषा के दस प्रकार हैं—

१. जनपद सत्य —जिस देश में जैसी भाषा बोलने में काम आती है, उस देश में वह जनपद सत्य है । जैसे—'चोखा' शब्द मारवाड़ में 'अच्छे' के अर्थ में और मेवाड़ में 'चावल' के अर्थ में व्यवहृत है ।
२. सम्मत-सत्य —प्राचीन विद्वानों ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है, उस अर्थ में वह शब्द सम्मत सत्य है । कमल और मेंढक दोनों ही पंक (कीचड़) में उत्पन्न होते हैं तो भी पंकज कमल को ही कहते हैं, मेंढक को नहीं ।

३. स्थापना-सत्य— किसी भी वस्तु की स्थापना करके उसे उस नाम से कहना । जैसे—शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, बजीर आदि कहना ।

४. नाम-सत्य—गुण-विहीन होने पर भी किसी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष का वैसा नाम रखकर, उस नाम से पुकारना । जैसे—धनहीन को लक्ष्मीपति कहना ।

५. रूप-सत्य—किसी रूप-विशेष को धारण करने पर उस रूप-विशेष से पुकारना । जैसे साधु का वेश देखकर किसी व्यक्ति को साधु कहना ।

६. प्रतीति-सत्य (अपेक्षा सत्य)—एक वस्तु की अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी-बड़ी, हल्की-भारी आदि कहना । अनामिका अंगुली को कनिष्ठा की अपेक्षा से बड़ी और मध्यमा की अपेक्षा से छोटी कहना ।

७. व्यवहार-सत्य—जो बात व्यवहार में बोली जाए, वह व्यवहार सत्य है । जैसे पहुंचती तो है गाड़ी और कहते हैं लाडलू आ गया ।

८. भाव-सत्य—किसी वस्तु में जो भाव मुख्य रूप से मिलता है, उसे लेकर उसका प्रतिपादन करना । जैसे—तोते में कई रंग होते हैं, फिर भी उसे हरा कहना ।

९. योग-सत्य—योग अर्थात् वस्तु के सम्बन्ध से किसी व्यक्ति-विशेष को उस नाम से पुकारना । जैसे—छत्रधारी को छत्री कहना ।

१०. उपमा सत्य—किसी एक बात में समानता होने पर एक वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना । जैसे—आखें कमल के समान विकसित हैं ।

## मृषाभाषा के प्रकार

कोधे माणे माया लोभे पेज्जे तहेव दोसे य ।

हास भये अक्खाइय उवघाते णिस्सिता दसमा ॥

(दनि १७६)

मृषाभाषा के दस प्रकार हैं—

१. क्रोधनिश्चित—क्रोध में असत्य बोलना ।
२. माननिश्चित—अहंकार के आवेश में बोलना ।
३. मायानिश्चित—कपट सहित बोलना, दूसरे को धोखा देने के लिए बोलना ।
४. लोभनिश्चित—लोभ में आकर बोलना ।
५. रागनिश्चित—प्रेम, मोह के वशीभूत होकर बोलना ।

६. द्वेषनिश्चित—द्वेष सहित बोलना ।
७. हास्यनिश्चित—हंसी में बोलना ।
८. भयनिश्चित—डरकर बोलना ।
९. आख्यायिकानिश्चित—कहानी कहते समय असंभव बातें कह देना ।
१०. उपघातनिश्चित—प्राणियों की हिंसा हो, ऐसी भाषा बोलना ।

तत्त्व मुसावातो चउव्विहो, तं जहा—सम्भावपडि-सेहो असम्भूयुग्भावणं अत्थंतरं गरहा । तत्त्व सम्भावपडि-सेहो णाम जहा णत्थि जीवो नत्थि पुण्णं नत्थि पावं नत्थि बंधो णत्थि मोक्खो एवमादी । असम्भूयुग्भावणं नाम जहा अत्थि जीव (संभववाची) सामागतंदुलमेत्तो वा एव-मादी । पयत्थंतरं नाम जो गावि भणइ एसो आसोत्ति । गरहा णाम 'तहेव काणं काणित्ति' एवमादी ।

(दजिचू पृ १४८)

मृषावाद के चार प्रकार हैं—

१. सद्भाव प्रतिषेध—जो है, उसके विषय में कहना कि यह नहीं है। जैसे जीव आदि हैं, उनके विषय में कहना कि जीव नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, बंध नहीं है, मोक्ष नहीं है आदि ।
२. असद्भाव उद्भावना—जो नहीं है, उसके विषय में कहना कि यह है। जैसे आत्मा के सर्वगत, सर्वव्यापी न होने पर भी उसे वैसा बतलाना अथवा उसे श्यामाक तन्दुल के तुल्य बताना ।
३. अर्थान्तर जो है, उसको अत्य बताना । जैसे गाय को घोड़ा कहना आदि ।
४. गहीं—जैसे काने को काना कहना ।

### मिश्रभाषा के प्रकार

उप्पण विगत मीसग जीवमजीवे य जीव अज्जीवे ।  
तहऽपंतमीसिया खलु परित्त अद्दा य अद्दद्दा ॥

(दनि १७७)

मिश्रभाषा के दस प्रकार हैं -

१. उत्पन्न-मिश्रित—जिस नगर में जितने बच्चों को जन्म हुआ है, उससे न्यूनाधिक बताना ।
२. विगत-मिश्रित—इसी प्रकार मरण के विषय में न्यून और अधिक बताना ।
३. उत्पन्न-विगत-मिश्रित—जन्म-मृत्यु—दोनों के विषय में न्यूनाधिक बताना ।
४. जीव-मिश्रित—जीव-अजीव की विशाल राशि को

देखकर कहना—ओह ! यह कितना बड़ा जीवों का समूह है ।

५. अजीव-मिश्रित—कूड़े-कचरे के ढेर को देखकर यह कहना—'यह सब अजीव है' किन्तु इसमें बहुत से जीव भी हो सकते हैं ।
६. जीवाजीव-मिश्रित—जीव-अजीव की राशि में अयथार्थ रूप में यह बताना कि इसमें इतने जीव हैं और इतने अजीव ।
७. अनन्त-मिश्रित—आलू, ककड़ी आदि का समूह देखकर कहना—'यह सब तो अनन्तकाय है ।'
८. प्रत्येक-मिश्रित—ककड़ी, आलू आदि का समूह देखकर कहना—'यह सब प्रत्येककाय है ।'
९. अद्धा-मिश्रित—दिन-रात आदि काल के विषय में मिश्र वचन बोलना ।
१०. अद्धाद्धा-मिश्रित—दिन या रात के एक भाग को अद्धाद्धा कहते हैं। प्रथम पौष्णी के काल में यह कहना कि मध्याह्न हो गया है—यह अद्धाद्धा-मिश्रित है ।

### व्यवहार भाषा के प्रकार

आमंतणि आणमणी जायणि तह पुच्छणी य पणवणी ।  
पच्चवखाणी भासा भासा इच्छणुलोमा य ॥  
अणभिग्गहिता भासा भासा य अभिग्गहम्मि बोधव्वा ।  
संसयकरणी भासा वोकड अब्बोकडा चैव ॥  
(दनि १७८, १७९)

व्यवहार भाषा के बारह प्रकार हैं—

१. आमंत्रणी—संबोधन करना ।
२. आज्ञापनी—आज्ञा देना ।
३. याचनी—याचना करना ।
४. प्रच्छनी—पूछना, किसी विषय में सन्देह होने पर पूछकर उसकी निवृत्ति करना ।
५. प्रज्ञापनी—प्ररूपण करना ।
६. प्रत्याख्यानी—त्याग करना ।
७. इच्छणुलोमा—इच्छानुसार अनुमोदन करना ।
८. अनभिगृहीता—अपनी सम्मति प्रकट न करना ।
९. अभिगृहीता—सम्मति देना ।
१०. संशयकारिणी—जिस शब्द के अनेक अर्थ हैं, उसका प्रयोग करना ।
११. व्याकृत—विस्तार सहित बोलना, जिससे स्पष्ट समझ में आ जाए ।

१२. अव्याकृत—अति गम्भीरतायुक्त बोलना, जो कि समझ में आना कठिन हो जाए।

### ११. श्रुतभावभाषा

सुतधम्मं पुण तिविधा सच्चा मोसा असच्चमोसा य ।  
सम्मद्विटी तु सुते उवयुत्तो भासए सच्चं ॥  
सम्मद्विटी तु सुतम्मि अणुवयुत्तो अहेतुगं वेव ।  
जं भासति सा मोसा मिच्छाद्विटी वि य तहेव ॥  
भवति तु असच्चमोसा सुतम्मि उवरिल्लए तिणाणम्मि ।  
जं उवउत्तो भासति ..... ॥  
(दनि १-१-१८३)

श्रुतभावभाषा के तीन प्रकार हैं—

१. सत्य—श्रुत में उपयुक्त सम्यग्दृष्टि की भाषा।
२. मृषा—श्रुत में अनुपयुक्त सम्यग्दृष्टि की अहेतुक भाषा अथवा मिथ्यादृष्टि की भाषा।
३. असत्यमृषा (व्यवहार)—अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी के वचनों की तरह श्रुतज्ञानोपयुक्त के द्वारा दी जाने वाली वाचना आदि।

### १२. चारित्रभावभाषा

पढम-बितिया चरित्ते भासा दो वेव होंति णायव्वा ।  
सचरित्तस्स तु भासा सच्चा, मोसा तु इयरस्स ॥  
(दनि १८४)

चारित्रभावभाषा के दो प्रकार हैं—

१. सत्य—वह भाषा, जिससे चारित्र शुद्ध हो अथवा चारित्र की प्राप्ति हो।
२. मृषा—वह भाषा, जिससे चारित्र शुद्ध न हो अथवा चारित्र की प्राप्ति न हो।

### १३. भाषा के दो प्रकार

सच्चा वि य सा दुविधा पज्जत्ता खलु तहा अपज्जत्ता ।  
पढमा दो पज्जत्ता उवरिल्ला दो अपज्जत्ता ॥  
अत्थावधारणसमत्था पज्जत्तिगा । तविवक्खिया  
अपज्जत्तिगा । (दनि १८० अचू पृ १६१)

भाषा के दो प्रकार हैं—

१. पर्याप्ता—जो अर्थ के अवधारण में समर्थ है।  
जैसे—सत्य और मृषाभाषा।
२. अपर्याप्ता—जो अर्थ के अवधारण में असमर्थ है।  
जैसे—मिश्र और व्यवहार भाषा।

(जीव भाषाद्रव्य के अनंतप्रदेशी स्कन्धों को ग्रहण करता है, एक प्रदेशी यावत् असंख्यातप्रदेशी स्कन्धों को

नहीं। भाषा के द्रव्य वज्रसंस्थान से संस्थित और वर्ण-गंध-रस-स्पर्शयुक्त होते हैं। इनका प्रभव (उद्भव) शरीर से होता है। इनका खंड, प्रवर आदि पांच प्रकार से भेद होता है।

एकेन्द्रिय जीव और सिद्ध अभाषक होते हैं, शेष जीव भाषक और अभाषक—दोनों प्रकार के होते हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव व्यवहार भाषा बोलते हैं, शेष जीव सत्य आदि चारों प्रकार की भाषा बोल सकते हैं। सत्यभाषा के रूप में गृहीत द्रव्यों का निसर्ग भी सत्य भाषा के रूप में ही होता है। देखें—पन्नवणापद ११)।

**भाषापर्याप्ति**—भाषा के योग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणामन और उत्सर्ग करने वाली पौद्गलिक शक्ति। (द्र. पर्याप्ति)

**भाषासमिति**—भाषा का सम्यक् प्रयोग।

#### १. भाषासमिति की परिभाषा

#### २. भाषा के प्रकार

#### ३. मुनि के लिए विहित भाषा

#### ४. मुनि के लिए निषिद्ध भाषा

#### ५. भाषा सम्बन्धी विधि-निषेध

- संबोधन
- ऋय-विक्रय
- प्रकृति
- वनस्पति
- निश्चयकारिणी

#### ६. भाषा के आठ वर्जनीय स्थान

#### ७. भाषा चपल के प्रकार

#### ८. वाक्यशुद्धि की निष्पत्ति

\* भाषा : समिति का एक भेद (द्र. समिति)

\* सत्य आदि चार भाषाओं के प्रकार (द्र. भाषा)

### १. भाषासमिति की परिभाषा

भाषासमितिनम हितमितासन्दिग्धार्थभाषणम् ।

(आवहावृ २ पृ ८४)

बोलते समय हित, परिमित और असंदिग्ध वाक्यों का प्रयोग करना भाषा समिति है।

### २. भाषा के प्रकार

सच्चं सच्चामोसं, मोसं च असच्चमोसं च ॥

(आवनि ९)

भाषा के चार प्रकार हैं—

- |          |              |
|----------|--------------|
| १. सत्य  | ३. मिश्र     |
| २. असत्य | ४. व्यवहार । |

भासा—सच्चा, असच्चा मोसा य । अभासा—  
मोसा, सच्चा मोसा य । (नन्दीचू पृ ६१)

सत्य वचन और व्यवहार वचन को भाषा कहा गया है । असत्यवचन और मिश्रवचन को अभाषा कहा गया है ।

### ३. मुनि के लिए विहित भाषा

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं ।  
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सब्बसो ॥

जं भात्तमाणो धम्मं णात्तिकमइ, एसो विणयो  
भण्णइ । (द ७११ जिचू पृ २४४)

प्रज्ञावान् मुनि चारों भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय—भाषा का शुद्ध प्रयोग सीखे और दो सर्वथा न बोले ।

यहां विनय का अर्थ है—मुनिधर्म का अतिक्रमण न करने वाली भाषा ।

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकककसं ।  
समुप्पेहमसदिद्धं, गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥

(द ७१३)

प्रज्ञावान् मुनि व्यवहार भाषा और सत्य भाषा जो अनवद्य, मृदु और सन्देहरहित हो, उसे सोच-विचारकर बोले ।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं वियं जियं ।  
अयपिरमणुन्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥

(द ८४८)

आत्मवान् दूष्ट, परिमित, असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण, व्यक्त, परिचित, वाचालता-रहित और भय-रहित भाषा बोले ।

### ४. मुनि के लिए निषिद्ध भाषा

जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चा मोसा य जा मुसा ।  
जा य बुद्धेहिण्णाइत्ता, न तं भासेज्ज पन्नवं ॥

(द ७१२)

जो अवक्तव्य सत्य, सत्यमृषा (मिश्र), मृषा और वह व्यवहार भाषा जो बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हो, उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले ।

एयं च अट्टमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं ।  
स भासं सच्चमोसं पि, तं पि धीरो विवज्जए ॥  
वितहं पि तहामुत्ति, जं गिरं भासए नरो ।  
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, कि पुण जो मुसं वए ॥

(द ७१४,५)

धीर पुरुष उस अनुज्ञात व्यवहार भाषा को भी न बोले जो अपने आशय को 'यह अर्थ है या दूसरा'—इस प्रकार संदिग्ध बना देती है ।

जो पुरुष सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है (पुरुष वेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है) उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा बोले ?

तहेव फहसा भासा, गुहभूओवधाइणी ।

सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।

वाहियं वा वि रोमे त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥

(द ७११,१२)

मुनि पुरुष और महान् भूतोपघात करनेवाली सत्य भाषा भी न बोले, क्योंकि इससे पापकर्म का बंध होता है । इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे ।

अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पेज्ज वा परो ।

सब्बसो तं न भासेज्जा, भासं अहियणामिणि ॥

(द ८४७)

जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो—ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा न बोले ।

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,

ओहारिणी जा य परोवधाइणी ।

से कोह लोह भयसा व माणवो,

न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥

(द ७१५४)

मुनि सावच्च का अनुमोदन करने वाली, अवधारिणी (संदिग्ध अर्थ के विषय में असंदिग्ध) और पर-उपघात-कारिणी भाषा क्रोध, नोभ, भय, मान या हास्यवश न बोले ।

### गृहस्थ संबंधी

तहेवासंजयं धीरो, आस एहि करेहि वा ।

सय चिट्ठ वयाहि त्ति, नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

(द ७१४७)

धीर और प्रज्ञावान् मुनि असंयति (गृहस्थ) को बैठ, इधर आ, (अमुक कार्य) कर, सो, ठहर या खड़ा हो जा, चला जा—इस प्रकार न कहे।

### स्वप्नफल आदि संबंधी

नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंत भेसजं ।

गिहिणो तं न आइक्खे, भूयाहिरणं पयं ॥

(द ८।५०)

नक्षत्र, स्वप्नफल, वशीकरण, निमित्त, मंत्र और भेषज—ये जीवों की हिंसा के स्थान हैं, इसलिए मुनि गृहस्थों को इनके फलाफल न बताए।

### जय-पराजय संबंधी

देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे ।

अमुयाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥

(द ७।५०)

देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों (पशु-पक्षियों) का आपस में विग्रह होने पर अमुक की विजय हो अथवा अमुक की विजय न हो—इस प्रकार न कहे।

### ५. भाषा संबंधी विधि-निषेध

बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छइ ।

न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥

(द ८।२०)

कानों से बहुत सुनता है, आंखों से बहुत देखता है, किन्तु सब देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिए उचित नहीं।

तद्देव संखंडि नच्चा, किच्चं कज्जं त्ति नो वए ।

तेणमं वा वि वज्जे त्ति, सुत्तित्थ त्ति य आवगा ॥

संखंडि संखंडि बूया, पणियट्ठ त्ति तेणमं ।

बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं वियागरे ॥

(द ७।३६, ३७)

संखड़ी (जीमनवार) और कृत्य—मृत्युभोज को जानकर—ये करणीय है, चोर मारने योग्य है और नदी अच्छे घाट वाली है—मुनि इस प्रकार न कहे।

(प्रयोजनवश कहना हो तो) संखड़ी को संखड़ी, चोर को पणितार्थ (धन के लिए जीवन की बाजी लगाने वाला) और नदी के घाट प्रायः सम हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है।

### संबोधन

अज्जए पज्जए वा वि, वप्पो चुत्तपिउ त्ति य ।

माउला भाइणेज्ज त्ति, पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥

हे हो हले त्ति अन्ने त्ति, भट्टा सामिय गोमिए ।

होल गोल वसुले त्ति, पुरिसं नेवमालवे ॥

नामधेज्जेण णं बूया पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।

जहारिहमभिगिज्जम आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥

(द ७।१८-२०)

हे आर्यक !, (हे दादा !, हे नाना !) हे प्रार्थक ! (हे परदादा !, हे परनाना !) हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोता !, हे हल !, हे अन्न !, हे भट्ट !, हे स्वामिन् !, हे गोमिन् !, होल !, हे गोल !, हे वृषल !—इस प्रकार पुरुष को आमंत्रित न करे। किन्तु (प्रयोजनवश) यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमंत्रित करे।

पंचिदियाण पाणाणं, एस इत्थी अयं पुमं ।

जाव णं न विजाणेज्जा, ताव जाइ त्ति आलवे ॥

(द ७।२१)

पंचेन्द्रिय तिर्यच प्राणियों के बारे में जब तक—यह स्त्री है या पुरुष—ऐसा न जान जाए तब तक गाय की जाति, घोड़े की जाति—इस प्रकार बोले।

### ऋय-विक्रय

सव्वुककसं परग्घं वा, अउलं नत्थि एरिसं ।

अचक्कियमवत्तव्वं, अचित्तं चैव नो वए ॥

सुक्कीयं वा सुविककीयं अकेज्जं केज्जमेव वा ।

इमं गेण्ह इमं मुंच पणियं नो वियागरे ॥

अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए वा विक्कए वि वा ।

पणियट्ठे समुप्पन्ने, अणवज्जं वियागरे ॥

(द ७।४३, ४५, ४६)

(ऋय-विक्रय के प्रसंग में) यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह तुलनारहित है, इसके समान दूसरी वस्तु कोई नहीं है, इसका मोल करना शक्य नहीं है, इसकी विशेषता नहीं कही जा सकती, यह अचिन्त्य है—इस प्रकार न कहे।

पण्य वस्तु के बारे में (यह माल) अच्छा खरीदा (बहुत सस्ता आया), (यह माल) अच्छा बेचा (बहुत

नफा हुआ), यह बेचने योग्य नहीं है, यह बेचने योग्य है, इस माल को ले (यह महंगा होने वाला है), इस माल को बेच डाल (यह सस्ता होने वाला है)—इस प्रकार न कहे।

अल्पमूल्य या बहुमूल्य माल ले लेने या बेचने के प्रसंग में मुनि अनवद्य वचन बोले—ऋय विक्रय से विरत मुनियों का इस विषय में कोई अधिकार नहीं है—इस प्रकार कहे।

### प्रकृति

तहा नईओ पुष्पाओ, कायतिज्ज त्ति नो वए ।

नावाहि तारिमाओ त्ति, पाणिपेज्ज त्ति नो वए ॥

बहुवाहडा अमाहा, बहुसल्लिखुप्पिलोदगा ।

बहु वित्थडोदगा यावि, एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

(द ७।३८, ३९)

नदियां भरी हुई हैं, शरीर के द्वारा पार करने योग्य हैं, नौका के द्वारा पार करने योग्य हैं और तट पर बैठे हुए प्राणी उनका जल पी सकते हैं—मुनि इस प्रकार न कहे। (प्रयोजनवश कहना हो तो) नदियां प्रायः भरी हुई हैं, प्रायः अमाध हैं, बहु-सलिला हैं, दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है, बहुत विस्तीर्ण जल वाली हैं—प्रज्ञावान् भिक्षु इस प्रकार कहे।

वाओ वुट्ठं व सीउण्हं, खेमं धायं सिवं ति वा ।

कया णुं होज्ज एयाणि, मा वा होउ त्ति नो वए ॥

(द ७।५१)

वायु, वर्षा, सर्दी, गर्मी, क्षेम, सुभिक्ष और शिव, ये कब होंगे—ऐसा पूछे जाने पर मुनि कुछ न कहे तथा ये न हों तो अच्छा रहे—इस प्रकार न कहे।

तहेव मेहं व नहं व माणवं,

न देव देव त्ति गिरं वएज्जा ।

सम्मूच्छिए उन्नए वा पओए,

वएज्ज वा वुट्ठ बलाहए त्ति ॥

अंतलिक्षे त्ति णं ब्रूया, गुज्झाणुचरिय त्ति य ।

रिद्धिमंतं नरं दिस्सा, रिद्धिमंतं ति आलवे ॥

(द ७।५२, ५३)

मेघ, नभ और मानव के लिए 'ये देव हैं'—ऐसी वाणी न बोले। पयोधर सम्मूच्छित हो रहा है—उमड़ रहा है, अथवा उन्नत हो रहा है—भुक रहा है, अथवा मेघ बरस पड़ा है—मुनि इस प्रकार बोले। मेघ और नभ को अंतरिक्ष अथवा गुह्यानुचरित कहे। ऋद्धिसम्पन्न

व्यक्ति को देखकर 'यह ऋद्धिमान् पुरुष है'—ऐसा कहे।  
वनस्पति

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि य ।

स्ख्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

आसणं सयणं जाणं, होज्जा वा किंचुवस्सए ।

भूओवघाईणि भासं, नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

जाइमंता इमे स्ख्खा, दीहवट्टा महालया ।

पयाथसाला विडिमा, वए दरिसणि त्ति य ॥

(द ७।२६, २९, ३१)

उद्यान, पर्वत और वन में जा वहां बड़े वृक्षों को देख प्रज्ञावान् मुनि भूतोपघातिनी भाषा न बोले। जैसे—इन वृक्षों में आसन, शयन, यान और उपाश्रय के उपयुक्त कुछ काष्ठ है।

प्रयोजनवश कहना हो तो प्रज्ञावान् भिक्षु यों कहे—ये वृक्ष उत्तम जाति के हैं, लम्बे हैं, गोल हैं, बहुत विस्तार वाले अथवा स्कन्धयुक्त हैं, शाखा-प्रशाखा वाले हैं, दर्शनीय हैं।

तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइं नो वए ।

वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइ त्ति नो वए ॥

असंथडा इमे अवा, बहुनिवट्टिमा फला ।

वएज्ज बहुसंभूया, भूयरूव त्ति वा पुणे ॥

(द ७।३२, ३३)

ये फल पक्व हैं, पकाकर खाने योग्य हैं, (तथा ये फल) वेलोचित (अविलम्ब तोड़ने योग्य) हैं, इनमें गुठली नहीं पड़ी है, ये दो टुकड़े करने योग्य हैं (फांक करने योग्य हैं)—इस प्रकार न कहे। (प्रयोजनवश कहना हो तो) ये आम्र-वृक्ष अब फल धारण करने में असमर्थ हैं, बहुनिर्वर्तित (प्रायः सम्पन्न) फल वाले हैं, बहु-संभूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फल वाले) हैं अथवा भूतरूप (कोमल) हैं—मुनि इस प्रकार कहे।

तहेवोसहीओ पक्काओ, नीलियाओ छवीइय ।

लाइमा भज्जिमाओ त्ति, पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥

रूढा बहुसंभूया, थिरा ऊसडा वि य ।

गब्भियाओ पसूयाओ, ससाराओ त्ति आलवे ॥

(द ७।३४, ३५)

औषधियां पक गई हैं, अपक्व हैं, छवि (फली) वाली हैं, काटने योग्य हैं, भूनने योग्य हैं, चिड़वा बनाकर खाने योग्य हैं—मुनि इस प्रकार न बोले।

(प्रयोजनवश बोलना हो तो) औषधियां अंकुरित हैं, निष्पन्न प्रायः हैं, स्थिर हैं, ऊपर उठ गई हैं, भुट्टों से रहित हैं, भुट्टों से सहित हैं, धान्य-कण सहित हैं—इस प्रकार बोले ।

### निश्चयकारिणी

तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सई ।  
अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सई ॥  
एवमाई उ जा भासा, एसकालम्मि संकिया ।  
संपयाईयमट्ठे वा, तं पि धीरो विवज्जए ॥

(द ७६,७)

‘हम जाएंगे’, ‘कहेंगे’, ‘हमारा अमुक कार्य हो जाएगा’, ‘मैं यह करूंगा’ अथवा ‘यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा’—यह और इस प्रकार की दूसरी भाषा जो भविष्य-सम्बन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शक्ति हो अथवा वर्तमान और अतीतकाल संबंधी अर्थ के बारे में शक्ति हो, उसे भी धीरे पुरुष न बोले ।

अईधम्मि य कालम्मि, षच्चुप्पन्नमणामए ।

जमट्ठं तु न जाणेज्जा, एवमेयं ति नो वए ॥

....जस्य संका भवे तं तु, एवमेयं ति नो वए ॥

....निस्संकियं भवे जं तु, एवमेयं ति निहिसे ॥

(द ७६-१०)

अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जिस अर्थ को (सन्मक् प्रकार से) न जाने, जिस अर्थ में शंका हो, उसे ‘यह इस प्रकार ही है’—ऐसा न कहे; बल्कि जो अर्थ निःशक्ति हो (उसके बारे में) ‘यह इस प्रकार ही है’—ऐसा कहे ।

### ६. भाषा के आठ वर्जनीय स्थान

कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया ।

हामे भए मोहरिए, विगहासु तहेव च ॥

एपाई अट्टु ठाणाई, परिवज्जिच्चु संजए ।

अमव्वज्जं मियं काले, भासं भासेज्ज पन्नवं ॥

(उ २४१,१०)

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विक्रथा—इन आठ स्थानों का वर्जन कर प्रज्ञावान् मुनि यथासमय निरवद्य और परिमित वचन बोले ।

### ७. भाषा चपल के प्रकार

भासाचवलो चउव्विहो, तं जहा—असप्पलावी असम्भप्पलावी असमिक्खपलावी अदेसकालप्पलावी । तत्थ असप्पलावी नाम जो असंतं उल्लावेति । असम्भप्पलावी जो असम्भं उल्लावेति । खरफहसअक्कोसादि असम्भं । असमिक्खिक्खपलावी असमिक्खिउं उल्लावेति । जं से मुहातो एति तं उल्लावेति । अदेसकालपलावी जाहे किंचि कज्जं अतीतं ताहे भणति—जति पकरेंति सुंदरं होतं, मए पुव्वं चैव चितितेल्लयं । (उचू पृ १९७)

भाषाचपल के चार प्रकार हैं—

१. असत् प्रलापी—जो असत्य प्रलाप करता है ।
२. असध्य प्रलापी—जो अशिष्ट, कठोर, रूखे और आक्रोश भरे वचन बोलता है ।
३. असमीक्ष्यप्रलापी—जो हित-अहित की समीक्षा किए बिना बोलता है । जैसा मन में आता है, वैसा ही अटसट बोलता है ।
४. अदेशकालप्रलापी—जब कोई कार्य हो चुकता है—तब कहता है—यदि इसे ऐसे किया जाता तो अच्छा होता । मैंने पहले ही सोच लिया था ।

### ८. वाक्यशुद्धि की निष्पत्ति

जं वक्कं वदमाणस्स संजमो मुज्झई न पुण हिंसा ।

न य अत्तकलुसभावो तेण इहं वक्कसुद्धिं ति ॥

(दिनि १९०)

जिन वाक्यों को बोलने से संयम की विशुद्धि, अहिंसा की आराधना और भावधारा की पवित्रता होती है, वैसे वाक्यों का प्रस्तुत अध्ययन में विवेचन है और यही वाक्यशुद्धि है ।

वयणविभत्तिअकुसलो अयोगतं बहुविधं अजाणंतो ।

जति वि ण भासति किंची न चैव वतिगुत्तयं पत्तो ॥

वयणविभत्तिकुसलो वयोगतं बहुविधं वियाणंतो ।

दिवसमवि भासमाणो अभासमाणो व वड्ढुत्तो ॥

(दिनि १९२,१९३)

जो वचनविभक्ति/भाषा के प्रयोग में अकुशल है और भाषा के विविध प्रकारों को नहीं जानता, वह यदि किंचित् भी नहीं बोलता है, तब भी वचनगुप्त नहीं है ।

जो वाणी के प्रयोग में कुशल है और उसके अनेक भेदों को जानता है, वह दिनभर बोलता हुआ भी वचन-गुप्त है ।

सबकसुद्धि समुपेहिया मुणी,  
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।  
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,  
सयाण मज्जे लहई पसंसणं ॥

(द ७।१५)

मुनि वाक्यशुद्धि को भलीभांति समझकर दोषयुक्त वाणी का प्रयोग न करे। मित और दोषरहित वाणी सोच-विचारकर बोलने वाला साधु सत्पुरुषों में प्रशंसा को प्राप्त होता है।

पुंवि बुद्धिए पासित्ता ततो वकमुदाहरे ।  
अचक्खुओ व भेतारं बुद्धिमण्णोउ ते गिरा ॥

(दनि १९४)

पहले बुद्धि से विमर्श कर बोलना चाहिए। वाणी बुद्धि का वैसे ही अनुगमन करे जैसे अन्धा आदमी अपने नेता का अनुगमन करता है।

“अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

(द ७।४४)

सब प्रसंगों में पूर्वोक्त सब वचन-विधियों का अनुचिन्तन कर प्रज्ञावान् मुनि इस प्रकार बोलें कि कर्मबन्ध न हो।

**भिक्षाचर्या**—विविध अभिग्रहों के द्वारा वृत्ति (चर्या) को संक्षिप्त करना ।

- |                              |               |
|------------------------------|---------------|
| १. भिक्षाचर्या के अंग        |               |
| २. गोचराय का अर्थ            |               |
| ० प्रकार                     |               |
| * गोचराय : क्षेत्र ऊनोदरी    | (द्र. ऊनोदरी) |
| * एषणा का अर्थ               | (द्र. एषणा)   |
| ३. सात प्रकार की एषणा        |               |
| ४. अभिग्रह के प्रकार         |               |
| * भिक्षाचर्या : तप का एक भेद | (द्र. तप)     |

### १. भिक्षाचर्या के अंग

अट्टविहगोयरगं तु, तथा सत्तेव एषणा ।  
अभिग्रहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥

(उ ३०।२५)

आठ प्रकार के गोचराय तथा सात प्रकार की एषणा और जो अन्य अभिग्रह हैं, उन्हें भिक्षाचर्या कहा जाता है।

### २. गोचराय का अर्थ

गोचरो नाम भ्रमणं...जहा गावीओ सद्दाविसु विस-  
एसु असज्जमाणीओ आहारमाहारंति,“एवं साधुणावि  
विसएसु असज्जमाणेण समुदाणे उग्गमउप्पायणासुद्धे  
निवेशियबुद्धिणा अरत्तदुट्ठेण भिक्खा हिडियव्वत्ति ।”  
अग्गं नाम पहाणं भण्णइ, सो य गोयरो साहूणमेव पहाणो  
भवत्ति, न उ चरगाईणं आहाकम्मद्वेसियाइभुंजगणंति ।

गोरिव चरणं गोचरः—उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरत्त-  
द्विट्ठस्य भिक्षाटनम् ।

(दजिचू पृ १६७, १६८, हावू प १६३)

गोचर शब्द का अर्थ है भ्रमण अथवा गाय की तरह चरना—भिक्षाटन करना। जिस प्रकार गाय शब्द आदि विषयों में गृह्य नहीं होती हुई आहार ग्रहण करती है उसी प्रकार साधु भी आसक्त न होते हुए सामुदायिक रूप से उद्गम, उत्पाद और एषणा के दोषों से रहित भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं। मुनि सद्दोष आहार को वर्ज्य निर्दोष आहार लेते हैं, इसलिए उनकी भिक्षाचर्या साधारण गोचर्या से विशिष्ट होती है अतः गोचर के बाद ‘अग्र’ शब्द का प्रयोग किया गया है।

### प्रकार

पेटा व अद्धपेटा, गोमुत्तिय पयंगवीहिया चैव ।

संबुकावट्टायय-गंतुपच्चागया छट्ठा ॥

(उ ३०।१९)

१. पेटा २. अर्धपेटा ३. गोमूत्रिका ४. पतंग-वीथिका  
५. शम्बूकावर्त्ता (१. आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्ता और २. बाह्य शम्बूकावर्त्ता) ६. आयतं गत्वा-प्रत्यागता ।  
शम्बूकावर्त्ता के उक्त दोनों प्रकारों को मानने पर तथा आयत को गत्वा-प्रत्यागता से पृथक् मानने पर गोचराय के आठ प्रकार बनते हैं ।

पेटा पेटिका इव चउकोणा । अद्धपेटा इमीए चैव  
अद्धसंठिया घरपरिवाडी । गोमुत्तिया वंकावलिया ।  
पयंगवीही अणियया पयंगुड्डाणसरिसा । शम्बूकः—  
शङ्खस्तस्यावर्त्तः शम्बूकावर्त्तस्तद्दावर्त्तो यस्यां सा  
शम्बूकावर्त्ता । सा च द्विविधा—यतः सम्प्रदायः—  
“अभिन्तरसंबुक्का बाहिरसंबुक्का य, तत्थ अभिन्तर-  
संबुक्काए संखनाभिखेतोवमाए आगिइए अंतो आडवत्ति  
बाहिरओ संणियट्टइ, इयरीए विवज्जओ ।” आयतं—  
दीर्घं प्राञ्जलमित्यर्थः । तथा च सम्प्रदायः—“तत्थ  
उज्जुयं गंतूण नियट्टइ ।” (उशावू प ६०५)



१. पेटा—पेटा की भांति चतुष्कोण घूमते हुए (बीच के घरों को छोड़ चारों दिशाओं में समश्रेणि में स्थित घरों में जाते हुए) मुझे भिक्षा मिले तो लूं अन्यथा नहीं—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम पेटा है।

२. अर्द्धपेटा—अर्द्धपेटा की भांति द्विकोण घूमते हुए (दो दिशाओं में स्थित गृह-श्रेणि में जाते हुए) मुझे भिक्षा मिले तो लूं अन्यथा नहीं—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम अर्द्धपेटा है।

३. गो-मूत्रिका—गो-मूत्रिका की तरह बल खाते हुए (बाएं पार्श्व के घरों से दाएं पार्श्व के घरों और दाएं पार्श्व से बाएं पार्श्व के घरों में जाते हुए) मुझे भिक्षा मिले तो लूं अन्यथा नहीं—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम गो-मूत्रिका है।

४. पतंगवीथिका—पतंगा जैसे अनियत क्रम से उड़ता है, वैसे अनियत क्रम से मुझे भिक्षा मिले तो लूं अन्यथा नहीं—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम पतंगवीथिका है।

५. शम्बूकावर्त्ता—शंख के आवर्त्तों की तरह भिक्षाटन करने को शम्बूकावर्त्ता कहा जाता है। इसके दो प्रकार हैं—आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्ता और बाह्य शम्बूकावर्त्ता। शंख के नाभि-क्षेत्र से प्रारम्भ होकर बाहर आने वाले आवर्त्त की भांति गांव के भीतरी भाग से भिक्षाटन करते हुए बाहरी भाग में आने को 'आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्ता' कहा जाता है। बाहर से भीतर जाने वाले शंख के आवर्त्त की भांति गांव के बाहरी भाग से भिक्षाटन करते हुए भीतरी भाग में आने को 'बाह्य शम्बूकावर्त्ता' कहा जाता है।

६. आयत गत्वा-प्रत्यागता—सीधी सरल गली के अन्तिम घर तक आकर वापिस आते हुए भिक्षा लेने का नाम आयत गत्वा-प्रत्यागता है।

### ३. सात प्रकार की एषणा

संसट्टमसंसट्टा उद्धड तह अप्पलेवडा चेव ।

उग्गहिंथा पग्गहिंथा उज्झिन्धयधम्मा य सत्तमिया ।

(उणावृ ६०७)

एषणा के सात प्रकार हैं—

१. संसृष्टा—खाद्य वस्तुओं से लिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।
२. असंसृष्टा—भोजन-जात से अलिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

३. उद्धृता—अपने प्रयोजन के लिए रांधने के पात्र से दूसरे पात्र में निकला हुआ आहार लेना।

४. अल्पलेपा—अल्पलेप वाली अर्थात् चना, चिउड़ा आदि रूखी वस्तु लेना।

५. अवगृहीता—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

६. प्रगृहीता—परोसने के लिए कड़खी या चम्मच से निकाला हुआ आहार लेना।

७. उज्झितधर्मा—जो भोजन अमनोज होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना।

### ४. अभिग्रह के प्रकार

अभिग्रहाश्च द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयाः । तत्र द्रव्या-भिग्रहाः—कुन्तायादिसंस्थितमण्डकखण्डादि ग्रहीष्य इत्यादयः । क्षेत्राभिग्रहाः—देहलीजङ्घयोरन्तर्विधाय यदि दास्यति ततो ग्राह्यमित्यादयः । कालाभिग्रहाः—सकल-भिक्षाचरनिवर्त्तनावसरे मया पर्यटितव्यमित्यादयः । भावाभिग्रहास्तु—हसन् रुदन् बद्धो वा यदि प्रतिलाभ-यिष्यति ततोऽहमादास्ये न त्वन्यथेत्येवमादयः ।

(उणावृ प ६०७)

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव संबंधी विविध अभिग्रहों से वृत्ति का संक्षेप किया जाता है।

- ० द्रव्य-अभिग्रह—कुन्त के अग्रभाग आदि पर संस्थित रोटी आदि लूंगा।
- ० क्षेत्र-अभिग्रह—दाता का एक पैर देहली के भीतर और एक पैर देहली के बाहर होगा तो भिक्षा लूंगा।
- ० काल-अभिग्रह—सब भिक्षाचरों के लौटने के समय भिक्षा के लिए जाऊंगा।
- ० भाव-अभिग्रह—दाता हंसता हुआ, रोता हुआ या बद्ध अवस्था में देगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं।

भिक्षु—भिक्षाशील, साधु।

....भेत्तव्वं ।

अट्टविधं कम्मखुहं, तेण गिरुत्तं स भिक्खु त्ति ॥

जं भिक्खमेतवित्ती तेण व भिक्खू....।

(दनि २४१, २४३)

जो आठ प्रकार के कर्मों का भेदन करने में संलग्न है, वह भिक्षु है।

जिसकी आजीविका का साधन केवल भिक्षा ही है, वह भिक्षु है।

## द्रव्य भिक्षु

निच्छादिद्वी तस-श्रावराण पुढवादि-बेदियादीणं ।  
णिच्चं वधकरणरता अबंभचारी य संचइया ॥  
दुपय-चतुप्पय-धण-धण-कुविय

तिग-तिगपरिगहे निरता ।

सच्चित्तभोति पयमाणगा य उद्दिह्भोती य ॥  
करणतिए जोगतिए सावज्जे आयहेतु पर उभए ।  
अट्टा-ण्णदुपवत्ते ते विज्जा दव्वभिक्षू त्ति ॥

(दिन २३७-२३९)

जो मांगकर तो खाता है पर मिथ्यादृष्टि है, बस-  
स्थावर जीवों का नित्य वध करने में रत है, अन्नहा-  
चारी है, संचय करने वाला है, परिग्रह में मन, वचन,  
काया और कृत, कारित, अनुमोदन रूप से निरत—  
आसक्त है, सच्चित्तभोजी है, स्वयं पकाने वाला है,  
उद्दिष्टभोजी है, तीन करण और तीन योग से स्व और  
पर के लिए सावध प्रवृत्ति करता है तथा अर्थ-अनर्थ पाप  
में प्रवृत्त है, वह द्रव्य भिक्षु है ।

दव्वभिक्षू दुविहो, तं जहा—आगमतो णोआगमतो  
य । आगमतो जाणते अणुवउत्ते । णोआगमतो तिविहो,  
तं जहा—जाणगसरीरदव्वभिक्षू भवियसरीरदव्वभिक्षू  
जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्तो दव्वभिक्षू । जाणग-  
सरीरभवियसरीरवतिरित्तो दव्वभिक्षू तिविहो, तं जहा—  
एगभवियो बद्धाउओ अभिमुहणामगोतो । जो अणंतरं  
उव्वट्टिऊणं भिक्षू भविस्सति सो एगभवियो । भिक्षूसु  
जेण आउयं निबद्धं सो बद्धाउओ । जेण पदेसा तिच्छूढा  
सो अभिमुहणामगोतो । (दअचू पृ २३१)

द्रव्यभिक्षु के दो प्रकार हैं—

१. आगमतः—भिक्षु शब्द के अर्थ का ज्ञाता किन्तु अनुपयुक्त ।
२. नोआगमतः—इसके तीन भेद हैं—जज्ञरीर, भव्य-  
शरीर और तद् व्यतिरिक्त । तद्व्यतिरिक्त के तीन  
प्रकार हैं—  
१. एकभक्क—जो इस विवक्षित वर्तमान भव के  
पश्चात् अगले जन्म में भिक्षु होगा ।  
२. बद्धायुक्क—जिसने वर्तमान में भिक्षुभव का आयुष्य  
बांध लिया है ।  
३. अभिमुखनामगोत्र—भावी जन्म की अत्यंत निकटता ।  
जब तक पंचेन्द्रिय जाति आदि कर्म उदय में नहीं  
आते, अन्तर्मुहूर्त पश्चात् अवश्य उदय में आयेंगे, वह  
अभिमुखनामगोत्र है ।

## भावभिक्षु

संवेगो निव्वेगो विसयविरागो सुसीलसंसग्गी ।  
आराधणा तवो णाण दंसण चरित्त विणओ य ॥  
खंती य मद्दवज्जव विमत्तया

तह अदीणय तित्तिक्खा ।

आवस्सगपरिसुद्धो य हेतंति भिक्खुस्स लिगाणि ॥

(दिन २४७, २४८)

संवेग, निर्वेद, विषय-त्याग, सुशील-संसर्ग, आरा-  
धना, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विनय, क्षांति, मार्दव,  
आर्जव, विमुक्तता, अदीनता, तित्तिका, आवश्यकशुद्धि—  
ये भिक्षु के लिंग हैं ।

## भिक्षु की जात्यस्वर्ण की उपमा

विसघाति रसायण मंगलत्त विणिए पयाहिणावत्ते ।  
गुरुए अडज्जकुच्छे अट्ट सुवण्णे गुणा भणिता ॥  
चतुकारणपरिसुद्धं कस-छेदण-ताव-तालणाए य ।  
जं तं विसघाति-रसायणादि गुणसंजुतं होति ॥  
तं कसिणगुणोवेतं होति सुवण्णं, सेसयं जुत्ती ।  
न य नाम-रूवमत्तेण एवमगुणो भवति भिक्षू ॥

(दिन २५०-२५२)

- ० विष की घात करने वाला, रसायन, मांगलिक,  
विनयी—लचीला, दक्षिणावर्त्त, भारी, न जलने-  
वाला, काटरहित—इन आठ गुणों से युक्त स्वर्ण ही  
असली स्वर्ण होता है ।
- ० जो कष, छेद, ताप और ताडन—इन चार परी-  
क्षाओं में विषघाती आदि गुणों से संयुक्त ठहरता है,  
वह भाव सुवर्ण—असली सुवर्ण है ।
- ० जिसमें सोने की युक्ति—रंग आदि होते हैं, जो नाम  
और रूप से तो जात्य स्वर्ण के सदृश है, किन्तु जो  
कसौटी पर अन्य गुणों से खरा नहीं उतरता, वह  
यौगिक स्वर्ण स्वर्ण नहीं होता । इसी प्रकार जो  
केवल नाम और वेष से भिक्षु है, किन्तु भिक्षु के  
गुणों से संयुक्त नहीं है, वह सच्चा भिक्षु नहीं है ।  
भावभिक्षु की जीवन चर्या (द्र. भमण) ।

## भूतिप्रज्ञ—सत्यप्रज्ञ, प्रचुर प्रज्ञावान् ।

भूतिर्मङ्गलं वृद्धी रक्षा चेति वृद्धाः । प्रज्ञायतेऽनया  
वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा । ततश्च भूतिः—मङ्गलं सर्वमंगलो-  
त्तमत्वेन वृद्धिर्वा विद्धि विशिष्टत्वेन रक्षा वा प्राणिरक्ष-  
कत्वेन प्रज्ञा—बुद्धिरस्येति भूतिप्रज्ञः । (उशावृ प ३६८)

भूति के तीन अर्थ हैं—मंगल, वृद्धि और रक्षा ।  
जिससे यथार्थ—सत्य जाना जाता है वह प्रज्ञा है ।  
भूतिप्रज्ञ के तीन अर्थ हैं—

- ० जिसकी प्रज्ञा मंगलमय होती है ।
- ० जिसकी प्रज्ञा प्रवृद्ध होती है ।
- ० जिसकी प्रज्ञा सब जीवों की रक्षा में प्रवृत्त होती है ।

**मंगल - कल्याण, विघ्नविनयन ।**

१. मंगल का निर्वचन

२. मंगल के निक्षेप

३. नाममंगल स्थापनामंगल

४. द्रव्यमंगल के भेद

० आगमतः द्रव्य मंगल

० नोआगमतः द्रव्य मंगल

५. तद्द्रव्यतिरिक्त : एकभक्तिक आदि भेद

६. भावमंगल

० उत्कृष्ट मंगल

७. द्रव्यमंगल और भावमंगल में अन्तर

८. मंगल का प्रयोजन

\* कायोत्सर्ग से अमंगल निवारण (द्र. कायोत्सर्ग)

\* प्रथम मंगल (द्र. नमस्कार महामंत्र)

## १. मंगल का निर्वचन

ममिज्जएऽधिगम्मइ जेण हिअं तेष मंगलं होइ ।

अहवा मंगो धम्मो तं लाइ तयं समादत्ते ॥

मं गालयइ भवाओ मंगलं ... (विभा २२, २४)

- ० जिसके द्वारा हित साधा जाता है, वह मंगल है ।
- ० जो मंग -धर्म को लाता है, वह मंगल -धर्म के उपादान का हेतु है ।
- ० जो भव—जन्म-मरण को नष्ट कर देता है, वह मंगल है ।

मङ्क्यतेऽलंक्रियते शास्त्रमनेनेति मंगलम् । मन्यते  
ज्ञायते निष्चीयते विघ्नाभावोऽनेन । माद्यन्ति ह्यव्यन्ति  
मदमनुभवन्ति । शेरते विघ्नाभावेन निष्प्रकम्पतया सुप्ता  
इव जायन्ते । शास्त्रस्य पारं गच्छन्त्यनेनेति । मह्यन्ते  
पूज्यन्तेऽनेनेति मङ्गलम् । (विभामवृ पृ २०)

- ० जो शास्त्र को अलंकृत करता है, वह मंगल है ।

० जिसके द्वारा विघ्न का अभाव जाना जाता है, वह मंगल है ।

० जिससे प्रसन्नता की अनुभूति होती है, वह मंगल है ।

० जिससे निश्चितता की अनुभूति होती है, वह मंगल है ।

० जिससे शास्त्र का सुगमता से पार पाया जाता है, वह मंगल है ।

० जिससे लोक में पूजा प्राप्त होती है, वह मंगल है ।

मथ्नाति विनाशयति शास्त्रपारगमनविघ्नान्, गमयति  
शास्त्रस्यैर्यं, लालयति च तदेव शिष्यप्रशिष्यपरम्पराया-  
मिति मङ्गलम् । यद्वा मन्यन्ते अनापायसिद्धि, गायन्ति  
प्रबन्धप्रतिष्ठिति, लान्ति वाऽव्यवच्छिन्नसन्तानाः शिष्य-  
प्रशिष्यादयः शास्त्रमस्मिन्निति मङ्गलम् । (उशावृ प २)

'म' का अर्थ है—मथन, शास्त्राध्ययन में आने वाले  
विघ्नों का अपनयन । 'ग' का अर्थ है—गमन (प्राप्ति),  
शास्त्र का स्थिरीकरण अथवा शास्त्राभ्यास में स्थिरी-  
करण । 'ल' का अर्थ है—लालन, शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा  
की अव्यवच्छिन्ति । अथवा

'म' का अर्थ है—अनपाय—निर्बाध—सिद्धि की  
स्वीकृति । 'ग' का अर्थ है—प्रबन्ध को प्रतिष्ठित करने  
का संकल्प । 'ल' का अर्थ है—अविच्छिन्न शिष्यपरम्परा  
की प्राप्ति ।

## २. मंगल के निक्षेप

...नामाइ चउच्चिहं तं च ॥ (विभा २४)

मंगल के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और  
भाव ।

## ३. नाममंगल स्थापनामंगल

जह मंगलमिह नाम जीवाजीवोभयाण देसीओ ।

रूढं जलणाईणं ठवणाए सोत्थिआईणं ॥

(विभा २७)

जीवस्य यथा—सिन्धुविषयेऽग्निमंगलमभिधीयते ।  
अजीवस्य यथा—श्रीमल्लाटदेशे दवरकवलनकं मंगलम-  
भिधीयते । उभयस्य यथा—वन्दनमाला ।

(आवहावृ १ पृ ३)

**नाममंगल**—किसी पदार्थ का 'मंगल' नाम रखना  
यथा—सिन्धु देश में अग्नि को मंगल तथा  
लाट देश में मौली (दवरक) को मंगल

कहा जाता है। दोनों देशों में 'वन्दनवार' को मंगल कहा जाता है। यह मंगल अर्थ में रुद्ध शब्द है।

**स्थापनामंगल**—अर्हत्, इन्द्र आदि तथा स्वस्तिक, अक्ष आदि आकृतियों की स्थापना करना स्थापनामंगल है।

#### ४. द्रव्यमंगल के भेद

द्रव्यमंगलं दुविहं—आगमतो णोआगमतो य ।

(आवचू १ पृ ५)

द्रव्यमंगल के दो प्रकार हैं—

आगमतः द्रव्यमंगल और नोआगमतः द्रव्यमंगल ।

#### आगमत : द्रव्यमंगल

आगमओऽणुवउत्तो मंगलसद्वाणुवासिओ वत्ता ।

तत्ताणलद्विसहिओ वि नोवउत्तो त्ति तो दव्वं ॥

(विभा २९)

एक पुरुष मंगल शब्द से अनुवासित है, उसके अर्थ की जानलब्धि से सम्पन्न है, किन्तु मंगल शब्द के अर्थ में उपयुक्त (दत्तचित्त) नहीं है, वह आगम अथवा ज्ञान की अपेक्षा द्रव्यमंगल है।

#### नोआगमतः द्रव्यमंगल

नोआगमतस्त्रिविधं द्रव्यमङ्गलं, तद्यथा—ज्ञशरीर-द्रव्यमङ्गलं भव्यशरीरद्रव्यमङ्गलं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्य-तिरिक्तम् ।

(आवहावू १ पृ ३)

नोआगमतः द्रव्यमंगल के तीन प्रकार हैं—

१. ज्ञशरीर द्रव्यमंगल—मंगल शब्द के ज्ञाता का मृत शरीर ।

२. भव्यशरीर द्रव्यमंगल—वह शरीर जो मंगल शब्द का ज्ञाता बनेगा ।

३. तद्व्यतिरिक्त द्रव्यमंगल—भूत और भावी पर्याय से अतिरिक्त केवल क्रियाकारी मंगल ।

मंगलपयत्थजाणयदेहो भव्वस्स वा सजीवोत्ति ।

नोआगमओ दव्वं आगमरहिओ त्ति जं भण्णिअं ॥

अहवा नो देसम्मि नोआगमओ तदेगदेसाओ ।

भूयस्स भाविणो वाऽऽगमस्स जं कारणं देहो ॥

(विभा ४४, ४५)

मंगल पदार्थ को जानने वाला ज्ञशरीर जीवमुक्त होता है। मंगल पदार्थ को भविष्य में जानेगा, वह भव्य-

शरीर जीवयुक्त होता है। वर्तमान में सर्वथा आगम रहित होने से यहां 'नो' शब्द सर्वथा निषेधवाची है। शरीर भूत और भावी ज्ञान का कारण होने से यहां 'नो' शब्द एक देशवाची भी है।

जाणय-भव्वसरीराऽइरित्तमिह दव्वमंगलं होइ ।  
जा मंगल्ला किरिआ तं कुणमाणो अणुवउत्तो ॥

(विभा ४६)

नोआगमतः द्रव्य मंगल का तीसरा भेद है—ज्ञशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्त। इसमें अनुपयुक्त होकर प्रत्युपेक्षण-प्रमार्जन आदि मांगलिक क्रियाएं की जाती हैं। उपयोगरूप आगम के अभाव में क्रिया करने से यह नोआगमतः तद्व्यतिरिक्त है।

जं भूयभावमङ्गलपरिणामं तस्स वा जयं जोग्गं ।

जं वा सहावसोहणवन्नाइगुणं सुवण्णाइ ॥

तं पि य हु भावमंगलकारणओ मंगलं ति निद्विट्ठं ।

नोआगमओ दव्वं नोसहो सव्वपडिसेहे ॥

(विभा ४७, ४८)

नोआगमतः तद्व्यतिरिक्त के अन्य प्रकार—

○ अतीत में जिसने चरण-करण आदि क्रियाएं की, किन्तु वर्तमान में उनसे शून्य है, वह शरीर या जीवद्रव्य भी तद्व्यतिरिक्त है।

○ जो मंगलक्रिया करने योग्य शरीर या जीव है, वह भी तद्व्यतिरिक्त है।

○ जो प्रशस्त गुणसम्पन्न स्वर्ण, रत्न, कलश आदि मंगल द्रव्य हैं वे भी तद्व्यतिरिक्त हैं।

ये सब भावमंगल का कारण होने से द्रव्य मंगल हैं। यहां नोआगमतः का अर्थ है—आगम (ज्ञान) का सर्वथा अभाव।

#### ५. तद्व्यतिरिक्त : एकभक्ति आदि भेद

जाणमसरीर-भवियसरीर-वतिरित्ता दव्वसंखा  
तिविहा पणत्ता, तं जहा—एगभविए बद्धाउए अभिमुह-  
नामगोत्ते य ।

एगभविए...जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं  
पुव्वकोडी ।

बद्धाउए...जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी-  
तिभागं ।

अभिमुह नामगोत्ते ...जहण्णेणं एककं समयं, उक्कोसेणं  
अंतोमुहुत्तं ।

(अनु ५६८)

तद्व्यतिरिक्त द्रव्य शंख के तीन प्रकार हैं—(१) एकभविक (२) बद्धायुष्क (३) अभिमुख नामगोत्र।

**एकभविक**—जो जीव वर्तमान जीवन पूरा कर अगले भव में शंख रूप में उत्पन्न होगा, वह शंख का आयुष्य न बंधने पर भी एकभविक शंख कहलाता है। शंख भव की प्राप्ति के बीच में एक वर्तमान भव है, इस अपेक्षा से उसे एकभविक कहा गया है।

इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि है। इसका हेतु है—जो जीव पृथ्वी आदि के भव में अन्तर्मुहूर्त्त जीकर अनन्तर भव में शंख बनता है, वह अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाला एकभविक शंख होता है। जो जीव मत्स्य आदि किसी भव में पूर्वकोटि जीकर फिर शंख के रूप में उत्पन्न होता है, वह पूर्वकोटि की आयु वाला एकभविक शंख है।

**बद्धायुष्क**—जिस जीव ने शंख का आयुष्य बांध लिया है पर अभी उस जीवन में उत्पन्न नहीं हुआ है, वह बद्धायुष्क कहलाता है। उसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि का त्रिभाग है। इसका हेतु है कि वर्तमान आयुष्य का एक तिहाई भाग शेष रहता है तब आयुष्य का बांध होता है। इसलिए उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि का त्रिभाग बतलाई गई है।

**अभिमुखनामगोत्र**—शंख भव प्राप्त जीवों के जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् द्वीन्द्रिय जाति नाम और नीच गोत्र कर्म उदय में आते हैं। जब तक इनका उदय नहीं होता है, वे जीव अभिमुखनामगोत्र कहलाते हैं।

अभिमुखनामगोत्रता भावी जन्म की अत्यन्त निकटता में होती है, इसलिए इसकी स्थिति जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्त्त ग्रहण की गई है।

नेगम-संग्रह-व्यवहारा त्रिविहं संखं इच्छति, तं जहा—एकभविय बद्धायुष्यं अभिमुहनामगोत्तं च।

उज्जुसुओ दुविहं संखं इच्छइ, तं जहा—बद्धायुष्यं च अभिमुहनामगोत्तं च।

तिष्णि सद्दया अभिमुहनामगोत्तं संखं इच्छति।

(अनु ५६८)

नेगम, संग्रह और व्यवहार नय तीनों शंख को मान्य करते हैं—एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र।

ऋजुसूत्र नय दो शंख मान्य करता है—बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय अभिमुखनामगोत्र शंख को मान्य करते हैं।

भावसंखा—जे इमे जीवा संखगइनामगोत्ताइं कम्माइं वेदेंति।

(अनु ६०४)

जब यह जीव शंख के भव को प्राप्तकर तिर्यञ्च गति नाम, द्वीन्द्रिय जातिनाम और नीच गोत्र कर्म का वेदन करता है, तब वह भावशंख है।

“मंगलाणि दव्वम्मि पुण्णकलसादी।”

(दिन २१)

सोत्थियसिरिवच्छादिणो अट्टमंगलया सुवण्णदधि-अक्खयमादीणि य भावमंगलनिमित्ताणित्ति दव्वमंगलं।

(आवचू १ पृ ५)

पूर्ण-क्लश आदि द्रव्यमंगल हैं।

स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण—ये अष्ट मंगल तथा स्वर्ण, दही, अक्षत आदि भी द्रव्यमंगल हैं। वे भावमंगल में निमित्त बनते हैं।

स्वस्तिक आदि आकृतियां मंगल क्यों ?

आकृति-रचना और ऊर्जा के आकर्षण का परस्पर गहरा संबंध है। स्वस्तिक और नन्दावर्त्त की आकृति रचना मंगलकारी परमाणुस्कन्धों का आकर्षण करती है इसलिए स्वस्तिक और नन्दावर्त्त को मांगलिक माना गया है। दर्पण में पारदर्शी परमाणुस्कन्ध होते हैं और मत्स्य की रचना भी विशिष्ट परमाणुस्कन्धों से होती है इसलिए उन्हें मंगल की कोटि में परिगणित किया गया है।

## ६. भावमंगल

मंगलसुयउवउत्तो आगमओ भावमंगलं होइ।

नोआगमओ भावो सुविसुद्धो खाइयाईओ॥

(विभा ४९)

भावमंगल के दो प्रकार हैं—

१. आगमतः भावमंगल—मंगल श्रुत में उपयुक्त वक्ता।
२. नोआगमतः भावमंगल—प्रशस्त क्षायिक भाव आदि। अहवा सम्महंसण-नाण-चरित्तोवओगपरिणामो। नोआगमओ भावो नोसदो मिस्सभावम्मि॥ अहवेह नमुक्काराइनाण-किरिआविमिस्सपरिणामो। नोआगमओ भण्णइ जम्हा से आगमो देसे॥

(विभा ५०, ५१)

नोआगमतः भावमंगल के अन्य प्रकार ---

- ० ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के उपयोग में उपयुक्त हो प्रति-क्रमण आदि क्रियाएं करना ।
- ० आर्हतस्तुति से पूर्व नमस्कार आदि में ज्ञानोपयोग से युक्त वद्वंजलि हो नमस्कार क्रिया करना ।

यहां 'नो' शब्द मिश्रवाची अथवा एक देशवाची है ।

यहां केवल आभम/ज्ञान या केवल नोआभम/क्रिया नहीं है । ज्ञानोपयोग और क्रिया से मिश्रित परिणाम है ।

### उत्कृष्ट मंगल

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।

(द १।१)

धर्म उत्कृष्ट मंगल है । उसका स्वरूप है अहिंसा, संयम और तप ।

चत्तारि मंगलं अरहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलपण्णत्तो धम्मो मंगलं । (आव ४।२)

अर्हत्, सिद्ध, साधु और केवलप्रज्ञप्त धर्म—ये चारों भावमंगल हैं ।

### ७. द्रव्यमंगल और भावमंगल में अन्तर

द्रव्यमंगलं अणेज्जतिगं अणच्चन्तियं च भवति ।

भावमंगलं पुण एमंतियं अच्चंतियं च भवइ ।

(दजिचू पृ १९)

द्रव्यमंगल में ऐकान्तिक सुखप्राप्ति व आत्यन्तिक दुःख विनाश नहीं होता । भावमंगल ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल है ।

### ८. मंगल का प्रयोजन

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।

अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वापि यान्ति विनायकाः ॥

ततोऽस्य प्रारम्भ एव सकलप्रत्यहोपशमनाय मङ्गलाधिकारे नन्दिर्वक्तव्यः । (नन्दीमवृ प १)

श्रेयस्कर कार्यों में विघ्न आते रहते हैं । इसलिए प्रत्येक शास्त्र के प्रारम्भ में विघनों के उपशमन के लिए मंगल अधिकार रहता है/मंगलाचरण किया जाता है ।

तं मंगलमाईए मज्झे पज्जन्तए य सत्थस्स ।

पढमं सत्थत्थाऽविग्घपारगमणाय निहिट्ठं ॥

तस्सेव य थेज्जत्थं मज्झिमयं अंतिमं पि तस्सेव ।

अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स ॥

(विभा १३, १४)

शास्त्र के आदि में, मध्य में और अन्त में मंगल किया जाता है । शास्त्र के अर्थ का निविघ्न पार पाने के लिए आदि में मंगल किया जाता है । प्राप्त अर्थ की स्थिरता के लिए मध्य में मंगल किया जाता है । शिष्य-प्रशिष्य की परस्परा की अव्यवच्छित्ति के लिए शास्त्र के अंत में मंगल किया जाता है ।

मंगलपरिग्गहिया य सिस्सा अवग्गहेहा-ऽवायधारणा-समत्था सत्थाणं पारगा भवति । ताणि य सत्थाणि लोणे विरायति वित्थारं च गच्छति । (दअचू पृ १)

मंगलाचरण करने वाले शिष्य अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा में समर्थ और शास्त्रों के पाठगामी होते हैं । उनका शास्त्रीय ज्ञान निरन्तर वर्धमान होता हुआ लोक में प्रसिद्धि प्राप्त करता है ।

### मंत्र-विद्या—विशिष्ट प्रकार का वर्ण-विन्यास ।

१. मंत्र का अर्थ

२. मंत्र और विद्या में अन्तर

३. मन्त्रसिद्ध : स्तम्भाकर्ष

४. विद्यासिद्ध : आर्य खपट

५. योगसिद्ध : आर्य समित

० वृक्षआयुर्वेद और योनिप्राप्त

६. आर्य वज्र और आकाशगामिनी विद्या

\* विद्याचारण आदि लब्धियां (द्र. लब्धि)

७. चार महाविद्याएं

८. वृश्चिक आदि विद्याएं

\* नमस्कार मंत्र (द्र. नमस्कार महामंत्र)

### १. मंत्र का अर्थ

मन्त्रम् अकारादिस्वाहापर्यन्तो ह्रींकारादिवर्ण-विन्यासात्मकः । (उष्णावृ प ४१७)

जिसके आदि में 'ओम्' और अन्त में 'स्वाहा' होता है, जो 'ह्रीं' आदि वर्णविन्यासात्मक होता है, उसे 'मंत्र' कहा जाता है ।

### २. मंत्र और विद्या में अन्तर

इत्थी विज्जाऽभिहिया पुरिसो मंतुत्ति तव्विसेसोयं ।

विज्जा ससाहणा वा साहणरहियो अ मंतुत्ति ॥

यत्र मन्त्रे देवता स्त्री सा विद्या, अम्बाकुष्माण्डादि ।

यत्र तु देवता पुरुषः स मन्त्रः, यथा विद्याराजः, हरिणेगमेषिरित्यादि । (आवनि ९३१ हावृ पृ २७४)

जिस मंत्र में स्त्रीदेवता अधिष्ठात्री हो, वह विद्या है। जैसे—अम्बा, कुष्माण्डी आदि। जिसमें पुरुषदेवता अधिष्ठाता हो, वह मंत्र है। जैसे—विद्याराज, हरिणेग-मेषि आदि। अथवा जिसे साधा जाये, वह विद्या है और जो बिना साधे ही पठितसिद्ध हो, वह मंत्र है।

### ३. मंत्रसिद्ध : स्तम्भाकर्ष

साहीणसव्वमंतो बहुमंतो वा पहाणमंतो वा ।  
नेओ स मंतसिद्धो खंभागरिसुव्व साइसओ ॥

(आवनि ९३३)

जिसने सर्व मंत्रों को अथवा अनेक मंत्रों को अथवा किसी एक प्रधान मंत्र को सिद्ध कर लिया, वह मंत्रसिद्ध कहलाता है। इसमें स्तम्भाकर्ष का दृष्टान्त ज्ञेय है—

एक बार एक विषयलोलुप राजा ने एक सुन्दर साध्वी को पकड़ लिया। सारा संघ एकत्रित हुआ। एक मंत्रसिद्ध आचार्य ने राजा के आगमन के सभी स्तम्भों को अभि-मंत्रित कर दिया। वे सारे स्तम्भ आकाश में उठे और खट् खट् करने लगे। उस समय प्रासाद के स्तम्भ भी प्रकंपित हो उठे। राजा भयभीत हुआ। साध्वी को ससम्मान विसर्जित कर संघ से क्षमायाचना की।

(आवहावृ १ पृ २७५)

### ४. विद्यासिद्ध : आर्य खपुट

विज्जाण चककवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगावि ।  
सिज्झिज्ज महाविज्जा विज्जासिद्धो ज्जखउडुव्व ॥

(आवनि ९३२)

सभी विद्याओं का अधिपति 'विद्यासिद्ध' कहलाता है। अथवा जिसके एक महाविद्या भी सिद्ध हो जाती है, वह आचार्य खपुट की भांति 'विद्यासिद्ध' कहलाता है।

आचार्य खपुट वीरनिर्वाण की चौथी शताब्दी के महान् विद्यासिद्ध आचार्य थे। उनके पास उनका भानजा दीक्षित था। वह बालक था। उसने आचार्य से कुछ विद्याएं सुन-सुनकर ग्रहण कर लीं। यह माना जाता है कि विद्यासिद्ध व्यक्ति को नमस्कार करने से भी विद्याएं प्राप्त हो जाती हैं। एक बार आचार्य खपुट अपने मुनि भानजे को साधुओं के पास छोड़कर, स्वयं गुडशस्त्रनगर

की ओर प्रस्थित हो गए। वहां के एक परिव्राजक को जैन मुनियों ने पराजित किया था। वह मरकर गुडशस्त्र-नगर में व्यंतर देव बना। वह सभी मुनियों को पीड़ित करने लगा। आचार्य खपुट इसी प्रयोजन से वहां गए और व्यन्तर की प्रतिमा के दोनों कानों में दो जूते लटका दिए। पुजारी ने देखा। उसने राजा से शिकायत की। राजा ने आचार्य को लाठियों से पीटने का आदेश दिया। लाठी के प्रहार आचार्य की पीठ पर हो रहे थे, पर रानियों की पीठें लहलुहान हो रही थीं। राजा ने चमत्कार जान लिया।

आचार्य खपुट का बालमुनि भानेज भृगुकच्छ गया और वहां आहार में गृह होकर बौद्ध भिक्षु बन गया। अब वह अपने विद्याबल से गृहस्थों के घर से सरस-सरस भोजन के भरे पात्र आकाशमार्ग से भंगाने लगा। जनता में आक्रोश फैला। आचार्य खपुट वहां गए और अपने विद्याबल से आकाशमार्ग से आनेवाले खाद्य से भरे-पूरे भाजनों को फोड़ डाला! शिष्य वहां से भाग गया।

आचार्य बौद्धों के मठ में गए। बौद्ध भिक्षुओं ने कहा—आओ, बुद्ध प्रतिमा के चरणों में नमस्कार करो। आचार्य खपुट तत्काल प्रतिमा को सम्बोधित कर बोले—शुद्धोदनसुत! आओ, मुझे प्रणाम करो। बुद्ध की प्रतिमा से बुद्ध ने आकर आचार्य के चरणों में प्रणाम किया। द्वार पर स्थित स्तूप से कहा—आओ, प्रणाम करो। स्तूप ने आकर प्रणाम किया। आचार्य बोले—उठ। वह स्तूप उठा और आचार्य की आज्ञा से अधावनत हो वहीं स्थित हो गया। (आवहावृ १ पृ २७४, २७५)

### ५. योगसिद्ध : आर्य समित

सव्वेवि दव्वजोगा परमच्छेरयफलाऽह्वेगोऽपि ।

जस्सेह हुज्ज सिद्धो स जोगसिद्धो जहा समिओ ॥

(आवनि ९३४)

विभिन्न द्रव्यों के विभिन्न योग आश्चर्य पैदा करने वाले होते हैं। एक द्रव्य का योग भी जिसके सिद्ध हो जाता है वह योगसिद्ध कहलाता है, जैसे आर्यसमित।

आभीर जनपद में वेना नदी के तट पर तापसों का आश्रम था। वहां एक तापस पादुका पहनकर पानी पर चलकर नदी के उस पार जाता-आता था। जनता में चमत्कार हुआ। अनेक लोग भक्त बन गए। श्रावकों की निन्दा होने लगी। एक बार आर्यसमित वहां आए। जब

वह तापस भिक्षा के लिए नदी के दूसरे तट पर गया तब एक श्रावक ने घर पर आमन्त्रित कर, पैर प्रक्षालन के मिष से उसके पैर और पादुका—दोनों धो डाले। वह भिक्षा ले पानी पर चलने के लिए उद्यत हुआ। पैर तथा पादुका का लेप धुल गया था। वह पानी पर चलने में समर्थ नहीं हुआ। पानी में डूब गया।

आचार्य समित नदी पर आए, द्रव्ययोग का प्रक्षेप किया और नदी से बोले—पुत्री ! बेना ! मुझे मार्ग दो। उसी समय दोनों तट परस्पर मिल गए और आचार्य उस तट पर पहुंच गए। अनेक तापस आचार्य के पास प्रव्रजित हो गए। (आवहवृ १ पृ २७५)

### वृक्षआयुर्वेद और योनिप्राभृत

जाइ सरो सिगाओ भूतणओ सासवाणुत्तित्ताओ ।  
संजायइ गोलोमा-ऽविलोमसंजोगओ दुव्वा ॥  
इति सख्खायुवेदे जोणिविहाणे य विसरिसेहितो ।  
दीसइ जम्हा जम्मं.... ॥

(विभा १७७४, १७७५)

शृंग से शर (बाण) का निर्माण होता है। सरसों से अनुलिप्त होने पर भूतृण शस्य (अन्न) के रूप में परिणत हो जाता है। अविलोम गोलोमों (गाय के लोमों) से दूर्वा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वृक्ष-आयुर्वेद में विलक्षण द्रव्यों के संयोग से अनेक प्रकार की वनस्पतियों के उत्पन्न होने का उल्लेख है।

नाना प्रकार की योनियों के प्रतिपादक योनिप्राभृत ग्रंथ में विसदृश द्रव्यों के संयोग से सर्प, सिंह आदि प्राणियों तथा मणि, स्वर्ण आदि पदार्थों की उत्पत्ति का उल्लेख है।

### ६. आर्य वज्र और आकाशगामिनी विद्या

जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ ।  
वंदामि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुअहराणं ॥  
भणइ अ आहिडिज्जा जंबुदीवं इमाइ विज्जाए ।  
गंतुं च माणुसनं विज्जाए एस मे विसओ ॥  
भणइ अ धारेअव्वा न हु दायव्वा इमा मए विज्जा ।  
अप्पिडिदया उ मणुआ होहिंति अओ परं अन्ने ॥  
(आवनि ७६९-७७१)

अंतिम श्रुतधर (श्रुतकेवली) आर्य वज्र ने 'महा-परिजा' अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया। इस विद्या से पूरे जम्बूद्वीप का पर्यटन कर मानु-षोत्तर पर्वत पर पहुंचा जा सकता है।

आर्य वज्र ने संकल्प किया—इस विद्या को प्रवचन-प्रभावना के लिए मैं धारण करूंगा, किंतु किसी को प्रदान नहीं करूंगा, क्योंकि भविष्य में मनुष्य अल्प ऋद्धि वाले होंगे।

### ७. चार सहाविद्याएं

दुवे नमिन्निणमिणो कच्छमहाकच्छाणं पुत्ता उवट्ठिता,  
...अन्नया धरणो णागकुमारिदो भगवं वंदओ आगओ...  
अहं तु भगवतो भंतीए मा तुब्भं सामिस्स सेवा अफला  
भवतुत्तिकाउं पढितसिद्धाइं गंधव्वपन्नगाणं अडयालीसं  
विज्जासहस्साइं देमि, ताण इमाओ चत्तारि महाविज्जाओ,  
तं जहा—गोरी गंधारी रोहिणी पन्नत्ती ।

(आवचू १ पृ १६१)

कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि भगवान् ऋषभ की सेवा में उपस्थित थे। एक दिन धरणेन्द्र नागकुमार भगवान् की वन्दना के लिए उपस्थित हुए और बोले—तुम लोगों ने भगवान् की पर्युपासना की है, वह निष्फल न हो, इसलिए मैं तुम्हें गंधर्वपन्नगों की अड़तालीस हजार विद्याएं देता हूँ, जो पठितसिद्ध हैं उनमें गोरी, गंधारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति—ये चार महाविद्याएं हैं।

### ८. विश्वक आदि विद्याएं

विच्छू य सप्पे मूसग मिगो वराही य काग पोयाई ।  
एयाहि विज्जाहि सो य परिवायगो कुसलो ॥  
मोरी नउली बिराली वग्धी सिही य उल्लुगि उवाई ।  
एआओ विज्जाओ गिग्घ परिव्वायमहणीओ ॥  
(विभा २४५३, २४५४)

रघहरणं च से अभिमंतिरुण दिन्नं—जइ अन्नं पि उट्ठेइ तो रघहरणं भमाडिय तेण चैव हणेज्जह, अजज्जो होहिंसि, इंदेणावि न सक्का जेउं...सो निष्पटुवसिणवाग-रणो कओ ! ताहे सो परिव्वायगो व्हंता विच्छुए मुयइ । इयरो पडिमल्ले मोरे मुयइ । तेहिं विच्छुएहिं हएहिं पच्छा सप्पे मुयई ।...ताहे पोयागी सउलिया, तीसे उवाई ओलावि त्ति वृत्तं भवइ । एवं जाहे न तरइ ताहे गद्धी मुक्का । तेण य सा रघहरणेण आहया ।

(उसुवृ प ७२, ७३)

अंतरंजिका नगरी में आचार्य श्रीगुप्त के शिष्य रोह-गुप्त ने पोट्टुशाल परिव्राजक की वाद संबंधी चुनौती को स्वीकार किया। आचार्य ने कहा—वत्स ! वह



परिव्राजक सात विद्याओं में पारंगत है—

- |            |             |
|------------|-------------|
| १. वृश्चिक | ५. बराही    |
| २. सर्प    | ६. काक      |
| ३. मूषक    | ७. पोताकी । |
| ४. मृगी    |             |

मैं तुम्हें इन विद्याओं की प्रतिपक्षी सात विद्याएं सिखा देता हूँ, जो पठितसिद्ध हैं—

- |             |             |
|-------------|-------------|
| १. मायूरी   | ५. सिंही    |
| २. नाकुली   | ६. उलूकी    |
| ३. विडाली   | ७. उलावकी । |
| ४. व्याघ्री |             |

यदि इन विद्याओं के अतिरिक्त किसी दूसरी विद्या की आवश्यकता पड़े तो तुम इस रजोहरण को घुमाना, इससे तुम अजेय हो जाओगे, इन्द्र भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकेगा ।

बाद में रोहगुप्त द्वारा पराजित होने पर परिव्राजक ने ऋद्ध हो वृश्चिक विद्या का प्रयोग किया—रोहगुप्त के विनाश के लिए बिच्छुओं को छोड़ा । रोहगुप्त ने उसकी प्रतिपक्षी मायूरी विद्या से मयूरों को छोड़ा, जिससे बिच्छू समाप्त हो गये । इसी प्रकार परिव्राजक द्वारा किये गये सर्प आदि विद्याओं के प्रयोग को रोहगुप्त ने विफल बना दिया । अंत में परिव्राजक ने गर्दभी विद्या का प्रयोग किया । रोहगुप्त ने अभिमंत्रित रजोहरण का प्रयोग कर उसे भी विफल कर दिया । रोहगुप्त से त्रैराशिक मत की स्थापना हुई । (द्र. निहव)

**मतिज्ञान** — इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान ।

(द्र. आभिनवोधिक ज्ञान)

**मन**—इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय सब विषयों को जानने वाला आलोचनात्मक ज्ञान ।

**चित्त ही मन**

चित्तं मनोद्रव्योपरंजितं । (अनुचू पृ १३)

मनोवर्गणा के पुद्गलों से उपरंजित चित्त ही मन है ।

**दीर्घकालिकी संज्ञा ही मन**

इह दीर्घकालिकी कालिगिति सण्णा जया सुदीहं पि ।

संभरइ भूयमेस्सं चित्तेइ य किह णु वायव्वं ॥

कालियसण्णित्ति ततो जस्स तई सो य जो मणोजोग्गे ।  
खंघेणते घेतुं मनइ तल्लद्विसंपण्णो ॥  
(विभा ५०८, ५०९)

जिसके द्वारा अतीत की स्मृति और भविष्य की चिन्ता—कल्पना की जाती है, वह कालिकी अथवा दीर्घकालिकी संज्ञा है । यही मन है ।

मनोलब्धि सम्पन्न जीव मनोवर्गणा के अनन्त स्कन्धों को ग्रहण कर मनन करता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है । यह संज्ञा मनोज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न होती है ।

(जैनसाहित्य में मन के लिए कालिकी संज्ञा, दीर्घकालिकी संज्ञा, सम्प्रधारण संज्ञा, नोइन्द्रिय, अनिन्द्रिय और छट्टी इन्द्रिय—इन शब्दों का प्रयोग मिलता है ।)

**मन (दीर्घकालिकी संज्ञा) के कार्य**

कालिओवएसेणं—जस्स णं अत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चित्ता, वीमंसा—से णं सण्णोत्ति लब्भइ । जस्स णं नत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चित्ता, वीमंसा—से णं असण्णोत्ति लब्भइ । (नन्दी ६२)

सहाइअत्थमुवल्लदं अण्णत-वइरेमधम्मैहि ईहइ त्ति ईहा । तस्सेव परधम्मपरिच्चाणे सधम्मणुगतावधारणे य 'अवोहो' त्ति अवातो । विसेसधम्मण्णेसणा मग्गणा, जहा मधुर-गंभीरत्तणतो एस संखसइ इति । वीसस-प्पयो-गुब्भवणिच्चमणिच्चं चेत्यादि गवेसणा । जो यज्जागते य चित्तयति 'कहं वा तं तत्थ कातव्वं ?' इति अण्णोण्णा-लंबणणुगतं चित्तं चित्ता । आत-पर-इह-परत्थयहिता-अहितविमरिसो वीमंसा । (नन्दीचू पृ ४६)

**मन के छह कार्य हैं—**

ईहा—शब्द आदि अर्थ के विषय में अन्वय और व्यतिरेक धर्मों का विचार करना ।

अपोह—व्यतिरेक धर्म का परित्याग कर अन्वय धर्म का अवधारण करना ।

मार्गणा—विशेष धर्म का अन्वेषण करना । यथा—मधुर और गंभीर ध्वनि के कारण यह शब्द शंख का है ।

गवेसणा—स्वभावजन्य, प्रयोगजन्य, नित्य, अनित्य आदि का विचार करना ।

चिन्ता—यह कार्य कैसे करना चाहिये ? इस प्रकार का चिन्तन करना ।

विमर्श—हित-अहित की मीमांसा करना ।

जिस जीव में दीर्घकालिकी संज्ञा का विकास होता है, वह संज्ञी (समनस्क) और जिसमें इसका विकास नहीं होता, वह असंज्ञी (अमनस्क) है।

### प्राणियों में अर्थोपलब्धि के स्तर

रूवे जहावलद्वी चक्खुमओ दंसिए पयासेण ।

तह छव्विहोवओगो मणदव्वपयासिए अत्थे ॥

अविसुद्धचक्खुणो जह नाइपयासम्मि रूवविष्णाणं ।

असण्णिणो तहत्थे थोवमणोदव्वलद्धिमओ ॥

जह मुच्छिद्याइयाणं अब्वत्तं सव्वविसयविष्णाणं ।

एगिदियाण एवं, सुद्धयरं बेइदियाईणं ॥

(विभा ५१०-५१२)

जैसे चक्षुष्मान् व्यक्ति को प्रदीप के प्रकाश में स्फुट अर्थ की उपलब्धि होती है, वैसे ही मनोविज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से युक्त जीव को चिन्ताप्रवर्तक मनोद्रव्य के प्रकाश में अर्थ की उपलब्धि स्पष्ट होती है। शब्द आदि अर्थ में छह प्रकार (पाँच इन्द्रिय और एक मन) का उपयोग होता है।

जैसे अविशुद्ध चक्षुष्मान् को मंद, मंदतर प्रकाश में रूप की उपलब्धि अस्पष्ट होती है, वैसे ही असंज्ञी समूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय को अर्थ की उपलब्धि अस्पष्ट होती है, क्योंकि क्षयोपशम की मंदता के कारण उसमें मनोद्रव्य को ग्रहण करने की शक्ति भी अत्यल्प होती है।

जैसे मूर्च्छित व्यक्ति का शब्द आदि अर्थों का ज्ञान अव्यक्त होता है, वैसे ही प्रकृष्ट ज्ञानावरण के उदय के कारण एकेन्द्रिय जीवों का ज्ञान अव्यक्त होता है। इनकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय आदि जीवों का ज्ञान शुद्धतर, शुद्धतम होता है। मानसिक प्रकाश के अभाव में अर्थ की उपलब्धि मंद, मंदतर होती चली जाती है

**प्राणी** अर्थोपलब्धि के प्रकार

गर्भजपञ्चेन्द्रिय विशुद्धतर

समूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय अविशुद्ध

चतुरिन्द्रिय अविशुद्धतर

त्रीन्द्रिय उससे अविशुद्धतर

एकेन्द्रिय अविशुद्धतम

तुल्ले छेयगभावे जं सामत्थं तु चक्करयणस्स ।

तं तु जहक्कमहीणं न होइ सरपत्तमाईणं ॥

ईय मणोविसईणं जा पडुया होइ उग्गहाईसु ।

तुल्ले चेषणभावे असण्णीणं न सा होइ ॥

(विभा ५१३, ५१४)

जैसे चक्रवर्ती के चक्ररत्न में जो छेदन-सामर्थ्य होता है, वह तलवार, दाम्र या शरपत्र आदि में नहीं होता—छेदक भाव तुल्य होने पर भी इनका छेदन सामर्थ्य क्रमशः हीयमान ही होता है, वैसे ही प्राणियों में चैतन्य तुल्य होने पर भी समनस्क प्राणियों में अवग्रह आदि संबन्धी वस्तुबोध की जो पटुता होती है, वैसे पटुता एकेन्द्रिय आदि अमनस्क प्राणियों में नहीं होती।

मन के अवग्रह, ईहा-

एवंचिय सुमिणाइसु मणसो सद्दाइएसु विसएसु ।

होतिदियवावाराभावे वि अवग्गहाईया ॥

दत्तकपाट-सान्धकाराऽपवरकादीनीन्द्रियव्यापाराभाव-वन्ति स्थानानि गृह्यन्ते, तेषु केवलस्यैव मनसो मन्यमानेषु शब्दादिविषयेष्ववग्रहादयोऽवग्रहे-हा-ऽप्याय-धारणा भवन्तीति स्वयमभ्यूह्याः तथाहि स्वप्नादौ चित्तोत्प्रेक्षा-मात्रेण श्रूयमाणे गीतादिशब्दे प्रथमं सामान्यमात्रोत्प्रेक्षायासवग्रहः, 'किमयं शब्दः, अशब्दो वा?' इत्याद्यु-त्प्रेक्षाया त्वीहा, शब्दनिश्चये पुनरपायः, तदनन्तरं तु धारणा। एवं देवतादिरूपे, कर्पूरादिगन्धे....।

(विभा २९४ मवृ पृ १४७)

इन्द्रियों की प्रवृत्ति के पश्चात् मन की प्रवृत्ति होती है, किन्तु स्वप्न आदि में इन्द्रियव्यापार नहीं होता, केवल मन की स्वतंत्ररूप से प्रवृत्ति होती है। मन्यमान शब्द आदि विषयों में मन के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चारों होते हैं।

स्वप्न में श्रूयमाण गीत के शब्द में मन सामान्य रूप से उत्प्रेक्षा करता है, वह अवग्रह है। यह शब्द है या अशब्द? इस प्रकार की उत्प्रेक्षा ईहा है। शब्द के निश्चय में अपाय और तत्पश्चात् धारणा होती है।

इसी प्रकार स्वप्न में देवता आदि के रूप में, कर्पूर आदि की गंध में, आम्र आदि के रस में, शरीर आदि के स्पर्श में मन के अवग्रह आदि भेद प्रवृत्त होते हैं।

बन्द कपाट वाले अधकःरपूर्ण कक्ष में यदि कोई घटना घटित होती है तो उसकी जानकारी के लिए इन्द्रियां प्रवृत्त नहीं होतीं। ऐसे स्थान मनोव्यापार के विषय बनते हैं।

मन के प्रायोग्य द्रव्य मनन से पूर्व मनोद्रव्य कहलाते हैं। मनन काल में उनकी संज्ञा है मन। (द्र. आत्मा)

मन अथवा ज्ञान का न्यूनतम विकास एकेन्द्रिय में तथा

सर्वोत्कृष्ट विकास अनुत्तर देवों में होता है। मन से होने वाले ज्ञान को संव्यवहार प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। (द्र. ज्ञान)

मन एक साथ अनेक अर्थों को ग्रहण कर सकता है किन्तु एक साथ दो क्रियायें या दो उपयोग नहीं हो सकते। (द्र. निह्वन)

मन अप्राप्यकारी है अतः उसके व्यंजनावग्रह नहीं होता। (द्र. आभिनिबोधक ज्ञान)

मनरूप में परिणत मन के पुद्गलस्कन्धों को मनः-पर्यवज्ञानी जानता है। (द्र. मनःपर्यवज्ञान)

दीर्घकालिकी संज्ञा : संज्ञीश्रुत का भेद।

(द्र. श्रुतज्ञान)

**मनःपर्यवज्ञान** —मनोवर्गणा के आधार पर मानसिक भावों को जानने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान।

१. मनःपर्यवज्ञान का निर्वचन

२. मनःपर्यवज्ञान की परिभाषा

\* मनःपर्यवज्ञान : प्रत्यक्ष ज्ञान (द्र. ज्ञान)

\* मनःपर्यवज्ञान स्वार्थ (द्र. ज्ञान)

३. मनःपर्यवज्ञान के प्रकार

४. मनःपर्यवज्ञान का विषय

५. मनःपर्यवज्ञान की अर्हता

६. मनःपर्यवज्ञान की पर्यत्ता

७. मनःपर्यवज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखता है

८. मनःपर्यवदर्शन नहीं होता

९. मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में अन्तर

०. मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में साधर्म्य

१०. मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान में साधर्म्य

\* मनःपर्यवज्ञान : एक लब्धि (द्र. लब्धि)

\* तीर्थंकर और मनःपर्यवज्ञान (द्र. तीर्थंकर)

**१. मनःपर्यवज्ञान का निर्वचन**

मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः—सर्वतो मनो-द्रव्यपरिच्छेदः। मनासि मनोद्रव्याणि पर्येति—सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायम्। (नन्दीमवृ प ६६)

मन में होने वाले अथवा मन के पर्यव मनःपर्यव हैं। अर्थात् सर्वथा मनोद्रव्य का परिच्छेद मनःपर्यव है।

जो मनोद्रव्य को सर्वात्मना जानता है, वह मनःपर्यवज्ञान है।

**२. मनःपर्यवज्ञान की परिभाषा**

मणपञ्जवनाणं पुण, जणमणपरिचितियत्थपाणडणं।

माणुसखित्तनिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवओ।

(आवनि ७६)

मनःपर्यवज्ञान संज्ञीपंचेन्द्रिय के मनश्चिन्तित अर्थ को प्रकट करता है। इसका संबंध मनुष्य क्षेत्र से है। यह गुणप्रत्ययिक है, चरित्रवान् संयमी के ही होता है।

जेण उप्पब्बेण णाणेण मणुस्सखेत्ते सन्निजीवेहि मणपातोग्गाणि दव्वाणि मण्णिज्जमाणाणि जाणति तं मणपञ्जवणाणं भन्नति। जहा पिहुजणो अन्नो अन्नस्स कस्सइ आगारे दट्ठूणं दुमणं सुमणं वा भावं जाणति, एवं मणपञ्जवणाणीवि संनीणं पंचेदियाणं मणोगते भावे जाणति, जहा एरिसेहि दव्वेहि मण्णिज्जमाणेहि एरिसं चित्तितं भवति। (आवचू १ पृ ७१)

जिस ज्ञान के उत्पन्न होने पर मुनि मनुष्य क्षेत्र के संज्ञी जीवों के मनःप्रायोग्य मनरूप में परिणत मनो-द्रव्यों को जानता है, वह मनःपर्यवज्ञान है।

जैसे एक सामान्य व्यक्ति किसी व्यक्ति के आकार-प्रत्याकार को देखकर उसके अच्छे-बुरे भाव जान लेता है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञानी भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भाव जान लेता है—अमुक व्यक्ति ने अमुक प्रकार के मनोद्रव्य से मनन किया है, अतः इसका चिन्तन ऐसा होना चाहिए।

मुणइ मणोदव्वाइं नरलोए सो मण्णिज्जमाणाइं। ..

दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणते।

तेनावभासिए उण जाणइ वज्जेणुमाणेणं।

(विभा ८१३, ८१४)

मनःपर्यवज्ञानी तिर्यक्लोक में संज्ञी जीवों द्वारा गृहीत मनरूप में परिणत द्रव्यमन के अनन्त पर्यायों तथा तद्गत वर्ण आदि भावों को जानता देखता है। वह द्रव्यमन से प्रकाशित चिन्तनीय वस्तु—घट, पट आदि को अनुमान से जानता है।

सण्णिणा मणनेण मणिते मणोखंधे अणते अणतपदेसिए दव्वट्टुताए तग्गते य वण्णादिए भावे मणपञ्जवनाणेणं पच्चवक्खं पेक्खमाणो जाणाति त्ति भणितं। मणितमत्थं पुण पच्चवक्खं ण पेक्खति, जेण मणालंबणं मुत्तममुत्तं वा। सो य छहुमत्थो तं अणुमाणतो पेक्खति त्ति अतो पासणता भणिता। (नन्दीचू पृ २४)

संज्ञी जीव द्वारा मनरूप में परिणत अनन्तप्रदेशी मन के स्कन्ध तथा तद्गत वर्ण आदि भावों को मनःपर्यवज्ञानी साक्षात् देखता है। वह चिन्तित पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं देखता, अनुमान से देखता है, इसलिए उसकी पश्यत्ता बताई गई है। मन का आलम्बन मूर्त्त-अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। छद्मस्थ अमूर्त्त को साक्षात् नहीं देख सकता।

(मनःपर्यवज्ञान का विषय मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु है या चिन्तनप्रवृत्त मनोद्रव्य की अस्वथाएं हैं— इस विषय में जैन परम्परा में मतैक्य नहीं है। निर्युक्ति-कार ने पहला पक्ष मान्य किया है। चूणिकार ने इसी गाथा की व्याख्या में लिखा है कि मनःपर्यवज्ञान अनन्त-प्रदेशी मन के स्कन्धों तथा तद्गत वर्ण आदि भावों को प्रत्यक्ष जानता है। चिन्त्यमान विषय वस्तु को साक्षात् नहीं जानता क्योंकि चिन्तन का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। छद्मस्थ मनुष्य अमूर्त्त का साक्षात्कार नहीं कर सकता इसलिए मनः-पर्यवज्ञानी चिन्त्यमान वस्तु को अनुमान से जानता है। इसीलिए मनःपर्यवज्ञान की पश्यत्ता (पन्नवणा ३०।२) का निर्देश भी दिया गया है। विशेषावश्यक भाष्य में भी दूसरे पक्ष का अनुसरण किया गया है। देखें—नन्दी सूत्र २३ का टिप्पण)

### ३. मनःपर्यवज्ञान के प्रकार

तं च दुविहं उप्पज्जइ, तं जहा—उज्जुमई य विउलमई य। (नन्दी २४)

मनःपर्यवज्ञान के दो प्रकार हैं—ऋजुमति और विपुलमति।

#### ऋजुमति

रिजु सामणं तम्मत्तगाहिणी रिजुमई मणोनाणं।

पायं विसेसविमुहं घडमेत्तं चित्तियं मुणइ॥

(विभा ७८४)

ऋजु का अर्थ है—सामान्य। जो सामान्य रूप से मनोद्रव्य को जानता है, वह ऋजुमति मनोज्ञान है। यह प्रायः विशेष पर्याय को नहीं जानता। ऋजुमति मनः-पर्यवज्ञानी इतना ही जानता है कि अमुक व्यक्ति ने घट का चिन्तन किया है। देश, काल आदि से सम्बद्ध घट के अन्य अनेक पर्यायों को वह नहीं जानता।

#### विपुलमति

विउलं वत्थुविसेसणमाणं तग्गाहिणी मई विउला।

चित्तिमणुसरइ घडं पसंगओ पज्जवसएहि॥

(विभा ७८५)

घटोऽनेन चिन्तितः, स च सौवर्णः पाडलिपुत्रकोऽथ-तनो महान् अपवरकस्थितः फलपिहित इत्याद्यध्यवसाय-हेतुभूता प्रभूतविशेषविशिष्टमनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः।

(नन्दीमवृ प १०८)

विशेषग्राहिणी मति विपुलमति है। अमुक व्यक्ति ने घड़े का चिन्तन किया है। वह घड़ा सोने का बना हुआ है, पाटलिपुत्र में निर्मित है, आज ही बना है, आकार में बड़ा है, कक्ष में रखा हुआ है, फलक से ढका हुआ है— इस प्रकार के अध्यवसायों के हेतुभूत अनेक विशिष्ट मानसिक पर्यायों का ज्ञान विपुलमति मनःपर्यवज्ञान है।

#### ४. मनःपर्यवज्ञान का विषय

तं समासओ चउव्विहं पणत्तं, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।

० दव्वओ णं उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ। ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए विमुद्धतराए वित्तिमिरतराए जाणइ पासइ।

० खेत्तओ णं उज्जुमई अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेठ्ठिल्ले खुड्ढागपयरे, उड्ढं जाव जोइसस्स उवरिमतले, तिरियं जाव अंतोमणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु (अर्धवृत्तीयाड्गुलहीनेषु—आवमवृ प ८२), पण्णरससु कम्मभूमीसु, तीसाए अकम्मभूमीसु, छप्पण्णए अंतरदीवगेषु सण्णीणं पंचेदियाणं पज्जत्तयाणं मणोगए भावे जाणइ पासइ। तं चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिमंगुलेहि अब्भहियतरं विउलतरं विमुद्धतरं वित्तिमिरतरं खेत्तं जाणइ पासइ।

० कालओ णं उज्जुमई जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखिज्जयभागं उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखिज्जयभागं अतीयमणाणयं वा कालं जाणइ पासइ। तं चेव विउलमई अब्भहियतराणं विउलतराणं विमुद्धतराणं वित्तिमिरतराणं जाणइ पासइ।

० भावओ णं उज्जुमई अणंते भावे जाणइ पासइ, सब्बभावाणं अणंतभागं जाणइ पासइ। तं चेव विउलमई अब्भहियतराणं विउलतराणं विमुद्धतराणं वित्तिमिरतराणं जाणइ पासइ। (नन्दी २५)

विषयविभाग की अपेक्षा से मनःपर्यवज्ञान चार प्रकार का है—

१. द्रव्यतः—द्रव्य की दृष्टि से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी मनोवर्गणा के अनंत-अनंतप्रदेशी स्कन्धों को जानता देखता है। विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उन स्कन्धों को अधिकतर, विपुलतर, विशुद्धतर और उज्ज्वलतर रूप से जानता देखता है।

२. क्षेत्रतः—क्षेत्र की दृष्टि से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी नीचे की ओर इस रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊर्ध्ववर्ती क्षुल्लकप्रतर से अधस्तन क्षुल्लकप्रतर तक, ऊपर की ओर ज्योतिष्चक्र के उपरितल तक, तिरछे भाग में मनुष्यक्षेत्र के भीतर अढ़ाई द्वीप समुद्र (ढाई अंगुल हीन) तक, पन्द्रह कर्मभूमियों, तीस अकर्मभूमियों और छप्पन अन्तर्द्वीपों में वर्तमान पर्याप्त समनस्क पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानता देखता है। विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उस क्षेत्र से अढ़ाई अंगुल अधिकतर (सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र) विपुलतर विशुद्धतर और उज्ज्वलतर क्षेत्र को जानता देखता है।

३. कालतः—काल की दृष्टि से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी जघन्यतः पत्योपम के असंख्यातवें भाग को, उत्कृष्टतः पत्योपम के असंख्यातवें भाग अतीत और भविष्य को जानता देखता है। विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उस कालखण्ड को अधिकतर विपुलतर विशुद्धतर और उज्ज्वलतर जानता देखता है।

४. भावतः—भाव की दृष्टि से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी अनंतभावों को जानता देखता है, सब भावों के अनन्तवें भाग को ही जानता देखता है। विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उन भावों को अधिकतर, विपुलतर विशुद्धतर और उज्ज्वलतर जानता देखता है।

## ५. मनःपर्यवज्ञान की अर्हता

.....इडिदपत्त-अपमत्तसंजय-सम्मद्विट्टि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउयकम्मभूमिय-गढभवक्कतियमणुस्साणं..... मणपज्जवनाणं समुपज्जइ। (नन्दी २३)

मनः पर्यवज्ञान ऋद्धिप्राप्त (लब्धि प्राप्त), अप्रमत्त-संयत, सम्यग्दृष्टि, पर्याप्तक, संख्यात वर्ष आयुष्य वाले, कर्मभूमि में उत्पन्न गर्भज मनुष्यों को होता है।

## ६. मनःपर्यवज्ञान की पश्यता

....पन्नवणाए मणपज्जवनाणपासणा भणिया।....

मनःपर्यायज्ञानस्य प्रकृष्टेक्षणलक्षणा साकारोपयोग-विशेषरूपा पश्यता प्रोक्ता, तयैवासौ मनःपर्यायज्ञानी पश्यति इति व्यपदिश्यते। (विभा ८२२ मवृ पृ ३३६)

प्रज्ञापना आगम (३०।२) में मनःपर्यवज्ञान की प्रकृष्ट दर्शन लक्षण वाली विशिष्ट, ज्ञानोपयोगरूप पश्यता बतलाई गई है। उसी पश्यता से मनःपर्यवज्ञानी देखता है।

## ७. मनःपर्यवज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखता है

सो य किर अचक्षुदंसणेण पासइ जहा सुयत्ताणी।.... (विभा ८१५)

जैसे श्रुतज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखता है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञानी अचक्षु दर्शन से देखता है।

मनःपर्यायदर्शनं भिन्नं नोक्तं, कथं 'पश्यति' इत्युच्यते? अचक्षुदर्शनाख्यं मनोरूपनोइन्द्रियं दर्शनविषय-मस्य द्रष्टव्यम्, तेनास्य दर्शनसम्भवः। परस्य घटादिकमर्थं चिन्तयतः साक्षादेव मनःपर्यायज्ञानी मनोद्रव्याणि तावज्जानाति, तान्येव च मानसेनाचक्षुदर्शनेन विकल्पयति। अतो मानसाचक्षुदर्शनापेक्षया पश्यतीत्युच्यते। ततश्चैकस्यैव मनःपर्यायज्ञानिनः प्रमातुर्मनःपर्यायज्ञानादनन्तरमेव मानसाचक्षुदर्शनमुत्पद्यते इत्यसावेक एव प्रमाता मनःपर्यायज्ञानेन मनोद्रव्याणि जानाति, तान्येव चाचक्षुदर्शनेन मानसेन पश्यतीत्यभिधीयते।.... विशेषोपयोगापेक्षया जानाति, सामान्यार्थोपयोगापेक्षया पश्यतीत्युक्तम्।

(नन्दीहावृ पृ १२२)

मनःपर्यव दर्शन स्वतंत्ररूप से प्रतिपादित नहीं है, तब 'पश्यति' का प्रयोग क्यों? अचक्षुदर्शनेनामक मनरूप नोइन्द्रिय इसके दर्शन का विषय है, इसलिए दर्शन सम्भव है।

कोई व्यक्ति घट का चिंतन कर रहा है। मनःपर्यवज्ञानी उसके मनोद्रव्यों को साक्षात् जानता है और मानस अचक्षुदर्शन से उन्हीं का विकल्प करता है। अतः मानस अचक्षुदर्शन की अपेक्षा से सूत्रपाठ में 'पासइ' का प्रयोग हुआ है।

एक ही मनःपर्यवज्ञानी प्रमाता के मनःपर्यवज्ञान के बाद ही मानस अचक्षुदर्शन पैदा होता है। वह मनः-

पर्यवज्ञान से मनोद्रव्यों को जानता है तथा मानस अचक्षु-दर्शन से उन्हीं को देखता है।

वह विशेष उपयोग की अपेक्षा से जानता है, सामान्य अर्थोपयोग की अपेक्षा से देखता है।

### ८. मनःपर्यव दर्शन नहीं होता

विशिष्टतरमनोद्रव्याकारपरिच्छेदापेक्षया सामान्य-रूपमनोद्रव्याकारपरिच्छेदो व्यवहारतो दर्शनरूप उक्तः। परमार्थतः पुनः सोऽपि ज्ञानमेव, यतः सामान्यरूपमपि मनोद्रव्याकारप्रतिनियतमेव पश्यति। प्रतिनियतविशेष-ग्रहणात्मकं च ज्ञानं न दर्शनम्। अत एव सूत्रेऽपि दर्शनं चतुर्विधमेवोक्तं न पञ्चविधमपि, मनःपर्यायदर्शनस्य परमार्थतोऽमभवादिति। (नन्दीमवृ प १०९)

विशिष्टतर मनोद्रव्य के ज्ञान की अपेक्षा से ही सामान्यरूप मनोद्रव्य के ज्ञान को व्यवहार में दर्शन कहा गया है। वास्तव में वह भी ज्ञान ही है। क्योंकि सामान्य रूप होने पर भी वह प्रतिनियत मनोद्रव्य को ही देखता है। प्रतिनियत—विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही होता है, दर्शन नहीं। इसलिए आगम में भी चार दर्शन (चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवल) प्रतिपादित हैं, पांच नहीं। मनःपर्यवदर्शन वस्तुतः नहीं होता।

मनःपर्यायज्ञानं मनोद्रव्याणां पर्यायानेव गृह्णन् उप-जायते। पर्यायाश्च विशेषाः। विशेषग्राहकं च ज्ञानमतो मनःपर्यायज्ञानमेव भवति, न तु मनःपर्यायदर्शनम्।

(आवमवृ प ८२)

मनःपर्यवज्ञान में क्षयोपशम की पटुता होती है, अतः वह मनोद्रव्य के पर्यायों को ही ग्रहण करता हुआ उत्पन्न होता है। पर्याय विशेष होते हैं। विशेष का ग्राहक ज्ञान है, इसलिए मनःपर्यव ज्ञान ही होता है, मनःपर्यव दर्शन नहीं होता।

### ९. मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में अन्तर

अवधिज्ञानमविरतसम्यग्दृष्टेरपि भवति। द्रव्य-तोऽशेषरूपिद्रव्यविषयं, क्षेत्रतो लोकविषयं कतिपयलोक-प्रमाणक्षेत्रापेक्षया अलोकविषयं च। कालतोऽतीतानागत-संख्येयोत्सर्पिणीविषयं, भावतोऽशेषेषु रूपिद्रव्येषु प्रतिद्रव्यमसंख्येयपर्यायविषयम्। मनःपर्यायज्ञानं पुनः संयतस्याप्रमत्तस्यामवैषध्याद्यन्यतमद्भिप्राप्तस्य। द्रव्यतः संज्ञिमनोद्रव्यत्रिषयं, क्षेत्रतो मनुष्यक्षेत्रगोचरं, काल-

तोऽतीतानागतपल्योपमासंख्येयभागविषयं, भावतो मनोद्रव्यगतानन्तपर्यायालम्बनम्। ततोऽवधिज्ञानाद् भिन्नम्। (नन्दीमवृ प १११)

### अवधिज्ञान

१. स्वामी—अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, सर्वविरत।
२. विषय
  - ० द्रव्य से—अशेष रूपी द्रव्य।
  - ० क्षेत्र से—पूरा लोक और अलोक में लोक-प्रमाण असंख्येय खण्ड।
  - ० काल से—असंख्येय अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण अतीत-अनागत काल।
  - ० भाव से—प्रत्येक रूपी द्रव्य के असंख्येय पर्याय।

### मनःपर्यवज्ञान

१. स्वामी—ऋद्धि सम्पन्न अप्रमत्त संयत।
२. विषय
  - ० द्रव्य से—संज्ञी जीवों का मनोद्रव्य।
  - ० क्षेत्र से—मनुष्य क्षेत्र।
  - ० काल से—पल्योपम के असंख्येय भाग प्रमाण अतीत-अनागतकाल।
  - ० भाव से—मनोद्रव्य के अनन्त पर्याय।

### मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में साधर्म्य

……छुडमत्य-विसय-भावादिसामण्णा ॥ (विभा ८७)

- दोनों ज्ञान छद्मस्थ के होते हैं।
- दोनों ज्ञानों का विषय है—रूपीद्रव्य।
- दोनों ज्ञान क्षायोपशमिक भाव हैं।
- दोनों प्रत्यक्ष ज्ञान हैं।

### १०. मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान में साधर्म्य

यथा मनःपर्यायज्ञानमप्रमत्तयतेरेव भवति एवं केवल-ज्ञानमप्यप्रमत्तभावायतेरेवेति साधर्म्यम्।…… यथा मनःपर्यायज्ञानं विपर्यायज्ञानं न भवति एवं केवलज्ञानम-पीति साधर्म्यम्। (नन्दीहावृ पृ २०)

- ० जैसे मनःपर्यवज्ञान अप्रमत्त यति के होता है, वैसे ही केवलज्ञान भी अप्रमत्त यति के होता है।

- ० मनःपर्यवज्ञान विपर्ययज्ञान नहीं होता, केवलज्ञान भी विपर्ययज्ञान नहीं होता ।

**मनःपर्याप्ति**—मन के योग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्ग करने वाली पौद्गलिक शक्ति की प्राप्ति ।  
(द्र. पर्याप्ति)

**मनुष्य**—विकास की सर्वाधिक क्षमता रखने वाला प्राणी ।

१. मनुष्य के प्रकार

२. कर्मभूमिज मनुष्य

३. अकर्मभूमिज मनुष्य

४. अन्तर्द्वीपज मनुष्य

५. अन्तर्द्वीपज तिर्यंच

६. छप्पन अन्तर्द्वीप

० क्षेत्रीय वैशिष्ट्य

७. सम्मूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्ति स्थान

८. मनुष्य की आयुस्थिति

० कायस्थिति

० अन्तर काल

० अवगाहना

० संख्यापरिमाण

९. मनुष्यभव की प्राप्ति का हेतु

१०. चार अंग दुर्लभ

११. मनुष्य भव की दुर्लभता : दस दृष्टान्त

१२. आर्यक्षेत्र की दुर्लभता

१३. पूर्ण इन्द्रियों की दुर्लभता

१४. श्रुति की दुर्लभता और उसके हेतु

१५. धृष्टा की दुर्लभता

१६. आचरण की दुर्लभता

१७. दुर्लभता के अन्य प्रकार

० मनुष्य जन्म : दस अंग

१८. मनुष्य की दस अवस्थाएं

\* मनुष्य गति : शुभ नामकर्म (द्र. कर्म)

\* मनुष्य में शरीर (द्र. शरीर)

\* शरीर की अवगाहना का माप (द्र. अंगुल)

\* आयुष्य का माप (द्र. पत्योपम)

* लेश्या की स्थिति	(द्र. लेश्या)
* चार प्रकार की सामायिक	(द्र. सामायिक)
* अवधिज्ञान का संस्थान	(द्र. अवधिज्ञान)

## १. मनुष्य के प्रकार

मणुया दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ मुण ।

संमुच्छिमा य मणुया, गभभवकंतिया तथा ॥

(उ ३६।१९५)

मनुष्य के दो प्रकार हैं—सम्मूर्च्छिम और गर्भ-व्युत्क्रान्तिक ।

### गर्भव्युत्क्रान्तिक के निर्वचन

गर्भे व्युत्क्रान्तिः—उत्पत्तिर्येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, अथवा गर्भाद् व्युत्क्रान्तिः—व्युत्क्रमणं निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, उभयत्रापि गर्भजा इत्यर्थः ।

(नन्दीमवृ प १०२)

१. जिनकी गर्भ में व्युत्क्रान्ति/उत्पत्ति होती है, वे गर्भव्युत्क्रान्तिक/गर्भज हैं ।

२. जिनका गर्भ से व्युत्क्रमण/निष्क्रमण होता है, वे गर्भव्युत्क्रान्तिक/गर्भज हैं ।

गभभवकंतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया ।

अकम्मकम्मभूमा य, अंतरदीवया तथा ॥

(उ ३६।१९६)

गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के हैं—१. कर्मभूमिज २. अकर्मभूमिज और ३. अन्तर्द्वीपज ।

पन्नरस तीसइ विहा, भेया अट्टवीसइ ।

संखा उ कमसो तेसि, इइ एसा वियाहिया ॥

(उ ३६।१९७)

सम्मूर्च्छिमा—वान्तादिसमुद्भवाः । कम्मभूमकाः—पच्चदशकम्मभूमिजाताः । अकम्मभूमकाः—त्रिशदकर्मभूमिजाताः । अन्तरद्वीपकाः—षट्पञ्चाशत् अन्तरद्वीपेषु जाताः ।

(आवमवृ प ४३९)

मनुष्य के चार प्रकार हैं—

० सम्मूर्च्छिम—वान्त, उच्चार-प्रस्रवण आदि चौदह स्थानों में उत्पन्न होने वाले ।

० कर्मभूमिज—पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले ।

० अकर्मभूमिज—तीस अकर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले ।

० अन्तर्द्वीपज—छप्पन अन्तर्द्वीपों में उत्पन्न होने वाले ।

(सूत्रकार ने अठाईस अन्तर्द्वीपों का उल्लेख किया है। यह हिमवत् के पाद में प्रतिष्ठित अन्तर्द्वीपों का ही कथन है। शिखरी के पाद में भी अठाईस अन्तर्द्वीप हैं)।  
एएसि वण्णओ चैव, गंधओ रसफासओ।  
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥

(उ ३६।२०३)

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से मनुष्य के हजारों भेद होते हैं।

## २. कर्मभूमिज मनुष्य

कृषिवाणिज्यतपःसंयमानुष्ठानादिकर्मप्रधाना भूमयः  
कर्मभूमयो—भरतपञ्चकैरवतपञ्चकमहान्निदेहपञ्चक-  
लक्षणाः पञ्चदश तामु जाताः कर्मभूमिजाः।

(नन्दीमवृ प १०२)

जिसमें कृषि, व्यापार आदि कर्म तथा संयम, तप आदि अनुष्ठान होते हैं, वह कर्मभूमि कहलाती है। वे कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं—पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह। इनमें उत्पन्न होने वाले मनुष्य कर्मभूमिज कहलाते हैं।

## ३. अकर्मभूमिज मनुष्य

कृष्यादिकर्मरहिताः कल्पपादपफलोपभोगप्रधाना  
भूमयो हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चकदेवकुरूपञ्चकोत्तरकुरु-  
पञ्चकरम्यकपञ्चकहैरप्यवतपञ्चकरूपस्त्रिशदकर्मभूमयः।

(नन्दीमवृ प १०२)

जो कृषि आदि कर्म से रहित है, जहाँ कल्पवृक्षों से ही आवश्यकताएं पूर्ण होती हैं, वह अकर्मभूमि कहलाती है। अकर्मभूमियाँ तीस हैं—पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, पाँच रम्यकवास, पाँच हैरप्यवत। इन अकर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अकर्मभूमिज कहलाते हैं।

## ४. अन्तर्द्वीपज मनुष्य

अन्तरे लवणसमुद्रस्य मध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपाः—  
एकोरुकादयः षट्पञ्चाशत् तेषु जाताः अन्तरद्वीपजाः।

(नन्दीमवृ प १०२)

लवणसमुद्र के मध्य जो एकोरुक आदि छप्पन द्वीप हैं वे अन्तर्द्वीप कहलाते हैं। वहाँ उत्पन्न होने वाले मनुष्य और तिर्यक अन्तर्द्वीपज कहलाते हैं।

अन्तरद्वीपवासिनो मनुष्या वज्रध्वभनाराचसंहनिनः

समचतुरस्रसंस्थानसंस्थिताः समग्रशुभलक्षणतिलकमष-  
परिकलिता देवलोकानुकारिरूपलावण्यालङ्कारशोभित-  
विग्रहाः। अष्टधनुःशतप्रमाणशरीरोच्छ्रायाः। स्त्रीणां  
रिवदमेव किञ्चिन्न्यूनं द्रष्टव्यं, तथा पत्योपमासंख्येय-  
भागप्रमाणायुषः।

स्त्रीपुरुषयुगलव्यवस्थिताः। दशविधकल्पपादपसम्पा-  
द्योपभोगसम्पदः। प्रकृत्यैव शुभचेतसो विनीताः प्रतनु-  
श्लोधानामयालोभाः सन्तोषिणो निरोत्सुक्याः कामचारि-  
णोऽनुलोमवायुवेगाः। सत्यपि मनोहारिणि मणिकनक-  
मौक्तिकादिके ममत्वकारिणि ममत्वाभिनवेशरहिताः।  
सर्वथापगतवैरानुबन्धाः। परस्परप्रेष्यादिभावविनिमुक्ता,  
अत एवाहमिन्द्राः। हस्त्यश्वकरभगोमहिष्यादीनां सद्-  
भावेऽपि तत्परिभोगपराङ्मुखाः पादविहारचारिणो रोग-  
वेदनादिविकला वर्तन्ते। चतुर्थाहारमेते गृह्णन्ति। चतुः  
षष्टिश्च पृष्ठकरण्डकास्तेषाम्।

षण्मासावशेषायुषश्चामी स्त्रीपुरुषयुगलं प्रसुवते।  
एकोनाशीतिदिनानि च तत् परिपालयन्ति। स्तोकस्नेह-  
कषायतया च ते मृत्वा देवलोकमुपसर्पन्ति। तेषु च  
द्वीपेषु शाल्यादीनि धान्यानि त्रिस्रसात् एव समुत्पद्यन्ते  
परं न ते मनुष्यादीनां परिभोगाय जायन्ते।

(नन्दीमवृ प १०४)

संहनन-संस्थान—अन्तर्द्वीपज मनुष्यों के वज्रध्वभ-  
नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है।  
उनकी पृष्ठरज्जु में चोसठ करण्डक (मनके) होते  
हैं।

रूपलावण्य—उनका सौन्दर्य देवों के तुल्य होता है।  
उनका शरीर तिल, मष आदि समग्र शुभ लक्षणों से  
युक्त और अलंकारों से अलंकृत होता है।

अवगाहना और आयुष्य—पुरुषों की अवगाहना आठ सौ  
धनुष और स्त्रियों की अवगाहना इससे कुछ कम  
होती है। इनका आयुष्य पत्योपम का असंख्यातवां  
भाग होता है।

व्यवस्था, स्वभाव आदि—वे स्त्री और पुरुष युगलरूप में  
रहते हैं। इस यौगलिक व्यवस्था में आहार, वस्त्र  
आदि संबंधी आवश्यक कार्य दस प्रकार के कल्प-  
वृक्षों से सम्पादित होते हैं। उनमें स्वामी-सेवक  
आदि का भेद नहीं होता, अतः वे अहमिन्द्र होते हैं,  
सभी स्वामी होते हैं। वहाँ हस्ति, अश्व, ऊंट, गाय,



भैस आदि पशु होते हैं। यौगलिक उनका उपयोग नहीं करते। वे पादविहारी होते हैं।

वे स्वभाव से ही शुभ चित्त वाले और विनीत होते हैं। उनके क्रोध, मान, माया और लोभ प्रतनु—उपशान्त होते हैं। वे संतोषी और औत्सुक्यविहीन होते हैं। वे स्वतंत्र विचरण करने वाले और अनुलोम वायुवेग वाले होते हैं। सहज समुपलब्ध चित्ताकर्षक मणि, मुक्ता, स्वर्ण आदि में उनकी ममत्वबुद्धि नहीं होती। वे वैरभाव से सर्वथा मुक्त होते हैं। वे सब प्रकार के रोगों और वेदनाओं से मुक्त होते हैं।

**आहार**—वे एक दिन के अन्तर से आहार करते हैं। अन्तर्द्वीपों में शालि आदि धान्य स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु वहाँ के मनुष्य इनका परिभोग नहीं करते।

**संततिक्रम**—जब उनकी आयु छह मास शेष रहती है, तब वे एक युगल (पुत्र और पुत्री) को जन्म देते हैं और उन्नीस दिन तक उस युगल का पालन—संरक्षण करते हैं।

**गति**—राग और द्वेष (आवेश-आवेग) की अल्पता के कारण वे मृत्यु के पश्चात् देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

## ५. अन्तर्द्वीपज तिर्यञ्च

व्याघ्रसिंहसर्पादयो रौरभावरहिततया न परस्परं हिंस्यहिंसकभावे वर्तन्ते। तत एव तेषां देवलोकगामिनो भवन्ति। (नन्दीमवृ प १०४)

अन्तर्द्वीप के व्याघ्र, सिंह, सर्प आदि तिर्यञ्च रौरभाव से रहित होते हैं। उनमें परस्पर हिंस्य-हिंसक भाव नहीं होता, इसलिए वे भी देवलोकगामी होते हैं।

## ६. छप्पन अन्तर्द्वीप

तिष्णि जोयणसते लवणजलमोगाहिन्ता चुल्लहिम्वन्तसिहरिपादपतिष्ठिता एगुरुगादि छप्पणं अंतरदीवगा। (नन्दीचू पृ २२)

लवणसमुद्र में तीन सौ योजन भीतर चुल्लहिमवान् के पाद में एकोरुक आदि अठाईस अन्तर्द्वीप तथा शिखरी के पाद में एकोरुक आदि अन्य अठाईस अन्तर्द्वीप प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार छप्पन अन्तर्द्वीप हैं।

अन्तरद्वीपानां हिमवतः पूर्वापरप्रान्तविदिकप्रसूत-कोटिषु त्रीणि त्रीणि योजनशतान्यवगाह्य तावन्त्येव

योजनशतान्यायामविस्तराभ्यां प्रथमेऽन्तरद्वीपाः, ततोऽप्येकैकयोजनशतवृद्धावगाहनया योजनशतचतुष्टयाद्यायाम-विस्तरा द्वितीयादयः षट्, ..... प्रथमस्य चतुष्कस्य एकोरुक आभाषिको लांगूलिको वैषाणिक इति नाम, द्वितीयस्य ..... सप्तमस्य घनदन्तो गूढदन्तः श्रेष्ठदन्तः शुद्धदन्त इति। एतन्नामान एव चैतेषु युगलधामिका प्रतिवसन्ति। (उणावृ प ७००)

हिमवान् पर्वत की चारों विदिशाओं में तीन-तीन सौ योजन लवण समुद्र के भीतर, तीन-तीन सौ योजन आयाम-विस्तार वाले प्रथम चार अन्तर्द्वीप हैं। इसी प्रकार लवण समुद्र के भीतर क्रमशः चार सौ, पांच सौ, छह सौ, सात सौ, आठ सौ तथा नौ सौ योजन आगे चारों विदिशाओं में चार-चार अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार सात श्रेणियों में एक-एक चतुष्क अन्तर्द्वीप हैं। अर्थात् ७×४ = २८ अन्तर्द्वीप हैं। उनके नाम ये हैं—

पहला चतुष्क—एकोरुक, आभाषिक, लांगूलिक, वैषाणिक।  
दूसरा चतुष्क—हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण, षण्कुलीकर्ण।  
तीसरा चतुष्क—आदर्शमुख, मेघमुख, हयमुख, गजमुख।  
चौथा चतुष्क—अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख, व्याघ्रमुख।  
पांचवां चतुष्क—अश्वकर्ण, सिंहकर्ण, गजकर्ण, कर्ण-प्रावरण।

छठा चतुष्क—उल्कामुख, विद्युन्मुख, जिह्वामुख, मेघमुख।  
सातवां चतुष्क—घनदन्त, गूढदन्त, श्रेष्ठदन्त, शुद्धदन्त।

इसी प्रकार छठे शिखरी पर्वत के लवण समुद्रगत इन्हीं नामवाले अन्य अठाईस अन्तर्द्वीप हैं।

दोनों की मिलाने पर २८+२८=५६ अन्तर्द्वीप होते हैं। इनमें रहनेवाले युगलधर्मा मनुष्य तद्-तद् नाम वाले होते हैं। (देखें—जीवाजीवाभिगम ३।२।१६)।

## क्षेत्रीय वैशिष्ट्य

तेषु च द्वीपेषु दशमशकयूकामत्कुणादय शरीरोपद्रव-कारिणोऽनिष्टसूचकाश्च चन्द्रसूर्योपरागादयो न भवन्ति। भूमिरपि तत्र रेणुपङ्ककण्टकादिरहिता सकलदोषपरित्यक्ता सर्वत्र समतला रमणीया च वर्तते। (नन्दीमवृ प १०४)

उन अन्तर्द्वीपों में शारीरिक उपद्रव पैदा करने वाले डांस, मच्छर, जू, खटमल आदि नहीं होते। अनिष्ट के सूचक चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण भी नहीं होते। वहाँ की भूमि धूलि, कीचड़ और कांटों से रहित होती है। वह

सब दोषों से मुक्त, सर्वत्र समतल और रमणीय होती है।

### ७. सम्पूर्णमनुष्य के उत्पत्ति स्थान

अंतोमणुस्सखेत्ते पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अइढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमिसु तीसाए अकम्मभूमिसु छप्पन्नाते अंतरदीवएसु गम्भवक्कतियमणु-स्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्क-पोग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा धीपुरिस-संजोगेसु वा गामणिद्धमणेसु वा णगरणिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्टाणेसु वा, एत्थ णं सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छति । (नन्दीहावृ पृ ३३)

पैतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्यक्षेत्र में अर्द्ध द्वीप समुद्रों, पन्द्रह कर्मभूमियों, तीस अकर्मभूमियों तथा छप्पन अन्तर्द्वीपों के गर्भज मनुष्यों के उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, सिघाण, वमन, पित्त, शोणित, शुक, परिशाटित शुकपुद्गल, मृतकलेवर, स्त्रीपुरुषसंयोग, ग्रामनालियों, नगरनालियों तथा सब अशुचि स्थानों में सम्पूर्णमनुष्य पैदा होते हैं।

### अवगाहना... आयुष्य

अंगुलसम असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए असन्नी मिच्छादिट्ठी अन्नाणी सव्वाहि पज्जतीहि अपज्जत्तमा अंतोमुहत्तद्वाउया चेव कालं करंति । (नन्दीहावृ पृ ३३)  
संमुच्छिमाणं चउब्बीसं मुहुत्ता अंतरं अंतोमुहुत्तं च ठिती । (अनुचू पृ ६९)

सम्पूर्णमनुष्य की अवगाहना है—अंगुल का असंख्यातवां भाग। वह असंजी, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और अपर्याप्त होता है। उसका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त तथा अंतर काल चौबीस मुहूर्त का होता है।

### ८. मनुष्य की आयुस्थिति

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
आउट्टिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥  
(उ ३६।२००)

मनुष्य की आयुस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन पत्योपम की है।

### कायस्थिति

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।  
पुव्वकोडीपुहत्तेण, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥  
(उ ३६।२०१)

मनुष्यों की कायस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व (दो से नो तक) करोड़ पूर्व अधिक तीन पत्योपम है।

पंचिदियकायमइग्गओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।  
सत्तट्ठभवग्गहणे..... (उ १०।१३)  
पंचेन्द्रिय काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक सात-आठ जन्म उसी काय में ग्रहण कर सकता है।

(पांच इन्द्रिय वाले जीव लगातार एक सरीखे सात-आठ जन्म ले सकते हैं। मनुष्यों की कायस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व कोटि पूर्व अधिक तीन पत्योपम है। यह तीन पत्योपम की भवस्थिति यौगलिक मनुष्यों की होती है। शेष मनुष्यों की उत्कृष्ट भवस्थिति एक कोटिपूर्व की होती है। एक कोटिपूर्व आयुष्य वाले मनुष्य के सात भवों का कालमान सात कोटिपूर्व होता है। वही मनुष्य आठवां भव यदि यौगलिक का करता है तब कुल मिलाकर उसकी स्थिति तीन पत्य और सात पूर्वकोटि की हो जाती है। जीवाजीवाभिगम १।२२५)

### अन्तरकाल

....अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।

(उ ३६।२०२)

मनुष्य का अन्तरकाल (मनुष्य के काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

### अवगाहना

शरीरस्यावगाहना तत् जघन्यम् अंगुलासंख्येयभाग-लक्षणम् उत्कृष्टं - त्रिगव्यूतप्रमाणम्) ।

(आवमवृ प ४४६)

मनुष्य के शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्येय भाग और उत्कृष्ट अवगाहना तीन गव्यूत (तीन कोस) प्रमाण होती है।

### संख्या परिमाण

मणुयाणं ओरालिया बद्धेल्लिया सिय संखिज्जा सिय असंखेज्जा, जहणणपदे संखेज्जा ।.....गम्भवक्कतिया णिच्चकालमेव संखेज्जा, परिमितक्षेत्रवर्तित्वात् महा-कायत्वात् प्रत्येकशरीरत्वाच्च । (अनुचू पृ ६८)  
गर्भज मनुष्य सदा संख्येय होते हैं, क्योंकि उनका

क्षेत्र परिमित होता है। वे महाकाय और प्रत्येक शरीरी होते हैं। मनुष्यों के औदारिक शरीर संख्येय अथवा असंख्येय होते हैं। यह असंख्येयता समूच्छिम मनुष्यों की अपेक्षा से है।

मणुयाण जहृष्णपदे एककारस पुव्वकोडिकोडीती ।  
 बावीस कोडिलक्खा कोडिसहस्सा य चुलसीति ॥  
 अट्ठेव य कोडिसता पुव्वाण वसुत्तरा ततो होंति ।  
 एकासीति लक्खा पंचाणउई सहस्सा य ॥  
 छप्पणा तिण्णि सता पुव्वाणं पुव्ववण्णिया अण्णे ।  
 एत्तो पुव्वंगाई इमाइं अहियाइं अण्णाइं ॥  
 लक्खाइं एकवीसं पुव्वंगाण सत्तारि सहस्सा य ॥  
 छच्चेवेगुण्णहा पुव्वंगाण सता होंति ॥  
 तेसीति सतसहस्सा छप्पणा खलु भवे सहस्सा य ।  
 तिन्नि सया छत्तीसं एवइया वेगला मणुया ॥  
 (अनुचू पृ ७१)

मनुष्य का जघन्यपद में संख्यापरिमाण संख्यात कोटिकोटि में बताया गया है —

ग्यारह कोटिकोटि बाईस लाख कोटि चौरासी हजार कोटि आठ सौ दस कोटि पूर्व, इक्यासी लाख पिच्यानवे हजार तीन सौ छप्पन पूर्व, इक्कीस लाख सत्तर हजार छह सौ उनसठ पूर्वांग, तैयासी लाख छप्पन हजार तीन सौ छत्तीस ।

(चौरासी लाख का एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणन करने पर जो संख्या लब्ध हो, वह एक पूर्व है। अनुयोगद्वारचूर्णि में मनुष्यों की जघन्य पद संख्या के उनतीस स्थान निर्दिष्ट हैं।)

(द्र. शरीर)

## ६. मनुष्य भव की प्राप्ति का हेतु

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपण्णिणं ।  
 गाढा य विवाम कम्मणो .....

(उ १०।४)

सब प्राणियों को चिरकाल तक भी मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ है। कर्म के विपाक तीव्र होते हैं।

कम्मसंगेहि सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।

अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मंति पाणिणो ॥

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।

जीवा सोहिमणुप्पता, आययंति मणुस्सयं ॥

(उ ३।६,७)

जो जीव कर्मों के संग से सम्मूढ, दुःखित और

अत्यन्त वेदना वाले हैं, वे अपने कृत कर्मों के द्वारा मनुष्येतर (नरक, तिर्यञ्च) योनियों में ढकेले जाते हैं।

कालक्रम के अनुसार कदाचित् मनुष्यगति को रोकने वाले कर्मों का नाश हो जाता है। उस शुद्धि को पाकर जीव मनुष्य भव को प्राप्त होते हैं।

प्रहीयमाणेषु मनुष्ययोनिधातिषु कम्मसु निर्वर्तकेषु वा आनुपूर्व्येण उदीर्यमाणेषु, कथं आनुपूर्व्या उदीर्यंते ? उच्यते, उक्कड्डंत्तं जहा तीयं, अहवा कम्मं वा जोगं व भवं च आयुगं वा मणुस्सगतिणामगोत्तस्स कस्मिश्चित्तु काले कदाचित् तु पूरणे, न सर्वदेवैत्यर्थः । (उचू पृ ९८)

तिर्यञ्च और नरकगति के योग्य कर्म मनुष्यगति की प्राप्ति के प्रतिबन्धक होते हैं। उनके अस्तित्व-काल में जीव मनुष्यगति को प्राप्त नहीं होता। मनुष्यगति के बाधक कर्मों का नाश तथा मनुष्य-आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होने पर जीव को मनुष्यगति में आने की शुद्धि प्राप्त होती है। उसी अवस्था में वह मनुष्य बनता है।

## १०. चार अंग दुर्लभ

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।

माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं ॥

(उ ३।१)

इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम अंग दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम।

## ११. मनुष्य भव की दुर्लभता : दस दृष्टांत

चुल्लग पासम धन्ने जूए रयणे य सुमिण चक्के य ।

चम्म जुगे परमाणू दस दिट्ठंता मणुअलंभे ॥

(उनि १५९)

१. चोल्लग—बारी-बारी से भोजन। ब्रह्मदत्त का एक कार्पटिक सेवक था जिसने उसको अनेक बार विपत्तियों से बचाया था। वह सदा उसका सहायक बना रहा। ब्रह्मदत्त राजा बन गया। पर इस बेचारे को कहीं आश्रय नहीं मिला। राजा से अब मिलना दुष्कर हो गया। बारह वर्ष बीत गए। अभिषेक का बारहवां वर्ष। कार्पटिक ने उपाय सोचा। वह ध्वजारोहकों के साथ चल पड़ा। राजा ने उसे पहचान लिया। राजा ने उसको अपने पास बुलाकर कहा—जो इच्छा हो वह मांगो। कार्पटिक बोला—राजन् ! मैं पहले दिन आपके प्रासाद में भोजन करूँ, फिर बारी-बारी से आपके समस्त राज्य

के सभी सभ्रान्त कुलों में भोजन प्राप्त कर पुनः आपके प्रासाद में भोजन करूँ—यह वरदान दें। राजा बोला—यह क्यों? तुम चाहो तो मैं तुम्हें गांव दे सकता हूँ, धन दे सकता हूँ। तुम्हें ऐसा बना सकता हूँ कि तुम जीवन भर हाथी के होदे पर सुखपूर्वक घूमते रहो। कार्पटिक बोला—मुझे इन सब प्रपंचों से क्या? राजा ने तथास्तु कहा।

अब वह बारी-बारी से नगर के घरों में जीमने लगा। उस नगर में अनेक कुलकोटियां थीं। क्या वह अपने जीवनकाल में उस नगर के घरों का अन्त पा सकता था? कभी नहीं। फिर संपूर्ण भारतवर्ष की बात ही क्या।

संभव है किसी उपाय या देवयोग से वह संपूर्ण भारतवर्ष के घरों का पार पा जाए, किन्तु मनुष्य जन्म को पुनः प्राप्त करना दुष्कर है।

२. पाशक—एक व्यक्ति ने स्वर्ण अर्जित करने की एक युक्ति निकाली। उसने जुए का एक प्रकार निकाला और यंत्रमय पाशकों का निर्माण किया। एक व्यक्ति को दीनारों से भरा थाल देकर घोषणा करवाई कि कोई मुझे इस जुए में जीत लेगा, मैं दीनारों से भरा यह थाल उसे दे दूंगा। यदि वह व्यक्ति मुझे नहीं जीत सका तो उसे एक दीनार देना होगा। यंत्रमय पाशक होने के कारण कोई उसे जीत न सका और धीरे-धीरे उसने स्वर्ण के अनेक दीनार अर्जित कर लिए।

कदाचित् कोई व्यक्ति उसको जीत भी ले, पर मनुष्य जन्म से भ्रष्ट जीव पुनः मनुष्य जन्म सहजता से प्राप्त नहीं कर सकता।

३. धान्य—धान्य के विविध प्रकारों को मिश्रित कर ढेर लगा दिया। उसमें एक प्रस्थ सरसों के दाने मिला दिए। एक वृद्धा उन सरसों के दानों को बीनने बंठी। क्या वह उन सरसों के दानों को पृथक् कर पाएगी? देवयोग से पृथक् कर भी ले, फिर भी जीव को पुनः मनुष्य जन्म मिलना दुष्कर है।

४. झूत—राजसभा का मंडप एक सौ आठ स्तम्भों पर आधृत था। राजकुमार का मन राज्य-लिप्सा से आक्रांत हो गया। उसने राजा को मार डालना चाहा। अमात्य को इसका पता चला। उसने राजा से कहा—हमारे वंश की यह परम्परा है कि राजकुमार राज्य प्राप्ति के अनुक्रम को सहन नहीं करता, उसे जुआ

खेलना होता है और उस जुए में जीतने पर ही उसे राज्य प्राप्त हो सकता है। उसने पूछा—जीतने की शर्त क्या है? राजा ने कहा—एक गांव तुम्हारा होगा, शेष हमारे। एक ही दांव में यदि तुम आठ सौ खेमों के एक-एक कोण को आठ सौ बार जीत लोगे तो तुम्हें राज्य सौंप दिया जाएगा। जैसे यह असंभव है, वैसे ही मनुष्य जन्म भी असंभव है।

५. रत्न—एक वृद्ध वणिक् के पास अनेक रत्न थे। एक बार वृद्ध देशान्तर चला गया। पुत्रों ने सारे रत्न अन्यान्य व्यापारियों को बेच डाले। वृद्ध देशान्तर से आया और रत्नों के विक्रय की बात सुनकर चिंतित हो गया। उसने पुत्रों से कहा—बेचे हुए रत्नों की पुनः एकत्रित करो। पुत्र परेशान हो गए, क्योंकि उन्होंने सारे रत्न परदेशी व्यापारियों को बेच डाले थे। वे सारे व्यापारी दूर-दूर तक चले गए थे। जैसे उनसे रत्न एकत्रित करना असंभव था, वैसे ही मनुष्य जन्म पुनः प्राप्त होना असंभव है।

६. स्वप्न—एक कार्पटिक ने स्वप्न में देखा कि उसने पूर्ण चन्द्रमा को निगल लिया है। उसका फल स्वप्नपाठकों से पूछा। उन्होंने कहा—बड़ा घर मिलेगा। उसे मिल गया। दूसरे कार्पटिक ने भी स्वप्न में संपूर्ण चन्द्र मण्डल को देखा। उसने स्वप्नपाठकों से इसका फल पूछा। वे बोले—तुम राजा बनोगे। उस देश का राजा सात दिन के बाद मर गया। अश्व की पूजा कर उसे गांव में छोड़ा। वह उसी व्यक्ति के पास जाकर हिन्दहिनाया। उसे पीठ पर बिठाकर राजमहल ले आया। वह राजा बन गया।

पहले कार्पटिक ने सोचा मैं भी ऐसा ही स्वप्न देखूँ। वह दूध पीकर सो गया। क्या वैसे स्वप्न पुनः सुलभ हो सकता है? कभी नहीं। वैसे ही मनुष्य जन्म पुनः सुलभ नहीं होता।

७. चक्र—इन्द्रदत्त इन्द्रपुर नगर का राजा था। उसके बाईस पुत्र थे। एक बार वह अमात्य की पुत्री में आसक्त हो, उसके साथ एक रात रहा। वह गर्भवती हुई। उसने पुत्र का प्रसव किया। उसका नाम सुरेन्द्रदत्त रखा।

राजा के सभी पुत्र और सुरेन्द्रदत्त कलाचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने लगे। सुरेन्द्रदत्त विनीत और

अचंचल था। उसने कलाचार्य से बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर ली। शेष राजकुमार स्थिर नहीं थे। वे वैसे ही रह गए।

मथुरा के अधिपति जितशत्रु की पुत्री का नाम निर्बृति था। जब वह विवाह योग्य हुई, तब राजा के पूछने पर उसने कहा—पिताजी! जो राधावेध कर जाएगा, वही मेरा पति होगा। स्वयंवर की घोषणा हुई। एक अक्ष पर आठ चक्र और उस पर एक पुतली स्थापित की गई। उसकी आंख को बींधने की शर्त रखी।

इन्द्रदत्त अपने पुत्रों के साथ वहां आया। सभी पुत्रों ने पुतली की आंख को बींधने का प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। अन्त में अमात्य के कहने पर सुरेन्द्रदत्त आया। उसको स्खलित करने के अनेक प्रयत्न हुए, पर उसने पुतली की आंख को बींध डाला। लोगों ने जय-जयकार किया। उसे निर्बृति और राज्य प्राप्त हुआ और शेष पराजित होकर अपने-अपने देश चले गए। जैसे उस पुतली की आंख को बींधना दुष्कर था, वैसे ही मनुष्य जन्म दुष्कर है।

८. चर्म—एक तालाब था। वह पानी से लबालब भरा हुआ था। पूरे तालाब पर सधन शैवाल छाई हुई थी, मानो वह शैवाल रूपी चर्म से अवनद्ध हो। एक कछुआ उसमें रहता था। एक बार उसने पानी में तैरते-तैरते एक स्थान पर शैवाल में छिद्र देखा। उसने छिद्र में से ऊपर देखा। आकाश में चांद चमक रहा था, तारे टिम-टिमा रहे थे। कुछ क्षणों तक वह देखता रहा। फिर सोचा, परिवार के सभी सदस्यों को यहां लाकर यह मनोरम दृश्य दिखाऊं। वह तत्काल गया और पूरे परिवार के साथ लौट आया। हटी हुई शैवाल पुनः एकाकार हो गई थी। छिद्र नहीं मिला। सभी सदस्य निराश हो लौट गए। क्या पुनः वह कभी छिद्र को पा सकेगा?

९. युग (जुआ)—एक अथाह समुद्र। समुद्र के एक छोर पर जुआ है और दूसरे छोर पर उसकी कील पड़ी है। उस कील का जुए के छिद्र में प्रवेश होना दुर्लभ है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म भी दुर्लभ है।

कील उस अथाह पानी में प्रवाहित हो गई। बहते-बहते संभव है वह इस छोर पर आकर जुए के छिद्र में

प्रवेश कर ले, किन्तु मनुष्य जन्म से भ्रष्ट जीव का पुनः मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है।

१०. परमाणु—एक विशाल स्तंभ। एक देव उस स्तम्भ का चूर्ण कर, एक नलिका में भर, मंदरधर्वत पर जाकर, उसे फूंक से बिखेर देता है। स्तम्भ के वं सारे परमाणु इधर-उधर बिखर जाते हैं।

क्या दूसरा कोई भी व्यक्ति पुनः उन परमाणुओं को एकत्रित कर वैसे ही स्तम्भ का निर्माण कर सकता है? कभी नहीं। वैसे ही एक बार मनुष्य जीवन को व्यर्थ खो देने पर, पुनः उसकी प्राप्ति दुष्कर होती है।

(देखें—उशावृ प १४५-१५०)

## १२. आर्य क्षेत्र की दुर्लभता

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं ।  
बह्वे दनुया मिलेक्खुया .....

(उ १०।१६)

मनुष्य जन्म दुर्लभ है। उसके मिलने पर भी आर्यत्व पाना और भी दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मनुष्य होकर भी दस्यु और म्लेच्छ होते हैं।

(आर्य के नौ प्रकार—

- |                 |                   |
|-----------------|-------------------|
| १. क्षेत्र आर्य | ६. भाषा आर्य      |
| २. जाति आर्य    | ७. ज्ञान आर्य     |
| ३. कुल आर्य     | ८. दर्शन आर्य     |
| ४. कर्म आर्य    | ९. चारित्र आर्य । |
| ५. शिल्प आर्य   |                   |

साढ़े पचीस देश क्षेत्रार्य माने गए हैं—

- |             |               |                 |
|-------------|---------------|-----------------|
| १. मगध      | ९. पांचाल     | १८. दशार्ण      |
| २. अंग      | १०. जांगल     | १९. चेदि        |
| ३. बंग      | ११. सौराष्ट्र | २०. सिंधु सोनीर |
| ४. कलिंग    | १२. विदेह     | २१. शूरसेन      |
| ५. काशी     | १३. वत्स      | २२. भंगि        |
| ६. कौशल     | १४. शांडिल्य  | २३. वट्ट        |
| ७. कुरु     | १५. मलय       | २४. कुणाल       |
| ८. कुशावर्त | १६. मत्स्य    | २५. लाढ़        |
|             | १७. वरण       | अर्ध कैकय ।     |

देखें प्रजापता १।९२, ९३)

## म्लेच्छ

म्लेच्छा—अव्यक्तवाचो, न यदुक्तमार्यैरवधार्यते, ते च शक्यवनशबरादिदेशोद्भवाः, येप्यवाप्यापि मनुजत्वं

जन्तुहृत्पद्यते, एते च सर्वेऽपि धर्माधर्मगम्यागम्यभक्ष्या-  
भक्ष्यादि सकलायं व्यवहारबहिष्कृतास्तियं कप्राया एव ।

(उशावृ प ३३७)

जिसकी भाषा अव्यक्त होती है, जिसका कहा हुआ  
आर्य लोग नहीं समझ पाते, उन्हें म्लेच्छ कहा जाता  
है। शक, यवन, शबर आदि देशों में उत्पन्न लोगों को  
म्लेच्छ कहा गया है। वे आर्यों की व्यवहार पद्धति—धर्म  
अधर्म, गम्य-अगम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य से भिन्न प्रकार का  
जीवन जीते थे, इसलिए आर्य लोग उन्हें हेय दृष्टि से  
देखते थे।

### १३. पूर्ण इंद्रियों की दुर्लभता

लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिदियया हु दुल्लहा ।  
विगल्लिदियया हु दीसई.....॥

(उ १०।१७)

आर्यदेश में जन्म मिलने पर भी पांचों इंद्रियों से  
पूर्ण स्वस्थ होना दुर्लभ है। बहुत सारे लोग इंद्रियहीन  
दीख रहे हैं।

### १४. श्रुति की दुर्लभता और उसके हेतु

अहीणपंचिदियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा ।  
कुत्तिथनिसेवए जणे.....॥

(उ १०।१८)

पांचों इंद्रियों पूर्ण स्वस्थ होने पर भी उत्तम धर्म  
की श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग कुतूहिकों की सेवा  
करने वाले होते हैं।

आलस्स मोहऽवन्ना थंभा कोहा पमाय किक्किन्ता ।  
भय सोगा अन्नाणा वक्खेव कुळ्हला रमणा ।  
एएहि कारणेहि लद्धूण सुदुल्लहंपि माणुस्सं ॥  
न लहइ सुइ हिअकरि संसारुत्तारिणि जीवो ॥  
(उनि १६०, १६१)

श्रुति की दुर्लभता के तेरह कारण —

- |                      |                     |
|----------------------|---------------------|
| १. आलस्य             | ८. भय               |
| २. मोह               | ९. शोक              |
| ३. अवज्ञा या अश्लाघा | १०. अज्ञान          |
| ४. अहंकार            | ११. व्याक्षेप       |
| ५. क्रोध             | १२. कुतूहल          |
| ६. प्रमाद            | १३. क्रीडाप्रियता । |
| ७. कृपणता            |                     |

### १५. श्रद्धा की दुर्लभता

लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सदहणा पुणरावि दुल्लहा ।  
मिच्छत्तनिसेवए जणे.....॥

(उ १०।१९)

उत्तम धर्म की श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा होना  
अधिक दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यात्व का सेवन  
करने वाले होते हैं।

### १६. आचरण की दुर्लभता

धम्मं पि हु सदहंतया, दुल्लहया काएण फासया ।  
इह कामगुणेहि मुच्छिया.....॥

(उ १०।२०)

उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण  
करने वाले दुर्लभ हैं। इस लोक में बहुत सारे लोग  
कामगुणों में मूर्च्छित होते हैं।

### १७. दुर्लभता के अन्य प्रकार

माणुस्स खित्त जाई कुल रूवारोग आउयं बुद्धी ।  
सवणुग्गह सद्धा संजमो अ लोणंमि दुल्लहाइ ॥

(उनि १५९)

मनुष्यत्व की दुर्लभता के प्रसंग में बारह दुर्लभ  
वस्तुओं का उल्लेख है—

- |                |                    |
|----------------|--------------------|
| १. मनुष्य जन्म | ७. आयुष्य          |
| २. आर्यक्षेत्र | ८. बुद्धि          |
| ३. आर्यजाति    | ९. धर्म का श्रवण   |
| ४. आर्यकुल     | १०. धर्म का अवधारण |
| ५. गुरूपता     | ११. श्रद्धा        |
| ६. आरोग्य      | १२. संयम           |

इंदियलद्धी निव्वत्तणा य पज्जत्ति निरुवहय खेमं ।  
धाणारोम्भं सद्धा गाहग उवओग अट्टो य ॥

(उशावृ प १४५)

बारह वस्तुएं दुर्लभ हैं—

१. इन्द्रियलब्धि—पांच इंद्रियों की प्राप्ति ।
२. निर्वर्तना—इन्द्रियों की पूर्ण रचना ।
३. पर्याप्ति—पूर्ण पर्याप्तियों की प्राप्ति ।
४. निरुपहतता—अंगविकलता से रहित ।
५. क्षेम—संपन्न देश की प्राप्ति ।
६. ध्यान—सुभिक्ष क्षेत्र अथवा वैभवशाली क्षेत्र की प्राप्ति ।

७. आरोग्य—स्वस्थता ।

८. श्रद्धा ।

९. ग्राहक—शिक्षक, गुरु ।

१०. उपयोग—स्वाध्याय आदि में जागरूकता ।

११. अर्थ—धर्म विषयक जिज्ञासा ।

### मनुष्य जन्म : दस अंग

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउवखए च्या ।  
उवेति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायई ॥  
खेतं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास पोहसं ।  
चत्तारि कामखंदाणि, तत्थ से उववज्जई ॥  
मित्तवं नायवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं ।  
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसोवले ॥

(उ ३।१६-१८)

देव अपनी शील आराधना के अनुरूप स्थानों (कल्पों) में रहते हुए आयुक्षय होने पर वहां से च्युत होते हैं। फिर मनुष्य योनि को प्राप्त होते हैं। वे वहां दश अंगों वाली भोग सामग्री से युक्त होते हैं—

१. वे उन कुलों में उत्पन्न होते हैं, जहां चार काम-स्कन्ध—क्षेत्र, वास्तु, पशु और दास-पोरुषेय होते हैं।

२. वे मित्रवान् ३. ज्ञातिमान् ४. उच्चगोत्र वाले ५. वर्णवान् ६. नीरोग ७. महाप्रज्ञ ८. अभिजात (शिष्ट, विनीत) ९. यशस्वी और १०. बलवान् होते हैं।

### १८. मनुष्य की दस अवस्थाएं

बाला किड्डा मंदा बला य पन्ना य हायणि पवंचा ।  
पब्भार मम्मुही सायणी य दसमा उ कालदसा ॥  
जायमित्तस्स जंतुस्स, जा सा पढमिया दसा ।  
ण तत्थ सुहदुक्खाई, बहुं जाणंति बालया ॥  
विइयं च दसं पत्तो, णाणाकिड्डाहिं किड्डइ ।  
न तत्थ कामभोगेहिं, तिक्वा उप्पज्जई मई ॥  
तइय च दसं पत्तो, पंच कामगुणे नरो ।  
समत्थो भंजिउं भोए, जइ से अत्थि घरे घुवा ।  
चउत्थी उ बला नाम, जं नरो दसमस्सिओ ।  
समत्थो बलं दरिसिउं, जइ होइ निरुवइवो ॥  
पंचमि तु दसं पत्तो, आणुपुब्बीइ जो नरो ।  
इच्छियत्थं विचित्तेइ, कुडुंबं वाऽभिकंखई ॥  
छट्ठी उ हायणी नाम, जं नरो दसमस्सिओ ।  
विरज्जइ य कामेसु, इदिएसु य हायई ॥

सत्तमि च दसं पत्तो, आणुपुब्बीइ जो नरो ।  
निट्ठुहइ चिककणं खेलं, खासइ य अभिक्खणं ॥  
संकुचियवलीचम्मो, संपत्तो अट्ठमि दसं ।  
णारीणमणभिप्पेओ, जराए परिणामिओ ॥  
णवमी मम्मुही नाम, जं नरो दसमस्सिओ ।  
जराघरे विणस्संतो, जीवो वसइ अकामओ ॥  
हीणभिन्नसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ ।  
दुब्बलो दुक्खिओ सुवइ, संपत्तो दसमि दसं ॥

(दहावृ प ८,९)

१. बाला—यह नवजात शिशु की दशा है। इसमें सुख-दुःख की अनुभूति तीव्र नहीं होती।

२. क्रीडा—इसमें खेलकूद की मनोवृत्ति अधिक होती है, कामभोग की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती।

३. मन्दा—इस दशा में मनुष्य में काम-भोग भोगने का सामर्थ्य हो जाता है। वह विशिष्ट बल-बुद्धि के कार्य-प्रदर्शन में मन्द रहता है।

४. बला—इसमें बल-प्रदर्शन की क्षमता होती है।

५. प्रज्ञा—इसमें मनुष्य स्त्री, धन आदि की चिन्ता करने लगता है और कुटुम्बबुद्धि का विचार करता है।

६. हायनी—इसमें मनुष्य भोगों से विरक्त होने लगता है और इन्द्रियबल क्षीण हो जाता है।

७. प्रपञ्चा—इसमें मुंह से धूक गिरने लगता है, कफ बढ़ जाता है और बार-बार खांसना पड़ता है।

८. प्राग्भारा—इसमें चमड़ी में भुरियां पड़ जाती हैं और बुढ़ापा घेर लेता है। मनुष्य नारी-वत्त्व नहीं रहता।

९. मृन्मुखी—इसमें शरीर जरा से आक्रान्त हो जाता है। जीवन-भावना नष्ट हो जाती है।

१०. शायनी—इसमें व्यक्ति हीनस्वर, भिन्नस्वर, दीन, विपरीत, विचित्त (चित्तशून्य), दुर्बल और दुःखित हो जाता है। यह दशा व्यक्ति को निद्राघूषित जैसा बना देती है।

(सामान्यतः मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी जाती है। वह दस-दस वर्ष के अनुपात में बाला, क्रीडा आदि दस अवस्थाओं में विभक्त है। आचारांग सूत्र में सौ वर्ष के संपूर्ण आयु के तीन विभाग किए गये हैं—

प्रथम वय—३० वर्ष तक ।

मध्यम वय—६० वर्ष तक ।

अंतिम वय—१०० वर्ष तक ।

मध्यम वय के प्रथम दशक (४० वर्ष) तक शरीर का उपचय होता रहता है। फिर शरीर की शोभा, शक्ति आदि की हानि प्रारंभ हो जाती है। पचास वर्ष की अवस्था में इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लग जाती है। फिर वय के साथ-साथ इन्द्रिय-शक्ति की क्षीणता का अनुभव होने लगता है। प्रतीत होता है, सबसे पहले चक्षु इन्द्रिय की शक्ति क्षीण होती है, फिर श्रोत्र और घ्राण की। अन्त में रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय क्षीण होती है। अंतिम वय में इन्द्रियां मूढभाव को पैदा करती हैं। इसका तात्पर्य है कि इन्द्रियों की शक्ति जैसे-जैसे क्षीण होती है, पुरुष उन इन्द्रिय-विषयों के प्रति अधिक आसक्त होता जाता है। बुढ़ापे में प्रायः लोगों का स्वभाव मूर्च्छाप्रस्त हो जाता है।

इन्द्रियों के केन्द्रबिन्दु पृष्ठमस्तिष्क में होते हैं। इन्द्रियों का प्रज्ञान उनके केन्द्रबिन्दुओं के क्षीण होने पर क्षीण होता है। उस स्थिति में असमय में भी मृत्यु हो सकती है। श्रोत्र आदि इन्द्रियों के लाखों स्नायु होते हैं। उनके अभिघात से मृत्यु हो सकती है।

**मनोगुप्ति** मन की प्रवृत्ति का निरोध। असत् चिन्तन से निवर्तन। (द्र. गुप्ति)

**मनोयोग**—मन की प्रवृत्ति। (द्र. योग)

**मरण** - आयु की समाप्ति।

## १. मरण के दो प्रकार

संतिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणतिया।

अकाममरणं वेव, सकाममरणं तथा।।

(उ ५।२)

मरण के दो प्रकार हैं—अकाम मरण और सकाम मरण।

### अकाम मरण

....अकाममरणं बालाणं....। (उ ५।१७)

अज्ञानी और अविरत का मरण अकाम मरण (बाल मरण) कहलाता है।

ते हि विषयाभिष्वंगतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते।

दुष्कृतकर्मणां परलोकाद् बिभ्यतां यन्मरणमुक्तम्।

(उणावृ प २४२)

जो व्यक्ति विषय में आसक्त होने के कारण मरना नहीं चाहता, त्रिवशता की स्थिति में मरता है, उस मरण को अकाम मरण कहा जाता है।

### सकाम मरण

....सकाममरणं पंडियाणं....।। (उ ५।१७)

संयति का मरण सकाम मरण (पंडित मरण) कहलाता है।

सह कामेन—अभिलाषेण वर्तते इति सकामं। सकाममिव सकामं मरणं प्रत्यसन्नस्ततया, तथात्वं चोत्सव-भूतत्वात् तादृशां मरणस्य। (उणावृ प २४२)

जो मृत्युकाल में भयभीत नहीं होता और उसे उत्सव-रूप मानता है, उसका इच्छामरण सकाम मरण कहलाता है।

(बाल-मरण के बारह भेद हैं—

- |             |                  |
|-------------|------------------|
| १. वलय      | ७. जल-प्रवेश     |
| २. वशासं    | ८. अग्नि-प्रवेश  |
| ३. अन्तःशलय | ९. विष-भक्षण     |
| ४. तद्भव    | १०. शस्त्रावपाटन |
| ५. गिरि-पतन | ११. वैहायस       |
| ६. तरु-पतन  | १२. गृहपृष्ठ।    |

पंडित-मरण के दो भेद हैं—प्रायोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान।

यहां इंगिनीमरण को भक्तप्रत्याख्यान का ही एक भेद स्वीकार किया गया है। देखें—भगवई २।४९ की वृत्ति।)

### १. मरण के दो प्रकार

- अकाम मरण
- सकाम मरण

### २. मरण के सतरह प्रकार

- आधीच मरण आदि
- गूढ़पृष्ठ और वैहायस मरण

### ३. प्रसस्त मरण

- \* भक्तपरिज्ञा आदि (द्र. अनशन)
- \* आयुष्य क्षीण होने के कारण (द्र. कर्म)
- \* सोपक्रम-निष्पक्रम आयुष्य (द्र. कर्म)

### ४. एक साथ कितने मरण ?

### ५. मरण कितनी बार ?

### ६. मरण : काल, अंतर आदि

- \* केवली-मरण (द्र. केवली)



मरणं पि सपुण्णाणं, जहा मेयमणस्सुयं ।  
विप्पसण्णमणाघायं, संजयाण वुसीमओ ॥  
न इमं सव्वेसु भिक्खुसु, न इमं सव्वेसुज्जारिसु ।  
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥

(उ ५।१८, १९)

पुष्यशाली, संयमी और जितेन्द्रिय पुरुषों का मरण प्रसन्न और आघातरहित होता है। सकाम मरण न सब भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थों को। क्योंकि गृहस्थ विविध प्रकार के शील वाले होते हैं और भिक्षु भी विषमशील वाले होते हैं।

## २. मरण के सतरह प्रकार

आवीचि ओहि अंतिय वलायमरणं वसट्टमरणं च ।  
अंतोसल्लं तवभव वालं तह पंडियं मीसं ॥  
छउमत्थमरण केवल वेहाणस गिद्धपिट्टमरणं च ।  
मरणं भक्तपरिण्णा इंगिणी पाओवगमणं च ॥

(उनि २१२, २१३)

मरण के सतरह प्रकार हैं—

- |                 |                               |
|-----------------|-------------------------------|
| १. आवीचिमरण     | १०. बाल-पंडितमरण              |
| २. अवधिमरण      | ११. छद्मस्थमरण                |
| ३. अत्यंतमरण    | १२. केवलमरण                   |
| ४. वलनमरण       | १३. वैहायसमरण                 |
| ५. वशार्त्तमरण  | १४. गृद्धपृष्ठ (गृध्रस्पृष्ट) |
| ६. अन्तःशल्यमरण | मरण                           |
| ७. तद्भवमरण     | १५. भक्तपरिज्ञामरण            |
| ८. बालमरण       | १६. इंगिनीमरण                 |
| ९. पंडितमरण     | १७. प्रायोपगमनमरण ।           |

(सतरह मरण विभिन्न विवक्षाओं से प्रतिपादित हैं।

आवीचि, अवधि, अत्यंत और तद्भव मरण भव की दृष्टि से, वलन्, वैहायस, गृद्धपृष्ठ, वशार्त्त और अन्तःशल्य-मरण आत्मदोष, कषाय आदि की दृष्टि से, बाल और पंडित मरण चारित्र्य की दृष्टि से, छद्मस्थ और केवल-मरण ज्ञान की दृष्टि से तथा भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन मरण अनशन की दृष्टि से प्रतिपादित हैं। समवाओ १७।९ में भक्तपरिज्ञा के स्थान पर भक्त-प्रत्याख्यान नाम है। मूलाराधना की विजयोदया वृत्ति में क्रम तथा नामों में भी अन्तर है।)

### आवीचिमरण

अणुसमयनिरंतरमवीइसस्त्रियं तं भणंति पंचविहं ।  
दव्वं खित्तं काले भवे य भावे य संसारे ॥

प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरायुर्दलिकोदयात् पूर्व-  
पूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणाऽवस्था यस्मिस्तदाऽऽवीचि ।  
....अथवा वीचिः विच्छेदस्तदभावादवीचि तत्संज्ञितम् ।

(उनि २१५ श्रावु प २३१)

वीचि का अर्थ है तरंग। समुद्र और नदी में प्रति-  
क्षण लहरें उठती हैं। वैसे ही आयुर्कर्म भी प्रतिसमय  
उदय में आता है और प्रत्येक समय का जीवन प्रतिसमय  
में नष्ट होता है। इस प्रकार प्रतिक्षण आयुर्कर्म के दलिकों  
की विच्युति आवीचिमरण कहलाता है। अथवा वीचि  
का अर्थ है—विच्छेद। जिसमें प्रतिक्षण—निरन्तर मृत्यु  
होती है, वीचि में विच्छेद या व्यवधान नहीं होता, वह  
अवीचिमरण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की  
अपेक्षा से आवीचिमरण के पांच प्रकार हैं।

### अवधिमरण

एमेव ओहिमरणं जाणि मओ ताणि चैव मरइ पुणो ।....

अवधिनाम यानि द्रव्याणि साम्प्रतं आयुष्कत्वेन  
गृहीतानि पुनरायुष्कत्वेन गृहीत्वा मरिष्यति इत्यतो  
अवधिमरणम् । (उनि २१६, चू पृ १२७, १२८)

जो कर्मद्रव्य वर्तमान आयुष्य के रूप में गृहीत है  
और पुनः आयुष्य के कर्मद्रव्य ग्रहण कर (नया आयुष्य  
कर्म बांधकर) जीव मरता है, वह अवधिमरण है।

### अत्यंतमरण

....आइयंतियमरणं नचि मरइ ताइ पुणो ॥

आत्यन्तिकं अवधिमरणविपर्यासाद्धि आदियंतियमरणं  
भवति । तं जहा...यानि द्रव्याणि सांप्रतं मरति, न ह्यसौ  
पुनस्तानि मरिष्यति । (उनि २१६, चू पृ १२८)

जीव वर्तमान आयु-कर्म के पुद्गलों का अनुभव कर  
मरण प्राप्त हो, फिर उस भव में उत्पन्न न हो तो उस  
मरण को अत्यंत मरण कहा जाता है।

### वलनमरण

संजमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं तु ।....  
वलंता क्षुधापरिसहेहि मरंति, ण तु उवसग्गमरणं ति तं  
वलायमरणं । (उनि २१७, चू पृ १२८)

जो संयमयोगों में विषण्ण होकर, क्षुधा आदि परीषहों  
से पराजित होकर मरते हैं, उनकी मृत्यु को वलनमरण  
कहा जाता है। यह उपसर्गों से होने वाली मृत्यु नहीं है।

**वशासंमरण**

...इदिवविसयवसगया मरंति जे तं वसटं तु ॥  
(उनि २१७)

जो इन्द्रियों के वशीभूत होकर मरण को प्राप्त करते हैं, वह वशासं मरण कहलाता है ।

**अन्तःशल्यमरण**

लज्जाइ गारवेण य बहुस्सुयमएण वाऽवि दुच्चरिअं ।  
जे न कहंति गुरूणं न हृ ते आराहगा हुंति ॥  
गारवपंकनिबुद्धा अइयारं जे परस्स न कहंति ।  
दंसणनाणचरित्ते ससल्लमरणं ह्वइ तेसि ॥  
(उनि २१८, २१९)

जो लज्जा, गौरव और बहुश्रुत होने के अभिमान से अतिचारों की गुरु के समक्ष आलोचना न कर दोषपूर्ण अवस्था में मरण को प्राप्त करते हैं, उनका मरण अन्तःशल्यमरण कहलाता है ।

**तद्भवमरण**

मोत्तुं अकम्मभूमगनरतिरिए सुरगणे अ नेरइए ।  
सेसाणं जीवाणं तब्भवमरणं तु केसिचि ॥  
(उनि २२१)

अकर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव और नारकों के अतिरिक्त शेष जीवों का मरण तद्भवमरण कहलाता है ।

वर्तमान में जिस भव में है, पुनः उसी भव का आयुष्य बांधकर जो जीव मरता है, वह तद्भवमरण है ।

कर्मभूमिजनरतिरश्चां प्राणिनां तद्भवमरणं, तेषामेव पुनस्तत्रोत्पत्तेः, तद्धि यस्मिन् भवे वर्तते जन्तुस्तद्भव-योग्यमेवायुर्वध्वा पुनस्तत्क्षयेण त्रियमाणस्य भवति, तुशब्दस्तेषामपि संख्येयवर्षायुषामेवेति विशेषख्यापकः । असंख्येयवर्षायुषां हि युगलधामिकत्वादकर्मभूमिजानामिव देवेभ्योत्पादः । तेषामपि न सर्वेषां, किन्तु केषाञ्चित् तद्भवोत्पादानुरूपमेवायुःकर्मोपचिन्वतामिति ।

(उशावू प २२३)

संख्येयवर्षजीवी कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों का तद्भवमरण होता है क्योंकि वे ही पुनः उसी भव में उत्पन्न हो सकते हैं । वे वर्तमान में जिस भव में हैं, उसी भव के योग्य आयुष्य बांधकर आयु क्षीण होने पर पुनः वहीं उत्पन्न हो जाते हैं । संख्येयवर्षजीवियों में भी सबका तद्भवमरण नहीं होता, केवल उन्हीं का होता है, जो उस भव के योग्य आयुर्कर्म का बंध करते हैं ।

अकर्मभूमिज मनुष्यों की तरह असंख्येयवर्षजीवी कर्मभूमिज मनुष्य योगलिक होने के कारण देवों में ही उत्पन्न होते हैं ।

**बाल, पंडित और बालपंडितमरण**

अविरयमरणं बालं भरणं विरयाण पंडियं विति ।

जाणाहि बालपंडियमरणं पुण देसविरयाणं ॥

(उनि २२२)

बालमरण—अविरत का मरण ।

पंडितमरण—सर्वविरत (संयती) का मरण ।

बालपंडितमरण—देशविरत (संयतासंयती) का मरण ।

**छद्मस्थमरण**

मणपज्जवोहिनाणी सुअमइनाणी मरंति जे समणा ।

छुउमत्थमरणमेयं ..... ॥

(उनि २२३)

मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मति-ज्ञानी श्रमण के मरण को छद्मस्थमरण कहा जाता है ।

**केवलीमरण**

...केवलिमरणं तु केवलियो? ॥ (उनि २२३)

केवलज्ञानी का मरण केवलीमरण कहलाता है ।

**गृहपृष्ठ और वैहायसमरण**

गिद्धाइभक्खणं गिद्धपिट्ठं उब्बंधणाइ वेहासं ।

एए दुस्सिनिवि मरणा कारणजाए अणुष्णाया ॥

गृद्धाः प्रतीतास्ते आदियेषां शकुत्तिकाशिवादीनां

तंभक्षणं गम्यमानत्वादात्मनः तदनिवारणादिना तद्भक्ष्य-करिकरभादिशरीरानुप्रवेशेन च गृध्रादिभक्षणं...गृध्रैः स्पृष्टं--स्पर्शनं यस्मिस्तद्गृध्रस्पृष्टम्, यदिवा गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च मर्तुर्यस्मिस्तद्गृध्र-पृष्ठम्, स ह्यलक्तकपुष्पिकापुटप्रदानेनाप्यात्मानं गृध्रादिभिः पृष्ठादौ भक्षयतीति । पश्चान्निदिष्टस्यापि चास्य प्रथमतः प्रतिपादनमत्यन्तमहासत्त्वविषयतया कर्मनिर्जरां प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम्...उत्- ऊर्ध्वं वृक्षशाखादौ बन्धनमुद-बन्धनं तदादिर्यस्य तरुगिरिभृगुप्रपातादेरात्मजनितस्य मरणस्य तदुद्बन्धनादि...गृध्रपृष्ठवैहायसाख्ये मरणे कारणजाते कारणप्रकारे दर्शनमालिन्यपरिहाररादिके उदायिनृपानुमृततथाविधाचार्यवत् अनुज्ञाते, तीर्थकृद्गण-धरादिभिरिति । (उनि २२४ शावू प २३४, २३५)

किसी कारणवश किए जाने वाले ये दो प्रकार के मरण— गृहपृष्ठमरण तथा वैहायसमरण—मुनि के लिए अनुज्ञात हैं ।

हाथी, ऊंट आदि बृहदकाय पशुओं के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ उस जीवित शरीर को भी गीध, चील, शृगाल आदि जानवर नोंचकर मार डालते हैं । उस समय वह अनुप्रविष्ट जीवित मनुष्य उनको निवारित नहीं करता । गृहपृष्ठ का अर्थ है—गीध आदि के द्वारा खाये जाने वाले शरीर के पीठ, उदर आदि अवयव । इस प्रकार का मरण अत्यन्त साहसी और सत्त्व-शाली व्यक्ति ही स्वीकार कर सकता है, सामान्य व्यक्ति नहीं । यह कर्मनिर्जरा का एक प्रधान साधन है ।

ग्ने में रस्सी बांधकर वृक्ष की शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने, प्रपात से झंपा लेने से होने वाले मरण को वैहायसमरण कहा जाता है ।

ये दोनों प्रकार के मरण दर्शन आदि की मलिनता के प्रसंग उपस्थित होने पर अथवा ऐसे ही किसी कारणवश तीर्थंकरों तथा गणधरों द्वारा अनुज्ञात हैं । उदायी राजा के मरण का अनुसरण कर एक आचार्य ने इन दोनों में से किसी एक मरण को स्वीकार किया था ।

(आयारी ८।५८ में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए मुनि को वैहायसमृत्यु के प्रयोग की स्वीकृति दी गई है । ठाणं २।४१३ में शीलरक्षा आदि प्रयोजन होने पर मुनि के लिए दो प्रकार के मरण अनुमत हैं—वैहायसमरण तथा गृह-पृष्ठमरण । देखें—आचारांगभाष्यम् पृ. ३७८, ३७९ ।)

गृहपृष्ठस्य...वैहायसिकेऽन्तर्भावः । केवलमल्पसत्त्वै-  
रध्यवसातुमशक्यताद्वयापनार्थमस्य भेदेनोपन्यासः ।

(उणावृ प २३४)

गृहपृष्ठमरण का वैहायसमरण में अन्तर्भाव हो जाता है । अल्प शक्ति वाले व्यक्ति इसे स्वीकार करने में असमर्थ होते हैं, इसलिए इसका पृथक् ग्रहण किया गया है ।

### ३. प्रशस्त मरण

एगंतपसत्था तिग्णि इत्थ मरणा जिणेहि पणत्ता ।

भक्तपरिण्णा इगिणी पाउवगमणं च कमजिटठं ॥

(उनि २३४)

तीन मरण एकांत प्रशस्त हैं

भक्तपरिज्ञा, इगिनी और प्रायोपगमन—ये तीनों मरण उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं । (द्र. अनशन)

### ४. एक साथ कितने मरण ?

दुग्नि व तिननि व चत्तारि पंच मरणाइ अबीइमरणमि ।

कइ मरइ एगसमयंसि विभासावित्थरं जाणे ॥

सव्वे भवत्थजीवा मरंति आवीइअं सया मरणं ।

ओहि च आइअंतिय दुग्निवि एयाइ भयणाए ॥

ओहि च आइअंतिय बालं तह पंडिअं च मीसं च ।

छउमं केवलमरणं अन्नुत्तेणं विरुज्जंति ॥

(उनि २२७-२२९)

एक समय में जितने मरण हो सकते हैं, वे बाल, बालपंडित और पंडित मरण की अपेक्षा से इस प्रकार हैं—

#### बाल की अपेक्षा—

१. एक समय में दो मरण—अवधि और आत्यन्तिक में से एक और दूसरा बाल-मरण ।

२. एक समय में तीन मरण—जहां तीन होते हैं वहां तद्भवमरण और बढ़ जाता है ।

३. एक समय में चार मरण—जहां चार होते हैं वहां वशार्त्तमरण और बढ़ जाता है ।

४. एक समय में पांच मरण—वैहायस और गृहपृष्ठ में से कोई एक बढ़ जाता है । बलमरण और शल्यमरण को बाल-मरण के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है ।

#### पंडित की अपेक्षा—

पंडित मरण की विवक्षा दो प्रकार से की गई है—  
दृढ़ संयमी पंडित और शिथिल संयमी पंडित ।

#### (क) दृढ़-संयमी पंडित—

१. जहां दो मरण एक समय में होते हैं, वहां अवधि-मरण और आत्यन्तिक-मरण में से कोई एक होता है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं । दूसरा पंडित-मरण ।

२. जहां तीन मरण एक साथ होते हैं, वहां छद्मस्थ-मरण और केवल-मरण में से एक बढ़ जाता है ।

३. जहां चार मरण की विवक्षा है, वहां भक्तप्रत्या-ख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन में से एक बढ़ जाता है ।

४. जहां पांच मरण की विवक्षा है, वहां वैहायस और गृहपृष्ठ में से एक मरण बढ़ जाता है ।

## (ख) शिथिल संयमी पंडित

१. जहाँ दो मरण की एक समय में विवक्षा है, वहाँ अवधि और आत्यन्तिक में से एक और किसी कारणवश वैहायस और गृहपृष्ठ में से एक हो सकता है।
२. कर्णचिद् शल्य-मरण होने से तीन भी हो जाते हैं।
३. जहाँ बलन्मरण होता है, वहाँ एक साथ चार हो जाते हैं।
४. छद्मस्थ-मरण की जहाँ विवक्षा होती है वहाँ एक साथ पाँच मरण हो जाते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमनमरण विशुद्ध संयम वाले पंडितों के ही होता है। दोनों प्रकार के पंडित-मरण की विवक्षा में तद्भव-मरण नहीं लिया गया है क्योंकि वे देवगति में ही उत्पन्न होते हैं।

## बाल-पंडित की अपेक्षा —

१. जहाँ दो मरण की एक समय में विवक्षा है, वहाँ अवधि और आत्यन्तिक में से कोई एक और बाल-पंडितमरण।
२. तद्भव-मरण साथ होने से तीन मरण।
३. वक्षार्त-मरण साथ होने से चार मरण।
४. वैहायस अथवा गृहपृष्ठ साथ होने से पाँच।

(उशावृ प २३७, २३८)

## ५. मरण कितनी बार ?

बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे ।  
पंडियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे ॥

(उ ५।३)

बाल जीवों के अकाम मरण बार-बार होता है। पंडितों (केवलियों) के सकाम मरण उत्कृष्टतः एक बार होता है।

संखमसंखमणता कमो उ इक्किक्कगंमि अपसत्थे ।  
सत्तट्ठम अणुबंधो पसत्थए केवल्लिमि सइं ॥

सामान्येन पञ्चेन्द्रियाविरतदेशविरतौ च सङ्ख्याताः,  
शेषाः पृथिव्युदकाग्निवायुद्दीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः  
असंख्याताः, वनस्पतयोऽनन्ता, एते हि कायस्थित्यपेक्षया  
यथाक्रमं बहुबहुतरबहुतमस्थितिभाज इति कृत्वा । प्रशस्ते  
कति वारा म्रियत इत्याह...सप्त वा अष्ट वा वारा  
म्रियते, क्व ? प्रशस्तके सर्वविरतिसम्बन्धिनि पण्डित-  
मरणे, इह च चारित्रस्य निरन्तरमवाप्त्यसम्भवात् तद्वत

एव च प्रशस्तमरणभावादर्याद् व्यवधानमपि देवभवैरा-  
श्रियते । (उनि २३० शावृ प २३९)

अप्रशस्त मरण पंचेन्द्रिय अविरत और देशविरत जीवों के संख्यात बार तथा पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—इन जीवों के असंख्यात बार और वनस्पति जीवों के अनंत बार हो सकता है। इन जीवों की कायस्थिति क्रमशः बहु, बहुतार और बहुतम होती है। इस कायस्थिति की अपेक्षा से ही यह प्रतिपादन हुआ है। प्रशस्त मरण (पंडित मरण) सर्व-विरत के होता है और वह सात-आठ बार हो सकता है। चारित्र की प्राप्ति निरंतर नहीं होती, अतः इसमें देवभव का व्यवधान रहता है। केवलीमरण एक बार ही होता है।

## ६. मरण : काल, अंतर आदि

मरणे अणंतभागो इक्किक्के मरइ आइमं मोत्तुं ।

अणुसमयाई नेयं पढमचरिमंतरं नत्थि ॥

सेसाणं मरणाणं नेओ संतरनिरंतरो उ गमो ।

साई सपज्जवसिया सेसा पढमित्तुगमणाइ ॥

तथा च वृद्धाः—“बालमरणाणि अणाइयाणि वा अपज्जवसियाणि वा, अणादियाणि वा सपज्जवसियाणि, पंडियमरणाणि पुण साइयाणि सपज्जवसियाणि” मुक्त्य-  
वाप्तौ तदुच्छित्तिसम्भवादिति भावः। प्रथमकम्—आवीचि-  
मरणम् आदिरहितं प्रवाहापेक्षयेति भावः, प्रतिनियतायुः-  
पुद्गलापेक्षया तु साद्यपि सम्भवति, उपलक्षणत्वाच्चास्या-  
पर्यवसितं च अभव्यानां, भव्यानां पुनः सपर्यवसितमपि ।

(उनि २३१, २३२ शावृ प २४०)

आवीचिमरण सिद्धों के अतिरिक्त सब जीवों के होता है। सिद्ध अनंत हैं, इसलिए आवीचिमरण के स्वामी सब जीवों से अनंत भाग ग्यून हैं।

शेष प्रत्येक मरण के स्वामी सब जीवों की अपेक्षा अनंत भाग ही हैं।

समय—आवीचिमरण जीवनपर्यंत अनुसमय—सतत होता है, शेष मरण आयु के अंतिम समय में ही होते हैं।

अंतर—आवीचिमरण निरंतर होता है, अतः वह सांतर/व्यवहित नहीं है। केवलीमरण चरमशरीरी के होता है, वह अंतिम मरण है, उसका पुनः मरण नहीं होता, अतः केवली मरण भी सांतर नहीं है।

शेष अवधि आदि पन्द्रह मरण सांतर और निरंतर—  
दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

**काल**—आवीचिमरण प्रवाह की अपेक्षा अनादि और प्रतिनियत आयुद्रव्य की अपेक्षा सादि भी है। यह अभव्यों की अपेक्षा अपर्यवसित और भव्यों की अपेक्षा सपर्यवसित भी है। शेष सोलह मरण एक सामयिक होने से सादि-सपर्यवसित हैं। प्रवाह की अपेक्षा इनमें तीनों विकल्प प्राप्त हैं—सादि-सपर्यवसित, अनादि-सपर्यवसित, अनादि-अपर्यवसित। बालमरण अनादि-अपर्यवसित और अनादि-सपर्यवसित है। पंडितमरण सादि-सपर्यवसित है।

मा मा हु विचि तेज्जा जीवामि चिरं मरामि य लहुति ।

जइ इच्छसि तरिउं जे संसारमहोदहिमपारं ॥

(उशावृ प २४२)

यदि तुम संसारसागर से तैरना चाहते हो तो यह मत सोचो कि मैं दीर्घजीवी बनूँ या शीघ्र मेरी मृत्यु हो।

णत्थि किर सो पएसो, लोए वालगगकोडिमेत्तो वि ।

जम्मणमरणाबाहा, जत्थ जिएहि न संपत्ता ॥

(उसुवृ प ६७)

लोक में केश के अग्रभाग जितना भाग भी ऐसा नहीं है, जहाँ जीव ने जन्म-मरण न किया हो।

**मरुदेवा**—भगवान् ऋषभ की माता। इस अव-सर्पिणी काल में प्रथम सिद्ध।

(द्र. तीर्थकर)

**मत्तिल**—उन्तीसवें तीर्थकर। (द्र. तीर्थकर)

**महावीर**—चौबीसवें तीर्थकर। (द्र. तीर्थकर)

**महाव्रत**—प्राणातिपात आदि सावद्य योग का सर्वथा प्रत्याख्यान।

१. महाव्रत का अर्थ और प्रयोजन

२. पांच महाव्रत

\* छठा व्रत (द्र. रात्रिभोजन विरमण)

३. प्राणातिपात विरमण (अहिंसा) महाव्रत का स्वरूप

\* छह जीवनिकायसंयम : भ्रमण का आचार

(द्र. अहिंसा)

४. अहिंसा महाव्रत की भावना

५. अहिंसा प्रधान मूलगुण

६. हिंसा का स्वरूप

o हिंसा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव

७. सत्य महाव्रत

८. सत्य महाव्रत की भावना

\* सत्य आदि भाषा के प्रकार (द्र. भाषा)

\* भाषा सम्बन्धी विवेक (द्र. भाषासमिति)

९. मृषावाच का स्वरूप

o प्रकार

१०. अचौर्य महाव्रत

११. अचौर्य महाव्रत की भावना

१२. भाव चौर्य के प्रकार और परिणाम

१३. अवत्तादान के प्रकार

\* ब्रह्मचर्य महाव्रत (द्र. ब्रह्मचर्य)

१४. अपरिग्रह महाव्रत

१५. अपरिग्रह महाव्रत की भावना

१६. परिग्रह के द्रव्य, क्षेत्र

\* परिग्रह के प्रकार (द्र. परिग्रह)

o सूच्छा परिग्रह

१७. परिग्रह की निकृष्टता

१८. परिग्रहत्याग की निष्पत्ति

\* महाव्रत और शासनभेद (द्र. शासनभेद)

\* महाव्रत और चारित्र (द्र. चारित्र)

१. महाव्रत का अर्थ और प्रयोजन

सावगवयाणि खुडुगाणि, ताणि पडुक्च साहूण वयाणि महंतानि भवन्ति।...जम्हा य भगवन्तो साधवो तिविहं तिविहेण पचचखायन्ति तम्हा तेषि महव्वयाणि भवन्ति, सावयाणं पुण तिविहं दुविहं पचचखायमाण्णं देसविरईए खुडुलगाणि वयाणि भवन्ति। (दजिचू पृ १४४, १४६)

महाव्रत का अर्थ है महान् व्रत।

साधु तीन करण और तीन योग से पापों का त्याग करते हैं अतः उनके व्रत महाव्रत होते हैं। श्रावक के दो करण तथा तीन योग आदि के रूप में प्रत्याख्यान होने से देशविरति होती है, अतः उनके व्रत अणु होते हैं।

इच्छेयाइं पंच महव्वयाइं राईभोयणवेरमणछट्टाइं अत्तहियदुयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

(द ४/सूत्र १७)

मैं अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतों और रात्रिभोजनविरति रूप छठे व्रत को आत्महित—मोक्ष के लिए अंगीकार कर विहार करता हूँ।

## २. पांच महाव्रत

पंचहिं महव्वर्णहि—पाणाइवायाओ वेरमणं मुसा-  
वायाओ वेरमणं अदिन्नादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं  
परिग्गहाओ वेरमणं । (आव ४।८)

महाव्रत के पांच प्रकार हैं—

१. प्राणातिपातविरमण ।
२. मृषावादविरमण ।
३. अदत्तादानविरमण ।
४. मैथुनविरमण ।
५. परिग्रहविरमण ।

अहिंस सच्चं च अतेणमं च,

तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च ।

पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,

चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥

(उ २१।१२)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये  
पांच महाव्रत हैं ।

## ३. प्राणातिपात विरमण (अहिंसा) महाव्रत का स्वरूप

पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चवखाणि—से मुहुमं वा  
बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाएज्जा  
नेवत्तेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न  
समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं  
वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न  
समणुजाणामि । (द ४, सू ११)

भंते ! पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरमण  
होता है ।

भंते ! मैं सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता  
हूँ । सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर जो भी प्राणी है  
उनके प्राणों का अतिपात मैं स्वयं नहीं करूंगा, दूसरों से  
नहीं कराऊंगा और अतिपात करने वालों का अनुमोदन  
भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन  
योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूंगा न  
कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा ।

पाणाइवायवेरमणं नामं नाउं सद्धिऊण पाणाति-  
वायस्स अकरणं भण्णइ । (दजिचू पृ १४६)

प्राणातिपात विरमण का अर्थ है—सम्यक्ज्ञान और  
श्रद्धापूर्वक प्राणातिपात से सर्वथा निवृत्त होना ।

प्रत्याख्यामीति प्रतिशब्दः प्रतिषेधे आडाभिमुख्ये  
ख्या प्रकथने, प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं प्राणातिपातस्य  
करोमि प्रत्याख्यामीति, अथवा—प्रत्याचक्षे—संवृतात्मा  
साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्य आदरेणाभिधानं करोमीत्यर्थः ।

(दहावृ प १४४, १४५)

प्रत्याख्यान में 'प्रति' शब्द निषेध अर्थ में, 'आ'  
अभिमुख अर्थ में और 'ख्या' धातु कहने के अर्थ में है ।

प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ, अर्थात्  
प्राणातिपात के प्रतीप अभिमुख कथन करता हूँ—  
प्राणातिपात न करने की प्रतिज्ञा करता हूँ । अथवा मैं  
संवृतात्मा अनागत पाप के प्रतिषेध के लिए आदरपूर्वक—  
भावपूर्वक अभिधान करता हूँ ।

## ४. अहिंसा महाव्रत की भावना

पढमस्स महव्वयस्स इमाओ पंच भावणाओ भवन्ति—  
ईरियासमिए ... आलोइयपाणभोयणभोयी... आदाणभंड-  
मत्तनिक्खेवणासमिए सया... मणसमिए... वइसमिए ।

(आवचू २ पृ १४३)

अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाएं हैं—

१. ईर्यासमिति ।
२. आलोकित पान-भोजन ।
३. आदाननिक्षेप समिति ।
४. मन समिति ।
५. वचन समिति ।

... पंचवीसाए भावणाहिं... (आव ४।८)

ताओ महव्वयाणं थिरीकरणनिमित्तं भवन्ति ।

(आवचू २ पृ १४३)

महाव्रतों के स्थिरीकरण के लिए पच्चीस भावनाओं  
का अभ्यास किया जाता है ।

## ५. अहिंसा प्रधान मूलगुण

महव्वतादो पाणातिवाताओ वेरमणं पहाणो मूलगुण  
इति, जेण अहिंसा परमो धम्मो । सेसाणि महव्वताणि  
एतस्सेव अत्थविसेसगाणीति तदणतरं । (दअचू पृ ८२)

महाव्रतों में प्राणातिपातविरमण प्रधान मूलगुण है ।  
अहिंसा परम धर्म है । शेष महाव्रत अहिंसा को विशिष्ट/  
पुष्ट बनाते हैं । अतः क्रम की दृष्टि से अहिंसा महाव्रत  
का प्रथम स्थान है ।

## ६. हिंसा का स्वरूप

पाणातिपातो नाम पाणाणं साधुमेरातिक्कमेणपातो ।  
(आवचू २ पृ ९३)

साधु-मर्यादा का अतिक्रमण कर प्राणों का अतिपात करना प्राणातिपात है ।

प्राणाः—इन्द्रियादयः तेषामतिपातः प्राणातिपातः—  
जीवस्य महादुःखोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव ।

(दहावृ प १४४)

केवल जीवों को मारना ही अतिपात नहीं है, उनको किसी प्रकार का कष्ट देना भी प्राणातिपात है ।

**हिंसा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव**

प्राणातिपाते चतुर्विधे, तं जहा—दध्वतो खेततो कालतो भावतो । दध्वतो छमु जीवनिकाएसु, खेततो सव्वलोगे, कालतो दिया वा राओ वा, भावतो रागेण वा दोसेण वा ।

(दअचू पृ ८०)

प्राणातिपात के चार प्रकार—

द्रव्यतः—छह जीवनिकाय ।

क्षेत्रतः—समूचा लोक ।

कालतः—दिन-रात ।

भावतः—राग-द्वेष ।

### ७. सत्य महाव्रत

दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि—से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहि मुसं वायावेज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जाव-ज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

(द ४ सूत्र १२)

भन्ते ! दूसरे महाव्रत में मृषावाद की विरति होती है ।

भन्ते ! मैं सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ । क्रोध से या लोभ से, भय से या हंसी से, मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूंगा, दूसरों से असत्य नहीं बुलवाऊंगा और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा ।

सच्चं—अणुवघाययं परस्स वयणं । (दअचू पृ ११)

जो वचन दूसरे का उपघात नहीं करता, वह सत्य है ।

मुसावाओ य लोभम्मि, सव्वसाहूहि गरहिओ ।  
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा भोसं विवज्जए ॥

(द ६।१२)

इस समूचे लोक में मृषावाद सब साधुओं द्वारा गहित है और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है । अतः निग्रन्थ असत्य न बोले ।

### ८. सत्य महाव्रत की भावना

दोच्चे महव्वते मुसावायाओ वेरमणं, तस्स खलु इमाओ पंच भावणाओ—हासं परियाणति से निग्गंथे—अणुवीइभासए—क्रोधं परियाणति—लोभं परियाणति—भयं परियाणति— ।

(आवचू २ पृ १४४)

सत्य महाव्रत की पांच भावनाएँ—

१. हास्य विवेक ।

२. विमर्शपूर्वक बोलना ।

३. क्रोध विवेक ।

४. लोभ विवेक ।

५. भय विवेक ।

### ९. मृषावाद का स्वरूप

मुसावातो नाम असच्चवयणं । साधुणमधितं तमसच्चं सत्तऽहियं असच्चंति वयणाओ । किच्च अहितं ? जं साधुमेरातिकमणंति ।

(आवचू २ पृ ९३)

मृषावाद का अर्थ है—असत्य वचन । साधु के लिए जो अहितकर है, वह असत्य है । साधु की मर्यादा का अतिक्रमण ही अहित है ।

मुसावाते चउव्विहे, तं जहा—दध्वतो सव्वदध्वेसु, खेततो लोगे वा अलोगे वा, कालतो दिया वा रातो वा, भावतो कोहेण वा लोभेण वा भतेण वा हासेण वा ।

(दअचू पृ ८२)

मृषावाद के चार प्रकार—

द्रव्यतः—सब द्रव्य ।

क्षेत्रतः—लोक और अलोक ।

कालतः—दिन-रात ।

भावतः—क्रोध, लोभ, भय और हास्य ।

### मृषावाद के छह कारण

क्रोधाद्वा त्वं दास इत्यादि । मानाद्वा अबहुभ्रुत एवाहं बहुभ्रुत इत्यादि । मायातो भिक्षाटनपरिजिहीर्षया पाद-पीडा ममेत्यादि । लोभाच्छोभनतरान्नलाभे सति प्रान्तस्यै-षणीयत्वेऽप्यनेषणीयमिदमित्यादि । यदि वा 'भयात्'

किञ्चिद्विषयं कृत्वा प्रायश्चित्तभयात् कृतमित्यादि, एवं हास्यादिष्वपि वाच्यम् । (दहावृ प १४७)

मृषा बोलने के मुख्यतः छह हेतु हैं—

१. क्रोध से—तू दास है इस प्रकार कहना ।
२. मान से—अबहुश्रुत होते हुए भी अपने को बहुश्रुत कहना ।
३. माया से— भिक्षाटन से जी चुराने के लिए 'पैर में पीड़ा है' यों कहना ।
४. लोभ से—सरस भोजन की प्राप्ति होते देख एषणीय नीरस को अनेषणीय कहना ।
५. भय से—दोष सेवन कर प्रायश्चित्त के भय से उसे स्वीकृत न करना ।
६. हास्य से—कुतूहलवश असत्य बोलना ।

## १०. अचौर्य महाव्रत

तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं ।

सर्वं भंते ! अदिन्नादाणं पक्कक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा वहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा नेवन्नेहि अदिन्नं गेण्हावेज्जा अदिन्नं गेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मण्णेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणांमि । (उ ४।सूत्र १३)

भंते ! तीसरे महाव्रत में अदत्तादान की विरति होती है ।

भंते ! मैं सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

गांव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी अदत्त वस्तु का मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा, दूसरों से अदत्त वस्तु को ग्रहण नहीं कराऊंगा और अदत्त वस्तु ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा ।

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।

दंतसोहणमेत्तं पि, ओग्गहंसि अजाइया ॥

तं अप्पणां न गेण्हंति, नो वि गेण्हावए परं ।

अन्नं वा गेण्हाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥

(द ६।१३, १४)

संयमी मुनि सजीव या निर्जीव, अल्प या बहुत, दन्तशोधन मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरों से ग्रहण नहीं करवाता और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता ।

इत्तरियं पि न कप्पइ अविदिन्नं खलु परोग्गहाईसुं ।

चिट्ठित्तु निसिइत्तु व तइयव्वयरक्खणट्ठाए ॥

(आवनि ७२१)

अचौर्य महाव्रत की रक्षा के लिए मुनि दूसरों के अयाचित्त अवग्रह में थोड़े समय के लिए भी न कायोत्सर्ग करता है और न ही वहां बैठता है ।

अदिन्नादाणं नाम जं साधूण अणुणुणांतं ।

(आवचू २ पृ ९३)

साधु के लिए जो अनुज्ञात नहीं है, उसका ग्रहण और आचरण अदत्तादान है ।

## ११. अचौर्य महाव्रत की भावना

तच्चे महव्वए अदिण्णादाणाओ वेरमणं तस्स खलु इमाओ पंच भावणाओ भवन्ति.....अणुवीई ओग्गहं जाएज्जा.....उग्गहणसीलए.....जाव तस्स य उग्गहे जाव तस्स परिक्खेवे इत्तावता से कप्पति..... अणुण्णवियपाणभोयणभोई..... अणुण्णविय-ओग्गह-जाती से निग्गथे साधमिण्णु ।

(आवचू २ पृ १४४, १४५)

अचौर्य महाव्रत की पांच भावनाएं—

१. अवग्रह की अनुज्ञा लेना ।
२. अवग्रह का सीमा बोध करना ।
३. अनुज्ञात अवग्रह की सीमा में रहना ।
४. भक्त-पान का आचार्य आदि को दिखाकर उपभोग करना ।
५. साधर्मिक द्वारा याचित्त अवग्रह में उनकी आज्ञा लेकर रहना ।

## १२. भावचौर्य के प्रकार और परिणाम

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे ।

आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिन्बिसं ॥

लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिन्बिसे ॥

तत्था वि से न याणाइ, कि मे किच्चा इमं फलं ॥



ततो वि से चइत्ताणं, लब्धिही एलमूययं ।  
नरयं तिरिवक्खजोणं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥

(द ५।२।४६-४८)

भावचौर्य के पांच प्रकार हैं—

१. तप-चोर —तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को तपस्वी बताना ।
२. वाणी-चोर - धर्मकथी या वादी न होते हुए भी स्वयं को वैसा बताना ।
३. रूप-चोर—उच्चजातीय न होते हुए भी स्वयं को वैसा बताना ।
४. आचार-चोर—आचार-संपन्न न होते हुए भी स्वयं को आचारवान् बताना ।
५. भाव-चोर—सूत्र और अर्थ को न जानते हुए भी अभिमानवश जानने का भाव प्रदर्शित करना ।

यह भावचौर्य किल्बिषिक देव योग्य कर्म का हेतु है । किल्बिषिक देव के रूप में उत्पन्न जीव देवत्व को पाकर भी वहां वह नहीं जानता कि 'यह मेरे किस कार्य का फल है।' वहां से ज्युत होकर वह मनुष्य गति में आ एडमूकता (गूंगापन) अथवा नरक या तिर्यचयोनि को पाएगा, जहां बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है ।

### १३. अदत्तादान के प्रकार

अदिण्णादाणे चतुव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अच्चित्तमंतं वा, खेततो गामे वा णगरे वा अरण्णे वा, कालतो दिया वा रातो वा, भावतो अप्पग्घे वा महग्घे वा ।  
(दअचू पृ ८३)

अदत्तादान के प्रकार—

द्रव्यतः—अल्प-बहुत, सूक्ष्म-स्थूल, सचित्त-अचित्त ।

क्षेत्रतः—ग्राम, नगर, अरण्य ।

कालतः—दिन-रात ।

भावतः—अल्पमूल्य और बहुमूल्य ।

### १४. अपरिग्रह महाव्रत

पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अच्चित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिग्गेह्वेज्जा नेवन्नेहि परिग्गहं परिग्गेह्वेज्जा परिग्गहं परिग्गेह्वंते वि अन्ने न

समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।  
(द ४।सूत्र १५)

भंते ! पांचवें महाव्रत में परिग्रह की विरति होती है ।

भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ । गांव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी, अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—कभी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूंगा, दूसरों से परिग्रह का ग्रहण नहीं कराऊंगा और परिग्रह ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा ।

तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसइमं लभित्ता ।  
होही अट्ठो सुए परे वा,

तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥

(द १०।८)

विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को विधि से प्राप्त कर—यह कल या परसों काम आएगा—इस प्रकार से जो न सन्निधि (संचय) करता है और न कराता है, वह भिक्षु है ।

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए ।

पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥

(उ ६।१५)

संघमी मुनि पात्रगत लेप को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के आहार का संग्रह न करे । पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ जाता है वैसे ही मुनि अपने पात्रों को साथ ले, निरपेक्ष हो परिव्रजन करे ।

बिडमुब्भेइमं लोणं, तेल्लं सप्पि च फाणियं ।

न ते सन्निहिमिच्छंति, नायपुत्तवओरया ॥

लोभस्सेसो अणुफासो, मन्ने अन्नयरामवि ।

जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से ॥

(द ६।१७,१८)

जो महावीर के वचन में रत हैं, वे मुनि बिडलवण, सामुद्रलवण, तैल, घी और द्रव-गुड़ का संग्रह करने की इच्छा नहीं करते ।

जो कुछ भी संग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव है—ऐसा मैं मानता हूँ। जो श्रमण सन्निधि का कामी है, वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नहीं है।

सन्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्रहे ।

अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं ॥

(द ६।२१)

सब काल और सब क्षेत्रों में तीर्थंकर उपधि (एक द्रव्य वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येकबुद्ध, जिन-कल्पिक आदि भी संयम की रक्षा के निमित्त उपधि ग्रहण करते हैं। वे उपधि पर तो क्या, अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते।

## १५. अपरिग्रह महाव्रत की भावना

पंचमे महव्वते य परिग्रहाओ वेरमणं, तस्स इमाओ पंच भावणाओ भवति .....साइदिणं मणुण्णामणुण्णाइं सदाइं सुणेत्ता भवति .....चक्खिदिणं मणुण्णामणुण्णाइं रुवाइं पासित्ता भवति .....घाणिदिणं अग्धाइत्ता..... जिन्भिदिणं आसाएत्ता.....कासिदिणं पडिसवेदेत्ता ।

(आवचू २ पृ १४६)

अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनाएँ—

मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श— इन पाँचों के प्रति प्रियता-अप्रियता का भाव न लाना।

## १६. परिग्रह के द्रव्य क्षेत्र...

परिग्रहो नाम साधुमेरातिवकमेण गहो ।

(आवचू २ पृ ९३)

साधु-मर्यादा का अतिक्रमण कर वस्तु का ग्रहण करना परिग्रह है।

परिग्रहे चउव्विहे पणत्ते, तं जहा — दव्वतो, खेततो, कालतो, भावतो । दव्वतो सव्वदव्वेहि, खेततो सव्वलोए, कालतो दिया वा रायो वा, भावतो अप्पग्घे वा महग्घे वा ।

(दअचू पृ ८५)

परिग्रह के चार प्रकार—

द्रव्यतः— सब द्रव्य ।

क्षेत्रतः— सब क्षेत्र ।

कालतः— दिन-रात ।

भावतः— अल्पमूल्य और बहुमूल्य ।

## मूर्च्छा परिग्रह

न सो परिग्रहो वृत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।

मुच्छा परिग्रहो वृत्तो, इह वृत्तं महेसिणा ॥

(द ६।२०)

सब जीवों के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है। मूर्च्छा परिग्रह है—ऐसा महर्षि (गणधर) ने कहा है।

.....गंधोऽगंधो व मओ मुच्छममुच्छाहि तिच्छयओ ॥

(विभा २५७३)

निश्चय नय के अनुसार मूर्च्छा परिग्रह है और अमूर्च्छा अपरिग्रह है।

## १७. परिग्रह की निकृष्टता

आयाणं नरयं दिस्स, नायएज्ज तणामवि ।

(उ ६।७)

‘परिग्रह नरक है’—यह देखकर एक तिनके को भी अपना बनाकर न रखे।

## १८. परिग्रह-व्याग की निष्पत्ति

गवासं मणिकुंडलं, पसवो दासपोरुसं ।

सव्वमेयं चइत्तानं, कामरूवी भविस्ससि ॥

(उ ६।५)

गाय, घोड़ा, मणि, कुंडल, पशु, दास और कर्मकरों का समूह—इन सबको छोड़ ऐसा करने पर तू कामरूपी (इच्छानुकूल रूप बनाने में समर्थ) होगा।

माहन—अहिंसक, श्रमण । ब्राह्मण ।

‘माहणे’ त्ति मा वधीत्येवरूपं मनो वाक् क्रिया च यस्यासो माहनः ।

(उशावू प ४४२)

जो कहता है—माहन—मत मारो और जिसकी मानसिक-वाचिक-कायिक प्रवृत्ति अहिंसात्मक होती है, वह माहन/ब्राह्मण/श्रमण कहलाता है।

जो लोए बंभणो वृत्तो, अग्गी वा महिओ जहा ।

सया कुसलसदिट्ठं, तं वयं ब्रूम माहणं ॥

जो न सज्जइ आगंतुं, पव्वयंतो न सोयई ।

रमए अज्जवयणंमि, तं वयं ब्रूम माहणं ॥

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धंतमलपावगं ।

रागहोसभयाईयं, तं वयं ब्रूम माहणं ॥

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे ।  
जो न हिंसइ तिक्किहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥  
कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।  
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥  
चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहू ।  
न गेष्इ अदत्तं जो, तं वयं बूम माहणं ॥  
दिव्वमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ भेहुणं ।  
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥  
जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।  
एवं अलित्तो कामेहि, तं वयं बूम माहणं ॥  
अलोलुयं मुहाजीवी, अणगारं अकिंचणं ।  
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥  
(उ २५।१९-२७)

माहन वह है,

- जो अग्नि की भांति सदा लोक में पूजित है ।
- जो संयोग होने पर आसक्त नहीं होता, वियोग के समय शोक नहीं करता, जो आर्यवचन में रमण करता है ।
- जो अग्नि में तपाकर शुद्ध किए हुए और धिसे हुए सोने की तरह विशुद्ध है तथा राग-द्वेष और भय से रहित है ।
- जो अस और स्थावर जीवों को भली-भांति जान-कर मन, वाणी और शरीर से उनकी हिंसा नहीं करता ।
- जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय के कारण असत्य नहीं बोलता ।
- जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ थोड़ा या अधिक कितना ही क्यों न हो, उसके अधिकारी के दिए बिना नहीं लेता ।
- जो देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी मैथुन का मन, वचन और काया से सेवन नहीं करता ।
- जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो कामभोगों से लिप्त नहीं होता ।
- जो लोलुप नहीं है, निष्कामजीवी, गृह-त्यागी और अकिंचन है तथा गृहस्थों में अनासक्त है ।

.....न ओंकारेण बंभणो.....

.....बंभचेरेण बंभणो.....

.....कम्ममुणा बंभणो होइ.....

(उ २५।२९-३१)

- ओम् का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता ।
- ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है ।
- मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है ।

नैव ॐकारोपलक्षणत्वाद् 'ॐ भूर्भुवःस्व'रित्याद्यु-  
च्चारणरूपेण ब्राह्मणः ।... ब्रह्मणश्चरणं ब्रह्मचर्यम् ।...

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, शब्दब्रह्मपरं च यत् ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

(उशावृ प ५२८)

'ॐ भूर्भुवः स्वः' इत्यादि उच्चारण से कोई ब्राह्मण नहीं होता । जो ब्रह्म की चर्या में लीन रहता है, वह ब्राह्मण है । जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह ब्राह्मण है ।

ब्रह्म के दो प्रकार हैं—शब्दब्रह्म और परब्रह्म । शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है ।

### माहन की उत्पत्ति

भरहो सावए सदावेत्ता भणति—मा कम्मं पेसणादि वा करेह, अहं तुब्भं जित्ति कप्पेमि, तुब्भेहि पढंतेहि सुणतेहि जिणसाधुसुसूसणं कुणंतेहि अच्छियव्वं, ताहे ते दिवसदेवसियं भुंजंति । ते य भणंति—जहा तुब्भं जिता अहो भवान् वढंते भयं मा हणाहिति...एवं ते उप्पन्ना माहणा णाम, जे तेसि पुत्ता उप्पज्जंति ते साहणं उव-णिज्जंति, जति णित्थरंति तो लट्ठं, अह न नित्थरंति ताहे अभिगयाणि सड्ढाणि भवंति..... आरिया वेदा कता भरहादीहि तेसि सज्झातो होउत्ति, तेसु वेदेषु तित्थगरुत्तीओ जत्तिसावगधम्मो संतिकम्ममादि य वत्ति-ज्जति ।

(आवचू १ पृ २१३-२१५)

ऋषभपुत्र चक्रवर्ती भरत ने श्रावकों को आमन्त्रित कर निर्देश दिया—तुम कृषि, व्यापार आदि कोई कर्म मत करो, मैं तुम्हें आजीविका दूंगा । आज से पठन-श्रवण और संतों की उपासना—ये ही तुम्हारे कार्य होंगे । तुम मुझे प्रतिदिन इस भाषा में सावधान करते रहो—अहो ! कषाय और प्रमाद का भय बढ़ रहा है, आप उनसे पराजित हो रहे हैं, अतः 'मा हन, मा हन', किसी को उत्पीड़ित मत करो । इस प्रकार 'माहन' शब्द की उत्पत्ति हुई । उन ब्राह्मणों के पुत्र यदि समर्थ होते तो साधु बन जाते अन्यथा व्रतधारी तत्त्वज्ञ श्रावक बन जाते ।

भारत ने उनके स्वाध्याय के लिए वेदों की रचना की, जिनमें अर्हत्-स्तुति, मुनिधर्म, श्रावकधर्म और शांतिकर्म उपवर्णित थे।

(ब्राह्मण शब्द के प्राकृत रूप दो बनते हैं—माहण और बंभण। 'माहण' अहिंसा का और 'बंभण' ब्रह्मचर्य (ब्रह्म-आराधना) का सूचक है। अहिंसा के बिना ब्रह्म की आराधना नहीं हो सकती। इस प्रगाढ़ संबंध से दोनों शब्द एकार्थवाची बन गए। शान्त्याचार्य ने एक स्थान पर 'माहण' की व्याख्या अहिंसक के रूप में की है और शेष स्थानों में 'माहण' का अर्थ उन्होंने ब्राह्मण जाति से संबंधित माना है। देखें—उत्तरजम्भयणाणि ९।६ का टिप्पण)।

**मिथ्याकार**—सामाचारी का एक भेद। अनुचित कार्य होने पर 'मेरा पाप निष्फल हो' ऐसा कहना। (द्र. सामाचारी)

**मिथ्यादृष्टि**—मिथ्यात्व, सत्य के प्रति विपरीत दृष्टि। (द्र. गुणस्थान)

**मिथ्याश्रुत**—मिथ्यादृष्टि का श्रुतज्ञान (द्र. श्रुतज्ञान)

**मुनि**—ज्ञानी, साधु।

.....नाशेण य मुणी होइ.....। (उ २५।३०)

विजाणतीति मुणी, सावज्जेसु वा भोगवतीति मुणी। (दअचू पृ २३३)

जो ज्ञान की आराधना करता है, वह मुनि होता है। जो ज्ञाता है, वह मुनि है अथवा जो सावद्य कार्यों के प्रति मीन रहता है, वह मुनि है।

मुणति—प्रतिजानीते सर्वविरतिमिति मुणिः। (उशावृ प ३५७)

जो सर्वविरति की प्रतिज्ञा करता है, वह मुनि है।

**मुनि की जीवनचर्या।** (द्र. भ्रमण)

**मुनिसुव्रत**—उन्नीसवें तीर्थंकर। (द्र. तीर्थंकर)

**मूल**—प्रायश्चित्त का आठवां प्रकार। (द्र. प्रायश्चित्त)

**मेधावी**—अर्थ के ग्रहण और अवधारण में कुशल। मर्यादावान्।

मेधावी दुविहो, तं जहा—गंधमेधावी मेरामेधावी

य। तत्थ जो महंत गंधं अहिज्जति सो गंधमेधावी। मेरा मज्जाया भण्णति तीए मेराए धावतित्ति मेरामेधावी। (दजिचू पृ २०३)

मेधावी—अध्ययनार्थविधारणशक्तिमान् मर्यादावर्ती वा। ...मेधावी मर्यादानतिवर्ती॥ (उशावृ प ६५,९०)

मेधावी दो प्रकार के हैं—

१. ग्रन्थमेधावी—महान् ग्रन्थों का अध्येता, बहुश्रुत अथवा अध्ययन के लिए अवधारणशक्ति संपन्न।

२. मर्यादामेधावी—मेधा—मर्यादा के अनुसार चलने वाला, मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करने वाला।

(मेहावित्ति सकृद् दृष्टश्रुतकर्मज्ञः—जो एक बार देखे हुए या सुने हुए कार्य को करने की पद्धति जान जाता है, वह मेधावी होता है।—उपासकदशावृत्ति पत्र २१८)

**मोक्ष**—कर्मबन्धन से मुक्त अवस्था।

१. मोक्ष का स्वरूप

२. मोक्ष का मार्ग

० ज्ञान-क्रिया-समन्वय से मोक्ष (द्र. वाद)

३. मोक्ष : साध्य और सिद्धि

\* मोक्ष से पूर्व की अवस्था (द्र. सिद्ध)

\* जीव और कर्म का संबंध अनादि (द्र. कर्म)

४. अनादि संबंध का अंत कैसे ?

\* मोक्ष का स्थान (द्र. ईश्वरप्रामारा)

१. मोक्ष का स्वरूप

.....अट्टविहकम्ममुक्को नायव्वो भावओ मुक्खो॥

मोक्षः अष्टविधकर्मोच्छेदः। क्षायिकभाव एवात्मनो मुक्तत्वलक्षणो मोक्षः। (उनि ४९७ शावृ प ५५५)

मोक्ष का अर्थ है—

१. ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का समूल उच्छेद।

२. आत्मा का क्षायिकभाव में प्रतिष्ठित होना।

बन्धं जीवकर्मयोगदुःखलक्षणं, मोक्षं च तद्वियोगसुखलक्षणम्। (दहावृ प १५९)

जीव और कर्म का संबंध होना बंध है। उसका लक्षण है—दुःख। कर्म के योग से विमुक्त होना मोक्ष है। उसका लक्षण है—अव्याबाध सुख।

पाणं पयासमं सोहो तवो संजमो य गुत्तिकरो ।  
तिण्हं पि सभाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥  
(आवनि १०३)

ज्ञान प्रकाश करने वाला है । तप शोधन करता है ।  
संयम मुक्ति—निग्रह करता है । तीनों के समायोग—  
समन्विति को जिनशासन में मोक्ष कहा गया है ।

निव्वारणं ति अबाहं ति, सिद्धी लोगगमेव य ।  
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसियो ॥  
(उ २३।८३)

जो निर्वाण है, जो अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम,  
शिव और अनाबाध है, जिसे महान् की एषणा करने  
वाले प्राप्त करते हैं, वह मोक्ष है ।

...सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावत्ति जणयइ ।  
अपुणरावत्ति पत्तए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं  
नो भागी भवइ । (उ २१।४५)

सर्वगुणसंपन्नता से जीव अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को  
प्राप्त होता है । अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव  
शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता ।

## २. मोक्ष का मार्ग

नाणं च दंसणं चैव चरित्तं च तवो तथा ।  
एधं मग्गमणुप्पत्ता जीवा मच्छंति सोगइ ॥  
(उ २८।३)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप के मार्ग में प्रस्थित  
जीव सद्गति को प्राप्त होते हैं ।

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।  
अमुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वारणं ॥  
(उ २८।३०)

अदर्शनी (असम्यक्त्वी) के सम्यग्ज्ञान नहीं होता ।  
ज्ञान के बिना चारित्र्यगुण नहीं होते । अमुणी व्यक्ति  
की मुक्ति नहीं होती । अमुक्त का निर्वाण नहीं होता ।

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।  
सज्झायएमंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिततया धिई य ॥  
(उ ३२।३)

गुरु और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानी जनों का  
दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकांतवास  
करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना तथा धैर्य  
रखना—यह मोक्ष का मार्ग है ।

छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं, आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी ।  
पुव्वाइ वासाइ चरप्पमतो, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥  
(उ ४।८)

शिक्षित (शिक्षक के अधीन रहा हुआ) तनुत्राणधारी  
अश्व जैसे रण का पार पा जाता है, वैसे ही स्वच्छन्दता  
का निरोध करने वाला मुनि संसार का पार पा जाता  
है । पूर्वजन्म में जो अप्रमत्त होकर विचरण करता है,  
वह उस अप्रमत्त विहार से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त  
होता है ।

सद्धं नगरं किच्चा, तक्संवरमग्गलं ।  
खंति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥  
धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च इरियं सया ।  
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण पलिमंथए ॥  
तवनारायजुत्तेण, भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।  
मुणी विणयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥  
(उ १।२०-२२)

- श्रद्धा को नगर, तप और संयम को अर्गला, अमा या सहिष्णुता को त्रिगुप्त—बुर्ज, खाई और शतकनी स्थानीय मन, वचन और कायगुप्ति से सुरक्षित, दुर्जेय और सुरक्षा निपुण परकोटा बना ।
- पराक्रम को धनुष, ईर्ष्यापथ को उसकी डोर और धृति को उसकी मूठ बना उसे सत्य से बांधे ।
- तप-रूपी लोह-बाण से मुक्त धनुष के द्वारा कर्म-रूपी कवच को भेद डाले । इस प्रकार संग्राम का अन्त कर मुनि संसार से मुक्त हो जाता है ।

## ३. मोक्ष : साध्य और सिद्धि

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावणं ।  
उभयं पि जाणई सोच्चा, ज छेयं तं समायरे ॥  
(द ४।११)

जीव सुनकर कल्याण को जानता है और सुनकर ही  
पाप को जानता है । कल्याण और पाप सुनकर ही जाने  
जाते हैं । वह उनमें जो श्रेय है उसी का आचरण करे ।

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ ।  
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहिइ संजमं ॥

जया जीवे अजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।  
तया गइं बहुविहं, सच्चजीवाण जाणई ॥

...तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणई ॥  
...तया निव्विदिए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥

....तया चयइ संजोगं, सर्भिन्तरवाहिरं ॥  
 ....तया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥  
 ....तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥  
 ....तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥  
 ....तया सव्वत्तमं नाणं, दंसणं चाभिगच्छई ॥  
 ....तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥  
 ....तया जोगे निरुभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जई ॥  
 ....तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥  
 ....तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥  
 (द ४।१३-२५)

### साध्य-सिद्धि का क्रम

- जो जीवों को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है, वह जीव और अजीव दोनों को जानने वाला ही संयम को जानता है ।
- जब मनुष्य जीव और अजीव —इन दोनों को जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है ।
- वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है ।
- वह देव और मनुष्य के भोगों से विरक्त हो जाता है ।
- वह आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों को त्याग देता है ।
- वह मुंड होकर अन्तगार-वृत्ति को स्वीकार करता है ।
- वह उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है ।
- वह अबोधि रूप पाप द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है ।
- वह सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है ।
- वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है ।
- वह योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है ।
- वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है ।
- वह लोक के अग्र भाग में शाश्वत सिद्ध होता है ।

### ४. अनादि संबंध का अन्त कैसे ?

जह धाऊ कणगाई सभावसंजोगसंजुया हुंति ।  
 इअ संतइकम्मेषं अणाइसंजुत्तओ जीवो ॥

जीवकर्मणोरनादिसंयोगस्य धातुकनकादिसंयोग-  
 दृष्टांतद्वारेणाभिधानं तद्वदेवानादित्वेऽप्युपायतो जीवकर्म-  
 संयोगस्याभावव्यापनार्थम्, अन्यथा मुक्त्यनुष्ठान-  
 वैफल्यपत्तेः । (उनि ३४ शावू प २५)

जैसे स्वर्ण और मिट्टी का अनादिकालीन संयोग संतानगत होने पर भी अग्नि आदि उपायों से विच्छिन्न होता है, वैसे ही जीव और कर्म का प्रवाहरूप से अनादि संबंध तप, संयम आदि उपायों से विच्छिन्न होता है । अन्यथा मुक्ति के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों की सार्थकता नहीं हो सकती ।

**मोहनोय**—श्रद्धा और चारित्र्य को विकृत करने वाला कर्म । (द्र. कर्म)

**यथाख्यात चारित्र्य**—वीतराग का चारित्र्य ।

(द्र. चारित्र्य)

**यथाप्रवृत्तिकरण**—वह परिणामविशेष जिससे जीव दुर्भेद्य रागद्वेषात्मक ग्रंथि के समीप पहुंचता है । (द्र. करण)

**योग**—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति ।

### १. योग की परिभाषा और प्रकार

\* मनयोग

\* केवली के मनयोग

(द्र. गुणस्थान)

○ वचनयोग

\* केवली का बोलना वचनयोग

(द्र. केवली)

○ काययोग

### २. द्रव्ययोग-भावयोग

### ३. भावयोग सिद्ध नहीं

### ४. भावसत्य

### ५. करणसत्य

### ६. योगसत्य

### ७. योगपरित्याग के परिणाम

\* योगनिरोध की प्रक्रिया

(द्र. केवली)

\* योग और लेश्या

(द्र. लेश्या)

\* योग से कर्मबंध

(द्र. कर्म)

### १. योग की परिभाषा और प्रकार

जं तेण जुज्जए वा स कम्मणा जं च जुज्जए तम्मि ।  
 तो जोगो सो य मओ तिविहो कायाइवावारो ॥  
 (विभा ३४९९)

जिससे आत्मा कर्म से सम्बद्ध होती है, वह योग है। उसके तीन प्रकार हैं—मनोयोग, वचनयोग, काययोग।

### मनोयोग

....तणुवावाराहिअमणदव्वसमूहजीववावारो ।

सो मणजोगो भण्णइ मण्णइ नेयं जओ तेणं ॥

(विभा ३६४)

काययोग से गृहीत मनोद्रव्य के द्वारा जीव का जो व्यापार होता है, वह मनोयोग है। मनोयोग से ज्ञेय का चिन्तन-मनन किया जाता है।

औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसा-  
चिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोगः। (नन्दीमवृ प ११२)

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की प्रवृत्ति से गृहीत मनोवर्गणा के पुद्गलों के सहयोग से होने वाला जीव का चिन्तनात्मक प्रयत्न मनोयोग है।

### वचनयोग

....तणुजोगाहिअवइदव्वसमूहजीववावारो ।

सो वइजोगो भण्णइ वाया निसिरिज्जए तेणं ॥

(विभा ३६३)

काययोग से गृहीत शब्दद्रव्य के द्वारा जीव का जो व्यापार होता है, वह वचनयोग है। वचनयोग से शब्द-द्रव्यों का निसर्जन होता है।

औदारिकवैक्रियाहारकव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसा-  
चिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः। (नन्दीमवृ प ११२)

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की प्रवृत्ति से गृहीत भाषावर्गणा के पुद्गलों के सहयोग से होने वाला जीव का भाषात्मक प्रयत्न वचनयोग है।

### काययोग

औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः  
काययोगः। (नन्दीमवृ प ११२)

औदारिक आदि शरीर के द्वारा होने वाली आत्मा की वीर्यपरिणति काययोग है।

### काययोग के तीन रूप

....तणुसंरभेण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो ।

मण्णइ य स माणसिओ तणुजोगो चेव स विभत्तो ॥

(विभा ३५९)

जिस कायव्यापार से जीव शब्द-द्रव्यों को छोड़ता है, वह वचनयोग है। जिस काय की प्रवृत्ति से जीव मनोद्रव्यों को मनन में व्यापृत करता है, वह मनोयोग है। एक काययोग ही उपाधिभेद से तीन रूपों में विभक्त है।

### २. द्रव्ययोग-भावयोग

मनो-वाक्-काययोगप्रवर्तकानि द्रव्याणि, मनो-वाक्-  
कायपरिस्पन्दात्मको योऽश्च द्रव्ययोगः। यस्त्वेतदुभयरूप-  
योगहेतुरध्यवसायः स भावयोगः। (विभामवृ १ पृ ६८५)  
द्रव्ययोग—१. मन, वचन और काय के प्रवर्तक द्रव्य।

२. मन, वाक् और शरीर का परिस्पन्दन।

भावयोग—द्रव्ययोग के सहयोग से होने वाला अध्यवसाय।

### ३. भावयोग मिश्र नहीं

कम्मं जोगनित्तं सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि ।  
होञ्ज न उ उभयरूवो कम्मंपि तओ तयणुरूवं ॥  
नणु मण-वइ-काओगा सुभासुभा वि समयम्मि दीसति ।  
दव्वम्मि मीसभावो भवेज्ज न उ भावकरणम्मि ॥  
भाणं सुभमसुभं वा न उ मीसं जं च भाणविरमे वि ।  
लेसा सुभाऽसुभा वा सुभमसुभं वा तओ कम्मं ॥  
(विभा १९३५-१९३७)

कर्मबंध का हेतु है योग। वह योग एक समय में या तो शुभ होता है या अशुभ, मिश्र नहीं होता।

कुछ कहते हैं—'अविधि से दान आदि का उपदेश देने, अविधि से पूजा, वन्दना आदि प्रवृत्ति करने से शुभ और अशुभ—मिश्र योग होता है' पर यह कथन अयुक्त है।

व्यवहार नय की अपेक्षा द्रव्ययोग मिश्र हो भी सकता है किन्तु निश्चय नय के अभिमत में द्रव्ययोग और भाव-योग—दोनों ही मिश्र नहीं हो सकते।

अध्यवसाय के दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। अध्यवसाय का तीसरा प्रकार शुभाशुभ या मिश्र अध्यव-साय आगमों में कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।

कारण के अनुरूप कार्य होता है इसलिए शुभ अध्यवसाय या भावयोग से पुण्य और अशुभ से पाप का बंध होता है। पुण्य और पाप का मिश्रण नहीं होता, मिश्र बंध नहीं होता।

ध्यान और लक्ष्या शुभ या अशुभ होते हैं, मिश्र नहीं होते। ये भावयोग हैं। अतः भावयोग मिश्र नहीं होता।

#### ४. भावसत्य

भावसत्येन शुद्धान्तरात्मतारूपे पारमाथिकावितथत्वे ।  
(उशावृ प ५९१)

भावसत्य का अर्थ है—अन्तरात्मा की सच्चाई।

भावसत्त्वेण भावविसोर्हि जणयइ । भावविसोहीए  
वट्टमाणे जीवे अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए  
अब्भुट्ठेइ, ...अब्भुट्ठिता परलोगधम्मस्स आराहए हवइ ।  
(उ २९।५१)

भावसत्य से जीव भाव की विशुद्धि को प्राप्त करता है। भावविशुद्धि में वर्तमान जीव अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए तैयार होता है। अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की आराधना में तत्पर होकर वह परलोक धर्म का आराधक होता है।

#### ५. करणसत्य

करणसत्यं—यत्प्रतिलेखनादिक्रियां सम्यगुपयुक्तः ।

(उशावृ प ५९२)

विहित क्रियाओं (प्रतिलेखना आदि) को सम्यक् प्रकार से सम्पादित करना करणसत्य है।

करणसत्त्वेण करणसत्ति जणयइ । करणसत्त्वे वट्ट-  
माणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ।

(उ २९।५२)

करणसत्य से जीव करण-शक्ति (अपूर्व कार्य करने का सामर्थ्य) को प्राप्त करता है। करण-सत्य में वर्तमान जीव जैसा कहता है वैसा करता है।

#### ६. योगसत्य

योगसत्त्वेण जोगं विसोहेइ । (उ २९।५३)

योगसत्य से मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति का विशोधन होता है।

#### ७. योगपरित्याग के परिणाम

जोगपच्चवखाणेण अजोगत्तं जणयइ । अजोगी णं  
जीवे नवं कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं निज्जरेइ । (उ २९।३८)

योग-प्रत्याख्यान से जीव अयोगत्व (सर्वथा अप्रकंप-  
भाव) को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नए कर्मों का अर्जन नहीं करता और पूर्व अर्जित कर्मों को क्षीण कर देता है।

**योगसंग्रह**—आलोचना आदि के द्वारा प्रशस्त योगों का संग्रहण। ज्ञान आदि की वृद्धि के हेतुओं का संग्रहण।

आलोचना निरवलावे, आवईसु दद्धम्मया ।  
अणिसिओवहाणे य, सिक्खा णिप्पडिकम्मया ॥  
अण्णाणया अलोहे य, तितिक्खा अज्जवे सुई ।  
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओवए ॥  
धिई मई य संवेगे, पणिही सुविहि संवरे ।  
अत्तदोसोवसंहारो, सब्वकामविरत्तिया ॥  
पच्चक्खाणा विउस्सगे, अप्पमाए लवालवे ।  
भाणसंवरजोगे य, उदए मारणतिए ॥  
संगाणं च परिण्णा, पायाच्छित्तकरणे इय ।  
आराहणा य मरणते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥  
(आवति १२७४-१२७८)

योगसंग्रह के बत्तीस प्रकार—

१. आलोचना—अपने प्रमाद का निवेदन करना।
२. निरपलाप—आलोचित प्रमाद का अप्रकटीकरण।
३. आपत्काल में दृढ़धर्मता—किसी भी प्रकार की आपत्ति में दृढ़धर्मी बने रहना।
४. अनिश्रितोपधान—दूसरों की सहायता लिए बिना तपःकर्म करना।
५. शिक्षा—सूत्रार्थ का पठन-पाठन तथा विहित क्रिया का आचरण।
६. निष्प्रतिकर्मता—शरीर की सार-संभाल या चिकित्सा का वर्जन।
७. अज्ञातता—अज्ञात रूप में तप करना, उसका प्रदर्शन या प्रख्यापन नहीं करना।
८. अलोभ—निर्लोभता का अभ्यास।
९. तितिक्षा—कष्ट-सहिष्णुता, परीषहों पर विजय पाने का अभ्यास।
१०. आर्जव—सरलता।
११. शुचि—पवित्रता—सत्य, संयम आदि का आचरण।
१२. सम्यग्दृष्टि—सम्यग्दर्शन की शुद्धि।
१३. समाधि—चित्त-स्वास्थ्य।
१४. आचार—आचार का सम्यक् प्रकार से पालन।
१५. विनयोपग—विनयता।
१६. धृतिमति—धैर्ययुक्त बुद्धि।
१७. संवेग—संसार-वैराग्य अथवा मोक्ष की अभिलाषा।



१८. प्रणिधि --अध्यवसाय की एकाग्रता ।
१९. सुविधि --सद् अनुष्ठान ।
२०. संवर -आश्रवों का निरोध ।
२१. आत्मदोषोपसंहार -अपने दोषों का उपसंहरण ।
२२. सर्वकामनिरक्तता सर्व विषयों से विमुखता ।
२३. प्रत्याख्यान - मूलगुण विषयक त्याग ।
२४. प्रत्याख्यान उत्तरगुण विषयक त्याग ।
२५. व्युत्सर्ग—शरीर, भक्तपान, उपधि तथा कषाय का विसर्जन ।
२६. अप्रमाद -आत्मा की सतत स्मृति ।
२७. लवालव --सामाचारी के पालन में सतत जागरूकता ।
२८. ध्यानसंवरयोग --महाप्राण ध्यान की साधना ।
२९. मारणांतिक उदय --मारणांतिक वेदना के उदय होने पर भी शान्त और प्रसन्न रहना ।
३०. संग-परिज्ञा --आसक्ति का त्याग ।
३१. प्रायश्चित्तकरण दोष-विशुद्धि का अनुष्ठान ।
३२. मारणांतिक आराधना --मृत्युकाल में आराधना ।

### योगसंग्रह के चार उदाहरण

उज्जैणीए धणवसु अणगारे धम्मघोस चंपाए ।  
 अडवीए सत्थविग्गम वोसिरणं सिज्झणा चेव ॥  
 णयरं च सिबवद्धण मुंडियं अज्जपूसभूई य ।  
 आयाणपूसमित्ते सुहुमे ऋणे विवादो य ॥  
 रोहीडगं य नयरं ललिआ गुट्टी अ रोहिणी गणिआ ।  
 धम्महई कडुअदुद्धियदाणावयणे अ कमुदए ॥  
 नयरी य चंपनामा जिणदेवो सत्थवाह अहिच्छता ।  
 अडवी य तेण अगणी सावय संगणण वोसिरणा ॥

(आवनि १२८१, १३१७-१३१९)

### १. दृढ़धर्मिता योगसंग्रह

उज्जयिनी नगरी के श्रेष्ठी धनवसु का सार्थ चम्पा नगरी की ओर जा रहा था। उस सार्थ के साथ धर्मघोष मुनि भी थे। भीलों के आतंक के कारण सार्थ अटवी में भटक गया। सार्थ के लोग कंदमूल खाकर अपना पेट भरते। उन्होंने मुनि को भी आमंत्रित किया, किन्तु मुनि के लिए कंदमूल अग्राह्य थे, अतः मुनि ने अदीन भाव से भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया। उन्होंने ध्यानमुद्रा में कैवल्य प्राप्त किया और मुक्त हो गए। इस प्रकार मुनि ने दृढ़धर्मिता से योगों का संग्रह किया।

### २. ध्यानसंवर योगसंग्रह

शिववर्धन नगर। मुंडिकाम्रक राजा। पुष्यभूति आचार्य। एक बार उन बहुश्रुत आचार्य के मन में संकल्प जागा कि मैं सूक्ष्म ध्यान में प्रवेश करूँ, जो महाप्राण-ध्यान के सदृश होता है। इसमें योगनिरोध कर निश्चेष्ट होना होता है। इस ध्यान की निर्विघ्नता के लिए बहुश्रुत शिष्य की अपेक्षा रहेगी। अभी यहाँ जो शिष्य हैं, वे सब अमीतार्थ हैं—यह सोचकर आचार्य ने बर्हिर्विहारी गीतार्थ शिष्य पुष्यमित्र को बुलाया और ध्यानकक्ष के द्वार पर उभे प्रहरी के रूप में नियुक्त कर ध्यानस्थित हो गये। पुष्यमित्र किसी को भी वन्दना के लिए कक्ष के भीतर नहीं जाने देता था। इससे अन्य शिष्यों के मन में कुतूहल और संदेह हो गया। एक शिष्य ने उन्हें पूर्णतः निश्चेष्ट देखकर कह दिया कि आचार्य तो कालधर्म को प्राप्त हो गये हैं, किन्तु पुष्यमित्र ब्रता नहीं रहा है, कोई वैताल साध रहा होगा। उसने कहा—आचार्य जीवित हैं, ध्यान कर रहे हैं, आप लोग कोई विघ्न न करें। किसी ने इस बात का विश्वास नहीं किया, उससे झगड़ने लगे। राजा को भी बुला लिया। राजा ने आचार्य की मृत्यु की घोषणा कर शिविका तैयार करवाई। आचार्य ने पुष्यमित्र से ध्यान से पूर्व ही कह दिया था कि कोई विशेष आपत्ति-जनक स्थिति हो तो मेरे अंगूठे को दबा देना—इस निर्देश के अनुसार शिष्य ने अंगूठे का स्पर्श किया और आचार्य ने तत्काल ध्यान को सम्पन्न कर उपालम्भ दिया कि मेरे ध्यान में यह व्याघात क्यों किया? इस प्रकार आचार्य ने ध्यान-संवरयोग से योग संगृहीत किये।

### ३. मारणांतिक-वेदना-अधिसहन योगसंग्रह

रोहितक नगर में ललिता गोष्ठी। रोहिणी गणिका उस गोष्ठी के लिए भोजन पकाती थी। एक दिन उसने लौकी (तुम्बा) की सब्जी अत्यन्त आरम्भपूर्वक बनाई। उसने गंध से जान लिया कि लौकी कड़वी है। गोष्ठी के सदस्यों के तिरस्कार के भय से उसने तत्काल निर्णय लिया—मैं दूसरी लौकी की सब्जी बना देती हूँ और इसे भिक्षाचरों को दे देती हूँ। उसी समय धर्महचि अनगार मासक्षण के पारण के लिए उस घर में प्रविष्ट हुए। उसने वह पूरी सब्जी मुनि के पात्र में डाल दी। मुनि उसे लेकर उपाश्रय में आए, गुरु को निवेदित किया। गुरु ने देखा और जान लिया कि यह आहार जो भी करेगा वह मृत्यु को प्राप्त होगा। गुरु ने उसे विसर्जित

करने का निर्देश दिया। धर्मरुचि अनगर उस आहार को लेकर जंगल में गए। परिष्ठापन के लिए बैठे। एक बूंद नीचे गिर गई। वहां चींटियां आईं और तत्काल मर गईं। 'मैं स्वयं ही इसको खा लूं जिससे अन्य जीवों का घातक न बनूँ', यह सोच उन्होंने उस शाक को खा लिया। तीव्र मारणान्तिक वेदना हुई। उस वेदना को समभाव से सहन कर मुक्त हो गए। इस प्रकार मारणान्तिक वेदना को सहन करने से योग संगृहीत होते हैं।

#### ४. संगपरिज्ञा योगसंग्रह

जिनदत्त सार्थवाह चंपानगरी से अहिच्छत्रा की ओर जा रहा था। मार्ग में भीलों के आतंक से आतंकित हो वह सघन जंगल में पहुंच गया, जहां सामने अग्नि जल रही थी, पीछे से व्याघ्र आ रहे थे, दोनों ओर प्रपात थे। इस स्थिति में अपने आपको असुरक्षित जानकर जिनदत्त ने सामांयिक का संकल्प ग्रहण किया और कायोत्सर्ग प्रतिमा में स्थित हो गया। जंगल के हिल पशुओं ने उसे घेर लिया और मांस खाने उस पर झपट पड़े। वे नोच-नोचकर मांस खाने लगे। जिनदत्त समभाव की श्रेणी में आरोहण करता गया। कुछ ही समय में वह सिद्ध, बुद्ध मुक्त हो गया। इस प्रकार उसने शरीर के ममत्व-त्याग से योगों का संग्रहण किया।

(बत्तीस योगसंग्रह के अन्य उदाहरणों के लिए देखें—आवनि १२७९-१३२० चू २ पृ १५२-२१२)

#### योगसंग्रह के अथर प्रकार

बत्तीस जोगसंग्रह—धम्मो सोलसविधं एवं सुक्कंपि, एते बत्तीस जोगाणं संगहेत्तू। (आवचू २ पृ १५२)

योगसंग्रह के अन्य बत्तीस प्रकार—धर्मध्यान और शुक्लध्यान के सोलह-सोलह प्रकार

प्रकार (स्वरूप), लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा—इनमें से प्रत्येक के चार-चार प्रकार होने से धर्म और शुक्ल ध्यान के बत्तीस प्रकार होते हैं। (द्र. ध्यान)

#### योनि - उत्पत्तिस्थान।

१. योनि का निर्वचन
२. योनि के प्रकार
३. सचित्त-अचित्त-मिश्र योनि
४. शीत-उष्ण-मिश्र योनि
५. संवृत-विवृत-मिश्र योनि
६. योनि के अन्य प्रकार

#### १. योनि का निर्वचन

युवन्ति—तैजसकामर्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिक-शरीरेण वैक्रियशरीरेण वाऽऽस्विति योनयो जीवानामेवोत्पत्तिस्थानानि। (नन्दीमवृ प ८)

जहां औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर के साथ तैजस और कामर्मण शरीर का मिश्रण होता है, यह योनि—जीव का उत्पत्तिस्थान है।

#### २. योनि के प्रकार

जोषीओ सचित्त-शीत-संवृडादियाओ चउरासीति-लखविहाणा वा। (नन्दीचू पृ १)

योनि के तीन-तीन प्रकार—

१. सचित्त, अचित्त, मिश्र।
  २. शीत, उष्ण, शीतोष्ण।
  ३. संवृत, विवृत, संवृत-विवृत।
- अथवा योनि के चौरासी लाख प्रकार हैं।

#### (चौरासी लाख जीवयोनि

पुठवीजलजलणमास्य एक्केक्के सत्त सत्त लक्खाओ। वण पत्तेय अणंते दस चोद्दस जोणिलक्खाओ॥ विगर्लिदिएसु दो दो चउरो चउरो य णारयसुरेसु। त्तिरिएसु हुंति चउरो चोद्दस लक्खा य मणुएसु॥ (आचारांगवृत्ति पत्र २२)

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायुकाय, दस लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारणवनस्पतिकाय, दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख चतुरिन्द्रिय, चार लाख नारक, चार लाख देवता, चार लाख पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और चौदह लाख मनुष्य—ये चौरासी लाख जीवयोनियां हैं।

पृथ्वीकाय के मूल भेद ३५० हैं। उनको अनुक्रम से पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श और पांच संस्थान से गुणा करने पर पृथ्वीकाय की सात लाख जातियां बनती हैं। इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय में से प्रत्येक के मूलभेद ३५० हैं। इनको भी पूर्वोक्त विधि से गुणा करने पर प्रत्येक की सात-सात लाख जातियां बनती हैं। प्रत्येक वनस्पति के मूल भेद ५००, साधारण वनस्पति के ७००, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय में से प्रत्येक के १००, नारक, देवता व तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय में से प्रत्येक के २०० तथा मनुष्य के ७०० मूल

भेद हैं। इन मूल भेदों का गणित इस प्रकार है—

५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान— इनका परस्पर गुणन करने पर २००० की संख्या प्राप्त होती है। इस संख्या का सात लाख पृथ्वीकाय में भाग देने पर (७०००००० ÷ २०००) भागफल ३५० होता है और ये ही पृथ्वीकाय के मूल भेद हैं। इसी प्रकार शेष योनियों के मूल भेद जाने जा सकते हैं। जीवों के उत्पत्ति-स्थान असंख्य हैं, किन्तु समान वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान वाले स्थानों को एक मानकर उन्हें चौरासी लाख कहा गया है।)

### ३. सचित्त-अचित्त-मिश्र योनि

मिस्सत्तं जोणीए सुक्कमचित्तं सचेयणं रुहिरं ।  
अहवा सुक्कं रुहिरं अचेयण-सचेयणा जोणी ॥  
एवं मिश्रत्वं तिर्यग्-मनुष्यस्त्रीयोनेः । तथा—  
अचित्ता खलु जोणी नेरइयाणं तहेव देवाणं ।  
मीसा य गम्भवसही, तिविहा जोणी उ सेसाणं ॥  
तिर्यग्-मनुष्यगर्भजध्यतिरिक्तानां सम्मूच्छन्नजतिर्यग्-  
मनुष्याणां यथा गोकुम्यादीनां सचित्ता, काण्डधुणादीनाम-  
चित्ता, गोकुम्यादीनामेव केषाञ्चित् पूर्वकृतक्षते समुद्-  
भवतां मिश्रेति त्रिधात्वम् । (नन्दीहावृटि पृ १००)

योनि के तीन प्रकार—

१. सचित्त—सजीव। जीवित गाय के शरीर में कृमि पैदा होते हैं, वह सचित्त योनि है।
२. अचित्त—निर्जीव। देव और नारकी की योनि अचित्त होती है।
३. मिश्र—सजीव-निर्जीव। गर्भज-मनुष्य और गर्भज-तिर्यचों की योनि मिश्र होती है। इनकी उत्पत्ति शुक्र और शोणित के सम्मिश्रण से होती है। शुक्र और शोणित के जो पुद्गल आत्मसात् हो जाते हैं, वे सचित्त और जो आत्मप्रदेशों से सम्बद्ध नहीं होते, वे अचित्त कहलाते हैं।  
सम्मूच्छिम तिर्यच और सम्मूच्छिम मनुष्यों की योनि तीनों प्रकार की होती है।

### ४. शीत-उष्ण-मिश्र योनि

सीओसिणजोणिया सञ्चे देवा य गम्भवकन्ती ।  
उसिणा य तेउकाए, दुह नरए, तिविह सेसाणं ॥  
(नन्दीहावृटि पृ १००)

योनि के तीन प्रकार—

१. शीत—प्रथम नरक के नारकों की योनि शीत होती है।

२. उष्ण—तेजस्काय के जीवों की योनि उष्ण होती है।
३. मिश्र—शीतोष्ण—देव, गर्भज-तिर्यच और गर्भज-मनुष्यों की योनि शीतोष्ण होती है। पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सम्मूच्छिमतिर्यक्पंचेन्द्रिय और सम्मूच्छिममनुष्यों की योनि शीत, उष्ण और शीतोष्ण—तीनों प्रकार की होती है।

### ५. संवृत-विवृत-मिश्र योनि

एगिदिय-नेरइया संवुडजोणी हवति देवा य ।  
विगल्लिदियाण वियडा, संवुडवियडा य गम्भम्मि ॥  
(नन्दीहावृटि पृ १००)

योनि के तीन प्रकार—

१. संवृत—ढकी हुई। देव, नारक और एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत होती है।
२. विवृत—प्रकट। विकलेन्द्रिय, सम्मूच्छिमतिर्यक्पंचेन्द्रिय और सम्मूच्छिममनुष्यों की योनि विवृत होती है।
३. मिश्र—गर्भज तिर्यचपंचेन्द्रिय और गर्भज मनुष्यों की योनि संवृत-विवृत होती है।

### ६. योनि के अन्य प्रकार

शङ्खावर्त्ता कूर्मोन्नता वंशीपत्रा चेति त्रिधा मनुष्य-  
स्त्रीविषया स्यात् । तत्र च—

उत्तमनरमाऊण नियमा कुम्मुन्नया हवइ जोणी ।  
इयराण वंसपत्ता, संखावत्ता उ रयणस्स ॥  
(नन्दीहावृटि पृ १००)

१. शंखावर्त्ता—शंख के समान आवर्त (घुमाव) वाली। यह योनि स्त्री-रत्न की होती है।
२. कूर्मोन्नता—कछुए के समान उन्नत। यह योनि तीर्थंकर आदि उत्तम पुरुषों की माता के होती है।
३. वंशीपत्रिका—बांस की जाली के पत्रों के आकार वाली। यह योनि सामान्य-जनों की माता के होती है।

(शंखावर्त्ता योनि में बहुत से जीव और पुद्गल आते हैं, गर्भरूप में उत्पन्न होते हैं। उनका चय-उपचय भी होता है, किन्तु वे निष्पन्न नहीं होते। (देखें—पद्मवर्णा ९।२६)

रसपरित्याग—दूध, दही आदि रसों का वर्जित।

खीरदहिसप्पिमाई पणीयं पाणभोयणं ।  
परिवज्जणं रसाणं तु भणियं रसविवज्जणं ॥

(उ ३०।२६)

दूध, दही, घृत आदि तथा प्रणीत पान-भोजन और रसों के वर्जन को रसविवर्जन (रसपरित्याग) तप कहा जाता है। यह तप का चौथा भेद है (द्र. तप)

तत्थ नव विगतीतो तं जहा—खीरं दधि नवनीतं सर्पि तेल्लं महुं मज्जं गुलो पुग्गलत्ति । तत्थ पंच खीराणि—गावीणं महिसीणं उट्टीणं अजाणं एलियाणं, उट्टीणं दधि नत्थि नवनीतं धयं च, णवणीतधयवज्जा चत्तारि खीरा । अतसी कुसुंबसरिसवत्तेल्लाणि, एयातो विगतीतो लेवाडात्ति पुण होंति । दो विगडा कट्टनिष्पणं उच्छुमादि पिट्टनिष्पणं फाणिया दोन्नि—दवगुडो य पिडगुडो य । मधूणि तिण्णि—मच्छियं कुत्तियं भामरं । पोमगलाणि जलचरं थलचरं खहचरं अहवा चम्मं मंसं सोणितं । एयातो नव विगतीतो ओगाहिमं च दसमं । (आवचू २ पृ ३१९)

रस (विकृति) के नौ प्रकार हैं—क्षीर, दधि, नवनीत, घृत, तैल, गुड़, मधु, मद्य, पुद्गल (मांस) ।

- ० क्षीर के पांच प्रकार—गाय, महिषी, अजा, भेड़ और उष्ट्रिका का दूध ।
- ० उष्ट्रिका के दूध का दही नहीं जमता । अतः दधि, घृत और नवनीत के चार प्रकार ही बनते हैं ।
- ० तैल के चार प्रकार—तिल, अलसी, कुसुम्भ और सरसों—इन चारों का तैल विकृति (विगय) है । शेष तैल विगय नहीं हैं, किन्तु लेपयुक्त हैं ।
- ० गुड़ के दो प्रकार—द्रवगुड़ और पिण्डगुड़ ।
- ० मधु के तीन प्रकार—मधुमक्खी, कुन्त और भ्रमर से प्राप्त—माक्षिक, कौन्तिक तथा भ्रामर मधु ।
- ० मद्य के दो प्रकार—काष्ठनिष्पन्न तथा ईक्षुपिष्ट-निष्पन्न ।
- ० पुद्गल (मांस) के तीन प्रकार—जलचरज, स्थल-चरज, खेचरज अथवा चर्म, मांस, शोणित ।

ये नव विकृतियां हैं । दसवीं विकृति अवगाहिम—धी या तेल में तला हुआ पदार्थ है ।

विस्तृत विवरण के लिए देखें—ठाणं १।२३ का टिप्पण) ।

**राजीमती**—भोजकुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री ।

**राजीमती-अरिष्टनेमि के पूर्वभव**

एगम्मि सन्निवेशे गामाहिवस्स सुतो आसि धणनामो कुलपुत्तओ । माउलदुहिया धणवई तस्स भारिया । अन्नया ताइं गिम्ह्याले मज्झण्हे गयाइं पओयणवसेणमरन्नं । दिट्ठो य तत्थ पंधपरिभट्टो तण्हाह्वापरिस्समाइरेणेण निमीलियल्लोयणो किच्छपाणो भूमितलमइगतो किससरीरो

एगो मुणी । तं च दट्ठूण 'अहो ! महातवस्सी एस कोइ इममवत्थं पत्तो' त्ति संजायभत्तिकरुणेहिं सित्तो जलेण, वीइतो चेलंचलेण, संवाहियाणि य धणेण अंगाइं । जातो समासत्थो नीतो संग्गामं, पडियरओ य पच्छाऽऽहाराईंहि । मुणिणा वि दिन्नो उचिओवएसो ।

....पडिवन्नो य तेहि कालेण जइधम्मो । कालं काऊण सोहम्मो सामाणितो जातो धणो, इयरा वि जातो तस्सेवमित्तो । तत्थ दिव्वमुरसुहमणुभवित्तं चुतो संतो धणो उववन्नो वेयइहे सूरतेयराइणो पुत्तो चित्तगइनामा विज्जाहरराया । धणवई वि सूररायकन्नगा होऊण जाया तस्सेव भारिया रयणवई नाम । आसेवियमुणिधम्मो माहिदे धणो सामाणितो, इयरा य तम्मित्तो जातो । ततो चुतो धणो अवरजितो नाम राया जातो, सा वि पिइमई तस्स पत्ती । काऊण समणधम्मं गयाइं आरणके कप्पे । धणो सामाणितो जाओ, इयरा वि तम्मित्तो । ततो चुओ धणो संखराया जातो, सा वि जसमई तस्सेव कंता । तत्थ संखो पडिवन्नमुणिधम्मो अरहंतवच्छल्लाइ-हेऊहिं निवद्धतित्थयरनामो उववन्नो अवराइयविमाणे । जसमई वि साहुधम्मपहावेण तत्थेवोववणा । ततो चविऊण धणो सोरियपुरे नयरे दसण्हं दसाराणं जेट्ठस्स समुद्विजयस्स राइणो सिवादेवीए भारियाए कुच्छिसि चोहसमहासुमिण-सूइतो कत्तियकिण्हबारसीए उववन्नो पुत्तताए । उचिय-समएण य सावणसुद्धपंचमीए पसूया सिवादेवी वारयं ।.... अरिट्टनेमि त्ति कयं पिउणा नामं । ....उग्गसेणरायदुहिया रायमई कन्नगा । सा पुण धणवइजीवो अपराजियविमा-णातो चविऊण य तत्थोववन्ना । (उसुवृ प २७७-२७९)

एक सन्निवेश में धन नाम का कुलपुत्र था, जो ग्राम के अधिपति का पुत्र था । उसके धनपति नाम की भार्या थी । एक बार वे दोनों किसी प्रयोजनवश जंगल में गये । ग्रीष्मकाल, मध्यराह्न का समय । वहाँ उन्होंने एक कृशकाय मुनि को देखा, जो भूख-प्यास से बलांत, निमीलितनयन, मूर्च्छित अवस्था में भूमितल पर लेटा हुआ था । महान्तपस्वी के प्रति उनके मन में करुणा और भक्ति का भाव जागा, उस पर जल छिड़का, वस्त्र से हवा की और अंगों को दबाया । इससे मुनि की मूर्च्छा टूट गई । वे उमे अपने गांव ले गये और वहाँ आहार आदि से उसकी परिचर्या की । मुनि ने उपदेश दिया ! अन्तिम वय में उन्होंने श्री मुनिदीक्षा ग्रहण की । वहाँ से मर कर मुनि धन सौधर्म-

कल्प में सामानिक देव बना, धनपति भी उसी विमान में उत्पन्न हुई।

वहाँ से च्यवन कर धन का जीव वैताद्वय गिरि पर सूरतेज राजा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम चित्रगति रखा गया। वह विद्याधरों का राजा बना।

धनपति का जीव सूरराजा की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम रत्नवती रखा गया। चित्रगति के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। अन्त में दोनों ने मुनि-धर्म स्वीकार किया। चित्रगति माहेन्द्र कल्प में सामानिक देव बना और रत्नवती उसका मित्रदेव बनी।

वहाँ से च्यवन कर चित्रगति (धन) अपराजित राजा और रत्नवती (धनपति) उसकी प्रियमती पत्नी बनी। श्रमण-धर्म का पालन कर वह आरणकल्प में सामानिक देव और प्रियमती उसका मित्रदेव बनी।

वहाँ से च्यवन कर वे शंख राजा और यशोमती रानी बने। शंख ने उसी भव में श्रमण-धर्म स्वीकार कर तीर्थकरनामगोत्र का बन्ध किया और अपराजित विमान में उत्पन्न हुआ, यशोमती भी मुनिधर्म के प्रभाव से वहीं उत्पन्न हुई।

अपराजित विमान से च्यवन कर शंख का जीव सोरियपुर में कार्तिक कृष्णा द्वादशी को शिवादेवी के गर्भ में उपपन्न हुआ। माता ने चौदह स्वप्न देखे। श्रावण शुक्ला पंचमी को इस पुत्ररत्न का जन्म हुआ, जिसका नाम रखा गया अरिष्टनेमि। इनके पिता समुद्रविजय दस दशाहों में ज्येष्ठ राजा थे। उस समय सोरियपुर में द्रैघ राज्य था। अंधक और वृष्णि - ये दो राजनैतिक दल वहाँ का शासन चलाने थे। समुद्रविजय अंधकों के नेता थे और वसुदेव वृष्णियों के।

यशोमती (धनपति) का जीव अपराजित विमान से च्यवन कर राजीमती के रूप उत्पन्न हुआ। उसके पिता का नाम उग्रसेन और माता का नाम धारिणी था।

### रथनेमि और राजीमती

तेसि पुत्ता चउरो अरिदुनेमी तहेव रहनेमी।

तइओ अ सच्चनेमी चउत्थओ होइ दढनेमी ॥

जो सो अरिदुनेमी बाकीसइमो अहेसि सो अरिहा।

रहनेमि सच्चनेमी एए पत्तेयबुद्धा उ ॥

(उनि ४४४, ४४५)

समुद्रविजय के चार पुत्र थे - अरिष्टनेमि, रथनेमि,

सत्यनेमि और दृढनेमि। अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थकर हुए और रथनेमि तथा सत्यनेमि प्रत्येकबुद्ध हुए।

धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा।

वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥

अरिदुणेमिसामिणो भाया रहणेमी भट्टारे पव्वइतं रायमति आराहेति 'जति इच्छेज्ज।' सा निव्विण्णकाम-भोगा तस्स विदिताभिप्पाया कल्लं मधु-घयसंजुत्तं पेज्जं पिबित आगते कुमारे भदणफलं मुहे पक्खिप्प पात्रीए छड्डे तुमुवणिमंतेति - पिबसि पेज्जं ? तेण पडिवण्णे वंतमुवण-यति। तेण 'किमिदं' ? इति भणिते भणति - इदमवि एवंप्रकारमेव, भावतो हं भगवता परिच्चत्त ति वंता, अतो तुज्झ मामभिलसंतस्स..... (द २।७ अचू पृ ४९)

(केशव ने अरिष्टनेमि के लिए राजीमती की मांग की। विवाह के लिए जाते हुए अरिष्टनेमि ने पशुओं का कर्ण क्रन्दन सुना। उनका मानस द्रवित हो उठा। वे प्रव्रज्या के लिए वहीं से मुड़ गए।)

जब अरिष्टनेमि प्रव्रजित हो गए, तब उनके भ्राता रथनेमि राजीमती को प्रसन्न करने लगे, जिससे कि वह उन्हें चाहने लगे। भगवती राजीमती का मन काम-भोगों से उदासीन हो चुका था। उसे रथनेमि का अभिप्राय ज्ञात हो गया। एक बार उसने मधु-घृत संयुक्त पेय पीया और जब रथनेमि आये तो मदनफल मुख में ले उसने उल्टी की और रथनेमि से बोली - 'इस पेय को पीओ।' रथनेमि बोले - 'वमन किए हुए को कैसे पीऊँ ?' राजीमती बोली - 'यदि वमन किया हुआ नहीं पीते तो मैं भी अरिष्टनेमि स्वामी द्वारा वमन की हुई हूँ। मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो ? धिक्कार है तुम्हें जो वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करते हो। इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है।' इसके बाद राजीमती ने धर्म कहा। रथनेमि समझ गए और प्रव्रजित हो गये। राजीमती भी उन्हें बोध दे प्रव्रजित हुई।

गिरि रेवययं जंती, वासेणुल्ला उ अंतरा।

वागंते अंधयारम्मि, अंतो लयणस्स सा ठिया ॥

चीवराइ विसारंती, जहाजाय ति पासिया।

रहनेमी भग्गचित्तो, पच्छा दिट्ठो य तीइ वि ॥

भीया य सा तहि दट्ठुं, एगते संजयं तयं।

बाहाहि काउं संगोफं, वेवमाणी निसीयई ॥

अहं सो वि राघपुत्रो, समुद्रविजयंगओ ।  
भीयं पवेविय दटुं, इमं वक्कं उदाहरे ॥  
रहनेमी अहं भद्दे, सुरूवे ! चारुभासिणि !  
ममं भयाहि सुयणू ! न ते पीलां भविस्सई ॥

(उ २२।३३-३७)

एक बार राजीमती अरिष्टनेमि को बंदना करने केवतक पर्वत पर जा रही थी। बीच में वर्षा से भीग गई। वर्षा हो रही थी, अंधेरा छाया हुआ था, उस समय वह लयन (गुफा) में ठहर गई। (उस गुफा को आज भी 'राजीमतीगुफा' कहा जाता है—विविधतीर्थकल्प पृष्ठ ६)। उसी गुफा में भुनि रथनेमि पहले से ही रुका हुआ था। चीवरो को सुखाने के लिए फँलाती हुई राजीमती को रथनेमि ने यथाजात (नग्न) रूप में देखा। वह भग्नचित्त हो गया। बाद में राजीमती ने भी उसे देख लिया। एकांत में उस संयति को देख वह डरी और दोनों भुजाओं के गुम्फन से वक्ष को ढाँककर कांपती हुई बैठ गई। उस समय समुद्रविजय के अंगज राजपुत्र रथनेमि ने राजीमती को भीत और प्रकम्पित देखकर यह कहा—भद्दे ! मैं रथनेमि हूँ। सुरूवे ! चारुभासिणि ! तू मुझे स्वीकार कर। सुतनु ! तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी।

जइ सि खूवेण वेसमणो, लल्लिएण नलकूबरो ।  
तहा वि ते न इच्छामि, जइ सि सब्बं पुरंदरो ॥  
(पक्खदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।  
नेच्छति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥)  
अहं च भोयरायस्स, तं च सि अंधमवप्पिहणो ।  
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥

(उ २२।४१, ४३)

राजीमती ने रथनेमि से कहा—यदि तू रूप से वैश्रवण है, लालित्य से नलकूबर है, और तो क्या, यदि तू साक्षात् इन्द्र है तो भी मैं तुझे नहीं चाहती। (अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल, धूमशिख—अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते।) मैं भोजराज की पुत्री हूँ और तू अन्धकवृष्णि का पुत्र। हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों। तू स्थिर मन हो—संयम का पालन कर।

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं ।  
अंकुसेण जहा नागो, धम्मं संपडिवाइओ ॥

उभं तव चरित्ताणं, जाया दोणिण वि केवली ।  
सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धि पत्ता अणुत्तरं ॥

(उ २२।४६, ४८)

रहनेमिस्स भगवओ मिहत्थए चउर हुंति वाससया ।  
संवच्छर छउमत्थो पंचसए केवली हुंति ॥  
नववाससए वासाहिए उ सव्वाउगस्स नायव्वं ।  
एसो उ चेव कालो राघमईए उ नायव्वो ॥

(उनि ४४६, ४४७)

संयमिनी राजीमती के इन सुभाषित वचनों को सुनकर रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गया, जैसे अंकुश से हाथी होता है। उग्रतप का आचरण कर तथा सब कर्मों को खपा राजीमती और रथनेमि—दोनों अनुत्तर सिद्धिगति को प्राप्त हुए।

दोनों का गृहस्थपर्याय चार सौ वर्ष, छद्मस्थपर्याय एक वर्ष तथा केवलीपर्याय पाँच सौ वर्ष था। इस प्रकार उनका संपूर्ण आयुष्य नौ सौ एक वर्ष का था।

**रात्रिभोजनविरमण—रात्रिभोजन का वर्जन ।**

१. रात्रिभोजनविरमण : छूठा व्रत
२. रात्रिभोजनध्वंन और अहिंसा
३. रात्रिभोजनविरमण उत्तरगुण
४. रात्रिभोजनविरमण मूलगुण
- \* श्रावक और रात्रिभोजन का विकल्प (द्र. श्रावक)
५. रात्रिभोजनविरमण और शासनभेद
६. रात्रिभोजन के द्रव्य, क्षेत्र
- \* रात्रिभोजन : एक अनाचार (द्र. अनाचार)

**१. रात्रिभोजनविरमण : छूठा व्रत**

अहावरे छट्ठे भते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं ।  
सव्वं भते ! राईभोयणं पच्चक्खामि । से असणं वा पाणं  
वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुजेज्जा नेवन्नेहि  
राइं भुजावेज्जा राइं भुंजते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा  
जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न  
करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

(व ४।सूत्र १६)

भते ! छठे व्रत में रात्रिभोजन की विरति होती है।  
भते ! मैं सब प्रकार के रात्रिभोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊंगा, दूसरों को नहीं खिलाऊंगा

और खाने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, याव-  
ज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से - मन से, वचन  
से, काया से - न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले  
का अनुमोदन भी नहीं करूंगा ।

अर्थगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।  
आहारमइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥

(द ८।२८)

मुनि सूर्यास्त से लेकर पुनः सूर्योदय न हो, तब तक  
सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे ।

### १. रात्रिभोजन वर्जन और अहिंसा

संतिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा ।  
जाइं राओ अपासंतो कहमेसणियं चरे ? ॥  
उदउल्लं बीयसंसत्तं पाणा निवड्डिया महि ।  
दिया ताइं विवज्जेज्जा राओ तत्थ कहं चरे ॥  
एय च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासियं ।  
सव्वाहारं न भुंजति, निग्गंथा राइभोयणं ॥

(द ६।२३-२५)

जो व्रत और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं, उन्हें रात्रि में  
नहीं देखता हुआ निर्ग्रन्थ एषणा कैसे कर सकता है? उदक  
से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग—  
उन्हें दिन में टाला जा सकता है पर रात में उन्हें टालना  
शक्य नहीं—इसलिए निर्ग्रन्थ रात को भिक्षाचर्या कैसे कर  
सकता है? ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को  
देखकर कहा—“जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रिभोजन नहीं  
करते, चारों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का  
आहार नहीं करते ।”

### ३. रात्रिभोजनविरमण उत्तरगुण

कि रात्रीभोयणं मूलगुणः उत्तरगुणः ? उत्तरगुण  
एवायं । तहावि सव्वमूलगुणरक्खाहेतुत्ति मूलगुणसम्भूतं  
पट्टिज्जति । (दअचू पृ ८६)

पांच महाव्रत मूलगुण हैं और रात्रिभोजनविरमण  
उत्तरगुण है । फिर भी यह मूलगुणों की रक्षा का हेतु है,  
इसलिए इसका मूलगुणों के साथ प्रतिपादन किया गया है ।

### ४. रात्रिभोजनविरमण मूलगुण

सम्मत्तसमेयाइं महव्वयाणुव्वयाइं मूलगुणा ।  
मूलं सेसाहारो ..... ॥  
जम्हा मूलगुण चिच्चय न ह्योति तव्विरहियस्स पडिपुत्ता ।  
तो मूलगुणगहणे तग्गहणमिहत्थओ नेयं ॥

(विभा १२३९, १२४३)

सम्यक्त्व, महाव्रत और अणुव्रत मूलगुण हैं । मूलगुण  
उत्तरगुणों के आधार हैं ।

रात्रिभोजन-विरमण व्रत के बिना मूलगुण परिपूर्ण  
नहीं होते । अतः मूलगुण के ग्रहण से अर्थतः उसका भी  
ग्रहण हो जाता है ।

.....वयधारिणो चिच्चय तयं मूलगुणो सेसयस्सियरो ॥  
सव्वव्वओवगारि जह तं न तथा तवादओ वीसुं ।

जं ते तेणुत्तरिया ह्योति गुणा तं च मूलगुणो ॥  
उभयधर्मकं हि रात्रीभोजनविरमणम्, यतो गृहस्थ-  
स्य तदुत्तरगुणः, तस्याऽऽरम्भजप्राणातिपातादनिवृत्तत्वात्,  
निशि भोजनेऽपि मूलगुणानामखण्डनात्, अत्यन्तोपकारा-  
भावादिति; व्रतिनस्तु तदेव मूलगुणः, तस्याऽऽरम्भजादपि  
प्राणातिपाताद् निवृत्तत्वात्, रजनिभोजने च तत्संभवात्,  
अतस्तद्विधाने मूलगुणानां खण्डनात्, तद्विरमणे तु तेषां  
संरक्षणेनात्यन्तोपकारात् तत् तस्य मूलगुणः । तपः-  
प्रभृतीनां चेत्यभत्यन्तोपकारित्वाभावादुत्तरगुणत्वमिति ।

(विभा १२४०, १२४५ मवृ पृ ४७१)

रात्रिभोजनविरमण व्रत उभय धर्मात्मक है— साधु  
के लिए वह मूलगुण और गृहस्थ के लिए उत्तरगुण  
है । गृहस्थ श्रावक आरंभजन्य हिंसा से पूर्णतः निवृत्त  
नहीं होता, अतः रात्रिभोजन से उसके मूलगुण खंडित  
नहीं होते । साधु पूर्णतः अहिंसक हाते हैं, अतः रात्रि-  
भोजन से उनके मूलगुण खंडित होते हैं । रात्रिभोजन  
विरमण से मूल गुणों का संरक्षण होता है, अतः वह मूल-  
गुणों का अत्यंत उपकारी होने से मूलगुण के रूप में  
स्वीकृत है । तप, स्वाध्याय आदि मूलगुणों के अत्यंत उप-  
कारक न होने के कारण उत्तरगुण हैं ।

### ५. रात्रिभोजनविरमण और शासनभेद

पुरिमज्जिणकाले पुरिसा उज्जुजडा पच्छिमज्जिणकाले  
पुरिसा वंजजडा । अतो निमित्तं महव्वयाण उव्वरि ठवियं,  
जेण तं महव्वयमिव मन्नंता ण पिल्लेहिति । मज्जिमगाणं  
पुण एयं उत्तरगुणेसु कहियं । किं कारणं ? जेण ते उज्जु-  
पणत्तणेण सुहं चैव परिहरंति । (दजिचू पृ १५३)

प्रथम तीर्थंकर के मुनि ऋजुजड़ और अंतिम तीर्थंकर  
के मुनि वक्रजड़ होते हैं । रात्रिभोजनविरमण व्रत को  
महाव्रतों की श्रृंखला में छठा व्रत रखा गया है, जिससे  
कि वे इसका महाव्रतों की तरह पालन कर सकें ।  
मध्यवर्ती तीर्थंकरों के मुनियों के लिए इसे उत्तरगुण में  
गिनाया है, क्योंकि वे ऋजुप्राज्ञ होते हैं इसलिए वे रात्रि-  
भोजन का परिहार सरलता से कर लेते हैं ।

## ६. रात्रिभोजन के द्रव्य, क्षेत्र...

रात्रीभोजने चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो । दव्वतो असणे वा पाणे वा खादिमे वा सादिमे वा । खेत्ततो समयखेत्ते । कालतो राती । भावतो तित्ते वा कडुए वा कसाए वा अबिले वा महुरे वा लवणे वा । (दअचू पृ ८५)

रात्रिभोजन के चार प्रकार हैं—

द्रव्यतः—अशन, पान, खादिम, स्वादिम ।

क्षेत्रतः—समयक्षेत्र ।

कालतः—रात्रि ।

भावतः—तिक्त, कटु, कषैला, खट्टा, मधुर अथवा लवण रस ।

रुचि - यथार्थ तत्त्वश्रद्धा । (द्र. सम्यक्त्व)

रौद्रध्यान हिंसा, असत्य, चोरी और विषयभोगों की रक्षा के निमित्त होने वाली चिन्तन की एकाग्रधारा । (द्र. ध्यान)

लब्धि—ऋद्धि, योगज विभूति ।

### १. लब्धि की परिभाषा

### २. लब्धि के सतरह प्रकार

• आमर्ष-औषधि आदि लब्धिय

### ३. लब्धि के बीस प्रकार

• कोष्ठबुद्धि आदि लब्धियां

### ४. अन्य लब्धियां

• तेजोलब्धि

• पुलाकलब्धि

• आकाशवानी विद्या

• धृताश्रयलब्धि

• व्यञ्जनलब्धि

• गन्धौषधि

### ५. लब्धि का अधिकारी

### ६. लब्धि और साकारोपयोग

### ७. लब्धि और औदयिक आदि भाव

### ८. लब्धियों की निष्पत्ति

### ९. मनःपर्यव लब्धि आदि बारह बातों का विच्छेद

\* अवधिज्ञान आदि क्षयोपशम लब्धि (द्र. ज्ञान)

अभ्यास से प्राप्त या गुणहेतुक शक्तिविशेष को लब्धि कहते हैं ।

लब्धिरिति यः अतिशयः, स तावल्लब्धिरहित-सामान्यजीवेषु विशेष उच्यते । ते च विशेषाः कर्मक्षय-क्षयोपशमादिवैचित्त्याज्जीवानामपरिमिताः संख्यातुम-शक्याः । (विभामवृ १ प ३२८)

लब्धि का अर्थ है वे अतिशय, जो कर्मों के क्षय, क्षयोपशम आदि से उत्पन्न होते हैं । वे अपरिमित हैं । उनकी गणना संभव नहीं है ।

## २. लब्धि के सतरह प्रकार

.....इड्ढी एसा (ओही) वण्णिज्जइ त्ति तो

सेसियाओऽवि ॥

आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लमोसही चेव ।  
संभिनसोउज्जुमइ, सव्वोसहि चेव बोद्धव्वो ॥

चारणआसीविस केवली य मणनाणिणो य पुव्वधरा ।

अरहंतचक्कवट्ठी, बलदेवा वासुदेवा य ॥

(आवनि ६८-७०)

लब्धि के सतरह प्रकार ये हैं—

१. अवधिज्ञान	१०. आशीविष
२. आमर्ष-औषधि	११. केवली
३. विप्रुडौषधि	१२. मनःपर्यवज्ञानी
४. श्लेष्मौषधि	(विपुलमति)
५. जल्लौषधि	१३. पूर्वधर
६. संभिनश्रोत	१४. तीर्थकर
७. ऋजुमति (मनःपर्यवज्ञान)	१५. चक्रवर्ती
८. सर्व-औषधि	१६. बलदेव
९. चारण	१७. वासुदेव

### आमर्ष-औषधि

संफुरिसणमामोसो.....।

(विभा ७८१)

आमोसधो नाम रोगाभिभूतं अत्ताणं परं वा जं चेव तिगिच्छामिति संचित्तेऊण आमुसति तं तक्खणा चेव ववमथरोगातंकं करोति, सा य आमोसधीलद्धी सरीरेग्देसे वा सब्बसरीरे वा समुप्पज्जत्तित्ति । (आवचू १ पृ ६८)

आमर्ष का अर्थ है—स्पर्श करना । आमर्ष-औषधि-लब्धि सम्पन्न व्यक्ति 'मैं चिकित्सा करता हूँ'—ऐसा संकल्प कर स्वयं का या दूसरे रोगी का स्पर्श करता है तो उस स्पर्श से रोगी तत्काल रोग तथा आतंक से मुक्त हो जाता है । यह आमर्षौषधिलब्धि शरीर के किसी एक भाग में अथवा पूरे शरीर में उत्पन्न हो सकती है ।

## १. लब्धि की परिभाषा

गुणप्रत्ययो हि सामर्ष्यविशेषो लब्धिः ।

(आवमवृ प ७९)



**विप्रदोषधि लब्धि**

विट्ठं ओसहिसामत्थजुत्तत्तेण विप्पोसही भन्नति ।  
विप्पोसधी य रोगाभिभूतं अप्पाणं वा परं वा छिव्वति तं  
तक्खणा चेव ववगयरोगायकं करेति । (आवचू १ पृ ६८)

जिसका मल औषधि-सामर्थ्य से युक्त हो जाता है,  
वह विप्रुट् औषधि लब्धि सम्पन्न होता है। उसके मल के  
स्पर्श से रोगाभिभूत व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है।

**संभिन्नश्रोत लब्धि**

जो मुणइ सव्वओ मुणइ सव्वविसए व सव्वसोएहि ।  
मुणइ बहुए व सहे भिन्ने संभिन्नसोओ सो ॥  
(विभा ७८३)

जो सर्वतः सुनता है, सब श्रोतों—इन्द्रियों से सब  
विषयों को जानता है अथवा एक साथ अनेक प्रकार के  
शब्दों को भिन्न-भिन्न रूप में (अपने-अपने गुणधर्मों के  
अनुरूप) सुन लेता है, वह संभिन्नश्रोता है।

संभिन्नसोयारिद्धी नाम जो एगत्तरेणवि शरीरदेसेण  
पंचवि इन्द्रियविसए उवलभति सो संभिन्नसोयत्ति  
भन्नति । ...संभिन्नसोतो णाम जति वारसजोयणचक्कवट्टि-  
खंधावारे जमग-समगं बोस्लेज्जा सव्वेसि पत्तेयं पत्तेयं  
जाणति । एगेण वा इंदिएणं पंचवि इन्द्रियत्थे उवलभति ।  
अहवा सव्वेहि अंगोवगेहि । अहवा चक्कवट्टिखंधावारे  
सव्वतूराणं विसेसं उवलभति । एस संभिन्नसोओ भन्नति ।  
(आवचू १ पृ ६८, ७०)

• जो शरीर के किसी एक भाग से पांचों इन्द्रिय-  
विषयों को जान लेता है, वह संभिन्नश्रोता है।

• जो बारह योजन विस्तृत चक्रवर्ती की सेना में एक  
साथ बोले जाने वाले नाना प्रकार के शब्दों को एक साथ  
सुनकर पृथक्-पृथक् जान लेता है, वह संभिन्नश्रोता है।

• जो किसी एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियविषयों को  
जान लेता है, वह संभिन्नश्रोता है।

• जो अंग-उपांगों से सभी इन्द्रिय-विषयों को  
जानता है, वह संभिन्नश्रोता है।

• जो चक्रवर्ती की सेना में एक साथ सुनाई देने  
वाली सभी वाद्यों की ध्वनियों को पृथक्-पृथक् जान लेता  
है, वह संभिन्नश्रोता है।

श्रोतांसि —इन्द्रियाणि, संभिन्नानि—परस्परत  
एकरूपतामापन्नानि यस्य स तथा, श्रोत्रं चक्षुःकार्य-

कारित्वात् चक्षुरूपतामापन्नं, चक्षुरपि श्रोत्रकार्यकारि-  
त्वात् तद्रूपतामापन्नमित्येवं संभिन्नानि यस्य परस्पर-  
मिन्द्रियाणि स संभिन्नश्रोताः । (आवमवृ प ७८)

श्रोत का अर्थ है—इन्द्रियां। संभिन्न का अर्थ है—  
परस्पर एकरूप हो जाना। जैसे श्रोत्र चक्षु का कार्य  
करने पर वह चक्षुरूप हो जाता है और चक्षु भी श्रोत्र  
का कार्य करने पर श्रोत्ररूप हो जाता है। इस प्रकार  
जिसकी इन्द्रियां परस्पर एकरूप हो जाती हैं, वह  
संभिन्नश्रोता है।

**सर्व-औषधि लब्धि**

सव्वोसधी नाम सव्वाओ ओसधीओ आमोसधि-  
मादीयाओ एगजीवस्स चेव जस्स समुप्पण्णाओ स सव्वो-  
सधी भन्नति । अहवा सव्वसरीरेण सव्वसरीरावयवेहि  
वा खेलोसधिमादीहि जो ओसहिसामत्थजुत्तो सो सव्वो-  
सधी भन्नति अहवा सव्ववाहीणं जो निग्गहसमत्थो सो  
सव्वोसधी भन्नति । (आवचू १ पृ ६८, ६९)

• जिस किसी एक व्यक्ति में आमर्षोषधि आदि सर्व  
औषधि से संबद्ध लब्धियां उत्पन्न हो जाती हैं, वह सर्व-  
औषधिलब्धि सम्पन्न कहलाता है।

• अथवा जो पुरे शरीर से या शरीर के सभी अव-  
यवों से श्लेष्मोषधि आदि से औषधियों का सामर्थ्य प्राप्त  
कर लेता है, वह सर्वौषधि है।

• अथवा जो सभी व्याधियों का निग्रह करने में  
समर्थ होता है वह सर्वौषधिलब्धि सम्पन्न कहलाता है।

**चारण लब्धि**

अतिशयवद्गमनागमनरूपाच्चारणाच्चारणाः सात्ति-  
शयगमनाऽऽगमनलब्धिसम्पन्नाः साधुविशेषा एव ।

(विभामवृ १ पृ ३२२)

अतिशायी गमन और आगमन की क्षमता चारण-  
लब्धि है। अतिशायी गमनागमन की शक्ति से सम्पन्न  
विशिष्ट साधु ही होते हैं।

ते च द्विधा —जंघाचारणा विद्याचारणाश्च ।

(नन्दीमवृ प १०६)

चारण के दो प्रकार हैं—जंघाचारण और विद्या-  
चारण।

**जंघाचारण लब्धि**

ये चारित्रतपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतगमनविषय-  
लब्धिविशेषास्ते जङ्घाचारणाः । (नन्दीमवृ प १०६)

जिन्हें चारित्र्य और विशिष्ट तपोनुष्ठान से गमन-आगमन विषयक लब्धि प्राप्त होती है, वे जंघाचारण हैं।

अस्य च यथाविधि सातिशयाष्टमलक्षणेन विकृष्ट-तपसा सर्वदैव तपस्यतो जङ्घाचारणलब्धिरुत्पद्यते।

(विभामवृ १ पृ ३२३)

विधिपूर्वक विशेष रूप से तेले-तेले (तीन-तीन दिन का उपवास) की विकृष्ट तपस्या निरन्तर करने से जंघा-चारण लब्धि उत्पन्न होती है।

जंघाचारणलब्धिसंपन्नो अणगारो लूतापुडकतंतुमेत्त-मवि णीसं काऊण गच्छति। (आवचू १पृ ६९)

जंघाचारण लब्धि सम्पन्न मुनि मकड़ी के जाले से निष्पन्न तंतु के सहारे गमनागमन कर लेता है।

जङ्घाचारणा यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छवः तत्र रवि-करानपि निश्रीकृत्य गच्छन्ति। (नन्दीमवृ प १०७)

जंघाचारण मुनि सूर्य की किरणों के सहारे भी गमनागमन करते हैं।

जंघाचारणास्तु रुचकवरद्वीपं यावद् गन्तुं समर्थाः।.... जङ्घाचारणः रुचकवरद्वीपं गच्छन्नेकेनैवोत्पातेन गच्छति, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनोत्पातेन नन्दीश्वरमायाति द्वितीयेन स्वस्थानं, यदि पुनर्महेशिखरं जिगमिषुस्ताहि एकेनैवोत्पा-तेन षण्डकवनमधिरोहति, प्रतिनिवर्त्तमानस्तु प्रथमेनोत्पा-तेन नन्दनवनमागच्छति द्वितीयेन स्वस्थानमिति। जंघा-चारिणी हि चारित्र्यातिशयप्रभावतो भवति ततो लब्ध-पजीवने औत्सुक्यभावतः प्रमादसंभवाच्चारित्र्यातिशयनि-बन्धना लब्धिरपहीयते ततः प्रतिनिवर्त्तमानो द्वाभ्यामुत्पा-ताभ्यां स्वस्थानमायाति। (नन्दीमवृ प १०७)

जंघाचारण लब्धि से सम्पन्न मुनि रुचकवरद्वीप तक जा सकता है। वह प्रथम उड़ान में रुचकवरद्वीप में जाता है। लौटते समय दूसरी उड़ान में नन्दीश्वरद्वीप में आता है, तीसरी उड़ान में अपने मूल स्थान पर आ जाता है। यदि वह महेशिखर पर जाता है तो प्रथम उड़ान में षण्डक वन में जाता है। दूसरी उड़ान में नन्दनवन में लौट आता है। तीसरी उड़ान में वहां पहुंच जाता है, जहां से उड़ान भरी थी।

जंघाचारण लब्धि चारित्र्य के अतिशय के प्रभाव से उत्पन्न होती है। लब्धि के प्रयोग में उत्सुकता का भाव तथा प्रमाद की सम्भावना के कारण चारित्र्य-

जन्म लब्धि क्षीण होने लगती है। इसलिए लौटते समय मुनि दो उड़ानों में अपने स्थान पर पहुंचता है।

### विद्याचारण लब्धि

यो विद्यावशतः समुत्पन्नगमनागमनलब्ध्यतिशयाः ते विद्याचारणाः। (नन्दीमवृ प १०६)

जिनमें विद्याबल से गमन और आगमन की लब्धि की विशेषता उत्पन्न होती है, वे विद्याचारण हैं।

यथाविधि सातिशयषष्ठलक्षणेन तपसा सर्वदैव तपस्यतो विद्याचारणलब्धिरुत्पद्यते।

(विभामवृ १ पृ ३२२)

विधिपूर्वक सातिशय बेले-बेले (दो-दो दिन का उपवास) की निरन्तर तपस्या करने से विद्याचारण लब्धि प्राप्त होती है।

विज्जाचारणलद्धीओ विज्जातिसयसामत्थजुत्तयाए पुव्वविदेहअवरविदेहादीणि खेत्ताणि अप्पेण कालेण आया-सेण गच्छति। (आवचू १ पृ ६९)

विद्याचारण लब्धि सम्पन्न व्यक्ति विद्या के अतिशय से अल्पकाल में ही आकाशमार्ग से पूर्वविदेह से अपर-विदेह आदि क्षेत्रों में चला जाता है।

विद्याचारणा नन्दीश्वरं... विद्याचारणः पुनः प्रथमे-नोत्पातेन मानुषोत्तरं पर्वतं गच्छति द्वितीयेन तु नन्दी-श्वरं, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति। तथा मेरुं गच्छन् प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनं गच्छति द्वितीयेन षण्डकवनं, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति। विद्याचारणो हि विद्यावशाद् भवति, विद्या च परिशील्यमाना स्फुटा स्फुटतरोपजायते, ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्य शक्त्यतिशयसम्भवादेकेनोत्पातेन स्वस्थानागमनम्। (नन्दीमवृ प १०७)

विद्याचारण मुनि नन्दीश्वरद्वीप तक जाने में समर्थ होता है। वह प्रथम उड़ान में मानुषोत्तर पर्वत पर जाता है। दूसरी उड़ान में वहां से नन्दीश्वरद्वीप में जाता है। वहां से एक ही उड़ान में अपने स्थान पर लौट आता है।

मेरुपर्वत पर जाता हुआ वह प्रथम उड़ान में नन्दन-वन में तथा दूसरी उड़ान में षण्डकवन में जाता है। लौटते समय एक ही उड़ान में अपने मूल स्थान पर आ जाता है।

विद्याचारणलब्धि विद्या के अतिशय से प्राप्त होती है। पुनः पुनः परिशीलन से विद्या स्फुट-स्फुटतर हो

जाती है। अतः लौटते समय अतिशय शक्ति के कारण एक ही उड़ान में मुनि स्वस्थान में आ जाता है।

### आशीविष लब्धि

आसीविसोविष कुवितो जो देहविणिवायसामत्थजुत्तो सो आसीविसलद्धीओ भन्नति। (आवचू १ पृ ६९)

आशीविष सर्प की तरह जो कुपित होकर दूसरों को मारने में समर्थ होता है, वह आशीविषलब्धिसम्पन्न है।

आसी दाढा तग्गवमहाविसासीविसा दुविहभेया।

ते कम्मजाइभेएण णेगहा - चउविहविगप्पा ॥

जातितो वृश्चिक-मण्डूक-सर्प-मनुष्यजातयः क्रमेण बहु-बहुतर-बहुतमविषाः--- वृश्चिकविषं हि उत्कृष्टतो-  
र्धभरतक्षेत्रप्रमाणं शरीरं व्याप्नोतीति, मण्डूकविषं तु भरतक्षेत्रप्रमाणम्, भुजङ्गविषं तु जम्बूद्वीपप्रमाणम्, मनुष्यविषं तु समयक्षेत्रप्रमाणं वपुर्व्याप्नोति।

कर्मतस्तु पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः, मनुष्याः, देवाश्चा-  
ऽऽसहस्रारादिति। एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणत आशीविषवृश्चिक-भुजङ्गादिसाध्यकर्मक्रियां कुर्वन्ति—शापप्रदानादिना परं व्यापादयन्तीत्यर्थः।

देवाश्चाऽपर्याप्तावस्थायां तच्छक्तिमन्तो द्रष्टव्याः, ते हि पूर्वं मनुष्यभवे समुपाजिताशीविषलब्धयः सहस्रारान्त-  
देवेष्वभिनवोत्पन्ना अपर्याप्तावस्थायां प्राग्भविकाऽऽशीविष-  
लब्धिमन्तो मन्तव्याः, ततः परं तल्लब्धिनिवृत्तेः। पर्याप्ता अपि देवाः शापादिना परं विनाशयन्ति, किन्तु लब्धिव्यपदेशस्तदा न प्रवर्तते।

(विभा ७९१ मवृ पृ ३२३)

जिसके आशी --दाढा में विष होता है, वह आशी-  
विष है। उसके दो प्रकार हैं—

१. जाति-आशीविष—जो जन्म से आशीविष होते हैं। उनके चार प्रकार हैं—

१. वृश्चिक—बिच्छू का विष उत्कृष्टतः अर्धभरत-  
क्षेत्र प्रमाण शरीर को व्याप्त कर सकता है।

२. मंडूक—मेंढक का विष सम्पूर्ण भरतक्षेत्रप्रमाण  
शरीर को व्याप्त कर सकता है।

३. भुजंग—सर्प का विष जम्बूद्वीपप्रमाण शरीर को  
प्रभावित कर सकता है।

४. मनुष्य—मनुष्य का विष सम्पूर्ण मनुष्यलोक  
(ढाई द्वीपप्रमाण क्षेत्र) को प्रभावित कर सकता  
है।

२. कर्मआशीविष—जो तप अनुष्ठान अथवा किसी  
विशिष्ट गुण का विकास कर बिच्छू, सर्प आदि  
जैसी क्रिया करने में कुशल होते हैं—शाप आदि के  
द्वारा दूसरों को मारने में समर्थ होते हैं, वे कर्मतः  
आशीविष हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य और सहस्रार  
कल्प तक के देव कर्मतः आशीविष हो सकते हैं।

यहां ज्ञातव्य है कि मनुष्य में उपाजित आशीविष  
लब्धि वाले जीव मर कर जब सहस्रार पर्यंत विमानों में  
उत्पन्न होते हैं, तब उन देवों में अपर्याप्त अवस्था में ही  
वह लब्धि संभव है, पर्याप्त होते ही वह लब्धि क्षीण हो  
जाती है। पर्याप्त अवस्था में वे देव शाप आदि के द्वारा  
दूसरों का विनाश कर सकते हैं, किन्तु वह लब्धि उनमें  
नहीं होती।

### ३. लब्धि के बीस प्रकार

केइ भणंति बीसं लद्धीओ तं न जुज्जए जम्हा।

लद्धि ति जो विसेसो अपरिमिया ते य जीवाणं ॥

(विभा ८०२)

कुछ मानते हैं कि लब्धियां बीस ही हैं—यह कथन  
ऐकांतिक नहीं है। क्योंकि लब्धियां विशेष--अतिशय हैं।  
वे जीवों को कर्मअय आदि से प्राप्त होती हैं। वे अपरि-  
मित हैं।

केचिदाचार्यदेशयीया विशतिसंख्यानियमिता एव लब्धिः  
प्राहुः—

आमोसही य खेले जल्ल-विप्पे य होइ सव्वे य।

कोट्ठे य वीयबुद्धी पयाणुसारी य संभिन्ने ॥

रिजुमइ-विउल-कखीरमहु-अक्खीणे विउव्वि-चरणे य।

विज्जाहर-अरहंता चक्की बल-वासु बीस इमा ॥

(विभामवृ पृ ३२८)

कुछ आचार्य नियमतः बीस लब्धियां मानते हैं। वे ये  
हैं—

१. आमषीषधि	११. विपुलमति
२. श्लेषीषधि	१२. क्षीरमध्वाश्रव
३. जलौषधि	१३. अक्षीणमहानस
४. विप्रुडौषधि	१४. वैक्रिय
५. सर्व-औषधि	१५. चारण
६. कोष्ठबुद्धि	१६. विद्याधर
७. बीजबुद्धि	१७. अर्हत्
८. पदानुसारिणीबुद्धि	१८. चक्रवर्ती
९. संभिन्नश्रोत	१९. बलदेव
१०. ऋजुमति	२०. वासुदेव

**कोष्ठबुद्धि**

...कोट्टयधन्नसुनिग्गलसुत्तत्या कोट्टबुद्धीया ॥ (विभा ७९९)

कोष्ठ इव धान्यं या बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गती तद-  
स्थावेव सूत्रार्थो धारयति, न किमपि तयोः सूत्रार्थयोः  
कालान्तरेऽपि गलति सा कोष्ठबुद्धिः । (नन्दीमवृ प १०६)

जिस प्रकार कोष्ठ में धान्य सुरक्षित रहता है, उसी  
प्रकार जो बुद्धि आचार्य द्वारा कथित सूत्र और अर्थ को  
उसी रूप में धारण कर लेती है तथा कालान्तर में भी  
उनका क्षरण नहीं होता, वह कोष्ठबुद्धि है ।

**बीजबुद्धि**

...जो अत्यपएणत्थं अणुसरइ स बीयबुद्धी उ ॥

(विभा ८००)

बीयबुद्धी नाम बीजमात्रेण उवलभति,

जहा सित्थेण दोणपाकं ।

(आवचू १ पृ ७०)

या पुनरेकमर्थपदं तथाविधमनुसृत्य शेषमश्रुतमपि  
यथावस्थितं प्रभूतमर्थमवगाहते सा बीजबुद्धिः ।

(नन्दीमवृ प १०६)

जो एक अर्थपद का अनुसरण कर शेष अश्रुत प्रकृ-  
तार्थों को यथार्थ रूप में जानती है, वह बीजबुद्धि है ।  
जैसे एक सिक्क से द्रोणपाक जान लिया जाता है ।

**बीजबुद्धि और गणधर**

बीजबुद्धिः सर्वोत्तमा प्रकर्षप्राप्ता भगवतां गणभृतां,  
ते हि उत्पादादिपदत्रयमवधार्य सकलमपि द्वादशाङ्गात्मकं  
प्रवचनमभिसूत्रयन्ति । (नन्दीमवृ प १०६)

सभी गणधर सर्वोत्तम बीजबुद्धि के धारक होते हैं ।  
उत्पाद, व्यय, धीव्य - इस त्रिपदी का अवधारण कर वे  
संपूर्ण द्वादशांगात्मक प्रवचन की रचना करते हैं ।

**पदानुसारिणी बुद्धि**

जो सुत्तपएण बहुं सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो ।...

(विभा ८००)

जो एक भी सूत्रपद का अवधारण कर शेष प्रभूत  
सूत्रपदों का यथार्थ अवगाहन कर लेती है, वह पदानुसारी  
बुद्धि है ।

**क्षीरास्रव लब्धि**

क्षीरास्रवो बोलेज्ज णज्जति क्षीरास्रवं मुयति,  
क्षीरास्रवो नाम जहा चक्कवट्टिस्स लक्खो गावीणं, ताणं  
जं खीरं तं अट्ठहस्स दिज्जति, तं चातुरक्कं एवं खीरास्रवो  
भवति । (आवचू १ पृ ७०, ७१)

क्षीरास्रव लब्धि सम्पन्न व्यक्ति जब बोलता है, तब  
ऐसा प्रतीत होता है मानो क्षीर का स्रवण हो रहा है ।  
चक्रवर्ती की एक लाख गायों का दूध पचास हजार गायों  
को पिलाया जाता है । फिर उनका दूध पच्चीस हजार  
गायों को पिलाया जाता है, तत्पश्चात् पच्चीस हजार गायों  
का दूध साढ़े बारह हजार गायों को पिलाया जाता है ।  
इस क्रम से अन्तिम एक गाय का दूध आभम की भाषा में  
चातुरक्य कहलाता है । क्षीरास्रवलब्धिधर के वचन में  
उस दूध के समान मिठास होती है ।

**अक्षीणमहानस लब्धि**

अक्खीणमहाणसियस्स भिक्खं ण अन्नेणं णिट्ठविज्जति,  
तंमि जिमित्ते निट्ठति । (आवचू १ पृ ७१)

अक्षीणमहानस लब्धि से सम्पन्न मुनि का भिक्षा में  
प्राप्त भोजन समाप्त नहीं होता चाहे वह कितने ही  
मुनियों को भोजन खिलाये । उसके स्वयं के खाने के बाद  
ही वह भोजन समाप्त होता है ।

**लब्धि और भव्य जीव**

भवसिद्धियाणमेया वीसं पि ह्वंति एत्थ लद्धीओ...  
जिण-बल-चक्की-केसव-सभिन्नेजंघचरण-पुव्वे य ।  
भवियाए इत्थीए एयाओ न सत्त लद्धीओ ॥  
शेषास्तु त्रयोदशः लब्धयः स्त्रीणां भवन्तीति साम-  
ध्याद् गम्यते ।

रिजुमइ-विउलमईओ सत्त य एयाओ पुव्वभणियाओ ।  
लद्धीओ अभव्वाणं होंति नराणं पि न कयाइ ॥  
अभवियमहिलाणं पि हु एयाओ न होंति भणियलद्धीओ ।  
महुखीरासवलद्धी वि नेय सेसा उ अविह्ठ्ठा ॥  
(विभामवृ १ पृ ३२८)

भव्य जीवों के वीसों लब्धियां हो सकती हैं ।  
अहंत्, बलदेव, चक्रवर्ती, वासुदेव, संभिन्नश्रोत,  
जंघाचारण और पूर्व - ये सात लब्धियां स्त्री में नहीं  
होतीं, शेष तेरह लब्धियां हो सकती हैं ।

अहंत्, बलदेव, वासुदेव, चक्री, संभिन्नश्रोत, जंघा-  
चारण, पूर्वधर, ऋजुमति और विपुलमति—ये लब्धियां  
अभव्य पुरुषों और अभव्य स्त्रियों में नहीं होतीं । अभव्य  
स्त्री को मधुक्षीरास्रव लब्धि भी प्राप्त नहीं हो सकती ।

गणधर-पुलाका-ऽऽहारकादिलब्धयो भव्यानामेव  
भवन्ति । (विभामवृ १ पृ ३२९)

गणधर, पुलाक, आहारक आदि लब्धियां भव्यों के  
ही हो सकती हैं ।

## ४. अन्य लब्धियाँ

गणहर-तेया-हारय-पुलाय-वोमाइगमणलद्धीओ ।  
एवं बहुगाओ वि य सुव्वंति न संगिहीआओ ॥

(विभा ८०३)

गणधर, तैजःसमुद्घात, आहारकशरीरनिर्माण, पुलाक, आकाशगमन आदि अनेक लब्धियाँ श्रुत-विश्रुत हैं, किन्तु वे सब संगृहीत नहीं हैं ।

### तेजोलब्धि

छट्ठं छट्ठेण अणिकिखत्तेण तवोकम्मेण आयावेति, पारणए सणहाए कुम्मासर्पिडियाए एणेण य वियडासएण जावेइ जाव छम्मासा, से णं संखित्तविउलतेयलेस्सो भवति । (आवहावृ १ पृ १४३)

जो छह महीने तक लगातार बेले-बेले (दो-दो दिन का उपवास) की तपस्या करता है, आतापना लेता है, पारणा में छिलके सहित मुट्ठीभर कुल्माष और एक चुल्लू पानी लेता है, उसे संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्या प्राप्त होती है ।

### पुलाक लब्धि

लद्धिपुलाओ पुण जस्स देविदरिद्धिसरिसा रिद्धी । सो सिगणादियकज्जे समुप्पण्णे चक्कवट्ठिपि सबलवाहणं चुण्णेउं समत्थो । (उशावृ प २५६)

पुलाक लब्धि से सम्पन्न मुनि की ऋद्धि इन्द्र की ऋद्धि के समान होती है । श्रृंगनादित संघकार्य उत्पन्न होने पर वह चक्रवर्ती की सेना तथा रथ आदि सभी वाहनों को चूर्ण करने में समर्थ होता है ।

### आकाशगामी विद्या

जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ । वंदासि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुअहराणं ॥ भणइ अ आहिडिज्जा जंबुद्वीवं इमाइ विज्जाए । गंतुं च माणुसनगं विज्जाए एस मे विसओ ॥

(आवनि ७६९, ७७०)

अन्तिम दस पूर्वधर आर्य वज्र ने आचारंग के सातवें अध्ययन महापरिज्ञा से आकाशगामी विद्या का उद्धार किया । इस विद्या के प्रभाव से मुनि जंबूद्वीप का पर्यटन कर मानुषोत्तर पर्वत तक जा सकता है ।

### घृताक्षव लब्धि

घृतमपि पुंद्धेक्षुचारिगोक्षीरसमुत्थं मन्दाग्निक्वथितमति-विशिष्टवर्णाद्युपेतम् । घृतमिव वचनमाश्रवन्तीति घृता-श्रवाः । (आवमवृ प ८०)

पुण्ड्रजातीय इक्षु को खाने वाली गायों के दूध से निकाला हुआ, अग्नि की मन्द आंच में तपाया हुआ धी विशिष्ट वर्ण आदि से युक्त होता है । घृताक्षवलब्धि वाले के वचन में उस घृत के समान स्निग्धता होती है ।

### व्यञ्जनलब्धि

परियट्टणाए णं वंजणाइ जणयइ वंजणलद्धि च उप्पाएइ ।

विगलितान्यपि गुणयतो भ्रुगित्युत्पत्तन्तीत्युत्पादि-तान्युच्यन्ते, तथा तथाविधकर्मक्षयोपशमतो व्यञ्जन-लब्धिम् । (उ २९।२२ शानु प ५८४)

सूत्रों की परिवर्तना के द्वारा तदावारक कर्म का क्षयोपशम होता है, जिससे विस्मृत व्यंजन शीघ्र स्मृति में आ जाते हैं । इससे एक व्यञ्जन के आधार पर शेष व्यंजनों को प्राप्त करने की क्षमता आ जाती है । इसे व्यंजन लब्धि (वर्ण-विद्या) कहते हैं ।

### गन्धौषधि

एए अन्ने य बहू जेसि सव्वे य सुरभओऽवयवा ।

रोगीवसमसमत्था ते होंति तओसहि पत्ता ॥

(विभा ७८२)

जिन मुनियों के मल-मूत्र अथवा शरीर के अन्य अवयव—केश, नख, दांत आदि सुगंधित हो जाते हैं, वे उन-उन अवयवों से रोगों का उपशमन करने में समर्थ होते हैं । उन-उन अवयवों के आधार पर वे केशौषधि, नखौषधि आदि से संपन्न कहलाते हैं ।

## ५. लब्धि का अधिकारी

ऋद्धीश्च प्राप्नुवन्ति विशिष्टमुत्तरोत्तरमपूर्वापूर्वार्थ-प्रतिपादकं श्रुतमवगाहमानाः श्रुतसामर्थ्यतस्तीव्रा तीव्रतरां शुभभावनामधरोहन्तोऽप्रमत्तयतयः ।

‘अवगाहते च स श्रुतजलधि प्राप्नोति चावधिज्ञानम् । मानसपर्यायं वा ज्ञानं कोष्ठादिबुद्धिर्वा ॥ चारणवैक्रियसर्वौषधताद्या वा लब्धयस्तस्य । प्रादुर्भवन्ति गुणतो बलानि वा मानसादीनि ॥’

(नन्दीमवृ प १०६)

जो उत्तरोत्तर अपूर्व-अपूर्व अर्थ के प्रतिपादक विशिष्ट श्रुत का अवगाहन करते हैं और श्रुत के सामर्थ्य से तीव्र-तीव्रतर शुभ भावना का आरोहण करते हैं, वे अप्रमत्त मुनि ऋद्धियाँ प्राप्त करते हैं ।

‘जो श्रुतसागर का अवगाहन करते हैं, उन्हें अवधि-ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, कोष्ठ आदि बुद्धि, चारणलब्धि,

वैक्रियलब्धि, सर्वौषधिलब्धि आदि लब्धियां अप्रमत्तता के गुण से प्राप्त होती हैं, तथा मानसिक, वाचिक और कायिक बल भी प्रादुर्भूत होते हैं ।

### ६. लब्धि और साकारोपयोग

...सन्वाओ लद्धीओ जं सागारोवओगलाभाओ ।  
(विभा ३०८९)

सभी लब्धियां साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) में ही प्राप्त होती हैं ।

### ७. लब्धि और औदयिक आदि भाव

उदय-खय-खओवसमोवसमसमुत्था बहुप्पगाराओ ।  
एवं परिणामवसा लद्धीओ हौंति जीवाणं ॥

जीवानां शुभ-शुभतर-शुभतमपरिणामवशाद् बहु-प्रकारा अपरिमितसंख्या लब्धयो भवन्ति । वैक्रियाऽऽहार-कनामादिकर्मोदयसमुत्थास्तावद् वैक्रिया-ऽऽहारकशरीर-करणादिका लब्धयो भवन्ति । दर्शनमोहादिकषयसमुत्थास्तु क्षायिकसम्यक्त्व-क्षीणमोहत्व-सिद्धत्वादयः । दान-लाभान्तरायादिकर्मक्षयोपशमसमुत्था अक्षीणमहानस्यादयः ।

...दर्शनमोहाद्युपशमसमुत्था औपशमिकसम्यक्त्वोपशान्त-मोहत्वादिका लब्धयो भवन्ति । (विभा ८०१ मवृ पृ ३२७)

जीवों के शुभ-शुभतर-शुभतम परिणामों के आधार पर लब्धियां प्राप्त होती हैं । उनके मुख्य भेद चार और अवान्तर भेद अनेक हैं --

- ० कर्मों के उदय से प्राप्त लब्धि वैक्रियनामकर्म के उदय से वैक्रियशरीरकरण । आहारकनामकर्म के उदय से आहारकशरीरकरण आदि ।
- ० कर्मों के क्षय से प्राप्त—दर्शनमोहनीय आदि के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व, क्षीणमोह, सिद्धत्व आदि ।
- ० कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त - दान-लाभ-अन्तराय आदि कर्म के क्षयोपशम से अक्षीणमहानस आदि ।
- ० कर्मों के उपशम से प्राप्त—दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व आदि ।

### ८. लब्धियों की निष्पत्ति

ऋद्धिः तपोमाहात्म्यरूपा, सा च आमर्षौषध्यादिः --  
पादरजसा प्रशमनं सर्वरुजां साधवः क्षणात्कुर्युः ।  
त्रिभुवनविस्मयजननान् दद्युः कामांस्तृणाग्रादा ॥  
धर्माद्रित्नोन्मिश्रितकाञ्चनवर्षादिसंगेसामर्थ्यम् ।  
अद्भुतभीमोरुशिलासहस्रसम्पातशक्तिश्च ॥

(उशावृ प १३१)

आमर्षौषधि आदि लब्धियां तप की महत्ता की अभि-

व्यक्ति हैं । ऋद्धिसम्पन्न साधु अपनी चरणरज से क्षणभर में सब रोगों का उपशमन कर सकते हैं । वे तृण के अग्र-भाग से तीनों लोकों को विस्मित करने वाली उपभोग-परिभोग सामग्री दे सकते हैं । उन्हें रत्नवृष्टि, स्वर्णवृष्टि आदि की शक्ति उपलब्ध हो जाती है । हजारों विशाल शिलाखण्डों को गिराने की क्षमता भी लब्धि से प्राप्त होती है ।

### ९. मनःपर्यवलब्धि आदि बारह बातों का विच्छेद

मण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग-उवसमे कप्पे ।  
संजमतिय-केवलि-सिज्झणा य जंजुम्मि बुच्चिञ्जणा ॥

(विभा २५९३)

आचार्य जम्बू के मुक्त होने के पश्चात् बारह वस्तुएं विच्छिन्न हो गईं --

- |                  |                     |
|------------------|---------------------|
| १. मनःपर्यवज्ञान | ७. जिनकल्प          |
| २. परमावधिज्ञान  | ८. परिहारविशुद्धि   |
| ३. पुलाक लब्धि   | ९. सूक्ष्मसम्पराय   |
| ४. आहारक लब्धि   | १०. यथाकथात चारित्र |
| ५. क्षपकश्रेणि   | ११. केवली           |
| ६. उपशमश्रेणि    | १२. मुक्ति ।        |

### लिंग—वेश ।

#### द्रव्यलिंग-भार्यालिंग

भावलिङ्गगर्भं तु द्रव्यलिङ्गं नमस्क्रियते तस्यैवाभि-  
लषितार्थक्रियाप्रसाधकत्वात्, रूपकदृष्टान्तश्चात्र --

रूपं टंकं विसमाहयक्खरं नवि रूवओ छेओ ।  
दुण्हंपि समाओगे रूवो छेयत्तणमुवेइ ॥  
रूपं पत्तेयबुहा टंकं जे लिंगधारिणो समणा ।  
दव्वस्स य भावस्स य छेओ समणो समाओगे ॥

अत्र तावच्चतुर्भङ्गी—रूपम् अशुद्धं टङ्कं विषमा-

हताक्षरमित्येकः । रूपमशुद्धं टङ्कं समाहताक्षरमिति

द्वितीयः । रूपं शुद्धं टङ्कं विषमाहताक्षरमिति तृतीयः ।

रूपं शुद्धं टङ्कं समाहताक्षरमिति चतुर्थः । अत्र च रूप-

कल्पं भावलिङ्गं, टङ्ककल्पं द्रव्यलिङ्गम् । इह च प्रथम-

भङ्गतुल्याश्चरकादयः, अशुद्धोभयलिङ्गत्वात् । द्वितीय-

भङ्गतुल्याः पार्श्वस्थादयः, अशुद्धभावलिङ्गत्वात् । तृतीय-

भङ्गतुल्याः प्रत्येकबुद्धा अन्तर्मुहूर्तमात्रं कालमगृहीत द्रव्य-

लिङ्गाः । चतुर्थभङ्गतुल्याः साधवः शीलयुक्ताः गच्छगता

निर्गताश्च जिनकल्पिकादयः ।

(आवनि ११३८, ११३९ हावृ २ पृ २४, २५)

सामान्य विधि के अनुसार वह साधु वन्दनीय है, जो

द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग दोनों से युक्त होता है। जैसे— वही रूपया चलता है जो शुद्ध होता है और सम अक्षरों में आहत—मुद्राङ्कित होता है। भावलिङ्ग रूपये के समान है, द्रव्यलिङ्ग मुद्राङ्कन के समान है। रूपये के चार भंग बनते हैं—

१. रूपया अशुद्ध, मुद्राङ्कन विषम अक्षरों में।
  २. रूपया अशुद्ध, मुद्राङ्कन सम अक्षरों में।
  ३. रूपया शुद्ध, मुद्राङ्कन विषम अक्षरों में।
  ४. रूपया शुद्ध, मुद्राङ्कन सम अक्षरों में।
१. प्रथम भंग के तुल्य हैं—चरक आदि। इनके दोनों लिंग अशुद्ध होते हैं।
  २. दूसरे भंग के तुल्य हैं—पाशर्वस्थ—शिथिल आचार वाले साधु। इनका भावलिङ्ग अशुद्ध होता है।
  ३. तीसरे भंग के तुल्य हैं—प्रत्येकबुद्ध।
  ४. चौथे भंग के तुल्य हैं—स्थविरकल्पी-जिनकल्पी साधु। ये द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग दोनों से युक्त होते हैं।

### वेश : व्यावहारिक-नैश्चयिक दृष्टिकोण

पञ्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।  
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगप्पओयणं ॥  
अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसम्भूयसाहणे ।  
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥

(उ २३।३२,३३)

लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई है। जीवनयात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूँ'—ऐसा ध्यान आते रहना ये वेशधारण के प्रयोजन हैं।

यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय दृष्टि से उसके साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ही हैं।

भरहो पसन्नचंदो सन्निभतरबाहिरं उदाहरणं ।

दोमुपत्तिगुणकरं न तेसि बज्जं भवे करणं ॥

अभंतरं भरहो, जतो तस्स बाहिरकरणविहूणस्सवि  
आभरितविभूसितस्स अज्झप्पविसुद्धीए चेव केवलनाणं  
उप्पणं । तस्स तं बज्जकरणं दोसउत्पादणकरं न जातं,  
बाहिरं च रयहरणवदणगादि गुणकरं न जातं । बाहिरं  
उदाहरणं पसण्णचंदो, जतो तस्स पगिट्ठवाहिरकरण-  
वतोवि अभंतरकरणविगलस्स अहे सत्तमपुटविपायोग-  
कम्मबंधोऽभूत् । पच्छावत्तीए अज्झप्पविसुद्धीतो मोक्खो

जातो । तस्सवि तं बज्जकरणं गुणकरणं न जातं । किंतु  
अज्झप्पविसुद्धी । ...

आहच्च भावकहणे करणं णासेति जिणवरिदाणं ।  
सम्भावमयाणंता पंचहिं ठाणेहिं पासत्था ॥

आहच्चभावो नाम कादाचित्कः पत्तेयबुद्धलाभादी  
तस्स कहणे सति आगमे तं आलंबितूण केयी करणं—  
बाहिरमणुट्टाणं णासेति—परिहरंतीति भावः ।

(आवनि ११५० चू २ पृ २९,३०)

आभ्यन्तरकरण—आन्तरिक विशुद्धि । इसका  
निदर्शन है—भरत चक्रवर्ती । उन्होंने मुनिवेश नहीं  
पहना । वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत अवस्था में  
आत्मविशुद्धि से कैवल्य प्राप्त किया । बाह्यकरण (वस्त्र,  
आभूषण) उनके लिए बाधक नहीं बना । रजोहरण आदि  
द्रव्यलिङ्ग उनके लिए गुणकारी (आवश्यक) नहीं हुए ।

बाह्यकरण—वेश या बाह्य क्रिया । इसका निदर्शन  
है प्रसन्नचन्द्र । उत्कृष्ट बाह्यकरण होते हुए भी आन्तरिक  
विशुद्धि के अभाव में उन्होंने सातवीं नारकी के प्रायोग्य  
कर्मों का संचय कर लिया । उनके लिए बाह्यकरण गुण-  
कारी नहीं हुआ ।

तत्पश्चात् आन्तरिक विशुद्धि से उन्होंने मुक्ति का  
वरण किया । कदाचित् घटित होने वाली घटना को  
सार्वकालिक आलम्बन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा  
सकता । भरत आदि के आगमिक कथन का आलम्बन  
लेकर जो अनुष्ठान-बाह्यक्रिया को या मुनिवेश को  
उपेक्षित कर देते हैं, वे अर्हत् द्वारा प्रतिपादित यथार्थ-  
भाव को नहीं जानने के कारण चारित्र्य से भ्रष्ट हो जाते  
हैं ।

तित्थगराणं जो सम्भावो जया कत्थति ववहारविहीए  
पयट्टित्थं, कत्थय निच्छयविधीए, कत्थय उभयविधीए,  
कत्थय बाहिरकरणं, एवं अभितरकरणे, उभये । एवमादि  
अनियतपवित्तिनिवत्तीहिं कज्जसिद्धित्ति, न पुण नियतं  
केणति, एस सम्भावो । तं अयाणंता चरणं णासेति ।

(आवचू २ पृ ३०)

तीर्थंकरों ने सद्भाव—यथार्थ प्ररूपणा की—कहीं  
व्यवहार विधि से, कहीं निश्चय विधि से और कहीं  
उभयविधि से प्रवृत्ति करनी चाहिए । कहीं बाह्यकरण  
और कहीं आन्तरिक करण और कहीं दोनों होते हैं । इस  
प्रकार अनियत प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा कार्यसिद्धि  
होती है, किसी एक नियत प्रवृत्ति या निवृत्ति से नहीं ।

यह सद्भाव है—तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित वास्तविक सच्चाई है। जो इसे नहीं जानते, वे चारित्र्य का नाश कर देते हैं।

### लिंग का मूल्य

सकके देविदे देवराया आगओ भणति—दब्बलिगं पडिवज्ज, जाहे निक्खमणमहिमं करेमि। ततो तेण पंच-मुट्ठिओ लोओ कओ। देवरायाए रओहरणपडिम्महादि उक्करणमुवणीयं। (आवमवृ प २४६)

चक्रवर्ती भरत को आदर्शगृह में केवलज्ञान उत्पन्न होने पर देवेन्द्र ने उपस्थित होकर भरत से कहा आप द्रव्यलिंग (मुनि का वेश) धारण करें, जिससे हम आपका निष्क्रमण महोत्सव मना सकें। भरत ने पंचमुष्टि लोच किया, तब देवेन्द्र ने रजोहरण, प्रतिग्रह आदि उपकरण उपहृत किये।

लेश्या भावधारा। भावधारा की उत्पत्ति में हेतुभूत पुद्गल द्रव्य।

### १०. लेश्यापरिणामों के प्रकार

#### ११. लेश्यापरिणति और मृत्यु

#### १२. श्रुत आदि सामायिक और लेश्या

#### १३. लेश्या के स्थान

\* लेश्या और ध्यान (द्र. ध्यान)

\* चित्त का एक नाम लेश्या (द्र. आत्मा)

### १. लेश्या की परिभाषा

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते।। (उशावृ प ६५६)

कृष्ण आदि छह प्रकार के पुद्गल द्रव्यों के सहयोग से स्फटिक के परिणमन की तरह होने वाला आत्म-परिणाम लेश्या है।

कायाद्यन्यतमयोगवतः कृष्णादिद्रव्यसंबंधादात्मनः कृष्णादिपरिणामाः। (आवमवृ प ४०)

काय, वचन और मन—इनमें से किसी भी योग वाले प्राणी के कृष्ण आदि द्रव्य के संबंध से होने वाले आत्मा के कृष्ण आदि परिणाम लेश्या है।

लेस्सत्ति—रस्सीयो (नन्दीचू पृ ४)

लेश्या का अर्थ है रश्मि।

(‘रस्सी’ का संस्कृत रूप बनता है—रश्मि। रस्सी देशी शब्द भी है। उसका अर्थ है रज्जु। भावधारा को रश्मि और रज्जु दोनों रूपों से अंकित किया जा सकता है। हमारे परिणाम तैजस शरीर से प्रभावित होकर विद्युतीकरण को प्राप्त कर इस स्थूल शरीर—औदारिक और वैक्रिय शरीर में संक्रांत होते हैं।)

लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यन्ते। योगपरिणामो लेस्या। (आवचू २ पृ ११२)

योगपरिणाम लेश्या है। लेश्या के द्वारा कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ संश्लेष होता है।

सद्योगिकेवली शुक्ललेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तर्मुहूर्त्तं शेषे योगनिरोधं करोति, ततोऽयोगित्वमलेश्यत्वं च प्राप्नोति, अतोऽवगम्यते योगपरिणामो लेश्या।

(उशावृ प ६५०)

सद्योगीकेवली में शुक्ल लेश्या होती है। वे अंतर्मुहूर्त्त आयु शेष रहने पर योगनिरोध करते हैं, तत्पश्चात् वे अयोगी और अलेश्यी हो जाते हैं। इससे जाना जा सकता

### १. लेश्या की परिभाषा

- ० कर्मद्रव्य लेश्या
- ० नोकर्म जीवद्रव्य लेश्या : आभामंडल
- ० अजीव द्रव्य लेश्या

### २. लेश्या और योग

### ३. लेश्या के प्रकार

- ० अप्रशस्त-प्रशस्त लेश्या
- ० विशुद्ध लेश्या

### ४. लेश्याओं का वर्ण

### ५. लेश्याओं का रस

### ६. लेश्याओं की गंध

### ७. लेश्याओं का स्पर्श

### ८. लेश्याओं की स्थिति

- ० तरक-लेश्या-स्थिति
- ० भवनपति-ध्यंतर-लेश्या-स्थिति
- ० वैमानिक-लेश्या-स्थिति
- ० तिर्यंच-मनुष्य-लेश्या-स्थिति

### ९. लेश्याओं के परिणाम

- ० जम्बूखादक का दृष्टांत
- ० ग्रामवध का दृष्टांत



है कि योगपरिणाम लेश्या है ।

यथैव कायादिकरणयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिर्योग उच्यते तथैव लेश्याऽपीति । गुरवस्तु व्याचक्षते—कर्म-निस्यन्दो लेश्या, यतः कर्मस्थितिहेतवो लेश्याः ।

ताः कृष्णनीलकापोततेजसीपद्मशुक्लनामानः ।  
श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिबिधाद्यः ॥

(उशावृ प ६५०)

जैसे काय आदि करणों से युक्त आत्मा की वीर्य परिणति योग है, वैसे ही करणों से युक्त आत्मा की वीर्य परिणति लेश्या है । लेश्या कर्म-निस्यन्द है, क्योंकि यह कर्म के स्थितिबन्ध का हेतु है ।

वर्णबन्ध के श्लेष की तरह ये छह लेश्याएं कर्मबन्ध की स्थिति का हेतु बनती हैं ।

### कर्मद्रव्य लेश्या

जा दव्वकम्मलेसा सा नियमा छ्विविहा उ नायव्वा ।  
किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्का य ॥  
शरीरनामकर्मद्रव्याण्येव कर्मद्रव्यलेश्या ।

(उनि ५६९ शावृ प ६५०)

द्रव्यकर्मलेश्या के नियमतः छह प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल । यहां शरीरनाम-कर्म के द्रव्यों को ही कर्मद्रव्यलेश्या कहा गया है ।

### नोकर्म जीवद्रव्यलेश्या : आभामंडल

जीवानां भवति सप्तविधा इहापि लेश्येति प्रक्रमः, अत्र च जयसिंहसूरिः—कृष्णादयः षट्, सप्तमी संयोगजा । इयं च शरीरच्छायात्मका परिगृह्यते । अन्ये त्वौदारिकौ-दारिकमिश्रमित्यादिभेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपां नोकर्मणि सप्तविधां जीव-द्रव्य लेश्यां मन्यन्ते ।

(उशावृ प ६५०)

जीव के सात प्रकार की लेश्या होती है । जयसिंह-सूरि का अभिमत है कृष्ण आदि छह लेश्याएं हैं । सातवीं लेश्या है संयोगजा । यह शरीर की छाया—आभामंडल रूप है । कुछ आचार्यों का अभिमत है—नोकर्म जीवद्रव्यलेश्या के सात प्रकार हैं—औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारक-मिश्र और कार्मण । कृष्ण, नील आदि वर्णों वाली इन सातों शरीरों की पौद्गलिक आभा का नाम है—द्रव्य लेश्या ।

लेश्यायति—श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या—

अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया ।

(उशावृ प ६५०)

जो दूसरों की आंखों को अपनी ओर आकृष्ट करती है, उस आणविक आभा, कान्ति, प्रभा या छाया का नाम है लेश्या । ये जीव को प्रभावित करने वाले एक प्रकार के पुद्गल हैं ।

शरीरलेश्यासु हि अशुद्धास्वपि आत्मलेश्या शुद्धा भवति । शुद्धा अपि शरीरलेश्या भजनीया ।

(उचू पृ २१२)

शरीरवर्णलेश्या के अशुद्ध होने पर भावलेश्या शुद्ध हो सकती है । शुद्ध भाव लेश्या में शरीर की लेश्या शुद्ध भी हो सकती है और अशुद्ध भी ।

### अजीव द्रव्यलेश्या

चंदाण य सूरान्ण य गहगणनक्खत्तारारण ॥  
आभरणच्छायणादंसयाण मणिकाग्णिण जा लेसा ।  
अजीवदव्वलेसा नायव्वा दसविहा एसा ॥  
(उनि ५३७, ५३८)

अजीव द्रव्यलेश्या के दस प्रकार हैं—

- |            |                             |
|------------|-----------------------------|
| १. चन्द्र  | ६. आभरण                     |
| २. सूर्य   | ७. छादन (सुवर्णखचित वस्त्र) |
| ३. ग्रह    | ८. आदर्श                    |
| ४. नक्षत्र | ९. मणि                      |
| ५. तारा    | १०. काकिणी ।                |

## २. लेश्या और योग

योगपरिणामत्वे तु लेश्यानां “योगा पयडिपएसं ठिइ-अणुभाग कसायओ कुणति” ति वचनात्प्रकृतिप्रदेशबन्ध-हेतुत्वमेव स्यात् न तु कर्मस्थितिहेतुत्वम् । कर्मनिस्यन्द-रूपत्वे तु यावत्कषायोदयस्तावत्तन्निःस्यन्दस्यापि सद्-भावात्कर्मस्थितिहेतुत्वमपि युज्यत एव । (उशावृ प ६५०)

योग-परिणाम लेश्या है । योग से प्रकृति और प्रदेश का बन्ध होता है । कषाय से स्थिति और अनुभाग का बन्ध होता है । इस वचन के आधार पर लेश्या प्रकृति और प्रदेश बन्ध का हेतु है, कर्मस्थिति का हेतु नहीं है । कर्मनिस्यन्द का नाम लेश्या है । जब तक कषाय का उदय रहता है, तब तक कर्मनिस्यन्द का सद्भाव रहता है—इस दृष्टि से लेश्या को कर्म की स्थिति का हेतु भी माना जा सकता है ।

(लेश्या या भावधारा की संरचना में तीन तत्त्वों का योग है—१. शरीर २. वीर्य-लब्धि ३. कषाय का उदय या विलय। लेश्या के सहकारी द्रव्य (द्रव्य लेश्या) योग-वर्गणा में समाविष्ट होते हैं। आठ वर्गणाओं में लेश्याओं की कोई स्वतंत्र वर्गणा नहीं है। वह शरीर-योग-वर्गणा की एक अवान्तर वर्गणा है। भाव लेश्या कषाय के उदय या विलय से सम्बद्ध है। वीर्य लब्धि का भावधारा की

प्रकृति में सहयोग है। जाति-स्मृति, अबधि. मनः-पर्याय और केवल—इन सब ज्ञानों की उत्पत्ति में शुभ अद्यवसाय, शुभ परिणाम और लेश्या की विशुद्धि की अनिवार्यता मानी गई है। इससे भी प्रतीत होता है कि अनुभाग की तरतमता में लेश्या एक हेतु है।)

(देखें—भगवई १।१०२ का भाष्य)

### योग और लेश्या में अन्तर

	योग	लेश्या
१. आत्मिक स्वरूप	मन, वचन शरीर की प्रवृत्ति	जीव का परिणाम (भावधारा)
२. पौद्गलिक स्वरूप	औदारिक, वैक्रिय, आहारक, कामंश वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा	तेजस वर्गणा
३. प्रवर्तक शक्ति	वीर्य-लब्धि	वीर्य-लब्धि
४. घटक शक्ति	शरीर नामकर्म	शरीर नामकर्म
५. कार्य	१. सभी वर्गणाओं का ग्रहण २. गति	१. भावों का निष्पादन २. आभासंडल या वर्ण का हेतु
६. कर्म-बन्ध	३. क्रिया ४. वाणी ५. चित्तन प्रकृति, प्रदेश बन्ध का हेतु	अनुभाग बन्ध की तरतमता का हेतु

### ३. लेश्या के प्रकार

किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य ।

सुक्कलेसा य छट्टा उ नामाई तु जहक्कमं ॥

(उ ३४/३)

लेश्या के छह प्रकार हैं—

- |          |            |
|----------|------------|
| १. कृष्ण | ४. तेजस्   |
| २. नील   | ५. पद्म    |
| ३. कापोत | ६. शुक्ल । |

#### अप्रशस्त-प्रशस्त लेश्या

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।

एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइ उववज्जई बहुसो ॥

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।

एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइ उववज्जई बहुसो ॥

तओ लेसाओ अविमुद्धाओ तओ विमुद्धाओ । तओ

पसत्थाओ तओ अपसत्थाओ । तओ संकलिट्ठाओ तओ

असंकलिट्ठाओ । तओ दुग्गतिगामियाओ तओ सुग्गतिगामियाओ ।

(उ ३४/५६, ५७ आवृ प ६६१)

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अधर्मलेश्याएं अविशुद्ध, अप्रशस्त, संकिलष्ट और दुर्गति में ले जाने

वाली हैं ।

तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीनों धर्मलेश्याएं विशुद्ध, प्रशस्त, असंकिलष्ट और सुगति में ले जाने वाली हैं ।

#### विशुद्ध लेश्या

द्विविधा विशुद्धलेश्या..... कषायोपशमजा कषाय-क्षयजा च । एकान्तविशुद्धि चाऽऽश्रित्यैवमभिधानम् । अन्यथा हि क्षायोपशमिक्यपि शुक्ला तेजःपद्मे च विशुद्ध-लेश्ये संभवत एवेति (उशावृ प ६५१)

विशुद्ध लेश्या के दो प्रकार हैं—१. उपशमजा—कषाय के उपशम से होने वाली, २. क्षयजा—कषाय के क्षय से होने वाली । यह कथन एकान्त विशुद्धि की अपेक्षा से है । अन्यथा क्षायोपशमिकी शुक्ल लेश्या, तेजस् लेश्या और पद्म लेश्या विशुद्ध लेश्या ही है ।

#### ४. लेश्याओं का वर्ण

जीमूयनिद्धसंकासा, गवलरिद्रुगसन्निभा ।

खंजणंजणनयननिभा, किण्हेलेसा उ वण्णओ ॥

नीलाऽऽसोगसंकासा, चासपिच्छसमप्पभा ।

वेरुलियनिद्धसंकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥

अयसीपुष्पसंकासा, कोइलच्छदसन्निभा ।  
 पारेवयगीवनिभा, काउलेसा उ वण्णओ ॥  
 द्विगुलुयधाउसंकासा, तरुणाइच्चसन्निभा ।  
 सुयतुंडपईवनिभा, तेउलेसा उ वण्णओ ॥  
 हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेयसंनिभा ।  
 सणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥  
 संखंककुंदसंकासा, खीरपूरसमप्यभा ।  
 रययहारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥

(उ ३४१४-९)

कृष्ण लेश्या का वर्ण स्निग्ध मेघ, महिष, द्रोण-  
 काक, खञ्जन, अञ्जन व नयनतारा के समान होता है ।  
 नील लेश्या का वर्ण नीलअशोक, चाष पक्षी के परों  
 और स्निग्ध वैडूर्य मणि के समान होता है ।

कापोत लेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, तैल-कंटक  
 व कबूतर की ग्रीवा के समान होता है ।

तेजोलेश्या का वर्ण हिंगुल, धातु --गेरु, नवोदित सूर्य,  
 तोते की चोंच, प्रदीप की लौ के समान होता है ।

पद्म लेश्या का वर्ण भिन्न हरिताल, भिन्न हल्दी,  
 सण और असन के पुष्प के समान होता है ।

शुक्ल लेश्या का वर्ण शंख, अंकमणि, कुंदपुष्प, दुग्ध-  
 प्रवाह, चांदी व मुक्ताहार के समान होता है ।

## ५. लेश्याओं का रस

जह कडुयतुंबगरसो, निबरसो कडुयरोहिणिरसो वा ।  
 एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ किष्हाए नायव्वो ॥  
 जह तिगडुयस्स य रसो, तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा ।  
 एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ नीलाए नायव्वो ॥  
 जह तरुणअंबगरसो, तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ ।  
 एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ काऊए नायव्वो ॥  
 जह परिणयंबरसो, पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ ।  
 एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ तेऊए नायव्वो ॥  
 वरवारुणीए व रसो, विविहाण व आसवाण जारिसओ ।  
 महुमेरमस्स व रसो, एत्तो पम्हाए परएणं ॥  
 खज्जूरमुट्ठियरसो, खीररसो खंडसक्कररसो वा ।  
 एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥

(उ ३४११०-१५)

कडुवे तुम्बे, नीम व कटुक रोहिणी का रस जैसा  
 कडुवा होता है, उससे भी अनन्त गुना कडुवा रस कृष्ण  
 लेश्या का होता है ।

त्रिकटु—सूठ, पिप्पल और कालीमिर्च तथा गज-  
 पीपल का रस जैसा तीखा होता है, उससे भी अनन्त  
 गुना तीखा रस नीललेश्या का होता है ।

कच्चे आम और कच्चे कपित्थ का रस जैसा कसैला  
 होता है, उससे भी अनन्त गुना कसैला रस कापोत लेश्या  
 का होता है ।

पके हुए आम और पके हुए कपित्थ का रस  
 जैसा खट-मीठा होता है, उससे भी अनन्त गुना खट-  
 मीठा रस तेजोलेश्या का होता है ।

प्रधान सुरा, विविध आसवों, मधु और मेरेयक  
 मदिरा का रस जैसा अम्ल—कसैला होता है, उससे भी  
 अनन्त गुना मीठा, मधुर और अम्ल—कसैला रस पद्म-  
 लेश्या का होता है ।

खजूर, दाख, क्षीर, खांड और शक्कर का रस जैसा  
 मीठा होता है, उससे भी अनन्त गुना मीठा रस शुक्ल  
 लेश्या का होता है ।

## ६. लेश्याओं की गंध

जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडगस्स व जहा अहिमडस्स ।  
 एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥  
 जह सुरहिंकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं ।  
 एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

(उ ३४११६, १७)

गाय, श्वान और सर्प के मृत कलेवर की जैसी गन्ध  
 होती है, उससे भी अनन्त गुना गन्ध तीनों अप्रशस्त  
 लेश्याओं की होती है ।

सुगन्धित पुष्पों और फीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों  
 की जैसी गंध होती है, उससे भी अनन्त गुना गंध तीनों  
 प्रशस्त लेश्याओं की होती है ।

## ७. लेश्याओं का स्पर्श

जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए व सागपत्ताणं ।  
 एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥  
 जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं ।  
 एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

(उ ३४११८, १९)

करवत, गाय की जीभ और शाक वृक्ष के पत्रों का  
 स्पर्श जैसा कर्कश होता है, उससे भी अनन्त गुना कर्कश  
 स्पर्श तीनों अप्रशस्त लेश्याओं का होता है ।

बूर, नवनीत और शिरीष के पुष्पों का स्पर्श जैसा  
 मृदु होता है, उससे अनन्त गुना मृदु स्पर्श तीनों प्रशस्त  
 लेश्याओं का होता है ।

## ८. लेश्याओं की स्थिति

मुहुत्तद्वं तु जहन्ना, तेतीस सागरा मुहुत्तहिया ।  
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा किण्हलेसाए ॥

मुहुत्तद्वं तु जहन्ना,

दस उदही पलियमसंखभागमभहिया ।

उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा नीललेसाए ॥

मुहुत्तद्वं तु जहन्ना,

तिण्णुदही पलियमसंखभागमभहिया ।

उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा काउलेसाए ॥

मुहुत्तद्वं तु जहन्ना,

दोउदही पलियमसंखभागमभहिया ।

उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा तेउलेसाए ॥

मुहुत्तद्वं तु जहन्ना, दस होति सागरा मुहुत्तहिया ।

उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा पन्हलेसाए ॥

मुहुत्तद्वं तु जहन्ना, तेतीस सागरा मुहुत्तहिया ।

उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

(उ ३४।३४-३९)

कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है ।

नील लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है ।

कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है ।

तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है ।

पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक दश सागर की होती है ।

शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है ।

### नरक-लेश्या-स्थिति

दस वाससहस्साइं, काऊए ठिई जहन्निया होइ ।

तिण्णुदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ॥

तिण्णुदही पलियमसंखभागा जहन्नेण नीलठिई ।

दस उदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ॥

दस उदही पलियमसंखभागं जहन्निया होइ ।

तेतीससागराईं उक्कोसा, होइ किण्हाए ॥

(उ ३४।४१-४३)

नारकीय जीवों के कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है ।

नील लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है ।

कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की होती है ।

### भवनपति-व्यंतर-लेश्या-स्थिति

दस वाससहस्साइं, किण्हाए ठिई जहन्निया होइ ।

पलियमसंखिज्जइमो, उक्कोसा होइ किण्हाए ॥

जा किण्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमभहिया ।

जहण्णेणं नीलाए, पलियमसंखं तु उक्कोसा ॥

जा नीलाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमभहिया ।

जहन्नेणं काऊए, पलियमसंखं च उक्कोसा ॥

(उ ३४।४८-५०)

भवनपति और वानव्यन्तर देवों के कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है ।

कृष्ण लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह नील लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है ।

नील लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है ।

(भवनपति देवों की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति सातिरेक एक सागर की है । वानव्यन्तर देवों की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है । अतः प्रस्तुत श्लोक में जो उत्कृष्ट स्थिति है

वह मध्यम आयु वाले भवनपति और वानव्यंतर देवों की अपेक्षा से है ।)

तेजोलेश्या की स्थिति

दस वाससहस्साइं, तेऊए ठिई जहन्निया होइ ।  
दुण्णुदही पलिओवम, असखभागं च उक्कोसा ॥

(उ ३४।५३)

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक—इन चारों प्रकार के देवों की अपेक्षा तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है ।

वैमानिक-लेश्या-स्थिति

पलिओवमं जहन्ना, उक्कोसा सागरा उ दुण्हहिया ।  
पलियमसंखेज्जेणं, होइ भागेण तेऊए ॥  
जा तेऊए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।  
जहन्नेणं पम्हाए दस उ, मुहुत्तहियाइं च उक्कोसा ॥  
जा पम्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।  
जहन्नेणं सुक्काए, तेत्तीसमुहुत्तमब्भहिया ॥

(उ ३४।५२, ५४, ५५)

वैमानिक देवों के तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति एक पत्योपम और उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है ।

तेजोलेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक दश सागर की होती है ।

पद्म लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागर की होती है ।

इह च नारकाणामुत्तरत्र च देवानां द्रव्यलेश्या-  
स्थितेरेवैवं चिन्त्यते । तद्भावलेश्यानां परिवर्तमानतया-  
ऽन्यथाऽपि स्थितेः सम्भवात् ।

देवाण नारयाण य दव्वलेसा भवन्ति एयाओ ।

भावपरावत्तीए सुरणेरइयाण छल्लेसा ॥

(उशावृ प ६५९)

देव और नारक की लेश्या की जो स्थिति बताई गई है, वह द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से है । भावपरिवर्तन की

अपेक्षा से उनमें छहों लेश्याएं होती हैं, जिनकी स्थिति अन्यथा भी हो सकती है ।

तिर्यंच-मनुष्य-लेश्या-स्थिति

अंतोमुहुत्तमद्वं, लेसाण ठिई जहि जहि जा उ ।

तिरियाणं नराणं वा, वज्जिता केवलं लेसं ॥

मुहुत्तद्वं तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।

नवहि वरिसेहि ऊणा, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

(उ ३४।४५, ४६)

तिर्यञ्च और मनुष्य में जितनी लेश्याएं होती हैं, उनमें से शुक्ल लेश्या को छोड़कर शेष सब लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है ।

मनुष्य में शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व की होती है ।

इह च यद्यपि कश्चित् पूर्वकोट्यापुरष्टवार्षिक एव  
व्रतपरिणाममाप्नोति तथापि नैतावद्वयःस्थस्य वर्षपर्या-  
यादर्वाक् शुक्ललेश्यायाः सम्भव इति नवभिर्वर्षेभ्युना  
पूर्वकोटिरुच्यते । (उशावृ प ६६०)

शुक्ल लेश्या की स्थिति नौ वर्ष न्यून एक पूर्वकोटि बतलाई गई है । इसका हेतु है—एक करोड़पूर्व की आयु वाला कोई पुरुष आठ वर्ष की अवस्था में ही मुनि बन जाता है । उस वय में शुक्ल लेश्या संभव नहीं होती । एक वर्ष के मुनि पर्याय के पश्चात् ही उसका उदय होता है, इसलिए यहां नौ वर्ष न्यून की बात कही गई है ।

६. लेश्याओं के परिणाम

पंचासवप्पवत्तो तीहि अगुत्तो छसु अवरिओ य ।

तिव्वारंभपरिणओ खुद्दो साहसिओ नरो ॥

निद्वंधसपरिणामो निस्संसो अजिइंदिओ ।

एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे ॥

इस्साअमरिसअतवो अविज्जमाया अहीरिया ।

गेद्धी पओसे य सढे पमत्ते रसलोलुए सायगवेसए य ॥

आरंभाओ अवरिओ खुद्दो साहसिओ नरो ।

एयजोगसमाउत्तो नीललेसं तु परिणमे ॥

वंके वंकसमायारे नियडिल्ले अणुज्जुए ।

पलिउंचम ओवहिए मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥

उप्फालगडुट्टुवाई य तेणे यावि य मच्छरी ।

एयजोगसमाउत्तो काउलेसं तु परिणमे ॥

नीयावित्ती अचवले अमाई अकुळहले ।  
 विणीयविणए दंते जोगवं उवहाणवं ॥  
 पियधम्मे दढधम्मे वज्जभीरू हिंएसए ।  
 एयजोगसमाउत्तो तेउलेसं तु परिणमे ॥  
 पयणुक्कोहमाणे य मायालोभे य पयणुए ।  
 पसंतचित्ते दंतप्पा जोगवं उवहाणवं ॥  
 तहा पयणुवाई य उवसंते जिइंदिए ।  
 एयजोगसमाउत्तो पम्हलेसं तु परिणमे ॥  
 अट्टरहाणि वज्जत्ता धम्मसुककाणि भायए ।  
 पसंतचित्ते दंतप्पा समिए गुत्ते य गुत्तिहि ॥  
 सरागे वीयरामे वा उवसंते जिइंदिए ।  
 एयजोगसमाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे ॥

(उ ३४।२१-३२)

### कृष्ण लेश्या के परिणाम

जो मनुष्य पांचों आश्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों से अगुप्त है, षट्काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ (सावध व्यापार) में संलग्न है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है, लौकिक और पारलौकिक दोषों की शंका से रहित मन वाला है, नृशंस है, अजितेन्द्रिय है—जो इन सभी से युक्त है, वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है ।

### नील लेश्या के परिणाम

जो मनुष्य ईर्ष्यालु है, कदाग्रही है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायावी है, निर्लज्ज है, गृद्ध है, प्रद्वेष करने वाला है, शठ है, प्रमत्त है, रस-लोलुप है, सुख का गवेषक है, आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है—जो इन सभी से युक्त है, वह नील लेश्या में परिणत होता है ।

### कापीत लेश्या के परिणाम

जो मनुष्य वचन से वक्र है, जिसका आचरण वक्र है, माया करता है, सरलता से रहित है, अपने दोषों को छुपाता है, छद्म का आचरण करता है, मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है, हंसोड़ है, दुष्ट वचन बोलने वाला है, चोर है, मत्सरी है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह कापीत लेश्या में परिणत होता है ।

### तेजोलेश्या के परिणाम

जो मनुष्य नम्रता से बर्ताव करता है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहली है, विनय करने में निपुण

है, दान्त है, समाधियुक्त है, उपधान (श्रुत अध्ययन करते समय तप) करने वाला है, धर्म में प्रेम रखता है, धर्म में दृढ़ है, पापभीरू है, हित चाहने वाला है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह तेजोलेश्या में परिणत होता है ।

### पद्म लेश्या के परिणाम

जिस मनुष्य के क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त अल्प हैं, जो प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समाधियुक्त है, उपधान करने वाला है, अत्यल्प-भाषी है, उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह पद्म लेश्या में परिणत होता है ।

### शुक्ल लेश्या के परिणाम

जो मनुष्य आर्त और रोद्र—इन दोनों ध्यानों को छोड़कर धर्म्य और शुक्ल—इन दो ध्यानों में लीन रहता है, प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समितियों से समित है, गुप्तियों से गुप्त है, उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह सराग हो या वीतराग, शुक्ल लेश्या में परिणत होता है ।

### जम्बूखादक का दृष्टान्त

एगत्थ छहि मणुसेहि जंबू दिट्ठा फलभरिता ।  
 तत्थेगो पुरिसो भणति—मूला छिज्जंतु तो पडिताए खाइ-  
 स्सामो, सो कप्हाए । वित्तिओ भणति—मा विणासिज्जंतु,  
 साला छिज्जंतु, सो नीलाए वट्ठति । तत्तिओ—मा साला  
 छिज्जंतु, साहाओ विच्छिज्जंतु, एवं काउलेसा । चउत्थो  
 भणति—गोच्छा छिज्जंतु, एसो तेऊए । पंचमो भणति—  
 आरोभितुं खामो धुणमो वा जेण पक्काणि पडंति ताणि  
 खामो, एसो पीताए । छट्ठो भणति—सयं पडिताणि  
 पभूताणि ताणि खामो, सो सुक्काए ।

(आवचू २ पृ ११३)

छह व्यक्ति एक साथ घूमने निकले । उन्होंने परिपक्व फलों के भार से झुका हुआ एक जामुन का वृक्ष देखा । उनकी जामुन खाने की इच्छा हुई । एक व्यक्ति ने कहा—वृक्ष को मूल सहित भूमि पर गिरा देना चाहिए । तब दूसरे व्यक्ति ने कहा—वृक्ष को गिराने से क्या ? बड़ी-बड़ी शाखाओं को काट लेना चाहिए । तीसरे ने कहा—शाखाओं को नहीं, प्रशाखाओं को काटना चाहिए । चौथे ने कहा—हमें फलों के गुच्छों को तोड़ना चाहिए । पांचवें ने कहा—गुच्छों को क्यों ? हमें तो केवल फल ही तोड़ने

चाहिए। तब छठे व्यक्ति ने कहा—हमें खाने तो केवल फल ही हैं, वे भूमि पर गिरे हुए ही हैं, उन्हें ही खा लेना चाहिए। पहले व्यक्ति के विचारों के समान कृष्ण लेश्या के परिणाम और क्रमशः छठे व्यक्ति के विचारों के समान शुक्ल लेश्या के परिणाम हैं।

### ग्रामवध का दृष्टान्त

पढमओ भणति—सजणवयं गोमाहिसं मारेमो, वितिओ माणुसाणि, ततिओ पुरिसे, चउत्थो आउधहत्थे, पंचमो जे जुज्झति, छट्ठो किं एतेहि मारिएहि? धणं हीरंतु, एवं छल्लेसाओ समीतारेतव्वाओ।

(आवचू २ पृ ११३)

छह चोर ग्रामवध के लिए निकले। उनमें से एक चोर ने कहा—जो भी दृष्टि में आए, उन द्विपद, चतुष्पद सभी को मार डालो। दूसरे ने केवल मनुष्य जाति को और तीसरे ने केवल पुरुषों को मारने के लिए कहा। तब चौथे ने कहा—केवल शस्त्रधारी पुरुषों को ही मारना चाहिए। इसका प्रतिवाद करते हुए पांचवे ने कहा—जो हमारे साथ युद्ध करें, उन्हीं को मारना चाहिए। छठे व्यक्ति ने कहा—हम किसी को क्यों मारें? हमें तो केवल धन चाहिये। यहाँ प्रथम व्यक्ति के विचारों के समान कृष्णलेश्या के परिणाम और क्रमशः छठे व्यक्ति के विचारों के समान शुक्ललेश्या के परिणाम ज्ञातव्य हैं।

### १०. लेश्या-परिणामों के प्रकार

तिविहो व नवविहो वा, सत्तावीसइविहैकसीओ वा।  
दुसओ तेयालो वा, लेसाणं होइ परिणामो ॥

इह च त्रिविधः—जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदेन।  
नवविधः—यदैषामपि जघन्यादीनां स्वस्थानतारतम्य-चिन्तायां प्रत्येकं जघन्यादित्रयेण गुणता एवं पुनस्त्रिकगुण-नया सप्तविंशतिविधत्वमेकाशीतिविधत्वं त्रिचत्वारिंशद्-द्विशतविधत्वं च भावनीयम्।

(उ ३४।२० शावृ प ६५५)

तारतम्य की अपेक्षा से लेश्याओं के परिणाम इस प्रकार हैं—

- ० तीन परिणाम—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट।
- ० नौ परिणाम—इन तीनों के जघन्य आदि तीन-तीन प्रकार (३×३=९)।
- ० सत्तावीस परिणाम—नौ के तीन-तीन प्रकार (९×३=२७)।

- ० इक्यासी परिणाम—सत्ताईस के तीन-तीन प्रकार (२७×३=८१)।
- ० दो सौ तयालीस परिणाम—इक्यासी के तीन-तीन प्रकार (८१×३=२४३)।

### ११. लेश्यापरिणति और मृत्यु

लेसाहि सव्वाहि, पढमे समयम्मि परिणयाहि तु।  
न वि कस्सवि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥  
लेसाहि सव्वाहि, चरमे समयम्मि परिणयाहि तु।  
न वि कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स ॥  
अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।  
लेसाहि परिणयाहि, जीवा गच्छति परलोयं ॥  
(उ ३४।५-६०)

- ० पहले समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता।
- ० अन्तिम समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता।
- ० लेश्याओं की परिणति होने पर अन्तर्मुहूर्त ब्रीत जाता है, अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक में जाता है।

इत्थं चैतन्मृतिकाले भाविभवलेश्याया उत्पत्तिकाले वा अतीतभवलेश्याया अन्तर्मुहूर्तमवश्यम्भावात्।.....  
देवनारकाणां स्वस्वलेश्यायाः प्रागुत्तरभवान्तर्मुहूर्तद्वय-सहितनिजायुःकालं यावदवस्थितत्वात्.....कण्हेलेसे  
णेरतिए कण्हेलेसेसु णेरइएसु उववज्जति कण्हेलेसेसु उव्व-  
ट्टइ, जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उव्वट्टति, एवं नीललेसेवि।  
(उशावृ प ६६२)

वर्तमान भव का आयुष्य जब अन्तर्मुहूर्त परिणत शेष रहता है उस समय परभव की लेश्या का परिणाम आरब्ध हो जाता है। वह परिणाम अन्तर्मुहूर्त तक वर्तमान जीवन में रहता है और अन्तर्मुहूर्त तक परभव में उत्पन्न होने के पश्चात् रहता है। इस प्रकार लेश्या की अवस्थिति दो अन्तर्मुहूर्तों तक रहती है। दो अन्तर्मुहूर्तों का नियम नारक और देवों पर भी लागू होता है, किन्तु वे जिस लेश्या में उत्पन्न होते हैं वह लेश्या उनके आयुष्य पर्यन्त रहती है। जैसे कृष्ण लेश्या में उत्पन्न नारक कृष्ण लेश्या में ही उद्भूत होता है। इसी प्रकार भवनपति आदि देव भी जिस लेश्या में उत्पन्न होते हैं, उसी लेश्या में उद्भूत अथवा क्वचित होते हैं।

(तिर्यञ्च और मनुष्य जिस लेश्या में उत्पन्न होते हैं, उस लेश्या में भी मर सकते हैं और अन्य लेश्या में भी मर सकते हैं। देखें—पणवणा पद १७।१०२-१०४। जीव जिस लेश्या में मरता है, उसी लेश्या में उत्पन्न होता है। भगवई ३।१८३)

## १२. श्रुत आदि सामायिक और लेश्या

सम्मतसुर्यं सन्वासु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं ।  
पुव्वपडिवन्नगो पुण अण्यरीए उ लेसाए ॥  
(आवनि ८२२)

सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक की प्राप्ति कृष्ण आदि छहों लेश्याओं में हो सकती है। देशविरति और चारित्र सामायिक की प्राप्ति तीन शुभ लेश्याओं में ही होती है। पूर्व प्रतिपन्नता की अपेक्षा चारों सामायिक छहों लेश्याओं में हो सकती हैं।

नणु मइसुयाइलाभोऽभिहिओ सुद्धासु तीसु लेसासु ।  
सुद्धासु असुद्धासु य कहमिह सम्मत-सुयलाभो ? ॥  
सुर-नेरइएसु दुगं लब्भइ य, दव्वलेसया सव्वे ।  
नाणेसु भावलेसाऽहिगया इह दव्वलेसाओ ॥  
(विभा २७४१, २७४२)

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्राप्ति तीन शुद्ध लेश्याओं में बताई गई है, तब सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक की प्राप्ति शुद्ध-अशुद्ध छहों लेश्याओं में कैसे ?

ज्ञान के प्रसंग में भावलेश्या की अपेक्षा से तथा सामायिक के प्रसंग में द्रव्य लेश्या की अपेक्षा से यह निरूपण है।

देव और नारक सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक प्राप्त करते हैं। सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति के समय भाव लेश्या शुद्ध ही होती है।

तिर्यञ्च और मनुष्य की द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या परिवर्तित होती रहती है। देव और नारक की द्रव्य लेश्या अवस्थित होती है, भाव लेश्या परिवर्तित होती रहती है।

यदि देवनारकाणां कृष्णादिका अशुभा द्रव्यलेश्याः सदाऽवस्थिता भवन्ति तदा सम्यक्त्वादिलाभकाले कथं तेषां शुभभावलेश्यासंभवः ? द्रव्यलेश्या हि भावलेश्या जनयन्ति । नारकादीनामपि सम्यक्त्वादिलाभकाले कथमपि यथाप्रवृत्तिकरणेन शुभानि तैजस्यादिद्रव्यलेश्याद्रव्याण्या-क्षिप्यन्ते । ततो यथाऽऽदर्शः श्वेतोऽपि जपा-कुमुमादिवस्तु-

प्रतिबिम्बसंक्रान्तौ रक्तादिरूपतां प्रतिपद्यते तथा कृष्णाद्य-शुभद्रव्याण्यपि तैजस्यादिशुभद्रव्यप्रतिबिम्बसंक्रमे निजरूपो-त्कटतां परित्यज्य तदाभासतां प्रतिपद्यन्ते । ततो नारका-दीनामपि कृष्णाद्यशुभद्रव्यानुभावं मन्दतां नीत्वा शुभानि तैजस्यादिद्रव्याणि शुभां भावलेश्यां जनयन्ति ।

(विभामवृ २ पृ १६३)

देव और नारक के द्रव्यलेश्या अवस्थित होती है, तब सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति के समय अवस्थित कृष्ण आदि लेश्याओं के अशुभ द्रव्य शुभ भावलेश्या को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं क्योंकि द्रव्यलेश्या भावलेश्या का जनक है ?

सम्यक्त्व प्राप्ति के समय यथाप्रवृत्तिकरण (आत्मा के परिणाम विशेष) के द्वारा तैजस आदि शुभलेश्या के द्रव्य आक्षिप्त होते हैं। शुभ द्रव्यों के प्रतिबिम्ब संक्रान्त होने पर कृष्ण आदि द्रव्य अपनी उत्कटता को छोड़कर शुभ द्रव्यों के रूप में आभासित होते हैं जैसे श्वेत दर्पण में जपाकुसुम आदि का प्रतिबिम्ब पड़ने पर दर्पण भी रक्तता को प्राप्त हो जाता है। कृष्ण आदि अशुभ द्रव्यों का अनुभाव मन्द हो जाने से शुभ द्रव्य शुभ भावलेश्या को निष्पन्न करते हैं।

## १३. लेश्या के स्थान

असंखिज्जाणोऽपिणीण, उत्सपिणीण जे समया ।  
संखाईया लोगा, लेसाण हुंति ठाणाइ ॥  
(उ ३४।३३)

असंख्येय अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जितने समय होते हैं, असंख्यात लोकों के जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उतने ही लेश्याओं के स्थान (अध्यवसाय-परिणाम) होते हैं।

(प्रत्येक लेश्या की अनंत वर्णाणां हैं, प्रत्येक लेश्या असंख्यात आकाशप्रदेशों में अवगाढ है। जैसे वैदूर्यमणि अपने उपाधिद्रव्यों के प्रतिबिम्ब से उस-उस रूप में परिणत हो जाती है, वैसे ही एक लेश्या दूसरी लेश्या के वर्ण, गंध आदि रूप में परिणत हो सकती है। नारक और देवों की द्रव्यलेश्या में यह परिणमन सम्भव नहीं है।

भवनपति और व्यन्तर देवों में कृष्ण, नील, कापीत और तेजोलेश्या होती है। ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान देवों में केवल तेजोलेश्या होती है। सनत्कुमार,



माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पचलेश्या और उनसे आगे के कल्पों में शुक्ललेश्या होती है। बादर पृथ्वीकाय, अष्काय और प्रत्येक वनस्पतिकाय में प्रारम्भ की चार लेश्यायें, गर्भज मनुष्यों और तिर्यञ्चों में छह लेश्यायें तथा शेष जीवों में प्रथम तीन लेश्यायें होती हैं। देखें—पणवणा पद १७)

**लोक**—विश्व, जगत् ।

### १. लोक का निर्वचन

\* लोक-अलोक : आकाश के भेद (द्र. अस्तिकाय)

० लोक-अलोक की परिभाषा

### २. लोक-अलोक के विभाजन का हेतु

### ३. लोक के विभाग

० लोकस्थिति

### ४. लोक-अलोक का संस्थान

### ५. लोक का प्रमाण

### ६. लोकाकाश के प्रतर

### ७. द्बचकप्रदेश : दिशा-विदिशा का प्रवर्तक

### ८. दिशा के प्रकार

### ९. दिशाओं के संस्थान

### १०. मनुष्यलोक -समयक्षेत्र

### ११. असंख्य द्वीप-समुद्र

### १. लोक का निर्वचन

लोकयते—केवलप्रज्ञया परिच्छिद्यत इति लोकः ।

(अनुमवृ प ८०)

केवली अपनी प्रज्ञा से जिसे विभागपूर्वक जानते हैं, वह लोक है ।

### लोक-अलोक की परिभाषा

जीवा चैव अजीवा य, एस लोए वियाहिए ।

अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥

(उ ३६।२)

यह लोक जीव और अजीवमय है । जहां अजीवदेश अर्थात् अजीव के चार विभागों में से केवल एक विभाग आकाश ही है, उसे अलोक कहा गया है ।

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो ।

एस लो गो ति पन्नत्तो, जिणोहं वरदसिंहि ॥

(उ २८।७)

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य हैं । यह षड्रव्यात्मक जो है, वही लोक है ।

पंचस्थिकायमइयं लोगमणाइण्हणं जिणक्खायं ।....

(आवहावृ २ पृ ७३)

जहां धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पांच अस्तिकाय हों, वह लोक है । लोक अनादि-अनन्त है ।

योऽसावाकाशास्तिकायः स संपूर्णोऽलोके, लोके तु तस्य देशः प्रदेशाश्च ।

(आवचू २ पृ ९)

आकाशास्तिकाय की सम्पूर्णता अलोक में होती है । लोक में उसके देश और प्रदेश हैं ।

### २. लोक-अलोक के विभाजन का हेतु

तम्हा धम्मा-ऽधम्मा लोयपरिच्छेयकारिणो जुत्तो ।

इहरागासे तुल्ले लो गोऽलो गो ति को भेओ ? ॥

(विभा १८५२)

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय ही लोक का विभाजन करते हैं । अन्यथा लोक और अलोक दोनों में आकाश तो समान है । वह विभाजक नहीं होता ।

लोगविभागाभावे पडिघायाभावओऽणवत्थाओ ।

संववहाराभावो संबंधाभावओ होज्जा ॥

(विभा १८५३)

लोकविभाग के अभाव में निम्न दोष आते हैं —

१. अप्रतिघात —लोक और अलोक के विभाग के अभाव में जीव और पुद्गल की अप्रतिहत गति होगी — गति का प्रतिघात नहीं होगा ।

२. अनवस्था —प्रतिघात के अभाव में गति का अवस्थान नहीं होगा ।

३. संबन्ध अभाव —आकाश अनन्त होने से जीव और पुद्गल का सम्बन्ध नहीं होगा ।

४. व्यवहार अभाव —सम्बन्ध के अभाव में सुख-दुःख, बंध-मोक्ष आदि का व्यवहार नहीं होगा ।

### ३. लोक के विभाग

अहो लोए, तिरियलोए, उड्ढलोए । (अनु १७७)

अधोव्यवस्थितो लोकोऽधोलोकः, अथवा अधःशब्दो-ऽशुभपर्यायः, तत्र च क्षेत्रानुभावाद् बाह्येत्याशुभ एव परिणामो द्रव्याणां जायते ।.... उपरि व्यवस्थापितो लोकः ऊर्ध्वलोकः । अथवा तत्र च क्षेत्रस्य शुभत्वात्तदनुभावाद् द्रव्याणां प्रायः शुभा एव परिणामा भवन्ति ।....

समयपरिभाषया तिर्यग्—मध्ये व्यवस्थितो लोकस्तिर्यग्लोकः । अथवा तिर्यक्शब्दो मध्यमपर्यायः ।

(अनुमवृ प ८०)

लोक के तीन विभाग हैं—

१. अधोलोक—यह लोक के अधोभाग में व्यवस्थित है । यहां क्षेत्र के प्रभाव से द्रव्यों का परिणमन प्रायः अशुभ ही होता है । रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियां अधोलोक में हैं । (द्र. नरक)
२. तिर्यग्लोक—यह लोक के मध्य में है । यहां द्रव्यों का परिणमन प्रायः मध्यम होता है ।
३. ऊर्ध्वलोक—यह लोक के ऊर्ध्व भाग में व्यवस्थित है । शुभ क्षेत्र के कारण यहां द्रव्यों का परिणमन प्रायः शुभ ही होता है ।

सौधर्म से सर्वार्थसिद्ध पर्यंत विमान ऊर्ध्वलोक में हैं । (द्र. देव)

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी ऊर्ध्वलोक में है ।

(द्र. ईषत्प्राग्भारा)

### लोकस्थिति

खिडबलयदीवसागरनरयविमाणभवणाइसंठाणं ।

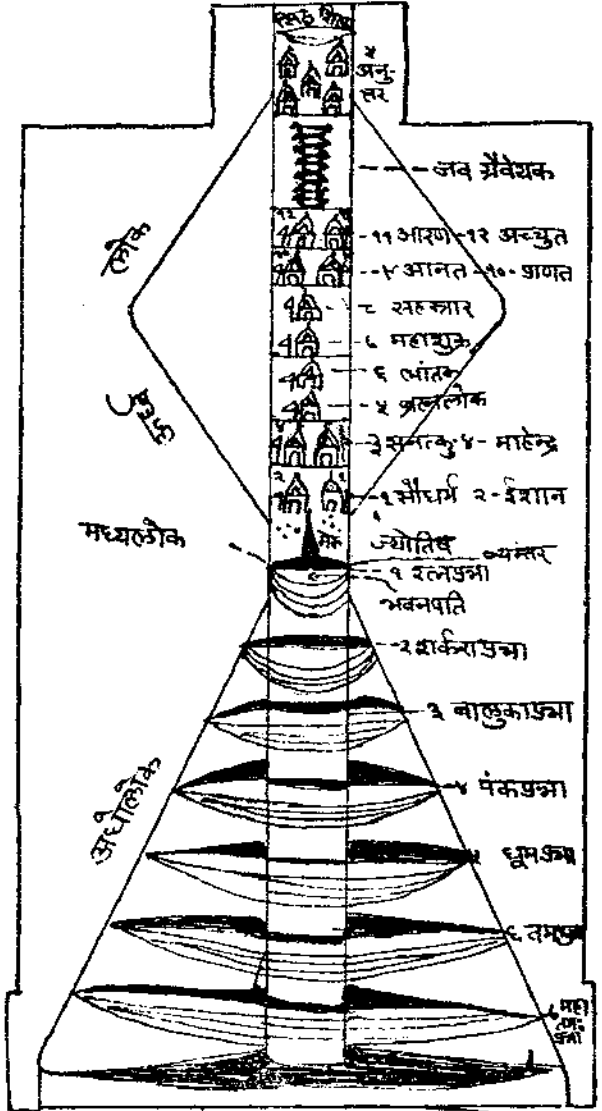
वोमाइषइद्वाणं निययं लोणट्टिइविहाणं ॥

(आवहावृ २ पृ ७४)

लोकस्थिति इस प्रकार है—

- क्षिति—घर्मा आदि सात तथा ईषत्प्राग्भारा—ये आठ पृथ्वियां हैं ।
  - बलय—घनोदधि, घनवात और तनुवात । घर्मा आदि सात भूमियों के परिक्षेप के रूप में इक्कीस बलय हैं ।
  - द्वीप—जम्बूद्वीप से स्वयंभूरमण पर्यंत असंख्य द्वीप हैं ।
  - समुद्र—लवणसमुद्र से स्वयंभूरमण पर्यंत असंख्य समुद्र हैं ।
  - नरक—सीमंतक से अप्रतिष्ठान पर्यंत संख्येय नरकावास हैं ।
  - विमान—ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के असंख्येय विमान हैं ।
  - भवन आदि—भवनपति देवों के संख्येय आवास और व्यंतर देवों के असंख्येय नगर हैं ।
  - व्योमप्रतिष्ठान—आकाश, वायु आदि का प्रतिष्ठान ।
- लोकस्थिति के ये प्रकार शाश्वत हैं ।

### लोक की संस्थिति



### ४. लोक-अलोक का संस्थान

हेट्ठा मज्जे उवरि छब्बीभल्लरिसुइंगसंठाणे ।

लोमो अ(उ?)द्वागारो अ(उ?)द्वखेत्तागिई नेओ ॥

(आवहावृ २ पृ ७३)

लोए सुपतिट्ठासंठिते । अलोए सुत्तिरगोलकसंठिते ।

(आवचू २ पृ ८५)

अधोलोक वंशपिटक—ऊर्ध्व-आयत तथा ऊपर से कुछ संकरा—के संस्थान वाला है । मध्यलोक

भक्तरी—उभयतः विस्तीर्ण तथा मध्य में संकीर्ण—के संस्थान वाला है। ऊर्ध्वलोक मृदंग—ऊर्ध्व—आयत, ऊपर से तनु तथा नीचे से विस्तीर्ण—के संस्थान वाला है।

ऊर्ध्वलोक की आकृति ऊर्ध्व मृदंग जैसी है।

लोक सुप्रतिष्ठक संस्थान वाला है अर्थात् त्रिशराव-सम्पुटाकार है। एक शराव उल्टा रखकर उस पर एक शराव सीधा और फिर उस पर एक शराव उल्टा रखने पर त्रिशरावसम्पुट की आकृति बनती है। यही लोक की आकृति है।

अलोक शुषिरगोलक के संस्थान वाला है।

वैशाखस्थानस्थं प्रसारितपादं कटिस्थकरयुगलं पुरुष-मिव लोकं व्यवस्थाप्य सर्वमिदं भावनीयम्।

(नन्दीहावृट्टि पृ १२२)

खड़े-खड़े मन्थन करते हुए पुरुष के पैर फँसे हुए हैं, दोनों हाथ कटिभाग पर रखे हुए हैं—पुरुष के इस आकार में लोकपुरुष संस्थित है।

(लोकपुरुष के दोनों पैरों के स्थान में है अधोलोक। उसके कटिस्थानीय है ज्योतिश्चक्र। लोकपुरुष के कोहनी-स्थानीय ब्रह्मलोक है और उसके मस्तक का तिलक है सिद्धशिला।)

## ५. लोक का प्रमाण

लोगो चउहसरज्जूसितो। हेट्टा देसूणसत्तरज्जू-विच्छिण्णो, तिरियलोगमज्जे रज्जूविच्छिण्णो, एवं बंभ-लोगमज्जे पंच, उवारि लोगते एगरज्जूविच्छिण्णो। रज्जू पुण सयंभूरमणसमुहपुरस्थिमपच्चस्थिमवेइयंता।

(अनुहावृ पृ ७६)

लोक की ऊंचाई चौदह रज्जू है। अधोलोक कुछ कम सात रज्जू विस्तीर्ण है। तिर्यग् लोक एक रज्जू, ब्रह्मलोक पाँच रज्जू और ऊपर लोकांत के पास एक रज्जू विस्तीर्ण है। स्वयंभूरमणसमुद्र पूर्व से पश्चिम वेदिकान्त तक का प्रमाण एक रज्जू है।

बहुसमभूमिभागे रयणप्पभामज्जभागे मेरुमज्जे अट्ट-पदेसो हयगो। तस्सओपतरातो अहे य णं नव जियण-सताणि जाव ता तिरियलोगो। ततो परेण अहेट्टित्तणतो अहीलोगो साहियसत्तरज्जूप्पमाणो। रुचतोवरिपतरातो उवारिहुत्तो नवजियणसताणि जोतिसच्चकस्स उवरितलो ताव तिरियलोगो। ततो उड्डभागठित्तणतो उड्डलोगो देसूणसत्तरज्जूप्पमाणो। अहउड्डलोगाण मज्जे अट्टारस-

जोयणसत्तप्पमाणो तिरियभागट्टियत्तणतो तिरियलोगो।

(अनुचू पृ ३४, ३५)

बहुसम (समतल) भूमिभाग वाले रत्नप्रभा पृथ्वी के मध्यभाग में स्थित मेरु के मध्य अष्टप्रदेशी रुचक है। उसके अधोवर्ती प्रतर के नीचे नौ सौ योजनपर्यंत तिर्यक् लोक है। उससे आगे अधःस्थित साधिक सात रज्जू प्रमाण अधोलोक है। रुचक के ऊर्ध्ववर्ती प्रतर के ऊपर नौ सौ योजन तक ज्योतिश्चक्र के उपरितल पर्यन्त तिर्यक् लोक है। उससे ऊपर कुछ न्यून सात रज्जू प्रमाण ऊर्ध्व-लोक है। अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के मध्य में तिर्यग् भाग में स्थित अठारह सौ योजन प्रमाण तिर्यक् लोक है।

से समासओ तिविहे पणत्ते, तं जहा—सेढीअंगुले पयरंगुले घणंगुले। असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ सेढी, सेढी सेढीए गुणिया पयरं, पयरं सेढीए गुणियं लोगो, संखेज्जएणं लोगो गुणितो संखेज्जा लोगा, असंखेज्जएणं लोगो गुणितो असंखेज्जा लोगा।

(अनु ४११)

प्रमाणांगुल के तीन प्रकार हैं—श्रेणीअंगुल, प्रतर-अंगुल और घनअंगुल। प्रमाणांगुल से निष्पन्न असंख्यात कोडाकोडी (१००००००० × १०००००००) योजनों की एक प्रदेशात्मक श्रेणी होती है। श्रेणी को श्रेणी से गुणित करने पर प्रतर और प्रतर को श्रेणी से गुणित करने पर लोक होता है। लोक को संख्येय से गुणित करने पर संख्येय लोक और असंख्येय से गुणित करने पर असंख्येय लोक होते हैं।

(प्रस्तुत प्रकरण में घनांगुल का प्रमाण और लोक का प्रमाण एक समान है। लोक का प्रमाण ३४३ घन रज्जू है। दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएं इसमें एकमत हैं, परन्तु लोक की आकृति के कारण गणित की प्रक्रिया में भिन्नता है। देखें—अणुओगदाराई सूत्र ४११ का टिप्पण)

## ६. लोकाकाश के प्रतर

लोकाकाशप्रदेशा उपरितनाधस्तनदेशरहिततया विव-क्षिता मण्डकाकारतया व्यवस्थिताः प्रतरमित्युच्यन्ते। तत्र तिर्यग्लोकस्योर्ध्वोर्ध्वोऽपेक्षयाऽष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे द्वौ लघुस्रुत्वकप्रतरौ।

...तो च द्वौ सर्वलघू प्रतरावद्गुलासंख्येयभाग-बाह्यत्वावलोकसंवर्त्तितौ रज्जुप्रमाणी तत एतयोः पर्यन्त्येऽप्ये प्रतरास्तिर्यग्लोकासंख्येयभागवृद्ध्या वर्द्धमानास्तावद्द्रष्टव्या

यावदूर्ध्वलोकमध्यं, तत्र पञ्चरज्जुप्रमाणः प्रतरः, तत उपर्यन्येऽप्ये प्रतरास्तिर्यंगंगुलासंख्येयभागहान्या हीयमाना-स्तावदवसेया यावत्लोकान्ते रज्जुप्रमाणः प्रतरः ।

(नन्दीमवृ प ११०)

लोकाकाश के प्रदेश प्रतर कहलाते हैं। यह ऊपर का भाग है, यह नीचे का भाग है—इस रूप में इनका विभाग नहीं होता तथा ये मंडक (रोटी) के आकार में व्यवस्थित हैं।

मेरु के समभूभाग से नीचे नौ सौ योजन तथा ऊपर नौ सौ योजन—इस प्रकार अठारह सौ योजन प्रमाण तिर्यक्लोक है। उसके मध्य में दो क्षुल्लक प्रतर हैं।

अलोक का स्पर्श करने वाले इन दो सर्वलघु प्रतरों की मोटाई अंगुल का असंख्येय भाग और लम्बाई एक रज्जु प्रमाण है। इनके ऊपर-ऊपर अन्यान्य प्रतर अंगुल के असंख्येय भाग की वृद्धि के क्रम से बढ़ते-बढ़ते ऊर्ध्व-लोक के मध्य भाग तक प्रतर की लम्बाई पांच रज्जु हो जाती है। उसके ऊपर जो अन्य प्रतर हैं, उनमें क्रमशः अंगुल के असंख्येय भाग की हानि होती चली जाती है और लोकांत का स्पर्श करने वाले प्रतर की लम्बाई एक रज्जु रह जाती है।

### ७. रुचकप्रदेश : दिशा-विदिशा का प्रवर्तक

तयोर्मध्यभागे जम्बूद्वीपे रत्नप्रभाया बहुसमे भूमिभागे मेरुमध्येऽष्टप्रादेशिको रुचकः । तत्र गोस्तनाकाराश्चत्वार उपरितनाः प्रदेशाश्चत्वारश्चाधस्तनाः । एष एव रुचकः सर्वासं दिशां विदिशां वा प्रवर्तकः, एतदेव च सकल-तिर्यंग्लोकमध्यम् ।

(नन्दीमवृ प ११०)

तिरछे लोक के मध्य में दो क्षुल्लक प्रतर हैं। उनके मध्य में, जम्बूद्वीप में, रत्नप्रभा के समतल भूमिभाग पर, मेरु के मध्य में आठ प्रदेश वाला रुचक है। उस रुचक के चार ऊपर के और चार नीचे के—आठों प्रदेश गोस्तन-आकार वाले हैं। यह रुचक सब दिशाओं और विदिशाओं का प्रवर्तक है। यह सम्पूर्ण तिर्यक् लोक के ठीक मध्य में स्थित है।

### ८. दिशा के प्रकार

नामं ठवणा दविए खेतदिसा तावखेत्त पन्तवए ।

सत्तमिया भावदिसा सा होअट्टारसविहा उ ॥

(आवनि ८०९)

दिशा के सात प्रकार हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य,

क्षेत्र, तापक्षेत्र, प्रज्ञापक और भाव। भावदिशा के अठारह प्रकार हैं।

### द्रव्यदिशा

तेरसपएसियं जं जहण्णओ दसदिसामिई दव्वं ।

उक्कोसमणंतपएसियं च सा होइ दव्वदिसा ॥

एक्केक्को विदिसासु मज्झे य दिसासुमायया दो दो ।

बिति दसाणुगमण्णे दसदिसमेक्केक्कयं काउं ॥

तं न दसदिसागारं जं चउरस्सं ति तन्न दव्वदिसा ।”

जघन्यतस्त्रयोदशप्रदेशावगाढात् त्रयोदशप्रदेशिकात्, उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयप्रदेशावगाढादनन्तप्रदेशिकाद् द्रव्याद् दश दिश उतिष्ठन्ति । एतच्च द्रव्यं संपूर्णदशदिगुत्थान-कारणत्वाद् द्रव्यदिगुच्यते ।

(विभा २६९८-२७०० मवृ पृ १४७)

जो द्रव्य दस दिशाओं के उत्थान का कारण है, वह द्रव्यदिशा है। यह जघन्यतः तेरह प्रदेशी और तेरह आकाशप्रदेशों में अवगाढ होती है तथा उत्कृष्टतः अनंत-प्रदेशी और असंख्यात आकाशप्रदेशों में अवगाढ होती है। तेरह प्रदेशों की स्थापना—

○	○   ○	○
○	○	○
○	○   ○	○

मध्य में एक और चार विदिशाओं में एक-एक—इस प्रकार पांच प्रदेशावगाढ पांच परमाणु तथा चार दिशाओं में आयत रूप में अवस्थित दो-दो परमाणु—इस प्रकार जघन्यतः तेरह आकाशप्रदेशों में अवगाढ तेरह प्रदेशी स्कंध दस दिशाओं के उत्थान का हेतु है और यही द्रव्यदिशा है।

कुछ आचार्य दस परमाणुओं को दस दिशाओं में स्थापित कर उन्हें दिशाओं के उत्थान का हेतु मानते हैं, जो समीचीन नहीं है, क्योंकि दस दिशाओं का आकार चतुरस्र होता है और वह दस परमाणुओं से संभव नहीं है। अतः तेरह परमाणु ही दस दिशाओं के उत्थान के निबन्धक हैं, न्यून या अधिक नहीं।

### क्षेत्र विशा

”खेतदिसदुपएसियरुयगाओ मेस्मज्झम्मि ॥

(विभा २७००)

दुपएसाइ दुहतर एगएसा अणुतरा चव ।  
चउरो चउरो य दिसा चउराइ अणुतरा दुन्नि ॥  
इंदग्गेई जम्मा य नेरई वारुणी अ वायव्वा ।  
सोमा ईसाणाविअ विमला य तमा य बोद्धव्वा ॥

(आवमवृ प ४३८)

मेरु के मध्य में अष्टप्रदेशी रुचक है। इसी से सब दिशाएं और विदिशाएं निकलती हैं, जिन्हें क्षेत्रदिशा कहा जाता है।

रुचक से बाहर चार दिशाओं में से प्रत्येक दिशा के प्रारम्भ में दो-दो प्रदेश निकलते हैं, फिर चार-चार, छह-छह, आठ-आठ—इस प्रकार दो-दो के क्रम से उनकी वृद्धि होती जाती है।

इसी रुचक से एक-एक आकाशप्रदेश से निष्पन्न चार विदिशाएं निकलती हैं, जो चार दिशाओं के चार कोणों में होती हैं। इनके प्रदेशों में वृद्धि नहीं होती। ऊर्ध्व और अधः दिशा चार-चार आकाशप्रदेशों से निष्पन्न हैं। इनमें भी वृद्धि नहीं होती।

दस दिशाओं के नाम ये हैं—ऐन्द्री (पूर्व), आग्नेयी, याम्या (दक्षिण), नैऋती, वारुणी (पश्चिम), वायव्या, सोमा (उत्तर), ईशानी, विमला (ऊर्ध्व) और तमा (अधः)।

### तापक्षेत्र दिशा

जेसि जत्तो सूरौ उएइ तेसि तई हवइ पुव्वा ।

तावक्खित्तदिसाओ पयाहिणं सेसियाओ सि ॥

(विभा २७०१)

ताप—सूर्य के आश्रित दिशा तापक्षेत्र दिशा है। भरतक्षेत्र आदि के निवासी लोगों के जिस दिशा में सूर्य उदित होता है, वह उनके लिए पूर्वदिशा है। सूर्य की ओर मुंह किए खड़े मनुष्य की दाहिनी ओर दक्षिण, पीठ की तरफ पश्चिम तथा बायीं ओर उत्तर दिशा होती है।

### प्रज्ञापक दिशा

पण्णवओ जदभिमुहो सा पुव्वा सेसिया पयाहिणओ ।

(विभा २७०२)

प्रज्ञापक के आधार पर प्रज्ञापक दिशा होती है। वह जिस दिशा के अभिमुख हो सूत्र आदि की व्याख्या करता है, वह पूर्वदिशा है। जेष दक्षिण आदि दिशाएं हैं।

### भावदिशा

दिश्यते अयममुकः संसारीति यया सा दिक् भावः—  
पृथिवीत्वादिलक्षणः पर्यायः । (आवमवृ प ४३९)

दिश्यते नारकादित्वेनास्यां संसारीति दिक् ।

(उशावृ प २७६)

जिससे या जिसमें पृथ्वी, नारक आदि के रूप में संसारी प्राणियों का व्यपदेश किया जाता है, वह भाव दिशा है।

“अट्टारस भावदिसा जीवस्स गमागमो जेसु ॥

पुढवि-जल-जलण-वाया मूला-खंध-ग्ग-पोरबीया य ।

बि-ति-चउ-पंचिदिय-तिरिय-नारगा देवसंघाया ॥

संमुच्छिम-कम्माऽकम्मभूमगतरा तहंतरहीवा ।

भावदिसा दिस्सइ जं संसारी निययमेवाहि ॥

(विभा २७०२-२७०४)

कर्म के वशीभूत होकर जीव विभिन्न दिशाओं में भ्रमण करते हैं, वे भावदिशाएं कहलाती हैं। वे अठारह हैं—

१. पृथ्वी	१०. त्रीन्द्रिय
२. जल	११. चतुरिन्द्रिय
३. अग्नि	१२. तिर्यंच पंचेन्द्रिय
४. वायु	१३. संमूर्च्छिम मनुष्य
५. मूल	१४. कर्मभूमिज मनुष्य
६. स्कंध	१५. अकर्मभूमिज मनुष्य
७. अग्रबीज	१६. अन्तर्द्वीपज मनुष्य
८. पर्वबीज	१७. नारक
९. द्वीन्द्रिय	१८. देव

### ६. दिशाओं के संस्थान

सगइद्धिसंठिआओ महादिसाओ हवंति चत्तारि ।

मुत्तावली अ चउरो दो चव य हुंति हअगनिभा ॥

(आवमवृ प ४३८)

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—ये चार महा-दिशाएं शकटोर्द्धि संस्थान से संस्थित हैं। चार विदिशाएं मुक्तावलि संस्थान से तथा ऊर्ध्व और अधः दिशा रुचक संस्थान से संस्थित हैं।

(दिशाओं के विस्तृत वर्णन के लिए देखें—आचारंग निर्युक्ति ४०-६२)

### १०. मनुष्यलोक—समयक्षेत्र

पुष्करवरद्वीपस्य अर्धपुष्करवरदीवड्डं तमि घातकी-  
खंडे य दीवे जंबुद्वीवे य अड्हाइज्जा दीवा समयक्षेत्तं । तं  
च माणुमुत्तरेणं अगरमिन्न सव्वतो पागारपरिक्खित्तं ।

(आवचू २ पृ २५८)

समयोपलक्षितं क्षेत्रं समयक्षेत्रम्—अद्वैतृतीयद्वीप-समुद्राः ।  
(उषावृ प ६७३)

जहाँ समय, आवलिका आदि कालविभाग विद्यमान है, वह समयक्षेत्र कहलाता है ।

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड एवं अर्धपुष्कर—इन ढाई द्वीपों की संज्ञा समयक्षेत्र है । इसके चारों ओर नगर के परकोटे की तरह मानुषोत्तर पर्वत की परिधि है ।

## ११. असंख्य द्वीप-समुद्र

जंबुद्वीपे लवणे, धायद्-कालीय-पुत्रखरे वरुणे ।  
क्षीर-घय-खोय-नदी अरुणवरे कुंडले रुयणे ॥  
जंबुद्वीवाओ खलु निरंतरा सेसया असंखडमा ।  
भुयगवर-कुसवरा वि य, कीचवराजभरणमाईया ॥  
आभरण-वस्त्र-गंधे, उत्पल-तिलए य पुढवि-निहि-रयणे ।  
वासहर-दह-नईओ विजया वक्खार-कप्पिदा ॥  
कुरु-मंदर-आवासा, कूडा नक्खत्त-चंद-सूरा य ।  
देवे नागे जक्खे, भूए य सयंभुरमणे य ॥  
(अनु १८५)

जंबूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्डद्वीप, कालोदसमुद्र, पुष्करद्वीप, वरुणसमुद्र, क्षीर, वृत्, इक्षु, नन्दी, अरुणवर, कुण्डलवर, रुचकवर—ये सारे द्वीप और समुद्र परस्पर संलग्न हैं तथा रुचकवर से असंख्य द्वीप और समुद्रों के बाद भुजगवर द्वीप है । इसी प्रकार कुसवर, क्रौञ्चवर, आभरण आदि द्वीपों के बीच असंख्य द्वीप और समुद्रों का व्यवधान है । आभरण, वस्त्र, गंध, उत्पल, तिलक, पृथ्वी, निधि, रत्न, वर्षधर, द्रह, नदी, विजय, वक्षस्कार, कल्पेन्द्र, कुरु, मन्दर, आवास, कूट, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य, देव, नाग, यक्ष, भूत और स्वयंभूरमण—ये सारे द्वीप और समुद्र हैं ।

(आभरण, वस्त्र आदि पदार्थों के जितने शुभ नाम हैं, जितने शुभ रूप, रस आदि हैं, उनके सदृश उतने ही नाम असंख्य द्वीप-समुद्रों के हैं । देखें—अनुमवृ पत्र ८२)

**लोकभावना**—पुरुषाकार लोक की विविधता का अनुचिन्तन करना, उसमें एकाग्र होना ।  
(द्र. अनुप्रेक्षा)

**वनस्पतिकाय**—छह जीव-निकाय का पांचवां भेद ।  
(द्र. जीवनिकाय)

वन्दना—अभिवादन । स्तुति ।

१. वन्दना के पर्याय
२. द्रव्य-भाव वन्दना
  - दृष्टान्त
३. वन्दनीय की अहंता
४. वन्दनीय की पहचान
५. अवन्दनीय कौन ?
६. वन्दना सूत्र
७. कृतिकर्म के प्रकार
८. वन्दना के दोष
९. वन्दना का विवेक
१०. वन्दना के विशेष प्रसंग
११. वन्दना का प्रयोजन और परिणाम
  - \* वन्दना : आवश्यक का एक प्रकार (द्र. आवश्यक)
  - \* वन्दना और स्तुति एकार्थक (द्र. स्तव-स्तुति)

## १. वन्दना के पर्याय

वन्दनचिद्दिकिद्दकम्मं पूयाकम्मं य विणयकम्मं च ।  
(आवनि ११०३)

वन्दना के पांच पर्याय —

वन्दना—अभिवादन, स्तुति ।

चित्तिकर्म—कुशल कर्म का चय । रजोहरण आदि उपधि का ग्रहण ।

कृतिकर्म—अवनाम, आवर्त्त आदि क्रियाएं ।

पूजाकर्म—प्रशस्त मन, वचन और काय की चेष्टा ।

विनयकर्म—कर्म का अपनयन । गुरु आदि का विनय ।

## २. द्रव्य-भाव वन्दना

वन्दनकर्मं द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतो मिथ्या-दृष्टेरनुपयुक्तसम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य, चित्तिकर्मापि द्विधैव—द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यनस्तापसादि-लिङ्गग्रहणकर्मानुपयुक्तसम्यग्दृष्टे रजोहरणादिकर्म च, भावतः सम्यग्दृष्ट्युपयुक्ता रजोहरणाद्युपधिक्षिपेति, कृतिकर्मापि द्विधा—द्रव्यतः निह्नुवादीनामवनामादिकरण-मनुपयुक्तसम्यग्दृष्टीनां च । भावतः सम्यग्दृष्ट्युपयुक्तानामिति ।  
(आवहावृ २ पृ १५)

द्रव्य और भाव के भेद से वन्दना आदि के दो-दो प्रकार —

**द्रव्यवन्दन**—मिथ्यादृष्टि और अनुपयुक्त सम्यग्दृष्टि का वन्दन ।

**भाववन्दन**—उपयुक्त सम्यग्दृष्टि का वन्दन ।

**द्रव्यचितिकर्म**—तापस आदि की लिङ्गग्रहण की क्रिया, अनुपयुक्त सम्यग्दृष्टि की रजोहरण उपधि आदि ग्रहण की क्रिया ।

**भावचितिकर्म**—उपयुक्त सम्यग्दृष्टि की रजोहरण आदि ग्रहण की क्रिया ।

**द्रव्यकृतिकर्म**—निह्व और अनुपयुक्त सम्यग्दृष्टि की अवनाम, आवर्त आदि क्रियाएं ।

**भावकृतिकर्म**—उपयुक्त सम्यग्दृष्टि की अवनाम, आवर्त आदि क्रियाएं ।

### दृष्टांत

सीयले खुड्डए कण्हे सेवए पालए तहा ।

पंचेते दिट्ठता किइकम्मे होंति णायव्वा ॥

(आवनि ११०४)

द्रव्य-भाव वन्दना के प्रसंग में पांच दृष्टांत हैं—  
शीतल, क्षुल्लक, कृष्ण, सेवक और पालक ।

### शीतल आचार्य

राजपुत्र शीतल प्रव्रजित हुआ, आगमों का अध्ययन कर आचार्य बन गया । उसकी बहिन के चारों पुत्र अपने मातुल की प्रव्रज्या से प्रेरित होकर, स्वयं प्रव्रजित हो गए । वे बहुश्रुत होकर अपने मातुल आचार्य के दर्शनार्थ प्रस्थित हुए । छानबीन करने पर पता चला कि आचार्य अमुक गांव में हैं । जैसे ही वे उस गांव के परिसर में पहुंचे, सूर्यास्त हो गया । वे गांव की बहिरिका में ही ठहर गए । संदेशवाहक ने आचार्य शीतल से चारों मुनि भानजों के आगमन की बात कही । वे अत्यंत प्रसन्न हुए । चारों मुनि रात्री में धर्मजागरिका कर रहे थे । परिणामों की विशुद्धि बढ़ी और वे चारों ही केवली हो गए ।

प्रातःकाल हुआ । आचार्य प्रतीक्षा में बैठे थे । चारों नहीं पहुंचे, तब आचार्य स्वयं वहां गए । चारों केवली मुनियों ने आचार्य को देखा, पर उठे नहीं । आचार्य अस-मंजस में पड़ गए, पूछा—'मैं किसको वन्दना करूं ?' उन्होंने कहा—'जैसे इच्छा । आचार्य ने सोचा—'ये शिष्य मुनि कितने अविनीत हो गए हैं ? फिर भी आचार्य ने उन्हें वन्दना की । केवली मुनि बोले—'आर्य ! द्रव्य-वन्दना से क्या प्रयोजन ? भाववन्दना करें ।' आचार्य

शीतल ने सोचा—'इन्होंने मेरे मन की बात कैसे जान ली ? पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे चारों केवली हो गए हैं । आचार्य को मन ही मन अत्यंत पश्चात्ताप हुआ कि मैंने केवलियों की आशातना की है । भावना का प्रकर्ष हुआ, आचार्य चारों केवलियों को वन्दना करने लगे । भाववन्दना के उत्कर्ष से ज्योंही उन्होंने चौथे केवली को वन्दना की, वे स्वयं केवली बन गए ।

एक कायिकी चेष्टा—द्रव्य वन्दना बन्धन के लिए होती है और एक कायिकी चेष्टा—भाव वन्दना मोक्ष के लिए होती है ।

(क्षुल्लक आदि शेष दृष्टांतों के लिए देखें—आवहावृ २ पृ १५-१७)

### ३. वन्दनीय की अर्हता

दंसणनाणचरित्ते तवविणए निच्चकालमुज्जुत्ता ।

एए उ वंदणिज्जा जे जसकारी पवयणस्स ॥

आयरिय उवड्ढाए पव्वत्ति थेरे तहेव रायणिए ।

एएसि किइकम्मं कायव्वं निज्जरट्टाए ॥

पंचमहव्वयजुत्तो अणलस माणपरिवज्जियमईओ ।

संविगगनिज्जरट्टी किइकम्मकरो ह्वइ साहू ॥

(आवनि ११९३, ११९५, ११९७)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और विनय की आराधना में सतत संलग्न, प्रवचनप्रभावक मुनि वन्दनीय हैं । आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा रात्तिक मुनि वन्दनीय हैं ।

जो मुनि पांच महाव्रतों से युक्त, जामरूक, निरभिमान, वैराग्यसम्पन्न और निर्जरार्थी होते हैं, वे कृतिकर्म के योग्य हैं ।

समणं वदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहियं ।

पंचसमिय तिगुत्तं, अस्संजमदुगुल्लणं ॥

(आवनि ११०६)

पांच समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त तथा असंयम से जुगुप्सा करने वाले संयत सुसमाहित श्रमण वन्दनीय हैं ।

### ४. वन्दनीय की पहचान

मुविहिय दुव्विहियं वा नाहं जाणामि हं खु छउमत्थो ।

लिगं तु पूययामी तिगरणसुद्वेण भावेण ॥

जइ ते लिग पमाणं वंदाही तिण्हवे तुमे सव्वे ।

एए अवंदमाणस्स लिगमवि अपमाणं ते ॥

जइ लिंगमपमाणं न तज्जई निच्छएण को भावो ? ।  
दट्ठूण समणलिंगं किं कायव्वं तु समणेणं ? ॥  
अप्पुव्वं दट्ठूणं अब्भुट्ठाणं तु होइ कायव्वं ।  
साहुम्मि दिट्ठपुव्वे जहारिहं जस्स जं जोग्गं ॥  
(आवनि ११२२-११२५)

छन्नस्थ मुनि सुविहित और दुविहित मुनि को नहीं जान सकता । इसलिए मन, वाणी और काय की पवित्रता से लिंग की ही पूजा करनी चाहिए । शिष्य के इस कथन पर गुरु ने कहा—यदि लिंग ही प्रमाण है तब ती सारे निह्वव भी वंदनीय हो जाएंगे । यदि वे अवंदनीय हैं, तब लिंग भी अप्रमाण है ।

लिंग अप्रमाण है, भावों को निश्चयपूर्वक जाना नहीं जा सकता, तब श्रमण के लिंग को देखकर क्या करना चाहिए ?

इसके समाधान में गुरु ने कहा—पहले जिस मुनि को नहीं देखा, उसके आगमन पर अभ्युत्थान अवश्य करना चाहिए । उद्यतविहारी को वंदना करनी चाहिए, शिथिलाचारी को वंदना नहीं करनी चाहिए ।

आलएणं विहारेणं ठाणचंक्रमणेण य ।

सक्को सुविहिओ नाउं भासावेणइएण य ॥

पायं आलयादीहिं लक्खिज्जति सुविहितसुविहिता ।  
जदिवि य कत्थइ न लक्खिज्जति तह्वि आगमोवयोगतो  
पयत्तो सुद्धो चेव । तम्हा आगमोवउत्तेहिं पयत्तेहिं  
सव्वमणुट्ठाणमणुसीलणीयं ति एस कप्पो अम्हं ति ।

(आवनि ११४८ चू २ पृ ३०, ३१)

एकांत स्थान में प्रवास, मासकल्प आदि विहार, यथाविधि कायोत्सर्ग, ईर्यासमितिपूर्वक गमन, भाषाविवेक, आचार्य आदि का विनय—इन लक्षणों से सुविहित साधु की पहचान हो जाती है ।

यदि स्थान, वेश आदि से शुद्ध साधु की पहचान न हो, तब आगम के निर्देश के अनुसार वंदना आदि प्रवृत्ति करना शुद्ध है । प्रत्येक अनुष्ठान आगमोपयुक्त होकर करना चाहिए, यह हमारा आचार है ।

लिंग भी मुनि की पहचान का हेतु है । (द्र. लिंग)

## ५. अवंदनीय कौन ?

असंजयं न वंदिज्जा, मायरं पियरं गुरुं ।

सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणि य ॥

(आवनि ११०५)

असंयत वन्दनीय नहीं होते, फिर चाहे माता-पिता, गुरु, सेनापति, प्रशास्ता, राजा और देव भी क्यों न हो ।

वंसणनाणचरित्ते तवविणए निच्छकालपासत्था ।

एए अवंदणिज्जा जे जसघाईं पवयणस्स ॥

(आवनि ११९१)

दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप और विनय में सदा प्रमाद करने वाले पार्श्वस्थ अवंदनीय हैं । वे प्रवचन की यशो-गाथा का हनन करने वाले हैं ।

## पार्श्वस्थ के पांच प्रकार

पासत्यो ओसन्नो होई कुसीलो तहेव संसत्तो ।

अहच्छंदोऽविय एए अवंदणिज्जा जिणमयंमि ॥

(आवहावू २ पृ १८)

१. पार्श्वस्थ—अतिचार-अनाचार का सेवन करने वाला, राजपिण्ड, अप्रपिण्ड, शय्यातर का भोजन आदि लेने वाला ।

२. अवसन्न—सामाचारी में शिथिल, आलसी ।

३. कुशील—विद्या, मंत्र, निमित्त आदि बताने वाला ।

४. संसक्त—मूलोत्तर गुणों एवं दोषों—दोनों में संसक्त ।

५. यथाच्छन्दक—उत्सूत्र की प्ररूपणा करने वाला, आगमनिरपेक्ष आचरण करने वाला ।

ये पांचों प्रकार के साधु जिनमत में अवन्दनीय हैं ।

किइकम्मं च पसंसा सुहसीलजणम्मि कम्मबंधाय ।

जे जे पमायठाणा ते ते उववूहिया हुंति ॥

(आवनि ११९२)

पार्श्वस्थ सुखशील होते हैं, उनको कृतिकर्म—वन्दना करना तथा उनकी प्रशंसा करना कर्मबंध का कारण है और उससे प्रमादस्थानों का उपबृंहण होता है ।

पार्श्वस्थ और कुशील अनायतन हैं । (द्र. आयतन)

## ६. वन्दना सूत्र

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं, जावणिज्जाए निसी-  
हियाए । अणुजाणह मे मिउगहं निसीहि अहोकायं  
कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो । अप्पकिलंताणं  
बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ? जत्ता भे ? जवणिज्जं  
च भे ?

खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं । आवस्सि-  
याए पडिक्कमामि खमासमणणं देवसियाए आसायणाए  
तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए



वदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्मा-इक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । (आव ३।१)

क्षमाश्रमण ! मैं संयत निषद्धा से संयमपूर्वक बैठकर आपको वन्दना करना चाहता हूँ ।

आप मुझे अपने परिमित अवग्रह में आने की अनुज्ञा दें । (अनुज्ञा प्राप्त करने के बाद) बैठकर मैं आपके चरण का शिर से स्पर्श करता हूँ । इस स्पर्श में आपको कोई कष्ट हुआ हो तो आप मुझे क्षमा करें ।

आप कष्टानुभूति से रहित हैं । आपका यह दिन निर्विघ्नरूप में कल्याणकारी प्रवृत्ति में बीता ?

आपकी यात्रा—तप, नियम, स्वाध्याय, ध्यान की प्रवृत्ति—प्रशस्त रही ?

आपका यमनीय—इन्द्रिय और मानसिक संयम प्रशस्त रहा ? क्षमाश्रमण ! आपके प्रति होने वाले दिवस-सम्बन्धी व्यतिक्रम के लिए आप मुझे क्षमा करें ।

आपके प्रति अवश्य करणीय कार्य में मेरे द्वारा कोई प्रमाद हुआ हो तो मैं उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

आपकी तेतीस में से कोई एक भी आशातना की हो, आपके प्रति यत् किञ्चित् मिथ्याभाव आया हो या मिथ्या व्यवहार किया हो, मन में कोई बुरा विचार आया हो, वचन का दुष्प्रयोग किया हो, काया की दुष्प्रवृत्ति की हो, क्रोध, मान, माया और लोभ के आवेश में कोई अवाञ्छनीय व्यवहार किया हो, सर्वकाल में होने वाली सब मिथ्या उपचारों से युक्त, सब धर्मों का अतिक्रमण करने वाली कोई भी आशातना की हो, उसके विषय में जो मैंने अतिचार किया हो, हे क्षमाश्रमण ! मैं उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, निंदा करता हूँ, गद्दी करता हूँ, आशातना में प्रवृत्त अपने आपका व्युत्सर्ग करता हूँ ।

### ७. कृतिकर्म के प्रकार

दोओणयं अहाजायं किइक्कम्मं बारसावयं ।

चउसिरं तिमुत्तं च दुपवेसं एगनिक्कमणं ॥

(आवनि १२०२)

कृतिकर्म के पचीस प्रकार हैं—

१,२. अचनमन

३. यथाजात (अंजलिपुट को शिर से सटाकर कृतिकर्म करना)

४-१५. बारह आवर्त्त (सूत्रोच्चारणपूर्वक कायिक प्रवृत्ति) ।

१६-१९. चतुःशिर (शिर से चार बार अचनमन) ।

२०-२२. त्रिगुप्त (मनोगुप्त, वचनगुप्त तथा कायगुप्त) ।

२३, २४. द्विप्रवेश (अवग्रह में दो बार अनुज्ञापूर्वक प्रवेश) ।

२५. एक निष्क्रमण (अवग्रह में प्रथम प्रवेश के बाद किये जाने वाला निष्क्रमण) ।

कृतिकर्म : कब ? कितने ?

चत्तारि पडिक्कमणे किइक्कम्मा तिम्नि हुंति सज्झाए ।

पुव्वण्हे अवरण्हे किइक्कम्मा चउदस हवति ॥

गुरुं पुव्वसंभाए वंदित्ता आलोएइत्ति एयं एक्कं,

अब्भुट्ठियावसाणे जं पुणो वंदति गुरुं एयं बिइयं, ...

आयरियस्स अल्लिविज्जइ तं तइयं, पच्चक्खाणे चउत्थं ।

सज्झाए पुण वंदित्ता पट्ठवेइ पढमं, पट्टुविए पवेदयंतस्स

बितियं ... कालवेलाए वंदित्तं पडिक्कमइ, एयं तइयं ।

(आवनि १२०१ हावृ २ पृ ३५)

पूर्वाह्न में सात और अपराह्न में सात—इस प्रकार एक दिन में चौदह कृतिकर्म किए जाते हैं ।

प्रतिक्रमण के समय चार कृतिकर्म—

१. आलोचना के समय ।

२. क्षामणा के समय ।

३. आचार्य आदि के आश्रयण-निवेदन के समय ।

४. प्रत्याख्यान के समय ।

स्वाध्याय के समय तीन कृतिकर्म—

१. स्वाध्याय प्रस्थापन के समय ।

२. स्वाध्याय प्रवेदन के समय ।

३. स्वाध्याय के पश्चात् ।

(कृतिकर्म का विस्तृत वर्णन देखें—समवाओ १२।३ का टिप्पण)

### ८. वन्दना के दोष

अणाढियं च थद्धं च, पव्विद्धं परिपिडियं ।

टोलगइ अंकुसं चैव, तथा कच्छभरिगियं ॥

मच्छुव्वत्तं मणसा पउट्ठं, तह य वेइयावद्धं ।

भयसा चैव भयंतं, मित्ती गारवकारणा ॥

तेणियं पडिणियं चैव, रुट्ठं तज्जियमेव य ।

सद्धं च हीलियं चैव, तथा विपलिउंचियं ॥

दिट्टुमदिट्ठं च तथा, सिमं च करमोअणं ।  
आलिट्टुमणालिट्ठं, ऊणं उत्तरचूलियं ॥  
मूयं च ढड्ढरं चैव, चुड्डलिं च अपच्छिमं ।  
वत्तीसदीसपरिसुद्धं, किड्कम्मं पउंजई ॥

**अणाहियं** नाम अणादरेण वंदति । **चद्धं** अट्टुहं अण्ण-  
तरेण मत्तो । **पविद्धं** वंदणं देतओ चैव उट्ठेत्ता  
णासति । **परिपिडितं** भणति एत्तं भे सव्वस्स चैव  
कालप्पगतस्स वंदणं, अहवा न वोच्छण्णे आवत्ते वंज-  
णाणि वा करेति, पिडलओ वा जाहओ वंदति, संकुयओ  
उप्पीलणसंपीलणाए वा वंदति । **टोलगति** टोलो जथा  
उट्ठेत्ता अण्णमण्णस्स मूलं जाति । अंकुसो दुविहो, मूले  
गंडस्स रयहरणं गहाय भणति—निवेस जा ते वंदामि,  
अहवा दोहिवि हत्थेहि अंकुसं जथा गहाय भणति—  
वंदामि । **कच्छभरिगियं** एककं वंदित्ता अण्णस्स मूलं रिगतो  
जाति, ततोवि अण्णस्स मूलं जाति । **मच्छुद्धत्तं** एककं  
वंदित्तुं छड्डति वितिएण पासेति परियत्तति रेचका-  
वर्तेन । **मणसा पट्टुट्ठं**, सो हीणो केणति, ताहे हियएण  
चित्तेति—एतेण एवमतेण वंदाविज्जामि, अण्णं वा  
किंचि पओसं वहति । **वेदिषावद्धं** नाम तं पंचविहं—  
उर्वारि जाणुणाणं हत्थे निवेसित्तुं वंदति हेट्ठा वा  
जानूकाणं एगं वा जाणुं अंतो दोहं हत्थाणं करेति  
उच्छेगे वा हत्थे कातूणं वंदति । **भयसा** भएण  
वंदति, मा निच्छुब्धिहामि संघातो कुलाओ गणाओ  
गच्छाओ खेत्ताओत्ति । **भयंतं** नाम भयति अम्हाणं अम्हेवि  
पडिभयामोत्ति । **मेत्तीए** स मम मित्तोत्ति, अहवा मेत्ति  
तेण समं काउं मग्गंति । **गारवा** नाम जाणंतु ता ममं  
जहेस सामायारीकुसलोत्ति । **कारणं** नाम सुत्तं वा अत्थं  
वा वत्थं वा पोत्थगं वा दाहितित्ति कज्जनिमित्तं  
वंदति । **तेणियं** नाम जदि दीसति तो वंदति । अहवा  
न दीसति अंधकारो वा ताहे न वंदति । **पडिणीयं**  
नाम सण्णभूमं पधाइयं वंदति भोत्तुकामं पट्टितं वा  
भणति—भट्टारगा अवस्स वंदितव्वगा । **रुट्ठं** रुट्ठं  
नाम रोसिओ केणति तो धम्मधंतेण हियएण वंदति ।  
**त्तज्जित्तं** नाम भणति—अम्हे तुमं वंदामो, तुमं पुण न  
वाहिज्जसि न वा पसीदसि जथा थूओ, अंगुलिमादीहिं वा  
तज्जेतौ वंदति । **सद्धं** हट्टस्समत्थो निद्धम्मत्तेण रज्जु-  
गोज्जं करेति, संघसं करोतीत्यर्थः । **होलितं** नमेमि  
वायगा वंदित्तुं गणी महत्तरगा जेट्टुज्ज एवमादि । **पलि-  
कचित्तं** नाम वंदतो देसरायजणपदविकहाओ करेति ।

**दिट्टुमदिट्ठं** नाम एवं सिग्धं वंदति जथा केणइ दिट्टो  
केणइ न दिट्टो । **सिमं** नाम सीसे एगेण पासेण वंदति  
अहवा अण्णेहिं साधूहिं समं संगेण जह वा तह वा  
वंदति । **करो** नाम एसोवि राणओ करो जह वतह व  
समाणेतव्वओ, वेट्टी एसा न निज्जरत्ति मंणति । **मोयणं**  
नाम न अन्नहा मोक्खो, एतेण पुण दिग्णेण मुच्चामित्ति  
वंदति । **आलिट्टुमणालिट्ठं** रयहरणे य निडाले य किंचि  
आलभति किंचि नालभति, एत्थ चउभंगो, सीसे आलिट्ठं  
रयहरणे आलिट्ठं, पढमो सुद्धो । **ऊणं** वंजणेहिं आवस्स-  
एहिं वा । **उत्तरचूलिया** नाम एतेहिं वंजणेहिं आवस्सएहिं  
वंदित्ता भणति—मत्थएण वंदामित्ति । **मूयं** नाम  
मूयो वंदति न किंचि वि उच्चारेति । महता सट्टेण  
**ढड्ढरं** । **चुडली** नाम चुडलं जथा रयहरणं गहाय वंदति,  
अहवा दिग्धं हत्थं पसारेति, भणति—वंदामि, अहवा  
हत्थं ममाडेति, सब्बे भे वंदामित्ति ।

(आवनि १२०७-१२११ चू २ पृ ४२-४४)

**कृतिकर्म के ३२ दोष हैं—**

१. अनादृत—अनादरपूर्वक वन्दना करना ।
२. स्तब्ध—गर्व से उद्धत हो वन्दना करना ।
३. प्रविद्ध—वन्दना करते-करते बीच में ही भाग जाना ।
४. परिपिडित—१. कालगत सभी भुक्तियों को भेरी  
वंदना, यह कहते हुए वन्दना करना । २. आवर्त का  
विच्छेदन होने पर भी स्तुति करते हुए वन्दना  
करना । ३. घुटनों का स्पर्श करते हुए वन्दना  
करना । ४. भुक्तकर घुटनों का उत्पीडन-संपीडन  
करते हुए वन्दना करना ।
५. टोलगति—ऊंट जैसे उठकर एक-दूसरे के पास  
चला जाता है, वैसे इधर-उधर जाते हुए वन्दना  
करना अथवा टिड्डी की तरह फुदक-फुदक कर  
वंदना करना ।
६. अंकुश—१. रजोहरण को हाथ में लेकर कहना—  
यहां बैठो, मैं तुम्हें वन्दना करता हूं, ऐसा कहकर  
वंदना करना । २. दोनों हाथों से अंकुश की भांति  
रजोहरण को पकड़कर वन्दना करना ।
७. कच्छभरिगित—कछुए की भांति रेंगते हुए वन्दना  
करना ।
८. मत्स्योद्वर्त—एक को वन्दन कर मत्स्य की भांति  
शीघ्रता से दूसरे भुक्ति को पार्श्व परिवर्तन कर  
रेचकावर्त की मुद्रा में वन्दन करना ।

९. मनसा प्रदुष्ट—मन से दूसरे को हीन मानकर असूया से वन्दन करना अथवा 'इसको मैं एकान्त में वन्दन करूँगा' ऐसा सोचना ।
१०. वेदिकाबद्ध—१. घुटनों पर हाथ रखकर वंदन करना । २. घुटनों के नीचे हाथ रखकर वंदन करना । ३. घुटनों के पार्श्व में हाथ रखकर वंदन करना । ४. गोद में हाथों को रखकर वंदन करना । ५. एक घुटने को दोनों हाथों के बीच रखकर वंदन करना ।
११. भय—संघ, कुल, गण, गच्छ तथा क्षेत्र से मुझे कोई निकाल न दे—इस भय से वन्दन करना ।
१२. भजत्—यह मेरा भक्त है, इस दृष्टि से वन्दन करना ।
१३. मैत्री—यह मेरा मित्र है अथवा मैं इसके साथ मित्रता करूँ—यह सोचकर वन्दन करना ।
१४. गौरव—गौरव के लिए वन्दन करना—यह सोचना कि ये मुझे जानें कि मैं सामाचारी कुशल हूँ ।
१५. कारण—यह मुझे सूत्र, अर्थ, वस्त्र, पुस्तक देगा—इस प्रयोजनवश वंदन करना ।
१६. स्तैन्य—१. अपने आपको गुप्त रखकर चोर की भांति वन्दन करना । २. यदि देखता है तो वन्दन करता है, अंध-कार के कारण नहीं देखता है तो वन्दन नहीं करता ।
१७. प्रत्यनीक—गुरुओं को संज्ञाभूमि में जाते समय या आहार करते समय वंदन करना ।
१८. श्लेष—क्रोधावेश में वंदन करना ।
१९. तर्जित—१. तुम पत्थर की मूर्ति की भांति न प्रसन्न होते हो और न क्रुद्ध होते हो—इस प्रकार तर्जना करते हुए वन्दन करना । २. अंगुली से तर्जना करते हुए वन्दन करना ।
२०. शठ—१. शठता से वन्दन करना । २. रोगी होने का बहाना कर सम्यक् वन्दन न करना ।
२१. हीलित—तिरस्कार करते हुए वन्दन करना ।
२२. पलिकुचित—वन्दना करते हुए विकथा करना ।
२३. दुष्टादृष्ट—१. आचार्य आदि के न देखने अथवा अकार का व्यवधान होने पर वन्दन करना ।

२. किसी ने देखा या किसी ने नहीं देखा, इस प्रकार शीघ्रता से वन्दन करना ।

२४. शृंग—१. मस्तक के एक पार्श्व से वन्दन करना । २. अनेक साधुओं के साथ जैसे-तैसे वन्दन करना ।
  २५. राजकर—वन्दना को ऋण मानकर, वेठ मानकर वन्दन करना, निर्जरा मानकर नहीं ।
  २६. मोचन—वन्दना किए बिना मोक्ष नहीं मिलता—यह मानकर वन्दन करना ।
  २७. आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट—इसके चार विकल्प हैं—  
१. हाथों से रजोहरण पकड़ हाथों को शिर पर लगाना ।  
२. केवल रजोहरण पकड़ना, शिर पर नहीं लगाना ।  
३. हाथों को शिर पर लगाना, रजोहरण को नहीं ।  
४. न रजोहरण को हाथों से पकड़ना, न शिर पर लगाना । पहला भंग प्रशस्त है शेष अप्रशस्त ।
  २८. न्यून—व्यंजन और 'आवश्यकों' से न्यून ।
  २९. उत्तरचूडा—वन्दन कर 'मस्तक से वंदना करता हूँ' इस प्रकार उच्च स्वर से बोलना ।
  ३०. मूक—आलापकों का अनुच्चारण करते हुए वंदन करना ।
  ३१. ढड्डर—उच्च स्वर से आलापकों को बोलते हुए वंदन करना ।
  ३२. चुडली—किनारे से रजोहरण को पकड़कर, अलात की भांति घुमाते हुए वंदन करना । अथवा हाथ को लंबा पसारकर वंदन करना अथवा हाथों को घुमाते हुए 'सबको वंदना करता हूँ' कहते हुए वंदन करना ।
- ६. वन्दना का विवेक**
- वक्त्रित्पराहुते अ पमत्ते मा कया हु वंदिज्जा ।  
आहारं च करितो नीहारं वा जइ करेइ ॥  
पसंते आसणत्थे य, उवसंते उवट्टिए ।  
अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजए ॥  
(आवनि ११९८, ११९९)  
मुनि पीठ पीछे से, कलांत और अनुपशांत अवस्था में तथा आहार-नीहार के समय वन्दना न करे ।  
मेधावी भुनि अनुज्ञा प्राप्त कर कृतिकर्म का प्रयोग

तब करे, जब वन्दनीय व्यक्ति प्रशान्त हो, आसन पर बैठा हो, उपशान्त हो, उपस्थित हो—वन्दना करवाने की स्थिति में हो ।

### १०. वंदना के विशेष प्रसंग

पडिकमणे सज्भाए काउसगावराहपाहुणए ।  
आलोयणसंवरणे उत्तमट्ठे य वंदणयं ॥  
(आवनि १२००)

- ० प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग के समय ।
  - ० आशातना-विराधना होने पर ।
  - ० ज्येष्ठ अतिथि साधु के आगमन पर ।
  - ० आलोचना, प्रत्याख्यान और अतश्न के समय ।
- इन विशेष प्रसंगों में वंदना का विधान है ।

### ११. वन्दना का प्रयोजन और परिणाम

णो इहलोगट्टताए वंदेज्जा, नो परलोगट्टताए, नो कित्तिवणणसइसिलोगट्टताए नणत्थ निज्जरट्टताए ।  
विसेसओ नीयागोत्तकमखवणट्टताए अट्टविहंपि माणं निहणिऊणं ।  
(आवचू २ पृ ३९)

सीसेण पदे पदे संवेगमावज्जंतेणं नीयागोत्तखवणट्टताए अगोत्तस्स य ठाणस्स फलं हितदए कातूण वंदणमं कातव्वं ।  
(आवचू २ पृ ४९)

व्यक्ति गुरुजनों को ऐहिक प्रयोजन के लिए वन्दना न करे, पारलौकिक प्रयोजन के लिए वन्दना न करे और न कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक की प्राप्ति के लिए वन्दना करे । वह केवल निर्जरा के लिए तथा विशेष रूप से आठ प्रकार के मद का परिहार कर नीच-गोत्र कर्म की क्षीणता के लिए वंदना करे । संवेग रस से परिपूर्ण हो गोत्रातीत अवस्था की प्राप्ति के लिए पुनः पुनः वन्दना करे ।

वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चगोयं निबंघइ ।  
सोहृग्गं च णं अप्पडिह्वयं आणाफलं निव्वस्सेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ।  
(उ २९।११)

वंदना से जीव नीच-कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करता है, उच्च कुल में उत्पन्न करने वाले कर्म का अर्जन करता है । जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें वंसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त करता है ।

विणओवयार माणस्स भंजणा पुयणा गुरुजणस्स ।  
तित्थयराण य आणा सुअधम्माराहणाऽकिरिया ॥  
(आवनि १२१५)

वन्दना की छह निष्पत्तियां—

१. विनय की आराधना ४. अर्हत् आज्ञा का पालन
२. अहंकार का नाश ५. श्रुतधर्म की आराधना
३. गुरुजनों की पूजा ६. मोक्ष की प्राप्ति ।

किइकम्मं च पसंसा संविग्गजणंमि निज्जरट्टाए ।  
जे जे विरईठाणा ते ते उववूहिया हंति ॥  
(आवनि ११९४)

शुद्ध साधु को वंदना करने और उसकी प्रशंसा करने से निर्जरा होती है । इससे विरतिस्थानों को प्रोत्साहन मिलता है ।

वर्गणा—सजातीय वस्तुसमूह ।

१. वर्गणा का अर्थ
२. वर्गणा के भेदों का प्रयोजन : कुविकर्ण का दृष्टांत
३. वर्गणा के प्रकार
४. द्रव्यवर्गणा
  - ० द्रव्यवर्गणा के प्रकार
५. द्रव्यवर्गणा : गुरुलघु और अगुरुलघु
६. अन्य द्रव्यवर्गणाएं
  - ध्रुव-अध्रुव आवि वर्गणाएं
७. अचित्तमहास्कधवर्गणा
८. क्षेत्रवर्गणा
९. कालवर्गणा
१०. मात्रवर्गणा

### १. वर्गणा का अर्थ

सजातीयवस्तुसमुदायो वर्गणा, समूहो वर्गः राशिः इति पर्यायाः ।  
(विभामवृ १ पृ २७८)

सजातीय वस्तुओं के समुदाय का नाम वर्गणा है । समूह, वर्ग और राशि इसके पर्याय हैं ।

### २. वर्गणा के भेदों का प्रयोजन : कुविकर्ण का दृष्टांत

कुइयण्णगोविसेसोवलखणोवम्मओ विणेयाणं ।  
दध्वाइवग्गणाहि पोगलकायं पयंसंति ॥  
(विभा ६३२)

कुड्यष्णमाहावइस्स अणेगा गोउलाण वग्गा । तेसि पुण वग्गाण एक्केक्को वग्गो पिहूपिहं रवखगाण दिण्णी । ततो तेसि एवभूमिए चरंताणं अण्णवग्गमिलणेणं अति-बहुलत्तणेण य गोणीणं ते गोवाला असंजाणंता मम एसा ण एसा तुड्ढंति परोप्परओ भंडणं कुव्वंति । तेसि च भंडणपमाएणं ताओ गोणीओ सीहवग्गाईहि खज्जंति, दुग्गविसमेसु य पडियाओ भज्जंति मरंति य । ततो तेण कुड्यष्णेण एतं दोसं णाऊण तेसि गोवालाणं असंमोह-णिमित्तं एगो कालियाणं वग्गो कओ, एगो नीलियाणं, एगो लोहियाणं, एगो सुक्किलियाणं, एगो सबलाणं वग्गो कतो । एवं सिंगाकिइविसेसेऽवि काउं पिहूपिहं समप्पिया । पच्छा ते गोवा ण संमुच्छंति ण वा कलहंति । एवं आयरिओ सिस्साणुग्गह्णिमित्तं इमाओ चउव्विहाओ वग्गणाओ दंसेति । (आवचू १ पृ ४४, ४५)

कुविकर्ण (कुचिकर्ण) नामक गृहपति के पास अनेक गोकुल थे । उसने गोकुल को अनेक वर्गों में विभक्त कर प्रत्येक वर्ग के संरक्षण के लिए पृथक्-पृथक् र्वालों की नियुक्ति की । वे सभी अपने-अपने गोवर्ग को एक ही चरागाह में चराने के लिए ले जाते । विभिन्न गोवर्ग की गाएं परस्पर मिल जातीं । गायों की संख्या अधिक होने के कारण वे चरवाहे 'यह गाय मेरी है, तुम्हारी नहीं है,' इस प्रकार आपस में कलह करने लग जाते । उनके इस कलह के कारण गायों के संरक्षण में प्रमाद होता और उस प्रमाद के कारण सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु गायों को मार डालते अथवा उचित संरक्षण के अभाव में गायें विषम दुर्गों में, खाइयों में गिरकर अंगविहीन हो जातीं या मर जातीं । कुविकर्ण गृहपति को जब यह ज्ञात हुआ, तब उसने उन चरवाहों की असंमूढ़ता के लिए रंगों के आधार पर गायों को बांटकर, भिन्न-भिन्न रंग की गायों के अलग अलग गोवर्ग कर दिये । काली, नीली, लाल, श्वेत और चितकबरी गायें - इस प्रकार समूचे गोकुल को उसने पांच वर्गों में विभक्त कर दिया । उसने गायों के सींगों की आकृतियों को चिह्नित कर चरवाहों को पृथक्-पृथक् सौंप दिया । अब वे चरवाहे अपनी गायों को पहचानने में समूढ़ नहीं होते, कलह नहीं करते ।

इसी प्रकार आचार्य भी शिष्यों पर अनुग्रह कर पुद्गलास्तिकाय की सही पहचान कराने के लिए पुद्गल-वर्गणाओं के द्रव्यवर्गणा आदि चार प्रकार निदिष्ट करते हैं ।

### ३. वर्गणा के प्रकार

वर्गणाः सामान्यतश्चतुर्विधा भवन्ति, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । (आवमवृ प ५७)

सामान्य रूप से वर्गणा के चार प्रकार हैं—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः ।

### ४. द्रव्यवर्गणा

एगा परमाणूणं एगुत्तरवड्ढिया तओ कमसो । संखेज्जपएसणं, संखेज्जा वग्गणा होति ॥ ततो संखाईआसंखाइय्यपएससमाणाणं । ततो पुणो अणंताऽणंतपएसण गंतुणं ॥

(विभा ६३३, ६३४)

समस्त लोकाकाश के प्रदेशों पर अवस्थित एकाकी परमाणुओं की एक वर्गणा है । द्विप्रदेशी स्कन्धों की एक वर्गणा है । त्रिप्रदेशी स्कन्धों की एक वर्गणा है । इस प्रकार क्रमशः एक-एक परमाणु की एकोत्तर वृद्धि होने पर संख्यात प्रदेशी स्कन्धों की संख्येय वर्गणाएं हैं । इनमें एक-एक परमाणु की एकोत्तर वृद्धि होने पर असंख्यात प्रदेशी स्कन्धों की असंख्येय और अनंतप्रदेशी स्कन्धों की अनंत वर्गणाएं हैं ।

### द्रव्यवर्गणा के प्रकार

ओरालविउव्वाहारतेअभासाणपाणमणकम्मे ।

अह दव्ववग्गणाणं, कमो..... ॥

(आवनि ३९)

द्रव्यवर्गणा के आठ प्रकार हैं—

- |                   |                         |
|-------------------|-------------------------|
| १. औदारिक वर्गणा  | ५. भाषा वर्गणा          |
| २. वैक्रिय वर्गणा | ६. श्वासीच्छ्वास वर्गणा |
| ३. आहारक वर्गणा   | ७. मनोवर्गणा            |
| ४. तैजस वर्गणा    | ८. कामेण वर्गणा ।       |

### औदारिक शरीर वर्गणा

अणंताणंतपदेसिया खंधा एक्कुत्तरियाए परिवुड्ढीए अणंतं वारे गुणिया ताहे ओरालियसरीरस्स एगा गहण-पाउग्गा दव्ववग्गणा भवति, तावरुविमेत्तेहि खंधेहि ओरालियसरीरं णिप्फज्जति । (आवचू १ पृ ४६)

अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धों में एक-एक प्रदेश की वृद्धि होने पर और उन्हें अनन्त बार गुणित करने पर औदारिक शरीर के ग्रहणप्रायोग्य एक द्रव्यवर्गणा होती है । मात्र उतने स्कन्धों से औदारिक शरीर निष्पन्न होता है ।

**वैक्रिय वर्गणा**

वेडविव्यसरीरं ओरालियसरीरातो जतिवि सुहुमयराणं दीसति तहावि तं बहुतरएहि परमाणुसंघायनिष्फण्णेहि खंधेहि निष्फज्जति । घणणिच्चियत्तणेण य ताओ ओरालिय-सरीराओ सिद्धिलखंधनिष्फण्णातो ।.....

जहा वडर सकातो पमाणातो अण्णेण त दुगुणपमाण-भेत्तेण सिद्धिलखंधनिष्फण्णेण फुट्टपत्थरादिणा दब्बेण सह तोलिज्जमाणं घणणिच्चियत्तणेण खंधाणं डहरयंपि दीसमाणं बहुतरायं तुलति । एवं वेडविव्यसरीरं सुहुमतारागंपि दीस-माणं ओरालियसरीरपाउग्गखंधेहितो बहुतरएहि परमाणु-संघायनिष्फण्णेहि खंधेहि निष्फज्जति ।

(आवचू १ पृ ४६, ४७)

यद्यपि वैक्रिय शरीर बहुत परमाणुस्कन्धों से निष्पन्न होता है फिर भी वह औदारिक शरीर से सूक्ष्म होता है । इसका निचय बहुत सघन होता है । औदारिक शरीर का पुद्गलनिचय शिथिल होता है—उसमें सघनता नहीं होती ।

एक वज्र को अपने प्रमाण से दुगुने प्रमाण वाले प्रस्तरखण्ड से तोलने पर वज्र का तोल अधिक होता है । वह सघन निचय वाले स्कन्धों से निर्मित होने के कारण छोटा दिखाई देता है । वैक्रिय शरीर के लिए भी यही नियम घटित होता है ।

ओरालियस्स गहणप्पाओग्गा वग्गणा अणंताओ ।  
अग्गहणप्पाओग्गा तस्सेव तओ अणंताओ ॥  
एवमजोग्गा जोग्गा पुणो अजोग्गा य वग्गणाणंता ।  
वेडविव्याइयाणं नेयं तिविगण्णमेक्केक्कं ॥

(विभा ६३५, ६३६)

औदारिक शरीर के ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाएं अनन्त हैं । उसके अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाएं उनसे भी अनन्त हैं ।

इसी प्रकार वैक्रिय आदि प्रत्येक वर्गणा के तीन-तीन विकल्प बनते हैं—

१. अयोग्य २. योग्य और पुनः ३. अयोग्य । ये वर्गणाएं अनन्त हैं ।

**५. द्रव्यवर्गणा : गुरुलघु और अगुरुलघु**

ओरालिअवेडविवअआहारएतेअ गुरुलहू दब्बा ।  
कम्मगमणभासाई, एआइ अगुरुलहुआई ॥

(आवनि ५१)

औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस—ये चार द्रव्यवर्गणाएं गुरुलघु हैं ।

कर्मण, मन, भाषा और आनापान—ये चार द्रव्यवर्गणाएं अगुरुलघु हैं ।

**६. अन्य द्रव्यवर्गणाएं**

कम्मोवरि ध्रुवेयरसुण्णेरवग्गणा अणंताओ ।

चउध्रुवणंतरतणुवग्गणा य मीसो तहाऽचित्तो ॥

(आवनि ४०)

कर्मवर्गणा के ग्रहण के अयोग्य, उससे अग्रवर्ती वर्गणाएं चौदह हैं—

१. ध्रुववर्गणा
२. अध्रुव वर्गणा
३. शून्यान्तर वर्गणा
४. अशून्यान्तर वर्गणा
- ५-८. चार ध्रुवानन्तर वर्गणाएं (प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ)
- ९-१२. चार तनुवर्गणाएं (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस)
१३. मिश्रस्कन्धवर्गणा
१४. अचित्तस्कन्धवर्गणा

कम्मस्स उवरित्ता अग्गहणपाउग्गा दब्बवग्गणा । ताओ एकुत्तरियातो अणंतातो दब्बवग्गणाओ गंता ताहे अणंताओ ध्रुववग्गणाओ भवन्ति । ताओऽवि एकुत्तरियाओ अणंताओ ध्रुवाओ गंता ताहे अणंताओ अद्भुववग्गणाओ भवन्ति । ताओऽवि एगुत्तरियाओ अणंताओ गंता ताहे अणंताओ सुन्नंतरवग्गणाओ भवन्ति । तातोऽवि एकुत्तरियातो अणंताओ गंता ताहे अणंतातो असुण्णंतरवग्गणातो भवन्ति । चत्तारि ध्रुवणंतराई चत्तारि सरीरवग्गणातो गंता एत्थ मीसयखंधो भवत्ति । पच्छा अचित्तमहाखंधो भवन्ति, एवमेयाओ दब्बवग्गणाओ भणियातो । (आवचू १ पृ ४७)

कर्मवर्गणा से आगे की वर्गणाएं ग्रहण के प्रायोग्य नहीं होतीं । उनमें एक परमाणु की वृद्धि होने पर जघन्य ध्रुववर्गणा होती है । इसी प्रकार एक-एक की वृद्धि होने पर अनंत ध्रुववर्गणाएं होती हैं । ध्रुव वर्गणाओं में एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर अनंत अध्रुव वर्गणाएं होती हैं । उनमें फिर एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर अनन्त अशून्यान्तर वर्गणाएं होती हैं । इसी क्रम से अचित्त महास्कन्ध वर्गणा पर्यंत ज्ञातव्य है ।

### ध्रुव-अध्रुव आदि वर्गणां

निच्चं होंति ध्रुवाओ इयरा लोए न होंति वि कयाइ ।  
 एकोत्तरवुड्डीए कयाइ सुणंतराओ वि ॥  
 जाओ हवति ताओ मुणंतरवग्गण ति भण्णति ।  
 निययं निरंतराओ होंति असुणंतरा उ त्ति ॥  
 ध्रुवणंतराइं चत्तारि जं ध्रुवाइं अणंतराइं च ।  
 भेयपरिमाणओ जा सरीरजोग्गत्तणाभिमुहा ॥  
 खंधदुग्गदेहजोग्गत्तणेण वा देहवग्गणाउ त्ति ।  
 सुहूमो दरगयवायरपरिणामो मीसयवखंधो ॥

(विभा ६३९-६४२)

ध्रुव वर्गणाएं सदा नियत होती हैं। अध्रुव वर्गणाएं कभी होती हैं, कभी नहीं भी होतीं। एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर शून्यान्तर वर्गणाएं होती हैं। ये निरंतर अनन्त रहती हैं, पर कभी-कभी परमाणुओं की वृद्धि में व्यवधान आ जाता है। इनमें एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर अशून्यान्तर वर्गणाएं होती हैं। ये लोक में निरंतर रहती हैं। इनके परमाणुओं की वृद्धि के क्रम में कभी व्यवधान नहीं आता है।

अशून्यान्तर वर्गणा के पश्चात् चार ध्रुवानन्तर वर्गणाएं हैं। ये ध्रुव (सर्वकालभाविनी) हैं, अनन्त हैं और इनमें निरन्तर एक-एक परमाणु की वृद्धि होती रहती है। इनका परिणमन अत्यन्त सूक्ष्म होता है और ये प्रचुर द्रव्यों से उपचित हैं, अतः ध्रुववर्गणाओं से भिन्न हैं।

चार ध्रुवानन्तर वर्गणाओं के पश्चात् एक-एक परमाणु की वृद्धि से युक्त अनन्त वर्गणात्मक चार तनुवर्गणाएं हैं। भेद और संघात के परिणमन के द्वारा ये औदारिक आदि चार शरीरों की योग्यता के अभिमुख होती हैं। अथवा जो मिश्र स्कन्ध और अचित्त स्कन्ध के देह-उपचय की योग्यता के अभिमुख वर्गणाएं हैं, वे तनुवर्गणाएं हैं।

### मिश्रस्कन्ध वर्गणा

जो सूक्ष्म परिणमन वाली है, किञ्चित् स्थूल परिणमन के अभिमुख है और अनन्त-अनन्त परमाणुओं से उपचित है, वह मिश्रस्कन्ध वर्गणा है।

### ७. अचित्तमहास्कन्धवर्गणा

केवलिसमुद्घातो इव समयट्टकपूरए य तियलोगं ।  
 अचियत्तमहाखंधो वेला इव अतर नियतो य ॥

अचित्तमहाखंधो सो लोगमेत्तो वीससापरिणामतो भवति । तिरियमसंखेज्जजोयणप्पमाणो संखेज्जजोयण-प्पमाणे वा अणियतकालोथाई वट्टो । उड्ढअधोचोहसर-ज्जुप्पमाणे सुहूमपोगगलपरिणामपरिणतो पढमसमए दंडो भवति, वितिए कवाडं ततिए मत्थंकरणे चउत्थे लोगपूरणं । पंचमादि समएसु पडिलोमसंथारे अट्टमए सव्वहा तस्स खंधत्तविणासो । एस जलनिहिंवेला इव लोगापूरणसंहार-करणठितो लोगपुग्गलाणुभावो सव्वण्णवयणतो सद्धेतो ।

(अनुचू पृ ३३, ३४)

अचित्तमहास्कन्ध केवलिसमुद्घात की तरह आठ समय में तीनों लोकों को आपूरित करता है। यह समुद्र-वेला की तरह दुस्तर, विशाल एवं नियत है।

वह अचित्तमहास्कन्ध लोकप्रमाण और स्वाभाविक परिणमन से होता है। तिरछे लोक में यह असंख्येय योजन प्रमाण अथवा संख्येय योजन प्रमाण में वृत्ताकार होता है। इसके होने का काल नियत नहीं है। ऊर्ध्वलोक और अधोलोक में यह चौदह रज्जु प्रमाण सूक्ष्म पुद्गल परिणाम में परिणत हो प्रथम समय में दण्डाकार होता है। दूसरे समय में कपाट और तीसरे समय में मंथान के आकार में होता है। चौथे समय में पूरे लोक में व्याप्त हो जाता है। अंतिम चार समयों में प्रतिलोम-क्रम से पांचवें समय में मंथान, छठे समय में कपाट, सातवें समय में दण्ड तथा आठवें समय में सर्वथा उस स्कन्ध का विनाश हो जाता है। वह समुद्र-ज्वार की तरह लोक को आपूरित करता है और फिर संकुचित हो जाता है। यह लोकवर्ती पुद्गलों का अनुभाव—सामर्थ्य है। यह सर्वज्ञ वचन से श्रद्धेय है।

जइणसमुग्घायगईए चउहिं समयेहिं पूरणं कुणइ ।  
 लोगस्स तेहिं चेव य संहरणं तस्स पडिलोमं ।  
 जइणसमुग्घायसचित्तकम्मपोगगलमयं महाखंधं ।  
 पइ तस्समाणुभावो होइ अचित्तो महाखंधो ॥

(विभा ६४३, ६४४)

अचित्तमहास्कन्ध अपनी स्वाभाविक परिणति से केवली समुद्घात की तरह चार समयों में लोक को आपूरित करता है। चार समयों में प्रतिलोम क्रम से उसका संहरण होता है।

केवलिसमुद्घात के समय कर्मपुद्गलमय महास्कंध जीव से अधिष्ठित होने के कारण सचित्त होता है। पुद्गलमय महास्कंध अचित्तमहास्कंध कहलाता है।

यह उस सचित महास्कन्ध के समान क्षेत्र, काल और अनुभाव वाला होता है।

चतुर्थे समये द्वावपि लोकक्षेत्रं व्याप्नुतः, अष्ट-सामयिकं च कालं द्वावपि तिष्ठतः वर्णपञ्चक-गन्धद्वय-रसपञ्चक-स्पर्शचतुष्टयलक्षणगुणयुक्तां च द्वावपि भवतः।  
(विभाभवृ पृ २८२)

अचित्तमहास्कन्ध और सचित्तमहास्कन्ध—दोनों का क्षेत्र है—संपूर्ण लोकाकाश—चतुर्थे समय में ये पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। दोनों का स्थितिकाल है—आठ समय। दोनों में पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और चार स्पर्श (शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष) होते हैं।

सर्व्वकोसपएसो एसो केई, न चायमेगंतो।

उवकोसपएसो जमवगाहटिडओ चउट्टाणो॥

अट्टप्फासो य जओ भणिओ, एसो य जं चउप्फासो।

अण्णे वि तओ पोग्गलभेया संति त्ति सट्ठेयं॥

(विभा ६४५, ६४६)

कुछ यह मानते हैं कि यह अचित्तमहास्कन्ध सर्वोत्कृष्ट संख्यक परमाणुओं से प्रचित है—यह कथन एकांत सत्य नहीं है, क्योंकि पणवणा में उत्कृष्टप्रदेशी स्कन्धों को अवगाहना और स्थिति की अपेक्षा से चतुःस्थानपतित बताया गया है। वहाँ उत्कृष्टस्कन्ध को अष्टस्पर्शी और और यहाँ अचित्तमहास्कन्ध को चतुःस्पर्शी कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि पुद्गलस्त्रिकाय इतना ही नहीं है। पुद्गल के अन्य भेद भी हैं, जो यहाँ संगृहीत नहीं हैं।

नेगम ववहाराणं आणुपुविदव्वाइं लोगस्स कतिभागे होज्जा ? .....एकदव्वं पडुच्च लोगस्स.....असंखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा, देसूणे लोए वा होज्जा। (अनु १६८)

महखंधापुन्नेवी अव्वत्तव्वगअणुपुविदव्वाइं।

अं देसोगाढाइं तद्देसेणं स लोमूणो॥

(अनुचू पृ ३२)

नंगम-व्यवहारनय सम्मत आनुपूर्वी द्रव्य देशोन (कुछ न्यून) लोक में व्याप्त होते हैं।

अचित्तमहास्कन्ध की अपेक्षा एक आनुपूर्वी द्रव्य पूरे लोक में व्याप्त होता है। यहाँ देशोन लोक कहने का तात्पर्य है कि लोक के देश—एक प्रदेश और द्विप्रदेश में अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्य रहते हैं। देश-लोक में उनकी प्रधानता की विवक्षा से आनुपूर्वी द्रव्य को देशोन लोक में अवगाह कहा गया है।

## ८. क्षेत्रवर्गणा

एगपएसोगाढाण वग्गणेगा पएसवुड्डीए।

संखेज्जोगाढाणं संखेज्जा वग्गणा तत्तो॥

तत्तो संखाईयाऽसंखाईयप्पएसमाणणं।

गंतुमसंखेज्जाओ जोग्गाओ कम्मणो भणिया॥

तत्तो संखाईया तस्सेव पुणो हवंतऽजोग्गाओ।

माणसदव्वाईण वि एवं तिविगप्पमेवकेवकं॥

(विभा ६४७-६४९)

- ० एक प्रदेश में अवगाह पुद्गलस्कन्धों की एक वर्गणा होती है। दो प्रदेशों में अवगाह पुद्गलस्कन्धों की एक वर्गणा है। इस प्रकार क्रमशः एक-एक प्रदेश की वृद्धि होने से संख्येय प्रदेशों में अवगाह पुद्गलस्कन्धों की संख्येय वर्गणाएं होती हैं।
- ० असंख्येय प्रदेशों में अवगाह पुद्गलस्कन्धों की असंख्येय वर्गणाएं होती हैं। असंख्येय प्रदेशों में अवगाह वर्गणाएं ही कर्म के योग्य होती हैं।
- ० कर्मवर्गणा के अवगाह क्षेत्र में एक-एक आकाश-प्रदेश की वृद्धि होने पर उनमें अवगाह वर्गणाएं कर्म के अग्रहण योग्य हो जाती हैं। मन के अग्रहण योग्य वर्गणाएं भी असंख्य हैं। इसी प्रकार आनापान, भाषा, तैजस, आहारक, वैक्रिय और औदारिक के अयोग्य, योग्य और अयोग्य वर्गणाओं के क्षेत्र की अपेक्षा से तीन-तीन विकल्प बनते हैं।

## ९. कालवर्गणा

एगा समयठिईणं संखेज्जा संखसमयठिइयाणं।

होति असंखेज्जाओ तत्तो असंखेज्जसमयाणं॥

(विभा ६५०)

एक समय की स्थिति वाले परमाणु स्कन्धों की एक वर्गणा होती है। एक-एक समय की वृद्धि होने से संख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गलों की संख्येय और असंख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गलों की असंख्येय वर्गणाएं होती हैं।

## १०. भाववर्गणा

एगा एगगुणाणं एगुत्तरवुड्ढिया तओ कमसो।

संखेज्जगुणाण तओ संखेज्जा वग्गणा होति॥

संखाईयगुणाणं संखाईया य वग्गणा तत्तो।

होति अणंतगुणाणं दव्वाणं वग्गणाऽणंता॥



वर्ण-रस-गंध-फासाण ह्येति वीसं समासभेएणं ।

गुरुलहृ-अगुरुलहृणं बायर-सुहृमाण दो वर्णा ॥

(विभा ६५१-६५३)

एक गुण (वर्ण, गंध, रस, स्पर्श) वाले परमाणुओं और स्कंधों की एक वर्गणा होती है। एक-एक गुण की वृद्धि होने पर संख्येय गुण वाले द्रव्यों की संख्येय वर्गणाएं, असंख्येय गुण वाले द्रव्यों की असंख्येय वर्गणाएं और अनन्त गुण वाले द्रव्यों की अनन्त वर्गणाएं होती हैं।

संक्षेप में भाव वर्गणा के बीस प्रकार हैं—पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श—इनमें से प्रत्येक की एक गुण वाले द्रव्य की एक वर्गणा यावत् अनन्त गुण वाले द्रव्यों की अनन्त वर्गणाएं हैं।

गुरुलघुपर्याय वाले स्थूलपरिणामी द्रव्यों की एक वर्गणा है। अगुरुलघुपर्याय वाले सूक्ष्मपरिणामी द्रव्यों की एक वर्गणा है। इस प्रकार इन दो वर्गों में संपूर्ण पुद्गलास्तिकाय का समावेश हो जाता है।

**वर्धमान** अवधिज्ञान का एक प्रकार जो उत्पत्तिकाल से क्रमशः बढ़ता जाता है।

**वस्त्र**—कपास आदि के तंतुओं से निर्मित पट।

(द्र. सूत्र)

**वाचना**—पढ़ाना, सूत्र व अर्थ प्रदान करना।

स्वाध्याय का एक भेद। (द्र. स्वाध्याय)

**वाचनाचार्य**—वाचना देने वाले आचार्य या उपाध्याय। (द्र. आचार्य)

**वाद**—मत, दर्शन।

१. क्रियावाद

२. अक्रियावाद

३. विनयवाद

४. अज्ञानवाद

५. ज्ञानवाद

६. ज्ञान-क्रियावाद

◦ अंघ और पंगु का दृष्टान्त

◦ मार्गज्ञ, नर्तकी और तैराक का दृष्टान्त

◦ कूर्म का दृष्टान्त

◦ दीपक का दृष्टान्त

१. क्रियावाद—

क्रिया—अस्ति जीव इत्यादिरूपां सदनुष्ठानात्मिकां वा। (उशावृ प ४४७)

क्रियावाद का अर्थ है—आत्मा के अस्तित्व का स्वीकरण और सत् अनुष्ठान का आचरण।

क्रियावादिनो नाम येषामात्मनोऽस्तित्वं प्रत्यविप्रतिपत्तिः, किन्तु स विभुरविभुः कर्त्ताऽकर्त्ता क्रियावानितरो मूर्त्तिमानमूर्त्तिरित्येवमाद्याग्रहोपहृतप्रीतयस्ते।

(उशावृ प ४४३)

क्रियावादी आत्मा का अस्तित्व मानते हैं। किन्तु वह व्यापक है या अव्यापक, कर्त्ता है या अकर्त्ता, क्रियावान् है या अक्रियावान्, मूर्त्त है या अमूर्त्त—इसमें उन्हें विप्रतिपत्ति रहती है।

(क्रियावादी जीव का अस्तित्व मानते हैं। उसका अस्तित्व मानने पर भी वे उसके विषय में एकमत नहीं हैं। कुछ जीव को सर्वव्यापी मानते हैं, कुछ उसे अ-सर्व-व्यापी मानते हैं। कुछ मूर्त्त मानते हैं, कुछ अमूर्त्त। कुछ उसे अंगुष्ठ जितना मानते हैं और कुछ श्यामाक तंदुल जितना। क्रियावाद के चार फलित होते हैं—१. आस्तिकवाद २. सम्यग्वाद ३. पुनर्जन्मवाद ४. कर्मवाद। देखें—सूयगडो १।१२।१ का टिप्पण)

२. अक्रियावाद

ये पुनरिहाक्रियावादिनस्तेषामात्मव नास्ति, न चावक्तव्यः शरीरेण सहैकत्वान्यत्वे प्रति, उत्पत्त्यनन्तर-प्रलयस्वभावको वा, तस्मिन्ननिर्णयते च कर्त्तृत्वादि-विशेषमूढा एव।...अक्रियां नास्त्यात्मेत्यादिकां मिथ्या-दृक्परिकल्पिततदनुष्ठानरूपां वा।

(उशावृ प ४४३, ४४७)

जो आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते वे अक्रियावादी हैं। कई अक्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं परन्तु “आत्मा का शरीर के साथ एकत्व है या अन्यत्व—यह नहीं कहा जा सकता”—ऐसा मानते हैं। कई अक्रियावादी आत्मा की उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका प्रलय मानते हैं।

अक्रियावाद का एक अर्थ है—मिथ्यादृष्टि द्वारा परिकल्पित अनुष्ठान।

(नास्ति के आधार पर अक्रियावाद की व्याख्या के चार फलित हैं—१. आत्मा का अस्वीकार। २. आत्मा के कर्त्तृत्व का अस्वीकार। ३. कर्म का अस्वीकार। ४. पुनर्जन्म का अस्वीकार। अक्रियावादी को

नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ, नास्तिकदृष्टि कहा गया है ।  
देखें—सूयगडो १।१२।१ का टिप्पण)

### ३. विनयवाद

वैनयिकवादिनो नाम येषां सुरासुरनृपतपस्वि-  
करितुरगहरिण-गोमहिष्यजाविकश्व-शृगालजलचरकपोत-  
काकौलूकचटकप्रभृतिभ्यो नमस्कारकरणात् क्लेशनाशो-  
ऽभिप्रेतो विनयाच्छ्रेयो भवति नान्यथेत्यध्यवसिताः ।

(उशावृ प ४४४)

जो विनय से ही मुक्ति मानते हैं, वे विनयवादी हैं ।  
उनकी मान्यता है कि देव, दानव, राजा, तपस्वी, हाथी,  
घोड़ा, हरिण, गाय, भैंस, शृगाल आदि को नमस्कार  
करने से क्लेश का नाश होता है । विनय से कल्याण  
होता है, अन्यथा नहीं ।

(विनयवाद का मूल आधार है—विनय । विनय-  
वादियों का अभिमत है कि सबके प्रति विनम्र होना  
चाहिए । विनयवादियों के बत्तीस प्रकार निर्दिष्ट हैं—  
देवता, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, कृपण, माता, पिता—  
इन आठों का मन से, वचन से, काया से और दान से  
विनय करना । देखें—सूयगडो १।१२।१ का टिप्पण)

### ४. अज्ञानवाद

अज्ञानवादिनस्त्वाहुः—अपवर्गं प्रत्यनुपयोगित्वात्  
ज्ञानस्य । केवलं कष्टं तप एवानुष्ठेयं, न हि कष्टं  
विनेष्टसिद्धिः ।

(उशावृ प ४४४)

जो अज्ञान से ही सिद्धि मानते हैं, वे अज्ञानवादी  
हैं । उनकी दृष्टि में ज्ञान स्वर्ग की प्राप्ति में अनुपयोगी  
और अकिञ्चत्कर है । केवल कष्टप्रद तप का ही  
अनुष्ठान करना चाहिए । कष्ट के बिना इष्टसिद्धि नहीं  
होती ।

(अज्ञानवाद का आधार है—अज्ञान । अज्ञानवाद में  
दो प्रकार की विचारधाराएं संकलित हैं । कुछ अज्ञान-  
वादी आत्मा के होने में संदेह करते हैं । उनका मत है,  
आत्मा है तो भी उसे जानने से क्या लाभ ? दूसरी  
विचारधारा के अनुसार ज्ञान सब समस्याओं का मूल है,  
अतः अज्ञान ही श्रेयस्कर है । देखें—सूयगडो १।१२।१  
का टिप्पण)

क्रियावाद के १८०, अक्रियावाद के ८४, अज्ञानवाद  
के ६७ तथा विनयवाद के ३२—इस प्रकार प्रावादुकों  
के ३६३ भेद हैं । (देखें—नन्दीहावृ पृ ७७-७९)

### ५. ज्ञानवाद

इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खाय पावगं ।  
आयरियं विदित्तानं, सब्बदुक्खा विमुच्चई ॥  
भणता अकरेन्ता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।  
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं ॥  
न चित्ता तायए भासा, कओ विज्जाणुसासणं ?  
विसन्ना पावकम्भेहि, बाला पंडियमाण्णिणो ॥

(उ ६।८-१०)

इस संसार में कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पापों का  
त्याग किए बिना ही आचार को जानने मात्र से जीव  
सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

‘ज्ञान से ही मोक्ष होता है’ जो ऐसा कहते हैं, पर  
उसके लिए कोई क्रिया नहीं करते, वे केवल बन्ध और  
मोक्ष के सिद्धान्त की स्थापना करने वाले हैं, केवल वाणी  
की वीरता से अपने आपको आश्वासन देने वाले हैं ।

विविध भाषाएं त्राण नहीं होतीं । विद्या का अनुशासन  
भी कहां त्राण देता है ? (जो इनको त्राण मानते हैं, वे)  
अपने आपको पंडित मानने वाले अज्ञानी मनुष्य प्रायः  
कर्मों द्वारा विषाद को प्राप्त हो रहे हैं ।

### ६. ज्ञान-क्रियावाद

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सब्बसंजए ।  
अन्नाणी कि काही, कि वा नाहिइ छेय-पावगं ॥  
(द ४।१०)

पहले ज्ञान फिर दया—इस प्रकार सब मुनि स्थित  
होते हैं । अज्ञानी क्या करेगा ? वह क्या जानेगा—क्या  
श्रेय है और क्या अश्रेय ?

जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।  
एवं खु नाणी चरणेण हीणी,

नाणस्स भागी न हु सोगईए ॥  
हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ॥  
पासतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥  
(आवनि १००, १०१)

चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार का  
भागी होता है, चन्दन की सुगन्ध का नहीं । उसी प्रकार  
चरित्रहीन ज्ञानी केवल ज्ञान लेता है, सद्गति को प्राप्त  
नहीं कर सकता ।

आचारहीन ज्ञान पंगु है और ज्ञानहीन आचार  
अंधा है । पंगु आग को देखता हुआ भी जल जाता है

और अंधा दौड़ता हुआ भी आग की चपेट में आ जाता है।

### अंध और पंगु का दृष्टांत

एगमि महाणगरदाहे अंधलगपंगुलगा दो अणाहा ।  
णगरजणे जलणसंभमुभंतलोयणे पलायमाणे पंगुलओ  
गमणकिरियाऽभावातो जाणंतोऽवि पलायणमग्गं कमागतेण  
अग्गिणा दड्ढो, अंधोऽवि गमणकिरियाजुत्तो पलायण-  
मग्गमजाणंतो तुरितं जलणतेण मंतुं अग्गिभरियाए  
खाणीए पडिऊण दड्ढो । (आवचू १ पृ ९६)

एक महानगर में आग लग गई। वहाँ दो अनाथ व्यक्ति रहते थे। एक पंगु और दूसरा अंधा। अग्नि से भयभीत हुए नागरिक जन अपने-अपने बचाव के लिए दौड़ने लगे। पंगु व्यक्ति उन्हें दौड़ते हुए देख रहा था, पर वह दौड़ने में असमर्थ था। वह बचाव का रास्ता जानता था, पर पंगु होने के कारण चल नहीं सका। वह आग में जल गया। अंधा व्यक्ति दौड़ता हुआ अग्निकुंड में जा गिरा। वह बचाव का मार्ग देख नहीं पा रहा था।

एगमि रन्ने राजभएण णगराओ उव्वसिय लोगो  
ठितो । पुणोवि धाडिभएण पवहणाणि उज्झिय पलाओ ।  
तत्थ दुवे अणाहप्पाया अंधो पंगु य उज्झिता । लोगग्गिणा  
य वणदवो लगो । ते य भीता ! अंधो छुट्टकच्छो अग्गि-  
तेण पलायति । पंगुणा भणितं—अंधा ! मा इतो नास ।  
णणु इतोप्पेव अग्गि । सो आह—कतो पुण गच्छामि ?  
पंगु भणति—अहं मग्गदेसणासमस्सो पंगु । ता मं खंधे  
करेहि जेण अहिकंठकजलणादिअवाए पग्गिहरावेतो सुहं  
णगरं पावेमि । तेण तहत्ति पडिवज्जितं । अणुट्ठितं  
पंगुवयणं । गता य खेमेण दोवि णगरं ।

(आवचू १ पृ ९६)

कुछ लोग राजभय से नगर छोड़ जंगल में जाकर रहने लगे। वहाँ एक बार डकैतों ने हमला किया। डकैतों के भय से वे अरण्यवासी अपने वाहनों को छोड़कर जान बचाने के लिए भागे। दो अनाथ व्यक्ति वहीं रह गए। जंगल में लोगों द्वारा आग जलाई गई थी। हवा के योग से उसने दावानल का रूप ले लिया। वे दोनों भयभीत हुए। अंधा व्यक्ति जंगल को छोड़कर अग्नि की ओर दौड़ा। पंगु ने कहा—ओ अंधे ! इधर मत जाओ। आगे अग्नि है। अंधे ने पूछा—तो फिर मैं किधर

जाऊँ ? मैं तुम्हें दूर तक मार्ग दिखाने में समर्थ हूँ, किन्तु मैं पंगु हूँ, इसलिए तुम मुझे अपने कंधे पर बिठाओ। मैं सर्प, कांटे, अग्नि आदि सभी बाधाओं से दूर रखते हुए सुखपूर्वक तुम्हें नगर में पहुंचा दूंगा। अंधे ने पंगु के प्रस्ताव को स्वीकार किया। उसने पंगु को अपने कंधे पर बिठाया। पंगु के पास दृष्टि थी और अंधे के पास पैर थे। दोनों मिलकर कुशलता से नगर में पहुंच गए।

संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, न ह्य एगचक्केण रहो पयाइ ।  
अंधो य पंगु य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥  
णाणं पयासगं, सोहगो तवो संजमो य गुत्तिकरो ।  
तिण्हंपि समाजोणे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥  
(आवनि १०२, १०३)

दो का संयोग मिलने पर ही कार्य की निष्पत्ति होती है। एक चक्के से रथ नहीं चलता। जंगल में अंधा और पंगु मिल गए तो परस्पर के सहयोग से नगर में प्रविष्ट हो गए।

ज्ञान प्रकाश देता है। तप शोधन करता है और संयम निरोध करता है। इन तीनों का सम्यक् योग होने पर ही मोक्ष होता है।

### मार्गज्ञ, नर्तकी और तैराक का दृष्टांत

नाण सविसयनिययं न नाणमित्तेण कज्जनित्फत्ती ।  
मग्गणू दिट्ठंतो होइ सच्चिट्ठो अच्चिट्ठो य ॥  
आउज्जनट्टकुसलावि नट्टिया तं जणं न तोसेइ ।  
जोमं अजुंजमाणी निदं खिसं च सा लहइ ॥  
जाणंतोऽवि य तरितं काइयजोगं न जुंजइ नईए ।  
सो वुज्झइ सोएणं एवं नाणी चरणहीणो ॥  
(आवनि ११४३, ११४४, ११४६)

ज्ञान का अपना निश्चित विषय है। उसकी सीमा है। मात्र ज्ञान से कार्य निष्पन्न नहीं होता। दृष्टांत की भाषा में कहा गया—मार्ग को जानने वाला यदि सचेष्ट है तो वह लक्ष्य तक पहुंच जाता है और यदि सचेष्ट नहीं है तो एक चरण भी आगे नहीं बढ़ पाता।

वाद्यकला और नृत्यकला में कुशल नर्तकी जब तक नृत्य नहीं करती, तब तक वह लोगों को संतुष्ट नहीं कर सकती। अपितु वह निंदा और अवहेलना को ही प्राप्त होती है।

तैरने की विद्या को जानता हुआ तैराक यदि तैरने के लिए नदी में अपने हाथ-पांव नहीं फीलाता है तो वह प्रवाह में बह जाता है, वैसे ही चरित्रहीन ज्ञानी पुरुष लक्ष्य को नहीं पा सकता ।

### कूर्म का दृष्टान्त

आहृष्णाणी कुम्भो पुणो निमज्जेज्ज न उ मतं नाणी ।  
सक्किरियापरिहीणो बुद्धइ नाणी जहन्नाणी ॥  
नेच्छइयनयमएण वा, अन्नाणी चेव सो मुणंतो वि ।  
नाणफलाभावाओ कुम्भो व निबुद्धइ भवोहे ॥  
(विभा ११५०, ११५१)

जैसे अज्ञानी कछुआ जल में डूब जाता है, वैसे ही सत्क्रिया से परिहीन ज्ञानी मनुष्य भी भवसागर में डूब जाता है ।

ज्ञान का फल है—आचार—क्रिया । जो जानता हुआ भी क्रिया नहीं करता, वह अज्ञानी है—यह निश्चय नय का अभिमत है ।

### दीपक का दृष्टान्त

असहायमसोहिकरं नाणमिह पगासमेत्तभावाओ ।  
सोहेइ धरकयारं जह सुपगासो वि न पईवो ॥  
न य सब्बविसोहिकरी किरिया वि जमपगासधम्मा सा ।  
जह न तमोगेहमलं नरकिरिया सब्बहा हरइ ॥  
दीवाइपयासं पुण सक्किरियाए विसोहियकयारं ।  
संवरियकयारागमदारं सुद्धं धरं होइ ॥  
तह नाणदीवविमलं तवकिरियासुद्धकम्मयकयारं ।  
संजमसंवरियमुहं जीवघरं होइ सुविसुद्धं ॥  
(विभा ११७०-११७३)

प्रकाशवान् प्रदीप घर की शुद्धि नहीं कर सकता, वैसे ही मात्र प्रकाश स्वभाव वाला अकेला ज्ञान आत्म-शोधन नहीं कर सकता । घर में अंधेरा होने पर केवल परिमार्जन की क्रिया से शुद्धि नहीं हो सकती, वैसे ही अप्रकाशधर्मा क्रिया मात्र से आत्मशोधन सम्भव नहीं है ।

दीपक का प्रकाश हो, परिमार्जन की क्रिया हो और रजकण आने के द्वार बंद हों तो घर पूर्णतः शुद्ध हो जाता है । इसी प्रकार ज्ञानदीप प्रज्वलित हो, तप अनुष्ठान से संचित कर्ममल क्षीण हो और संयम से नये कर्मप्रवेश के द्वार संवृत हों तो आत्मगृह की पूर्ण शोध होती है । (तप और संयम चारित्र के ही दो रूप हैं ।)

निच्छयमवलंबता निच्छयओ निच्छयं अणायंता ।  
नासंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केइ ॥

केचिदिदं चाङ्गीकुर्वन्ति यदुत परिशुद्धपरिणाम एव प्रधानो नतु बाह्यक्रिया, एतच्च नाङ्गीकर्त्तव्यं, यतः परिणाम एव बाह्यक्रियारहितः शुद्धो न भवतीति, ततश्च निश्चयव्यवहारमतमुभयरूपमेवाङ्गीकर्त्तव्यमिति ।

(ओनि ७६१ वृ प २२२)

कुछ ऐसा मानते हैं कि 'मोक्षमार्ग' में शुद्ध परिणाम ही प्रधान है, वैयावृत्त्य आदि बाह्य क्रियाएं आवश्यक नहीं हैं । यह कथन ठीक नहीं है । बाह्य क्रियारहित होने मात्र से परिणाम शुद्ध नहीं होते । निश्चयनय और व्यवहार-नय—इन दोनों का अवलम्बन अपेक्षित है । केवल निश्चयनय का अवलम्बन लेकर बाह्यकरण में आलसी बने हुए मुनि अपने चारित्र को नष्ट कर देते हैं । वे वस्तुतः निश्चय को नहीं जानते ।

वायुकाय—वे जीव जिनका वायु ही है शरीर ।  
जीवनिकाय का चौथा भेद ।

(द्र. जीवनिकाय)

वासुदेव—अर्धभरतक्षेत्र (तीन खंड) के अधिपति,  
बलदेव के छोटे भाई ।

१. वासुदेव-बलदेव : एक परिचय
२. वासुदेव का वर्ण, निदान आदि
३. वासुदेव का बल
४. त्रिपृष्ठ वासुदेव

- |                            |   |                  |
|----------------------------|---|------------------|
| * वासुदेव-चक्रवर्ती कव ?   | } | (द्र. चक्रवर्ती) |
| वासुदेव का क्रम            |   |                  |
| * वासुदेव-बलदेव : एक लब्धि |   | (द्र. लब्धि)     |
| * वासुदेव-बलदेव : भव्य     |   | (द्र. लब्धि)     |

### १. वासुदेव-बलदेव : एक परिचय

नाम

तिविट्ठू अ दिविट्ठू सयंभू पुरिसुत्तमे पुरिससीहे ।  
तह पुरिसपुंडरीए दत्ते नारायणे कण्हे ॥  
अयले विजये भदे सुप्पभे अ सुदंसणे ।  
आणंदे णंदणे पउमे रामे आवि अपन्धिम्हे ॥  
(भावभा ४०, ४१)

## अवगाहना

पढमो धणूणसीई सत्तरि सट्टी अ पण्ण पणयाला ।  
अउणत्तीसं च धणू छव्वीसा सोलस दसेव ॥

## भोज

बलदेववासुदेवा अट्ठेव हवन्ति गोयमसमुत्ता ।  
नारायणपउमा पुण कासवमुत्ता मुणेअव्वा ॥

## आयुष्य

चउरासीई विसत्तरि सट्टी तीसा य दस य लकखाईं ।  
पण्णट्ठि सहस्साईं छप्पण्णा बारसेगं च ॥  
पंचासीई पण्णत्तरी अ पण्णट्ठि पंचवण्णा य ।  
सत्तरस सयसहस्सा पंचमए आउअं होइ ॥  
पंचासीइ सहस्सा पण्णट्टी तह य चेव पण्णरस ।  
बारस सयाईं आउं बलदेवाणं जहासंखं ॥

## नगर

पोअण बारवइत्तिगं अस्सपुरं तह य होइ चककपुरं ।  
वाणारसि रायगिहं अपच्छिमो जाओ महुराए ॥

## माता

मिगावई उमा चेव पुहवी सीआ य अम्मया ।  
लच्छीमई सेसमई केगमई देवई इअ ॥  
भइ सुभइा सुप्पभ सुदंसणा विजय वेजयंती अ ।  
तह य जयंती अपराजिआ य तह रोहिणी चेव ॥

## पिता

हवई पयावइ बंधो रुदो सोमो सिवो महसिवो अ ।  
अग्गिसिहे अ दसरहे नवमे भणिए अ वसुदेवे ॥

## गति

एगो अ सत्तमाए पंच य छट्टीए पंचमो एगो ।  
एगो अ चउत्थीए कण्हो पुण तच्चपुढवीए ॥  
अट्ठंतगडा रामा एगो पुण बंभलोमकप्पंमि ।  
उववण्णु तओ चइउं सिज्जिभस्सइ भारहे वासे ॥  
(आवनि ४०२-४११, ४१३, ४१४)

## प्रतिवासुदेव

आसग्गीवे तारय मेरय महुकेडवे निसुंभे अ ।  
बलि पहराए तह रावणे अ नवमे जरासंधू ॥  
(आवभा ४२)

## २. वासुदेव का वर्ण, निदान आदि

वण्णेण वासुदेवा सव्वे नीला बला य सुक्किलया ।...  
परिआओ पव्वज्जाअभावाओ नत्थि वासुदेवाणं ।  
होइ बलाणं सो पुण पढमणुओमाओ णायडवो ॥

## वासुदेव-बलदेव : एक परिवचय

नाम	वासुदेव	नगर	माता	वासुदेव	पिता	भोज	अवगाहना	आयुष्य	बलदेव	गति	प्रतिवासुदेव	
१. अचल	त्रिपुठ	पोतनपुर	भद्रा	भुगावती	प्रजापति	गौतम	८० धनुष्य	८४ लाख	८४ लाख	मोक्ष	सातवीं नरक	अश्वपीव
२. विजय	द्विपुठ	द्वारवती	सुभद्रा	उमा	ब्रह्मवरा	"	७० "	७२ "	७२ "	"	छट्टी नरक	तारक
३. भद्र	स्वयंभू	"	सुप्रभा	पृथ्वी	रुद्र	"	६० "	६५ "	६० "	"	"	मेरक
४. सुप्रभ	पुरुषोत्तम	"	सुदर्शना	सीता	सोमवत्त	"	५० "	५५ "	३० "	"	"	समुकैटभ
५. सुदर्शन	पुरुषसिंह	अश्वपुर	विजया	अम्बिका	शिव	"	४५ "	१७ "	१० "	"	"	निसुंभ
६. आनन्द	पुरुषपुंडरीक	चक्रपुर	वैजयंती	लक्ष्मीवती	महाशिव	"	२९ "	६५ हजार	६५ हजार	"	"	बलि
७. नंदन	वत्स	वाराणसी	जयंती	शेषवती	अग्निंसिंह	"	२६ "	६५ "	५६ "	"	"	पाचवीं नरक
८. पद्म	नारायण	राजगृह	अपराजिता	कैकयी	दशरथ	काश्यप	१६ "	१५ "	१२ "	"	"	रावण
९. राम	कृष्ण	मथुरा	रोहिणी	देवकी	वसुदेव	गौतम	१० "	१२००	१	"	ब्रह्मलोक	तीसरी

अणिआणकडा रामा सव्वेऽपि अ केसवा निआणकडा ।  
उड्ढंगामी रामा केसव सव्वे अहोगामी ॥  
वासुदेवाः सप्तरत्नाधिपाः अर्द्धभरतप्रभवः ।

(आवनि ४०२, ४१२, ४१५, मवृ प ७९)

सभी वासुदेव नील वर्ण वाले और सभी बलदेव श्वेत वर्ण वाले होते हैं ।

वासुदेव सात रत्नों के स्वामी और अर्धभरतक्षेत्र (तीन खंड) के अधिपति होते हैं । वे प्रव्रज्या स्वीकार नहीं करते । सभी वासुदेव निदान करते हैं और अधोगति में जाते हैं ।

सभी बलदेव प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं । वे निदान नहीं करते और ऊर्ध्वगति (स्वर्ग या मोक्ष) में जाते हैं ।

### ३. वासुदेव का बल

सोलस सयसहस्सा सव्वबलेण तु संकलनिबद्धं ।  
अच्छंति वासुदेवं अगडतडम्मी ठियं संतं ॥  
घेत्तूण संकलं सो वामगहत्थेण अंछमाणाणं ।  
भुंजिज्ज विलिपिज्ज व महुमहणं ते न चाएति ॥

(आवनि ७१, ७२)

वासुदेव वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम के कारण अतिशय बलसम्पन्न होते हैं । सोलह हजार राजा अपनी चतुरगिणी सेना के साथ होने पर भी कूपतट पर स्थित, सांकल से बद्ध वासुदेव को खींच नहीं सकते । वासुदेव सांकल को पकड़कर अपने बायें हाथ से उन्हें खींच सकते हैं ।

(वासुदेव में चक्रवर्ती की अपेक्षा आधा—२० लाख अष्टापद जितना बल होता है ।)

### ४. त्रिपृष्ठ वासुदेव

सो य विस्सभूती अणगारो...तत्थंतरा सो सूत्तियाए गावीए सोल्लितो पडिततो...सो णियाणं करेत्ति, जदि इमस्स तवनि यमबंभचेरस्स अत्थि फलं तो आगमेस्साणं अपरिमियबलो भवामि, ताहे सो तत्थ अणालोइयपडिक्कतो महासुक्के उववन्नो ।.....महासुक्कातो चुतो तीसे मिगावतीए कुच्छिसि उववन्नो, सत्त सुविणा दिट्ठा, सुविण-पाढएहि पढमवासुदेवो आदिट्ठो, कालेण जातो, तित्ति पिट्ठकरंडगा तेण से तिबिट्ठूत्ति णामं कतं ।

(आवचू १ पृ २३१, २३२)

राजा विश्वभूति मुनि पर्याय में जब गाय के धक्के से गिर पड़ा तब उसने निदान किया—यदि मेरी तपस्या, नियम और ब्रह्मचर्य का फल हो तो भवान्तर में मैं अभित बल वाला होऊँ । उसने आलोचना और प्रतिक्रमण नहीं किया । वह महाशुक्र कल्प में उत्पन्न हुआ । वहाँ से च्यवकर वह रानी भृगावती की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । रानी ने सात स्वप्न देखे । स्वप्नपाठकों ने उसे प्रथम वासुदेव घोषित किया । तीन पृष्ठकरण्डक होने से उसका नाम त्रिपृष्ठ रखा गया ।

त्रिपृष्ठ : महावीर का अठारहवाँ भव (द्र. तीर्थकर)

(शेष वासुदेवों के निदान आदि से संबंधित विवरण के लिए देखें—समवाओ पइण्णगसमवाओ सूत्र २३८-२४७ तथा उनके टिप्पण)

वासुपूज्य—बारहवें तीर्थकर । (द्र. तीर्थकर)

विकृति—दूध, दही आदि पदार्थ ।

(द्र. रसपरित्याग)

विद्या—देवी-अधिष्ठित मंत्र । (द्र. मंत्रविद्या)

विनय—विनम्रता । आचार । शिक्षा ।

१. विनय का निर्वचन

२. विनय का स्वरूप

३. विनय के सात प्रकार

- ० ज्ञान विनय
- ० दर्शन विनय
- ० चारित्र विनय
- ० मन-वचन विनय
- ० काय विनय
- ० औपचारिक विनय

४. विनय के अन्य प्रकार

५. मोक्ष विनय

- ० प्रतिरूपयोग विनय
- ० अनाशातना विनय

६. विनय की निष्पत्ति

- \* विनयसमाधि (द्र. समाधि)
- \* विनय : तप का एक भेद (द्र. तप)
- \* विनीत शिष्य के गुण (द्र. शिष्य)
- \* विनीत : शिक्षा का अधिकारी (द्र. शिक्षा)

## १. विनय का निर्वचन

जम्हा विणयइ कम्मं अट्टविहं चातुरंतमुक्खाए ।

तम्हा उ वयति विऊ विणजत्ति विलीनसंसारो ॥

(आवनि १२१७)

विनीयते—अपनीयतेऽनेन कर्मैति विनयः ।

(उशावृ प १६)

जो आठ प्रकार के कर्मों का विनयन—अपनयन करता है, वह विनय है ।

## २. विनय का स्वरूप

अब्भुट्टाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।

गुरुभक्तिभावमुस्सूसा, विणओ एस वियाहियो ॥

(उ ३०।३२)

अभ्युत्थान, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय कहलाता है ।

विणओवयार माणस्स भंजणा पूयणा गुरुजणस्स ।

तित्थयराण य आणा सुयधम्माराहणा किरिया ॥

(विभा ३४६९)

विनयोपचार, निरभिमानता, गुरुजनपूजा, अर्हत्-आज्ञा और श्रुतधर्म की आराधना—ये सभी क्रियाएं विनय हैं ।

## ३. विनय के सात प्रकार

विणयो सत्तविहो, तं जहा—नाणविणओ दंसण-विणओ चरित्तविणओ मणविणओ वत्तिविणओ कायविणओ ओवयारियविणओ ।

(दअचू पृ १४)

विनय के सात प्रकार हैं—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, मनविनय, वचनविनय, कायविनय और औपचारिकविनय ।

### ज्ञान विनय

जस्स पंचसु वि नाणेषु भत्ती बहुमाणो वा, जे वा एएहि भावा दिट्ठा तेषु सद्दहणं ति नाणविणतो ।

(दअचू पृ १४)

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पांच ज्ञानों के प्रति भक्ति-बहुमान के भाव रखना ज्ञान विनय है । अथवा जिन्होंने इन ज्ञानों के माध्यम से भावों को देखा है—तत्त्व को जाना है, उन ज्ञानियों के प्रति श्रद्धाभाव रखना ज्ञान विनय है ।

### दर्शन विनय

दंसणविणतो दुविधो, तं जहा—सुस्सूसाविणतो अणासायणाविणओ य ।

(दअचू पृ १५)

दर्शनविनय के दो प्रकार हैं—शुश्रूषाविनय और अनाशातनाविनय ।

### शुश्रूषा विनय

सुस्सूसाविणतो अणेगप्पमारो, तं जहा—सक्कार-विणतो सम्माणविणतो अब्भुट्टाणविणतो आसणाभिग्गहो आसणाणुप्पदाणं कित्तिकम्मं अंजलिपग्गहो एतस्स अणु-गच्छणता ठितस्स पज्जुवासणया गच्छंतस्स अणुव्वयणं ।

(दअचू पृ १५)

शुश्रूषा विनय के अनेक प्रकार हैं—सत्कारविनय (वस्त्र आदि देना), सम्मानविनय (स्तुति करना), अभ्युत्थानविनय, आसन अभिग्रहण का अनुरोध, आसन देना, कृतिकर्म/वन्दना करना, हाथ जोड़ना, आगन्तुक के सम्मुख जाना, बैठ जाने पर उसकी पर्युपासना करना, पहुंचाने जाना... ।

### अनाशातना विनय

अणासायणाविणतो पण्णरसविधो, तं जहा—अर-हंताणं अणासायणा, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अणासायणा, एवं आयरियाणं उव्वज्जायाणं थेर-कुल-गण-संघ-संभोगस्स अणासातणा, किरियाए अणासायणा । आभिणिबोहिय-नाणस्स अणासायणा जाव केवलनाणस्स अणासायणा । एतेसि पण्णरसण्हं कारणणं एक्केक्कं तिविहं, तं जहा—अरहंताणं भत्ती अरहंताणं बहुमाणो अरहंताणं वण्ण-संजलणता, एवं जाव केवलनाणं पि तिविहं । सब्बे वि एते भेदा पंचचत्तालीसं ।

(दअचू पृ १५)

अनाशातना विनय के पन्द्रह प्रकार हैं—अर्हत्, अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, संभोज, क्रियावाद (आस्तिक), मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—इनकी आशातना न करना अनाशातना विनय है ।

अर्हत्-अनाशातना के तीन प्रकार हैं—१. भक्ति करना २. बहुमान करना ३. वर्णसंज्वलन (गुणोत्कीर्तन) करना । इसी प्रकार प्रत्येक के साथ तीन का गुणन करने पर (१५×३) अनाशातना विनय के पैंतालीस भेद होते हैं ।

### चारित्र विनय

चरित्तविणतो, सो पंचविहो, तं जहा—सामायिय-

चरित्तविणतो एवं छेदोपस्थापनीयचरित्तविणतो परिहार-  
विमुद्धिगचरित्तविणतो सुहृमसंपरागचरित्तविणतो अध-  
न्धायचरित्तविणतो । एतैसि पंचहं चरित्तानं को  
विणतो ? भण्णति—पंचविधस्स वि चरित्तस्स जा सद्-  
हणता सद्दहियस्स य काएण फासणया विहिणा य  
परूवणया एस चरित्तविणयो । (दअचू पृ १५)

चारित्रविनय के पांच प्रकार हैं—

१. सामायिकचारित्रविनय ।
२. छेदोपस्थापनीयचारित्रविनय ।
३. परिहारविशुद्धिचारित्रविनय ।
४. सूक्ष्मसम्परायचारित्रविनय ।
५. यथाख्यातचारित्रविनय ।

प्रश्न होता है कि चारित्र का कैसा विनय ?  
समाधान में कहा है—चारित्र के प्रति सम्यक् श्रद्धा,  
उसकी सम्यक् अनुपालना और उसकी विधिपूर्वक प्ररूपणा  
—यही चारित्र का विनय है ।

#### मन-वचन विनय

मणविणयो—आयरियादिसु अकुसलमणवज्जणं  
कुसलमणउदीरणं च । एवं वायाविणओ वि ।  
(दअचू पृ १५)

आचार्य, उपाध्याय आदि के प्रति अकुशल मन  
(दुश्चिन्तन) का वर्जन और उनके प्रति कुशल मन का  
प्रवर्तन (आदररूपद भावधारा) मन विनय है आचार्य  
आदि के प्रति अकुशल वचन का वर्जन एवं कुशल वचन  
का प्रयोग करना वचन विनय है ।

#### काय विनय

कायविणतो—तेसि चेवाऽऽयरियादीणं अट्ठाण-  
वायणात्तिपरिसंताणं सीसादारब्भ जाव पादतला पयत्तेण  
विस्सामणं । (दअचू पृ १५)

आचार्य आदि जब गमनागमन अथवा वाचना देने  
से परिश्रान्त हो जाएं तो उन्हें सिर से पैर तक चांपना  
कायविनय है ।

#### औषचारिक विनय

ओवयारियविणतो सत्तविहो, तं जहा—सदा आय-  
रियाण अग्भासे अच्छणं, छंदाणुवत्तणं, कारिणनिमित्त-  
करणं, कतपडिकतिता, दुवखस्स गवेसणं, देसकालण्णुया,  
सव्वत्थेसु अणुलोमया । (दअचू पृ १५)

लोकोपचार विनय के सात प्रकार हैं—

१. अभ्यासवृत्तिता—सदा आचार्य के समीप रहना ।

२. छन्दानुवृत्तिता—आचार्य के अभिप्राय का अनुवर्तन  
करना ।

३. कार्यनिमित्तकरण—कार्य की सिद्धि के लिए अनुकूल  
वर्तन करना, आचार्य में चैतसिक प्रसन्नता उत्पन्न  
करना ।

४. कृतप्रतिक्रिया—कृत उपकार के प्रति अनुकूल वर्तन  
करना ।

५. दुःख की गवेषणा—आर्त्त की गवेषणा करना ।

६. देशकालज्ञता—देश और काल को समझना ।

७. सर्वार्थ-अनुलोमता—सब प्रकार के प्रयोजनों की  
सिद्धि के लिए अनुकूल वर्तन करना ।

#### ४. विनय के अन्य प्रकार

विणए दुविहे—गहणविणए, आसेवणाविणए ।

(दजिचू पृ ३०१)

विनय के दो प्रकार हैं—

१. ग्रहणविनय—ज्ञानात्मक विनय ।

२. आसेवनाविनय—क्रियात्मक विनय ।

लोमोवयारविणयो अत्यणिमित्तं च कामहेउं च ।  
भयविणय मोक्खविणयो विणयो खलु पंचहा होइ ॥  
(दनि २११)

विनय (अनुवर्तन) के पांच प्रकार हैं—

१. लोकोपचारविनय—अनुशासन, श्रुश्रूषा और शिष्टा-  
चार पालन ।

२. अर्थविनय—अर्थ के लिए अनुवर्तन करना ।

३. कामविनय—काम के लिए अनुवर्तन करना ।

४. भयविनय—भय के लिए अनुवर्तन करना ।

५. मोक्षविनय—मोक्ष के लिए अनुवर्तन करना ।

अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं च अतिधिपूया य ।

लोमोवयारविणयो देवतपूया य विभवेणं ॥

अग्भासवित्ति छदाणुवत्तणं देस-कालदाणं च ।

अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं च अत्थकत्ते ॥

एमेव कामविणयो भवे य णेयव्वो आणुपुब्बीए ।

(दनि २१२-२१४)

लोकोपचारविनय पांच प्रकार से किया जाता है—

१. अभ्युत्थान २. अञ्जलिकरण ३. आसनदान ४. अतिधि-  
पूजा और ५. देवपूजा ।

अर्थ की प्राप्ति के लिए छह प्रकार से विनय किया  
जाता है—१. अभ्यासवृत्तिता २. छन्दानुवर्तन ३. देश-  
कालदान ४. अभ्युत्थान ५. अञ्जलिकरण ६. आसनदान ।



इसी प्रकार काम और भय के निमित्त भी इन छह प्रकारों में विनय किया जाता है।

(धन के लिए राजा आदि के पास रहना, उनके अभिप्राय को समझना, अपेक्षा होने पर धन आदि से उनका सहयोग करना अर्थविनय है। काम के निमित्त स्त्री आदि के पास रहना, मधुर वचनों से उसे आश्वस्त करना, वस्त्र आदि देना कामविनय है। दास, भूतक आदि भय से अपने स्वामी के पास रहते हैं, उनकी आज्ञा का अनुवर्तन करते हैं—यह भयविनय है। देखें—दजिचू पृ २९५, २९६)

### ६. मोक्ष विनय

दंसण नाण चरित्ते तवे य तह ओवयारिए चेव ।  
 एसो उ मोक्खविणयो पंचविहो होइ णायव्वो ॥  
 दव्वाण सव्वभावा उवदिट्ठा जे जहा जिणवरेहि ।  
 ते तह सद्दहति णरो दंसणविणयो भवति तम्हा ॥  
 नाणं सिक्खति नाणं मुणेति णाणेण कुणति किच्चाणि ।  
 नाणी णवं ण बंधति नाणविणीयो भवति तम्हा ॥  
 अट्ठविधं कम्मचयं जम्हा रिक्तं करेति जयमाणो ।  
 णवमण्णं च ण बंधति चरित्तविणयो भवति तम्हा ॥  
 अवणेति तवेण तमं उवणेति य मोक्खमग्गमप्पाणं ।  
 तवणियमणिच्छित्तमती तवोविणयो भवति तम्हा ॥  
 अध ओवगारिओ पुण दुविधो विणओ समासतो होति ।  
 पडिरूवजोगजुंजणओऽणच्चासातणाविणओ ॥  
 (दनि २१५-२२०)

मोक्षविनय के पांच प्रकार हैं—

१. दर्शनविनय—जिनप्रवचन में श्रद्धा।
२. ज्ञानविनय—ज्ञानपदों को सीखना, उनका अभ्यास करना, नये कर्मों का बंधन करना।
३. चारित्र्यविनय—अष्टविध कर्मोपचय से रिक्त होना तथा नये कर्मों का बंधन करना।
४. तपविनय—अवशन आदि बारह प्रकार के तप से अज्ञान आदि रूप तम को क्षीण कर मोक्ष के निकट पहुंचना।
५. उपचारविनय—गुरु आदि का सत्कार-बहुमान करना।  
 उपचारविनय के दो प्रकार हैं—१. प्रतिरूपयोग-विनय २. अनाशातनाविनय।

### प्रतिरूपयोगविनय

पडिरूवो खलु विणयो कायियजोगे य वाय माणसिओ ।  
 अट्ठ चउव्विहं दुविहो परूवणा तस्सिमा होति ॥

अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं अभिग्गहं कित्ती य ।  
 सुस्सुसणं मणुगच्छणं संसाधणं काय अट्ठविहो ॥  
 हितं मितं अकरुसभासी अणुवीतिभासि वायियो विणओ ।  
 अकुसलमणोनिरोहो कुसलमणउदीरणा चेव ॥  
 (दनि २२१-२२३)

प्रतिरूपयोगविनय के तीन प्रकार हैं—

१. कायिक विनय—अभ्युत्थान, अञ्जलिकरण, आसन-दान, अभियह, कृतिकर्म, शुश्रूषा, अनुगमन और संसाधन (पहुंचाने जाना)।
२. वाचिक विनय—हित, मित, अपरुष और विमर्श-पूर्वक बोलना।
३. मानसिक विनय—अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन।

पडिरूवो खलु विणयो पराणुवत्तीपरो मुणेयव्वो ।  
 अप्पडिरूवो विणयो णायव्वो केवलीणं तु ॥  
 (दनि २२४)

छद्मस्थ के प्रतिरूपविनय होता है, क्योंकि वे परानुवृत्तिपरायण होते हैं। केवली के अप्रतिरूपविनय होता है।

### अनाशातनाविनय

तित्थकरं सिद्धं कुलं गणं संघं किरियं धम्मं नाणं नाणीणं ।  
 आयरियं शेरुवज्झायं गणीणं तेरसं पदाणि ॥  
 अणसातणा य भत्ती बहुमाणो तहं य वण्णसंजलणा ।  
 तित्थगरादी तेरसं चतुग्गुणा होंति वावण्णा ॥  
 (दनि २२६-२२७)

अनाशातनाविनय के बावन प्रकार हैं—

अनाशातना, भक्ति, बहुमान और वर्ण-संज्वलन—  
 इन चार प्रकारों से अर्हत्तों का विनय होता है। इसी प्रकार सिद्ध, कुल, गण, संघ, क्रियावाद, धर्म, ज्ञान, ज्ञानी, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय एवं गणी—इन तेरह के साथ अनाशातना, भक्ति, बहुमान और वर्णसंज्वलन—  
 इन चारों का गुणन करने पर बावन प्रकार बनते हैं।

### ९. विनय की निष्पत्ति

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।

विणयाउ विष्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥

(आवनि १२१६)

विनय शासन (द्वादशाङ्ग) का मूल है। विनीत संयत होता है। जो विनय से शून्य है, उसके कहां धर्म और कहां तप ?

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो सो मोक्खो ।  
जेण किंत्ति सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिग्घच्छई ॥  
विणयं पि जो उवाएणं, चोइओ कुप्पई नरो ।  
दिव्वं सो सिरिमेज्जंत्ति, दंडेण पडिसेहए ॥

(द १।२।२,४)

धर्म का मूल है विनय (आचार) और उसका परम फल है मोक्ष । विनय के द्वारा मुनि कीर्ति, श्लाघनीय श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वों को प्राप्त करता है ।

विनय में उपाय के द्वारा भी प्रेरित करने पर जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डंडे से रोकता है ।

**विपुलमति**—मानसिक चिन्तन के पुद्गलों की विविध परिणतियों को विशेष रूप से जानने वाला ज्ञान ।

(द्र. मनःपर्यवज्ञान)

**विमल**—तेरहवें तीर्थंकर । (द्र. तीर्थंकर)

**विवेक**—अशुद्ध आहार आदि का परिष्ठापन । प्रायश्चित्त का चौथा प्रकार ।

(द्र. प्रायश्चित्त)

**वृद्धश्रावक**—तापसों का एक सम्प्रदाय ।

उस्सण्णं वुड्ढवत्ते पव्वयंत्ति त्ति तावसा वुड्ढा भण्णिता । सावगधम्मातो पसूयत्ति बंभणा बोहगत्ति भण्णिता । अण्णे भणंत्ति—वुड्ढा सावगा बंभणा इत्यर्थः ।

(अनुचू पृ १२)

वृद्धाः—तापसाः प्रथमसमुत्पन्नत्वात् प्रायो वृद्धकाल एव दीक्षाप्रतिपत्तेः । श्रावका धिग्वर्णाः । अन्ये तु वृद्धश्रावका इति व्याचक्षते धिग्वर्णा एव ।

(अनुहावृ पृ १७)

श्रावका—ब्राह्मणाः प्रथमं भरताविकाले श्रावकाणामेव सत्ता पश्चाद् ब्राह्मणत्वभावाद् ।

(अनुमवृ प २३)

वृद्धश्रावक शब्द में दो पद हैं—वृद्ध और श्रावक । वृद्ध का अर्थ है तापस और श्रावक का अर्थ है ब्राह्मण । भगवान् ऋषभ की प्रव्रज्या के बाद सबसे पहले तापसों की उत्पत्ति हुई, इसलिए वे वृद्ध कहलाये । अथवा तापस प्रायः वृद्धावस्था में संन्यास स्वीकार करते थे, इस कारण वे वृद्ध कहलाए ।

कुछ आचार्यों ने वृद्धश्रावक शब्द को एक ही पद मानकर ब्राह्मण का वाचक बतलाया है ।

सम्राट् भरत आदि के समय में जो श्रावक थे, वे कालान्तर में ब्राह्मण कहलाये ।

**वेदक सम्यक्त्व**—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व को उपलब्ध करते समय, अन्तिम समय में जब जीव सम्यक्त्व मोहनीय का प्रदेशोदय में वेदन करता है, उस समय प्राप्त होने वाला सम्यक्त्व ।

(द्र. सम्यक्त्व)

**वेदनीयकर्म**—सुख-दुःख के संवेदन का हेतुभूत कर्म ।

(द्र. कर्म)

**वैक्रिय शरीर**—विविध रूप करने में समर्थ शरीर ।

(द्र. शरीर)

**वेनयिको बुद्धि**—विनय—शिक्षा से उत्पन्न क्षमता ।

(द्र. बुद्धि)

**वैमानिक**—ज्योतिश्चक्र से असंख्य योजन की दूरी पर स्थित विमानों में उत्पन्न होने वाले देव ।

(द्र. देव)

**वैयावृत्य**—सेवा, शुश्रूषा ।

१. वैयावृत्य का स्वरूप

२. वैयावृत्य किनकी ?

३. वैयावृत्य की अर्हता

४. वैयावृत्य अप्रतिपाती

५. वैयावृत्य के उदाहरण

६. वैयावृत्य के परिणाम

\* वैयावृत्य : तप का एक भेद

(द्र. तप)

१. वैयावृत्य का स्वरूप

वैयावृत्तं वावडभावो तह धम्मसाहणणित्तं ।

अन्नाइयाण विहिणा संपाडणमेस भावत्थो ॥

(उशावृ प ६०९)

धर्मसाधना में सहयोग करने के लिए संयमी को शुद्ध आहार, औषध आदि लाकर देना तथा उसके अन्य कार्यों में व्यापृत होना वैयावृत्य है ।

आयरियमाइयम्मि य वेयावच्चम्मि दसविहे ।  
आसेक्कणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं ॥

(उ ३०।३३)

व्यावृतः—कुलादिकार्येषु व्यापारवास्तद्भावो  
वैयावृत्यम् । (उशावृ प ५९०)

दसविध वैयावृत्याहं मुनियों के वैयावृत्य में यथाशक्ति  
व्यापृत होना वैयावृत्य है ।

## २. वैयावृत्य किनकी ?

वेयावच्चं इमेसि दसण्हं—आयरियउवज्जायथेर-  
तवस्सिगिलाणसिक्खगसाहम्मियकुलगणसंघाणं ।

(दअचू पृ १५)

वैयावृत्याहं के दस भेद—आचार्य, उपाध्याय,  
स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, साधर्मिक, कुल, गण, संघ ।

## ३. वैयावृत्य की अर्हता

अलसं घसिरं सुविरं खमगं कोहमाणमायलोहिल्लं ।  
कोळ्हलपडिबद्धं वेयावच्चं न कारिज्जा ॥  
एयद्दोसविमुक्कं कडजोगिं नायसीलमायारं ।  
गुहभत्तिसविणीयं वेयावच्चं तु कारेज्जा ॥

(ओभा १३३, १३४)

जो व्यक्ति आलसी, बहुभोजी, ऊँघने वाला, तपस्वी,  
क्रोधी, अहंकारी, मायावी, लोभी, कुतूहलप्रिय और सूत्र-  
अर्थ में प्रतिबद्ध हो, उसे सेवाकार्य में नियोजित नहीं  
करना चाहिये ।

जो इन दोषों से मुक्त है, कृतयोगी—गीतार्थ है,  
शील और आचार को जानने वाला है, गुहभक्त है,  
बाह्य उपचार को जानता है, वह वैयावृत्य करने का  
अधिकारी है ।

## ४. वैयावृत्य अप्रतिपाती

वेयावच्चं निययं करेह उत्तमगुणे धरिताणं ।  
सव्वं किल पडिवाई वेयावच्चं अपडिवाई ॥  
पडिभग्गस्स मयस्स व नासइ चरणं सुयं अगुणणाए ।  
न हु वेयावच्चचिअं सुहोदयं नासए कम्मं ॥

(ओनि ५३२, ५३३)

उत्तम गुणों से सम्पन्न साधुओं की वैयावृत्य अवश्य  
करनी चाहिये । वैयावृत्य अप्रतिपाती है—इससे अजित  
शुभरूप में उदय में आने वाला कर्मफल नष्ट नहीं होता ।  
चारित्र्य और ज्ञान प्रतिपाती है—प्रमाद या कर्मोदय के

कारण अथवा मृत्यु के पश्चात् चारित्र्य नष्ट हो जाता  
है; पढा हुआ, सीखा हुआ ज्ञान परिवर्तना के अभाव में  
विस्मृत हो जाता है ।

## ५. वैयावृत्य के उदाहरण

भरही बाहुबलीवि य दसारकुलनन्दणो य वसुदेवो ।

वेयावच्चाहरणा तम्हा पडितप्पह जईणं ॥

(ओनि ५३५)

भरत, बाहुबलि, दशरकुलनन्दन वसुदेव—ये सेवा  
के उदाहरण हैं ।

### भरत-बाहुबली

“पुंडरगिणिए उ चूया तओ सुया वइरसेणस्स ॥

पढमित्थ वइरणाभो बाहु सुबाहु य पीढमहपीढे ।

तेसि पिआ तित्थअरो णिक्खंता तेऽवि तत्थेव ॥

पढमो चउदसपुव्वी सेसा इक्कारसंगविउ चउरो ।

बीओ वेयावच्चं किइकम्मं तइअओ कासी ॥

भोगफलं बाहुबलं पसंसणा जिट्ट इयर अचियत्तं ।”

(आवनि १७५-१७८)

जम्बूद्वीप में पुंडरीकिणी नगरी । वज्रसेन राजा ।  
धारिणी रानी ! उसके वज्रनाभ, बाहु, सुबाहु, पीठ और  
महापीठ—ये पांच पुत्र थे । वज्रसेन प्रव्रजित होकर  
तीर्थंकर बने । वज्रनाभ चक्रवर्ती बना, शेष चार मांडलिक  
राजा हुए । एक दिन नलिनीगुल्म उद्यान में वज्रसेन का  
पदार्पण हुआ । ये पांचों भाई पिता के पास प्रव्रजित हो  
गए । वज्रनाभ ने चतुर्दश पूर्वों का अध्ययन किया, शेष  
भाइयों ने एकादश अंगों को पढ़ा । बाहु सबकी वैयावृत्य  
करता । सुबाहु भगवान् का कृतिकर्म करता । एक दिन  
वज्रनाभ ने उन दोनों का गुणोत्कीर्तन किया—तुम लोगों  
ने साधुओं की वैयावृत्य करके अपने जीवन को सफल  
बना लिया है । उन दोनों की प्रशंसा सुनकर पीठ और  
महापीठ को अप्रीति उत्पन्न हुई । उन्होंने कहा—हम  
इतना स्वाध्याय करते हैं, लेकिन हमारी प्रशंसा नहीं  
होती । यह ठीक भी है । जो काम करता है, उसी की  
प्रशंसा होती है । वैयावृत्य संघ की अव्यवच्छिन्ति और  
महान् निर्जरा का हेतु है ।

बाहु और पीठ भरत और ब्राह्मी के रूप में तथा  
सुबाहु और महापीठ बाहुबली और सुन्दरी के रूप में  
उत्पन्न हुए । (देखें—आवचू १ पृ १३३, १५३)

## ६. वैयावृत्य के परिणाम

वेयावृत्तेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंघइ ।

(उ २९।४४)

वैयावृत्य से जीव तीर्थकर नाम-गोत्र कर्म का बंध करता है ।

गुरुसाहम्मियसुस्सुसणयाए णं विणयपडिवत्ति जणयइ ।  
विणयपडिवत्ते य णं जीवे अपन्नासायणसीले नेरइय-  
तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदोग्गईओ निहंभइ । वण्णसंज-  
लणभत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवसोग्गईओ निबंघइ  
सिद्धि सोग्गइं च विसोहेइ । पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं  
सव्वकज्जाइं साहेइ । अन्ने य बह्वे जीवे विणइत्ता भवइ ।

(उ २९।५)

गुरु और सार्धामिक की शुश्रूषा से जीव विनय को प्राप्त होता है। विनय को प्राप्त करने वाला व्यक्ति गुरु का अविनय या परिवाद करने वाला नहीं होता, इसलिए वह नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य और देव-सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है। श्लाघा, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा मनुष्य और देव-सम्बन्धी सुगति से संबंध जोड़ता है। सिद्धि और सुगति का मार्ग प्रशस्त करता है। विनयमूलक सब प्रशस्त कार्यों को सिद्ध करता है और दूसरे बहुत व्यक्तियों को विनय के पथ पर ले आता है।

लाभेण जोजयंतो जइणो लाभंतराइयं हणइ ।

कुणमाणो य समाहिं सव्वसमाहिं लहइ साहू ॥

वेयावृत्ते अब्भुट्टियस्स सट्ठाए काउकामस्स ।

लाभो चेव तवस्सिस्स होइ अहीणमणसस्स ॥

(ओनि ५३४, ५३७)

जो मुनि आहार, औषधि, उपधि आदि के द्वारा साधुओं की वैयावृत्य करता है, वह लाभंतराय कर्म को क्षीण करता है। वह पादप्रक्षालन, भ्रक्षण, मर्दन आदि सेवाकार्यों से सेवाहं साधुओं की चित्तसमाधि में योगभूत बनता है तथा वह स्वयं सर्वसमाधि (शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य) को प्राप्त करता है।

श्रद्धा (घनीभूत इच्छा) से वैयावृत्य के लिए अभ्यु-  
त्थित अदीनमना तपस्वी साधु को निर्जरा का लाभ अवश्य होता है, चाहे उसे आहार आदि का लाभ हो या न हो।

जो गिलाणं पडियरइ सो मं पडिअरति ।

जो मं पडिअरइ सो गिलाणं पडियरति ।

(ओनिवृ प ३९)

जो ग्लान की सेवा करता है, वह मेरी (तीर्थकर की) सेवा करता है। जो मेरी सेवा करता है, वह ग्लान की सेवा करता है।

**वैहायसमरण**—मरण का एक प्रकार।

(द्र. मरण)

**व्यंजनावग्रह**—इंद्रिय और अर्थ का संबंध।

(द्र. आभिनिबोधक ज्ञान)

**व्यंतर**—जो मध्य लोक में पहाड़ों तथा वनों के अन्तरो में रहते हैं, वे देव। (द्र. देव)

**व्याकरण**—शब्दशास्त्र।

१. व्याकरण का निर्वचन

२. व्याकरण के अंग

• वचन विभक्ति (कारक)

• समास

• तद्धित

३. लिंग

४. सन्धि

५. पद

६. नाम की परिभाषा

• प्रकार

## १. व्याकरण का निर्वचन

व्याक्रियन्ते लौकिकाः सामयिकाश्च शब्दा अनेनेति  
व्याकरणं—शब्दशास्त्रम् । (आवमवृ प २५९)

जिसके द्वारा लौकिक और सामयिक शब्द व्युत्पन्न किए जाते हैं, वह व्याकरण—शब्दशास्त्र है।

## २. व्याकरण के अंग

भावप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—सामासिए  
तद्धितए धाउए निरुत्तिए । (अनु ३४९)

भावप्रमाण के चार प्रकार हैं—

१. समास—दो या दो से अधिक पदों का परस्पर-  
श्रय भाव से संबंध।

२. तद्धित—तद्धित प्रत्यय का हेतुभूत अर्थ।

३. धातु—भू (सत्ता), एध (बुद्धि) आदि धातुएं ।  
 ४. निरुक्ति—अक्षरार्थ । जैसे—भ्रमति च रीति च—भ्रमण और गुंजारव करता है, इसलिए भ्रमर । मह्यां शेते—पृथ्वी पर सोता है इसलिए महिष ।

(शब्दसिद्धि और शब्दसंरचना की प्रामाणिकता व्याकरण के द्वारा होती है । इस अपेक्षा से समास, तद्धित आदि को भावप्रमाण बतलाया गया है ।)

“कारग-समास-तद्धित-निरुक्तवच्चो वि य पयत्थो ॥  
 (विभा १००३)

पदार्थ के चार प्रकार हैं—

१. कारक—जैसे—पचतीति पाचकः ।
२. समास—जैसे—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः ।
३. तद्धित—जैसे—वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः ।
४. निरुक्त—जैसे—ऊर्ध्वकर्णः उलूकः ।

### वचनविभक्ति (कारक)

अट्टविहा वयणविभक्ती पण्णत्ता, तं जहा—  
 निर्देसे पढमा होइ, बितिया उवएसणे ।  
 तइया करणम्मि कया, चउत्थी संपयावणे ॥  
 पंचमी च अवायाणे, छट्ठी सस्सामिवायणे ।  
 सत्तमी सन्निहाणत्थे, अट्टमाऽऽसंतणी भवे ॥  
 “हंदि नमो साहाए” आधारकालभावे य””””

(अनु ३००=१,२,४,६)

वचनविभक्ति के आठ प्रकार हैं—

निर्देश में प्रथमा—सो—वह, इमो—यह आदि ।  
 उपदेश में द्वितीया—इमं भण—यह कहो आदि ।  
 करण में तृतीया—तेण भणियं—उसने कहा आदि ।  
 हंदि, नमो और स्वाहा के योग में तथा सम्प्रदान में चतुर्थी—उपाध्यायाय गां ददाति—उपाध्याय को गाय देता है आदि ।  
 अपादान में पंचमी—इतो गिण्ह—इससे ग्रहण कर आदि ।  
 स्वस्वामिवचन (संबंध) में षष्ठी—तरस इमं वत्थु—उसकी यह वस्तु आदि ।  
 आधार, काल और भाव में सप्तमी—इम्मि—इसमें आदि ।

आमन्त्रण में अष्टमी विभक्ति होती है—हे जुवाण !  
 हे युवक ! आदि ।

(वयणविभक्ती) वित्थरो सि सद्दपाहुड्डातो नायव्वो  
 पुव्वणिग्गत्तेसु वा वागरणादिमु । (अनुषू पृ ४७)

वचनविभक्ति की विशद व्याख्या पूर्वगत के शब्दप्राभृत में थी । इस समय उसे प्राभृत के आधार पर निर्मित व्याकरणों से जानना चाहिए ।

### समास

सत्त समासा भवति, तं जहा—  
 दंदे य, बहुव्वीही, कम्मधारए, दिऊ तथा ।  
 तप्पुरिस व्वईभावे, एगसेसे य सत्तमे ।

(अनु ३५०)

समास के सात प्रकार—

१. द्वन्द्व—जिस समास में सब पदों की प्रधानता हो । जैसे—दन्तश्च औष्ठश्च—दन्तौष्ठम्, अहिश्च नकुलश्च—अहिनकुलम् ।
  २. बहुव्रीहि—जिस समास में अन्य पदार्थ की प्रधानता हो । जैसे—पुष्पितकुटजकदम्बः गिरिः ।
  ३. कर्मधारय—जिस तत्पुरुष समास में विशेषण और विशेष्य का तुल्यार्थ में प्रयोग हो । जैसे—धवलो वसहो—धवलवसहो ।
  ४. द्विगु—जिस तत्पुरुष समास में पूर्वपद संख्यावाचक होता है । जैसे—त्रिकटुकम्, त्रिसरम् ।
  ५. तत्पुरुष—जिस समास में उत्तरपद की प्रधानता हो । जैसे—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः ।
  ६. अव्ययीभाव—जिस समास में पूर्वपद की प्रधानता हो । जैसे—ग्रामस्य पश्चात्—अनुग्रामम् ।
  ७. एकशेष—जिस समास में एक समान रूप वाले अनेक शब्दों में एक शब्द शेष रहता है । जैसे—जिनश्च जिनश्च जिनश्च—जिनाः ।
- पार्यं पयविच्छेओ समासविसओ तयत्थनियमत्थं ।  
 पयविग्गहो ति भण्णइ सो सुद्धपए न संभवइ ॥

(विभा १००६)

इष्ट पदार्थ के नियमन के लिए सामासिक पदों का विच्छेद/विग्रह किया जाता है । यथा श्वेतः पटोऽस्येति श्वेतपटः । शुद्धपद—एक पद में पदविग्रह संभव नहीं है ।

## तद्धित

तद्धितए अट्टविहे पण्णत्ते, तं जहा—

कम्मे सिप्प सिलोए, संजोम समीवओ य सजूहे ।

इस्सरिया वच्चेण य, तद्धितनामं तु अट्टविहं ॥

(अनु ३५८)

तद्धित के आठ प्रकार—

१. कर्म—सौत्रिक, कार्पासिक आदि ।
२. शिल्प—तुन्नवाय, तन्तुवाय आदि ।
३. श्लोक—श्रमण, माहण आदि ।
४. संयोग—राजा का श्वसुर, राजा का दामाद आदि ।
५. समीप—गिरिनगर (गिरि के समीप का नगर) वैदिश (विदिशा के समीप का नगर) आदि ।
६. संयूथ—तरंगवतीकार, मलयवतीकार आदि ।
७. ऐश्वर्य—राजा, ईश्वर, कोटवाल आदि ।
८. अपत्य—अपत्य के कारण होने वाला नाम अर्हत्माता, चक्रवर्तीमाता आदि ।

यहां तद्धित शब्द के द्वारा तद्धित प्रत्यय के हेतुभूत अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। तुन्नवाय, तन्तुवाय जैसे शब्दों में तद्धित का प्रत्यय नहीं है फिर भी उसका हेतुभूत अर्थ यहां विद्यमान है इसलिए उन्हें तद्धित माना गया है।

इस व्याख्या के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकार द्वारा उदाहृत नामों में कुछ नाम तद्धित प्रत्यय युक्त हैं और कुछ नाम तद्धित प्रत्ययों के अर्थ से युक्त हैं। तरंगवतीकार आदि नाम कृदन्त प्रत्यय वाले हैं फिर भी उन्हें तद्धित नामों के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण चूणिकार द्वारा किया गया व्यापक अर्थ है। (देखें—अणुओणदाराइं ३५८ का टिप्पण)

## ३. लिंग

तत्थ पुरिसस्स अंता, आ ई ऊ ओ हवन्ति चत्तारि ।  
ते चैव इत्थियाए, हवन्ति ओकारपरिहीणा ॥  
अं ति य इं ति य उं ति य, अंता उ नपुंसगस्स बोद्धव्वा ।  
एएसि विण्हंपि य, वोच्छामि निदंसणे एत्तो ॥  
आकारंतो राया, ईकारंतो गिरी य सिहरी य ।  
ऊकारंतो विण्हू, दुमो ओअंतो उ पुरिसाणं ॥

आकारंता माला, ईकारंता सिरी य लच्छी य  
ऊकारंता जंबू, बहू य अंता उ इत्थीणं ॥  
अंकारंतं धन्नं, ईकारंतं नपुंसगं अच्छि ।  
उंकारंतं पीळुं, महुं च अंता नपुंसाणं ॥

(अनु २६४।२-६)

लिंग के तीन प्रकार —

पुल्लिग—पुल्लिगवाची शब्दों के अन्त में आ ई ऊ और ओ—ये चार प्रत्यय होते हैं। यथा राया, गिरी, विण्हू, दुमो ।

स्त्रीलिंग—स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त में ओकार को छोड़कर आ, ई, ऊ तीन प्रत्यय होते हैं। यथा—माला, लच्छी, बहू ।

नपुंसकलिंग—नपुंसकलिंगवाची शब्दों के अन्त में अं इं और उं ये तीन प्रत्यय होते हैं। यथा—धन्नं, अच्छि, पीळुं ।

## ४. सन्धि

चउनामे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—आगमेण लोवेण  
पयईए विगारेणं । (अनु २६५)

चतुर्नाम के चार प्रकार—

आगम—शब्द में किसी वर्ण का आगमन। यथा पयांसि । (यहां पयस् शब्द में नुम् का आगम हुआ है।)

लोप—पदान्त में स्थित एकार और ओकार के आगे अकार का लोप हो जाता है। यथा—पटोऽन ।

प्रकृति—प्रकृति भाव संधि में द्विवचनान्त ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त शब्दों में संधि नहीं होती। वे अपनी प्रकृति में स्थित रहते हैं। यथा—अग्नी + एतौ ।

विकार—विकार से होने वाला नाम। यथा—  
मधु + उदकम् = मधूदकम् ।

## ५. पद

पंचनामे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—नामिकं,  
नैपातिकं, आख्यातिकं, औपसगिकं, मिश्रम् । अश्व इति  
नामिकम् । खल्विति नैपातिकम् । धावतीत्याख्यातिकम् ।  
परीत्यौपसगिकम् । संयत इति मिश्रम् । (अनु २७०)

पञ्चनाम (पद) पांच प्रकार का है—

१. नामिक — धातु, विभक्ति और वाक्य को छोड़कर कोई भी अर्थवान् शब्द नाम कहलाता है। यथा— अश्व ।
२. नैपातिक — अमुक-अमुक अर्थों को व्यक्त करने के लिए निश्चित किये गये वे पद, जो सब विभक्तियों और लिंगों में समान होते हैं। यथा— खलु, च, वा ।
३. आख्यातिक — धातु के आगे प्रत्यय लगाकर जो रूप निष्पन्न किया जाता है। यथा— धावति ।
४. औपसर्गिक — निपातसंज्ञक शब्दों के अन्तर्गत आए कुछ शब्द क्रिया के योग में उपसर्ग संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। यथा— प्र, परि आदि ।
५. मिश्र — उपसर्ग, धातु, प्रत्यय आदि के योग से जो शब्दरूप बनते हैं। यथा— संयत ।

पयमत्ववापयं जोयमं च ..... (विभा १००३)

पद के दो प्रकार हैं—

१. अर्थवाचक — वृक्षः, तिष्ठति आदि ।
२. स्रोतक — प्र आदि, च आदि ।

## ६. नाम की परिभाषा

जं वत्थुणोऽभिहाणं पज्जवभेदानुसारि तं णामं ।

पतिभेत्तं यणमते पडिभेदं जाति जं भणितं ॥

दव्वं गुणं पज्जवं णामेति — आराधयति त्ति णाम ।

(अनुचू पृ ४१)

पर्यवभेदों के अनुसार वस्तु का जो अभिधान है, वह नाम है।

जो प्रत्येक भेद का अनुगमन करता है, वह नाम है।

जो द्रव्य, गुण और पर्याय का — प्रसाधन — प्रतिपादन करता है, वह नाम है।

### प्रकार

दसनामे दसविहे पणत्ते, तं जहा— १. गोणो २. नोगोणो ३. आयाणपएणं ४. पडिवक्खपएणं ५. पाहण्णयाए ६. अणाइसिद्धंतेणं ७. नामेणं ८. अवयवेणं ९. संजोगेणं १०. पमाणेणं ।

(अनु ३१९)

नाम के दश प्रकार—

१. गौण — गुणनिष्पन्न नाम । पावन करता है

इसलिए पवन है ।

२. नोगौण — गुणशून्य नाम । मुद्ग युक्त न होने पर भी पेटी का नाम समुद्ग है । इन्द्र की रक्षा न करने पर भी एक कीट का नाम इन्द्रगोपक है ।
३. आदानपद — आदि पद से होने वाला नाम । आवंती — आयारो का पांचवां अध्ययन ।
४. प्रतिपक्षपद — प्रतिपक्ष के आधार पर किया जाने वाला नाम । अशिवा (सियारिन) को शिवा कहना ।
५. प्रधान — जिन वस्तुओं की प्रधानता होती है उसके आधार पर होने वाला नाम । अशोकवन ।
६. अनादिसिद्धान्त — अनादि सिद्धान्त से होने वाला नाम । धर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय ।
७. नाम — किसी पूर्वज के नाम के आधार पर होने वाला नाम । नौ नंद, विक्रमादित्य ।
८. अवयव — अवयव के आधार पर होने वाला नाम । शृंग के आधार पर बारहसिंगा ।
९. संयोग — संयोग के आधार पर होने वाला नाम । हल से व्यवहार करने वाला हालिक ।
१०. प्रमाण — प्रमाण से होने वाला नाम ।

**व्युत्सर्ग** — शरीर, कषाय आदि का विसर्जन ।

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे ।

कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥

(उ ३०।३६)

सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु व्यापृत नहीं होता, उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है। वह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है।

(द्र. तप)

**व्युत्सर्ग के प्रकार**

दव्वविउस्सग्गो गणउवधिसरीरभत्तपाणाण विउस्सग्गो, जो वा धम्माणुट्ठाणपवत्तो काउस्सग्गादिट्ठितो अट्टवसट्ठो तस्सवि दव्वविउस्सग्गो, अणुवउत्तो वा । भावविउस्सग्गो मिच्छत्तअन्नाणअविरतीणं, अहवा कसायसंसारकम्माण वा विउस्सग्गो ।

(आवचू १ पृ ६१६)

द्रव्यव्युत्सर्गः आर्तध्यानादिध्यायिनः कायोत्सर्गः । भावव्युत्सर्गस्त्वज्ञानादिपरित्यागः अथवा धर्मशुक्लध्यायिनः कायोत्सर्गः ।

(आवहावू १ पृ ३२५)

व्युत्सर्ग के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्यव्युत्सर्ग— गण, उपधि, शरीर अन्न-पान आदि का व्युत्सर्ग अथवा आर्त्तध्यान आदि करने वाले का कायोत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग में अनुपयुक्त ।
२. भावव्युत्सर्ग— मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति का व्युत्सर्ग अथवा संसार, कषाय, कर्म का व्युत्सर्ग अथवा धर्मध्यान, शुक्लध्यान करने वाले का कायोत्सर्ग ।

वितोसर्गो— परिच्छागो । सो बाहिर-ऽऽभंतरोवहिसस जिणशेरकप्पियाणं चेल-अचैला दुविहा बारसावसाण-चउट्ठसोवग्गहे अणेगविहगण-भत्त-सरीर-वायामाणसाणं अऽभंतरस्स मिच्छादरिसणाविरतिपमायकसायाणं वितो-सर्गो ।  
(दअच् ५ पृ १९)

व्युत्सर्ग का अर्थ है— परित्याग । उसके दो प्रकार हैं— १. बाह्य उपधि का त्याग २. आभ्यन्तर उपधि का त्याग ।

**बाह्य उपधि**— जिनकल्पी के बारह उपकरण, स्थविर-कल्पी के चौदह उपकरण तथा गण, आहार, शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति का त्याग ।

**आभ्यन्तर उपधि**— मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय का त्याग ।

**व्युत्सर्ग का उदाहरण : प्रसन्नचन्द्र राजर्षि**

दम्बविउत्सर्गो खलु पसन्नचंदो ह्वे उदाहरणं ।  
पडिआगयसंवेगो भावंमि वि होइ सो चेव ॥

(आवनि १०५१)

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में महाराज प्रसन्नचन्द्र भगवान् महावीर के प्रवचन को सुन विरक्त हो गए । दीक्षा स्वीकार की । जिनकल्प स्वीकार करने की इच्छा से सत्त्व भावना से अपने अ.पको भावित कर रहे थे । एक दिन राजगृह नगर के बाहर श्मशान में प्रतिमा में स्थित थे । भगवान् महावीर वहां पधारे । सारे लोग वन्दना को जा रहे थे । दो वणिक भी वहां से गुजरे । प्रसन्नचन्द्र को ध्यानस्थ देखकर एक ने कहा— ये हमारे राजा हैं । राजलक्ष्मी को छोड़कर तपःश्री को स्वीकार किया है । ये धन्य हैं । तब दूसरे ने कहा— क्या धन्य है ? अपने नाबालिग पुत्र को राज्य सौंप कर स्वयं संन्यासी बन गए । सारी जनता दुःखी है । यह सुनते ही मुनि कुपित हो गए । मानसिक संग्राम प्रारम्भ हो गया ।

वे रौद्रध्यान में चले गए । उधर राजा श्रेणिक भगवान् को वन्दना करने जा रहा था । मार्ग में मुनि प्रसन्नचन्द्र को देखा, वन्दना की । तत्पश्चात् वह भगवान् महावीर के समवसरण में पहुंचा । वहां उसने भगवान् से पूछा— भते ! मुनि प्रसन्नचन्द्र ध्यान में स्थित हैं । अभी वे मृत्यु को प्राप्त हो जाएं तो कहां उत्पन्न होंगे ? भगवान् ने कहा— सातवीं नरक में । इसी बीच मानसिक संग्राम में मुनि के सारे शस्त्र नष्ट हो गए । तब शिरस्त्राण द्वारा मारता हूँ— यह सोच अपना हाथ सिर पर रखा । लुंचित सिर को देख वे संवेग को प्राप्त हो गए । विशुद्ध परिणामों से आत्मा की निन्दा कर पुनः शुक्लध्यान में अवस्थित हो गए । उधर श्रेणिक ने पुनः पूछा— भगवन् ! प्रसन्नचन्द्र राजर्षि इस समय मृत्यु को प्राप्त हों तो कहां उत्पन्न होंगे ? भगवान् ने कहा— अनुत्तर विमान में । इसी बीच श्रेणिक ने देवदुन्दुभि का स्वर सुना । भगवान् ने कहा— उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया है । देवता उनकी महिमा कर रहे हैं । यह प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के द्रव्यव्युत्सर्ग और भावव्युत्सर्ग का उदाहरण है ।  
(आवच् १ पृ ४५५ हाव् १ पृ ३२५)

**व्रत**— प्रत्याख्यान । (द्र. श्रावक)

**शकुन**— पशु, पक्षी, व्यक्ति, वस्तु आदि से मिलने वाली शुभ-अशुभ की पूर्व-सूचना ।

जंबू अ चासमऊरे भारद्वाए तहेव नउले अ ।  
दंसणमेव पसत्थं पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥  
नंदी तूर पुण्णस्स दंसणं संखपडहसट्ठी य ।  
भिगारछत्तचामर धयप्पडागा पसत्थाई ॥  
समणं संजयं दंतं सुमणं मोयगा दाहिं ।  
मीणं घंटं पडागं च सिद्धमत्थं विआगरे ॥

(ओभा ८४-८६)

प्रस्थान वेला में सियार, पपीहा, मयूर, भारद्वाज (भरत पक्षी), नकुल का दिखना शुभ है । सियार आदि दाहिनी ओर प्राप्त होने से अत्यधिक प्रशस्त हैं ।

मंदी वाद्य, तूर्य, पूर्ण कलश, शंख और पटह का शब्द, झारी, छत्र, चामर, ध्वज-पताका आदि का योग प्रशस्त है ।

लिंगमात्रधारी तथा संयत और दान्त श्रमण, पुष्प,



मोदक, दही, मत्स्य, घंटा, पताका सरसों आदि की प्राप्ति शुभ है। प्रस्थान वेला में इनके प्राप्त होने से कार्य की सिद्धि होती है।

### अप्रशस्त शकन

मइल कुचेले अब्भंगिएल्लए साण खुज्जवडभे या ।  
एए उ अप्पसत्था हवति खित्ताउ नितानं ॥  
नारी पीवरगन्भा बहुकुमारी य कट्टुभारो अ ।  
कासायवत्थ कुच्चंधरा य कज्जं न साहेति ॥

(ओभा ८२, ८३)

शरीर और वस्त्रों से मलिन तथा जीर्णवस्त्रधारी, स्नेहाभिषिक्त शरीर वाला, श्वान (बायें पार्श्व से दायें पार्श्व की ओर जाता हुआ कुत्ता), कुब्ज, वामन, निकट प्रसव वाली स्त्री (आपन्नसत्त्वा), वर्षकुमारी, काष्ठ का गट्टर, कषाय रंग के वस्त्रों को धारण करने वाला, दाढ़ी-मूछ को धारण करने वाला—ये सब अप्रशस्त हैं। प्रस्थान-वेला में इनके प्राप्त होने से कार्य की सिद्धि नहीं होती।  
**शरीर—काय। पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का माध्यम।**

## १. द्रव्यकाय-भावकाय

जीवस्स निवासाओ पोग्गलचयओ य सरणधम्माओ ।  
काओऽवयवसमाहाणओ य दव्व-भावमओ ॥  
तज्जोग्गपुग्गला जे मुक्का य पओगपरिणया जाव ।  
सो होइ दव्वकाओ बद्धा पुण भावओ काओ ॥  
चयनं कायः चीयतेऽनेनेति वा कायो निवास-चित्ति-  
शरीरो-पसमाधानेषु । ...तं च जीवप्रयोगपरिणामं ते  
मुक्ताः पुद्गला जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयं  
कालं न मुञ्चन्ति, ततः परं त्ववश्यं परित्यजन्ति तमिति ।

(विभा ३५२७, ३५२८ मवृ पृ ३५३, ३५४)

शरीर का पर्याय है—काय। काय के चार अर्थ हैं—निवास, चय, विशरण और अवयवों का सम्यक् आधान। काय में जीव का निवास होता है, प्रतिक्षण पुद्गलों का उपचय और अपचय होता है, सिर, बाहु आदि अवयव सम्यक् रूप से व्यवस्थित होते हैं—इन कारणों से शरीर को काय कहा जाता है। औदारिक-काय के योग्य पुद्गल, जो औदारिककाय की परिणति के अभिमुख हैं, किन्तु अभी तक जीव ने उन्हें ग्रहण नहीं किया है, वह द्रव्यकाय है। जीव ने औदारिक वर्णणा के जिन पुद्गलों को औदारिककाय प्रयोग के रूप में परिणत कर छोड़ दिया है, वे भी तब तक द्रव्यकाय हैं, जब तक औदारिक शरीरकाय प्रयोगपरिणाम को छोड़ कर अन्य रूप में परिणत नहीं होते हैं। वे पुद्गल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्येय काल तक जीव के प्रयोगपरिणाम को नहीं छोड़ते, उसके पश्चात् अवश्य छोड़ देते हैं।

जीव से बद्ध, औदारिक आदि कायरूप में परिणत पुद्गल भावकाय है।

## २. शरीर के प्रकार

पंच सरीरा पणत्ता, तं जहा—ओरालिए वेउव्विए  
आहारए तेयए कम्मए । (अनु ४४६)

शरीर के पांच प्रकार हैं—औदारिक, वैकिय, आहारक, तैजस और कर्मण।

## ३. औदारिक शरीर

उदारं उरालं उरलं उरालियं वा उदारियं, तित्थगर-  
गणधरसरीराइं पडुच्च उदारं, उदारं नाम प्रधानं, उरालं  
नाम विस्तरालं, विशालंति वा जं भणिते होति, कइं ?  
सातिरेगजोयणसहस्सभवट्टियप्पमाणमोरालियं अण्णमेद्दह-

### १. द्रव्यकाय-भावकाय

### २. शरीर के प्रकार

### ३. औदारिक शरीर

#### ० प्रकार

० मनुष्यों के शरीर—जघन्य पद संख्या

### ४. वैकिय शरीर

### ५. आहारक शरीर

#### ० प्रकार

### ६. तैजस शरीर

### ७. कर्मण शरीर

### ८. किस जीव के कितने शरीर ?

### ९. शरीरों की क्रम-व्यवस्था

### १०. जीवप्रयोगकरण : शरीरकरण

### ११. जीवप्रयोगकरण : संघातपरिशाटकरण

### १२. औदारिक शरीर और रोग

### १३. शरीरधारण का प्रयोजन

### १४. शरीरप्रत्याख्यान का परिणाम

\* शरीर की वर्णणाओं

(द्र. वर्णणा)

\* कर्म और शरीर का सम्बन्ध

(द्र. कर्म)

\* शरीर की प्रवृत्ति

(द्र. योग)

\* शरीरनामकर्म की स्थिति

(द्र. कर्म)

मित्तं णत्थि, वेउच्चियं होज्जा लक्खमहियं, अवट्ठियं पंचघणुसते, इमं पुण अवट्ठितपमाणं अतिरेगजोयणसहस्सं वनस्पत्यादीनामित्ति । उरलं नाम स्वरूपप्रदेशोपचितत्वाद् बहूस्त्वाच्च भिण्णवत् । उरालं (उरालियं ?) नाम मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वात् । (अनुहावृ पृ ८७)

औदारिक शरीर को औदारिक कहने के चार हेतु हैं—

१. उदार—तीर्थंकर और गणधर भी औदारिक शरीर धारण करते हैं इस अपेक्षा से वह उदार अथवा प्रधान शरीर है।
२. उराल—उराल का अर्थ है—विशाल। औदारिक शरीर की ऊंचाई एक हजार योजन से अधिक होती है। यद्यपि वैक्रिय शरीर की ऊंचाई कुछ अधिक एक लाख योजन प्रमाण होती है किन्तु वह अवस्थित नहीं है, वह उत्तरवैक्रिय काल में होती है। वैक्रिय शरीर की स्वाभाविक ऊंचाई ५०० धनुष्य प्रमाण होती है
३. उरल—भिण्डी की तरह जिसका आकार बड़ा और प्रदेश का उपचय अल्प होता है उसकी संज्ञा है उरल। औदारिक शरीर आकार में बृहत् और प्रदेशोपचय की दृष्टि से स्वल्प होता है।
४. उरालिय—औदारिक शरीर जो मांस, अस्थि, स्नायु आदि अवयवों से बद्ध होता है।

#### प्रकार

“ओरालियसरीरा...दुविहा पण्णत्ता, तं जहा— बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जेते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहि उत्सप्पिणी-ओसप्पिणीहि अवहीरंति कालओ, खेतओ असंखेज्जा लोगा । तत्थ णं जेते मुक्केल्लया ते णं अणता अणंताहि उत्सप्पिणी-ओसप्पिणीहि अवहीरंति कालओ, खेतओ अणंता लोगा, दब्बओ अभवसिद्धिएहि अणंतगुणा सिद्धाणं अणंतभागो ।

(अनु ४५७)

औदारिक शरीर के दो प्रकार हैं—बद्ध और मुक्त। उनमें जो बद्ध हैं, वे असंख्येय हैं। काल की दृष्टि से असंख्येय उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में उनका अपहार होता है। क्षेत्र की दृष्टि से वे असंख्येय लोक जितने हैं।

उनमें जो मुक्त हैं वे अनन्त हैं। काल की दृष्टि से अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में उनका अपहार होता

है। क्षेत्र की दृष्टि से वे अनन्त लोक जितने हैं। द्रव्य की दृष्टि से अभवसिद्धिक जीवों से अनन्तगुना अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग में हैं।

प्रत्येकशरीरिणस्तावदसंख्याता एवातस्तेषां शरीरा-प्यप्यसंख्यातान्येव, साधारणशरीरिणस्तु विद्यन्ते अनन्ताः किन्तु तेषां नैकैकजीवस्यैकैकं शरीरं किन्त्वनन्तानामनन्तानामेकैकं वपुरित्यत औदारिकशरीरिणामानन्त्येऽपि शरीराप्यसंख्येयान्येवेति । (अनुमवृ प १८१)

औदारिक शरीर वाले जीव अनंत हैं, फिर भी उनके शरीर असंख्य ही हैं। प्रत्येकशरीरी जीव (एक शरीर में एक जीव) असंख्य हैं। उनके शरीर भी असंख्य हैं। साधारणशरीरी जीव (एक शरीर में अनंत जीव) एक शरीर में अनंत होते हैं, अतः उनके शरीर असंख्य ही हैं।

कहं पुनस्तान्यनंतलोकप्रदेशप्रमाणान्येकस्मिन्नेव लोकेऽवगाहंत इति ? अत्रोच्यते, यथैकप्रदीपाविध्यप्येक-भवनावभासिन्यामन्येषामप्यतिबहूनां प्रदीपानामचिषस्त-थैवानुविशंति अन्योन्याविरोधादेवमौदारिकान्यपीति, एवं सर्वशरीरेष्वप्यायोज्यम् । (अनुचू पृ ६३)

मुक्त औदारिक शरीर क्षेत्र की दृष्टि से अनंत लोक-प्रमाण बतलाये गये हैं, फिर उनका समावेश एक लोक में कैसे हो सकता है ? इसका समाधान प्रकाश के दृष्टांत से किया गया है। जैसे एक प्रदीप के प्रकाश में अनेक प्रदीपों का प्रकाश समाविष्ट हो जाता है, इसी प्रकार एक औदारिक शरीर के अवगाहनक्षेत्र में अनेक औदारिक शरीरों का अवगाहन हो जाता है।

(यह परिणतिवैचित्र्य का सिद्धांत है—एक आकाश-प्रदेश में एक परमाणु भी रहता है और उसी आकाश-प्रदेश में अनंतप्रदेशी स्कन्ध भी रहता है। यदि पुद्गल द्रव्य में सूक्ष्म परिणति की क्षमता नहीं होती तो अनंत परमाणुओं और अनंत स्कन्धों के लिए अनंत लोक अपेक्षित होते किन्तु सूक्ष्म परिणति की क्षमता के कारण वे सब एक लोक में समाए हुए हैं।)

मणुस्साणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ? दुविहा पण्णत्ता, तं जहा बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जेते बद्धेल्लया ते णं सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा । जहण्णपए संखेज्जा—संखेज्जाओ कोडीओ एगूणतीसं ठाणाइ, तिजमलपयस्स उव्वारि चउजमलपयस्स हेट्ठा, अहव णं छट्ठो वग्गो पंचमवग्गपडुप्पण्णो, अहव णं

छट्टो वग्गो पंचमवग्गपडुप्पणो, अहव णं छण्णउइछेयण-  
गदाधिरासी । उक्कोसपए असंखेज्जा--असंखेज्जाहि  
उत्सप्पिणी-ओसप्पिणीहि अबहीरंति कालओ, खेत्तओ  
उक्कोसपए रूवपक्खित्तेहि मणुस्सेहि सेठी अबहीरइ,  
यसंखेज्जाहि उत्सप्पिणी-ओसप्पिणीहि कालओ, खेत्तओ  
अंगुलपठमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पणं । मुक्केल्लया  
जहा ओहिया ओरालिया । (अनु ४९०)

मनुष्यों के औदारिक शरीर कितने प्रज्ञप्त हैं ?  
औदारिक शरीर के दो प्रकार हैं—बद्ध और मुक्त ।  
उनमें जो बद्ध हैं वे कभी संख्येय होते हैं और कभी  
असंख्येय होते हैं । जघन्यपद में मनुष्यों के बद्ध औदारिक  
शरीर संख्येय होते हैं । संख्येय का प्रमाण इस प्रकार  
है—संख्येय करोड़, उनतीस अंक जितने (आगमिक  
संज्ञा के अनुसार) त्रियमल पद से अधिक और चतुर्थयमल  
पद से कम होते हैं । अथवा पांचवें वर्ग से गुणित  
छठे वर्ग, अथवा जो राशि आधे-आधे रूप में छिन्न करने  
पर छियानवे बार छिन्न हो सके, उतने होते हैं ।

उत्कृष्टपद में मनुष्यों के बद्ध औदारिक शरीर  
असंख्येय होते हैं । काल की दृष्टि से उनका अपहार  
असंख्येय उत्सपिणी और अवसपिणी में किया जाता है ।

क्षेत्र की दृष्टि से उत्कृष्ट पद में होने वाले मनुष्यों  
में एक मनुष्य का प्रक्षेप करने पर उनके द्वारा एक  
आकाश प्रदेश की श्रेणी का अपहार होता है । इस कार्य  
में असंख्येय उत्सपिणी और अवसपिणी का काल लगता  
है । क्षेत्र खंड का अपहार किया जाए तो श्रेणी के अंगुल  
प्रमाण क्षेत्र में होने वाली प्रदेश राशि के प्रथम वर्गमूल  
को तृतीय वर्गमूल से गुणित करने पर जो प्रदेश राशि  
प्राप्त होती है, उतने मनुष्य होते हैं । मुक्त शरीर  
औधिक औदारिक शरीर की भांति प्रतिपादनीय है ।

(देखें अनु ४५७)

अट्टण्हं अट्टण्हं ठाणाणं जमलपदत्ति सण्णा साम-  
यिकी । ...छ वग्गा ठविज्जंति, तंजहा—एक्कस्स वग्गो  
एक्को एस गुणवुड्डीरहितोत्ति कात्वं वग्गो चैव ण भवति  
तेण विण्हं वग्गो चत्तारि एस पढमो वग्गो, एयस्स वग्गो  
सोलस एस त्रित्तिओ वग्गो, एयस्स वग्गो दो सता छप्पण्णा,  
एस तत्तित्तो वग्गो, एतस्स वग्गो पण्णट्ठि सहस्साइं पंच  
सयाइं छत्तीसाइं एस चउत्थो वग्गो, एयस्स इमो वग्गो  
तंजहा ४२९४९६७२९६ । पंचमवग्गस्स इमो वग्गो  
होति १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ । ...एत्थ य  
पंचमछट्ठेहि पयोयणं, एस छट्टो वग्गो पंचमेण वग्गेण

पडुप्पाइज्जइ, पडुप्पाइए समाणे जं होति एवइया  
जहण्णपदिया मणुस्सा भवन्ति, ते य इमे एवइया  
७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ एवमे-  
ताइं अउणतीसं ठाणाइं एवइया जहण्णपदिया मणुस्सा ।

(अनुचू ६९,७०)

संख्यात के भी संख्यात भेद होते हैं । इसलिए  
संख्यात कहने से निश्चित संख्या का बोध नहीं होता ।  
निश्चित संख्या का कथन करने के लिए संख्यात कोटा-  
कोटि कहा गया है । इसको और स्पष्ट करने के लिए  
२९ स्थान (अंक दशमलव) कहे गए हैं । तीन यमलपद  
से अधिक और चार यमलपद से कम कहा गया है ।

आठ अंकों (दशमलव) का एक यमलपद होता है ।  
यह आगमिक संज्ञा है । २९ अंकों (दशमलव) में तीन  
यमलपद से पांच अंक अधिक और चार यमलपद से तीन  
अंक कम हैं ।

प्रकारान्तर से कहा गया है पांचवें वर्ग और छट्ठे  
वर्ग के गुणनफल जितना है । इसे सरलता से इस प्रकार  
समझा जा सकता है । एक का वर्ग एक ही आता है ।  
उसके कितने ही वर्ग करो एक ही आएगा । इसलिए  
वर्गफल के लिए दो की संख्या को ग्रहण किया जाता है ।  
२×२=४ पहला वर्गफल । ४×४=१६ दूसरा वर्गफल ।  
१६×१६=२५६ तीसरा वर्गफल । २५६×२५६=  
६५५३६ चौथा वर्गफल । ६५५३६×६५५३६=  
४२९४९६७२९६ पांचवां वर्गफल । ४२९४९६७२९६×  
४२९४९६७२९६ = १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६  
छठा वर्ग । अब पांचवें और छट्ठे वर्गफल को गुणा किया  
४२९४९६७२९६×१८४४६७४४०७३७०९५५१६१६=  
७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ । इसी  
में २९ अंक है ।

प्रकारान्तर से तीसरी व्याख्या मिलती है कि उस  
राशि के छियानवे छेदनकदायी होते हैं । जो आधे-आधे  
करते छियानवे बार छेदन को प्राप्त हो और अंत में एक  
बच जाए उसे छियानवे छेदनकदायी राशि कहते हैं ।  
इसका क्रम इस प्रकार है—

प्रथम वर्गफल (२×२)=४ का छेदन करने से दो  
छेदनक होते हैं । अगले-अगले वर्गफल में पूर्व से दुगुने  
छेदनक होते जाते हैं ।

दूसरे वर्गफल के ४ छेदनक  
तीसरे वर्गफल के ८ छेदनक  
चौथे वर्गफल के १६ छेदनक

पांचवे वर्गफल के ३२ छेदनक और छट्ठे वर्गफल के ६४ छेदनक । इन दोनों का योग करने से  $32 + 64 = 96$  छेदनक होते हैं ।

प्रकारान्तर से एक के अंक को स्थापित कर उत्तरोत्तर उसे छिप्रानवे बार दुगुना-दुगुना करने पर जितनी राशि आती है वह छिप्रानवे छेदनकदायी राशि कहलाती है ।

इस छिप्रानवे छेदनकदायी राशि का प्रमाण उतना ही होगा जितना कि पांचवे वर्गफल और छट्ठे वर्गफल का गुणा करने से आता है ।

#### ४. वैक्रिय शरीर

विविहा विसिद्धा वा किरिया विकिरिय तीए जं तमिह ।  
नियमा विउव्वियं पुण णारगदेवाण पयतीए ॥

(अनुहावृ पृ ८७)

जो शरीर नाना रूपों का निर्माण करने में समर्थ होता है, वह वैक्रिय शरीर है । नारक और देव के वह स्वाभाविक होता है । मनुष्य और तिर्यचों के यह लब्धिजन्य होता है । वायुकाय के भी वैक्रिय शरीर होता है ।

#### ५. आहारक शरीर

कज्जमि समुप्पण्णे सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीय ।

जं एत्थ आहरिज्जइ भणंति आहारयं तं तु ॥

(अनुहावृ पृ ८७)

आह्लियते इत्याहारकं गृह्यत इत्यर्थः । कार्यपरि-  
समाप्तेश्च पुनर्मुच्यते याचितोपकरणवत् । तानि च  
कार्याण्यमूनि--

पाणिदयरिद्धिसंदरिसणत्थमत्थोवगाहणहेतुं वा ।

संसयवोद्धेयत्थं गमणं जिणपादमूलमि ॥

(अनुचू पृ ६१)

आहारकलब्धि के द्वारा निमित्त शरीर आहारक शरीर कहलाता है । श्रुतवकली विशिष्ट प्रयोजन उत्पन्न होने पर इसका निर्माण करते हैं और कार्य संपन्न होने पर याचित उपकरण की तरह उसे छोड़ देते हैं ।

प्राणीदया, अर्हंतों की ऋद्धि का दर्शन, नवीन अर्थ का अवग्रहण और संशय-अपनयन—इन प्रयोजनों से आहारक शरीर अर्हंत की सन्निधि में जाता है ।

तथाविधप्रयोजने चतुर्दशपूर्वविदा आह्लियते—गृह्यत इत्याहारकम्, अथवा आह्लियन्ते—गृह्यन्ते केवलिनः समीपे सूक्ष्मजीवादयः पदार्था अनेनेत्याहारकम् ।

(अनुमवृ प १८१)

चोदहपूर्वी विशिष्ट प्रयोजन उत्पन्न होने पर जिसका आहरण/ग्रहण करते हैं, वह आहारक शरीर है । अथवा जिस शरीर के होने पर केवली के समीप जाकर जीव आदि पदार्थों का सूक्ष्म विश्लेषण प्राप्त होता है, वह आहारक शरीर है ।

#### प्रकार

“आहारगसरीरा” बुविहा पण्णत्ता, तं जहा—

बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जेते बद्धेल्लया ते णं सिय अत्थि सिय नत्थि, जइ अत्थि जहण्णेणं एगो वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सहस्सपुहत्तं । मुक्केल्लया जहा ओरालियसरीरस्स तथा भाणियव्वा । (अनु ४५९)

आहारक शरीर के दो प्रकार हैं—बद्ध और मुक्त । उनमें जो बद्ध हैं, वे कभी होते हैं और कभी नहीं होते । यदि होते हैं तो जघन्यतः एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्टतः दो हजार से नौ हजार तक होते हैं । मुक्त आहारक शरीर औदारिक शरीर को भांति प्रतिपादनीय है ।

तस्स अंतरं, जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासा, तेण ण होंतिवि कयाइं । (अनुचू पृ ६४)

बद्ध आहारक शरीर का अंतर काल जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः छह महीने है । इसीलिए कहा गया है कि वह कभी होता है, कभी नहीं भी होता, निरंतर नहीं होता ।

#### ६. तेजस शरीर

सव्वस्स उण्हसिद्धं रसादिआहारपागजणणं वा ।

तेयगलद्धिनिमित्तं व तेयगं होति णायव्वं ॥

(अनुचू पृ ६१)

जो ऊष्मामय है, जिससे आहार का परिपाक होकर रस आदि निष्पन्न होते हैं और जो तेजोलब्धि का निमित्त है, वह तेजस शरीर है ।

#### ७. कार्मण शरीर

कर्मणो विकारः कार्मणं, अष्टविधकर्मनिष्पन्नं सकल-  
शरीरनिबंधनं च । (अनुहावृ पृ ८७)

अष्टविधकर्मसमुदायनिष्पन्नमौदारिकादिशरीरनिबंधनं च भवान्तरानुयायि कर्मणो विकारः कर्मैव वा कार्मणम् ।

(अनुमवृ प १८१)

कर्म का विकार कार्मण शरीर है । इसका निर्माण अष्टविध कर्मपुद्गलों से होता है । यह शेष सब शरीरों का मूल कारण है और एक भव से दूसरे भव में जीव के

साथ जाने वाला है।

....पञ्चकक्षं चिय जीवोवनिबंधणं जह् सरीरं ।

चिट्ठइ कम्मयमेवं भवंतरे जीवसंजुत्तं ॥

(विभा १६३६)

यह प्रत्यक्ष है कि जीव के साथ स्थूल शरीर संबद्ध है, उसी प्रकार भवान्तर में भी जीव के साथ कर्मशरीर संबद्ध रहता है।

(मलघारीयवृत्ति में 'कर्म ही कार्मण शरीर है'— यह वैकल्पिक अर्थ भी प्राप्त है। सिद्धसेनगणी ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् २।३७ की भाष्यानुसारिणी में इस अर्थ का मतांतर के रूप में उल्लेख किया है तथा कार्मण शरीर कर्म से निष्पन्न है और कर्म ही कार्मण शरीर है—इन दोनों पक्षों को अनेकांत दृष्टि से सगत बतलाया है।

कर्म कार्मण शरीर में होते हैं पर कर्म भिन्न है, कार्मण शरीर भिन्न है। कर्म की उत्पत्ति बंधन नामकर्म और रागद्वेष के निमित्त से होती है। शरीर की उत्पत्ति शरीरनाम कर्म के उदय से होती है। इसी प्रकार इनका विपाक भी भिन्न है। ज्ञानावरण आदि कर्म का विपाक अज्ञान आदि उत्पन्न करता है। कार्मण शरीर का विपाक कार्मण शरीर को ही परिपुष्ट करता है।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ६।१० की व्याख्या में सिद्धसेनगणी ने कार्मण शरीर को अपने योग्य द्रव्यों से निर्मित स्वसंस्थान वाला बतलाया है। कार्मण शरीर कर्माशय के रूप में उत्पन्न होता है और वह कर्म के लिए आधार-भूत बनता है।)

## ८. किस जीव के कितने शरीर ?

नेरइयाणं ...तओ सरीरा पण्णत्ता, तं जहा—  
वेउव्विए तेयए कम्मए ।

असुरकुमारारणं ...तओ सरीरा पण्णत्ता, तं जहा—  
वेउव्विए तेयए कम्मए ।

एवं तिण्णि-तिण्णि एए चेव सरीरा जाव थणिय-  
कुमारारणं भाणियव्वा ।

पुढविकाइयाणं ...तओ सरीरा पण्णत्ता, तं जहा—  
ओरालिए तेयए कम्मए ।

एवं आउ-तेउ-वणत्सइकाइयाण वि एए चेव तिण्णि  
सरीरा भाणियव्वा ।

वाउकाइयाणं ...चत्तारि सरीरा पण्णत्ता, तं जहा—  
ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए ।

वेइदिय-तेइदिय-चउरिदियाणं जहा पुढविकाइयाणं ।

पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं जहा वाउकाइयाणं ।

मणुस्साणं ...पंच सरीरा पण्णत्ता, तं जहा—  
ओरालिए ... ।

वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं जहा नेरइ-  
याणं । (अनु ४४४-४५६)

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—इन जीवों के तीन-तीन शरीर हैं—औदारिक, तैजस और कार्मण।

वायुकाय और पंचेन्द्रियतिर्यंचों के चार-चार शरीर हैं—औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

मनुष्यों के पांच शरीर हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

नेरयिक जीवों तथा सभी देवों के तीन-तीन शरीर हैं—वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

(औदारिक शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन है। वैक्रिय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट अवगाहना सातिरेक एक लाख योजन है। आहारक शरीर जघन्यतः देशोन रत्ति और उत्कृष्टतः एक रत्तिप्रमाण होता है।

औदारिक शरीर नाना संस्थान वाला है। आहारक शरीर समचतुरस्र संस्थान वाला है। सब शरीरों की अवगाहना, संस्थान आदि के लिए देखें—पण्णवणा पद २१)

## ९. शरीरों की क्रम-व्यवस्था

परं परं प्रदेश सूक्ष्मत्वात् परं परं प्रदेशबाहुल्यात् परं परं प्रमाणोपलब्धित्वात् प्रथित एवौदारिकादिक्रमः ।

(अनुचू पृ ६१)

स्वल्पपुद्गलनिष्पन्नत्वाद्बादरपरिणामत्वाच्च प्रथम-  
सौदारिकस्योपन्यासः । ततो बहुबहुतरवहुतमपुद्गल-  
निर्वृत्तत्वात् सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमत्वाच्च क्रमेण शेष-  
शरीराणामिति । (अनुमवृ प १८१)

औदारिक शरीर स्वल्प पुद्गलों से निष्पन्न तथा स्थूल परिणति वाला है।

वैक्रिय आदि शेष चार शरीर क्रमशः बहु, बहुतर, बहुतम पुद्गलों से निष्पन्न होते हैं। इनकी परिणति क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम होती है।

पांचों शरीरों की क्रमव्यवस्था का मुख्य हेतु है—  
इतनी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और प्रदेशबहुलता। ये अनेक  
प्रमाणों से गम्य हैं।

### १०. जीवप्रयोगकरण : शरीरकरण

दुविहं पओगकरणं जीवेतर मूल उत्तरं जीवे ।  
मूले पंचसरीरा तिसु अंगोवंगणामं च ॥  
सीसमुरोयरपिट्टी दो बाहू अ हुंति ऊरू अ ।  
एए अट्ठंगा खलु अंगोवंगाईं सेसाईं ॥  
हुंति उवंगा कण्णा नासञ्छी जंघ हत्थ पाया य ।  
अंगोवंगा अंगुलिनहकेसामसु एमाइ ॥  
तेसि उत्तरकरणं बोधव्वं कण्णखंधमाईयं ।  
इंदियकरणा ताणि य उवघायविसोहिओ हुंति ॥

अवयवविभागविरहितमौदारिकशरीराणां प्रथमम-  
भिनिरवत्तनं तत् मूलकरणं... औदारिकवैक्रियाहारेषु  
तैजसकार्मणयोस्तदसम्भवादङ्गोपाङ्गनामैवोत्तरकरणम् .....  
अंगोपांगनामशब्देनाङ्गोपाङ्गनामकर्मनिर्वृत्तितान्यंगोपांगानि  
गृह्यन्ते ।... वृद्धास्त्वंगान्वपि मूलकरणमिति मन्यन्ते,  
आपेक्षिकत्वाच्चमूलोत्तरत्वयोरुभयथाऽप्यविरोधः ।... एवं  
वैक्रियस्यापि, आहारकस्य तु नास्त्येव, गमनादिना  
वा तस्याप्युत्तरकरणम् ।

(उनि १८८-१९१ शाब् प १९७)

सज्जीवं मूलुत्तरकरणं मूलकरणं जमाईयं ।  
पंचण्हं देहाणं उत्तरमाइत्तियस्सेव ॥  
मूलकरणं सिरोरुपिट्टी बाहोदरोरुनिम्माणं ।  
उत्तरमवसेसाणं करणं केसाइकम्मं व ॥  
संठवणमणेगविहं दुव्हं, पढमस्स भेसएहि पि ।  
वण्णाईणं करणं, परिकम्मं तइयए तत्थि ॥

(विभा ३३१३ ३३१५)

प्रयोगकरण के दो प्रकार हैं—जीवप्रयोगकरण और  
अजीवप्रयोगकरण ।

जीव औदारिक आदि शरीरों का निर्माण करता  
है, वह जीवप्रयोगकरण कहलाता है। उसके दो भेद  
हैं—

१. मूलकरण—शरीर का अवयवविभाग से रहित  
प्रथम निर्माण मूलकरण है। इसे पुद्गलसंचात-  
करण कहा जा सकता है। यह पांचों शरीरों का  
हीता है।
२. उत्तरकरण—औदारिक, वैक्रिय और आहारक  
शरीर के अंग-उपांगों का निर्माण उत्तरकरण

कहलाता है, जो अंगोपांग नाम कर्म के उदय से  
निष्पन्न है। तैजस और कार्मण शरीर के अंगोपांग  
नहीं होते।

भाष्यकार ने अंगों के निर्माण को भी मूलकरण तथा  
हाथ, पैर, अंगुलि आदि उपांगों के निर्माण को उत्तरकरण  
कहा है—यह कथन आपेक्षिक है।

औदारिक शरीर का परिकर्म, परिवर्धन आदि  
करना भी उत्तरकरण है। जैसे—केश, नख, दांत आदि  
को संस्कारित करना, लक्षपाक तैल आदि भेषज द्रव्यों से  
शरीर के रूपलावण्य को बढ़ाना, कानों को खींचकर  
बड़ा करना, कंधों को मर्दन आदि से मजबूत बनाना  
आदि।

विषभक्षण आदि से आंख, कान आदि को क्षति  
पहुंचती है, दृष्टि और श्रवणशक्ति नष्ट हो जाती है।  
ब्राह्मी, समीरांजन आदि के द्वारा इन्द्रियों की ग्रहण-  
क्षमता वृद्धिगत होती है। इस प्रकार इन्द्रियकरण भी  
उत्तरकरण है।

इसी प्रकार केश, नख, दांत आदि के परिकर्म के  
रूप में वैक्रिय शरीर का उत्तरकरण होता है। आहारक  
शरीर के केश, नख, दांत आदि सहज रूप से ही विशिष्ट  
होते हैं, उनका परिकर्म नहीं किया जाता।

सिर, उर, उदर, पीठ, बाहुयुगल और ऊरुद्वय—ये  
आठ अंग हैं।

कर्णयुगल, नासिका, अक्षियुगल, जंघा, हाथ और  
पैर—ये उपांग हैं।

पाददुग्गं जंघोरू गातदुग्गं च दो य बाहूओ ।

गीवा सिरं च पुरिसो वारसअंगो.....॥

(तन्दीहावृ पृ ६९)

शरीर के बारह अंग हैं—दो पैर, दो जंघा, दो ऊरू,  
उर, पीठ, दो बाहु, ग्रीवा और सिर।

### ११. जीवप्रयोगकरण : संचातपरिशाटकरण

संचायण परिशाटणमुभयं करणमहवा सरीराणं ।  
आदानमुयणसमओ तदंतरालं च कालो सि ॥

(विभा ३३१६)

जीवप्रयोगकरण के तीन प्रकार हैं—

संचातकरण, परिशाटकरण और उभयकरण ।

पूर्वभक्तिक औदारिक आदि शरीरपुद्गलों को  
छोड़कर अग्रिम भव में पुनः पुद्गलों का संग्रहण संचात-

करण है। अथवा शरीरपुद्गलों का प्रथम ग्रहण संघात है।

औदारिक आदि पुद्गलों को छोड़ते समय चरम समय में उनका सर्वथा परित्याग परिशाटकरण है। संघात और परिशाट का कालमान एक-एक समय है। इन दोनों के अंतराल में उभयकरण होता है।

संघायणपरिसाडणउभयं तिसु दोसु नत्थि संघाओ ।....  
(उनि १९२)

तेयाकम्माणं पुण संताणोऽणाइओ न संघाओ ।

भव्वाण होज्ज साडो सेलेसीच्चरिमसमयम्मि ॥

उभयमणाइनिहणं, संतं भव्वाण होज्ज केसिच्चि ।

अंतरमणाइभावा अच्चंतविओगओ णेसि ॥

(विभा ३३३९, ३३४०)

औदारिक, वैक्रिय और आहारक— इन तीनों शरीरों के संघात आदि तीनों करण होते हैं। तैजस और कामंज शरीर प्रवाह रूप से अनादिकालीन हैं, अतः इनका संघात नहीं होता। संघात का विषय है गृह्यमाण शरीर का प्रथम समय। इसी प्रकार इनका परिशाट भी नहीं होता, केवल उन भव्यों के शैलेशी अवस्था के चरम समय में होता है, जो मुक्त होने वाले हैं।

तैजस और कामंज शरीर का उभयकरण अभव्यों की अपेक्षा अनादि-अनंत है। सिद्धिगमन के समय भव्यों की अपेक्षा यह सांत है।

### औदारिकशरीर : संघातपरिशाटकाल

तत्थोरालियसंघायकरणं एगसमइयं, जं पढमसमओव-  
वन्नगस्स । जहा तेल्ले ओगाहिमतो छूढो तप्पढमयाए  
आइयति, एवं जीवोऽवि उववज्जंतो पढमे समये गेण्हति  
ओरालियसरीरपाओग्गाइं दब्बाइं, न पुण मुंचति किच्चि ।  
परिसाडणावि समओ, मरणकालसमए एगंततो मुंचति, न  
णिण्हति । मच्चिभमकाले किच्चि गेण्हइ किच्चि मुंचति ।

(उशावृ प १९८)

औदारिक संघातकरण एक सामयिक होता है। जैसे तेल की तप्त कड़ाही में प्रक्षिप्त अपूप प्रथम क्षण में तेल को ग्रहण करता है, वैसे ही जीव उत्पत्ति के प्रथम समय में औदारिक शरीर के प्रायोग्य द्रव्य ग्रहण करता है। मृत्यु के समय पुद्गलों का एकांततः परिशाटन होता है, ग्रहण नहीं। यह भी एक सामयिक है। जीवन के मध्य भाग में पुद्गलों का ग्रहण और मोचन होता रहता है।

खुड्ढागभवग्गहणं तिसमयहीणं जहन्नमुभवस्स ।

पल्लतियं समऊणं उक्कोसोंतरालकालोऽयं ॥

दो विग्गहम्मि समया समओ संघायणाइ तेहणं ।

खुड्ढागभवग्गहणं सब्वजहण्णट्टिईकालो ॥

(विभा ३३१७, ३३१८)

शरीरपुद्गलों के संघात और परिशाट के मध्य का काल संघातपरिशाट अथवा उभय काल है। इसका जघन्य कालमान तीन समय न्यून एक क्षुल्लक-भवग्रहण (दो सौ छप्पन आवलिका) तथा उत्कृष्ट कालमान एक समय न्यून तीन पल्योपम है।

एक उच्छ्वासनिःश्वासप्रमाण काल में एक जीव साढे सतरह क्षुल्लकभव ग्रहण कर सकता है। एक क्षुल्लकभव वाले प्राणी का आयुष्य दो सौ छप्पन आवलिका है। एक जीव दो समय वाली विग्रह गति कर तीसरे समय में क्षुल्लकभव में उत्पन्न होता है। विग्रह-गति के दो समय और उत्पत्ति के समय संघात का एक समय— इस प्रकार तीन समय न्यून दो सौ छप्पन आवलिका संघातपरिशाट का सर्वजघन्य काल है।

देवकुरु आदि में उत्पन्न जीव प्रथम समय में औदा-  
रिकशरीर का संघात कर तीन पल्योपमप्रमाण उत्कृष्ट  
आयु भोगकर मरता है, उसकी अपेक्षा संघातपरिशाट  
का उत्कृष्ट कालमान संघात का एक समय न्यून तीन  
पल्योपम होता है।

### आहारक शरीर : संघातपरिशाटकाल

आहारोभयकालो दुविहोयंतरंतियं जहन्नं ति ।

अंतोमुहुत्तमुक्कोसमद्वपरियट्टमूणं च ॥

(विभा ३३३८)

आहारक शरीर का संघात और परिशाट एक-एक समय का होता है। संघातपरिशाटात्मक उभय काल जघन्य और उत्कृष्ट—दोनों ही अंतर्मुहूर्त है, क्योंकि आहारक शरीर का स्थितिकाल अंतर्मुहूर्त ही है।

चतुर्दशपूर्वी आहारक शरीर का निर्माण कर प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उसे छोड़ देता है और पुनः प्रयोजन होने पर अंतर्मुहूर्त पश्चात् पुनः आहारकशरीर का निर्माण कर सकता है— इस प्रकार संघातपरिशाट का जघन्य अंतरकाल अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अंतरकाल किंचित् न्यून अर्धपुद्गलपरावर्त है। एक चतुर्दशपूर्वी प्रमाद के कारण प्रतिपतित हो वनस्पति आदि में इतने काल तक रहकर पुनः चतुर्दशपूर्वी हो सकता है।

**शरीरप्रयोगकरण**

इतो उत्तरकरणं शरीरकरणं पओगनिष्कन् ।.... तस्य प्रयोगः—वीर्यान्तरायक्षयोपशमजजीववीर्यजनितो व्यापारः तेन निष्पन्नं शरीरकरणप्रयोगनिष्पन्नम्, अत एव शरीरनिष्पत्त्यपेक्षयाऽस्योत्तरत्वम् ।

(उनि १९३ शावू प २०१)

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाला जीव का वीर्यजनित व्यापार शरीरप्रयोगकरण है । शरीर की निष्पत्ति जीवमूलप्रयोगकरण है और शरीर की प्रवृत्ति उत्तरप्रयोगकरण है । इसके चार भेद हैं -

१. संघात—तंतुओं के संघात से पट का निर्माण ।
२. परिशाट—अतिरिक्त भाग के परिशाट से शंख का निर्माण करना आदि ।
३. मिश्र—कीलिका आदि का संघात तथा अतिरिक्त काष्ठ का परिशाट कर शकट का निर्माण करना ।
४. प्रतिषेध—न संघात, न परिशाट । जैसे स्थूणा को ऊपर-नीचे करना ।

यद्यपि यह अजीव का उत्तरकरण है, किंतु जीव के द्वारा किया जाता है, इस अपेक्षा से इसे जीवकरण कहा गया है ।

**१२. औदारिक शरीर और रोग**

सासे खासे जरे डाहे, कुच्छिसूले भगंदरे ।  
अरिसा अजीरए दिट्टी-मुहसूले अरोयए ॥  
अच्छिवेयण कंडू थ, कन्नवाहा जलोयरे ।  
कोढे एमाइणो रोगा, पीलयति सरीरिणं ॥

(उसुवू प १६३)

श्वास, खांसी, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगंदर, अर्सी, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मुखशूल, अरुचि, अक्षिवेदना, खाज, कर्णबाधा, जलोदर, कोढ आदि रोग शरीर को पीड़ित करते हैं ।

अरतिः बातादिजनितश्चित्तोद्वेगः । विध्यतीव शरीरं सूचिभिरिति विसूचिका—अजीर्णविशेषः ।

(उशावू प ३३८)

वायु आदि से उत्पन्न चित्त का उद्वेग अरति कहलाता है ।

अजीर्णविशेष को विसूचिका कहते हैं । इसमें रोगी को ऐसा महसूस होता है कि शरीर सूइयों से बीधा जा

रहा है ।

आतङ्केन—आशुधातिना शूलविसूचिकादिरोगेण ।

(उशावू प २४६)

आङ्किति सर्वात्मप्रदेशाभिव्याप्या तद्भ्रयन्ति—कृच्छ्र-जीवितमात्मानं कुर्वन्तीत्यातङ्काः—सद्योघगतिनो रोग-विशेषाः ।

(उशावू प ३३८)

शिरःशूल, विसूचिका आदि सद्योघाती रोग आतंक कहलाते हैं । आतंक सर्व आत्मप्रदेशों में व्याप्त हो कष्ट पहुंचाता है । यह प्राणी को अल्पजीवी बनाता है ।

मुत्तनिरोहे चक्खू, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ ।

उड्डनिरोहे कोट्टं, गेलन्नं वा भवे तिसुवि ॥

(ओनि १९७)

शारीरिक आवेगों को रोकने से व्याधियां होती हैं । मूत्रनिरोध से दृष्टि लुप्त हो जाती है । मलनिरोध से मृत्यु तक हो जाती है । ऊर्ध्ववायु के निरोध से कोढ का रोग हो जाता है । तीनों के निरोध से शक्ति की क्षीणता होती है ।

**१३. शरीर-धारण का प्रयोजन**

बहिया उड्डमादाय, नावकसे कयाइ वि ।

पुव्वकम्मखयट्टाए, इमं देहं समुद्धरे ॥

(उ ६।१३)

बाह्य—शरीर से भिन्न ऊर्ध्व—आत्मा है । इसे स्वीकार कर किसी प्रकार की आकांक्षा न करे । पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे ।

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।

संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥

(उ २३।७३)

जीव नाविक है । संसार समुद्र है । उसको तैरने का एकमात्र साधन है नौका । वह नौका शरीर ही है ।

**१४. शरीर-प्रत्याख्यान का परिणाम**

सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वक्सेइ । सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगम्ममुवगए परमसुही भवइ ।

(उ २९।३९)

शरीर के प्रत्याख्यान (देहमुक्ति) से जीव मुक्त आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करता है और लोक के शिखर पर पहुंचकर परम सुखी हो जाता है ।



**शरीरपर्याप्ति**—शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण परिणमन और उत्सर्ग करने वाली पौद्गलिक शक्ति । (द्र. पर्याप्ति)

**शान्ति**—सोलहवें तीर्थंकर । (द्र. तीर्थंकर)

**शासन-भेद**—अर्हत् पार्श्व और श्रमण महावीर के शासन में होने वाला आचार-भेद और व्यवस्था-भेद ।

### १. चातुर्याम और पंचयाम

० भेद का कारण

\* रात्रिभोजनविरमण और शासनभेद

(द्र. रात्रिभोजनविरमण)

### २. सामायिक और छेदोपस्थापनीय

### ३. प्रतिक्रमण का भेद

### ४. सचेल और अचेल

### ५. वेश के प्रति दृष्टिकोण

### ६. अचेलता के परिणाम

### ७. परिहारविशुद्धि चारित्र

## १. चातुर्याम और पंचयाम

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ ।

देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥

(उ २३।१२)

धर्म के दो प्रकार हैं—

१. चातुर्याम धर्म २. पंचयाम धर्म ।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, बाह्य-आदान-विरति—इस चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन अर्हत् पार्श्व ने किया है । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इस पंच शिक्षात्मक धर्म का प्रतिपादन भगवान् महावीर ने किया है ।

**भेद का कारण**

एगकज्जपवन्नाणं विसेसे कि नु कारणं ? ।

धम्मो दुविहे मेहावि, क्हं विप्पच्चओ न ते ? ॥

पुरिमा उज्जुजडा उ, वंकजडा य पच्छिमा ।

मज्झिमा उज्जुवन्ना य, तेण धम्मो दुहा कए ॥

पुरिमाणं दुविसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ ।

कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥

(उ २३।२४, २६, २७)

कुमारश्रमण केशी ने पूछा—गौतम ! हमारा एक ही उद्देश्य है, फिर इस भेद का क्या कारण है ? धर्म के इन दो प्रकारों में तुम्हें संदेह कैसे नहीं होता ?

गौतम ने कहा—पहले तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड़ होते हैं । अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड़ होते हैं । बीच के तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं, इसलिए धर्म के दो प्रकार किए हैं ।

पूर्ववर्ती साधुओं के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है । चरमवर्ती साधुओं के लिए मुनि के आचार का पालन कठिन है । मध्यवर्ती साधु उसे यथावत् ग्रहण कर लेते हैं और उसका पालन भी वे सरलता से कर लेते हैं ।

## २. सामायिक और छेदोपस्थापनीय

बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवइसंति ।

छेओवट्ठावणयं पुण वयति उसभो य कीरो य ॥

(आवनि १२४६)

बाईस तीर्थंकर सामायिक चारित्र का व्यवस्थापन करते हैं । अर्हत् ऋषभ तथा महावीर छेदोपस्थानीय की भी व्यवस्था करते हैं ।

## ३. प्रतिक्रमण का भेद

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं ॥

(आवनि १२४४)

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है—उनका धर्म सप्रतिक्रमण धर्म है । शेष तीर्थंकरों के शासन में कारण (अतिचार आदि) होने पर प्रतिक्रमण किया जाता है ।

## ४. सचेल और अचेल

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।

देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा ॥

(उ २३।२९)

महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक है और महान् यशस्वी पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह सान्तर (अन्तर वस्त्र) तथा उत्तर (उत्तरीय वस्त्र) है ।

अचेलं—चेलाभावो जिनकल्पिकादीनाम् । अन्येषां तु भिन्नमल्पमूल्यं च चेलमप्यचेलमेव । (उशावृ प ८२)

अचेल के दो अर्थ हैं—

१. वस्त्र का अभाव या वस्त्र न रखना । इस अपेक्षा से जिनकल्प भुनि अचेल होते हैं ।
२. अल्प परिमाण में और अल्पमूल्य वाले वस्त्र रखना, अखंड वस्त्र ग्रहण न करना ।

## ५. वेश के प्रति दृष्टिकोण

पञ्चयत्थं य लोगस्स, नानाविह्विगप्पणं ।....

अहं भवे पइष्णा उ, भोक्खसन्भूयसाहणे ।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥

(उ २३।३२,३३)

व्यावहारिक दृष्टिकोण—

लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई है ।

नैश्चयिक दृष्टिकोण—

यदि मोक्ष के वास्तविक साधन की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय-दृष्टि में उसके साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ही हैं ।

## ६. अचेलता के परिणाम

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ । लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते पागडल्लिगे पसत्थल्लिगे विमुद्धसम्मत्ते सत्तसमिइ-समत्ते सन्वपाणभूय-जीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे अप्पडिलेहे जिइदिए विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ ।

(उ २९।४३)

प्रतिरूपता (अचेलता) से जीव हलकेपन को प्राप्त होता है । उपकरणों के अल्पीकरण से हल्का बना हुआ जीव अप्रमत्त, प्रकटलिंग वाला, प्रशस्त लिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, पराक्रम और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए विश्वसनीय रूप वाला, अल्प प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है ।

## ७. परिहारविशुद्धि चारित्र्य

ठियकप्पे च्चिय नियमा दो पुरिसजुगाइं ते होति ॥

(विभा १२७६)

परिहारविशुद्धि चारित्र्य प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही होता है ।

(भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर के शासन-भेद के इस बिन्दु—

भगवान् पार्श्व	भगवान् महावीर
१. चातुर्यामि	१. पांच महाव्रत
२. सामायिक चारित्र्य	२. छेदोपस्थापनीय चारित्र्य
३. रात्रिभोजन न करना	३. रात्रिभोजन न करना
उत्तर गुण	मूल गुण
४. सचेल	४. अचेल
५. दोष होने पर प्रतिक्रमण	५. नियमतः दो बार प्रतिक्रमण
६. औद्देशिक—एक साधु के लिए बने आहार का दूसरे द्वारा ग्रहण	६. औद्देशिक—एक साधु के लिए बने आहार का दूसरे द्वारा वर्जन ।
७. राजपिण्ड का ग्रहण	७. राजपिण्ड का वर्जन
८. मासकल्प का अनियम । जीवन-भर एक गांव में रहने का विधान । कीचड़ और जीव-जन्तु न हो उस स्थिति में वर्षा-काल में भी विहार का विधान ।	८. मासकल्प का नियम—एक स्थान में एक मास से अधिक न रहने का विधान । वर्षकाल में विहार न करने का विधान ।
९. पर्युषण कल्प का अनियम ।	९. पर्युषण कल्प का नियम । जघन्यतः भाद्रव-शुक्ला पंचमी से कार्तिक शुक्ला पंचमी तक और उत्कृष्टतः आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक एक स्थान में रहने का नियम ।

१०. ×

१०. परिहारविशुद्धि चारित्र्य । विस्तृत जानकारी के लिए देखें—उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ १२३-१३१)

## शिक्षा - अध्ययन । अभ्यास ।

१. शिक्षा के प्रकार

२. श्रवणविधि

३. शिक्षाग्रहण की विधि

४. कैसे सीखें ?

५. श्रुत-अध्ययन के उद्देश्य

६. शिक्षा की अर्हता

\* योग्य-अयोग्य श्रोता : मुद्गशंख आदि दृष्टान्त  
(द्र. परिषद्)

७. अयोग्य को वाचना देने से हानि

८. शिक्षारत्न के लक्षण

९. शिक्षा के बाधक तत्त्व

## १. शिक्षा के प्रकार

सिक्खा दुविहा, तं जहा-ग्रहणसिक्खा आसेवणसिक्खा य । ग्रहणसिक्खा नाम सुत्तस्थाणं ग्रहणं । आसेवणासिक्खा नाम जे तत्त्व करणिज्जा जोगा तेसि काएणं संफासणं, अकरणिज्जाण य वज्जणया । (दजिचू पृ २०९)

शिक्षा के दो प्रकार हैं—

१. ग्रहण शिक्षा—सूत्र और अर्थ को ग्रहण करना ।

२. आसेवन शिक्षा—जो करणीय अनुष्ठान हैं, उनका काया से संस्पर्श करना—आचरण करना और जो अकरणीय हैं, उनका वर्जन करना ।

आसेवणसिक्खा जथा ओहसामायारीए पयविभाग-सामायारीए य वण्णितं । ग्रहणसिक्खाइ सुयं जथा भगवता धूलभट्टसामिणा गहितं अणिविण्णेणं होत्तण ।

(आवचू २ पृ १५७, १५८)

जो ओष सामाचारी और पदविभाग सामाचारी में वर्णित है, वह आसेवन शिक्षा है । भगवान् स्थूलभद्रस्वामी ने अश्रांतभाव से (आचार्य भद्रबाहु से) जो श्रुत ग्रहण किया, वह ग्रहण शिक्षा है ।

## २. श्रवण-विधि

सूअं हुंकारं वा, वाढककार पडिपुच्छ वीमंसा ।

तत्तो पसंगपारायणं परिणिट्टं सत्तमए ॥

(नन्दी १२७।४)

श्रवण-विधि के सात अंग—

मूक - मूक, मौन भाव से सुनना ।

हुंकार - 'हुं' ऐसा कहकर स्वीकार करना ।

वाढंकार - ऐसा ही है अन्यथा नहीं है, ऐसे कहना ।

प्रतिपृच्छा—प्रश्न करना ।

विमर्श—पुनः विचार-विमर्श करना ।

प्रसंगपारायण—सुने हुए श्रुतप्रसंग का पारायण करना ।

परिनिष्ठा—तत्त्वनिरूपण में पारगमिता प्राप्त करना ।

इस श्रवण-विधि से श्रुत की समीचीन प्राप्ति होती है ।

श्रुतग्रहण की प्रक्रिया

(द्र. बुद्धि)

## ३. शिक्षाग्रहण की विधि

सिक्खयमंतं नीयं हिययम्मि ठियं जियं दुयं एइ ।

संखियवण्णाइ मियं परिजियमेत्तुकमेणं पि ॥

जह सिक्खियं सनामं तह तं पि तहा ठियाइ नामसमं ।

गुरुभणियघोससरिसं गहियमुदत्तादओ ते य ॥

(विभा ८५१, ८५२)

## ग्रहण-विधि के सात सूत्र—

शिक्षित - सीख लेना, कण्ठस्थ कर लेना ।

स्थित - अप्रच्युत बना लेना, हृदय में व्यवस्थित कर लेना ।

चित - शीघ्र याद आ जाना ।

मित - वर्ण आदि का संख्या-परिमाण जान लेना ।

परिचित - उत्क्रम या प्रतिलोम पद्धति से दोहरा लेना ।

नामसम - अपने नाम के समान सदा स्मृति में अवस्थित रखना ।

घोषसम - वाचनाचार्य द्वारा कृत उदात्त-अनुदात्त-स्वरित घोष के समान घोष ग्रहण करना ।

## ४. कैसे सीखें ?

न वि हीणक्खरमहियक्खरं च वोच्चत्थरयणमाल व्व ।

वाइद्धक्खरमेवं वच्चासियवण्णविण्णासं ॥

न खलियमुवलहलं पिव, न मिलियमसरुव धण्णमेलो व्व ।

वोच्चत्थगंधमहवा अमिलियपय-वक्कविच्छेयं ॥

न य विविहसत्थपत्तवविमिस्समट्टाणच्छिन्नगहियं वा ।

विच्चामेलिय कोलियपायसमिव भेरिकंथ व्व ॥

मत्ताइनिययमाणं पडिपुण्णं छंदसाहवज्जेणं ।

नाकंखाइसदोसं पुण्णमुदत्ताइघोसेहि ॥

कठोट्टुविप्पमुक्कं नाव्वत्तं बाल-मूयभणियं व ।

गुरुवायणोवयातं न चोरियं पोत्थयाओ वा ॥

(विभा ८५३-८५७)

## सीखने के दस सूत्र—

अहीनाक्षर - अक्षर हीन न हो ।

अनत्यक्षर - अक्षर अधिक न हो ।

अव्याविद्धाक्षर - जिसका वर्णविन्यास ग्रामीण अहीरन के

द्वारा पिरोई गई माला के रत्नों के समान विपर्यस्त न हो।

अस्खलित— जो विषम भूमि पर स्खलित गति से चलने वाले हल के समान न हो।

अमीलित पद-वाक्य— विजातीय धान्य के समान जिसके पद, वाक्य आदि आपस में मिले हुए न हों अथवा जिसके पदच्छेद, वाक्यविच्छेद आदि मिले हुए न हों।

अव्यत्याग्रे दित— जिसमें विविध शास्त्रों के वाक्यों का मिश्रण न हो अथवा जो कोलिक-पायस या भेरी-कन्था के समान न हो।

परिपूर्ण— जो मात्रा आदि से निश्चित परिमाण वाला हो तथा जिसमें आकांक्षा -- क्रिया आदि के अध्याहार की अपेक्षा न हो।

पूर्णघोष— परावर्तन काल में उदात्त आदि घोषों से परिपूर्ण उच्चारण हो।

कण्ठौष्ठ-विप्रमुक्त— कण्ठ, होठ आदि से स्पष्ट उच्चारण हो। जो बाल, मूक आदि के कथन के समान अव्यक्त न हो।

गुरुवाचनोपगत— जो गुरु के द्वारा साक्षात् पढ़ाया हुआ हो, पुस्तक से पढ़ा हुआ न हो अथवा गुरु दूसरे को पढ़ा रहे हों, उसे सुनकर सीखा हुआ न हो।

## ५. श्रुत-अध्ययन के उद्देश्य

चउज्विहा खलु सुयसमाही भवइ, तं जहा —

१. सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ ।
२. एमग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ ।
३. अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ ।
४. ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ ।

(द १।४।५)

श्रुत-समाधि (श्रुताध्ययन) के चार हेतु—

१. मुझे श्रुत का लाभ होगा, ज्ञान बढ़ेगा।
२. मैं एकाग्र-चित्त हो पाऊंगा।
३. मैं स्वयं को धर्म में स्थापित करूंगा।
४. मैं स्वयं धर्म में स्थापित होकर दूसरों को उसमें स्थापित करूंगा।

तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा, उत्तमट्टावेसए ।

जेणऽप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणेज्जासि ॥

(उ ११।३२)

श्रुत-अध्ययन के तीन प्रयोजन हैं—

१. परम अर्थ (मोक्ष) की खोज।
२. स्वयं सिद्धि प्राप्त करने की अर्हता।
३. दूसरों को सिद्धि प्राप्त कराने की क्षमता।

अज्झप्पस्साणयणं, कम्मणं अवचओ उवचियाणं ।  
अणुवचओ य नवाणं, तम्हा अज्झयणमिच्छंति ॥

(अनु ६३१)

अध्ययन के तीन उद्देश्य हैं—

- ० अध्यात्म की उपलब्धि।
- ० उपचित्त कर्मों का अपचय/क्षय।
- ० नये कर्मों का अनुपचय/निरोध।

जेण सुहज्झप्पजणं अज्झप्पाणयणमहियमयणं वा ।  
बोहस्स संजमस्स व मोक्खस्स व जं तमज्झयणं ॥

(विभा ९६०)

जिससे शुभ चित्त का निर्माण होता है, अध्यात्म की उपलब्धि होती है तथा जिससे बोधि, संयम और बन्धन-मुक्ति के तथ्यों की अधिक प्राप्ति होती है, वह अध्ययन है।

## ६. शिक्षा की अर्हता

उवहियजोग्गदव्वो देसे काले परेण विणएणं ।

चित्तण्णु अणुकूलो सीसो सम्मं सुयं लहइ ॥

(विभा ९३७)

गुरु का अतिशय विनय करने वाला, देश और काल के अनुकूल द्रव्य—अंशन, पान, वस्त्र, पात्र, औषध आदि उपलब्ध कराने वाला, अभिप्राय को जानने वाला अनुकूल शिष्य सम्यक् श्रुत को प्राप्त करता है।

विणओणएहि कयपंजलीहि छंदमणुअत्तमाणेहि ।

आराहिओ गुरुजणो सुयं बहुविहं लहं देइ ॥

(आवनि १३८)

जो शिष्य विनीत है, बढ़ांजलि होकर गुरु से बात करता है, गुरु के अभिप्राय का अनुवर्तन करता है, जो गुरुजनों की आराधना करता है, उसे गुरु विविध प्रकार का ज्ञान शीघ्र करा देते हैं।

जे आयरियउवज्झायाणं, सुस्सुसावयणंकरा ।

तेसि सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥

(द ९।२।१२)

जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते हैं, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे जल से सींचे हुए वृक्ष।

वसे गुरुकुले निच्छं, जोगवं उवहाणवं ।  
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धमरिहई ॥

(उ ११।१४)

जो सदा गुरुकुल में वास करता है, जो एकाग्र होता है, जो उपधान-तप करता है, जो प्रिय व्यवहार करता है, जो प्रिय बोलता है वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है ।

### ७. अयोग्य को वाचना देने से हानि

आयरिए सुत्तम्मि य परिवाओ सुत्तअत्थपल्लिमंथो ।  
अन्नेसि पि य हाणी पुट्टा वि न दुद्धया वंक्का ॥

(विभा १४५७)

जो एक अर्थपद को भी यथार्थ रूप से ग्रहण नहीं कर पाता, ऐसे अयोग्य शिष्य को वाचना देने से आचार्य और श्रुत का अवर्णवाद होता है । कोई कहता है—आचार्य कुशल नहीं है, उनमें प्रतिपादन की क्षमता नहीं है । कोई कहता है—श्रुतग्रंथ परिपूर्ण अथवा उपयुक्त नहीं है ।

उस शिष्य को वाचना देने में समय अधिक बीत जाता है, इससे आचार्य सूत्र और अर्थ का परावर्तन नहीं कर सकते, अन्य योग्य शिष्यों को पूर्ण वाचना नहीं दे सकते । इस प्रकार सूत्र और अर्थ की परिहानि होती है ।

जैसे वन्ध्या गाय सस्नेह आस्फालन करने पर भी दूध नहीं देती, वैसे ही मूढ शिष्य कुशल गुरु से एक अक्षर भी ग्रहण नहीं कर सकता । अयोग्य को वाचना देने वाला बलेश का अनुभव करता है और प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

थंमा व कोहा व मयप्पमाया

गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।

सो चेव उ तस्स अभूइभावो

फलं व कीयस्स वहाय होइ !

(द ९।१।१)

जो मुनि गर्वं, क्रोध, माया या प्रमादवश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नहीं लेता, वही विनय की अशिक्षा उसके विनाश के लिए होती है । जैसे कीचक (बांस) का फल उसके वध के लिए होता है ।

पक्षाः पिपीलिकानां, फलानि तलकदलीवंशपत्राणाम् ।

ऐश्वर्यञ्चाविदुषामुत्पद्यन्ते विनाशाय ॥

(दअचू पृ २०६)

चींटियों के पर, ताड़, कदली और बांस के फल तथा

अविद्वान्—विवेकहीन व्यक्ति का ऐश्वर्य उसी के विनाश के लिए होता है ।

### ८. शिक्षाशील के लक्षण

अह अट्ठहिं ठाणेहि, सिक्खासीले त्ति बुच्चई ।

अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे ॥

नासीले न विसीले, न सिया अइल्लोलुए ।

अकोहणे सच्चरणे, सिक्खासीले त्ति बुच्चई ॥

(उ ११।४,५)

शिक्षाशील व्यक्ति के आठ लक्षण—

१. जो हास्य नहीं करता ।
२. जो सदा इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण रखता है ।
३. जो मर्म का प्रकाशन नहीं करता ।
४. जो चरित्र से हीन नहीं है ।
५. जिसका चरित्र दोषों से कलुषित नहीं है ।
६. जो रसों में अतिलोलुप नहीं है ।
७. जो क्रोध नहीं करता ।
८. जो सत्यनिष्ठ है ।

### ९. शिक्षा के बाधक तत्त्व

अह पंचहिं ठाणेहि, जेहि सिक्खा न लब्भई ।

थंभा कोहा पमाएणं, रोमेणाजलस्सएण य ॥

(उ ११।३)

अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य—इन पांच हेतुओं से शिक्षा प्राप्त नहीं होती ।

शिष्य—अनुशासन में रहने वाला ।

### १. सुविनीत शिष्य कौन ?

#### २. अनुशासन और शिष्य

#### ३. शिष्य का कर्तव्य

#### ४. आचार्य के समीप बैठने की विधि

#### ५. आचार्य के साथ वार्तालाप की विधि

#### ६. विनीत शिष्य की उपलब्धियां

#### ७. विनीत शिष्य और अश्व

#### ८. अविनीत शिष्य कौन ?

#### ९. अविनीत शिष्य का स्वभाव

#### १०. अविनीत शिष्य : कुछ उपमाएं

#### ११. अविनय का परिणाम

\* आचार्य की आशातना के परिणाम (द्र. आचार्य)

\* विनीत शिष्य : शिक्षा की अर्हता (द्र. शिक्षा)

### १. सुविनीत शिष्य कौन ?

अह पन्नरसहिं ठाणेहि, सुविणीए त्ति बुच्चई ।

नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥

अप्यं चाऽहिक्खवई, पबंधं च न कुव्वई ।  
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धं न मज्जई ॥  
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।  
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥  
कलहडमरवज्जए, बुद्धे अभिजाइए ।  
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥

(उ ११।१०-१३)

सुविनीत शिष्य के पन्द्रह लक्षण—

१. जो नम्र व्यवहार करता है ।
२. जो चपल नहीं होता ।
३. जो मायावी नहीं होता ।
४. जो कुतूहल नहीं करता ।
५. जो किसी का तिरस्कार नहीं करता ।
६. जो क्रोध को टिकाकर नहीं रखता ।
७. जो मित्रभाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञ होता है ।
८. जो श्रुत प्राप्त कर मद नहीं करता ।
९. जो स्वखलना होने पर किसी का तिरस्कार नहीं करता ।
१०. जो मित्रों पर क्रोध नहीं करता ।
११. जो अप्रिय मित्र की भी एकांत में प्रशंसा करता है ।
१२. जो कलह और हाथापाई का वर्जन करता है ।
१३. जो कुलीन होता है ।
१४. जो लज्जावान् होता है ।
१५. जो प्रतिसंलीन—इन्द्रिय और मन का संगोपन करने वाला होता है ।

अन्य तीन लक्षण—

आणानिहेसकरे गुरुणमुववायकारए ।

इगियागार-संपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥

(उ १।२)

१. जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है ।
२. जो गुरु की श्रुषा करता है ।
३. जो गुरु के इंगित और आकार को जानता है ।

आज्ञा-निर्देशकर

आज्ञा—भगवदभिहितायमरूपा तस्या निर्देशाउत्सर्गं—  
अपवादाभ्यां प्रतिपादनमाज्ञानिर्देशः, इदमित्थं विधेयमिद-  
मित्थं वेत्थेवमात्मकः तत्करणशीलस्तदनुलोमानुष्ठानो वा  
आज्ञानिर्देशकरः । (उशावृ प ४४)

अर्हत् कथित आगमरूप आज्ञा का उत्सर्ग और

अपवादविधि से प्रतिपादन करना आज्ञानिर्देश है । उसके अनुरूप अनुष्ठान करने वाला शिष्य आज्ञानिर्देशकर कहलाता है । अथवा 'यह ऐसे करो, यह ऐसे करो' इस प्रकार के आज्ञानिर्देश का पालन करने वाला आज्ञानिर्देशकर कहलाता है ।

गुरु-उपपातकारक

आचार्यादीनां उपपातः दृग्वचनविषयदेशावस्थानं तस्कारकः—तदनुष्ठाता, न तु गुर्वादेशादिभीत्या तद्व्यवहितदेशस्थायी । (उशावृ प ४४)

जहां बैठा हुआ शिष्य गुरु को दृग्गोचर होता रहे, जहां बैठा हुआ वह गुरु के वचन को सुन सके, उतनी दूरी तक बैठना उपपात है । जो इसका पालन करता है, वह उपपातकारक कहलाता है । वह इस भय से दूर नहीं बैठता कि कहीं गुरु मुझे कुछ आदेश न दे दें ।

इंगित-आकारसम्प्रज्ञ

इंगितं—निपुणमतिगम्यं प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचकमीषद् भ्रूशिरःकम्पादि, आकारः स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादि-भावाभिव्यञ्जको दिग्बलोकनादिः । अनयोर्द्वन्द्वे इंगिताकारौ तौ अर्थाद् गुरुगतौ सम्यक् प्रकर्षेण जानाति इंगिताकारसंप्रज्ञः । यद्वा इंगिताकाराभ्यां गुरुगतभाव-परिज्ञानमेव कारणे कार्योपचाराद् इंगिताकारशब्देनोक्तं तेन सम्पन्नो—युक्तः । (उशावृ प ४४)

अत्यन्त निपुणमति के द्वारा जानने योग्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के सूचक भ्रूकंपन, शिरःकम्पन आदि सूक्ष्म चेष्टाएं इंगित हैं ।

स्थूलबुद्धि के द्वारा ज्ञेय, प्रस्थान आदि के भावों को अभिव्यंजित करने वाली दिग् अवलोकन आदि स्थूल चेष्टाएं आकार हैं ।

आगारिगियकुसलं जइ सेयं वायसं दए पुज्जा ।

तहवि य सि न विकूडे विरहम्मि य कारणं पुच्छे ॥

(विभा ९३३)

इंगित-आकार को जानने वाला विनीत शिष्य 'कौआ सफेद है'—गुरु के इस कथन को भी सहजता से स्वीकार कर लेता है । जिज्ञासा होने पर एकांत में गुरु से इसका रहस्य पूछता है ।

२. अनुशासन और शिष्य

जं मे बुद्धाणुसासत्ति, सीएण फरुसेण वा ।  
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥  
अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं ।  
हियं तं मन्नए पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं ।  
वेसं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पर्यं ॥

(उ १।२७-२९)

आचार्य मुझ पर कोमल या कठोर वचनों से जो अनुशासन करते हैं, वह मेरे लाभ के लिए है—ऐसा सोचकर, जागरूकतापूर्वक उनके वचनों को स्वीकार करे ।

मृदु या कठोर वचनों से किया जाने वाला अनुशासन हित-साधन का उपाय और दुष्कृत का निवारक होता है । प्रज्ञावान् मुनि उसे हित मानता है । वही असाधु के लिए द्वेष का हेतु बन जाता है ।

भयमुक्त बुद्धिमान् शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं । परन्तु मोहग्रस्त व्यक्तियों के लिए वही—सहिष्णुता और चित्त-विशुद्धि करने वाला गुणवृद्धि का आधारभूत—अनुशासन द्वेष का हेतु बन जाता है ।

खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे ।  
कल्लामणुसासतो, पावदिट्ठि त्ति मन्नई ॥  
पुत्तो मे भाय नाइ त्ति, साहू कल्लामण मन्नई ।  
पावदिट्ठि उ अप्पाणं, सासं दासं व मन्नई ॥

(उ १।३८, ३९)

पापदृष्टि वाला शिष्य गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को भी ठोकर मारने, चांटा चिपकाने, गाली देने व प्रहार करने के समान मानता है ।

गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह अपना समझकर शिक्षा देते हैं—ऐसा सोच विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है, परन्तु कुशिष्य हितानुशासन से शासित होने पर भी अपने को दास तुल्य मानता है ।

अप्पण्डा परट्टा य, सिप्पा जेउणियाणि य ।  
गिहिणो उवभोगट्टा, इहलोगस्स कारणा ॥  
जेण बंधं वहं धोरं, परियावं च दाहणं ।  
सिक्खमाणा नियच्छंति, जुत्ता ते ललिइदिया ॥  
ते वि तं गुरुं पूर्यंति, तस्स सिप्पस्स कारणा ।  
सक्कारेति नमंसंति, तुट्ठा निहेसवत्तिणो ॥  
कि पुण जे सुयग्गाही, अणंतहियकामए ।  
आयरिया जं वए भिक्खू, तम्हा तं नाइवत्तए ॥

(द ९।२।१३-१६)

जो गृही अपने या दूसरों के लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प और नैपुण्य सीखते हैं, वे पुरुष ललिते-

न्द्रिय होते हुए भी शिक्षाकाल में (शिक्षक के द्वारा) घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं । फिर भी वे उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते हैं, नमस्कार करते हैं और संतुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं ।

जो ध्यायमान को पाने में तत्पर और अनन्तहित (मोक्ष) का इच्छुक है उसका फिर कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो कहे, शिष्य उसका उल्लंघन न करे ।

### ३. शिष्य का कर्त्तव्य

अणुसासिओ न कुप्पेज्जा, खंति सेविज्ज पंडिए ।  
खुड्डेहि सह संसंगि, हासं कीडं च वज्जए ॥  
मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे ।  
कालेण य अहिज्जिता, तओ भाएज्ज एगमो ॥

(उ १।९, १०)

बुद्धिमान् शिष्य गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, क्षमा की आराधना करे । क्षुद्र व्यक्तियों के साथ संसर्ग, हास्य और क्रीडा न करे ।

मुनि चण्डालोचित कर्म (क्रूर व्यवहार) न करे । बहुत न बोले । स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे और उसके पश्चात् अकेला ध्यान करे ।

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मणा ।  
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि ॥

(उ १।१७)

लोगों के समक्ष या एकान्त में, वचन से या कर्म से, कभी भी आचार्यों के प्रतिकूल वर्तन न करे ।

न कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए ।  
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥  
आयरियं कुबियं नच्चा, पत्तिएण पसायए ।  
विज्जवेज्ज पंजलिउडो, वएज्ज न पुणो त्ति य ॥  
धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया ।  
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छइ ॥

(उ १।४०-४२)

शिष्य आचार्य को कुपित न करे । स्वयं भी कुपित न हो । आचार्य का उपघात करने वाला न हो । उनका छिद्रान्वेषी न हो ।

आचार्य को कुपित हुए जानकर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक (या प्रीतिकारक) वचनों से उन्हें प्रसन्न करे । हाथ जोड़कर उन्हें शांत करे और यों कहे कि 'मैं पुनः ऐसा नहीं करूंगा ।'

जो व्यवहार धर्म से अर्जित हुआ है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ मुनि कहीं भी मर्हा को प्राप्त नहीं होता।

अमोहं वयणं कुञ्जा, आयरियस्स महप्पणो ।  
तं परिगिञ्ज वायाए, कम्मणा उववायाए ॥

(द ८/३३)

मुनि महान् आत्मा आचार्य के वचन को सफल करे। (आचार्य जो कहे) उसे वाणी से ग्रहण कर कर्म से उसका आचरण करे।

नीयं सेज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य ।  
नीयं च पाए वदेज्जा, नीयं कुञ्जा य अंजलि ॥

(द ९/१२१७)

शिष्य (आचार्य से) नीची शय्या करे, नीची गति करे, नीचे खड़ा रहे, नीचा आसन करे, नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे और नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े।

#### ४. आचार्य के समीप बैठने की विधि

न पक्खओ न पुरओ, नेव किञ्चाण पिट्ठओ ।  
न जुंजे ऊरुणा ऊहं, सयणे नो पडिस्सुणे ॥  
नेव पल्लहत्थियं कुञ्जा, पक्खपिडं व संजए ।  
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणंतिए ॥

(उ १/१८, १९)

आचार्य के बराबर न बैठे,, आगे और पीछे भी न बैठे, उनके ऊरु से अपना ऊरु सटाकर न बैठे, बिछौने पर बैठा हुआ ही उनके आदेश को स्वीकार न करे। किन्तु उसे छोड़कर स्वीकार करे।

संयमी मुनि गुरु के समीप पालथी लगाकर (घुटनों और जंघाओं के चारों ओर वस्त्र बांधकर) न बैठे। पक्षपिण्ड कर (दोनों हाथों से घुटनों और साथल को बांधकर) तथा पैरों को फैलाकर न बैठे।

आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे ।  
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥

(उ १/३०)

जो गुरु के आसन से नीचा हो, अकंपमान हो और स्थिर हो, (जिसके पाये धरती पर टिके हुए हों) वैसे आसन पर बैठे, प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे और प्रयोजन के बिना तो उठे ही नहीं, बैठे तब स्थिर एवं शांत होकर बैठे, हाथ-पैर आदि से चपलता न करे।

#### ५. आचार्य के साथ वार्तालाप की विधि

आयरिएहि वाहितो, तुसिणीओ न कयाइ वि ।  
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया ॥  
आलवंते लवंते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि ।  
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥  
आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जा-गओ कया ।  
आगम्ममुक्कुडुओ संतो, पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥

(उ १/२०-२२)

आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर किसी भी अवस्था में मौन न रहे। गुरु के प्रसाद को चाहने वाला मोक्षाभिलाषी शिष्य सदा उनके समीप रहे।

धृतिमान् शिष्य गुरु के साथ आलाप करते और प्रश्न पूछते समय कभी भी बैठा न रहे, किन्तु वे जो आदेश दें, उसे आसन को छोड़कर संयत मुद्रा में यत्नपूर्वक स्वीकार करे।

आसन पर अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कभी भी गुरु से कोई बात न पूछे। उनके समीप आकर ऊकड़ू बैठ, हाथ जोड़कर पूछे।

अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अंतरा ।  
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥

(द ८/४६)

बिना पूछे न बोले, बीच में न बोले, पृष्ठमांस—चुगली न खाए और कपटपूर्ण असत्य का वर्जन करे।

#### ६. विनीत शिष्य की उपलब्धियाँ

वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए ।  
जहोवइट्ठं सुकयं, किञ्चाइं कुव्वईं सया ॥  
नच्चा नमइ मेहावी लोए कित्ती से जायए ।  
हवई किञ्चाणं सरणं, भूयाणं जगईं जहा ॥  
पुज्जा जस्स पसीयंति, संबुद्धा पुव्वसंधुया ।  
पसन्ना लाभइस्संति, विउलं अट्ठियं सुयं ॥  
स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसे, मणोरुईं चिट्ठईं कम्मसंपया ।  
तवोसमायारिसमाहिसंबुडे, महज्जुईं पंचवयाईं पालिया ॥  
स देवगंधव्वमणुस्सपूइए चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं ।  
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महिडिइए ॥

(उ १/४४-४८)

जो विनय से प्रख्यात होता है वह सदा बिना प्रेरणा दिए ही कार्य करने में प्रवृत्त होता है। वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पाकर तुरन्त ही उनके उपदेशानुसार



भलीभांति कार्य संपन्न कर लेता है ।

मेधावी मुनि उक्त विनय-पद्धति को जानकर उसे क्रियान्वित करते में तत्पर हो जाता है । उसकी लोक में कीर्ति होती है । जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार वह आचार्यों के लिए आधारभूत बन जाता है ।

उस पर तत्त्ववित् पूज्य आचार्य प्रसन्न होते हैं । अध्ययनकाल से पूर्व ही वे उसके विनय समाचरण से परिचित होते हैं । वे प्रसन्न होकर उसे मोक्ष के हेतुभूत विपुल श्रुतज्ञान का लाभ करवाते हैं ।

वह पूज्यशास्त्र होता है — उसके शास्त्रीयज्ञान का बहुत सम्मान होता है । उसके सारे संशय मिट जाते हैं । वह गुरु के मन को भाता है । वह कर्म-संपदा (दसविध सामाचारी) से सम्पन्न होकर रहता है । वह तपःसामाचारी और समाधि से संवृत होता है । वह पांच महाव्रतों का पालन कर महान् तेजस्वी हो जाता है ।

देव, गन्धर्व और मनुष्यों से पूजित वह विनीत शिष्य भल और पंक से बने हुए शरीर को त्यागकर या तो नाश्वत सिद्ध होता है या अल्पकर्म वाला महद्भिक देव होता है ।

### ७. विनीत शिष्य और अश्व

मा गलियस्से व कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।

कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ॥

(उ १/१२)

जैसे अविनीत घोड़ा चाबुक को बार-बार चाहता है, वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन (आदेश, उपदेश) को बार-बार न चाहे । जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड़ देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इंगित और आकार को देखकर अशुभ प्रवृत्ति छोड़ दे ।

रमए पण्डिए सासं, हयं भद्दं व वाहए ।

बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ।

(उ १/३७)

जैसे उत्तम छोड़े को हाकते हुए उसका वाहक आनंद पाता है, वैसे ही पंडित (विनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु आनन्द पाता है । जैसे दुष्ट छोड़े को हाकते हुए उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही बाल (अविनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु खिन्न होता है ।

### ८. अविनीत शिष्य कौन ?

अभिवखणं कोही हवइ, पबंधं च पकुब्बई ।  
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥  
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ ।  
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥  
पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिगगहे ।  
असंविभापी अचियत्ते, अविणीए त्ति वृच्चई ॥  
आणाऽनिहेसकरे गुरूणमणुववायकारए ।  
पडिणीए असंबुद्धे अविणीए त्ति वृच्चई ॥

(उ ११/७-९; १/३)

अविनीत शिष्य के लक्षण —

१. जो बार-बार क्रोध करता है ।
२. जो क्रोध को टिकाकर रखता है ।
३. जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है ।
४. जो श्रुत प्राप्त कर मद करता है ।
५. जो किसी की स्वलना होने पर उसका तिरस्कार करता है ।
६. जो मित्रों पर कुपित होता है ।
७. जो अत्यन्त प्रिय मित्र की भी एकांत में बुराई करता है ।
८. जो असंबद्धभापी है ।
९. जो द्रोही है ।
१०. जो अभिमानी है ।
११. जो सरस आहार आदि में लुब्ध है ।
१२. जो अजितेन्द्रिय है ।
१३. जो असंविभागी है ।
१४. जो अप्रीतिकर है ।
१५. जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता ।
१६. जो गुरु की शुश्रूषा नहीं करता ।
१७. जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है ।
१८. जो इंगित तथा आकार को नहीं समझता ।

कस्स न होही वेसो अनब्भुवगओ अ निहवगारी अ ।

अप्पच्छंदमईओ पट्टिअओ गंतुकामो अ ।

(आवनि १३७)

जो श्रुतसम्पदा से सम्पन्न नहीं है, निरूपकारी है, स्वच्छन्द बुद्धि वाला है, संयम से उत्प्रव्रजित होने वालों का साथ देने वाला है, स्वयं उत्प्रव्रजन के लिए समुचित रहता है — वह शिष्य अयोग्य — अप्रीतिकर होता है ।

## ६. अविनीत शिष्य का स्वभाव

इड्डीगारविए एगे, एगेत्थ रसगारवे ।  
 सयागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥  
 भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरए थद्धे ।  
 एगं च अणुसासंमि, हेऊहि कारणेहि य ॥  
 सी वि अंतरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई ।  
 आयरियाणं तं वयणं, पडिकूलेइ अभिक्खणं ॥  
 न या ममं वियाणाइ, न वि सा मज्झ वाहिइ ।  
 निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोत्थ वच्चउ ॥  
 पेसिया पलिउंचंति, ते परिशंति समंतओ ।  
 रायवेट्टि व मन्न्ता, करेति भिउडि मुहे ॥

(उ २७।९-१३)

कोई शिष्य ऋद्धि का गौरव करता है तो कोई रस का गौरव करता है, कोई साता—सुखों का गौरव करता है तो कोई चिरकाल तक क्रोध रखने वाला है ।

कोई भिक्षाचरी में आलस्य करता है तो कोई अपमानभीरु और अहंकारी है । किसी को गुरु हेतुओं व कारणों द्वारा अनुशासित करते हैं तब वह बीच में ही बोल उठता है, मन में द्वेष ही प्रकट करता है तथा बार-बार आचार्य के वचनों के प्रतिकूल आचरण करता है ।

(गुरु प्रयोजनवश किसी श्राविका से कोई वस्तु लाने को कहे तब वह कहता है) वह मुझे नहीं जानती, वह मुझे नहीं देगी, मैं जानता हूँ, वह घर से बाहर गई होगी । इस कार्य के लिए मैं ही क्यों ? कोई दूसरा साधु चला जाए ।

किसी कार्य के लिए उन्हें भेजा जाता है और वे कार्य किए बिना ही लौट आते हैं । पूछने पर कहते हैं— उस कार्य के लिए आपने हमसे कब कहा था ? वे चारों ओर घूमते हैं किंतु गुरु के पास कभी नहीं बैठते । कभी गुरु का कहा कोई काम करते हैं तो उसे राजा की बेगार की भांति मानते हुए मुंह पर मृकुटि तान लेते हैं—मुंह को मचोट लेते हैं ।

## १०. अविनीत शिष्य : कुछ उपमाएं

छिन्नाले छिदइ सेल्लि, दुदंतो भंजए जुगं ।  
 से वि य मुस्सुयाइत्ता, उज्जाहित्ता पलायए ॥  
 खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा ।  
 जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जति धिइदुव्वला ॥  
 (उ २७।७-८)

छिनाल वृषभ रास को छिन्न-भिन्न कर देता है, दुर्दान्त होकर जुए को तोड़ देता है और सों-सों कर वाहन को छोड़कर भाग जाता है ।

जुते हुए अयोग्य बैल जैसे वाहन को भग्न कर देते हैं, वैसे ही दुर्बल धृति वाले शिष्यों को धर्मयान में जीत दिया जाता है तो वे उसे भग्न कर डालते हैं ।

दंसमसभस्समाणा जलुयकविच्छुयसमा य जे हुंति ।  
 ते किर होंति खलुंका तिकखम्मिउचंडमद्विया ॥  
 (उनि ४९२)

अविनीत शिष्य खलंक जैसा होता है । वह दंश-मशक की तरह कष्ट देने वाला, जलोक की तरह गुरु के दोष ग्रहण करने वाला, वृश्चिक की तरह वचन-कष्टकों से बीधने वाला, असहिष्णु, आलसी और गुरु के कथन को न मानने वाला होता है ।

## ११. अविनय का परिणाम

जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो ।  
 एवं दुस्सील-पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ॥  
 कणकुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।  
 एवं सील चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥  
 (उ १।४,५)

जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है, वैसे ही दुःशील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला और वाचाल शिष्य गण से निकाल दिया जाता है ।

जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़कर विष्टा खाता है, वैसे ही अज्ञानी शिष्य शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है ।

**शीतल**—दसवे तीर्थंकर । (द्र. तीर्थंकर)

**शीर्षप्रहेलिका**—जैन गणित की सबसे बड़ी संख्या, जिसमें ५४ अंक और १४० शून्य होते हैं ।  
 (द्र. काल)

**शुक्ललेश्या**—प्रशस्ततम भावधारा तथा उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत श्वेत वर्ण वाले पुद्गल ।  
 (द्र. लेश्या)

श्रमण—साधु, मुनि, निर्ग्रन्थ ।

१. श्रमण कौन ?

२. श्रमण (अनगर) के सत्साईस गुण

३. श्रमण की पृष्ठभूमि

४. श्रमण के एकार्थक

\* श्रमण के प्रकार

(ड. पाषंड)

५. प्रमत्त श्रमण

◦ अप्रमत्त श्रमण

६. श्रमण की दिनचर्या

◦ स्वाध्याय-क्रम

\* स्वाध्याय-काल

(ड. कालविज्ञान)

\* प्रतिलेखनाविधि

(ड. प्रतिलेखना)

\* शिक्षाविधि

(ड. गोचरचर्या)

\* शिक्षा के दोष

(ड. एषणा)

\* आहारविधि

(ड. आहार)

७. शयन विधि

◦ संस्कारक सूत्र

◦ शय्या-अतिचार प्रतिक्रमण

८. विहार विधि : नौकल्पी विहार

◦ विहार करने के कारण

◦ विहार का अधिकारी

◦ गमन-मार्ग का निर्धारण

◦ जल संतरण विधि

९. श्रमण की दुश्चरता

१०. श्रमण : उरग, गिरि आदि उपमाएं

११. श्रमण की अवहेलना के परिणाम

\* श्रमण का आचार, प्रतिक्रमण, महाव्रत, संयम, समिति, गुप्ति, परीषद्, प्रत्याख्यान, गुणस्थान (ड. संबद्धनाम)

\* चारित्र के अठारह हजार अंग (ड. चारित्र)

\* चारित्रिक स्थिरता के आलम्बन (ड. चारित्र)

\* श्रमण और श्रावक में अन्तर (ड. श्रावक)

\* श्रमण धर्म (ड. धर्म)

\* भिक्षुप्रतिमा (ड. प्रतिमा)

१. श्रमण कौन ?

समयाए समणो होइ । (उ २५।३०)

जो समभाव की साधना करता है, वह श्रमण है ।

जह मम न पियं दुखं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं ।

न हणइ न हणावइ य, सममणती तेण सो समणो ॥

नस्थि य से कोइ वेसो, पिओ व सव्वेसु चैव जीवेसु ।  
एण होइ समणो, एसो अ-नो वि पज्जाओ ॥  
...तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो ।  
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु ॥  
(अनु ७०८)

◦ जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही सब जीवों को दुःख प्रिय नहीं है, यह जानकर जो किसी प्राणी की घात न करता है और न करवाता है ।  
इस प्रकार समता में गतिशील होने के कारण वह समण कहलाता है ।

◦ सब जीवों में कोई उसका अप्रिय और प्रिय नहीं है ।

◦ सब जीवों में सम मन वाला होने के कारण वह समन (समना) कहलाता है ।

◦ जो सु-मन—श्रेष्ठ मन वाला होता है, भाव से पाप-मन वाला नहीं होता, स्व जन और अन्य जन में तथा मान और अपमान में सम होता है, वह श्रमण कहलाता है ।

रागदोसा दंडा जोगा तह गारवा य सल्ला य ।

विगहाओ सण्णाओ खुहं कक्षाया पमाया य ॥

एयाइ तु खुहाइ जे खलु भिदंति सुव्वया रिसओ ।

ते भिन्नकम्मगंठी उविति अयरामरं ठाणं ॥

(उनि ३७८, ३७९)

श्रमण वह है—

◦ जो राग-द्वेष को जीत लेता है ।

◦ जो मन, वचन और काया—इन तीनों दण्डों में सावधान रहता है ।

◦ जो न सावद्य कार्य करता है, न दूसरों से करवाता है और न उसका अनुमोद करता है ।

◦ जो ऋद्धि, रस और सात्ता का गौरव नहीं करता ।

◦ जो मायावी नहीं होता, जो निदान नहीं करता और जो सम्यग्दर्शी होता है ।

◦ जो विकथाओं से दूर रहता है ।

◦ जो आहार, भय, मंथुन और परिग्रह—इन चार संज्ञाओं को जीत लेता है ।

◦ जो कषायों पर विजय पा लेता है ।

◦ जो प्रमाद से दूर रहता है ।

◦ जो कर्म-बन्धन को तोड़ने के लिए सदा प्रयत्न-शील रहता है ।

जो ऐसा होता है, वह समस्त ग्रन्थियों का छेदन कर अजर-अमर पद को पा लेता है ।

मोषं चरिस्सामि समिच्च धम्म  
सहिए उज्जुकडे नियणछिन्ने ।  
संयतं जहिज्ज अकामकामे  
अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू ॥  
जं किञ्चि आहारपाणं विविहं  
खाइमसाइमं परेसि लद्धं ।  
जो तं तिविहेण नाणुकुपे  
मणवयकायसुसंवुडे स भिक्खू ॥  
वादं विविहं समिच्च लोए,  
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा ।  
पन्ने अभिभूय सब्बदंसी  
उक्कसंते अविहेडए स भिक्खू ॥

(उ १५१, १२, १५)

‘धर्म को स्वीकार कर मुनि-व्रत का आचरण कलंगा’  
—जो ऐसा संकल्प करता है, जो सहिष्णु है, जिसका अनु-  
ष्ठान ऋजु है, जो वासना के संकल्प का छेदन करता है,  
जो परिचय का त्याग करता है, जो काम-भोगों की  
अभिलाषा को छोड़ चुका है, जो तप आदि का परिचय  
दिए बिना भिक्षा की खोज करता है, जो अप्रतिवद्ध  
विहार करता है—वह भिक्षु है ।

गृहस्थों के घर से जो कुछ आहार, पानक और  
विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य प्राप्त कर जो गृहस्थ की  
मन, वचन और काया से अनुकम्पा नहीं करता—उन्हें  
आशीर्वाद नहीं देता, जो मन, वचन और काया से  
सुसंस्कृत होता है—वह भिक्षु है ।

जो लोक में विविध प्रकार के वादों को जानता है,  
जो सहिष्णु है, जो संयमी है, जिसे आगम का परम अर्थ  
प्राप्त हुआ है, जो प्राज्ञ है, जो परीषहों को जीतने वाला  
और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो  
उपशान्त और किसी को भी अपमानित न करने वाला  
होता है—वह भिक्षु है ।

तहेव असणं पाणनं वा,  
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता ।

होही अट्टो सुए परे वा,  
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥

हत्थसंजए पायसंजए,  
वायसंजए संजइदिए ।

अज्जप्परए सुसमाहियप्पा,  
सुत्तत्थं च विद्याणई जे स भिक्खू ॥

(द १०८, १५)

विविध भजन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर

—यह कल या परसों काम आएगा—इस विचार से जो  
न सन्निधि (संचय) करता है और न कराता है—वह  
भिक्षु है ।

जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, बाणी से  
संयत है, इन्द्रियों से संयत है, अध्यात्म में रत है, भली-  
भांति समाधिस्थ है और जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ  
रूप से जानता है—वह भिक्षु है ।

निहिणो वेयावडियं न कुज्जा,

अभिवायणं वंदण पुण्यं च ।

असंकिलिट्ठेहि समं वसेज्जा,

मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥

न या लभेज्जा निउणं सहायं,

गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।

एवको वि पावाइं विवज्जयतो,

विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

(दचूला २।९, १०)

साधु गृहस्थ का बंध्यावृत्य न करे, अभिवादन, वंदन  
और पूजन न करे । मुनि संक्लेश रहित साधुओं के साथ  
रहे जिससे कि चारित्र्य की हानि न हो ।

यदि कदाचित् अपने से अधिक गुणी अथवा अपने  
समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो पाप-कर्मों का  
वर्जन करता हुआ काम-भोगों में अनासक्त रह अकेला ही  
(संघ-स्थित) विहार करे ।

## २. श्रमण (अनगर) के सत्ताईस गुण

वयच्छक्कमिदियाणं च निग्गहो भाव करणसत्त्वं च ।

खमया विराययाविय (चिय ?) मणमाईणं णिरोहो य ।

कायाण छक्क जोगम्म जुत्तथा वेयणाहियासणया ।

तह मारणतियहियासणया एएणमारगुणा ॥

(उशाबू प ६१६)

श्रमण के सत्ताईस गुण हैं

- |                          |                           |
|--------------------------|---------------------------|
| १. प्राणातिपातविरमण      | ११. स्पर्शनेन्द्रियनिग्रह |
| २. मृषावादविरमण          | १२. भावसत्य               |
| ३. अदत्तादानविरमण        | १३. करणसत्य               |
| ४. मैथुनविरमण            | १४. क्षमा                 |
| ५. परिग्रहविरमण          | १५. वैराग्य               |
| ६. रात्रिभोजनविरमण       | १६. मनोनिग्रह             |
| ७. श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह | १७. वचननिग्रह             |
| ८. चक्षुरिन्द्रियनिग्रह  | १८. कायनिग्रह             |
| ९. घ्राणेन्द्रियनिग्रह   | १९. पृथ्वीकायसंयम         |
| १०. रसनेन्द्रियनिग्रह    | २०. अध्कायसंयम            |

२१. तेजस्कायसंयम      २५. योगयुक्तता  
 २२. वायुकायसंयम      २६. वेदना अधिसहन  
 २३. वनस्पतिकायसंयम    २७. भारणातिक अधिसहन  
 २४. त्रसकायसंयम

### ३. श्रमण की पृष्ठभूमि

कहं नु कुञ्जा सामणं, जो कामे न निवारए ।

पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥

(द २।९)

वह कैसे श्रामण्य का पालन करेगा जो काम (विषय-  
 राग) का निवारण नहीं करता, जो संकल्प (काम-अध्यव-  
 साय) के बशीभून होकर पग-पग पर विषादग्रस्त होता  
 है ?

काम ! जानामि ते रूपं संकल्पात् किल जायसे ।

न ते संकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि ॥

(दअचू पृ ४१)

काम ! मैं तुझे जानता हूँ । तू संकल्प से पैदा होता  
 है । मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा । तू मेरे मन में  
 उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा ।

समाए पेहाए परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।  
 न सा महं नोवि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥

आयावयाही चय सोउमस्लं कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।  
 छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं एवं सुही होहिंसि संपराए ॥

(द २।४,५)

समदृष्टि पूर्वक विचरते हुए भी यदि कदाचित् मन  
 (संयम से) बाहर निकल जाए तो यह विचार करे कि  
 वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ । मुमुक्षु उसके  
 प्रति होने वाले विषयरोग को दूर करे ।

कामविजय और भावसमाधि प्राप्त करने के  
 उपाय --

- ० आतापना      ० सौकुमार्य का त्याग  
 ० द्वेष का उच्छेद    ० राग का विनयन ।

### ४. श्रमण के एकार्थक

पव्वइए अणगारे पासंडी चरक तावसे भिक्खू ।

परिवायए य समणे णिग्गथे संजए मुत्ते ॥

तिण्णे ञेया दविए मुणी य खंते य दंत विरए य ।

लूहे तीरट्टी वि य हवंति समणस्स णामाइ ॥

(दनि ६५, ६६)

० प्रव्रजित—गृहनिर्गत

० अनगार—गृहरहित

० पाषंडी—अष्टकर्म प्रासाद का छबंसी

० चरक—तपस्या का आचरण करने वाला

० तापस—तपस्या करने वाला

० भिक्षु—भिक्षाजीवी

० परिव्राजक—पाप का अपहरण करने वाला

० समन—समान मन वाला

० निर्ग्रन्थ—बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थि से शून्य

० संयत—अहिंसा आदि से ओतप्रोत

० मुक्त—स्नेह आदि बंधनों से मुक्त

० तीर्ण—संसार सागर को तैरने वाला

० नेता—सिद्धि तक पहुंचाने वाला

० द्रव्य—राग-द्वेष से शून्य

० मुनि—सावध न बोलने वाला

० क्षान्त—क्षमाशील

० दान्त—इन्द्रिय और कषायों का दमन करने वाला

० विरत—प्राणातिपात आदि से विरत

० रूक्ष—प्रान्त-रूक्षसेवी, स्नेह व्रजित

० तीरार्थी—संसार सागर से पार

### ५. प्रमत्त श्रमण

ज्ञान आचार में प्रमत्त

सेज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि,

उप्पज्जई भोत्तुं तहेव पाउं ।

जाणामि जं वट्टइ आउमु ! त्ति,

किं नाम काहामि सुएण भंते ! ॥

जे के इमे पव्वइए, निदासीले पगामसो ।

भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

(उ १७।२,३)

(मुह के द्वारा अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होने पर जो  
 कहता है—) मुझे रहने के लिए अच्छा उपाश्रय मिल  
 रहा है, कपड़ा भी मेरे पास है, खाने-पीने की भी  
 मिल जाता है । आयुष्मन् ! जो हो रहा है, उसे मैं जान  
 लेता हूँ । भंते ! फिर मैं श्रुत का अध्ययन कर क्या  
 करूँगा ?

मुह कहते हैं—जो प्रव्रजित होकर बार-बार नींद  
 लेता है, खा-पीकर आराम से लेट जाता है, वह ज्ञाना-  
 चार में प्रमत्त श्रमण है ।

**दर्शन आचार में प्रमत्त**

आयरियउवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ ।

अप्पडिप्पुए थद्धे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

(उ १७।५)

जो आचार्य और उपाध्याय के कार्यों की सम्यक् प्रकार से चिन्ता नहीं करता—उनकी सेवा नहीं करता, जो बड़ों का सम्मान नहीं करता, जो अभिमानी होता है, वह दर्शनाचार में प्रमत्त श्रमण है ।

**चारित्र आचार में प्रमत्त**

सम्मट्माणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।

असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

बहुमाई पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिमग्हे ।

असविभागी अचिवत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

(उ १७।६, ११)

द्वीन्द्रिय आदि प्राणी तथा बीज और हरियाली का मर्दन करने वाला, असंयमी होते हुए भी अपने आपको संयमी मानने वाला चारित्राचार में प्रमत्त श्रमण होता है ।

जो बहुत मायावी, वाचाल, अभिमानी, लालची, इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण न रखने वाला, भक्त-पान आदि का संविभाग न करने वाला और गुरु आदि से प्रेम न रखने वाला होता है, वह चारित्राचार में प्रमत्त श्रमण है ।

**तप आचार में प्रमत्त**

दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं ।

अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

अरथंतम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं ।

चोइओ पडिचोएइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

(उ १७।१५, १६)

जो दूध, दही आदि विकृतियों का बार-बार आहार करता है और तपस्या में रत नहीं रहता, जो सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने तक बार-बार खाता रहता है तथा 'ऐसा नहीं करना चाहिए'—इस प्रकार सीख देने वाले को कहता है कि तुम उपदेश देने में कुशल हो, करने में नहीं, वह तप आचार में प्रमत्त श्रमण है ।

**वीर्य आचार में प्रमत्त**

आयरियपरिच्चाई, परपासंडसेवए ।

गाणंगणिए दुब्भूए, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

सयं मेहं परिचज्ज, परगेहंसि वावडे ।

निमित्तेण य ववहरई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

सन्नाइपिण्डं जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं ।

गिहिनिसेज्जं च वाहेइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

(उ १७।१७-१९)

जो आचार्य को छोड़ दूसरे धर्म-सम्प्रदायों में चला जाता है, जो छह मास की अवधि में एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करता है, जिसका आचरण निन्दनीय है, जो अपना घर छोड़कर (प्रव्रजित होकर) दूसरों के घर में व्यापृत होता है, उनका कार्य करता है, जो शुभाशुभ बताकर धन का अर्जन करता है, जो अपने जातिजनों के घरों में भोजन करता है किन्तु सामुदायिक भिक्षा करना नहीं चाहता, जो गृहस्थ की शय्या पर बैठता है, वह वीर्याचार में प्रमत्त श्रमण है ।

**अप्रमत्त श्रमण**

अप्पमत्तसंजता जिणकम्पिया परिहारविशुद्धिया अहा-लंदिया पडिमापडिवण्णया य । एते सततोवयोगोवउत्तणतो अप्पमत्ता । गच्छवासिणो पुण पमत्ता, कण्हइ अणुवयोग-संभवतातो । अहवा गच्छवासी णिग्गता य पमत्ता वि अप्पमत्ता वि भवति परिणामवसओ । (नन्दीचू पृ २२)

जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिक, यथालन्दिक और प्रतिमाप्रतिपन्न—ये संयत अप्रमत्त होते हैं, सतत उपयोग उपयुक्त (जागरूक) होते हैं ।

गच्छवासी सतत उपयोग उपयुक्त नहीं होने के कारण प्रायः प्रमत्त होते हैं । अथवा गच्छवासी और गच्छनिर्गत—ये दोनों प्रकार के श्रमण परिणामधारा के आधार पर प्रमत्त और अप्रमत्त होते हैं ।

**६. श्रमण की दिनचर्या**

पुव्विलंमि चउब्भाए, आइच्चंमि समुट्टिए ।

भंडयं पडिलेहिता, वदित्ता य तओ गुरुं ॥

पुच्छेज्जा पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं ? ।

इच्छं निओइउं भंते ! वेयावच्चे व सज्भाए ॥

वेयावच्चे निउत्तेण, कायव्वं अगिलायओ ।

सज्भाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥

(उ २६।८-१०)

सूर्य के उदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम-चतुर्थ भाग में भाण्ड—उपकरणों की प्रतिलेखना करे । तदनन्तर गुरु को वन्दना कर, हाथ जोड़कर पूछे—अब

मुझे क्या करना चाहिए ? भंते ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे ब्रह्मावृत्त्य या स्वाध्याय में से किसी एक कार्य में नियुक्त करें ।

ब्रह्मावृत्त्य में नियुक्त किए जाने पर अग्लान भाव से ब्रह्मावृत्त्य करे अथवा सर्व दुःखों से मुक्त करने वाले स्वाध्याय में नियुक्त किए जाने पर अग्लान भाव से स्वाध्याय करे ।

पढमं पोरिसि सज्झायं वीयं भ्माणं भियायई ।  
तइयाए भिक्खवारियं पुणो चउत्थीए सज्झायं ॥  
(उ २६।१२)

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे में ध्यान करे । तीसरे में भिक्षाचरी और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे । चउत्थीए पोरिसीए, निक्खवित्ताण भायणं । सज्झायं तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं ॥ पोरिसीए चउत्थीए, वंदित्ताण तओ गुरुं । पडिक्कमित्तु कालस्स, सेज्जं तु पडिलेहए ॥ पासवणुच्चारभूमि च, पडिलेहिज्ज जयं जई । काउस्सगं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥  
(उ २६।३६-३८)

चौथे प्रहर में भ्राजनों को प्रतिलेखनपूर्वक बांधकर रख दे, फिर सर्व भावों को प्रकाशित करने वाला स्वाध्याय करे ।

चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में पौन पीरुषी बीत जाने पर स्वाध्याय के पश्चात् गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर (स्वाध्यायकाल से निवृत्त होकर) शय्या की प्रतिलेखना करे ।

यतनाशील यति फिर प्रसवण और उच्चारभूमि की प्रतिलेखना करे । तदनन्तर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

पढमं पोरिसि सज्झायं, वीयं भ्माणं भियायई ।  
तइयाए निह्मोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥  
(उ २६।१८)

रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे ।

#### स्वाध्याय-क्रम

सव्वेवि पढमजामे दोन्नि उ वसभा उ आइमा जामा ।  
तइओ होइ गुरुणं चउत्थओ होइ सव्वेसि ॥  
(ओनि ६६०)

रात्रि के प्रथम प्रहर में सब साधु स्वाध्याय करते हैं । प्रथम और दूसरे प्रहर में गीतार्थ साधु, तीसरे प्रहर में आचार्य तथा चतुर्थ प्रहर में पुनः सब साधु स्वाध्याय करते हैं ।  
(द्र. कालप्रतिलेखना)

पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिणा ।  
सज्झायं तओ कुज्जा, अबोहेतो अतंजए ॥  
पोरिसीए चउत्थीए, वंदित्ताण तओ गुरुं ।  
पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥  
आगए कायवोत्सगो, सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥  
काउस्सगं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥  
(उ २६।४४-४६)

चौथे प्रहर में काल की प्रतिलेखना कर असंयत व्यक्तियों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे । चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना कर, काल-प्रतिक्रमण कर (स्वाध्याय काल से निवृत्त होकर) काल की प्रतिलेखना करे । कायोत्सर्ग का समय आने पर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

#### ७. शयनविधि

पोरिसिआपुच्छणया सामाह्य उभयकायपडिलेहा ।  
साहणिअ दुवे पट्टे पमज्ज भूमि जओ पाए ॥  
अणुजाणह संघारं बाहुवहाणेण वामपासेणं ।  
कुक्कुडिपायपसारण अतरंत पमज्जए भूमि ॥  
संकोए संडासं उव्वत्तंते य कायपडिलेहा ।  
वव्वाइउवओगं णिस्सासनिरुंभणालोयं ॥  
(ओनि २०४-२०६)

आचार्य के समीप जाकर शिष्य निवेदन करे—भंते ! प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया है, अब मुझे संस्तारक पर जाने—सोने की आज्ञा दें । फिर तीन बार सामायिक पाठ का उच्चारण कर शयन करे ।

भुजा का उपधान कर वाम पाश्वर्य से शयन करे । पैरों को कुक्कुटी की तरह पहले आकाश में फैलाये । यदि ऐसा करने में समर्थ न हो तो भूमि का प्रमार्जन करके भूमि पर स्थापित करे । यदि पुनः पैरों का संकोच करना हो तो ऊरुसन्धि का प्रमार्जन करे ।

अजयं सयमाणो उ, पाणभूयाइं हिसई ।  
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥  
(द ४। गाथा ४)

आउंटण-पसारणादिसु पडिलेहणपमज्जण अकरितस्स

पकामणिकामं रत्तिं दिवा य सुयन्तस्स । (दअचू पृ ९२)  
अयतनापूर्वक सोने वाला त्रस और स्यावर जीवों की हिसा करता है । उससे पाप कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

अयतना या असंयम से सोने का अर्थ है—प्रतिलेखन-प्रमार्जन किये बिना हाथ-पैर आदि का संकोच-विकोच करना । प्रकामशय्या-निकामशय्या करना, बिना प्रयोजन दिन-रात में बार-बार सोना ।

जयणं कुव्वंतो कुम्भो इव गुत्तिदिओ ... निदामोक्खं करेमाणो आउंणपसारणाणि पडिलेहिय पमज्जिय करेज्जा । (दजिचू पृ १६०)

यत् स्वपेत्—समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादि-परिहारेण । (दहावृ प १५७)

संयमपूर्वक सोने का अर्थ है—कूर्म की भांति गुप्तेन्द्रिय हो सोना । करवट बदलते समय, हाथ-पैर फँलाते समय शय्या का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना । समाहितचित्त हो रात्रि में प्रकाम शय्या आदि का परिहार करना ।

अद्धानपरिस्संतो गिलाणवुड्ढा अणुणवेत्ताणं । ... (ओभा १५६)

जो मुनि विहार से परिश्रांत हो गया हो, वृद्ध हो, रोगी हो, वह मुनि आचार्य से आज्ञा लेकर दिन में भी सो सकता है, अन्यथा नहीं ।

(नींद लेने का उपयुक्तकाल रात है । यदि रात में पूरी नींद न आए तो प्रातःकाल भोजन से पूर्व सोए । रात में जागने से रूक्षता और दिन में सोने से स्निग्धता पैदा होती है । परन्तु दिन में बैठे-बैठे नींद लेना न रूक्षता पैदा करता है और न स्निग्धता । यह स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है ।

यथाकालमतो निद्रां, रात्रौ सेवेत सात्मतः ।  
असात्म्याद् जागरादर्थं प्रातः स्वप्यादभुक्तवान् ॥  
रात्रौ जागरणं रूक्षं, स्निग्धं प्रस्वप्नं दिवा ।  
अरूक्षमनभिस्यन्दि, त्वासीनप्रचलायितम् ॥  
—अष्टांगहृदय ७।५५, ६५)

तम्हा पमाणजुत्ता एक्केक्कस्स उ तिहत्थसंथारो ।  
भायणसंथारंतर जह वीसं अंगुला हुंति ॥  
(ओनि २२६)

एक साधु के संस्तारक का प्रमाण है तीन हाथ ।

संस्तारक बिछाने और पात्र रखने में बीस अंगुल का अन्तर अवश्य होना चाहिए ।

...दो हत्था य अबाहा नियमा साहुस्स साहूओ ।  
(ओनि २२७)

सोते समय एक साधु दूसरे साधु से सटकर न सोये—कम से कम दो हाथ की दूरी रहे ।

**संस्तारक भूमि**

संथारगभूमितिमं आयरियाणं तु सेसगाजेगा ।  
संदाए पुष्फइत्ता मंडलिआ आवली इयरे ॥

(ओनि २०२)

आचार्य के तीन संस्तारक भूमियां होती हैं—

१. निवात २. प्रवात ३. निवात-प्रवात ।

मुनि के लिए एक संस्तारक भूमि होती है ।

संस्तारक भूमि यदि विस्तीर्ण हो तो बिखरे हुए पुष्पों की तरह शयन करे । वसति यदि छोटी हो तो मध्य में पात्र आदि रखकर मण्डली के पार्श्व में शयन करे । यदि वसति प्रमाणयुक्त हो तो पंक्तिबद्ध शयन करे ।

**शय्या-अतिचार-प्रतिक्रमण**

इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसेज्जाए निगामसेज्जाए उक्वट्टणाए परिवट्टणाए आउंणपसारणाए छप्पइय-संघट्टणाए कूइए कक्कराइए छीए जंभाइए आमोसे ससर-क्खामोसे, आउलमाउलाए सोयणवत्तियाए इत्थीविप्परियासिआए दिट्ठिविप्परियासिआए मणविप्परियासिआए पाणभोयणविप्परियासिआए, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।  
(आव ४।५)

मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ—अतिमात्र नींद लेने में, जब इच्छा हुई तब नींद लेने में या बार-बार नींद लेने में, उठने-बैठने में, करवट लेने में, शरीर को सिकोड़ने-फँलाने में, जूँ को इधर-उधर करने में, नींद में बोलने और दांत पीसने में, झींक और जम्हाई लेने में, किसी का स्पर्श करने में तथा संचित्तजयुक्त वस्तु का स्पर्श करने में अतिचार किया हो, स्वप्नहेतुक आकुल-व्याकुलता, स्त्रीविषयक कामराग, दृष्टिराग, मनोरसग और खाने-पीने के विषय में अन्यथा भाव किया हो तो उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो ।



## ८. विहारविधि : नौकल्पी विहार

संबच्छरं चावि परं पमाणं,  
वीयं च वासं न तर्हि वसेज्जा ।  
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खु,  
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥

संबच्छर इति कालपरिमाणं, तं पुण णेह वारसमा-  
सिगं संबज्जति किंतु वरिसारत्तचातुम्मसितं । स एव  
जेट्ठोगहो ।

‘‘वितियं च वासं—वितियं ततो अणंतरं, च सद्देण  
ततियमवि, जतो भणितं—तं दुगुणं दुगुणेणं, अपरिहरित्ता  
ण वट्टति ।’ (दबूला २।११ अचू पृ २६७)

जिस गांव में मुनि काल के उत्कृष्ट प्रमाण तक रह  
चुका हो अर्थात् वर्षाकाल में चातुर्मास और शेष काल में  
एक मास रह चुका हो, वहां दो वर्ष (दो चातुर्मास और  
दो मास) का अन्तर किए बिना न रहे। भिक्षु सूत्रोक्त  
मार्ग से चले, सूत्र का अर्थ जैसी आज्ञा दे, वैसे चले।

मुनि के लिए नौकल्पी विहार का विधान है—  
चातुर्मासिक वर्षावास का एक कल्प, शेष आठ मास के  
आठ कल्प।

निक्खविउं किइकम्मं दीवणण्णाबाह पुच्छणा सहाओ ।  
गेलण्ण विसज्जणया अविसज्जुवएस दावणया ॥

(ओनि ६८)

यात्रा करता हुआ मुनि जब अपने सांभोजिक साधुओं  
से मिले तब सबसे पहले अपने पात्र आदि सांभोजिक के  
हाथ में देकर रत्नाधिक को बन्दना करे।

- ० आने का उद्देश्य स्पष्ट करे।
- ० दोनों परस्पर सुखपृच्छा करें।
- ० विहार करे तो वहां स्थित मुनि पहुंचाने जाएं।
- ० यदि वहां ग्लान हो तो अपने को सेवा के लिए  
प्रस्तुत करे।
- ० ग्लान के लिए औषध आदि की संयोजना करने  
वाला न हो तो स्वयं उसकी संयोजना करे और  
उसकी विधि बतलाकर विहार करे।

पढमावियारजोगं नाउं गच्छे बिइज्जे दिण्णे ।  
एमेव अणसंभोइयाण अण्णाइ वसहीए ॥

(ओनि ७१)

ग्लान मुनि अपने लिए प्रातराश्रु लाने तथा उत्सर्ग-  
भूमि जाने में समर्थ हो जाए—यह जानकर परिचारक  
मुनि वहां से विहार करे, दूसरा सहायक हो तो उसके

साथ, अन्यथा अकेला ही विहार करे। अन्य सांभोजिक  
ग्लान की परिचर्या की विधि यह है कि परिचारक दूसरी  
वसति में रहकर परिचर्या करे।

### विहार करने के कारण

चकके धूभे पडिमा जम्मण निक्खमण नाण निव्वाणे ।  
संखडि विहार आहार उवहि तह वंसणट्ठाए ॥  
एते अकारणा संजयस्स असमत्त तदुभयस्स भवे ।  
ते चेव कारणा पुण गीयत्थविहारिणो भणिआ ॥  
(ओनि ११९, १२०)

### गीतार्थ के विहार के हेतु

- ० धर्मचक्र, स्तूप, प्रतिमा, अर्हंतों की जन्मभूमि,  
दीक्षाभूमि, केवलज्ञानभूमि, निर्वाणभूमि को देखने  
के लिए।
- ० संखडी प्रकरण के लिए।
- ० विहार के लिए (स्थान-परिवर्तन हेतु)
- ० अनुकूल भोजन और उपधि की प्राप्ति के लिए
- ० दर्शनीय स्थलों को देखने के लिए—  
जो गीतार्थ है, उसके लिए ये विहार के हेतु हैं।  
लेकिन जो अगीतार्थ हैं, उसके लिए ये कारण नहीं  
हैं—उसे इन कारणों से विहार नहीं करना  
चाहिए।

### विहार के अधिकारी

गीयत्थो य विहारो बिइओ गीयत्थमीसिओ भणिओ ।  
एत्तो तइय विहारो नाणुन्नाओ जिणवरैरिह ॥  
संजमआयविराहण नाणे तह वंसणे चरित्ते अ ।  
आणालोव जिणाणं कुव्वइ दीहं तु संसारं ॥  
(ओनि १२१, १२२)

दो विहार अनुज्ञात हैं—

१. गीतार्थ साधु (बहुभूत, सूत्र-अर्थ का ज्ञाता)।
२. गीतार्थ के साथ अन्य साधु।

तीसरा विहार अर्हंतों द्वारा प्रज्ञप्त नहीं है।

स्वयं गीतार्थ या गीतार्थ की निश्चा में—इन दो के  
अतिरिक्त अगीतार्थ अकेला विहार करने वाला मुनि  
आत्मविराधना, संयमविराधना और ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य  
की विराधना करता है। वह भगवान् की आज्ञा का लोप  
करता है और अपने भव-भ्रमण को दीर्घ करता है।

### गमन-मार्ग का निर्धारण

पुढविदए य पुढविए उदए पुढवितस वालकंटा य ।  
पुढविवणस्सइकाए से चेव उ पुढविए कमणं ॥

पुढवितसे तसरहिए निरंतरतसेमु पुढविए चेव ।  
 आउवणस्सइकाए वणेण नियमा वणं उदए ॥  
 तेऊवाउविहूणा एवं सेसावि सव्वसंजोगा ।  
 नच्चा विराहणदुगं वज्जंतो जयसु उवउत्तो ॥  
 (ओनि ४३-४५)

यात्रापथ में यदि दो मार्ग हैं—जलमार्ग और सचित्त पृथ्वीमार्ग तो मुनि को पृथ्वीमार्ग से जाना चाहिए, जलमार्ग से नहीं, क्योंकि जल में त्रस और वनस्पति ये दोनों प्रकार के जीव होते हैं। सचित्त पृथ्वी-मार्ग और वनस्पतिमार्ग की युगपत् प्राप्ति होने पर पृथ्वी के मार्ग से जाना चाहिए। सचित्त पृथ्वीमार्ग और वनस्पति से निरंतर संकुल मार्ग की प्राप्ति होने पर पृथ्वी के मार्ग से गमन करना चाहिए।

जल और वनस्पति के मार्ग की युगपत् प्राप्ति होने पर वनस्पति के मार्ग से जाना चाहिये, जलमार्ग से नहीं, क्योंकि जल में वनस्पति की नियमा है।

तेजस्काय और वायुकाय को छोड़कर शेष सबके साथ सब काय का संयोग हो सकता है। अतः मुनि को आत्म-विराधना और संयमविराधना से रहित मार्ग से गमन में उपयुक्त होकर गमन करना चाहिए।

### जल-संतरण विधि

असइ गिहि नालियाए आणक्खेउं पुणोऽवि पडियरणं ।  
 एगाभोग पडिगह केइ सव्वाणि न य पुरओ ॥  
 (ओनि ३६)

गृहस्थ के अभाव में मुनि स्वयं नालिका (अपने शरीर-प्रमाण से चार अंगुल बड़ी यष्टि) के द्वारा नदी के जल का मापन करता है और अपने उपकरणों के पास लौट आता है। फिर वह अपने उपकरणों को और सभी पात्रों को बांधता है। यह नदी-संतरण की सामान्य विधि है। यदि नदी को नौका से पार करना है तो मुनि नौका में पहले न चढ़े। कुछ यात्रियों के चढ़ने के बाद चढ़े।

सागारं संवरणं ठाणतिअं परिहरित्तुऽजावाहे ।

ठाइ नमोक्कारपरो तीरे जयणा इमा होइ ॥

(ओनि ३७)

मुनि नौका आरोहण के समय प्रत्याख्यान (सागारी अनशन) करता है। नौका में आने, पीछे या मध्य में नहीं बैठता, एक पाश्वर्य में अप्रमत्त हो बैठता है और नमस्कार महामंत्र के जप में लीन हो जाता है।

एगो जले थलेगो निप्पगले तीरमुस्सग्गो ।...

(ओभा ३४)

तट पर आने के बाद एक पैर को जल में दूसरे पैर की आकाश में—ऊपर उठाकर रखे।

जब पानी भर जाये तब उसे सूखी भूमि पर रखे। दूसरे पैर को रखने की भी यही विधि है फिर वह तीर पर कायोत्सर्ग करे।

नवि पुरओ नवि मग्गओ मज्जे उस्सग्ग पण्णवीसाउ ।

दइउदयं तुबेसु अ एस विही होई संतरणे ॥

(ओनि ३८)

नौका के तट पर पहुंच जाने पर मुनि सबसे पहले न उतरे। सब यात्रियों के उतर जाने के बाद न उतरे, किन्तु कुछेक यात्रियों के उतर जाने पर मुनि नौका से उतर जाए। फिर तट पर खड़ा रहकर पच्छीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करे। दृति (मशक), छोटी नौका तथा तुबे से जल-तरण की भी यही विधि है।

अणिएयवासो समुयाणचरिया

अन्नायउंछं पइरिक्कया य ।

अप्पोवही कलहविवज्जणा य

विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥

(दचूला २।५)

अनिकेतवास (गृहवास का त्याग), समुदानचर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना, एकान्तवास, उपकरणों की अल्पता और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या (जीवन-चर्या) ऋषियों के लिए प्रशस्त है।

### ६. श्रामण्य की दुश्चरता

जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महाभरो ।

गुरुओ लोहभारो व्व, जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो ॥

आगासे मंगसोउ व्व, पडिसोओ व्व दुत्तरो ।

बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोयही ॥

वालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे ।

असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥

अहीवेगंतदिट्ठीए, चरित्ते पुत्ता ! दुच्चरे ।

जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा मुदुक्करं ॥

जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं ।

तह दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥

जहा दुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो ।

तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेशं समणत्तणं ॥

जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करं मंदरो गिरी ।

तहा तिहुयं नीसकं, दुक्करं समणत्तणं ॥

जहा भुयाहि तरिउं, दुक्करं रयणागरो ।  
तहा अणुवसतेणं, दुक्करं दमसागरो ॥

(उ १९।३५-४२)

राजकुमार मृगापुत्र ने माता-पिता से जब प्रद्वय्या की अनुमति मांगी तब उन्होंने श्रामण्य की दुश्चरता बताते हुए कहा—पुत्र ! श्रामण्य में जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है। यह गुणों का महान् भार है। भारी भरकम लोह-भार की भांति इसे उठाना बहुत ही कठिन है।

आकाश गंगा के स्रोत, प्रति-स्रोत और भुजाओं से सागर को तैरना जैसे कठिन कार्य है वैसे ही गुणोदधि-संयम को तैरना कठिन कार्य है।

संयम बालू के कोर की तरह स्वाद-रहित है। तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने जैसा है।

पुत्र ! सांप जैसे एकाग्रदृष्टि से चलता है, वैसे एकाग्रदृष्टि से चारित्र्य का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है। लोहे के यवों को चवाना जैसे कठिन है वैसे ही चारित्र्य का पालन करना कठिन है।

जैसे प्रज्वलित अग्नि-शिखा को पीना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही यौवन में श्रमण धर्म का पालन करना कठिन है।

जैसे बस्त्र के थैले को हवा से भरना कठिन कार्य है वैसे ही सत्वहीन व्यक्ति के लिए श्रमणधर्म का पालन करना कठिन कार्य है।

जैसे मेरु पर्वत को तराजू से तोलना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही निश्चल और निर्भय भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

जैसे समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही उपशमहीन व्यक्ति के लिए दमरूपी समुद्र को तैरना बहुत ही कठिन कार्य है।

## १०. श्रमण : उरग, गिरि आदि उपमाएं

उरग गिरि जलण सागर मगण तरुणसमो य जो होइ ।  
भमर भिग धरणि जलरुह रवि पवणसमो यतो समणो ॥  
विस तिणिस वाउ वंजुल कणवीहपलसमेण समणेण ।  
भमरंदुर णड कुक्कुड अद्दागसमेण भवितव्वं ॥  
(दनि ६३, ६४)

- ० जो सर्प की भांति एकाग्रदृष्टि होता है,  
जो सर्प की भांति परकृत-शावास में रहता है  
तथा जैसे सर्प बिल का स्पर्श किए बिना उसमें

प्रवेश कर जाता है वैसे ही जो आहार का स्वाद लिए बिना उसको निगल जाता है।

- ० जो गिरि की भांति निश्चल होता है, शील में अडोल होता है।
- ० जो अग्नि की भांति तेजस्वी होता है।
- ० जो सागर की भांति मंभीर—ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र्य में निपुण होता है।
- ० जो गमन की भांति निरालंब होता है।
- ० जो तरु की भांति सम होता है, छेदन-भेदन में सम रहता है।
- ० जो भ्रमर की भांति अनियतवृत्ति होता है।
- ० जो मृग की भांति संसारभय से उद्विग्न होता है।
- ० जो पृथ्वी की भांति सर्वसह होता है।
- ० जो कमल की भांति निरुपलेप होता है।
- ० जो सूर्य की भांति स्व-पर प्रकाशी होता है।
- ० जो वायु की भांति अप्रतिबद्धविहारी होता है।
- ० जो विष की भांति सर्वरसानुपाती होता है।
- ० जो तिनिस वृक्ष की भांति नमनशील होता है।
- ० जो वंजुल वृक्ष की भांति विष का उपशमन करने वाला होता है।
- ० जो कणवीर की भांति स्पष्ट होता है।
- ० जो उत्पल की भांति शील सौरभ से युक्त होता है।
- ० जो भ्रमर की भांति अनुपरोध वृत्ति वाला होता है।
- ० जो उंदुर की भांति देश-कालचारी होता है।
- ० जो नट की भांति विविध रूप वाला होता है।
- ० जो कुक्कुट की भांति संविभागी होता है।
- ० जो आदर्श (कांच) की भांति स्पष्ट होता है।

(दअचू पृ ३६, ३७)

## ११. श्रमण की अवहेलना के परिणाम

गिरि नहेहि खणह, अयं दतेहि खायह ।  
जायतेयं पाएहि हणह, जे भिक्खुं अवमन्नह ॥  
आसीविसो उग्गतवो महेसी  
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।  
अयणि व पक्खं द पयंगसेणा  
जे भिक्खुं भत्तकाले वहेह ॥

सीसेण एयं सरणं उवेह

समागया सव्वजणेण तुब्भे ।

जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा

लोगं पि एसो कुवियो डहेज्जा ॥

(उ १२।२६-२८)

एक बार मुनि हरिकेशबल एक मास तप के पारणे के दिन भिक्षा के लिए यज्ञमण्डप में गए । वहां ब्राह्मण-कुमारों ने मुनि की अवहेलना की, तब पुरोहित-पत्नी भद्रा ने कहा—भिक्षु का अपमान करना नखों से पर्वत को कुरेदना है, दांतों से लोहे के चने चबाना है, पैरों से अग्नि को रौंदना है ।

यह महर्षि आशीषिष लब्धि से सम्पन्न है । उग्र तपस्वी है । घोररुद्री और घोर पराक्रमी है । भिक्षा के समय तुम इस भिक्षु को व्यथित कर पतंगसेना की भांति अग्नि में भंषापात कर रहे हो । यदि तुम जीवन और धन चाहते हो तो सब मिलकर, शिर झुकाकर इस मुनि की शरण में आओ । कुपित होने पर यह समूचे संसार को भस्म कर सकता है ।

**श्रावक—सम्यग्दृष्टि । व्रत का आचरण करने वाला ।**

## १. श्रावक कौन ?

ये अभ्युपेतसम्यक्त्वाः प्रतिपन्नाणुव्रता अपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः साधूनामगारिणां चोत्तरोत्तरविशिष्टगुणप्रतिपत्ति-हेतोः सामाचारीं शृण्वन्ति ते श्रावकाः । (नन्दीमवृ प ४४)

जो सम्यग्दृष्टि हैं, जो अणुव्रती हैं, जो उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए प्रतिदिन यतिजनों से साधु और गृहस्थ की सामाचारी को सुनते हैं, वे श्रावक हैं ।

## २. श्रावकत्व की प्राप्ति का हेतु

चरित्ताचरित्तं पुण खओवसमिते चैव, कसायट्टुगोदय-कखए सदुवसमे य । पच्चकखाणकसायसंजलणचउक्क-देशघातिफडुगोदये णोकसायणवगस्स जहा—संभवोदये य । (आवचू १ पृ ९८)

उदयप्राप्त अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और अप्रत्याख्यानकषायचतुष्क का क्षय तथा विद्यमान का उपशम होने पर चारित्र्याचारित्र (देशविरत) प्राप्त होता है । इसमें प्रत्याख्यानकषाय-चतुष्क और संज्वलनकषाय-चतुष्क के देशघाति स्पर्धकों का उदय तथा नोकषाय का यथा-संभव उदय रहता है ।

## ३. अगार धर्म : श्रावक धर्म

अगारसामाइयस्स .....अंगाणि बारसविधो सावग-धम्मो । (उचू पृ १३९)

अगार सामायिक का अर्थ है—बारह प्रकार का श्रावक धर्म ।

### अगार सामायिक के अंग

समणोवासगधम्मस्स मूलवत्थुं सम्मत्तं.....पंच अडयारविसुद्धं अणुव्वय-गुणव्वयाइं च अभिग्गा अन्नेवि पडिमादओ विसेसकरणजोगा । (आव परि पृ २३)

श्रावकधर्म का मूल सम्यक्त्व है । श्रावक उसका निरतिचार पालन करता है । वह अणुव्रत और गुणव्रत धारण करता है तथा अभिग्रह, प्रतिमा आदि विशेष योगों की आराधना करता है ।

अगारीसामाइयंगाइं सड्डी काएण फासए ।.....

सामायिकं—सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिरूपं, तस्याङ्गानि-निःशङ्कताकालाध्ययनाणुव्रतादिरूपाणि अगारिसामायिकाङ्गानि । (उ ५।२३ शाकृ प २५१)

अगार सामायिक के तीन प्रकार हैं—१. सम्यक्त्व २. श्रुत और ३. देशविरति ।

### १. श्रावक कौन ?

### २. श्रावकत्व की प्राप्ति का हेतु

### ३. अगारधर्म : श्रावक धर्म

० अगार सामायिक के अंग

### ४. श्रावक के बारह व्रत और अतिचार

\* संलेखना व्रत (द्र. संलेखना)

\* श्रावक : विरताविरत गुणस्थान (द्र. गुणस्थान)

\* श्रावक में देशविरति सामायिक (द्र. सामायिक)

\* देशविरति सामायिक का काल, स्थिति, क्षेत्र (द्र. सामायिक)

### ५. देशविरति सामायिक के पर्यायवाची

### ६. श्रावक के प्रकार

### ७. श्रावक के प्रत्याख्यान : उनघास भंग

० दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान

० नौ कोटि प्रत्याख्यान

### ८. साधु और श्रावक में अंतर

\* श्रावक : बालपंडित मरण (द्र. मरण)

\* उपासक-प्रतिमा (द्र. प्रतिमा)

\* श्रावक और ध्यान (द्र. ध्यान)

अगार सामायिक के अंग हैं—निःशंकता, काला-  
ध्ययन, अणुव्रत आदि ।

#### ४. श्रावक के बारह व्रत और अतिचार

##### १. स्थूलप्राणापिपान विरमण

थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से  
पाणाइवाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—संकप्पओ अ आरं-  
भओ अ । तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावज्जीवाए  
पच्चक्खाइ, नो आरंभओ । थूलगपाणाइवायवेरमणस्स  
समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा—  
बंधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए ।

(आव परि पृ २१)

श्रमणोपासक स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान  
करता है । प्राणातिपात दो प्रकार का है—संकल्पजा  
और आरम्भजा । श्रमणोपासक संकल्पजा हिंसा का  
जीवनपर्यन्त प्रत्याख्यान करता है, आरम्भजा हिंसा का  
नहीं ।

स्थूल प्राणातिपात विरमण के पांच अतिचार हैं—

१. बंध—मनुष्य, पशु आदि को गाढ बंधन से बांधना ।
२. वध—लाठी आदि से प्रहार करना ।
३. छविच्छेद—अंग-भंग करना ।
४. अतिभार—अतिभार लादना ।
५. भक्तपानव्यवच्छेद—भोजन-पानी (आजीविका) का  
विच्छेद करना ।

##### २. स्थूलमृषावाद विरमण

थूलगमुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से य  
मुसावाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—कञ्जालीए गवालीए  
भोमालीए नासावहारे कूडसक्खिज्जे । थूलगमुसावायवेर-  
मणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं  
जहा—सहस्संभक्खाणे रहस्संभक्खाणे सदारमंतभेए  
मोसुवएसे कूडलेहकरणे । (आव परि पृ २१)

श्रमणोपासक स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान करता  
है । मृषावाद के पांच प्रकार हैं—

१. कन्यालीक—वर-वधू संबंधी झूठ बोलना ।
२. गवालीक—पशु संबंधी झूठ बोलना ।
३. भूमि-अलीक—भूमि संबंधी झूठ बोलना ।
४. न्यासापहार—धरोहर को नकारना ।
५. कूट साक्षी—झूठी गवाही देना ।

स्थूल मृषावाद विरमण के पांच अतिचार हैं—

१. सहसाभ्याख्यान—बिना सोचे-समझे अकस्मात्

किसी पर आरोप लगाना ।

२. रहस्याभ्याख्यान—रहस्यपूर्ण वृत्त के आधार पर  
आरोप लगाना ।
३. स्वदारमंत्रभेद—अपनी पत्नी के रहस्य को प्रकट  
करना ।
४. मृषोपदेश—मिथ्या मार्ग-दर्शन करना ।
५. कूटलेखकरण—जाली हस्ताक्षर और दस्तावेज  
तैयार करना ।

##### ३. स्थूलअदत्तादान विरमण

थूलगअदत्तादानं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से  
अदिन्नादाने दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सच्चित्तादत्तादाने  
अच्चित्तादत्तादाने अ । थूनादत्तादानवेरमणस्स समणोवास-  
एणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा—तेनाहडे  
तक्करपओगे विरुद्धरज्जाइक्कमणे कूडतुल-कूडमाणे  
त्त्पडिक्खमववहारे । (आव परि पृ २१)

श्रमणोपासक स्थूल अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता  
है । अदत्तादान दो प्रकार का है—सचित्तअदत्तादान,  
अचित्तअदत्तादान ।

स्थूल अदत्तादान विरमण के पांच अतिचार हैं—

१. स्तेनाहृत चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु लेना ।
२. तस्कर प्रयोग—चोरी करने में सहयोग देना ।
३. विरुद्धराज्यातिक्रम—राज्यनिषिद्ध वस्तुओं का  
आयात-निर्यात करना ।
४. कूटतोल-कूटमाप—झूठा तोल-माप करना ।
५. तत्प्रतिरूपक व्यवहार—असली वस्तु के स्थान पर  
नकली वस्तु देना ।

##### ४. स्वदारसंतोष

परदारगमणं समणोवासओ पच्चक्खाइ सदारसंतोसं  
वा पडिवज्जइ, से य परदारगमणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—  
ओरालियपरदारगमणे वेउच्चियपरदारगमणे । सदार-  
संतोसस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा,  
तं जहा अपरिगहियागमणे इत्तरियपरिगहियागमणे  
अणगकीडा परवीवाहकरणे कामभोगतिव्वाभिलासे ।

(आव परि पृ २२)

श्रमणोपासक परदारगमन का प्रत्याख्यान करता है,  
स्वदारसंतोष स्वीकार करता है । परदारगमन के दो  
प्रकार हैं—१. औदारिकपरदारगमन २. वैक्रियपरदार-  
गमन ।

स्वदारसंतोष के पांच अतिचार हैं—

१. अपरिगृहीतागमन—वेश्यागमन करना ।
२. इत्वरिकपरिगृहीतागमन—परस्त्री गमन करना ।
३. अनंगक्रीडा—अप्राकृतिक मैथुन सेवन करना ।
४. परविवाहकरण—व्यावसायिक वृत्ति से विवाह संबंध जोड़ना ।
५. कामभोगतीव्राभिलाषा—कामभोग में तीव्र इच्छा करना ।

#### ५. इच्छापरिमाण

अपरिमितपरिग्रहं समणोवासो पञ्चवखाइ इच्छा-परिमाणं उवसंपज्जइ । से परिग्रहे दुविहे पणत्ते, तं जहा—सच्चित्तपरिग्रहे अच्चित्तपरिग्रहे थ । इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा—घणधन्नपमाणाइक्कमे खित्तवत्थुपमाणाइक्कमे हिरन्नसुवण्णपमाणाइक्कमे दुपयच्चउप्यपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे । (भाव परि पृ २२)

श्रमणोपासक अपरिमित परिग्रह का प्रत्याख्यान करता है, इच्छाओं का परिमाण करता है। परिग्रह के दो प्रकार हैं—सच्चित्त परिग्रह, अच्चित्त परिग्रह ।

इच्छापरिमाणव्रत के पांच अतिचार हैं—

१. धनधान्यप्रमाणातिरेक—धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण करना ।
२. क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिरेक—क्षेत्र और घर के प्रमाण का अतिक्रमण करना ।
३. हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिरेक—हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रमण करना ।
४. द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिरेक—नौकर, पक्षी, पशु आदि के प्रमाण का अतिक्रमण करना ।
५. कुप्यप्रमाणातिरेक—गृहसामग्री के प्रमाण का अतिक्रमण करना ।

#### ६. दिग्गत

दिसिवए तिविहे पणत्ते—उड्ढदिसिवए अहोदिसिवए तिरियदिसिवए । दिसिवयस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरियदिसिपमाणाइक्कमे खित्त-वुड्ढी सइअंतरद्धा । (भाव परि पृ २२)

दिग्गत के तीन प्रकार हैं—

ऊर्ध्व दिग्गत, अधो दिग्गत, तिर्यक् दिग्गत । श्रावक

इन तीनों दिशाओं में जाने का परिमाण करता है ।

दिग्गत के पांच अतिचार हैं—

१. ऊर्ध्वदिशा के परिमाण का अतिक्रमण ।
२. अधोदिशा के परिमाण का अतिक्रमण ।
३. तिर्यक्दिशा के परिमाण का अतिक्रमण ।
४. एक दिशा का परिमाण घटाकर, दूसरी दिशा के परिमाण का विस्तार करना ।
५. दिशा के परिमाण की विस्मृति ।

#### ७. उपभोग-परिभोग परिमाण

उवभोगपरिभोगवए दुविहे पणत्ते, तं जहा—भोअणओ कम्मओ अ । भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा—सच्चित्ताहारे सच्चित्तपडि-बद्धाहारे अप्पउल्लिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया दुप्पउल्लिओसहिभक्खणया । (भाव परि पृ २२)

उपभोग-परिभोग दो प्रकार का है—१. भोजन की अपेक्षा से २. कर्म की अपेक्षा से । भोजन की अपेक्षा से इस व्रत के पांच अतिचार हैं—

१. प्रत्याख्यान के उपरांत सच्चित्त वस्तु का आहार करना ।
२. प्रत्याख्यान के उपरांत सच्चित्तप्रतिबद्ध वस्तु का आहार करना ।
३. अपक्व धान्य का आहार करना ।
४. असार धान्य का आहार करना ।
५. अर्ध पक्व धान्य का आहार करना ।

#### कर्मादान

असावद्यजीवनोपायाभावेषि तेषामुत्कटज्ञानावरणीयादि-कर्महेतुत्वादादानानि कर्मादानानि ज्ञातव्यानि न समाचरि-तव्यानि । (भावहावृ २ पृ २२६)

कम्मओ णं समणोवासएणं इमाइं पन्नरस कम्मा-दाणाइं जाणियव्वाइं, तं जहा—इंगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्ख-वाणिज्जे रसवाणिज्जे केसवाणिज्जे विसवाणिज्जे जंतपीलक-कम्मे निल्लंछणकम्मे दवग्गिदावणया सरदहतलाय-सोसणया असईपोसणया । (भाव परि पृ २२)

आजीविका के निरवद्य साधन न होने पर भी अंगारकर्म आदि कर्मादान (व्यवसाय) करणीय नहीं हैं । इनसे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का उत्कृष्ट बंध होता है ।

कर्म (प्रवृत्ति) की अपेक्षा श्रमणोपासक के पन्द्रह कर्मादान अर्थात् महान् आरंभ के स्थान हैं—

१. अंगारकर्म—अग्नि के महारंभ वाला उद्योग ।
२. वनकर्म—वन काटने का उद्योग ।
३. शाकटकर्म—वाहन का उद्योग ।
४. भाटककर्म—वाहन के द्वारा माल ढोने का उद्योग ।
५. स्फोटकर्म—खदान से खनिज निकालने का उद्योग ।
६. दंतवाणिज्य—हाथीदंत आदि का व्यवसाय ।
७. लाक्षावाणिज्य—लाख का व्यवसाय ।
८. रसवाणिज्य—शराब आदि का व्यवसाय ।
९. केसवाणिज्य—भेड़ आदि के पालन का व्यवसाय ।
१०. विषवाणिज्य—विष का व्यवसाय ।
११. यंत्रपीलन—कोल्हू चलाने का उद्योग ।
१२. निर्लाघ्न कर्म—बैल आदि को नपुंसक बनाने का कर्म ।
१३. दवाग्निदापनता—जंगलों को जलाना ।
१४. सरद्रुहतडागशोषण—जलाशयों को सुखाना ।
१५. असतीजनपोषण—मुर्गीपालन तथा हिंस्र प्राणियों का पोषण ।

#### द. अनर्थदण्ड-विरमण

अणत्थदंडे चउव्विह्वे पणत्ते, तं जहा—अवज्झाणाय-  
रिए पमत्तायरिए हिंसप्पयाणे पावकम्मोव्वएत्ते । अणत्थ-  
दंडवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणि-  
यव्वा, तं जहा—कंदप्पे कुक्कुइए भोहरिए संजुत्ताहिमरणे  
उपभोगपरिभोगादरेगे । (आव परि पृ २२)

अनर्थदण्ड चार प्रकार का है—

१. अपध्यानाचरित—आर्तध्यान और रौद्रध्यान से युक्त प्रवृत्ति ।
  २. प्रमादाचरित—प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति ।
  ३. हिंस्रप्रदान—शस्त्र देना ।
  ४. फापकर्मोपदेश—हिंसा का प्रशिक्षण देना ।
- अनर्थदण्ड विरमणव्रत के पांच अतिचार हैं—
१. कंदर्प—कामोद्दीपक क्रियाएं ।
  २. कौत्कुच्य-भांड-चेष्टा—भांड की भांति चेष्टा करना, हंसोड़ प्रवृत्तियां ।
  ३. मौख्य—वाचालता ।
  ४. संयुक्ताधिकरण—शस्त्रों के पुर्जे तैयार करना एवं उनका संयोजन करना ।
  ५. उपभोग-परिभोगातिरेक—सीमा से अतिरिक्त उपभोग-परिभोग करना ।

#### ९. सामायिक

सामाइयं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं निरवज्जजोग-  
पडिसेवणं च ।

सामाइयस्स समणोवसएणं इमे पंच अइयारा जाणि-  
यव्वा, तं जहा—मणदुप्पणिहाणे वइदुप्पणिहाणे काय-  
दुप्पणिहाणे सामाइयस्स सदअकरणया सामाइयस्स  
अणवट्ठियस्स करणया । (आव परि पृ २२, २३)

सामायिक का अर्थ है—सावद्य प्रवृत्ति का परित्याग  
और निरवद्य प्रवृत्ति का आचरण ।

सामायिक के पांच अतिचार हैं—

१. मन की असम्यक् प्रवृत्ति ।
  २. वचन की असम्यक् प्रवृत्ति ।
  ३. शरीर की असम्यक् प्रवृत्ति ।
  ४. सामायिक की विस्मृति ।
  ५. नियत समय से पहले सामायिक को सम्पन्न करना ।
- सामाइयम्मि उ कए समणो इव सावओ ह्वइ जम्हा ।  
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥

(आवनि ८०१)

सामायिक के समय श्रावक भी श्रमण की तरह होता  
है । इसलिए उसे अनेक बार सामायिक करनी चाहिए ।

#### १०. देशावकाशिक

दिसिब्बवयगहियस्स दिसापरिमाणस्स पइदिणं परि-  
माणकरणं देसावगासियं । देसावगासियस्स समणोवासएणं  
इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा—आणवणप्पओगे  
पेसवणप्पओगे सद्धानुवाए रूवाणुवाए बहिया पुमल-  
पक्खेवे । (आव परि पृ २३)

दिशाव्रत में दिशा में जाने का जो परिमाण किया  
है, उसका प्रतिदिन संकोच करना देशावकाशिक व्रत है ।  
उसके पांच अतिचार हैं—

१. आनयनप्रयोग—दिग्ब्रत में क्षेत्र की जो सीमा की हो,  
उससे बाहर की वस्तु मंगाना ।
२. प्रेष्यप्रयोग—दिग्ब्रत में क्षेत्र की जो सीमा की हो,  
उससे बाहर की वस्तु मंगाने के लिए प्रेष्य को  
भेजना ।
३. शब्दानुपात—दिग्ब्रत में क्षेत्र की जो सीमा की हो,  
उससे बाहर शब्द कर कार्य करवाना ।
४. रूपानुपात—दिग्ब्रत में क्षेत्र की जो सीमा की हो,  
उससे बाहर अंगुली आदि का संकेत कर कार्य  
करवाना ।

५. बहिःपुद्गलप्रक्षेप—दिग्गत में क्षेत्र की जो सीमा की हो, उससे बाहर किसी वस्तु को फेंककर कार्य करवाना।

### ११. पौषधोपवास

पोसहोववासे चउच्चिह्वे पण्णत्ते, तं जहा—आहार-पोसहे शरीरसक्कारपोसहे बंभचेरपोसहे अच्चावार-पोसहे। पोसहोववासस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-सिज्जा-संधारए अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सिज्जासंधारए अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-उच्चारपासवणभूमिओ अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-उच्चारपासवणभूमिओ पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया। (आव परि पृ २३)

पौषधोपवासव्रत के चार प्रकार हैं—आहार का पौषध, शरीर-सत्कार का पौषध, ब्रह्मचर्य पौषध, प्रवृत्ति-वर्जनरूप पौषध।

पौषधोपवास व्रत के पांच अतिचार हैं—

१. स्नान और बिछौने का प्रतिलेखन न करना अथवा सम्यक् प्रकार से न करना।
२. स्थान और बिछौने का प्रमार्जन न करना अथवा सम्यक् प्रकार से न करना।
३. उच्चार-प्रस्रवण भूमियों का प्रतिलेखन न करना अथवा सम्यक् प्रकार से न करना।
४. उच्चार-प्रस्रवण भूमियों का प्रमार्जन न करना अथवा सम्यक् प्रकार से न करना।
५. पौषध-व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन न करना।

पोषणं पोषः, स चेह धम्मस्य तं धत्त इति पोषधः। द्वयोरपि सितितररूपयोः पक्षयोश्चतुर्दशीपूर्णमास्यादिषु तिथिषु अपेर्मम्यमानत्वादेकरात्रमपि, उपलक्षणत्वाच्चैकदिनमपि न हानिं प्रापयति। रात्रिश्रहणं च दिवा व्याकुलतया कर्तुमशक्नुवन् रात्रावपि पोषधं कुर्यात्।

(उशावृ प २५१)

जो धर्म को पुष्ट करता है, वह पौषध है। पौषध कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि तिथियों में किया जाता है। इसका कालमान है—अहोरात्र। व्याकुलता के कारण यदि कोई दिन में पौषध न कर सके तो वह रात्रि में भी किया जा सकता है।

### १२. अतिथि-संविभाग

अतिहिसंविभागो नाम नायामयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दच्चाणं देसकालसद्धासक्कारकमजुअं पराए

भतीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं।

अतिहिसंविभागस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा—सच्चित्तनिवखेवणया, सच्चित्त-पिहणया कालाइक्कमे परववएसे मच्छरिया य।

(आव परि पृ २३)

अतिथिसंविभाग (यथासंविभाग) का अर्थ है—आत्मानुग्रह की बुद्धि से संपन्न हो परम भक्तिपूर्वक संयमी को दान देना। वह अन्नपान आदि देय वस्तु न्याय से अर्जित, एषणीय, देश-काल-श्रद्धा-सत्कार और क्रम से युक्त हो।

अतिथिसंविभाग के पांच अतिचार हैं—

१. मुनि के लिए ग्रहणीय वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रखना।
२. मुनि के लिए ग्रहणीय वस्तु को सचित्त वस्तु से ढकना।
३. भिक्षा के काल का अतिक्रमण करना।
४. अपनी वस्तु न देने की भावना से उसे दूसरों की बतलाना।
५. दूसरे को दान देते देखकर प्रतिस्पर्धात्मक भाव से दान देना।

समणोवासगधम्मो पंचाणुद्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं आवकहियाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं इत्तरियाइं।

(आव परि पृ २३)

श्रावक के पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत यावत्कथिक—जीवनपर्यंत तथा चार शिक्षाव्रत इत्वरिक—अल्पकालिक होते हैं।

शिक्षा नाम यथा शैक्षकः पुनः पुनर्विद्यामभ्यसति एवमिमाणि चत्तारि सिक्खावयाणि पुणो पुणो अब्भसिज्जंति। (आवचू २ पृ २९८)

शिक्षार्थी पुनः पुनः विद्या का अभ्यास करता है। इसी प्रकार जिनका पुनः पुनः अभ्यास किया जाता है, वे शिक्षाव्रत कहलाते हैं। वे चार हैं—सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और यथासंविभाग।

### ५. देशविरति सामायिक (अगारधर्म) के पर्याय-वाची

विरयाविरई संवुडमसंवुडे बालपंडिए चेव।

देसेक्कदेसविरई अणुधम्मो अगारधम्मो य॥

(आवनि ८६३)

विरताविरत, संवृतासंवृत, बालपंडित, देशैकदेश-



विरति, अणुधर्म, अगारधर्म—ये देशविरति सामायिक के पर्यायवाची हैं ।

### ६. श्रावक के प्रकार

...साभिग्रहा य निरभिग्रहा य ओहेण सावया दुविहा ।  
(आवनि १५५७)

सामान्यतः श्रावक के दो प्रकार हैं—

१. साभिग्रह—व्रतसम्पन्न ।
२. निरभिग्रह—सम्यक्दर्शन सम्पन्न ।

दुविहतिविहेण पढमो दुविहं दुविहेण बीयओ होइ ।  
दुविहं एगविहेणं एगविहं चैव तिविहेणं ॥  
एगविहं दुविहेणं इक्किक्कविहेणं छट्ठओ होइ ।  
उत्तरगुण सत्तमओ अविरयओ चैव अट्टमओ ॥  
(आवनि १५५८, १५५९)

त्याग की तरतमता की अपेक्षा से श्रावक के आठ प्रकार हैं—

१. दो करण तीन योग से त्याग करने वाला ।
२. दो करण दो योग से त्याग करने वाला ।
३. दो करण एक योग से त्याग करने वाला ।
४. एक करण तीन योग से त्याग करने वाला ।
५. एक करण दो योग से त्याग करने वाला ।
६. एक करण एक योग से त्याग करने वाला ।
७. उत्तरगुणसम्पन्न ।
८. अविरत सम्यक्दृष्टि ।

### ७. श्रावक के प्रत्याख्यान : उनचास भंग

करणतिगेणेक्किक्कं कालतिगे तिघणसंखियमिसीणं ।  
सब्बं ति जओ गहियं सीयालसयं पुण गिहीणं ॥  
(विभा ३५४०)

साधु तीन योग (कृत, कारित, अनुमति) और तीन करण (मन, वचन, काया) से सर्व सावद्य योग (पापकारी प्रवृत्ति) का त्याग करता है । तीन को तीन से गुणन करने पर नौ भंग बनते हैं । इन नौ भंगों को अतीत, वर्तमान और अनागत—इन तीन कालों से गुणन करने पर सत्ताईस भंग बनते हैं (९×३=२७) । ये भंग साधु की अपेक्षा से हैं ।

श्रावक के आंशिक प्रत्याख्यान होते हैं । इस दृष्टि से तीन योग और तीन करण से उसके उनचास भंग बनते हैं—

उनचास भंग (विकल्प)

- १.—करण १ योग १, प्रतीक अंक ११, भंग ९ :

१. करुं नहीं मन से
२. करुं नहीं वचन से
३. करुं नहीं काया से
४. कराऊं नहीं मन से
५. कराऊं नहीं वचन से
६. कराऊं नहीं काया से
७. अनुमोदूं नहीं मन से
८. अनुमोदूं नहीं वचन से
९. अनुमोदूं नहीं काया से ।

- २.—करण १ योग २, प्रतीक अंक १२, भंग ९ :

१. करुं नहीं मन से वचन से
२. करुं नहीं मन से काया से
३. करुं नहीं वचन से काया से
४. कराऊं नहीं मन से वचन से
५. कराऊं नहीं मन से काया से
६. कराऊं नहीं वचन से काया से
७. अनुमोदूं नहीं मन से वचन से
८. अनुमोदूं नहीं मन से काया से
९. अनुमोदूं नहीं वचन से काया से ।

- ३.—करण १ योग ३, प्रतीक अंक १३, भंग ३ :

१. करुं नहीं मन से वचन से काया से
२. कराऊं नहीं मन से वचन से काया से
३. अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से ।

- ४.—करण २ योग १, प्रतीक अंक २१, भंग ९ :

१. करुं नहीं कराऊं नहीं मन से
२. करुं नहीं कराऊं नहीं वचन से
३. करुं नहीं कराऊं नहीं काया से
४. करुं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से
५. करुं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से
६. करुं नहीं अनुमोदूं नहीं काया से
७. कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से
८. कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से
९. कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं काया से ।

- ५.—करण २ योग २, प्रतीक अंक २२, भंग ९ :

१. करुं नहीं कराऊं नहीं मन से वचन से
२. करुं नहीं कराऊं नहीं मन से काया से
३. करुं नहीं कराऊं नहीं वचन से काया से
४. करुं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से
५. करुं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से काया से

६. करुं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से काया से  
 ७. कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से  
 ८. कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से काया से  
 ९. कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से काया से ।
- ६.—करण २ योग ३, प्रतीक अंक २३, भंग ३ :  
 १. करुं नहीं कराऊं नहीं मन से वचन से काया से  
 २. करुं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से  
 ३. कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से ।
- ७.—करण ३ योग १, प्रतीक अंक ३१, भंग ३ :  
 १. करुं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से  
 २. करुं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से  
 ३. करुं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं काया से ।
- ८.—करण ३ योग २, प्रतीक अंक ३२, भंग ३ :  
 १. करुं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से  
 २. करुं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से काया से  
 ३. करुं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से काया से ।
- ९.—करण ३ योग ३, प्रतीक अंक ३३, भंग १ :  
 १. करुं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से ।

इन ४९ भंगों को अतीत, अनागत और वर्तमान—  
 इन तीन से गुणन करने पर १४७ भंग होते हैं । इससे  
 अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य के  
 लिए प्रत्याख्यान होता है ।

सीयालं भंगसयं पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं ।  
 सो सामाज्यकुसलो सेसा सव्वे अकुसला उ ॥

(विभा ३५४१)

प्रत्याख्यान सम्बन्धी १४७ भंग होते हैं । जो इन  
 भंगों से प्रत्याख्यान करता है, वह सामायिक-कुशल है  
 और अन्य सब अकुशल हैं ।

### दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान

गिहिणा वि सव्ववज्जं दुविहं तिविहेण खिन्नकालं तं ।  
 कायव्वमाह सव्वे को दोसो भण्णएण्णुमई ॥

(विभा २६८३)

घर में आरम्भ-समारम्भ की अनेक प्रवृत्तियां चालू  
 हैं और गृहस्थ का अनुमोदन उनके साथ जुड़ा हुआ है,  
 इसलिए गृहस्थ सर्वसावद्ययोग का परित्याग नहीं कर  
 सकता । वह दो करण, तीन योग से एक मुहूर्त, दो मुहूर्त  
 आदि तक सामायिक करता है ।

### ती कोटि प्रत्याख्यान

नणु तिविहं तिविहेणं पच्चक्खाणं सुयम्मि गिहिणो वि ।  
 तं धूलवहाईणं न सव्वसावज्जजोगाणं ॥  
 जइ किच्चिदप्पओयणमप्पय्यं वा विसेसियं वत्थुं ।  
 पच्चक्खेज्ज न दोसो सयंभूरमणाइमच्छु व्व ॥  
 जो वा निक्खमिउमणो पडिमं पुत्ताइसंतइनिमित्तं ।  
 पडिवज्जेज्ज तओ वा करेज्ज तिविहं पि तिविहेणं ॥  
 (विभा २६८६-२६८८)

भगवत्यामाममे त्रिविधं त्रिविधेनेत्यपि प्रत्याख्यान-  
 मुक्तमगारिणः । तच्च श्रुतोक्तत्वादनवद्यमेव । तदिह  
 कस्मान्नोक्तं निर्युक्तिकारेणति ? तस्य विशेषविषयत्वात् ।  
 तथाहि— किल यः प्रविन्नजिषुरेव प्रतिमां प्रतिपद्यते पुत्रादि-  
 सन्ततिपालनाय स एव त्रिविधं त्रिविधेनेति करोति । तथा  
 विशेष्यं वा किञ्चिद् वस्तु स्वयंभूरमणमत्स्यादिकं तथा  
 स्थूलप्राणातिपातादिकं चेत्यादि । न तु सकलसावद्यव्या-  
 पारविरमणमधिकृत्येति । ननु च निर्युक्तिकारेण स्थूल-  
 प्राणातिपातादावपि त्रिविधं त्रिविधेनेति नोक्तो विकल्पः ।  
 (अवहानु २ पृ २१०)

आगमग्रन्थ भगवती (८।५) में प्रतिपादित है—  
 गृहस्थ तीन करण, तीन योग से प्रत्याख्यान कर सकता  
 है । यह तथ्य आगमिक होने के कारण निर्दोष है ।  
 आवश्यकनिर्युक्ति में यह तथ्य प्रतिपादित नहीं है, क्योंकि  
 यह विशेष आपवादिक स्थितिजन्य है । वे विशेष स्थितियां  
 ये हैं—

१. जो गृहस्थ प्रव्रजित होना चाहता है, किन्तु  
 सन्तान की इच्छा, अनुरोध आदि कारणों से वह तत्काल  
 प्रव्रजित न होकर ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा स्वीकार  
 करता है, उस समय वह नवकोटि त्याग कर सकता है ।

२. वह अप्राप्य वस्तु का नवकोटि त्याग कर सकता  
 है । जैसे—स्वयंभूरमणसमुद्र के मत्स्य को मारने का  
 त्याग । मनुष्यक्षेत्र से बाहर के हाथी-दांत, व्याघ्रचर्म के  
 उपयोग का त्याग ।

३. वह स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद आदि का  
 नवकोटि त्याग कर सकता है, जैसे—सिंह, हाथी आदि  
 को मारने का त्याग । किन्तु वह सर्वथा सावद्ययोग का  
 त्याग नहीं कर सकता ।

४. वह अप्रयोजनीय वस्तु का नवकोटि त्याग कर  
 सकता है । जैसे—काक-मांस खाने का त्याग ।

## ८. साधु और श्रावक में अंतर

संति एगेहि भिक्खूहि, गारत्था संजमुत्तरा ।

गारत्थेहि य सव्वेहि, साहवो संजमुत्तरा ॥

(उ ५।२०)

कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है ।

किन्तु साधुओं का संयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है ।

मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेण तु भुंजए ।

न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसि ॥

(उ ९।४४)

कोई बाल (गृहस्थ) मास-मास की तपस्या के अनन्तर कुश की नोक पर टिके उतना सा आहार करे तो भी वह सु-आख्यात धर्म-चारित्र्य धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता ।

तथा च बृद्धसम्प्रदायः—एगो सावगो साहुं पुच्छति—सावगाणं साहुणं किमंतरं? साहुणा भण्णति—सरि-सवमंदरंतरं, ततो सो आउलीहो पुणो पुच्छति—कुलि-गीणं सावगाणं य किमंतरं?, तेण भण्णति—तदेव सरिसवमंदरंतरं ति, ततो समासासितो ।

देसेककदेसविरया समणाणं सावगा सुविहियाणं ।

जेसि परपासंडा सतिमं पि कलं न अग्घंति ॥

(उशाव प २५०)

एक श्रावक ने साधु से पूछा—श्रावक और साधु में कितना अन्तर है? साधु ने कहा—‘सरसों और मन्दर पर्वत जितना ।’ तब उसने पुनः आकुल होकर पूछा—कुलिगी (बेषधारी) और श्रावक में कितना अन्तर है? साधु ने कहा—वही, सरसों और मन्दर पर्वत जितना । उसे समाधान मिल गया ।

सुविहित आचार वाले मुनियों के श्रावक देशविरत होते हैं । कुतूहलिक उनकी सौवीं कला को भी प्राप्त नहीं होते ।

### अंतर के पांच बिन्दु—

तस्स पंचसमियत्तणं पित्तिरियं ण आवकहियं, साहुस्स पुण आवकहितं ।.....सिक्खा दुविहा—आसेवणसिक्खा य गहणसिक्खा य । साहु आसेवणं सिक्खं दसविहचक्क-बालसामायारिं सव्वं सव्वकालं अणुपालेइ, सावतो देसं इत्तिरियं अणुपालेति । गहणसिक्खं साहु जहण्णेणं अट्टपव-यणमायातो सुत्तओवि अत्थतोवि उक्कोसेण दुवालसंगाणि । सावगस्स जहण्णेणं तं वेव उक्कोसेणं छज्जीवणिकायं सुत्ततोवि अत्थओवि पिडेसणज्जणं ण सुत्ततो, अत्थतो पुण उल्लावेण सुणदि ।.....

बंधति साधुणो सत्तविहं वा अट्टविहं वा छव्विहं वा एगविहं वा अबद्धंतो वा, उवासतो सत्त वा अट्ट वा । वेदन्ति साहवो सत्त वा अट्ट वा चत्तारि वा सावतो अट्ट वेदेति । पडिवत्तीए साहु नियमा रातीभोयणवेरमण-छट्टाणि पंच महव्वयाणि, सावगो एगं वा २-३-४-५ अहवा साधू सामातियं एककसि पडिवन्नो, सावतो पुणो पुणो पडिवज्जति । साहुस्स एगंमि वते भग्गे सव्वाणि भज्जति सावगस्स एगं वेव भज्जति ।

जहण्णेणं सोधम्मे उक्कोसेणं सावगस्स अच्चुते, साहुस्स जहण्णेणं सोहम्मे उक्कोसेणं सव्वट्टसिद्धी ।.....गतिपि पडुच्च साधू पंचमं पि गतिं गच्छति ।

(आवचू २ पृ ३००, ३०१)

.....भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ॥

(उ ५।२२)

अविराहियसामणस्स साहुणो, सावगस्स य जहण्णो ।

उववातो सोहम्मे भणितो तेलोक्कदंसीहि ॥

(उशाव प २५१)

समिति-सामाचारी—साधु के समिति यावत्कथिक होती है और श्रावक के इत्वरिक । साधु दसविध चक्रवाल सामाचारी का सम्पूर्ण रूप से सदा पालन करता है । श्रावक उसका देशतः कदाचित् पालन करता है ।

श्रुत-अध्ययन—साधु जघन्यतः आठ प्रवचनमाता का सूत्रतः और अर्थतः तथा उत्कृष्टतः द्वादशान्त का अध्ययन करता है । श्रावक जघन्यतः और उत्कृष्टतः षड्जीवनिका के सूत्र और अर्थ को पढ सकता है । पिण्डैषणा अध्ययन को सूत्रतः नहीं पढ सकता किंतु उसका अर्थ सुन सकता है ।

कर्मबंध और वेदन—साधु के चार प्रकार का कर्मबंध हो सकता है—सात-आठ कर्मों का, छह कर्मों का (मोह और आयुष्य वजित), एक कर्म (सातवेदनीय) का अथवा वह अबंध भी होता है । श्रावक के सात-आठ कर्मों का बंध होता है ।

साधु सात-आठ कर्मों का अथवा चार कर्मों का (केवली की अपेक्षा) वेदन करता है । श्रावक सात-आठ कर्मों का वेदन करता है ।

प्रत्याख्यान—साधु पांच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण—छहों व्रत नियमतः यावज्जीवन के लिए स्वीकार करता है । श्रावक एक, दो अथवा सब व्रत स्वीकार कर सकता है । साधु एक बार सामायिक ग्रहण करता है, श्रावक पुनः-पुनः ग्रहण करता है । साधु

के एक व्रत का भंग होने पर सभी व्रतों का भंग हो जाता है। श्रावक के एक व्रत का भंग होने पर एक ही व्रत का भंग होता है, सबका नहीं।

**गति**—भिक्षु हो या गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है तो स्वर्ग में जाता है। जिसने संयम की विराधना नहीं की, वैसा आराधक साधु जघन्यतः सौधर्मकल्प और उत्कृष्टतः सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है अथवा पांचवीं गति—मोक्ष में जाता है। श्रावक जघन्यतः सौधर्मकल्प और उत्कृष्टतः अच्युतकल्प में उत्पन्न होता है।

### श्रुतकेवली—चतुर्दशपूर्वी।

श्रुतज्ञानी चेहाभिन्नदशपूर्वधरादिश्रुतकेवली परिगृह्यते, तस्यैव नियमतः श्रुतज्ञानबलेन सर्वद्रव्यादिपरिज्ञानसम्भवात्। (तन्दीमवृ प २४९)

अभिन्न दशपूर्वी यावत् श्रुतकेवली—चतुर्दशपूर्वी अपने श्रुतज्ञान से नियमतः सब द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों को जानते हैं।

श्रुतकेवली प्राणियों के अतीत और अनागत के संख्यातीत भवों को जानते हैं। वे उत्कृष्ट बहुश्रुत होते हैं।

(द्र. बहुश्रुत)

वे अनेक अतिशयों से सम्पन्न होते हैं। (द्र. पूर्व)

**श्रुतज्ञान**—शब्द, शास्त्र, संकेत, प्रकम्पन आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान।

#### १. श्रुतज्ञान की परिभाषा

- \* श्रुतज्ञान : परोक्ष ज्ञान का एक भेद (द्र. ज्ञान)
- \* द्वावशांन ही श्रुतज्ञान (द्र. अंगप्रविष्ट)
- \* श्रुतधर्म तीर्थ का पर्याय (द्र. तीर्थ)

#### २. द्रव्यश्रुत और भावश्रुत

#### ३. द्रव्यश्रुत-भावश्रुत और मतिज्ञान का संबंध

- मति और श्रुत की भेदरेखा
- श्रुतज्ञान : मतिज्ञान का एक भेद
- \* मति और श्रुत में साधर्म्य

(द्र. भाषिनिबोधिक ज्ञान)

#### ४. श्रुतज्ञान परामर्श

#### ५. श्रुतज्ञान का विषय

#### ६. श्रुत के एकार्यक

#### ७. श्रुतज्ञान के प्रकार

#### ८. अक्षरश्रुत की परिभाषा

- कठि से वर्ण ही अक्षर

#### ९. अक्षरश्रुत के प्रकार

- संज्ञाक्षर
- व्यञ्जनाक्षर
- लब्धक्षर

#### १०. लब्धक्षर के भेद

- लब्धक्षर और संज्ञी-असंज्ञी जीव
- एकेन्द्रिय में लब्धक्षर (भावश्रुत)

#### ११. अक्षरों के संयोग अनन्त

#### १२. अकार के स्व-पर पर्याय

#### १३. एक का ज्ञान : सर्व का ज्ञान

#### १४. अक्षर का पर्यवपरिमाण

#### १५. अनक्षर श्रुत

#### १६. संज्ञी-असंज्ञी श्रुत

- \* कालिययुपदेश (दीर्घकालिकी) (द्र. मन)
- हेतूपदेश
- वृष्टिवादोपदेश
- \* संज्ञा के स्वामी (द्र. संज्ञा)

#### १७. सम्यक्-मिथ्याश्रुत

- सम्यक्-मिथ्या श्रुत के अधिकारी
- सम्यक्-मिथ्या श्रुत के हेतु

#### १८. सावि-सपर्यवसित तथा अनादि-अपर्यवसित श्रुत

#### १९. गमिक-अगमिक श्रुत

- गमिक श्रुत के प्रकार
- \* अंगप्रविष्ट श्रुत, (द्र. अंगप्रविष्ट)
- \* अंगप्रविष्ट श्रुत (द्र. अंगबाह्य)

#### २०. श्रुतकरण : बद्ध-अबद्धश्रुत

- अबद्धश्रुत : पांच सी आवेश

#### २१. श्रुतज्ञान की वश्यता

#### २२. प्राणीमात्र में ज्ञान की सत्ता

#### २३. अधन्य श्रुत का हेतु

#### २४. श्रुतज्ञान-विशुद्धि का तारतम्य

#### २५. श्रुतज्ञान का महत्त्व

- \* श्रुताध्ययन का उद्देश्य (द्र. शिक्षा)
- \* श्रुतग्रहण की प्रक्रिया (द्र. शिक्षा)

## २६. श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में अन्तर

- \* मति, श्रुत और अवधि में साधर्म्य (द्र. अवधिज्ञान)
- \* श्रुतज्ञान : ज्ञान और अज्ञान (द्र. अज्ञान)
- \* श्रुतसमाधि (द्र. समाधि)
- \* श्रुतसामायिक के भेद (द्र. सामायिक)
- \* श्रुतसामायिक की स्थिति, नक्षत्र आदि (द्र. सामायिक)
- \* श्रुतपुरुष के अंग (द्र. अंगप्रविष्ट)

## २७. श्रुतस्थान

## १. श्रुतज्ञान की परिभाषा

श्रुत — वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंस्पृष्टार्थ-ग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः । एवमाकारं वस्तु जलधारणा-वर्धकक्रियासमर्थं घटशब्दवाच्यमित्यादिरूपतया प्रधानीकृत-त्रिकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः । (तन्दीमवृ प ६५)

वाच्य-वाचक के सम्बन्धज्ञान पूर्वक शब्द से सम्बद्ध अर्थ को जानने का जो हेतु है, वह श्रुतज्ञान है। जैसे—अमुक आकार वाली वस्तु, जो जलधारण आदि अर्थक्रिया में समर्थ है, वह घट (वाचक) शब्द के द्वारा वाच्य है, इत्यादि। जिस ज्ञान में त्रिकालिक-साधारण, समान परिणाम मुख्य होता है, जो शब्द और अर्थ के पर्यालोचन के अनुसार होता है, जो इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है, वह श्रुतज्ञान है।

श्रूयते तदिति श्रुतं—शब्दमात्रम् । तच्च द्रव्यश्रुत-मेव । यत्पुनः शब्दमाकर्णयतः स्वयं वा वदतः पुस्तका-दिन्यस्तानि वा चक्षुरादिभिरक्षराण्युपलभमानस्य शेषेन्द्रिय-गृहीतं वाऽर्थं विकल्पयतोऽक्षरारूपितं विज्ञानमुपजायते तदिह भावश्रुतं श्रुतशब्देनोक्तम् । (उशावृ प ५५६, ५५७)

जो सुना जाता है वह श्रुत—शब्द है। शब्द द्रव्य-श्रुत ही है। जब शब्द को सुना जाता है, बोला जाता है, पुस्तक आदि में न्यस्त अक्षर-विन्यास चक्षुइन्द्रिय से पढ़ा जाता है अथवा शेष इंद्रियों से अवगृहीत अर्थ का पर्या-लोचन किया जाता है, उस समय जो अक्षरानुसारी/श्रुतानुसारी विज्ञान उत्पन्न होता है, वह भावश्रुत है और वही यहां श्रुत शब्द से अभिहित है।

## २. द्रव्यश्रुत और भावश्रुत

आगमओ दव्वसुयं वत्ता सुत्तोपभोगनिरवेवसो ।  
नोआगमओ जाणय-भव्वसरीराऽहरित्तमिदं ॥  
पत्ताइगयं सुत्तं . . . । (विभा ८७७, ८७८)

श्रुत के उपयोग से निरपेक्ष/अनुपयुक्त वक्ता आगमतः द्रव्यश्रुत है। पत्र-पुस्तक आदि में लिखित सूत्र तथा अण्डज, कर्पास आदि सूत्र (घागे) ज-भव्य-शरीर-व्यति-रिक्त नोआगतः द्रव्यश्रुत है।

श्रुत में उपयुक्त श्रुत का अध्येता आगमतः भावश्रुत है क्योंकि वह श्रुतोपयोग से अभिन्न होता है।

चरणाइसमेयम्मि उ उवओगो जो सुए तओ समए ।  
नोआगमो त्ति भण्णइ नोसट्ठो मीसभावम्मि ॥  
(विभा ८८४)

आचरण से युक्त श्रुत के उपयोग को सिद्धान्त में नोआगमतः भावश्रुत कहा गया है। 'नो' शब्द यहां मिश्र/युक्त अर्थ का वाचक है।

## ३. द्रव्यश्रुत-भावश्रुत और मतिज्ञान का संबंध

इदिय-मणोनिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं ।  
निययत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मई सेसं ॥

(विभा १००)

इन्द्रिय और मन का निमित्त मिलने पर जो श्रुतानु-सारी ज्ञान होता है तथा जो अपने अर्थ को कहने में समर्थ है, वह भावश्रुत है, शेष मतिज्ञान है।

\*\*\*भावसुयं मइपुव्वं, दव्वसुयं लक्खणं तस्स ॥

सुयविण्णाणप्पभव्वं दव्वसुयमियं जओ विचित्तेउं ।

पुव्वं पच्छा भासइ लक्खिज्जइ तेण भावसुयं ॥

(विभा ११२, ११३)

भावश्रुत मतिपूर्वक होता है। द्रव्यश्रुत उसका लक्षण है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत से उत्पन्न होता है। पहले भाव-श्रुत से चिंतन किया जाता है, तत्पश्चात् उसे शब्द से प्रकट किया जाता है। अतः द्रव्यश्रुत से भावश्रुत लक्षित होता है।

बुद्धिदृष्टे अत्थे जे भासइ तं सुयं मईसहियं ।

इयरत्थ वि होज्ज सुयं उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा ॥

(विभा १२८)

जो ज्ञान बुद्धिदृष्ट अर्थों का प्रतिपादन करने में समर्थ होता है, वह श्रुतज्ञान है। वह मतिज्ञान सहित होता है। प्रतिपादन का संबंध द्रव्यश्रुत से है और

मति-सहित होने का संबंध भावश्रुत से। भावश्रुत के साथ द्रव्यश्रुत भी होता है, यदि वह जितनी ज्ञान की उपलब्धि है, उतना निरूपण करता है।

### मति और श्रुत की भेदरेखा

सोऽदिओवलद्धी होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं ।

मोत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु ॥

न केवलं शेषेन्द्रियोपलब्धिर्मतिज्ञानम् । किन्तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिश्च काचिदवग्रहेहादिमात्ररूपा मतिज्ञानं भवति...पुस्तकादिलिखितं यद् द्रव्यश्रुतं तद् मुक्त्वा परित्यज्यैव शेषं मतिज्ञानं द्रष्टव्यम्...न केवलं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतम्, किन्तु यश्च शेषेषु चतुर्षु चक्षुरादीन्द्रियेषु श्रुतानुसारिसाभिलाषविज्ञानरूपोऽक्षरलाभः सोऽपि श्रुतम्, न त्वक्षरलाभमात्रम् । तस्येहा-ऽपायाद्यात्मके मतिज्ञानेऽपि सद्भावात् । (विभा ११७ मवृ पृ ६५)

श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। शेष चक्षु आदि इन्द्रियों से अवग्रह, ईहा आदि के रूप में जो अश्रुतानुसारी बोध होता है, वह मतिज्ञान है। श्रोत्रेन्द्रिय का ज्ञान भी जो अवग्रह, ईहा आदि रूप होता है, वह भी मतिज्ञान है। पुस्तक आदि में लिखित द्रव्यश्रुत को छोड़कर शेष मतिज्ञान है।

केवल श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाला ज्ञान ही श्रुतज्ञान नहीं है। चक्षु आदि इन्द्रियों से जो श्रुतानुसारी साभिलाष ज्ञान होता है, वह भी श्रुतज्ञान है।

मति-सुताणं अण्णोण्णाणुगताण वि आयरिया भेदमाह दिट्ठंतसामत्पतो, जहा आगासपइट्ठिताणं धम्माऽधम्माण अण्णोण्णाणुगताणं लक्खणभेदा भेदो दिट्ठो तहा मति-सुताण वि सामि-कालादि अभेदे वि भेदो भण्णति ।

(नन्दीचू पृ ३१)

मति और श्रुत अन्योन्य अनुगत हैं। इनमें स्वामी, काल आदि का अभेद है, फिर भी इनमें भिन्नता है। जैसे आकाशप्रतिष्ठित धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय अन्योन्य-अनुगत होने पर भी अपने-अपने लक्षण-भेद से भिन्न हैं।

### श्रुतज्ञान : मतिज्ञान का एक भेद

...विसिट्ठो वा । मइभेओ चेव सुयं... ॥

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तद्वारेणोपजायमानं सर्वं मति-ज्ञानमेव, केवलं परोपदेशादागमवचनाच्च भन्व विशिष्टः

कश्चिद् मतिभेद एव श्रुतं नान्यत् ।

(विभा ८६ मवृ पृ ४९)

इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला सारा ज्ञान मतिज्ञान ही है। परोपदेश और आगमवचन— इन दो विशेषताओं से विशिष्ट श्रुतज्ञान मतिज्ञान का ही एक भेद है, इससे भिन्न नहीं है।

जावंतो वयणपहा सुयाणुसारेण केइ लब्भंति ।

ते सव्वे सुयनाणं ते याणंता मइविसेसा ॥

(विभा ४५१)

श्रुतग्रंथों का अनुसरण करने वाले जितने वचन-पथ हैं, वे सब श्रुतज्ञान हैं। वे श्रुतानुसारी मतिविशेष के ही भेद हैं और वे अनन्त हैं।

### ४. श्रुतज्ञान परायण

पाएण पराहीणं दीवोव्व परप्पबोहयं जं च ।

सुयनाणं तेष परप्पबोहणत्थं तदणुओणो ॥

प्रत्येकबुद्धादीनां श्रुतस्य स्वयमेव भावात् तद्व्यव-च्छेदार्थं प्रायोग्रहणम् । (विभा ८३९ मवृ पृ ३४१)

दीपक पर को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञान भी स्व और पर स्वरूप का प्रकाशन— विश्लेषण करने में समर्थ है। पर-प्रबोधक होने से ही वह शिक्षा अथवा व्याख्या के लिए अधिकृत है। श्रुतज्ञान गुरु से प्राप्त होता है इसलिए वह प्रायः पराधीन है। यहां 'प्रायः' शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि प्रत्येकबुद्ध आदि का श्रुतज्ञान स्वायत्त होता है, परायत्त नहीं।

सुयणाणेषं अवसेसाणि जाणाणि णज्जति परू-विज्जति वा ।...चत्तारि जाणाणि ससमुत्थाणि इमं परसमुत्थं । (आवचू १ पृ ७७)

श्रुतज्ञान से मति आदि चारों ज्ञान जाने जाते हैं तथा उनकी प्ररूपणा होती है। चार ज्ञान स्वसमुत्थ तथा श्रुतज्ञान परसमुत्थ है।

### ५. श्रुतज्ञान का विषय

से समासओ चउव्विह्हे पण्णत्ते, तं जहा — दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ । खेत्तओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वं खेतं जाणइ पासइ । कालओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ । भावओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ ॥ (नन्दी १२७)

संक्षेप में श्रुतज्ञान चार प्रकार का है—

द्रव्यतः—द्रव्य की दृष्टि से श्रुतज्ञानी उपयुक्त (ज्ञेय के प्रति दत्तचित्त) होने पर सब द्रव्यों को जानता देखता है।

क्षेत्रतः—क्षेत्र की दृष्टि से श्रुतज्ञानी उपयुक्त होने पर सब क्षेत्रों को जानता देखता है।

कालतः—काल की दृष्टि से श्रुतज्ञानी उपयुक्त होने पर सर्व काल को जानता देखता है।

भावतः—भाव की दृष्टि से श्रुतज्ञानी उपयुक्त होने पर सब भावों को जानता देखता है।

#### ६. श्रुत के एकार्थक

सुय सुत्त गंध सिद्धंत, सासणे आण वयण उवएसे ।  
पण्णवण आगमे य, एग्गट्टा पज्जवा सुत्ते ॥  
(अनु ५१)

श्रुत, सूत्र, ग्रंथ, सिद्धांत, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन और आगम—ये श्रुत के एकार्थक हैं।

#### ७. श्रुतज्ञान के प्रकार

तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंगपविट्ठं  
अंगवाहिरं च ।  
(नन्दी ७३)

श्रुतज्ञान संक्षेपतः दो प्रकार का है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।

तं च सुतावरणखयोवसमत्तणती एगविहं पि तं  
अक्खरादिभावे पडुक्ख जाव अंगवाहिरं ति चोहसविधं  
भण्णति ।  
(नन्दीचू पृ ४४)

श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा श्रुतज्ञान एक प्रकार का ही है। अक्षर आदि भावों की अपेक्षा से वह चौदह प्रकार का है।

सुयनाणपरोक्खं चोहसविहं पण्णत्तं, तं जहा—१.  
अक्खरसुयं २. अणक्खरसुयं ३. सण्णिसुयं ४. असण्णि-  
सुयं ५. सम्मसुयं ६. मिच्छसुयं ७. साइयं ८. अणाइयं  
९. सपज्जवसियं १०. अपज्जवसियं ११. गमियं  
१२. अगमियं १३. अंगपविट्ठं १४. अणंगपविट्ठं ।

(नन्दी ५५)

श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान है। उसके चौदह प्रकार हैं—

- |                 |                |
|-----------------|----------------|
| १. अक्षरश्रुत   | ५. सम्यक्श्रुत |
| २. अनक्षरश्रुत  | ६. मिथ्याश्रुत |
| ३. संज्ञीश्रुत  | ७. सादिश्रुत   |
| ४. असंज्ञीश्रुत | ८. अनादिश्रुत  |

- |                    |                       |
|--------------------|-----------------------|
| ९. सपर्यवसितश्रुत  | १२. अगमिकश्रुत        |
| १०. अपर्यवसितश्रुत | १३. अंगप्रविष्टश्रुत  |
| ११. गमिकश्रुत      | १४. अनंगप्रविष्टश्रुत |

(श्रुतज्ञान के ये चौदह भेद छह हेतु-सापेक्ष हैं—

१. अक्षरश्रुत-अनक्षरश्रुत—अक्षर तथा संकेत के आधार पर होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से।
२. संज्ञीश्रुत-असंज्ञीश्रुत—मानसिक विकास और अविकसित मन के आधार पर होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से।
३. सम्यक्श्रुत-मिथ्याश्रुत—प्रवचनकार और ज्ञाता के आधार पर होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से।
४. सादि-अनादिश्रुत, सपर्यवसित-अपर्यवसितश्रुत—कालावधि के आधार पर होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से।
५. गमिक-अगमिकश्रुत—रचनाशैली की अपेक्षा से।
६. अंग-अनंगश्रुत—ग्रन्थकार की अपेक्षा से।

श्रुतज्ञान के चौदह भेदों की अवधारणा आवश्यक निर्युक्ति और नदीसूत्र में उपलब्ध होती है। देवेन्द्रसूरि कृत कर्मविपाक में श्रुतज्ञान के चौदह और बीस दोनों प्रकार उपलब्ध हैं। षट्खण्डागम में श्रुतज्ञान के बीस प्रकार बतलाए गए हैं। देखें—नन्दी सूत्र ५५ का टिप्पण)

पत्तेयमक्खराइं, अक्खरसंजोग जत्तिया लोए ।

एवइया पयडीओ, सुयनाणे हुंति णायव्वा ॥

(आवनि १७)

लोक में जितने अक्षर हैं और उनके जितने विविध संयोग हैं, उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं।

#### ८. अक्षरश्रुत की परिभाषा

न क्खरइ अणुवओगे वि अक्खरं सो य चेयणाभावो ।  
अविसुद्धनयाण मयं सुद्धनयाण क्खरं चेव ॥  
उवओगे वि य नाणं सुद्धा इच्छंति जं न तविरहे ।  
उप्पाय-भंगुरा वा जं तेसि सव्वपज्जाया ॥  
अभिलप्पा वि य अत्था सव्वे दव्वट्टियाए जं निच्चा ।  
पज्जायेणानिच्चा तेण खरा अक्खरा चेव ॥

(विभा ४५५-४५७)

अनुपयोग काल में भी जिसका क्षरण नहीं होता, वह अक्षर है और वह चेतना का ज्ञान परिणाम है। नैगम आदि अविशुद्ध नयों की दृष्टि में ज्ञान अक्षर है—उसका

प्रच्यवन नहीं होता। ऋजुसूत्र आदि शुद्ध नयों की दृष्टि में ज्ञान क्षर है—अनुपयोग अवस्था में उसका प्रच्यवन होता है। उपयोग अवस्था में ही ज्ञान होता है।

शुद्ध नय की दृष्टि में सर्व पदार्थ उत्पाद और व्यय स्वभाव वाले हैं, अतः क्षर हैं। ज्ञान भी उत्पाद-व्ययशील होने से क्षर है—अभिलाष विज्ञान की अपेक्षा से यह अक्षरता-अनक्षरता प्रतिपादित है।

घट, व्योम आदि अभिलाष्य पदार्थ द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा से नित्य हैं, अतः अक्षर हैं। पर्यायास्तिक नय की अपेक्षा से अनित्य हैं, अतः क्षर हैं।

**रुद्धि से वर्ण ही अक्षर**

जइ वि हु सव्वं चिय नाणमक्खरं तह वि रुद्धिओ वन्नो ।।।।  
(विभा ४५९)

यद्यपि च सर्वं ज्ञानमविशेषेणाक्षरं प्राप्नोति तथाऽपीह श्रुतज्ञानस्य प्रस्तावादक्षरं श्रुतज्ञानमेव द्रष्टव्यं, न शेषं, इत्यम्भूतभावाक्षरकारणं वाऽकारादि वर्णजातं ततस्तदप्युपचारादक्षरमुच्यते। (नन्दीमवृ प १८७, १८८)

सब ज्ञान सामान्य रूप से अक्षर हैं, फिर भी यहां श्रुतज्ञान का प्रसंग होने से श्रुतज्ञान ही अक्षर है, शेष ज्ञान नहीं। इस प्रकार के भावश्रुत (भाव अक्षर) का कारणभूत अकार आदि जो वर्णसमूह है, उपचार से वह भी अक्षर कहलाता है।

## ६. अक्षरश्रुत के प्रकार—

अक्षरसुर्यं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—

१. सण्णक्खरं २. वंजणक्खरं ३. लद्धिअक्खरं।

(नन्दी ५६)

अक्षरश्रुत के तीन प्रकार हैं—

१. संज्ञाक्षर, २. व्यञ्जनाक्षर, ३. लब्धयक्षर।

अक्खरं तिविहं—नाणक्खरं अभिलावक्खरं वण्णक्खरं च।  
(नन्दीवृ पृ ४४)

अक्षर के तीन प्रकार हैं—ज्ञानाक्षर, अभिलाष्याक्षर—ज्ञेयाक्षर और वर्णाक्षर।

### संज्ञाक्षर की परिभाषा

सण्णक्खरं—अक्खरस्स संठाणागिहं। (नन्दी ५७)

.....सुबहुलिविभेयनिययं सण्णक्खरमक्खरामारो।

(विभा ४६४)

जहा—वट्टो ठकारो, वज्जागिती वकारो।

(आवचू १ पृ २६)

हंसलिपि आदि अठारह प्रकार की लिपियों से सम्बद्ध अक्षरों का आकार संज्ञाक्षर है। जैसे—अर्धचन्द्राकार टकार, घटाकार वृत्त ठकार, वज्राकार वकार।

अक्षरस्य पट्टिकादौ संस्थापितस्य संस्थानाकृतिः संज्ञाक्षरमुच्यते। तच्च ब्राह्म्यादिलिपिभेदतोऽनेकप्रकारम्। तत्र नागरीं लिपिमधिकृत्य किञ्चित्प्रदर्शयते—मध्ये स्फाटित-चुरलीसन्निवेशसदृशो रेखासन्निवेशो णकारो, वक्त्री-भूतश्वपुच्छसन्निवेशसदृशो ढकार इत्यादि।

(नन्दीमवृ प १८८)

पट्टिका आदि पर संस्थापित अक्षर की संस्थानाकृति संज्ञाक्षर कहलाती है। वह संस्थान अनेक प्रकार का है। जैसे ब्राह्मी लिपि आदि। नागरी लिपि के उदाहरण—मध्य में स्फाटित चुल्ही सन्निवेश की तरह रेखासन्निवेश वाला णकार। कुत्ते की टेढ़ी पूंछ की आकृति वाला ढकार।

### लिपि के अठारह प्रकार

हंसलिपी भूयलिपी जक्खी तह रक्खसी य बोधव्वा।  
उह्ठी जवणि तुरुक्की कीरी दविडी य सिधविया॥  
मालविणी नडि नागरी लाडलिपी पारसी य बोधव्वा।  
तह अनिमित्ती न लिपी चाणक्की मूलदेवी य॥

(विभामवृ १ पृ २१७)

- |             |               |
|-------------|---------------|
| १. हंसलिपि  | १०. सैन्धवी   |
| २. भूतलिपि  | ११. मालविनी   |
| ३. यक्षी    | १२. नटी       |
| ४. राक्षसी  | १३. नागरी     |
| ५. उड़िया   | १४. लाट       |
| ६. यवनानी   | १५. पारसी     |
| ७. तुरुक्की | १६. अनिमित्ती |
| ८. कीरी     | १७. चाणक्की   |
| ९. द्राविडी | ५८. मूलदेवी   |

(समवाओ, पन्नवणा, भूवल्लय—इन ग्रन्थों में अठारह लिपियों के नाम कुछ प्रकारभेद से मिलते हैं। देखें—समवाओ १८/५ का टिप्पण)

### व्यञ्जनाक्षर

वंजणक्खरं—अक्खरस्स वंजणाभिलावो। (नन्दी ५८)

अक्षर का उच्चारण करना व्यञ्जनाक्षर है।



वंजिज्जइ जेणत्थो घडो व्व दीवेण वंजणं तो तं ।

भण्णइ भासिज्जंतं सव्वमकाराइ तक्कालं ॥

(विभा ४६५)

प्रदीप से घट की तरह जिससे अर्थ अभिव्यक्त— प्रकाशित होता है, वह व्यञ्जन है। अकार से हकार तक के भाष्यमाण शब्द उच्चारणकाल में व्यञ्जनाक्षर कहलाते हैं।

वंजणक्खरो अभिधेयातो भिन्नं अभिन्नं च । जम्हा मोदउत्ति भणिए णो वयणस्स पूरणं भवति । अतो णज्जति जहा भिन्नया । जम्हा पुण मोदउत्ति भणितं तंमि चेव संपच्चतो भवति, णो तव्वतिरित्तेसु घटादिसु, अतो अभिन्नया । (आवचू १ पृ २७)

व्यञ्जनाक्षर अभिधेय से भिन्न भी है, अभिन्न भी है। 'मोदक' शब्द कहने से मुंह नहीं भरता—इस दृष्टि से वाच्य वाचक से भिन्न है। मोदक कहने से मोदक का ही संप्रत्यय होता है, तद्व्यतिरिक्त घट आदि का नहीं। अतः वाच्य वाचक से अभिन्न है।

### लब्धयक्षर

जो अक्खरोवरलंभो सा लब्धी, तं च होइ विष्णाणं ।

इंदिय-मणोनिमित्तं जो यावरणक्खओवसमो ॥

(विभा ४६६)

अक्षर की प्राप्ति लब्धयक्षर है। इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला श्रुतग्रन्थानुसारी विज्ञान—श्रुतज्ञान का उपयोग और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम—ये दोनों लब्धयक्षर हैं।

### १०. लब्धयक्षर के भेद

अक्खरलद्धियस्य लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ, तं जहा-सोइंदियलद्धिअक्खरं, चक्खिदियलद्धिअक्खरं, घाणिदिय-लद्धिअक्खरं, रसणिदियलद्धिअक्खरं, फासिदियलद्धिअक्खरं, नोइंदियलद्धिअक्खरं । (नन्दी ५९)

जो अक्षरलद्धि से सम्पन्न है, उसके लब्धयक्षर (भावश्रुत) उत्पन्न होता है। लब्धयक्षर के छह भेद हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रिय लब्धयक्षर ।

२. चक्षुरिन्द्रिय लब्धयक्षर ।

३. घ्राणेन्द्रिय लब्धयक्षर ।

४. रसनेन्द्रिय लब्धयक्षर ।

५. स्पर्शनेन्द्रिय लब्धयक्षर ।

६. नोइन्द्रिय (मन) लब्धयक्षर ।

यच्छ्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणे सति शास्त्रोऽयमित्याद्य-क्षरानुविद्धं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारि विज्ञानं तच्छ्रोत्रेन्द्रियलब्धयक्षरं तस्य श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तत्वात् । चक्षुषा आम्रफलाद्युपलभ्याम्रफलमित्याद्यक्षरानुविद्धं शब्दार्थपर्यालोचनात्मकं विज्ञानं तच्चक्षुरिन्द्रियलब्धयक्षरम् ।

(नन्दीमवृ प १८८, १८९)

श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द सुनने पर 'यह शंख का शब्द है'—इत्यादि अक्षरमय शब्दार्थपर्यालोचन से जो ज्ञान होता है, वह श्रोत्रेन्द्रियलब्धयक्षर है, क्योंकि वह श्रोत्रेन्द्रिय के निमित्त से हुआ है।

आंख से आम्रफल देखने पर 'आम्रफल' इन अक्षरों से अनुविद्ध शब्दार्थपर्यालोचनात्मक ज्ञान होता है, वह चक्षुइन्द्रियलब्धयक्षर है।

### लब्धयक्षर और संज्ञी-असंज्ञी जीव

असण्णिणो पंचेदिया पासंतावि अत्थे षडपडादिणो णोऽभिजाणंति—किमवि एयंति । तम्हा पायसो एसो लद्धिअक्खरलंभो सण्णीणं भवति, णो असण्णीणं ति ।

(आवचू १ पृ २८)

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव षट्, पट आदि पदार्थों को देखता हुआ भी नहीं जानता कि 'यह कुच्छ है'। अतः लब्धयक्षर प्रायः संज्ञी के होता है, असंज्ञी के नहीं।

लब्धयक्षरं संज्ञिनामेव पुरुषादीनामुपपद्यते नासंज्ञि-नामेकेन्द्रियादीनां, तेषामकारादीनां वर्णानामवगमे उच्चारणे वा लब्धयसम्भवात्, न हि तेषां परोपदेशश्रवणं सम्भवति येनाकारादिवर्णानामवगमादि भवेत् अथचैकेन्द्रियादीनामपि लब्धयक्षरमिष्यते, तथाहि—पार्थिवादीनामपि भावश्रुतमुपवर्ष्यते । '...तेषां तथाविधक्षयोपशमभावतः कश्चिदव्यक्तोऽक्षरलाभो भवति यद्वशादक्षरानुषक्तं श्रुतज्ञानमुपजायते, इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यं, तथाहि—तेषामप्याहाराद्यभिलाष उपजायते, अभिलाषश्च प्रार्थना, सा च यदीदमहं प्राप्नोमि ततो भव्यं भवतीत्याद्यक्षरानुविद्धैव, ततस्तेषामपि कश्चिदव्यक्ताक्षरलब्धिरवश्यं प्रतिपत्तव्या । (नन्दीमवृ प १८८)

लब्धयक्षर अक्षरानुविद्ध ज्ञान है इसलिए वह समनस्क जीवों के ही हो सकता है। अमनस्क जीव अक्षर को पढ़ नहीं सकते और उसके उच्चारण को

समझ नहीं सकते। अतः उनके लक्ष्यक्षर संभव नहीं है।

किन्तु पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों में भावश्रुत होने का उल्लेख है। ज्ञानावरण के किञ्चित् क्षयोपशम के कारण उनको अल्पतम अव्यक्त अक्षर लाभ होता है। उससे अमनस्क जीवों में अक्षरानुषक्त श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए आहार आदि की अभिलाषा की चर्चा की गई है। अभिलाषा का अर्थ है—मुझे वह वस्तु मिले—यह अभिलाषा अक्षरानुविद्ध होती है इसलिए एकेन्द्रिय आदि अमनस्क जीवों में अव्यक्त अक्षरलक्षि अवश्य स्वीकार्य है।

(एकेन्द्रिय आदि अमनस्क जीव ध्वनि के प्रकम्पनों को पकड़ लेते हैं और उन्हें अव्यक्त अक्षर के रूप में बदल लेते हैं। इसे फेक्स मशीन की प्रक्रिया से समझा जा सकता है।)

### एकेन्द्रिय में लक्ष्यक्षर (भावश्रुत)

.....द्ववसुयाभावमि वि भावसुयं सुत्तजइणो व्व ॥

एकेन्द्रियाणामपि सामग्रीवैकल्याद् यद्यपि द्रव्यश्रुता-भावः, तथाऽप्यावरणक्षयोपशमरूपं भावश्रुतमवसेयम्।

(विभा १०१ मवृ पृ ५७)

यद्यपि मन आदि कारण सामग्री के अभाव में एकेन्द्रिय प्राणियों में द्रव्यश्रुत नहीं होता, फिर भी श्रुत-आवरण के क्षयोपशमरूप भावश्रुत होता ही है। जैसे—सुप्त साधु में भावश्रुत होता है।

जह सुहुमं भाविदियनाणं दव्विदियावरोहे वि ।

तह द्ववसुयाभावे भावसुयं पत्थिवाइणं ॥

(विभा १०३)

जैसे पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों में पौद्गलिक इन्द्रियों के अभाव में भी भावेन्द्रियां होती हैं, वैसे ही उनमें शब्दात्मक ज्ञान न होने पर भी भावश्रुत होता है।

द्ववसुयं सण्णा वंजणक्खरं, भावसुत्तमियरं तु ।.....

(विभा ४६७)

संज्ञाक्षर और व्यञ्जनाक्षर भावश्रुत के कारण होने से द्रव्यश्रुत है। लक्ष्यक्षर भावश्रुत है।

### ११. अक्षरों के संयोग अनन्त

संजुत्ता-संजुत्ताण ताणमेकक्खराइसंजोगा ।

होति अणता तत्थ वि एक्केकोऽणंतपज्जाओ ॥

एक्केककमक्खरं पुण स-परपज्जायभेयओ भिन्नं ।

तं सव्वदव्व-पज्जायरासिमाणं मुण्येयव्वं ॥

(विभा ४४५, ४७७)

संयुक्त (अन्धि, सिद्धि) और असंयुक्त (घट, पट आदि) अक्षरों के संयोग अनन्त हैं। एक-एक अक्षरसंयोग के स्व-पर-पर्याय अनन्त हैं। प्रत्येक संयोग अनन्त पर्याय वाला होता है। प्रत्येक अक्षर के स्वपर्याय और परपर्याय सब द्रव्यों की पर्यायराशि के तुल्य हैं।

### १२. अकार के स्व-पर पर्याय

जे लभइ केवलो सेसवन्नसहिओ व पज्जवेऽपारो ।

ते तस्स सपज्जाया सेसा परपज्जया सव्वे ॥

यानुदात्ताऽनुदात्त-सानुनासिक-निरनुनासिकादीनात्म-गतान् पर्यायान् केवलोऽप्यवर्णनाऽसंयुक्तः, अन्यवर्णसंयुक्तो वाऽकारो लभतेऽनुभवति ते तस्य स्वपर्यायाः प्रोच्यन्ते, अस्तित्वेन संबद्धत्वात्, ते चाऽनन्ताः..... घटादिगताश्चाऽस्य परपर्यायाः, तेभ्यो व्यावृत्तत्वेन नास्तित्वेन संबन्धात्। (विभा ४७८ मवृ पृ २२२)

अकार के अन्य वर्णों से असंयुक्त उदात्त-अनुदात्त आदि पर्याय अथवा संयुक्त पर्याय अस्तित्व से संबद्ध होने के कारण स्वपर्याय हैं। वे अनन्त हैं। शेष घट आदि के पर्याय नास्तित्व से सम्बद्ध होने के कारण अकार के पर-पर्याय हैं।

एगमेमस्स अक्खरस्स दुविहा पज्जाया भवति । तं जहा---सपज्जाया असपज्जाया य ।...तत्थ जे ते सपज्जाया ते दुविहा, तं जहा---संबद्धा असंबद्धा य । जेऽवि असपज्जाया तेऽवि दुविहा, तं जहा---संबद्धा असंबद्धा य । एत्थणिय-रिसणं—अकारो । अकारस्स जे सपज्जाया ते अत्थित्तेण संबद्धा णत्थित्तेण असंबद्धा । ते चैव अकार-पज्जाया अण्णेसि अत्थित्तेण असंबद्धा णत्थित्तेण संबद्धा । तहा जे असपज्जाया अकारस्स ते णत्थित्तेण संबद्धा, अत्थित्तेण असंबद्धा । ते चैव अकारस्स असपज्जाया अण्णेसि अत्थित्तेण संबद्धा णत्थित्तेण असंबद्धा ।

(आवचू १ पृ २८, २९)

प्रत्येक अक्षर के दो-दो प्रकार के पर्याय होते हैं—स्व-पर्याय और परपर्याय। इनके दो-दो प्रकार हैं—सम्बद्ध और असम्बद्ध। जैसे—अकार के स्वपर्याय उसके अपने अस्तित्व से सम्बद्ध हैं और नास्तित्व से असम्बद्ध हैं। अकार के वे ही स्वपर्याय अन्य अक्षरों के अस्तित्व से

असंबद्ध हैं और उनके नास्तित्व से संबद्ध हैं। इसी प्रकार अकार के जो परपर्याय हैं, वे उसके नास्तित्व से संबद्ध हैं और अस्तित्व से असंबद्ध हैं। ये अन्य अक्षरों के अस्तित्व से संबद्ध और नास्तित्व से असंबद्ध हैं।

### १३. एक का ज्ञान, सर्व का ज्ञान

एगं जाणं सर्वं जाणइ सर्वं च जाणमेगं ति ।

इयं सच्चमजाणतो नागारं सर्वहा मुणइ ॥

एकं किमपि वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानन्नव-  
बुध्यमानः सर्वं लोकाऽलोकगतं वस्तु सर्वैः स्वपर्यायैर्युक्तं  
जानाति, सर्ववस्तुपरिज्ञानान्तरीयकत्वादेकवस्तुज्ञानस्य ।  
यश्च सर्वं सर्वपर्यायोपेतं वस्तु जानाति स एकमपि  
सर्वपर्यायोपेतं जानाति, एकपरिज्ञानाऽविनाभावित्वात्  
सर्वपरिज्ञानस्य । (विभा ४८४ मवृ पृ २२५)

जो समग्र स्व और पर पर्यायों से युक्त किसी एक भी वस्तु को जानता है, वह सारे लोक और अलोक में विद्यमान स्व-पर-पर्यायों से युक्त सर्व वस्तु को जानता है। क्योंकि एक वस्तु का परिज्ञान सर्व वस्तु के परिज्ञान का अविनाभावी है।

जो समस्त पर्यायों से युक्त सर्व वस्तु को जानता है, वह सर्व पर्यायोपेत एक वस्तु को भी जानता है। क्योंकि सर्व वस्तु का परिज्ञान एक वस्तु के परिज्ञान का अविनाभावी है। जो सर्व वस्तु को नहीं जानता, वह एक अकार अक्षर को भी पूर्ण रूप से नहीं जानता।

पणवणिज्जा भावा वण्णाण सपज्जया तओ थोवा ।

सेसा परपज्जाया तोऽणंतगुणा निरभिलप्पा ॥

(विभा ४८८)

अभिलाप्य वस्तु का कथन वर्णों के द्वारा होता है। अतः प्रज्ञापनीय—अभिलाप्य भाव अकार आदि वर्णों के स्वपर्याय हैं। ये परपर्याय के अनन्तत्वं भाग जितने हैं। शेष अनभिलाप्य भाव अक्षर के परपर्याय हैं। ये स्वपर्याय से अनन्तगुण अधिक हैं।

पणवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं ।

पणवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥

(विभा १४१)

अनभिलाप्य (अप्रज्ञापनीय) भावों का अनन्तत्वं भाग अभिलाप्य (प्रज्ञापनीय) भाव है। प्रज्ञापनीय भावों का अनन्तत्वं भाग श्रुतनिबद्ध है।

### १४. अक्षर का पर्यवपरिमाण

सव्वागासपएसगं सव्वागासपएसेहि अणंतगुणियं  
पज्जवग्गक्खरं निप्फज्जइ । (नन्दी ७०)

समस्त आकाशप्रदेशों को समस्त आकाशप्रदेशों से अनन्त बार गुणन करने पर जितना परिमाण होता है, उतने ही परिमाण में विद्यमान हैं—अक्षर के पर्यव।

(प्रस्तुत सूत्र में अक्षर अथवा केवलज्ञान का प्रमाण ज्ञेय के आधार पर समझाया गया है। आकाश के एक प्रदेश में अगुरुलघु पर्याय अनन्त होते हैं। लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों को मिलाकर आकाश के प्रदेश अनन्त हैं। सब आकाशप्रदेशों को सब पर्यायों से अनन्त बार गुणित करने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है, वह पर्याय का प्रमाण होता है। अक्षर अथवा केवलज्ञान का परिमाण इतना ही होता है। देखें—नन्दीचू पृ ५२)

अविसेसियं पि सुत्ते अक्खरपज्जायमाणमाइट्ठं ।

सुय-केवलक्खरणं एवं दोण्हं पि न विरुद्धं ॥

(विभा ४९६)

अक्षर का पर्यव-परिमाण सामान्य रूप से निरूपित है। यहाँ अक्षर का संबंध श्रुत-अक्षर और केवल-अक्षर दोनों के साथ जोड़ा जा सकता है। श्रुत-अक्षर के जितने स्व-पर पर्याय हैं, उतने ही पर्याय केवल-अक्षर के हैं।

### १५. अनक्षर श्रुत

अणक्खरसुयं अणेगविहं पणत्तं, तं जहा—

ऊससियं तीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च ।

निस्सिधियमणुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं ॥

(नन्दी ६०)

अनक्षर श्रुत के अनेक भेद हैं। जैसे—उच्छ्वास-निःश्वास, थूकना, खांसना, छींकना, नाक की आवाज, अनुस्वार, सेंटित—सीटी बजाना आदि।

ऊससियाई दव्वसुयमेत्तमहवा सुओवउत्तस्स ।

सव्वो च्चिय वावारो सुयमिह तो किं न चेद्दा वि ॥

रूढी य तं सुयं सुव्वइ त्ति चेद्दा न सुव्वइ कथाइ ।

अहिग्गमया वण्णा इव जमणुस्सारादओ तेणं ॥

(विभा ५०२, ५०३)

उच्छ्वास-निःश्वास आदि से जो ज्ञान होता है, वह अनक्षर श्रुत है। यह श्रुतज्ञान का कारण है, अतः द्रव्य-श्रुत है। विशिष्ट अभिप्रायपूर्वक उच्छ्वास आदि का

प्रयोग होता है, तब वह श्रुतज्ञान का कारण बनता है। अथवा श्रुत में उपयुक्त व्यक्ति का सारा व्यापार ही श्रुत है किन्तु सिर धुनना आदि चेष्टाएं श्रुत नहीं हैं।

उच्छ्वास आदि ही श्रुत के रूप में रूढ हैं। जो सुना जाता है, वह श्रुत है। उच्छ्वास आदि श्रवण के विषय हैं। सिर, हाथ आदि की चेष्टा दृश्य है, श्रव्य नहीं है, अतः वह श्रुत नहीं है। अनुस्वार अकार आदि बर्णों की तरह अर्थ का ज्ञापक है, अतः श्रुत है।

(भाषा अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दोनों प्रकार की होती है। जहां जीव का वाक् प्रयत्न हो और भाषा वर्णात्मक न हो, वह नो-अक्षरात्मक बन जाती है। उच्छ्वास-निःश्वास वाक् प्रयत्न से उत्पन्न नहीं हैं अतः भाषा-त्मक नहीं हैं फिर भी श्रुतज्ञान के कारण हैं इसलिए इन्हें अनक्षर श्रुत माना गया है। अकलंक ने अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत की संयोजना अनुमान, उपमान आदि के साथ की है। उनके अनुसार स्वार्थानुमान—स्वप्रतिपत्ति के काल में अनक्षर श्रुत होता है। परार्थानुमान—दूसरे के लिए प्रतिपादन के काल में अक्षर श्रुत होता है। इसी प्रकार उपमान प्रमाण भी अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत—दोनों प्रकार का होता है। देखें—नन्दी ६० का टिप्पण)

## १६. संज्ञी-असंज्ञी श्रुत

(संज्ञा का अर्थ है—मनोविज्ञान। जिनमें ईहा, अपोह आदि की शक्ति है, जिनमें इष्ट के लिए प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्त होने की क्रिया है, जिनमें अनेकांतवाद का संज्ञान है, वे संज्ञी हैं। एकेन्द्रिय जीव असंज्ञी की कोटि में परिगणित हैं।)

सणिसुयं तिविहं पण्यत्तं, तं जहा—कालिओवएसेणं हेउवएसेणं दिट्ठिवाओवएसेणं । (नन्दी ६१)

संज्ञी श्रुत के तीन प्रकार हैं—

१. कालिक्युपदेश ।
२. हेतूपदेश ।
३. दृष्टिवादोपदेश ।

### १. कालिक्युपदेश

विवरण के लिए देखें—मनः ।

### २. हेतूपदेश

हेतुवएसेणं—जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुब्बिया करणसत्ती—से णं सण्णीति लब्भइ । जस्स णं नत्थि अभिसंधारणपुब्बिया करणसत्ती—से णं असण्णीति लब्भइ । (नन्दी ६३)

जो अभिसंधारण—अव्यक्त या व्यक्त विज्ञान से प्रवृत्ति करता है, वह हेतूपदेश संज्ञा से युक्त होता है। जिसमें अभिसंधारणपूर्वक करणशक्ति नहीं होती, वह असंज्ञी है।

हेउगोवएसो गोविंदणिज्जुत्तिमादितो । तंमि भणितं—  
अभिसंधारणपुब्बिया णाम भणसा पुब्बापरं संचित्ठिणं जा पवित्ती वा निवत्ती वा सा अभिसंधारणपुब्बिया करणसत्ती भण्णति । सा च जेसि अत्थि ते जीवा जं सद्दं सोऊण बुज्झति तं हेउगोवएसेण सणिसुयं भण्णति ।

(आवचू १ पृ ३१)

गोविन्दनिर्युक्ति के अनुसार अभिसंधारणपूर्वक करण-शक्ति का अर्थ है—मन से पूर्वापर का चिन्तन कर प्रवृत्ति-निवृत्ति करना। जिन जीवों में यह शक्ति होती है, वे जिस शब्द को सुनकर ज्ञान करते हैं, वह हेतुवादोपदेशिक संज्ञीश्रुत है।

जे पुण संचितेउं इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थसु ।

वट्ठंति निवट्ठंति य सदेहपरिपालणाहेउं ॥

पाएण संपए च्चिय कालम्मि न याइदीहकालणा ।

ते हेउवायसण्णी निच्चेट्ठा होंति अस्सण्णी ॥

(विभा ५१५, ५१६)

जो जीव अपने देहपरिपालन के लिए चिन्तनपूर्वक इष्ट विषय में प्रवृत्त और अनिष्ट विषय से निवृत्त होते हैं, वे हेतुवादोपदेश की अपेक्षा संज्ञी हैं। हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा प्रायः वर्तमानकालिक होती है, किन्तु दीर्घकालिक नहीं होती। हेतुवाद की अपेक्षा से केवल निश्चेष्ट एकेन्द्रिय (पृथ्वी आदि) ही असंज्ञी हैं, शेष द्वीन्द्रिय आदि सब जीव संज्ञी हैं।

### ३. दृष्टिवादोपदेश

दिट्ठिवाओवएसेणं—सणिसुयस्स खओवसमेणं सण्णीति लब्भइ । असणिसुयस्स खओवसमेणं असण्णीति लब्भइ । (नन्दी ६४)

दृष्टिवाद की अपेक्षा संज्ञीश्रुत के क्षयोपशम से संज्ञी और असंज्ञीश्रुत के क्षयोपशम से असंज्ञी होता है।

जेहि कम्महिं सण्णिभावो आवरितो, तेसि केसिचि खएण केसिचि उवसमेणं सण्णिभावो लब्भति । सो य सण्णी जं सद्दं सुणेति सुणित्ता य पुब्बावरं बुज्झति तं दिट्ठिवाओवदेसेण सणिसुयं भण्णति ।

(आवचू १ पृ ३१)

जिन कर्मों से संज्ञीभाव आवृत है, उनमें से कुछ का क्षय और कुछ का उपशम अर्थात् क्षयोपशम होने से संज्ञी-भाव प्राप्त होता है। वह संज्ञी जीव शब्द को सुनकर पूर्वापर का बोध करता है, वह दृष्टिवादोपदेश संज्ञीश्रुत है।

मिच्छत्तस्स सुतावरणस्स य खयोवसमेणं कतेणं सण्णि-  
सुतस्स लंभो भवति,.....सो य मिच्छत्तस्सुदयतो  
अस्सण्णी भवति.....तं च सुतअण्णाणावरणखयोवसमेणं  
लभमति । (नन्दीचू पृ ४७)

दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि का श्रुत संज्ञी-  
श्रुत और मिथ्यादृष्टि का श्रुत असंज्ञीश्रुत कहलाता है।  
मिथ्यात्व मोहनीय और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से  
संज्ञीश्रुत की प्राप्ति होती है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय  
और श्रुतअज्ञानावरण के क्षयोपशम से असंज्ञीश्रुत की  
प्राप्ति होती है।

### १७. सम्यक्-मिथ्या-श्रुत

सम्मसुयं—जं इमं अरहंतेहि भगवतेहि.....पणीयं  
दुवालसंगं गणिपिडगं ।

मिच्छसुयं—जं इमं अण्णाणिहि मिच्छदिट्ठिहि  
सच्छंदबुद्धिमद्विगपियं । (नन्दी ६५, ६७)

अहंतों द्वारा प्रणीत द्वादशांग गणिपिटक सम्यक्श्रुत  
है। मिथ्यादृष्टि द्वारा कृत स्वच्छन्द निरूपण मिथ्याश्रुत  
है।

### सम्यक्-मिथ्या-श्रुत के स्वामी

दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुयं,  
अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुयं, तेण परं भिण्णेसु भयणा ।  
(नन्दी ६६)

जो चोद्दसपुव्वी तस्स सामादियादि विदुसारपज्जव-  
साणं सव्वं नियमा सम्मसुतं, ततो ओमत्थगपरिहाणीए  
जाव अभिण्णदसपुव्वी एताण वि सामादियादि सव्वं सम्म-  
सुतं सम्मगुणत्तणतो चैव भवति ।.....अभिण्णदसपुव्वे-  
हितो हेट्ठा ओमत्थगपरिहाणीए जाव सामादितं ताव सव्वे  
सुतट्ठाणा सामिसम्मगुणत्तणतो सम्मसुतं भवति, ते चैव  
सुतट्ठाणा सामिमिच्छगुणत्तणतो मिच्छसुतं भवति ।

(नन्दीचू पृ ४९)

स्वामित्व की अपेक्षा द्वादशांग गणिपिटक चतुर्दशपूर्वी,  
त्रयोदशपूर्वी, द्वादशपूर्वी, एकादशपूर्वी और अभिन्नदशपूर्वी

के लिए सम्यक् श्रुत है। भिन्न दशपूर्वी से सामायिक  
पर्यंत सभी श्रुतस्थान सम्यग्दृष्टि स्वामी के लिए सम्यक्-  
श्रुत और मिथ्यादृष्टि स्वामी के लिए मिथ्या श्रुत हैं।

अंगाणंगधविट्ठं सम्मसुयं लोइयं तु मिच्छसुयं ।

आसज्ज उ सामित्तं लोइय-लोउत्तरे भयणा ॥

(विभा ५२७)

अंगप्रविष्ट और अंगप्रविष्ट आगम सम्यक्श्रुत हैं।  
लौकिक शास्त्र मिथ्याश्रुत हैं। श्रुत का स्वामी सम्यक्-  
दृष्टि है तो उसके लिए लौकिक और लोकोत्तर—दोनों  
शास्त्र सम्यक्श्रुत हैं। मिथ्यादृष्टि के लिए दोनों मिथ्या-  
श्रुत हैं।

इहंगगतं आयारादि, अणंगगतं च आवस्सगादि । एतं  
सव्वं दव्वट्ठित्तणयमतेण सामिणा असंबद्धं पंचस्थिकाया इव  
जिच्चं सम्मसुतं भण्णति । (नन्दीचू पृ ४९)

आचार आदि अंगप्रविष्ट और आवश्यक आदि  
अंगप्रविष्ट श्रुत पंचास्तिकाय की तरह सदा सम्यक्श्रुत  
है। यहां स्वामी की संबद्धता विवक्षित नहीं है।

### सम्यक्-मिथ्या-श्रुत का हेतु

....बावत्तरिकलाओ....एयाइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्त-  
परिगगहियाइं मिच्छसुयं । एयाइं चैव सम्मदिट्ठिस्स  
सम्मत्तपरिगगहियाइं सम्मसुयं ।

...मिच्छदिट्ठिस्स वि एयाइं चैव सम्मसुयं । कम्हा ?  
सम्मत्तइउत्तणओ । जम्हा ते मिच्छदिट्ठिया तेहि चैव  
समएहि चोइया समाणा केइ सपक्खदिट्ठीओ चयंति ।  
(नन्दी ६७)

बहत्तर कलाएं आदि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यारूप में  
परिणत होने के कारण मिथ्याश्रुत होते हैं और सम्यक्त्वी  
के सम्यक् रूप में परिणत होने के कारण सम्यक् श्रुत  
होते हैं।

मिथ्यादृष्टि के भी ये सम्यक्श्रुत हो सकते हैं क्योंकि  
उनकी सम्यक्त्व प्राप्ति में ये हेतु बनते हैं। कुछेक  
मिथ्यादृष्टि उन्हीं शास्त्रों से प्रेरित होकर अपने आप्रह को  
छोड़ते हैं।

भवसिद्धिया उ जीवा सम्मदिट्ठी उ जं अहिज्जंति ।  
तं सम्मसुएण सुयं कम्मदुविहस्स सोहिकरं ॥  
मिच्छदिट्ठी जीवा अब्भवसिद्धी य जं अहिज्जंति ।  
तं मिच्छसुएण सुयं कम्मादाणं च तं भयियं ॥

(उनि ३१३, ३१४)

भव्य सम्यक्दृष्टि जीव जो श्रुत पढ़ते हैं, वह सम्यक् श्रुत है। यह श्रुत अष्टविध कर्मों का शोधन—अपनयन करता है। अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव जो श्रुत पढ़ते हैं, वह मिथ्याश्रुत है। यह श्रुत कर्म के उपादान का हेतु है।

### १८. सादि-सपर्यवसित तथा अनादि-अपर्यवसित श्रुत

इच्छेयं दुवालसंभं गणिपिडमं वुच्छित्तिनयट्टयाए साइयं सपज्जवसियं । अवुच्छित्तिनयट्टयाए अणाइयं अपज्जवसियं । (नन्दी ६८)

व्यवच्छित्तिनय (पर्यायास्तिक नय) की अपेक्षा से द्वादशांग गणिपिटक सादि-सपर्यवसित है।

अव्यवच्छित्तिनय (द्रव्यास्तिक नय) की अपेक्षा से द्वादशांग गणिपिटक अनादि-अपर्यवसित (त्रैकालिक) है।

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, सेत्तओ. कालओ, भावओ ।

दव्वओ णं—सम्मसुयं एगं पुरिसं पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, बहवे पुरिसे य पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं ।

सेत्तओ णं—पंच भरहाइं पंच एरवयाइं पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं ।

कालओ णं—ओसप्पिणि उस्सप्पिणि च पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, नोओसप्पिणि नोउस्सप्पिणि च पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं ।

भावओ णं—जे जया जिणपण्णत्ता भावा आघ-विज्जंति……ते तथा पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, खाओवसमियं पुण भावं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं ।

अहवा—भवसिद्धियस्स सुयं साइयं सपज्जवसियं, अबवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसियं । (नन्दी ६९)

सम्यक् श्रुत के चार प्रकार हैं—

१. द्रव्यतः—सम्यक् श्रुत एक पुरुष की अपेक्षा सादि-सांत है, बहुत पुरुषों की अपेक्षा अनादि-अनन्त है।
२. क्षेत्रतः—पांच भरत और पांच ऐरवत की अपेक्षा सादि-सान्त है, महाविदेह की अपेक्षा अनादि-अनन्त है।
३. कालतः—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की अपेक्षा सादि-सान्त है। जहां काल के ये विभाग नहीं हैं, उनकी अपेक्षा अनादि-अनन्त है।
४. भावतः—अर्हत्-प्रज्ञप्त भाव प्रज्ञापक और प्रज्ञापनीय भाव की अपेक्षा सादि-सान्त है। क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा अनादि-अनन्त है।

अथवा भव्य (मोक्षगामी) का श्रुत सादि-सान्त और अभव्य का श्रुत अनादि-अनन्त है।

उवओग-सर-पयत्ता धाणविसेसा य होंति पण्णवए ।  
गइ-ट्ठाण-भेय-संघाय-वण्ण-सहाइभावेसु ॥

(विभा ५४७)

प्रज्ञापक के श्रुत का उपयोग, स्वर, प्रयत्न (तालु आदि का व्यापार) और आसन—ये भाव—पर्याय बदलते रहते हैं। इस परिवर्तन की अपेक्षा द्वादशाङ्ग को सादि-सपर्यवसित कहा गया है।

गति, अवस्थिति, भेद, संघात, वर्ण, शब्द, रस, परमाणु आदि प्रज्ञापनीय भावों के ये पर्याय बदलते रहते हैं। इन ग्राह्य विषयों के परिवर्तन की अपेक्षा से श्रुत को सादि-सपर्यवसित कहा गया है।

### १९. गमिक-अगमिक श्रुत

गमियं दिट्ठिवाओ । अगमियं कालियं सुयं ।

(नन्दी ७२)

भंगगणियाइ गमियं जं सरिसगमं च कारणवसेण ।

गाहाइ अगमियं खलु कालियसुयं दिट्ठिवाए वा ॥

(विभा ५४९)

जिस श्रुत में भंग, गणित अथवा गमों—सदृश पाठों की बहुलता हो, वह गमिक श्रुत है, जैसे—दृष्टिवाद।

जिसमें प्रायः गाथा, श्लोक, वेष्टक आदि असदृश पाठों की बहुलता हो, वह अगमिक श्रुत है, जैसे—कालिकश्रुत।

आदिमध्यावसानेषु किञ्चिद्विशेषतो भूयो भूयस्तस्यैव सूत्रस्थोच्चारणं गमः ।……गमा अस्य विद्यन्ते इति गमिकम् ।

(नन्दीमवृ प २०३)

आदि, मध्य और अन्त में किञ्चित् विशेषता के साथ पुनः-पुनः उसी सदृश सूत्रपाठ का उच्चारण 'गम' कहलाता है। जिसमें गम/सदृश पाठ हों, वह गमिक है।

गमाः—अर्थपरिच्छित्तिप्रकाराः ।

(उशावृ प ७१३)

अर्थपरिज्ञान के प्रकार गम कहलाते हैं।

### गमिक श्रुत के प्रकार

गमियं णाम जं भंगजुत्तं गणितगमियं वा । जं वा कारणवसेण सरिसगमं भवति । तत्थ भंगगमियं एगदुगतिग-चउभंगमादी । गणियगमितं णाम जहा एकजीवाण्णु-पट्टकरणेण अण्णाणिवि जीवाधणुपट्टाणि गणिज्जंति ।

सरिसगमं षाम जहा—कोहस्स उदयनिरोहो कायव्वो उदयपत्तस्स विफलीकरणं कायव्वंति तहा माणमाया-लोभाणवि ।  
(आवचू १ पृ ३४)

गमिक के दो प्रकार हैं—भंगगमिक और गणित गमिक । सदृश पाठ भी गमिक कहलाते हैं । अतः तीसरा विकल्प सदृश गमिक बन जाता है ।

- भंग गमिक—एक भंग, दो भंग, तीन भंग आदि ।
- गणित गमिक—एक जीवा और धनुपृष्ठ के गणित के अनुसार अन्य जीवा और धनुपृष्ठ का भी गणित कर लेना चाहिए ।
- सदृश गमिक—क्रोध के उदय का निरोध करना चाहिए और उदय प्राप्त क्रोध का विफलीकरण करना चाहिए । इसी प्रकार मान, माया, लोभ का निरोध और विफलीकरण करना चाहिए ।

## २०. श्रुतकरण : बद्ध-अबद्ध श्रुत

जीवकरणं तु दुविहं सुयकरणं चेव नो य सुयकरणं ।  
बद्धमबद्धं च सुअं निसीहमनिसीहबद्धं तु ॥  
(उनि २०३)

जीवकरण के दो प्रकार हैं—श्रुतकरण और नोश्रुत-करण । श्रुतकरण के दो भेद हैं—बद्धश्रुत और अबद्ध-श्रुत ।

बद्धमबद्धं तु सुअं बद्धं तु दुवालसंगं निहिट्ठं ।  
तव्विवरीअमबद्धं निसीहमनिसीहबद्धं तु ॥  
(आवनि १०२०)

बद्धाबद्धं च पुणो सत्थासत्थोवएसभेयाओ ।  
एक्केवकं सहनिसीहकरणभेयं मुण्येयव्वं ॥  
उत्ती उ सहकरणं पगासपाढं च सरविसेसो वा ।  
गूढत्थं तु निसीहं रहस्समुत्तत्थमहवा जं ॥  
(विभा ३३५५, ३३५६)

श्रुत के दो प्रकार हैं—

- बद्ध—गद्य-पद्य में निबद्ध शास्त्रोपदेश ।
- अबद्ध—अशास्त्रोपदेशरूप, केवल कठों से श्रावणीय ।  
इन दोनों के दो-दो भेद हैं—शब्दकरण और निशीथकरण ।

शब्दकरण का अर्थ है—उक्तिविशेष, स्पष्ट पाठ अथवा उदात्त आदि स्वरविशेष ।

निशीथकरण का अर्थ है—गूढार्थ, रहस्यपूर्ण सूत्रार्थ ।

भूआपरिणयविगए सहकरणं तहेव न निसीहं ।

पच्छन्नं तु निसीहं निसीहनामं जहस्सञ्जयणं ॥

अग्गेणीअंमि जहा दीवायण जत्थ एग तत्थ सयं ।  
जत्थ सयं तत्थेगो हम्मइ वा भुंजए वावि ॥

(आवनि १०२१, १०२२)

वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है, स्थिर रहती है—यह कथन स्पष्ट प्रतिभासित—प्रकाशित होने से अनि-शीथ (शब्दकरण) है । निशीथ वह है जो प्रच्छन्न है, जिसका सूत्रपाठ और अर्थ गूढ़ रहस्यमय है, जैसे—निशीथ अध्ययन ।

अथवा गुप्त अर्थ निशीथ कहलाता है । जैसे—अग्राय-णीय पूर्व में एक पाठ है—“अग्गेणीअम्मि..... ॥ जहां एक द्वीपायन खाता है, वहां सौ द्वीपायन खाते हैं । जहां सौ द्वीपायन खाते हैं, वहां एक द्वीपायन खाता है ।

इसी प्रकार जहां सौ द्वीपायन आहत होते हैं, वहां एक द्वीपायन आहत होता है । (सम्प्रदायाभावान्न प्रतन्यते—परम्परा विच्छिन्न होने के कारण इसकी व्याख्या ज्ञात नहीं है—आवहावू १ पृ ११०)

ये लोकोत्तर बद्धश्रुत हैं । आरण्यक, महाभारत आदि लौकिक बद्धश्रुत हैं ।

अबद्धश्रुत : पांच सौ आदेश

...बद्धमबद्धं आएसाणं हवति पंचसया ।

जह एगा मरुदेवी अच्चंतत्थावारा सिद्धा ॥

(आवनि १०२३)

लोए अणिबद्धाइं अड्डिय-पच्चड्डियाइं करणाइं ।

पंचादेससयाइं मरुदेवाईणि उत्तरिए ॥

(विभा ३३५७)

अत्र वृद्धसम्प्रदायः..... बिइयं सयंभुरमणे समुद्दे मच्छाणं पउमपत्ताण य सव्वसंठाणाणि अत्थि वलयसंठाणं भोत्तुं ।

• तइयं विण्हुस्स सातिरेगजोयणसयसहस्सविउव्वणं ।

• चउत्थं करडओकुसडा दोसट्टियरुवज्जाया, कुणाला-णयरीए निद्धमणमूले वसही । वरिसामु देवघाणु-कंपणं । नागरेहि निच्छुइणं । करडेण रुसिएण वृत्तं—‘वरिस देव ! कुणालाए, उक्कुरुडेण भणियं—‘दस दिवसाणि पंच व’ पुणरवि करडेण भणियं—

‘मृद्धिमेत्ताहि धारार्हि’, उत्कुरुडणे भणियं—‘जहा रत्ति तहा दिव’, एवं वोत्तणमवककंता । कुणालाएवि पण्णरसदिवसअणुबद्धवरिसणेणं सजणवया जलेण अवकंता तओ ते तइयवरिसे साएए णयरे दोअवि कालं काऊण अहे सत्तमाए पुढवीए काले णरगे बावीससागरोवमट्टिइआ णेरइया संवुत्ता । कुणाला- णयरीविणासकालाओ तेरसमे वरिसे महावीरस्स केवलणाणसमुप्पत्ती । एयं अनिबद्धं ।

लोइय अबद्धकरण बत्तीसं अड्डियाओ बत्तीसं पच्च- ड्डियाओ सोलस करणाणि, लोमप्पवाए पंचट्टाणाणि तं जहा—आलीढं पंच्चालीढं वइसाहं मंडळं समपायं ।... सयणकरणं छट्ठं ठाणं । (आवहावृ १ पृ ३१०)

जो पाठ अंग-उपांग आगम में उपलब्ध नहीं हैं, वे अबद्धकृत हैं, उन्हें ‘आदेश’ कहा जाता है। वे अर्हत्- प्रवचन में पांच सौ की संख्या में हैं। जैसे—

१. अर्हत् ऋषभ की माता मरुदेवी अनन्त वनस्पति से उद्भूत होकर सिद्ध हुई।
२. स्वयम्भूरमण समुद्र के मत्स्यों और पदावत्रों के वलय संस्थान को छोड़कर शेष सब संस्थान होते हैं।
३. श्री विष्णु ने सातिरेक (कुछ अधिक) एक लाख योजन की विकुर्वणा की।
४. कुणाला नगरी में कुहट और उत्कुरुट—ये दो उपा- ध्याय रहते थे। इन दोनों की वसति नगरी के जल- निर्गमनमार्ग पर थी। वर्षावास का समय । इन्होंने वर्षा न होने के लिए देवता की अनुकम्पा प्राप्त की। नागरिकों ने यह जानकर उनको वहां से निकाल दिया। तब रुष्ट होकर कुहट ने कहा— देव ! कुणाला में बरसो। उत्कुरुट ने कहा—पन्द्रह दिन तक निरंतर बरसो। कुहट ने पुनः कहा— मुसलाधार वर्षा करो। उत्कुरुट ने इतना और जोड़ दिया—दिन-रात एक समान बरसो! ऐसा कहकर दोनों ने वहां से प्रस्थान कर दिया। तीसरे वर्ष साकेत नगरी में वे दोनों मरकर सातवीं पृथ्वी— काल नरक में बाईस सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिक बने।

उधर निरन्तर पन्द्रह दिन-रात तक मुसलाधार वर्षा के कारण कुणाला नगरी जलाप्लावित होकर विनष्ट हो गई। कुणाला के विनाश के बारह वर्ष पश्चात् तेरहवें

वर्ष में भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार के पांच सौ आदेश सूत्रों में निबद्ध नहीं हैं। ये लोकोत्तर आदेश हैं।

### लौकिक अबद्धकरण

बत्तीस अड्डिका (मत्स्यों की क्रियाविशेष), बत्तीस प्रत्यड्डिका, सोलह करण तथा लोकप्रवाद में वर्णित पांच स्थान—आलीढ, प्रत्यालीढ, वैशाख, मण्डल और समपाद। छठा स्थान शयनकरण—ये कथन लौकिक शास्त्रों में निबद्ध नहीं हैं।

### २१. श्रुतज्ञान की पश्यत्ता

उवउत्तो सुयणाणी सव्वं दव्वाइं जाणइ जहत्थं ।  
पासइ य केइ सो पुण तमचक्खुइंसणेणं ति ॥  
मइभेयमचक्खुइंसणं च वज्जिज्जु पासणा भणिया ।  
पण्णवणाए उ फुडा तेण सुए पासणा जुत्ता ॥  
(विभा ५५३, ५५५)

ज्ञान में उपयुक्त श्रुतज्ञानी सब द्रव्यों की यथार्थ जानता है। एक मान्यता यह भी है कि वह अचक्षुदर्शन से देखता है।

प्रज्ञापना (३०।२) में मति ज्ञान, मति अज्ञान और अचक्षु दर्शन को छोड़कर शेष ज्ञानभेदों की पश्यत्ता स्पष्ट प्रतिपादित है। इसलिए श्रुतज्ञान की पश्यत्ता युक्तियुक्त है।

जे जाणति पासति त्ति एवं पढंति ते इमं कारणं पडुच्चं, जम्हा सुयणाणी दीवसमुद्धानं देवकुरुत्तरकुरा- दीणं च भवणाणं संठाणादीणि जाणंती पासंती इव आलिहिऊणं दरिसेति । अतो जाणति पासति त्ति एस आलावगो न विरज्झइ । (आवचू १ पृ ३५, ३६)

श्रुतज्ञानी अदृष्ट द्वीपसमुद्रों और देवकुरु-उत्तरकुरु के भवनों की आकृतियों (संस्थानों) का इस रूप में अलिखन करता है कि मानों उन्हें साक्षात् देखा हो। अतः ‘श्रुत- ज्ञानी जानता है, देखता है’—यह आलापक विपरीत नहीं है।

### २२. प्राणीमात्र में ज्ञान की सत्ता

सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभाओ निच्चु- ग्वाडिओ, जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजी- वत्तं पाविज्जा ।

सुट्ठुवि मेहसमुदए, होइ पभा चंदसूराणं । (नन्दी ७१)



सभी जीवों में अक्षर (ज्ञान) का अनन्तवां भाग नित्य उद्घाटित रहता है। यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव हो जाये।

‘सधन मेघों के होने पर भी सूर्य और चन्द्र की प्रभा तो रहती ही है।’ इसी प्रकार आत्मा का प्रत्येक प्रदेश ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के अनन्त पुद्गल स्कन्धों से आवेष्टित, परिवेष्टित है फिर भी ज्ञान का अनन्तवां भाग कर्मावरण के पटल का भेदन कर अवभासित रहता है।

तस्स उ अणंत भागो निच्चुग्घाडो य सव्वजीवाणं ।

भणियो सुयम्मि केवलिवज्जाणं तिविहभेओ वि ॥

(विभा ४९७)

ज्ञान का अनन्तवां भाग सदा उद्घाटित रहता है। यही जीव और अजीव की भेदरेखा का निर्माण करता है। केवलज्ञान सर्वथा भेद-विमुक्त है। केवलज्ञानी को झोड़कर शेष जीवों के ज्ञान सम्बन्धी तीन भेद होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

(प्रस्तुत सूत्र में अक्षर का प्रयोग ज्ञानात्मक ही विवक्षित है। केवलज्ञान का कोई विभाग नहीं होता इसलिए ज्ञान के विकास का अनन्तवां भाग उससे संबद्ध नहीं है। अवधिज्ञान की प्रकृतियां असंख्येय हैं इसलिए ज्ञान के विकास का अनन्तवां भाग उससे संबद्ध नहीं है। मनःपर्यवज्ञान का भी वह संभव नहीं हो सकता। अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान नित्य उद्घाटित नहीं रहते। श्रुतज्ञानात्मक अक्षर का अनन्तवां भाग ही उद्घाटित रहता है। श्रुत और मति दोनों सहचारी हैं।)

### २३. जघन्य श्रुत का हेतु

योणद्धिसहियनाणावरणोदयो स पत्थिवाईणं ।

वेइदियाइयाणं परिवड्ढइ कमविसोहीए ॥

(विभा ४९९)

स्त्यानद्धि निद्रा युक्त ज्ञानावरण के उदय के कारण एकेन्द्रिय जीवों का अक्षर के अनन्तवां भाग जितना सर्वजघन्य चैतन्य सदा उद्घाटित रहता है (वह कभी आवृत नहीं होता)। फिर क्रमिक विशुद्धि के साथ-साथ द्वीन्द्रिय आदि जीवों में उसका क्रमिक विकास होता जाता है।

### २४. श्रुतज्ञान-विशुद्धि का तारतम्य

अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं सव्वविसुद्धं सुतणाणं, तयणंतरं असंखेज्जगुणपरिहीणं उवरिमगेवेज्जगाणं । एवं

च जाव पुढविकाइयाणं ताव असंखेज्जगुणपरिहीणा सेढी ।  
(आवचू १ पृ ३०)

अनुत्तरोपपातिक देवों का श्रुतज्ञान सर्वाधिक विशुद्ध होता है। उससे असंख्यातगुण परिहीन श्रुतज्ञान होता है उपरितन ग्रैवेयक देवों का। इस प्रकार क्रमशः असंख्येयगुण परिहीन की शृंखला में पृथ्वीकायिक जीवों का श्रुतज्ञान सर्वाधिक अविशुद्ध होता है।

चेतना के विकास का तारतम्य (द्र. ज्ञान)

### २५. श्रुतज्ञान का महत्त्व

सव्वचरणकरणक्रियाधारं सुतणाणं । (नन्दीचू पृ ४४)

श्रुतज्ञान समस्त क्रियाओं का आधार है, चाहे वे क्रियाएं चरणसंबन्धी (नित्य किये जाने वाले अनुष्ठान) हों अथवा करणसंबन्धी (प्रयोजनवश किये जाने वाले अनुष्ठान) हों।

सुयस्स आराहणयाएणं अन्नाणं खवेइ न य संकि-  
लिस्सइ । (उ २९।२५)

श्रुत की आराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक संक्लेशों से बचता है।

सामाइयमाईयं सुधनाणं जाव विदुसाराओ ।

तस्सवि सारो चरणं सारो चरणस्स णिव्वाणं ॥

(आवनि ९३)

सामायिक (आवश्यक) से बिन्दुसार (चौदहवें पूर्व) पर्यन्त शास्त्र श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान का सार चारित्र है। चारित्र का सार निर्वाण है।

### २६. श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में अन्तर

सयपज्जवेहिं तं केवलेण तुल्लं न होज्ज न परेहिं ।

स-परपज्जाएहिं उ तुल्लं तं केवलेणेव ॥

अविसेसकेवलं पुण सयपज्जाएहिं चैव तत्तुल्लं ।

जं नेयं पइ तं सव्वभावव्वावारविणित्तं ॥

(विभा ४९३, ४९४)

अकार, इकार आदि वर्ण श्रुतज्ञान (श्रुताक्षर) के स्वपर्याय हैं। ये पर्याय सर्व पर्यायों का अनन्तवां भाग हैं। केवलज्ञान के स्वपर्याय अनंत हैं। अतः स्वपर्यायों से श्रुतज्ञान केवलज्ञान के तुल्य नहीं है। स्व और पर पर्यायों के समुदित रूप में श्रुतज्ञान केवलज्ञान के तुल्य है।

सर्व-द्रव्य-पर्याय केवलज्ञान का ज्ञेय है। वह ज्ञेय के प्रति सर्व पर्यायों के परिज्ञान में प्रवृत्त होने से केवल स्व-पर्यायों से ही श्रुतज्ञान के तुल्य है।

	आभिनबोधिक ज्ञान	श्रुतज्ञान	केवलज्ञान
द्रव्य	आदेशतः सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है।	श्रुतोपयोग-अवस्था में सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है।	सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है।
क्षेत्र	आदेशतः सर्व क्षेत्रों को जानता-देखता है।	श्रुतोपयोग-अवस्था में सर्व क्षेत्रों को जानता-देखता है।	सर्व क्षेत्रों को जानता-देखता है।
काल	आदेशतः सर्व काल को जानता-देखता है।	श्रुतोपयोग-अवस्था में सर्व काल को जानता-देखता है।	सर्व काल को जानता-देखता है।
भाव	आदेशतः सर्व भावों को जानता-देखता है।	श्रुतोपयोग-अवस्था में सर्व भावों को जानता-देखता है।	सर्व भावों को जानता-देखता है।

(देखें—भगवई ८।१८४-१८८ का भाष्य)

## २७. श्रुतस्थान

...सुयथापं गणिमाई अहवा वायणारियमाई ॥

(पिनि ३१५)

गणी (आचार्य), उपाध्याय, वाचनाचार्य, प्रवर्तक आदि—ये श्रुतस्थान हैं।

श्रुतनिमित्त मति—मतिज्ञान का एक भेद।

(द्र. आभिनबोधिक ज्ञान)

श्रेयांस—ग्यारहवें तीर्थकर। (द्र. तीर्थकर)

षट्स्थानपतित—वृद्धि और हानि के छह स्थान।

बुद्धी वा हाणी वाऽणता-संखिज्जासंखभागानं ।

संखिज्जासंखिज्जाणंतगुणा चेति छब्भेया ॥

(विभा ७२९)

वृद्धि और हानि के छह-छह प्रकार हैं—

अनन्त भाग वृद्धि	अनन्त भाग हानि
असंख्यात भाग वृद्धि	असंख्यात भाग हानि
संख्यात भाग वृद्धि	संख्यात भाग हानि
संख्यात गुण वृद्धि	संख्यात गुण हानि
असंख्यात गुण वृद्धि	असंख्यात गुण हानि
अनन्त गुण वृद्धि	अनन्त गुण हानि।

संख्या—वस्तु का परिच्छेद और निर्णय । गणना इसका एक भेद है।

### १. संख्या के प्रकार

- औपम्य संख्या
- परिमाण संख्या
- ज्ञान संख्या
- गणना संख्या
- \* शीर्षप्रहेलिका पर्यंत गणना संख्या

(द्र. काल)

### २. संख्या का अर्थ

### ३. संख्येय के प्रकार

- उत्कृष्ट संख्यातः पत्य का दृष्टांत

### ४. असंख्येय के प्रकार

- उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात

### ५. अनन्त के प्रकार

- उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त : एक विमर्श

\* संख्या : भाव प्रमाण का एक भेद (द्र. प्रमाण)

## १. संख्या के प्रकार

संख्यमाणे अट्टविहे पण्णत्ते, तं जहा—नामसंख्या ठवणसंख्या दव्वसंख्या ओवम्मसंख्या परिमाणसंख्या जाणणासंख्या गणणासंख्या भावसंख्या । (अनु ५५८)

नामसंख्या—किसी जीव या अजीव का संख्या नाम करना।

स्थापनासंख्या—काष्ठाकृति या पुतली आदि में संख्या का रूपांकन या कल्पना करना।

द्रव्यसंख्या—जिसने 'संख्या' यह पद सीख लिया।

औपम्यसंख्या—उपमा के माध्यम से वस्तु का बोध।

परिमाणसंख्या—आगम के ग्रन्थाग्र का ज्ञान।

ज्ञानसंख्या—विषयवस्तु के ज्ञान के आधार पर जानने वाले का ज्ञान।

गणनासंख्या—गिनती करना।

भावसंख्या—जो संख्या पद में उपयुक्त है।

### औपम्यसंख्या

ओवम्मसंख्या चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अत्थि संतयं संतएणं उवमिज्जइ, २. अत्थि संतयं असंतएणं उवमिज्जइ, ३. अत्थि असंतयं संतएणं उवमिज्जइ ४. अत्थि असंतयं असंतएणं उवमिज्जइ ।

(अनु ५६९)

औपम्यसंख्या के चार प्रकार हैं—

१. सत् को सत् से उपमित किया जाता है ।
२. सत् को असत् से उपमित किया जाता है ।
३. असत् को सत् से उपमित किया जाता है ।
४. असत् को असत् से उपमित किया जाता है ।

१. सत् सत् से उपमित—

संतयं संतएणं उवमिज्जइ, जहा—संता अरहंता  
संतएहि पुरवरेहि, संतएहि कवाडेहि संतएहि वच्छेहि  
उवमिज्जति, जहा—

पुरवर-कवाड-वच्छा, फलिहभूया दुंदुहि-त्यणियघोसा ।  
सिरिवच्छकियवच्छा, सव्वे वि जिणा चउव्वीसं ॥  
(अनु ५६९)

सत् अर्हत् का वक्ष सत् पुरवर के कपाट से उपमित किया जाता है—चौबीस तीर्थंकर पुरवर कपाट के समान वक्ष, परिष के समान भुजा और दुन्दुभि एवं मेघगर्जन के समान घोष वाले तथा श्रीवत्स से अंकित वक्ष वाले होते हैं ।

२. सत् असत् से उपमित—

संतयं असंतएणं उवमिज्जइ, जहा—संताइं नेरइय-  
तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देवाणं आउयाइं असंतएहि  
पलिओवम-सागरोवमेहि उवमिज्जति । (अनु ५६९)

सत् नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्यों और देवों का आयुष्य असत् पत्योपम और सागरोपम से उपमित किया जाता है ।

३. असत् सत् से उपमित—

असंतयं संतएणं उवमिज्जइ, जहा—  
परिजूरियपेरंतं, चलंतबेटं पडंतनिच्छीरं ।  
पत्तं वसणप्पत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं ॥  
जह तुम्भे तह अम्हे, तुम्हे वि य होहिहा जहा अम्हे ।  
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयणं ॥  
नवि अत्थि न वि य होही, उल्लावो किसल-पंडुपत्ताणं ।  
उवमा खलु एस कया, भवियजण-विबोहणट्टाए ॥  
(अनु ५६९)

जिसका पयन्त भाग जीर्ण और वृन्त विचलित हो गया है, जो वृक्ष से गिरने वाला है, जिसका दूध सूख गया है, वह कष्ट में पड़ा हुआ पका पत्ता (किशलयों से निम्न निर्दिष्ट) गाथा कहता है—

जैसे तुम हो वैसे ही हम थे, जैसे हम हैं वैसे ही तुम

हो जाओगे । यह बात गिरता हुआ पीला पत्ता किशलयों से कहता है ।

किशलयों और पीले पत्तों में न कभी वार्तालाप हुआ और न होगा । भव्यजनों को बोध देने के लिए यह उपमा दी गई है ।

४. असत् असत् से उपमित—

असंतयं असंतएणं उवमिज्जइ—जहा खरविसाणं  
तहा ससविसाणं । (अनु ५६९)  
जैसे गधे का सींग वैसे खरगोश का सींग ।

परिमाणसंख्या

परिमाणसंख्या दुविहा पणत्ता, तं जहा—कालियसुय-  
परिमाणसंखा दिट्ठिवायसुयपरिमाणसंखा य ।  
(अनु ५७०)

परिमाणसंख्या के दो प्रकार हैं—

१. कालिकश्रुत परिमाणसंख्या ।
२. दृष्टिवादश्रुत परिमाणसंख्या । (द्र. संबद्ध नाम)

ज्ञानसंख्या

जाणणासंखा—जो जं जाणइ, तं जहा—सद् सद्दिओ,  
गणियं गणियओ, निमित्तं नेमित्तिओ, कालं कालनाणी,  
वेज्जयं वेज्जो । (अनु ५७३)

जो जिसे जानता है (वह उसे जानने के कारण अभेदोपचार से ज्ञानसंख्या है) जैसे—शब्द को जानने वाला शाब्दिक, गणित को जानने वाला गणितज्ञ, निमित्त को जानने वाला नैमित्तिक, काल को जानने वाला कालज्ञानी, वैद्यक को जानने वाला वैद्य होता है ।

गणनासंख्या

गणणासंखा—एकको गणणं न उवेइ, तुप्पभिइ  
संखा, तं जहा—सखेज्जए असखेज्जए अणंतए ।  
(अनु ५७४)

‘एक’ यह गणना संख्या में नहीं है । वह ‘दो’ से आगे बढ़ती है । उसके तीन प्रकार हैं—संख्येय, असंख्येय, अनन्त ।

२. संख्या का अर्थ

संख्यानं संख्या—परिच्छेदो वस्तुनिर्णय इत्यर्थः ।  
आदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न  
कश्चिद् गणयत्यतोऽसंख्यवहार्यत्वादल्पत्वाद् वा नैको  
गणनासंख्यामवतरति । (अनुमद प २१४, २१७)

संख्या का अर्थ होता है—परिच्छेद, विभाग। लेन-देन के व्यवहार में 'एक' वस्तु प्रायः गणना का विषय नहीं बनती। असंख्यवहार्य और अल्प होने के कारण एक (१) की गणना संख्या में नहीं गिना जाता। गणना संख्या में वही गिना जाता है, जिसका वर्ग करने से वृद्धि होती है। 'एक' का वर्ग करने से  $१ \times १ = १$  एक ही आता है, वृद्धि नहीं होती, इसलिए 'एक' गणना संख्या में नहीं गिना जाता।

### ३. संख्येय के प्रकार

संखेज्जए तिविहे पणत्ते, तं जहा—जहणए उक्को-  
सए अजहणमणुक्कोसए। (अनु ५७५)

संख्येय के तीन प्रकार हैं—

जघन्य संख्यात—दो की संख्या।

उत्कृष्ट संख्यात—इसका स्वरूप असत् कल्पना से ज्ञेय है।

मध्यम संख्यात—तीन से लेकर उत्कृष्ट संख्यात से एक कम।

#### उत्कृष्ट संख्यात : पत्य का दृष्टांत

उक्कोसयस्स संखेज्जयस्स पख्वणं करिस्सामि—से जहानामए पल्ले सिया एणं जोयणसयसहस्सं आयाम-विक्खभेणं, तिण्ण जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोण्णिय सत्तावीसे जोयणसए तिण्णिय कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरसय अंगुलाइं अद्धं अंभुलं च किञ्चित्सेसा-हियं परिक्खेवेणं पणत्ते। से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए। तओ णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीव-समुद्दाणं उद्दारो खेप्पइ। एगे दीवे एगे समुद्दे—एगे दीवे एगे समुद्दे एवं पक्खिप्पमाणेहिं-पक्खिप्पमाणेहिं जावइया दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अफुण्णा, एस णं एवइए खेत्ते पल्ले पढमा सलागा। एवइयाणं सलागाणं असलप्पा लोगा भरिया तथा वि उक्कोसयं संखेज्जयं न पावइ।

जहा को दिट्ठतो ? से जहानामए मंचे सिया आम-लगणं भरिए तत्थ एगे आमलए पक्खित्ते से माते, अण्णे वि पक्खित्ते से वि माते, अण्णे वि पक्खित्ते से वि माते एवं पक्खिप्पमाणेहिं-पक्खिप्पमाणेहिं होही से आमलए जम्मि पक्खित्ते से मंचे भरिज्जिहिइ। होही से आमलए जे तत्थ न माहिइ। (अनु ५८६)

जैसे कोई पत्य (कोठा) एक लाख योजन की लंबाई-चौड़ाई वाला है। उसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार

दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष साढा तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। वह पत्य सरसों से भरा हुआ है, उन सरसों से द्वीप और समुद्रों का उद्धार (परिमाण) जाना जाता है। एक सरसों द्वीप में और एक समुद्र में, फिर एक सरसों द्वीप में और एक समुद्र में— इस क्रम से उन्हें गिराते जाने से जितने द्वीप और समुद्र उन सरसों के दानों से व्याप्त होते हैं, यह इतने प्रमाण वाला क्षेत्र अनवस्थित पत्य सरसों से भरा हुआ बुद्धि से परिकल्पित किया गया है। प्रथम शलाका—सरसों का एक दाना शलाका पत्य में डाला जाता है। इन शलाकाओं (सरसों के दानों) से प्रचुर संख्या वाले शलाका पत्य आकण्ड भरे जाएं फिर भी उत्कृष्ट संख्येय लब्ध नहीं होता।

जैसे कोई एक मंच (मचान) आंवलों से भरा हुआ है। वहाँ एक आंवाला डाला वह समा गया, दूसरा डाला वह भी समा गया, तीसरा डाला वह भी समा गया। इस प्रकार उन्हें डालते-डालते ऐसा आंवाला भी होगा जिसके डालने से मंच भर जाएगा। उसके बाद वहाँ आंवाला नहीं समाएगा।

....अंबुदीवप्पमाणमेत्ता चत्तारि पल्ला—पढमो अण-  
वट्टियपल्लो वितितो सलागापल्लो तइओ पडिसलागापल्लो  
चउत्थो महासलागापल्लो, एते चउरोपि रयणप्पभापुड-  
वीए पढमं रयणकंडं जोयणसहस्सावगाढं भित्तूण वितिए  
वेरकंडे पतिट्टिया हेट्ठा.....एत्थं जावतिया  
अणवट्टियपल्ले सलागापल्ले पडिसलागापल्ले महासलागा-  
पल्ले य दीवसमुद्दा उद्दारिता ये य चतुपल्लट्टिया सरिसवा  
एस सव्वोवि एत्थप्पमाणो रासी एगरूवेणो उक्कोसयं  
संखेज्जयं भवति, जहण्णुक्कोसयाण मज्जे जे ठाणा ते सव्वे  
पत्तोयं अजहण्णमणुक्कोसया भाणियव्वा सिद्धते जत्थ जत्थ  
संखेज्जयगहणं कतं तत्थ सव्वं अजहण्णमणुक्कोसयं दट्ठुव्वं।  
(अनुचू पृ ७९-८१)

असत् कल्पना से उत्कृष्ट संख्यात का स्वरूप इस प्रकार है—

चार पत्यों (कुण्डों) की कल्पना की गई है—  
१ २ ३ ४  
अनवस्थित शलाका प्रतिशलाका महाशलाका

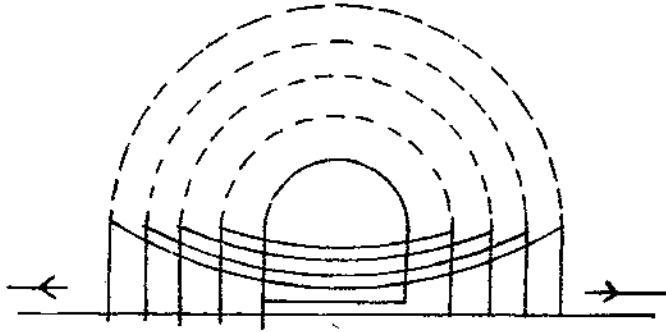
प्रारंभ में अनवस्थित पत्य जंबूद्वीप प्रमाण १ लाख योजन लंबा और चौड़ा है। गहराई में रत्तप्रभा पृथ्वी के रत्तकांड से भी नीचे स्थित वज्रकाण्ड पर्यन्त एक हजार योजन और ऊंचाई में पद्मवर वेदिका जितना

साढ़े आठ योजन है। अर्थात् तल से शिखा तक ऊंचाई अथवा गहराई १००८ $\frac{१}{२}$  योजन है।

शलाका पत्य, प्रतिशलाका पत्य और महाशलाका पत्य—ये तीनों लंबाई और चौड़ाई में १ लाख योजन तथा गहराई अथवा ऊंचाई में १००८ $\frac{१}{२}$  योजन है।

अनवस्थित कंड को सर्षप के दानों से भरा गया, (शिखा सहित) इतना भरा कि उसमें एक दाना भी और न समा सके। फिर देवों के द्वारा एक-एक दाना क्रमशः द्वीप और समुद्र में डाला गया। पहला दाना जंबूद्वीप में, दूसरा दाना लवण समुद्र में, तीसरा घातकीखंड में—इस क्रम से द्वीप और समुद्र में डालकर अनवस्थित पत्य को खाली किया गया। एक बार भरकर खाली

करने पर १ दाना शलाका पत्य में डाला गया। अंतिम दाना जिस समुद्र या द्वीप में डाला गया, उसकी लंबाई और चौड़ाई जितना दूसरी बार अनवस्थित पत्य बनाया गया। उसे भरा गया, फिर खाली किया गया। पहली बार जिस समुद्र या द्वीप में गिराया गया था, उससे आगे के द्वीप-समुद्रों में क्रमशः एक-एक दाना डालकर खाली किया गया। भरने और खाली करने की प्रक्रिया चलती रहती है। दाना डालने की प्रक्रिया भी क्रमशः आगे-आगे के द्वीप-समुद्रों में होती है। खाली करने पर अन्तिम दाना जिस-जिस समुद्र या द्वीप में गिराया जाता है, उसी प्रमाण का अगली बार अनवस्थित पत्य बनाया जाता है।



अनवस्थित पत्य एक बार खाली करने पर १ दाना शलाका पत्य में डालने की प्रक्रिया से शलाका पत्य को भरा जाता है। उस (शलाका पत्य) को शिखा सहित पूर्ण भर कर आगे के द्वीप-समुद्रों में दाना डालकर खाली किया जाता है। परिणाम स्वरूप १ दाना तीसरे प्रति-शलाका पत्य में डाला जाता है। नया अनवस्थित पत्य अन्तिम द्वीप/समुद्र के लंबाई-चौड़ाई के परिमाण वाला बनाकर भरा जाता है। जब शलाका पत्य खाली किया जाता है तब अनवस्थित पत्य भरा रहता है। शलाका पत्य खाली करने के बाद अनवस्थित पत्य को खाली किया जाता है। फिर पूर्व क्रम से पुनः शलाका पत्य को भरा जाता है।

शलाका पत्य के बार-बार भर कर एवं खाली कर एक-एक दाने से प्रतिशलाका पत्य भरा जाता है। जब प्रतिशलाका पत्य शिखा सहित पूर्ण भर जाता है तब उसे आगे-आगे के द्वीप-समुद्रों में दाना डालकर खाली किया जाता है। परिणाम स्वरूप १ दाना महाशलाका पत्य में डाला जाता है। प्रतिशलाका पत्य खाली करते समय

अन्तिम द्वीप/समुद्र के परिमाण वाला अनवस्थित पत्य बनाया जाता है। वह अनवस्थित पत्य और शलाका पत्य भरे रहते हैं। प्रतिशलाका पत्य खाली करने के बाद उससे आगे के द्वीप-समुद्रों में शलाका पत्य खाली किया जाता है फिर उसके आगे अनवस्थित पत्य खाली किया जाता है। पुनः अनवस्थित पत्य से शलाका पत्य भरा जाता है और शलाका पत्य से प्रतिशलाका पत्य भरा जाता है।

प्रतिशलाका पत्य को बार-बार भर कर एवं खाली कर एक-एक दाने से महाशलाका पत्य भरा जाता है। शिखा सहित महाशलाका पत्य भर जाने के बाद उसे भरा हुआ ही रखा जाता है। फिर पूर्व प्रक्रिया के अनुसार शलाका पत्य से प्रतिशलाका पत्य भरा जाता है और अनवस्थित पत्य से शलाका पत्य भरा जाता है।

अनवस्थित पत्य को खाली करके शलाका पत्य को शिखा सहित भरने वाला अनवस्थित पत्य का जो अंतिम दाना था और वह जिस समुद्र या द्वीप में गिराया गया था उस (द्वीप या समुद्र) की लंबाई और चौड़ाई जितना

अन्तिम अनवस्थित पत्न्य बनाया जाता है। उसे भी शिखा सहित पूर्ण भरा जाता है।

भरे हुए महाशलाका पत्न्य, प्रतिशलाका पत्न्य, शलाका पत्न्य और अनवस्थित पत्न्य के दानों को एकत्रित करके द्वीप और समुद्र में जितने दाने डाले गए थे उन दानों को उनमें मिलाया जाता है। उनकी जितनी संख्या होती है उससे एक कम संख्या उत्कृष्ट संख्यात की संख्या होती है।

#### ४. असंख्येय के प्रकार

असंखेज्जए तिविहे पणत्ते, तं जहा --परित्ता-संखेज्जए जुत्तासंखेज्जए असंखेज्जासंखेज्जए ।

परित्तासंखेज्जए तिविहे पणत्ते, तं जहा --जहणए उक्कोसए अजहणमणुक्कोसए ।

जुत्तासंखेज्जए तिविहे पणत्ते, तं जहा—जहणए उक्कोसए अजहणमणुक्कोसए ।

असंखेज्जासंखेज्जए तिविहे पणत्ते, तं जहा—जहणए उक्कोसए अजहणमणुक्कोसए ।

(अनु ५७६-५७९)

असंख्येय के तीन प्रकार हैं—परीत-असंख्येय, युक्त-असंख्येय और असंख्येय-असंख्येय।

इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्य-अनुत्कृष्ट।

एवामेव उक्कोसए संखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहणयं परित्तासंखेज्जयं भवइ ।

तेण परं अजहणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं न पावइ ।।

जहणयं परित्तासंखेज्जयं जहणयपरित्तासंखेज्जय-मेत्ताणं रासीणं अणमण्णभासो रूवूणो उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं होइ ।

अहवा जहणयं जुत्तासंखेज्जयं रूवूणं उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं होइ ।।

जहणयं परित्तासंखेज्जयं जहणयपरित्तासंखेज्जय-मेत्ताणं रासीणं अणमण्णभासो पडिपुणो जहणयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा उक्कोसए परित्तासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहणयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । आवलिया वित्तिया चव ।।

तेण परं अजहणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं न पावइ ।।

जहणएणं जुत्तासंखेज्जएणं आवलिया गुणिया

अणमण्णभासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ ।

अहवा जहणयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ ।।

जहणएणं जुत्तासंखेज्जएणं आवलिया गुणिया अणमण्णभासो पडिपुणो जहणयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ।

अहवा उक्कोसए जुत्तासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहणयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ।

तेण परं अजहणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं न पावइ ।।

जहणयं असंखेज्जासंखेज्जयं जहणयअसंखेज्जा-संखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अणमण्णभासो रूवूणो उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ।।

अहवा जहणयं परित्तासंखेज्जयं रूवूणं उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ।। (अनु ५८७-५९५)

जघन्य परीत-असंख्येय—उत्कृष्ट संख्येय में एक का प्रक्षेप करने पर जघन्य परीत-असंख्येय होता है।

अजघन्य-अनुत्कृष्ट परीत-असंख्येय—जघन्य परीत-असंख्येय से आगे उत्कृष्ट परीत-असंख्येय से पूर्व बीच की सारी संख्याएं अजघन्य-अनुत्कृष्ट परीत-असंख्येय होती हैं।

उत्कृष्ट परीत-असंख्येय—जघन्य परीत-असंख्येय को जघन्य परीत-असंख्येय से गुणित करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उससे एक कम उत्कृष्ट परीत-असंख्येय होता है। अथवा एक कम जघन्य युक्त-असंख्येय उत्कृष्ट परीत-असंख्येय होता है।

जघन्य युक्त-असंख्येय—जघन्य परीत-असंख्येय को जघन्य परीत-असंख्येय से गुणन करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, वह जघन्य युक्त-असंख्येय है। अथवा उत्कृष्ट परीत-असंख्येय में एक का प्रक्षेप करने पर जघन्य युक्त-असंख्येय होता है। एक आवलिका की समय राशि भी उतनी ही होती है।

अजघन्य-अनुत्कृष्ट युक्त-असंख्येय—जघन्य युक्त-असंख्येय से आगे उत्कृष्ट युक्त-असंख्येय से पूर्व बीच की सभी संख्याएं अजघन्य-अनुत्कृष्ट युक्त-असंख्येय होती हैं।

उत्कृष्ट युक्त-असंख्येय—जघन्य युक्त-असंख्येय को आवलिका से गुणित करने पर अथवा जघन्य युक्त-असंख्येय को जघन्य युक्त-असंख्येय से गुणित करने

पर जो संख्या प्राप्त होती है, उससे एक कम उत्कृष्ट युक्त-असंख्येय होती है। अथवा एक कम जघन्य असंख्येय-असंख्येय उत्कृष्ट युक्त-असंख्येय होता है।

**जघन्य असंख्येय-असंख्येय**—जघन्य युक्त-असंख्येय को आवलिका से गुणित करने पर अथवा जघन्य युक्त-असंख्येय को जघन्य-युक्त असंख्येय से गुणित करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, वह जघन्य असंख्येय-असंख्येय होती है। अथवा उत्कृष्ट युक्त-असंख्येय में एक का प्रक्षेप करने पर जघन्य असंख्येय-असंख्येय होता है।

**अजघन्य-अनुत्कृष्ट असंख्येय-असंख्येय**—जघन्य असंख्येय-असंख्येय से आगे उत्कृष्ट असंख्येय-असंख्येय से पूर्व बीच की सभी संख्याएं अजघन्य-अनुत्कृष्ट असंख्येय-असंख्येय होती हैं।

**उत्कृष्ट असंख्येय-असंख्येय**—जघन्य असंख्येय-असंख्येय को जघन्य असंख्येय-असंख्येय से गुणित करने पर जो राशि प्राप्त होती है, उससे एक कम उत्कृष्ट असंख्येय-असंख्येय होता है। अथवा एक कम जघन्य परीत-अनन्त उत्कृष्ट असंख्येय-असंख्येय होता है।

### उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात

अन्ने पुण आयरिया उक्कोसगं असंखेज्जअसंखेज्जमं इमेन प्रकारेण पन्नवेत्ति जहण्णमअसंखेज्जासंखेज्जगरासिस्स वग्गो कज्जति, तस्स वग्गरासिस्स पुणो वग्गो कज्जति, तस्स वग्गस्स पुणो वग्गो कज्जति, एवं तिष्णि वारा वग्गियसंवरिगिते इमे दस असंख्यपक्खेवया पक्खिप्पिज्जति—

लोमागासपदेसा धम्माधम्मगेजीवदेसा य ।

दब्बद्विया णियोया पत्तेया चेव बोद्धव्वा ॥

ठित्तिबंशज्जसणा अणुभागा योगच्छेदपलिभागा ।

दोण्हवि समाण समया असंख्ये खेवया दस तु ॥

(अनुचू पृ ८३)

अनुयोगद्वार सूत्र ५९५ में उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात की दो परिभाषाएं की गई हैं। कुछ आचार्य इसकी तीसरी परिभाषा भी करते हैं—

जघन्य असंख्यात-असंख्यात का वर्ग करने से जो राशि प्राप्त हो, उसका पुनः वर्ग किया जाता है। लब्ध राशि का वर्ग करने से जो राशि प्राप्त हो उसमें निम्न

असंख्यात मान वाली दस राशियां जोड़कर पुनः तीन बार वर्ग किया जाता है। लब्धराशि में से एक घटाने पर उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात का मान प्राप्त होता है। जोड़ी जाने वाली राशियां ये हैं—

१. लोकाकाश के प्रदेश
२. धर्मास्तिकाय के प्रदेश
३. अधर्मास्तिकाय के प्रदेश
४. एक जीव के प्रदेश
५. निगोद जीवों के शरीर
६. प्रत्येकशरीरी जीव
७. स्थिति बन्ध के कारणभूत अध्यवसाय स्थान
८. अनुभास बन्ध के कारणभूत अध्यवसाय स्थान
९. मन-वचन-काय योग के अविभाज्य विभाग
१०. उत्सपिणी-अवसपिणी काल के समय ।

### ५. अनंत के प्रकार

अणंतए तिविहे पणत्ते, तं जहा—परित्ताणंतए जुत्ताणंतए अणताणंतए ।

परित्ताणंतए तिविहे पणत्ते, तं जहा—जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए ।

जुत्ताणंतए तिविहे पणत्ते, तं जहा—जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए ।

अणताणंतए दुविहे पणत्ते, तं जहा—जहण्णए जहण्णमणुक्कोसए ।

(अनु ५८०-५८३)

अनन्त के तीन प्रकार हैं—१. परीत-अनन्त

२. युक्त-अनन्त ३. अनन्त-अनन्त ।

परीत-अनन्त और युक्त-अनन्त के तीन-तीन भेद हैं—

जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्य अनुत्कृष्ट ।

अनन्त-अनन्त के दो भेद हैं—

जघन्य और अजघन्य-अनुत्कृष्ट ।

'जहण्णयं असंखेज्जासंखेज्जयं जहण्णयअसंखेज्जा-संखेज्जमेत्ताणं रासीणं अण्णमण्णभासो पडिपुणो जहण्णयं परित्ताणंतयं होइ ।

अहवा उक्कोसए असंखेज्जासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं परित्ताणंतयं होइ ॥

तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्ताणंतयं न पावइ ॥

जहण्णयपरित्ताणंतयमेत्ताणं रासीणं अण्णमण्णभासो रूवूणो उक्कोसयं परित्ताणंतयं होइ ।

अहवा जहृण्यं जुत्ताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं परि-  
त्ताणंतयं होइ ॥

जहृण्यं परित्ताणंतयं जहृण्यपरित्ताणंतयमेत्ताणं  
रासीणं अण्णमण्णभासो पडिपुण्णो जहृण्यं जुत्ताणंतयं  
होइ ।

अहवा उक्कोसए परित्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहृण्यं  
जुत्ताणंतयं होइ । अभवसिद्धिया वि तत्तिया चेव ॥

तेण परं अजहृण्यमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्को-  
सयं जुत्ताणंतयं न पावइ ॥

जहृण्यएणं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिया गुणिया  
अण्णमण्णभासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ ॥

अहवा जहृण्यं अणंताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्ता-  
णंतयं होइ ॥

जहृण्यं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिया गुणिया अण्ण-  
मण्णभासो पडिपुण्णो जहृण्यं अणंताणंतयं होइ ।

अहवा उक्कोसए जुत्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहृण्यं  
अणंताणंतयं होइ ॥

तेण परं अजहृण्यमणुक्कोसयाइं ठाणाइं ॥

(अनु ५९६-६०३)

**जघन्य परीत-अनन्त**—जघन्य असंख्येय-असंख्येय राशि को  
जघन्य असंख्येय-असंख्येय राशि से गुणित करने पर  
प्राप्त संख्या अथवा उत्कृष्ट असंख्येय-असंख्येय में  
एक मिलाने से जघन्य परीत-अनन्त होता है ।

**अजघन्य-अनुत्कृष्ट परीत-अनन्त**—जघन्य परीत-अनन्त  
से आगे उत्कृष्ट परीत-अनन्त से पूर्व बीच की सभी  
संख्यायें अजघन्य-अनुत्कृष्ट परीत-अनन्त होती हैं ।

**उत्कृष्ट परीत-अनन्त**—जघन्य परीत-अनन्त को जघन्य  
परीत-अनन्त से गुणित करने पर जो संख्या आती है,  
उससे एक कम उत्कृष्ट परीत-अनन्त होता है ।  
अथवा एक कम जघन्य युक्त-अनन्त उत्कृष्ट परीत-  
अनन्त होता है ।

**जघन्य युक्त-अनन्त**—जघन्य परीत-अनन्त को जघन्य  
परीत-अनन्त से गुणित करने पर जो संख्या आती है  
वह जघन्य युक्त-अनन्त होती है । अथवा उत्कृष्ट  
परीत-अनन्त में एक का प्रक्षेप करने पर जघन्य  
युक्त-अनन्त होता है । अभवसिद्धिक जीव भी उतने  
ही हैं ।

**अजघन्य-अनुत्कृष्ट युक्त-अनन्त**—जघन्य युक्त-अनन्त से

आगे उत्कृष्ट युक्त-अनन्त से पूर्व बीच की सारी  
संख्याएं अजघन्य-अनुत्कृष्ट युक्त-अनन्त होती हैं ।

**उत्कृष्ट युक्त-अनन्त**—जघन्य युक्त-अनन्त को अभव-  
सिद्धिक जीवों की संख्या से गुणित करने पर अथवा  
जघन्य युक्त-अनन्त को जघन्य युक्त-अनन्त से गुणित  
करने पर जो संख्या आती है उसमें एक कम करने  
से उत्कृष्ट युक्त-अनन्त होता है । अथवा एक कम  
जघन्य अनन्त-अनन्त उत्कृष्ट युक्त-अनन्त होता है ।

**जघन्य अनन्त-अनन्त**—जघन्य युक्त-अनन्त को अभव-  
सिद्धिक जीवों की संख्या से गुणित करने पर अथवा  
जघन्य युक्त-अनन्त को जघन्य युक्त-अनन्त से गुणित  
करने पर जो संख्या आती है वह जघन्य अनन्त-  
अनन्त होती है । अथवा उत्कृष्ट युक्त-अनन्त में एक  
का प्रक्षेप करने पर जघन्य अनन्त-अनन्त होता है ।

**अजघन्य-अनुत्कृष्ट अनन्त-अनन्त**—जघन्य अनन्त-अनन्त  
से आगे सभी संख्याएं अजघन्य-अनुत्कृष्ट अनन्त-  
अनन्त होती हैं ।

**उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त**—यह विकल्प नहीं होता ।

**उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त : एक विमर्श**

उक्कोसयमणंताणंतयं नास्त्येव इत्यर्थः । अन्ने य  
आयरिया भणति जहृण्यं अणंताणंतयं तिण्णि वारा  
वग्गियं ताधे इमे अणंतपक्खेवा पक्खित्ता, तं जघा—

सिद्धा णियोयजीवा वणस्सती काल पोग्गला चेव ।  
सव्वमलोगागासं छप्पेते णंतपक्खेवा ॥

एते पक्खिविऊण तिण्णि वारा वग्गियसंवग्गितो  
तथावि उक्कोसयं अणंताणंतयं ण पावति, ततो केवलणाणं  
केवलदंसणं च पक्खित्तं, तहावि उक्कोसयं अणंताणंतयं ण  
पावति सुत्ताभिप्पायतो । अण्णाथरियाभिप्पायतो केवल-  
णाणदंसणेषु पक्खित्तेषु पत्तं उक्कोसमणंताणंतयं, जतो  
सव्वमणंतमिहूत्थि अण्णं न किच्चिदिति । जहि अणंताणं-  
तयं मग्गिज्जति तहि अजहृण्यमणुक्कोसयं अणंताणंतयं  
गहेयव्वं । (अनुचू पृ ८४, ८५)

**उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त**—इस भेद का अस्तित्व नहीं  
है । कुछ आचार्य इस भेद को स्वीकार करते हैं, जिसका  
गणित इस प्रकार है—

जघन्य अनन्त-अनन्त का तीन बार वर्ग (अष्टघात)  
करना चाहिये । किसी संख्या का तीन बार वर्ग करना



हो तो उस संख्या का वर्ग, फिर वर्गजन्य संख्या का वर्ग, फिर वर्गजन्य संख्या का वर्ग किया जाता है। जैसे—  
४ का तीन बार वर्ग करना है।

४ का वर्ग -  $४ \times ४ = १६$  —

१६ का वर्ग— $१६ \times १६ = २५६$

२५६ का वर्ग— $२५६ \times २५६ = ६५५३६$

दूसरे शब्दों में इसे अष्टघात भी कह सकते हैं—

$४ \times ४ \times ४ \times ४ \times ४ \times ४ \times ४ \times ४ = ६५५३६$

तीन बार संवर्गित करने के बाद उसमें निम्न अनन्त मान वाली छह राशियों का प्रक्षेप करना चाहिये—

१. सब सिद्ध जीव, २. सूक्ष्म-बादर निगोद के जीव, ३. प्रत्येक-साधारण वनस्पतिकार्थिक जीव, ४. तीनों (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) काल के समय, ५. सर्व पुद्गल द्रव्य, ६. सर्व आकाश की प्रदेशराशि।

इनको प्रक्षिप्त कर फिर सर्व राशि को तीन बार संवर्गित करके उस राशि में केवलज्ञान और केवलदर्शन के अनन्त पर्यायों को मिलाने पर उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त की संख्या का परिमाण होता है। क्योंकि इससे आगे संख्या की कोई वस्तु नहीं है। श्वेताम्बर आगम सूत्र के अनुसार उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त नहीं होता। सूत्र में जहां-जहां अनन्तानंत का उल्लेख है वहां मध्यम अनन्त का ग्रहण ही अभीष्ट है, क्योंकि इस संख्या के मान का कोई पदार्थ नहीं है।

(दिगम्बर परम्परा में और कर्मग्रंथ में इसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएं हैं। देखें—अणुओगदाराई सूत्र ६०३ का टिप्पण)

**संग्रह नय**—अभेदपरक दृष्टिकोण। (द्र. नय)

**संघ**—समान लक्ष्य वाले व्यक्तियों का संगठन।

...संघो जो नाणचरणसंघाओ।... (विभा १३२०)

जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रगुणों का संघात है, वह संघ है।

प्रवचन का आधार होने के कारण संघ को प्रवचन कहा गया है। (द्र. प्रवचन)

चतुर्विध श्रमणसंघ। (द्र. तीर्थ)

**संघ की नगर आदि की आठ उपमाएं—**

भुणभवण-गहण! सुयरयणभरिय! दसण-विसुद्ध-रत्थागा।  
संघणगर! भद् ते अक्खंडचरित्त-वागारा! ॥

संजम-तव-तुंबारयस्स नमो सम्मत्त-पारियल्लस्स ।  
अप्पडिच्चकस्स जओ, होउ सया संघचककस्स ॥  
भद् सीलपडागूसियस्स तव-नियम-तुरय-जुत्तस्स ।  
संघरहस्स भगवओ, सञ्जाय-सुनदि-घोसस्स ॥  
कम्मरय-जलोह-विणिग्गयस्स सुयरयणदीहनालस्स ।  
पंचमहब्बयधिरकणियस्स गुणकेसारालस्स ॥  
सावग ञ्णमहुअरिपरिवुडस्स जिणसूरतेयबुद्धस्स ।  
संघपउमस्स भद्, समणगणसहस्सपत्तस्स ॥  
तव-संजम-मयलंछण ! अकिरिय-राहुमुह-दुद्धरिस निच्चं ।  
जय संघचंद ! निम्मल-सम्मत्त-विसुद्धजुहागा ॥  
परितित्थियगह-पह-नासगस्स तवतेयदित्तलेसस्स ।  
नाणुज्जोयस्स जए, भद् दमसंघसूरस्स ॥  
(नन्दी गाथा ४-१०)

**नगर**—उत्तरगुण रूप भवनों से गहन, श्रुतरूप रत्नों से युक्त, विशुद्ध दर्शन रूप मणियों से संकुल, चरित्र रूप अखण्ड प्राकार वाले संघनगर ! तुम्हारा कुशल हो।

**चक्र**—जिस चक्र के संयम रूप तुम्ह और तप रूप अर हैं, बाह्य पृष्ठ के लिए सम्यक्त्व रूप भ्रमि है तथा जिसके समान दूसरा चक्र नहीं है, ऐसे विजयी संघचक्र को सदा नमस्कार हो।

**रथ**—जिसके शील रूप ऊंची पताका है, तप-नियम रूप घोड़े जुते हुए हैं, स्वाध्याय रूप नन्दी घोष है। ऐसे संघरथ का कुशल हो।

**कमल**—जो श्रमणगण रूप सहस्रपत्रों से युक्त है। कर्म रज रूप समुद्र से बाहर निकला हुआ है। श्रुत की रचना रूप दीर्घ नालिका वाला है। पांच महाव्रत रूप स्थिर कणिका वाला है। उत्तर गुणरूप केसरों वाला है। श्रावक रूप मधुकरों से घिरा हुआ है और जितेश्वर देव रूप सूर्य से विकसित है, ऐसे संघकमल का कुशल हो।

**चन्द्र**—तप-संयम रूप मृग लांछन वाले, अक्रियावादी नास्तिक राहुओं के मुंह से अपराजित ! हे निर्मल सम्यक्त्व रूप विशुद्ध ज्योत्स्ना वाले संघचन्द्र ! तुम विजयी हो।

**सूर्य**—जो अन्यतीर्थिक ग्रहों की प्रभा क्षीण कर, तप तेज से दीप्त लेश्या वाला है और ज्ञान से उद्योतवान् है। ऐसे उपशम प्राप्त संघसूर्य का शुभ हो।

भद् धिइ-वेला-परिमयस्स सञ्जायजोग-मगरस्स ।  
अक्खोभस्स भगवओ, संघसमुद्दस्स रंदस्स ॥

सम्महंसण-वड्-दढ-रूढ-गाढावगाढ-पेढस्स ।  
 धम्मवर-रयण-मंडिय-चामीयर-मेह्लागस्स ॥  
 नियमूसिय-कणय-सिलायलुजल-जलंत-चित्तकूडस्स ।  
 नंदणवण-मणहर-सुरभि-सील-मंधुद्धुमायस्स ॥  
 जीवदया-सुंदर-कंदसुद्धरिय-मुणिवर-मइंद-इणस्स ।  
 हेउसय-धाउ-पगलंत-रयण - वित्तोसहि-गुहस्स ॥  
 संवर-वरजल-पमलिय-उज्झर-प्यविरायमाण-हारस्स ।  
 सावग-जण-पउर-रवंत-मोर - णच्चंत-कुहरस्स ॥  
 विणय-णय-पवर-मुणिवर-फुरंत-विज्जु-ज्जलंत-सिहरस्स ।  
 विविहगुण-कप्परुक्खग - फलभर-कुसुमाउल-वणस्स ॥  
 नाण-वररयण-दिप्पंत-कंत-वेहलिय-विमल-चूलस्स ।  
 वंदामि विणयपणओ, संघमहामंदरगिरिस्स ॥  
 (नन्दी गाथा ११-१७)

**समुद्र**—जो धैर्य रूप वेला से युक्त है, स्वाध्याययोग रूप मकरों वाला है, अप्रकंपित है, विस्तीर्ण है—वह संघ-समुद्र शिव को प्राप्त करे ।

**सुमेरु**—जिसके दृढ़ रूढ़ (चिरकाल से समागत), गाढ़ (तीव्र तत्त्व रुचि से युक्त), अवगाढ़-गहरी (पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से युक्त) सम्यग्दर्शन रूप वज्रमय पीठ है, जो धर्म रूप श्रेष्ठ रत्नों से जड़े हुए स्वर्ण के कन्दोरे वाला है, जो नियम रूप कनक शिलातल से ऊंचा बना हुआ है, जो उज्ज्वल ज्वलन्त चित्त रूप चोटियों वाला है, जो नंदनवन की मनहर सुरभि रूप शील मंध से परिव्याप्त है, जो जीव दया रूप सुन्दर कन्दरा वाला है, जो अहिंसा के प्रति दक्षिण मुनिवर रूपी सुमेन्द्रों से आकीर्ण है, जो व्याख्यान मालाओं में सैकड़ों हेतु रूप (अन्वय-व्यतिरेक) घातुओं के द्वारा निष्यन्दमान श्रुतरत्न और दीप्त औषधि वाला है, जो संवर रूप निरंतर ऋण करने वाले श्रेष्ठ प्रवाह रूप हार वाला है, जो विविध शब्द करते हुए (स्तुति-स्तोत्र आदि के द्वारा) श्रावक रूप मयूरों के प्रचुर सशब्द नृत्य वाला है तथा जहां शास्त्र-मंडप आदि रूप कुहर हैं, जो विनयप्रणत श्रेष्ठ मुनिवरों की स्फुरित विद्युत् (तपस्या) से ज्वलंत शिखरों वाला है, जो प्राक्वचनिक (आचार्यों) के विविध गुण रूप कल्पवृक्षों के फलों और पुष्पों (ऋद्धियों) से व्याप्त वन (गच्छ) वाला है । तथा जिसके प्रधान ज्ञान रूपी वैदूर्य रत्न से देदीप्यमान कांत, विमल चूला है, उस संघ-महामंदराचल को विनय-प्रणत होकर वंदना करता हूं ।

## संघ का महत्त्व

णाणस्स होइ भागी धिरयरगो वंसणे चरित्ते य ।  
 धम्मा आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥  
 (उच्चू पृ १९८)  
 गुरुकुल में रहने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, दर्शन और चारित्र्य में स्थिरता आती है । वे धन्य हैं जो जीवन-पर्यन्त गुरुकुलवास नहीं छोड़ते ।  
 जस्सेवमप्पा उ ह्वेज्ज निच्छिओ,  
 चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं ।  
 तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया,  
 उवेंतवाया व सुवंसणं गिरिं ॥  
 (दचूला १।१७)

जिसकी आत्मा दृढ़ संकल्पयुक्त होती है—'देह को त्याग देना चाहिए पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ना चाहिए'—उस दृढ़प्रतिज्ञ साधु को इन्द्रियां उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकतीं जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को ।

जह सागरमि मीणा संखोहं सागरस्स असहंता ।  
 निति तओ सुहकामी निग्गयमित्ता विणस्संति ॥  
 एवं गच्छसमुद्दे सारणवीईहि चोइया संता ।  
 निति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति ॥  
 (ओनि ११६, ११७)

जो सुखकामी मत्स्य सागर की क्षुब्धता को सहन नहीं कर पाते वे सागर से अलग होकर विनष्ट हो जाते हैं । इसी प्रकार गच्छरूपी सागर में सारणा-वारणा को सहन नहीं करने वाला सुखकामी शिष्य संघ से अलग होकर मत्स्य की तरह नष्ट हो जाता है ।

**संज्ञा**—अभिलाषा । मनोविज्ञान ।

### १. संज्ञा के प्रकार

२. संज्ञाओं के अर्थ तथा उत्पत्ति के कारण

३. संज्ञा (ज्ञानात्मक) के स्वामी

४. एकेन्द्रिय असंज्ञी क्यों ?

५. एकेन्द्रिय में भूत और आहार आदि संज्ञाएं

• वनस्पति में संज्ञा

\* दीर्घकालिकी आदि संज्ञाएं

(डॉ. भूतज्ञान)

### १. संज्ञा के प्रकार

सण्णा दुविहा खओवसमिया कम्मोदइया य । तत्थ

खओवसमिया णाणावरणखओवसमेण आभिनिबोहिय-  
नाणसण्णा भवति । ... कम्मोदइया चतुब्बिहा ।

(आवचू २ पृ ८०)

संज्ञा के दो प्रकार हैं -

१. क्षयोपशमिक संज्ञा - कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न,  
जैसे—ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाली  
आभिनिबोधिक संज्ञा ।

२. कर्मोदयिक संज्ञा - कर्म की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के  
उदय से होने वाली आहार आदि संज्ञाएं ।

... चउहि सण्णाहि—आहारसण्णाए भयसण्णाए  
मेहुणसण्णाए परिग्गहसण्णाए । (आव ४।८)

कर्मोदय से निष्पन्न संज्ञा के चार प्रकार हैं - आहार-  
संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा ।

(संज्ञा के दस प्रकार भी हैं - आहार, भय, मैथुन,  
परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, लोभ और ओष  
संज्ञा । नैरयिकों में भय संज्ञा, तिर्यंचों में आहार संज्ञा,  
मनुष्यों में मैथुन संज्ञा और देवों में परिग्रह संज्ञा की  
प्रधानता होती है । देखें - पणवणा पद ८)

## २. संज्ञाओं के अर्थ तथा उत्पत्ति के कारण

आहारसण्णा नाम आहाराभिलाससंज्ञानं, आहाराग-  
संवेदनमित्यर्थः, तीए चत्तारि उदयहेतुणो 'चउहि ठाणेहि  
आहारसण्णा समुप्पज्जति—ओमकोट्टुताए, छुहावेदणिज्जस्स  
कम्मस्स उदएणं, मतीए तदट्टोवयोगेणं, तत्थ मती सोतुं  
दट्टुं आघातुं रसेणं फासेणं वा भवति, तदट्टोवयोगेणं  
आहारं चित्तेति, सुत्तत्थतदुभएहि वा अप्पाणं वावडं न  
करेतिति ।

भयसण्णानाम भयाभिनिवेशो भयमोहोदयसंवेदन-  
मित्यर्थः, तीए चत्तारि हेतुणो - चउहि ठाणेहि भयसण्णा  
उप्पज्जति—हीणसत्तयाए भयमोहणिज्जउदएणं मतीए  
तदट्टोवयोगताए ।

मेहुणसण्णाणाम स्त्याद्यभिलाससंज्ञानं, वेदमोहोदय-  
संवेदनमित्यर्थः, तीए चत्तारि हेतू - 'चउहि ठाणेहि मेहुण-  
सण्णा समुप्पज्जति, तं जहा - चित्तमससोणितयाए वेद-  
मोहणिज्जोदएणं मतीए तदट्टोवयोगेणं ।

परिग्रहसण्णा णाम परिग्गहाभिलाससण्णाणं, परि-  
ग्गहरागसंवेदनमित्यर्थः, तीसे हेतुणो - अविचित्ताए  
लोभोदएणं मतीए तदट्टोवयोगेणं । (आवचू २ पृ ८०, ८१)

उपयोगमात्रमोषसंज्ञा, लोकसंज्ञा स्वच्छन्दविकल्पिता

विश्वगमा लौकिकैराचरिता, तद्यथा—“अनपत्यस्य न  
सन्ति लोका” इत्यादि, अन्ये तु व्याचक्षते—ओषसंज्ञा  
दर्शनोपयोगः, लोकसंज्ञा ज्ञानोपयोगः । (नन्दीहावृ पृ ६१)

१. आहारसंज्ञा—आहार की अभिलाषा का संज्ञान,  
आहार के प्रति राग का संवेदन ।

इसके चार कारण हैं—१. पेट के खाली हो जाने  
पर २. क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से ३. आहार की  
बात सुनने, आहार देखने, गंध लेने आदि से उत्पन्न  
मति से ४. सूत्रार्थ के चिंतन से शून्य होकर आहार  
के विषय में सतत चिंतन से ।

२. भयसंज्ञा—भय का अभिनिवेश अर्थात् भयमोह  
का संवेदन ।

इसके चार कारण हैं—१. सत्त्वहीनता से २.  
भयमोहनीय कर्म के उदय से ३. भय की बात सुनने  
से उत्पन्न मति से ४. भय के सतत चिंतन से ।

३. मैथुनसंज्ञा—स्त्री आदि की अभिलाषा रूप संज्ञान  
अर्थात् वेदमोहोदय कर्म का संवेदन ।

इसके चार कारण हैं—१. अत्यधिक मांस-रक्त का  
उपचय होने से २. वेदमोहनीय कर्म के उदय से  
३. मैथुन की मति से ४. मैथुन का सतत चिंतन  
करने से ।

४. परिग्रहसंज्ञा—परिग्रह की अभिलाषा रूप संज्ञान,  
परिग्रह के प्रति रागभाव का संवेदन ।

इसके चार कारण हैं—१. परिग्रह से विविक्त न  
होने से २. लोभमोहनीय कर्म के उदय से ३.  
परिग्रह की मति से ४. परिग्रह का सतत चिंतन  
होने से ।

५-८. क्रोध आदि चारों संज्ञाएं—क्षेत्र, वास्तु, शरीर  
और उपधि के कारण उत्पन्न होती हैं ।

(देखें—ठाणं ४।८०-८३)

९. ओषसंज्ञा—सामान्य अवबोध, दर्शनोपयोग । यह  
उपयोगमात्र निर्विभाग ज्ञान है । इन्द्रिय और मन  
से नहीं होता । इसकी उत्पत्ति स्वाभाविक है ।

१०. लोकसंज्ञा—विशेष अवबोध, ज्ञानोपयोग । स्वच्छन्द-  
सूत्र में विकल्पित लौकिक मान्यता । जैसे—पुत्रहीन  
की गति नहीं होती, आदि ।

(इन दस संज्ञाओं में प्रथम आठ संवेगात्मक और  
अंतिम दो ज्ञानात्मक हैं । इनकी उत्पत्ति बाह्य और

आंतरिक उत्तेजना से होती है। देखें—ठाणं १०।१०५ का टिप्पण।

आचारांग निर्युक्ति गाथा ३९ में इन दस संज्ञाओं के अतिरिक्त ये चार संज्ञाएं और प्राप्त होती हैं—सुख-दुःख संज्ञा, मोह संज्ञा, विचिकित्सा संज्ञा और धर्म संज्ञा।

### ३. संज्ञा (ज्ञानात्मक) के स्वामी

पंचणहसृहसण्णा हेउसण्णा बेइदियाईणं ।  
 मुर-नारय-सम्भुम्भवजीवाणं कालिगी सण्णा ॥  
 छउमत्थाणं सण्णा सम्महिटीण होइ सुयनाणं ।  
 मइवावारविमुक्का सण्णाईआ उ केवलिणी ॥  
 (विभा ५२३, ५२४)

पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति—इन पांचों ओघ संज्ञा होती है। द्वीन्द्रिय आदि में हेतु (हेतूपदेश) संज्ञा तथा देव, नारक और गर्भज प्राणियों में दीर्घ-कालिकी संज्ञा होती है। सम्यक्दृष्टि छत्रस्थ के दृष्टिवाद संज्ञा होती है। अतः उसके श्रुतज्ञान को संज्ञिश्रुत कहा गया है। मति-श्रुत के व्यापार से विमुक्त होने से केवली संज्ञातीत होते हैं।

### ४. एकेन्द्रिय असंज्ञी क्यों ?

...एगिदियाइयाण वि जं सण्णा दसविहा भणिया ॥  
 (विभा ५०५)

यदि स्वल्पसंज्ञायोगाद् विकलेन्द्रियादयः संज्ञिन इष्यन्ते, पृथिव्यादयः किं नेष्यन्ते ? यतस्तेषामपि दशविधाः संज्ञा विद्यन्त एव... इहौघसंज्ञा स्तोक्त्वाद् आहारादिसंज्ञा-श्चानिष्टस्वाप्नाधिक्रियन्ते । यथा न कार्षापणमात्रेण धनवानभिधीयते मूर्त्तिमात्रेण वा रूपवानिति, किन्तु यथा प्रभूतरत्नादिसमन्वितो धनवान् प्रशस्तमूर्त्तियुक्तश्च रूपवानभिधीयते एवं महती शोभना च संज्ञा यस्यास्त्यसौ संज्ञीति, विशिष्टतरा च विकलेन्द्रियसंज्ञा ।

(नन्दीहाव् पृ ६१)

प्रश्न होता कि विकलेन्द्रिय जीवों में स्वल्पतम संज्ञा होती है, फिर भी वे संज्ञी कहलाते हैं तो फिर एकेन्द्रिय जीवों में तो दस संज्ञाएं होती हैं, वे संज्ञी क्यों नहीं कहलाते ? वृत्तिकार कहते हैं कि एकेन्द्रिय प्राणियों में ओघसंज्ञा अल्पतम होती है तथा आहार आदि संज्ञाएं अनिष्ट होने के कारण उनकी गणना नहीं होती, इसलिए वे जीव असंज्ञी कहलाते हैं। कार्षापण एक सिक्का है। वह भी धन है। पर उससे व्यक्ति जैसे धनवान् के रूप में

अभिहित नहीं हो सकता। मूर्त्तता रूप है, पर उसके होने मात्र से कोई रूपवान् नहीं हो सकता। धनवान् वह होता है जो प्रभूत धन का स्वामी होता है। रूपवान् वह होता है जिसका आकार-प्रत्याकार मनमोहक होता है।

एगिदियाणं ओहसण्णा चैव अतो ते असण्णी चैव, तेहिहो बेइदियाइ जाव सम्मुच्छिमपंचेदी एते विसिट्टतर-सण्णाए हेतुवायसण्णी भणिता, कालितोवदेसं पुण पडुच्च ते वि असण्णी, विण्णाणअविसिट्टत्तणतो, दिट्ठिवातोवदेसं पुण पडुच्च कालिकोपदेसा वि असण्णी अविसिट्टत्तणतो चैव, अतो णज्जति दिट्ठिवातसण्णी सव्वत्तमो ।

(नन्दीचू पृ ४८)

जिनमें विशिष्ट संज्ञाएं—दीर्घकालोपदेशिकी, हेतु-उपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी होती हैं, वे ही वास्तव में संज्ञी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में अल्प ज्ञानात्मक केवल ओघसंज्ञा होती है। वे असंज्ञी ही हैं। द्वीन्द्रिय से समृच्छिम पंचेन्द्रिय तक के जीव हेतुवादसंज्ञी हैं, परंतु कालिकोपदेश संज्ञा की अपेक्षा वे भी असंज्ञी हैं क्योंकि उनका विज्ञान विशिष्ट नहीं है। इसी प्रकार दृष्टिवादोपदेशसंज्ञा की अपेक्षा से कालिकोपदेश संज्ञा वाले असंज्ञी हैं। इसलिए दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा सर्वोत्तम है।

### ५. एकेन्द्रिय में श्रुत और आहार आदि संज्ञाएं

बकुलादीनां स्पर्शानेन्द्रियातिरिक्तद्रव्येन्द्रियलब्धविकल-त्वेऽपि तेषां किमपि सूक्ष्म भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानमभ्युप-गम्यते... तथा भाषाश्रोत्रेन्द्रियलब्धविकलत्वेऽपि तेषां किमपि सूक्ष्मं श्रुतं भविष्यति, अन्यथाऽऽहारादिसंज्ञाऽनु-पपत्तेः ।

अभिलाषश्च समैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि तद्यदीद-मवाप्पते ततः समीचीनं भवतीत्येव शब्दार्थोल्लेखानुविद्धः स्वपुष्टिनिमित्तभूतप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसायः, स च श्रुतमेव, तस्य शब्दार्थपर्यालोचनात्मकत्वात्, ...शब्दानाम-न्तर्जल्पाकाररूपाणामपि विवक्षितार्थवाचकतया प्रवृत्त-मानत्वात्, श्रुतस्य चैवंलक्षणत्वात् । (नन्दीमव् प १४१)

बकुल आदि वनस्पतियों तथा अन्य एकेन्द्रिय जीवों में स्पर्शन इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य द्रव्य इन्द्रियों नहीं होती, किन्तु उनमें पांचों भाव इन्द्रियों का किञ्चित् सूक्ष्म विज्ञान रहता है। यद्यपि उनकी कोई भाषा नहीं होती, श्रोत्रेन्द्रिय भी नहीं होती, फिर भी उनमें सूक्ष्म श्रुत होता है, अन्यथा उनमें आहार, भय, मैथुन और परिरह की

संज्ञा भी नहीं हो सकती। किन्तु ये संज्ञाएं उनमें हैं।

जिसमें यह अध्यवसाय होता है कि अमुक पुष्टिकारक वस्तु मुझे मिल जाये तो अच्छा रहे—यह शब्दार्थ के उल्लेख से अनुविद्ध तथा स्वपुष्टि में निमित्तभूत पदार्थ का अध्यवसाय श्रुत ही है। श्रुत शब्द और अर्थ का पर्यालोचन करता है। शब्द अन्तर्जल्पाकार होने पर भी विवक्षित अर्थ के वाचक होते हैं। श्रुत का भी यही लक्षण है।

**वनस्पति में आहार आदि चारों संज्ञाएं**

दृश्यते हि जलाद्याहारोपजीवनाद् वनस्पत्यादीनामाहार-संज्ञा, संकोचनवल्लयादीनां तु हस्तस्पर्शादिभीत्याऽव्यव-संकोचनादिभ्यो भयसंज्ञा, विरहक-तिलक-चम्पक-केशरा-शोकादीनां तु मैथुनसंज्ञा दशितैव, बिल्वपलाशादीनां तु निधानीकृतद्विषोपरि पादमोचनादिभ्यः परिग्रहसंज्ञा। न चैताः संज्ञा भावश्रुतमन्तरेणोपपद्यन्ते।

(विभामवृ १ पृ ५९)

वनस्पति जीवों में आहार आदि चारों संज्ञाएं पाई जाती हैं। सभी प्रकार के वनस्पतिजीव जल आदि को ग्रहण कर जीवित रहते हैं, अतः उनमें आहार संज्ञा है। कुछेक लताएं और बल्लियां हाथ का स्पर्श होते ही भयभीत होकर सिकुड़ जाती हैं। उनमें भयसंज्ञा है। तिलक, चंपक आदि वृक्ष स्त्रियों के पादाघात, आलिंगन आदि से पुष्पित और फलित होते हैं। यह उनमें मैथुन संज्ञा का प्रतीक है। बिल्व, पलाश आदि वृक्षों की जड़ें भूमि में गड़े हुए धन पर छितर जाती हैं। यह उनमें परिग्रहसंज्ञा का द्योतक है। ये चारों संज्ञाएं भावश्रुत के बिना उत्पन्न नहीं होतीं, अतः उन एकेन्द्रिय जीवों में भावश्रुत होता ही है।

**संभव**—तीसरे तीर्थंकर। (द्र. तीर्थंकर)

**संयम**—उपरति। निग्रह। नियंत्रण।

### १. संयम की परिभाषा

० संयम के एकार्यक

### २. संयम के सतरह प्रकार

० पृथ्वीकाय...संयम

० प्रेक्षा संयम

० उपेक्षा संयम

० अपहृत्य संयम

० प्रमार्जन संयम

० मन-वचन-शरीर संयम

० उपकरण संयम

३. जीव-अजीव संयम

४. संयम की श्रेष्ठता

५. संयम के परिणाम

६. मन-वचन-शरीर संयम के परिणाम

७. संयमी की जीवन-शैली

० संयम-रमण : सुर-सुख

\* संयम-आचरण की दुर्लभता (द्र. मनुष्य)

\* श्रुति संयम और चक्षु संयम (द्र. ब्रह्मचर्य)

\* इन्द्रिय संयम के परिणाम (द्र. इन्द्रिय)

\* संयम में स्थिरता के आलम्बन (द्र. चारित्र)

### १. संयम की परिभाषा

संजमो समिति-गुत्तीसु उवरमो ।...सव्वावस्थ-महिसोवकारी संजमो । (दशचू पृ ९)

संयम का अर्थ है—समिति और गुप्ति का पालन करना। जो सर्वत्र अहिंसा का उपकारी है, वह संयम है।

संजमो नाम उवरमो, रागद्वेषविरहियस्स एगीभावे भवइत्ति । (दजिचू पृ १५)

संयम का अर्थ है—उपरति। राग-द्वेष से शून्य होकर एकीभाव में स्थित होना संयम है।

संयमः आश्रवद्वारोपरमः ।...संयमस्याहिंसाया एव उपग्रहकारित्वात्, संयमिन एव भावतः खल्वहिंसकत्वात् । (दहावृ प २१, २६)

संयम का अर्थ है—हिंसा आदि आश्रवद्वारों से विरति। संयम अहिंसा का ही आलम्बन है। संयमी के ही भावतः सम्पूर्ण अहिंसा हो सकती है।

**संयम के एकार्यक**

दया य संजमे लज्जा, दुगुंछाऽच्छलणा इअ ।

तितिक्षा य अहिंसा य, हिरि एगट्टिया पया ॥

(उनि १५८)

दया, संयम, लज्जा, जुगुप्सा, अच्छलना, तितिक्षा, अहिंसा और ही—ये संयम के एकार्यक हैं।

## २. संयम के सतरह प्रकार

संजमो सत्तरसविहो, तं जहा—पुढविकायसंजमो, आउकायसंजमो, तेउकायसंजमो, वाउकायसंजमो, वणस्सतिकायसंजमो, बेइंदियसंजमो, तेइंदियसंजमो, चउरिंदियसंजमो, पंचेइंदियसंजमो, पेहासंजमो, उवेहासंजमो, अवहट्टसंजमो, पमज्जियसंजमो, मणसंजमो, वतिसंजमो, कायसंजमो, उवगरणसंजमो । (दअचू पृ १२)

संयम सतरह प्रकार का है—पृथ्वीकायसंयम, अप्कायसंयम, तेजस्कायसंयम, वायुकायसंयम, वनस्पतिकायसंयम, द्वीन्द्रियसंयम, त्रीन्द्रियसंयम, चतुरिन्द्रियसंयम, पंचेन्द्रियसंयम, प्रेक्षासंयम, उपेक्षासंयम, अपहृत्य (उत्सर्ग) संयम, प्रमार्जन संयम, मनसंयम, वचनसंयम, कायसंयम उपकरणसंयम ।

### १-९. पृथ्वीकाय...पंचेन्द्रिय संयम

पुढविकायसंजमो—पुढविकायं तियोगेन ण हिंसतिण हिंसवेति हिंसंतं नाणुजाणति । एवं आउक्कायसंजमो जाव पंचेइंदियसंजमो । (दअचू पृ १२)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों की मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करना, न करवाना, न अनुमोदन करना क्रमशः पृथ्वीकाय संयम, अप्काय संयम, तेजस्काय संयम, वायुकाय संयम, वनस्पतिकाय संयम, द्वीन्द्रिय संयम, त्रीन्द्रिय संयम, चतुरिन्द्रिय संयम और पंचेन्द्रिय संयम है ।

### १०. प्रेक्षा संयम

ठाणाइ जत्थ चेए, पुव्वं पडिलेहिउण चेएज्जा । (ओभा १७१)

पेहासंजमो --जत्थ ठाण-नीसीयण-तुयट्टणं काउकामो तं पडिलेहिय पमज्जिय करेमाणस्स संजमो भवति । (दअचू पृ १२)

स्थान (कायोत्सर्ग), निषीदन और शयन के स्थान का प्रतिलेखन (चक्षु से निरीक्षण) और प्रमार्जन करना प्रेक्षा संयम है ।

प्रतिलेखन विधि और क्रम (द्र. प्रतिलेखना)

### ११. उपेक्षा संयम

संजयगिहिचोयणउचोयणे य वावारओवेहा ॥ (ओभा १७१)

संयमी को प्रेरित करना, असंयमी के कार्य में उदासीन रहना उपेक्षा संयम है ।

उवेहासंजमो—संजमवतं संभोइयं पमायंतं चोदेतस्स संजमो । असंभोइयं चोयंतस्स असंजमो । पावयणीए कज्जे चियत्ता वा से पडिचोयण ति अण्णसंभोइयं पि चोएति । गिहत्थे कम्मायाणेसु सीदमाणे उपेहंतस्स संजमो, वावारितस्स असंजमो । (दअचू पृ १२)

उपेक्षा संयम के दो प्रकार हैं—

१. प्रमत्त सांभोजिक साधु को अप्रमाद के प्रति प्रेरित करना उपेक्षा संयम है । असांभोजिक को प्रेरित करना असंयम है । प्रवचन की प्रभावना के लिए प्रीतिकारक प्रेरणा से अन्य सांभोजिक को भी प्रेरित किया जा सकता है ।
२. गृहस्थ के सावद्य व्यापार के प्रति उदासीन रहना उपेक्षा संयम है, सावद्य व्यापार में व्यापृत होना असंयम है ।

### १२. अपहृत्य संयम

अवहट्ट संजमो -अतिरेगोवगरणं विगिंचंतस्स संजमो । पाणजातीए य आहारादिसु असुद्धोवहिमादीणि य परिट्टवितस्स । (दअचू पृ १२)

अतिरिक्त उपकरणों का परित्याग करना, सचित्त आहार आदि तथा अशुद्ध उपधि आदि का परिष्ठापन करना अपहृत्य संयम है ।

परिष्ठापन की विधि (द्र. समिति)

### १३. प्रमार्जन संयम

सागारिएऽपमज्जे संजम सेसे पमज्जणया ॥ (ओभा १७२)

गृहस्थ के सामने पैरों का प्रमार्जन न करना संयम है । गृहस्थ न हो उस स्थिति में प्रमार्जन करना संयम है ।

### १४-१६. मन-वचन-शरीर संयम

मणसंजमो—अकुसलमणनिरोहो वा कुसलमणउदीरणं वा । वतिसंजमो—अकुसलवइनिरोहो वा कुसलवतिउदीरणं वा । कायसंजमो—अवस्सकरणीयवज्जं सुसमाहियस्स कुम्म इव गुत्तिदिय चिट्टमाणस्स संजमो । (दअचू पृ १२)

अकुशल मन और वचन का निरोध तथा कुशल मन और वचन का प्रवर्तन मन संयम और वचन संयम है ।

आवश्यक आदि करणीय कृत्यों के अतिरिक्त सुसमाहित मुनि कर्म की तरह मुत्तेन्द्रिय—सुस्थिर रहता है—यह कायसंयम है।

### १७. उपकरण संयम

उवगरणसंजमो—पोत्थणसु धेप्पतेसु असंजमो महाधणमोल्लेसु वा दूसेसु, वज्जणं तु संजमो।

कार्ल पडुच्च चरणकरणट्ठं अब्बोच्छित्तिनिमित्तं वेण्हंतस्स संजमो भवति। (दअचू पृ १२)

पुस्तकों तथा अधिक मूल्य वाले वस्त्रों का ग्रहण करना उपकरण असंयम है। उनका वर्जन करना उपकरण संयम है। अवसर को जानकर चारित्र्य की अनुपालना और श्रुत की अव्यवच्छित्ति के निमित्त इनका ग्रहण करना भी संयम है।

(आवहावृ २ पृ १०८ में संयमभेदों के क्रम तथा नामों में किंचित् अंतर है। वहां उपकरण संयम के स्थान में अजीव संयम तथा अपहृत्य संयम के स्थान में परिष्ठापन संयम का उल्लेख है। समवाओ १७।२ में भी उपकरण संयम के स्थान में अजीव संयम का उल्लेख है।)

### ३. जीव-अजीव संयम

जस्स जीवाजीवपरिण्णा अत्थि सो जीवाजीवसंजमं वियाणइ, तत्थ जीवा न हंतव्वा एसो जीवसंजमो भण्णइ। अजीवावि मंसमज्जहिरण्णादिदव्वा संजमोवघाइया ण घेत्तव्वा एसो अजीवसंजमो, तेण जीवा य अजीवा य परिण्णाया जो तेसु संजमइ। (दजिचू पृ १६१, १६२)

संयम दो तरह का होता है—जीव संयम और अजीव संयम। किसी जीव को नहीं मारना—यह जीव संयम है। मद्य, मांस, स्वर्ण आदि द्रव्य जो संयम के घातक हैं उनका परिहार करना अजीव संयम है। जो जीव और अजीव को जानता है, वही उनके प्रति संयत हो सकता है। जो जीव-अजीव को नहीं जानता, वह संयम को भी नहीं जानता, वह उनके प्रति संयम भी नहीं कर सकता।

### ४. संयम की श्रेष्ठता

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।  
तस्सावि संजमो सेओ, अदितस्स वि किचणं ॥

(उ ९।४०)

जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है, उसके लिए भी संयम ही श्रेय है। भले फिर वह कुछ भी न दे।

थोवाहारो थोवभणिओ य जो होइ थोवनिट्ठो य।  
थोवोवहिउवगरणो तस्स हु देवावि पणमंति ॥  
(आवनि १२६८)

आहारसंयम, वाक्संयम, निद्रासंयम और उपधि—  
उपकरण संयम करने वाले को देवता भी प्रणाम करते हैं।

हत्थसंजए पायसंजए,  
वायसंजए संजइदिए।  
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा,  
सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ॥  
(द १०।१५)

जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, वाणी से संयत है, इंद्रियों से संयत है, अध्यात्म में रत है, भलीभांति समाधिस्थ है और जो सूत्र और अर्थ को यथार्थरूप से जानता है—वह भिक्षु है।

### ५. संयम के परिणाम

संजमेणं अण्ह्यत्तं जणयइ। (उ २१।२७)

संयम से जीव आश्रव का निरोध करता है।

सुयनाणम्मिंवि जीवो वट्ठंतो सो न पाउणइ मोक्खं।  
जो तवसंजममइए जोए न चएइ वोहुं जे ॥

जह छेयलद्धनिज्जामओवि वाणियगइच्छियं भूमि।  
वाएण विणा षोओ न चएइ महण्णवं तरिउं ॥

तह नाणलद्धनिज्जामओवि सिद्धिवसहिं न पाउणइ।  
निउणोऽवि जीवपोओ तवसंजममाइअविहूणो ॥

(आवनि ९४-९६)

जो जीव तपोयोग और संयमयोग का वहन नहीं कर सकता, वह केवल श्रुतज्ञान—शास्त्रों के अध्ययन से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

जैसे निपुण कर्णधार होने पर भी अनुकूल हवा के बिना जहाज महार्णव को पार नहीं कर सकता, वैसे ही निपुण ज्ञानी निर्यामिक होने पर भी जीव रूप पीत, तप-संयम रूप हवा के बिना सिद्धिस्थान को प्राप्त नहीं कर सकता।

## ६. मन-वचन-शरीर संयम के परिणाम

मणसमाहारणयाए णं एगमं जणयइ, जणइत्ता नाण-पज्जवे जणयइ, जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च निज्जरेइ । (उ २९।५७)

मन-समाधारणा—मन को आगम-कथित भावों में भली-भांति लगाने से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है । एकाग्रता को प्राप्त होकर ज्ञान-पर्यवों—ज्ञान के विविध आयामों को प्राप्त होता है । ज्ञान-पर्यवों को प्राप्त कर सम्यक् दर्शन को विशुद्ध और मिथ्यात्व को क्षीण करता है ।

वइसमाहारणयाए णं वइसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ, विसोहेत्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ दुल्लहबो-हियत्तं निज्जरेइ । (उ २९।५८)

वाक्-समाधारणा—वाणी को स्वाध्याय में भली-भांति लगाने से जीव वाणी के विषयभूत दर्शन-पर्यवों—सम्यक्-दर्शन के विविध आयामों को विशुद्ध करता है । दर्शन पर्यवों को विशुद्ध कर वह बोधि की सुलभता को प्राप्त होता है और बोधि की दुर्लभता को क्षीण करता है ।

कायसमाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ, विसोहेत्ता अहकथायचरित्तं विसोहेइ, विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ । तओ पच्छा सिज्भइ वुज्भइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ । (उ २९।५९)

काय-समाधारणा—संयमयोगों में काय को भलीभांति लगाने से जीव चारित्र-पर्यवों—चारित्र के विविध आयामों को विशुद्ध करता है । चारित्र-पर्यवों को विशुद्ध कर यथाख्यात चारित्र (वीतराग भाव) को प्राप्त करने योग्य विशुद्ध करता है । यथाख्यात चारित्र को विशुद्ध कर केवल-सत्क (केवली के विद्यमान) चार कर्मों—वेदनीय, आयुष्य, नाम और मोत्र को क्षीण करता है । उसके पश्चात् सिद्ध होता है, प्रशांत होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत होता है और सब दुःखों का अन्त करता है ।

## ७. संयमी की जीवन शैली

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।

जयं भुंजंते भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥

(द ४ गाथा ८)

जो संयमपूर्वक चलता है, खड़ा होता है, बैठा है, सोता है, खाता है और बोलता है, उसके पापकर्म का बंध नहीं होता ।

गमन विधि (द्र. समिति)

भाषा-विवेक (द्र. भाषासमिति)

आहार-विवेक (द्र. आहार)

अजयं चरमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई ।

बंधई पावयं कम्मं, तं से हीइ कडुयं फलं ॥

अजयं चिट्टमाणो.....आसमाणो..... ।

सयमाणो.....भुंजमाणो... भासमाणो... ॥

(द ४ गाथा १-६)

जो असंयमपूर्वक चलता है, खड़ा होता है, बैठा है, सोता है, भोजन करता है, बोलता है, वह त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, उसके पाप कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

## संयमरमण : सुरसुख

देवलोगसमाणो उ परियाओ महेसिणं ।

रयाणं अरयाणं तु महानिरयसारिसो ॥

अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं

रयाण परियाए तहारयाणं ।

निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं

रमेज्ज तम्हा परियाय पंडिए ॥

(दचूला १।१०, ११)

संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान सुखद होता है और जो संयम में रत नहीं होते उनके लिए मुनि-पर्याय महानरक के समान दुःखद होता है ।

संयम में रत मुनियों का सुख देवों के समान उत्कृष्ट जानकर तथा संयम में रत न रहने वाले मुनियों का दुःख नरक के समान उत्कृष्ट जानकर पण्डित मुनि संयम में ही रमण करे ।

(एक मास की संयम पर्याय वाला मुनि व्यंतर देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर देता है ।...बारह मास की संयम पर्याय वाला मुनि अनुत्तर देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर देता है । देखें—भगवई १४।१३६)



**संलेखना—शरीर और कषाय का कृशीकरण ।**  
अनशन की प्रारंभिक साधना ।

१. द्रव्य-भाव संलेखना

२. संलेखना कब ?

३. संलेखना का क्रम

४. संलेखना के अतिचार

\* संलेखना : अनशन

(ब्र. अनशन)

## १. द्रव्य-भाव संलेखना

संलेखनं द्रव्यतः शरीरस्य भावतः कषायाणां कृश-  
तापादनम् । (उशावृ प ७०६)

शरीर को कृश करना द्रव्य संलेखना है ।

कषाय को कृश करना भाव संलेखना है ।

## २. संलेखना कब ?

लाभंतरे जीविय बृहत्ता ।

पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥ (उ ४।७)

लाभः-अपूर्वार्थप्राप्तिः अन्तरं—विशेषः—याव-

द्विशिष्टविशिष्टतरसम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र्यावाप्तिरितः

सम्भवति तावद्विदं जीवितं—अन्नपानोपयोगादिना वृद्धि  
नीत्वा—लाभविशेषप्राप्त्युत्तरकालं—सर्वप्रकारैरवबुध्य  
यथेदं नेदानीं प्राग्बत्सम्यग्दर्शनादिविशेषहेतुः तथा च नातो  
निर्जरा, न हि जरया व्याधिना वा अभिभूतं तत् तथा-  
विधधर्माधानं प्रति समर्थम्—एवं जपरिज्ञया परिज्ञाय  
ततः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च भक्तं प्रत्याख्याय, सर्वथा  
जीवितनिरपेक्षो भूत्वा—मलविनाशकृत्—संलेखनादि-  
विधानतस्त्यजेत् । (उशावृ प २१७, २१८)

जब तक अपूर्व विशिष्ट-विशिष्टतर ज्ञान, दर्शन  
और चारित्र के गुणों की उपलब्धि हो, तब तक अन्न-  
पान आदि के द्वारा इस जीवन को पोषण दे और जब  
बहु उपलब्धि न हो तब साधक सब प्रकार से यह जान ले  
कि अब यह शरीर पूर्व की भांति ज्ञान, दर्शन और  
चारित्र के गुणों की विशिष्ट प्राप्ति करने में असमर्थ है,  
इससे निर्जरा नहीं हो रही है, यह बुढ़ापे और रोग से  
आक्रांत है, अतः अब धर्मासाधना करने में भी समर्थ नहीं  
है । इस प्रकार जपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से  
आहार का परित्याग कर शरीर से सर्वथा निरपेक्ष हो

जाये और विधिपूर्वक संलेखना का आचरण कर अंत में  
यावज्जीवन अनशन द्वारा शरीर का त्याग करे ।

अह कालंभि संपत्ते, भाषायाय समुत्सये ।

सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी ॥

(उ ५।३२)

मुनि मरणकाल प्राप्त होने पर संलेखना के द्वारा  
शरीर का त्याग करता है । भक्त-परिज्ञा, इङ्गिनी और  
प्रायोपगमन—इन तीनों में से किसी एक अनशन को  
स्वीकार कर सकाम मरण से भरता है ।

कदा च मरणमभिप्रेतम् ? यदा योगा नोत्सर्पन्ति ।

समुच्छ्रयम्—अन्तः कामंशरीरं बहिरोदारिकम् ।

(उशावृ प २५४)

जब मानसिक, वाचिक और कायिक योगों से नये  
विकास की संभावना क्षीण हो जाये, तब संलेखना—  
अनशन करना चाहिए । इस उपक्रम से कामंशरीर  
और औदारिक शरीर दोनों क्षीण होते हैं ।

अहवा ण कुज्जाहारं, छहिं ठाणेहि संजए ।

पच्छा पच्छिमकालंमि, काउं अप्पक्खमं खमं ॥

(पिनि ६६५)

आहार न करने के छह कारणों में अंतिम कारण  
है—शरीर-त्याग ।

शिष्य-निर्माण, धर्मप्रचार हेतु सुदूर क्षेत्रों की यात्रा  
आदि दायित्व-निर्वहन कर आत्मविहारी मुनि जीवन के  
सन्ध्याकाल में संलेखना करते हैं । संलेखना द्वारा शरीर  
को कृश कर अनशन की अर्हता प्राप्त कर वे यावज्जीवन  
के लिए आहार का परित्याग कर शरीर का व्युत्सर्ग कर  
देते हैं ।

## ३. संलेखना का क्रम

वारसेव उ वासाइं, संलेहककोसिया भवे ।

संवच्छरं मज्झिमिया, छम्मासा य जहन्निया ॥

पढमे वासचउक्कम्मि, विगईनिज्जूहणं करे ।

विइए वासचउक्कम्मि, विचित्तं तु तवं चरे ॥

एगंतरमायामं, कट्टु संवच्छरे दुवे ।

तओ संवच्छरइं तु, नाइविगिट्ठं तवं चरे ॥

तओ संवच्छरद्धं तु विगिट्ठं तु तवं चरे ।  
परिमियं चैव आयामं, तमि संवच्छरे करे ॥  
कोडीसहियमायामं, कट्टं संवच्छरे मुणी ।  
मासद्धमासिएणं तु, आहारेण तवं चरे ॥

(उ ३६।२५१-२५५)

संलेखना उत्कृष्टतः बारह वर्ष, मध्यमतः एक वर्ष तथा जघन्यतः छह मास की होती है। संलेखना करने वाला मुनि पहले चार वर्षों में विकृतियों (रसों) का परिश्याम करे। दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप (उपवास, बेला, तेला आदि) का आचरण करे। फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास तथा एक दिन भोजन) करे। भोजन के दिन आचाम्ल करे। ग्यारहवें वर्ष के पहले छह महीनों तक कोई भी विकृष्ट तप (तेला, चोला आदि) न करे। ग्यारहवें वर्ष के पिछले छह महीनों में विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष में परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे। बारहवें वर्ष में मुनि कोटि-सहित (निरन्तर) आचाम्ल करे। फिर पक्ष या मास का आहारत्याग (अनशन) करे।

(प्रवचनसारोद्धार के अनुसार प्रथम चार वर्षों में विचित्र तप किया जाता है और उसके पारण में मथेष्ट भोजन किया जाता है। दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप किया जाता है, किन्तु पारण में विकृति का त्याग किया जाता है।

निशोथचूर्णि (भाग ३ पृ २९४) के अनुसार बारहवें वर्ष में क्रमशः आहार की इस प्रकार कमी की जाती है, जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हों। उस वर्ष के अंतिम चार महीनों में मुंह में तैल भरकर रखा जाता है। उसका प्रयोजन है—मुख्यत्र नमस्कारमंत्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो।

आचाम्ल, छह प्रकार के बाह्य तप, भिक्षुप्रतिमा—ये सब शरीरसंलेखना के साधन हैं। संलेखना के लिए वही तप स्वीकार करना चाहिए, जो द्रव्य क्षेत्र, काल और शरीरधातु के अनुकूल हो। देखें—उत्तरजम्भयणाणि ३०।१३ का टिप्पण)

#### ४. संलेखना के अतिचार

अपच्छिमा मारणतिया संलेहणाभूसणाराहणया ।

इभीसे समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा—इह्लोगासंसप्पओगे परलोगासंसप्पओगे जीविया-संसप्पओगे मरणासंसप्पओगे कामभोगासंसप्पओगे ।

(आव परि पृ २३)

अंतिम समय में की जाने वाली तपस्था और अनशन की आराधना का नाम है—मारणातिक संलेखना व्रत। इसके पांच अतिचार हैं—

१. इहलोक संबन्धी सुखों की अभिलाषा।
२. परलोक संबन्धी सुखों की अभिलाषा।
३. जीने की आकांक्षा।
४. मरने की आकांक्षा।
५. काम-भोग की आकांक्षा।

संवर भावना—आश्रवों का निरोध करने वाले उपायों की अनुप्रेक्षा। (द्र. अनुप्रेक्षा)

संसार भावना—संसार की नाना परिणतियों का चिन्तन। (द्र. अनुप्रेक्षा)

संस्थान—आकृति, शरीर के अवयवों अथवा परमाणु-पुद्गलों की रचना।

#### १. शरीर के संस्थान

- \* संस्थान : नाम कर्म की प्रकृति (द्र. कर्म)
- \* संस्थान प्रकृति का क्षय (द्र. गुणस्थान)
- \* यौगलिकों के संस्थान (द्र. मनुष्य)
- \* अवधिज्ञान, इन्द्रिय और सिद्धों का संस्थान (द्र. संबद्ध नाम)
- \* संस्थान और सामायिक-प्राप्ति (द्र. सामायिक)

#### २. वृषभ संस्थान वाली वसति

#### ३. पौद्गलिक संस्थान

#### ४. संस्थानों के प्रकार

#### ५. संस्थानसंरचना : परमाणुओं का इतरेतर संयोग

#### १. शरीर के संस्थान

...समच्चउरंसे नग्गोहपरिमंडले साईं खुण्जे वामण हुंढे । (अनु २३५)

समाः शास्त्रोक्तलक्षणाविसंवादिन्यश्चतुर्दिगवर्तिनः अवयवरूपाश्चतस्रोऽज्ञयो यत्र तत् समच्चतुरस्रं संस्थानं;

तुल्यारोहपरिणाहः सम्पूर्णलक्षणोपेताङ्गोपाङ्गावयवः स्वङ्गुलाष्टाधिकशतोच्छ्रयः सर्वसंस्थानप्रधानः पञ्चेन्द्रिय-जीवशरीराकारविशेषः । नाभेरुपरि न्यग्रोधवन्मण्डल-माद्यसंस्थानलक्षणयुक्तत्वेन विशिष्टाकारं न्यग्रोधमण्डलं, न्यग्रोधो—वटवृक्षः, यथा चायमुपरि वृत्ताकारतादिगुणोपेत-त्वेन विशिष्टाकारो भवत्यधस्तु न तथा एवमेतदपीति भावः । सह आदिना नाभेरधस्तनकायलक्षणेन वर्तते सादि ।  
.....यत्र पाणिपादशिरोश्रीवं समग्रलक्षणपरिपूर्णं शेषं तु हृदयोदरपृष्ठलक्षणं कोष्ठं लक्षणहीनं तत् कुब्जम् । यत्र तु हृदयोदरपृष्ठं सर्वलक्षणोपेतं शेषं तु हीनलक्षणं तद्वामनं, कुब्जविपरीतमित्यर्थः । यत्र सर्वेऽप्यवयवाः प्रायो लक्षण-विसंवादिन एव भवन्ति तत्संस्थानं हुण्डम् ।

(अनुमवृ प ९३)

संस्थान के छह प्रकार हैं—

समचतुरस्र—जिसमें चारों कोण समान होते हैं, शरीर की ऊंचाई और चौड़ाई समान होती है, सम्पूर्ण अवयव प्रमाणोपेत होते हैं, ऊंचाई आत्मांगुल से १०८ अंगुल होती है, वह समचतुरस्र संस्थान कहलाता है । यह केवल पंचेन्द्रिय जीवों के होता है ।

न्यग्रोधपरिमंडल—न्यग्रोध (वटवृक्ष) की तरह जिसमें नाभि से ऊपर के अवयव प्रमाणोपेत होते हैं और नाभि से नीचे के अवयव प्रमाणोपेत नहीं होते, वह न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान है ।

सादि—जिसमें नाभि से नीचे का भाग लक्षण युक्त हो, वह सादि संस्थान है ।

कुब्ज—जिसके हाथ, पैर, सिर और शीवा लक्षण-युक्त हों, हृदय, उदर और पीठ लक्षणहीन हों, पीठ पर पुद्गलों का अधिक संचय हो, वह कुब्ज संस्थान है ।

वामन—जिसमें हृदय, उदर और पीठ लक्षणयुक्त हों, शेष अवयव लक्षणहीन हों, वह वामन संस्थान है ।

हुण्ड—जिसमें सब लक्षण विसंवादी होते हैं, शरीर के सब अवयव प्रायः प्रमाणहीन और असंस्थित होते हैं, वह हुण्ड संस्थान है ।

(आहारक शरीर का संस्थान समचतुरस्र तथा औदारिक आदि शरीरों का संस्थान नाना प्रकार का होता है ।

तेजस्काय सूचीकलाप संस्थान से तथा वायुकाय

पताका संस्थान से संस्थित हैं । विकलेन्द्रिय, नैरयिक, सम्मूर्च्छिम तिर्यच, सम्मूर्च्छिम मनुष्य—इनके हुण्ड संस्थान होता है । शेष पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य छहों संस्थान वाले होते हैं । देवों का संस्थान समचतुरस्र होता है । देखें—पण्यवणा पद २१)

## २. वृषभ संस्थान वाली वसति

सिंगवखोडे कलहो ठाणं पुण नेव होइ चलणेसुं ।

अहिठाणि पोट्टुरोगो पुच्छंमि अ फेडणं जाण ॥

(ओभा ७६)

० वृषभ रूप क्षेत्र के शृंगप्रदेश में वसति (प्रवास स्थल) होने से कलह होता है ।

० पादप्रदेश में वसति होने से अवस्थिति नहीं होती ।

० अपानप्रदेश में वसति होने से उदर रोग होते हैं ।

० पुच्छ प्रदेश में होने से वसति छीन ली जाती है ।

० मुख प्रदेश पर होने से पर्याप्त आहार की प्राप्ति होती है ।

० शिर (शृङ्ग मध्य) और ककुद भाग में होने से पूजा-सत्कार होता है ।

० स्कन्ध और पृष्ठ प्रदेश पर होने से वसति समागत सामुओं से समाकीर्ण रहती है ।

० उदर प्रदेश में होने से तृप्ति मिलती है ।

(वाम पार्श्व में पूर्वाभिमुख उपविष्ट वृषभ रूप क्षेत्र की कल्पना के आधार पर उपर्युक्त कथन है ।)

## ३. पौद्गलिक संस्थान

संतिष्ठतेऽनेन रूपेण पुद्गलात्मकं वस्त्विति संस्थानम् —आकारविशेषः ।...संतिष्ठन्त एभिर्स्कन्धाद्य इति संस्थानानि । (उसुवृ प २६, ६७७)

पौद्गलिक वस्तुओं अथवा पुद्गलस्कन्धों के जो विविध आकार हैं, वे संस्थान कहलाते हैं ।

## ४. संस्थान के प्रकार

इत्यमित्थं तिष्ठति इत्थंस्थं, न तथा अनित्थंस्थम्, अनेन नियतपरिमण्डलाद्यन्यतराकारं संस्थानं शेषोऽनियता-ऽऽकारस्तु स्कन्धः । (उशावृ प २७)

संस्थान के दो प्रकार हैं—

१. इत्थंस्थ—परिमण्डल आदि नियत आकार ।

२. अनित्थंस्थ—अनियत आकार ।

संठाणपरिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिथा ।

परिमण्डला य वट्टा, तंसा चउरंसमायया ॥

(उ ३६।२१)

परिमण्डलं—बहिर्वृत्ततावस्थितप्रदेशजनितमन्तः-

शुषिरः यथा बलयस्थ । वृत्तं—तदेवान्तःशुषिरविरहितं

यथा कुलालचक्रस्य । व्यस्रं—त्रिकोणं, यथा शृङ्गाटकस्य ।

चतुरस्रं—चतुष्कोणं, यथा कुम्भिकायाः । आयतं—दीर्घं,

यथा दण्डस्य । (उशावृ प २७)

पौद्गलिक संस्थान के पांच प्रकार हैं—

१. परिमण्डल—बलय की तरह बाहर से गोल और भीतर से शुषिर ।

२. वृत्त—कुलालचक्र की तरह बाहर से गोल तथा अन्दर से पोलाल रहित ।

३. व्यस्र—सिंघाड़े की तरह त्रिकोण ।

४. चतुरस्र—कुम्भिका की तरह चतुष्कोण ।

५. आयत—दण्ड की तरह दीर्घ ।

परिमंडलसंठाणे, भइए से उ वण्णओ ।

गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥

(उ ३६।४६)

जो पुद्गल संस्थान से परिमण्डल है, (वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण अथवा आयत है) वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है ।

५. संस्थानसंरचना : परमाणुओं का इतरेतर संयोग

परिमंडले य वट्टे तंसे चउरंसमायए चेव ।

घणपय्तर पढमबज्जं ओयपएसे य जुम्मे य ॥

(उत्ति ३८)

परिमण्डल, वृत्त, व्यस्र, चतुरस्र और आयत—इन पांच संस्थानों के दो-दो प्रकार हैं—प्रतर और घन ।

प्रतर और घन के दो-दो प्रकार हैं—

ओजःप्रदेश (विषम संख्यक परमाणु) और युग्म-प्रदेश (समसंख्यक परमाणु) ।

परिमण्डल समसंख्यक अणुओं में ही होता है, अतः परिमण्डल वर्जित वृत्त आदि के चार-चार भेद होते हैं, जैसे—

१. ओजःप्रदेश प्रतरवृत्त ३. ओजःप्रदेश घनवृत्त

२. युग्मप्रदेश प्रतरवृत्त ४. युग्मप्रदेश घनवृत्त ।

परिमण्डलादि प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं च, तत्रोत्कृष्टं सर्वमनन्ताणुनिष्पन्नमसंख्यप्रदेशावगाढं चेत्येकरूपतया-ऽनुक्तमपि सम्प्रदायाज्जातुं शक्यमिति तदुपेक्ष्य अघन्यं तु प्रतिभेदमन्यान्यरूपतया न तथेति तदुपदर्शनार्थमाह—

पंचग बारसगं खलु सत्तग बत्तीसगं तु वट्टंमि ।

तिय छककग पणतीसा चत्तारि य हुंति तंसंमि ॥

नव चेव तहा चउरो सत्तावीसा य अट्ट चउरंसे ।

तिगदुगपन्नरसेऽवि य छच्चेव य आयए हुंति ॥

पणयालीसा बारस छब्भेया आययंमि संठाणे ।

वीसा चत्तालीसा परिमंडलि हुंति संठाणे ॥

इत्थं चैषां प्ररूपणमितोऽपि न्यूनदेशतायां यथोक्त-संस्थानासम्भवात्, न चैतान्यतीन्द्रियत्वेनातिशायिगम्यत्वात् सर्वथाऽनुभवमारोपयितुं शक्यन्ते, स्थापनादिद्वारेण च कथञ्चिच्छक्यानीति तथैव दशितानि ।

(उत्ति ३९-४१ शावृ प २७-२९)

परिमण्डल आदि पांचों संस्थान जघन्य और उत्कृष्ट—दोनों प्रकार के होते हैं । जो उत्कृष्ट हैं, वे सब अनंत अणुनिष्पन्न और असंख्य प्रदेशावगाढ होने से एक रूप हैं, अतः परम्परा से जाने जा सकते हैं ।

जघन्य परिमंडल आदि संस्थानों के भेदों में एकरूपता नहीं है । प्रत्येक भेद की भिन्नता इस प्रकार उप-दशित है—

वृत्त संस्थान

१. ओजःप्रदेश प्रतरवृत्त—यह पांच अणुओं से निष्पन्न, पांच आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है—एक अणु मध्य में और चार अणु चार दिशाओं में स्थापित किये जाते हैं ।

२. युग्मप्रदेश प्रतरवृत्त—यह बारह अणुओं से निष्पन्न और बारह आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है—चार प्रदेशों पर मध्य में निरन्तर चार अणु और उसके परिक्षेप में आठ अणु स्थापित किये जाते हैं ।

३. ओजःप्रदेश घनवृत्त—यह सात अणुओं से निष्पन्न और सात प्रदेशों में अवगाढ होता है—पांच अणुओं वाले प्रतरवृत्त के मध्य स्थित अणु के ऊपर और नीचे एक-एक अणु की स्थापना ।

४. युग्मप्रदेश घनवृत्त—बत्तीस अणु बत्तीस आकाश-प्रदेशों में अवगाढ—प्रतरवृत्तके बारह अणुओं पर अन्य बारह अणु और उनके ऊपर-नीचे चार-चार अणु स्थापित करने पर जघन्य युग्मप्रदेश घनवृत्त संस्थान बनता है।

### त्र्यस्र संस्थान

१. ओजःप्रदेश प्रतरत्र्यस्र—तीन अणुओं से निष्पन्न त्रिप्रदेशावगाढ—दो अणु तिर्यक् स्थापित कर प्रथम अणु के नीचे एक अणु स्थापित करने से यह संस्थान बनता है।
२. युग्मप्रदेश प्रतरत्र्यस्र—छह अणुओं से निष्पन्न छह प्रदेशों में अवगाढ—तीन अणु तिर्यक् स्थापित कर प्रथम अणु के नीचे अधःऊर्ध्व-भाव से दो अणु और द्वितीय अणु के नीचे एक अणु स्थापित करने से यह संस्थान बनता है।
३. ओजःप्रदेश घनत्र्यस्र—पच्चीस अणु पच्चीस आकाशप्रदेशों में अवगाढ—पांच अणु तिर्यक् स्थापित कर उनके नीचे-नीचे क्रमशः चार, तीन, दो और एक अणु की तिर्यक् स्थापना और इस प्रतर के ऊपर सब पंक्तियों के अन्तिम-अन्तिम अणु का परिहार कर शेष दस अणुओं की स्थापना, उसी प्रकार उनके ऊपर-ऊपर छह, तीन और एक अणु की क्रमशः स्थापना करने से यह संस्थान बनता है।
४. युग्मप्रदेश घनत्र्यस्र—चार अणु चार आकाशप्रदेशों में अवगाढ—तीन अणु वाले प्रतरत्र्यस्र के किसी एक अणु पर एक अन्य अणु स्थापित करने से यह संस्थान बनता है।

### चतुरस्र संस्थान

१. ओजःप्रदेश प्रतरचतुरस्र—नौ अणु नौ आकाशप्रदेशों में अवगाढ—तीन-तीन अणु तीन पंक्तियों में तिर्यक् स्थापित करने से यह संस्थान बनता है।
२. युग्मप्रदेश प्रतरचतुरस्र—चार अणु चार आकाश-प्रदेशों में अवगाढ—दो-दो अणुओं की दो पंक्तियों में तिर्यक् स्थापना।
३. ओजःप्रदेश घनचतुरस्र—सत्ताईस अणु सत्ताईस आकाशप्रदेशों में अवगाढ—नौ अणुओं वाले प्रतर-

चतुरस्र के नीचे और ऊपर नौ-नौ अणुओं की तिर्यक् स्थापना।

४. युग्मप्रदेश घनचतुरस्र—आठ अणु आठ आकाश प्रदेशों में अवगाढ—चार अणु वाले प्रतरचतुरस्र के ऊपर चार अन्य अणुओं की स्थापना।

### आयत संस्थान

१. ओजःप्रदेश श्रेणिआयत—तीन अणु तीन आकाश-प्रदेशों में अवगाढ—तीन अणुओं की तिर्यक् स्थापना।
२. युग्मप्रदेश श्रेणिआयत—दो अणु द्विप्रदेशावगाढ—दो अणुओं की तिर्यक् स्थापना।
३. ओजःप्रदेश प्रतरायत—पन्द्रह अणु पन्द्रह प्रदेशों में अवगाढ—पांच-पांच अणुओं की तीन पंक्तियों में तिर्यक् स्थापना।
४. युग्मप्रदेश प्रतरायत—छह अणु छह प्रदेशों में अवगाढ—तीन-तीन अणुओं की दो पंक्तियों में तिर्यक् स्थापना।
५. ओजःप्रदेश घनायत—पैंतालीस अणु पैंतालीस प्रदेशों में अवगाढ—पन्द्रह अणुओं वाले प्रतरायत के नीचे और ऊपर पन्द्रह-पन्द्रह अणुओं की तिर्यक् स्थापना।
६. युग्मप्रदेश घनायत—बारह अणु बारह प्रदेशों में अवगाढ—छह अणुओं के प्रतरायत के ऊपर छह अणुओं की तिर्यक् स्थापना।

### परिमंडल संस्थान

१. प्रतर परिमंडल—बीस अणु बीस प्रदेशों में अवगाढ—पूर्व आदि चार दिशाओं में चार-चार और चार विदिशाओं में एक-एक अणु की स्थापना।
  २. घन परिमंडल—चालीस अणु चालीस प्रदेशों में अवगाढ—बीस अणुओं के प्रतर परिमंडल पर अन्य बीस अणुओं की स्थापना।
- इस प्रकार इस प्ररूपण से फलित होता है कि यहां निर्दिष्ट संख्या से एक भी अणु कम हो तो यथेष्ट संस्थान निर्मित नहीं हो सकता। यद्यपि यह विषय अतिशायी अतीन्द्रिय ज्ञानियों द्वारा ही गम्य है, सामान्य ज्ञानी इसका सर्वथा अनुभव में आरोपण नहीं कर सकते, फिर भी स्थापना आदि के द्वारा जितना संभव हुआ है, उतना प्ररूपित किया गया है।

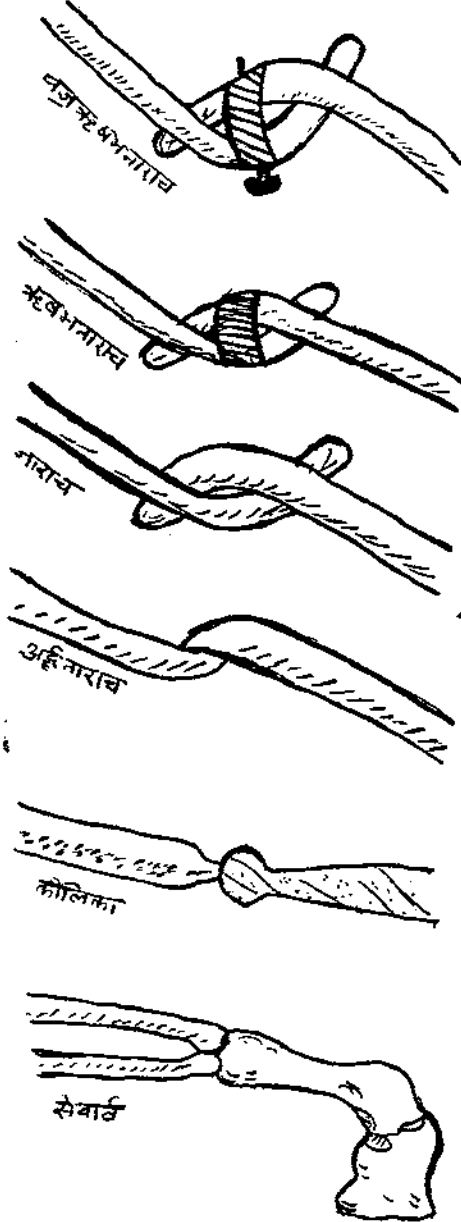
परमाणुओं के संयोग से निर्मित संस्थानों की स्थापना

ओजः प्रदेश प्रसक्त  
 ५ प्रदेश १३ प्रदेश  
 युग्म प्रदेश प्रसक्त  
 ४ प्रदेश  
 त्रिक प्रदेश प्रसक्त  
 ३ प्रदेश  
 युग्म प्रदेश प्रसक्त  
 ६ प्रदेश  
 सौजः प्रदेश चतुर्भुज  
 १५ प्रदेश  
 १० प्रदेश  
 ९ प्रदेश  
 ६ प्रदेश  
 ३५ प्रदेश  
 ४ प्रदेश  
 ४ प्रदेश  
 प्रतरपरिमंडल २० प्रदेश  
 ओजः प्रदेश प्रतर चतुर्भुज  
 ९ प्रदेश  
 युग्म प्रदेश प्रतर चतुर्भुज  
 ४ प्रदेश  
 ओजः प्रदेश श्लेषाद्यत  
 ३ प्रदेश  
 युग्म प्रदेश श्लेषाद्यत  
 ४ प्रदेश  
 ओजः प्रदेश प्रतराद्यत  
 १५ प्रदेश  
 युग्म प्रदेश प्रतराद्यत  
 ६ प्रदेश

## संहनन—अस्थि-संरचना ।

वज्ररिसभणारायं पदमं बितियं च रिसभणारायं ।  
णाराय अद्धणारायं कीलिया तह य छेवट्ठं ॥  
रिसभो उ होइ पट्टो वज्जं पुण कीलिया मुण्येव्वा ।  
उभओ मक्कडबंघं णारायं तं वियाणाहि ॥  
(आवहावृ १ पृ २२५)

## संहनन



वज्ररिसभणारायं नाम वज्रबंधो वज्रवेढो वज्र-  
कीलिया य, बितिए वेढओ णथि खीलिया, ततिए ण  
वेढओ णवि खीलिया, चउत्थं एगओ बद्धं, पंचमं  
दुहओवि अबद्धं, छट्ठं णवरं कोडीए मिलितं ।

(आवचू १ पृ १२९, १३०)

संहनन के छह प्रकार हैं—

१. वज्रऋषभनाराच—वज्र का अर्थ है कील, ऋषभ का अर्थ है वेष्टन और नाराच का अर्थ है मर्कट-बन्ध (परस्पर गूंथी हुई आकृति) । जिस संहनन में अपनी माता की छाती से चिपके हुए मर्कट-बन्दर के बच्चे की-सी आकृति वाली संधि की दोनों हड्डियां परस्पर गूंथी हुई हों, उन पर तीसरी हड्डी का परिवेष्टन हो और चौथी हड्डी की कील उन तीनों का भेदन करती हुई हो, ऐसी सुवृद्धतम अस्थि-रचना को वज्रऋषभनाराच संहनन कहा जाता है ।
२. ऋषभनाराच—इसमें हड्डियों की आंटी और वेष्टन होते हैं, कील नहीं होती ।
३. नाराच—इसमें केवल हड्डियों की आंटी होती है लेकिन वेष्टन और कील नहीं होते ।
४. अर्धनाराच—इसमें हड्डी का एक छोर मर्कट-बन्ध से बंधा हुआ होता है तथा दूसरा छोर कील से भेदा हुआ होता है ।
५. कीलिका—इसमें हड्डियां केवल एक कील से जुड़ी हुई होती हैं, मर्कट-बन्ध आदि कुछ नहीं होते ।
६. सेवासं—इसमें हड्डियां पर्यन्तभाग में एक-दूसरे से स्पर्श करती हुई-सी रहती हैं ।

संहतिः संहननमस्थिसंचयविशेषः ।

(विभामवृ २ पृ १६१)

इह चेत्यभूतास्थिसञ्चयोपमितः शक्तिविशेषः संह-  
ननमुच्यते न त्वस्थिसञ्चय एव, देवानामस्थिरहितानामपि  
प्रथमसंहननयुक्तत्वात् । (आवहावृ १ पृ २२५)

संहनन का एक अर्थ है—अस्थि-संरचना । इसका

दूसरा अर्थ है—अमुक-अमुक प्रकार के अस्थि-संचय से उपमित शक्ति-विशेष । देवों के शरीर में अस्थियां नहीं होतीं, किन्तु वे प्रथम संहननयुक्त होते हैं अर्थात् उनमें प्रथम संहनन जितनी शक्ति होती है ।

### अर्धनाराच संहनन का विच्छेद

अञ्जवइरा.....तंमि य भगवन्ते अर्धनारायसंघयणं वस पुव्वाणि य वोच्छिण्णा ।

(आवहावृ १ पृ २०२, २०३)

आर्य वज्र (वी० नि० की छठी शताब्दी) के पश्चात् दश पूर्वी की परम्परा तथा अर्धनाराच संहनन—ये दोनों विच्छिन्न हो गए ।

संहनन : नाम कर्म की प्रकृति (द्र. कर्म)

संहनन प्रकृति का अय (द्र. गुणस्थान)

योगिकों का संहनन (द्र. मनुष्य)

संहनन और सामायिक (द्र. सामायिक)

सकाममरण—संयमी का मरण । (द्र. मरण)

सत्य-भाषा—भाषा का एक प्रकार । (द्र. भाषा)

सत्य-महाव्रत—महाव्रत का एक प्रकार । (द्र. महाव्रत)

सत्य-व्रत—श्रावक का एक व्रत । (द्र. श्रावक)

समभिर्हृद्—पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थ में भेद करने वाला विचार । (द्र. नय)

समय—काल का सर्वसूक्ष्म भाग । (द्र. काल)

समयक्षेत्र—मनुष्यलोक । (द्र. लोक)

समवसरण—तीर्थकरों की परिषद्, प्रवचनस्थल ।

### बारह प्रकार की परिषद्

एककेककीय दिसाए तिमं तिमं होइ सन्निविट्ठं तु ।

आदिचरिमे विमिस्सा थीपुरिसा सेस पत्तेयं ॥

(आवनि ५६१)

प्रत्येक दिशा में एक-एक त्रिक होता है—

१. दक्षिण-पूर्व में—साधु, वैमानिक देवियां और साध्वियां ।
२. दक्षिण-पश्चिम में—भवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों की देवियां ।
३. उत्तर-पश्चिम में—भवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देव ।
४. उत्तर-पूर्व में—वैमानिक देव, मनुष्य और स्त्रियां ।

बारह प्रकार की इस परिषद् में प्रथम और अन्तिम

त्रिक में स्त्री-पुरुष दोनों हैं । दूसरे त्रिक में केवल स्त्रियां और तीसरे त्रिक में केवल पुरुष हैं । यह प्रथम परकोटे की अवस्थिति है ।

आयाहिण पुव्वमुहो तिदिंसि पडिह्वगा उ देवकया ।

जेट्टगणी अण्णो वा दाहिणपुव्वे अदूरंमि ॥

तित्थाइसेससंजय देवी वेमाणियाण समणीओ ।

भवणवइवाणमंतर जोइसियाणं च देवीओ ॥

भवणवई जोइसिया बोद्धवा वाणमंतरसुरा य ।

वेमाणिया य मणुया पायाहिणं जं च निस्साए ॥

(आवनि ५५६, ५५८, ५६०)

तीर्थकर पूर्वाभिमुख विराजमान होते हैं । शेष तीन दिशाओं में देवता तीर्थकर के प्रतिरूपों का निर्माण करते हैं । तीर्थकर के समीप दक्षिण-पूर्व दिशा में गणधर बैठते हैं । उनके पीछे-पीछे क्रमशः केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, ऋद्धिसम्पन्न मुनि तथा अन्य सब मुनि बैठते हैं । उनके पीछे वैमानिक देवियां तथा साध्वियां खड़ी रहती हैं । दक्षिण-पश्चिम दिशा में क्रमशः भवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों की देवियां खड़ी रहती हैं । उत्तर-पश्चिम दिशा में भवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देव खड़े रहते हैं । उत्तर-पूर्व दिशा में वैमानिक देव, मनुष्य और महिलाएं खड़ी रहती हैं ।

बिहयंमि होंति तिरिया तइए पागारमंतरे जाणा ।

पागारजडे तिरियासवि होंति पत्तेय मिस्सा वा ॥

(आवनि ५६३)

दूसरे परकोटे में तिर्यक (पशु-पक्षी) होते हैं । तीसरे परकोटे में यान-वाहन रहते हैं । परकोटे के बाहर तिर्यक भी होते हैं, मनुष्य और देव भी हो सकते हैं ।

### प्राकार रचना

जत्थ अपुव्वोसरणं जत्थ व देवो महिद्धिओ एइ ।

वाउदयपुप्फवह्लपामारतियं च अभिओगा ॥

(आवनि ५४४)

जिस क्षेत्र में अपूर्व अथवा भूतपूर्व समवसरण होता है, वहां महर्द्धिक देव आते हैं ।

आभियोगिक देव धूलि आदि को साफ करने के लिए वहां वायु की विकुर्वणा करते हैं, भावी रेणु के संताप की शांति के लिए जलवृष्टि एवं भूमी की विभूषा के लिए पुष्पवृष्टि करते हैं । फिर तीन प्राकारों की रचना करते हैं ।



अभन्तर मञ्जु बहि विमाणजोइभवणाहिवकया उ ।  
पागारा तिण्णि भवे रयणे कणणे य रये य ॥

(आवनि ५४९)

वैमानिक देव भीतरी रत्नमय परकोटे की रचना करते हैं। ज्योतिष्क देव मध्य में स्वर्णमय और भवनपति देव बाहरी रजतमय परकोटे की रचना करते हैं।

चेइदुमपेदछन्दयं च आसणछत्तं चामराओ य ।

जं चऽण्णं करणिज्जं करेति तं वाणमंतरिया ॥

(आवनि ५५३)

समवसरण में भगवान के शरीर प्रमाण से बारह गुणा ऊंचा अशोक वृक्ष होता है। उसके नीचे रत्नमयपीठ होता है। उसके ऊपर देवछंदक होता है। उस पर सिंहासन और सिंहासन के ऊपर छत्र होते हैं। यक्षों के हाथ में चामर होते हैं और पद्म पर धर्मचक्र होता है। शेष करणीय कार्यों की रचना व्यन्तर देव करते हैं।

तिस्थपणामं काउं कहेइ साहारणेण सदेणं ।

सव्वेसि सण्णीजं जोयणणीहारिणा भगवं ॥

(आवनि ५६६)

प्रवचन करने से पूर्व तीर्थंकर तीर्थ को प्रणाम करते हैं (यह निर्युक्तिकार की मान्यता है), फिर सर्वसामान्य शब्दों में प्रवचन करते हैं। उनकी वाणी योजनव्यापी होती है और उससे समवसरणस्थ सभी संज्ञी प्राणियों की जिज्ञासाएं शांत हो जाती हैं। यह भगवान् का अतिशय-विशेष है।

मणुए चउमण्णयरं तिरिए तिण्णि व दुवे व पडिवज्जे ।

जइ णत्थि नियमसो च्चिय सुरेसु सम्मत्तपडिवत्ती ॥

(आवनि ५६५)

भगवान् के समवसरण में मनुष्य चारों प्रकार की सामायिक, तिर्यंच तीन अथवा दो प्रकार की सामायिक स्वीकार करते हैं। प्रथम समवसरण में यदि सामायिक ग्रहण करने वाले मनुष्य और तिर्यंच नहीं होते हैं तो देवता निश्चित रूप से सम्यक्त्व सामायिक स्वीकार करते हैं।

**समवायांग**—अंगप्रविष्ट आगम। (द्र. अंगप्रविष्ट)  
**समाधि**—समाधान। चैतसिक स्वास्थ्य।

समाधिः—चेतसः स्वास्थ्यम् । समाधानं समाधिः ।

स च द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यसमाधिर्यदु-  
पयोगात्स्वास्थ्यं भवति । यथा वा पयःशर्करादिद्रव्याणां  
परस्परमविरोधः । भावसमाधिस्तु ज्ञानादीनि, तदुपयोगा-  
देवानुपमस्वास्थ्ययोगात् । (उशावृ प ६६, ५५०)

समाधि का अर्थ है—चित्त की स्वस्थता, समाधान।  
समाधि के दो प्रकार हैं—

द्रव्यसमाधि और भावसमाधि। द्रव्यसमाधि का अर्थ है—वे साधन जिनके उपयोग से शारीरिक स्वास्थ्य बना रहता है, जैसे—दूध और शर्करा। ये द्रव्य परस्पर अविरोधी हैं और इनसे स्वास्थ्यलाभ होता है।

भावसमाधि का अर्थ है—अनुपम स्वास्थ्य की उप-  
लब्धि। यह है आध्यात्मिक स्वास्थ्य और इसके उपयोगी साधन हैं—ज्ञान, दर्शन आदि।

समाधिः—चित्तस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगाः शुभमनो-  
वाक्कायव्यापाराः समाधियोगाः । यद्वा समाधिश्च शुभ-  
चित्तिकाप्रता योगाश्च—पृथगेव प्रत्युपेक्षणादयो व्यापाराः  
समाधियोगाः । (उशावृ प २९६)

समाधियोग के दो अर्थ हैं—

१. चित्त की स्वस्थता से युक्त मन, वचन और काया की प्रवृत्ति।

२. शुभचित्त की एकाग्रता से होने वाली प्रत्युपेक्षणा आदि प्रवृत्तियां।

समाधानं समाधिः—परमार्थत आत्मनो हितं सुखं  
स्वास्थ्यम् । (दहावृ प २५६)

समाधि का अर्थ है—आत्मा का हित, सुख और स्वास्थ्य।

**समाधि के प्रकार**

चत्तारि विणयसमाहिट्ठाना पन्नत्ता, तंजहा—विनय-  
समाही सुयसमाही तवसमाही आयारसमाही ।

(द ९।४। सूत्र ३)

विनय-समाधि के चार प्रकार हैं—

विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और  
अचर-समाधि।

**विनय-समाधि**

चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ, तं जहा—  
अणुसासिज्जंतो सुस्सुसइ, सम्मं संपडिवज्जइ, वेयमाराहयइ,  
न य भवइ अत्तसंपगहिए । (द ९।४। सूत्र ४)

विनय-समाधि के चार प्रकार हैं—

१. शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है।
२. अनुशासन को सम्यग् रूप से स्वीकार करता है।
३. वेद (ज्ञान) की आराधना करता है अथवा अनु-  
शासन के अनुकूल आचरण कर आचार्य की वाणी

को सफल बनाता है।

४. आत्मोत्कर्ष नहीं करता।

### श्रुत-समाधि

चउन्विहा खलु सुयसमाही भवइ, तं जहा—

१. सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
  २. एमग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
  ३. अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
  ४. ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
- (द ९।४। सूत्र ५)

श्रुत-समाधि के चार प्रकार हैं—

१. मुझे श्रुत प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
२. मैं एकाग्र-चित्त होऊंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
३. मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
४. मैं धर्म में स्थित होकर दूसरों को उसमें स्थापित करूंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

### तप-समाधि

चउन्विहा खलु तवसमाही भवइ, तं जहा—

१. नो इह्लोगदुयाए तवमहिट्ठेज्जा।
  २. नो परलोगदुयाए तवमहिट्ठेज्जा।
  ३. नो कित्तिवण्णसट्ठिसिलोगदुयाए तवमहिट्ठेज्जा।
  ४. नन्नत्थ निज्जरदुयाए तवमहिट्ठेज्जा।
- (द ९।४। सूत्र ६)

तप-समाधि के चार प्रकार हैं—

१. इहलोक (वर्तमान जीवन की भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।
२. परलोक (पारलौकिक भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।
३. कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप नहीं करना चाहिए।
४. निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए।

आचार-समाधि (द्र. आचार)

### समिति—सम्यक् प्रवृत्ति।

#### १. समिति की परिभाषा

#### २. समिति के प्रकार

#### ३. ईर्या समिति

- ईर्या के आलम्बन आदि
- अविधि गमन का निषेध
- \* भिक्षागमन : विधि-निषेध (द्र. गोचरचर्या)
- \* गमनमार्ग का निर्धारण (द्र. भ्रमण)
- ईर्यासमित : अहिंसक
- \* भाषा समिति, एषणा समिति (द्र. संबद्ध नाम)

#### ४. आदान-निक्षेप समिति

#### ५. उत्सर्ग समिति

- उत्सर्ग योग्य स्थण्डिल भूमि
- शव-परिष्ठापन विधि
- \* आहार-जल परिष्ठापन विधि (द्र. आहार)

#### ६. पांच समितियों के उदाहरण

#### ७. समिति-गुप्ति : प्रवचनमाता

#### ८. समिति के आठ प्रकार

#### ९. समिति और गुप्ति : एक विमर्श

### १. समिति की परिभाषा

समिति :—सम्यक् सर्ववित्प्रवचनानुसारितया इति—  
आत्मनः चेष्टा समितिः तान्त्रिकी सञ्ज्ञा ईर्यादिचेष्टासु पञ्चसु।  
(उशावृ प ५१४)

जिनप्रवचन के अनुरूप प्रवृत्ति करना समिति है। यह जैनसिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है।

जहा जलमज्जे गच्छमाणा अपरिस्सवा नावा जलकंतरं वीईवयइ न य विणासं पावइ।...एवं साहूवि जीवाउले लोणे गमणादीणि कुव्वमाणो संवरियासवदुवारत्तणेण संसारजलकंतरं वीयीवयइ। संवरियासवदुवारस्स न कुओवि भयमत्थि।  
(दजिचू पृ १५९)

जिस प्रकार निश्छिद्र नौका जल में तैरती हुई भी डूबती नहीं और समुद्र के पार पहुंच जाती है, वैसे ही इस जीवाकुल लोक में संयमपूर्वक गमन आदि करता हुआ संवृतात्मा भिक्षु संसार-समुद्र का पार पा लेता है। जिसने आश्रवरूपी छिद्रों को बन्द कर दिया, उसको कहीं से भी भय नहीं है।

## २. समिति के प्रकार

पंचहिं समिर्हीहि—इरियासमिर्ही भासासमिर्हीए  
एसणासमिर्हीए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिर्हीए उच्चार-  
पासवण-खेल-सिघाण-जल्ल-पारिट्टावणिथासमिर्हीए ।

(आव ४।८)

### समिति के पांच प्रकार—

ईर्या समिति—गमनागमन संबंधी अहिंसा का विवेक ।

भाषा समिति—भाषा सम्बन्धी अहिंसा का विवेक ।

एषणा समिति—आहार, वस्त्र आदि के ग्रहण और उपयोग संबंधी अहिंसा का विवेक ।

आदान समिति—दैनिक व्यवहार में आनेवाले पदार्थों के व्यवहृरण संबंधी अहिंसा का विवेक ।

उत्सर्ग समिति—उत्सर्ग सम्बन्धी अहिंसा का विवेक ।

## ३. ईर्या समिति

ईरणमीर्या—गतिपरिणामः ।

(उशावृ प ५१४)

गतिपरिणाम—गमन में सम्यक् प्रवृत्त होना ईर्या-समिति है ।

जयं नाम उवउत्तो जुमंतरदिट्ठी दट्ठुण तसे पाणे उद्धट्टपाए रीएज्जा ।

(दजिचू पृ १६०)

संयमपूर्वक चलने का अर्थ है—ईर्यासमिति में सावधान हो युगप्रमाण भूमि को देखते हुए चलना, मार्ग में चौंटी आदि त्रस प्राणी आ जाए तो पैर को ऊंचा उठाकर (अन्यत्र रखकर) चलना ।

### ईर्या के आलम्बन आदि

आलंबणेण कालेण, मग्गेण जयणाइ य ।

चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए ॥

तत्थ आलंबणं नाणं, दंसणं चरणं तहा ।

काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पहवज्जिए ॥

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।

जयणा चउच्चिहा वुत्ता,..... ॥

दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ ।

कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥

(उ २४।४-७)

संयमी मुनि आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों से परिशुद्ध ईर्या (गति) से चले ।

ईर्या का आलम्बन है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ।

ईर्या का काल है—दिवस ।

ईर्या का मार्ग है—उत्पथ का वर्जन ।

ईर्या की यतना है—

० द्रव्य से—देखते हुए चलना ।

० क्षेत्र से—युगमात्र भूमि को देखते हुए चलना ।

० काल से—जब तक चले तब तक देखते हुए चलना ।

० भाव से—गमन में दत्तचित्त रहना ।

इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्जायं चेव पंचहा ।

तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते इरियं रिए ॥

(उ २४।८)

इन्द्रियों के विषयों और पांच प्रकार के स्वाध्याय का वर्जन कर, ईर्या में तन्मय हो, उसे प्रमुख बना, उपयोग-पूर्वक चले ।

ईर्यायां मूर्तिः—शरीरमर्थाद् व्याप्रियमाणा यस्यासौ तन्मूर्तिः तथा तामेव पुरस्करोति—तत्रैवोपयुक्ततया प्राधान्येनाङ्गीकुरुत इति तत्पुरस्कारः । अनेन काय-मनसोस्तत्परतोक्ता, वचसो हि तत्र व्यापार एव न समस्ति । एवमुपयुक्तः सन्नीर्या रीयेत यतिः ।

(उशावृ प ५१६)

जिसका शरीर ईर्या में ही व्यापृत होता है, वह तन्मूर्ति है । जो उसी में उपयुक्त हो जाता है—ईर्या को ही प्रधान बनाकर चलता है, वह तत्पुरस्कार है । काया और मन का ईर्या में ही लगे रहना गमन की उपयुक्तता है । उसमें वचन का व्यापार ही नहीं होता । इस प्रकार मुनि उपयुक्त होकर गमन करे ।

### अविधि-गमन का निषेध

ओवायं विसमं छाणुं, विज्जलं परिवज्जए ।

संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए ।

हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥

(द ५।१।४,५)

मुनि दूसरे मार्ग के होते हुए गड्ढे, उबड़-खाबड़ भूभाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल और पंक्ति मार्ग को टाले तथा संक्रम (जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाणरचित पुल) के ऊपर से न जाये ।

वहाँ गिरने या लड़खड़ा जाने से वह संयमी त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करता है । गिरने पर

हाथ, पैर आदि टूटने से आत्मविराधना होती है । त्रस और स्यावर जीवों की हिंसा होने से संयम की विराधना होती है अतः मुनि ऐसे मार्ग का वर्जन करे ।

#### ईर्यासमित : अहिंसक

उच्चालियमि पाए ईरियासमियस्स संकमट्टाए ।

वावज्जेज्ज कुलिगी मरिज्ज तं जोगगासज्ज ॥

(ओनि ७४८)

ईर्यासमित मुनि संक्रमण के लिए अपने पैर को ऊपर उठाता है, उस समय यदि कोई कुलिगी—द्विन्द्रिय आदि प्राणी पैर के नीचे आकर मर जाए तो उस निमित्त से उसके सूक्ष्म कर्मबन्ध भी नहीं होता, क्योंकि उसके मन, वाणी औरकाया का प्रयोग सर्वात्मना निरवद्य है—यह सिद्धान्त में प्रतिपादित है ।

भाषा समिति, एषणा समिति (द्र. सम्बद्ध नाम)

#### ४. आदान-निक्षेप समिति

ओहोवहोवगमहियं, भंडगं दुविहं मुणी ।

गिण्हंतो निक्खिवंतो य, पउंजेज्ज इमं विहं ॥

चक्खुसा पडिलेहिता, पमज्जेज्ज जयं जई ।

आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहुओ वि समिए सया ॥

(उ २४।१३,१४)

सदा सम्यक् प्रवृत्त यति ओष उपधि और औप-ग्रहिक उपधि—दोनों प्रकार के उपकरणों का चक्षु से प्रतिलेखन (निरीक्षण) कर तथा रजोहरण आदि से प्रमाजन कर संयमपूर्वक उनका आदान और निक्षेपण करे—उन्हें ले और रखे—यह आदाननिक्षेप समिति है ।

उपधि का विवरण (द्र. उपधि)

उपधि की प्रतिलेखना विधि (द्र. प्रतिलेखना)

#### ५. उत्सर्ग समिति

उच्चारं पासवणं खेलं सिधाणजल्लियं ।

आहारं उवहिं देहं, अन्नं वावि तहाविहं ॥

(उ २४।१५)

मुनि उच्चार, प्रखवण, श्लेषम, नाक का मैल, मैल, आहार, उपधि, शरीर या उसी प्रकार की दूसरी कोई उत्सर्ग करने योग्य वस्तु का उपयुक्त स्थण्डिल में उत्सर्ग करे ।

आगम्म पडिक्कंतो अणुपेहे जाव चोइसवि पुब्बे ।

परिहाणि जा तिगाहा निहपमाओ जद्धो एवं ॥

(ओनि २०८)

कायिकी का परिष्ठापन करके ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करे, फिर यदि वह आनप्राणलब्धि से संपन्न हो तो चतुर्दश पूर्वों का अनुस्मरण करे । यदि ऐसा करने में समर्थ न हो तो कम से कम तीन गाथाओं की अनुप्रेक्षा अवश्य करे । इससे निद्रा-प्रमाद का परिहार होता है ।

#### उत्सर्ग योग्य स्थण्डिल भूमि

अणावायमसंलोए, अणावाए चैव होइ संलोए ।

आवायमसंलोए, आवाए चैव संलोए ॥

अणावायमसंलोए परस्सऽणुवधाइए ।

समे अज्झुसिरे यावि अचिरकालकयमि य ॥

विस्थिण्णे दूरमोगाढे नासन्ने बिलवज्जिए ।

तसपाणबीयरहिए उच्चाराईणि वोसिरे ॥

(उ २४।१६-१८)

स्थण्डिल चार प्रकार के होते हैं—

१. अनापात-असंलोक—जहां लोगों का आवागमन न हो, वे दूर से भी न दीखते हों ।

२. अनापात-संलोक—जहां लोगों का आवागमन न हो, किन्तु वे दूर से दीखते हों ।

३. आपात-असंलोक—जहां लोगों का आवागमन हो किन्तु वे दूर से न दीखते हों ।

४. आपात-संलोक—जहां लोगों का आवागमन भी हो और वे दूर से दीखते भी हों ।

जो स्थण्डिल अनापात-असंलोक, पर के लिए अनुपघातकारी, सम, अणुधिर (पोल या दरार रहित), कुछ समय पहले ही निर्जीव बना हुआ—कम से कम एक हाथ विस्तृत तथा नीचे से चार अंगुल की निर्जीव परत वाला, गांव आदि से दूर, बिलरहित और त्रस प्राणी तथा बीजों से रहित हो—उसमें उच्चार आदि का उत्सर्ग करे ।

अचिरकालकृते च दाहादिना स्वल्पकालनिर्वस्तिते, चिरकालकृते हि पुनः समूर्च्छन्त्येव पृथ्वीकायादयः ।

(उशावृ प ५१८)

स्वल्पकाल के पूर्व दग्ध स्थान सर्वथा अचित्त (जीव-रहित) होते हैं । जो चिरकाल के दग्ध स्थान हैं, वहां पृथ्वीकाय आदि के जीव पुनः उत्पन्न हो जाते हैं ।

**शवपरिष्ठापन विधि**

पडिलेहणा दिसा णंतए य काले दिया य राओ य ।  
 कुसपडिमा पाणगणियत्तणे य तणसीसउवगरणे ॥  
 उट्टाणणामगहणे पयाहिणे काउसग्गकरणे य ।  
 खमणे य असज्झाए तत्तो अवलोयणे चेव ॥  
 (आवनि १२७२, १२७३)

कालगत मुनि की निर्हरण क्रियाविधि का सोलह दृष्टियों से विचार किया गया है—

प्रतिलेखना, दिशा, वस्त्र, काल, कुशप्रतिमा, पानक, निवर्तन, तृण, शीर्ष, उपकरण, उत्थान, नामग्रहण, प्रदक्षिणा, कायोत्सर्ग, क्षपण (तप), अस्वाध्याय और अवलोकन । कूछेक का विवरण इस प्रकार है—

**प्रतिलेखना**—तीन महास्थंडिलों (जहां मृतक को परिष्ठापित किया जाता है) का निरीक्षण आवश्यक होता है—गांव के नजदीक, बीच में और गांव से दूर । इन तीनों की अपेक्षा इसलिए है कि एक के अव्यवहार्य होने पर दूसरा स्थंडिल काम में आ सके ।

**दिशा**—पश्चिमदक्षिण दिशा में स्थंडिल का निरीक्षण करना चाहिए । यह समाधि में निमित्त बनता है ।

**वस्त्र**—मृतक को ढाई हाथ लंबे श्वेत और सुगंधित वस्त्र से ढंकना चाहिये । उसके नीचे भी वसा ही एक वस्त्र बिछाना चाहिये । फिर उसको उन वस्त्रों सहित एक डोरी से बांधकर, उस डोरी को ढंकने के लिए तीसरा अति उज्ज्वल वस्त्र ऊपर डाल देना चाहिये । मलिन वस्त्रों से ढंकने से प्रवचन की अवज्ञा होता है ।

**काल**—जिस समय साधु कालगत हुआ हो, उसे उसी समय निकालना चाहिये, फिर चाहे दिन हो या रात । किन्तु रात्रि में हिम गिरता हो, हिंसक जानवरों आदि का भय हो, नगर के द्वार बंद हों, मृतक के संबंधियों ने रोकने के लिए कहा हो, मृतक मुनि आचार्य या विशिष्ट तपस्वी हो—इत्यादि कारणों से मुनि के शव को रखना पड़े तो रात्रिजागरण करना चाहिये । निद्राजयी, उपायकुशल, धैर्यशाली, शक्तिसम्पन्न और अभय मुनि शव के पास बैठकर धर्मकथा करें ।

साधु के कालगत होते ही, जब तक कि वायु से सारा शरीर अकड़ न जाए, उसके हाथ और पैरों को एकदम सीधे लम्बे फैला दें, मुंह खुला हो तो बंद कर उस पर मुखवस्त्रिका बांध दें, पैरों और हाथों के अंगुठों को रस्सी से बांध दें, मृतक के अक्षत देह में अंगुली के बीच के पर्व का कुछ छेदन करें ।

साधु के शव को देखकर मुनि विषाद न करें । आचार्य या गीतार्थ मुनि और इनके अभाव में अगीतार्थ मुनि जो इस मृतक-क्रियाविधि को जानता हो, वह विधि से शव का व्युत्सर्जन करे । स्थंडिलभूमि से उपाश्रय में आकर आचार्य के पास कायोत्सर्ग करे ।

(विशेष विवरण के लिए देखें—आवचू २ पृ० १०२-१०९ तथा ठाणं ६।३ का टिप्पण ।)

आहार-जल परिष्ठापन विधि । (द्र. आहार)

**६. पांच समितियों के उदाहरण**

एगो साहू ईरियासमिईए जुत्तो, सक्कस्स आसणं चलितं, वंदति । मिच्छद्दिट्ठी देवो आगतो, मच्छियप्प-माणो मंडुक्कियाओ विउव्वति । पिट्ठो हत्थिभयं, गति न भिदति, हत्थिणा उक्खिवित्तुं पाडितो, न सरीरं पेहति, सत्ता मारिज्जिहत्ति जीवदयापरिणतो ।

**भासासमितीए**—एगो साहू णगररोहणे भिक्खस्स निग्गतो । कडगे हिडंतो पुच्छितो—केवइया आसा हत्थो एवमादि । भणति—न सुट्ठु जाणामो—बहु सुणेति कर्णेहि—

**एसणासमितीए**—नंदीसेणो अणगारो—छट्ठक्खमओ जातो, अभिग्गहं नेण्हति—वेयावच्चं मए कायव्वं—तुरितं घेतूण पाणयं जातु । नंदीसेणो अपारितो चेव पाणयस्स गामं अतिगतो, भिक्खंतो हिडंतो देवानुभावेणं न लभति, चिरस्स लद्धं—

**अहवा इमं दिट्ठिवातियं**—पंच संजता—पाणयं मग्गति, अणेसणं लोणे करेति, न लद्धं, कालगता पंचवि ।

**दिट्ठिवाइयं**—सेट्ठिसुत्तो पव्वइतो । सेहो पंचण्हं संजतसत्ताणं जो जो एति तस्स तस्स दंडयं गहाय ठवेति—उवरि हेट्ठा य पमज्जित्ता ठवेति । एवं बहुएणवि कालेण न परितम्मति ।

दिट्ठिवाइयं—चउन्वीसं उच्चारपासवणभूमिमु

तिष्ठिण कालभूमीओ न पडिलेहेहि । भणति — किमेत्थ उट्टो उव्विसेज्ज ? देवता उट्टरूवेण तत्थ डिता ... पडि-चोदितो—कीस सत्तवीसं न पडिलेहिसि ? सम्मं पडि-वण्णो । एस पारिट्टावणिवासमितित्ति ।

(आवचू २ पृ ९३-९५)

### १. ईर्या समिति

एक मुनि ईर्या में उपयुक्त होकर विहरण कर रहे थे । इन्द्र ने देवसभा में उनके दृढ़ संकल्प की प्रशंसा की । एक देवता ने परीक्षा करने के निमित्त मुनि के मार्ग में मक्षिका प्रमाण मेंढकों की विकुर्वणा की । सारा मार्ग मेंढकों से भर गया । मुनि अपने ईर्यापथ का शोधन करते हुए चल रहे थे । गति अत्यंत मंद हो गई । इतने में ही एक हाथी चिंघाड़ता हुआ पीछे से आता-सा प्रतीत हुआ । मुनि ने अपनी गमन विधि में कोई अन्तर नहीं डाला । हाथी आया । मुनि को संघट्टित किया । मुनि भूमि पर गिर पड़े । मुनि ने शरीर पर ध्यान नहीं दिया । उन्होंने मन ही मन सोचा—मेरे नीचे गिरने से कितने जीवों की घात हो गई ? उनका मन कष्टना से ओतप्रोत हो गया ।

### २. साया समिति

किसी शत्रु राजा ने नगर को घेर लिया । बाहर छावनी के पास एक भिक्षु भिक्षा के लिए घूम रहा था । एक सुभट ने पूछा—यहां कितने चोड़े हैं ? कितने हाथी हैं ? धान्य-भंडार कितने हैं ? राजा से रुष्ट और अरुष्ट नागरिक कितने हैं ? तुम हमें बताओ । मुनि बोले—हम तो निरंतर स्वाध्याययोग और ध्यानयोग में निरत रहते हैं । पूरा दिन उसी में बीत जाता है । तब सुभट बोला—क्या घूमते हुए कुछ नहीं देखते ? कुछ नहीं सुनते ? यह कैसे संभव हो सकता है ? तब मुनि बोला—भगवान् ने हमें अनुशासना देते हुए कहा है—

‘साधु बहुत कुछ देखता है, सुनता है, पर उसका यह विवेक है कि वह सब कुछ देखा हुआ या सुना हुआ दूसरों को न कहे ।’

### ३. एषणा समिति

मगध जनपद में सालिग्राम नाम के नगर में गृहपति का पुत्र नंदीसेन रहता था । जब वह गर्भ में था तब पिता का देहावसान हो गया और जब वह छह महीने का हुआ तब माता मृत्यु की ग्रास बन गई । माना ने उसका पालन-पोषण किया । एक बार वहां नंदीवर्धन अनगर

का आगमन हुआ । नंदीसेन उनके पास प्रव्रजित हो गया । बेले-बेले की तपस्या करने लगा और यह अभिग्रह धारण कर लिया कि वह वैयावृत्य में सदा व्यापृत रहेगा । देवता ने परीक्षा करनी चाही । एक दिन नंदीसेन बेले का पारणा करने बैठा । इतने में ही देव-श्रमण ने कहा—तृषा से आकुल-व्याकुल एक मुनि अटवी में बैठा है । तत्काल कोई पानक की व्यवस्था हो । नंदीसेन उठा । पारणे को वहीं छोड़ गांव में पानक की गवेषणा करने गया । देवमाया से सभी घरों में पानक अनेषणीय था । एक स्थान पर पानक मिला । वह अटवी में गया । कोई मुनि दृष्टिगोचर नहीं हुआ, तब उसने जोर-जोर से आवाज लगाई । प्रत्युत्तर मिला । उसने देखा मुनि अतिसार से पीड़ित हैं और जर्जरित हो गए हैं । नंदीसेन उन्हें पीठ पर बिठाकर गांव की ओर चला । अतिसार से ग्रस्त मुनि ने पीठ पर ही मल-मूत्र कर दिया । नंदीसेन गांव की ओर त्वरा से चलने लगा । मुनि ने कहा तेज गति से मेरे वेदना होती है, धीरे चल । नंदीसेन अग्लानभाव से समतापूर्वक मुनि को गांव की ओर ले जा रहा था । मुनि के समताभाव को देखकर, उसने अपना मूल देवरूप प्रगट कर क्षमायाचना की ।

० पांच श्रमण साथ-साथ विहार कर रहे थे । अटवी के दीर्घ मार्ग में वे भटक गए । भूख और प्यास से अत्यंत आकुल-व्याकुल होकर वे गतिमान् थे । अटवी के बाहर निकलते ही वे वैताली गांव में पहुंचे और सबसे पहले पानक की एषणा करने लगे । वहां के लोगों ने अपने सभी घरों में पानक को अनेषणीय कर डाला । मुनियों को पानक नहीं मिला । पांचों दिवंगत हो गए ।

### ४. आदान-निक्षेप समिति

आचार्य के पास एक श्रेष्ठीपुत्र प्रव्रजित हुआ । वह पांच सौ साधुओं के उस संघ में सबसे छोटा था । पांच सौ साधुओं में से कोई भी आता, वह शैक्ष मुनि उनके दंड को ग्रहण कर, भूमि का प्रमार्जन कर उसे रखता । इस प्रकार कोई मुनि आना और कोई बाहर जाता । वह सभी के दंड लेकर व्यवस्थित रखता । यह ध्यानपूर्वक अचपल और अत्वरित होकर वह क्रिया विधिवत् करता । बहुत समय बीत जाने पर भी वह परिवलान्त नहीं हुआ । यह आदान-निक्षेप समिति के प्रति उसकी जागरूकता थी ।

### ५. उत्सर्ग समिति

उच्चार-प्रस्रवण की चौबीस भूमियां और तीन काल-भूमियां हैं। मुनि ने यह सूचकर कि क्या परिष्ठापनभूमी में ऊंट बैठे रहते हैं, उनका प्रतिलेखन नहीं किया। रात्री में प्रस्रवण की बाधा हुई, वह प्रथम भूमी में गया। वहां ऊंट बैठा हुआ था। दूसरी और तीसरी भूमी में भी ऊंट बैठा हुआ मिला। उसने तब ऊंट को वहां से उठाया। देव ने प्रतिबोध होते हुए कहा—अरे! तुम सत्ताईस भूमियों की प्रतिलेखना क्यों नहीं करते? मुनि को भूल का भान हुआ।

### ७. समिति-गुप्ति : प्रवचनमाता

अट्टपवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।

पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥

(उ २४।१)

पांच समितियां और तीन गुप्तियां—इन आठों को प्रवचनमाता कहा गया है। (द्र प्रवचनमाता)

### ८. समिति के आठ प्रकार

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।

मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्टमा ॥

एयाओ अट्ट समिईओ, समासेण वियाहिया।

दुवालसंगं जिणकखायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥

(उ २४।२,३)

समिति के आठ प्रकार हैं—

ईयांसमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-समिति, उच्चारसमिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। इनमें जिन-भाषित द्वादशांगरूप प्रवचन समाया हुआ है।

### ९. समिति और गुप्ति : एक विमर्श

प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गगमननिवारणं गुप्तिरिति वचनात्कथञ्चित्सच्चेष्टात्मकत्वात्समितिशब्द-वाच्यत्वमस्तीत्येवमुपन्यासः, यत्तु भेदेनोपादानं तत्समितीनां प्रवीचाररूपत्वेन गुप्तीनां प्रवीचाराप्रवीचारात्मकत्वेनान्योऽयं कथञ्चिद् भेदात्, तथा चागमः—

समिओ णियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।

कुसलवइभुदीरंतो जं वइगुत्तोऽवि समिओऽवि ॥

(उशावृ प ५१४)

आगमानुसारी विधि से मार्ग-व्यवस्थापन और उन्मार्ग-गमननिवारण करना गुप्ति है। सच्चेष्टात्मक होने से इसे समिति भी कहा गया है।

समिति और गुप्ति परस्पर भिन्न भी है, अभिन्न भी है। समिति केवल प्रवृत्तिरूप है, गुप्ति प्रवृत्तिनिवृत्ति-रूप है। समिति में गुप्ति नियम से होती है। गुप्ति में समिति होती भी है, नहीं भी होती। कुशल वचन बोलने वाला वचनगुप्त भी है, समिति भी है।

सच्चेष्टासु प्रवृत्तावेव समितयः, तथा गुप्तयो निवृत्तनेऽप्युक्ता अशोभनमनोयोगादिभ्यः, चरणप्रवृत्तने च, उपलक्षणं चैतत् शुभार्थेभ्योऽपि निवृत्तेः, वाक्काययोर्निर्व्यापारताया अपि गुप्तिरूपत्वात्। उक्तं हि गन्धहस्तिना— सम्यगागमानुसारेणारक्तद्विष्टपरिणतिसहचरितमनो-व्यापारः कायव्यापारो वाग्व्यापारश्च निर्व्यापारता वा वाक्काययोर्गुप्तिरिति तदनेन व्यापाराव्यापारात्मिका गुप्तिरुच्यते। (उशावृ प ५१९,५२०)

शुभ/सम्यक् कार्यों में प्रवृत्ति करना समिति है। अशुभ योगों से निवृत्ति गुप्ति है। गुप्ति प्रवृत्तन और निवृत्तन—व्यापार और निर्व्यापार दो रूप वाली है। योगों की अशुभ या शुभ प्रवृत्ति के निरोध को गुप्ति कहते हैं।

समिति का अर्थ है— शुभ योगों में प्रवृत्ति। गुप्ति के तीन रूप हैं—अशुभ योगों से निवृत्ति, शुभ योगों में प्रवृत्ति तथा शुभ योगों से भी निवृत्ति (वचन और काय योग का निर्व्यापार)।

आचार्य गंधहस्ती के अनुसार गुप्ति के दो प्रकार हैं—प्रवृत्त्यात्मक और अप्रवृत्त्यात्मक। आगम के अनुसार राग-द्वेष रहित परिणाम से मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति करना प्रवृत्त्यात्मक गुप्ति है तथा वाणी और काया की अप्रवृत्ति अप्रवृत्त्यात्मक गुप्ति है।

गुप्ति के तीन प्रकार (द्र. गुप्ति)

**सम्पूर्णच्छिन्न**—स्त्री और पुरुष के संयोग के बिना ही लोकाकाश में बिखरे हुए परमाणुओं और विशिष्ट पर्यावरण के योग से स्वतः उत्पन्न होने वाले जीव। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक सभी जीव निश्चित रूप से सम्पूर्णच्छिन्न होते हैं। तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीव दोनों

प्रकार के होते हैं—सम्पूर्णतया तथा गर्भज । सम्पूर्णतया मनुष्य मनुष्य के मूल, मूत्र आदि चौदह अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं । (द्र. मनुष्य)

सम्यक्त्व—सम्यक् दृष्टिकोण । तत्त्व के प्रति यथार्थ रुचि ।

१. सम्यक्त्व का निर्वचन

२. सम्यक्त्व का स्वरूप

० हाथी का दृष्टांत

\* प्रथिभेद और सम्यक्त्व की प्राप्ति (द्र. करण)

३. सम्यक्त्व के पर्यायवाची

४. सम्यक्त्व के प्रकार

५. औपशमिक सम्यक्त्व

\* प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्ति : तीन अभिमत

(द्र. करण)

६. सास्वादन सम्यक्त्व

७. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

० कोद्वेग का दृष्टांत

० अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का बाधक नहीं

\* अनन्तानुबन्धी कषाय : सम्यक्त्व का अभिघात

(द्र. कषाय)

\* क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति (द्र. सामायिक)

\* क्षयोपशम भाव

(द्र. भाव)

८. वेदक सम्यक्त्व

९. क्षायिक सम्यक्त्व

० अग्नि का दृष्टांत

१०. सम्यक्त्व के प्रकार : अभिमत आदि

११. कारक-रोचक-दीपक सम्यक्त्व

१२. सम्यक्त्व के लक्षण

० संबेग के परिणाम

० निर्वेद के परिणाम

१३. सम्यक्त्व के आचार

\* सम्यग् दर्शन : आचार का एक भेद (द्र. आचार)

१४. सम्यक्त्व के अतिचार

१५. सम्यक्त्व : आयुबन्ध और गति

१६. उत्कृष्ट आयुस्थिति में सम्यक्त्व-प्राप्ति

१७. मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में अन्तर

\* मिथ्यादृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (द्र. गुणस्थान)

१८. सम्यक्त्व से ज्ञान विशोधि

० सम्यक्त्व और ज्ञान में भेद

१९. सम्यक्त्व और चारित्र्य

२०. सम्यक्त्व (दर्शन) की महत्ता

२१. सम्यक्त्व के परिणाम

\* सम्यक्त्व : सामायिक का एक भेद

\* सम्यक्त्व के आकर्ष, विरहकाल, क्षेत्रस्पर्शाना ... }

(द्र. सामायिक)

१. सम्यक्त्व का निर्वचन

जीवादिवस्तुबोध प्रति समिति सम्यग् अवपरीत्येत, अञ्चति प्रवर्तते इति सम्यक्, तस्य भावः सम्यक्त्वम् ।

(विभामवृ १ पृ २४३)

तत्त्वबोध के प्रति जो सम्यक् रूप से प्रवृत्त होता है, वह सम्यक्त्व है ।

सम्यग् इति प्रशंसार्थः, दर्शनं दृष्टिः सम्यगविपरीता दृष्टिः सम्यग्दृष्टिः 'अर्थानां' इति गम्यते ।

(विभामवृ २ पृ १७५)

सम्यक् शब्द प्रशंसार्थक अव्यय है । पदार्थ के प्रति अविपरीत दृष्टि सम्यग्दृष्टि—सम्यक्त्व है ।

२. सम्यक्त्व का स्वरूप

तहियाणं तु भावाणं, सन्भावे उवएसणं ।

भावेणं सदहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥

(उ २५।१५)

नी तत्त्वों के सद्भाव के निरूपण में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है, उसके सम्यक्त्व होता है ।

दृश्यते तत्त्वमस्मिन्निति दर्शनम् । इदमपि सम्यग्रूप-मेव दर्शनमोहनीयक्षयक्षयोपशमोपशमसमुत्पादितमर्हदधि-हितजीवादितत्त्ववचिलक्षणात्मशुभभावरूपम् ।

(उशावृ प ५५६)

जिसमें तत्त्व सही रूप में दृष्टिगत होते हैं, वह सम्यग् दर्शन है । इसकी उत्पत्ति का कारण है—दर्शन-मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम । इसका लक्षण है—अर्हत्तों द्वारा निरूपित जीव, अजीव आदि तत्त्वों में रुचि ।

मिच्छत्तमयसमूहं सम्मत्तं जं च तदुक्कारम्मि ।

वट्टइ परसिद्धंते तो तस्स तयो ससिद्धंते ॥

(विभा ९५४)



एकान्त क्षणिकत्व, एकान्त नित्यत्व आदि मिथ्यात्व मतों का समूह सम्यक्त्व है यदि वह 'स्यात्' पद से युक्त है। परसिद्धांत स्वसिद्धांत का उपकारी होता है, इसलिए सम्यक्त्वी के लिए वह स्वसिद्धांत ही है क्योंकि परसिद्धांत की व्यावृत्ति से स्वसिद्धांत की सिद्धि होती है, उसके विसंवादी निरूपण को देख अपने सिद्धांत में स्थिरता होती है।

### हाथी का दृष्टांत

जमणंगधम्मणो वत्थुणो तदसे च सब्बपडिबत्ती ।  
अंधव्व गयावयवे तो मिच्छद्दिट्ठिणो वीसु ॥  
जं पुण सम्मतपज्जायवत्थुगमग त्ति समुदिया तेणं ।  
सम्मत्तं चक्खुमओ सब्बगयावयवगहणे व्व ॥

(विभा २२६९, २२७०)

हाथी के एक-एक अवयव को सम्पूर्ण हाथी समझने वाले चक्षुहीन व्यक्तियों की भांति जो अनन्तधर्मात्मक वस्तु के केवल एक धर्म में समस्त वस्तु की प्रतिपत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

हाथी के समस्त अवयवों के समुदाय को हाथी समझने वाले चक्षुमान् की तरह वस्तु के समस्त पर्यायों के समुदाय को पूर्णवस्तु मानने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।

एगं जाणं सब्बं जाणइ सब्बं च जाणमेगं ति ।

इय सब्बमयं सब्बं सम्मद्दिट्ठिस्स जं वत्थुं ॥

(विभा ३२०)

एक वस्तु को जानने वाला सब वस्तुओं को जानता है और सब वस्तुओं को जानने वाला एक वस्तु को जानता है, क्योंकि सब वस्तुएं सर्वमय होती हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि व्यक्ति (अकेवली अवस्था में) सब नहीं जानता, पर वह इस पर श्रद्धा करता है कि 'सर्वं सर्वमय है।'

एगं पि असद्दहओ जं दव्वं पज्जवं च मिच्छत्तं ।....

(विभा २७५२)

जो किसी एक तत्त्व, द्रव्य या पर्याय पर भी अश्रद्धा करता है, वह भी मिथ्यात्वो कहलाता है।

अवश्यं हि स कश्चिदात्मनः परिणामोऽस्ति येन सत्यपि जीवादिस्वरूपावबोधे कस्यचिदेव सम्यक् प्रतिपत्ति-  
र्भवति न पुनः सर्वस्य । (उशावृ प ५६३)

सम्यक्त्व निश्चित ही आत्मा का एक ऐसा परिणाम

है जिससे जीव आदि के स्वरूप का अवबोध होने पर भी किसी-किसी को ही उसकी सम्यक् प्रतिपत्ति होती है, सबको नहीं।

### ३. सम्यक्त्व के पर्यायवाची

सम्मद्दिट्ठि अमोहो सोही सम्भावदंसणं बोही ।

अविक्कजओ सुदिट्ठित्ति एवमाई निरुत्ताइ ॥

(आवनि ८६१)

सम्यक्त्व के सात पर्यायवाची हैं —

१. सम्यग्दृष्टि—अविपरीत प्रशस्त दृष्टि।
२. अमोह—अवितथ आग्रह।
३. शोधि—मिथ्यात्व का अपनयन।
४. सद्भावदर्शन—जिनप्रवचन की उपलब्धि।
५. बोधि—परमार्थ का बोध।
६. अविपर्यय—तत्त्व का निश्चय।
७. सुदृष्टि—प्रशस्त दृष्टि।

### ४. सम्यक्त्व के प्रकार

सम्मत्तपरिग्गहियं सम्मसुयं, तं च पंचहा सम्मं ।

उवसमियं सासाणं खयसमजं वेययं खइयं ॥

(विभा ५२८)

सम्यक्त्व के पांच प्रकार हैं—

१. औपशमिक
२. सास्वादन
३. क्षायोपशमिक
४. वेदक
५. क्षायिक।

### ५. औपशमिक सम्यक्त्व

खीणम्म उड्ढम्मि य अणुइज्जंते य सेसमिच्छत्ते ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥

(विभा ५३०)

उदयावलिका में प्राप्त मिथ्यात्व मोह के क्षय तथा अनुदीर्ण अवशिष्ट मोहकर्म के उपशमन से अन्तर्मुहूर्त अवधि वाला उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

उवसामगसेदिग्गयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं ।

जो वा अकयतिपुंजो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥

(विभा ५२९)

उपशम श्रेणि में आरूढ व्यक्ति के दर्शन सप्तक की प्रकृतियों का उपशम होने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता

है। अथवा जो तीन पुंज (शुद्ध, मिश्र, अशुद्ध) नहीं बनाता, जिसका मिथ्यात्व क्षीण नहीं होता, उसके औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

उपशम श्रेणी : मोह उपशम की प्रक्रिया।

(द्र. गुणस्थान)

औपशमिक भाव।

(द्र. भाव)

प्रथम बार औपशमिक सम्यक्त्व ...

(द्र. करण)

## ६. सास्वादन सम्यक्त्व

उवसमसम्मत्ताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स।

सासायणसम्मत्तं तयंतरालम्मि छावलियं ॥

इहान्तरकरणे औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां जघन्यतः समयशेषायां, उत्कृष्टतस्तु षडावलिकावशेषायां वर्तमानस्य कस्यचिदनन्तानुबन्धिकषायोदयो भवति। अतस्तेन कषायोदयेनौपशमिकसम्यक्त्वाच्चयवमानस्य मिथ्यात्वमद्याप्य-प्राप्नुवतोऽत्रान्तरे जघन्यतः समयं, उत्कृष्टतस्तु षडावलिका सास्वादनसम्यक्त्वम्।

(विभा ५३१ मवृ पृ २४२)

सम्यक्त्वप्राप्ति की प्रक्रिया में अन्तरकरण में औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। उसका कालमान अन्तर्मुहूर्त है। जब उस काल का जघन्यतः एक समय अथवा उत्कृष्टतः छह आवलिका जितना काल शेष रहता है, उस समय जिस जीव के अन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है, किन्तु जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, तब तक उसके सास्वादन सम्यक्त्व होता है। इसका कालमान जघन्यत एक समय, उत्कृष्टतः छह आवलिका है।

द्वित्रिचतुरिन्द्रियास्तु करणापर्याप्तावस्थायां पूर्वभवायातं सास्वादनसम्यक्त्वम्। (आवमवृ प ३९)

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त अवस्था में पूर्वभव से आयातित सास्वादन सम्यक्त्व होता है।

सास्वादन गुणस्थान

(द्र. गुणस्थान)

## ७. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

दंसणमोहस्स खवोवसमेण अणंताणुबंधिअणुदए मिच्छत्तस्स सब्बघातिफहुमाण उदयवखते तेषामेव सदुवसमे सम्मत्तमोहणीयस्स उदये। (आवन् १ पृ ९७)

दर्शनमोह का क्षयोपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। अनन्तानुबन्धीचतुष्क का अनुदय, उदयप्राप्त मिथ्यात्व के सर्वघाति स्पर्धकों का क्षय तथा

विद्यमान (अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय में आने वाले) स्पर्धकों का उपशम होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। इसमें सम्यक्त्व मोहनीय का उदय रहता है।

मिच्छत्तं जमुदण्णं तं खीणं अणुदयं य उवसंतं।

मीसीभावपरिणयं वेहज्जंतं खवोवसमं ॥

(विभा ५३२)

उदीर्ण मिथ्यात्व का क्षय और अनुदीर्ण मिथ्यात्व का उपशम—दोनों का मिश्रण चलता रहता है, इस मिश्रीभाव परिणत अवस्था का वेदन करना क्षयोपशम सम्यक्त्व है।

यदुदीर्णमुदयमागतं मिथ्यात्वं तद् विपाकोदयेन वेदितत्वात् क्षीर्णं निर्जीर्णं, यच्च शेषं सत्तायामनुदयागतं वर्तते तदुपशान्तम्। उपशान्तं नाम विष्कम्भितोदयमपनीत-मिथ्यास्वभावं च शेषमिथ्यात्वं, मिथ्यात्व-मिश्रपुञ्जावाश्रित्य विष्कम्भितोदयं, शुद्धपुञ्जमाश्रित्य पुनरपनीत-मिथ्यास्वभावमित्यर्थः। ...तस्य विपाकेन साक्षादनुभूयमान-त्वादिति। ...अपनीतमिथ्यास्वभावत्वात् स्वरूपेणऽनुदयात् तस्याऽप्यनुदीर्णतोपचारः क्रियते। अनुदीर्णत्वमशुद्धमिश्र-पुञ्जद्वयरूपस्य मिथ्यात्वस्यैव योज्यते, न तु सम्यक्त्वस्य, तस्यापनीतमिथ्यास्वभावत्वलक्षणमुपशान्तत्वमेव योज्यते। ...शुद्धपुञ्जलक्षणं मिथ्यात्वमपि क्षयोपशमाभ्यां निर्वृत्त-त्वात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमुच्यते। शोधिता हि मिथ्यात्व-पुद्गला अतिस्वच्छवस्त्रमिव दृष्टेयथावस्थिततत्त्वहृद्यध-वसायरूपस्य सम्यक्त्वस्याऽऽवारका न भवन्ति।

(विभा मवृ १ पृ २४३)

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का अर्थ है उदीर्ण मिथ्यात्व का विपाकोदय में वेदन कर उसे क्षीण कर देना तथा शेष अनुदीर्ण मिथ्यात्व का उपशम करना। यहाँ उपशम दो रूप वाला है -

१. मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व—दर्शनमोह के इन तीन पुंजों में से प्रथम दो पुंजों के उदय का विष्कम्भित होना।

२. सम्यक्त्वमोह के पुंज का शुद्ध (मिथ्या स्वभाव से रहित) होना।

यद्यपि इसमें सम्यक्त्वमोह का मन्द विपाकोदय रहता है, किन्तु वह स्वरूप से इस सम्यक्त्व में बाधक नहीं बनता, इसलिए उसको उपचार से अनुदीर्ण कहा गया है।

अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि अशुद्ध और मिश्र पुंज वाला मिथ्यात्व अनुदीर्ण तथा शुद्ध पुंज वाला मिथ्यात्व उपशांत रहता है ।

उदीर्ण मिथ्यात्व का क्षय और अनुदीर्ण मिथ्यात्व का उपशम—इन दो भावों के मिश्रण में परिणत शुद्ध पुंज लक्षण वाले मिथ्यात्व का वेदन होता है, यही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है । क्षय और उपशम से निर्वर्तित मिथ्यात्व को ही उपचार से सम्यक्त्व कहा गया है । क्योंकि शोधित मिथ्यात्व के पुद्गल तत्त्वहृत्ति रूप सम्यक्त्व के आवारक नहीं होते ।

### कोद्रव का दृष्टांत

अपुञ्जेण त्तिपुंजं मिच्छत्तं कुण्ड कोद्वोवमथा ।  
अनियट्टीकरणेण उ सो सम्महंसणं लहइ ॥

(विभा १२१८)

जैसे कोद्रव धान्य के शोधन के आधार पर तीन पुंज किए जाते हैं—शुद्ध, अर्धशुद्ध और अविशुद्ध । उसी प्रकार जीव अपूर्वकरण के द्वारा मिथ्यात्व का शोधन कर उसके तीन पुंज करता है । अनिवृत्तिकरण के द्वारा जीव इस शुद्धपुंज को प्राप्त होकर सम्यक्दर्शन प्राप्त कर लेता है ।

वेएइ संतकम्मं खओवसमिएसु नाणुभावं सो ।....

स क्षयोपशमावस्थकषायवाञ्जीवः क्षायोपशमिकेभवनन्तानुबन्ध्यादिषु तत्संबन्धि सत्कर्माऽनुभवति—  
प्रदेशकर्म वेदयति, न विपाकतस्तु तान् वेदयति ।

(विभा १२९३ मवृ पृ ४८५)

क्षयोपशम सम्यक्त्व में अनंतानुबन्धी कषाय का प्रदेशोदय के रूप में वेदन होता है, विपाकोदय के रूप में वेदन नहीं होता ।

संजोयणाइयाणं नणूदयो संजयस्स पडिसिद्धो ।

सच्चमिह सोऽणुभावं पडुच्च न पएसकम्मं तु ॥

(विभा १२९४)

संयमी के अनंतानुबन्धी कषाय आदि का उदय नहीं रहता । यह निषेध विपाकोदय की अपेक्षा से है, प्रदेशोदय का प्रतिषेध नहीं है ।

अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का बाधक नहीं

किह दंसणाइघाओ न होइ संजोयणाइ वेदयओ ।

मंदरणुभावयाए जहाणुभावम्मि वि कहिच्चि ॥

निच्चोदिन्नंति जहा सयलचउण्णाणिणो तदावरणं ।

न विघाइ मंदयाए पएसकम्मं तहा नेयं ॥

(विभा १२९७, १२९८)

जैसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान के आवारक कर्मों का मंद विपाकोदय रहता है, किंतु मंद अनुभाव के कारण वह विपाकोदय मतिज्ञान अदि में बाधक नहीं बनता, वैसे ही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में अनंतानुबन्धी कषाय का प्रदेशोदय रहता है, किन्तु वह उस सम्यक्त्व में बाधक नहीं बनता ।

### ८. वेदक सम्यक्त्व

वेययसम्मत्तं पुण सब्बोइयचरमपोग्गलावत्थं ।....

(विभा ५३३)

जब दर्शनसप्तक की प्रकृतियां प्रायः क्षीण हो जाती हैं और सम्यक्त्वमोह के चरम पुद्गलों का वेदन होता है, तब वेदक सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

### ९. क्षायिक सम्यक्त्व

....खीणे दंसणमोहे तिविहम्मि वि खाइयं होइ ।

(विभा ५३३)

अनन्तानुबन्धिकषाय चतुष्टय के क्षीण होने के अनन्तर मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय के क्षीण होने पर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

निव्वलियमयण कोद्वरूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं ।

खीणं न उ जो भावो सद्दहणालक्खणो तस्स ॥

सो तस्स विसुद्धयरो जायइ, सम्मत्तपोग्गलवखयओ ।

दिट्ठि व्व सण्हसुद्धभपडलविगमे मणूसस्स ॥

जह सुद्धजलाणुगयं वत्थ सुद्धं जलक्खए सुतरं ।

सम्मत्त सुद्धपोग्गलपरिक्खए दंसणं पेवं ॥

(विभा १३१९-१३२१)

सम्यक्त्व मोह की कर्मप्रकृति के क्षीण होने पर मिथ्यात्व ही क्षीण होता है न कि तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्व । शोधित मदन कोद्रव की तरह शोधित मिथ्यात्व पुद्गलों को ही यहां उपचार से सम्यक्त्व कहा गया है । इन सम्यक्त्वपुद्गलों के क्षीण होने पर जीव का श्रद्धानरूप भाव विशुद्धतर होता है । जैसे कि श्लक्ष्ण

शुद्ध अभ्रपटल के छंट जाने पर मनुष्य आकाश को स्पष्टता से देख पाता है ।

जैसे साफ धोया हुआ गीला वस्त्र सूख जाने पर पूर्ण निर्मल हो जाता है, वैसे ही सम्यक्त्वमोह के पुद्गल क्षीण हो जाने पर सम्यक्त्व निर्मल होता है ।

सेसन्नाणावगमे सुद्वयरं केवलं जहा नाणं ।

तह् खाइयसम्मत्तं खओवसमसम्मविगमम्मि ॥

(विभा १३२२)

जैसे चार ज्ञानों का अपगम होने पर शुद्ध केवलज्ञान प्रकट होता है, वैसे ही क्षयोपशम सम्यक्त्व के दूर होने पर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

### अग्नि का दृष्टांत

खीणा निम्वाय हुयासणो व छारपिहिय ध्व उवसंता ।

दरविज्जायविहाडियजलणोवम्मा खओवसमा ।

(विभा १२५६)

बुझी हुई अग्नि के समान क्षीण कषाय, राख से ढकी अग्नि के समान उपशांत कषाय और आधी बुझी हुई तथा खंडित अग्नि के समान क्षयोपशम कषाय है ।

### १०. सम्यक्त्व के प्रकार : अभिगम आदि

#### दो प्रकार का सम्यक्त्व

सम्मत्तं दुविहं—अभिगमसम्मत्तं निसग्गसम्मत्तं च ।

(आवचू २ पृ १३४)

सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं—अभिगम सम्यक्त्व और निसर्ग सम्यक्त्व ।

#### दस प्रकार का सम्यक्त्व

निसग्गुवएसरुई, आणारुइ सुत्तवीयरुइमेव ।

अभिगमवित्थाररुई, किरियासंखेवधम्मरुई ॥

(उ २८।१६)

रुचि (सम्यक्त्व) के दस प्रकार हैं—निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि ।

#### निसर्गरुचि

भूयत्थेणाह्मिगया, जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।

सहसम्मइयासवसंवरो य, रोएइ उ निसग्गो ॥

जो जिणदिट्ठे भावे चउन्विहे सदुहाइ सयमेव ।

एमेव नन्नह त्ति य निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥

(उ २८।१७-१८)

जो परोपदेश के बिना जातिस्मृति, प्रतिभा आदि के

द्वारा जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आलस, संवर आदि तत्त्वों को भूतार्थ—यथार्थ मानता है और उन पर श्रद्धा करता है, वह निसर्गरुचि है ।

जो जिनेन्द्र द्वारा दृष्ट तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशेषित पदार्थों पर स्वयं ही—'यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है'—ऐसी श्रद्धा रखता है, उसे निसर्गरुचि कहते हैं ।

निसर्गो नाम सभावो, जथा सावगपूत्तनत्तुयाणं कुलपरंपरागतं निसग्गसम्मत्तं भवति, जहा वा सयंभुरमण-मच्छाण पडिमासंठिताणि साहुसंठिताणि य पउमाणि मच्छए वा दट्ठूणं कम्माणं खओवसमेणं निसग्गसम्मत्तं भवति ।

(आवचू २ पृ १३४)

निसर्ग का अर्थ है—स्वभाव । जैसे श्रावक के पुत्रों तथा पीत्रों को जो कुलपरंपरागत सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वह निसर्ग सम्यक्त्व कहलाता है । अथवा जैसे स्वयं-भूरमण समुद्र में रहने वाले मत्स्यों को प्रतिमा के आकार वाले तथा साधु के संस्थान वाले पक्षों को देखकर तद्-आवरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने पर नैसर्गिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

#### उपदेशरुचि

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सहहई ।

छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥

(उ २८।१९)

जो दूसरों—छद्मस्थ या केवली के द्वारा उपदेश प्राप्त कर इन भावों पर श्रद्धा करता है, वह उपदेशरुचि वाला है ।

#### आज्ञारुचि

रागो दोसो मोहो, अण्णाणं जस्स अवगयं होइ ।

आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥

(उ २८।२०)

जो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के दूर हो जाने पर वीतराग की आज्ञा में रुचि रखता है, वह आज्ञारुचि है ।

#### सूत्ररुचि

जो सुत्तमहिज्जन्तो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।

अणेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥

(उ २८।२१)

जो अंग प्रविष्ट या अंग-बाह्य सूत्रों को पढ़ता हुआ

उनके द्वारा सम्यक्त्व पाता है, वह सूत्ररुचि है।

### बीजरुचि

एनेण अणेगाइं, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।

उदए व्व तेत्तलंबिदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥

(उ २८।२२)

पानी में डाले हुए तेल की बूंद की तरह जो सम्यक्त्व एक पद (तत्त्व) से अनेक पदों में फैलता है, उसे बीजरुचि कहते हैं।

### अभिगमरुचि

सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।

एक्कारस अंगाइं पइण्णं दिट्ठिवाओ य ॥

(उ २८।२३)

जिसे ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान अर्थ सहित प्राप्त है, वह अभिगमरुचि है।

जीवाजीवपुण्णपावासवसंवरनिज्जरबंधमोक्खेसु परिच्छित्तनवपदत्थाभिगमपच्चइयं अभिगमसंमत्तं ।

(आवचू २ पृ १३४)

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन नौ तत्त्वों को जानकर उनके अस्तित्व के प्रति आस्थावान् होना अभिगम सम्यक्त्व है।

### विस्ताररुचि

दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा ।

सव्वाहि नयविहीहि य, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥

(उ २८।२४)

जिसे द्रव्यों के सब भाव सभी प्रमाणों और सभी नय-विधियों से उपलब्ध हैं, वह विस्ताररुचि है।

### क्रियारुचि

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु ।

जो किरियाभारुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥

(उ २८।२५)

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में जिसकी वास्तविक रुचि है, वह क्रियारुचि है।

### संक्षेपरुचि

अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो ।

अचिसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥

(उ २८।२६)

जिसमें कुदृष्टि (एकांतवाद) की पकड़ नहीं है, उसे

संक्षेपरुचि जानना चाहिए। वह जिन-प्रवचन में विशारद नहीं होता और अन्य दर्शनों का भी जानकार नहीं होता।

### धर्मरुचि

जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।

सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥

(उ २८।२७)

जो जिन-प्ररूपित अस्तिकाय-धर्म, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म में श्रद्धा रखता है उसे धर्मरुचि जानना चाहिए।

### ११. कारक-रोचक-दीपक सम्यक्त्व

सम्मत्तसामादयं—कारकं रोचकं दीपकं । कारकं जथा साधूर्णं । रोचकं सेजियादीणं । दीपकं अभवसिद्धियस्स, मिच्छदिट्ठिस्स वा भवसिद्धियस्स । अभवसिद्धियस्स कहं ? सो एक्कारस अंगाइं पठति न य सद्दहति, धम्मं च कहेति, एयं दीपकं । (आवचू १ पृ ४३६)

यस्मिन् सम्यक्त्वे सति सदनुष्ठानं श्रद्धते सम्यक् करोति सदनुष्ठानमिति कारकं, यत्तु सदनुष्ठानं रोचयत्येव केवलं न पुनः कारयति तत् रोचकं, यत् स्वयं तत्त्वश्रद्धानहीन एव मिथ्यादृष्टिः परस्य धम्मकथाविभिस्तत्त्वश्रद्धानं दीपयति—उत्पादयति तस्य परिणाम-विशेषः कारणे कार्यापचारात् सम्यक्त्वं दीपकमुच्यते ।

(आवमवृ प ४३४)

सम्यक्त्व के तीन प्रकार हैं—

१. कारक सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व के होने पर व्यक्ति सम्यक् आचरण करता है। जैसे साधु।

२. रोचक सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व के होने पर व्यक्ति सदनुष्ठान में केवल रुचि रखता है, क्रिया नहीं करता। जैसे—सम्राट् श्रेणिक आदि।

३. दीपक सम्यक्त्व—इसका शाब्दिक अर्थ है—सम्यक्त्व को दीप्त करना। तत्त्वश्रद्धा से शून्य मिथ्यादृष्टि व्यक्ति भी धर्मकथा आदि के द्वारा दूसरों में तत्त्व-श्रद्धा उत्पन्न कर देता है। कारण में कार्य का उपचार कर उसके इस उद्दीपन के परिणाम विशेष को दीपक सम्यक्त्व कहा गया है। अभव्य और मिथ्यादृष्टि भव्य के यह सम्यक्त्व होता है। अभव्य व्यक्ति भी आचार आदि ग्यारह अंग पढ़ सकता है, किन्तु उन पर श्रद्धा नहीं करता।

## १२. सम्यक्त्व के लक्षण

सम्मत्ते पसत्यसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसम-  
खयसमुत्थे पसमसंवेगादिंलगे सुभे आयपरिणामे पणत्ते ।

(आवचू २ पृ २७५)

प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणः ।

(आवहावृ २ पृ ६८)

आत्मा का वह शुभ परिणाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है, जो मिथ्यात्वमोह और भिष्वमोह के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। इसमें प्रशस्त सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का अनुवेदन होता है।

इसके पांच लक्षण हैं—

प्रशम - क्रोध आदि कषायों की शांति ।

संवेग—मोक्ष की अभिलाषा ।

निर्वेद - संसार से विरति ।

अनुकम्पा - प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव ।

आस्तिक्य - आत्मा, कर्म आदि में विश्वास ।

परमत्वसंघवो वा मुदिट्टपरमत्वसेवणा वा वि ।

वावत्तकुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥

(उ २८।२८)

परमार्थ का परिचय, परमार्थदृष्टियों की सेवा, व्यापन्न दर्शनी (सम्यक्त्व से शून्य) और कुदर्शनी व्यक्तियों का वर्जन, यह सम्यक्त्व का श्रद्धान है।

### संवेग के परिणाम

संवेगेण अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ । अणुत्तराए धम्म-  
सद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणताणुबंधिकोहमाणमाया-  
लोभे खवेइ, कम्म न बंधइ । तप्पच्चइयं च ण मिच्छत्त-  
विसोहि काऊण दंसणाराहए भवइ । दंसणविसोहीए य ण  
विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्जइ । सोहीए  
य ण विसुद्धाए तच्चं पुणे भवग्गहणं नाइक्कमइ ।

(उ २९।२)

संवेग (मोक्ष की अभिलाषा) से जीव अनुत्तर धर्म-  
श्रद्धा को प्राप्त होता है। अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से तीव्र संवेग को प्राप्त करता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है। नये कर्मों का संग्रह नहीं करता। कषाय के क्षीण होने से प्रकट होने वाली मिथ्यात्व-विशुद्धि कर दर्शन (सम्यक् श्रद्धान) की आरा-  
धना करता है। दर्शनविशोधि के विशुद्ध होने पर कई एक जीव उसी जन्म से सिद्ध हो जाते हैं और कुछ

उसके विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते—उसमें अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं।

### निर्वेद के परिणाम

निर्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छेएसु कामभोगेसु निव्वेयं  
हव्वमागच्छइ, सब्बविसएसु विरज्जइ । सब्बविसएसु  
विरज्जमाणे आरंभपरिच्चायं करेइ । आरंभपरिच्चायं  
करेमाणे संसारमग्गं वोच्छेदइ, सिद्धिमग्गे पड्विन्ने य  
भवइ ।

(उ २९।३)

निर्वेद (भव-वैराग्य) से जीव देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी कामभोगों में तीव्र ग्लानि को प्राप्त होता है, सब विषयों से विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता है। आरम्भ का परित्याग करता हुआ संसारमार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धिमार्ग को प्राप्त करता है।

## १३. सम्यक्त्व के आचार

निस्संकिंय निक्कखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।

उववूह थिरीकरणे वच्छत्त पभावणे अट्ट ॥

(उ २८।३१)

शङ्कितं—देशसर्वशङ्कात्मकं तस्याभावो निःशङ्कितम् ।

कांक्षितं—युक्तियुक्तत्वादिहिसाद्यभिधायित्वाच्च शाक्यो-  
लूकादिदर्शनान्यपि सुन्दराण्येवेत्यन्यान्यदर्शनग्रहात्मकं  
तदभावो निःकाङ्क्षितम् । विचिकित्सा - फलं प्रति  
सन्देहो यथा—किमियतः क्लेशस्य फलं स्यादुत नेति ?  
किममी यतयो मलदिग्धदेहाः ? प्रासुकजलस्नाने हि क  
इव दोषः स्यादित्यादिका निन्दा तदभावो निवचिकित्सं  
निव्विजुग्गुप्सं वा ।

अमूढा ऋद्धिमत्कुतीधिकदर्शनेऽयनवगीतमेवासमदृशंन-  
मिति मोहविरहिता सा चासौ दृष्टिश्च बुद्धिरूपा अमूढ-  
दृष्टिः । उपबृंहणमुपबृंहणा—दर्शनादिगुणान्वितानां सुलब्ध-  
जन्मानो युयं युक्तं च भवादृशामिदमित्यादिवचोभिस्तत्तद्-  
गुणपरिवर्द्धनम् । स्थिरीकरणं च - अभ्युपगमधर्मानुष्ठानं  
प्रति विषीदतां स्थैर्यापादनम् । वात्सल्यं - सार्धमिकजनस्य  
भक्तपानादिनोचितप्रतिपत्तिकरणम् । प्रभावना - स्वती-  
र्थोन्नतिहेतुचेष्टासु प्रवर्तनात्मिका । (उशावृ प ५६७)

सम्यक्त्व के आठ आचार हैं—

१. निःशंकित - शंका का अर्थ है—संदेह । जिनभाषित

तत्त्व के प्रति अंशतः या सर्वतः संदेह न होना नि शंकित (सम्यक्त्व का प्रथम अंग) है।

२. निष्कांक्षित—बौद्ध, वैशेषिक आदि दर्शन भी युक्ति युक्त हैं, अहिंसा के व्याख्याता हैं, इसलिए ये भी सुन्दर हैं—इस प्रकार अन्यान्य दर्शनों के अभिमत को ग्रहण करने की इच्छा कांक्षा है और उसका अभाव निष्कांक्षा है।

३. निर्विचिकित्सा—विचिकित्सा के दो अर्थ हैं—  
१. धर्म के फल में संदेह, जैसे—इस कष्टमयी साधना का फल होगा या नहीं ?

२. जुगुप्सा, निन्दा—इन भुनियों के शरीर पर मूल क्यों है ? प्रासुक जलस्नान में क्या दोष है ?  
इस प्रकार धर्मफल में संदेह न करना और मूल आदि से धृणा न करना निर्विचिकित्सा है।

४. अमूढदृष्टि—ऋद्धि संपन्न कुतीथिकों को देखकर भी जिसकी बुद्धि मूढ/विपरीत नहीं होती, वह अमूढ-दृष्टि है।

५. उपबृंहण—जो दर्शन आदि गुणों से संपन्न हैं उन व्यक्तियों के गुणों का उपबृंहण—संवर्धन या संकीर्तन करते हुए कहना—आपका जन्म सुलब्ध है। आप जैसे व्यक्तियों के लिए यह उचित है, यह उपबृंहण है।

६. स्थिरीकरण—धर्ममार्ग से विचलित हो रहे व्यक्तियों को पुनः स्थिर करना स्थिरीकरण है।

७. वात्सल्य—साधमिक व्यक्तियों को यथायोग्य आहार, वस्त्र, पानी आदि देना, गुह, ग्लान तथा शैक्ष साधुओं की विशेष सेवा करना वात्सल्य है।

८. प्रभावना—तीर्थ की उन्नति में हेतुभूत चेष्टा करना प्रभावना है।

## १४. सम्यक्त्व के अतिचार

सम्मतस्स .....इमे पंच भइयारा जाणियव्वा.....

तं जहा—संका कंखा वितिगिच्छा परपासंडपसंसा, पर-पासंडसंधयो। (आवहावू २ पृ २१४)

सम्यक्त्व के पांच अतिचार हैं—

१. शंका—लक्ष्य के प्रति संदेह।

२. कांक्षा—लक्ष्य के विपरीत दृष्टिकोण के प्रति अनुरक्ति।

३. विचिकित्सा—लक्ष्यपूर्ति के साधनों के प्रति संशय-शीलता।

४. परपाषण्डप्रशंसा—लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालों की प्रशंसा।

५. परपाषण्डसंस्तव—लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालों का परिचय।

## १५. सम्यक्त्व : आयुबंध और गति

सम्महिट्ठी जीवो विमाणवज्जं ण बंधए आउं।

जइवि ण सम्मतजडो अहव ण बद्धाउओ पुंवि ॥

(वहावू प ११३)

सम्यक्दृष्टि जीव यदि सम्यक्त्व से च्युत न हुआ हो अथवा पूर्वबद्धायु न हो तो वह वैमानिक देव के सिवाय अन्य आयुष्य का बंध नहीं करता।

विराधितसम्यक्त्वो हि षष्ठपृथ्वीं यावद् गृहीतेनाऽपि सम्यक्त्वेन सैद्धान्तिकमतेन कश्चिदुत्पद्यते। कर्मग्रन्थिकमतेन तु वैमानिकदेवैभ्योऽन्यत्र तिर्यङ् मनुष्यो वान्तेनैव क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेनोत्पद्यते, न गृहीतेन। सप्तमपृथिव्यां पुनरुभयमतेनाऽपि वान्तेनैव तेनोपजायते।

(विभामवू १ पृ २०८)

सम्यक्त्व की विराधना करने वाला कोई जीव छठी नरकभूमि तक सम्यक्त्व लेकर भी जा सकता है—यह सैद्धान्तिक मान्यता है। कर्मग्रन्थ के अभिमत में वैमानिक देवों को छोड़कर तिर्यंच और मनुष्य क्षयोपशम सम्यक्त्व के वान्त होने पर ही छठी नरक भूमि तक उत्पन्न हो सकते हैं, सम्यक्त्व को साथ लेकर वे वहां उत्पन्न नहीं हो सकते। सातवीं नरक में वान्त सम्यक्त्वों ही जा सकते हैं—यह उभयमत सम्मत है।

कोऽपि सम्यग्दृष्टिः श्रुतज्ञानी पूर्वं नरके बद्धायुष्कः पश्चाद् विराधितात्यक्तसम्यक्त्वः षष्ठपृथिव्यामिलिकागत्या समुत्पद्यमानो लोकस्य पञ्च चतुर्दशभागान् स्पृशति।

(विभामवू २ पृ १७४, १७५)

जो सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी नरक आयुष्य का बंध करने के पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह सम्यक्त्व की विराधना कर सम्यक्त्व सहित जब इलिका गति से छठी नरकभूमि में उत्पन्न होता है, तब वह चौदह रज्जु वाले लोकाकाश के पांच रज्जु-प्रमाण भाग का स्पर्श करता है।

आगमनं वि निसिद्धं चरिमाउ एइ जं तिरिक्खेसु ।

सुरनारमा य सम्महिट्ठी जं एंति मणुएसु ॥

‘सत्तममहिनेरइया तेऊवाऊअणंतरुब्बटा, न य पावे माणुस्सं ।’ सुरनारकाएव सम्यक्त्वसहिता यस्माद् मनुष्येष्वे-  
वाऽऽयान्ति, अतः सामर्थ्यात् तिर्यगतिगामिनः सप्तम-  
पृथ्वीनारका मिथ्यात्वसहिता एवाऽऽगच्छन्ति ।

(विभा ४३१ मवृ पृ २०८)

सातवीं पृथ्वी के नैरयिक गृहीतसम्यक्त्वी के रूप में उद्वृत्त नहीं होते, इसलिए वे मनुष्य गति में उत्पन्न नहीं होते । वे मिथ्यात्वी होने के कारण तिर्यच गति में ही उत्पन्न होते हैं । तैजस्कायिक और वायु-कायिक जीव भी मनुष्य गति में उत्पन्न नहीं होते ।

सम्यग्दृष्टि देव और नैरयिक मनुष्य गति में उत्पन्न होते हैं ।

### १६. उत्कृष्ट आयुस्थिति में सम्यक्त्व प्राप्ति

आउक्कोसे दुण्णि उ पवज्जमाणो पवणो वा ।

(विभा २७२४)

आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति में प्रथम दो सामायिक पूर्वप्रतिपन्न भी हो सकते हैं और प्राप्त भी हो सकते हैं ।

आयुषस्त्रयस्त्रिंशत्साभरोपमलक्षणायामुत्कृष्टस्थितौ वर्तमानोऽनुत्तरसुरः प्रथमसामायिकद्वयस्य पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते, सप्तमपृथिव्यप्रतिष्ठान-नारकस्तु षण्मासावशेषा-युस्तथाविधविशुद्धियुक्तत्वावस्थैव सामायिकद्वयस्य प्रति-पद्यमानकः पूर्वप्रतिपन्नश्च लभ्यते ।

(विभामवृ २ पृ १५६, १५७)

अनुत्तर देवों का उत्कृष्ट आयुष्य - तेतीस सागरोपम होता है । तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु वाले अनुत्तर देव श्रुत सामायिक और सम्यक्त्व सामायिक से पूर्व-प्रतिपन्न होते हैं ।

सातवीं पृथ्वी में अप्रतिष्ठान-नैरयिक की जब छह माह की आयु शेष रहती है, तब वह तदनुरूप विशुद्धि होने पर श्रुत और सम्यक्त्व सामायिक प्राप्त करता है—इस दृष्टि से वहाँ प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपन्न दोनों हो सकते हैं । सामायिक प्राप्ति के प्रथम समय में जीव प्रतिपद्यमान और शेष समयों में वह पूर्वप्रतिपन्न कहलाता है ।

### १७. मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में अन्तर

मिच्छादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहइ ।

सद्दहइ असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥

(उनि १६२)

मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट प्रवचन पर श्रद्धा नहीं करता । वह कुतीर्थियों के असद्भाव—अयथार्थ सिद्धांत पर श्रद्धा करता है, फिर चाहे वे उपदिष्ट हों या अनुपदिष्ट ।

सम्महिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ।

सद्दहइ असब्भावं अणभोगा गुरुनिओमा वा ॥

(उनि १६३)

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट प्रवचन पर श्रद्धा करता है और वह अपने अज्ञान के कारण तथा गुरु के कहने पर असद्भाव पर भी श्रद्धा करता है ।

### १८. सम्यक्त्व से ज्ञानविशोधि

जुगवंपि समुप्पन्नं सम्मत्तं अहिममं विसोहेइ ।

जह कायममंजणाई जलदिट्ठीओ विसोहंति ॥

जह जह सुज्झइ सलिलं तह तह रूवाइं पासई दिट्ठी ।

इय जह जह तत्तर्हइ तह तह तत्तागमो होइ ॥

कारणकज्जविभागो दीवपयासाण जुगवज्जमेवि ।

जुगवुप्पन्नंपि तहा हेऊ नाणस्स सम्मत्तं ॥

(आवनि ११५४-११५६)

जैसे काचक फल (फिटकरी आदि) जल को विशो-धित करता है, अंजन आंख को विशोधित करता है, वैसे ही सम्यक्त्व ज्ञान को निर्मल करता है ।

जैसे-जैसे पानी निर्मल होता है वैसे-वैसे उसमें प्रति-बिम्ब स्पष्ट दिखाई देने लगता है । उसी प्रकार जैसे-जैसे तत्त्व की रुचि बढ़ती है, वैसे-वैसे तत्त्वों का ज्ञान होता जाता है ।

जैसे दीपक और प्रकाश के युगपत् उत्पन्न होने पर भी कारण-कार्य का विभाग होता है, वैसे ही सम्यक्त्व और ज्ञान युगपत् उत्पन्न होने पर भी सम्यक्त्व ज्ञान का हेतु है ।

### सम्यक्त्व और ज्ञान में भेद

जीवादिवस्वरूपपरिज्ञानस्य सम्यग्भावहेतुरात्मपरिणाम-विशेषः सम्यक्त्वं, न तु ज्ञानस्वरूपमेव । अत एव हि ज्ञानादावरणभेदो विषयभेदः कारणभेदो ज्ञानकारणत्वं च सम्यक्त्वस्य श्रुतकेवलिनोक्तं, यत् तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमपायसद्द्रव्यतया सम्यग्दर्शनमपायो मतिज्ञान-तृतीयांशः ।

(उशावृ प ५६३)

जीव आदि तत्त्वों के सही परिज्ञान का हेतुभूत आत्म-परिणाम सम्यक्त्व है । सम्यक्त्व ज्ञानरूप नहीं है ।



श्रुतकेवलियों ने ज्ञान से पृथक् सम्यक्त्व का प्रतिपादन किया है। इस भिन्नता के तीन हेतु हैं—आवरणभेद, विषयभेद और कारणभेद।

सम्यक्त्व ज्ञान का कारण है। ज्ञान सम्यक्त्व का कार्य है। कारण और कार्य में अभेद मानकर तत्त्वार्थभाष्य-कार ने सम्यक्त्व को मतिज्ञान का तीसरा भेद 'अपाय' बताया है।

दर्शनमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिना या तत्त्वश्रद्धाना-त्मिका तत्त्वरुचिरुपजायते, तथा तत्त्वश्रद्धानात्मकं जीवादि-तत्त्वरोचकं विशिष्टं श्रुतं जन्मते, ततस्तत् श्रुतज्ञान-व्यपदेशं परिहृत्य श्रुतज्ञानसज्ञां समासादयति।

(विभाषवृ १ पृ २४५)

दर्शनमोह कर्म के क्षयोपशम आदि से तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है। उस तत्त्व-रुचि से जब तत्त्वश्रद्धात्मक श्रुत उत्पन्न होता है, तब श्रुतअज्ञान श्रुतज्ञान बन जाता है। श्रुत और सम्यक्त्व में यही अंतर है।

## १६. सम्यक्त्व और चारित्र

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।

सम्मत्तचरित्ताइं, जुगव पुव्वं व सम्मत्तं ॥

(उ २८।२९)

सम्यक्त्व-शून्य चारित्र नहीं होता। दर्शन में चारित्र की भजना है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपत् उत्पन्न होते हैं। और जहाँ वे युगपत् उत्पन्न नहीं होते, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है।

(श्रीमज्जयाचार्य लिखते हैं—पहिला सम्यक्त्व आवँ अनै पछै चारित्र पावँ एतो प्रत्यक्ष दीसेज छै। पिण सम्यक्त्व चारित्र साथै आवँ कह्हां ते किम। तेहणो उत्तर। एक मुनि छठे गुणठाणें हुंतो। तिणनै किणही बोलनी शंका पडी। तिवारे समकित चारित्र दोनू ही गया। पहिले गुणठाणें आयो। पछै अन्तर्मुहूर्त्त में शंका मित्ठ्यां पाछो छठे गुणठाणें आयो सम्यक्त्व चारित्र सहित थयो। इम सम्यक्त्व चारित्र साथै आवँ। एहवू न्याय सभवे उत्तराध्ययन की जोइ २८।२९ का वातिक)

## २०. सम्यक्त्व (दर्शन) की महत्ता

नादंसणित्तस नाणं, नाणेण विणा न हंति चरणगुणा।

अगुणित्तस नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

(उ० २८।३०)

अदर्शनी के ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होते। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती।

अमुक्त का निर्वाण नहीं होता।

ण सेणिओ आसि तथा बहुस्सुओ,

न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो।

सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ,

समिक्ख पन्नाइ वरं खु दंसणं ॥

भट्ठेण चरित्ताओ सुट्ठुयंरं दंसणं गहेयव्वं।

सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति ॥

(आवनि ११५८, ११५९)

श्रेणिक न बहुश्रुत था, न प्रज्ञप्तिधर था और न ही वाचक था, फिर भी वह आगामी काल में तीर्थंकर होगा। प्रज्ञा से समीक्षा करो कि दर्शन ही प्रधान है।

चारित्र से भ्रष्ट होने पर भी दर्शन (सम्यक्त्व) को दृढ़ रखना चाहिए क्योंकि चारित्र से रहित व्यक्ति सिद्ध हो सकता है, दर्शन से रहित सिद्ध नहीं हो सकता। (यह आपेक्षिक कथन है। निश्चय में तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिपदी ही मुक्ति का मार्ग है।)

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सहहे।

चरित्तेण निगिष्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥

(उ २८।३५)

जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है।

## २१. सम्यक्त्व (दर्शन-सम्पन्नता) के परिणाम

दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तच्छेयणं करेइ, परं न विज्झायइ। अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ।

(उ २९।६१)

दर्शन-सम्पन्नता (सम्यक् दर्शन की सम्प्राप्ति) से जीव संसार-पर्यटन के हेतु-भूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है, क्षायिक सम्यक् दर्शन को प्राप्त करता है। उससे आगे उसकी प्रकाश-शिखा बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञान और दर्शन से अपने आपको संयोजित करता हुआ, उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।

मिच्छत्तपरिणतो जीवो कम्मघणमहाजालं अणुसमयं बंधति, तच्चिक्खामेण जातिजरामरणादिवसणसतससारं परिवट्ठइ। पडिक्कंतस्स पुण गुणा सुदेवत्तसुमाणुसत्तादि मोक्खपज्जवसाणत्ति। तत्पुनः सम्यक्त्वं यथा कुड्यादिभूमौ

सुष्ठु परिकर्मितायां यदि चित्रं क्रियते तदा शोभनं राजते, एवं यदि सम्यक्त्वं सुष्ठु मिथ्यात्वा सुपरिसुद्धं कृत्वा व्रतान्यारोप्यन्ते ततस्तानि व्रतानि विशुद्धिफलानि भवन्ति अतः सम्यक्त्वं सुपरिसुद्धं कर्तव्यम् । (आवचू २ पृ २७५)

मिथ्यात्व से प्रतिक्षण सघन कर्मबंध होता है, जिसका परिणाम है—जन्म, जरा और मृत्यु वाले संसार में परिभ्रमण । मिथ्यात्व से प्रतिक्रमण कर सम्यक्त्व में स्थित होने का परिणाम है—देवत्व, मनुष्यत्व की प्राप्ति और अंत में मोक्ष ।

जैसे परिकर्मित स्वच्छ भित्ति पर आलेखित चित्र सुन्दर होता है, वैसे ही सम्यक्त्व के विशुद्ध होने पर स्वीकृत व्रतों की परिपालना परिशुद्ध परिणाम वाली होती है ।  
सम्यक् श्रुत—सम्यग्दृष्टि का श्रुत । (द्र. श्रुतज्ञान)  
सयोगीकेवली—केवली की योग—मन, वचन व शरीर की प्रवृत्त्यात्मक अवस्था ।  
(द्र. गुणस्थान)

**साधर्मिक**—ज्ञान, आचरण आदि की दृष्टि से समान भूमिका वाला ।

नामं ठवणा दविए खेत्ते काले अ पवयणे लिभे ।  
दंसण नाण चरित्ते अभिग्गहे भावणाओ य ॥  
नामंमि सरिसनामो ठवणाए कटुकम्ममाईया ।  
दव्वंमि जो उ भविओ साहंमि सरीरमं केव ॥  
खेत्ते समाणदेसी कालंमि समाणकालसंभूओ ।  
पवयणि संवेगयरो लिंगे रयहरणमुहपोत्ती ॥  
दंसण नाणे चरणे तिग पण पण तिविह होइ उ चरित्ते ।  
दव्वाइओ अभिग्गह वह भावणमो अणिच्चाई ॥  
(पिनि १३८-१४१)

बारह प्रकार के साधर्मिक—

१. नाम साधर्मिक—समान नाम वाला साधु या गृहस्थ ।
२. स्थापना साधर्मिक—जीवित या मृत साधु की काष्ठ, पाषाण आदि की प्रतिमा—यह अन्य जीवित मुनियों के लिए स्थापना साधर्मिक है । इसके दो प्रकार हैं—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना ।
३. द्रव्य साधर्मिक—भविष्य में होने वाला साधु ।
४. क्षेत्र साधर्मिक—समान क्षेत्र में उत्पन्न ।
५. काल साधर्मिक—समान काल में उत्पन्न ।
६. प्रवचन साधर्मिक—चतुर्विध संघ का कोई सदस्य ।

७. लिंग साधर्मिक—समान वेश वाले ।
८. दर्शन साधर्मिक—दर्शन के तीन प्रकार हैं—ध्यायिक दर्शन, ध्यायोपशमिक दर्शन, औपशमिक दर्शन । इसके आधार पर दर्शन साधर्मिक के भी तीन प्रकार हैं, जैसे—ध्यायिक दर्शन वाला ध्यायिक दर्शनी का साधर्मिक होता है ।
९. ज्ञान साधर्मिक—समान ज्ञान वाले । ज्ञान के पांच प्रकारों के आधार पर इसके पांच प्रकार हैं, जैसे—मतिज्ञान वाला मतिज्ञानी का साधर्मिक है ।
१०. चारित्र साधर्मिक—समान चारित्र वाले । चारित्र के पांच प्रकारों के आधार पर इसके पांच प्रकार हैं—जैसे—सामायिक चारित्र वाला सामायिक चारित्र का साधर्मिक है ।
११. अभिग्रह साधर्मिक—द्रव्याभिग्रह, क्षेत्राभिग्रह, कालाभिग्रह तथा भावाभिग्रह के आधार पर इसके चार प्रकार हैं । द्रव्याभिग्रही का द्रव्याभिग्रही साधर्मिक है ।
१२. भावना साधर्मिक—अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं के आधार पर बारह प्रकार के साधर्मिक होते हैं ।

**साधु**—मुनि, श्रमण ।

निव्वाणसाहए जोए, जम्हा साहंति साहुणो ।

(आवनि १००२)

जो निर्वाण-साधक योगों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र को साधते हैं, वे साधु हैं ।

महुकारसमा बुद्धा, जे भवन्ति अणिसिसया ।

नाणापिडरया दांता, तेण वुच्चन्ति साहुणो ॥

(द १।५)

जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित होते हैं—किसी एक पर आश्रित नहीं होते, नाना पिंड में रत हैं और जो दांत हैं, वे अपने इन्ही गुणों से साधु कहलाते हैं । सर्वेसिपि तयारणं बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता । तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साह ॥

(आवनि १०५५)

सर्व नयों की बहुविध वक्तव्यता को सुनकर जो सर्व-नय विशुद्ध चरणगुणों में स्थित होता है वह साधु है ।

साधु की जीवनचर्या

(द्र. श्रमण)

साधु मंगल है ।

(द्र. नमस्कार)

सामाचारी—मुनि का संचयी व्यवहार ।

१. सामाचारी का अर्थ
२. सामाचारी के प्रकार
३. दशविध सामाचारी
४. सामाचारी का महत्त्व

### १. सामाचारी का अर्थ

यतिजनेतिकर्तव्यतारूपा सामाचारी ।

(उशावृ प ५३३)

मुनियों का पारस्परिक संचयी व्यवहार सामाचारी है ।

### २. सामाचारी के प्रकार

...सामाचारी ति विहा ओहे दसहा पयविभागे ॥

ओषसामाचारी सामान्यतः संक्षेपाभिधानरूपा, सा चोषनिर्युक्तिरिति । दशविधसामाचारी इच्छाकारादिलक्षणा । पदविभागसामाचारी छेदसूत्राणि ।

तत्रोषसामाचारी नवमात्पूर्वात् तृतीयाद्दस्तुन आचाराभिधानात् तत्रापि विशतितमात्प्राभृतात्, तत्राप्योष-प्राभृतप्राभृतात् निर्व्यूढेति, ...दशविधसामाचारी पुनः षड्विंशतितमादुत्तराध्ययनात् स्वल्पतरकालप्रवृजितपरि-ज्ञानार्थं निर्व्यूढेति, पदविभागसामाचार्यपि छेदसूत्र-लक्षणान्नवमपूर्वदेव निर्व्यूढा ।

(आवनि ६६५ हावृ पृ १७२)

सामाचारी के तीन प्रकार हैं—

१. ओष सामाचारी—ओषनिर्युक्ति ।
२. दशधा सामाचारी—इच्छाकार आदि दश प्रकार की सामाचारी ।
३. पदविभाग सामाचारी—छेदसूत्र ।

ओषनिर्युक्ति नौवें प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी आचार वस्तु के बीसवें प्राभृत के ओषप्राभृतप्राभृत से निर्व्यूढ है । शैक्ष मुनियों के अबबोध के लिए दशविध सामाचारी उत्तराध्ययन के छद्बीसवें अध्ययन से तथा पदविभाग सामाचारी (छेद सूत्र) प्रत्याख्यान पूर्व से निर्व्यूढ है ।

सामाचारी दशविधा, ओषरूपा पदविभागात्मिका चेह नोक्ता, धर्मकथाऽनुयोगत्वादस्य, छेदसूत्रान्तर्गतत्वाच्च तस्याः ।

(उशावृ प ५४७)

ओष सामाचारी और दशविध सामाचारी का

अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग में होता है । पदविभाग सामाचारी का अन्तर्भाव छेदसूत्र (चरणानुयोग) में होता है ।

### ३. दशविध सामाचारी

पहमा आवस्तिया नाम, विड्या य निसीहिया ।

आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥

पंचमा छंदणा नाम, इच्छाकारो य छट्ठो ॥

सत्तमो मिच्छकरो य, तहक्कारो य अट्टमो ॥

अब्भट्टाणं नवमं, दसमा उवसंपदा ।

एसा दसंगा साहूणं, सामाचारी पवेइया ॥

(उ २६।२-४)

सामाचारी के दस प्रकार हैं—

- |                  |                |
|------------------|----------------|
| १. आवश्यकी       | ६. इच्छाकार    |
| २. नैषेधिकी      | ७. मिथ्याकार   |
| ३. आप्रच्छना     | ८. तथाकार      |
| ४. प्रतिप्रच्छना | ९. अभ्युत्थान  |
| ५. छन्दना        | १०. उपसम्पदा । |

### आवश्यकी सामाचारी

गमणे भावस्सियं कुज्जा ।... (उ २६।५)

स्थान से बाहर जाते समय 'आवश्यकी' शब्द का उच्चारण करे ।

गमने तथाविधालम्बनतो बहिर्निःसरणे आवश्यकेषु—अशेषावश्यककर्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यकी ।

(उशावृ प ५३४)

आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाना आवश्यकी है । 'आवश्यकी'—में आवश्यक कार्य के लिए स्थान या निषङ्गा से बाहर जा रहा हूँ—इस उच्चारण के द्वारा अपने जाने की सूचना देना आवश्यकी सामाचारी है ।

### नैषेधिकी सामाचारी

...ठाणे कुज्जा निसीहियं ।... (उ २६।५ शावृ प ५३४)

यत्रास्पदे स्थेयं तत्र नैषेधिकीपूर्वकमेव प्रवेष्टव्यम् ।

(उ २६।५ शावृ प ५३४)

स्थान में प्रवेश करते समय नैषेधिकी करे—'नैषे-धिकी' का उच्चारण करे ।

निसीहि नाम सररीरं वसही थंडिलं च भ्रणति । अतो निसीहिता नाम आलयो वसही थंडिलं च । सररीरं जीवस्स आलयोत्ति । तथा पडिसिद्धनिसेवणनियतस्स किरिया निसीहिया ।

(आवचू २ पृ ४६)

निषीधिका—निषद्या के कई अर्थ हैं—शरीर, आलय, वसति, स्थण्डिल। शरीर जीव का आलय है। प्रतिषिद्ध के आसेवन का निवर्तन करने वाली क्रिया निषीधिका है।

### आप्रच्छना सामाचारी

.....आपुच्छणा सयंकरणे.....। (उ २६।५)

अपना कार्य करने से पूर्व गुरु से अनुमति लेना आप्रच्छना सामाचारी है।

सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना आप्रच्छना—इदमहं कुर्यां न वेत्येवंरूपा तां स्वयमित्यात्मनः करणं कस्यचिद्विवक्षितकार्यस्य निवर्तनं स्वयंकरणम्।

उच्छ्वासनिःश्वासी विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वपर-सम्बन्धिषु गुरुवः प्रष्टव्याः, अतः सर्वविधयमपि प्रथमतः प्रच्छनमापृच्छा। (उशावृ प ५३४, ५३५)

सब कार्यों के लिए 'मैं यह काम करूँ या नहीं?' इस प्रकार गुरु से अनुमति लेना आप्रच्छना है। अपने किसी विवक्षित कार्य को करना स्वयंकरण है।

श्वासोच्छ्वास को छोड़कर स्व और पर से संबंधित प्रत्येक कार्य को करने से पूर्व गुरु से आपृच्छा करना आप्रच्छना है।

किञ्चाकिञ्चं गुरुवो विदंति विणयपडिवत्तिहेउं च।

उस्तासाइ पमोत्तुं तदणापुच्छ्याए पडिसिद्धं ॥

(विभा ३४६४)

गुरु कृत्याकृत्य को जानते हैं। विनयप्रतिपत्ति के लिए उच्छ्वास आदि को छोड़ कोई कार्य गुरु को बिना पूछे नहीं करना चाहिए।

### प्रतिप्रच्छना सामाचारी

....परकरणे पडिपुच्छणा ॥

परकरणे अन्यप्रयोजनविधाने प्रतिप्रच्छना, गुरुनियु-क्तोऽपि हि पुनः प्रवृत्तिकाले प्रतिपृच्छत्येव गुरुं, स हि कार्यान्तरमप्यादिशेत् सिद्धं वा तदन्यतः स्यादिति।

(उ २६।५ शावृ प ५३४)

एक कार्य को सम्पन्न कर परकरण—दूसरा कार्य करते समय गुरु से पुनः पूछना प्रतिप्रच्छना है। गुरु के द्वारा किसी कार्य में नियुक्त होने पर भी प्रवृत्तिकाल में—कार्य करते समय पुनः गुरु की आज्ञा लेनी चाहिये। संभव है गुरु किसी दूसरे कार्य के लिए आदेश दें। यह भी संभव है, पूर्व निर्दिष्ट कार्य किसी अन्य के द्वारा

सम्पादित हो चुका हो।

.....पुव्वनिसिद्धेण होइ पडिपुच्छा ।.....

(आवनि ६९७)

प्रयोजनवश पूर्वनिषिद्ध कार्य करने की आवश्यकता होने पर गुरु से उसकी आज्ञा लेना प्रतिपृच्छा है।

### छन्दना और अभ्युत्थान सामाचारी

छंदणा दव्वजाएणं .....।

अभ्युत्थानं गुरुपूया.....। (उ २६।६,७)

.....पुव्वगहिणं छंदण णिमंतणा होलगहिणं ॥

(आवनि ६९७)

आभिमुख्येनोत्थानम्—उद्यमनमभ्युत्थानं तच्च गुरु-पूजायां, सा च गौरवाहर्णां आचार्यग्लानबालादीनां यथोचिताहारभेषजादिसम्पादनम्। इह च सामान्याभि-धानेऽप्यभ्युत्थानं निमन्त्रणारूपमेव परिगृह्यते।

(उशावृ प ५३५)

मुनि पूर्वगृहीत—भिक्षा में प्राप्त अन्न आदि द्रव्यों से गुरु आदि को निमन्त्रित करे—यह छंदना सामाचारी है।

गुरुपूजा—आचार्य, ग्लान, बाल आदि साधुओं के लिए यथोचित आहार, औषधि आदि लाना अभ्युत्थान सामाचारी है। अभ्युत्थान और निमन्त्रण एकार्थक हैं।

### इच्छाकार सामाचारी

....इच्छाकारो य सारणे ।....

सारणे इत्यौचित्यत आत्मनः परस्य वा कृत्यं प्रति प्रवर्तने। तत्रात्मसारणे यथेच्छाकारेण युष्मच्चि-कीर्षितं कार्यमिदमहं करोमीति। ....अन्यसारणे च मम पात्रलेपनादि सूत्रदानानि वा इच्छाकारेण कुरुतेति।

(उ २६।६ शावृ प ५३५)

जइ अब्भत्येज्ज परं कारणजाए करेज्ज से कोई।

तत्थवि इच्छाकारो ण कप्पई बलाभिओगो उ ॥

(आवनि ६६८)

सारणा में इच्छाकार का प्रयोग करना—जहाँ औचित्य हो, वहाँ स्वयं और अन्य के कार्य में प्रवृत्त होना इच्छाकार सामाचारी है। जैसे—

आत्मसारण—इच्छा हो तो आपका यह कार्य मैं करूँ।

अन्यसारण—आपकी इच्छा हो तो आप मुझे सूत्र की वाचना दें, पात्र के लेप लगा दें आदि। प्रयोजन होने पर जो दूसरे से अपना कार्य कराना

चाहता है, वहां वह इच्छाकार का प्रयोग करे—आपकी इच्छा हो तो आप मेरा यह कार्य कर दें, किन्तु जबरन उनसे वह कार्य न करवाए ।

अबभुवगममि वज्जह अब्भत्थेउ ण वट्टइ परो उ ।  
अण्णिगूहियबलविरिएण साहुणा ताव होयव्वं ॥  
जइ हुज्ज तस्स अणलो कज्जस्स वियाणती ण वा वाणं ।  
गेलन्नाइहि वा हुज्ज विवडो कारणेहि सो ॥  
राइणियं वज्जेत्ता इच्छाकारं करेइ सेसाणं ।  
एयं मज्झं कज्जं तुब्भे उ करेह इच्छाए ॥

(आवनि ६६९-६७१)

साधु अपने बल-वीर्य का गोपन नहीं करते, अतः दूसरे साधु से अपने कार्य के लिए अभ्यर्थना करना उचित नहीं है । किंतु यदि वह प्रस्तुत कार्य को करने में समर्थ न हो अथवा उस कार्यविधि से अनभिज्ञ हो अथवा स्वान-वैयावृत्य आदि कार्यों में व्यापृत हो तो वह रत्नाधिक साधु के अतिरिक्त अन्य साधुओं से अभ्यर्थना या इच्छाकार सामाचारी का प्रयोग कर सकता है ।

संजमजोए अब्भुट्टियस्स जिकिचि वितहमायरियं ।

मिच्छा एतति वियाणिऊण मिच्छति कायव्वं ॥

(आवनि ६८२)

संयमयोगों की साधना में अभ्युत्थित मुनि द्वारा अन्यथा आचरण होने पर और उसकी जानकारी हो जाने पर उसे मिथ्याकार सामाचारी—‘मिच्छा मि दुक्कडं’ का प्रयोग करना चाहिये ।

मिच्छा मि दुक्कडं का अर्थ । (द्र. प्रतिक्रमण)

### मिथ्याकार सामाचारी

....मिच्छाकारो य निदाए ॥.... (उ २६।६)

अनाचरित की निन्दा के लिए मिथ्याकार का प्रयोग करना मिथ्याकार सामाचारी है ।

मिथ्येदमिति प्रतिपत्तिः, सा चात्मनो निन्दा—जुगुप्सा तस्यां, वितथाचरणे हि धिगिदं मिथ्या मया कृतमिति निन्दत एवात्मा विदितजिनवचनैः । (उशावृ प ५३५)

गलत आचरण होने पर—‘हा ! धिक्कार है, मैंने गलती की’—इस रूप में अपनी निन्दा करना तथा उस आचरण के प्रति जुगुप्सा करना मिथ्याकार है ।

### तथाकार सामाचारी

....तहक्कारो य पडिस्सुए ॥ (उ २६।६)

मुनि प्रतिश्रवण (गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश की

स्वीकृति) के लिए तथाकार (यह ऐसे ही है) का प्रयोग करे ।

कप्पाकप्पे परिणिट्टियस्स ठाण्णेषु पंचसु ठियस्स ।  
संजमतववह्दग्गस्स उ अविकप्पेणं तहाकारो ॥  
वायणपडिसुणणाए उवएसे सुत्तअत्थकहुणाए ।  
अवितहमेयं ति तहा पडिसुणणाए तहक्कारो ॥

(आवनि ६८८, ६८९)

जो कल्प-अकल्प (विधि-निषेध) का ज्ञाता है, महा-व्रतों में स्थित है, संयम और तप से सम्पन्न है, उसके प्रति तथाकार का प्रयोग करना चाहिये ।

गुरु जब सूत्र पढाएं, सामाचारी आदि का उपदेश दें, सूत्र का अर्थ बताएं अथवा कोई बात कहें, तब शिष्य को तथाकार—आप जो कह रहे हैं, वह अबितथ (ठीक) है—ऐसा कहना चाहिये ।

### उपसम्पदा सामाचारी

....अच्छणे उवसम्पदा ।....

आचार्यान्तरादिसन्निधौ अवस्थाने उप—सामीप्येन सम्पादनं—गमनम्....इयन्तं कालं भवदन्तिके मयाऽऽसित-व्यमित्येवंरूपा । (उ २६।७ शावृ प ५३५)

ज्ञान आदि की उपलब्धि के लिए दूसरे गण के आचार्य आदि की सन्निधि में रहना, ‘मैं आपका शिष्य हूँ’—इस रूप में मर्यादित काल तक शिष्यत्व स्वीकार करना उपसम्पदा सामाचारी है ।

उवसंपया य तिविहा णाणे तह दंसणे चरित्ते य ।

दंसणणाणे तिविहा दुविहा य चरित्तअट्टाए ॥

वत्तणा संघणा चेव ग्रहणं सुत्तत्थतदुभए ।

वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाइ य ॥

(आवनि ६९८, ६९९)

उपसम्पदा के तीन प्रकार हैं—ज्ञान-उपसम्पदा, दर्शन-उपसम्पदा और चारित्र-उपसम्पदा । दर्शन और ज्ञान की उपसंपदा के तीन-तीन प्रकार और चारित्र की उपसम्पदा के दो प्रकार हैं ।

ज्ञान तथा दर्शन की उपसम्पदा के तीन-तीन प्रकार—

- ० वर्तना—पूर्वगृहीत सूत्र का परावर्तन ।
  - ० संघना—विस्मृत सूत्र की पुनः संघटना ।
  - ० ग्रहण—नए सूत्र और अर्थ का ग्रहण ।
- चारित्र की उपसम्पदा के दो प्रकार—
१. वैयावृत्य के लिए ।

२. क्षण—तपस्या के लिए ।

यह उपसम्पदा इत्वरिक अथवा यावत्कथिक होती है ।

#### ४. सामाचारी का महत्त्व

सामायारि पत्रकखामि, सच्चदुखविमोक्खणि ।

(उ २६।१)

एथं सामायारि जुंजंता चरणकरणमाउसा ।

साहू खर्वति कम्मं अपणेगभवसंचियमणंतं ॥

(ओनि ८१०)

सामाचारी सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली है ।

चारित्र और समिति-गुप्ति में सावधान साधु सामाचारी का प्रयोग करता हुआ अनेक भवों में संचित अनन्त कर्मों को क्षीण कर देता है ।

(दसविध सामाचारी की सम्यक् परिपालना से व्यक्ति में निम्न गुण उत्पन्न होते हैं—

१-२. आवश्यकता और नैवेद्यिकी से निष्प्रयोजन गमना-गमन पर नियंत्रण रखने की आदत पनपती है ।

३. मिच्छाकार से पापों के प्रति सजगता के भाव पनपते हैं ।

४-५. आपृच्छा और प्रतिपृच्छा से श्रमशील तथा दूसरों के लिए उपयोगी बनने के भाव बनते हैं ।

६. छन्दना से अतिथि-सत्कार की प्रवृत्ति बढ़ती है ।

७. इच्छाकार से दूसरों के अनुग्रह को सहर्ष स्वीकार करने तथा अपने अनुग्रह में परिवर्तन करने की कला आती है । दूसरों के अनुग्रह की हार्दिक स्वीकृति स्वयं में विनय पैदा करती है ।

८. उपसम्पदा से परस्पर-ग्रहण की अभिलाषा पनपती है ।

९. अभ्युत्थान (गुरु-पूजा) से गुरुता की ओर अभिमुखता होती है ।

१०. तथाकार से आग्रह की आदत छूट जाती है, विचार करने के लिए प्रवृत्ति सदा उन्मुक्त रहती है ।)

सामायिक—समता की साधना ।

#### १. सामायिक की परिभाषा

० उद्देश्य

० महंता

#### २. सामायिक के आठ निर्बन्धन

० आठ उदाहरण

#### ३. सामायिक के प्रकार

\* सम्यक्त्व सामायिक

(द्र. सम्यक्त्व)

\* श्रुतसामायिक

(द्र. श्रुतज्ञान)

\* देशविरत सामायिक

(द्र. श्रावक)

\* सर्वविरत सामायिक

(द्र. चारित्र)

#### ४. सामायिक का निर्गम

० कर्ता

० स्वक्षण

० काल

० स्थिति

#### ५. सामायिक : आवरण क्षय

#### ६. सामायिक और नय

#### ७. सामायिक और लोक

० महाविदेह आवि में सामायिक

० अकर्मभूमि और सामायिक

० अन्तरकाल

० विरहकाल

० अविरहकाल

० भव

० आकर्म

#### ८. सामायिक और क्षेत्रस्पर्शना

० भावस्पर्शना

#### ९. सामायिक और ज्ञान

#### १०. सामायिक और उपयोग

#### ११. सामायिक और कर्मस्थिति

#### १२. सामायिक और तन्त्री-असन्नी

० आहारक-पर्याप्तक

० संस्थान, संहनन, अद्यगाहना

० आयुष्य

० चार गति

#### १३. सामायिक के ग्राह्य और वर्जनीय नक्षत्र

० ग्राह्य और वर्जनीय तिथियां

० ग्राह्य विसाएं

० प्रशस्त-अप्रशस्त क्षेत्र

#### १४. सामायिकसूत्र

#### १५. सामायिक का महत्त्व

० चौदह पूर्वों का सार

\* सामायिक : आवश्यक का एक भेद (द्र. आवश्यक)

\* सामायिक और लेश्या (द्र. लेश्या)

## १. सामायिक की परिभाषा

आया खलु सामाइयं पञ्चकखायंतओ हुवइ आया ।।  
(आवनि ७९०)

सामाइयभावपरिणइभावाओ जीव एव सामइयं ।।  
(विभा २६३६)

सावद्य योग का प्रत्याख्यान करने वाला आत्मा सामायिक है। सामायिक भाव में परिणत होने से आत्मा सामायिक है।

जो न विवट्टइ रागे नवि दोसे दोण्ह मज्झयारम्मि ।

सो होइ उ मज्झत्थो सेसा सन्वे अमज्झत्था ॥  
(आवनि ८०३)

जो न राग में वर्तन करता है और न द्वेष में वर्तन करता है, दोनों से स्पृष्ट न होकर मध्य में रहता है, वह मध्यस्थ होता है। शेष सभी अमध्यस्थ होते हैं।

### सामायिक का उद्देश्य

सावज्जजोग्गपरिवज्जणट्ठा सामाइयं केवलियं पसत्थं ।  
गिहत्थधम्मा परमंति णच्चा कुज्जा बुहो आयहियं परत्थं ॥  
(आवनि ७९९)

सावद्ययोग से बचने के लिए सामायिक एकमात्र पूर्ण और पवित्र अनुष्ठान है। यह गृहस्थ के अन्यान्य धर्मों में प्रधान है, परम है। आत्महित और मोक्ष के लिए इसकी आराधना करनी चाहिए।

### सामायिक की अर्हता

पियधम्मो ददधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु असढो य ।  
खंतो दंतो गुत्तो थिरव्वय जिइंदिओ उज्जू ॥  
असढो तुलासमाणो समिओ तह साहुसंगइरओ य ।  
गुणसंपओववीओ जुग्गो सेसो अजुग्गो य ॥  
(विभा ३४१०, ३४११)

प्रियधर्मा, दृढधर्मा, संविग्न, पापभीरु, अशठ, श्रान्त, दान्त, गुप्त, स्थिरव्रती, जितेन्द्रिय, ऋजु, मध्यस्थ, समित और साधुसंगति में रत—इन गुणों से सम्पन्न शिष्य सामायिक ग्रहण करने के योग्य होता है, शेष अयोग्य है।

जस्स सामाणियो अप्पा संजमे नियमे तवे ।

तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं ॥

जो समो सच्चभूएसु तसेसु थावरेसु य ।

तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं ॥

(अनु ७०८/गाथा १, २)

जिस व्यक्ति की आत्मा संयम, नियम और तप में

जागरूक है, उसके सामायिक होता है। जो त्रस और स्थावर—सब प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, उसके सामायिक होता है। यह केवली द्वारा भाषित है।

## २. सामायिक के आठ निर्वचन

सामाइयं समइयं सम्मावाओ समस संखेवो ।

अणवज्जं च परिण्णा पञ्चकखाणे य ते अट्ठ ॥

(आवनि ८६४)

‘सामायिक’ शब्द के आठ निरुक्त हैं—

१. सामायिक—जिसमें सम—मध्यस्थभाव की आय—उपलब्धि होती है, वह सामायिक (आत्मा का एकान्ततः प्रशमभाव) है।
२. समयिक—सभी जीवों के प्रति सम्यक्—दयापूर्ण प्रवर्तन।
३. सम्यग्वाद—राग-द्वेष शून्य होकर यथार्थ कथन करना।
४. समास—सं+आस—जीव की संसार समुद्र से पारगामिता अथवा कर्मों का सम्यक् क्षेपण।
५. संक्षेप—महान् अर्थ का अल्पाक्षरों में कथन। यह चौदह पूर्वों का सार है।
६. अनवद्य—पापशून्य प्रक्रिया।
७. परिज्ञा—पाप के परित्याग का संपूर्ण ज्ञान।
८. प्रत्याख्यान—गुरु की साक्षी से परिहरणीय प्रवृत्ति से निवृत्ति।

### आठ निरुक्तों के आठ उदाहरण

दमदंते मेयज्जे कालयपुच्छा चिलाय अत्तेय ।

धम्मरुइ इला तेयलि सामाइए अट्ठुदाहरणा ॥

(आवनि ८६५)

### १. दमदंत

हस्तीशीर्षं नगर में राजा दमदन्त राज्य करता था।

हस्तिनापुर में पांडवों का राज्य था। दमदन्त का

उनके साथ वैरभाव था। एक बार राजा दमदन्त

राजगृह गया हुआ था, तब पांडवों ने उसके राज्य

को लूट लिया और राजधानी को जला डाला।

दमदंत ने प्रतिशोधवश हस्तिनापुर पर आक्रमण कर

दिया। उसके भय से कोई बाहर नहीं आया तब

दमदंत पुनः अपने देश लौट आया। संयोगवश अति-

संवेग से वह प्रव्रजित हो एकलविहार प्रतिमा की

साधना करते हुए हस्तिनापुर आया और गांव के

बाहर प्रतिमा में स्थित हो गया। पांचों पांडव उसे वन्दन करने गए। दुर्योधन भी वहां आया। जब उसे ज्ञात हुआ कि यह दमदंत है, तब उसमें वैर का भाव जाया और देखते-देखते मुनि के चारों ओर पत्थरों का जमाव हो गया। पत्थरों से मुनि ढक गए। लौटते हुए युधिष्ठिर को ज्ञात हुआ कि यह दुर्योधन का दुष्कृत्य है। उन्होंने सारे पत्थरों को हटाया, मुनि का अभ्यंगन किया और दुष्कृत्य के लिए क्षमा-याचना की। मुनि दमदंत का पांडवों और दुर्योधन—दोनों के प्रति समभाव था।

## २. (क) महाराजा चन्द्रावतंसक

माघ का महिना। साकेत नगरी के राजा चन्द्रावतंसक ने प्रतिमा स्वीकार करते हुए यह प्रतिज्ञा की कि जब तक वासगृह में दीपक जलता रहेगा तब तक प्रतिमा में स्थित रहूंगा। पहला प्रहर बीत गया। दूसरे प्रहर में दासी ने सोचा कि स्वामी ध्यानस्थ हैं। अंधेरा न हो जाए। उसने दीपक में तैल डाल दिया। चारों प्रहर वह दीपक जलता रहा। अत्यंत शीत के कारण राजा प्रातःकाल दिवंगत हो गया। उसने वेदना को समभाव से सहा। दासी पर कुपित नहीं हुआ।

## (ख) मुनि मेलार्थ

चांडाल मुनि मेलार्थ भिक्षा के निमित्त एक स्वर्णकार के वहां गए। स्वर्णकार महाराज श्रेणिक के लिए स्वर्ण-यवों का निर्माण कर रहा था। मुनि को आए देख वह उठा। भीतर गया। वह भिक्षा लेकर नहीं आया। मुनि वहां से चले गए। इतने में ही क्राँच पक्षी ने 'यव' निगल लिए। स्वर्णकार ने यवों को न देख, मुनि पर आशंका की। मुनि से पूछताछ की। मुनि मौन रहे। तब स्वर्णकार ने गीले चमड़े से उनके सिर को बांधा। ज्यों-ज्यों चमड़ा सूखता गया, मुनि को अक्षय वेदना होने लगी। आखें बाहर आ गिरनीं। मुनि निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़े। इतने में ही किसी कारणवश क्राँचपक्षी ने यवों को उगल डाला। लोगों ने स्वर्णकार को बुरा-भला कहा। मुनि मेलार्थ को क्राँच पक्षी द्वारा यव निगलने की बात ज्ञात थी, पर उन्होंने प्राणीदया से प्रेरित होकर स्वप्राणों की बलि देना ही उचित समझा।

## ३. कालकपुच्छा

कालक प्रव्रजित हो गए। दत्त राजा बना। उसने मुनि कालक से भविष्य पूछा। मुनि ने कहा— 'सातवें दिन तुम श्वकुंभी में पकाए जाओगे।' इसका क्या विश्वास? राजा के पूछने पर मुनि ने कहा— सातवें दिन तुम्हारे मुंह में मल का निक्षेप होगा। राजा ने मुनि को कैद कर लिया।

सातवें दिन राजा अश्वक्रीडा के लिए गया। लौटते समय उसने सोचा— आज मुनि को मार डालना है। वह आगे बढ़ा। एक स्थान पर अश्व हका। उस अश्व ने पैर पटक। उस स्थान पर मल विसर्जित कर किसी ने उस पर पुष्प डाल दिए थे। घोड़े के पैर से मल उछलकर राजा के मुंह में चला गया। राजा डरा। दंडिकों ने जान लिया कि राजा मुनि को मारेगा। उन्होंने उसे पकड़ कर एक कुंभी में डाल दिया। उसी कुंभी में दो-चार कुत्ते भी डाल दिए। कुंभी को अग्नि पर चढ़ाया। ताप लगा। कुत्ते खूंखार होकर राजा को काटने लगे। उसे खंड-खंड कर मार डाला। कालक ने जैसा कहा वैसे ही हुआ। यह सम्यग्वाद है।

## ४. चिलात

राजगृह में धन नामक सार्थवाह रहता था। उसकी दासी का नाम था चिलाता। दासी के पुत्र का नाम था चिलातक। सुंसुमा धन सार्थवाह की प्रिय पुत्री थी। एक बार धन ने कुपित होकर दासीपुत्र चिलातक को घर से निकाल दिया। वह वहां से गया और दस्युदल के साथ जुड़ गया। कालान्तर में वह दस्यु सेनापति बना और उसी धन सार्थवाह को लूटने राजगृह में आया। सारा धन बटोर कर जाते समय उसने सुंसुमा का भी अपहरण कर लिया। सेठ ने दलबल के साथ पीछा किया। जब चोरपति चिलातक ने देखा कि वह सुंसुमा को ले जाने में असमर्थ है, तब उसने सुंसुमा का सिरच्छेद कर, धड़ को वहीं फेंक, केवल सिर को ले आगे बढ़ा। वह दिग्भ्रष्ट हो गया। एकांत में एक मुनि को ध्यानस्थ देखा। वन्दना कर धर्म पूछा। मुनि ने समासरूप में धर्म बताते हुए कहा— उपशम, विवेक, संवर। आवेग का उपशम करो, ममत्व का विवेक करो—परित्याग करो और इन्द्रिय



तथा मन का निग्रह करो। इन तीन शब्दों में लीन होकर चिलातक ध्यानारूढ हो गया। चींटियों ने उसके शरीर को छलनी बना डाला। परन्तु चिलातक ध्यान से विचलित नहीं हुआ। धर्म का समासरूप उसका त्राण बन गया।

#### ५. ऋषि आश्रय

चार ऋषि महाराज जितशत्रु के पास उपस्थित होकर बोले—हमने चार ग्रन्थों का निर्माण किया है। प्रत्येक ग्रन्थ लाख-लाख श्लोक परिमाण है। आप उन्हें सुनें। राजा ने कहा—मेरे पास इतना समय नहीं है। आप अपने ग्रन्थों को संक्षिप्त करें। संक्षिप्त करते-करते उन्होंने चार लाख श्लोकों का सार एक श्लोक में आबद्ध कर राजा से कहा—

जीर्ण भोजनमाश्रयः, कपिलः प्राणिनां दधाम् ।

बृहस्पतिरविश्वासः, पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम् ॥

आयुर्वेद के आचार्य आश्रय ने कहा—किए हुए भोजन के जीर्ण होने पर भोजन करना ही आरोग्य का गुरु है। धर्मशास्त्र के प्रणेता कपिल बोले—प्राणी मात्र पर दया रखना ही श्रेष्ठ धर्म है। नीतिशास्त्र के विशारद बृहस्पति बोले—किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिए और कामशास्त्र के प्रणेता पंचाल ने कहा—स्त्रियों के प्रति मृदुता बरतनी चाहिए।

यह संक्षेपीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण है।

#### ६. धर्मरुचि

वसंतपुर के जितशत्रु राजा का पुत्र धर्मरुचि था। उसकी माता का नाम था धारिणी। राजा पुत्र को राज्यभार देकर प्रव्रजित होना चाहता था। पुत्र ने मां से पूछा—मां! पिताजी मुझे राज्यभार देकर स्वयं राज्य क्यों छोड़ना चाहते हैं! मां ने कहा—वत्स! राज्य संसार बढ़ाने वाला होता है। धर्मरुचि बोला—मां! मैं फिरक्यों राज्य में फँसू। तब पिता, पुत्र और मां—तीनों तापस बन गए। अमावस्या आई। उद्घोषित हुआ कि कल अमावस्या है। आज ही फलफूलों का संग्रह कर लें। कल अनाकुट्टि होगी। धर्मरुचि ने सोचा—अरे! यह क्या? अनवद्य—अनाकुट्टि तो प्रतिदिन होनी चाहिए। चिंतन आगे बढ़ा। जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ और वे प्रत्येक-बुद्ध हो गए।

#### ७. इलापुत्र

इलावर्धन नगर में 'इला' देवता का मंदिर था। एक सार्धवाही पुत्र के निमित्त देवता की पूजा-अर्चा करती थी। उसे पुत्र की प्राप्ति हुई। पुत्र का नाम 'इलापुत्र' रखा। उसने अनेक कलाएं सीखीं और उन सबमें दक्षता प्राप्त कर ली। एक बार वह नट मंडली की एक कन्या में आसक्त हो गया। उसने नट-मुखिया से उसकी याचना करते हुए कहा—नटिनी के वजन जितनी स्वर्ण-मुद्राएं मैं देने के लिए तैयार हूँ। नट बोला—यह पुत्री हमारी अक्षयनिधि है। यदि तुम हमारी नटविद्या में प्रवीण होकर हमारे साथ-साथ धूमोमे तो संभव है यह कन्या तुम्हें वरण कर ले। इलापुत्र नटविद्या सीखने लगा। कुछ ही समय में वह निपुण हो गया। एक बार राजा के समक्ष नट-विद्या दिखाने के लिए पूरी मंडली वेणातट पर गई। राजा अपने पूरे परिवार के साथ नटविद्या देखने उपस्थित हुआ। नटों की कला देखते-देखते राजा का मन उस नट-पुत्री में अटक गया। वह उसमें आसक्त होकर उसकी कामना करने लगा। नट इलापुत्र अपना करतब दिखा रहा था। राजा अन्यमनस्क था। इलापुत्र के कला-कौशल पर राजा के अतिरिक्त सब दर्शक मंत्रमुग्ध थे। राजा इलापुत्र की मृत्यु की कामना कर रहा था। इलापुत्र ने तीन बार अपना कौशल दिखाया। प्रत्येक बार पृच्छने पर राजा यही कहता—मैंने पूरा नहीं देखा, पुनः दिखाओ। चौथी बार इलापुत्र ने सोचा—धिक्कार है काम-भोगों को। राजा इतनी रानियों से भी तृप्त नहीं हुआ। यह नट-कन्या में आसक्त है और मुझे मारना चाहता है। इलापुत्र बांस के अग्र भाग पर कला दिखा रहा था। उसने देखा, एक कुलवधू मुनि को भिक्षा दे रही है। मुनि उस रूपसुंदरी की ओर न देखते हुए अपनी भिक्षाचर्या में प्रशान्तभाव से तल्लीन हैं। इलापुत्र के अध्यक्षसाय विशुद्धतर होते गए। उसी समय उसे केवलज्ञान हो गया। नटकन्या विरक्त हो गई। अग्रमहिषी और राजा भी उपशम में अग्रसर हुए और इस प्रकार चारों केवलज्ञानी हुए और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। इलापुत्र ने 'परिज्ञा' के द्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

### ८. तेतलीपुत्र

तेतलीपुर नगर के राजामात्य का नाम तेतलीपुत्र था। उसकी पत्नी पोट्टिला कालान्तर में प्रव्रजित होकर समाधि मृत्यु को प्राप्त कर देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुई। एक बार अमात्य तेतलीपुत्र राजा द्वारा अवमानित होकर दुर्ध्यान में दिन बिताने लगा। उसने आत्महत्या के नानाविध प्रयत्न किए, पर सब व्यर्थ। वह चिन्ताग्रस्त होकर बैठा था। उस समय उसकी स्वर्गस्थ पत्नी पोट्टिला, जो देव बनी थी, वह मूलरूप में वहां आई और अपनी कृत्रिम व्यथा प्रगट करती हुई बोली—तेतली! मैं चारों ओर से आपदाओं से घिर गई हूँ। अब बताओ, मैं कहां जाऊँ? तब तेतली बोला—'पोट्टिले! भीयस्स खलु भो! पच्चज्जा.....सहाय-किच्च'—भयभीत के लिए प्रव्रज्या ही सरण है। पोट्टिलारूपी देव ने कहा—तुम स्वयं प्रव्रज्या ग्रहण करो। इतना कहकर देव अदृश्य हो गया। तेतली-पुत्र चिन्तन की गहराई में उतरा। शुभ अध्यवसाय से उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने अपना पूर्वभव देखा और यह जान लिया कि उसने पूर्वजन्म में भ्रामण्य का पालन किया था। वह और गहराई में गया। उसने उसी पथ पर जाने का निश्चय किया। तत्क्षण पूर्व-अधीत सारा श्रुत उसके स्मृति-पटल पर नाचने लगा। उसने देवता द्वारा प्रतिबुद्ध होकर सर्व सावद्य योगों का प्रत्याख्यान कर लिया और उस प्रत्याख्यान में वह दृढ़ रहा। उसी की यह फलश्रुति थी कि वह केवली, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गया।

(देखें—आवनि ८६५-८७९ हाव १ पृ २४३-२५०; आवच्छ १ पृ ४९१-५०१)

### ३. सामायिक के प्रकार

सामाइयं च तिविहं सम्मत सुयं तथा चरित्तं च।  
दुविहं चैव चरित्तं अगारमणमारियं चैव ॥  
(आवनि ७९६)

अज्झयणं पि य तिविहं सुत्ते अत्थे अ तदुभए चैव।  
(विभा २६७४)

सामायिक के तीन भेद हैं—सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक तथा चारित्र सामायिक।

चारित्र सामायिक के दो भेद हैं - अगार सामायिक (देशविरति) और अनगार सामायिक (सर्वविरति)।

अध्ययन—श्रुत सामायिक के तीन भेद हैं—सूत्र सामायिक, अर्थ सामायिक तथा तदुभय सामायिक।

### ४. सामायिक का निर्गम

वइसाहसुद्धएककारसीए पुव्वणहदेसकालमि।  
महसेणवणुज्जाणे अणंतरं परंपरं सेसं ॥  
(आवनि ७३४)

वैशाख शुक्ला एकादशी, पूर्वाह्न काल, महासेनवन उद्यान में भगवान महावीर ने (पहली बार) सामायिक का निरूपण किया।

### कर्त्ता

केण कयं ति य ववहारओ जिण्णिदेण गणहरेहि च।  
तस्सामिणा उ निच्छयनयस्स तत्तो जओणनं ॥  
(विभा ३३८२)

व्यवहार दृष्टि में सामायिक का प्रतिपादन तीर्थङ्कर और गणधरों ने किया। निश्चय नय के अनुसार सामायिक का कर्त्ता है सामायिक का अनुष्ठान करने वाला। क्योंकि सामायिक का परिणाम उसके अनुष्ठाता से अन्य नहीं है।

### लक्षण

नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्देह।  
चरित्तेण निगिण्णहाइ..... ॥  
(उ २८।३५)

जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शनों से श्रद्धा करता है और चारित्र से निग्रह करता है।

सद्देहइ जाणइ जओ पच्चक्खायं तओ जओ जीवो।.....  
.....सद्धेय-नेय-किरिओवओगओ सब्बव्वाइ ॥  
(विभा २६३५, २६३६)

सम्यक्त्व सामायिक का लक्षण है—तत्त्वश्रद्धा।  
श्रुत सामायिक का लक्षण है—तत्त्वपरिज्ञान।  
चारित्र सामायिक का लक्षण है—सावद्ययोग-विरति।

### काल

सम्मतस्स सुयस्स य पडिवत्ती छव्विहे वि कालम्मि।  
विरइं विरयाविरइं पडिवज्जइ दोसु तिसु वावि ॥  
(आवनि ८११)

सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक की प्रति-पत्ति सुषम-सुषमा आदि छहों कालखण्डों में होती है। देशविरति और सर्वविरति सामायिक की प्रतिपत्ति उत्सर्पिणी के दुःषम-सुषमा, सुषम-दुःषमा तथा अव-सर्पिणी के सुषम-दुःषमा, दुःषम-सुषमा और दुःषमा — इन कालखंडों में होती है।

### स्थिति

सम्मत्तस्स सुयस्स य छावट्ठी सागरोवमाईं ठिई ।  
सेसाण पुव्वकोडी देसूणा होइ उक्कोसा ॥  
(आवनि ८४९)

दो वारे विजयाइसु गयस्स तिण्णच्चुए य छावट्ठी ।  
नरजम्मपुव्वकोडीपुहुत्तमुक्कोसओ अहिअ ॥  
अंतोमुहुत्तमित्तं जहस्यं चरणमेगसमयं तु ।  
उवओगंतमुहुत्तं नानाजीवाण सव्वद्धं ॥

(विभा २७६२, २७६३)

सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छियासठ सागरोपम की है। देशविरति और सर्वविरति सामायिक की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि की है।

तेतीस सागर की स्थिति वाले विजय आदि विमानों में दो बार उत्पन्न होने पर अथवा बाईस सागर की स्थिति वाले अच्युत विमान में तीन बार उत्पन्न होने पर सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक की स्थिति छियासठ सागर की होती है। इन देव-भवों के मध्य में होने वाले मनुष्य भव की स्थिति मिलाने पर वह कुछ अधिक छियासठ सागर की हो जाती है।

प्रथम तीन सामायिक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त तथा चारित्र सामायिक की स्थिति एक समय की है। उपयोग की दृष्टि से चारों सामायिक की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है।

### ५. सामायिक : आवरणक्षय

श्रुतसामायिकमपि मति-श्रुतक्षयोपशमाल्लभ्यते,  
सम्यक्त्व-देशविरति-सर्वविरतिसामायिकानि तदावरणस्य  
मथासंभवं क्षयतः शमतः—उपशमत इत्यर्थः, अथवोभयतः  
क्षयोपशमाद् भवन्ति । (विभामवृ २ पृ ३३०)

श्रुत सामायिक की प्राप्ति मतिज्ञानावरण और श्रुत-ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होती है। सम्यक्त्व सामायिक की प्राप्ति दर्शन सप्तक के क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय

से होती है। देशविरति सामायिक की प्राप्ति अप्रत्या-ख्यानावरण के क्षयोपशम से तथा सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति प्रत्याख्यानावरण के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम से होती है।

### ६. सामायिक और नय

उद्दिठे च्चिय नेगमनयस्स कत्ताऽणहिज्जमाणो वि ।  
जं कारणमुद्देशो तम्मि य कज्जोवयारो ति ॥  
संगह-ववहाराणं पच्चासन्नयरकारणत्तणओ ।  
उद्दिठम्मि तदत्थं गुप्पामूले समासीणो ॥  
उज्जुसुयस्स पढंतो तं कुणमाणो वि निरुवओमो वि ।  
आसन्नासाहारणकारणओ सद्-किरियाणं ॥  
सामाइओवउत्तो कत्ता सद्-किरियाविउत्तो वि ।  
सद्दाईण मणुन्तो परिणामो जेण सामइयं ॥  
(विभा ३३९१-३३९४)

नेगम नय के अनुसार सामायिक अध्ययन के लिए उद्दिष्ट शिष्य यदि वर्तमान में सामायिक का अध्ययन नहीं कर रहा है, तब भी वह सामायिक है।

संग्रहनय और व्यवहारनय के अनुसार सामायिक अध्ययन को पढने के लिए गुरु चरणों में आसीन शिष्य सामायिक है।

ऋजुसूत्र नय के अनुसार अनुपयोगपूर्वक सामायिक अध्ययन को पढने वाला शिष्य सामायिक है।

शब्द आदि तीनों नयों के अनुसार शब्द क्रिया से वियुक्त सामायिक में उपयुक्त शिष्य सामायिक है। क्योंकि इनके अनुसार विशुद्ध परिणाम ही सामायिक है।

### ७. सामायिक और लोक

सम्म-सुआणं लंभो उड्ढं च अहे अ तिरियलोए अ ।  
विरई मणुस्सलोए विरयाविरई य तिरिएसुं ॥  
पुव्वपडिवण्णमा पुण तीसुवि लोएसु निअमओ तिण्हं ।  
चरणस्स दोसु नियमा भयणिज्जा उड्ढलोगम्मि ॥  
(आवनि ८०७, ८०८)

सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक की प्राप्ति तीनों — ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् लोक में होती है। देश-विरति सामायिक की प्राप्ति केवल तिर्यक् लोक में होती है। सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति मनुष्य लोक में होती है।

श्रुत, सम्यक्त्व और देशविरति सामायिक के पूर्वप्रति-पन्नक नियमतः तीनों लोकों में होते हैं। सर्वविरति

सामायिक के पूर्वप्रतिपन्नक अधोलोक और तिरछे लोक में नियमतः होते हैं। ऊर्ध्व लोक में इसकी भजना है।

**महाविदेह आदि क्षेत्र में सामायिक**

पलिभागमि चउत्थे चउत्थिहं चरणवज्जियमकाले ।  
चरणं पि हुज्ज गमणे सव्वं सव्वत्थ साहरणे ॥

(विभा २७१०)

महाविदेह में सदा दुःषम-सुषमा नामक चौथा अर ही रहता है। वहां चारों सामायिक की प्रतिपत्ति हो सकती है। समयक्षेत्र के बाहर केवल तिर्यच होते हैं। अतः वहां सर्वविरति सामायिक को छोड़कर शेष तीन सामायिक की प्रतिपत्ति हो सकती है। नन्दीश्वर आदि द्वीपों में विद्याचारण मुनियों के जाने पर अथवा देवों के द्वारा संहरण होने पर वहां सर्वविरति सामायिक पूर्वप्रतिपन्न हो सकता है।

**अकर्मभूमि और सामायिक**

....नोउस्सप्पुसप्पिणिकाले तिसु सम्मसुत्ताइ ॥

(विभा २७०९)

देवकुरुत्तरकुरुषु सुषमसुषमाप्रतिभागः, हरिवर्ष-  
रम्यकेषु सुषमाप्रतिभागः, हैमवतैरप्यवतेषु सुषमदुःषमा-  
प्रतिभागः.....सुषमसुषमाप्रतिभागादिषु त्रिषु प्रतिभागेषु  
द्वे सम्यक्त्वश्रुतसामायिके जीवः प्रतिपद्यते ।

(विभामवृ २ पृ १५२)

देवकुरु-उत्तरकुरु आदि अकर्मभूमियों में उत्सर्पिणी-  
अवसर्पिणी काल का अभाव होता है। अतः वहां केवल  
श्रुत और सम्यक्त्व सामायिक होते हैं।

**क्षेत्र काल सामायिक**

१. देवकुरु-उत्तरकुरु सुषम-सुषमा श्रुत और सम्यक्त्व
२. हरिवर्ष-रम्यकवर्ष सुषमा श्रुत और सम्यक्त्व
३. हैमवत-ऐरप्यवत सुषम-दुःषमा श्रुत और सम्यक्त्व

**अन्तरकाल**

कालमणंतं च सुए अद्धापरियट्टओ य देसूणो ।  
आसायणबहुलाणं उक्कोसं अंतरं हीइ ॥  
मिच्छसुयस्स वणस्सइकालो सेससामण्णो ।  
हीणं भिण्णमुहुत्तं सव्वेसिमिहेगजीवस्स ॥  
द्वीन्द्रियादिः कश्चित् श्रुतं लब्ध्वा मृतो यः पृथिव्या-  
दिषूपद्य तत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनरपि द्वीन्द्रियादिष्वगातः  
श्रुतं लभते तस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमन्तरं भवति । यस्तु  
द्वीन्द्रियादिर्मृतः पृथिव्य-ऽप-तेजो-वायु-वनस्पतिषु पुनः

पुनरुत्पद्यमानोऽनन्तं कालमवतिष्ठते, ततः पुनरपि  
द्वीन्द्रियादिष्वगातस्य श्रुतं लभते, तस्यायमेकेन्द्रियावस्थिति-  
काललक्षणोऽनन्तकाल उत्कृष्टतोऽन्तरं भवति । अयं  
चासंख्यातपुद्गलपरावर्तमानो द्रष्टव्यः ।

(विभा २७७५, २७७६ मवृ पृ १७२)

श्रुत सामायिक के प्रतिपत्ता का अंतर काल  
(सामायिक की पुनः प्राप्ति का व्यवहित काल) जघन्यतः  
अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः अनंत काल है। शेष तीन सामायिक  
के प्रतिपत्ता का अंतर काल जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः  
देशेन अपार्धं पुद्गलपरावर्त्तं है। यह अंतरकाल एक जीव  
की अपेक्षा से है, नाना जीवों की अपेक्षा अंतरकाल नहीं  
होता ।

श्रुत सामायिक का जघन्य और उत्कृष्ट अंतर काल  
मिथ्या अक्षरश्रुत की अपेक्षा से है। कोई द्वीन्द्रिय आदि  
जीव श्रुत प्राप्त कर मृत्यु के पश्चात् पृथ्वी आदि में उत्पन्न  
होता है, वहां अंतर्मुहूर्त्तं रहकर पुनः द्वीन्द्रिय आदि में  
उत्पन्न हो श्रुत प्राप्त करता है, उसके अंतर्मुहूर्त्तं का अंतर  
काल होता है।

जो द्वीन्द्रिय आदि जीव मर कर पृथ्वी, वनस्पति आदि  
एकेन्द्रिय में पुनः पुनः उत्पन्न होता है और वहां अनंतकाल  
तक रहता है, तत्पश्चात् द्वीन्द्रिय आदि में उत्पन्न हो  
श्रुत प्राप्त करता है, उसकी अपेक्षा अनंतकाल का उत्कृष्ट  
अंतर कहा गया है।

यह अनंतकाल असंख्यात पुद्गलपरावर्त्तं जितना  
होता है। सम्यक् श्रुत सामायिक का अंतर काल सम्यक्त्व  
आदि सामायिक जितना ही है।

**विरहकाल**

सुयसम्म सत्तयं वलुविरयाविरईए होइ बारसणं ।

विरईए पन्नरसणं विरहियकालो अहोरत्ता ॥

श्रुतसम्यक्त्वयोः प्रतिपत्तिविरहकालः ... जघन्यत-  
स्त्वेकसमयः.....देशविरतेः ... जघन्यतस्तु त्रयः समयाः  
... सर्वविरतेः .....जघन्यतस्तु समयत्रयमेव ।

(आवनि ८५५ हावृ पृ २४२)

जिस काल में सामायिक का प्रतिपत्ता कोई नहीं  
होता, वह उसका विरहकाल है।

श्रुत सामायिक और सम्यक्त्व सामायिक की प्रतिपत्ति  
का विरहकाल उत्कृष्टतः सात अहोरात्र, देशविरति  
सामायिक का बारह अहोरात्र और सर्वविरति सामायिक

का पन्द्रह अहोरात्र है। इसके पश्चात् किसी न किसी जीव को सामायिक की प्रतिपत्ति अवश्य होती है।

श्रुत सामायिक और सम्यक्त्व सामायिक की प्रतिपत्ति का विरहकाल जघन्यतः एक समय तथा देशविरति और सर्वविरति का विरहकाल जघन्यतः तीन समय है।

#### अविरहकाल

सम्मसुयअगारीणं आवलियअसंखभागमेत्ता उ।

अट्टसमया चरित्ते सब्बेसु जह्मन दो समया ॥

(आवनि ८५४)

सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक और देशविरति सामायिक के प्रतिपत्ता आवलिका के असंख्येय भाग समयों तक निरन्तर एक, दो आदि मिलते हैं। तत्पश्चात् उनका विरहकाल प्रारम्भ हो जाता है। चारित्र सामायिक के प्रतिपत्ता का अविरहकाल आठ समय तक होता है। उस अवधि में एक, दो आदि प्रतिपत्ता मिलते हैं, तत्पश्चात् उनका विरह काल प्रारंभ हो जाता है। सामायिक चतुष्क का जघन्यतः अविरहकाल दो समय का होता है।

#### मद्य

सम्मत्तदेसविरई पलियस्स असंखभागमेत्ताओ।

अट्ट भवा उ चरित्ते अणंतकालं च सुयसमए ॥

सम्यक्त्वदेशविरतिमन्तः.....जघन्यतस्त्वेकः.....

चारित्रे.....जघन्यतस्त्वेक एव.....सामान्यश्रुतसामायिके जघन्यतस्त्वेकभवमेव, मरुदेवीव।

(आवनि ८५६ हावु पृ. २४२)

सम्यक्त्व सामायिक और देशविरति सामायिक के प्रतिपत्ता क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवै भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उत्कृष्ट उतने भव करते हैं तत्पश्चात् मुक्त हो जाते हैं तथा जघन्यतः एक भव करते हैं। चारित्र सामायिक का प्रतिपत्ता उत्कृष्ट आठ भव तथा जघन्यतः एक भव करता है। श्रुत सामायिक का प्रतिपत्ता उत्कृष्टतः अनन्त भव तथा सामान्यतः जघन्यतः एक भव करता है। जैसे—मरुदेवी।

#### आकर्ष

तिण्ह सहस्सपुहुत्तं सयप्पुहुत्तं च होइ विरईए।

एगभवे आगरिसा एवतिया हीति नायव्वा ॥

तिण्ह सहस्समसंखा सहसपुहुत्तं च होइ विरईए।

णानभवे आगरिसा एवइया हीति णायव्वा ॥

(आवनि ८५७, ८५८)

सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति सामायिक के एक भव में सहस्रपुथक्त्व आकर्ष (२००० से ९००० बार प्राप्त) हो सकते हैं और सर्वविरति के शतपुथक्त्व आकर्ष (२०० से ९०० बार) हो सकते हैं। सम्यक्त्व और देशविरति सामायिक के नाना भवों में उत्कृष्टतः असंख्येय हजार आकर्ष होते हैं। सर्वविरति सामायिक के नाना भवों में २ से ९ हजार आकर्ष होते हैं। श्रुत सामायिक के अनन्त भवों में अनन्त आकर्ष होते हैं।

#### ८. सामायिक और क्षेत्रस्पर्शना

सम्मत्तचरणसहिया सब्बं लोमं फुसे णिरवसेसं।

सत्त य चोद्दसभागे पंच य सुयदेसविरईए ॥

(आवनि ८५९)

सम्यक्त्व सामायिक और सर्वविरति सामायिक से सम्पन्न जीव केवली समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करता है। श्रुत सामायिक और सर्वविरति सामायिक से सम्पन्न जीव इलिका गति से अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है तब वह लोक के सप्त चतुर्दश ( $\frac{१९}{४}$ ) भाग का स्पर्श करता है। सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक से सम्पन्न जीव छट्टी नारकी में इलिका गति से उत्पन्न होता है तब वह लोक के पञ्च चतुर्दश ( $\frac{५}{४}$ ) भाग का स्पर्श करता है। देशविरति सामायिक से सम्पन्न जीव यदि इलिका गति से अच्युत देवलोक में उत्पन्न होता है तो वह पञ्च चतुर्दश ( $\frac{५}{४}$ ) भाग का स्पर्श करता है। यदि अन्य देवलोकों में उत्पन्न होता है तो वह द्विचतुर्दश ( $\frac{३२}{४}$ ) आदि भागों का स्पर्श करता है।

#### भावस्पर्शना

सव्वजीवेहिं सुयं सम्मचरित्ताइं सब्बसिद्धेहिं।

भागेहिं असंखेज्जेहिं फासिया देसविरईओ ॥

(आवनि ८६०)

सर्वजीवैः सांख्यवहारिकराष्यन्तर्गतैः सामान्यश्रुतं स्पृष्टं...सर्वसिद्धानां बुद्ध्याऽसंख्येयभागीकृतानामसंख्येय-भागीभागोर्नदेशविरतिः स्पृष्टा, असंख्येयभागेन तु न स्पृष्टा, यथा मरुदेवास्वामिन्या।

(आवनि ८६० हावु पृ. २४२)

सामान्य श्रुत सामायिक संख्यवहार राशि के सब जीवों द्वारा स्पृष्ट है। सम्यक्त्व सामायिक और सर्वविरति सामायिक की प्रतिपत्ति के बिना कोई भी जीव

सिद्ध नहीं बन सकती, अतः ये दोनों सामायिक सब सिद्धों द्वारा स्पृष्ट है। सब सिद्धों को बुद्धि से कल्पित असंख्येय भागों में विभक्त करने पर कहा जा सकता है कि देश-विरति सामायिक असंख्येय भाग न्यून सिद्धों के द्वारा स्पृष्ट है। कोई जीव देशविरति सामायिक का स्पर्श किये बिना ही मुक्त हो जाते हैं। जैसे—मछदेवी।

## ६. सामायिक और ज्ञान

दोसु जुगवं चिय दुगं भयणा देसविरइए य चरणे य ।  
ओहिम्मि न देसवयं पडिवज्जइ होइ पडिवन्नो ॥  
देसवयवज्जं पवन्नो माणसे समं पि च चरित्तं ।  
भवकेवले पवन्नो पुव्वं सम्मत्त-चारित्तं ॥  
(विभा २७२८, २७२९)

- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक की प्राप्ति युगपत् होती है। देशविरति और सर्वविरति सामायिक की भजना है।
- अवधिज्ञान में सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति सामायिक पूर्व-प्रतिपन्न होते हैं। उसमें देशविरति सामायिक की प्रतिपत्ति नहीं होती, सर्वविरति सामायिक की प्रतिपत्ति हो सकती है।
- मनःपर्यवज्ञान में देशविरति सामायिक को छोड़कर तीन सामायिक पूर्व प्रतिपन्न होते हैं। चारित्र सामायिक मनःपर्यवज्ञान के साथ भी प्राप्त हो सकता है।
- भवस्थ केवली के सम्यक्त्व और चारित्र सामायिक पूर्वप्रतिपन्न होते हैं।

## १०. सामायिक और उपयोग

संवाओ लद्धीओ जइ सागारोवओगभावम्मि ।  
इइ कहमुवओगदुगे लब्भइ सामाअयचउक्कं ॥  
सो किर निअमो परिवड्ढमाणपरिणामयं पइ इहं तु ।  
जोअवट्टियपरिणामो लभेज्ज स लभिज्ज बीए वि ॥  
(विभा २७३१, २७३२)

यदि सारी लब्धियां साकार उपयोग में ही उत्पन्न होती हैं तब साकार और अनाकार—दोनों में चारों सामायिक की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

साकार उपयोग की बात परिवर्धमान परिणामों की अपेक्षा से कही गई है। अवस्थित परिणाम की अपेक्षा अनाकार उपयोग में भी चारों सामायिक प्राप्त हो सकते हैं।

यास्तु प्रथमसम्यक्त्वलाभकालेऽन्तरकरणप्रविष्टस्या-  
वस्थिताध्यवसायस्य सम्यक्त्वादिलब्धयो भवन्ति ता  
अनाकारोपयोगेऽपि भवन्ति न कश्चिद् दोषः । अन्तरकरणे  
च वर्तमानः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकलाभसमकालमेव  
कश्चिदतिविशुद्धत्वाद् देशविरतिम्, अपरस्त्वतिविशुद्ध-  
तरत्वात् सर्वविरतिमपि प्रतिपद्यते, इत्यौपशमिकसम्य-  
क्त्वलाभकालेऽवस्थितपरिणामस्यानाकारोपयोगवर्तिनोऽपि  
चत्वार्यपि सामायिकानि भवन्ति ।

(विभामवृ २ पृ १६०)

सर्वप्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय अंतरकरण में प्रविष्ट जीव के परिणाम अवस्थित होते हैं। अवस्थित परिणाम के कारण अनाकार उपयोग में भी सम्यक्त्व आदि लब्धियां प्राप्त हो सकती हैं।

सम्यक्त्व और श्रुत की प्राप्ति के साथ ही परिणाम-विशुद्धि के कारण देशविरति और सर्वविरति सामायिक भी प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्ति के समय अवस्थित परिणामी जीव अनाकार उप-योग में भी चारों सामायिक प्राप्त कर सकता है।

## ११. सामायिक और कर्मस्थिति

अट्टण्हं पयडीणं उक्कोसट्टिइइ वट्टमाणो उ ।  
जीवो न लहइ सामाअयं चउण्हं पि एगयरं ॥  
सत्तण्हं पयडीणं अन्धितरओ उ कोडिकोडीणं ।  
काऊण सागराणं जह लहइ चउण्हमण्णयरं ॥  
(आवनि १०५, १०६)

आठों कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में वर्तमान जीव सामायिक चतुष्टयी में से एक भी सामायिक प्राप्त नहीं कर सकता।

आयुष्य को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियों की स्थिति जब अंतः कोटि-कोटि सागरोपम रहती है, तब जीव चारों में से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकता है।

उक्कोसयट्टितीए पडिवज्जंते य णत्थि पडिवण्णो ।  
अजहण्णमणुक्कोसे पडिवज्जंते य पडिवण्णे ॥

(आवनि ८१७)

आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति में संक्लिष्ट परिणामों के कारण जीव कोई भी सामायिक प्राप्त नहीं कर सकता। कर्मों की मध्यम स्थिति होने पर ही जीव के चारों सामायिक पूर्व प्रतिपन्न भी हो सकते हैं और प्राप्त भी हो सकते हैं।

## १२. सामायिक और संज्ञी-असंज्ञी

भवसिद्धिओ य जीवो पडिवज्जइ सो चउण्हमण्णयरं ।  
पडिसेहो पुण असण्णि-मीसए सण्णि पडिवज्जे ॥  
(आवनि ८१३)

पुणसद्दाओऽसण्णी सम्मसुए होज्ज पुव्वपडिवन्तो ।  
मीसो भवत्थकाले सम्मत्त-चरित्तपडिवन्तो ॥  
(विभा २७१३)

भव्य और संज्ञी जीव चारों में से किसी भी सामायिक के प्रतिपत्ता हो सकते हैं। असंज्ञी, नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी (सिद्ध) और अभव्य — ये तीनों किसी भी सामायिक के प्रतिपत्ता या पूर्वप्रतिपन्न नहीं होते।

यद्यपि सिद्ध सम्यक्त्व सामायिक से पूर्वप्रतिपन्न होते हैं, किन्तु सम्यक्त्व वजित तीन सामायिक संसारी जीवों के ही संभव है। सामायिकत्रय के साहचर्य के कारण सम्यक्त्व सामायिक को भी संसारी जीवों से संबंधित मान कर सिद्धों में उसका निषेध किया गया है।

असंज्ञी जीवों में भी सास्वादन सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक पूर्व-प्रतिपन्न होते हैं।

नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी—भवस्थ केवली सम्यक्त्व सामायिक और चारित्र सामायिक से पूर्वप्रतिपन्न होते हैं। (देखें—विभामवृ २ पृ १५३)

### आहारक-पर्याप्तक

आहारओ उ जीवो पडिवज्जइ सो चउण्हमण्णयरं ।  
एमेव य पज्जत्तो सम्मत्तसुए सिया इयरो ॥  
(आवनि ८१५)

पुव्वपवण्णोऽणाहारगो दुगं सो भवंतरालम्मि ।  
चरणं सेलेसाइसु इयरो त्ति दुगं अपज्जत्तो ॥  
(विभा २७१८)

• आहारक और पर्याप्तक जीव चारों में से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा चारों सामायिक हो सकते हैं।

• अन्तरालगति के समय अनाहारक अवस्था में पूर्व-प्रतिपन्न की अपेक्षा सम्यक्त्व और श्रुत दो सामायिक हो सकते हैं।

• केवली समुद्घात की अनाहारक अवस्था तथा शैलेशी

अवस्था में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा सम्यक्त्व और चारित्र सामायिक होते हैं।

• अपर्याप्त अवस्था में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक हो सकते हैं।

### संस्थान, संहनन, अवगाहना

सव्वेसुवि सठाणेसु लहइ एमेव सव्वसंघयणे ।  
उवकोसजहण्णं वज्जिऊण माणं लहे मणुओ ॥

(आवनि ८२१)

सभी संस्थानों और सहननों में पूर्वप्रतिपन्नता और प्राप्ति की अपेक्षा चारों सामायिक हो सकते हैं।

उत्कृष्ट और जघन्य भवमाहना को छोड़कर मध्यम अवगाहना वाले गर्भज मनुष्य में पूर्वप्रतिपन्नता और प्राप्ति की अपेक्षा चारों सामायिक हो सकते हैं।

न जहन्नोगाहणओ पवज्जए, दोण्णि होज्ज पडिवन्तो ।  
उक्कोसोगाहणगो दुहा वि दो तिन्नि उ त्तिरिक्खो ॥

(विभा २७३९)

जघन्य अवगाहना वाले गर्भज मनुष्य और तिर्यञ्च कोई भी सामायिक प्राप्त नहीं कर सकते। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा प्रथम दो सामायिक हो सकते हैं। उत्कृष्ट अवगाहना वाले मनुष्य और तिर्यञ्च में पूर्वप्रतिपन्नता और प्राप्ति की अपेक्षा प्रथम दो सामायिक हो सकते हैं। मध्यम अवगाहना वाले तिर्यञ्च प्रथम तीन सामायिक के प्रतिपत्ता हो सकते हैं।

### आयुष्य

संखेज्जाऊ चउरो भयणा सम्मसुएऽसंखवासाणं ।.....  
(विभा २७२७)

संख्येय वर्ष की आयु वाले जीव चारों ही सामायिक के प्रतिपत्ता हो सकते हैं।

असंख्येय वर्ष की आयु वाले जीवों में सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक वैकल्पिक है।

### चार गति

चउसु वि गईसु नियमा सम्मत्तसुयस्स होइ पडिवत्ती ।  
मणुएसु होइ विरई विरयाविरई य त्तिरिएसु ॥  
(आवनि ८१२)

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—इन चारों गतियों में नियम से सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक के प्रतिपत्ता होते हैं। सर्वविरति सामायिक के प्रतिपत्ता

मनुष्य तथा देशविरति सामायिक के प्रतिपत्ता मनुष्य और तिर्यच—दोनों होते हैं ।

### १३. सामायिक के ग्राह्य और वर्जनीय नक्षत्र

मियसिर अद्दा पुस्से तिन्नि य पुव्वाइं मूलमस्सेसा ।  
हत्थो चित्ता य तद्दा दस विद्धिकराइं नाणस्स ॥  
(विभा ३४०८)

ज्ञानवृद्धिकारक इन दस नक्षत्रों में सामायिक ग्रहण करना चाहिए—

- |                     |               |
|---------------------|---------------|
| १. मृगशिर           | ६. पूर्वाषाढा |
| २. आर्द्रा          | ७. मूल        |
| ३. पुष्य            | ८. अश्लेषा    |
| ४. पूर्वाप्रोष्ठपदा | ९. हस्त       |
| ५. पूर्वाफाल्गुनी   | १०. चित्रा ।  |

संक्रायं रविगयं विड्डेरं सग्हं विलंबं वा ।  
राहुहयं महभिणं च वज्जए सत्त नक्खत्ते ॥  
(विभा ३४०९)

सामायिक ग्रहण में वर्जनीय सात नक्षत्र

- |             |                |
|-------------|----------------|
| १. संघ्यागत | ५. विलंबी      |
| २. रविगत    | ६. राहुहत      |
| ३. विड्डेर  | ७. ग्रहभिन्न । |
| ४. सग्रह    |                |

### ग्राह्य और वर्जनीय तिथियां

चाउट्ठसि पण्णरसि वज्जेज्जा अट्टमि च नवमि च ।  
छट्ठि च चउत्थि बारसि च सेसासु देज्जाहि ॥  
(विभा ३४०७)

चतुर्दशी, पूर्णिमा या अमावस्या, अष्टमी, नवमी, षष्ठी, चतुर्थी और द्वादशी—ये तिथियां सामायिक ग्रहण के लिए वर्जनीय हैं । शेष तिथियों—१, २, ३, ५, ७, १०, ११, १३ में श्रुत की वाचना दी जा सकती है ।

### ग्राह्य दिशाएं

पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व दिज्जाहवा पडिच्छेज्जा ।  
जाए जिणादओ वा दिसाइ जिणवेइयाइं वा ॥  
(विभा ३४०६)

सामायिक देने वाला या सामायिक ग्रहण करने वाला पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होना चाहिए अथवा वे दोनों उस दिशा के अभिमुख हों, जिस दिशा में जिन आदि विचरण कर रहे हों या जितचित्य हों ।

### प्रशस्त-अप्रशस्त क्षेत्र

विणयवओ वि य कयमंगलस्स तदविग्घपारगमभाय ।  
देज्ज सुकओवओगो खित्ताईसु सुपसत्थेसु ॥  
उच्छुवणे सालिवणे पढमसरे कुसुमिए व वणसडे ।  
गंभीर साणुणाए पयाहिणजले जिणहरे वा ॥  
दिज्ज न उ भग्ग-उम्भामिय-मसाण-सुन्नामणुन्नमेहेसु ।  
छारंगारक्खया रामेज्जाईदव्वदुट्ठेसु ॥  
(विभा ३४०३-३४०५)

जो विनय से सम्पन्न है, अप्रमत्त है, कृतमंगल है, उसे अपने अनुष्ठान का निविघ्न पार पाने के लिए प्रशस्त क्षेत्र में श्रुत आदि सामायिक प्रदान करना चाहिए ।

इक्षुवन, शालिवन, पद्मसर, कुसुमित वनखण्ड और ऐसा जिनमन्दिर जो गंभीर—द्राक्षा, चन्दनलता आदि से आच्छादित हो सानुनाद—प्रतिध्वनित होने वाला हो तथा प्रदक्षिणजल वाला हो—जहां जल प्रदक्षिणा करता हुआ बहता हो—ये श्रुत आदि सामायिक देने के लिए प्रशस्त क्षेत्र हैं ।

भग्नभूमि—खण्डहर, दग्धभूमि, शमशान, मूय्यगृह, अमनीज गृह और शार, अंगार, अवस्कर, अमेध्य आदि निकृष्ट द्रव्यों से युक्त स्थान—इन अप्रशस्त क्षेत्रों में सामायिक का आदान-प्रदान नहीं करना चाहिये ।

### १४. सामायिकसूत्र

करेमि भंते ! सामाइयं—सर्वं सावज्जं जोगं पच्च-  
क्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं—मणेणं वायाए  
काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणु-  
जाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निदामि गरिहामि  
अप्पाणं वोत्तिरामि । (आव १।२)

भगवन् ! मैं सामायिक करता हूँ । मैं जीवन-पर्यन्त समस्त पापकारी प्रवृत्ति का, तीन करण—मन, वचन और काया से तथा तीन योग—करने, कराने और अनु-  
मोदन करने का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भगवन् ! अतीत में किए हुए पाप का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षी से उसकी निन्दा करता हूँ, आपकी साक्षी से उसकी गद्दी करता हूँ और अपने आपको सपाप प्रवृत्तियों से पृथक् करता हूँ ।



## १५. सामायिक का महत्त्व

तत्थज्ज्जयणं सामादयं ति समभावलक्खणं पढमं ।  
जं सव्वगुणाहारो वोमं पिव सव्वदब्बाणं ॥

(विभा ९०५)

समभावलक्खणं सव्वचरणादिगुणाधारं वोमंपिव  
सव्वदब्बाणं सव्वविसेसलद्धीण य हेतुभूतं पायं पावअंकुस-  
दाणं । (अनुचू पृ १८)

आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन है—सामायिक ।

सामायिक का लक्षण है—समभाव । जैसे आकाश  
सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही यह चारित्र आदि गुणों  
का आधार है । यह सब विशिष्ट लब्धियों में हेतुभूत  
बनता है । इससे पापों पर अंकुश लगता है ।

अहवा तब्भेय च्चिय सेसा जं दंसणाइयं तिविहं ।  
न गुणो य नाण-दंसण-चरणभहिवो जओ अत्थि ॥

(विभा ९०६)

षडावश्यक में सामायिक प्रथम आवश्यक है ।

चतुर्विंशति आदि शेष पांच आवश्यक एक अपेक्षा से  
सामायिक के ही भेद हैं । क्योंकि सामायिक ज्ञान-दर्शन-  
चारित्र रूप है और चतुर्विंशति आदि में इन्हीं गुणों का  
समावेश है । ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही प्रधान गुण हैं ।

....सामादएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

(उ २९।९)

सामायिक से सावद्ययोग—असत् प्रवृत्ति की विरति  
होती है ।

## चौदह पूर्वों का सार

संखिवणं संखेवो सो जं थोवक्खरं महत्थं च ।

सामादयं संखेवो चोदसपुव्वत्थपिडो ति ॥

(विभा २७९६)

सामायिक का एक निर्वचन है—संक्षेप । इसमें अक्षर  
कम और अर्थ महान् है । संक्षेप में सामायिक चौदह  
पूर्वों का सार है ।

सास्वादन सम्यक्त्व—औपशमिक-सम्यक्त्व से  
गिरने वाला जीव जब मिथ्यात्व को प्राप्त  
होता है, तब अन्तराल काल में प्राप्त होने  
वाला सम्यक्त्व । (द्र. सम्यक्त्व)

सास्वादन सम्यग्दृष्टि—जो जीव उपशम सम्यक्त्व  
से च्युत होकर मिथ्यात्व की ओर अग्रसर हो

रहा है, किंतु मिथ्यात्व को अभी तक प्राप्त  
नहीं हुआ है, उसकी आत्म-विशुद्धि । गुणस्थान  
का दूसरा प्रकार । (द्र. गुणस्थान)

सिद्ध—कर्मबंधन से मुक्त जीव, परमात्मा ।

१. सिद्ध का निर्वचन

२. सिद्धों का स्वरूप

३. सिद्ध मंगल

४. सिद्ध के एकार्यक

५. सिद्ध के निक्षेप

६. सिद्धकेवलज्ञान के प्रकार

७. सिद्धों के प्रकार

० तीर्थ सिद्ध, अतीर्थ सिद्ध....

० सिद्ध होने के स्थान

\* प्रत्येकबुद्ध सिद्ध

(द्र. प्रत्येकबुद्ध)

\* सिद्धि का मार्ग : साध्य-सिद्धि का क्रम

(द्र. मोक्ष)

\* कर्मक्षय की प्रक्रिया

(द्र. गुणस्थान)

\* अनावि कर्मसंबंध का अंत कैसे ?

(द्र. कर्म)

\* सिद्धिगमन के योग्य

(द्र. मध्य)

८. सिद्धों के गुण

९. सिद्धों का सुख

१०. सिद्ध अनावि

११. सिद्धों की ऊर्ध्वपति

१२. सिद्धों की अवगाहना

१३. सिद्ध होने से पूर्व की अवगाहना

१४. सिद्धों का संस्थान

१५. सिद्धों की अवस्थिति

० सिद्धों का अवगाह क्षेत्र और स्पर्शाना

\* सिद्धालय

(द्र. ईशत्-प्राग्भार)

१६. परिमित क्षेत्र में अनंत सिद्ध कैसे ?

## १. सिद्ध का निर्वचन

दीहकालरयं जं तु कम्मं से सिअमट्टहा ।

सियं धतं ति सिद्धस्स सिद्धत्तमुवजायइ ॥

सितं बद्धं...ध्मात्...ध्यानात्तलेन दग्धं...सिद्धः

(आवनि ९५३ हाव १ पृ २९३)

सित का अर्थ है—बद्ध और ध्मात् का अर्थ है—दग्ध

करना । जो आठ प्रकार की बद्ध कर्मरजों को ध्यानाग्नि से दग्ध करता है, वह सिद्ध है ।

## २. सिद्धों का स्वरूप

अरुविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया ।....

(उ ३६।६६)

सिद्ध जीव अरूप, सधन (एक-दूसरे से सटे हुए) और ज्ञान-दर्शन में सतत उपयुक्त होते हैं ।

कम्मविवेगो असरीरयाय असरीरया अणावाहा ।

होअणवाहनिमित्तं अवेयणमणाउलो निरुओ ॥

नीरुयत्ताए अयलो अयलत्ताए य सासओ होइ ।

सासयभावमुवगओ अवावाहं सुहं लहइ ॥

(आवनि ७४७, ७४८)

सिद्ध कर्ममुक्त होते हैं, अशरीरी होते हैं । कर्मविवेक (कर्मक्षय) से अशरीरता, अशरीरता से अनावाधा, अनावाधा से असंवेदन, असंवेदन से अनाकुलता, अनाकुलता से अरुजता, अरुजता से अचलता, अचलता से शाश्वतता और शाश्वतता से अवावाध सुख प्राप्त होता है । इस प्रकार इनमें परस्पर कारण-कार्य भाव है ।

सोऽणवराहो व्व पुणो न बज्झए बंधकारणाभावा ।

जोगा य बंधहेऊ न य ते तस्सासरीरो त्ति ॥

(विभा १८४०)

मुक्त जीव पुनः बद्ध नहीं होता, क्योंकि उसमें बन्ध के कारणों का अभाव है । बन्ध का कारण है योग-प्रवृत्ति । वह मुक्त जीव में नहीं होती, क्योंकि उनके शरीर नहीं होता ।

....सागारमणागारं लक्खणमेअं तु सिद्धाणं ॥

केवलनाणुवउत्ता जाणंती सव्वभावगुणभावे ।

पासंति सव्वओ खलु केवलद्विद्वीहिऽणंताहि ॥

(आवनि ९७७, ९७८)

सिद्धों का लक्षण है—साकार उपयोग और अनाकार उपयोग । वे केवलज्ञानोपयुक्त ही सब पदार्थों के गुण-पर्यायों को जानते हैं और अनंत केवलदर्शन से उन्हें देखते हैं । वे ज्ञानोपयोग में मुक्त होते हैं इसलिए यहां पहले ज्ञान का उल्लेख हुआ है ।

सिद्धों के युगपत् दो उपयोग नहीं होते । (द्र. केवली)

## ३. सिद्ध मंगल

सिद्धाण नमुक्कारो सव्वपावपणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसि विइअं होइ मंगलं ॥

(आवनि ९९२)

सिद्ध को नमस्कार करने से सब पापोंका नाश होता है और यह सभी मंगलों में दूसरा मंगल है ।

(द्र. नमस्कार; मंगल)

## ४. सिद्ध के एकार्थक

सिद्धत्ति अ बुद्धत्ति अ पारगयत्ति अ परंपरगयत्ति ।

उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असंगा य ॥

(आवनि ९८७)

सिद्ध के आठ एकार्थक हैं—

सिद्ध—कृतकृत्य ।

बुद्ध—सर्व ज्ञाता ।

पारगत—संसार-समुद्र से पारगामी, तीर्थ ।

परम्परागत—दर्शन, ज्ञान, चरण की क्रमबद्ध साधना के द्वारा मुक्त होने वाले ।

उन्मुक्त-कर्मकवच—सब कर्मों से मुक्त ।

अजर—वय और बुढ़ापे से मुक्त ।

अमर—मृत्यु से मुक्त ।

असंग—सब क्लेशों से मुक्त ।

## ५. सिद्ध के निक्षेप

सिद्धो जो निष्फन्नो जेण गुणेण स य चोइसविगप्पो ।

नेओ नामाईओ ओयणसिद्धाइओ दव्वे ।

कम्मसे सिप्पे य विज्जाए मंते जोमे य आगमे ।

अत्थजत्ताअभिप्पाए तवे कम्मक्खए इय ॥

(विभा ३०२७, ३०२८)

जो जिस गुण से निष्पन्न होता है तथा पुनः निष्पन्न होना नहीं पड़ता, वह उस गुण में सिद्ध कहलाता है ।

सिद्ध के चौदह प्रकार हैं—

१. नामसिद्ध—जिसका नाम सिद्ध हो ।

२. स्थापनासिद्ध—सिद्ध की मूर्ति या कलाकृति ।

३. द्रव्यसिद्ध—ओदन आदि द्रव्य पक जाने पर उन्हें सिद्ध हुआ कहा जाता है ।

४. कर्मसिद्ध—कर्म—भारवहन, कृषि, वाणिज्य आदि प्रवृत्तियों में दक्ष । मुनि गुरुतरभारवाही होने के कारण कर्मसिद्ध होते हैं । कहा है—

‘बुज्झंति नाम भारा ते पुण बुज्झंति वीसमंतेहि ।  
सीलभरो वोढव्वो जावज्जीवं अविस्सामो ॥’

५. शिल्पसिद्ध—जो आचार्य द्वारा शिक्षित अथवा किसी ग्रन्थ द्वारा गृहीत विशिष्ट कर्म है, वह शिल्प कह-

लाता है। घट-निर्माण, मूर्ति-निर्माण आदि शिल्प हैं। सोपारक नगर का वर्द्धकी कोवकास यांत्रिक वस्तुओं के निर्माण में दक्ष था। उसने अपने यांत्रिक कबूतरों से राजा के कोष्ठागार से गंधशाली का अपहरण कर लिया था। वह शिल्पसिद्ध वर्द्धकी था।

६. विद्यासिद्ध—जो समस्त विद्याओं का चक्रवर्ती है अथवा महापुरुष द्वारा प्रदत्त महाविद्या का ज्ञाता है वह विद्यासिद्ध है। आर्य खपुट विद्यासिद्ध आचार्य थे। उनका एक शिष्य भृगुकच्छ में जाकर बौद्ध बन गया। वह आकाशमार्ग से ज्ञात पदार्थों से भरे भांड मंगाने लगा। आचार्य को ज्ञात हुआ। वे वहां गए और आकाशमार्ग से आते हुए खाद्य भांडों को बीच में ही नष्ट कर दिया। एक दिन बौद्ध भिक्षु आचार्य को अपने मंदिर में ले गए और बोले—बुद्ध के चरणों में वंदना करो। आचार्य खपुट मूर्ति को संबोधित कर बोले—शुद्धोदनपुत्र! आओ, मेरे चरणों में वंदना करो। मूर्ति से बुद्ध की प्रतिकृति निकली और आचार्य के चरणों में नत हो गई। द्वार पर स्थित स्तूप से कहा—तुम भी वंदना करो। स्तूप आया, वंदना की मुद्रा में स्थित हुआ। आचार्य ने कहा—उठो, वह आधा उठा। आचार्य ने कहा—बस। आज भी वह स्तूप अर्द्धनत स्थिति में है।

७. मंत्रसिद्ध—जिसने सभी प्रकार के मंत्र अथवा एक महामंत्र हस्तगत कर लिया है, वह मंत्रसिद्ध है।

८. योगसिद्ध—परम आश्चर्य पैदा करने वाले द्रव्य-संमिश्रणों का ज्ञाता। वज्रस्वामी के मातुल आर्य-समित योगसिद्ध थे। वे नदी पर गए। नदी से मार्ग मांगते हुए उन्होंने नदी में यौगिकद्रव्य का प्रक्षेप किया। नदी के दोनों तट सिमट गए।

९. आगमसिद्ध—समस्त श्रुत का पारंगामी। इसका ज्ञान इतना विशद होता है कि स्वयंभूरमण के मत्स्य आदि जो चेष्टाएं करते हैं, वे सारी ज्ञात हो जाती हैं। वह संख्यातीत भवों का कथन कर सकता है अथवा प्रश्नकर्ता जिस भव की बात जानना चाहता है, वह उसका कथन करने में सक्षम होता है।

१०. अर्थसिद्ध—राजगृहवासी 'मम्मण' सेठ ने धन-संप्रह की तृष्णा से अभिभूत होकर रत्नमय द्वितीय वृषभ की पूति की, जिसकी पूति राजगृह के अधिपति महाराज

श्रेणिक भी नहीं कर सकते थे। मम्मण अर्थसिद्ध था।

११. यात्रासिद्ध—स्थल, जल तथा आकाश मार्गों में यथेष्ट यात्रा करने में निपुण। जो बारह बार सामुद्रिक यात्रा में अपना कार्य संपन्न कर सकुशल लौट आता है तथा अन्यान्य यात्री जिससे यात्रासिद्धि के लिए मंत्रणा करते हैं, वह यात्रासिद्ध है। तुंडिक सामुद्रिक व्यापारी था। सैंकड़ों बार उसके अहाज समुद्र में टूटे, परन्तु वह हताश नहीं हुआ। उसने कहा—'जो जल में नष्ट होता है, उसकी पुनः प्राप्ति जल में ही होती है।' वह अपना सामुद्रिक व्यापार चलाता रहा। देवता ने उसके साहस से प्रसन्न होकर उसको प्रचुर धन दिया। देवता ने उसे वर मांगने के लिए कहा। तब वह वणिक् बोला—'जो मेरा नाम लेकर समुद्र का अवगाहन करे वह सकुशल लौट आए।' देवता ने तथास्तु कहा। तुंडिक यात्रासिद्ध था।

१२. अभिप्रायसिद्ध—अभिप्राय अर्थात् बुद्धि। जिसकी बुद्धि विस्तारवती, एक पद के आधार पर अनेक पदों को जानने वाली, सर्वथा निर्मल और सूक्ष्म होती है, वह बुद्धिसिद्ध है। जो औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि से संपन्न होता है, वह बुद्धिसिद्ध होता है।

१३. तपःसिद्ध—दृढ़प्रहारी की भांति बाह्य और आभ्यन्तर तप में क्लान्त नहीं होने वाला।

१४. कर्मक्षयसिद्ध—समस्त कर्मों का क्षय करने वाला अर्थात् समस्त कर्मक्षीण कर सिद्ध होने वाला।

(देखें—जावनि १२७-१५३ हावू १ पृ २७२-२९३)

## ६. सिद्धकेवलज्ञान के प्रकार

शैलेश्यवस्थापर्यन्तवर्तिसमयसमासादितसिद्धत्वस्य तस्मिन्नेव समये यत् केवलज्ञानं तदनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम्। ततो द्वितीयादिसमयेष्वनन्तामप्यनागतादां परम्परसिद्धकेवलज्ञानम्। सिद्धानामेवानन्तरभवगतोपाधिभेदेन पञ्चदशभेदभिन्नत्वात्। (नन्दीहावू पृ ३८)

सिद्धों का केवलज्ञान सिद्ध केवलज्ञान कहलाता है। उसके दो भेद हैं—

१. अनंतर सिद्धकेवलज्ञान।

२. परम्पर सिद्धकेवलज्ञान। (द्र. केवलज्ञान)

शैलेशी अवस्था के अनंतर सिद्धत्व प्राप्त होता है, उस क्षण का केवलज्ञान अनंतर सिद्धकेवलज्ञान है। सिद्ध-अवस्था से पूर्ववर्ती भवसंबन्धी उपाधि के भेद से सिद्धों के पंद्रह प्रकार हैं।

### ७. सिद्धों के प्रकार

अपंतरसिद्धकेवलनार्णं पण्णरसविहं पण्णत्तं, तं जहा—  
 तित्थसिद्धा अतित्थसिद्धा तित्थयरसिद्धा  
 अतित्थयरसिद्धा सयंबुद्धसिद्धा पत्तेयबुद्धसिद्धा  
 बुद्धबोहियसिद्धा इत्थिलिगसिद्धा पुरिसलिगसिद्धा  
 नपुंसकलिगसिद्धा सलिगसिद्धा अण्णलिगसिद्धा  
 गिहिलिगसिद्धा एकसिद्धा अणेगसिद्धा ।  
 (नन्दी ३१)

सिद्ध होने की पूर्व अवस्था के आधार पर अनंतर सिद्धकेवलज्ञान के पन्द्रह प्रकार हैं—

- |                       |                    |
|-----------------------|--------------------|
| १. तीर्थसिद्ध         | ९. पुरुषलिगसिद्ध   |
| २. अतीर्थसिद्ध        | १०. नपुंसकलिगसिद्ध |
| ३. तीर्थकरसिद्ध       | ११. स्वलिगसिद्ध    |
| ४. अतीर्थकरसिद्ध      | १२. अन्यालिगसिद्ध  |
| ५. स्वयंबुद्धसिद्ध    | १३. गृहलिगसिद्ध    |
| ६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध | १४. एकसिद्ध        |
| ७. बुद्धबोधितसिद्ध    | १५. अनेकसिद्ध ।    |
| ८. स्त्रीलिगसिद्ध     |                    |

### १. तीर्थसिद्ध

जे तित्थे सिद्धा ते तित्थासिद्धा, तित्थं च—चातुवण्णो समणसंघो ।  
 (नन्दीचू पृ २६)

जो चातुर्वर्णं श्रमणसंघ में प्रव्रजित होकर मुक्त होते हैं, वे तीर्थसिद्ध हैं ।

### २. अतीर्थसिद्ध

तीर्थस्याभावोऽतीर्थं तीर्थस्याभावश्चानुत्पादोऽपान्तराले व्यवच्छेदो वा तस्मिन् ये सिद्धाः तेऽतीर्थसिद्धाः । तीर्थस्यानुत्पादे सिद्धा मरुदेवीप्रभृतयः । न हि मरुदेव्यादिसिद्धिगमनकाले तीर्थमुत्पन्नमासीत् । तीर्थस्य व्यवच्छेदश्चन्द्रप्रभस्वामिसुविधिस्वाम्यपान्तराले । तत्र ये जातिस्मरणान्दिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धाः ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धाः ।  
 (नन्दीमवृ प १३०)

अतीर्थ के दो अर्थ हैं—१. तीर्थ की अनुत्पत्ति । २. दो तीर्थकरों के अन्तराल काल में तीर्थ का विच्छेद । उस समय मुक्त होने वाले जीव अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं । मरुदेवी माता तीर्थ स्थापना से पहले ही सिद्धगति को प्राप्त हो गई । चन्द्रप्रभु और सुविधिनाथ के अन्तराल काल में तीर्थ का विच्छेद हो गया । उस समय जातिस्मरण आदि के द्वारा संबुद्ध हो मुक्त होने वाले जीव अतीर्थसिद्ध कहलाये ।

### ३. तीर्थकरसिद्ध

रिसभादयो तित्थकरा, ते जम्हा तित्थकरणामकम्मु-  
 वयभावे द्विता तित्थकरभावातो वा सिद्धा तम्हा ते  
 तित्थकरसिद्धा ।  
 (नन्दीचू पृ २६)

जिनके तीर्थकर नामकर्म का उदय होता है और जो तीर्थकर अवस्था में मुक्त होते हैं, वे ऋषभ आदि तीर्थकरसिद्ध हैं ।

### ४. अतीर्थकरसिद्ध

अतित्थकरा सामण्यकेवलिणो गीतमादि, तम्मि  
 अतित्थकरभावे द्विता अतित्थकरभावातो वा सिद्धा  
 अतित्थकरसिद्धा ।  
 (नन्दीचू पृ २६)

अतीर्थकर का अर्थ है—सामान्य केवली, जैसे गीतम आदि । जो सामान्यकेवली के रूप में मुक्त होते हैं, वे अतीर्थकरसिद्ध हैं ।

### ५. स्वयंबुद्धसिद्ध

स्वयमेव बुद्धा स्वयंबुद्धा, सतं अप्पणिज्जं वा जाइसर-  
 णादिकारणं पडुच्च बुद्धा सतंबुद्धा । स्फुटतरमुच्यते—  
 बाह्यप्रत्ययमन्तरेण ये प्रतिबुद्धास्ते स्वयंबुद्धा ।  
 (नन्दीचू पृ २६)

जो स्वयं ही बुद्ध होकर मुक्त होते हैं, वे स्वयंबुद्धसिद्ध हैं । अथवा जिन्हें बाह्य निमित्त के बिना अपने जातिस्मरण आदि के कारण बोधि प्राप्त होती है, वे स्वयंबुद्ध हैं ।

बाह्यप्रत्ययमन्तरेण ये प्रतिबुद्धास्ते सयंबुद्धा । ...सयंबुद्धस्स बारसविहोऽवि उवहि भवति । पुव्वाधीतं से सुतं भवति वा ण वा । जति से णत्थि तो लिगं नियमां गुरुसंनिहे पडिवज्जति गच्छे य विहरति । अहवा पुव्वाधीतसुयसंभवो अत्थि तो से लिगं देवता पयच्छति गुरुसंनिहे वा पडिवज्जति । यदि य एगविहारविहरणजोगो इच्छा य से तो एयो वेव विहरति । अन्नहा गच्छे विहरति । एयम्मि भावे ठिता सिद्धा ।  
 (आवचू १ पृ ७६)

बाह्य निमित्त के बिना जो प्रतिबुद्ध होते हैं, वे स्वयंबुद्ध हैं । स्वयंबुद्ध के बारह प्रकार की उपधि होती है । उनके पूर्व अधीत श्रुत होता भी है और नहीं भी होता । यदि वे अनधीतश्रुत होते हैं तो नियमतः गुरु के पास लिग ग्रहण करते हैं और गच्छ में रहते हैं । जो पूर्व-अधीतश्रुत होते हैं, उन्हें देवता लिग प्रदान करते हैं अथवा

वे गुरु के पास लिंग ग्रहण करते हैं। यदि वे एकाकी विहार के योग्य हैं और उसके इच्छुक भी हैं तो एकाकी विहार करते हैं, अन्यथा गच्छ में विहरण करते हैं। इस अवस्था में सिद्ध होने वाले स्वयंबुद्धसिद्ध कहलाते हैं।

सहति—स्वयमात्मनैव सम्बुद्धः—सम्यगवगततत्त्वः सहसम्बुद्धो, नान्येन प्रतिबोधित इत्यर्थः, अथवा सहसा—जातिस्मृत्यनन्तरं भ्रमिष्येव बुद्धः। (उशावू प ३०६)

सह का अर्थ—स्वयं और संबुद्ध का अर्थ—सम्यक् तत्त्व का ज्ञाता। जो स्वयं तत्त्व को जानता है, किसी अन्य के द्वारा प्रतिबोधित नहीं है, वह सहसंबुद्ध है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—सहसा संबुद्ध अर्थात् जातिस्मृति के अनन्तर शीघ्र ही संबुद्ध होने वाला।

ते य दुविहा—तित्थगरा तित्थगरवतिरित्ता वा। इह वइरित्तेहि अधिकारो। (नन्दीचू पृ २६)

स्वयंबुद्ध के दो प्रकार हैं—तीर्थंकर और तीर्थंकर से इतर (साधु)। प्रस्तुत प्रसंग में तीर्थंकर से इतर विवक्षित हैं।

#### ६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध

किसी एक निमित्त से संबुद्ध हो मुक्त होने वाले। (अ. प्रत्येकबुद्ध)

#### ७. बुद्धबोधितसिद्ध

जे सतंबुद्धेहि तित्थकरादिएहि बोहिता, पत्तियबुद्धेहि वा कविलादिएहि बोधिता ते बुद्धबोधिता। अहवा बुद्धबोधिएहि बोधिता बुद्धबोधिता, एवं सुहम्मादिएहि जंबुणामादयो भवन्ति। अहवा बुद्ध इति—प्रतिबुद्धा, तेहि प्रतिबोधिता बुद्धबोधिता, प्रभवादिभिराचार्यैः। एतभावे द्विता एतातो वा सिद्धा बुद्धबोधितसिद्धा।

(नन्दीचू पृ २६, २७)

जो बुद्धबोधित होकर मुक्त होते हैं, वे बुद्धबोधितसिद्ध हैं। बुद्धबोधित के चार अर्थ किये गये हैं—

१. स्वयंबुद्ध तीर्थंकर आदि के द्वारा बोधि प्राप्त।
२. कपिल आदि प्रत्येकबुद्ध के द्वारा बोधि प्राप्त।
३. सुघर्मा आदि बुद्धबोधित के द्वारा बोधि प्राप्त।
४. आचार्य के द्वारा प्रतिबुद्ध प्रभव आदि आचार्य से बोधि प्राप्त।

#### ८, ९. स्त्रीलिंगसिद्ध, पुरुषलिंगसिद्ध

इत्थीए लिंगं इत्थिलिंगं, इत्थीए उवलक्खणं ति वृत्तं

भवति। तं तिविहं—वेदो सरीरनिव्वत्ती णेवच्छं च, इह सरीरनिव्वत्तीए अधिकारो, ण वेद णेवच्छेहि। तत्थ वेदे कारणं—जम्हा खीणवेदो जहण्णेणं अंतोमुहुत्तातो उक्कोसेणं देसूणपुध्वकोडीतो सिञ्जति, णेवच्छस्स य अणियतत्तणतो तम्हा ण तेहि अधिकारो। सरीरकारणणिव्वत्ती पुण णियमा वेदुदयातो णामकम्मदयाओ य भवति। तम्मि सरीरनिव्वत्तिलिगे ठिता सिद्धा ततो वा सिद्धा इत्थिलिंगसिद्धा। एवं पुरिस.....लिंगा वि भाणितव्वा।

(नन्दीचू पृ २७)

स्त्रीलिंग का अर्थ है—स्त्री का लिंग या चिह्न। यह स्त्री का उपलक्षण है। लिंग के तीन अर्थ हैं—वेद (कामविकार), शरीर-रचना और नेपथ्य (वेशभूषा)। यहाँ शरीर-रचना प्रासंगिक है, वेद और नेपथ्य नहीं। क्षीणवेद व्यक्ति जयन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि में अवश्य सिद्ध हो जाता है। नेपथ्य के संबन्ध में सिद्ध अनियत है, इसलिए यहाँ वेद और नेपथ्य का प्रसंग नहीं है। शरीर की आकाररचना नियमतः वेदमोहनीय और शरीर नामकर्म के उदय से होती है। जो स्त्री की शरीर-रचना में मुक्त होते हैं, वे स्त्रीलिंगसिद्ध हैं। जो पुरुष की शरीर-रचना में मुक्त होते हैं, वे पुरुषलिंगसिद्ध हैं।

सम्मूर्च्छिभादयो भवस्वभावत एव न सम्यग्दर्शनादिकं यथावत् प्रतिपत्तुं शक्नुवन्ति, ततो न तेषां निर्वाणसम्भवः, स्त्रियस्तु प्रागुक्तप्रकारेण यथावत्सम्यग्दर्शनादिरत्तत्रयसम्पद्योग्याः, ततस्तासां न निर्वाणभावः। अपि च—भुजपरिसर्पा द्वितीयामेव पृथिवीं यावद् गच्छन्ति, न परतः, परपृथिवीगमनहेतुतथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात्, तृतीयां यावत् पक्षिणः, चतुर्थीं चतुष्पदाः, पञ्चमीं मुरगाः, अथ च सर्वेऽप्यूर्ध्वमुःकर्षतः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति, तन्नाधोगतिविषये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यदर्शनाद्दुर्ध्वगतावपि तद्वैषम्यं, तथा स सति सिद्धं स्त्रीपंसामधोगतिवैषम्येऽपि निर्वाणसमम्। (नन्दीमवू प १३३)

सम्मूर्च्छिम जीव स्वभाव से ही सम्यक् दर्शन आदि की आराधना नहीं कर सकते, अतः उनका निर्वाण असंभव है।

स्त्रियां ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य—इस रत्नत्रयी की आराधना कर सकती हैं। अतः उनके लिए निर्वाण असंभव नहीं है।

भुजपरिसर्प दूसरी नरकभूमि तक, पक्षी तीसरी

नरकभूमि तक, चतुष्पद चौथी नरकभूमि तक और उर-परिसर्प पांचवीं नरकभूमि तक जा सकते हैं, उससे आगे जाने योग्य मनोवीर्य उनमें नहीं होता। ऊर्ध्वलोक में ये सब सहस्रार कल्प तक जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि जिनके अधोगति संबंधी मनोवीर्य की परिणति में वैषम्य है, उनके ऊर्ध्वगति संबंधी वैषम्य नहीं है। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के अधोगति के संबंध में जैसे वैषम्य है, वैसे निर्वाण के संबंध में वैषम्य नहीं है। स्त्री सातवीं नरकभूमि में नहीं जाती, पुरुष सातवीं पृथ्वी तक जा सकते हैं। किन्तु स्त्री और पुरुष—दोनों मुक्त हो सकते हैं।

तीर्थंकरा अपि स्त्रीलिङ्गसिद्धा भवन्ति? भवन्तीत्याह, यत उक्तं सिद्धप्राभूते—“सव्वत्थोवा तित्थगरीसिद्धा, तित्थगरित्थे णोत्तित्थसिद्धा संखेज्जगुणा, तित्थगरित्थे णोत्तित्थगरिसिद्धाओ संखेज्जगुणाओ, तित्थगरित्थे णोत्तित्थगरिसिद्धा संखेज्जगुणा।”

(नन्दीहावृ प ३९)

क्या तीर्थंकर भी स्त्रीलिंगसिद्ध होते हैं? इसका सकारात्मक उत्तर सिद्धप्राभूत में मिलता है—“स्त्री तीर्थंकर सबसे कम होते हैं। उनके तीर्थ—शासन काल में नोतीर्थ सिद्ध संख्येय गुण, नोतीर्थंकरी सिद्ध (सामान्य केवली स्त्री) उससे संख्येय गुण और नोतीर्थंकर सिद्ध (सामान्य केवली पुरुष) उससे संख्येय गुण होते हैं।”

तीर्थंकर स्त्री और पुरुष—इन दो लिंगों में ही होते हैं। प्रत्येकबुद्ध पुरुष ही होते हैं।

#### १०. नपुंसकलिंगसिद्ध

नपुंसकेषु—वद्वितचिपितादिषु... सिध्यति।

(उशावृ प ६८३)

जो कृत्रिम नपुंसक के रूप में मुक्त होते हैं, वे नपुंसकलिंगसिद्ध हैं।

#### ११. स्वलिंगसिद्ध

द्वलिंगं प्रति रजोहरण-मुहपोत्ति-पडिग्गह-धारणं सलिंगं, एतम्मि द्वलिंगे द्विता एततातो वा सिद्धा सलिंगसिद्धा।

(नन्दीचू पृ २७)

स्वलिंगं च मुक्तिपथप्रस्थितानां भावतोऽनगारत्वादन-गारलिङ्गमेव रजोहरणमुखवस्त्रिकादिरूपम्।

(उशावृ प ६७८)

जो भावतः अनगार हैं और बाह्यतः अपने लिंग—रजोहरण, मुखवस्त्रिका, प्रतिग्रह आदि मुनिवेश में मुक्त होते हैं, वे स्वलिंगसिद्ध हैं।

#### १२. अन्यलिंगसिद्ध

तावसपरिवायगादिवक्कलकासायमादिद्वलिंगद्विता सिद्धा अणलिंगसिद्धा।

(नन्दीचू पृ २७)

जो तापस, परित्राजक आदि वक्कल, काषाय वस्त्र, कमंडलू आदि द्रव्यलिंग में सिद्ध होते हैं, वे अन्यलिंगसिद्ध हैं।

अन्नलिंगसिद्धकेवलणाणं णाम जं अन्नलिंगेण सम्मत्तं पडिवन्नस्स केवलणाणं समुप्पज्जति। समुप्पत्तिकालसमयमेव कालं करेति तं अन्नलिंगसिद्धकेवलणाणं भन्ति। सो य अन्नलिङ्गिकेवली जति आउयमप्पणो अपरिक्खीणं पासति ततो साधुलिंगं चेव पडिवज्जति।

(आवचू १ पृ ७६)

सम्यक्त्व-प्रतिपन्न अन्यलिंगी केवलज्ञान प्राप्त करता है और यदि वह उसी क्षण मुक्त हो जाता है तो उसका केवलज्ञान अन्यलिंगसिद्ध केवलज्ञान कहलाता है। यदि तत्काल उसका आयुष्य क्षीण नहीं होता है तो वह स्वलिंग—साधुवेश को ही स्वीकार करता है।

#### १३. गृहलिंगसिद्ध

केसादि अलंकरणादिए द्वलिंगे द्विता सिद्धा गिहिलिंगसिद्धा।

(नन्दीचू पृ २७)

गृहिलिङ्गे गृहस्थवेषे सिद्धा मरुदेवीस्वामिनीवत्।

(उशावृ प ६७८)

केश, अलंकार आदि से युक्त द्रव्यलिंग—गृहस्थवेश में जो सिद्ध होते हैं, वे गृहलिंगसिद्ध हैं। जैसे—मरुदेवा।

#### १४. एकसिद्ध

एकसिद्ध त्ति—एकम्मि समए एक्को चेव सिद्धो।

(नन्दीचू पृ २७)

एक समय में एक सिद्ध होता है, वह एकसिद्ध है।

#### १५. अनेकसिद्ध

अनेकसिद्ध त्ति—एकम्मि समए अणेगे सिद्धा दुगादि जाव अट्टसत्तं।

वत्तीसा अडयाला सट्ठी वावत्तरी य बोधव्वा।

चुलसीती छणउती दुरहित अट्ठुत्तरसत्तं च॥

(नन्दीचू पृ २६, २७)

अनेकसिद्ध—एक समय में अनेक जीवों का सिद्ध होना ।

एक साथ एक समय में जघन्य दो ओर उत्कृष्टतः एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं ।

- यदि एक समय में उत्कृष्ट ३२ जीव सिद्ध हों तो निरन्तर आठ समय तक बत्तीस-बत्तीस सिद्ध हो सकते हैं, तत्पश्चात् अवश्य विरहकाल होता है ।
- यदि एक समय में उत्कृष्ट ४८ की संख्या में सिद्ध हों तो निरन्तर सात समय तक इतने हो सकते हैं ।
- यदि एक समय में उत्कृष्ट ६० जीव सिद्ध हों तो निरन्तर छह समय तक इतने हो सकते हैं ।
- यदि एक समय में उत्कृष्ट ७२ सिद्ध हों तो निरन्तर पांच समय तक इतने सिद्ध हो सकते हैं ।
- यदि एक समय में उत्कृष्ट ८४ सिद्ध हों तो निरन्तर चार समय तक इतने सिद्ध हो सकते हैं ।
- यदि एक समय में उत्कृष्ट ९६ जीव सिद्ध हों तो निरन्तर तीन समय तक इतने जीव सिद्ध हो सकते हैं ।
- यदि एक समय में उत्कृष्ट १०२ जीव सिद्ध हों तो निरन्तर दो समय तक इतने जीव सिद्ध हो सकते हैं ।
- यदि एक समय में उत्कृष्ट १०८ जीव सिद्ध हों तो दूसरे समय में अवश्य विरहकाल होता है—उसमें कोई जीव सिद्ध नहीं होता ।

एक समय में	निरन्तरता/विरहकाल
३२ सिद्ध	८ समय तक
४८ ,,	७ ,, ,,
६० ,,	६ ,, ,,
७२ ,,	५ ,, ,,
८४ ,,	४ ,, ,,
९६ ,,	३ ,, ,,
१०२ ,,	२ ,, ,,
१०८ ,,	१ ,, ,,

दस चैव नपुंसेसुं बीस इत्थियासु य ।  
 पुरिसेसु य अट्टसयं समण्णेण सिज्झई ॥  
 चत्तारि य गिहिलिगे, अन्नलिगे दसेव य ।  
 सल्लिगेण य अट्टसयं, समण्णेण सिज्झई ॥  
 उक्कोसोमाहाणाए य, सिज्झन्ते जुगवं दुवे ।  
 चत्तारि जह्माए, जवमज्झट्टुत्तरं सयं ॥

चउरुद्धलोए य दुवे समुद्दे,  
 तओ जले बीसमहे तहेव ।  
 सयं च अट्टुत्तर तिरियलोए,  
 समण्णेण उ सिज्झई ॥

(उ ३६।५१-५४)

दस नपुंसक, बीस स्त्रियां और एक सौ आठ पुरुष एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं ।

बृहस्पति वेश में चार, अन्यतीर्थिक वेश में दश और निर्ग्रथ वेश में एक सौ आठ जीव एक ही समय में सिद्ध हो सकते हैं ।

उत्कृष्ट अवगाहना में दो, जघन्य अवगाहना में चार और मध्यम अवगाहना में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं ।

ऊंचे लोक में चार, समुद्र में दो, अन्य जलाशयों में तीन, नीचे लोक में बीस, तिरछे लोक में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं ।

तीर्थसिद्धा एव तीर्थकरसिद्धाः, अतीर्थकरसिद्धा अपि तीर्थसिद्धा वा स्युः अतीर्थसिद्धा वेति, एवं शेषेष्वपि भावनीयमिति, अतः किमेभिः ? इति, अत्रोच्यते, अन्तर्भावे सत्यपि पूर्वभेदद्वयादेवोत्तरोत्तरभेदाप्रतिपत्ते, अज्ञातज्ञापनार्थं च भेदाभिधानमिति ।

(नन्दीहावृ पृ ३९)

तीर्थकरसिद्ध तीर्थ में ही सिद्ध होते हैं । अतीर्थकर-सिद्ध तीर्थ और तीर्थांतर—दोनों में सिद्ध हो सकते हैं । इस प्रकार उपर्युक्त पन्द्रह भेदों का तीर्थसिद्ध और अतीर्थसिद्ध—इन दो भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है । ऐसा होने पर भी इन दो भेदों से ही उत्तरोत्तर भेदों की प्रतिपत्ति होती है । किन्तु अज्ञात का ज्ञापन करने के लिए इन पन्द्रह भेदों का प्रतिपादन हुआ है ।

सिद्ध होने के स्थान

ऊर्ध्वलोके मेरुचूलिकादौ सिद्धाः । अधोलोकेऽर्धाद-  
 धोलौकिकग्रामरूपेऽपि सिद्धाः । तीर्थम्लोके च अर्द्धतृतीय-  
 द्वीपसमुद्ररूपे । (उशावृ प ६८३)

सिद्ध होने के तीन क्षेत्र हैं—

१. ऊर्ध्वलोक—मेरुपर्वत की चूलिका से जीव सिद्ध होते हैं ।

२. अधोलोक—अधोलोक के ग्राम से जीव सिद्ध होते हैं। (महाविदेह की दो विजय मेरु के रुचक प्रदेशों से हजार योजन नीचे तक चली जाती है। तिर्यक् लोक की सीमा भी सो योजन है। उससे आगे अधोलोक की सीमा आ जाती है।)
३. तिर्यक्लोक—अढाई द्वीप समुद्र प्रमाण तिरछे लोक में कहीं से भी जीव सिद्ध हो सकते हैं।

## ८. सिद्धों के गुण

सिद्धाः—सिद्धिपदप्राप्तास्तोषामादौ—प्रथमकाल  
एवातिशायिनो वा गुणाः सिद्धादिगुणाः—सिद्धातिगुणा  
वा—संस्थानादिनिषेधरूपा एकत्रिशत् ।

पडिसेहेणसंठाणो वण्णगंधरसफासवेए य ।  
पणपणदुपणट्टतिहा इगतीसमकायस्संगऽरुहा ॥  
अहवा कम्मे—

णव दरिसर्णमि चत्तारि आउए पंच आदमे अंते ।  
सेसे दो दो भेया, खीणभिलावेण इगतीसं ॥

(उशावृ प ६१८)

सिद्धों के आदिगुण का अर्थ है—सिद्धि पद प्राप्ति के प्रथम क्षण में होने वाले गुण। उनकी संख्या इकतीस है। यह संख्या दो प्रकार से बताई गई है।

(क) आठ कर्मों के क्षय की निष्पत्ति के आधार पर—

१. आभिनिबोधिक ज्ञानावरण का क्षय
२. श्रुत ज्ञानावरण का क्षय
३. अवधि ज्ञानावरण का क्षय
४. मनःपर्यव ज्ञानावरण का क्षय
५. केवल ज्ञानावरण का क्षय
६. चक्षु दर्शनावरण का क्षय
७. अचक्षु दर्शनावरण का क्षय
८. अवधि दर्शनावरण का क्षय
९. केवल दर्शनावरण का क्षय
१०. निद्रा का क्षय
११. निद्रा-निद्रा का क्षय
१२. प्रचला का क्षय
१३. प्रचला-प्रचला का क्षय
१४. स्त्यानद्धि का क्षय
१५. सातवेदनीय का क्षय
१६. असातवेदनीय का क्षय
१७. दर्शनमोहनीय का क्षय

१८. चारित्रमोहनीय का क्षय
१९. नैरथिक आयुष्य का क्षय
२०. तिर्यक् आयुष्य का क्षय
२१. मनुष्य आयुष्य का क्षय
२२. देव आयुष्य का क्षय
२३. उच्च गोत्र का क्षय
२४. नीच गोत्र का क्षय
२५. शुभ नाम का क्षय
२६. अशुभ नाम का क्षय
२७. दानान्तराय का क्षय
२८. लाभान्तराय का क्षय
२९. भोगान्तराय का क्षय
३०. उपभोगान्तराय का क्षय
३१. वीर्यान्तराय का क्षय

(ख) संस्थान आदि के निषेध के आधार पर—

- पांच संस्थान—१. दीर्घ-ह्रस्व २. वृत्त ३. व्यस्र  
४. चतुरस्र और ५. परिमंडल से रहित ।  
पांच वर्ण—६. कृष्ण ७. नील ८. लोहित ९. हारिद्र और  
१०. शुक्ल वर्ण से रहित ।

दो गंध—११. सुरभि गंध और १२. दुरभि गंध से रहित ।

पांच रस—१३. तिक्त १४. कटुक १५. कषाय १६. अम्ल  
१७. मधुर रस से रहित ।

आठ स्पर्श—१८. कर्कश १९. मृदु २०. लघु २१. गुरु  
२२. शीत २३. उष्ण २४. स्निग्ध २५. रूक्ष  
स्पर्श से रहित ।

तीन वेद—२६. स्त्रीवेद २७. पुरुषवेद २८. नपुंसकवेद से  
रहित ।

२९. अशरीरी ३० असंग ३१. अजन्मा ।

न पुणो तस्स पसूई बीयाभावादिहंकुरस्सेव ।  
बीयं च तस्स कम्मं न य तस्स तयं तओ निच्चो ॥

(विभा १८४१)

जैसे बीज के अभाव में अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही कर्मरूपी बीज के अभाव में मुक्त जीवों का पुनः संसार में आगमन नहीं होता, इसलिए मुक्तात्मा नित्य होता है ।

## ९. सिद्धों का सुख

\*\*\*अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥

(उ ३६।६६)



सिद्धों को वैसा सुख प्राप्त होता है, जिसके लिए संसार में कोई उपमा नहीं है।

नवि अत्थि माणुसाणं तं सुखं नेव सव्वदेवाणं ।  
जं सिद्धाणं सुखं अवावाहं उवगयाणं ॥  
सुरगणमुहं सम्मत्तं सव्वद्धापिड्डियं अणंतगुणं ।  
न य पावइ मुत्तिमुहं णंताहि वि वग्गवग्गूहिं ॥  
(आवनि ९८०, ९८१)

सिद्धों को वैसा अव्याबाध सुख प्राप्त है वैसा सुख सभी देवों और मनुष्यों को प्राप्त नहीं है। देवताओं के यदि तीनों काल के समस्त सुख को पिडीभूत कर लिया जाए तो भी वह मोक्षसुख के अनन्तवें भाग जितना भी नहीं है।

जह नाम कोइ मिच्छो नगरगुणे बहुविहे विआणंतो ।  
न चएइ परिकहेउं उवमाइ तहि असंतीए ॥  
(आवनि ९८३)

एक म्लेच्छ नगर में गया और राज-प्रासाद में कुछ दिन रहा। फिर वह अपनी बस्ती में आ गया। स्वजनो ने पूछा—नगर कैसा था? राजप्रासाद कैसा था? उसने कहा—मैं वहाँ की विपुल सुखसुविधाओं को जानता हूँ, किन्तु मेरे पास ऐसे शब्द या ऐसी उपमा नहीं है, जिससे कुछ बता सकूँ। इसी प्रकार मोक्ष का सुख अनुपम है।

## १०. सिद्ध अनादि हैं

भवओ सिद्धो त्ति मई तेणाइमसिद्धसंभवो जुत्तो ।  
कालाणाइत्तणओ, पढमसरीरं व तदजुत्तं ॥  
(विभा १८५९)

संसार से मुक्त आत्मा ही सिद्ध होती है। अतः कोई आदिसिद्ध होना चाहिए। किन्तु सिद्ध अनादि हैं। जैसे तो प्रत्येक शरीर और दिनरात की भी आदि होती है किन्तु काल अनादि होने से शरीर या दिन रात की आदि को नहीं जाना जा सकता। इसी प्रकार आदिसिद्ध भी नहीं जाना जा सकता। काल अनादि होने से सिद्ध भी अनादि हैं।

एगत्तेण साईया, अपज्जवसिया वि य ।  
पुहुत्तेण अणाईया, अपज्जवसिया वि य ॥

(उ ३६।६५)

एक-एक की अपेक्षा से सिद्ध सादि-अनन्त और बहुत्व की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं।

## ११. सिद्धों की ऊर्ध्वगति

....उज्जुसेट्ठिपत्ते अफुसमाणगई उड्डं एगसमएणं  
अविग्गहेणं तत्थ गन्ता सागारोवउत्ते सिज्झइ बुज्झइ  
मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।  
(उ २९।७४)

जीव मोक्ष स्थान में पहुँच साकारोपयोग (ज्ञान-प्रवृत्ति काल) में सिद्ध होता है, प्रशान्त होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत होता है और सब दुःखों का अन्त करता है। सिद्ध होने से पूर्व वह ऋजुश्रेणी (आकाश-प्रदेशों की सीधी पंक्ति) से गति करता है। उसकी गति अस्पृशद् (मध्यवर्ती आकाश प्रदेशों का स्पर्श किए बिना) तथा ऊपर की ओर होती है। वह एक समय की होती है—ऋजु होती है।

रिउसेट्ठीपड्डिवन्नो समयपएसंतरं अफुसमाणो ।  
एगसमएण सिज्झइ अह सागारोवउत्तो सो ॥

(विभा ३०८८)

सिद्ध होने वाले जीव साकारोपयोगयुक्त और ऋजु श्रेणीप्रतिपन्न होते हैं। वे अस्पृशद्गति से एक समय में सिद्धगति को प्राप्त कर लेते हैं।

वे समयान्तर और प्रदेशान्तर—अवगाढ प्रदेशों के अतिरिक्त आकाशप्रदेशों का स्पर्श नहीं करते।

उड्डगइहेउउ च्चिय नाहो तिरियगमणं नवाचलया ।  
सव्विसेसपच्चयाभावओ य सव्वन्नुमयओ य ॥  
(विभा ३१५३)

मुक्त आत्मा का स्वभाव है - ऊर्ध्वगति करना। न वह यहीं अचल रहती है, न नीची गति करती है, न तिरछी गति करती है, क्योंकि उसमें विशेष निमित्त—नरकानु-पूर्वी आदि कर्मों का अभाव है।

लाउअ एरंडफले अग्गी धूमे उसू धणुविमुक्के ।  
गइ पुव्वपओगेणं एवं सिद्धाण वि गईओ ॥

(आवनि ९५७)

जह्म मिल्लेवावगमादलावुणोऽवस्समेव गइभावो ।....  
तह कम्मलेवविगमे गइभावोऽवस्समेव सिद्धस्स ।....  
जह वा कुलालचक्कं किरियाहेउचिरमे वि सव्विकरियं ।  
पुव्वपओगेणो च्चिय तह किरिया मुच्चमाणस्स ॥

(विभा ३१४२-३१५०)

उड्डगइत्ति अहुणा अगुरुलहुत्ता सभावउड्डगई ।

दिट्ठंतलाउएणं एरंडफलाइएहि च ॥

(दभा ५३)

जैसे एक तुम्बा, जिस पर मिट्टी के आठ लेप लगे हुए हैं, पानी में डूब जाता है। एक-एक लेप के हट जाने से निर्लेप बना हुआ तुम्बा जल-तल से ऊर्ध्वगति कर जल पर तैरने लगता है, वैसे ही आठ प्रकार के कर्मलेप से मुक्त आत्मा की निःसंगता के कारण ऊर्ध्वगति होती है।

वृत्त से टूटने पर एरंड की फली गति करती है तथा अग्नि और धूम—इनकी स्वभाव से ही ऊर्ध्व गति होती है। धनुष से छूटे हुए बाण और कुलालचक्र की पूर्वप्रयोग के कारण गति होती है। इसी प्रकार मुक्त आत्मा की अगुरुलघुत्व, पूर्वप्रयोग तथा स्वभाव के कारण ऊर्ध्व गति होती है।

कि सिद्धालयपरओ न गई धम्मत्थिकायविरहाओ ।  
सो गइउवग्गहकरो, लोग्गम्मि जमत्थि नालोए ॥

(विभा १८५०)

मुक्त जीव लोकाग्र में रहते हैं। सिद्धालय से परे अलोक में उनकी गति नहीं होती, क्योंकि अलोक में गति-उपग्रहकारी धर्मास्तिकाय नहीं है।

## १२. सिद्धों की अवगाहना

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ ।

तिभागहीणा तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥

(उ ३६।६४)

अन्तिम भव में जिसकी जितनी ऊंचाई होती है, उससे त्रिभागहीन (एक तिहाई कम) अवगाहना सिद्ध होने वाले जीव की होती है।

देहत्तिभागो सुसिरं तप्पूरणओ तिभागहीणो त्ति ।

सो जीगनिरोहे च्चिय जाओ सिद्धो वि तदवत्थो ॥

(विभा ३१६३)

मुक्त होने वाला जीव अपने शरीर की अवगाहना का तीसरा भाग जो पोला होता है, उसे जीवप्रदेशों से पूरित कर देता है और तब सिद्ध अवस्था की अवगाहना एक तिहाई भाग कम हो जाती है—शेष दो भाग जितनी अवगाहना रह जाती है। यह क्रिया काययोग-निरोध के अन्तराल में ही निष्पन्न होती है।

तिन्नि सया तित्तीसा धणुत्तिभागो अ होइ बोद्धव्वो ।

एसा खलु सिद्धाणं उक्कोसोगाहणा भणिआ ॥

चत्तारि अ रयणीओ रयणित्तिभागूणिआ य बोद्धव्वा ।

एसा खलु सिद्धाणं मच्चिम्मओगाहणा भणिआ ॥

एगा य होइ रयणी अट्ठेव य अंगुलाइ साहीआ ।

एसा खलु सिद्धाणं जहन्नओगाहणा भणिआ ॥

(आवनि ९७१-९७३)

सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तैतीस धनुष्य और धनुष्य का तीसरा भाग (१ हाथ ८ अंगुल), मध्यम अवगाहना चार हाथ सोलह अंगुल तथा जघन्य अवगाहना एक हाथ आठ अंगुल की होती है।

## १३. सिद्ध होने से पूर्व की अवगाहना

जेट्ठा उ पंचसयधणुस्स मज्झा य सत्तहत्थस्स ।

देहत्तिभागहीणा जहन्निया जा बिहत्थस्स ॥

कह मरुदेवीमाणं नाभीओ जेष किचिदूणा सा ।

तो किर पंचसय च्चिय अहवा संकोयओ सिद्धा ॥

सत्तूसिएसु सिद्धी जहन्नओ कहमिहं बिहत्थेसु ।

सो किर तित्थयरेसुं सेसाणं सिज्जमाणाणं ॥

ते पुण होज्ज बिहत्था कुम्मापुत्तादओ जहन्नेणं ।

अन्ने संबट्ठियसत्तहत्थसिद्धस्स हीण त्ति ॥

बाहुल्लाओ सुत्तम्मि सत्त पंच य जहन्नमुक्कोसं ।

इहरा हीणब्भहियं होज्जगुल-धणुपुहत्तेहिं ॥

अच्छेरयाइं किचि वि सामन्नसुए न देसिअं सब्बं ।

होज्ज व अणिबद्धं चिय पंचसयाएसवयणं व ॥

(विभा ३१६६-३१७१)

सिद्ध होने वाले जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ धनुष, मध्यम अवगाहना सात हाथ और जघन्य अवगाहना दो हाथ होती है। देह के त्रिभाग न्यून होने के कारण सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तैतीस धनुष एक हाथ आठ अंगुल, मध्यम अवगाहना चार हाथ आठ अंगुल और जघन्य अवगाहना एक हाथ आठ अंगुल होती है।

सिद्धावस्था में मरुदेवी की तीन सौ तैतीस धनुष की अवगाहना कैसे होगी? नाभि कुलकर की अवगाहना पांच सौ पच्चीस धनुष थी और उसनी ही अवगाहना मरुदेवी की थी। इसका त्रिभाग न्यून करने पर सिद्धावस्था में मरुदेवी की अवगाहना साठे तीन सौ धनुष होनी चाहिये। इसके समाधान में कहा गया है कि नाभि कुलकर की अपेक्षा मरुदेवी की अवगाहना किंचित् न्यून थी। अतः पांच सौ धनुष माननी चाहिये।

अथवा मरुदेवी सिद्धि के समय हाथी पर आरूढ़ थी, उसके अंग संकुचित थे, इसलिए उपर्युक्त अवगाहना का कथन समीचीन है।

सिद्धांत (ओवाइयं सूत्र १९५) में सिद्ध होने वाले जीवों की जघन्य अवगाहना सात हाथ प्रतिपादित है, फिर यहां दो हाथ की जघन्य अवगाहना का कथन कैसे ?

सिद्धांत में सात हाथ की अवगाहना का निर्देश श्रमण महावीर आदि तीर्थंकर की अपेक्षा से है। जघन्य दो हाथ की अवगाहना का निर्देश सामान्य केवलियों की अपेक्षा से है। जैसे—राजकुमार कूर्मापुत्र।

(कूर्मापुत्र अपने पूर्वभव में 'दुर्लभ' नाम का राजकुमार था। वह खेलते समय अन्य कुमारों को बांधकर गेद की भांति आकाश में उछाल कर प्रमुदित होता था। अतः कर्मबंध के कारण इस जन्म में उसकी जन्मजात अवगाहना दो हाथ की हुई। उसने घर में रहते कैवल्य प्राप्त किया और फिर उस अल्पतम अवगाहना में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुआ)।

अन्य आचार्यों का अभिमत है—जघन्य सात हाथ की अवगाहना वाला भी शंभूपीलन आदि कारणों से संवर्तित—संकुचित हो जाता है, उसकी अपेक्षा से दो हाथ की अवगाहना का प्रतिपादन हुआ है।

अथवा सूत्र में जो जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना का निर्देश है, वह बहुलता की अपेक्षा से है। अन्यथा सिद्ध होने वाले जीवों की कादाचित्क जघन्य अवगाहना अंगुलपृथक्त्व (दो से नौ अंगुल) और उत्कृष्ट अवगाहना धनुषपृथक्त्व या इससे भी न्यून-अधिक हो सकती है। इसलिए कूर्मापुत्र और मरुदेवी की अवगाहना में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

जैसे पांच सौ आदेशवचन सूत्र में प्रतिपादित नहीं हैं, वैसे ही कुछ विस्मयबोधक तथ्यों का भी सामान्य श्रुत में आकलन नहीं है।

उत्कृष्टावगाहना पञ्चधनुःशतप्रमाणा तस्यां सिद्धाः जघन्यावगाहनायां द्विहस्तमानशरीररूपायां सिद्धाः मध्यभावगाहनायां च उक्तरूपोत्कृष्टजघन्यावगाहनान्तरालवर्तिन्यां सिद्धाः। (उशावृ प ६६३)

सिद्ध होने से पूर्व जीव की अवगाहना तीन प्रकार की हो सकती है—

१. जघन्य—दो हाथ।

२. उत्कृष्ट—पांच सौ धनुष।

३. मध्यम—दो हाथ से अधिक और पांच सौ धनुष से कम।

## १४. सिद्धों का संस्थान

जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरमसमयंमि ।  
आसी अ पएसघणं तं संठाणं तहिं तस्स ॥

(आवनि ९६९)

सुसिरपरिपूरणाओ पुव्वागारसहाववस्थाओ ।  
संठाणमणित्थं जं भणियं अणियथागारं ॥  
एत्तो च्चिय पडिसेहो सिद्धाइगुणेसु दीहयाईणं ।  
जमणित्थं पुव्वागारावेक्खाए नाभावो ॥  
नामुत्तस्सागारो विन्नाणस्सेव न कुंभनभसो व्व ।  
दिट्ठो परिणामवओ नेयागारं च विज्ञाणं ॥

(विभा ३१७२-३१७४)

सिद्धों का संस्थान अनित्यस्थ—अनियत आकार वाला होता है। सिद्ध होने से पूर्व देह के शुषिर भ्रम आत्मप्रदेशों से पूरित होने से सघन हो जाते हैं, उनका आकार पूर्ववत् व्यवस्थापित नहीं रहता। इस पूर्व आकार की अपेक्षा से ही सिद्धों का संस्थान ब्रतया गया है, अन्यथा सिद्ध अमूर्त हैं, उनमें दीर्घता, ह्रस्वता आदि मूर्त गुणों का व्यपदेश नहीं हो सकता।

विज्ञान की तरह अमूर्त का आकार नहीं होता—यह आपेक्षिक कथन है। जो परिणामी होता है, उस अमूर्त का भी आकार होता है। जैसे—घटपरिच्छिन्न आकाश घटाकार होता है। सिद्ध जीव परिणामी है, अतः अनन्तर भविक शरीर से परिच्छिन्न उस सिद्ध जीव का भी उपाधिमात्र से आकर होता है। विज्ञान भी ज्ञेयाकार होता है। अन्यथा नीलज्ञान से पीत आदि समग्र वस्तुज्ञान का प्रसंग आ जाता है।

## १५. सिद्धों की अवस्थिति

कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिया ? ।

कहिं बोदि चइत्ताणं ? कत्थं गंतूण सिज्झई ? ॥

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।

इहं बोदि चइत्ताणं, तत्थं गंतूण सिज्झई ॥

(उ ३६।५५,५६)

सिद्ध कहां रुकते हैं ? कहां स्थित होते हैं ? कहां शरीर को छोड़ते हैं ? और कहां जाकर सिद्ध होते हैं ?

सिद्ध अलोक से प्रतिहत होते हैं। वे लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित होते हैं, मनुष्यलोक में शरीर को छोड़ते हैं और लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं।

उत्ताणउच्च पासिल्लउच्च अहवा निसन्नओ चव ।

जो जह करेइ कालं सो तह उववज्जए सिद्धो ॥

(आवनि ९६७)

उत्तानशयन, पार्श्वतःशयन, निशीदन अथवा अधावनत स्थान आदि जिस अवस्थिति में जीव मुक्त होते हैं, उसी अवस्थिति में उनका लोकाग्र में अवस्थान होता है।

**सिद्धों का अवगाहक्षेत्र और स्पर्शना**

ईसीपम्भाराए सीआए जोअणमि जो कोसो ।

कोसस्स य छम्भाए सिद्धाणोगाहणा भणिआ ॥

तिन्नि सया तित्तीसा धणुत्तिभागो अ कोसच्छम्भाओ ।

जं परमोगाहोऽयं तो ते कोसस्स छम्भाए ॥

(आवनि ९६५, ९६६)

सीता नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त है। उस योजन के उपरिवर्ती कोस के छोटे भाग में सिद्धों की अवगाहना होती है, क्योंकि उनकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तैतीस धनुष एक हाथ आठ अंगुल है और वह कोस का छोटा भाग है।

....अन्नसमोगाढा पुट्टा सब्बे अ लोमते ॥

फुसइ अणंते सिद्धे सब्बपएसेहि निअमसो सिद्धो ।....

(आवनि ९७५, ९७६)

सब सिद्ध अचिन्त्य परिणमन के कारण परस्पर समवगाह हैं—जहां एक सिद्ध है, वहां अनंत सिद्ध हैं। प्रत्येक सिद्ध अपने असंख्येय आत्मप्रदेशों से अनंत सिद्धों का स्पर्श करता है। सब सिद्ध लोकान्त का स्पर्श करते हैं।

**१६. परिमित क्षेत्र में अनंत सिद्ध कैसे ?**

परिमियदेसेऽणंता किह भाया मुत्तिविरहियत्ताओ ।

नेयम्मि व नाणाइं दिट्ठीओ वेगरुवम्मि ॥

मुत्तिमयामवि य समाणदेसया दीसए पईवणं ।

गम्मइ परमापूण य मुत्तिविमुक्केसु का संका ? ॥

(विभा १८६०, ३१८२)

परिमित सिद्धिक्षेत्र में अनंत सिद्धों का अवगाहन कैसे संभव है? सिद्ध अमूर्त्त हैं इसलिए परिमित क्षेत्र में भी अनंत सिद्ध रह सकते हैं। जैसे—अनंत सिद्धों का

अनंत ज्ञान प्रत्येक द्रव्य को जानता है। एक नर्वकी को हजारों आंखें देखती हैं। एक छोटे से कक्ष में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है। जब अनेक मूर्त्त प्रदीपों की प्रभा भी सीमित क्षेत्र में समा जाती है तो अनंत अमूर्त्त आत्माओं का सीमित क्षेत्र में अवगाह क्यों नहीं हो सकता ?

**सुपार्व**—सातवें तीर्थंकर । (द्र. तीर्थंकर)

**सुमति**—पांचवें तीर्थंकर । (द्र. तीर्थंकर)

**सुविधि**—नौवें तीर्थंकर । इनका अपर नाम पुष्पदन्त है । (द्र. तीर्थंकर)

**सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान**—जिसके केवल सूक्ष्म लोभांश शेष रहता है, उसकी आत्म-विशुद्धि । दसवां गुणस्थान । (द्र. गुणस्थान)

**सूक्ष्मसंपराय चारित्र**—दशवें गुणस्थान में होने वाला चारित्र । (द्र. चारित्र)

**सूत्र**—दृष्टिवाद का दूसरा भेद । इसमें ऋजुसूत्र, परिणतापरिणत, बहुभंगिक आदि बाईस सूत्र प्रतिपादित हैं । (द्र. दृष्टिवाद)

**सूत्र**—कपास आदि से उत्पन्न सूत ।

सुयं पंचविहं पणत्तं, तं जहा—अंडयं बोंडयं कीडयं वालयं वक्कयं ।....अंडयं—हंसगम्भाइ ।....बोंडयं फलिहमाइ ।....कीडयं पंचविहं पणत्तं, तं जहा—पट्टे मलय अंसुए चीणंसुए किमिरागे ।.... वालयं पंचविहं पणत्तं, तं जहा—उण्णिणए उट्टिए मियलोमिए कुतवे किट्टिसे ।.... वक्कयं सणमाइ । (अनु ४०-४५)

सूत के पांच प्रकार हैं—

१. अण्डज—हंसगर्भ आदि से उत्पन्न सूत ।
२. बोंडज—कपास आदि से उत्पन्न सूत ।
३. कीटज—इसके पांच प्रकार हैं—पट्ट, मलय, अंशुक, चीनांशुक और कुमिराग ।
४. बालज—इसके पांच प्रकार हैं—ऊन का सूत, औष्टिक सूत, मृगराम का सूत, चूहे के रोमों का सूत और मिश्रित बालों से बना हुआ सूत ।
५. बल्कज—सण आदि से उत्पन्न सूत ।

## अंडज सूत

अंडाज्जातं अंडजं तं च हंसगर्भं, अंडमिति कोसि-  
कारको हंसगर्भो भणति, हंसो पक्षी सो तं पतंगो तस्स  
गर्भो, एवं चड्यमुत्तं हंसगर्भं भणति । (अनुचू पृ १५)

अण्ड का अर्थ है—कोशी (खोल) का निर्माण  
करने वाला कीट। उससे उत्पन्न होने वाला सूत  
अण्डज—हंसगर्भ कहलाता है। हंस का अर्थ है—पतंगा,  
यह चतुरिन्द्रिय जीव विशेष होता है। उसके गर्भ से  
अथवा कोशिका से निकलने वाला सूत अण्डज होता है।  
देशी भाषा में इसे चटकसूत भी कहा जाता है।

## कीटज सूत

अरन्ने वणणिगुंजट्टाणे मंसं चीडं वा आमिसं पुंजेसु  
ठविज्जइ, तेसि पुंजाण पासओ णिणुण्णता संतरा बहवे  
खीलया भूमिए उद्धा णिहोडिज्जंति, तत्थ वर्णतरातो  
पदंगकीडा आगच्छंति, तं तं मंसचीडाइयं आमिसं चरंता  
इतो ततो कीलंतरेसु संचरंता लालं मुयंति, एस पट्टो ।

मलयविसयुप्पण्णो मलयपट्टो भणति ।

चीणविसयवह्मिमुप्पण्णो अंसुपट्टो चीणविसयुप्पण्णो  
चीणमुयपट्टो ।

मणयादिसहरं घेतुं किणावि जोगेण जुत्तं भायण-  
संपुडमि तविज्जति, तत्थ किमी उप्पज्जंति, ते वाताभि-  
लासिणो छिद्दिग्गता इतो ततो य आसण्णं भंमंति, तेसि  
णीहारलाला किमिरागपट्टो भणति, सो सपरिणामं  
रंगरंमितो चेव भवति । अण्णे भणति—जहा रहिरे उप्पन्ता  
किमितो तत्थेव मलेत्ता कोसट्टं उत्तारेत्ता तत्थ रसे किपि  
ओगं पक्खिवित्ता वत्थं रयंति सो किमिरागो भणति ।

(अनुचू पृ १५)

## १. पट्ट सूत

वननिकुञ्ज में किसी स्थान पर मांस के टुकड़े  
रख दिए जाते हैं। उनके आस-पास थोड़ी-थोड़ी दूरी पर  
ऊपर-नीचे कील गाड़ दिए जाते हैं। वन में घूमते हुए  
पतंगकीट मांस की गंध पाकर वहां पहुंचते हैं। मांस  
खाने के लिए वे कीलों के बीच में इधर-उधर घूमते हैं।  
उस समय उनके मुख से लार का साव होता है जो कीलों  
पर चिपक जाता है। उस लाला से निर्मित सूत्र पट्ट-  
सूत्र कहलाता है।

२. मलय—मलयदेश में निर्मित सूत मलयसूत  
कहलाता है।

३.४. अंशुक, चीनांशुक—भारत आदि देशों में होने  
वाला सूक्ष्म सूत अंशुक और चीन देश में बना हुआ सूक्ष्म  
सूत चीनांशुक कहलाता है।

५. कृमिराग—कृमिचिया रंग का सूत्र। इस सूत्रनिर्माण  
की प्रक्रिया में बताया गया कि मनुष्य का रक्त निकालकर  
उसमें कोई रासायनिक पदार्थ मिलाकर एक पात्र में  
रख दिया जाता है। उस रक्त में कृमि उत्पन्न होकर  
वे हवा की खोज में पात्र के छेदों से बाहर निकलते हैं।  
आस-पास घूमते समय उनके मुख से लार टपकती है,  
उससे सूत्र बन जाता है।

कुछ मानते हैं कि रक्त में उत्पन्न कृमियों को उसी  
रक्त में मला जाता है। उनके खोलों को निकालकर उस  
रस में कुछ पदार्थ मिलाकर वस्त्र को रंगा जाता है,  
वही कृमिराग है।

## बालज सूत

मिएहितो लहुतरा मृगाकृतयो बृहत्पिच्छा तेसि लोमा  
मियलोमा । कुतवो उंदुरोमेसु । उष्णितादीणं अवघाडो  
किट्टिसमहवा एतेसि दुगादिसयोगं किट्टिसं ।

(अनुचू पृ १५)

१. मृगरोम—मृग की आकृति वाले, बड़ी पूँछ वाले  
आटविक जीवों के रोमों से निष्पन्न सूत को मृगरोम  
कहा जाता है।

२. कौतव—चूहे के रोम से बना हुआ सूत कौतव  
कहलाता है।

३. किट्टिस—ऊन, मृगरोम आदि का सूत बनाने के  
बाद जो कचरा बचता है, उससे निर्मित सूत किट्टिस  
कहलाता है। अथवा ऊन, ऊँट के रोम, मृगरोम और  
चूहों के रोम—इनमें से दो-तीन के मिश्रण से जो सूत  
बनता है, वह किट्टिस कहलाता है।

सूत्रकृतांग—अंगप्रविष्ट आगम। दूसरा अंग।

(द्व. अंगप्रविष्ट)

## स्तव-स्तुति — भक्तिपूर्वक गुणोत्कीर्तन ।

१. स्तव-स्तुति का अर्थ

२. चतुर्विंशतिस्तव

३. महावीरस्तुति

४. शक्रस्तुति

\* संघस्तुति

(द्र. संघ)

५. स्तव के प्रकार

६. स्तुति के प्रकार

७. स्तव-स्तुति के परिणाम

## १. स्तव-स्तुति का अर्थ

स्तवा—देवेन्द्रस्तवादयः । स्तुतयः—एकादिसप्त-श्लोकान्ताः ।

'एगदुगतिसिलोगा (युद्धो) अर्नेसि जाव हुंति सत्तेव । देविदत्थवमाई तेण परं युत्तया होति ॥'

(उशावृ प ५८१)

देवेन्द्रस्तव आदि स्तव हैं। एक, दो यावत् सात श्लोक वाली उत्कीर्तना स्तुति कहलाती है।

एक, दो या तीन श्लोक वाले गुणोत्कीर्तन को स्तुति और तीन से अधिक श्लोक वाले गुणोत्कीर्तन को स्तव कहा जाता है। कुछ आचार्य सात श्लोक तक के गुणोत्कीर्तन को स्तुति मानते हैं।

## २. चतुर्विंशतिस्तव

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतिथयरे जिणे ।  
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसपि केवली ॥  
उसभमजियं च वंदे, संभवमभिनंदणं च सुमइं च ।  
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥  
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।  
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥  
कुंथुं अरं च मल्लि, वंदे भुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।  
वंदामि रिट्टनेमि, पासं तह वद्धमाणं च ॥  
एवं मए अभियुआ, विहुय-रयमला पहीण-जरमरणा ।  
चउवीसपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥  
कित्तिय वंदिय मए, जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।  
आरोग-बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दितु ॥  
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।  
सागरवरगंधीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥

(आव २।१)

जो लोक में प्रकाश करने वाले, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक, जिनेश्वर और अर्हंत हैं, मैं उन चौबीस केबलियों का कीर्तन करूंगा। मैं ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपाश्वर, चन्द्रप्रभ, सुविधि (पुष्पदंत), शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुंथु, अर, मल्लि, मुत्तिसुव्वत, नमि, अरिष्टनेमि, पाश्वर और वद्धमान को वंदन करता हूँ।

इस प्रकार जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्म-रज-मल से मुक्त हैं, जो जरा और मरण से मुक्त हैं, वे चौबीस जिनेश्वर तीर्थंकर मुझे पर प्रसन्न हों।

मैंने जिनका कीर्तन, वन्दन किया है, वे लोक में उत्तम सिद्ध भगवान् मुझे आरोग्य, बोधि-लाभ और उत्तम समाधि दें।

जो चन्द्रमाओं से भी निर्मलतर, सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले और समुद्र के समान गंभीर हैं, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि दें।

वित्तिए दरिसणविसोहिणिमित्तं पुण बोधिलाभत्थं च कम्मखवणत्थं च तित्थगराणमुक्कित्तणा कता ।

(अनुवृ पृ १८)

आवश्यक के छह विभाग हैं। उनमें दूसरा विभाग है—चतुर्विंशतिस्तव। इसमें चौबीस तीर्थंकरों की जो उत्कीर्तना की गई है उसके तीन प्रयोजन हैं—दर्शन-विशोधि, बोधि-लाभ और कर्मक्षय।

चउव्वीसत्थएणं वंसणविसोहिं जणयइ । (उ २९।१०)

चतुर्विंशति-स्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने) से जीव दर्शन (सम्यक्त्व) की विशुद्धि को प्राप्त करता है।

दर्शनं सम्यक्त्वं, तस्य विशुद्धिः—तदुपघातिकर्माप-गमतो निर्मलीभवनं दर्शनविशुद्धिः । (उशावृ प ५८०)

स्तुति के द्वारा दर्शन के उपघाती कर्म दूर होते हैं, फलतः सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। यही दर्शन-विशुद्धि है। दर्शन की विशुद्धि का तात्पर्य है—दर्शन के आचार का अनुपालन।

स्तुति से तीर्थंकर के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। उससे दर्शनाचार के प्रति आस्था सुदृढ़ बनती है।

दर्शनाचार—द्र. सम्यक्त्व

भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा ।

आयरियनमुक्कारेण विज्जा मंता य सिज्जंति ॥

भक्तीइ जिणवरारणं परमाए खीणपिज्जदोसाणं ।  
आरुग्गबोहिलाभं समाहिमरणं च पावंति ॥

(आवनि १०९७, १०९८)

तीर्थंकरों की भक्ति करने से पूर्वसंचित कर्म क्षीण होते हैं और आचार्य की भक्ति करने से विद्या तथा मंत्र सिद्ध होते हैं ।

राग-द्वेष-विजेता वीतराग अर्हंतों की परम भक्ति करने से आरोग्य, बोधि और समाधिमृत्यु की प्राप्ति होती है ।

### ३. महावीरस्तुति

जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरू जगणंदो ।  
जयणाहो जगबंधू जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥  
जयइ सुयाणं पभवो तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।  
जयइ गुरू लोमाणं जयइ महप्पा महावीरो ॥  
भइं सव्वजगुज्जोयगस्स भइं जिणस्स वीरस्स ।  
भइं सुरासुरणमंसियस्स भइं धुयरयस्स ॥  
निव्वुइपहसासणयं जयइ सया सव्वभावदेसणयं ।  
कुसमयमयनासणयं जिण्णिवरवीरसासणयं ॥  
(नन्दी १-३, २२)

सज्जाय-भाण-तव-ओसहेसु, उवएसधुइपयाणेषुं ।  
संतगुणकिसणेषु य न होंति पुणरुत्तदोसा उ ॥  
(नन्दीमवृ प १५)

जगत् के समस्त जीवों की उत्पत्ति के ज्ञाता, जगत् के गुरु और आनन्द देने वाले, जगत् के स्वामी, बन्धु और पितामह भगवान् महावीर विजयी हों ।

सब शास्त्रों के उद्भावक, तीर्थंकरों में अन्तिम, लोक के गुरु महात्मा महावीर विजयी हों ।

समूचे जगत् को प्रकाशित करने वाले, देव और असुरों द्वारा नमस्कृत, कर्मरज को नष्ट करने वाले भगवान् महावीर का कुशल हो ।

मोक्षमार्ग के प्रतिपादक, सब पदार्थों के प्ररूपक, कुत्सित सिद्धांतों के मदनाशक, जिनेन्द्रवर श्री महावीर का शासन विजयी हो ।

शिष्य ने पूछा—इस स्तुति में 'जयइ' शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है, क्या यह पुनरुक्त दोष नहीं है ? गुरु ने कहा—स्वाध्याय, ध्यान, तप, औषधि, उपदेश, स्तुति, संतमुणोत्कीर्तन—इतने स्थानों पर पुनरुक्त दोष नहीं होता ।

### ४. शक्रस्तुति

नमोत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं  
सहसंबुद्धाणं पुरिसोत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरी-  
याणं पुरिसवरगंधहृत्थीणं लोमुत्तमाणं लोपनाहाणं लोम-  
हियाणं लोमपईवाणं लोमपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खु-  
दयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं  
धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं  
धम्मवरचाउरंतचक्कवटीणं दीवो ताणं सरणं-गई पइट्ठा  
अप्पडिहयवरत्ताणदंसणघराणं विअट्ठउत्तमाणं जिणाणं  
जावयाणं तिष्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं  
मोयगाणं सव्वण्णुणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुयमणंत-  
मक्खयमव्वावाहमपुणरावत्तयं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं  
संपत्ताणं तमो जिणाणं जियभयाणं । (आव ६११)

अर्हत् भगवान् को नमस्कार हो, जो धर्म के आदि-  
कर्ता, तीर्थंकर, स्वयंसम्बुद्ध, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषों  
में प्रवर पुंडरीक और पुरुषों में प्रवर गन्धहृस्ती के समान  
हैं । जो लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहितकारी, लोकप्रदीप  
और लोक में उद्योत करने वाले हैं, जो अभयदाता,  
चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता, जीवनदाता, बोधिदाता,  
धर्मदाता, धर्मोपदेष्टा, धर्मनायक, धर्मसारथि और धर्म  
के चतुर्दिक् व्यापी प्रवर चक्रवर्ती हैं, जो दीप, त्राण,  
शरण, गति और प्रतिष्ठा हैं, जो अबाधित प्रवर ज्ञान-दर्शन  
के धारक और आदरणरहित हैं, जो ज्ञाता, ज्ञापक, तीर्थ  
तारक, बुद्ध, बोधिदाता, मुक्त और मुक्तिदाता हैं, जो  
सर्वदर्शी, कल्याणकारी, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय,  
अव्याबाध और पुनरावृत्ति से रहित हैं तथा सिद्धिगति  
नामक स्थान को प्राप्त उन भयविजेता जिनेश्वर को  
नमस्कार हो ।

### ५. स्तव के प्रकार

द्वव्यओ भावथओ द्वव्यओ बहुगुणत्ति बुद्धि सिआ ।  
अनिउणमइवयणमिणं छज्जीवहिअं जिणा विति ॥  
(आवभा १९२)

स्तव के दो प्रकार हैं—द्रव्यस्तव और भावस्तव ।  
कुछ मानते हैं कि द्रव्यस्तव बहुगुण वाला है, किंतु यह  
अज्ञानियों का वचन है, क्योंकि तीर्थंकर षड्जीवनिकाय  
की रक्षा का उपदेश देते हैं और द्रव्यस्तव में जीवहिंसा  
का प्रसंग आता है ।

ईसरतलवरमांडविआण सिवइंदखंदविण्णूणं ।  
जा किर कीरइ पूआ सा पूआ दव्वओ होइ ॥

तित्थयर केवलीणं सिद्धायरिआण सव्वसाहूणं ।

जा किर कीरइ पूआ सा पूआ भावओ होइ ॥

(उनि ३१५, ३१६)

ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, शिव, इंद्र, स्कन्द और विष्णु की पूजा द्रव्य पूजा है ।

अर्हत्, सिद्ध, केवली, आचार्य और साधुओं की पूजा भाव पूजा है ।

आयोपशमिक आदि प्रशस्त भावों में वर्तमान व्यक्ति ही भाव पूजा कर सकता है ।

## ६. स्तुति के प्रकार

स्तुतिद्विधा—प्रणामरूपा असाधारणगुणोत्कीर्त्तनरूपा च । तत्र प्रणामरूपा सामर्थ्यगम्या । असाधारणगुणोत्कीर्त्तनरूपा च द्विधा—स्वार्थसम्पदभिधायिनी परार्थसम्पदभिधायिनी च, तत्र स्वार्थसम्पन्नः परार्थं प्रति समर्थो भवति ।

(नन्दीमवृ प २, ३)

स्तुति के दो प्रकार हैं—१. प्रणामरूप स्तुति २. असाधारण गुणोत्कीर्त्तनरूप स्तुति । प्रणामरूप स्तुति सामर्थ्यगम्य है । गुणोत्कीर्त्तनरूप स्तुति स्वार्थ और परार्थ सम्पदा की प्रतिपादिका है । स्वार्थ-सम्पदा से सम्पन्न व्यक्ति परार्थ को साधने में समर्थ होता है ।

## ७. स्तव-स्तुति के परिणाम

श्वथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ । (उ २९।१५)

स्तव और स्तुति रूप मंगल से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की बाधिका लाभ करता है । ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बोधिलाभ से सम्पन्न व्यक्ति मोक्षप्राप्ति या वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है ।

स्त्रीलिंग सिद्ध—स्त्रीदशा में मुक्त होने वाले ।

(द्र. सिद्ध)

स्थविरावलि—स्थविरों की परम्परा ।

स्थविरो—यः सीदन्तं जानादो स्थिरीकरोति ।

(ओनिवृ प ६१)

धर्मोऽस्थिरान् स्थिरीकरोतीति स्थविरः ।

(उशावृ प ५५०)

० जो मुनि ज्ञान आदि की आराधना में अवसन्न हो गया है उसे उन क्रियाओं में स्थिर करने वाला स्थविर होता है ।

० जो धर्म में अस्थिर है, उनको धर्म में स्थिर करता है, वह स्थविर है ।

स्थविरा जातिश्रुतपर्यायभेदभिन्नाः, तत्र जातिस्थविराः षष्टिवर्षप्रमाणाः श्रुतस्थविराः समवायधराः पर्यायस्थविरा विशतिवर्षत्रतपर्यायाः ..... बहुश्रुतमापेक्षिकं प्रतिपत्तव्यं, श्रुतं च त्रिधा सूत्रतोऽर्थत उभयतश्च, तत्र सूत्रधरेभ्योर्थ-धराः प्रधानास्तेभ्योऽप्युभयधराः प्रधानाः ।

(आवमवृ प १६१)

स्थविर तीन प्रकार के होते हैं—

१. जातिस्थविर—साठ वर्ष की आयु वाले ।

२. श्रुतस्थविर—समवायांग के धारक ।

३. पर्यायस्थविर—बीस वर्ष की संयम पर्याय वाले ।

श्रुत के तीन प्रकार हैं—सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ ।

सूत्रधर से अर्थधर प्रधान होता है और उनसे भी प्रधान होता है—सूत्रार्थधर ।

## स्थविरावलि

सुहम्मं अग्निवेशाणं, जंबूनामं च कासवं ।

प्रभवं कच्छायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तथा ॥

जसभहं तुंगियं वंदे, संभूयं चैव मादरं ।

भद्रबाहुं च पाइणं, थूलभहं च गोयमं ॥

एलावच्छसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहृत्थिं च ।

...वड्डउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहृत्थीणं ।

...जेसि इमो अणुओगो, पयइ अज्जावि अड्डभरहम्मि ।

बहुनयरनिगयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥

...ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥

...अत्यमहत्थक्खाणि, सुसमणवक्खाणकहणनिव्वारिणि ।

पयईए महुरवारिणि, पयओ पणमामि दूसरणि ।

...पाए पावयणीणं, पाडिच्छगएहि पणिवइए ॥... (नन्दी माथा २३-४२)

## स्थविर परंपरा

१. सुधर्मा

२. जंबू

३. प्रभव

४. कच्छयंभव

५. यशोभद्र

६. संभूतविजय

७. भद्रबाहु

८. स्थूलभद्र

९. महागिरि

१०. सुहृस्ती



११. बहुल	१९. वाचक रेवतिनक्षत्र
१२. स्वाति	२०. वाचक सिंह
१३. आर्यश्याम	२१. आचार्य स्कन्दिल
१४. शांडिल्य	२२. हिमवन्त
१५. आर्य समुद्र	२३. वाचक नागार्जुन
१६. आर्य मंगु	२४. भूतदिन्न
१७. आर्य नन्दिल	२५. लोहित्य
१८. आर्य नागहस्ति	२६. दूष्यगणि

नन्दी के कर्ता आचार्य देववाचक द्वारा इस स्वविरावलि में २६ आचार्यों की स्तुति की गई है और साथ ही साथ कुछेक आचार्यों के विषय में विशेष विवरण भी दिया गया है। इन आचार्यों में सुधर्मा पहले हैं और दूष्यगणि अंतिम। इनकी कालावधि लगभग हजार वर्ष की है।

यह स्वविरावलि क्रमशः एक के पश्चात् एक होने वाले आचार्यों की नहीं है। यह विशिष्ट श्रुतधर, युग-प्रधान और वाचकवंशीय आचार्यों की अवलिका है। ये आचार्य विभिन्न कालावधि में हुए हैं। इनमें से कुछेक आचार्यों से संबंधित विशेष विवरण इस प्रकार हैं—

- ० वाचकवंशीय आर्य नागहस्ती व्याकरण, गणित, ज्योतिष, भंगरचना और कर्मप्रकृति की प्ररूपणा में प्रधान थे।
- ० ब्रह्मद्वीपक शाखा में प्रव्रजित, वाचक पद को प्राप्त सिंह मुनि कालिक श्रुत अनुयोग के धारक थे।
- ० स्कन्दिलाचार्य का अनुयोग आज भी अर्घभरत क्षेत्र में प्रचलित है।
- ० हिमवन्त क्षमाश्रमण कालिक श्रुत अनुयोग तथा पूर्वो के धारक थे।
- ० वाचक नागार्जुनाचार्य ने उत्सर्ग श्रुत का समा-चरण किया।
- ० नामार्जुन ऋषि के शिष्य श्री भूतदिन्न आचार्य अर्घभरत में युगप्रधान तथा नाइलकुलवंश को प्रमुदित करने वाले थे।
- ० श्री दूष्यगणि की वाणी प्रकृति से ही मधुर थी। उनकी व्याख्यानविधि श्रोतृवर्ग को शांति देने वाली थी। वे सैकड़ों उपसम्पन्न मुनियों से नमस्कृत थे।

दूष्यगणि इस स्वविरावलि के अंतिम आचार्य हैं। ये भाषा, विभाषा और वार्तिक रूप अनुयोग में अत्यन्त पटु

थे। प्रावचनिक रूप में नियुक्त युगप्रधान आचार्य दूष्य-गणी शास्त्रार्थ के व्याख्यान में तथा पृष्ठार्थ के कथन में अत्यन्त शांत, मृदु और समाधिवान् थे। इस विशिष्ट गुण के कारण वे शिष्यों की अनुवर्तना अत्यन्त कुशलता से करते थे। इसी गुण से प्रभावित होकर अन्यान्य गणों के मुनि अपने-अपने आचार्य से अनुमति लेकर इनके पास अनुयोग श्रवण के लिए आते थे।

**स्थानांग**—अंगप्रविष्ट आगम। तीसरा अंग।  
(द्र. अंगप्रविष्ट)

**स्याद्वर**—वे जीव, जो गतिशील नहीं हैं।  
(द्र. जीवनिकाय)

**स्याद्वाद**—अनेकान्तात्मक वाक्यविन्यास।

....सरिसासरिसं सव्वं निच्चानिच्चाइरुवं च ॥

(विभा १७९६)

सब पदार्थ सदृश-असदृश, नित्य-अनित्य आदि अनन्त धर्मों से युक्त हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु की प्रतिपादन-शैली का नाम है—स्याद्वाद।

अहवा सव्वं वत्थुं पइक्खणं चिय सुहम्म ! धम्मैहि ।

संभवइ वेइ केहि वि केहि वि तदवत्थमच्चंतं ॥

तं अप्पणो वि हरिसं न पुब्बधम्मैहि पच्छिमित्ताणं ।

सयलस्स तिहुअणस्स च सरिसं सामण्णधम्मैहि ॥

(विभा १७९४, १७९५)

वस्तु प्रतिक्षण पूर्व पर्यायों के समान या असमान पर्याय के रूप में उत्पन्न होती है, उत्तर पर्यायों के समान या असमान पर्याय के रूप में विनष्ट होती है और कुछ पर्यायों की अपेक्षा ध्रुव रहती है।

पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय की अपेक्षा आत्मा भी सदृश नहीं है।

सामान्य धर्मों की अपेक्षा समस्त पदार्थ—सारा जगत् सदृश है।

....सत्तादयोऽणवेक्खा घडाईणं ॥

न खत्वापेक्षिकमेव वस्तूनां सत्त्वम्, किन्तु स्वविषय-ज्ञानजननाद्यर्थक्रियाकारित्वमपि। ततश्च ह्रस्वदीर्घो-भयान्यात्मविषयं चेज्ज्ञानं जनयन्ति, तदा सन्त्येव तानि। कथं तेषामसिद्धिः? ....तस्मात् स्वतः सत्यामेव प्रदेशिन्यां वस्तुतोऽनन्तधर्मात्मकत्वात् तत्तत्सहकारिसंनिधौ तत्तद्द्रुपा-

भिद्यन्तेस्तत्तज्ज्ञानमुत्पद्यते, न पुनरसत्यामेव तस्यामपेक्षा-  
मात्र एव ह्रस्वज्ञानमुपजायते ।

(विभा १७१५ मवृ पृ ६२५)

वस्तु का अस्तित्व केवल आपेक्षिक ही नहीं है । किन्तु स्वविषयक ज्ञान उत्पन्न करने के कारण अर्थक्रिया-कारित्व भी अस्तित्व का बोधक है । इसलिए ह्रस्व, दीर्घ या तदुभय—यह वस्तु-विषयक ज्ञान यदि उत्पन्न होता है तो ये तीनों धर्म हैं ही । उनको असिद्ध कैसे माना जा सकता है ?

...प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है । प्रदेशिनी अंगुली में भी अनन्त धर्म हैं । ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि धर्म उसमें स्वतंत्ररूप से विद्यमान हैं । सहकारी कारणों से जब जो धर्म अभिव्यक्त होता है तब उस वस्तु के उस रूप का बोध होता है । जो धर्म उस वस्तु में है ही नहीं, असत् है, उसका अपेक्षामात्र से ज्ञान नहीं हो जाता । प्रदेशिनी में यदि ह्रस्वत्व धर्म नहीं है तो अपेक्षामात्र से उसका ज्ञान नहीं हो सकता ।

अत्थित्ति तेण भणिए घडोऽघडो वा घडो उ अत्येव ।  
चूओऽचूओ व दुमो चूओ उ जहा दुमो नियमा ॥  
(विभा १७२४)

घट की सत्ता घटधर्मता के कारण है, इसलिए वह घट ही है, पट आदि से भिन्न है । पट आदि अघट हैं । सबमें अपनी-अपनी सत्ता है । 'घट' कहने पर 'घट है ही' क्योंकि उसकी सत्ता का सद्भाव उसमें ही है । जैसे द्रुम कहने पर आम्र और अनाम्र—नीम आदि का ग्रहण होता है क्योंकि उन सबमें द्रुमत्व है । किंतु आम्र कहने पर द्रुम का ही ग्रहण होगा, अद्रुम का नहीं ।

...दीहं ति व हस्सं ति व न उ सत्ता सेसधम्ममा वा ॥  
इहरा हस्साभावे सव्वविणासो ह्वेज्ज दीहस्स ।  
न य सो तम्हा सत्तादयोऽणवेक्खा घडाईणं ॥  
(विभा १७१४, १७१५)

वस्तु की सत्ता आपेक्षिक नहीं है । दीर्घ, ह्रस्व, रूप, रस आदि धर्म केवल आपेक्षिक ही नहीं हैं । यदि ह्रस्व के कारण दीर्घ की सत्ता मानी जाये तो ह्रस्वत्व के विनाश से दीर्घत्व का भी विनाश हो जायेगा । अतः घट आदि की सत्ता और रूप आदि धर्म अन्य की अपेक्षा से नहीं हैं ।

सप्तभंगी

सम्भावासम्भावोभयत्पिओ स-परपज्जओभयओ ।  
कुंभाऽकुंभाऽवत्तवोभयरूवाइभओ सो ॥

तदेवं स्याद्वाददृष्टं सप्तभेदं घटादिकमर्थं यथाविवक्ष-  
मेकेन केनापि भङ्गकेन विशेषिततरमसौ शब्दनयः प्रति-  
पद्यते नयत्वात्, ऋजुसूत्राद् विशेषिततरवस्तुग्राहित्वाच्च,  
स्याद्वादिनस्तु सम्पूर्णसप्तभंग्यात्मकमपि प्रतिपद्यन्ते ।

(विभा २२३२ मवृ पृ १५)

सद्भाव (अस्तित्व) और असद्भाव (नास्तित्व) तथा स्वपर्याय और परपर्याय से विशिष्ट वस्तु के सात भंग बनते हैं—

१. स्व पर्याय की अपेक्षा घट है ।
२. पर पर्याय की अपेक्षा घट नहीं है ।
३. युगपत् स्व-पर पर्याय की अपेक्षा घट अवक्तव्य है ।
४. स्व पर्याय की अपेक्षा घट है, पर पर्याय की अपेक्षा वह नहीं है ।
५. स्व पर्याय की अपेक्षा घट है, युगपत् स्व-पर पर्याय की अपेक्षा वह अवक्तव्य है ।
६. पर पर्याय की अपेक्षा घट नहीं है, युगपत् स्व-पर पर्याय की अपेक्षा वह अवक्तव्य है ।
७. स्व पर्याय की अपेक्षा घट है, पर पर्याय की अपेक्षा वह नहीं है । युगपत् स्व-पर पर्याय की अपेक्षा वह अवक्तव्य है ।

इस प्रकार स्याद्वाद से प्रतिपादित सप्तभंगयुक्त घट आदि पदार्थ किसी एक भंग से विशेषित होने पर शब्द नय और ऋजुसूत्र नय के विषय बनते हैं । स्याद्वाद का विषय सातों विकल्प हैं । इनमें प्रथम तीन भंग सकलादेश और शेष चार भंग विकलादेश कहलाते हैं ।

स्वयंबुद्ध सिद्ध—किसी बाहरी निमित्त के बिना अपने आप संबुद्ध होकर मुक्त होने वाले । (द्र. सिद्ध)

स्वरमंडल—षड्ज, ऋषभ आदि सात स्वर ।

१. स्वरों के प्रकार
२. स्वरों के स्थान
३. जीवनिधित और अजीवनिधित स्वर
४. स्वरों के लक्षण
५. स्वरों के ग्राम
६. ग्राम की मूच्छंताएं
  - षड्ज ग्राम की मूच्छंता

- ० मध्यम ग्राम की मूर्च्छना
- ० गान्धार ग्राम की मूर्च्छना

### ७. स्वर की उत्पत्ति, गीत की योनि

- ० गीत के दोष
- ० गीत के गुण
- ० सप्तस्वर सीमर
- ० गेय पदों के गुण
- ० वृत्त के प्रकार
- ० गीत की भाषा
- ० रंग के आधार पर स्वर

### ८. काव्य के प्रकार

- ० गद्यकाव्य
- ० पद्यकाव्य
- ० गेयकाव्य
- ० चूर्णकाव्य

नासाए पंचमं ब्रूया, दंतोद्वेष्टेण य ध्रुवतं ।  
भ्रु-उत्क्षेपेण नेसायं, सरट्टाणा वियाहिया ॥

(अनु २९९)

### स्वर

### स्थान

१. षड्ज	जिह्वा का अग्रभाग ।
२. ऋषभ	वक्ष ।
३. गान्धार	कण्ठ ।
४. मध्यम	जिह्वा का मध्य भाग ।
५. पंचम	नासिका ।
६. ध्रुवत	दांत और होठ का संयोग ।
७. निषाद	भ्रू-उत्क्षेप (जहाँ भौंह का उत्क्षेप होता है) ।

कज्जं करणायत्तं जीहा य सरस्स ता असंखेज्जा ।  
सरसंख असंखेज्जा, करणस्स असंखयत्तातो ॥

(अनुचू पृ ४५)

कार्यं करण के अधीन होता है । स्वर की जिह्वा (ध्वनियां) असंख्येय हैं । कारण (साधन) असंख्येय होने के कारण स्वरों की संख्या असंख्येय है ।

### १. स्वरों के प्रकार

सज्जे रिसभे गंधारे, मज्झिमे पंचमे सरे ।  
धेवए चैव नेसाए, सरा सत्त वियाहिया ॥

(अनु २९८)

स्वरों के सात प्रकार हैं—

- |            |            |
|------------|------------|
| १. षड्ज    | ५. पंचम    |
| २. ऋषभ     | ६. ध्रुवत  |
| ३. गान्धार | ७. निषाद । |
| ४. मध्यम   |            |

### २. स्वरों के स्थान

णाभिसमुत्थो अ सरो अवि कारो पप्पं जं पदेसं तु ।  
आभोगियरेण वा उवकारकरं सरट्टाणं ॥

(अनुचू पृ ४५)

स्वर के उपकारी, विशेषता प्रदान करने वाले स्थान को स्वर-स्थान कहा जाता है । जिस स्वर की उत्पत्ति में जिस स्थान का व्यापार प्रधान होता है, उसे उसी स्वर का स्थान कहा जाता है । गौण रूप से उसकी उत्पत्ति में दूसरे स्थान भी व्यापृत होते हैं ।

एएसि णं सत्तहं सराणं सत्त सरट्टाणा पण्णत्ता, तं जहा —

सज्जं च अग्गजीहाए, उरेण रिसभं सरं ।  
कंठुग्गएण गंधारं, मज्झिजीहाए मज्झिमं ॥

### ३. जीवनिश्चित और अजीवनिश्चित स्वर

सत्त सरा जीवनिस्सिया पण्णत्ता, तं जहा —

सज्जं रवइ मयूरो, कुक्कुडो रिसभं सरं ।  
हंसो रवइ गंधारं, मज्झिमं तु गवेलगा ॥  
अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं ।  
छट्ठं च सारसा कुंचा, नेसायं सत्तमं गओ ॥

सत्त सरा अजीवनिस्सिया पण्णत्ता, तं जहा —

सज्जं रवइ मुयंगो, गोमुही रिसभं सरं ।  
संखो रवइ गंधारं, मज्झिमं पुण ऋल्लरी ॥  
चउचलणपइट्टाणा, गोहिया पंचमं सरं ।  
आडंबग्गे धेवइयं, महाभेरी य सत्तमं ॥

(अनु ३००, ३०१)

जीवनिश्चित स्वर सात हैं—

१. मयूर षड्ज स्वर में बोलता है ।
२. कुक्कुट ऋषभ स्वर में बोलता है ।
३. हंस गान्धार स्वर में बोलता है ।
४. गवेलक (मेमना) मध्यम स्वर में बोलता है ।
५. वसंत में कौयल पंचम स्वर में बोलता है ।
६. क्रीच और सारस ध्रुवत स्वर में बोलते हैं ।
७. हाथी निषाद स्वर में बोलता है ।

**अजीवनिधित स्वर सात हैं—**

१. मृदङ्ग से षड्ज स्वर निकलता है ।
२. गोमुखी (नरसिंघा नामक वाद्य) से ऋषभ स्वर निकलता है ।
३. शंख से गान्धार स्वर निकलता है ।
४. झल्लरी से मध्यम स्वर निकलता है ।
५. चार चरणों पर प्रतिष्ठित गोधिका से पंचम स्वर निकलता है ।
६. ढोल से धैवत स्वर निकलता है ।
७. महाभेरी से निषाद स्वर निकलता है ।

**४. स्वरों के लक्षण**

सज्जेण लहइ विक्ति, कयं च न विणस्सइ ।  
 भावो पुत्ता य मित्ता य, नारीणं होई वल्लहो ॥  
 रिसभेण उ एसज्जं, सेणावच्चं धणाणि य ।  
 वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ॥  
 गंधारे गीतजुत्तिष्णा, विज्जविक्ती कलाहिया ।  
 हवंति कइणो पण्णा, जे अण्णे सत्थपारगा ॥  
 मज्झिमसरमंता उ, हवंति सुहजीविणो ।  
 खायई पियई देई, मज्झिमसरमस्सिओ ॥  
 पंचमसरमंता उ, हवंति पुहवीपती ।  
 सूरुा संगहकत्तारो, अणेगणनयाग ॥  
 धेवयसरमंता उ, हवंति दुहजीविणो ।  
 साउणिया नाउरिया, सोघरिया य मुट्टिया ॥  
 नेसायसरमंता उ, हवंति हिंसगा नरा ।  
 जंघाचरा लेहवाहा, हिडगा भारवाहगा ॥

(अनु ३०२।१-७)

**षड्ज स्वर**

षड्ज स्वर वाले व्यक्ति आजीविका पाते हैं, उनका प्रयत्न निष्फल नहीं होता । उनको गाय, पुत्र और मित्रों की उपलब्धि होती है तथा वे स्त्रियों के प्रिय होते हैं ।

**ऋषभ स्वर**

ऋषभ स्वर वाले व्यक्ति को ऐश्वर्य, सेनापतित्व, धन, वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और स्वजनों की उपलब्धि होती है ।

**गान्धार स्वर**

गान्धार स्वर वाले व्यक्ति गाने में कुशल, चिकित्सा से आजीविका करने वाले, कला में कुशल, कवि; प्राज्ञ और शास्त्रों के पारगामी होते हैं ।

**मध्यम स्वर**

मध्यम स्वर वाले व्यक्ति सुख से जीते हैं, खाते-पीते हैं और दान करते हैं ।

**पंचम स्वर**

पंचम स्वर वाले व्यक्ति राजा, धूर, संग्रहकर्ता और अनेक गणों के नायक होते हैं ।

**धैवत स्वर**

धैवत स्वर वाले व्यक्ति कष्टजीवी, पक्षियों, हिरणों और सूअरों को मारने वाले तथा घूसेबाज (मुष्टिमल्ल) होते हैं ।

**निषाद स्वर**

निषाद स्वर वाले व्यक्ति हिंसक, जंघाचार (तेज गति से चलने वाले दूत), संदेशवाहक, घुमकड़ और भारवाही होते हैं ।

**५. स्वरों के ग्राम**

सत्तण्हं सराणं तओ गामा पण्णत्ता, तं जहा—  
 सज्जगामे मज्झिमगामे गंधारगामे । (अनु ३०३)

सात स्वरों के तीन ग्राम हैं—षड्ज ग्राम, मध्यम ग्राम और गान्धार ग्राम ।

(ग्राम शब्द समूह वाची है । संवादी स्वरों का वह समूह ग्राम है जिसमें श्रुतियां व्यवस्थित रूप में विद्यमान हों और जो मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम अलंकार इत्यादि का आश्रय हो ।)

**६. ग्राम की मूर्च्छनाएं**

अण्णोणसरविसेसा उप्पायंतस्स मुच्छणा भणिया ।

कत्ता व मुच्छित्तो इव कुणते मुच्छं व सोयत्ति ॥

मंमिमादियाणं इगवीसमुच्छणाणं सरविसेसो पुव्वगते सरपाहुडे भणितो । तव्विणिग्गतेसु त भरहविसाखिलादिमु विण्णेया । (अनुचू पृ ४५)

परस्पर स्वर उत्पन्न करने पर मूर्च्छना होती है । मूर्च्छना का अर्थ है—सात स्वरों का क्रमपूर्वक आरोह-अवरोह । इससे गायक मूर्च्छित जैसा हो जाता है और श्रोता को भी मूर्च्छित जैसा बना देता है ।

मंगी आदि इक्कीस प्रकार की मूर्च्छनाओं के स्वरों की विशद व्याख्या पूर्वगत के 'स्वरप्राभृत' में प्रतिपादित थी । वह अब लुप्त हो चुका है । इस समय इनकी जान-

कारी उसके आधार पर निर्मित भरतनाट्य, वैशाखिल आदि ग्रन्थों से करनी चाहिए।

### षड्ज ग्राम की मूर्च्छना

सज्जगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पणत्ताओ, तं जहा—

मंगी कोरवीया हरीय, रयणी य सारकंता य ।  
छट्टी य सारसी नाम, सुद्धसज्जा य सत्तमा ॥

(अनु ३०४)

षड्ज ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ—

- |            |                  |
|------------|------------------|
| १. मंगी    | ५. सारकान्ता     |
| २. कोरवीया | ६. सारसी         |
| ३. हरित्   | ७. शुद्ध षड्जा । |
| ४. रजनी    |                  |

### मध्यम ग्राम की मूर्च्छना

मज्झिमगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पणत्ताओ, तं जहा—

उत्तनमंदा रयणी, उत्तरा उत्तरायता ।  
आसकंता य सोवीरा, अभिरु हवति सत्तमा ॥

(अनु ३०५)

मध्यम ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ—

- |                |                 |
|----------------|-----------------|
| १. उत्तरमंद्रा | ५. अश्वकान्ता   |
| २. रजनी        | ६. सोवीरा       |
| ३. उत्तरा      | ७. अभिरुद्गता । |
| ४. उत्तरायता   |                 |

### गान्धार ग्राम की मूर्च्छना

गंधारगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पणत्ताओ, तं जहा—

नंदी य खुड्डिया पूरिमा य चउत्थी य सुद्धगंधारा ।  
उत्तरगंधारा वि य, पंचमिया हवद् मुच्छा उ ॥

सुट्टुत्तरमायामा, सा छट्टी नियमसो उ नायव्वा ।

अह उत्तरायता कोडिमा य सा सत्तमी मुच्छा ॥

(अनु ३०३।१,२)

गान्धार ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ—

- |                  |                       |
|------------------|-----------------------|
| १. नंदी          | ५. उत्तरगान्धारा      |
| २. क्षुद्रिका    | ६. सुट्टुत्तर आयामा   |
| ३. पूरिका        | ७. उत्तरायता कोटिमा । |
| ४. शुद्धगान्धारा |                       |

### ७. स्वर की उत्पत्ति, गीत की योनि.....

सत्त सरा नाभीओ, हवति गीयं च रुण्णजोणीयं ।  
पायसमा ऊसासा, तिण्णि य गीयस्स आगारा ॥  
आइमिउ आरभंता, समुव्वहंता य मज्झयारंमि ।  
अवसाणे य भव्वेता तिण्णि वि गीयस्स आगारा ॥

(अनु ३०७।२,३)

सातों स्वर नाभि से उत्पन्न होते हैं। रुदन गीत की योनि हैं। जितने समय में किसी छन्द का एक चरण गाया जाता है उतना उसका उच्छ्वास काल (परिमाण काल) होता है और उसके आकार (आकृतियों, स्वरूप) तीन हैं।

गीत का आरम्भ करते समय आदि में मृदु, आरोहण करते समय मध्य में तीव्र और अवरोहण करते समय अन्त में मन्द। ये गीत के तीन आकार हैं।

### गीत के दोष

भीयं दुयमुप्पिच्छं, उत्तालं च कमसो मुणोयव्वं ।  
काकस्सरमणुणासं, छट्टोसा होति गीयस्स ॥

(अनु ३०७।५)

१. भीत—भयभीत होते हुए गाना।
२. द्रुत—शीघ्रता से गाना।
३. उप्पिच्छ—श्वासयुक्त गाना।
४. उत्ताल—ताल से आगे बढ़कर या ताल के अनुसार न गाना।
५. काकस्वर—कीए की भांति कर्णकटु स्वर से गाना।
६. अनुनास—नाक से गाना।

### गीत के गुण

पुण्णं रत्तं च अलंकियं च वत्तं च तहेव मविष्णुट्ठं ।  
महुरं समं सुललियं, अट्ट गुणा होति गीयस्स ॥

(अनु ३०७।६)

गीत के आठ गुण हैं—

१. पूर्ण—स्वर में आरोह, अवरोह आदि से परिपूर्ण होना।
२. रक्त—गाए जाने वाले राग से परिष्कृत होना।
३. अलंकृत—विभिन्न स्वरों से सुशोभित होना।
४. व्यक्त—स्पष्ट स्वर वाला होना।
५. अविष्णुट्ठ—नियत या नियमित स्वर युक्त होना।
६. मधुर—मधुर स्वर युक्त होना।
७. सम—ताल, वीणा आदि का अनुगमन करना।
८. सुललित—ललित, कोमल लययुक्त होना।

उर-कंठ-सिर-विशुद्ध, च गिज्जते मउय-रिभियपदबद्ध ।  
समतालपदुक्खेवं, सत्तस्वरसीभरं गीयं ॥  
(अनु ३०७।७)

गीत के अन्य आठ गुण

१. उरो विशुद्ध—जो स्वर वक्ष में विशाल होता है ।
२. कण्ठ विशुद्ध—जो स्वर कण्ठ में नहीं फटता ।
३. शिरो विशुद्ध—जो स्वर सिर से उत्पन्न होकर भी नासिका से मिश्रित नहीं होता ।
४. मृदु—जो राग कोमल स्वर से गाया जाता है ।
५. रिभित—घोलना-बहुल आलाप के कारण खेल-सा करते हुए स्वर ।
६. पदबद्ध—गेय पदों में निबद्ध रचना ।
७. समताल-पदोत्क्षेप—जिसमें ताल, भांग्र आदि का शब्द और नर्तक का पादनिक्षेप—ये सब सम हों—एक दूसरे से मिलते हों ।
८. सप्तस्वर सीभर—जिसमें सातों स्वर अक्षर, पद आदि से सम हों ।

#### सप्तस्वर सीभर

अक्खरसमं पदसमं, तालसमं लयसमं गहसमं च ।  
निस्ससिउत्ससियसमं, संचारसमं सरा सत्त ॥  
(अनु ३०७।८)

सप्तस्वर सीभर की व्याख्या—

१. अक्षरसम—जिसमें दीर्घ अक्षर आने पर गीत का स्वर दीर्घ हो, ह्रस्व अक्षर आने पर गीत का स्वर ह्रस्व हो, प्लुत अक्षर आने पर गीत का स्वर प्लुत हो और सानुनासिक अक्षर आने पर गीत का स्वर सानुनासिक हो, वह गीत ।
२. पदसम—स्वर के अनुकूल निर्मित गेय पद के अनुसार गाया जाने वाला गीत ।
३. तालसम—तालवादन के साथ-साथ गाया जाने वाला गीत ।
४. लयसम—वीणा आदि को आहत करने पर जो लय उत्पन्न होती है उसके अनुसार गाया जाने वाला गीत ।
५. गहसम—वीणा आदि के द्वारा जो स्वर पकड़, उसी के अनुसार गाया जाने वाला गीत ।

६. निःश्वसितोच्छ्वसित सम—श्वास लेने और छोड़ने के क्रम का अतिक्रमण न करते हुए गाया जाने वाला गीत ।

७. संचारसम—सितार आदि के साथ गाया जाने वाला गीत ।

इस प्रकार गीत स्वर, तन्त्री आदि से संबंधित होकर सात प्रकार का हो जाता है ।

#### गेय पदों के गुण

निहोसं सारवत्तं च हेउजुत्तमलंकियं ।  
उवणीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥

(अनु ३०७।९)

गेय पदों के आठ गुण—

१. निर्दोष—बत्तीस दोष रहित होना ।
२. सारवत्—अर्थयुक्त होना ।
३. हेतुयुक्त—हेतुयुक्त होना ।
४. अलंकृत—काव्य के अलंकारों से युक्त होना ।
५. उपनीत—उपसंहार युक्त होना ।
६. सोपचार—कोमल, अविरुद्ध और अलज्जनीय का प्रतिपादन करना अथवा व्यंग्य या हंसी युक्त होना ।
७. मित—पद और उसके अक्षरों से परिमित होना ।
८. मधुर—शब्द, अर्थ और प्रतिपादन की दृष्टि से प्रिय होना ।

#### वृत्त के प्रकार

समं अद्धसमं चैव, सव्वत्थ विसमं च जं ।  
तिणिण वित्तप्पयाराइं, चउत्थं नोवलब्भई ॥

(अनु ३०७।१०)

वृत्त (छन्द) के तीन प्रकार हैं—

१. सम—जिसमें चरण और अक्षर सम हों, चार चरण हों और उसमें लघु-गुरु अक्षर समान हों ।
२. अर्द्धसम—जिसमें चरण या अक्षरों में से कोई एक सम हो—या तो चार चरण हो या विषम चरण होने पर भी उनमें लघु-गुरु अक्षर समान हों ।
३. सर्वविषम—जिसमें चरण और अक्षर सर्वत्र विषम हों । वृत्त का चौथा प्रकार उपलब्ध नहीं है ।

#### गीत की भाषा

सक्कया पायया चैव, भणितीओ होति दोणिण वि ।  
सरमडलंमि गिज्जते, पसत्था इसिभासिया ॥

(अनु ३०७।११)

भणिति (गीत की भाषा) के दो प्रकार हैं—संस्कृत और प्राकृत। ये दोनों प्रशस्त और ऋषिभाषित हैं तथा स्वर-मण्डल में गाई जाती हैं।

### रस के आधार पर स्वर

सामा गायइ महुरं, काली गायइ खरं च हखं च ।  
गोरी गायइ चउरं, काणा य किलंबियं, दुतं अंधा ॥  
विस्सरं पुण पिगला ॥  
(अनु ३०७।१३)

श्यामा स्त्री मधुर गीत गाती है।

काली स्त्री परुष और रुखा गीत गाती है।

गोरी स्त्री चतुर गीत गाती है।

काणी स्त्री किलम्बित गीत गाती है।

अंधी स्त्री द्रुत गीत गाती है।

पिगला स्त्री विस्वर गीत गाती है।

(स्वर-मण्डल की विशेष जानकारी के लिए देखें—

ठाण ७।३९-४८ के टिप्पण)

### ८. काव्य के प्रकार

गज्जं पज्जं गेतं चुण्णं च चउव्विहं तु गहियपदं ।  
तिसमुद्दाणं सव्वं इति वेत्ति सलक्खणा कइणी ॥  
(दनि ७६)

ग्रथित (छन्दबद्ध) पद के चार प्रकार हैं—

१. गद्य २. पद्य ३. गेय और ४. चूर्ण।

सभी पद तीन समुत्थान वाले हैं।

### गद्य काव्य

मधुरं हेउनिउत्तं गहितमपादं विरामसंजुतं ।  
अपरिमियं चउवसाणी कव्वं गज्जं ति जायव्वं ॥  
(दनि ७७)

गद्य काव्य वह है—

- जो सूत्र आदि के विभाग से मधुर है।
- जो हेतुयुक्त है।
- जो पादविहीन—चरणबद्ध रचित नहीं है।
- जो विरामयुक्त है।
- जो अपरिमित अंत वाला है।

### पद्य काव्य

पज्जं पि होति ति विहं सममद्रसमं च णाम विसमं च ।  
पाएहि अक्खरेहि य एवं विहण्णु कइं विति ॥  
(दनि ७८)

पद्य काव्य के तीन प्रकार—

१. सम—जिसमें चारों चरण समान अक्षर, विराम और मात्रा वाले हों।
२. अर्धसम—जिसमें प्रथम और तृतीय चरण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण समान अक्षर, विराम और मात्रा वाले हों।
३. विषम—जिसके चारों चरणों में अक्षर, मात्रा और विराम विषम हों—समान न हों।

### गेय काव्य

ततिसमं वण्णसमं तालसमं गहसमं लयसमं च ।  
कव्वं तु होइ गेयं पंचविहं गेयसण्णाए ॥  
(दनि ७९)

गेय काव्य के पांच प्रकार—

१. तन्त्रीसम—वाद्यों के तारों पर अंगुलीसंचार के साथ गाया जाने वाला गीत।
२. वर्णसम—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि अक्षरों के अनुरूप अथवा पदों के अनुरूप स्वरों वाला गीत।
३. तालसम—तालवादन के अनुरूप स्वर में गाया जाने वाला गीत।
४. ग्रहसम—वीणा आदि द्वारा गृहीत स्वरों के अनुसार गाया जाने वाला गीत।
५. लयसम—वाद्यों की धुनों के अनुसार गाया जाने वाला गीत।

### चूर्ण काव्य

अथबहुलं महत्थं हेउनिवाओवसग्गमांभीरं ।  
बहुपयमव्वोच्छिन्नं गमययसुद्धं च ज्जुण्णपदं ॥  
(दनि ८०)

चूर्ण काव्य वह है—

- जो अर्थबहुल है—जिसमें एक-एक पद के अनेक अर्थ हैं।
- जो महान् अर्थ वाला है, जो अनेक नयवादों की गंभीरता से महान् है।
- जो हेतुयुक्त है।
- जो 'च', 'त्रा' आदि त्रिपातयुक्त है।

- ० जो 'प्र', 'परा' आदि उपसर्गयुक्त है।
- ० जो बहुपद—अपरिमित पद वाला है।
- ० जो अव्ययच्छिन्न—विरामरहित है।
- ० जो गम और नयों से शुद्ध है।

**स्वलिगसिद्ध**—जैन मुनि के वेश में मुक्त होने वाला। (द्र. सिद्ध)

**स्वाध्याय**—श्रुतग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन।

१. स्वाध्याय क्या है ?

\* स्वाध्याय : तप का एक भेद (द्र. तप)

२. स्वाध्याय के प्रकार

\* स्वाध्याय का प्रयोजन (द्र. श्रुतज्ञान)

३. स्वाध्याय के परिणाम

४. स्वाध्याय का महत्त्व

\* स्वाध्याय काल (द्र. कालविज्ञान)

\* अस्वाध्याय काल (द्र. अस्वाध्याय)

\* आहार से पूर्व स्वाध्याय (द्र. आहार)

\* रात्रिकालीन स्वाध्यायविधि (द्र. श्रमण)

१. स्वाध्याय क्या है ?

सुयधम्मो सज्झायो ।.....सज्झातो नाम सामाइ-  
एमादी जाव दुवालसंगं गणपिडणं ।

(आववू २ पृ ७, ८)

स्वाध्याय श्रुतधर्मरूप है। सामायिक से द्वादशांग पर्यंत आगमों का परिशीलन करना स्वाध्याय है।

प्रवचनं श्रुतमित्यर्थसत्तद्धर्मः स्वाध्यायः ।

(उशावू प ५८४)

प्रवचन का अर्थ है श्रुत। श्रुतधर्म का आचरण करना स्वाध्याय है।

२. स्वाध्याय के प्रकार

वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा ।

अणुप्येहा धम्मकहा, सज्झाओ पंचहा भवे ॥

वाचना पाठनम् ।.....परावर्त्तना गुणनम् । अनुप्रेक्षा चिन्तनिका ।

(उ ३०।३४ शावू प ५८४)

स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं—

१. वाचना—अध्यापन करना।
२. प्रच्छना—अज्ञात विषय की जानकारी या ज्ञात विषय की विशेष जानकारी के लिए प्रश्न करना।

३. परिवर्त्तना—परिचित विषय को स्थिर रखने के लिए उसे बार-बार दोहराना।

४. अनुप्रेक्षा—परिचित और स्थिर विषय पर चिंतन करना; पर्यालोचन करना।

५. धर्मकथा—स्थिरीकृत और पर्यालोचित विषय का उपदेश करना।

३. स्वाध्याय के परिणाम

“सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।

(उ २९।१९)

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

वाचना

“वायणाए णं निज्जरं जणयइ, सुयस्स य अणासाय-  
णाए वट्टए । सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं  
अवलंबइ । तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्ज-  
वसाणे भवइ । (उ २९।२०)

वाचना (अध्यापन) से जीव कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत की उपेक्षा के दोष से बच जाता है। इस उपेक्षा के दोष से बचने वाला तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है—वह शिष्यों को श्रुत देने में प्रवृत्त होता है। तीर्थधर्म का अवलम्बन करने वाला कर्मों और संसार का अन्त करने वाला होता है।

प्रच्छना

पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइ विसोहेइ ।  
कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिइइ । (उ २९।२१)  
प्रतिप्रश्न करने से जीव सूत्र, अर्थ और उन दोनों से सम्बन्धित संदेहों का निवर्तन करता है और कांक्षामोह-  
नीय कर्म का विनाश करता है।

परिवर्त्तना

“परियट्टणाए णं वंजणाइ जणयइ, वंजणसद्धिं च  
उप्पाएइ । (उ २९।२२)

परावर्त्तना (पठित पाठ के पुनरावर्त्तन) से जीव अक्षरों को उत्पन्न करता है—स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-लब्धि (वर्ण-विद्या) को प्राप्त होता है।

अनुप्रेक्षा

सूत्रवदर्थेऽपि संभवति विस्मरणमतः सोऽपि  
परिभावनीय इत्यनुप्रेक्षा । (उशावू प ५८४)



अर्थ का बार-बार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। इसके अभाव में अर्थ विस्मृत हो जाता है।

अणुप्येहा नाम जो मणसा परिवट्टेइ णो वायाए ।  
(दजिचू पृ २९)

अनुप्रेक्षा में मानसिक परावर्तन होता है, वाचिक नहीं।

अनुप्रेक्षा के परिणाम (द्र. अनुप्रेक्षा)

### धर्मकथा

धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ । धम्मकहाए णं पक्कयणं पभावेइ । पक्कयणपभावे णं जीवे आममिस्सत्त भट्ताए कम्मं निबंघइ ।  
(उ २९।२४)

धर्मकथा से जीव कर्मों को क्षीण करता है और प्रवचन की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है।

धर्मकथा के प्रकार (द्र. कथा)

जोगं च समणधम्ममि जुंजे अणलसो धुवं ।...  
जोगं मणोवयणकायमयं अणुप्येहणसज्झायपडिलेहणादिसु पत्तेयं समुच्चयेण वा च सहेण नियमेण भंगितमुत्ते तिविधमवि ।  
(द ८।४२ अचू पृ १९५)

मुनि आलस्य-रहित हो श्रमणधर्म में योग का यथोचित प्रयोग करें।

यहां अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय, प्रतिलेखना आदि श्रमण-चर्या को श्रमणधर्म कहा गया है। अनुप्रेक्षाकाल में मन को, स्वाध्यायकाल में वचन को और प्रतिलेखनाकाल में काया को श्रमणधर्म में लगाना चाहिये तथा भंगप्रधान (विकल्पप्रधान) श्रुत में तीनों योगों का प्रयोग करना चाहिये। उसमें मन से चिंतन, वचन से उच्चारण और काया से लेखन—तीनों होते हैं।

### ४. स्वाध्याय का महत्त्व

अहं जहं सुयमोगाहइ अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं ।

तहं तहं पल्लाइ मुणी णवणवसंवेगसद्धाए ॥

(उशावृ प ५८६)

मुनि जैसे-जैसे अपूर्व और अतिशयरसयुक्त श्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे उसे संवेग के नये-नये स्रोत उपलब्ध होते हैं, जिससे उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।

बारसविधम्मि वि तवे, सध्मिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।  
ण वि अत्थि ण वि य होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥

(दअचू पृ २००)

बारह प्रकार का तप दो भागों में विभक्त है—बाह्य तप और आभ्यंतर तप। स्वाध्याय आभ्यंतर तप का चौथा प्रकार है। स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप नहीं है।

तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः ।  
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाम्रतः स्थातुम् ॥

(नन्दीहावृ पृ ६२)

वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है, जिसके उदित होने पर राग आदि निषेधात्मक भाव विद्यमान रहें। अंधकार में वह शक्ति कहां है, जो वह सूर्य की किरणों के समक्ष ठहर सके ?

कम्ममसंखेज्जभवं खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।

अन्नयरम्मि वि जोए सज्झायमि य विसेसेण ॥

(उशावृ प ५८४)

ध्यानयोग आदि किसी भी प्रकार की योगसाधना में सतत उपयुक्त साधक असंख्य भवों के संचित कर्मों को क्षीण करता है। स्वाध्याय योग से विशेष कर्मनिर्जरा होती है।

कसाया अग्गिणो वृत्ता, सुयसीलतवो जलं ।

सुयधाराभिहया संता भिन्ना हु न उहंति मे ॥

(उ २३।५३)

कषायों को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और तप—यह जल है। श्रुत की धारा से आहत किये जाने पर निस्तेज बनी हुई वे अग्नियां मुर्झ नहीं जलाती।

(स्वाध्याय के पांच प्रकारों का अनुशीलन करने से श्रुत की आराधना होती है। श्रुतआराधना से अज्ञान क्षीण होता है। अज्ञान के कारण आग्रह और राग-द्वेष बढ़ते हैं। इससे चित्त संक्लिष्ट रहता है। निरन्तर स्वाध्याय करते रहने से विशिष्ट तत्त्वों की उपलब्धि होती है, तब सारे संक्लेश मिट जाते हैं।)

हिंसा—प्राण-वियोजन। प्राणातिपात। (द्र. अहिंसा)

हीयमान—अवधिज्ञान का एक भेद, जो उत्पत्ति काल से क्रमशः क्षीण होता जाता है।

(द्र. अवधिज्ञान)

हेतूपदेश—इष्ट-प्रवृत्ति और अनिष्ट-निवृत्ति का संज्ञान। संज्ञीश्रुत का एक भेद (द्र. श्रुतज्ञान)

## **परिशिष्ट**

**१. कथा-संकेत**

**२. दार्शनिक और तात्त्विक चर्चा-स्थलों का संकेत**



## परिशिष्ट १

प्रस्तुत परिशिष्ट में पांच आगमों (नंदी, अनुयोगद्वार, दशवंकालिक, उत्तराख्ययन और [आवश्यक] तथा इनके व्याख्या ग्रन्थों (निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण तथा वृत्ति) में प्रयुक्त कथाओं, दृष्टान्तों, घटनाओं के संकेत संगृहीत हैं। इसके तीन विभाग हैं—

प्रथम विभाग—कथाओं और दृष्टान्तों का विषयगत विभाजन, संकेत तथा सम्बन्धस्थल।

द्वितीय विभाग—शौर्यकर, चक्रवर्ती, प्रत्येकबुद्ध, निह्लंब, नगरों की उत्पत्ति—इन से संबद्ध जीवनवृत्तों तथा घटनाओं के ससंबन्ध संकेत।

तृतीय विभाग—आचार्य, मुनि, राजा तथा अन्य प्रसिद्ध कथानायकों का अकारादि क्रम से ससंबन्ध नामांकन।

### (प्रथम विभाग)

विषय	कथा-संकेत	संबन्ध
अंगुलि-निर्देश	१ गीतार्थ-अगीतार्थ साधु २ रत्नदाहक वणिक्	विभा ८६८. म ३५२
अज्ञान	१. किसान और चित्रघट २. मूर्ख और दीनार	उच्चू १४८. शा २६२-२६४. सु १११ आवचू २ पृ ३०
अणुव्रत		
स्थूल प्राणातिपात- विरमण	१ कोंकणक, २ श्रावक पुत्र, ३ क्षेम अमात्य	आवचू २ पृ २८३-२९३. हा २१९-२२४
स्थूल मृषावादविरमण	१ कोंकणक श्रावक, २ वणिक् द्वारा रहस्यभेद	
स्थूल अदत्तादानविरमण	चोरगोष्ठी और श्रावक का संकल्प	
स्थूल मैथुनविरमण	१ गिरिनगर के मित्र २ गणिका के पुत्र-पुत्री का विसर्जन	
स्थूल परिग्रहविरमण	लोभी नंद श्रावक	
अनिपतवास	आचार्य संगमस्थविर	आवनि ११७७. चू २ पृ ३५, ३६. हा ३१
अनुग्रह	राजा द्वारा घनघान्य-वितरण	ओभा १३
अनुज्ञा-विधि	साधु और भद्र राजा	ओनि ३८५
अनुयोग		
द्रव्यानुयोग	गाय और वत्स	आवनि १३३, १३४. चू १ पृ १०९-११५.
क्षेत्रानुयोग	शातवाहन और कुब्जा	हा ५९-६४. म १३५-१३८। विभा १४११,
कालानुयोग	तक्र-विक्रैता	१४१२. म ५२२-५२७

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
वचनानुयोग भावानुयोग	१ बधिर कुटुंब, २ ग्रामेयक १ श्रावकभार्या, २ साप्तपदिक, ३ कोंकणकदारक, ४ नकुल, ५ कमलामेला, ६ शांभ का साहस ७ श्रेणिक और चेलना	
अनुशासन	अंकुसेण जहा नागो मृगावती और चंदनबाला दो कुलपुत्र और अश्व	उ २२।४६. शा ४९६. सु २८४ अचू २५. जि ५०. हा ४९,५० उचू १२२. शा २२३. सु ९६
अन्धविश्वास	हिंमुशिव देव	अचू २४. जि ४७. हा ४४
अर्थसंग्रह	मम्मण सेठ	आवनि ९३५. चू १ पृ ३७१, ३७२. हा २७५, २७६
अहंत् आज्ञा	ग्रामभोजिक और राजा	ओभा ४३, ४४
अशरण	अट्टन मल्ल राजपुरोहित-पुत्र अरघट्टमाला	उचू १०९. शा १९२, १९३. सु ७९, ८० उचू ११४. शा २११. सु ८३ ओभा २६
अस्वास्थ्य	१ जितशत्रु राजा की घोषणा २ राजा और पांच पुरुष	आवनि १३२४, १३२८, १३२९. चू २ पृ २१७. २१८. हा १६१, १६२
अहंकार	कूणिक	अचू २६. जि ५१. हा ५०, ५१
अहिंसक यज्ञ	जयघोष-विजयघोष	उ २५।१-४३. नि ४६३-४७९. चू २६८
अहिंसा	उज्जयिनी का श्रावकपुत्र	उचू १७४. शा २९४
आचार्य और शिष्य	१ गाय का विक्रय, २ अश्विपोष- शमनी भेरी, ३ चेटी और अलंकार ४ श्रावक और शिष्य, ५. बधिर, ६ गोह, ७ टंकणक	आवनि १३६. चू १ पृ ११७-१२०. हा ६५-६७. म १३९-१४१ । विभा १४३५-१४४५. म ५३२-५३७
आज्ञा की आराधना	सूर्योदय उद्यान	पिनि २१२, २१३
आत्मबोध	कपिलपिगल	अचू २६. जि ५३. हा ५३, ५४
आत्मानुशासन	१ दो चोर भाई २ सेचनक गंधहस्ती	उचू ३३. शा ५२, ५३. सु ६, ७
आय-व्यय में कुशल	तीन व्यापारी	उ ७।१४-१६. चू १६३. शा २७८, २७९. सु १२०
आवश्यक	१ अमीतार्य गच्छ २ रत्नवणिक	आवचू १ पृ ७९. हा ३५ म ८८ । विभा ८६८. म ३५२
आहार में अनासक्ति	रत्नवणिक का दृष्टांत	अचू ८. जि १३. हा १९, २०
आहार विवेक	गर्दभ का दृष्टांत	ओनि १६२

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
<b>इन्द्रिय</b>		
श्रोत्रेन्द्रिय	पुष्पशाल गंधर्विक	आवचू १. पृ ५२९-५३५. हा २६५-२६८.
चक्षुरिन्द्रिय	इभ्यपुत्र और धारिणी देवी	म ५०४-५०७
घ्राणेन्द्रिय	गंधप्रियकुमार	
रसनेन्द्रिय	सोदास राजा	
स्पर्शनेन्द्रिय	मुकुमालिका	
<b>ईश्यां</b>	स्थविरा	अचू ५२. जि ९८, ९९
<b>उपसर्ग</b>	१ क्षुल्लक और व्यन्तरी	आवचू १ पृ ५३६, ५३७. हा २६९, २७०. म ५०९
	२ संगम	
	३ चन्द्रमुप्त और चाणक्य	
	४ सोमिल और गजमुकुमाल	
	५ ब्राह्मण और स्त्री	
	६ चार स्त्रियां और मुनि	
<b>उपाय</b>	गंधर्वाचार्य	अचू २४. जि ४७, ४८. हा ४५
<b>एषणा समिति</b>		
द्रव्य गवेषणा	१ कनकपृष्ठ मृग	पिनि ८०-८४ । ओनि ४५०-४५४, ४५९-४६१
	२ गजयूथ	
	३ वानरयूथ	
भाव गवेषणा	१ धर्मरुचि अनगार	ओनि ४५६. भा २३२-२३९
	२ वज्रस्वामी	
ग्रहणीषणा	गोवत्स और प्रियंगुलतिका	पिनि २२५, २२६ । ओनि ४७७
प्रासैषणा	मत्स्य का दृष्टांत	पिनि ६३० । ओनि ५३९-५४३
<b>उद्गम के दोष</b>		
द्रव्य उद्गम	मोदकप्रियकुमार	पिनि ८८-९०
आघातकर्म	१ स्तेन, २ राजकुमार विजित- समर, ३ भीमपल्ली और अरिमर्दन राजा, ४. गुणचन्द्र राजा और राजद्रोही वणिक् ५ जिनदत्त और शालिओदन ६ यशोधरा और बत्सराज ७ नूपुरहारिका-हस्ती ८ उग्रतेज और सोदास ९ ग्रामणी वणिक् और साधु १० गुणचन्द्र श्रेष्ठी और वेशधारी साधु ११ प्रियंकर तपस्वी	पिनि ११८-१२७ पिनि १६२-१६७ पिनि १८१ पिनि १९२, १९३ पिनि १९८-२०० पिनि २०८-२११

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
द्रव्य पूति	यक्षसभा का उपलेपन	पिनि २४५, २४६
प्रादुष्करण	तीन साधु	पिनि २९२-२९७
क्रीत	देवशर्मा	पिनि ३१०, ३११
प्रामित्य	सम्मत मुनि की भगिनी	पिनि ३१७-३१९
परिवर्तित	क्षेमंकर और लक्ष्मी	पिनि ३२४-३२६
अभ्याहृत	धनावह आदि श्रावक	पिनि ३३७-३४०
उद्भिन्न	यक्षदत्त और वसुमती	पिनि ३५९, ३६०
मालापहृत	सुरदत्त और वसुधरा	पिनि ३६२
आच्छेद्य	वत्सराज और जितदास	पिनि ३६८, ३६९
अनिसृष्ट	वत्तीस मोदक	पिनि ३७८-३८१
<b>उत्पादन के दोष</b>		
धात्रीपिण्ड	संगमसूरि और दत्त शिष्य	पिनि ४२७
दूती	धनदत्त और देवकी	पिनि ४३३, ४३४
निमित्त	भोजक कथा	पिनि ४३६
क्रोध पिण्ड	तपस्वी मुनि और ब्राह्मण	पिनि ४६४
मान पिण्ड	क्षुल्लक का दृष्टान्त	पिनि ४६५
माया पिण्ड	मुनि आषाढ	पिनि ४७४-४८०
लोभ पिण्ड	मुनि सुव्रत	पिनि ४८२, ४८३
विद्या	धनदेव और भ्रमण	पिनि ४९५, ४९६
मंत्र	पादलिप्तसूरि	पिनि ४९८
चूर्ण	चाणक्य और क्षुल्लकद्वय	पिनि ५००. भा ४४-४६
योग	समित सूरि	पिनि ५०३-५०५
मूलकर्म	१ सुंदरी और मुनि २ शृंगारमति और मुनि	पिनि ५०६, ५०७, ५१०, ५११
<b>एषणा के दोष</b>		
द्रव्यैषणा	वानरयूथ और यूथाधिपति	पिनि ५१७-५१९
दायक	बालिका और मुनि	पिनि ५७९ । ओभा २४१
छदित	मधुबिन्दु का दृष्टान्त	पिनि ६२८
<b>कथा</b>		
अर्थ कथा	१ ब्रह्मदत्त आदि चार मित्र २ गौदड़ की राजनीति	दनि ९४. अचू ५४, ५५. जि १०३-१०५. हा १०७-१०९
काम कथा	१ विरूपा स्त्री २ अचल और मूलदेव	
<b>कर्मफल</b>	१ चोरों द्वारा सैध लगाना २ आभीरी और वंचक वणिक	उ ४३. चू १११-११३. शा २०७-२०९. सु ८१, ८२

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
<b>कथाय</b>		
क्रोध	जामदान्य आदि	आवजू १ पृ ५१९-५२९. हा २६१-२६५.
मान	सुभूम चक्रवर्ती	म ५००-५०३
माया	१ पंडरा आर्या, २ युक्वृत्त ३ सर्वांगसुंदरी	
लोभ	लुब्ध नन्द	
कामना-आलस	शिशिलाचारी साधु	अचू ४१. जि ७८, ७९. हा ८९
कामभोग-विरति	१ वणिक पुत्र २, राजीमती और रश्मिमि	अचू ४४, ४६. जि ८५-८८. हा ९४, ९५
कामभोगों की तुच्छता	१ काकिणी, २ आम्रफल	उ ७।११, १२. चू १६१, १६२. शा २७६, २७७. सु ११८, ११९
कायोत्सर्ग	सुभद्रा का शीलपरीक्षण	आवनि १५५०. चू २ पृ २६६-२७१. हा २०६, २०७
कुशील-संसर्ग वर्धन	१ चंपकमाला, २ पांच ब्राह्मणपुत्र	आवनि ११११, १११२. चू २ पृ २१, २२. हा २०
क्रोध का विफलीकरण	कुलपुत्र	उचू ३२. शा ५०, ५१. सु ५
क्षमा	नागदत्त	अचू २१, २२. जि ४१-४३. हा ३७, ३८
गुप्ति		
मनो गुप्ति	जिनदास श्रावक	आवजू २ पृ ७८, ७९. हा ५९
वचन गुप्ति	साधु और सेनापति	
काय गुप्ति	साधु का दृष्टान्त	
गौरव	मंशु आचार्य	आवजू २ पृ ८०. हा ६०
जुगुप्सा	गणिकापुत्री और श्रेणिक	आवजू २ पृ २८०, २८१. हा २१७
ज्ञान-क्रियावाद	अन्ध-पंगु	आवनि १०१, १०२. चू १ पृ ९६. हा ४७, ४८. म १०९, ११०
<b>ज्ञानाचार</b>		
काल	१ शंखधमक, २ देवता और साधु	अचू ५१-५३. जि ९८-१०१:
विनय	एक स्तंभ पर प्रासादनिर्माण	हा १०४-१०६
बहुमान	ब्राह्मण और भील	
उपधान	अशकटपिता	
अनिह्वन	नापित और परिव्राजक	
<b>ज्ञानादिचार</b>		
अधिकाक्षर	१ कुणाल, २ वानर	विभा ८६१-८६५. म ३४८-३५१.
हीनाक्षर	१ विद्याघर, २ बाल और बातुर	अनुहा १०, ११
स्याग	१ चाणक्य और सुबुद्धि, २ लकड़हारा	अचू ४२, ४३. जि ८१-८४ हा ९१-९३



विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
<b>दण्ड</b>		
मनोदण्ड	कोंकणक क्षपक	आवचू २ पृ ७७, ७८. हा ५८, ५९
वचन दण्ड	साधु का दृष्टांत	
काय दण्ड	चण्डरुद्र आचार्य	
<b>द्वेष की परम्परा</b>	धर्मरुचि अनगर और नन्द नाविक, नन्द के पांच भव (हंस, सिंह आदि)	आवचू १ पृ ५१६, ५१७. हा २५९, २६०. म ४९९
<b>धूर्तता</b>	१ कार्पटिक और श्रावक, २ परिव्राजक का स्वर्ण खोटक और श्रावक, ३ वणिक पत्नी की माया, ४ लोक का मध्य, ५ शकट नित्तिरी और मध्यमान सत्तु, ६ त्रपुष	अचू २७, २८. जि ५४-६०. हा ५५-६१
<b>धृति</b>	रथनेमि	सु २८१, २८२
<b>नमस्कार की निष्पत्ति</b>		
अर्थावह	श्रावकपुत्र और त्रिदंडी	आवनि १०१२ चू १. पृ ५८९-५९१.
कामनापूर्ति	कृष्ण सर्प और पुष्पमाला	हा ३०१-३०३. म ५५४, ५५५
आरोग्य-अभिरति	मातुलिग वन	
सुकुल-जन्म	गणिका और जंडपिगल	
जीवन-दान	हुंडिक यक्ष	
द्रव्य नमस्कार	जितशत्रु और द्रमक	आवचू १ पृ ५०३. हा २५२. म ४८६, ४८७
<b>नय</b>	१ प्रस्थक का दृष्टांत, २ वसति का दृष्टान्त, ३ प्रदेश का दृष्टांत	अनु ५५४-५५७. चू ७६-७७. हा १०५-१०८
<b>निद्रा</b>		
स्थानद्वि निद्रा	१ पीद्गल (मांस), २ मोदक, ३ हाथी-दांत, ४ कुम्भकार, ५ बटशाखा	विभा २३५. म ११७, ११८
<b>निर्जरा</b>	योगवहन-दक्ष महिला	ओनि ४९४-४९८
<b>न्याय</b>	दो माता, एक पुत्र	आवचू २ पृ १०. हा ८, ९. म ६००
<b>पद्मानुसारी लम्बि</b>	विद्याधर और अभयकुमार	विभा ८६४. म ३५०
<b>परिग्रह</b>	धन का कूप	उचू ११०, १११. मा २०६, २०७. सु ८०, ८१
<b>परोक्षह</b>		
१. क्षुधा	हस्तिमित्र और हस्तिभूति	उनि ८९-१४१. चू ५३-९०. शा ८५-१३९.
२. पिपासा	धनमित्र और धनशर्मा	सु १८-५५
३ शीत	भद्रबाहु के चार शिष्य	
४ उष्ण	अर्हन्तक मुनि	
५ दंश-मशक	धर्मघोष और श्रमण भद्र	

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
६ अचेल	आर्यरक्षित और सोमदेव	
७ अरति	मूक भ्राता की प्रव्रज्या	
८ स्त्री	आचार्य संभूतविजय और स्थूलभद्र	
९ चर्या	आचार्य संगम और शिष्य दत्त	
१० निषद्या	कुरुदत्तसुत अनगार	
११ शय्या	सोमदत्त और सोमदेव मुनि	
१२ आक्रोश	अर्जुनमालाकार	
१३ वध	स्कन्दक आदि ५०० साधु यंत्र-पीलित	
१४ याचना	बलदेव	
१५ अलाभ	१ श्री कृष्ण और क्रोध पिशाच २ दंडण मुनि	
१६ रोग	कालवैशिक मुनि	
१७ तृणस्पर्श	भद्र मुनि	
१८ जल	सुनन्द श्रावक	
१९ सत्कार-पुरस्कार	इन्द्रदत्त पुरोहित	
२० प्रज्ञा	आचार्य कालक	
२१ अज्ञान	१ अशकटपिता और 'असंख्ये' अध्ययन २ आचार्य स्थूलभद्र	
२२ दर्शन	आचार्य आषाढभूति	

### प्रतिक्रमण के पर्यायवाची

१ प्रतिक्रमण	राजा और दो राहगीर	आवनि १२४२. चू २ पृ ५३-६१.
२ प्रतिचरण	बणिक् पत्नी और प्रासाद की उपेक्षा	हा ४१-४८
३ परिहरण	कुलपुत्र और दुग्धघट की कापोती	
४ वारण	राजा और विषमिश्रित तालाब	
५ निवृत्ति	कौलिक सुता	
६ निंदा	राजा और चित्रकार कन्या	
७ गह्राँ	पतिमारक स्त्री	
८ शोधि	राजा श्रेणिक और रजक	
द्रव्य प्रतिक्रमण	कुम्भकार	आवनि १०४८. चू १ पृ ६१४, ६१५.
भाव प्रतिक्रमण	मृगावती	हा ३२३, ३२४. म ५८४
कषाय प्रतिक्रमण	गंधर्व नागदत्त तथा पूर्वभक्ति मित्र	आवनि १२५२-१२७०. चू २ पृ ६५-६७. हा ५०-५३
पुनः पुनः प्रतिक्रमण क्यों ?	तीन वैद्यों का दृष्टांत	आवजू २ पृ ६७. हा ५३

### प्रतिश्लेषा

राजा और आरक्षक

ओनि २६०, २६१. वू १०५, १०६

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
प्रत्याख्यान	दामनक और सागर सेठ	आवनि १६२०. चू २ पृ ३२४. हा २४८, २४९
प्रमाद-अप्रमाद	१ धातुवादी २ अगडदत्त ३ म्लेच्छों का आक्रमण ४ वधू की विभूषा ५ वणिक् महिला	उचू ११५, ११६, १२३-१२५. शा २१३-२१६, २२५, २२६. मु ८३-९३, ९७
बुद्धि	औत्पत्तिकी बुद्धि	
	१ भरतशिला २ शर्त ३ वृक्ष ४ मुद्रिका ५ वस्त्रखंड ६ गिरगिट ७ कौआ ८ उत्सर्ग ९ हाथी १० भांड ११ लाख की गोली १२ स्तम्भ १३ क्षुत्लक १४ मार्ग १५ स्त्री १६ पति १७ पुत्र १८ मधुमक्खियों का छाता १९ मुद्रिका २० अंक २१ रुपयों की नोली २२ भिक्षु २३ बालक का निधान २४ शिक्षा २५ अर्थशास्त्र २६ मेरी इच्छा २७ एक लाख २८ मेंढा २९ मुर्गा ३० तिल ३१ बालुका ३२ हाथी ३३ कूप ३४ वनखंड ३५ खीर ३६ अजिका ३७ पत्र ३८ बकरी की मेंगनी अथवा बिलहरी ३९ पांच पिता	नन्दी ३८३, ४. म १४९ । आवनि ९४०, ९४२. चू १ पृ ५४६-५५२. हा २७७-२८२. म ५१९-५२३  आवनि ९४१. चू १ पृ ५४४-५४६. हा २८०. म ५१६-५१८ । नन्दीम १४५-१४९
	वैतयिकी बुद्धि	
	१ निमित्त २ अर्थशास्त्र ३ लेख ४ गणित ५ कूप ६ अश्व (७ गर्दभ ८ लक्षण ९ गांठ १० औषध ११ रथिक- गणिका १२ आर्द्रसाड़ी-दीर्घतृण- जलटा घूमता हुआ कौञ्च पक्षी १३ नीलोदक (छत का पानी) १४ बैल, घोड़े और वृक्ष से गिरना	नन्दी ३८६. म १६०-१६२ । आवनि ९४४, ९४५. चू १ पृ ५५३-५५६. हा २८२-२८५. म ५२३-५२६
	कर्मजा बुद्धि	
	१ स्वर्णकार २ कृषक ३ जुलाहा ४ दर्वी ५ मणिकार ६ घृत व्यापारी ७ तैराक ८ रफू करने वाला ९ बढई १० रसोइया ११ कुम्भकार १२ चित्रकार	नन्दी ३८९. म १६४, १६५ । आवनि ९४७. चू १ पृ ५५६. हा २८५. म ५२६

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
पारिणामिकी बुद्धि	१ अभयकुमार २ श्रेष्ठी ३ कुमार ४ देवी ५ उदितोदित राजा ६ साधु ७ नन्दीषेण ८ धनदत्त ९ श्रावक १० मंत्री ११ क्षपक १२ अमात्य १३ चाणक्य १४ स्थूलभद्र १५ नासिकपुर-सुंदरीनन्द १६ वज्र १७ चरण से हत १८ कृत्रिम आवला १९ मणि २० सांघ २१ गेंडा २२ स्तूप उखाड़ना	नन्दी ३८।११-१३. म १६६, १६७। आवनि ९४९-९५१. चू १ पृ ५५७-५६८. हा १८५-२९२. म ५२७-५३४
भाषा विवेक	ब्राह्मण और साधु	अ १९०. जि २८०
शिक्षाचर्या	वत्स और बधू	अ ८. जि १२
शिक्षा हेतु दूर गमन	कुब्जबदरी का दृष्टांत	ओनि २३९. भा १४२, १४३
मंत्र चूर्ण	१ मंत्रित चावल, २ चूर्णकृत शिक्षा ३ विषभावित शिक्षा	ओनि ५९७-६०३
मनुष्य जन्म की दुर्लभता	१ चोल्लग २. पाशक ३ धान्य ४ झूत ५ रत्न ६ स्वप्न ७ चक्र ८ चर्म ९ युग और १० परमाणु का दृष्टांत	आवनि ८३२. चू १ पृ ४४६-४५१. हा २२८-२३०. म ४५१-४५४। उनि १६०. शा १४५-१५०. सु ५६-६७
मनोनिग्रह	राजपुत्र	अ ४४. जि ८४. हा ९४
मुख्य और गौण	रत्न, स्वर्ण, चांदी और लोहे की खानें	ओभा ८, ९
मुघादायी-मुघाजीवी	१ परिव्राजक भक्त २ झूलक	अ १२४, १२५. जि १९०, १९१. हा १८१, १८२
मृत्यु के उपक्रम	१ राग तरुणी २ स्नेह वणिक पत्नी ३ भय सोमिल विप्र ४ आहार ब्राह्मण का अति आहार ५ स्पर्श ब्रह्मदत्त चक्री का स्त्रीरत्न श्रावक	आवचू १ पृ ३५५-३६६. हा १८१-१८३. म ३५५-३५९
मृषावाह	चोर और परिव्राजक	जि २१८
मृषोपदेश	पथिक और चोर का दृष्टांत	आवचू २ पृ २८६
यथाप्रवृत्तिकरण		विभा. १२११-१२१४। आवचू १ पृ ९९

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
<b>योगसंग्रह</b>		
१ आलोचना	अट्टन मल्ल, कर्पास मल्ल	आबनि १२७९-१३२०. चू. २ पृ १५२-
२ निरधलाप	धनमित्र और दृढमित्र	२१२. हा. ११७-१५६
३ दृढधर्मिता	१ धर्मघोष अनगार, २ दण्ड अनगार	
४ अतिश्रित उपधान	आर्य महागिरि और सुहस्ती	
५ शिक्षा	भद्रबाहु और स्थूलभद्र	
६ निष्प्रतिकर्म	नागदत्त	
७ अज्ञात तप	धर्मयश मुनि	
८ अलोभ	क्षुल्लक कुमार, यशोभद्र, श्रीकांता आदि	
९ तितिक्षा	इन्द्रदत्त और सुरेन्द्रदत्त	
१० आर्जव	अर्गाधि और रुद्रक	
११ शुचि, सत्य	१ सुरवर यक्ष और धनंजय सेठ २ यज्ञदत्त और पुत्र नारद	
१२ सम्यग्दृष्टि	राजा महाबल और चित्रकार	
१३ समाधि	शिशुनाग का पुत्र सुव्रत	
१४ आचार	ब्राह्मण पुत्र — ज्वलन और दहन	
१५ विनयोपग	अंबधि ब्राह्मण और तिम्बक पुत्र	
१६ धृतिमति	पांडुषेण राजा और मति-सुमति पुत्र	
१७ संवेग	सार्धवाहपुत्र सुजात, अमात्य धर्मघोष, राजा चन्द्रध्वज और वारत्रक ऋषि	
१८ प्रणिधि	१ नभोवाहन और शालवाहन २ जिनदेव आचार्य और बौद्धभिक्षु	
१९ सुविधि	धन्वन्तरी और वैतरणी वैद्य	
२० संवर	अर्हत् पार्श्व और नन्दश्री साध्वी	
२१ आत्मदोषोपसंहार	अर्हन्मित्र श्रेष्ठी और जिनदेव पुत्र	
२२ सर्वकामविरति	राजा देवलासुत और पुत्री अर्धसंकाशा	
२३ मूलगुण प्रत्याख्यान	चिलात राजा और जिनदेव श्रावक	
२४ उत्तरगुण प्रत्याख्यान	धर्मघोष और धर्मयश मुनि	
२५ व्युत्सर्ग	१ करकंडू का पूर्वजन्म तथा राज्य-त्याग । २ कांपित्य नगर के राजा दुर्मुख का राज्य-त्याग । ३ एकत्व भावना से नमि का राज्य-त्याग । ४ मंस्रार जनपद के राजा नगति का राज्य-त्याग ।	

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
२६ अप्रमाद	जरासंध राजा, मगधसुंदरी और मगधश्री गणिका	
२७ लवालव	भृगुकच्छ में विजय शिष्य	
२८ ध्यानसंवरयोग	आचार्य पुष्पभूति और शिष्य पुष्यमित्र	
२९ मारणांतिक वेदना अधिसहन	धर्मरुचि अनगार	
३० संगपरिज्ञा	जिनदेव श्रावक	
३१ प्रायश्चित्तकरण	आचार्य धनमुप्त	
३२ मारणांतिक आराधना	मरुदेवा	
रसगुद्धि	उरध्रा	उ ७।१-४. नि २४९. चू १५८, १५९, शा २७२, २७३. सु ११६, ११७
रस-विवर्जन	उदायन राजा	आवनि ११८५. चू २ पृ ३६. हा ३२
राग	अहंभक्त और अहंनिमत्र	आवचू १ पृ ५१४, ५१५. हा २५९. म ४९८
रौद्रध्यान	राजमूह का द्रमक	उचू १३८. शा २५१. सु १०७
लेश्या	१ जम्बू खादक २ ग्रामवधक	आवचू २ पृ ११३. हा १०३, १०४
लोभ	१ वंजुल वृक्ष और बानर २ रूप्यों की नौली	विभा ८६३. म ३४९, ३५० अ २१. जि ४०, ४१. हा ३५
लोभविजय	कपिल मुनि	उति २५३-२५९. चू १६८-१७०. शा २८६- २८९. सु १२४, १२५
वन्दना		
१ द्रव्य वंदना भाव वंदना	राजकुमार शीतल और उसके चार भतीजे	आवनि ११०४. चू २ पृ १४-१९. हा १५-१७
२ द्रव्य चिति भाव चिति	क्षुल्लक मुनि	
३ द्रव्य कृतिकर्म भाव कृतिकर्म	वासुदेव कृष्ण और वीरक	
४ द्रव्य पूजा भाव पूजा	१ दो सेवकों का परस्पर संघर्ष २ वासुदेव और उनका पुत्र पालक	
वर्गणा गायों की वाणी का प्रभाव	कुविकर्ण गृहपति का दृष्टांत किन्ही दासी	विभा ६३२। आवचू १ पृ ४४, ४५. हा २३ आवनि ५७८. चू १ पृ ३३१. हा १५८. म ३०८
विनय	राजपुत्र मुनिविजय	विभाम ३७४, ३७५
विभूषा	सती-असती का दृष्टांत	ओनि ४०४. वू १४६
विविक्तचर्या	समुद्रपाल	उ २१।१-१०, २२-२४. नि ४२५-४३५. चू २६१

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
वंराग्य	मत्स्यगलागल	उच्चू २६८
व्यंजनावग्रह	१ प्रतिबोधक का दृष्टांत २ मल्लक का दृष्टांत	नन्दी ५२, ५३. चू ३७, ३८. हा ५१-५५. म १७९-१८३
व्युत्सर्ग	प्रसन्नचन्द्र राजर्षि	आवनि १०५१. हा १ पृ ३२५. म ५=४- ५=६
शरीर में तीन शल्य	राजा और वैद्यमुता	ओनि ६२३, ६२४
शिक्षा	चाणक्य और कौलिक	अच्चू २६. जि ५२. हा ५२
शिक्षा व्यर्थ नहीं	गवाला और राजा	उच्चू १३२, १३३. शा २४४, २४५. सु १०३
शिक्षण		
विनीत शिष्य	चण्डरुद्र आचार्य	उच्चू ३१. शा ४९, ५०. सु ४, ५
अविनीत शिष्य	आचार्य द्वारा अनशन कूलबालक श्रमण	उच्चू ४२. शा ६२, ६३. सु १३, १४
शील	सुभद्रा	उसु २
श्रोता		अच्चू २४, २५. जि ४८-५०. हा ४६-४८
योग्य-अयोग्य परिषद्	१ मुद्ग शील, २ कूट, ३ चालनी, ४ परिपूर्णक, ५ हंस, ६ महिष, ७ मेघ, ८ मशक, ९ जलौक, १० बिडाली, ११ जाहक, १२ गौ, १३ भेरी, १४ आभीरी	नन्दी गाथा ४४. म ५६-६३। आवनि १३९. चू १ पृ १२१-१२४. हा ६७-६९. म १४२- १४५। विभा १४५४-१४८१. म ५३९-५४८
संख्या		
उत्कृष्ट संख्येय	१ पत्थ का दृष्टांत २ आंवले का दृष्टांत	अनु ५८६, ५८७. चू ७८-८०. हा १०९-११२
संयम विराधना	साधु द्वारा नमक-ग्रहण	ओनि ३७३
संसार भ्रमण	धन सार्थवाह	आवनि ९०५. चू १ पृ ५०९-५११. हा २५६, २५७. म ४९४, ४९५
समता	भूतवादी का दृष्टांत	उच्चू ३२. शा ५१. सु ५, ६
समिति		
१ ईर्ष्या	मंडूकी-विकुर्वणा	आवचू २ पृ ९३-९५. हा ८४-८६
२ भाषा	भाषासमित मुनि	
३ एषणा	नन्दीषेण मुनि	
४ आदाननिक्षेप	प्रब्रजित श्रेष्ठीसुत	
५ उत्सर्ग	१ धर्मरुचि अनगार २ ऊंट की विकुर्वणा	
सम्यक्त्व के अतिचार		
शंका	दो पुत्र	आवचू २ पृ २७९-२८१. हा २१६-२१८
कांक्षा	राजा और कुमारामात्य	

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
विचिकित्सा	श्रावक और चोर	
परपाषंडप्रमांसा	चन्द्रगुप्त और चाणक्य	
<b>सम्यक्त्व के आचार</b>		
अमूढ दृष्टि	सुलसा	अचू ५०. जि ९६. हा १०२, १०३
उपबृंहण	श्रेणिक	
<b>सम्यक्त्व-ग्रहण के अपवाद</b>		
राजाभियोग	कार्तिक सेठ	आवचू २ पृ २७६-२७८. हा २१४, २१५
मणाभियोग	वरुण सारथि	
देवताभियोग	श्रावक और व्यन्तरी	
गुरुनिग्रह	उपासक पुत्र और श्रावक पुत्री	
वृत्तिकांतार	सौराष्ट्र का श्रावक और बौद्ध भिक्षु	
<b>सम्यक्त्व प्राप्ति के दृष्टान्त</b>	१ पत्न्य, २ पर्वतनदी-पाषाण, ३ पिपीलिका, ४ पुरुष, ५ मार्ग, ६ ज्वर, ७ कोद्रव, ८ जल, ९ वस्त्र	आवनि १०७. हा ५०, ५१ । विभा १२०४-१२२१
<b>ससार-असार</b>	समुद्रवणिक का दृष्टान्त	ओनि ५७२
<b>साधु का वेश</b>	रुपये का दृष्टान्त	आवनि ११३८, ११३९. हा २ पृ २४, २५
<b>सामाचारी</b>		
इच्छाकार	१ बाल्हीक अश्व और मागध अश्व २ दरिद्र ब्राह्मण, ३ बन्दर और बया का घोसला, ४ दो वणिक	आवनि ६७८-६८०. चू १ पृ ३४३-३४५. हा १७४, १७५. म ३४५, ३४६
<b>सामायिक की परम्परा</b>	मृगावती और चण्डप्रद्योत	विभा १०८२. म ४२३, ४२४ । आवचू १ पृ ८९-९१. हा ४३-४५
<b>सामायिक के निर्वचन</b>	१ दमदन्त, २ मेतार्य, ३ कालक- पृच्छा, ४ चिलात, ५ आत्रेय, ६ धर्मरुचि, ७ इलापुत्र, ८ तेलिपुत्र	आवनि ८६५-८७६. चू १ पृ ४९२-५०१. हा २४३-२४९. म ४७५-४८२
<b>सामायिक प्राप्ति के कारण</b>		
१ अनुकम्पा	धन्वंतरी और वैतरणी वैद्य	आवनि ८४५, ८४६, चू १ पृ ४६०-४८५, हा २३२-२४०. म ४६१-४६९
२ अकामनिर्जरा	महावत	
३ बाल तप	इन्द्रनाभ	
४ पात्रदान	कृतपुष्यक	
५ विनय	पुष्पशाल सुत	
६ विभंगज्ञान	शिवराज तापस	
७ संयोग-वियोग	मथुरा के दो वणिक	
८ व्यसन	दो भ्राता (कुष्ण-बलराम का पूर्वभव)	
९ उत्सव	आभीर	



विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
१० ऋद्धि	दशार्णभद्र राजा	
११ असत्कार	इलापुत्र	
सुमिक्ष-दुमिक्ष का ज्ञान	बहुश्रुत आचार्य और देव	ओभा ३०. वृ २१
स्त्री का चरित्र	नूपुरहारिका का आख्यान	अचू ४७. जि ८९-९१. हा ९७-९९
स्थापित कुल	१ गाय और उद्यान का दृष्टांत २ गृहिणी का दृष्टांत	ओनि २३८. भा १३१, १३२, १३७
स्वभाव परीक्षण	१ पार्ष्णि-प्रहार, २ गणिका द्वारा चित्रांकन, ३ भमात्य द्वारा तालाब निर्माण	विभा ९२८. म ३७२, ३७३। आवचू १ पृ ८१. हा ३७. म ९२
स्वाध्याय	मरुक का दृष्टांत	ओनि ६५४
स्वार्थवृत्ति	मूलदेव राजा और मंडिक चोर	उचू ११८-१२१. शा २१८-२२२. सु ९५

## द्वितीय विभाग

विषय	संदर्भ
<b>तीर्थंकर</b>	
<b>ऋषभ</b>	
<b>पूर्वभव</b>	
<ul style="list-style-type: none"> <li>◦ घन्ना सार्थवाह, महाबल, ललितकुमार, वैरजंघ, योगलिक, सौधर्मदेव, वैद्यपुत्र, वज्रनाभ आदि</li> <li>◦ श्रेयांस आदि के स्वप्न, ऋषभ के वर्षीतप का पारणा--अक्षय तृतीया की उत्पत्ति</li> </ul>	<p>आवनि १७०-१८५. चू १ पृ १३१-१३३. हा ७७-८०. म १५७-१६०</p> <p>आवनि ३२२. चू १ पृ १६२-१६४. हा ९७,९८. म २१७,२१८ उ २२१-४९. सु २७७-२८२ सु २८७-२९५ आवनि १३०७. चू २ पृ २०२. हा १४६</p>
<b>अरिष्टनेमि</b>	
<b>पार्श्व</b>	
पार्श्व ओर नन्दश्री साठवी	
<b>महावीर</b>	
<b>पूर्वभव</b>	
<ul style="list-style-type: none"> <li>◦ सम्यक्त्व की प्राप्ति</li> <li>◦ मरीचि विश्वभूति त्रिपुंठ वासुदेव प्रियमित्र चक्रवर्ती नंदन</li> </ul>	<p>आवनि १४६. चू १ पृ १२८. हा ७२,७३. म १५२ आवनि १४८, १४९, ४२२-४३२, ४३७-४५०. चू १ पृ २२८-२३५. हा ७५, ११५-११८. म २३३, २३४, २४४, २४७-२५२</p>
<b>जन्म</b>	
<ul style="list-style-type: none"> <li>◦ आमलकी क्रीडा लेखाचार्य के पास शिक्षा</li> <li>◦ ब्राह्मण को देवदूष्य का दान</li> </ul>	<p>आवचू १ पृ २४६-२४८. हा १२१,१२२. म २५८,२५९ आवचू १ पृ २६८. हा १२५. म २६६</p>
<b>साधना काल</b>	
<ul style="list-style-type: none"> <li>◦ बेल की घटना आश्रम और पांच अभिग्रह शूलपाणि यक्ष द्वारा उपसर्ग महावीर के दस स्वप्न उत्पल द्वारा फलादेश तांत्रिक अच्छंदक</li> <li>◦ सामुद्रिक पुष्य की घोषणा गोशालक का मिलन</li> </ul>	<p>आवनि ४६१-४६४ चू १ पृ २६९-२७७. हा १२५-१३०. म २६७-२७२</p> <p>आवनि ४७२. चू १ पृ २८१-२८३. म २७५,२७६</p>

## विषय

- ग्वाला और खीर  
तन्द और उपनन्द
- पार्श्वर्षपत्नीय स्थविर मुनिचन्द्र
- महावीर के पैंरों का भूलसना
- चण्डकौशिक का पूर्वभाव और तत्कृत उपसर्ग
- नौका विहार  
गोशालक की कुचेष्टा, सिंह और विद्युत्मती,  
स्कन्द और दंतिल्लिका
- पार्श्वस्थ दरिद्र स्थविर, गोशालक का  
निष्कासन, नंगला ग्राम तथा आवर्त ग्राम  
में गोशालक द्वारा श्रावकों को डराना,  
लोगों द्वारा उपसर्ग
- कालहस्ती द्वारा उपसर्ग  
मेघ द्वारा वंदना  
गोशालक को चोर समझकर पीटना
- नंदीषेण स्थविर (पार्श्वर्षपत्नीय)
- विजया-प्रगल्भा  
वाणमंतरी कटपूतना
- वासुदेव गृह में प्रतिमा  
वाणमंतरी सालज्जा द्वारा अभ्यर्थना  
जितशत्रु राजा द्वारा महावीर को बंदी  
तथा उत्पल द्वारा मुक्त करवाना
- वग्गुर श्रेष्ठी को इंद्र द्वारा भगवान् का  
परिचय
- लाह क्षेत्र में विहार
- तिल का पीघा  
बाल तपस्वी वैश्यायन  
गण्डकी नदी में नौका विहार
- संगम कृत उपसर्ग
- महावीर के अभिग्रह और चन्दनबाला वृत्त  
वाइल वणिक् द्वारा तलवार का वार  
स्वातिदत्त के प्रश्न

## संदर्भ

- आवनि ४७४, ४७५. चू १ पृ २८३, २८४.  
हा १३४. म २७६, २७७
- आवनि ४७७. चू १ पृ २८५-२८७.  
हा १३५, १३६. म २७८, २७९
- आवनि ४७९. चू १ पृ २८८. हा १३७
- आवनि ४६७. चू १ पृ २७७-२७९.  
हा १३०, १३१. म २७३
- आवनि ४६९-४७६. चू १ पृ २८०-२८५.  
हा १३२-१३५. म २७४, २७७
- आवनि ४७८-४८०. चू १ पृ २८७-२८९.  
हा. १३६. म २७९
- आवनि ४८१. चू १ पृ २८९.  
हा १३७, १३८. म २८१
- आवनि ४८४. चू १ पृ २९१. हा १३८. म २८२
- आवनि ४८४, ४८६. चू १ पृ २९१-२९३.  
हा १३८, १३९. म २८३
- आवनि ४८८, ४९९. चू १ पृ २९३, २९४.  
हा १४०. म २८३, २८४
- आवनि ४९०. चू १ पृ २९४, २९५.  
हा १४०, १४१. म २८४, २८५
- आवनि ४९१. चू १ पृ २९३. हा १४१. म २८५
- आवनि ४९२-४९४, चू १ पृ २९७-२९९.  
हा १४१-१४३. म २८५-२८७
- आवनि ४९८-५१३. चू १ पृ ३०१-३०४.  
हा १४४-१४७. म २८९-२९२
- आवनि ५२०-५२३. चू १ पृ ३१६-३२१.  
हा १४८-१५१. म २९४-२९७

## विषय

## संदर्भ

## चक्रवर्ती

## भरत

- ० चक्रोत्पत्ति, मरुदेवा सिद्धा, दिग्विजय, नौ निधियां, अयोध्या प्रवेश, राज्याभिषेक, बाहुबली के साथ युद्ध, बाहुबलि को केवल्य प्राप्ति
- ० भरत को केवलज्ञान
- ० सगर
- ० मधव
- ० सनत्कुमार
- ० शांतिनाथ
- ० कुंभु
- ० अर
- ० महापद्म
- ० हरिवंश
- ० जय
- ० ब्रह्मदत्त
- ० सुभूम

आवनि ३४३-३४९. चू १ पृ १८१-२१०.

हा ९९-१०३. म २२९-२३६

आवनि ४३६. चू १ पृ २२६, २२७.

हा ११३. म २४६। सु २३३

सु २३४-२३६

सु २३६, २३७

उनि ८४. शा ७८. सु २३७-२४२

सु २४२-२४५

सु २४५

सु २४६

सु २४६-२५०

सु २५०

सु २५०

उ १३१-३५. नि १६०, ३३६-३५४.

चू २१३, २१४. शा ३७६, ३७७.

सु १८७-१९७। आवचू १ पृ ३६६

आवनि ९१८. चू १ पृ ५२१. हा २६२.

म ५०१, ५०२

## प्रत्येकबुद्ध

## नमि

उ ९१-६२. नि २६४-२६६, २६९. २७०, २७४.

चू १७८, १७९. शा ३०३, ३०४. सु १३६-१४१, १४५।

आवचू २ पृ २०७, २०८. हा १५३, १५४

## करकंडु

उनि २६४, २७१. चू १७८. शा ३००-३०३.

सु १३३-१३५, १४५। आवचू २ पृ २०४-२०७.

हा १५१-१५३

## द्विमुख

उनि २६४, २७२. चू १७८. शा ३०३.

सु १३५, १३६, १४५। आवचू २ पृ २०७. हा १५३,

१५४

## नग्गति

उनि २६४, २७५. चू १७८. शा ३०४.

सु १४१-१४५। आवचू २ पृ २०८. हा १५३, १५४

## विषय

## संदर्भ

## निह्नव

१ जमालि, २ तिष्यगुप्त, ३ अश्वमित्त,  
४ आषाढ, ५ गंग, ६ रोहगुप्त,  
७ गोष्ठामाहिल, ८ शिवभूति

आवनि ७७८-७८४. चू १ पृ ४१६-४२८.  
हा २०७-२१६. म ४०१-४२६ । उनि १६४-१७८.  
शा १५२-१८१. सु ६९-७६ । विभा २२९६-२६०९.  
म ३३-१२१

## नगर आदि की उत्पत्ति

कन्यकुब्ज

चणकपुर

दशपुर

आवचू १ पृ ५१८. हा २६१. म ५००  
आवचू २ पृ १५८. हा १२०  
आवचू १ पृ ३९७-४०१. हा १९८-२०१.  
म ३९१-३९४

पाटलिपुत्र

प्रयाग

माहिेश्वर

राजमृह

सेचनकहस्ती

आवचू २ पृ १७७-१७९. हा १३३  
आवहा २ पृ १३२, १३३  
आवचू २ पृ १७५, १७६  
आवचू २ पृ १५८. हा १२१  
आवचू २ पृ १७०-१७४. हा १२७-१२९  
उचू ३३, ३४. शा ५३. सु ७

## तृतीय विभाग

## कथा-संकेत

अगङ्गदत्त

अट्टणमल्ल

अनाथी मुनि

अभयकुमार

अर्जुनमालाकार

अर्हन्नक

अशोक-कुणाल-सम्प्रति

आनन्द श्रावक

आयंरक्षित

आषाढभूति आचार्य

आषाढभूति मुनि

## संदर्भ

उचू ११६. शा २१३-२१६. सु ८४-९३  
आवनि १२७६. चू २ पृ १५२, १५३. हा ११७ । उचू १०९. शा १९२, १९३.  
सु ७९, ८०  
उ २०।१८-३५. चू २५९, २६०. शा ४७२-४७६  
विभा ८६४. म ३५० । अनुहा १० । अचू २२, २३, ४३. जि ४४, ४५, ८३. हा ४१;  
४२, ९३ । आवचू २ पृ १५८-१६९. हा १२१-१२७ । आवचू १ पृ ५४६, ५४७,  
५५७. हा २७८, २७९, २८५, २८६ । नन्दीम १५०, १६६  
उनि ११०. चू ७०. शा ११२-११४. सु ३५  
उनि ९२. चू ५८. शा ९०, ९१. सु २१  
वि ८६२. म ३४८, ३४९ । अनुहा १०, ११  
आवचू १ पृ ४५२-४५४. म ४५६, ४५७  
आवनि ७७४-७७७. चू १ पृ ४०१-४१५. हा २०१-२०७. म ३९४-४००  
सु २३-२५  
उनि १२३-१४१. चू ८७-९०. शा १३३-१३९. सु ५२-५५  
पिनि ४७४-४८०

## कथा-संकेत

## संदर्भ

इलापुत्र

आवचू १ पृ ४८४, ४८५. हा २४०. म ५६९

इषुकार और कमलावती

उ १४१-५३. नि ३३३-३३५, ३६२-३७३. चू २२०-२३२. शा ३९३-४१२.

सु २०४-२१३

उदयन और वासववत्ता

आवचू २ पृ १६१, १६२. हा १२२. १२३

उदायन राजर्षि

आवनि ११८५. चू २ पृ ३६, ३७. हा ३२। सु २५२-२५५

कनकमंजरी

सु १४१-१४५

कपिल मुनि

उनि २५३-२५९. चू १६८-१७०. शा २८६-२८८. सु १२४, १२५

कामदेव गृहपति

आवचू १ पृ ४५४, ४५५. म ४५७

कार्तिक सेठ

आवचू २ पृ २७६, २७७. हा २१४

कालक आचार्य

उनि १२०. चू ८३, ८४. शा १२७, १२८. सु ५०

कालसौकरिक

आवहा २ पृ १२७, १२८

कुरुवत्त मुनि

उनि १०७. चू ६८. शा ११७. सु ४५

कुलपुत्र

उचू ३२. शा ५०, ५१. सु ५

कूणिक

अचू २६. जि ५१. हा ५०, ५१। आवचू २ पृ १६६-१७७. हा १२५-१३२

कूरभाजन (नागवत्त/कूरगडक)

अचू २१. २२. हा ३७-३९

मृ २

कूलबालक श्रमण

उनि ११४. चू ७५. शा ११८. सु ३७-४५

कृष्ण वासुदेव

आवनि ९३०. चू १ पृ ५४०, ५४१. हा २७३, २७४. म ५१

कोकाश वर्धकि

आवनि ९३२. चू १ पृ ५४१-५४३. हा २७४, २७५. म ५१४

खपुट आचार्य

आवचू १ पृ ५३६. हा २७०. म ५०९

गजसुकुमाल मुनि

उ २७१-१७. शा ५५०-५५४. सु ३१६-३१८

गर्गाचार्य

आवचू १ पृ ३८१-३९०. हा १९१-१९३. म ३८३-३८७। उनि २८४-३०६.

गोतम गणधर (इन्द्रभूति)

चू १८६, १८७. शा ३२३-३३३. सु १५३-१५९

चण्डप्रद्योत

विभा १०८२. म ४२३, ४२४। आवचू १ पृ ८८-९१. हा ४२-४५

चण्डरुद्र आचार्य

उचू ३१. शा ४९, ५०. सु ४५।

चन्दनबाला

आवनि ५२०, ५२१. चू १ पृ ८८-९१, ३१६-३२०. हा ४२-४५, १४८-१५०,

३२३, ३२४

चन्द्रमुत्त

अचू ४२, ४३। आवचू २ पृ २८१. हा २१८। सु ५७-५९

चाणक्य

पिनि ५००. भा ४४-४६। अचू २६, ४२, ४३. जि ५२, ८१, ८२. हा ५२, ९१,

९२। आवचू २ पृ २८१. हा २१८। शा १४६. सु ५७-५९

चिलातिपुत्र

आवचू १ पृ ४९७. हा २४७, २४८. म ४७९

चेटक

आवचू २ पृ १६४-१७३. हा १२४-१२६

चेलना

आवचू २ पृ १६४-१७०. हा १२४-१२९

जरासंध राजा

आवनि १३१४. चू २ पृ २०९. हा १५४

जामदग्न्य और परशुराम

आवचू १ पृ ५१८-५२०. हा २६१, २६२. म ५००, ५०१

दंडण मुनि

उनि ११४. चू ७६. शा. ११९. सु ४५, ४६

## कथा-संकेत

## संदर्भ

तुंडिक वपिक	आवनि ९३६. चू १ पृ ५४३. हा २७६. म ५१६
तेतलीपुत्र	आवचू १ पृ ४९९-५०१. हा २४९. म ४८१
दशार्णभद्र	आवचू १ पृ ४७५-४८४. हा २३९, २४०. म ४६८ । सु २५०, २५१
बृहस्पतारो चोर	आवनि ९५२. चू १ पृ ५६८. हा २९२. म ५३४
दंपायन	अचू २१. हा ३६, ३७ । सु ३७-३९
घनमुप्त आचार्य	आवनि १३२०. चू २ पृ २१२. हा १५६
घर्मरुचि	आवनि १३१८. चू २ पृ २११. हा १५५, १५६ । चू १ पृ ४९८. हा २४८. म ४८० । ओभा २३२-२३८
नन्द	अचू ४२. जि. ८१, ८२. हा ९१, ९२ । आवनि १२८४. च २ पृ १७९-१८८. हा १२०-१३९ । सु २८-३१, ५७-५९
नन्दन राजा	सु २५५, २५६
नन्दोषेण	आवचू २ पृ ९४. हा ८४, ८५
नमि राजर्षि	सु १३६-१४१
नमि-विनमि	आवनि ३१७. चू १ पृ १६०
नूपुरपंडिता	पिनि १८१ । अचू ४७. जि ८९-९१. हा ९७-९९
पांडुषेण राजा	आवनि १३०१. चू २ पृ १९७. हा १४६
पावलिप्तसूरि	पिनि ४९८
पुण्डरीक और कण्डरीक	शा. ३२६-३३३. सु १५६-१५९
पुष्पभूति आचार्य	आवनि १३१७. चू २ पृ २१०. हा १५५
प्रसन्नचन्द्र राजर्षि	आवनि १०५१. चू १ पृ ४५५-४६०. हा ३२५. म ४५७-४६०
बलदेव	उनि ११४. चू ७५. शा ११७. सु ३७-४५
भद्रबाहु	आवनि १२८४. चू २ पृ १८७, १८८. हा १३८, १३९
मंगू आचार्य	आवचू २ पृ ८०. हा ६०
मंडिक चोर	उचू ११८-१२१. शा २१८-२२२. सु ९५
मदनरेखा	सु १३६-१४१
मम्मण सेठ	आवनि ९३५. चू १ पृ ३७१, ३७२. हा २७५, २७६
मरुदेवा	आवनि १३२०. चू २ पृ २१२. हा १५६ । विभा ३१६७
महागिरि और सुहृस्ती आचार्य	आवनि १२८३. चू २ पृ १५५-१५७. हा ११९, १२०
महाबल राजर्षि	सु २५६-२५९
मूलदेव	उनि १६०. सु ५९-६५, ९५ । अचू ५५. जि. १०५
मृगापुत्र	उ १९. नि ४०७-४१९
मृगावती	आवनि ५२०. ५२१, १०४८. चू १ पृ ८८-९१, ३१६-३२०. हा ४२-४५, १४८-१५०, ३२३, ३२४ । विभा १०८२. म ४२३, ४२४
मेतार्य मुनि	अचू २५. जि ५०. हा ४९, ५०
यक्षा	आवचू १ पृ ४९३. हा २४४, २४५. म ४७६-४७८
	आवचू १ पृ १८३, १८४. हा १३६, १३७ । सु २८

## कथा-संकेत

## संदर्भ

रघुनेमि

द २।७-११, अचू ४६-४८. जि ८७, ८८. हा ९६, ९७

उ २२।३२-४९. नि ४४३-४४७. सु २८०-२८२

राजीमती

द २।७-११. अचू ४६-४८. जि ८७, ८८. हा ९६, ९७

उ २२।६-४६. नि ४४६, ४४७. सु २७७-२८२

रोहक

आवनि ९४१. चू १ पृ ५४५, ५४६. हा २७७, २७८. म ५२७, ५२८ ।

नन्दीम १४५-१४९

वज्र आचार्य

आवनि ७६३-७७३. चू १ पृ ३९०-३९६. हा १९३-१९७.

म ३८७-३९१ । सु २३-२५ । ओनि ४५६. भा २३९

वररुचि

आवनि १२८४. चू २ पृ १८३-१८५. हा १३६, १३७ । सु २८-३१

वल्कलचौरि

आवचू १ पृ ४५५-४६० म ४५७-४६०

विजय राजा

सु २५६

विमलबाहन कुलकर

आवनि १५३, १५४. चू १ पृ १२८, १२९. हा ७४. म १५३

शकहाल

आवनि १२८४. चू २ पृ १८३-१८८. हा १३६, १३७ । सु २८-३१ ।

शातानीक

आवनि ५२०, ५२१. चू १ पृ ८८-९१, ३१६-३२०.

हा ४२-४५, १४८-१५०

शब्दमन्त्र और मन्त्रक

अचू ४, ५. जि ६, ७. हा १० १२.

श्रीयक

आवनि १२८४. चू २ पृ १७९-१८८. हा १२०-१३९

श्रेणिक

आवचू २ पृ १५८-१७२. हा १२१-१२७

दअचू ५०, जि ९६. हा १०२, १०३

संजय नृप

उ १८।१-१९. सु २२८-२३२

समित आचार्य

आवनि ९३४. चू १ पृ ५४३ हा २७५. म ५१५ । पिनि ५०३-५०५

समुद्रपाल

उ २१।१-२४

सम्भूतिविजय

आवचू २ पृ १८५-१८७. हा १३७, १३८ । उसु ३०, ३१

सिंहगुफावासी मुनि

उनि १००-१०५. चू ६६. शा १०४-१०७. सु २८-३१

सुकुमालिका

आवचू १ पृ ५२९-५३५. हा २५५-२६८. म ५०४-५०७

सुभद्रा

आवनि १५५०. चू २ पृ २६६-२७१. हा २०६, २०७

अचू २४, २५. जि ४८-५०. हा ४६-४८

सुलसा

अचू ५०. जि ९६. हा १०२ । आवचू २ पृ १६४. हा १२४

सुवत मुनि

पिनि ४८२, ४८३

सोदास

आवचू १ पृ ५३४. हा २६८. म ५०६, ५०७

सोमिल विप्र

आवचू १ पृ ३५५-३६५

स्फुग्दक मुनि

उनि १११-११३. चू ७२-७४. शा ११४-११६. सु ३६

स्थूलभद्र

आवनि १२८४. चू २ पृ १७९-१८८. हा १२०-१३९

उनि १२२. चू ८६. शा १३०, १३१. सु २८-३१, ५२

उ १२।१-४७. नि ३२२-३२७. चू २०१-२०३.

शा ३५५-३५७. सु १७३-१७५.

हरिकेशी मुनि



प्रथम परिशिष्ट में प्रयुक्त संदर्भ-ग्रन्थों के संक्षिप्त रूपों का विवरण—

१. आवश्यक	
आवनि	आवश्यक निर्युक्ति गाथा
चू १	आवश्यक चूर्ण प्रथम भाग
चू २	आवश्यक चूर्ण द्वितीय भाग
हा	आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्ति पत्र
म	आवश्यक मलयगिरीया वृत्ति पत्र
विभा	विशेषावश्यक भाष्य गाथा
म	विशेषावश्यक भाष्य मलधारीया वृत्ति पृष्ठ
२. दशवैकालिक	
द	दशवैकालिक
नि	दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा
अचू	दशवैकालिक अगस्त्यचूर्ण पृष्ठ
जि	दशवैकालिक जिनदासचूर्ण पृष्ठ
हा	दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति पत्र
३. उत्तराध्ययन	
उ	उत्तराध्ययन
चू	उत्तराध्ययन चूर्ण पृष्ठ
शा	उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र
सु	उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति पत्र
४. नन्दी	
नन्दी	नन्दी सूत्र
चू	नन्दी चूर्ण पृष्ठ
हा	नन्दी हारिभद्रीया वृत्ति पृष्ठ
म	नन्दी मलयगिरीया वृत्ति पत्र
५. अनुयोगद्वार	
अनु	अनुयोगद्वार सूत्र
चू	अनुयोगद्वारचूर्ण पृष्ठ
हा	अनुयोगद्वार हारिभद्रीया वृत्ति पृष्ठ
म	अनुयोगद्वार मलधारीया वृत्ति पत्र
६. ओघनिर्युक्ति	
ओनि	ओघनिर्युक्ति गाथा
वृ	ओघनिर्युक्ति द्रोणोया वृत्ति पत्र
७. पिण्डनिर्युक्ति	
पिनि	पिण्डनिर्युक्ति गाथा
वृ	पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरीया वृत्ति पत्र

## परिशिष्ट २

प्रस्तुत परिशिष्ट में पांच आगमों—आवश्यक, वशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी और अनुयोगद्वार के व्याख्या ग्रंथों (निर्युक्ति, चूर्ण आदि) में विश्लेषित दार्शनिक और तात्त्विक चर्चास्थलों का ससंदर्भ संकेत है। कहीं-कहीं आचार संबंधी विमर्श भी संगृहीत है। विषयों का संकेत एक-एक ग्रंथ के अनुसार दिया गया है, इसलिए कुछेक विषयों की पुनरावृत्ति भी हुई है।

### आवश्यक

विषय	संदर्भ
अक्षरश्रुत	चू १ पृ २५-२९. हा १६. म ४६
अनुयोग	नि १३१-१३६. चू १ पृ ८०-८५, १०८-१२०. हा ३४-३९, ५८-६७. म ९०-९६, १३०-१३८
अबद्धिकवाद	चू १ पृ ४१३, ४१४. हा २१४, २१५. म ४१५-४१८
अवधिज्ञान	नि २५-६७. चू १ पृ ३७-६८. हा १८-३१. म ५०-७७
अव्यक्तवाद	चू १ पृ ४२१. हा २१०, २११. म ४०६-४०८
आत्मा और शरीर की भिन्नता	हा १६४. म ३२४
आत्मा का अस्तित्व	हा १६१, १६२. म ३१४-३२०
आदिम युग की सभ्यता-संस्कृति	नि १९७-२०७. चू १ पृ ५४-५७. हा ८५-८९. म १९३-२०१
आनुपूर्वी	म ९३-९५
इंद्रिय और मन : प्राप्यकारी-अप्राप्यकारी	नि ५. चू १ पृ १३, १४. हा ८, ९. म २४-२९
इंद्रियज्ञान : संव्यवहार प्रत्यक्ष	चू १ पृ ७. म १३-१६
उपशमश्रेणि-क्षपकश्रेणि	नि ११६-१२७. चू १ पृ १०५-१०७. हा ५४-५७. म १२३-१२८
करण	चू १ पृ ५९५-६०१. हा ३०४-३११ म ५५७-५६८
करण : यथाप्रवृत्ति आदि	नि १०५-१०७. चू १ पृ ९८-१०१. हा ४९-५१ म ११३-११६
कायोत्सर्ग निर्युक्ति	नि १४१८-१५५४. चू २ पृ २४७-२७१
कारण : निमित्त आदि	नि ७३७-७४८. चू १ पृ ३७२, ३७३. हा १=५-१८७. म ३६४, ३६५
कर्म का अस्तित्व	हा १६३. म ३२०-३२३
केवलज्ञान	नि ७७, ७८. चू १ पृ ७२-७७. हा ३३. म ८२-८६
क्रिया : कामिकी आदि	चू २ पृ ८७-९२. हा ८१-८३

## विषय

## संदर्भ

क्रियास्थान	चू २ पृ १२७-१३२. हा १०६
जीवप्रतदेसिकवाद	चू १ पृ ४२०. हा २०९, २१०. म ४०५, ४०६
ज्ञान के भेदों का हेतु	म १७-१९
ज्ञान-क्रियावाद	नि ११३९-११५३. चू २ पृ २८-३१.
ज्ञान प्राप्ति का क्रम	चू १ पृ ७२, ७३
ज्ञान : मति आदि तीर्थ	नि १-७८. चू १ पृ ७-७७. हा ५-३३. म १२-८६
म ९७, ९८	
श्रेणिकवाद	चू १ पृ ४२४-४२६. हा २१२-२१४. म ४११-४१५
दिशा निरूपण	नि ८०९, ८१०. हा २२१. म ४३७-४४०
देवों का अस्तित्व	हा १६७. म ३३०, ३३१
द्रव्य-गुण-पर्याय	नि ७९२-७९५. चू १ पृ ४३४, ४३५.
	हा २१९. म ४३२, ४३३
द्विक्रियावाद	चू १ पृ ४२३. हा २१२
ध्यान और लेश्या	चू २ पृ ८१-८७.
नमस्कारनिर्युक्ति	नि ८८७-१०१३. चू १ पृ ५०२-५९१.
	हा २५१-३०३. म ४८५-५५५
नय	नि ७५४-७६३. चू १ पृ ३७७-३८१. हा १८८-१९०
	म १०-१२, ३६९-३८३
निक्षेप	चू १ पृ ४-६. हा ३-५. म. ५-१०
निर्वाण का अस्तित्व	हा १६९, १७०. म ३३५-३३७
नैरयिकों का अस्तित्व	हा १६७, १६८. म ३३१, ३३२
पंच भूतों का अस्तित्व	हा १६४, १६५. म ३२५-३२७
परलोक का अस्तित्व	हा १६९. म ३३४
परिहारविशुद्धि चारित्र	म ११९-१२२
पर्याय : अगुहलघु पर्याय	चू १ पृ २९, ३०. म ६१
परिच्छिन्नपत्तिकी नर्युक्ति	चू २ पृ ९६-११२. हा ८६-१०३
पुण्य-पाप का अस्तित्व	हा १६८, १६९. म ३३२, ३३३
बंध-मोक्ष का अस्तित्व	हा १६६, १६७. म ३२८, ३२९
बहुरतवाद	चू १ पृ ४१६-४१८. हा २०८, २०९. म ४०२-४०५
बोटिक मत : दिगम्बर-उत्पत्ति	चू १ पृ ४२७, ४२८. हा २१५-२१७. म ४१८-४२६
भाषा द्रव्य	नि ६-११. चू १ पृ १४-१६. हा ९-१२. म ३१-३८
मंगल	चू १ पृ ३-६. हा २-५. म २-१०
मतिज्ञान	नि २-१६. चू १ पृ ७-२४. हा ६-१५. म २२-४४
मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में भेद-अभेद	चू १ पृ ७, ८. हा ५, ६. म २०-२२

**विषय**

**संदर्भ**

मनःपर्यवसान

नि ७६. चू १ पृ ७१, ७२. हा ३३. म ८१, ८२

मृत्यु के उपक्रम

नि ७२४-७२६. चू १ पृ ३५५-३६६. हा १८१-१८३.

म ३५५-३६०

मोक्षमार्ग : ज्ञान-दरान-चारित्र्य

नि ९३-१०३. चू १ पृ ९४-९७. हा ४६-४८.

म १०६-११० । नि ११५३-११७३. चू २ पृ २८-३८

यादृश-सादृश

हा १६५, १६६. म ३२७, ३२८

लक्षण के बारह भेद

नि ७५१-७५३. चू १ पृ ३७४-३७७. हा १८७, १८८.

म ३६७-३६९

सन्धि : आमशीषधि आदि

नि ६९-७५. चू १ पृ ६८-७१. हा ३१, ३२.

म ७८-८१

श्लोक

चू २ पृ ३-९.

शब्द आकाश का गुण नहीं

म २८, २९

श्रुतज्ञान

नि १७-२४. चू १ पृ २४-३६. हा १५-१८.

म ४५-५०

सामायिक : श्रुत आदि सामायिक

नि ७८९-८७९. चू १ पृ ४३१-५०१.

हा २१७-२५०. म ४२७-४८२

सामुच्चैदिकवाद

चू १ पृ ४२२, ४२३. हा २११. म ४०८-४१०

**सन्दर्भ विवरण -**

नि—आवश्यकनिर्युक्ति गाथा । चू १—चूणि, पूर्वभाग ।

चू २—चूणि, उत्तरभाग । हा—हारिभद्रीयावृत्ति पृष्ठ ।

म—मलयगिरीयावृत्ति पत्र ।

**विशेषावश्यक भाष्य**

वक्षरभ्रुत

वि ४५५-५०० म २१५-२३३

अनुयोग : व्याख्या लक्षण

वि ९०७-९७४. १००२-१०१३

सच्चैदिकवाद

वि २५०९-२५४९. म ९०-१०४

अर्हत् नमस्कार

वि ३००९-३०२५ म २३३-२३५

अवग्रह आदि संशय नहीं

वि ३१२-३३१ म १५६-१६७

अवधिज्ञान

वि ५६७-७७८ म २५९-३२१

अव्यक्तवाद

वि २३५६-२३८८. म ५०-५५

आनुपूर्वी

वि ९४२, ९४३. म ३७७-३७९

इन्द्रिय और मन : प्राप्यकारी-अप्राप्यकारी

वि २०४-२५२ म १०२-१२०

उपशमयेति-अपकयेति

वि १२८३-१३३३. म ४८२-४९५

करण

वि ३३०२-३३६२. म २९९-३१७

करण : यथाप्रवृत्ति आदि

वि १२०२-१२२१. म ४५८-४६४

कर्म और उपक्रम

वि २०४६-२०६१. म ७२२-७२९

## विषय

## संदर्भ

कार्य-कारण

वि २०९९-२११८. म ७४०-७४६

काल

वि २०२८-२०३९, २०६८-२०७२.

म ७१५-७१९, ७३०-७३२

कृत-अकृत की चर्चा

वि ३३६३-३३८१. म ३१७-३२१

केवलज्ञान

वि ८२३-८३६. म ३३७-३३९

केवलज्ञान : आत्मप्रत्यय

वि २१३२-२१४५. म ७५०-७५४

चारित्र

वि १२३४-१२८२. म ४६७-४८१

जिनकल्प

वि ७. म ८-१४

जीवप्रादेशिकवाद

वि २३३३-२३५५. म ४४-४९

ज्ञान

वि ७९-९२. म ४५-५१

तीर्थ

वि १०२६-१०५१. म ४०८-४१५

त्रैराशिकवाद

वि २४५१-२५०८. म ७३-९०

दिशा निरूपण

वि २६९७-२७०७. म १४७-१५१

द्विक्रियावाद

वि २४२४-२४५०. म ६५-७३

नभस्कार निर्युक्ति

वि २८०१-२९५६. म १७९-२२१

नय

वि २१८१-२२७८. म १-२८

नय : द्रव्याधिक-पर्यायाधिक

वि २६४१-२६७२. म १३१-१४०

निक्षेप

वि २४-७८. म २०-४४

नित्यानित्यत्व की सिद्धि

वि ५४३, ५४४. म २४८-२५०

न्याय : हेतु, उदाहरण

वि १०७६-१०७८. म ४२१, ४२२

पुद्गल-परिणमन की विचित्रता

वि १९८६-१९९०. म ७०१

प्रमाण : संव्यवहार प्रत्यक्ष

वि ९३-९५. म ५१-५३

बहुरतवाद

वि २३०६-२३३२ म ३५-४३

भौतिकमत

वि २५५०-२६०९. म १०५-१२१

भाव (औद्ययिक आदि) का काल

वि २०७५-२०८१. म ७३३, ७३४

भाषा द्रव्य

वि ३५१-३९५ म १७५-१९२

संगल

वि १०-५९. म १५-३५

मतिज्ञान : अभुतनिश्चित मति

वि ३०४-३११. म १५२-१५६

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में वेद

वि ९६-१००, १०५-१७५ म ५४-५७, ६०-८९

मनःपर्यवज्ञान

वि ८०९-८२२ म ३३१-३३६

मृत्यु के उपक्रम

वि २०४१-२०६१. म ७२०-७२९

मोक्षमार्ग ज्ञान-दर्शन-चारित्र

वि ११२६-११७८. म ४३६-४५१

रात्रिभोजनविरमण : मूलगुण या उत्तरगुण ?

वि १२४०-१२४५. म ४७०, ४७१

लक्षण की परिभाषा और उसके बारह भेद

वि २१४६-२१७९. म ७५४-७६४

लघिष

वि ७७९-८०४. म ३२२-३२८

**विषय**

**संदर्भ**

वर्गणा

वि ६३१-६६७ म २७८-२८९

वस्तु का स्वरूप : भाव-अभाव

वि २१६५-२१७१. म ७६०-७६२

भ्रुतज्ञान

वि ४४४-५६६. म २१२-२५८

भ्रुतज्ञान : एकेन्द्रिय में भ्रुतज्ञान

वि १०१-१०४. म ५७-५९

भ्रुतज्ञान का प्रत्ययत्व

वि २१३८-२१४५. ७५२-७५४

भ्रुतज्ञान : द्रव्यभ्रुत-भावभ्रुत

वि ८७७-८९४

सम्यक्त्व

वि ५२८-५३६. म २४०-२४५

सामायिक : विस्तृत विमेषन

वि २६७३-२८०१, ३२९५-३५८३

सामायिक (सम्यक्त्व आदि) की प्राप्ति कब ?

वि ११८६-१२०१. म ४५३-४५८

सामुच्छेदिकवाद

वि २३८९-२४२३. म ५६-६५

सिद्ध

वि ३०२७-३१८९. म २३६-२७४

स्थविरकल्प-जिनकल्प

वि ७. म ८-१४

**सन्दर्भ विवरण—**

वि—विशेषावश्यकभाष्य नाथा । म—मलयघारीया वृत्ति पृष्ठ ।

**दशवैकालिक**

आचार : ज्ञान आदि

अ ५०-५३. जि ९४-१०२. हा १०१-१०६

कथा : आक्षेपणी आदि

अ ५४-५९. जि १०२-१११. हा १०६-११५

जीव का लक्षण और अस्तित्वसिद्धि

अ ६६-७१. जि १२०-१२८. हा १२१-१२७

तप के भेद

अ १२-१९. जि २१-३७. हा २६-३२

न्याय के अवयव : हेतु आदि

अ २०-३१. जि ३८-६९. हा ३३-६८

**सन्दर्भ विवरण—**

अ—दशवैकालिक अगस्थचूर्ण पृष्ठ । जि—जिनदास चूर्ण पृष्ठ ।

हा—हारिमन्नीया वृत्ति पत्र ।

**उत्तराध्ययन**

अचेलता-सचेलता

शा ९२-९८

आनुपूर्वी

चू ९, १०. शा १३

करण

नि १८२-२०४. चू १०३-१०८. शा १९४-२०५

गणि-सम्पदा

शा ३९, ४०

जीव का अस्तित्व

चू २२६

निर्भन्त्य

नि २३७-२३९. चू २५१-२५९. शा २५५-२६०

निह्लववाद

बहुरतवाद

शा १५३-१५७

जीवप्रादेशिकवाद

शा १५८-१६०\*

## विषय

अव्यक्तवाद  
सामुल्लेखिकवाद  
द्विक्रियावाद  
त्रैराशिकवाद  
अवद्विकवाद  
बोटिक मत  
परमाणु पुद्गल की संरचना  
विनय के भेद

## संदर्भ

शा १६०-१६२  
शा १६३-१६५  
शा १६५-१६७  
शा १६८-१७२  
शा १७३-१७८  
शा १७८-१८१  
चू १६-२१. शा २४-२९  
शा १६, १७

## सन्दर्भ विवरण -

नि—उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा । च—चूर्ण पृष्ठ ।

शा—शान्त्याचार्य की बृहवृत्ति पत्र । सु—सुखबोधवृत्ति पत्र ।

## नन्दी

अक्षर के स्वपर्याय-परपर्याय	चू ५४, ५५. हा ६८, ६९. म १९८-२०२
अक्षर पटल	चू ५२-५५
अक्षरश्रुत	म १८७-१८९
अनुयोग . विद्यानरगण्डिका आदित्यपरा राजा आदि का मुक्तिगमन	चू ७७-७९. हा ९०-९२. म २४२-२४६
अन्तर्द्वीप	म १०२-१०४
अपौरुषेयवचननिरसन	म १६-२४
आत्मा की अस्तित्वसिद्धि और चार्वाक मतनिरसन	म ३-७
इन्द्रिय और मन : प्राप्यकारी-अप्राप्यकारी	म १६९-१७३
कालचक्र : छह अर	म १९६, १९७
केवलज्ञान : क्रमोपयोग-युगपद् उपयोग आदि क्रियावादी आदि ३६३ मतों की चर्चा	हा ३७-४४. म ११२-१३९
क्षयोपगम विधि : देशसर्वघाती रसस्पर्धक	हा ७७-७९. म २१३-२२८
क्षुल्लक प्रतर	म ७७-८०
जंघाघारण ऋद्धि	म ११०
ज्ञान के पांच भेदों का हेतु	म १०६, १०७
ज्ञान : प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण और वैशेषिक आदि मत	म ६५-७१
पर्याय : गुरुलघु-अगुरुलघु	म ७१-७६
प्रमाण : संव्यवहार प्रत्यक्ष	चू ५२-५४.
बौद्ध मत : नैरात्म्यनिराकरण	म ७४-७६
भाषा : एक समय में लोकांत तक गति	म ३४-३९
मत्तिज्ञान और श्रुतज्ञान में भेद	म १८६
	म १४०-१४२

**विषय**

**संदर्भ**

मतिज्ञान : व्यंजनावग्रह आदि	म १६८-१८३
मोक्ष : राग-द्वेष का आत्यंतिक क्षय	म ३१-३४
शाब्दप्रामाण्य	म ८-१२
सर्वज्ञसिद्धि	म २५-३०
सांख्यमुक्ति निराकरण	म ४०, ४१
सिद्ध : अनादि सिद्ध का निरसन	म १९२
स्त्रीमुक्ति	म १३१-१३३
हिंसा से पुण्य बंध नहीं	म १३-१५

**सन्दर्भ विवरण—**

चू—नन्दी चूणि पृ । हा—हारिभद्रीया वृत्ति पृष्ठ ।

म—मलयगिरीया वृत्ति पत्र ।

**अनुयोगद्वार**

अंगुल : आत्मांगुल आदि	चू ५२-५६. हा ७७-८२. म १४३-१५९
अनुयोग विधि	चू १-५. हा १-५. म ३-५
अवगाहना	म १५०-१५९
आनुपूर्वी	चू २०-३७. हा ३०-५७. म ४६-९५
काल : समय.....शीर्षप्रहेलिका	चू ३७-४०. हा ५४-५७. म ९०, ९१, १६१-१६५
चारित्र	चू ७६. हा १०३-१०५. म २०३-२०५
ज्ञान	म १-३
द्रव्य-गुण-पर्याय	म १००-१०२
नय	चू ७६, ७७. हा १०५-१०८. म २०५-२१२. चू ८९-९१. हा १२३-१२७. म २४४-२५०
निक्षेप	म ९-२०
पत्योपम-सागरोपम	चू ५७, ५८. हा ८४-८६. म १६५-१७८
प्रमाण : प्रत्यक्ष आदि	चू ७४-७६. हा ९९-१०३. म १९४-२०२
भाव : औदायिक आदि	म १०४-११७
लोक	चू ३४-३६. हा ४९-५०. म ८०-८४
लोकघनीकरण	चू ५१, ५२
लोकश्रेणि	हा ७६, ७७. म १५९-१६१
शरीर : स्वरूप और संख्यामान	चू ६०-७३. हा ८७-९९. म १८०-१९३
श्रुतज्ञान : द्रव्यश्रुत-भावश्रुत	म २९-३४
संख्या : संख्येय-असंख्येय-अनंत	चू ७८-८५. हा १०९-११६. म २१७-२२४

**सन्दर्भ विवरण—**

चू—अनुयोगद्वार चूणि पृष्ठ । हा—हारिभद्रीया वृत्ति पृष्ठ ।

म—मलधारीया वृत्ति पत्र ।



## ओघनिर्युक्ति

विषय	संदर्भ
आयतन-अनायतन	नि ७६३-७८४. वृ २२२-२२४
भालोचना विधि	नि ५१३-५२०. वृ १७५-१७८
उपधि (वस्त्र, पात्र आदि)	नि ६६५-६८४. वृ २०७-२१०
कालप्रतिलेखना विधि	नि ६३८-६६३. वृ २००-२०७
पात्र आदि के लक्षण-अलक्षण और प्रमाण	नि ६८५-७४६. वृ २११-२१९
पात्रलेपन की उपयोगिता	नि ३७१-४०६. वृ १२९-१३५
पारिष्ठापनिका विधि	नि ५९४-६२२. भा ३०३-३०८. वृ १९२-१९८
प्रतिलेखना	
उपकरण प्रतिलेखना	नि २६४-२७९. वृ १०८-११३
पात्र प्रतिलेखना	नि २८७-२९५. वृ ११६-११९
स्थण्डिल प्रतिलेखना	नि २९६-३२३. वृ ११९-१२६
भिक्षाचर्या : काल, गवेषणा विधि, एकाकी	नि ४११-४३१. भा २१३-२३१. वृ १४७-१५५
भिक्षाटन का निषेध	
रोगचिकित्सा : मिट्टी, सीपी आदि के द्वारा रोग-	नि ३३५-३७०. वृ १२९-१३५
अपनयन आदि	
वस्त्रप्रक्षालन : विधि-निषेध	नि ३४७-३५६. वृ १३१, १३२
विहारविधि	नि १३-४९. वृ २३-३६
० गीतार्थ-विहार और क्षेत्रप्रत्युपेक्षण	नि ११९-१४९. वृ ६०-६८
० ग्रामप्रवेश	नि १५६-२०१
वैधावृत्थ	नि ६८-८३. वृ ४०-४७
स्थापनाकुल	भा १२२-१४५. वृ ९५-१००

## सन्दर्भ विवरण—

नि—ओघनिर्युक्ति माथा । भा—भाष्य माथा ।

वृ—द्रोणीया वृत्ति पत्र ।

## पिण्डनिर्युक्ति

अतिक्रम, व्यतिक्रम	नि १७९-१८२
आहार शुद्धि : मोक्ष का परंपर कारण	नि ६९-७१
उत्पाद दोष	नि ४०३-५१३. वृ १२०-१४५
उद्गम दोष	
० आधाकर्म	नि ९४-२१७. वृ ३५-७६
० ओद्देशिक	नि २१८-२४२
० पूतिकर्म	नि २४३-२६८
० मिश्र आदि	नि २७१-३९१

**विषय**

**संदर्भ**

० विशोधि-अविशोधि कोटि	नि ३९२-४०२. वृ ११६-११९
<b>एषणा दोष</b>	नि ५१४-६२८. वृ १४६-१७०
<b>भ्रासंषणा</b>	
० संयोजना आदि पांच दोष	नि १
० पांच दोषों का विवरण	नि ६२९-६७१
<b>निक्षेप : पिण्ड शब्द के निक्षेप</b>	नि ४-६६. वृ ३-२७
<b>पृथ्वी आदि जीवनिर्णय</b>	
० भेद-प्रभेद	
० अचित्त पृथ्वी आदि का प्रयोजन	नि ८-४७. वृ ७-२०
<b>प्रतिसेवन-प्रतिश्रवण-संवासन-अनुमोदन</b>	नि १११-१२८. वृ ४५-५०
<b>(कृत-कारित-अनुमति)</b>	
<b>रोगचिकित्सा : शंख, सीपों, उवेहिका आदि द्वारा</b>	नि ४८-५२. वृ २०, २१
<b>रोगों का शमन</b>	
<b>वस्त्रप्रक्षालन : विधि-निषेध</b>	नि २३-३४. वृ ११-१६
<b>साधर्मिक के बारह प्रकार और उनका व्यवहार-बोध</b>	नि १३७-१५९. वृ ५२-६२

**सन्दर्भ विवरण—**

नि—पिण्डनिर्युक्ति गायत्रि । वृ—मलयगिरीया श्रुति पत्र ।



जह जह सुयमोगाहइ  
अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं ।  
तह तह पल्हाइ मुणी  
णवणवसंवेगसद्धाए ॥